॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

2197

साधन-सुधा-निधि

परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके उन प्रवचनों तथा लेखोंका अनूठा संकलन, जो पूर्वप्रकाशित 'साधन-सुधा-सिन्धु' में सम्मिलित नहीं हुए।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

नम्र निवेदन

इस युगके अप्रतिम महापुरुष परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज आजीवन ऐसी युक्तियोंकी खोजमें लगे रहे, जिनसे मानवमात्र शीघ्र-से-शीघ्र तथा सुगमतापूर्वक अपना कल्याण कर सके। इस विषयमें उन्होंने अनेक क्रान्तिकारी युक्तियोंकी खोज भी की और उन्हें अपने प्रवचनों तथा पुस्तकोंके माध्यमसे जनतातक पहुँचाया। उनके ऐसे विलक्षण लेखों तथा प्रवचनोंका एक विशाल संग्रह पहले 'साधन-सुधा-सिन्धु' नामसे प्रकाशित हो चुका है, जिसमें वि० सं० २०१० से लेकर २०५३ तक प्रकाशित पुस्तकोंका संकलन किया गया था। इस अनूठे ग्रन्थको साधकोंने बहुत पसन्द किया और अबतक इसके तीस संस्करण मुद्रित हो चुके हैं।

'साधन-सुधा-सिन्धु' प्रकाशित होनेके बाद भी परमश्रद्धेय स्वामीजी महाराजकी अनेक कल्याणकारी पुस्तकोंका प्रकाशन हुआ। भगवान्‌की असीम कृपासे अब उन्हीं पुस्तकोंका संकलन 'साधन-सुधा-निधि' नामसे प्रकाशित किया जा रहा है। इस ग्रन्थमें वि० सं० २०५३ से लेकर २०६४ तक प्रकाशित पुस्तकोंका संकलन आ गया है।

वर्तमान समयमें परमात्मतत्त्व तथा उसकी प्राप्तिका साधन सरलतापूर्वक बतानेवाले ग्रन्थोंका अभाव-सा हो गया है। इस कारण सच्चे साधकोंको उचित मार्ग-दर्शन मिलना बहुत कठिन हो रहा है! ऐसी स्थितिमें आध्यात्मिक विषयकी अनेक मार्मिक बातोंसे युक्त यह ग्रन्थ साधकोंके लिये बहुत उपयोगी है और शीघ्र एवं सुगमतापूर्वक परमात्मतत्त्वका अनुभव करानेमें अत्यन्त सहायक है। किसी भी देश, जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदिका कोई भी जिज्ञासु यदि प्रस्तुत ग्रन्थका मनोयोगपूर्वक अध्ययन करेगा तो उसके साधनमें अवश्य उन्नति होगी, इसमें सन्देह नहीं। आशा है कि साधकगण इस संकलनको पढ़कर लाभान्वित होंगे।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

साधन-सुधा-निधिकी विषय-सूची

	विषय	पृष्ठ-संख्या
	तत्त्वज्ञान	
१.	अमरताका अनुभव....................	७
२.	मैंपनसे रहित स्वरूपका अनुभव..	१२
३.	सत्-असत्का विवेक -------	१८
४.	नित्यप्राप्तकी प्राप्ति -----------	२८
५.	सर्वत्र भगवद्दर्शनका साधन ----	३१
६.	वास्तविक तत्त्वका अनुभव ----	३७
७.	स्वतःप्राप्त परमात्मतत्त्व -------	४०
८.	साधकोपयोगी अमूल्य बातें ----	४३
९.	कामना और आवश्यकता -----	४७
१०.	देनेके भावसे कल्याण -------	५२
११.	सत्यकी खोज -------------	५५
१२.	विज्ञानसहित ज्ञान -----------	६०
१३.	योग --------------------	६५
१४.	भगवत्प्राप्तिका सुगम तथा सिद्धिदायक साधन -----------------	७०
१५.	मुक्तिका सुगम उपाय -------	७२
१६.	त्यागसे कल्याण -----------	७५
१७.	सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण ---	७९
१८.	अभ्याससे बोध नहीं होता ----	८३
१९.	नित्यप्राप्तकी प्राप्ति -----------	८६
२०.	कामना, जिज्ञासा और लालसा --	८८
२१.	मानवशरीरका सदुपयोग ------	९१
२२.	सच्ची आस्तिकता -----------	९६
२३.	संसारका असर कैसे छूटे? ---	९८
२४.	अभिमान कैसे छूटे?--------	१०१
२५.	साधक, साध्य तथा साधन ----	१०५
२६.	साधक कौन? ------------	१०९
२७.	मुक्ति स्वाभाविक है ---------	११२
२८.	हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं------	११५
२९.	अक्रियतासे परमात्मप्राप्ति------	११८
३०.	कल्याणके तीन सुगम मार्ग ----	१२०
३१.	एक नयी बात -------------	१३२
३२.	सार बात ------------- --	१३६
	भगवत्प्रेम	
१.	भक्तिकी विलक्षणता --------	१३८
२.	प्रेमकी जागृतिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता ------------------	१४१
३.	भक्तिकी अलौकिक विलक्षणता -	१४४
४.	भगवल्लीलाका तत्त्व ---------	१५०
५.	मुक्ति और प्रेम -----------	१५२
६.	हम भगवान्के हैं ----------	१५४
७.	हमारा असली घर ---------	१५६
८.	नामजपकी विलक्षणता -------	१५९
९.	विचार करें --------------	१६१
१०.	मेरे तो गिरधर गोपाल -------	१६३
११.	अभेद और अभिन्नता--------	१६६
१२.	अलौकिक प्रेम------------	१६९
१३.	रासलीला—प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम	१७५
१४.	अनिर्वचनीय प्रेम ----------	१७६
१५.	तू-ही-तू ----------------	१८०
१६.	सब साधनोंका सार ---------	१८९
१७.	अपना किसे मानें?---------	१९६
१८.	सब कुछ परमात्माका है -----	१९८
१९.	सच्ची बात --------------	२००
२०.	परमात्मप्राप्तिमें देरी क्यों?-----	२०३
२१.	कल्याणका निश्चित उपाय -----	२०५
२२.	कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्-----	२०६
२३.	अनेकतामें एकता ----------	२०८
२४.	मामेकं शरणं व्रज ----------	२१०
२५.	भगवत्प्रेमका स्वरूप और महत्त्व ----	२१६
२६.	भगवान् आज ही मिल सकते हैं?	२२०
२७.	साधनके दो प्रधान सूत्र ------	२२०
२८.	साधनकी चरम सीमा -------	२२३
२९.	भगवान् हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं ----	२२६
३०.	साधकोंके लिये -----------	२२८

विषय	पृष्ठ-संख्या

३१. परमपितासे प्रार्थना ---------- २३०

सर्वोपयोगी

१. अन्त मति सो गति --------- २३४
२. आकस्मिक और अकालमृत्यु -- २४१
३. शास्त्रीय विवादसे हानि ------ २४४
४. रुपयोंके सहारेसे हानि ------- २४७
५. गीताकी विलक्षणता --------- २४९
६. वेद और श्रीमद्भगवद्गीता ------ २५४
७. स्त्रीके दो रूप—कामिनी और माता --- २५६
८. दिनचर्या और आयुश्चर्या ----- २५८
९. वास्तविक आरोग्य ---------- २६१
१०. परोपकारका सुगम उपाय ----- २६४
११. धर्मकी महत्ता और आवश्यकता २६८
१२. तीन महाव्रत ------------- २७०
१३. भगवान् गणेश ------------ २७१
१४. शिखा (चोटी)-धारणकी आवश्यकता --- २७३
१५. क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं? -------- २७९

कहानियाँ

१. भगवान्की कृपा ----------- ३०७
२. पापका फल भोगना ही पड़ता है ३०८
३. आँख और पेटकी बीमारी ---- ३०९
४. सन्तको कैसे पहचानें? ------ ३१२
५. आदर्श बहू -------------- ३१३
६. सास-बहूकी लड़ाई मिटानेवाला विलक्षण ताबीज ----------- ३१७
७. सेठको शिक्षा ------------- ३२०
८. पापका बाप -------------- ३२१
९. शुद्ध हरिकथा------------- ३२२
१०. घोड़ा अड़ गया ----------- ३२३
११. सत्संगका असर ----------- ३२३
१२. चुगलीसे हानि ------------ ३२४
१३. दृढ़ उद्देश्यसे लाभ --------- ३२४
१४. राम काज करिबे को आतुर --- ३२६
१५. तीन दिनका राज्य---------- ३२६
१६. विचित्र बहुरूपिया ---------- ३२८
१७. नया जन्म --------------- ३२८
१८. कल्याण कैसे होगा?-------- ३३०
१९. भगवान्की मरजी ---------- ३३१
२०. बुद्धिमान् राजा ------------ ३३२
२१. भगवान् किसके दास होते हैं? - ३३३
२२. बुराईके बदले भलाई-------- ३३४
२३. भगवान् भावके भूखे हैं ------ ३३६
२४. मिले हुए अधिकारका सदुपयोग ३३७
२५. सबके दाता राम ----------- ३३९
२६. मुक्तिका उपाय ------------ ३४१
२७. खरी कमाई -------------- ३४४
२८. पराया हक -------------- ३४४
२९. दुर्गतिका कारण ----------- ३४५
३०. आदर्श माँ --------------- ३४६
३१. राजाको उपदेश ----------- ३४७
३२. गीताके प्रभावसे चुड़ैल भागी -- ३४९
३३. बुद्धिमान् बनजारा ---------- ३५०
३४. ठण्डी रोटी -------------- ३५१
३५. सन्तोंकी शरण ------------ ३५२
३६. मरकर आदमी कहाँ गया? --- ३५३
३७. एक फूँककी दुनिया -------- ३५४
३८. चार साधु और चोर -------- ३५४
३९. सच्चा स्वाँग -------------- ३५६
४०. महलकी कमी ------------ ३५८
४१. हीरेका मूल्य -------------- ३५९
४२. इन्द्रकी पोशाक------------ ३६१
४३. असली गहना ------------ ३६२
४४. कंजूसीका परिणाम --------- ३६४
४५. जब साधु राजा बना -------- ३६५
४६. दूसरेका कल्याण कौन कर सकता है? -------------- ३६६
४७. निन्यानबेका चक्कर--------- ३६६
४८. गधेसे मनुष्य बनाना -------- ३६७
४९. रात कैसी बीती?----------- ३६८
५०. ससुरालकी रीति ----------- ३६९
५१. अब छाछ को सोच कहा कर है! ३७०

विषय	पृष्ठ-संख्या

५२. वहम मिट गया ------------ ३७१
५३. विलक्षण अतिथि-सत्कार ----- ३७२
५४. एक शहरमें चार साधु -------- ३७४
५५. चार आशीर्वाद ------------- ३७४
५६. आज्ञापालनकी महिमा -------- ३७५
५७. विलक्षण साधना ------------ ३७६
५८. हल्ला मत करो ------------- ३७७
५९. जगत्‌की प्रीत -------------- ३७८
६०. सौ रुपयेकी एक बात -------- ३७९
६१. बोला तो मरा! ------------- ३८०
६२. त्यागके आदर्श (सच्ची घटनाएँ) ३८१

प्रवचन-सार

१. ज्ञानके दीप जले ----------- ३८३
२. सत्संगके फूल ------------- ४८७
३. सागरके मोती -------------- ५६३

प्रश्नोत्तर

१. प्रश्नोत्तरमणिमाला ----------- ६३१
२. तात्त्विक प्रश्नोत्तर ----------- ७०७
३. साधकोपयोगी प्रश्नोत्तर --------- ७१३
४. कल्याणकारी प्रश्नोत्तर ---------- ७१८

अमृत-बिन्दु

शिक्षासाहस्री --------------- ७२१

वसीयत

परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजके द्वारा लिखवाया ‘सेवामें विनम्र निवेदन’ (वसीयत), जिसमें उनका शरीर शान्त होनेके बाद पालनीय आवश्यक निर्देश हैं।--------- ७८२
१. मेरे विचार ---------------- ७८६
२. अन्तिम प्रवचन ------------- ७८७

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

तत्त्वज्ञान

१. अमरताका अनुभव

मनुष्यमात्रके भीतर स्वाभाविक ही एक ज्ञान अर्थात् विवेक है। साधकका काम उस विवेकको महत्त्व देना है। वह विवेक पैदा नहीं होता। अगर वह पैदा होता तो नष्ट भी हो जाता; क्योंकि पैदा होनेवाली हरेक चीज नष्ट होनेवाली होती है—यह नियम है। अतः विवेककी उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत जागृति होती है। जब साधक अपने भीतर उस स्वतःसिद्ध विवेकको महत्त्व देता है, तब वह विवेक जाग्रत् हो जाता है। इसीको तत्त्वज्ञान अथवा बोध कहा जाता है।

मनुष्यमात्रके भीतर स्वतः यह भाव रहता है कि मैं बना रहूँ, कभी मरूँ नहीं। वह अमर रहना चाहता है। अमरताकी इस इच्छासे सिद्ध होता है कि वास्तवमें वह अमर है। अगर वह अमर न होता तो उसमें अमरताकी इच्छा भी नहीं होती। जैसे, भूख और प्यास लगती है तो इससे सिद्ध होता है कि ऐसी वस्तु (अन्न और जल) है, जिससे वह भूख-प्यास बुझ जाय। अगर अन्न-जल न होता तो भूख-प्यास भी नहीं लगती। अतः अमरता स्वतःसिद्ध है। यहाँ शंका होती है कि जो अमर है, उसमें अमरताकी इच्छा क्यों होती है? इसका समाधान है कि अमर होते हुए भी जब उसने अपने विवेकका तिरस्कार करके मरणधर्मा शरीरके साथ अपनेको एक मान लिया अर्थात् 'शरीर ही मैं हूँ'—ऐसा मान लिया, तब उसमें अमरताकी इच्छा और मृत्युका भय पैदा हो गया।

मनुष्यमात्रको इस बातका विवेक है कि यह शरीर (स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणशरीर) मेरा असली स्वरूप नहीं है। शरीर प्रत्यक्ष रूपसे बदलता है। बाल्यावस्थामें जैसा शरीर था, वैसा आज नहीं है और आज जैसा शरीर है, वैसा आगे नहीं रहेगा। परन्तु मैं वही हूँ अर्थात् बाल्यावस्थामें जो मैं था, वही मैं आज हूँ और आगे भी रहूँगा। अतः मैं शरीरसे अलग हूँ और शरीर मेरेसे अलग है अर्थात् मैं शरीर नहीं हूँ—यह सबके अनुभवकी बात है। फिर भी अपनेको शरीरसे अलग न मानकर शरीरके साथ एक मान लेना अपने विवेकका निरादर है, अपमान है, तिरस्कार है। साधकको अपने इस विवेकको महत्त्व देना है कि मैं तो निरन्तर रहनेवाला हूँ और शरीर मरनेवाला है। ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिसमें शरीर मरता न हो। मरनेके प्रवाहको ही जीना कहते हैं। वह प्रवाह प्रकट हो जाय तो उसको जन्मना कह देते हैं और अदृश्य हो जाय तो उसको मरना कह देते हैं। तात्पर्य है कि जो हरदम बदलता है, उसीका नाम जन्म है, उसीका नाम स्थिति है और उसीका नाम मृत्यु है। बाल्यावस्था मर जाती है तो युवावस्था पैदा हो जाती है और युवावस्था मर जाती है तो वृद्धावस्था पैदा हो जाती है। इस तरह प्रतिक्षण पैदा होने और मरनेको ही जीना (स्थिति) कहते हैं। पैदा होने और मरनेका यह क्रम सूक्ष्म रीतिसे निरन्तर चलता रहता है। परन्तु हम स्वयं निरन्तर ज्यों-के-त्यों रहते हैं। अवस्थाओंमें परिवर्तन होता है, पर हमारे स्वरूपमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। अतः शरीर तो निरन्तर मृत्युमें रहता है और मैं निरन्तर अमरतामें रहता हूँ—इस विवेकको महत्त्व देना है।

गीतामें आया है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२। २२)

'मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही देही पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है।'

जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़नेसे हम मर नहीं जाते और नये कपड़े धारण करनेसे हम पैदा नहीं हो जाते,

ऐसे ही पुराने शरीरको छोड़नेसे हम मर नहीं जाते और नया शरीर धारण करनेसे हम पैदा नहीं हो जाते। तात्पर्य है कि शरीर मरता है, हम नहीं मरते। अगर हम मर जायँ तो फिर पुण्य-पापका फल कौन भोगेगा? अन्य योनियोंमें कौन जायगा? बन्धन किसका होगा? मुक्ति किसकी होगी?

शरीर नाशवान् है, इसको कोई रख सकता ही नहीं और हमारा स्वरूप अविनाशी है, इसको कोई मार सकता ही नहीं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥

(गीता २। १७)

अविनाशी सदा अविनाशी ही रहेगा और विनाशी सदा विनाशी ही रहेगा। जो विनाशी है, वह हमारा स्वरूप नहीं है। हमने कुर्ता पहन लिया तो क्या कुर्ता हमारा स्वरूप हो गया? हमने चादर ओढ़ ली तो क्या चादर हमारा स्वरूप हो गयी? जैसे हम कपड़ोंसे अलग हैं, ऐसे ही हम इन शरीरोंसे भी अलग हैं। इसलिये हमारे मनमें निरन्तर स्वत: यह बात रहनी चाहिये कि मैं मरनेवाला नहीं हूँ, मैं तो अमर हूँ—**'अमर जीव मरे सो काया'** जीव अमर है, काया मरती है। अगर इस विवेकको महत्त्व दें तो मरनेका भय मिट जायगा। जब हम मरते ही नहीं तो फिर मरनेका भय कैसा? और जो मरता ही है, उसको रखनेकी इच्छा कैसी? हमारा बालकपना नहीं रहा तो अब हम बालकपनेको लाकर नहीं दिखा सकते; क्योंकि वह मर गया, पर हम वही रहे। अत: शरीर सदा मरनेवाला है और मैं सदा अमर रहनेवाला हूँ—इसमें क्या सन्देह रहा? अब केवल इस बातका आदर करना है, इसको महत्त्व देना है, इसका स्वयं अनुभव करना है, कोरा सीखना नहीं है। जैसे धन मिल जाय तो भीतरसे खुशी आती है, ऐसे ही इस बातको सुनकर भीतरसे खुशी आनी चाहिये और जीनेकी इच्छा तथा मरनेका भय नहीं रहना चाहिये! कारण कि जिस बातसे हमारा दु:ख, जलन, सन्ताप, रोना मिट जाय, उसके मिलनेसे बढ़कर और क्या खुशीकी बात होगी! ऐसा लाभ तो करोड़ों-अरबों रुपयोंके मिलनेसे भी नहीं होता। कारण कि अरबों-खरबों रुपये मिल जायँ और पृथ्वीका राज्य मिल जाय तो भी एक दिन वह सब छूट जायगा, हमारेसे बिछुड़ जायगा—

अरब खरब लौं द्रव्य है, उदय अस्त लौं राज।
तुलसी जो निज मरन है, तो आवे किहि काज॥

हम शरीरमें अपनी स्थिति मान लेते हैं, अपनेको शरीर मान लेते हैं तो यह हमारी गलती है। गलत बातका आदर करना और सही बातका निरादर करना ही मुक्तिमें खास बाधा है। अपनेको शरीर मानकर ही हम कहते हैं कि मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ, मैं बूढ़ा हूँ। वास्तवमें हम न बालक हुए, न हम जवान हुए, न हम बूढ़े हुए, प्रत्युत शरीर ही बालक हुआ, शरीर ही जवान हुआ, शरीर ही बूढ़ा हुआ। शरीर बीमार हो गया तो मैं बीमार हो गया, शरीर कमजोर हो गया तो मैं कमजोर हो गया, धन पासमें आ गया तो मैं धनी हो गया, धन चला गया तो मैं निर्धन हो गया—यह शरीर और धनके साथ एकता माननेसे ही होता है। जब क्रोध आता है, तब हम कहते हैं कि मैं क्रोधी हूँ! विचार करें, क्या क्रोध सब समय रहता है? सबके लिये होता है? जो हरदम नहीं रहता और जो सबके लिये नहीं होता, वह मेरेमें कैसे हुआ? कुत्ता घरमें आ गया तो क्या वह घरका मालिक हो गया? ऐसे ही क्रोध आ गया तो क्या मैं क्रोधी हो गया? क्रोध तो आता है और चला जाता है, पर मैं निरन्तर रहता हूँ।

देश बदलता है, काल बदलता है, वस्तुएँ बदलती हैं, व्यक्ति बदलते हैं, क्रिया बदलती है, अवस्था बदलती है, परिस्थिति बदलती है, घटना बदलती है, पर हम निरन्तर रहते हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ बदलती हैं, पर हम तो एक ही रहते हैं, तभी हमें अवस्थाओंका और उनके परिवर्तनका अर्थात् उनके आरम्भ और अन्तका ज्ञान होता है। स्थूल दृष्टिसे विचार करें तो जैसे हम हरिद्वारसे ऋषिकेश आये तो पहले हम हरिद्वारसे रायवाला आये, फिर रायवालासे ऋषिकेश आये।

अगर हम हरिद्वारमें ही रहनेवाले होते तो रायवाला और ऋषिकेश कैसे आते? रायवालामें रहनेवाले होते तो हरिद्वार और ऋषिकेश कैसे आते? ऋषिकेशमें रहनेवाले होते तो हरिद्वार और रायवाला कैसे आते? अत: हम न तो हरिद्वारमें रहते हैं, न रायवालामें रहते हैं, न ऋषिकेशमें रहते हैं। हरिद्वार, रायवाला और ऋषिकेश—तीनों अलग-अलग हैं, पर हम एक ही हैं। हरिद्वारमें भी हम वही रहे, रायवालामें भी हम वही रहे और ऋषिकेशमें भी हम वही रहे। ऐसे ही जाग्रत्‌में भी हम वही रहे, स्वप्नमें भी हम वही रहे और सुषुप्तिमें भी हम वही रहे। अत: बदलनेवालेको न देखकर रहनेवालेको देखना है अर्थात् अपनेमें निर्लिप्तताका अनुभव करना है—

'रहता रूप सही कर राखो बहता संग न बहीजे'

बदलनेवालेके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है—यही अमरता (मुक्ति) है। अमरता स्वत:सिद्ध और स्वाभाविक है, करनी नहीं पड़ती। मृत्युके साथ सम्बन्ध तो हमने माना है।

प्रश्न—अभी सिंह सामने आ जाय तो भय लगेगा ही?

उत्तर—भय इस कारण लगेगा कि 'मैं शरीरसे अलग हूँ'—यह बात सुनकर सीख ली है, समझी नहीं है। सीखी हुई और समझी हुई बातमें यही फर्क है। तोता अन्य समय तो राधेकृष्ण-गोपीकृष्ण करता है, पर जब बिल्ली पकड़ती है, तब टें-टें करता है, जबकि समय तो अब राधेकृष्ण-गोपीकृष्ण करनेका है! परन्तु सीखा हुआ ज्ञान समयपर काम नहीं आता।

सिंह आ जाय तो उससे बचनेकी चेष्टा करनेमें कोई दोष नहीं है, पर भयभीत होना दोषी है। कारण कि मरनेवाला तो मर ही रहा है और जीनेवाला जी ही रहा है, फिर भय किस बातका? सिंह मारेगा तो मरनेवालेको ही मारेगा, जीनेवालेको कैसे मारेगा? सिंह खा लेगा तो उसकी भूख मिट जायगी, अपनेमें क्या फर्क पड़ेगा? मरनेवालेको कबतक बचाओगे? वह तो मरेगा ही। अत: न जीनेकी इच्छा करनी है, न मरनेका भय करना है।

एक मार्मिक बात है। सत्संग करनेसे पहले जितना भय लगता है, उतना भय सत्संगके बाद नहीं लगता। सत्संग करनेसे वृत्तियोंमें बहुत फर्क पड़ता है और विकार अपने-आप नष्ट होते हैं। परन्तु ऐसा तब होगा, जब हम सत्संगकी बातोंको आदर देंगे, महत्त्व देंगे, उनका अनुभव करेंगे। सत्संगकी बातोंको महत्त्व देनेसे साधकके अनुभवमें ये तीन बातें अवश्य आती हैं—

(१) काम-क्रोधादि विकार पहले जितनी तेजीसे आते थे, उतनी तेजीसे अब नहीं आते।

(२) पहले जितनी देर ठहरते थे, उतनी देर अब नहीं ठहरते।

(३) पहले जितनी जल्दी आते थे, उतनी जल्दी अब नहीं आते।

—इन बातोंको देखकर साधकका उत्साह बढ़ना चाहिये कि जो विकार कम होता है, वह नष्ट भी अवश्य होता है। व्यापारमें तो लाभ और नुकसान दोनों होते हैं, पर सत्संगमें लाभ-ही-लाभ होता है, नुकसान होता ही नहीं। जैसे माँकी गोदीमें पड़ा हुआ बालक अपने-आप बड़ा होता है, बड़ा होनेके लिये उसको उद्योग नहीं करना पड़ता। ऐसे ही सत्संगमें पड़े रहनेसे मनुष्यका अपने-आप विकास होता है। अगर जिज्ञासा जोरदार हो और थोड़ा भी विकार असह्य हो तो तत्काल सिद्धि होती है।

सत्संगसे विवेक जाग्रत् होता है। साधक जितने अंशमें उस विवेकको महत्त्व देता है, उतने अंशमें उसके काम-क्रोधादि विकार कम हो जाते हैं। विवेकको सर्वथा महत्त्व देनेसे वह विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है, फिर दूसरी सत्ताका अभाव होनेसे विकार रहनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञान होनेपर विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

किसी प्रियजनकी मृत्यु हो जाय, धन चला जाय तो मनुष्यको शोक होता है। ऐसे ही भविष्यको लेकर चिन्ता होती है कि अगर स्त्री मर गयी तो क्या होगा? पुत्र मर गया तो क्या होगा? ये शोक-चिन्ता भी

विवेकको महत्त्व न देनेके कारण ही होते हैं। संसारमें परिवर्तन होना, परिस्थिति बदलना आवश्यक है। यदि परिस्थिति नहीं बदलेगी तो संसार कैसे चलेगा? मनुष्य बालकसे जवान कैसे बनेगा? मूर्खसे विद्वान् कैसे बनेगा? रोगीसे नीरोग कैसे बनेगा? बीजका वृक्ष कैसे बनेगा? परिवर्तनके बिना संसार स्थिर चित्रकी तरह बन जायगा! वास्तवमें मरनेवाला (परिवर्तनशील) ही मरता है, रहनेवाला कभी मरता ही नहीं। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि मृत्यु होनेपर शरीर तो हमारे सामने पड़ा रहता है, पर शरीरका मालिक (जीवात्मा) निकल जाता है। यदि इस अनुभवको महत्त्व दें तो फिर चिन्ता-शोक हो ही नहीं सकते। बालिके मरनेपर भगवान् राम इसी अनुभवकी ओर ताराका लक्ष्य कराते हैं—

तारा बिकल देखि रघुराया।
दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया॥
छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा।
जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
उपजा ग्यान चरन तब लागी।
लीन्हेसि परम भगति बर मागी॥

(मानस, किष्किन्धा० ११। २-३)

प्रश्न—विवेकका आदर न होनेमें खास कारण क्या है?

उत्तर—खास कारण है—संयोगजन्य सुखकी आसक्ति। हम संयोगजन्य सुखका भोग करना चाहते हैं, इसीलिये अपने विवेकका आदर नहीं होता अर्थात् ज्ञान भीतर ठहरता नहीं। तात्पर्य है कि भोगोंमें जितनी आसक्ति होती है, उतनी ही बुद्धिमें जडता आती है, जिससे सत्संगकी तात्त्विक बातें पढ़-सुनकर भी समझमें नहीं आतीं। गीतामें आया है कि भोग और संग्रहमें आसक्त मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकते।[1] भोगोंकी आसक्तिसे उनका ज्ञान ढका जाता है।[2] इसलिये जबतक वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, चिन्तन, स्थिरता (समाधि) आदिमें किंचिन्मात्र भी राग है, तबतक ज्ञान सीखा हुआ ही है—'**रागो लिङ्गमबोधस्य**'।

प्रश्न—शरीर मैं नहीं हूँ—यह तो ठीक है, पर शरीर मेरा और मेरे लिये तो है ही?

उत्तर—शरीरके साथ हम तीन तरहके सम्बन्ध मानते हैं—(१) शरीर मैं हूँ, (२) शरीर मेरा है और (३) शरीर मेरे लिये है। ये तीनों ही सम्बन्ध बनावटी हैं, वास्तविक नहीं हैं। वास्तवमें शरीर 'मैं' भी नहीं है, 'मेरा' भी नहीं है और 'मेरे लिये' भी नहीं है। कारण कि अगर शरीर 'मैं' होता तो शरीरके बदलनेपर मैं भी बदल जाता और शरीरके मरनेपर मेरा भी अभाव हो जाता। परन्तु यह सबका अनुभव है कि शरीर पहले जैसा था, वैसा आज नहीं है, पर मैं वही हूँ। शरीर बदला है, पर मैं नहीं बदला। अगर शरीर 'मेरा' होता तो उसपर मेरा पूरा अधिकार चलता अर्थात् मैं जैसा चाहता, वैसा ही शरीरको रख सकता, उसको सुन्दर बना देता, उसका रंग बदल देता, उसको बदलने नहीं देता, बीमार नहीं होने देता, कमजोर नहीं होने देता, बूढ़ा नहीं होने देता और कम-से-कम मरने तो देता ही नहीं। परन्तु यह सबका अनुभव है कि शरीरपर हमारा बिलकुल वश नहीं चलता और न चाहते हुए भी, लाख कोशिश करते हुए भी वह बीमार हो जाता है, कमजोर हो जाता है, वृद्ध हो जाता है और मर भी जाता है। अगर शरीर 'मेरे लिये' होता तो उसके मिलनेपर हमें सन्तोष हो जाता, हमारे भीतर और कुछ पानेकी इच्छा नहीं रहती और शरीरसे कभी वियोग भी नहीं होता, वह सदा मेरे साथ ही रहता। परन्तु यह सबका

१-भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (गीता २।४४)

२-आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा। कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ (गीता ३।३९)

'हे कुन्तीनन्दन! इस अग्निके समान कभी तृप्त न होनेवाले और विवेकियोंके नित्य वैरी इस कामके द्वारा मनुष्यका विवेक ढका हुआ है।'

अनुभव है कि शरीर मिलनेपर भी हमें किंचिन्मात्र सन्तोष नहीं होता, हमारी इच्छाएँ समाप्त नहीं होतीं, हमें पूर्णताका अनुभव नहीं होता और शरीर भी निरन्तर नहीं रहता, प्रत्युत हमारेसे बिछुड़ जाता है।

जैसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही स्थूलशरीरसे होनेवाली 'क्रिया', सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला 'चिन्तन' और कारणशरीरसे होनेवाली 'स्थिरता' (समाधि)-के साथ भी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। कारण यह है कि प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और समाप्ति होती है। कोई भी चिन्तन निरन्तर नहीं रहता, प्रत्युत आता-जाता रहता है। स्थिरताके बाद चंचलता, समाधिके बाद व्युत्थान होता ही है। तात्पर्य है कि न तो क्रिया निरन्तर रहती है, न चिन्तन निरन्तर रहता है और न स्थिरता निरन्तर रहती है। इन तीनोंके आने-जानेका, परिवर्तनका अनुभव तो हम सबको होता है, पर अपने परिवर्तनका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। हमारा होनापन निरन्तर रहता है। हमारे साथ न तो पदार्थ एवं क्रिया रहती है, न चिन्तन रहता है और न स्थिरता ही रहती है। हम अकेले ही रहते हैं। इसलिये हमें अकेले (पदार्थ, क्रिया, चिन्तन और स्थिरतासे रहित) रहनेका स्वभाव बनाना चाहिये।

जब स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर तथा उनके कार्य क्रिया, चिन्तन और स्थिरताके साथ हमारा सम्बन्ध ही नहीं तो फिर उनका संयोग हो अथवा वियोग हो, हमारेमें क्या फर्क पड़ता है? ऐसा ही अनुभव गुणातीतको भी होता है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

(गीता १४। २२)

'हे पाण्डव! प्रकाश, प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो इनकी इच्छा नहीं करता।'

संयोग-वियोग तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है। तत्त्वमें न संयोग है, न वियोग है, प्रत्युत नित्य-'योग' है—'**तं विद्याद्-दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (गीता ६। २३)।

जबतक हमारा सम्बन्ध पदार्थ, क्रिया, चिन्तन, स्थिरताके साथ रहता है, तबतक परतन्त्रता रहती है; क्योंकि पदार्थ, क्रिया आदि 'पर' हैं, 'स्व' नहीं हैं। इनसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर हम स्वतन्त्र (मुक्त) हो जाते हैं। वास्तवमें हमारा स्वरूप (होनापन) स्वतन्त्रता-परतन्त्रता दोनोंसे रहित है; क्योंकि स्वतन्त्रता-परतन्त्रता तो सापेक्ष हैं, पर स्वरूप निरपेक्ष है।

भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

'असत्‌का भाव विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।'

शरीर, पदार्थ, क्रिया, अवस्था आदि असत् हैं; अतः उनका भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है अर्थात् उनका निरन्तर अभाव है। स्वरूप सत् है; अतः उसका अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् उसका निरन्तर भाव (सत्ता) है। असत्‌के साथ अपने सम्बन्धको न माननेसे अभावरूप असत्‌का अभाव हो जाता है और भावरूप सत् ज्यों-का-त्यों रह जाता है और उसका अनुभव हो जाता है।

ज्ञानमार्गमें असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और अपने स्वरूप (चिन्मय सत्तामात्र)-में स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है। फिर स्वरूप जिसका अंश है, उस परमात्माकी ओर स्वतः आकर्षण होता है, जिसको प्रेम कहते हैं। अपना स्वरूप सभीको प्रिय लगता है, फिर वह जिसका अंश है, वे परमात्मा कितने प्रिय लगेंगे—इसका कोई पारावार नहीं है!

२. मैंपनसे रहित स्वरूपका अनुभव

प्रत्येक साधकके लिये निर्मम और निरहंकार होना बहुत आवश्यक है। कारण कि 'मैं' और 'मेरा' ही माया है, जिससे जीव बँधता है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥

(मानस, अरण्य० १५।२)

मैं-मेरे की जेवरी, गल बँध्यो संसार।
दास कबीरा क्यों बँधे, जाके राम अधार॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगमार्गोंमें निर्मम और निरहंकार होनेकी बात कही है—कर्मयोगमें '**निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति**' (२।७१), ज्ञानयोगमें '**अहंकारं……विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते**' (१८।५३) और भक्तियोगमें '**निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी**' (१२।१३)। इस विषयमें साधकोंके लिये एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि वास्तवमें हमारा स्वरूप अहंता (मैंपन)-से रहित है। अहंता (मैंपन) और ममता (मेरापन)—दोनों अपने स्वरूपमें मानी हुई हैं, वास्तविक नहीं हैं। अगर ये वास्तविक होतीं तो हम कभी निर्मम और निरहंकार नहीं हो सकते और भगवान् भी निर्मम और निरहंकार होनेकी बात नहीं कहते। परन्तु हम निर्मम और निरहंकार हो सकते हैं, तभी भगवान् ऐसा कहते हैं।

'मैं' क्या है?

प्रत्येक मनुष्यका यह अनुभव है कि 'मैं हूँ'। यह 'मैं हूँ' ही चिज्जडग्रन्थि है। यद्यपि इसमें 'मैं' की मुख्यता प्रतीत होती है और 'हूँ' उसका सहायक प्रतीत होता है, तथापि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो मुख्यता 'हूँ' (सत्ता)-की ही है, 'मैं' की नहीं। कारण कि 'मैं' तो बदलता है, पर 'हूँ' नहीं बदलता। जैसे, 'मैं बालक हूँ; मैं जवान हूँ; मैं बूढ़ा हूँ; मैं रोगी हूँ; मैं नीरोग हूँ'—इनमें 'मैं' तो बदला है, पर 'हूँ' नहीं बदला। 'हूँ' निर्विकार रूपसे सदा रहता है। 'मैं' प्रकृतिका अंश है और 'हूँ' प्रकृतिसे अतीत परमात्माका अंश है। यह 'हूँ' सत्ताका वाचक है। 'मैं' साथमें होनेसे ही यह 'हूँ' है। अगर 'मैं' साथमें न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। वह 'है' सर्वदेशीय है। 'मैं' के कारण ही एकदेशीय 'हूँ' का भान होता है।

मैं, तू, यह और वह—इन चारोंमें केवल 'मैं' के साथ ही 'हूँ' है, शेष तीनोंके साथ 'है' है; जैसे—तू है, यह है और वह है। अनादिकालसे चले आये अनन्त प्राणियोंको हम 'है' कह सकते हैं कि 'ये प्राणी हैं'। पृथ्वी, स्वर्ग, नरक, पाताल आदि सभी लोकोंको 'है' कह सकते हैं। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—चारों युगोंको 'है' कह सकते हैं। परन्तु 'मैं' कहनेवाला एक ही है। आजकलकी भाषामें सब-के-सब वोट 'है' के ही हैं, 'मैं' का केवल एक ही वोट है!

'मैं' जड़ है और 'हूँ' चिन्मय सत्ता है। 'मैं' और 'हूँ'— दोनोंका एक हो जाना, घुल-मिल जाना तादात्म्य (चिज्जडग्रन्थि) है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हम नित्य-निरन्तर रहनेवाले आनन्दको भी चाहते हैं और नाशवान् भोग तथा संग्रहको भी चाहते हैं। ये दो विभाग 'मैं' और 'हूँ' के तादात्म्यके कारण ही हैं।

हम सदा रहना (जीना) चाहते हैं तो यह इच्छा न तो उसमें होती है, जो सदा नहीं रहता और न उसमें ही होती है, जो सदा रहता है। यह इच्छा उसमें होती है, जो सदा रहता है, पर उसमें मृत्युका भय आ गया। मृत्युका भय जडताके संगसे आता है; क्योंकि जडता नाशवान् है, चिन्मय सत्ता अविनाशी है। तात्पर्य है कि चिन्मय सत्ता ('है') में 'मैं' मिलानेसे ही जीनेकी इच्छा होती है। अतः जीनेकी इच्छा न 'मैं' में है और न 'हूँ' में है, प्रत्युत 'मैं हूँ'—इस तादात्म्यमें है। इस तादात्म्यके कारण ही मनुष्यमें भोगेच्छा और जिज्ञासा (मुमुक्षा) दोनों रहती हैं।

'मैं हूँ'—इन दोनोंमें हम 'मैं' को प्रधानता देंगे तो संसार (भोग एवं संग्रह)-की इच्छा हो जायगी

और 'हूँ' को प्रधानता देंगे तो परमात्मा (मोक्ष)-की इच्छा हो जायगी। जब 'मैं' से माना हुआ सम्बन्ध अर्थात् तादात्म्य मिट जायगा, तब संसारकी इच्छा मिट जायगी और परमात्माकी इच्छा पूरी हो जायगी। कारण कि संसार अपूर्ण है, इसलिये उसकी इच्छा कभी पूरी नहीं होती और परमात्मा पूर्ण हैं, इसलिये उनकी इच्छा कभी अपूर्ण नहीं होती अर्थात् पूरी ही होती है। भोगेच्छा हो अथवा मुमुक्षा हो, इच्छामात्र जड़के सम्बन्ध (तादात्म्य)-से ही होती है। तादात्म्य मिटते ही हम जीवन्मुक्त हो जाते हैं। वास्तवमें हम जीवन्मुक्त तो पहलेसे ही हैं, पर 'मैं' के साथ अपना सम्बन्ध (तादात्म्य) मान लेनेसे जीवन्मुक्तिका अनुभव नहीं होता। इसलिये जो नित्यप्राप्त है, उसीकी प्राप्ति होती है और जो नित्यनिवृत्त है, उसीकी निवृत्ति होती है।

हमारा अनुभव

प्रश्न—'मैं' अलग है और 'हूँ' अलग है—इसका अनुभव कैसे करें?

उत्तर—यह तो हम सबके अनुभवकी ही बात है। जाग्रत् और स्वप्नमें तो हमारा व्यवहार होता है, पर सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा)-में कोई व्यवहार नहीं होता। कारण कि सुषुप्ति-अवस्थामें मैंपन जाग्रत् नहीं रहता, प्रत्युत अविद्यामें लीन हो जाता है। परन्तु मैंपन लीन होनेपर भी हमारी सत्ता रहती है। इसीलिये सुषुप्तिसे जगनेपर हम कहते हैं कि 'मैं ऐसे सुखसे सोया कि मेरेको कुछ भी पता नहीं था' तो 'कुछ भी पता नहीं था'—इसका पता तो था ही! नहीं तो कैसे कहते कि कुछ भी पता नहीं था? इससे सिद्ध हुआ कि जाग्रत् और स्वप्नमें मैंपन जाग्रत् रहनेपर भी हमारी सत्ता है तथा सुषुप्तिमें मैंपन जाग्रत् न रहनेपर भी हमारी सत्ता है। अतः हम मैंपनके भाव और अभाव दोनोंको जाननेवाले हैं। अगर हम मैंपनसे अलग न होते, अहंकाररूप ही होते तो सुषुप्तिमें मैंपनके लीन होनेपर हम भी नहीं रहते।* अतः मैंपनके बिना भी हमारा होनापना सिद्ध होता है।

हम अहम् ('मैं')-के भाव और अभाव—दोनोंको जानते हैं, पर अपने अभावको कभी कोई नहीं जानता; क्योंकि हमारी सत्ताका अभाव कभी होता ही नहीं—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २।१६)। असत् वस्तु अहम्‌के भाव और अभावको प्रकाशित करनेवाली हमारी सत्ता निरन्तर रहती है। जैसे, कल हम जाग्रत्‌में थे, रात्रिमें स्वप्न अथवा गाढ़ निद्रा आ गयी और आज पुनः जाग्रत्‌में हैं तो जाग्रत् और स्वप्नमें अहम्‌के भावका अनुभव होता है, पर गाढ़ निद्रामें अहम्‌के अभावका अनुभव होता है। जाग्रत् आदि अवस्थाएँ निरन्तर नहीं रहतीं—यह भी हमारा अनुभव है। अतः हमारा स्वरूप अहम् तथा अवस्थाओंके भाव और अभावको प्रकाशित करनेवाला अलुप्त प्रकाश है। इसीलिये हम कहते हैं कि कल जो मैं जागता था, वही आज जागता हूँ और वही स्वप्न तथा सुषुप्तिमें था। तात्पर्य है कि तीनों अवस्थाओंमें हमें अखण्ड रूपसे अपनी सत्ताका अनुभव होता है। इसी तरह हम किसी भी योनिमें जायँ, हमारी अहंता तो बदलती है, पर हम नहीं बदलते। जैसे पहले हम कहते थे कि 'मैं बालक हूँ', फिर हम कहने लगे कि 'मैं जवान हूँ' और अब हम कहते हैं कि 'मैं वृद्ध हूँ' तो बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था तो अलग-अलग हुए, पर उनमें हमारी सत्ता एक ही रही अर्थात् अवस्थाओंके बदलनेपर भी हमारी सत्ता नहीं बदली। ऐसे ही जीव मनुष्यशरीरमें आनेपर 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा मानता है, देवता बननेपर 'मैं देवता हूँ' ऐसा मानता है, पशु बननेपर 'मैं पशु हूँ' ऐसा मानता है, भूत-प्रेत बननेपर 'मैं भूत-प्रेत हूँ' ऐसा मानता है, आदि-आदि। इससे यह सिद्ध होता है कि देहान्तरकी प्राप्ति होनेपर अहंता तो बदल जाती है, पर हमारी सत्ता नहीं बदलती।

इस प्रकार सुषुप्तिमें अहंकारके अभावका और अवस्थाओं तथा देहान्तरकी प्राप्तिमें अहंकारके परिवर्तनका

* सुषुप्तिमें मैंपन मिटता नहीं है, प्रत्युत अविद्यामें लीन होता है और निद्राके मिटनेपर (जाग्रत्-अवस्थामें आनेपर) वह पुनः प्रकट हो जाता है। परन्तु तत्त्वज्ञान होनेपर मैंपन मिट जाता है।

अनुभव तो सबको होता है, पर अपनी सत्ताके अभाव और परिवर्तनका अनुभव कभी किसीको हुआ नहीं, हो सकता नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि अहंकार (मैंपन) हमारा स्वरूप नहीं है। हमारेसे गलती यह होती है कि हम अपने इस अनुभवका आदर नहीं करते, इसको महत्त्व नहीं देते। अगर हम इस अनुभवको महत्त्व दें तो अनादिकालसे अहंकारके साथ अपनेपनके जो संस्कार भीतर पड़े हैं, वे संस्कार अपने-आप कम होते-होते मिट जायँगे।

हमारा स्वरूप

हमारा स्वरूप सत्तामात्र है। उस सत्तामें मैं-तू-यह-वहका भेद नहीं है। मैं, तू, यह और वह—ये चारों प्राकृत हैं और स्वरूप प्रकृतिसे अतीत है। ये चार हैं और सत्ता एक है। ये चारों अनित्य हैं और सत्ता नित्य है। ये चारों सापेक्ष हैं और सत्ता निरपेक्ष है। ये चारों प्रकाश्य हैं और सत्ता प्रकाशक है। ये चारों आधेय हैं और सत्ता आधार है। ये चारों जाननेमें आनेवाले हैं और सत्ता जाननेवाली है। इन चारोंका परिवर्तन तथा अभाव होता है और सत्ताका कभी परिवर्तन तथा अभाव नहीं होता। इसलिये इन चारोंके बदलनेका, आने-जानेका, भाव-अभावका, उत्पन्न-नष्ट होनेका तो अनुभव होता है, पर अपने बदलनेका, आने-जानेका, भाव-अभावका, उत्पन्न-नष्ट होनेका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

मैं, तू, यह और वह—ये चारों तो असत्, जड़ और दुःखरूप हैं, पर चिन्मय सत्ता सत्, चित् और आनन्दरूप है। इस चिन्मय सत्तामें सबकी स्वतः निरन्तर स्थिति है। सांसारिक स्थूल व्यवहार करते हुए भी सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई विकार, हलचल, अशान्ति, उद्वेग नहीं होता। कारण कि सत्तामें न अहंता (मैंपन) है, न ममता (मेरापन) है। वह सत्ता ज्ञप्तिमात्र, ज्ञानमात्र है। इस ज्ञानका ज्ञाता कोई नहीं है अर्थात् ज्ञान है, पर ज्ञानी नहीं है। जबतक ज्ञानी है, तबतक एकदेशीयता, व्यक्तित्व है। एकदेशीयता मिटनेपर एकमात्र निर्विकार, निरहंकार, सर्वदेशीय सत्ता शेष रहती है, जो सबको स्वतःप्राप्त है।*

स्वरूपमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि—ये पाँचों ही अवस्थाएँ नहीं हैं। ये पाँचों अवस्थाएँ अनित्य हैं और स्वरूप नित्य है। अवस्थाएँ प्रकाश्य हैं और स्वरूप प्रकाशक है। अवस्थाएँ अलग-अलग (पाँच) हैं, पर उनको जाननेवाले हम स्वयं एक ही हैं। इन पाँचों अवस्थाओंके परिवर्तन, अभाव तथा आदि-अन्तका अनुभव तो हमें होता है, पर अपने (स्वरूपके) परिवर्तन, अभाव तथा आदि-अन्तका अनुभव हमें नहीं होता; क्योंकि स्वरूपमें ये हैं ही नहीं। जैसे स्वप्नावस्थामें देखे गये पदार्थ मिथ्या (अभावरूप) हैं, ऐसे ही उन पदार्थोंका अनुभव करनेवाला (स्वप्नको देखनेवाला) अहंकार भी मिथ्या है। स्वप्नावस्थामें तो जाग्रत्-अवस्था दबती है, मिटती नहीं, पर जाग्रत्-अवस्थामें स्वप्नावस्था मिट जाती है। अतः स्वप्नावस्थाके साथ-साथ उसका अहंकार भी मिट जाता है। इसी तरह जाग्रत्-अवस्थामें जो अहंकार दीखता है, वह भी शरीर छूटनेपर मिट जाता है; परन्तु तादात्म्यके कारण दूसरे देहकी प्राप्ति होनेपर पुनः अहंकार जाग्रत् हो जाता है। यद्यपि जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओंका अहंकार भी अलग-अलग होता है, तथापि उनमें अपनी सत्ता एक रहनेके कारण अहंकार भी एक दीखता है।

एक तुरीयावस्था (चतुर्थ अवस्था) होती है, जिसको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके बादकी अवस्था कहते हैं। परन्तु वास्तवमें तुरीयावस्था कोई अवस्था

* वास्तवमें सत्ताका वर्णन शब्दोंसे नहीं कर सकते। उसको असत्‌की अपेक्षासे सत्, विकारकी अपेक्षासे निर्विकार, अहंकारकी अपेक्षासे निरहंकार, एकदेशीयकी अपेक्षासे सर्वदेशीय कह देते हैं, पर वास्तवमें उस सत्तामें सत्, निर्विकार आदि शब्द लागू होते ही नहीं। कारण कि सभी शब्दोंका प्रयोग सापेक्षतासे और प्रकृतिके सम्बन्धसे होता है, जबकि सत्ता निरपेक्ष और प्रकृतिसे अतीत है। इसलिये गीतामें आया है कि उस तत्त्वको न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है—'न सत्तन्नासदुच्यते' (१३। १२)।

नहीं है, प्रत्युत तीन अवस्थाओंकी अपेक्षासे उसको तुरीयावस्था अर्थात् चतुर्थ अवस्था कह देते हैं। इसको बद्धावस्थाकी अपेक्षासे मुक्तावस्था भी कह देते हैं। निर्वाण पद भी इसीका नाम है—

पद निरवाण लखे कोई विरला,
तीन लोकमें काल समाना,
चौथे लोकमें नाम निसाण,
लखे कोई विरला।

तुरीयावस्था, मुक्तावस्था अथवा निर्वाण पद कोई अवस्था या पद नहीं है, प्रत्युत हमारा स्वरूप है।

मैंपनको मिटानेका उपाय

'मैंपन कैसे मिटे?' यह प्रश्न यदि हरदम जाग्रत् रहे तो अहंकार मिट जायगा। वास्तवमें अहंकार मिटा हुआ ही है। परन्तु सच्ची और उत्कट लगन न होनेके कारण इसका अनुभव नहीं हो रहा है। एक सन्तके चरित्रमें आया है कि गरमीका समय था, जोरसे प्यास लग रही थी और कमण्डलुमें ठण्डा जल भी पासमें रखा था; परन्तु लगन लगी थी कि जबतक अनुभव नहीं होगा, तबतक पानी नहीं पीऊँगा! ऐसी लगन लगते ही चट अनुभव हो गया! ऐसा अनुभव एक बार हो जायगा तो फिर वह सदाके लिये, युग-युगान्तरतकके लिये हो जायगा—'**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव**' (गीता ४। ३५)।

अहंकारको मिटानेके तीन उपाय बताये गये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्मयोगमें निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करें, दूसरोंको सुख पहुँचाएँ तो अपने भोग और संग्रहकी इच्छा मिट जायगी। भोगेच्छा सर्वथा मिटनेपर अहंकार नष्ट हो जायगा; क्योंकि भोगेच्छापर ही अहंकार टिका हुआ है। ज्ञानयोगमें विवेकके द्वारा यह समझें कि असत्‌के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत हमारा सम्बन्ध सर्वव्यापक सत्-स्वरूपके साथ है। ऐसा समझकर सत्-स्वरूपका अनुभव कर लें तो अहंकार नष्ट हो जायगा। भक्तियोगमें 'भगवान् ही मेरे हैं, संसार मेरा नहीं है'—ऐसा मानकर संसारसे विमुख और भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ तो अहंकार नष्ट हो जायगा। कर्मयोगमें अहंकार शुद्ध होता है, ज्ञानयोगमें अहंकार मिटता है और भक्तियोगमें अहंकार बदलता है। शुद्ध होना, मिटना और बदलना—तीनोंका परिणाम एक (अभाव) ही है।

अहंकार अनित्य और परिवर्तनशील है—यह सबका अनुभव है। एक दिनमें कई बार अहंकार बदलता है। बापके सामने हम कहते हैं कि मैं बेटा हूँ और बेटेके सामने कहते हैं कि मैं बाप हूँ। अगर कोई हमसे पूछे कि आप एक बात बताओ कि आप बाप हो या बेटा हो तो हम क्या बतायेंगे? एक बात सच्ची हो तो बतायें! इस बनावटीपनको छोड़कर जब हम वास्तविकताको देखेंगे तभी सच्ची बात मिलेगी। हम माँके सामने बेटे बन जाते हैं, बहनके सामने भाई बन जाते हैं, स्त्रीके सामने पति बन जाते हैं—यह जो हमारा बहुरूपियापना है अर्थात् बदलनेवालेको सत्य मानना है, यही अहंकारके मिटनेमें बाधक है। वास्तवमें हम न बाप हैं, न बेटे हैं, न भाई हैं, न पति हैं, प्रत्युत इन सबमें रहनेवाली एक सत्ता हैं। वह सत्ता ही हमारा स्वरूप है। अगर अपना स्वरूप बाप होता तो वह कभी बेटा नहीं बनता और बेटा होता तो कभी बाप नहीं बनता। परन्तु बेटेके सामने वह कहता है कि मैं बाप हूँ और बापके सामने कहता है कि मैं बेटा हूँ तो यह सापेक्ष अहंवृत्ति है, जो केवल व्यवहारके लिये है। अहंवृत्ति कर्ता नहीं है, प्रत्युत करण है। कर्ता अहंकार है। खाता हूँ, पीता हूँ, बोलता हूँ आदि सामान्य क्रियाएँ 'अहंवृत्ति' से होती हैं, पर अहंकार सब क्रियाओंमें निरन्तर रहता है। उन क्रियाओंको लेकर जब हम अपनेमें कोई विशेषता देखते हैं, तब अभिमान हो जाता है; जैसे—मैं धनवान् हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं व्याख्यानदाता हूँ आदि।

गीतामें आया है—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

(३। २७)

'अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अर्थात् अहंकारसे तादात्म्य करनेवाला मनुष्य अपनेको कर्ता मान लेता है।' वास्तवमें स्वरूप (स्वयं) कर्ता नहीं

है। अतः साधकको चाहिये कि वह 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' इसपर दृढ़ रहे—**'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** (गीता ५। ८)। जब अपनेमें कर्तापन और लिप्तता नहीं रहती, तब साधकको पूर्णता प्राप्त हो जाती है, वह सिद्ध हो जाता है—

'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' (गीता १८। १७)।

पदार्थ, रुपये, कुटुम्ब, शरीर आदिमें जो प्रियता (राग) है, वह बुद्धिकी लिप्तता है। कर्तापन और लिप्तता—दोनों ही स्वरूपमें नहीं हैं, प्रत्युत मानी हुई हैं—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३।३१)। जैसे हम किसी प्रकाशमें बैठे हैं तो वह प्रकाश किसीसे भी लिप्त नहीं होता और उसमें 'मैं प्रकाश हूँ; मेरा प्रकाश है'—ऐसी अहंता-ममता भी नहीं होती, ऐसे ही सम्पूर्ण क्रियाओंको प्रकाशित करनेपर भी स्वरूप (स्वयं) निर्लिप्त रहता है। वह क्रियाओंको प्रकाशित करता नहीं है, प्रत्युत क्रियाएँ उससे प्रकाशित होती हैं अर्थात् स्वरूपसे उन क्रियाओंको सत्ता-स्फूर्ति मिलती है।

तादात्म्यसे राग-द्वेष, हर्ष-शोक, चिन्ता-भय, उद्वेग-हलचल आदि विकार उत्पन्न होते हैं। अगर ये विकार न होते हों, प्रत्युत अपनेमें केवल एकदेशीयपना दीखता हो तो यह भी साधकको असह्य होना चाहिये। कारण कि अहंता तो एकदेशीय है, पर सत्ता एकदेशीय नहीं है। जब सत्ता ही अपना स्वरूप है तो फिर अपनेमें एकदेशीयपना क्यों दीखता है—ऐसा विचार करके साधकको सन्तोष नहीं करना चाहिये। इसलिये पूर्वसंस्कारसे अपनेमें एकदेशीयपना (अहंता) दीखे तो साधकको ऐसा मानना चाहिये कि वास्तवमें अहंता आ नहीं रही है, प्रत्युत जा रही है। दरवाजेपर आदमी आता हुआ भी दीखता है और जाता हुआ भी दीखता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अहंताके टुकड़े होते हैं। अहंताके टुकड़े नहीं होते, प्रत्युत अनादिकालसे अहंताके जो संस्कार पड़े हुए हैं, उनका अचानक भान हो जाता है। अतः उसको महत्त्व न देकर उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये और दृढ़तासे यह अनुभव करना चाहिये कि अपनेमें अहंता नहीं है। कारण कि अगर अपनेमें अहंता होती तो वह सुषुप्तिमें भी रहती और अवस्थान्तर अथवा देहान्तरकी प्राप्तिमें भी रहती।

जब प्रकृतिका कोई भी कार्य स्थिर नहीं है तो फिर अहंता कैसे स्थिर रहेगी? अहंता हरदम बदलती है, कभी स्थिर और एकरूप नहीं रहती और न रह सकती है। परन्तु जो प्रकृतिसे अतीत तत्त्व (अपनी सत्ता) है, वह कभी बदलता नहीं, सदा स्थिर और एकरूप रहता है। अतः बदलनेवाली वस्तुके साथ हमारा (न बदलनेवालेका) सम्बन्ध है ही नहीं—ऐसा दृढ़तासे अनुभव कर लेना चाहिये; क्योंकि यह वास्तविकता है।

मैंपनकी खोज

अब यह खोज करनी है कि मैंपन किसमें है? यदि सत्में मैंपन मानें तो फिर मैंपन कभी मिटेगा ही नहीं और मनुष्य कभी निर्मम-निरहंकार हो ही नहीं सकेगा। मैंपन प्रकृतिका कार्य है और सत्-तत्त्व प्रकृतिसे अतीत है। मैंपन प्रकृतिमें भी नहीं है, फिर प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें कैसे होगा? सत्-तत्त्व इतना ठोस है कि उसमें मिटनेवाले मैंपनकी कल्पना ही नहीं हो सकती। यदि असत्में मैंपन मानें तो असत् निरन्तर परिवर्तनशील है, फिर उसमें मैंपन कैसे टिकेगा? जिसकी खुदकी ही सत्ता नहीं है, उसमें दूसरी वस्तुकी कल्पना कैसे बैठेगी? अतः मैंपन न तो सत्में है और न असत्में है। सत् और असत्के सम्बन्धमें भी मैंपन नहीं मान सकते। कारण कि जैसे प्रकाश और अंधकारका संयोग नहीं हो सकता, ऐसे ही सत् और असत्का भी संयोग नहीं हो सकता। मैंपनको अन्तःकरणमें भी नहीं मान सकते; क्योंकि अन्तःकरण एक वृत्ति है, जो कर्ताके अधीन है। अतः जो कर्ता है, उसीमें मैंपन है।

अब प्रश्न होता है कि कर्ता कौन है? शरीर कर्ता नहीं है; क्योंकि शरीर प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—ये चार करण हैं, जिनको 'अन्तःकरण' कहते हैं। यह अन्तःकरण

भी कर्ता नहीं है; क्योंकि करण कर्ताके अधीन होता है। परन्तु कर्ता स्वतन्त्र होता है—'**स्वतन्त्रः कर्ता**' (पाणि० अ० १।४।५४)। करण तो क्रियाकी सिद्धिमें अत्यन्त सहायक होता है—'**साधकतमं करणम्**' (पाणि० अ० १।४।४२), इसलिये करणके बिना किसी क्रियाकी सिद्धि होती ही नहीं। जैसे, कलम स्वतन्त्रतासे नहीं लिखती, प्रत्युत वह तो लिखनेका एक साधन (करण) है, जो लेखक (कर्ता)-के अधीन होता है। अतः करण कर्ता नहीं होता और कर्ता करण नहीं होता। यदि अन्तःकरण 'करण' है तो फिर वह कर्ता कैसे? दूसरी बात, यदि करणमें कर्तापन है तो फिर खुद सुखी-दुःखी क्यों होता है? यदि करण, सुखी-दुःखी होता है तो हमें क्या नुकसान है? सत्-स्वरूप भी कर्ता नहीं है; क्योंकि मैंपन तो प्रकृतिका कार्य है, वह प्रकृतिसे अतीतमें कैसे सम्भव है? यदि स्वरूपमें कर्तापन होता तो वह कभी मिटता नहीं; क्योंकि स्वरूप अविनाशी है। इसलिये गीतामें आया है—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

(१८।१६)

'जो कर्मोंके विषयमें शुद्ध आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है।'

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(गीता १३। ३१)

'यह आत्मा शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

वास्तवमें जो भोक्ता (सुखी-दुःखी) होता है, वही कर्ता होता है। अब प्रश्न होता है कि भोक्ता कौन है? भोक्ता न सत् है, न असत् है। सत् भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि सत्का कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**', जबकि भोक्तापनका अभाव होता है—'**न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। असत् भी भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि असत्की सत्ता ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**'। अतः उसमें भोक्तापनकी कल्पना ही नहीं हो सकती। तात्पर्य यह हुआ कि कर्तापन और भोक्तापन न तो सत्में है और न असत्में ही है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह मैंपनको सत्से भी हटा ले और असत्से भी हटा ले। इन दोनोंसे मैंपन हटाते ही मैंपन नहीं रहेगा, कर्ता-भोक्ता नहीं रहेगा, प्रत्युत चिन्मय सत्ता रह जायगी।

जब कोई कर्ता-भोक्ता नहीं रहता, तब 'योग' रहता है। योग होनेपर भोग नहीं रहता अर्थात् 'योग' तो रहता है, पर योगी नहीं रहता, 'ज्ञान' तो रहता है, पर ज्ञानी नहीं रहता, 'प्रेम' तो रहता है, पर प्रेमी नहीं रहता। जबतक योगी रहता है, तबतक योगका भोग होता है। जबतक ज्ञानी रहता है, तबतक ज्ञानका भोग होता है। जबतक प्रेमी रहता है, तबतक प्रेमका भोग होता है। अतः जो योगी है, वह योगका भोगी है। जो ज्ञानी है, वह ज्ञानका भोगी है। जो प्रेमी है, वह प्रेमका भोगी है। जो योगका भोगी है, वह कभी विषयोंका भोगी भी हो सकता है। जो ज्ञानका भोगी है, वह कभी अज्ञानका भोगी भी हो सकता है। जो प्रेमका भोगी है, वह कभी काम (राग)-का भोगी भी हो सकता है।

जब भोगी नहीं रहता, तब केवल योग रहता है। योग रहनेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। परन्तु मुक्त होनेपर भी महापुरुषने जिस साधनसे मुक्ति प्राप्त की है, उस साधनका एक संस्कार रह जाता है, जो दूसरे दार्शनिकोंके साथ एकता नहीं होने देता। इस संस्कारके कारण ही दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें मतभेद रहता है। अपने मतका संस्कार दूसरे दार्शनिकोंके मतोंका समान आदर नहीं करने देता। परन्तु प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति होनेपर अपने मतका संस्कार भी नहीं रहता और सबके साथ एकता हो जाती है। इसलिये रामायणमें आया है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

अतः कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर

भक्तियोग साध्य है। प्रेममें अपने मतके संस्कारका भी सर्वथा अभाव हो जानेसे सम्पूर्ण मतभेद मिट जाते हैं और '**वासुदेवः सर्वम्**' अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही हैं—इसका अनुभव हो जाता है। वास्तवमें '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करनेवाला, इसको जाननेवाला, कहनेवाला भी नहीं रहता, प्रत्युत एक वासुदेव ही रहता है, जो अनादिकालसे ज्यों-का-त्यों है। सबमें परमात्माको देखनेसे सम्पूर्ण मतोंमें समान आदरभाव हो जाता है; क्योंकि अपने इष्ट परमात्मासे विरोध सम्भव ही नहीं है—'**निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध**' (मानस, उत्तर० ११२ ख)। इसलिये गीतामें '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करनेवाले महात्माको अत्यन्त दुर्लभ बताया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें अर्थात् मनुष्यजन्ममें 'सब कुछ वासुदेव ही है'—ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

३. सत्-असत्‌का विवेक

श्रीमद्भगवद्गीताका एक श्लोक है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२। १६)

'असत्‌का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है। तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने इन दोनोंका ही अन्त अर्थात् तत्त्व देखा है, अनुभव किया है।'

(१)

इस श्लोकके पूर्वार्धमें आये 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'—इन सोलह अक्षरोंमें सम्पूर्ण वेदों, पुराणों, शास्त्रोंका तात्पर्य भरा हुआ है! चिन्मय सत्तामात्र 'सत्' है और सत्ताके सिवाय जो कुछ भी प्रकृति और प्रकृतिका कार्य (क्रिया और पदार्थ) है, वह सब 'असत्' अर्थात् जड और परिवर्तनशील है। देखने, सुनने, समझने, चिन्तन करने, निश्चय करने आदिमें जो कुछ भी आता है, वह सब 'असत्' है। जिसके द्वारा देखते, सुनते, चिन्तन आदि करते हैं, वह भी 'असत्' है और दीखनेवाला भी 'असत्' है। असत् और सत्—इन दोनोंको ही प्रकृति और पुरुष, क्षर और अक्षर, शरीर और शरीरी, अनित्य और नित्य, नाशवान् और अविनाशी आदि अनेक नामोंसे कहा गया है।

पूर्वोक्त श्लोकार्ध (सोलह अक्षरों)-में तीन धातुओंका प्रयोग हुआ है—

(१) '**भू सत्तायाम्**'—जैसे, 'अभावः' और 'भावः'।

(२) '**अस् भुवि**'—जैसे, 'असतः' और 'सतः'।

(३) '**विद् सत्तायाम्**'—जैसे, 'विद्यते' और 'न विद्यते'।

यद्यपि इन तीनों धातुओंका मूल अर्थ एक 'सत्ता' ही है, तथापि सूक्ष्म रूपसे ये तीनों अपना स्वतन्त्र अर्थ भी रखते हैं; जैसे—'भू' धातुका अर्थ 'उत्पत्ति' है, 'अस्' धातुका अर्थ 'सत्ता' (होनापन) है और 'विद्' धातुका अर्थ 'विद्यमानता' (वर्तमानकी सत्ता) है।

(२)

'**नासतो विद्यते भावः**' पदोंका अर्थ है—'**असतः भावः न विद्यते**' अर्थात् असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है, प्रत्युत असत्‌का अभाव ही विद्यमान है। असत् वर्तमान नहीं है। असत् उपस्थित नहीं है। असत् प्राप्त नहीं है। असत् मिला हुआ नहीं है। असत् मौजूद नहीं है। असत् कायम नहीं है। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश अवश्य होता है—यह नियम है। उत्पन्न होते ही तत्काल उस वस्तुका नाश शुरू हो जाता है। उसका नाश इतनी तेजीसे होता है

कि उसको दो बार कोई देख ही नहीं सकता अर्थात् उसको एक बार देखनेपर फिर दुबारा उसी स्थितिमें नहीं देखा जा सकता। यह सिद्धान्त है कि जिस वस्तुका किसी भी क्षण अभाव है, उसका सदा-सर्वथा अभाव ही है। अतः संसारका सदा ही अभाव है। संसारको कितनी ही सत्ता दें, उसको कितना ही ऊँचा मानें, उसका कितना ही आदर करें, उसको कितना ही महत्त्व दें, पर वास्तवमें वह विद्यमान है ही नहीं। असत् प्राप्त है ही नहीं, कभी प्राप्त हुआ ही नहीं, कभी प्राप्त होगा ही नहीं। असत्‌का प्राप्त होना सम्भव ही नहीं है।

'**नाभावो विद्यते सतः**' पदोंका अर्थ है—'**सतः अभावः न विद्यते**' अर्थात् सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है, प्रत्युत सत्‌का भाव ही विद्यमान है। दूसरे शब्दोंमें, सत्‌की सत्ता निरन्तर विद्यमान है। सत् सदा वर्तमान है। सत् सदा उपस्थित है। सत् सदा प्राप्त है। सत् सदा मिला हुआ है। सत् सदा मौजूद है। सत् सदा कायम है। किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, अवस्था, क्रिया आदिमें सत्‌का अभाव नहीं होता। कारण कि देश, काल, वस्तु आदि तो असत् (अभावरूप अर्थात् निरन्तर परिवर्तनशील) हैं, पर सत् सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता, कोई कमी नहीं आती। अतः सत्‌का सदा ही भाव है। परमात्मतत्त्वको कितना ही अस्वीकार करें, उसकी कितनी ही उपेक्षा करें, उससे कितना ही विमुख हो जायँ, उसका कितना ही तिरस्कार करें, उसका कितनी ही युक्तियोंसे खण्डन करें, पर वास्तवमें उसका अभाव विद्यमान है ही नहीं। सत्‌का अभाव होना सम्भव ही नहीं है। सत्‌का अभाव कभी कोई कर सकता ही नहीं—'**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति**' (गीता २। १७)।

'**उभयोरपि दृष्टः**' पदोंका तात्पर्य है कि तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने सत्-तत्त्वको उत्पन्न नहीं किया है, प्रत्युत देखा है अर्थात् अनुभव किया है। तात्पर्य है कि असत्‌का अभाव और सत्‌का भाव—दोनोंके तत्त्वको (निष्कर्ष)-को जाननेवाले जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष एक सत्-तत्त्वको ही देखते हैं अर्थात् स्वतःस्वाभाविक एक 'है' का ही अनुभव करते हैं। इसलिये असत्‌की सत्ता नहीं है—यह भी सत्य है और सत्‌का अभाव नहीं है—यह भी सत्य है। अतः दोनोंका तत्त्व सत् ही है—ऐसा जान लेनेपर उन महापुरुषोंकी दृष्टिमें एक सत्-तत्त्व ('है')-के सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं।

असत्‌की सत्ता विद्यमान न रहनेसे उसका अभाव और सत्‌का अभाव विद्यमान न रहनेसे उसका भाव सिद्ध हुआ। निष्कर्ष यह निकला कि असत् है ही नहीं, प्रत्युत सत्-ही-सत् है।

(३)

जो सहज निवृत्त है, वह 'असत्' है और जो स्वतः प्राप्त है, वह 'सत्' है। निवृत्तका नित्यवियोग है और प्राप्तका नित्ययोग है। असत्‌का केवल अभाव-ही-अभाव है और इस अभावका कभी अभाव (नाश) नहीं होता। सत्‌का केवल भाव-ही-भाव है और इस भावका कभी अभाव नहीं होता। असत्‌की सत्ता माननेसे ही निवृत्त और प्राप्त ये दो विभाग कहे जाते हैं। असत्‌को सत्ता न दें तो न निवृत्त है, न प्राप्त है, प्रत्युत सत्तामात्र ज्यों-की-त्यों है। दूसरे शब्दोंमें, जबतक असत्‌की सत्ता है, तबतक विवेक है। असत्‌की सत्ता मिटनेपर विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। '**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः**'—इसमें '**उभयोरपि**' में विवेक है और '**अन्तः**' में तत्त्वज्ञान है अर्थात् विवेक तत्त्वज्ञानमें परिणत हो गया और सत्तामात्र ही शेष रह गयी।

जैसे दिन और रात—दोनों अलग-अलग हैं, ऐसे ही सत् और असत्—दोनों अलग-अलग हैं। जैसे दिन रात नहीं हो सकता और रात दिन नहीं हो सकती, ऐसे ही सत् असत् नहीं हो सकता और असत् सत् नहीं हो सकता; परन्तु तत्त्वसे दोनों एक ही हैं। जैसे दिन और रात—दोनों सापेक्ष हैं, दिनकी अपेक्षा रात है और रातकी अपेक्षा दिन है, पर सूर्यमें न दिन है, न रात है अर्थात् वह निरपेक्ष प्रकाश है। ऐसे ही

सत् और असत्—दोनों सापेक्ष हैं, पर परमात्मतत्त्व (सत्-तत्त्व) निरपेक्ष है। इसलिये तत्त्वदर्शी महापुरुष सत्-असत्—दोनोंके एक ही तत्त्व सत्-तत्त्व अर्थात् निरपेक्ष परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं।

(४)

जैसे हम कहते हैं कि यह मनुष्य है, यह पशु है, यह वृक्ष है, यह मकान है आदि, तो इसमें 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो पहले भी नहीं थे, पीछे भी नहीं रहेंगे तथा वर्तमानमें भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं। परन्तु 'है' रूपसे जो सत्ता है, वह सदा ज्यों-की-त्यों है। तात्पर्य है कि 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो संसार (असत्) है और 'है' परमात्मतत्त्व (सत्) है। इसलिये 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो अलग-अलग हुए, पर 'है' वही रहा। इसी तरह मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं देवता हूँ आदिमें शरीर तो अलग-अलग हुए, पर 'हूँ' वही रहा।

संसारकी तो सत्ता नहीं है और परमात्मतत्त्वका अभाव नहीं है। अतः जो निरन्तर बदलता है, उसका भाव कभी नहीं हो सकता और जो कभी नहीं बदलता, उसका अभाव कभी नहीं हो सकता। 'नहीं' कभी 'है' नहीं हो सकता और 'है' कभी 'नहीं' नहीं हो सकता। असत् कभी विद्यमान नहीं है और 'सत्' सदा विद्यमान है। जिसका अभाव है, उसीका त्याग करना है और जिसका भाव है, उसीको प्राप्त करना है—इसके सिवाय और क्या बात हो सकती है! 'है' को स्वीकार करना है और 'नहीं' को अस्वीकार करना है—यही वेदान्त है, वेदोंका खास निष्कर्ष है।

(५)

असत्की नित्यनिवृत्ति है और सत्की नित्यप्राप्ति है। नित्य-निवृत्तकी निवृत्ति और नित्यप्राप्तकी प्राप्तिमें क्या कठिनता और क्या सुगमता? क्या करना और क्या न करना? क्या पाना और क्या खोना? क्योंकि वह तो स्वतःसिद्ध है—

खोया कहे सो बावरा, पाया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

जब सत्के सिवाय कुछ है ही नहीं, तो फिर इसमें क्या अभ्यास करें? क्या चिन्तन करें? इसमें न कुछ करना है, न कुछ सोचना है, न कुछ निश्चय करना है, न कुछ प्राप्त करना है और न कुछ निवृत्त करना है। असत्को मिटाना भी गलती है और उसको रखनेकी अथवा प्राप्त करनेकी चेष्टा करना भी गलती है। अतः उसको न मिटाना है, न रखना है, प्रत्युत उसकी उपेक्षा करनी है। जो नहीं है, वही मिटता है और जो है, वही मिलता है। अतः असत्की निवृत्ति करनी ही नहीं है; क्योंकि असत् नित्य-निवृत्त है और सत्की प्राप्ति करनी ही नहीं है; क्योंकि सत् नित्य-निरन्तर प्राप्त है—ऐसा विचार करके चुप हो जायँ, कुछ भी चिन्तन न करें। न संसारका चिन्तन करें; न परमात्माका चिन्तन करें; क्योंकि चिन्तन करनेसे हम संसार (अन्तःकरण)-के साथ जुड़ते हैं और परमात्मासे दूर होते हैं। अतः चिन्तन नहीं करना है, प्रत्युत चिन्तन करनेकी शक्ति जिससे प्रकाशित होती है, उसमें अपनी स्थितिका अनुभव करना है, जो कि स्वतःसिद्ध है। जिस ज्ञानके अन्तर्गत वृत्तियाँ दीखती हैं, उस ज्ञानमें अपनी स्थितिका अनुभव करना है, जो कि स्वतःसिद्ध है।

(६)

यद्यपि भाव परमात्माका ही है, संसारका नहीं, तथापि मनुष्यसे भूल यह होती है कि वह पहले संसार (शरीर)-को देखकर फिर उसमें परमात्माको देखता है, पहले आकृतिको देखकर फिर भावको देखता है। ऊपर लगायी हुई पालिश कबतक टिकेगी? साधकको विचार करना चाहिये कि परमात्मा पहले थे या संसार पहले था? स्वयं (स्वरूप) पहले था या शरीर पहले था? विचार करनेपर सिद्ध होता है कि परमात्मा पहले हैं, संसार पीछे है; स्वयं पहले है, शरीर पीछे है; भाव पहले है, आकृति पीछे है। इसलिये साधककी दृष्टि पहले भावरूप परमात्मा या चिन्मय सत्ताकी तरफ जानी चाहिये, संसार या शरीरकी तरफ नहीं। हम संसारमें हैं और परमात्माको प्राप्त करना है—ऐसा मानना ही गलती है; क्योंकि वास्तवमें हम परमात्मामें ही हैं। संसारकी तो सत्ता ही नहीं है—

'नासतो विद्यते भावः।' साधककी दृष्टि भावरूप परमात्माकी तरफ ही रहनी चाहिये, अभावरूप संसारकी तरफ नहीं, प्रत्युत संसारसे विमुखता होनी चाहिये।

(७)

असत्का भाव निरन्तर अभावमें बदल रहा है। परन्तु जो असत्के अभावको जानता है, उस सत्-तत्त्वका भाव कभी अभावमें नहीं बदलता।

उस सत्-तत्त्वमें सबकी स्वतःसिद्ध स्थिति है, इसीलिये अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। वह सत्-तत्त्व सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिसे सर्वथा अतीत है। असत्को सत्ता और महत्ता देनेके कारण मनुष्य सत्-तत्त्वमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव नहीं कर पाता। तात्पर्य है कि असत्की सत्तारूपसे मान्यता ही सत्की स्वीकृति नहीं होने देती। यहाँ शंका हो सकती है कि जब असत्की सत्ता है ही नहीं तो फिर वह दीखता क्यों है? इसका समाधान यह है कि जिन इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अहम्के द्वारा असत् दीखता है, वे इन्द्रियाँ आदि भी उसी जातिके (असत्) ही हैं। तात्पर्य है कि असत् (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्)-के साथ तादात्म्य करनेके कारण ही असत् दीखता है। अगर असत्से तादात्म्य न करें तो असत् है ही नहीं, प्रत्युत सत्-ही-सत् है। इसलिये सत्-तत्त्व (आत्मा)-ने आजतक कभी असत्को देखा ही नहीं! जैसे, सूर्यने आजतक कभी अन्धकारको देखा ही नहीं! यह ज्ञानकी दृष्टिसे कहा गया है। अगर भक्तिकी दृष्टिसे देखें तो असत् संसार प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति भगवान्की शक्ति है[1]। भगवान्की शक्ति होनेसे प्रकृति और उसका कार्य भगवत्स्वरूप ही है; क्योंकि शक्ति शक्तिमान्से अलग नहीं हो सकती। जैसे शरीरके गोरे या काले रंगको शरीरसे अलग करके नहीं देख सकते, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओंको शरीरसे अलग करके नहीं देख सकते, ऐसे ही प्रकृतिको भगवान्से अलग करके नहीं देख सकते। जैस मनुष्य अपनी शक्ति (बल, ताकत, विद्वत्ता, योग्यता, चातुर्य, सामर्थ्य आदि)-के बिना तो रह सकता है, पर शक्ति मनुष्यके बिना नहीं रह सकती, ऐसे ही भगवान् तो शक्तिके बिना रह सकते हैं **और रहते ही हैं**[2], पर शक्ति भगवान्के बिना नहीं रह सकती। तात्पर्य है कि शक्ति भगवान्के अधीन (आश्रित) है, भगवान् शक्तिके अधीन नहीं हैं। शक्तिमान्के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव होता है, पर शक्तिके बिना शक्तिमान्का अभाव नहीं होता। अतः भगवान्की शक्ति होनेसे प्रकृतिकी भी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव है अर्थात् एक भगवान्के सिवाय कुछ भी नहीं है। इसलिये भगवान्ने कहा है—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९।१९), **'वासुदेवः सर्वम्'** (७।१९)। यह गीताका सर्वोपरि सिद्धान्त है, जिसमें सम्पूर्ण मतभेद समाप्त हो जाते हैं। कारण कि सम्पूर्ण मतभेद सूक्ष्म अहम्से पैदा होते हैं और **'वासुदेवः सर्वम्'** में अहम्की सूक्ष्म गन्ध भी नहीं है।

(८)

जिसका अभाव है, उस असत् ('नहीं')-के द्वारा अपना महत्त्व मानना मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोष उत्पन्न होते हैं। जिसका भाव है, उस सत्

---

१. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (गीता ७।४)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पंचमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी अपरा प्रकृति है।'

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। (श्वेताश्वतर० ४।१०)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और मायापति महेश्वरको समझना चाहिये।'

२. विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ (गीता १०। ४२)

'मैं अपने किसी एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हूँ।'

(‘है’)-के द्वारा अपना महत्त्व मानना मूल गुण है, जिससे सम्पूर्ण गुण उत्पन्न होते हैं। भूल यही है कि जो मौजूद नहीं है उसकी सत्ता मानते हैं, उसको अपना मानते हैं और जो मौजूद है, उसकी सत्ता नहीं मानते, उसको अपना नहीं मानते। मिला हुआ तो बिछुड़ जायगा, वह अपना कैसे हो सकता है? परन्तु जो मौजूद नहीं है, उस मिले हुएको अपना माननेसे जो मौजूद है, उसको अपना माननेकी शक्ति नहीं रहती। ज्ञानकी दृष्टिसे आत्मा (स्व) अपना है और भक्तिकी दृष्टिसे भगवान् (स्वकीय) अपने हैं। ‘स्व’ में प्रीति होना ज्ञान है और ‘स्वकीय’ में प्रीति होना भक्ति है।

(९)

एक सिद्धान्त है कि जो आदि और अन्तमें होता है, वह मध्य (वर्तमान)-में भी होता है तथा जो आदि और अन्तमें नहीं होता, वह मध्यमें भी नहीं होता।[३] जैसे शरीर और संसार पहले भी नहीं थे और बादमें भी नहीं रहेंगे तथा बीचमें भी वे प्रतिक्षण बदलकर नाशकी ओर जा रहे हैं अर्थात् प्रतिक्षण मर रहे हैं, उनका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है। परन्तु शरीरी (शरीरवाला) और परमात्मतत्त्व पहले भी थे, बादमें भी रहेंगे तथा बीचमें भी ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं।

जो आदि और अन्तमें नहीं है, उसका ‘नहीं’-पना नित्य-निरन्तर है तथा जो आदि और अन्तमें है, उसका ‘है’-पना नित्य-निरन्तर है। जिसका ‘नहीं’-पना नित्य-निरन्तर है, वह ‘असत्’ है और जिसका ‘है’-पना नित्य-निरन्तर है, वह ‘सत्’ है। असत्के साथ हमारा नित्यवियोग है और सत्के साथ हमारा नित्ययोग है।

सुख-दुःख, हर्ष-शोक, राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि आने-जानेवाले, बदलनेवाले हैं, पर सत्ता अर्थात् स्वरूप ज्यों-का-त्यों रहनेवाला है। साधकसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह बदलनेवाली दशाको देखता है, पर सत्ताको नहीं देखता; दशाको स्वीकार करता है, पर सत्ताको स्वीकार नहीं करता। दशा पहले भी नहीं थी और पीछे भी नहीं रहेगी; अतः बीचमें दीखनेपर भी वह है नहीं। परन्तु सत्तामें आदि, अन्त और मध्य है ही नहीं। दशाको लेकर ही सत्ताका आदि, अन्त तथा मध्य कहा जाता है। दशा कभी एकरूप रहती ही नहीं और सत्ता कभी अनेकरूप होती ही नहीं। जो दीखता है, वह भी दशा है और जो देखनेवाली है, वह भी दशा है। जाननेमें आनेवाली भी दशा है और जाननेवाली भी दशा है। सत्तामें न दीखनेवाला है, न देखनेवाला है; न जाननेमें आनेवाला है, न जाननेवाला है; न समझनेवाला है, न समझानेवाला है; न श्रोता है, न वक्ता है। ये दीखनेवाला-देखनेवाला आदि सब दशाके अन्तर्गत हैं। दीखनेवाला-देखनेवाला आदि तो नहीं रहेंगे, पर सत्ता रहेगी; क्योंकि दशा तो मिट जायगी, पर सत्ता रह जायगी।

आश्चर्यकी बात है कि हम कामना उसकी करते हैं, जो नहीं है। भयभीत उससे होते हैं, जिसकी सत्ता ही नहीं है। सुख नहीं रहता, पर उसकी

---

३. यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्। (श्रीमद्भा० ११। २४। १७)

‘जिसके आदि और अन्तमें जो है, वही बीचमें भी है और वही सत्य है।’

आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये॥ (श्रीमद्भा० ११। २८। १८)

‘इस संसारके आदिमें जो था तथा अन्तमें जो रहेगा, जो इसका मूल कारण और प्रकाशक है, वही परमात्मा बीचमें भी है।’

(२) न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्। (श्रीमद्भा० ११। २८। २१)

‘जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था और प्रलयके बाद भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि बीचमें भी वह है नहीं—केवल कल्पनामात्र, नाममात्र ही है।’

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। (माण्डूक्यकारिका २। ६, ४। ३१)

‘जो आदि और अन्तमें नहीं है, वह वर्तमानमें भी नहीं है।’

कामनाको हम पकड़े रखते हैं। दु:ख नहीं रहता, पर उसके भयको हम पकड़े रखते हैं। यह कितनी बेसमझीकी बात है! सुखकी इच्छासे ही दु:खका भय होता है। जीनेकी इच्छासे ही मरनेका भय होता है। यदि इच्छा न रहे तो न दु:ख रहेगा, न दु:खका भय रहेगा और न मरनेका भय रहेगा। इच्छाकी निवृत्ति होते ही जिज्ञासाकी पूर्ति हो जाती है अर्थात् कुछ करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता।

सुख पापोंका कारण नहीं है, प्रत्युत सुखकी इच्छा पापोंका कारण है।[१] सुखकी इच्छा ही नरकोंका दरवाजा है।[२] सुखदायी परिस्थितिको रखनेमें सब परतन्त्र हैं, पर सुखकी इच्छाको छोड़नेमें सब स्वतन्त्र हैं। सुखकी इच्छाको छोड़नेमें अभ्यास नहीं है, प्रत्युत विवेक है, जो वर्तमानकी वस्तु है। जिसको रखनेमें हम परतन्त्र हैं, उसको हम छोड़ना नहीं चाहते और जिसको छोड़नेमें हम स्वतन्त्र व समर्थ हैं, उसकी इच्छाको रखना चाहते हैं—इससे बड़ी भूल और क्या होगी? यह भूल ही बन्धनका, सब पाप, दु:ख, संताप, नरक आदिका कारण है।

जो नहीं है, उसको 'है' मानकर उसको पानेकी अथवा मिटानेकी इच्छा करना और उससे भयभीत होना असत्का संग है। उसकी उपेक्षा करना है। दशाको न देखकर सत्ताको देखना सत्का संग है।

(१०)

दोषोंका भाव विद्यमान नहीं है और निर्दोषताका अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् दोषोंकी सत्ता है ही नहीं और निर्दोषता स्वत:सिद्ध है। कोई भी दोष स्थायी नहीं रहता, आता-जाता है और उसके आने-जानेका ज्ञान जिसको होता है, वह (निर्दोष तत्त्व) स्थायी रहता है। तात्पर्य है कि दोषोंका ज्ञान दोषीको नहीं होता, प्रत्युत निर्दोषको होता है और निर्दोषतासे ही होता है। दोषोंके आने-जानेका ज्ञान तो सबको होता है, पर अपने आने-जानेका ज्ञान कभी किसीको नहीं होता; क्योंकि दोष असत् हैं और हमारा निर्दोष स्वरूप सत् है। हमारेमें दोष हैं—ऐसा मानना ही दोषोंको निमन्त्रण देना है, उनको अपनेमें स्थापन करना है। अगर दोष हमारेमें होते तो फिर जैसे हम निरन्तर रहते हैं, ऐसे ही वे भी निरन्तर रहते और उनका कभी अभाव नहीं होता। दूसरी बात, अगर दोष हमारेमें होते तो हम सर्वांशमें दोषी होते, सबके लिये दोषी होते और सदाके लिये दोषी होते। परन्तु कोई भी मनुष्य सर्वांशमें दोषी नहीं होता, सबके लिये दोषी नहीं होता और सदाके लिये दोषी नहीं होता।

दोषोंको सत्ता हमने ही दी है, इसलिये दोषोंका आना-जाना हमें दीखता है। अगर दोषोंकी सत्ता न मानें तो दोष हैं ही नहीं—'**नासतो विद्यते भाव:**'। जैसे सूर्यमें अमावास्याकी रात नहीं आ सकती, ऐसे ही नित्य स्वरूपमें अनित्य दोष नहीं आ सकते। जैसे परमात्मा निर्दोष हैं—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**' (गीता ५। १९), ऐसे ही उनका अंश जीवात्मा भी निर्दोष है—'**अविकार्योऽयमुच्यते**' (गीता २। २५), '**ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥**' (मानस, उत्तर० ११७। १) अत: दोषोंको अपनेमें मानना और दूसरोंमें मानना—दोनों ही गलती है।

अपनेमें दोषोंकी स्थापना हमने ही की है। हमने ही उनको सत्ता देकर दृढ़ किया है। अत: दोषोंको सत्ता न देकर अपनेमें और दूसरोंमें निर्दोषताकी स्थापना करना अर्थात् निर्दोषताका अनुभव करना हमारा कर्तव्य है। अपनेमें और दूसरोंमें निर्दोषताका अनुभव करना ही तत्त्वज्ञान है, जीवन्मुक्ति है।

(११)

हमारी सत्ता किसी वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके अधीन नहीं है। प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति और विनाश होता है, प्रत्येक व्यक्तिका जन्म (संयोग) और मरण (वियोग) होता है एवं प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। परन्तु इन तीनोंको जाननेवाली हमारी

१-काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव:।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गीता ३। ३७)

२-त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मन:।
काम: क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ (गीता १६। २१)

चिन्मय सत्ताका कभी उत्पत्ति-विनाश, जन्म-मरण (संयोग-वियोग) और आरम्भ-अन्त नहीं होता। वह सत्ता नित्य-निरन्तर स्वतः ज्यों-की-त्यों रहती है। उस सत्ताका कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**'। उस सत्तामें स्वतः-स्वाभाविक स्थितिके अनुभवका नाम ही जीवन्मुक्ति है।

मनुष्यको यह वहम रहता है कि अमुक वस्तुकी प्राप्ति होनेपर, अमुक व्यक्तिके मिलनेपर तथा अमुक क्रियाको करनेपर मैं स्वाधीन (मुक्त) हो जाऊँगा। परन्तु ऐसी कोई वस्तु, व्यक्ति और क्रिया है ही नहीं, जिससे मनुष्य स्वाधीन हो जाय। वस्तु, व्यक्ति और क्रिया तो मनुष्यको पराधीन बनानेवाली हैं। उनसे असंग होनेपर ही मनुष्य स्वाधीन हो सकता है। अतः साधकको चाहिये कि वह वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना अपनेको अकेला अनुभव करनेका स्वभाव बनाये, उस अनुभवको महत्त्व दे, उसमें अधिक-से-अधिक स्थित रहे। यह मनुष्यमात्रका अनुभव है कि सुषुप्तिके समय वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना भी हम स्वतः रहते हैं; परन्तु हमारे बिना वस्तु, व्यक्ति और क्रिया नहीं रहती। जब जाग्रत्‌में भी हम इनके बिना रहनेका स्वभाव बना लेंगे, तब हम स्वाधीन अर्थात् मुक्त हो जायँगे। वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके सम्बन्धकी मान्यता ही हमें स्वाधीन नहीं होने देती और हमारे न चाहते हुए भी हमें पराधीन बना देती है।

हमें विचार करना चाहिये कि ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सदा हमारे पास रहेगी और हम सदा उसके पास रहेंगे? ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जो सदा हमारे साथ रहेगा और हम सदा उसके साथ रहेंगे? ऐसी कौन-सी क्रिया है, जिसको हम सदा करते रहेंगे और जो सदा हमसे होती रहेगी? सदाके लिये हमारे साथ न कोई वस्तु रहेगी, न कोई व्यक्ति रहेगा और न कोई क्रिया रहेगी। एक दिन हमें वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे रहित होना ही पड़ेगा। अगर हम वर्तमानमें ही उनके वियोगको स्वीकार कर लें, उनसे असंग हो जायँ तो जीवन्मुक्ति स्वतःसिद्ध है।

विचार करें, वस्तु पासमें रहते हुए भी हम रहते हैं और वस्तु पासमें न रहते हुए भी हम वही रहते हैं। व्यक्ति साथमें रहते हुए भी हम रहते हैं और व्यक्ति साथमें न रहते हुए भी हम वही रहते हैं। क्रिया करते समय भी हम रहते हैं और क्रिया न करते समय भी हम वही रहते हैं। इन दोनों अवस्थाओंका अनुभव सबको है। इससे सिद्ध होता है कि हमारा अस्तित्व (होनापन) वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके अधीन नहीं है। हमें वस्तु, व्यक्ति और क्रियाकी अपेक्षा, आवश्यकता भी नहीं है, प्रत्युत उनको ही हमारी आवश्यकता है। अतः हम स्वतन्त्र हैं। हम वस्तुकी उत्पत्तिको भी देखते हैं और विनाशको भी देखते हैं, व्यक्तिके संयोगको भी देखते हैं और वियोगको भी देखते हैं, क्रियाके आरम्भको भी देखते हैं और अन्तको भी देखते हैं। वस्तु, व्यक्ति और क्रिया—तीनोंके अभावका तो हमें अनुभव होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। अपने इस अनुभवमें नित्य-निरन्तर स्थित रहना साधकका काम है। यह अभ्यास नहीं है, प्रत्युत जागृति है। वस्तु, व्यक्ति और क्रियाका संयोग अनित्य है, पर वियोग नित्य है। नित्यको स्वीकार करनेसे नित्य-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य है कि वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर सर्वत्र परिपूर्ण उस परमात्मसत्तामें स्वतः स्थिति हो जाती है, जिसके लिये गीताने कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। (गीता ९।४)

'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है।'

(१२)

असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है—इसका तात्पर्य है कि जो भी सत्ता दीखती है, वह असत्‌की न होकर सत्-तत्त्वकी ही है। इस सत्ताको अस्वीकार कोई कर ही नहीं सकता। कोई परमात्माकी सत्ता मानता है, कोई आत्माकी सत्ता मानता है और कोई जगत्‌की सत्ता मानता है। अगर कोई कहे कि मैं किसीकी भी सत्ता नहीं मानता तो वह अपनी सत्ता तो मानता ही है! तात्पर्य यह है कि किसी-न-किसी रूपमें सत्-तत्त्व

('है')-की सत्ताको सभी स्वीकार करते हैं, भले ही वे उसका नाम कुछ भी रख दें। सत्ताका त्याग कोई कर सकता ही नहीं। कारण कि सत्ताका निषेध करनेसे अपना निषेध हो जायगा, जबकि अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

(१३)

जिसका अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् जो प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें विद्यमान है, उस तत्त्वकी प्राप्ति कुछ करनेसे नहीं होती। कारण कि जो विद्यमान है, उसकी अप्राप्ति होती ही नहीं। हम कुछ करेंगे, तब प्राप्ति होगी—यह भाव देहाभिमानको पुष्ट करनेवाला है। प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और समाप्ति होती है; अतः क्रिया करनेसे उसीकी प्राप्ति होगी, जो विद्यमान नहीं है। परन्तु प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होनेके कारण प्रत्येक प्राणीमें क्रियाका वेग रहता है, जो उसको क्रियारहित नहीं होने देता।[1] क्रियाका वेग शान्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि जो नहीं करना चाहिये, उसको न करें और जो करना चाहिये, उसको निर्मम तथा निष्काम होकर करें अर्थात् अपने लिये कुछ न करें, प्रत्युत केवल दूसरेके हितके लिये ही करें।[2] अपने लिये करनेसे क्रियाका वेग कभी समाप्त नहीं होगा; क्योंकि अपना स्वरूप नित्य है और कर्म अनित्य हैं। अतः दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे क्रियाका वेग शान्त होकर प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और सब देश, काल आदिमें विद्यमान सत्-तत्त्व प्रकट हो जायगा, उसका अनुभव हो जायगा।

(१४)

साधक भूत और भविष्यकी जिन वस्तुओं, व्यक्तियों और क्रियाओंको महत्त्व देता है, उनका चिन्तन बिना किये और बिना चाहे स्वतः होता रहता है। उस स्वतः होनेवाले चिन्तनको मिटानेके लिये साधक परमात्माका चिन्तन करता है। परन्तु यह सिद्धान्त है कि होनेवाले चिन्तनको किये गये चिन्तनसे नहीं मिटाया जा सकता। चिन्तन करनेसे करनेके नये संस्कार पड़ते हैं, जिससे वह नष्ट नहीं होता, प्रत्युत और पुष्ट होता है। स्वतः होनेवाला चिन्तन स्वतः होनेवाले चिन्तनसे अथवा चुप होनेसे ही मिट सकता है। तात्पर्य है कि सत्-तत्त्वका अनुभव होनेपर, निष्काम होनेपर, बोध होनेपर, प्रेम होनेपर संसारका स्वतः होनेवाला चिन्तन मिट जाता है। चुप होनेका तात्पर्य है कि साधक स्वतः होनेवाले चिन्तनकी उपेक्षा कर दे, उससे उदासीन हो जाय अर्थात् उसको न ठीक समझे, न बेठीक समझे और न अपनेमें समझे तथा अपनी तरफसे कोई नया चिन्तन भी न करे। वह न चिन्तन करनेसे मतलब रखे, न चिन्तन नहीं करनेसे मतलब रखे। वह न तो किये जानेवालेका कर्ता बने और न होनेवालेका भोक्ता बने। ऐसा करनेसे साधक धीरे-धीरे अचिन्त्य हो जायगा। परन्तु अचिन्त्य होनेका, सुख लेनेका भी आग्रह नहीं रखना है। ऐसा होनेपर साधक चिन्तन करने और

१-न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (गीता ३। ५)

'कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि (प्रकृतिके) परवश हुए सब प्राणियोंसे प्रकृतिजन्य गुण कर्म कराते हैं।'

२- न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (गीता ३। ४)

'मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको प्राप्त होता है और न कर्मोंके त्यागमात्रसे सिद्धिको ही प्राप्त होता है।'

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। (गीता ६। ३)

'जो योग (समता)-में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये कर्तव्य-कर्म करना कारण है।'

चिन्तन होने—दोनोंसे रहित हो जायगा—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'**। (गीता ३।१८); क्योंकि करनेमें कर्मेन्द्रियोंका और होनेमें अन्तःकरणका सम्बन्ध होनेसे करना और होना—दोनों ही अनित्य हैं। करने और होनेसे रहित होनेपर 'है' (सत्-तत्त्व)-में अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जायगा।

(१५)

असत्‌का भाव विद्यमान नहीं है अर्थात् असत्‌का भाव निरन्तर अभावमें बदल रहा है। परन्तु 'असत्‌का भाव विद्यमान नहीं है'—इस बातका ज्ञान अभावमें नहीं बदलता। इस ज्ञानमें हमारी स्थिति स्वतःसिद्ध है। देह तो निरन्तर अभावमें बदल रहा है; अतः देह नहीं है, प्रत्युत देही (स्वरूप) ही है। देहीकी सत्ता देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिसे सर्वथा अतीत है।

असत्‌का भाव निरन्तर अभावमें जा रहा है; अतः असत् नहीं है, प्रत्युत सत् ही है। असत्‌की केवल मान्यता है। असत्‌की यह मान्यता ही सत्‌की स्वीकृति नहीं होने देती। गलत मान्यता सही मान्यता करनेसे मिट जाती है। वास्तवमें न सही मान्यता है, न गलत मान्यता है, केवल सत्तामात्र है।

जैसे हाथ, पैर, नासिका आदि शरीरके अंग हैं, ऐसे असत् सत्‌का अंग भी नहीं है। जो बहनेवाला और विकारी होता है, वह अंग नहीं होता*; जैसे—कफ, मूत्र आदि बहनेवाले और फोड़ा आदि विकारी होनेसे शरीरके अंग नहीं होते। ऐसे ही असत् बहनेवाला और विकारी होनेके कारण सत्‌का अंग नहीं है।

(१६)

भूतकाल और भविष्यकालकी घटना जितनी दूर दीखती है, उतनी ही दूर वर्तमान भी है। जैसे भूत और भविष्यसे हमारा सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही वर्तमानसे भी हमारा सम्बन्ध नहीं है। जब सम्बन्ध ही नहीं है, तो फिर भूत, भविष्य और वर्तमानमें क्या फर्क हुआ? ये तीनों कालके अन्तर्गत हैं, जबकि हमारा स्वरूप कालसे अतीत है। कालका तो खण्ड होता है, पर स्वरूप (सत्ता) अखण्ड है। शरीरको अपना स्वरूप माननेसे ही भूत, भविष्य और वर्तमानमें फर्क दीखता है। वास्तवमें भूत, भविष्य और वर्तमान विद्यमान है ही नहीं—**'नासतो विद्यते भावः'**।

(१७)

संसारमें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'अभाव' मुख्य रहता है। परमात्मामें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'भाव' मुख्य रहता है। संसारमें 'अभाव' के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं और परमात्मामें 'भाव' के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं। दूसरे शब्दोंमें, संसारमें 'नित्यवियोग' के अन्तर्गत संयोग-वियोग हैं और परमात्मामें 'नित्ययोग' के अन्तर्गत योग-वियोग (मिलन-विरह) है। अतः संसारमें अभाव ही रहा और परमात्मामें भाव ही रहा।

(१८)

असत्‌का भाव नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है; अतः सत् स्वतः विद्यमान है। जो स्वतः विद्यमान है, वही परमात्मा हैं। जो पहले नहीं था, पीछे नहीं रहेगा और अभी नहींमें जा रहा है, उसे सत्ता देना, महत्ता देना और उससे सम्बन्ध जोड़ना ही खास बाधा है। अतः उसे सत्ता न दे, महत्ता न दे और उससे सम्बन्ध न जोड़े अर्थात् उसे अपना न माने। जिसका कभी अभाव नहीं होता, उसको ही सत्ता दे, उसको ही महत्ता दे और उसीको अपना माने। जो नहीं है, उसका महत्त्व कैसा? महत्त्व तो उसीका है, जो है और वही अपना है।

जो नहीं है, उससे तटस्थ, बेपरवाह, निर्लेप, निरपेक्ष, उदासीन, विमुख होना है; उससे चिपकना नहीं है। वास्तवमें हम असत् (वस्तु, व्यक्ति और क्रिया)-से निर्लेप हैं; क्योंकि हम उसके भाव-अभावको, उत्पत्ति-विनाशको, संयोग-वियोगको और आदि-अन्तको जानते हैं। इस प्रकार अपनेको निर्लेप अनुभव करके चुप हो जायँ अर्थात् चुप होकर स्थित

* अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्। अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम्॥

रहें तो स्वत:सिद्ध सत्ता (सत्-तत्त्व)-का स्पष्ट अनुभव हो जायगा। वास्तवमें सत्-तत्त्व स्वत:सिद्ध है, केवल असत्से विमुख होना है। अगर हम असत्को अस्वीकार कर दें तो वह रहेगा ही नहीं; क्योंकि वह है ही नहीं, उसमें रहनेकी ताकत ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**'।

श्रीमद्भागवतमें आया है—'**ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः**' (१०।१४।२८) 'सन्तलोग संसारका त्याग करते हुए परमात्मतत्त्वकी खोज करते हैं'। खोजनेसे वह चीज मिलती है, जो पहले ही मौजूद हो। उसको खोजनेका उपाय है—जो मौजूद नहीं है, उसको छोड़ते जाना। छोड़नेका तात्पर्य है—उसकी सत्ता और महत्ता न मानना तथा उससे अपना सम्बन्ध न मानना, उसको अस्वीकार करना।

४. नित्यप्राप्तकी प्राप्ति

साधक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति, तत्त्वज्ञान, मुक्ति आदि चाहता है तो उससे एक मूल भूल यह होती है कि वह संसारके सम्बन्धको, जन्म-मरणको तो स्वाभाविक मान लेता है और परमात्मप्राप्तिको अस्वाभाविक (कृतिसाध्य) मान लेता है। उसके भीतर ये बातें जँची हुई रहती हैं कि जन्म-मरण तो सदासे चले आ रहे हैं और मुक्ति हमारे करनेसे होगी; संसारकी प्राप्ति तो पहलेसे है, पर परमात्माकी प्राप्ति नया काम है; संसार तो नजदीक है, पर परमात्मा दूर हैं; संसार तो प्राप्त ही है, पर परमात्मा प्राप्त होते हैं कि नहीं होते—इसका पता नहीं, संसार तो है पर परमात्मा हैं कि नहीं, पता नहीं; संसार तो हमारे सामने है, पर परमात्मा सामने नहीं दीखते; आदि-आदि। परन्तु वास्तवमें संसारकी प्राप्ति अस्वाभाविक है और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति स्वाभाविक है। दूसरे शब्दोंमें, संसारका सम्बन्ध कृत्रिम (बनावटी) है और परमात्माका सम्बन्ध वास्तविक है। बनावटी बात टिक नहीं सकती और वास्तविक बात मिट नहीं सकती।

यह सबके अनुभवकी बात है कि बालकपना चला गया, जवानी चली गयी, रोग चला गया, नीरोगता चली गयी, निर्धनता चली गयी, धनवत्ता चली गयी, पर हम चले गये क्या? ऐसे ही सब संसार बदल गया, पर परमात्मा बदल गये क्या? तात्पर्य है कि शरीर तथा संसार बदलनेवाले हैं और हम तथा परमात्मा नहीं बदलनेवाले हैं। इसलिये शरीर और संसार एक हैं, हम और परमात्मा एक हैं। शरीर और संसार एक होनेके कारण ही संसार शरीरको प्राप्त दीखता है। परन्तु शरीरमें अहंता-ममता करनेसे अर्थात् उसको मैं-मेरा माननेसे शरीर हमें प्राप्त दीखता है। वास्तवमें शरीर-संसार कभी किसीको प्राप्त हुए ही नहीं, हो सकते ही नहीं। अप्राप्तको प्राप्त माननेके कारण ही नित्यप्राप्त परमात्मा अप्राप्त दीख रहे हैं।

हमारा स्वरूप नित्य ज्यों-का-त्यों रहनेवाला है। अगर यह नित्य ज्यों-का-त्यों न रहे तो स्वर्ग कौन भोगेगा? नरकोंमें कौन जायगा? जन्म-मरणमें कौन जायगा? मुक्त कौन होगा? परमात्मा भी नित्य ज्यों-के-त्यों रहनेवाले हैं। हमने संसारको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ रखा है। अगर इस बनावटी सम्बन्धका त्याग कर दें तो परमात्माकी प्राप्ति और संसारकी अप्राप्ति स्वत:सिद्ध है। भूल यही होती है कि हम संसारकी सत्ताको नित्य मान लेते हैं और मुक्तिकी सत्ताको अनित्य मान लेते हैं। इसलिये हमारी ऐसी धारणा रहती है कि संसारके साथ हमारा सम्बन्ध स्वतः है और इस सम्बन्धको हम छोड़ेंगे तो मुक्ति हो जायगी अथवा संसारका सम्बन्ध छूटना बड़ा मुश्किल है, मोक्षकी प्राप्ति बड़ी कठिन है, परमात्माको प्राप्त करनेमें समय भी बहुत लगेगा और परिश्रम भी होगा, आदि।

वास्तवमें संसारका सम्बन्ध कभी टिकता नहीं, कभी टिका नहीं, कभी टिकेगा नहीं, टिक सकता ही

नहीं। ऐसे ही परमात्माका सम्बन्ध कभी मिटता नहीं, कभी मिटा नहीं, कभी मिटेगा नहीं, मिट सकता ही नहीं। संसारसे संयोग और परमात्मासे वियोग केवल हमारा माना हुआ है, वास्तवमें है नहीं। इसलिये जो साधनमें लगे हुए हैं, उनके मनमें कभी संसारकी आसक्ति आ जाय, सत्ता आ जाय तो समझना चाहिये कि भीतर जो कूड़ा-कचरा पड़ा हुआ है, वह निकल रहा है। मनुष्य दरवाजेसे आता हुआ भी दीखता है और जाते हुए भी दीखता है। अत: भीतरका कूड़ा-कचरा जाते हुए दीख रहा है। उसको मिटानेकी चेष्टा करेंगे तो वह उलटे दृढ़ होगा। किसी भी विपरीत बातको मिटानेकी चेष्टा करेंगे तो मिटानेकी चेष्टा तो दो नम्बरकी होगी, पर उसको जमाने (दृढ़ करने)-की चेष्टा एक नम्बरकी होगी। कारण कि हम उसीको मिटानेकी चेष्टा करते हैं, जिसकी हम सत्ता स्वीकार करते हैं। जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसको क्या मिटायें? इसलिये उसको मिटानेकी जरूरत नहीं है। उसकी उपेक्षा कर दें तो वह स्वत: मिट जायगी; क्योंकि वह निरन्तर मिट ही रही है। तात्पर्य है कि अज्ञान अपने-आप मिट रहा है, बन्धन अपने-आप छूट रहा है, साधक उसको मिटानेका उद्योग नहीं करे, प्रत्युत उसकी उपेक्षा कर दे, उसकी बेपरवाह कर दे, उससे उदासीन हो जाय। जैसे एक छोटी-सी दियासलाईसे प्रकट हुई अग्निमें इतनी ताकत है कि वह घासके ढेरको जला देती है, ऐसे ही असत्‌की उपेक्षामें इतनी ताकत है कि वह असत्‌को मिटाकर सत्‌का साक्षात्कार करा देगी। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(२।४०)

'इस (समतारूपी) धर्मका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान (जन्म-मरणरूप) महान् भयसे रक्षा कर लेता है।'

—इसका कारण यह है कि निष्कामभाव थोड़ा होते हुए भी सत्य है और भय महान् होते हुए भी असत्य है। जैसे मनभर रूई हो तो उसको जलानेके लिये मनभर अग्निकी जरूरत नहीं है। रूई एक मन हो या सौ मन, उसको जलानेके लिये एक दियासलाई पर्याप्त है। एक दियासलाई लगाते ही वह रूई खुद दियासलाई अर्थात् अग्नि बन जायगी। रूई खुद दियासलाईकी मदद करेगी। अग्नि रूईके साथ नहीं होगी, प्रत्युत रूई खुद ज्वलनशील होनेके कारण अग्निके साथ हो जायगी। इसी तरह असंगता आग है और संसार रूई है। संसारसे असंग होते ही संसार अपने-आप नष्ट हो जायगा; क्योंकि मूलमें संसारकी सत्ता न होनेसे उससे कभी संग हुआ ही नहीं।

थोड़े-से-थोड़ा त्याग भी सत् है और महान्-से-महान् क्रिया भी असत् है। क्रियाका तो अन्त होता है, पर त्याग अनन्त होता है। इसलिये यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाएँ तो फल देकर नष्ट हो जाती हैं*, पर त्याग कभी नष्ट नहीं होता—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)। एक अहम्‌के त्यागसे अनन्त सृष्टिका त्याग हो जाता है; क्योंकि अहम्‌ने ही सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रखा है।

जैसे, कितनी ही घास हो, क्या अग्निके सामने टिक सकती है? कितना ही अँधेरा हो, क्या प्रकाशके सामने टिक सकता है? अँधेरे और प्रकाशमें लड़ाई हो जाय तो क्या अँधेरा जीत जायगा? ऐसे ही अज्ञान और ज्ञानकी लड़ाई हो जाय तो क्या अज्ञान जीत जायगा? महान्-से-महान् भय क्या अभयके सामने टिक सकता है? पहलेके कितने ही संस्कार पड़े हुए हों, क्या सत्संगसे वे जीत जायँगे? समता थोड़ी हो तो भी पूरी है और भय महान् हो तो भी अधूरा है। स्वल्प भी महान् है; क्योंकि वह सच्चा है और महान् भी स्वल्प (सत्ताहीन) है; क्योंकि वह कच्चा है।

---

* वेदेषु यज्ञेषु तप:सु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ (गीता ८। २८)

'योगी इसको (शुक्ल और कृष्णमार्गके रहस्यको) जानकर वेदोंमें, यज्ञोंमें, तपोंमें तथा दानमें जो-जो पुण्यफल कहे गये हैं, उन सभी पुण्यफलोंका अतिक्रमण कर जाता है और आदिस्थान परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

प्रश्न—समता, निष्कामभावको 'स्वल्प' (थोड़ा) कहनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—निष्कामभाव तो महान् है, पर हमारी समझमें, हमारे अनुभवमें थोड़ा आनेसे उसको स्वल्प कह दिया है। वास्तवमें समझ थोड़ी हुई, समता थोड़ी नहीं हुई। उधर हमारा खयाल कम गया है, दृष्टि कम गयी है तो हमारी दृष्टिमें कमी है, तत्त्वमें कमी नहीं है। इसी तरह हमने असत्‌को ज्यादा आदर दे दिया तो असत् महान् नहीं हुआ, प्रत्युत हमारा आदर महान् हुआ। इसलिये अगर हम सत्‌का अधिक आदर करें तो सत् महान् हो जायगा अर्थात् उसकी महत्ताका अनुभव हो जायगा, और असत्‌का आदर न करें तो असत् स्वल्प हो जायगा। वास्तवमें असत् महान् हो या स्वल्प, उसकी सत्ता ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' और सत् महान् हो या स्वल्प, उसकी सत्ता नित्य-निरन्तर है—'**नाभावो विद्यते सतः**'। इसलिये उपनिषद्‌ने परमात्मतत्त्वको अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् कहा है—'**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' (कठ० १। २। २०; श्वेताश्वतर० ३।२०)।

जिसकी सत्ता ही नहीं है, उस असत्‌का आदर करना, उसको महत्त्व देना बहुत बड़ी भूल है। कभी साधकके मनमें उसकी सत्ता आ जाय तो उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये; क्योंकि जो कभी है और कभी नहीं है, उसकी सत्ता कभी नहीं है। जो किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें है और किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें नहीं है, वह वास्तवमें किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें नहीं है अर्थात् उसका स्वतःसिद्ध नित्य अभाव है। परन्तु असत्‌को सत्य मान लिया और सम्पूर्ण देश-कालादिमें नित्य-निरन्तर विद्यमान परमात्माको उद्योगसाध्य मान लिया—यह भूल है। जैसे, हम कहते हैं कि सूर्य बादलसे ढक गया, तो जो सूर्य पृथ्वीमण्डलसे भी बड़ा है, वह छोटे-से बादलसे कैसे ढक जायगा? अतः वास्तवमें सूर्य नहीं ढका जाता, प्रत्युत हमारी आँख ढक जाती है। ऐसे ही परमात्मतत्त्व नहीं ढका जाता, प्रत्युत हमारी बुद्धि ढकी जाती है। बुद्धिमें असत्‌की सत्ता बैठी हुई है, इसलिये परमात्मा दीखते नहीं। तात्पर्य है कि असत्‌की सत्तारूपसे जो धारणा है, यही परमात्मप्राप्तिमें बाधक है।

अगर हम सच्चे हृदयसे साधनमें लगे हुए हैं, सत्संग कर रहे हैं, तो असत्‌की निवृत्ति करनी नहीं पड़ेगी, प्रत्युत उसकी निवृत्ति स्वतः हो जायगी। जैसे, छोटा बच्चा माँकी गोदमें प्रतिदिन वैसा-का-वैसा ही दीखता है; परन्तु एक महीनेके बाद देखें तो उसमें फर्क दीखेगा, एक वर्षके बाद देखें तो और अधिक फर्क दीखेगा। ऐसे ही सत्संग करते हुए हम वैसे-के-वैसे ही दीखते हैं, पर वास्तवमें वैसे नहीं रहते। पहलेवाली दशाको याद करें और अभीकी दशा देखें, दोनोंका मिलान करें, तब पता लगेगा। जो व्यक्ति सत्संग नहीं करते हैं, उनसे मिलें, तब पता लगेगा। हम तो सत्संगमें लग गये, पर हमारे जो मित्र सत्संगमें नहीं लगे, उनसे मिलें, तब पता लगेगा। फिर भी तत्काल सिद्धि न होनेमें मूल कारण हमारी यह मान्यता है कि बन्धनमें तो हम हैं, मुक्ति हमें करनी है! व्याख्यान देनेवालोंसे, कथा करनेवालोंसे और पुस्तकोंसे भी यही बात मिलेगी कि अज्ञान सदासे है, हम सदासे जन्म-मरणमें पड़े हुए हैं, इसको मिटाना है और तत्त्वज्ञानको, मुक्तिको, परमात्माको प्राप्त करना है! परन्तु यह तत्त्वकी बात नहीं है। तत्त्वकी बात तो यह है कि जो नित्यनिवृत्त है, उसीकी निवृत्ति करनी है और जो नित्यप्राप्त है, उसीकी प्राप्ति करनी है। जो नित्यनिवृत्त है, नित्य अप्राप्त है, उसको हमने सत्ता और महत्ता दे दी, इसीलिये नित्यप्राप्तकी प्राप्तिमें समय लग रहा है।

गीता कहती है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (२। १६) 'जो असत् है, उसका भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है अर्थात् उसका अभाव ही है और जो सत् है, उसका अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् उसका भाव ही है।' जो 'नहीं' है, वह असत् है और जो 'है', वह सत् है। 'नहीं' में 'है'-बुद्धि और 'है' में 'नहीं'-बुद्धि—यह विपरीत धारणा ही परमात्मप्राप्तिमें बाधक हो रही है। हमारे देखनेमें, सुननेमें, समझनेमें जो भी संसार आ रहा है, वह सब-का-सब एक क्षण भी टिकता नहीं, प्रतिक्षण बह रहा

है; परन्तु उसकी हमने सत्ता मान ली और जो सबमें ज्यों-का-त्यों पूर्ण है, जिसमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता, उस परमात्माका अभाव मान लिया। इस विपरीत धारणाको हमने इतना दृढ़ कर लिया है कि विचारके द्वारा इसको हटानेपर भी यह धारणा पुन: सामने आ जाती है। इसका संस्कार हमारे भीतर दृढ़तासे पड़ा हुआ है। परमात्मा पहले युगोंमें और थे, अब बदलकर और हो गये हैं—ऐसा किसी शास्त्र, कथा आदिमें पढ़ने-सुननेमें नहीं आता। परन्तु शरीर बालकपनमें जैसा था, वैसा आज नहीं है—यह सबके प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। फिर भी हम शरीरको जितना महत्त्व देते हैं, उतना परमात्माको नहीं देते, इसीलिये परमात्मप्राप्ति कठिन हो रही है। गीताप्रेसके संस्थापक, संचालक तथा संरक्षक श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने कहा था कि 'परमात्माकी प्राप्ति भी कठिन हो सकती है—यह बात मेरी समझमें नहीं आती थी; परन्तु जब लोगोंपर आजमाइश की, उनको समझानेका प्रयास किया, तब हमें कठिनता मालूम दी।' हमारे भीतर असत्‌की सत्ता बैठी हुई है, इसीलिये परमात्मप्राप्तिमें कठिनता दीख रही है, अन्यथा इसमें कठिनताका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। अभी कोई कहे कि रोटी बनाओ तो रोटी बनानेमें समय लगेगा। रोटी बनेगी, तब मिलेगी; क्योंकि वह मौजूद नहीं है। परन्तु जो चीज मौजूद है, उसकी प्राप्तिमें देरी क्यों? परमात्मा सबके लिये सदा ज्यों-के-त्यों मौजूद हैं।

प्रश्न—यह तो हम जानते ही हैं कि परमात्माकी सत्ता है और संसारकी सत्ता नहीं है, फिर भी अनुभव क्यों नहीं हो रहा है?

उत्तर—वास्तवमें इसको जाना नहीं है, प्रत्युत सीखकर मान लिया है। अगर यह जान लें कि साँप काटनेसे आदमी मर जाता है तो क्या साँपको हाथसे पकड़ेंगे? ऐसे ही अगर यह जान लें कि यह असत् है, नाशवान् है तो क्या रुपये इकट्ठे करनेकी मनमें आयेगी? सुख भोगनेकी मनमें आयेगी? झूठ, कपट, बेईमानी करनेकी मनमें आयेगी?

किसी आदमीसे पूछो तो वह यही कहेगा कि हम अभी थोड़े ही मरते हैं! पर वास्तवमें जो भी मरता है, अभी मरता है। मरनेवाला अभी नहीं मरेगा तो क्या कल मरेगा अथवा परसों मरेगा? मरनेवाला जब मरेगा, अभी मरेगा। परन्तु भीतर उलटी बात जँची हुई है कि हम अभी थोड़े ही मरते हैं! कारण यही है कि भीतरमें असत्‌की सत्ता बैठी हुई है।

हम धन कमा लेंगे, पढ़-लिखकर विद्वान् बन जायँगे, बातें सीख जायँगे, कला-कौशल सीख जायँगे आदि कृतिसाध्य बातोंकी तो हमें उम्मीद रहती है, पर जो स्वत: नित्य-निरन्तर विद्यमान है, उस परमात्मतत्त्वकी उम्मीद ही नहीं होती! उसकी तो तत्काल प्राप्तिकी उम्मीद होनी चाहिये। उसकी तत्काल प्राप्ति इसलिये होनी चाहिये कि वह भी मौजूद है और हम भी मौजूद हैं तथा वे भी हमसे मिलना चाहते हैं और हम भी उससे मिलना चाहते हैं। फिर देरीका कारण क्या है? हमारे मनमें असत्‌की सत्ता और महत्ता बैठी हुई है, इसीलिये देरी हो रही है।

---

५. सर्वत्र भगवद्दर्शनका साधन

श्रीमद्‌भगवद्‌गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(९। ४-५)

'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है। सम्पूर्ण प्राणी मेरेमें स्थित हैं; परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ तथा वे प्राणी भी मेरेमें स्थित नहीं हैं—मेरे इस ईश्वर-सम्बन्धी योग (सामर्थ्य)-को देख! सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला और उनको धारण, भरण-पोषण करनेवाला मेरा स्वरूप उन प्राणियोंमें स्थित नहीं है।'

भगवान्‌ने इस बातको समझनेके लिये आकाश और वायुका दृष्टान्त दिया है—'**यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्**' (गीता ९। ६)। भगवान्‌की दृष्टिसे यह सिद्धान्त बहुत ठीक है; क्योंकि जैसे आकाश और वायु निराकार हैं, ऐसे ही परमात्मा और सूक्ष्म तथा कारण संसार भी निराकार हैं। बादल आकाशमें सर्वत्रग (सब जगह विचरनेवाले) नहीं होते, पर वायु सर्वत्रग होती है। परन्तु हम यहाँ सुगमतापूर्वक समझनेकी दृष्टिसे आकाश और बादलका दृष्टान्त देते हैं; क्योंकि जैसे हमें आकाश नहीं दीखता, पर बादल दीखते हैं, ऐसे ही परमात्मा नहीं दीखते, पर संसार दीखता है। बादल आकाशमें ही रहते हैं; क्योंकि आकाश असीम है, बादल सीमित हैं। आकाश बादलोंमें रहता है; क्योंकि उन बादलोंके कण-कणमें आकाश परिपूर्ण है। आकाशमें बादल और बादलोंमें आकाश होनेपर भी आकाश तो हरदम रहता है, पर बादल हरदम नहीं रहते, प्रत्युत बनते हैं और मिट जाते हैं। इसी प्रकार परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा हैं। परमात्मा तो सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं, पर संसार बनता है और मिट जाता है।

भगवान् कहते हैं कि मेरे निराकार स्वरूपसे सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है तो जगत्‌के अन्तर्गत हमारे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण और अहम् (मैंपन) भी आ जाते हैं। अतः हमारे शरीरमें भी परमात्मा हैं, इन्द्रियोंमें भी परमात्मा हैं, मनमें भी परमात्मा हैं, बुद्धिमें भी परमात्मा हैं, प्राणोंमें भी परमात्मा हैं और अहम्‌में भी परमात्मा हैं। तात्पर्य है कि हमारे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण और अहम्‌के सहित यह सम्पूर्ण संसार परमात्मामें ही है। यह परमात्मासे अलग नहीं हो सकता और परमात्मा इससे अलग नहीं हो सकते। ये दो विभाग हुए। एक विभाग (संसार) निरन्तर बदलता रहता है और एक विभाग (परमात्मा) कभी नहीं बदलता।

आगे भगवान् कहते हैं कि संसार मेरेमें नहीं है और मैं संसारमें नहीं हूँ। जैसे, आकाशमें बादल नहीं हैं और बादलोंमें आकाश नहीं है; क्योंकि आकाश नित्य है, बादल अनित्य (उत्पन्न और नष्ट होनेवाले) हैं। आकाश स्वतन्त्र है, बादल परतन्त्र हैं। आकाश सर्वदेशीय है, बादल एकदेशीय हैं। ऐसे ही परमात्मा नित्य हैं, संसार अनित्य है। परमात्मा ज्यों-के-त्यों रहनेवाले हैं, संसार बदलनेवाला है। जैसे, जहाँ बादल हैं, वहाँ भी आकाश है और जहाँ बादल नहीं हैं, वहाँ भी आकाश है अर्थात् आकाश बादलोंके बिना भी रहता है, पर बादल आकाशके बिना नहीं रहते। ऐसे ही जहाँ संसार है, वहाँ भी परमात्मा हैं और जहाँ संसार नहीं है, वहाँ भी परमात्मा हैं अर्थात् परमात्मा संसारके बिना भी रहते हैं, पर संसार परमात्माके बिना नहीं रहता।* तात्पर्य यह हुआ कि जैसे आकाशके बिना बादलोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, ऐसे ही परमात्माके बिना संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

विचार करें कि बादल कैसे बनता है? बादल भापसे बनता है। भाप ठण्डकसे भी बनती है और गरमीसे भी। भापमें जल और तेज (अग्नि)—दोनों रहते हैं। सूर्यकी गरमीसे समुद्रका जल भाप बनता है और वही भाप ऊपर उठकर बादल बन जाती है। उपनिषद्‌में आया है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। (तैत्तिरीय० २। १)

'उस परमात्मासे पहले आकाश उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई।'

वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही रहती है और आकाशमें ही लीन हो जाती है;

---

* परमात्माके एक अंशमें प्रकृति है और प्रकृतिके एक अंशमें सृष्टि (संसार) है। जैसे सम्पूर्ण पृथ्वीमें घड़ा बनानेकी शक्ति नहीं है, प्रत्युत उसके किसी एक अंश (चिकनी मिट्टी)-में ही घट-निर्माण-शक्ति है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्रकृतिमें सृष्टि-निर्माणकी शक्ति नहीं है, प्रत्युत उसके किसी एक अंशमें ही सृष्टि-निर्माण-शक्ति है।

अतः वायु आकाशरूप ही हुई। ऐसे ही अग्नि वायुसे ही पैदा होती है, वायुमें ही रहती है और वायुमें ही लीन हो जाती है; अतः अग्नि वायुरूप ही हुई। जैसे, फूँक मारनेसे अग्नि तेज हो जाती है। एक घड़ेमें धधकते अंगार रखकर उसका मुख बन्द कर दें तो वायुका सम्बन्ध न रहनेसे अंगार बुझ जाते हैं। अग्निसे जल पैदा होता है। जैसे, परिश्रम करनेसे (शरीरमें गरमी बढ़नेपर) पसीना आ जाता है। जल अग्निसे ही पैदा होता है, अग्निमें ही रहता है और अग्निमें ही लीन हो जाता है; अतः जल अग्निरूप ही हुआ। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो आकाश-तत्त्व ही वायु, अग्नि, जल आदि रूप धारण करता है; क्योंकि अग्निके बिना जलकी सत्ता नहीं है, वायुके बिना अग्निकी सत्ता नहीं है और आकाशके बिना वायुकी सत्ता नहीं है।* अग्निसे भाप बनती है, भापसे बादल बनते हैं और बादलोंसे वर्षा होती है तो तत्त्वसे बादल आकाशरूप ही हुए। आकाशके सिवाय बादल कोई चीज नहीं है। जबतक बादल हैं, तबतक आकाशमें बादल हैं और बादलोंमें आकाश है। जब बादल बिखर जाते हैं, तब न आकाशमें बादल रहते हैं और न बादलोंमें आकाश रहता है, प्रत्युत केवल आकाश रहता है। इसी तरह जबतक सृष्टि है, तबतक परमात्मामें सृष्टि है और सृष्टिमें परमात्मा हैं। जब सृष्टि नहीं रहती, तब न परमात्मामें सृष्टि रहती है और न सृष्टिमें परमात्मा रहते हैं, प्रत्युत केवल परमात्मा रहते हैं। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण संसार परमात्मासे ही पैदा होता है, परमात्मामें ही रहता है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है। अतः सृष्टि है, तो भी परमात्मा हैं और सृष्टि नहीं है, तो भी परमात्मा हैं। परमात्माके सिवाय सृष्टिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यही सिद्धान्त गीताको मान्य है।

गीतामें भगवान् भक्तिकी दृष्टिसे कहते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९) 'सब कुछ वासुदेव ही है' और '**सदसच्चाहमर्जुन**' (९। १९) 'सत् और असत् मैं ही हूँ'। जब भगवान्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं तो फिर संसार कहाँ रहा? संसार न तो भगवान्‌की दृष्टिमें है, न महात्माओंकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टिमें है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। इसलिये भगवान् कहते हैं कि मेरेको जाननेके बाद कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता—'**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते**' (गीता ७। २); क्योंकि मेरे सिवाय कुछ है ही नहीं—'**मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय**' (गीता ७। ७)। इस तरह भक्तिके द्वारा परमात्माका 'ज्ञान' भी हो जाता है और संसारसे 'वैराग्य' भी हो जाता है; क्योंकि जब संसारकी सत्ता ही नहीं रहेगी तो फिर उसमें राग कैसे रहेगा?

उपर्युक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध होती है कि जबतक साधकको संसार दीखता है, तबतक उसको यह मानना चाहिये कि संसारमें परमात्मा हैं और परमात्मामें संसार है। यह शरीर भी संसारका ही एक अंश है; अतः इसमें भी परमात्मा हैं। प्राणोंमें भी परमात्मा हैं, मनमें भी परमात्मा हैं, बुद्धिमें भी परमात्मा हैं, अहम् (मैंपन)-में भी परमात्मा हैं। मैं, तू, यह, वह—सबमें परमात्मा परिपूर्ण हैं। संसार बदल जाता है, पर परमात्मा ज्यों-के-त्यों रहते हैं। शरीर बदलता है, मन बदलता है, बुद्धि बदलती है, अहम् बदलता है, पर परमात्मा सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

(गीता १३। १५)

'वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं और चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं एवं दूर-से-दूर तथा नजदीक-से-नजदीक भी वे ही हैं। वे अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे जाननेमें नहीं आते।'

---

* कारणकी अपेक्षा कार्यमें विशेष गुण होता है, पर स्वतन्त्र सत्ता कारणकी ही होती है अर्थात् कारणके बिना कार्यकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। जैसे, मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य है। घड़ेमें पानी भरा जा सकता है, पर यह विशेषता मिट्टीमें नहीं है। परन्तु मिट्टीके बिना घड़ेकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

सब रूपोंमें परमात्मा ही हैं। अनन्त युगोंसे पहले भी परमात्मा थे और अनन्त युगोंके बाद भी परमात्मा रहेंगे तथा वर्तमानमें भी जड़-चेतन, स्थावर-जंगम आदि अनन्त रूपोंमें परमात्मा ही हैं। हम उनको नहीं जान सके तो यह हमारी कमी है! इसलिये भागवतमें आया है—

यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥

(११। २९। १७)

'जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा भाव अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही है' ऐसा वास्तविक भाव न होने लगे, तबतक इस प्रकार मन, वाणी और शरीरकी सभी वृत्तियों (बर्ताव)-से मेरी उपासना करता रहे।'

तात्पर्य है कि जबतक सब रूपोंमें परमात्मा न दीखें, तबतक मन, वाणी और शरीरसे परमात्माकी उपासना करे अर्थात् मनसे किसीका बुरा मत चाहे, वाणीसे कड़ुआ मत बोले और शरीरसे किसीका बुरा मत करे। ऐसी सावधानी रखे कि मेरे मन-वाणी-शरीरसे किसीको दुःख न पहुँचे, किसीका अहित न हो। कभी भूल हो जाय तो माफी माँग ले कि 'भैया! मैं कड़ुआ बोल गया, मुझे क्षमा कर देना।' इस प्रकार उपासना (बर्ताव) करते-करते **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव हो जायगा—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १८)

'पूर्वोक्त साधन (मन-वाणी-शरीरके द्वारा उपासना) करनेवाले भक्तको 'सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है'—ऐसा अनुभव हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगें।'

जबतक हमें संसारकी सत्ता दीखती है, तबतक 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसी मान्यता करनी है। फिर इस मान्यताको भी छोड़कर 'चुप' (चिन्तनरहित) हो जाना है। जैसे, मकानमें जबतक कूड़ा-कचरा रहता है, तबतक झाड़ू देते हैं। जब सब कूड़ा-कचरा निकल जाता है, तब झाड़ूको भी फेंक देते हैं। ऐसे ही यह संसार कूड़ा-कचरा है और 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह मान्यता झाड़ू है। जब संसारकी सत्ता रही ही नहीं, तो फिर 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा चिन्तन (मान्यता) करनेसे क्या लाभ? अतः 'भगवान् हैं'—यह चिन्तन भी छोड़कर 'चुप' हो जायँ तो स्वाभाविक तत्त्व प्राप्त हो जायगा। यह सबसे ऊँची चीज है। इससे ऊँची कोई चीज थी नहीं, है नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं। अगर यहाँतक हम पहुँच जायँ तो हमारा मनुष्यजन्म सफल हो जायगा। हमारा मैं-मेरापन मिट जायगा, जड़-चेतनकी ग्रन्थि मिट जायगी। कारण कि जब जड़ चीज रही ही नहीं, केवल चेतन-ही-चेतन रह गया तो फिर ग्रन्थि कैसे रहेगी? ग्रन्थि (गाँठ) तो दो चीजोंमें होती है। उपनिषद्में आया है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २।२।८)

'कार्य-कारणस्वरूप उस परात्पर परमात्माको तत्त्वसे जान लेनेपर इस जीवके हृदयकी (अविद्यारूप) गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।'

जब एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता रही ही नहीं, तो फिर चिज्जडग्रन्थि कैसे रहेगी? संशय कैसे रहेंगे? पाप-पुण्य कैसे रहेंगे? सब समाप्त हो जायगा! अनुकूल-प्रतिकूल, शुद्ध-अशुद्ध, ठीक-बेठीक कुछ नहीं रहेगा, एक परमात्मा-ही-परमात्मा रह जायँगे। इस आनन्दसे बढ़कर कोई आनन्द हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। इसलिये साधकको ठीक अनुभव करना चाहिये कि सब कुछ परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। यही गीताका सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें अर्थात् मनुष्यजन्ममें 'सब कुछ वासुदेव ही है'—ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

यह मनुष्यजन्म बहुत जन्मोंका अन्तिम जन्म है। भगवान्‌ने अपनी तरफसे हमें यह अन्तिम जन्म दिया है। अब आगेका जन्म अथवा मुक्ति हमारे अधीन है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।'

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥
(गीता २। ७२)

'हे पृथानन्दन! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको प्राप्त होकर कभी कोई मोहित नहीं होता। इस स्थितिमें यदि अन्तकालमें भी स्थित हो जाय तो निर्वाण (शान्त) ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।'

जब हमने यह अनुभव कर लिया कि सब कुछ परमात्मा ही हैं; तो फिर दुबारा जन्म कहाँ होगा और क्यों होगा? परमात्माके सिवाय दूसरी चीज है ही नहीं तो जन्म कहाँ होगा? और हमें किसी वस्तुकी चाहना है ही नहीं तो जन्म क्यों होगा? जब परमात्माके सिवाय कुछ है ही नहीं तो फिर मन भी परमात्माको छोड़कर कहाँ जायगा? अतः यह बात धारण कर लें कि 'एक परमात्मा-ही-परमात्मा हैं'—यह बात हमें पता लग गयी और हमारे मनमें कोई चाहना नहीं है, कोई बुराई नहीं है तो अब हमारा दुबारा जन्म कभी हो ही नहीं सकता!

प्रश्न—सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा अनुभव करनेका साधन क्या है? किस तरह इसकी सिद्धि होती है?

उत्तर—अगर आप '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करना चाहते हैं तो बड़ी दृढ़तासे इस बातको मान लें कि जिस शरीरको हम अपना मानते हैं, वह हमें संसारसे मिला है और छूट जायगा; अतः वह मेरा नहीं है। प्रत्यक्ष बात है कि शरीर जन्मसे पहले मेरा नहीं था और मृत्युके बाद मेरा नहीं रहेगा और अभी भी प्रतिक्षण मेरेसे अलग हो रहा है। जितनी उम्र बीत गयी, उतना तो शरीर हमसे अलग हो गया है, अब बाकी कितना रहा है, इसका पता नहीं। कर्मयोगकी दृष्टिसे शरीर संसारका है, ज्ञानयोगकी दृष्टिसे प्रकृतिका है और भक्तियोगकी दृष्टिसे परमात्माका है। शरीरको किसीका भी मानें, पर यह मेरा नहीं है—यह सर्वसिद्धान्त है। जो वस्तु मिली हुई है और बिछुड़ जायगी, वह अपनी कैसे हुई? शरीर मिला हुआ है, बिछुड़ जायगा और निरन्तर बिछुड़ रहा है—ये तीनों बातें सन्देहरहित हैं।

इस प्रकार शरीरको संसारका मानकर संसारकी सेवामें लगा दें और शरीर, मन, वाणीसे किसीका भी बुरा न चाहें तो '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जायगा। हमें वही सेवा करनी है, जिसको करनेकी हमारेमें सामर्थ्य है और सेवा लेनेवाला हमारेसे न्याययुक्त सेवा चाहता है। जो हमारेसे अन्याययुक्त, शास्त्रविरुद्ध सेवा चाहता है, उसको नहीं करना है। हम '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करना चाहते हैं तो अन्याययुक्त काम हम नहीं करें और न्याययुक्त काम भी उतना करें, जितनी हमारी शक्ति है। एक मार्मिक बात है कि भला करनेकी अपेक्षा बुरा न करना (बुराईका त्याग) बहुत ऊँची साधना है। भलाई करनेमें जोर आता है, पर बुराई न करनेमें कोई जोर नहीं आता। बुराई न करनेसे दो बातें होंगी—केवल भलाई करेंगे अथवा कुछ भी नहीं करेंगे। कुछ भी नहीं करनेसे परमात्मामें स्वतः स्थिति होती है; क्योंकि कुछ करनेसे ही संसारमें स्थिति होती है।

भलाई करनेसे अभिमान आ सकता है, पर बुराई न करनेसे अभिमान आता ही नहीं। इसलिये बुराईका त्याग करें अर्थात् न बुरा करें, न बुरा सोचें और न बुरा कहें।

भागवतमें **'वासुदेवः सर्वम्'** का साधन बताया है—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥

(११। २९। १६)

'हँसी उड़ानेवाले अपने लोगोंको और अपने शरीरकी दृष्टिको भी लेकर जो लज्जा आती है, उसको छोड़कर अर्थात् उसकी परवाह न करके कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधेको भी पृथ्वीपर लम्बा गिरकर भगवद्बुद्धिसे साष्टांग प्रणाम करे।'

जो भी प्राणी सामने आये, उसको साष्टांग प्रणाम करें। शरीरकी लज्जा आती हो तो उसको छोड़ दें और लोग हँसी उड़ाते हों तो उसकी परवाह मत करें; क्योंकि हमें उससे क्या मतलब? हमें तो **'वासुदेवः सर्वम्'** सिद्ध करना है। दृढ़ निश्चय हो जायगा तो ऐसा करनेमें कठिनता नहीं होगी। अगर कठिनता लगती हो तो मनसे ही दण्डवत् प्रणाम कर लें। ऐसा कोई प्राणी न छूटे, जिसको नमस्कार न किया हो। किसी भी वर्ण, आश्रम, जाति, धर्म, सम्प्रदायका मनुष्य हो, वह भगवान् ही है। इसमें चार बातें हैं—१. इन प्राणियोंके भीतर भगवान् हैं, २. ये भगवान्के भीतर हैं, ३. ये भगवान्के हैं और ४. ये भगवान् ही हैं। चारोंमें जो सुगम लगे, वह मान लें। ये भगवान्के हैं—ऐसा मानना सबसे सुगम है। अतः ऐसा मान लें कि ये भगवान्के हैं, भगवान्को प्यारे हैं,* इसलिये हम इनको प्रणाम करते हैं। ऐसा करनेका परिणाम क्या होगा, यह भगवान् बताते हैं—

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १५)

'जब भक्तका सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर मेरा ही भाव हो जाता है अर्थात् उनमें मुझे ही देखता है, तब शीघ्र ही उसके चित्तसे ईर्ष्या, दोषदृष्टि, तिरस्कार आदि दोष अहंकारसहित सर्वथा दूर हो जाते हैं।'

इसलिये मनुष्यमात्रमें भगवान्का भाव रखें। कहीं भाव न हो सके तो मनसे माफी माँग लें। किसीको कहनेकी, जनानेकी जरूरत नहीं। शरीर-मन-वाणीसे संसारकी सेवा करनी है और संसार भगवान्का विराट्रूप है। अतः भगवान्के ही शरीर-मन-वाणीसे भगवान्की ही सेवा करनी है। फिर **'वासुदेवः सर्वम्'** सिद्ध हो जायगा; क्योंकि यह कोई नया निर्माण नहीं है, प्रत्युत पहलेसे ही है। इसके लिये विद्याध्ययन, धन-सम्पत्ति, बल, अनुष्ठान आदिकी जरूरत नहीं है। इसको हरेक भाई-बहन कर सकता है।

सन्तोंने कहा है—

हाथ काम मुख राम है, हिरदै साची प्रीत।
दरिया गृहस्थी साध की, याही उत्तम रीत॥

हाथसे काम करते रहें और मुखसे राम-राम करते रहें। इसके साथ ही भगवान्से बार-बार कहते रहें कि 'हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं'। किसीको बुरा मत मानें। किसीको बुरा मान लिया तो समझें कि हमारा व्रत भंग हो गया! अतः उसको प्रत्यक्ष अथवा मनसे नमस्कार करके क्षमा माँग लें। फिर भगवान्से प्रार्थना करें कि 'हे नाथ! मैं भूलूँ नहीं; हे प्रभो! मेरा यह साधन सिद्ध हो जाय!' एक साधु थे। उनको सत्संगमें कोई बात अच्छी लगती तो भगवान्से कह देते कि 'महाराज! यह बात आप अपने खजानेमें जमा कर लो, अगर मैं भूल जाऊँ तो मेरेको याद दिला देना'। भगवान्के समान कोई मालिक नहीं, कोई नौकर नहीं, कोई मित्र नहीं! अचानक बैठे-बैठे भगवान्की याद आ जाय तो यह समझकर बड़े खुश हो जाना चाहिये कि भगवान् मेरेको याद कर रहे हैं! भगवान्ने मेरे ऊपर बड़ी कृपा कर दी! मैं तो भूल गया था, पर भगवान्ने याद कर लिया, जिससे मेरेको

* 'सब मम प्रिय सब मम उपजाए' (मानस, उत्तर० ८६। २)

भगवान् याद आ गये। इस प्रकार भगवान्‌की कृपाका आश्रय लेनेपर '**वासुदेवः सर्वम्**' का साधन सुगम हो जायगा; क्योंकि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह बात कृपासे ही समझमें आती है, अपनी बुद्धिमानीसे, अपने उद्योगसे नहीं। उद्योग करनेसे तो कर्तृत्व आता है, जो इसके अनुभवमें बाधक है। आजतक जितने भी महात्मा हुए हैं, वे भगवत्कृपासे ही जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ और भगवत्प्रेमी हुए हैं, अपने उद्योगसे नहीं। इसलिये साधकको उद्योगका आश्रय न लेकर भगवत्कृपाका ही आश्रय लेना चाहिये। शरीर-इन्द्रियोंकी सार्थकताके लिये उद्योग करना चाहिये, पर परमात्मतत्त्व उद्योगसाध्य नहीं है।

६. वास्तविक तत्त्वका अनुभव

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

कितनी विचित्र बात है कि परमात्मा हैं, पर वे दीखते नहीं और संसार नहीं है, पर वह दीखता है! इसका कारण यह है कि हमारे पास देखनेकी जो शक्ति है, वह सब संसारकी है। जिस धातुका संसार है, उसी धातुकी हमारी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण (मन-बुद्धि) हैं। इसलिये उनसे संसार ही दीखेगा, परमात्मा कैसे दीखेंगे? इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि प्रकृतिके अंश हैं। प्रकृतिके अंशद्वारा प्रकृतिसे अतीत तत्त्वको कैसे देखा जा सकता है? प्रकृतिसे अतीत परमात्मतत्त्वको तो अपने-आपसे अर्थात् स्वयंसे ही देखा जा सकता है; क्योंकि स्वयं परमात्माका ही अंश है। तात्पर्य है कि शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि तथा संसार तत्त्वसे एक (नाशवान्, जड़) हैं और स्वयं तथा परमात्मा तत्त्वसे एक (अविनाशी, चेतन) हैं। विचार करें कि क्या शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि और परमात्माकी तात्त्विक एकता है? कदापि नहीं। फिर उनके द्वारा परमात्माको कैसे देखा अथवा प्राप्त किया जा सकता है? असम्भव बात है। अतः हम स्वयंसे देखेंगे तो परमात्मा दीखेंगे और शरीरसे देखेंगे तो संसार दीखेगा। रहनेवालेसे रहनेवाला ही दीखेगा और बदलनेवालेसे बदलनेवाला ही दीखेगा।

स्वयंसे परमात्मा कैसे दीखते हैं—इसपर विचार करें। प्रत्येक मनुष्यको 'मैं हूँ'—इस रूपमें अपनी सत्ता (होनेपन)- का अनुभव होता है। 'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' प्रकृतिका अंश है और 'हूँ' परमात्माका अंश है। अतः 'मैं' की 'नहीं' के साथ और 'हूँ' की 'है' के साथ एकता है। 'हूँ' और 'है' का भेद 'मैं'-पनके कारण ही है। अगर 'मैं'-पन न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' ही रहेगा। तात्पर्य यह हुआ कि स्वयंमें जो सत्ता अर्थात् अपना होनापन है, वह वास्तवमें परमात्माका ही है। वह होनापन सब जगह समान रीतिसे स्वतः-स्वाभाविक परिपूर्ण है।

हमसे यह भूल होती है कि हम परमात्मामें संसारको देखते हैं, जबकि देखना चाहिये संसारमें परमात्माको। 'नहीं' में 'है' को देखना तो सही है, पर 'है' में 'नहीं' को देखना गलती है; क्योंकि परमात्मा हैं और संसार नहीं है। इसलिये गीतामें आया है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(१३। २७)

'जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माको नाशरहित और समरूपसे स्थित देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है।'

ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिसमें संसार न बदलता हो। बदलना-ही-बदलना इसका स्वरूप है। परन्तु परमात्मा नहीं बदलनेवाले हैं। संसार रहे अथवा नष्ट हो जाय, वे नित्य-निरन्तर ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं, उनमें कोई फर्क नहीं पड़ता। संसार कभी एक क्षण भी टिकता नहीं और परमात्मतत्त्व कभी एक क्षण भी मिटता नहीं। इसलिये जो बदलनेवाले नाशवान् संसारको न देखकर निरन्तर रहनेवाले

अविनाशी परमात्माको देखता है, वही सही देखता है—'**विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति**'। परन्तु जो परमात्माको न देखकर संसारको देखता है, वह सही नहीं देखता—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

(महा०, उद्योग० ४२।३७)

'जो अन्य प्रकारका (अविनाशी) होते हुए भी आत्माको अन्य प्रकारका (विनाशी शरीर) मानता है, उस आत्मघाती चोरने कौन-सा पाप नहीं किया अर्थात् सभी पाप कर लिये।'

जैसे, शरीरके बदलनेपर हम अपना बदलना नहीं देखते। बालकपनसे लेकर आजतक शरीर कितना बदल गया, पर हम कहते हैं कि मैं वही हूँ, जो बालकपनमें था। शरीर बदल गया, स्थान बदल गया, समय बदल गया, वस्तुएँ बदल गयीं, साथी बदल गये, परिस्थिति बदल गयी, अवस्था बदल गयी, क्रियाएँ बदल गयीं, पर सब कुछ बदलनेपर भी स्वयं नहीं बदला। देश, काल आदिमें फर्क पड़ा, पर अपनेमें फर्क नहीं पड़ा। ऐसे ही संसार कितना ही बदल जाय, परमात्मा वैसे-के-वैसे ही रहते हैं। वस्तुभेद, व्यक्तिभेद और क्रियाभेद होनेपर भी तत्त्वभेद नहीं होता। हमारी दृष्टि उस परमात्मतत्त्वकी तरफ ही रहनी चाहिये। जैसे, कोई व्यापारी कोयला खरीदता और बेचता है, पर उसकी दृष्टि पैसोंपर ही रहती है कि इतने पैसे आ गये! व्यापारकी चीजें तो बदल जाती हैं, पर पैसा वही रहता है। ऐसे ही सब व्यवहार करते हुए भी हमारी दृष्टि परमात्मापर ही रहनी चाहिये।

यह सिद्धान्त है कि जो आदि-अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी नहीं होता और जो आदि-अन्तमें भी होता है, वह वर्तमानमें भी होता है। संसार पहले भी नहीं था और पीछे भी नहीं रहेगा, इसलिये संसार नहीं है। परमात्मा पहले भी थे और पीछे भी रहेंगे, इसलिये परमात्मा ही हैं। संसारको सत्यरूपसे देखनेवाले कहते हैं कि परमात्मा हैं ही नहीं और परमात्माको सत्यरूपसे देखनेवाले कहते हैं कि संसार है ही नहीं! संसारमें जो 'है'-पना दीखता है, वह उस परमात्माकी ही झलक है। जैसे रस्सीमें साँप दीखता है तो वास्तवमें 'है'-पना रस्सीमें है, साँपमें नहीं, पर रस्सीका 'है'-पना साँपमें दीखता है। ऐसे ही 'है'-पना परमात्मामें है, संसारमें नहीं है, पर परमात्माका 'है'-पना संसारमें संसाररूपसे दीखता है। जैसे चनेका आटा फीका होता है, पर जब उसमें चीनी पड़ जाती है, तब उससे बनी बूँदी मीठी लगती है। वह मिठास वास्तवमें चीनीकी ही है, बेसनकी नहीं। ऐसे ही संसारमें जो 'है'-पना दीखता है, वह संसारका न होकर परमात्माका ही है।

अगर भक्तियोगकी दृष्टिसे देखें तो सब संसार परमात्मस्वरूप ही है! भगवान् कहते हैं—

'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**' (गीता ७।७)

'मेरे सिवाय इस जगत्का दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी (कारण तथा कार्य) नहीं है।'

'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७।१९)

'सब कुछ परमात्मा ही हैं।'

'**सदसच्चाहम्**' (गीता ९।१९)

'सत् और असत् भी मैं ही हूँ।'

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११।१३।२४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्दादि विषय) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें और स्वीकार करके अनुभव कर लें।'

परमात्माके विषयमें द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अनेक मतभेद हैं, पर 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह सर्वोपरि सिद्धान्त है। सम्पूर्ण मत इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। साधकोंके मनमें प्रायः यह भाव रहता है कि कोई परमात्माकी सार बात, तात्त्विक बात, बढ़िया बात बता दे तो हम जल्दी परमात्मप्राप्ति कर लें। वह सार बात, तात्त्विक बात, बढ़िया बात,

सबका खास निचोड़, निष्कर्ष यही है कि केवल परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। 'मैं' भी परमात्मा हैं, 'तू' भी परमात्मा हैं, 'यह' भी परमात्मा हैं और 'वह' भी परमात्मा हैं अर्थात् परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है।

अब प्रश्न होता है कि सब कुछ परमात्मा कैसे हुए? एक अपरा प्रकृति है, एक परा प्रकृति है और एक परा-अपराके मालिक परमात्मा हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—यह आठ प्रकारकी अपरा (परिवर्तनशील) प्रकृति है। जीव परा (अपरिवर्तनशील) प्रकृति है। अपरा और परा—ये दोनों प्रकृतियाँ परमात्माका स्वभाव होनेसे परमात्मासे अभिन्न हैं अर्थात् इन दोनोंकी परमात्मासे अलग स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। शरीरकी अपरा प्रकृतिके साथ और शरीरीकी परा प्रकृतिके साथ एकता है। इस प्रकार परमात्मासे अलग किंचिन्मात्र भी कोई सत्ता न होनेसे स्थूल-से-स्थूल पृथ्वीसे लेकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अहम्तक सब कुछ केवल परमात्मा ही हुए। इसलिये गीतामें अपरा, परा और वासुदेव अथवा क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—इन तीनोंके वर्णनका तात्पर्य इनको एक बतानेमें ही है, तीन बतानेमें नहीं है।

अब प्रश्न होता है कि 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसका अनुभव कैसे हो? जगत्की स्वतन्त्र सत्ता न होते हुए भी जीवने जगत्को स्वतन्त्र सत्ता दी है—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७।५)। जगत्को सत्ता देनेमें मुख्य कारण है—सुखभोगबुद्धि। जीवकी सुखभोगबुद्धिके कारण ही परमात्मा जीवको जड़ जगत्-रूपसे दीखने लग गये और जीव स्वयं भी जगत्-रूप हो गया[१]। अतः परमात्मतत्त्वके अनुभवमें सुखभोगबुद्धि ही खास बाधक है।

अब प्रश्न होता है कि सुखभोगबुद्धि कैसे नष्ट हो? इसको मिटानेके तीन मुख्य साधन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्मयोगके द्वारा सुखभोगबुद्धि सुगमतासे मिट सकती है। सम्पूर्ण सृष्टि पांचभौतिक होनेसे एक ही है। जैसे एक ही शरीरके अनेक अंग होते हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण शरीर एक ही सृष्टिके अनेक अंग हैं। अतः जैसे मनुष्य अपने शरीरके सभी अंगोंसे अलग-अलग यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी सभी अंगोंका समान रूपसे सुख और हित चाहता है, किसी भी अंगका दुःख और अहित नहीं चाहता, ऐसे ही साधकको सभी प्राणियोंसे यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी समान रूपसे सबके सुख और हितका भाव रखना चाहिये और किसीका भी दुःख और अहित नहीं चाहना चाहिये'।[२] जैसे माँके हृदयमें अपना दुःख दूर करनेकी अपेक्षा भी बालकका दुःख दूर करनेका विशेष भाव रहता है, ऐसे ही साधकका भी दूसरेका दुःख दूर करनेका विशेष भाव होना चाहिये। दूसरोंको सुख देनेका भाव होनेसे अपनी सुखभोगबुद्धि स्वतः मिटती है।

ज्ञानयोगमें विवेकपूर्वक विचार करनेसे सुखभोगबुद्धिका नाश हो जाता है। जैसे, प्यासकी जलसे अलग स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अर्थात् प्यास जलरूप ही है, ऐसे ही सुखासक्तिकी भी संसारसे अलग स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अर्थात् संसारकी सुखासक्ति या सुखभोगबुद्धि संसाररूप ही है। जैसे मनुष्यको जलकी प्यास दुःख देती है, जल दुःख नहीं देता, ऐसे ही संसारकी सुखासक्ति ही दुःख देनेवाली है, संसार दुःख नहीं देता। अतः सुखाशक्ति ही सम्पूर्ण

---

१. त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
'इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह सम्पूर्ण जगत् (प्राणिमात्र) इन गुणोंसे अतीत अविनाशी मुझे नहीं जानता।'

२. आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (गीता ६।३२)
'हे अर्जुन! जो अपने शरीरकी उपमासे सब जगह अपनेको समान देखता है और सुख अथवा दुःखको भी समान देखता है, वह परम योगी माना गया है।'

दुःखोंका, अनर्थोंका, अवगुणोंका, पापोंका मुख्य कारण है—ऐसा विचार करनेसे संसारमें सुखभोगबुद्धि मिट जाती है।

भक्तियोगमें साधक 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसको दृढ़तासे मान ले कि वास्तवमें बात यही है। माननेके बाद अनुभव स्वतः हो जायगा। अनुभव न होनेका दुःख जितना तेज होगा, उतनी ही जल्दी अनुभव होगा। जब सब रूपोंमें भगवान् ही हैं तो फिर वे मेरेको क्यों नहीं दीखते? अगर माँ मौजूद है तो फिर वह मेरेको गोदीमें क्यों नहीं लेती?—इस प्रकार छटपटाहट लगे तो बहुत जल्दी सुखभोगबुद्धिका नाश होकर परमात्माका अनुभव हो जायगा। परन्तु संसारके सम्बन्धसे जितना सुख लिया है, उससे अधिकमात्रामें सुखभोगबुद्धिके न मिटनेका दुःख होना चाहिये।

अगर साधकमें सुखभोगबुद्धिको मिटानेकी उत्कट अभिलाषा हो, पर उसको मिटानेमें अपनेमें निर्बलताका अनुभव हो और साथ-साथ यह विश्वास हो कि सर्वसमर्थ भगवान्‌की कृपाशक्तिसे ही मेरी यह निर्बलता दूर हो सकती है तो ऐसी स्थितिमें वह भक्त होकर भगवान्‌के परायण हो जाता है। भगवान्‌के परायण होनेपर फिर स्वतः भीतरसे प्रार्थना, पुकार निकलती है, जिससे सुगमतापूर्वक सुखभोगबुद्धि मिट जाती है और एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है—इसका अनुभव हो जाता है।

७. स्वतःप्राप्त परमात्मतत्त्व

परमात्मतत्त्व नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। नित्य-निरन्तर विद्यमान कहना भी वास्तवमें कालकी सत्ताको लेकर है। वास्तवमें कालकी सत्ता नहीं है। सत्ता केवल परमात्मतत्त्वकी ही है। उसकी सत्तासे ही जो असत् ('नहीं') है, उस शरीर-संसारकी सत्ता दीख रही है—

जासु सत्यता तें जड़ माया।
भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस, बाल० ११७।४)

बिना विचार किये ऐसा दीखता है कि हम जी रहे हैं अर्थात् शरीर बढ़ रहा है, पर थोड़ा विचार करनेपर बिलकुल प्रत्यक्ष दीखता है कि शरीर निरन्तर मर रहा है। वास्तवमें मर रहा नहीं है, प्रत्युत केवल मरना ही है! गीतामें आया है—'**नासतो विद्यते भावः**' (२।१६) 'असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है।' जैसे, वृक्ष उत्पन्न हुआ दीखता है तो वास्तवमें उत्पन्न नहीं हुआ है। बीज मर गया, उसीको उत्पन्न होना कह दिया। तात्पर्य है कि पहली अवस्थाको छोड़ना मृत्यु है और दूसरी अवस्थाको प्राप्त होना जन्म है। कोई भी अवस्था नित्य नहीं रहती। अतः जन्म-मरणके प्रवाहमें केवल मरना-ही-मरना मुख्य है। वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, सामर्थ्य, योग्यता आदिके रूपमें जो संसार दीख रहा है, उसका नित्य-निरन्तर वियोग (अभाव) हो रहा है। यह वियोग एक क्षण भी बन्द नहीं होता। जैसे गंगाजीका प्रवाह निरन्तर समुद्रमें जा रहा है, ऐसे ही संसारका प्रवाह निरन्तर अभावमें, प्रलयमें जा रहा है। सब शरीर निरन्तर मौतमें जा रहे हैं। हमारे कहनेमें तो देरी लगती है, पर मरनेमें देरी नहीं लगती! इसलिये संसारको मौतका सागर कहा है—'**मृत्युसंसारसागरात्**' (गीता १२।७)। इस मरने-ही-मरनेके भीतर 'है' रूपसे एक अमर तत्त्व स्वतः-स्वाभाविक विद्यमान है, जिसका कभी किसी अवस्थामें अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २।१६)। उसी अमर तत्त्वको हमें प्राप्त करना है और मरनेसे अलग होना है। वास्तवमें जिसको प्राप्त करना है, वह हमें प्राप्त ही है और जिससे अलग होना है, वह अलग ही है।

जो 'नहीं' है, उससे अलग हो जानेका नाम भी योग है—'**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (गीता ६।२३) और जो 'है', उसमें तल्लीन हो जानेका नाम भी योग है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २।४८)। भगवान् कहते हैं कि तू मेरी कृपासे

सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा—'**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि**' (गीता १८।५८) और मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जायगा—'**मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्**' (गीता १८।५६)। अतः तर जाना भी योग है और प्राप्त हो जाना भी योग है। इसमें केवल नाशवान् सुखका आकर्षण ही बाधक है। सुख तो रहेगा नहीं, पर उसकी लोलुपता हमारा पतन कर देगी। इस सुख-लोलुपताका हमें त्याग करना है। फिर तत्त्वमें हमारी स्वतः-स्वाभाविक स्थिति है।

परमात्मा सबमें स्वतः-स्वाभाविक परिपूर्ण हैं। वे नित्य प्राप्त हैं, स्वतः प्राप्त हैं, स्वाभाविक प्राप्त हैं। उनको प्राप्त करनेमें उद्योग, परिश्रम, पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। उद्योग संसारकी वस्तु प्राप्त करनेमें करना पड़ता है। परमात्माकी प्राप्तिके लिये उद्योग करना पड़ेगा, परिश्रम करना पड़ेगा, कठिन तपस्या करनी पड़ेगी, समय लगाना पड़ेगा, सिद्धि करनी पड़ेगी, किसीसे पूछना पड़ेगा, पढ़ना पड़ेगा—इस तरहकी बहुत-सी बाधाएँ हमारी बनायी हुई हैं, जिनके कारण हम परमात्मप्राप्तिसे वंचित रहते हैं। सांसारिक वस्तुकी प्राप्तिमें तो भविष्य होता है, पर जो नित्यप्राप्त है, स्वतः-स्वाभाविक है, उसकी प्राप्तिमें भविष्य कैसे? जो प्राप्त नहीं है, उसको प्राप्त मान लिया—यही नित्यप्राप्तकी प्राप्तिमें बाधा है! यही नित्यप्राप्तके न दीखनेमें आवरण (परदा) है!

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

वास्तवमें 'है' नहीं ढकता, हमारी दृष्टि ही ढकी जाती है। 'नहीं' की सत्ताको लेकर 'है' को नहीं मानना ही आवरण है। 'नहीं' को नहीं माननेसे 'है' का अनुभव स्वतः होता है।

जो निरन्तर जा रहा है, उस 'नहीं' को देखनेसे 'है' में हमारी स्थिति स्वतः सिद्ध होती है, करनी नहीं पड़ती। नाशवान्‌को देखनेसे अविनाशीमें हमारी स्थिति स्वतः-स्वाभाविक है। नाशवान्‌को हम नाशवान् जानते तो हैं, पर इस जानकारीको हम महत्त्व नहीं देते। अब केवल इस जानकारीको महत्त्व देना है। जैसे, एक आदमी खड़ा है और उसके सामनेसे कई आदमी चले गये। किसीने पूछा कि कितने आदमी चले गये तो उसने कहा कि एक-एक करके दस आदमी चले गये। इससे सिद्ध हुआ कि 'दस आदमी चले गये'—ऐसा कहनेवाला नहीं गया, वहीं खड़ा रहा। अगर वह भी चला जाता तो 'दस आदमी चले गये—ऐसा कौन कहता? ऐसे ही संसार प्रतिक्षण जा रहा है—ऐसा जाननेवाला कहीं गया नहीं। 'नहीं' का ज्ञान 'है' से ही होता है। 'नहीं' से 'नहीं' का ज्ञान नहीं होता। अतः शरीर-संसार निरन्तर जा रहे हैं—इस तरफ दृष्टि रहनेपर बिना विचार किये स्वरूपमें स्थिति स्वतः है। इसमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि आदिकी क्या जरूरत है? देश नहीं है, काल नहीं है, वस्तु नहीं है, व्यक्ति नहीं है, परिस्थिति नहीं है, अवस्था नहीं है, घटना नहीं है, क्रिया नहीं है—इधर दृष्टि होनेपर स्वतः समाधि है। तात्पर्य है कि अगर 'है' को देखना हो तो 'नहीं' को देखो। 'नहीं' को देखते-देखते 'है' में स्थित स्वतः होती है।

एक मार्मिक बात है कि 'है' को देखनेसे शुद्ध 'है' नहीं दीखेगा, पर 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे देखनेपर शुद्ध 'है' दीखेगा! कारण कि 'है' को देखनेमें मन-बुद्धि लगायेंगे, वृत्ति लगायेंगे तो 'है' के साथ 'नहीं' (वृत्ति) भी मिला रहेगा। परन्तु 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे देखनेपर वृत्ति भी 'नहीं' में चली जायगी और शुद्ध 'है' शेष रह जायगा; जैसे—कूड़ा-करकट दूर करनेपर उसके साथ झाड़ूका भी त्याग हो जाता है और मकान शेष रह जाता है। तात्पर्य है कि 'परमात्मा सबमें परिपूर्ण हैं'—इसका मनसे चिन्तन करनेपर, बुद्धिसे निश्चय करनेपर वृत्तिके साथ हमारा सम्बन्ध बना रहेगा। परन्तु 'संसारका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है'—इस प्रकार संसारको अभावरूपसे देखनेपर संसार और वृत्ति—दोनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और भावरूप शुद्ध परमात्मतत्त्व स्वतः शेष रह जायगा। इसलिये परमात्माकी प्राप्तिमें निषेधात्मक साधन मुख्य है; क्योंकि मूलमें अभावरूप संसारका

निषेध ही करना है। संसारका निषेध कर दें तो नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव स्वतः-स्वाभाविक हो जायगा।

वास्तवमें ज्ञान 'नहीं' का ही होता है। 'है' का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि वह तो स्वतः रहता है। 'नहीं' को 'है' मान लिया—यह अज्ञान है और 'नहीं' को 'नहीं' जान लिया—यह ज्ञान है। ज्ञान होते ही 'नहीं' मिट जाता है और 'है' रह जाता है। इसलिये साधकमें हर समय स्वाभाविक ही यह जागृति रहनी चाहिये, चेत रहना चाहिये कि संसार नहीं है। जैसे, गृहस्थोंके घरमें लड़के भी पैदा होते हैं और लड़कियाँ भी। लड़केके पैदा होनेपर यह ज्ञान स्वतः रहता है कि यह इस घरमें रहनेवाला है और लड़कीके पैदा होनेपर यह ज्ञान स्वतः रहता है कि यह इस घरमें रहनेवाली नहीं है। इस ज्ञानके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता। इसी तरह शरीर और संसार प्रतिक्षण जा रहे हैं—यह ज्ञान स्वतः रहना चाहिये।

जैसे भीतरमें यह बात बैठी हुई है कि लड़की अपने घर जायगी, यहाँ नहीं रहेगी, ऐसे ही भीतरमें यह बात बैठनी चाहिये कि संसार तो जायगा, यहाँ नहीं रहेगा। जानेवालेसे क्या मोह करें? अतः इस संसाररूपी लड़कीको भगवान्‌के अर्पित कर दें; क्योंकि भगवान्‌के समान दूसरा कोई योग्य वर मिलेगा नहीं। फिर हमारा कल्याण स्वतः सिद्ध है। वास्तवमें संसारका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ ही है; क्योंकि यह भगवान्‌की ही अपरा प्रकृति है*। हमने ही इसको भगवान्‌से अलग मानकर अपना सम्बन्ध इसके साथ जोड़ लिया है—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७।५)।

'नहीं' को 'है' रूपसे माने बिना कोई मनुष्य भोग और संग्रह कर ही नहीं सकता। अभावको भावरूपसे माने बिना कोई अनर्थ, पाप कर ही नहीं सकता। सभी अनर्थ अभावको सत्ता देनेसे ही होते हैं। अतः 'नहीं' को 'है' मान लेना ही सम्पूर्ण अवगुणोंका, सम्पूर्ण दुःखोंका, सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्तिका मूल कारण है। असत्‌को सत्ता देना ही मूल अवगुण है, जिससे सम्पूर्ण अवगुण पैदा होते हैं। असत्‌को सत्ता हमने ही दी है, इसलिये इसको हमें ही मिटाना है। असत्‌की स्वतन्त्र सत्ता मिटनेपर सत्-तत्त्वको लाना नहीं पड़ेगा, प्रत्युत उसका अनुभव स्वतः-स्वाभाविक हो जायगा; क्योंकि वह तो पहलेसे ही विद्यमान है।

८. साधकोपयोगी अमूल्य बातें

जिस साधकको कर्मयोगके मार्गपर चलना हो, उसको पहले यह मान लेना चाहिये कि 'मैं योगी हूँ'। जिसको ज्ञानयोगके मार्गपर चलना हो, उसको पहले यह धारणा कर लेनी चाहिये कि 'मैं जिज्ञासु हूँ'। जिसको भक्तियोगके मार्गपर चलना हो, उसको पहले यह मान लेना चाहिये कि 'मैं भक्त हूँ'। तात्पर्य है कि साधकको योगी होकर या जिज्ञासु होकर अथवा भक्त होकर साधन करना चाहिये।

जो योगी होकर साधन करता है, उसको जबतक योग-(समता) की प्राप्ति न हो, तबतक सन्तोष नहीं करना चाहिये। 'योग' नाम समताका है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २।४८)। राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व योगी बननेमें बाधक हैं। अतः साधकका उद्देश्य राग-द्वेष मिटानेका होना चाहिये। कर्म दो उद्देश्यसे किये जाते हैं—फलप्राप्तिके लिये और फलत्यागके लिये। जो फलप्राप्तिके उद्देश्यसे कर्म करता है, वह 'कर्मी' होता है और जो फल-त्यागके उद्देश्यसे कर्म करता है, वह 'कर्मयोगी' होता

---

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (गीता ७।४)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पंचमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—इस प्रकार यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी यह अपरा प्रकृति है।'

है। इसलिये कर्मयोगके साधकको पहले ही यह धारणा कर लेनी चाहिये कि मैं योगी हूँ; अतः फल-प्राप्तिके लिये कर्म करना मेरा उद्देश्य नहीं है। इस प्रकार फलासक्तिका त्याग करके उसको अपना कर्तव्य-कर्म करते रहना चाहिये[१]। उसके सामने अनुकूल या प्रतिकूल जो भी परिस्थिति आये, उसका सदुपयोग करना चाहिये, भोग नहीं करना चाहिये। सुखी-दुःखी, राजी-नाराज होना परिस्थितिका भोग है। अनुकूल परिस्थितिमें दूसरोंकी सेवा करना और प्रतिकूल परिस्थितिमें सुखेच्छाका त्याग करना उसका सदुपयोग है। सदुपयोग करनेसे अनुकूल और प्रतिकूल दोनों परिस्थितियाँ राग-द्वेष मिटानेमें हेतु हो जाती हैं।

कर्ममात्रका सम्बन्ध 'पर' के साथ है, 'स्व' के साथ नहीं है। कारण कि 'स्व' अर्थात् स्वयंमें कभी अभाव नहीं होता। अभाव न होनेके कारण स्वयंको कुछ नहीं चाहिये। जब कुछ नहीं चाहिये तो फिर अपने लिये कोई कर्म करना बनता ही नहीं। दूसरी बात, जिन करणोंसे कर्म किये जाते हैं, वे प्रकृतिके हैं। प्रकृतिके साथ स्वयंका कोई सम्बन्ध न होनेसे स्वयंपर अपने लिये कुछ भी करना लागू होता ही नहीं। इसलिये जो मनुष्य अपने लिये कर्म करता है, वह कर्मोंसे बँध जाता है—'**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**' (गीता ३।९)। परन्तु जो अपने लिये कुछ न करके दूसरोंके लिये ही सब कर्म करता है, वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है—'**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते**' (गीता ४।२३)। निष्कामभावपूर्वक दूसरेके लिये कर्म करनेका नाम 'यज्ञार्थ कर्म' है। यज्ञार्थ कर्म करनेवालेको परिणाममें यज्ञशेषके रूपमें 'योग' की प्राप्ति हो जाती है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

(गीता ३।१३)

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।

(गीता ४।३१)

मैं योगी हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भक्त हूँ, मैं साधक हूँ—यह साधकका स्थूलशरीर नहीं है, प्रत्युत भावशरीर है। स्थूलशरीर योगी, जिज्ञासु अथवा भक्त नहीं होता। अगर साधकमें पहले ही यह भाव हो जाय कि 'मैं संसारी नहीं हूँ, मैं तो साधक हूँ' तो उसका साधन बड़ा तेज चलेगा। जैसे, विवाहके समय जब लड़का 'दूल्हा' बन जाता है, तब उसकी चाल बदल जाती है। कारण कि उसकी अहंतामें यह बात आ जाती है कि 'मैं तो दूल्हा हूँ'। इसी तरह साधककी अहंतामें भी 'मैं साधक हूँ'—यह बात आनी चाहिये। अगर अहंतामें 'मैं संसारी हूँ'—यह बात बैठी रहेगी तो संसारका काम बढ़िया होगा[२], साधन बढ़िया नहीं होगा। जो बात अहंतामें आ जाती है, उसको करना बड़ा सुगम हो जाता है। इसलिये साधकके लिये अपनी अहंताको बदलना बहुत आवश्यक है। जो सेवक, जिज्ञासु या भक्त बनकर साधन नहीं करता, उसका किया हुआ साधन निरर्थक तो नहीं जाता, पर उसकी सिद्धि वर्तमानमें नहीं होती। अतः मैं साधक हूँ, मैं कर्मयोगी हूँ, मैं ज्ञानयोगी हूँ अथवा मैं भक्तियोगी हूँ—ऐसा मानकर साधन करना चाहिये।

कर्मयोगका एक नाम 'सेवा' है। इसलिये कर्मयोगके साधकको 'मैं सेवक हूँ' यह बात अहंतामें लानी चाहिये। 'मैं सेवक हूँ'—इस अहंतासे यह बात पैदा होगी कि मेरा काम सेवा करना है, कुछ चाहना मेरा काम नहीं है। साधकमात्रके लिये यह खास बात है कि मेरेको संसारसे कुछ लेना नहीं है, मेरेको स्वार्थी, भोगी नहीं बनना है। संसारका सुख लेनेके लिये मैं नहीं हूँ। जो सुख चाहता है, वह सेवक नहीं होता[३]। कोई-सा भी साधक हो, उसको पहलेसे ही

१-तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ (गीता ३।१९)

२-संसारका बढ़िया काम भी परिणाममें घटिया ही होता है।

३-सेवक सुख चह मान भिखारी। ब्यसनी धन सुभ गति बिभिचारी॥
लोभी जसु चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी॥ (मानस, अरण्य० १७।८)

सुखको तिलांजलि देनी पड़ेगी। साधकका काम साधन करना है, सुख भोगना नहीं। जो भोगी होता है, वह साधक नहीं होता। भोगी रोगी होता है, योगी नहीं होता। भोगीको दु:ख पाना ही पड़ता है। वह दु:खसे कभी बच सकता ही नहीं।

सेवक वह होता है, जो हर समय सेवा करता है। वह भोजन करे तो भी सेवा, शौच-स्नान करे तो भी सेवा, कपड़े धोये तो भी सेवा, व्यापार करे तो भी सेवा; जो भी काम करे सब सेवाभावसे करे। परन्तु ऐसा तब होगा, जब उसके भीतर यह भाव रहे कि 'मैं सेवक ही हूँ'। अगर उसमें 'मैं मनुष्य हूँ' अथवा 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं वैश्य हूँ', 'मैं गृहस्थ हूँ', 'मैं साधु हूँ' आदि भाव पहले हैं और 'मैं सेवक हूँ' यह भाव पीछे है तो उससे कर्मयोग बढ़िया नहीं होगा। कर्मयोगीमें 'मैं सेवक हूँ' यह भाव पहले और 'मैं मनुष्य हूँ' आदि भाव पीछे रहने चाहिये। ऐसे ही 'मैं भक्त हूँ', 'मैं जिज्ञासु हूँ' अथवा 'मैं साधक हूँ'—यह भाव पहले रहना चाहिये। जैसे ब्राह्मणमें 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह भाव (ब्राह्मणपना) हरदम जाग्रत् रहता है, ऐसे ही साधकमें 'मैं साधक हूँ' यह भाव हरदम जाग्रत् रहना चाहिये। ऐसा होनेसे मनुष्यभाव, शरीरभाव मिट जाता है। 'मैं मनुष्य हूँ'—यह पांचभौतिक मनुष्यशरीर है और 'मैं साधक (सेवक, जिज्ञासु अथवा भक्त) हूँ—यह भावशरीर है। भावशरीरकी मुख्यता होनेसे साधन निरन्तर होता है।

कर्मयोगी स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंकी सेवा करता है। शरीरको भोगी, आलसी, अकर्मण्य नहीं बनने देना 'स्थूलशरीर' की सेवा है। विषयोंका चिन्तन न करना, सबके सुख और हितका चिन्तन करना 'सूक्ष्मशरीर' की सेवा है। समाधि लगाना, अपने सिद्धान्तपर अचलरूपसे दृढ़ रहना, अपने कल्याणके निश्चयसे विचलित न होना 'कारणशरीर' की सेवा है। स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरता—तीनोंको ही 'अपना' और 'अपने लिये' न मानना उनकी सेवा है। कारण कि स्थूलशरीरकी स्थूल जगत्के साथ, सूक्ष्मशरीरकी सूक्ष्म जगत्के साथ और कारणशरीरकी कारण जगत्के साथ एकता है। इसलिये शरीरको संसारसे अलग मानना बहुत बड़ी गलती है। शरीर और संसारको 'अपना' तथा 'अपने लिये' मानना बहुत घातक है। ऐसा माननेवाला साधक नहीं बन सकता, भले ही उम्र बीत जाय। इसलिये कर्मयोगीको ऐसा मानना चाहिये कि मैं संसारका हूँ और संसारकी सेवाके लिये हूँ। इस विषयमें एक दृष्टान्त है। लोगोंमें यह बात प्रचलित है कि रुपयोंके पास रुपया आता है; क्योंकि जिनके पास रुपये होते हैं, वे उन रुपयोंसे कई नये काम-धन्धे शुरू करके और रुपये कमा लेते हैं। एक आदमीने जब सुना कि रुपयेके पास रुपया आता है तो वह अपने हाथमें एक रुपयेका सिक्का बजाते हुए बाजारमें घूमने लगा। एक दूकानमें रुपयोंकी ढेरी पड़ी थी तो बजाते समय रुपया जाकर उस ढेरीपर गिर गया! वह बोला कि बात क्या है? रुपयेके पास रुपया आना चाहिये? तो दूकानदार बोला कि हाँ, रुपयेके पास ही रुपया आया है। तुम्हारा रुपया छोटा है, ढेरीके रुपये बड़े हैं तो बड़ेके पास छोटा जायगा कि छोटेके पास बड़ा जायगा? छोटा ही बड़ेके पास जायगा। इसी तरह संसार शरीरके लिये नहीं है, प्रत्युत शरीर संसारके लिये है। संसार हमारे लिये नहीं है, प्रत्युत हम संसारके लिये हैं। इसलिये साधकके भीतर यह भाव रहता है कि मैं संसारके काम आऊँ।

साधकको चाहिये कि वह चाहे तो मैंपनको शुद्ध कर ले, चाहे मैंपनको मिटा दे, चाहे मैंपनको बदल दे। कर्मयोगी मैंपनको शुद्ध करता है, ज्ञानयोगी मैंपनको मिटाता है और भक्तियोगी मैंपनको बदलता है। इसलिये कर्तृत्त्वाभिमान रहते हुए भी मनुष्य कर्मयोग और भक्तियोगका अनुष्ठान कर सकता है। परन्तु कर्तृत्त्वाभिमान रहते हुए ज्ञानयोगका अनुष्ठान नहीं कर सकता। वह ज्ञानकी बातें भले ही सीख ले, पर सिद्धि नहीं होगी। कर्मयोग और भक्तियोगमें पहले कामना मिटती है, पीछे अहंकार मिटता है। ज्ञानयोगमें पहले अहंकार मिटता है, पीछे कामना स्वत: मिटती है। तात्पर्य है कि कर्मयोग और भक्तियोग अहंता रहते हुए भी चल सकते हैं, पर ज्ञानयोग

अहंता रहते हुए नहीं चल सकता। इसलिये अहंकारके रहते हुए ज्ञानयोग कष्टपूर्वक चलता है—'**अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते**' (गीता १२।५) और अहंकार मिटनेपर सुखपूर्वक चलता है—'**सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते**' (गीता ६।२८)। परन्तु जो भोग भी भोगता रहे, सुख भी भोगता रहे, लोभ भी करता रहे, रुपये भी इकट्ठा करता रहे, ऐश-आराम भी करता रहे, उसको कोई भी योग सिद्ध नहीं होता। वह साधक भी नहीं हो सकता, सिद्ध होना तो दूर रहा!

भक्त मैंपन (अहंकार)-को मिटाता नहीं है, प्रत्युत बदलता है। मैंपनको बदलना बहुत सुगम होता है। जैसे, लड़कीका विवाह होता है तो 'मैं कुँआरी हूँ' यह मैंपन सुगमतासे बदल जाता है। ऐसे ही भक्त मैंपनको बदल देता है कि 'मैं संसारका नहीं हूँ, मैं तो भगवान्‌का हूँ।' मैंपनको बदलना सुगम भी है और श्रेष्ठ भी। मैंपनको बदलनेसे साधनमें तल्लीनता होकर अपने-आप स्वाभाविक ही सिद्धि हो जाती है।

साधकमें यह बात सबसे पहले होनी चाहिये कि ऐश-आराम करना, शरीरका पालन-पोषण करना मेरा काम नहीं है। शरीर-निर्वाहका प्रबन्ध तो भगवान्‌ने पहले ही कर रखा है। भगवान्‌के यहाँसे निर्वाहका प्रबन्ध तो है, पर भोग भोगनेका, संग्रह करनेका, लखपति-करोड़पति बननेका प्रबन्ध नहीं है। माँके स्तनोंमें दूध पहले आता है, पीछे हमारा जन्म होता है। जब जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध भगवान्‌की तरफसे है, तो फिर भजन क्यों नहीं करे? यद्यपि भजनकी जिम्मेवारी मनुष्यमात्रपर है, तथापि बूढ़े, विधवा और साधुपर विशेष जिम्मेवारी है। इन तीनोंको भगवद्भजनके सिवाय और काम ही क्या है? सुख भोगना, आराम करना, अनुकूलता चाहना—इसके लिये मनुष्यशरीर है ही नहीं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

(मानस, उत्तर० ४४।१)

इसलिये जो सुख-आराम, मान-बड़ाई चाहता है, वह साधक नहीं हो सकता। वह तो भोगी है। मान-बड़ाई चाहना भी भोग है, क्योंकि मान शरीरका और बड़ाई नामकी होती है, अपनी (स्वयंकी) नहीं। मनुष्य मरनेके बाद भी बड़ाई चाहता है कि दो-चार पुस्तकें बना दें अथवा कोई ऐसा मकान बना दें, जिससे लोग मेरेको याद करें। इसको मारवाड़ी भाषामें 'गीतड़ा और भीतड़ा' कहते हैं। पर साधकको मान-बड़ाई, यश-कीर्तिसे दूर रहना चाहिये—'**बिच्छू-सी बड़ाई जाके नागिनी-सी नारी है**'। उसको तो परमात्माकी प्राप्ति करना है। स्वर्ग आदि ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति करना भी साधकका काम नहीं है—'**स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई**'। भगवान् कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१४)

'स्वयंको मेरे अर्पित करनेवाला भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य, पातालादि लोकोंका राज्य, योगकी समस्त सिद्धियाँ और मोक्षको भी नहीं चाहता।'

अनेक लोगोंका यह स्वभाव होता है कि वे सेवा वहीं करते हैं, जहाँ मान-बड़ाई मिले। मान-बड़ाई, वाहवाहीके बिना वे काम कर ही नहीं सकते। कोई अच्छा काम हो जाय तो वे कहते हैं कि इसको हमने किया, पर काम बिगड़ जाय तो दूसरोंपर दोष लगाते हैं। ऐसी वृत्तिवालोंका कल्याण कैसे होगा? सब अच्छा काम मैंने किया—यह 'कैकेयीवृत्ति' है और सब अच्छा काम दूसरोंने किया—यह 'रामवृत्ति' है। कैकेयी कहती है—

तात बात मैं सकल सँवारी।
भै मंथरा सहाय बिचारी॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ।
भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ॥

(मानस, अयोध्या० १६०।१)

और रामजी कहते हैं—

गुर बसिष्ट कुलपूज्य हमारे।
इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे॥
ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे।
भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे।
भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥

(मानस, उत्तर० ८।३-४)

अतः मान-बड़ाई, सुख-आराम पानेके उद्देश्यसे काम करना साधकके लिये अनुचित है।

साधक जिस मार्गको अपना ले, उसीमें दृढ़तासे लगा रहे। फिर सुख आये या दुःख आये, प्रशंसा हो या निन्दा हो, उसकी परवाह मत करे। जितना कष्ट आता है, विपरीत परिस्थिति आती है, वह केवल हमारी उन्नतिके लिये ही आती है। इसमें एक रहस्यकी बात है कि जब हमारा साधन ठीक चलता है और ठीक चलते-चलते हम कुछ सुख भोगने लगते हैं और अभिमान करने लगते हैं कि मैं अच्छा साधक बन गया हूँ, तब भगवान् विपरीत परिस्थिति भेजते हैं। परतु जब हम ज्यादा घबरा जाते हैं तो फिर भगवान् अनुकूलता भेज देते हैं। समय-समयपर अनुकूलता-प्रतिकूलता भेजकर भगवान् हमें चेताते रहते हैं, हमारी रक्षा करते रहते हैं।

मेरेको कुछ लेना नहीं है, प्रत्युत देना-ही-देना है—ऐसा विचार करनेसे मनुष्य साधक बन जाता है। अगर साधक सेवक होगा तो सेवा करते-करते उसका सेवकपनेका अभिमान मिट जायगा अर्थात् सेवक न रहकर केवल सेवा रह जायगी और वह सेवारूप होकर सेव्यके साथ एक हो जायगा अर्थात् उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। ऐसे ही अगर साधक जिज्ञासु होगा तो उसमें जिज्ञासुपनेका अभिमान मिटकर केवल जिज्ञासा रह जायगी। केवल जिज्ञासा रहते ही जिज्ञासा-पूर्ति हो जायगी अर्थात् तत्त्वज्ञान हो जायगा। इसी तरह अगर साधक भक्त होगा तो उसमें भक्तपनेका अभिमान नहीं रहेगा और वह भक्तिरूप हो जायगा अर्थात् उसके द्वारा प्रत्येक क्रिया भक्ति (भगवान्के लिये) ही होगी। भक्तिरूप होकर वह भगवान्के साथ अभिन्न हो जायगा।

९. कामना और आवश्यकता

भगवान्ने गीतामें कहा है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (गीता १५।७)। 'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा मेरा ही सनातन अंश है।' शरीरमें तो माता और पिता दोनोंका अंश है, पर स्वयंमें परमात्मा और प्रकृति दोनोंका अंश नहीं है, प्रत्युत यह केवल परमात्माका ही शुद्ध अंश है—'**ममैवांशः**'। तात्पर्य है कि जैसे परमात्मा हैं, ऐसे ही उनका अंश जीवात्मा है। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—'**ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥**' (मानस, उत्तर० ११७।१)। अतः जैसे परमात्मा चेतन, निर्दोष और सहज सुखकी राशि हैं, ऐसे ही जीव भी चेतन, निर्दोष और सहज सुखकी राशि है। परन्तु परमात्माका ऐसा अंश होते हुए भी जीव मायाके वशमें हो जाता है—'**सो मायाबस भयउ गोसाईं**' और प्रकृतिमें स्थित मन-इन्द्रियोंको अपनी तरफ खींचने लगता है अर्थात् उनको अपना और अपने लिये मानने लगता है—'**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५।७)। हम परमात्माके अंश हैं तथा परमात्मामें स्थित हैं और शरीर प्रकृतिका अंश है तथा प्रकृतिमें स्थित है। परमात्मामें स्थित होते हुए भी हम अपनेको शरीरमें स्थित मान लेते हैं—यह कितनी बड़ी भूल है! प्रकृतिका अंश तो प्रकृतिमें ही स्थित रहता है, पर हम परमात्माके अंश होते हुए भी परमात्मामें स्थित नहीं रहते, प्रत्युत स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरमें स्थित हो जाते हैं, जो कि प्रकृतिका कार्य है। इस प्रकार प्रकृतिको पकड़नेसे ही जीव परमात्माका अंश कहलाता है। अगर प्रकृतिको न पकड़े तो यह अंश नहीं है,

प्रत्युत साक्षात् परमात्मा (ब्रह्म) ही है—

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

(गीता १३। २२)

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।

(गीता १३। ३१)

प्रकृतिको पकड़नेसे जीवमें संसारकी भी इच्छा उत्पन्न हो गयी और परमात्माकी भी इच्छा उत्पन्न हो गयी। प्रकृतिके जड़-अंशकी प्रधानतासे संसारकी इच्छा होती है और परमात्माके चेतन-अंशकी प्रधानतासे परमात्माकी इच्छा होती है। संसारकी इच्छा 'कामना' है और परमात्माकी इच्छा 'आवश्यकता' है, जिसको मुमुक्षा, तत्त्व-जिज्ञासा और प्रेम-पिपासा भी कह सकते हैं। आवश्यकताकी तो पूर्ति होती है, पर कामनाकी पूर्ति कभी किसीकी हुई नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं। इतिहास पढ़ लें, भागवत आदि ग्रन्थ पढ़ लें, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा, जिसकी सब कामनाएँ पूरी हो गयी हों। कामनाका तो त्याग ही होता है, पूर्ति नहीं होती। संसार क्षणभंगुर है, प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला है, फिर उसकी कामना पूरी कैसे होगी?* शरीर-संसारसे सम्बन्ध माननेके कारण हमें अपनेमें जो कमी प्रतीत होती है, उसकी पूर्ति परमात्माकी प्राप्तिसे ही होगी। हमें त्रिलोकीका आधिपत्य मिल जाय, संसारमात्र मिल जाय, अनेक ब्रह्माण्ड मिल जायँ तो भी हमारी आवश्यकताकी पूर्ति नहीं होगी। न कामनाकी पूर्ति होगी, न आवश्यकताकी। क्योंकि जो कुछ मिलेगा, शरीरको ही मिलेगा, हमें (स्वयंको) नहीं मिलेगा। जड़ वस्तु चेतनतक कैसे पहुँच सकती है? परमात्माके अंशको परमात्माकी ही आवश्यकता है। मेरी मुक्ति हो जाय, मेरा कल्याण हो जाय, मेरेको तत्त्वज्ञान हो जाय, मैं सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट जाऊँ, मेरेको महान् आनन्द मिल जाय, मेरेको भगवत्प्रेम मिल जाय—यह सब स्वयंकी आवश्यकता है। कामनाका तो त्याग ही होता है, पर आवश्यकताका त्याग कभी हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। आवश्यकताकी तो पूर्ति ही होती है। जितने भी सन्त-महात्मा हो चुके हैं, उनकी कामनाओंका त्याग हुआ है और आवश्यकताकी पूर्ति हुई है। इसलिये गीतामें कामनाके त्यागपर बहुत जोर दिया गया है।

जहाँ जीवने प्रकृतिके अंशको पकड़ा है, वहींसे कामना और आवश्यकताका भेद उत्पन्न हुआ है। अगर जीव प्रकृतिके अंशको छोड़ दे तो कामनाका त्याग हो जायगा और आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी। जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही कामनाओंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है, क्योंकि परमात्मा सब जगह नित्य-निरन्तर विद्यमान हैं। परमात्माकी प्राप्तिमें संसारकी कामना ही बाधक है। जड़ताको साथमें रखनेसे ही आवश्यकताकी पूर्ति (परमात्मप्राप्ति) नहीं होती। साधन करनेवाले बहुत-से लोग सांसारिक कामनाकी पूर्तिकी तरह ही पारमार्थिक आवश्यकताकी पूर्तिके लिये भी उद्योग करते हैं। अर्थात् जड़के द्वारा चेतनकी प्राप्ति चाहते हैं, शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति चाहते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त है कि जड़के द्वारा चेतनकी प्राप्ति होती नहीं, होनी सम्भव नहीं। किन्तु चेतनकी प्राप्ति जड़के त्यागसे ही होती है।

कामनाओंके त्यागसे आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है—यह नियम है। कामना त्याग करनेमें हम स्वतन्त्र हैं। कामना किसीमें भी निरन्तर नहीं रहती, प्रत्युत उत्पन्न-नष्ट होती रहती है। परन्तु आवश्यकता निरन्तर रहती है। हमें सत्ता चाहिये तो नित्य सत्ता चाहिये, ज्ञान चाहिये तो अनन्त ज्ञान चाहिये, सुख चाहिये तो अनन्त सुख चाहिये—यह सत्-चित्-आनन्दकी आवश्यकता हमारेमें निरन्तर रहती है। निरन्तर न रहनेवाली कामनाको तो हम पकड़ लेते हैं, पर निरन्तर रहनेवाली आवश्यकताकी तरफ हम ध्यान ही नहीं देते—यह हमारी भूल है।

---

* कुछ कामनाएँ पूरी होती हैं, कुछ पूरी नहीं होतीं—यह सबका अनुभव है। इससे सिद्ध होता है कि कामनाकी पूर्ति-अपूर्ति कामनाके अधीन नहीं है, प्रत्युत किसी विधान (पूर्वकृत कर्मफल)-के अधीन है।

अगर हम कामनाओंका त्याग कर दें तो परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी अथवा परमात्माकी प्राप्ति कर लें तो कामनाओंका त्याग हो जायगा। इन दोनोंको ही गीताने 'योग' कहा है—

'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।' (६। २३)

'जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, उसीको योग नामसे जानना चाहिये।'

'समत्वं योग उच्यते' (२। ४८)

'समत्व ही योग कहा जाता है।'

तात्पर्य है कि जड़ताका त्याग करना भी योग है और चिन्मयतामें स्थित होना भी योग है। दुःखरूप संसारसे माना हुआ सम्बन्ध ही 'दुःखसंयोग' है। दुःखोंका घर होनेसे संसार 'दुःखालय' है—**'दुःखालयमशाश्वतम्'** (गीता ८। १५)। जैसे पुस्तकालयमें पुस्तकें मिलती हैं, वस्त्रालयमें वस्त्र मिलता है, भोजनालयमें भोजन मिलता है, ऐसे ही दुःखालयमें दुःख-ही-दुःख मिलता है। दुःखालयमें सुख ही नहीं मिलता, फिर आनन्द तो दूर रहा! परन्तु परमात्मामें आनन्द-ही-आनन्द है—**'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'** (गीता ६। २२)। ऐसे महान् आनन्दकी ही हमें आवश्यकता है, जिसकी पूर्तिके लिये ही हमें यह मनुष्यजन्म मिला है।

मनुष्य अनन्तकालतक जन्मता-मरता रहे तो भी उसकी आवश्यकता मिटेगी नहीं और कामना टिकेगी नहीं। बाल्यावस्थामें खिलौनोंकी कामना होती है, फिर बड़े होनेपर रुपयोंकी कामना हो जाती है, फिर स्त्री-पुत्र, मान-बड़ाई आदिकी कामना हो जाती है। इस प्रकार कोई भी कामना टिकती नहीं, बदलती रहती है, पर आवश्यकता कभी मिटती नहीं, बदलती नहीं। उस आवश्यकताकी पूर्तिके लिये ही कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग आदि साधन हैं।

हम गृहस्थका त्याग कर दें, रुपयोंका त्याग कर दें, शरीरका त्याग कर दें तो आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी—ऐसी बात नहीं है। आवश्यकताकी पूर्ति इनकी इच्छाका त्याग करनेसे होगी। गृहस्थ बना रहे, रुपये बने रहें, शरीर बना रहे, मान-बड़ाई बनी रहे—यह असम्भव है। असम्भवकी इच्छा कभी पूरी होगी ही नहीं, प्रत्युत इच्छा करते हुए मर जायँगे और जन्म-मरणके चक्करमें वैसे ही पड़े रहेंगे। इच्छाकी कभी पूर्ति नहीं होगी और आवश्यकताका कभी त्याग नहीं होगा। कारण कि इच्छा शरीर (जड़)-को लेकर है और उसका विषय नाशवान् है तथा आवश्यकता स्वयं (चेतन)-को लेकर है और उसका विषय अविनाशी है। अतः चाहे इच्छाका त्याग कर दें तो योग सिद्ध हो जायगा—**'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्'** और चाहे आवश्यकताकी पूर्ति कर लें तो योग सिद्ध हो जायगा—**'समत्वं योग उच्यते'**। जड़ताका त्याग भी योग है और समताकी प्राप्ति भी योग है। जड़ताके त्यागसे चिन्मयताकी प्राप्ति हो जायगी और चिन्मयताकी प्राप्तिसे जड़ताका त्याग हो जायगा। दोनों एक साथ कभी रहेंगे नहीं।

जैसे पानीसे भरा हुआ घड़ा हो तो उसको खाली करना है और उसमें आकाश भरना है—ये दो काम दीखते हैं। पर वास्तवमें दो काम नहीं हैं, प्रत्युत एक ही काम है—घड़ेको खाली करना। घड़ेमेंसे पानी निकाल दें तो आकाश अपने-आप भर जायगा। ऐसे ही संसारकी कामनाका त्याग करना और परमात्माकी आवश्यकता पूरी करना—ये दो काम नहीं हैं। संसारकी कामनाका त्याग कर दें तो परमात्माकी आवश्यकता अपने-आप पूरी हो जायगी। केवल संसारकी इच्छासे ही परमात्मा अप्राप्त हो रहे हैं।

जीव, जगत् और परमात्मा—ये तीन ही वस्तुएँ हैं। जीव क्या है? मैं जीव हूँ। जगत् क्या है? यह जो दीख रहा है, यह जगत् है। परमात्मा क्या है? जो जीव और जगत् दोनोंका मालिक है, वह परमात्मा है। जीव और जगत्का तो विचार होता है, पर परमात्माका विचार नहीं होता, प्रत्युत विश्वास होता है। कारण कि विचारका विषय वह होता है, जिसके विषयमें हम कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते। जिसके विषयमें कुछ नहीं जानते, उसपर विचार नहीं चलता। उसपर तो विश्वास ही किया जाता है। अतः विचार

करके जगत्का त्याग करना है और श्रद्धा-विश्वास करके परमात्माको स्वीकार करना है। जड़ताका त्याग करनेमें कोई भी परतन्त्र नहीं है; क्योंकि जड़ता विजातीय है। साधक अधिक-से-अधिक अपने मनको परमात्मामें लगाता है। मन तो प्रकृतिका अंश होनेसे जड़ है और परमात्मा चेतन हैं। अतः मन परमात्मामें कैसे लगेगा? जड़ तो जड़में ही लगेगा, चेतनमें कैसे लगेगा? वास्तवमें स्वयं (चेतन) ही परमात्मामें लगता है, मन नहीं लगता। जीवका स्वभाव है कि वह वहीं लगता है, जहाँ उसका मन लगता है। संसारमें मन लगानेसे वह संसारमें लग गया। जब वह परमात्मामें मन लगाता है, तब मन तो परमात्मामें नहीं लगता, पर स्वयं परमात्मामें लग जाता है। मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगानेसे मन विलीन हो जाता है, खत्म हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(११।१४।२७)

'विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमें फँस जाता है और मेरा स्मरण करनेसे मन मेरेमें विलीन हो जाता है अर्थात् मनकी सत्ता नहीं रहती।'

कामनाकी पूर्तिमें तो भविष्य है, पर आवश्यकताकी पूर्तिमें भविष्य नहीं है। कारण कि सांसारिक पदार्थ सदा सब जगह विद्यमान नहीं हैं, पर परमात्मा सदा सब जगह विद्यमान हैं। अनुभवमें न आये तो भी आँखें मीचकर, अन्धे होकर यह मान लें कि परमात्मा सब जगह मौजूद हैं—'**बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च**' (गीता १३।१५) 'वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं और चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं।' इस प्रकार सब जगह, सब समय, सब वस्तुओंमें, सब व्यक्तियोंमें, सब क्रियाओंमें, सब अवस्थाओंमें, सब परिस्थितियोंमें परमात्माको देखते रहनेसे इच्छा नष्ट हो जायगी और आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी।

शरीर और संसार एक ही जातिके हैं—'**छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥**' (मानस, कि० ११।२)। शरीर हमारे साथ एक क्षण भी नहीं रहता। यह निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है। परन्तु भगवान् निरन्तर हमारे हृदयमें विराजमान रहते हैं—'**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**' (गीता १३।१७), '**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५।१५), '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' (गीता १८।६१)। तात्पर्य है कि हमें जिसका त्याग करना है, उसका निरन्तर त्याग हो रहा है और जिसको प्राप्त करना है, वह निरन्तर प्राप्त हो रहा है। केवल भोग भोगना और संग्रह करना—इन दो इच्छाओंका हमें त्याग करना है। ये दो इच्छाएँ ही परमात्मप्राप्तिमें खास बाधक हैं। भोग और संग्रहका, शरीरका त्याग तो अपने-आप हो रहा है। जैसे बालकपना चला गया, ऐसे ही जवानी भी चली जायगी, वृद्धावस्था भी चली जायगी, व्यक्ति भी चले जायँगे, पदार्थ भी चले जायँगे। केवल उनकी इच्छाका त्याग करना है, उनको अस्वीकार करना है। परन्तु परमात्मा निरन्तर हमारे साथ रहते हैं। वे हमारी स्वीकृति-अस्वीकृतिपर निर्भर नहीं हैं। परमात्माको मानें तो भी वे हैं, न मानें तो भी वे हैं, स्वीकार करें तो भी वे हैं, अस्वीकार करें तो भी वे हैं। परन्तु संसार हमारी स्वीकृति-अस्वीकृतिपर निर्भर करता है। संसारको स्वीकार करें तो वह है, अस्वीकार करें तो वह नहीं है। अगर संसार मनुष्यकी स्वीकृति-अस्वीकृतिपर निर्भर नहीं होता तो फिर कोई भी मनुष्य संसारसे असंग नहीं हो सकता, साधु नहीं बन सकता। संसार निरन्तर अलग हो रहा है और परमात्मा कभी अलग नहीं होते। केवल संसारकी इच्छाका त्याग करना है और परमात्माकी आवश्यकताका अनुभव करना है। फिर संसारका त्याग और परमात्माकी प्राप्ति स्वतः सिद्ध है।

किसीकी भी ताकत नहीं है कि वह शरीर-संसारको अपने साथ रख सके अथवा खुद उनके साथ रह सके। न हम उनके साथ रह सकते हैं, न वे हमारे साथ रह सकते हैं, क्योंकि वे हमारे नहीं

हैं। संसारका कोई भी सुख सदा नहीं रहता; क्योंकि वह सुख हमारा नहीं है। उसकी इच्छाका त्याग करना ही पड़ेगा। संसारको सत्ता भी हमने ही दी है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५)। वास्तवमें संसारकी सत्ता है नहीं—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २।१६)। संसार एक क्षण भी टिकता नहीं है। हमें वहम होता है कि हम जी रहे हैं, पर वास्तवमें हम मर रहे हैं। मान लें, हमारी कुल आयु अस्सी वर्षकी है और उसमेंसे बीस वर्ष बीत गये तो अब हमारी आयु अस्सी वर्षकी नहीं रही, प्रत्युत साठ वर्षकी रह गयी। हम सोचते हैं कि हम इतने वर्ष बड़े हो गये हैं, पर वास्तवमें छोटे हो गये हैं। जितनी उम्र बीत रही है, उतनी ही मौत नजदीक आ रही है। जितने वर्ष बीत गये, उतने तो हम मर ही गये। अतः जो निरन्तर छूट रहा है, उसको ही छोड़ना है और जो निरन्तर विद्यमान है उसको ही प्राप्त करना है।

हमने जिद कर ली है कि हम संसारको पकड़ेंगे, छोड़ेंगे नहीं तो भगवान्‌ने भी जिद कर ली है कि मैं छुड़ा दूँगा, रहने दूँगा नहीं। हम बालकपना पकड़ते हैं तो भगवान् उसको नहीं रहने देते, हम जवानी पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते, हम वृद्धावस्था पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते, हम धनवत्ता पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते, हम नीरोगता पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते। हम नया-नया पकड़ते रहते हैं और भगवान् छुड़ाते रहते हैं। यह भगवान्‌की अत्यन्त कृपालुता है! वे हमारा क्रियात्मक आवाहन करते हैं कि तुम संसारमें न फँसकर मेरी तरफ चले आओ। अगर हम संसारको पकड़ना छोड़ दें तो महान् आनन्द मिल जायगा। जब कभी हमें शान्ति मिलेगी तो वह कामनाओंके त्यागसे ही मिलेगी—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीत १२।१२)।

दूसरोंकी सेवा करनेसे बड़ी सुगमतासे इच्छाका त्याग होता है। गरीब, अपाहिज, बीमार, बालक, विधवा, गाय आदिकी सेवा करनेसे इच्छाएँ मिटती हैं। एक साधु कहते थे कि जब मेरा विवाह हुआ था, एक दिन मेरेको एक आम मिला। पर मैंने वह आम अपनी स्त्रीको दे दिया। इससे मेरे भीतर यह विचार उठा कि वह आम मैं खुद भी खा सकता था, पर मैंने खुद न खाकर स्त्रीको क्यों दिया? इससे मेरेको यह शिक्षा मिली कि दूसरेको सुख पहुँचानेसे अपने सुखकी इच्छा मिटती है। इसका नाम 'कर्मयोग' है।

संसारकी इच्छा शरीरकी प्रधानतासे होती है। अतः विवेक-विचारपूर्वक शरीरके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनेसे, दूसरोंको सुख पहुँचानेसे इच्छा सुगमतापूर्वक मिट जाती है। सृष्टिकी रचना ही इस ढंगसे हुई है कि एक-दूसरेको सुख पहुँचानेसे, सेवा करनेसे कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है—**'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'** (गीता ३।११)। शरीर संसारसे ही पैदा हुआ है, संसारसे ही पला है, संसारसे ही शिक्षित हुआ है, संसारमें ही रहता है और संसारमें ही लीन हो जाता है अर्थात् संसारके सिवाय शरीरकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अतः संसारसे मिले हुएको ईमानदारीके साथ संसारकी सेवामें अर्पित कर दें। जो कुछ करें, संसारके हितके लिये ही करें। केवल संसारके हितका ही चिन्तन करें, हितका ही भाव रखें, साथमें अपने आराम, मान-बड़ाई, सुख-सुविधा आदिकी इच्छा न रखें तो परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'** (गीता १२।४)।

दूसरोंको सुख पहुँचानेकी अपेक्षा भी किसीको दुःख न पहुँचाना बहुत ऊँची सेवा है। सुख पहुँचानेसे सीमित सेवा होती है, पर दुःख न पहुँचानेसे असीम सेवा होती है। भलाई करनेसे ऊपरसे भलाई होती है, पर बुराई न करनेसे भीतरसे भलाई अंकुरित होती है। बुराईका त्याग करनेके लिये तीन बातोंका पालन आवश्यक है—(१) किसीको बुरा नहीं समझें (२) किसीका बुरा नहीं चाहें और (३) किसीका बुरा नहीं करें। इस प्रकार बुराईका सर्वथा त्याग करनेसे हमारी वास्तविक आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी और मनुष्यजीवन सफल हो जायगा।

विचारके द्वारा यह अनुभव करें कि शरीर मेरा स्वरूप नहीं है। बचपनमें हमारा शरीर जैसा था, वैसा

आज नहीं है और जैसा आज है, वैसा आगे नहीं रहेगा, पर हम स्वयं वही हैं, जो बचपनमें थे। तात्पर्य है कि शरीर तो बदल गया, पर हम नहीं बदले। अत: शरीर हमारा साथी नहीं है। हम निरन्तर रहते हैं, पर शरीर निरन्तर नहीं रहता, प्रत्युत निरन्तर मिटता रहता है। इस विवेकको महत्त्व देनेसे तत्त्वज्ञान हो जायगा अर्थात् हमारी आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी। इसका नाम 'ज्ञानयोग' है।

जब इच्छाओंको मिटानेमें अथवा आवश्यकताकी पूर्ति करनेमें अपनी शक्ति काम नहीं करती और साधकका यह विश्वास होता है कि केवल भगवान् ही अपने हैं और उनकी शक्तिसे ही मेरी आवश्यकताकी पूर्ति हो सकती है, तब वह व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारता है, प्रार्थना करता है। भगवान्‌को पुकारनेसे उसकी इच्छाएँ मिट जाती हैं। इसका नाम 'भक्तियोग' है।

संसारकी सत्ता मानकर उसको महत्ता देनेसे तथा उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही जो अप्राप्त है, वह संसार प्राप्त दीखने लग गया और जो प्राप्त है, वह परमात्मतत्त्व अप्राप्त दीखने लग गया। इसी कारण संसारकी भी इच्छा उत्पन्न हो गयी और परमात्माकी भी इच्छा (आवश्यकता) उत्पन्न हो गयी। अत: साधकको कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि किसी भी साधनसे संसारकी इच्छाको सर्वथा मिटाना है। संसारकी इच्छा सर्वथा मिटते ही संसारकी सत्ता, महत्ता तथा सम्बन्ध नहीं रहेगा और जिनके हम अंश हैं, उन नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जायगा। फिर कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहेगा अर्थात् मनुष्यजन्मकी पूर्णता हो जायगी।

१०. देनेके भावसे कल्याण

श्रीमद्भगवद्गीतामें आया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमात्मासे सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

परमात्मासे ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं और चेष्टा करते हैं। वे परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९। ४)। 'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है।' अत: साधक जो भी कर्म करे, उसमें वह ऐसा भाव रखे कि मैं उस परमात्माकी ही पूजा कर रहा हूँ। किसीके साथ बर्ताव करे तो वह परमात्माकी ही पूजा है। किसीसे बातचीत करे तो वह परमात्माका ही पूजन है। इस प्रकार पूजन करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है—यह कितना सुगम, सरल साधन है!

एक ही परमात्मा अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। वे एक ही अनेक रूपोंमें हैं और अनेक रूपोंमें वे एक ही हैं। उन्हीं परमात्माका पूजन करना है और कुछ नहीं करना है। भाईलोग अपने कर्मोंसे भगवान्‌का पूजन करें, बहनें अपने कर्मोंसे। भाईलोग व्यापार करें, नौकरी करें तो केवल भगवान्‌की पूजा समझकर करें। बहनें रसोई बनायें, बालकोंका पालन करें, घरका काम-धंधा करें तो केवल भगवान्‌की पूजा समझकर करें। भगवान् ही अनेक रूपोंमें हमारे सामने प्रकट हुए हैं। उस साक्षात् भगवान्‌की सेवामें बढ़कर और क्या अहोभाग्य होगा!

कुछ लेनेकी इच्छा रखकर सेवा करना भगवान्‌का पूजन नहीं है। जिस वस्तुको लेनेकी इच्छा होती है, उसकी सत्ता और महत्ता अपनेमें आ जाती है। अत: लेनेकी इच्छासे अपनेमें जड़ता आती है और देनेकी इच्छासे जड़ता मिटकर चेतनता आती है। जब मनुष्य साधक बनता है, तब वह लेनेके लिये नहीं बनता, प्रत्युत केवल देनेके लिये ही बनता है। जो कभी स्वप्नमें भी किसीसे कुछ लेना नहीं चाहता, केवल देना-ही-देना चाहता है, वही साधक होता है। लेना

और देना—ये दोनों जिसमें हों, वह **'चिज्जड़ग्रन्थि'** है, जो जन्म-मरणका कारण है। जो अपना उद्धार चाहता है, चिज्जड़ग्रन्थिसे छूटना चाहता है, उसको लेना बन्द करके देना शुरू कर देना चाहिये। कहीं लेना भी पड़े तो वह भी देनेके लिये, दूसरेकी प्रसन्नताके लिये लेना है, अपने लिये नहीं। जो सुख लेता है, वह साधक नहीं होता, प्रत्युत भोगी होता है। भोगीका पतन होता है। भोगी रोगी होता है। भोगीमें जड़ता आती है। भोगी पराधीन होता है। अतः जो लेता है, वह भोगी है और जो देता है, वह योगी है।

भगवान्‌से बढ़कर और कोई नहीं है; क्योंकि वे देते-ही-देते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने-आपको सबको सर्वथा सर्वदा समानरूपसे दे रखा है—**'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'** (गीता १५। १५)। उनमें कोई कमी है नहीं, हुई नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं, पर भक्तकी प्रसन्नताके लिये वे लेते हैं। गोपियोंकी प्रसन्नताके लिये ही वे उनका मक्खन लेते हैं। अतः साधकको केवल देने-ही-देनेका भाव रखना चाहिये कि सबको सुख कैसे हो? सबको आराम कैसे हो? सबका भला कैसे हो? सबका कल्याण कैसे हो? सब सुखी कैसे हों? सबको प्रसन्नता कैसे हो? ऐसे भावोंसे दुनियामात्रकी सेवा होती है। यद्यपि भाव साधारण दीखता है और क्रिया बड़ी दीखती है, तथापि वास्तवमें भाव बहुत श्रेष्ठ है और क्रिया बहुत छोटी है। लाखों-करोड़ों रुपये लगा दें तो भी वह सीमित ही होगा, पर सेवाका भाव असीम होगा। असीमसे असीम (परमात्मा)-की प्राप्ति होती है। सीमितसे असीमकी प्राप्ति नहीं होती।

कर्मयोगमें सेवा मुख्य है। कर्मयोगसे केवल मलदोष ही नहीं मिटता, प्रत्युत मल, विक्षेप और आवरण—सभी दोष सर्वथा मिट जाते हैं और तत्त्वज्ञान हो जाता है। वही सेवा अगर भगवान्‌की पूजा समझकर की जाय तो भक्ति प्राप्त हो जाती है। यद्यपि ज्ञान और भक्तिमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है, तथापि भक्तिमें प्रेमका एक विशेष रस, विशेष आनन्द है। हाँ, ज्ञानमें भी विशेषताका अभाव नहीं है, पर उसमें प्रेम छिपा हुआ है, जबकि भक्तिमें प्रेम प्रकट है।

लेनेसे वस्तुका नाश और अपना पतन होता है। भोगी मनुष्य भोजन लेता है तो भोजनका नाश और अपना पतन करता है। अपनेको भोजनके अधीन स्वीकार किया, भोजनको अधिक महत्त्व देकर अपनी महत्ता कम कर ली—यही अपना पतन है। भोजनसे अपनी भूखका, खानेकी शक्तिका नाश होता है। भोजन कर नहीं सकते—इस असामर्थ्यको ही तृप्ति कह देते हैं! इसी तरह कपड़ा लेनेवाला कपड़ेका नाश करता है, मान-बड़ाई लेनेवाला मान-बड़ाईका नाश करता है, आदर लेनेवाला आदरका नाश करता है और अपना पतन करता है। परन्तु देनेवाला दूसरेकी सेवा करता है, वस्तुको सार्थक करता है और अपना उत्थान करता है। देनेवाला मनुष्य ऊँचा उठ ही जाता है, नीचा नहीं रहता। लेनेवाला नीचा रहता है। देनेवालेका हाथ ऊँचा रहता है और लेनेवालेका हाथ नीचा रहता है।

सेवक, सेवा और सेव्य—ये तीन होते हैं। सेवा करते-करते जब सेवकपनेका अभिमान मिट जाता है, तब सेवक सेवा होकर सेव्यमें लीन हो जाता है। अभिमान मिटनेपर केवल सेवा-ही-सेवा रह जाती है। जैसे, गोस्वामीजी महाराजने रामायणकी रचना की तो अब रामायणके द्वारा समाजकी कितनी सेवा हो रही है! तात्पर्य है कि गोस्वामीजी महाराज ही सेवारूपसे हमारे सामने आये हैं। रामायण गोस्वामीजी महाराजका ही रूप है और रामायणरूपसे सबकी सेवा कर रहे हैं। उनकी सेव्य (परमात्मा)- से अलग स्वतन्त्र स्थिति नहीं रही।

ज्ञानमार्गमें जब जिज्ञासुपनेका अभिमान मिट जाता है, तब केवल जिज्ञासा रहकर तत्त्वज्ञान हो जाता है। जबतक 'मैं जिज्ञासु हूँ' ऐसे जिज्ञासु रहता है, तबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता। जिज्ञासुपना मिटते ही तत्काल तत्त्वज्ञान हो जाता है। इसमें किसी गुरुकी जरूरत नहीं है। कारण कि वास्तवमें तत्त्वज्ञान होता

नहीं है, प्रत्युत वह पहलेसे ही है। उत्पन्न होनेवाली चीज मिटनेवाली होती है। जो पैदा होता है, उसका नाश अवश्यम्भावी है। ज्ञान नित्य है। यह उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तु नहीं है। अज्ञानके मिटनेको ही ज्ञानका होना कह देते हैं। जैसे सूर्य उदय होता है, पैदा नहीं होता, ऐसे ही ज्ञान उदय (प्रकट) होता है। ज्ञानस्वरूप परमात्मा सबके हृदयमें विराजमान हैं—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(गीता १३।१७)

'वह परमात्मा सम्पूर्ण ज्योतियोंका भी ज्योति और अज्ञानसे अत्यन्त परे कहा गया है। वह ज्ञानस्वरूप, जाननेयोग्य, ज्ञान (साधनसमुदाय)-से प्राप्त करनेयोग्य और सबके हृदयमें विराजमान है।'

केवल हमारे अज्ञानके कारण वे प्रकट नहीं हो रहे हैं—'**अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥**' (मानस, बाल० २३।४)। अज्ञान मिटते ही तत्त्वज्ञान ज्यों-का-त्यों है।

गृहस्थमें रहते हुए अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन बहुत सुगमतासे किया जा सकता है। एकान्तमें रहकर साधन करनेकी अपेक्षा समुदायमें रहकर साधन करना श्रेष्ठ है। समुदायमें रहकर साधन करनेवाला एकान्तमें भी साधन कर सकता है, पर एकान्तमें साधन करनेवाला समुदायमें रहकर साधन नहीं कर सकता—यह उसमें एक कमजोरी रहती है। गृहस्थ छोड़कर साधु बननेवाला कायर होता है। कायर भागता है, शूरवीर नहीं भागता। शूरवीरका साधन तेज होता है। इसलिये गृहस्थमें बड़े अच्छे सन्त हुए हैं।

त्यागी सोभा जगत में, करता है सब कोय।
हरिया गृहस्थी सन्तका, भेदी विरला होय॥

त्यागी सन्तकी महिमा तो सब जानते हैं और करते हैं, पर गृहस्थी गुप्त सन्तकी महिमा जाननेवाले विरले ही होते हैं। अत: गृहस्थमें रहते हुए दूसरोंकी सेवा करें, उनको सुख पहुँचायें, आराम पहुँचायें। अपना भाव सबके हितका रखें कि सब सुखी हो जायँ, सब नीरोग हो जायँ, सबका कल्याण हो, किसीको थोड़ा भी दु:ख न हो—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

जिसका स्वभाव दूसरोंका हित करनेका होता है, उसके लिये ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं।
तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(मानस, अरण्य० ३१।५)

सेवामें भावका ही महत्त्व है, वस्तुका नहीं। सेवाका भाव (असीम होनेसे) कल्याण करता है, वस्तु (सीमित होनेसे) कल्याण नहीं करती। एक सज्जन भगवान्‌से यह कहा करते थे कि 'महाराज! आप सबका पालन-पोषण करते ही हैं, थोड़ा मेरेको भी निमित्त बना दो, थोड़ी मैं भी सेवा कर लूँ! इससे मेरा मुफ्तमें ही कल्याण हो जायगा!' वास्तवमें कल्याणका मूल्य कोई चुका नहीं सकता। उसका मूल्य किसीके पास नहीं है। अपने-आपको दे दे—यही उसका मूल्य है!

अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन करनेका मनुष्यमात्र अधिकारी है। पशु-पक्षी सेवा नहीं कर सकते। उनसे सेवा ले सकते हैं; जैसे—वृक्षोंसे फल, फूल, पत्ते, लकड़ी आदि ले सकते हैं, पशुओंसे दूध आदि ले सकते हैं, पर वे हमें दे नहीं सकते। देनेवाला केवल मनुष्य ही है। मनुष्य इतना विलक्षण है कि वह अपनेको भी देता है, संसारको भी देता है और भगवान्‌को भी देता है अर्थात् अपना कल्याण करता है, संसारकी सेवा करता है और भगवान्‌को राजी करता है! सेवा करनेवालेको दुनियाकी गरज नहीं होती, प्रत्युत दुनियाको ही उसकी गरज होती है। भगवान् भी भावके भूखे हैं; अत: उनको भी प्रेमकी गरज रहती है! ऐसा उत्तम मनुष्यशरीर हमें मिला है! यह कोई मामूली चीज नहीं है। यह भगवान्‌की बहुत बड़ी देन है। बिना हेतु स्नेह करनेवाले प्रभुने कृपा करके यह मानवशरीर दिया है—

कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस, उत्तर० ४४।३)

ऐसा मानवशरीर पाकर अब देना-ही-देना शुरू कर दें। लेना पशुता है और देना मनुष्यता है। देना शुरू करते ही मनुष्य साधक हो जाता है और जब देना-ही-देना रह जाता है, तब वह सिद्ध हो जाता है, भगवान्‌के बराबर हो जाता है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७।३)

देवर्षि नारदजी कहते हैं—

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्। (भक्तिसूत्र ४१)

'भगवान् और उनके भक्तमें भेदका अभाव है।'

यतस्तदीयाः। (भक्तिसूत्र ७३)

'कारण कि भक्त भगवान्‌के ही हैं।'

११. सत्यकी खोज

शास्त्रोंमें लिखा है कि मनुष्यशरीर कर्मप्रधान है। जब मनुष्यके भीतर कुछ पानेकी इच्छा होती है, तब उसकी कर्म करनेमें प्रवृत्ति होती है। कर्मके दो प्रकार हैं—कर्तव्य और अकर्तव्य। निष्कामभावसे कर्म करना 'कर्तव्य' है और सकामभावसे कर्म करना 'अकर्तव्य' है। अकर्तव्यका मूल कारण है—संयोगजन्य सुखकी कामना। अपने सुखकी कामना मिटनेपर अकर्तव्य नहीं होता। अकर्तव्य न होनेपर कर्तव्यका पालन अपने-आप होता है। जो साधन अपने-आप होता है, वह असली होता है और जो साधन किया जाता है, वह नकली होता है।

मनुष्यमें यदि कोई कामना पैदा हो जाय तो वह पूरी होगी ही—ऐसा कोई नियम नहीं है। कामना पूरी होती भी है और नहीं भी होती। सब कामनाएँ आजतक किसी एक भी व्यक्तिकी पूरी नहीं हुई और पूरी हो सकती भी नहीं। अगर कामना पैदा तो हो जाय, पर पूरी न हो तो बड़ा दुःख होता है! परन्तु मनुष्यकी दशा यह है कि वह कामनाकी अपूर्तिसे दुःखी भी होता रहता है और कामना भी करता रहता है! परिणाम यह होता है कि न तो सब कामनाएँ पूरी होती हैं और न दुःख ही मिटता है। इसलिये अगर किसीको दुःखसे बचना हो तो इसका उपाय है—कामनाका त्याग। यहाँ शंका हो सकती है कि अगर हम कोई भी कामना न करें तो फिर कर्म करें ही क्यों? इसका समाधान है कि कर्म फलप्राप्तिके लिये भी किया जाता है और फलकी कामनाका त्याग करनेके लिये भी किया जाता है। जो कर्मबन्धनसे मुक्त होना चाहता है, वह फलेच्छाका त्याग करनेके लिये कर्म करता है। यह भी शंका हो सकती है कि अगर हम कोई भी कामना न करें तो हमारा जीवन कैसे चलेगा? जीवन-निर्वाहके लिये तो अन्न-जल आदि चाहिये? इसका समाधान है कि अन्न-जल लेते-लेते इतने वर्ष बीत गये, फिर भी हमारी भूख-प्यास मिटी है क्या? भूख-प्यास तो नहीं मिटी! अन्न-जलके बिना हम मर जायँगे तो क्या अन्न-जल लेते-लेते नहीं मरेंगे? मरना तो पड़ेगा ही। वास्तवमें हमारा जीवन कामना-पूर्तिके अधीन नहीं है। क्या जन्म लेनेके बाद माँका दूध कामना करनेसे मिला था? जीवन-निर्वाह कामना करनेसे नहीं होता, प्रत्युत किसी विधानसे होता है।

सब कामनाएँ कभी किसीकी पूरी नहीं होतीं। कुछ कामनाएँ पूरी होती हैं और कुछ पूरी नहीं होतीं—यह सबका अनुभव है। इसमें विचार करना चाहिये कि कामना पूरी होने अथवा न होनेके स्थितिमें क्या हमारेमें कोई फर्क पड़ता है? क्या कामना पूरी न होनेपर हम नहीं रहते? विचार करनेसे अनुभव होगा कि कामना पूरी हो अथवा न हो, हमारी सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। कामना उत्पन्न

होनेसे पहले हम जैसे थे, कामनाकी 'पूर्ति' होनेपर भी हम वैसे ही रहते हैं, कामनाकी 'अपूर्ति' होनेपर भी हम वैसे ही रहते हैं और कामनाकी 'निवृत्ति' होनेपर भी हम वैसे ही रहते हैं। इस बातसे एक बल मिलता है कि यदि कामनाकी अपूर्तिसे हमारेमें कोई फर्क नहीं पड़ता तो फिर हम कामना करके क्यों दुःख पायें!

मनुष्यके सामने दो ही बातें हैं—या तो वह अपनी सभी कामनाएँ पूरी कर ले अथवा उनका त्याग कर दे। वह कामनाओंको पूरी तो कर सकता ही नहीं, फिर उनको छोड़नेमें किस बातका भय! जो हम कर सकते हैं, उसको तो करते नहीं और जो हम नहीं कर सकते, उसको करना चाहते हैं—इसी प्रमादसे हम दुःख पा रहे हैं।

जो कामनाओंको छोड़ना चाहता है, उसके लिये सबसे पहले यह मानना जरूरी है कि 'संसारमें मेरा कुछ नहीं है'। जबतक हम शरीरको अथवा किसी भी वस्तुको अपना मानेंगे, तबतक कामनाका सर्वथा त्याग कठिन है। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें ऐसी एक भी वस्तु नहीं है, जो मेरी और मेरे लिये हो—इस वास्तविकताको स्वीकार करनेसे कामना स्वतः मिट जाती है; क्योंकि जब मेरा और मेरे लिये कुछ है ही नहीं, तो फिर हम किसकी कामना करें और क्यों करें? कामनाओंका सर्वथा त्याग तब होता है, जब मनुष्यका शरीरसे सम्बन्ध (मैं-मेरापन) नहीं रहता। अतः कामनाओंके सर्वथा त्यागका तात्पर्य हुआ—जीते-जी मर जाना। जैसे, मनुष्य मर जाता है तो वह किसी भी वस्तुको अपना नहीं कहता और कुछ भी नहीं चाहता। उसपर अनुकूलता-प्रतिकूलता, मान-सम्मान, निन्दा-स्तुति आदिका प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसे ही कामनाओंका सर्वथा त्याग होनेपर मनुष्यपर अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिका प्रभाव तो पड़ता नहीं और जीता रहता है! इसलिये महाराज जनक देहके रहते हुए भी 'विदेह' कहलाते थे। जो जीते-जी मर जाता है, वह अमर हो जाता है। इसलिये मनुष्य अगर सर्वथा कामनारहित हो जाय तो वह जीते-जी अमर हो जायगा—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(कठ० २। ३। १४; बृहदा० ४। ४। ७)

'साधकके हृदयमें स्थित सम्पूर्ण कामनाएँ जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं (मनुष्यशरीरमें ही) ब्रह्मका भलीभाँति अनुभव कर लेता है।'

जब साधकके भीतर कामना-पूर्तिका महत्त्व नहीं रहता, तब उसके द्वारा सभी कर्म स्वतः निष्कामभावसे होने लगते हैं और वह कर्म-बन्धनसे छूट जाता है। सुखकी कामना न रहनेसे उसके सभी दोष नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि सम्पूर्ण दोष सुखकी कामनासे ही पैदा होते हैं। साधकका जीवन निर्दोष होना चाहिये। सदोष जीवनवाला साधक नहीं हो सकता।

अब यह विचार करें कि दोष किसमें रहते हैं? संसारमें दो ही वस्तुएँ हैं—सत् और असत्। दोष न तो सत् (अविनाशी)- में रहते हैं और न असत् (विनाशी)- में ही रहते हैं। सत्‌में दोष नहीं रहते; क्योंकि सत्‌का कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। कामना अभावसे पैदा होती है। जिसका कभी अभाव नहीं होता, उसमें कोई कामना हो ही नहीं सकती और जिसमें कामना नहीं होती, उसमें कोई दोष आ ही नहीं सकता। असत्‌में भी दोष नहीं रहता; क्योंकि असत्‌की सत्ता ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)। जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसमें (बिना आधारके) दोष कहाँ रहेगा? असत्‌की सत्ता न होना ही सबसे बड़ा दोष है, जिसमें दूसरा दोष आनेकी सम्भावना ही नहीं है। सत् और असत्‌के सम्बन्धमें भी दोष नहीं मान सकते; क्योंकि जैसे प्रकाश और अन्धकारका सम्बन्ध असम्भव है, ऐसे ही सत् और असत्‌का सम्बन्ध भी असम्भव है। तो फिर दोष किसमें हैं? दोष उसमें हैं, जिसमें कामना है। कारण कि सम्पूर्ण दोष कामनासे ही पैदा होते हैं—'**काम एष**.......' (गीता ३। ३७)। जब मनुष्य वस्तुके द्वारा सुख पानेकी कामना करता है, तब

लोभ पैदा होता है। जब वह व्यक्तिके द्वारा सुख पानेकी कामना करता है, तब मोह पैदा होता है। जब वह अवस्थाके द्वारा सुख पानेकी कामना करता है, तब परिच्छिन्नता पैदा होती है। जैसे एक बीजमें मीलोंतकका जंगल विद्यमान है, ऐसे ही एक दोषमें सम्पूर्ण दोष विद्यमान हैं। ऐसा कोई दोष नहीं है, जिसमें सब दोष न हों। इसलिये जबतक एक भी दोष है, तबतक साधकको सन्तोष नहीं करना चाहिये। आंशिक दोष और आंशिक निर्दोषता (गुण) तो प्रत्येक मनुष्यमें रहते हैं। कोई भी मनुष्य सब प्रकारसे, सब समय और सबके लिये दोषी हो सकता ही नहीं; क्योंकि मूलमें वह परमात्माका ही अंश है*। अगर साधक सर्वथा निर्दोष होना चाहता है तो उसको संयोगजन्य सुखकी कामनाका सर्वथा त्याग करना होगा।

अब यह विचार करें कि कामना किसमें है? कई लोग ऐसा मानते हैं कि कामना मनमें रहती है। परन्तु वास्तवमें कामना मनमें रहती नहीं है, प्रत्युत मनमें आती है—'**प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्**' (गीता २।५५)। मन एक करण (अन्त:करण) है। करणमें कोई कामना नहीं होती। क्या कलममें लिखनेकी कामना होती है? मोटरमें चलनेकी कामना होती है? नहीं होती। अगर ऐसा मानें कि कामना मनमें होती है तो फिर कामना-अपूर्तिका दु:ख भी मनको ही होना चाहिये। परन्तु कामना-अपूर्तिका दु:ख कर्ता (स्वयं)-को होता है। अत: वास्तवमें कामना करण (मन-बुद्धि)-में नहीं होती, प्रत्युत कर्तामें होती है। करण कर्ताके अधीन होता है। परन्तु कामनाकी पूर्ति और अपूर्तिसे होनेवाले सुख-दु:खरूप द्वन्द्वमें उलझे रहनेके कारण मनुष्यका विवेक काम नहीं करता और वह परवश होकर कामनाको मनमें होनेवाली मान लेता है।

अब यह विचार करें कि कर्ता कौन है? अगर मन कर्ता होता तो वह बुद्धिके अधीन होकर कार्य नहीं करता। परन्तु यह सबका अनुभव है कि बुद्धि जिस कामको न करनेका निश्चय करती है, मन उसको करनेकी कामना छोड़ देता है और बुद्धि जिसको करनेका निश्चय करती है, मन उसको करनेकी कामना करने लगता है। परन्तु बुद्धि भी स्वतन्त्र कर्ता नहीं है; क्योंकि बुद्धि भी एक करण (अन्त:करण) है। जब मनुष्य किसी कामनाकी पूर्तिका सुख लेता है, तभी बुद्धि उस कामको करनेका निर्णय लेती है। परन्तु सुखभोगका परिणाम दु:ख होता है—ऐसा समझनेवाला मनुष्य कामना-पूर्तिके सुखका त्याग कर देता है तो बुद्धि सुखभोगमें प्रवृत्तिका निर्णय नहीं लेती, प्रत्युत उसका त्याग कर देती है। करण कर्ताके अधीन होता है और क्रियाकी सिद्धिमें अत्यन्त उपकारक होता है—'**साधकतमं करणम्**' (पाणि० अ०१।४।४२) परन्तु कर्ता स्वतन्त्र होता है—'**स्वतन्त्रः कर्त्ता**' (पाणि० अ० १। ४। ५४)। स्वरूप भी कर्ता नहीं है; क्योंकि अगर स्वरूपमें कर्तापन होता तो वह कभी मिटता नहीं। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने स्वरूपमें कर्तापनका निषेध किया है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। वास्तवमें जो भोक्ता (सुखी-दु:खी) होता है, वही कर्ता होता है।

अब यह विचार करें कि भोक्ता कौन है? भोक्ता न तो सत् हो सकता है, न असत् हो सकता है; क्योंकि सत्‌में भोक्तापनका अभाव है और असत्‌में भोक्तापन सम्भव ही नहीं है। जब साधक विवेकपूर्वक शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, जो कि वास्तवमें है, तब न कर्ता रहता है, न भोक्ता रहता है, प्रत्युत एक चिन्मय सत्ता रहती है। इससे सिद्ध होता है कि वास्तवमें कोई कर्ता-भोक्ता नहीं है, केवल माना हुआ है। यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि ज्ञान होनेपर जब साधकका 'शरीर'से सम्बन्ध नहीं रहता, तब उसका 'शरीरी'से भी सम्बन्ध नहीं रहता। कारण कि शरीरके सम्बन्धसे ही चिन्मय सत्ता

* ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ (मानस, उत्तर० ११७।१)

'शरीरी' कहलाती है। शरीरका सम्बन्ध छूटनेपर चिन्मय सत्ता तो रहती है, पर उसकी 'शरीरी' संज्ञा नहीं रहती। चिन्मय सत्तामें सम्पूर्ण शरीरी एक हो जाते हैं। उस चिन्मय सत्ताको ही 'ब्रह्म' कहते हैं और उसमें स्वत:सिद्ध स्थितिको ही मुक्ति कहते हैं। मुक्तिमें जीवका ब्रह्मसे साधर्म्य हो जाता है अर्थात् जैसे ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है, ऐसे ही जीव भी सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है—'**इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २)। साधर्म्य होनेपर जीव जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है—'**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**' और वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अजर, अमर तथा स्वाधीन हो जाता है। इसको योगकी प्राप्ति भी कहते हैं—'**तदा योगमवाप्स्यसि**' (गीता २। ५३)।

जहाँ योग है, वहाँ भोग नहीं होता और जहाँ भोग है, वहाँ योग नहीं होता—यह नियम है। परन्तु एक अवस्था ऐसी भी होती है, जिसमें साधकको योगका, ज्ञानका अथवा प्रेमका अभिमान हो जाता है और वह मान लेता है कि मैं योगी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ अथवा मैं प्रेमी हूँ। कारण कि अनादिकालसे जीवमें यह आदत पड़ी हुई है कि वह जिसके साथ सम्बन्ध करता है, उसका अभिमान कर लेता है; जैसे—धन मिलनेसे 'मैं धनी हूँ' आदि। मैं योगी हूँ—यह वास्तवमें योगका भोग है; क्योंकि इसमें योगका संग है, योगके साथ अहम् मिला हुआ है। मैं ज्ञानी हूँ—यह वास्तवमें ज्ञानका भोग है; क्योंकि इसमें ज्ञानका संग है, ज्ञानके साथ अहम् मिला हुआ है। मैं प्रेमी हूँ—यह वास्तवमें प्रेमका भोग है; क्योंकि इसमें प्रेमका संग है, प्रेमके साथ अहम् मिला हुआ है। भोग न रहनेपर योगी, ज्ञानी और प्रेमी नहीं रहता अर्थात् व्यक्तित्व सर्वथा मिट जाता है। कारण कि योग, ज्ञान या प्रेम मिलनेसे मनुष्य उनके साथ एक हो जाता है अर्थात् वह योगस्वरूप, ज्ञानस्वरूप या प्रेमस्वरूप हो जाता है, इसलिये उनका अभिमान नहीं होता। जबतक व्यक्तित्व रहता है, तबतक पतनकी सम्भावना रहती है। इसलिये जो योगका अभिमानी है, वह कभी भोगमें भी फँस सकता है; जो ज्ञानका अभिमानी है, वह कभी अज्ञानमें भी फँस सकता है; जो मुक्तिका अभिमानी है, वह कभी बन्धनमें भी फँस सकता है*; जो प्रेमका अभिमानी है, वह कभी रागमें भी फँस सकता है।

जब योग, ज्ञान और प्रेमका अभिमान (भोग) नहीं रहता, तब साधक मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेपर भी साधकने जिस मत (प्रणाली)को मुख्यता दी है, उसका एक सूक्ष्म संस्कार रह जाता है, जिसको अभिमानशून्य अहम् कहते हैं। जैसे भुने हुए चने खेतीके काम तो नहीं आते, पर खानेके काम आते हैं, ऐसे ही वह अभिमानशून्य अहम् जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर (अपने मतका संस्कार रहनेसे) अन्य दार्शनिकोंसे मतभेद करनेवाला होता है। तात्पर्य है कि उस सूक्ष्म अहम्‌के कारण मुक्त पुरुषको अपने मतमें सन्तोष हो जाता है। जबतक अपने मतमें सन्तोष है, अपनी मान्यताका आदर है, तबतक दूसरे दार्शनिकोंके साथ एकता नहीं होती। साधन तो अलग-अलग होते हैं, पर साधन-तत्त्व एक होता है अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि सभी साधन मिलकर साधन-तत्त्व होता है। मुक्त पुरुषका मत साधन-तत्त्व होता है। परन्तु वह साधन-तत्त्वको ही साध्य मानकर उसमें सन्तोष कर लेता है।

जीव ईश्वरका अंश है, इसलिये वह जिस मतको पकड़ लेता है, वही उसको सत्य दीखने लग जाता है। अतः साधकको चाहिये कि वह अपने

---

* येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥ (श्रीमद्भा० १०।२।३२)

'हे कमलनयन! जो लोग आपके चरणोंकी शरण नहीं लेते और आपकी भक्तिसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको मुक्त तो मानते हैं, पर वास्तवमें वे बद्ध ही हैं। वे यदि कष्टपूर्वक साधन करके ऊँचे-से-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ, तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।'

मतका अनुसरण तो करे, पर उसको पकड़े नहीं अर्थात् उसका आग्रह न रखे। न ज्ञानका आग्रह रखे, न प्रेमका। वह अपने मतको श्रेष्ठ और दूसरे मतको निकृष्ट न समझे, प्रत्युत सबका समानरूपसे आदर करे। गीताके अनुसार जैसे 'मोहकलिल'का त्याग करना आवश्यक है, ऐसे ही 'श्रुतिविप्रतिपत्ति'का भी त्याग करना आवश्यक है (गीता—दूसरे अध्यायका बावनवाँ-तिरपनवाँ श्लोक); क्योंकि ये दोनों ही साधकको अटकानेवाले हैं। इसलिये साधकको जबतक अपनेमें दार्शनिक मतभेद दीखे, सम्पूर्ण मतोंमें समान आदरभाव न दीखे, तबतक उसको सन्तोष नहीं करना चाहिये। अपनेमें मतभेद दीखनेपर वह साधन-तत्त्वतक तो पहुँच सकता है, पर साध्यतक नहीं पहुँच सकता। साध्यतक पहुँचनेपर अपने मतका आग्रह नहीं रहता और सभी मत समान दीखते हैं—

पहुँचे पहुँचे एक मत, अनपहुँचे मत और।
'संतदास' घड़ी अरठकी, ढुरे एक ही ठौर॥
नारायण अरु नगरके, 'रज्जब' राह अनेक।
कोई आवौ कहीं दिसि, आगे अस्थल एक॥

मतभेदको लेकर आचार्योंमें लड़ाई नहीं होती, प्रत्युत उनके अनुयायियोंमें लड़ाई होती है। कारण कि अनुयायियोंको मुक्तावस्थाका अनुभव तो हुआ नहीं, पर मतका आग्रह (पक्षपात) रह गया, जबकि आचार्योंको अनुभव हो चुका है! आचार्योंके मतभेदसे अनुयायियोंमें अपने मतके प्रति राग और दूसरे मतके प्रति द्वेष पैदा हो जाता है। राग-द्वेष होनेसे सत्यकी खोजमें बड़ी भारी बाधा लग जाती है। परन्तु राग-द्वेष न होनेपर साधक सत्यकी खोज करता है कि जब वास्तविक तत्त्व एक ही है तो फिर मतभेद क्यों है? इसलिये वह मुक्तिमें भी सन्तोष नहीं करता। सत्यकी खोज करते-करते वह खुद खो जाता है और '**वासुदेवः सर्वम्**' शेष रह जाता है!

जिस साधकमें पहले भक्तिके संस्कार रहे हैं, उसको मुक्तिमें सन्तोष नहीं होता। इसलिये जब उसको मुक्तिका रस भी फीका लगने लगता है, तब उसको प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। भक्ति साधन भी है और साध्य भी—'**भक्त्या संजातया भक्त्या**' (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१)। साधन-भक्तिमें साधन और साध्य दोनों भगवान् होनेसे अपने मतका आग्रह सुगमतासे छूट जाता है और साध्य-भक्ति अर्थात् प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसे भगवान्के समग्र स्वरूपका साक्षात् अनुभव हो जाता है और साध्यमें अगाध प्रियता जाग्रत् हो जाती है। प्रियता जाग्रत् होनेपर किसी एक मतमें आग्रह नहीं रहता, सभी मतभेद गलकर एक हो जाते हैं। मुक्तिमें तो अखण्डरस, एकरस मिलता है, पर भक्तिमें अनन्तरस, प्रतिक्षण वर्धमान रस मिलता है। प्रेम सम्पूर्ण साधनोंका अन्तिम फल अर्थात् साध्य है। प्रत्येक साधकको अपने-अपने साधनके द्वारा इसी साध्यकी प्राप्ति करनी है। इसलिये मनुष्ययोनि वास्तवमें साधनयोनि अथवा प्रेमयोनि है; क्योंकि मनुष्यजन्म परमात्मप्राप्तिके लिये ही हुआ है और परमात्मप्रेमकी प्राप्तिमें ही मनुष्यजन्मकी सफलता है।

मनुष्य और साधक पर्याय हैं। जो साधक नहीं है, वह वास्तवमें मनुष्य भी नहीं है। जो साधक है, वही वास्तवमें मनुष्य है। मनुष्यका खास कर्तव्य है—सत्यको स्वीकार करना। परमात्मा हैं—यह सत्य है और संसार नहीं है—यह भी सत्य है। सत्यको सत्य मानना भी सत्यको स्वीकार करना है और असत्यको असत्य मानना भी सत्यको स्वीकार करना है। जिसके साथ हमारा सम्बन्ध है, उसके साथ सम्बन्ध मानना भी सत्यको स्वीकार करना है और जिसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, उसके साथ सम्बन्ध न मानना भी सत्यको स्वीकार करना है। मूलमें एक ही सत्य है। वह यह है कि एक समग्र भगवान्के सिवाय और कुछ है ही नहीं—'**वासुदेवः सर्वम्**।'

१२. विज्ञानसहित ज्ञान

जितने भी शास्त्र (दर्शन) हैं, उनके दो विभाग हैं—ईश्वरको माननेवाले और ईश्वरको न माननेवाले। ईश्वरको माननेवाले शास्त्रोंमें गीता मुख्य है। गीताका खास सिद्धान्त है—'**वासुदेवः सर्वम्**' अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही हैं। जिन दार्शनिकोंने अपने दर्शन (अनुभव)-में, अपने मतमें पूर्ण सन्तोष कर लिया, वे तो वहीं रुक गये, पर जिन्होंने अपने दर्शनमें सन्तोष नहीं किया, उन्होंने '**वासुदेवः सर्वम्**'का अनुभव कर लिया। '**वासुदेवः सर्वम्**'का अनुभव होनेपर सम्पूर्ण दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें परस्पर मतभेद सर्वथा मिट जाता है और वे सब एक हो जाते हैं।

शास्त्रोंमें जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंका ही विवेचन आता है; क्योंकि इन तीनोंके सिवाय चौथी कोई वस्तु है ही नहीं। इन तीनोंको गीताने अनेक नामोंसे कहा है; जैसे—'जगत्'को अपरा, क्षेत्र, क्षर आदि, 'जीव'को परा, क्षेत्रज्ञ, अक्षर आदि और 'परमात्मा'को ब्रह्म, पुरुषोत्तम आदि नामोंसे कहा है। भगवान्‌ने गीतामें अपरा (जगत्) और परा (जीव)—दोनोंको ही अपनी प्रकृति (स्वभाव या शक्ति) बताया है[1]। जैसे शक्तिमान्‌के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, ऐसे ही परमात्माके बिना जगत् और जीवकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। परमात्माके ही एक अंशमें जीव है और जीवके ही एक अंशमें जगत् है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। इसलिये गीतामें जगत्, जीव और परमात्माके वर्णनका तात्पर्य उनको अलग-अलग बतानेमें नहीं है, प्रत्युत सबको एक और अभिन्न बतानेमें ही है[2]।

परा और अपरा—दोनों प्रकृतियोंके साथ परमात्माका समान सम्बन्ध है। परन्तु परा प्रकृतिका सम्बन्ध अपरा प्रकृतिके साथ नहीं है। कारण कि परा और अपरा—दोनोंका स्वभाव अलग-अलग है। परा नित्य अपरिवर्तनशील तथा अविनाशी है और अपरा (शरीर-संसार) निरन्तर परिवर्तनशील तथा विनाशी है। परा प्रकृति परमात्माका अंश होनेसे परमात्माके ही स्वभाववाली है अर्थात् जैसे परमात्मा नित्य अपरिवर्तनशील तथा अविनाशी स्वभाववाले हैं, ऐसे ही उनका अंश परा प्रकृति भी है। तात्पर्य यह हुआ कि जीव परमात्माका अविभाज्य अंश है और शरीर संसारका अविभाज्य अंश है।

जीव तथा परमात्मा 'प्राप्त' हैं और स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर तथा संसार 'प्रतीति' हैं। 'प्राप्त' सत्-रूप है और 'प्रतीति' असत्-रूप है। असत्‌की तो सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। तात्पर्य है कि 'प्राप्त' दीखता नहीं है, पर उसकी सत्ता मौजूद है

१.भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (गीता ७।४-५)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पंचमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—इस प्रकार यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी यह अपरा प्रकृति है; और हे महाबाहो ! इस अपरा प्रकृतिसे भिन्न जीवरूप बनी हुई मेरी परा प्रकृतिको जान, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।'

२. एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥ (श्वेताश्वतर० १।१२)

'अपने ही भीतर स्थित इस ब्रह्मको ही सर्वदा जानना चाहिये; क्योंकि इससे बढ़कर जाननेयोग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है। भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जगत्) और उनके प्रेरक परमेश्वरको जानकर मनुष्य सब कुछ जान लेता है। इस प्रकार यह तीन भेदोंमें बताया हुआ ब्रह्म ही है अर्थात् जीव, जगत् और परमात्मा—तीनों समग्र ब्रह्मके ही रूप हैं।'

और 'प्रतीति' दीखती तो है, पर उसकी सत्ता मौजूद है ही नहीं। मैं अमुक वर्ण, आश्रम आदिका हूँ—यह 'प्रतीति'को लेकर है और मैं साधक (योगी, मुमुक्षु, भक्त आदि) हूँ—यह 'प्राप्त' को लेकर है। जब मनुष्यमें 'प्रतीति'की मुख्यता होती है, तब वह संसारी होता है और जब उसमें 'प्राप्त'की मुख्यता होती है, तब वह साधक होता है। इसलिये साधकमें 'प्राप्त' की मुख्यता होनी चाहिये। प्रतीतिकी मुख्यता होनेसे साधनकी सिद्धिमें बहुत कठिनता होती है। मुक्ति अथवा भक्तिकी प्राप्ति प्रतीतिको नहीं होती, प्रत्युत 'प्राप्त' (स्वयं)-को ही होती है। इसलिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें अपने भक्तोंके चार प्रकार (अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी) बताकर नवें अध्यायके तीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक कहा कि दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय—ये सभी व्यक्ति चार प्रकारके भक्त बन सकते हैं। इसी बातको दूसरे शब्दोंमें कहें तो भगवान्‌की प्राप्ति दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण तथा क्षत्रियको नहीं होती, प्रत्युत 'भक्त' (स्वयं)-को होती है[१]! (गीता ९। ३३)। इसलिये शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी मुख्यता रखनेवाला कोई भी मनुष्य भोगी तो बन सकता है, पर योगी नहीं बन सकता।

जो 'प्राप्त' है, वह 'परा प्रकृति' है और जो 'प्रतीति' है, वह 'अपरा प्रकृति' है। परा और अपरा—दोनों ही प्रकृतियाँ भगवान्‌की होनेसे भगवत्स्वरूप हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। परन्तु जीव (परा)-ने जगत् (अपरा)-को धारण कर लिया अर्थात् उसको स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देकर अपना मान लिया—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७)। यही जीवकी मूल भूल है, जिसके कारण वह जगत् बन गया[२] अर्थात् जगत्‌की तरह परिवर्तनशील, जन्मने-मरनेवाला बन गया। इस भूलको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि वह 'परा'को अर्थात् अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित कर दे और 'अपरा'को अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको संसारके अर्पित कर दे, संसारकी सेवामें लगा दे। 'मैं भगवान्‌का और भगवान्‌के लिये ही हूँ'—ऐसा स्वीकार कर लेना अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित करना है और 'शरीर संसारका और संसारके लिये ही है'—ऐसा अनुभव कर लेना शरीरको संसारके अर्पित करना है। इस प्रकार भगवान्‌की चीज भगवान्‌को दे दी—यह 'भक्तियोग' हो गया, संसारकी चीज संसारको दे दी—यह 'कर्मयोग' हो गया और न तो भगवान्‌से तथा न संसारसे ही कुछ चाहनेसे स्वयं असंग हो गया—यह 'ज्ञानयोग' हो गया। इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों सिद्ध होनेसे परा और अपराकी स्वतन्त्र सत्ताकी मान्यता मिट जाती है और '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जाता है।

जो अपना कल्याण चाहता है, वह अगर अपरा (जगत्)-को सच्चा मानता है तो उसके लिये 'कर्मयोग' (भौतिक साधना) है, अगर परा (जीव अर्थात् चेतन)-को सच्चा मानता है तो उसके लिये

---

१. नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो नो वा वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धेर्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥
'मैं न तो ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ, न शूद्र हूँ, न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थ हूँ और न संन्यासी ही हूँ; किन्तु सम्पूर्ण परमानन्दमय अमृतके उमड़ते हुए महासागररूप गोपीकान्त श्यामसुन्दरके चरणकमलोंके दासोंका दासानुदास हूँ।'

२. त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ (गीता ७। १३)
'इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह सम्पूर्ण जगत् (प्राणिमात्र) इन गुणोंसे अतीत अविनाशी मुझे नहीं जानता।'
—इस श्लोकमें जीवात्माके लिये 'जगत्' शब्द आया है।

'ज्ञानयोग' (आध्यात्मिक साधना) है और अगर परमात्माको सच्चा मानता है तो उसके लिये 'भक्तियोग' (आस्तिक साधना) है। अगर वह किसीको भी सच्चा नहीं मानता तो भी उसका कल्याण हो जायगा! कारण कि किसीको भी न माननेसे उसपर संसार आदिका प्रभाव नहीं पड़ेगा और वह स्वतः निर्विकल्प हो जायगा। मनुष्यपर उसी वस्तुका असर पड़ता है, जिसको वह सच्चा मानता है।

हमने संसारकी चीज संसारको दे दी तो अब हम संसारसे कुछ चाहनेके अधिकारी ही नहीं रहे। इसी तरह भगवान्‌की चीज भगवान्‌को दे दी तो हमें स्वतः प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी। प्रेमसे बढ़कर कोई चीज है ही नहीं, जिसकी चाहना हम भगवान्‌से करें। संसारकी चीज संसारको देना 'योग' है और संसारसे कुछ चाहना 'भोग' है। भगवान्‌की चीज भगवान्‌को देना 'योग' है और भगवान्‌से कुछ माँगना 'भोग' है।

वास्तवमें मनुष्यशरीर कर्मयोनि अथवा भोगयोनि नहीं है, प्रत्युत साधनयोनि अथवा प्रेमयोनि है; क्योंकि भगवान्‌ने मनुष्यको प्रेमके लिये ही बनाया है—'**एकाकी न रमते।**' इसलिये प्रेमकी प्राप्ति मनुष्यजन्ममें ही हो सकती है। सम्पूर्ण योनियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा है, जो भगवान्‌को अपना मान सकता है, भगवान्‌से कह सकता है कि मैं तेरा हूँ, तू मेरा है अथवा केवल तू-ही-तू है। कारण कि भगवान्‌ने संसारको जीवोंके लिये बनाया है और मनुष्यको अपने लिये बनाया है। मनुष्यमें संसारको अपना न माननेकी और भगवान्‌को अपना माननेकी जो योग्यता और सामर्थ्य है, वह भी वास्तवमें भगवान्‌की ही दी हुई है। भगवान्‌की दी हुई योग्यता और सामर्थ्यसे ही मनुष्य भगवान्‌से प्रेम करता है।

संसार निरन्तर बदलनेवाला (अप्राप्त) है तथा अपना नहीं है, फिर भी वह हमारेको प्रिय लगता है और परमात्मा सब देश, काल आदिमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान (नित्यप्राप्त) हैं तथा अपने हैं, फिर भी वे हमारेको प्रिय नहीं लगते! इसका कारण यह है कि हम संसारकी निन्दा तो करते हैं, पर उसकी सत्ता और महत्ता नहीं है तथा वह अपना नहीं है—यह अनुभव नहीं करते। इसी तरह हम परमात्माकी महिमा तो गाते हैं, पर उनको सत्ता और महत्ता देकर अपना स्वीकार नहीं करते। इसलिये साधकका खास काम है—विवेकपूर्वक संसारको अपना न मानना और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌को अपना मानना, जो कि वास्तविकता है।

जब मनुष्य संसारको अपना और अपने लिये मान लेता है, तब उसको अपनी और संसारकी (परा और अपराकी) स्वतन्त्र सत्ता प्रतीत होने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि जीव जगत्‌के अधीन (पराधीन) हो जाता है और जन्म-मरणमें पड़कर दुःख पाता है। इस पराधीनतासे छूटनेके लिये साधकके लिये तीन खास बातें हैं—

(१) मेरा कुछ नहीं है।

(२) मेरेको कुछ नहीं चाहिये।

(३) मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है।

(१) हमारा स्वरूप (स्वयं) सत्तामात्र है। इस स्वरूपके साथ कुछ भी नहीं है। संसारकी कोई भी वस्तु और क्रिया स्वरूपतक नहीं पहुँचती। तात्पर्य यह हुआ कि अपने पास अपने सिवाय कुछ भी नहीं है। 'मैं' कहलानेवाला स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर भी अपने साथ नहीं है और हम उसके साथ नहीं हैं। अगर शरीर हमारे साथ रहता तो हमारे अनेक जन्म कैसे होते? हम अनेक शरीर कैसे धारण करते? अगर हम शरीरके साथ रहते तो मुक्ति कभी होती ही नहीं। प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, परिस्थिति, अवस्था आदिमें निरन्तर परिवर्तन होता है, उत्पत्ति-विनाश होता है, पर अपनेमें (स्वरूपमें) कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन, उत्पत्ति-विनाश नहीं होता। इन देश, काल आदि सबके अभावका अनुभव हमें होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। परिवर्तनशील एवं नाशवान् वस्तु (शरीर-संसार) अपरिवर्तनशील एवं अविनाशी तत्त्वके साथ कैसे रह सकती है और उसके क्या काम आ सकती है? अमावस्याकी रात सूर्यके साथ कैसे रह

सकती है और सूर्यके क्या काम आ सकती है? सांसारिक शरीर, बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता, सुन्दरता आदि संसारके ही काम आते हैं, हमारे काम किंचिन्मात्र भी नहीं आते। तात्पर्य है कि अपरा प्रकृति और उसके कार्य शरीर-संसारके द्वारा हमें कुछ भी नहीं मिलता, हमारी किंचिन्मात्र भी पुष्टि नहीं होती, हित नहीं होता, हो सकता भी नहीं। अनन्त ब्रह्माण्ड मिलकर भी हमारी पूर्ति, सन्तुष्टि नहीं कर सकते। इसलिये अनन्त सृष्टियों, अनन्त ब्रह्माण्डोंमें एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो हमारी हो और हमारे लिये हो!

जीव और परमात्मा—दोनों ही अकिंचन हैं। जीव इसलिये अकिंचन है कि उसके लिये संसारमें 'मेरा कुछ नहीं है' अर्थात् उसका भगवान्के सिवाय और किसीसे सम्बन्ध नहीं है, और परमात्मा इसलिये अकिंचन हैं कि उनके सिवाय दूसरी कोई सत्ता नहीं है—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**' (गीता ७।७), '**सदसच्चाहम्**' (गीता ९।१९)। जबतक जीवकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, तबतक उसके पास कुछ नहीं है और जब उसकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, तब भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है—'**वासुदेवः सर्वम्।**' उसकी भगवान्के साथ आत्मीयता हो जाती है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८), '**मयि ते तेषु चाप्यहम्**' (गीता ९। २९)। इसलिये भगवान्ने रुक्मिणीजीसे कहा है कि 'हम सदाके अकिंचन हैं और अकिंचन भक्तोंसे ही हम प्रेम करते हैं और वे हमारेसे प्रेम करते हैं—

निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः।

(श्रीमद्भा० १०। ६०। १४)

भगवान् दर्शन भी अकिंचन भक्तोंको ही देते हैं—'**त्वामकिञ्चनगोचरम्**' (श्रीमद्भा० १।८।२६)। इसलिये कोई भी वस्तु अपनी और अपने लिये नहीं है—ऐसा स्वीकार करके अनुभव करते ही हम अकिंचन हो जाते हैं, भगवान्के प्रेमी हो जाते हैं—'**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः**' (गीता ७।१७)।

(२) इच्छा अभावसे पैदा होती है। सत्तामात्र अपने स्वरूपमें कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २।१६)। इसलिये अपनेमें कोई इच्छा नहीं होती। जब अनन्त सृष्टिमें कोई वस्तु हमारी और हमारे लिये है ही नहीं और कोई वस्तु स्वयंतक पहुँच सकती ही नहीं, हमें प्राप्त हो सकती ही नहीं तो फिर किसकी इच्छा करें और क्यों करें? जिस शरीरको हम 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मानते हैं, वह शरीर भी हमें आजतक प्राप्त हुआ नहीं, प्राप्त है नहीं, प्राप्त होगा नहीं, प्राप्त होना सम्भव ही नहीं। कारण कि वह निरन्तर बदलता है और हम निरन्तर रहते हैं। तात्पर्य है कि शरीरका स्वयंसे कभी संयोग हुआ ही नहीं; क्योंकि ये दोनों ही परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं। इसलिये न तो हमें संसारसे कुछ चाहिये और न भगवान्से ही कुछ चाहिये। संसारसे इसलिये कुछ नहीं चाहिये कि उसके पास ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो वह हमें दे सके। भगवान्से भी शान्ति, मुक्ति, सद्गति, दर्शन आदि कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि इनको देना भगवान्का कर्तव्य है, जो उनके अधीन है। हमारा काम भगवान्को उनका कर्तव्य बताना नहीं है, प्रत्युत अपने कर्तव्यका पालन करना है। हमारा कर्तव्य यह है कि हम भगवान्के सिवाय किसीको भी अपना न मानकर अपनेको सर्वथा अर्पण कर दें और भगवान्से कुछ भी न माँगें; क्योंकि वास्तवमें भगवान्के सिवाय अपना कोई है ही नहीं।

एक मार्मिक बात है कि भगवान्के सिवाय दूसरी वस्तुको अपना माननेसे भगवान्से सम्बन्ध-विच्छेद अर्थात् विमुखता होती है। इसी तरह भगवान्से कोई वस्तु माँगनेसे उस वस्तुके साथ सम्बन्ध होता है और देनेवाले (भगवान्)-से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। मनुष्यसे यही भूल होती है कि वह मिली हुई वस्तुओंको तो अपना मानता है, पर उनको देनेवालेको अपना नहीं मानता! मिली हुई वस्तुएँ तो बिछुड़ जायँगी, पर भगवान् नहीं बिछुड़ेंगे।

(३) सत्तामात्र हमारे स्वरूपमें कोई क्रिया नहीं है। क्रियामात्र प्रकृतिमें ही होती है। स्वयं किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं करता—'**नैव किञ्चित्करोमीति**' (गीता

५। ८), '**नैव किञ्चित्करोति सः**' (गीता ४। २०)। मनुष्य जो कुछ करता है, कुछ-न-कुछ पानेके लिये ही करता है। जब सृष्टिमात्रमें कोई भी वस्तु हमारी और हमारे लिये है ही नहीं तो फिर किसको पानेके लिये कर्म किया जाय? इसलिये हमें अपने लिये कुछ करना है ही नहीं।

अगर हम शरीर आदि किसी भी वस्तुको अपना मानें तो कभी सर्वथा निष्काम हो सकते ही नहीं; क्योंकि शरीरको रोटी-कपड़ा आदि सब कुछ चाहिये। सर्वथा निष्काम हुए बिना क्रियाका त्याग भी नहीं हो सकता; क्योंकि कामना-पूर्तिके लिये क्रिया करनी ही पड़ेगी। इसलिये 'मेरा कुछ नहीं है'—यह अनुभव होनेपर 'मेरेको कुछ नहीं चाहिये'—ऐसा अनुभव करनेकी सामर्थ्य आ जाती है, और 'मेरेको कुछ नहीं चाहिये'—यह अनुभव होनेपर 'मेरेको कुछ नहीं करना है'—ऐसा अनुभव करनेकी सामर्थ्य आ जाती है।

'मेरा कुछ नहीं है'—ऐसा माननेसे मनुष्य ममतारहित हो जाता है, 'मेरेको कुछ नहीं चाहिये'—ऐसा माननेसे कामनारहित हो जाता है और 'मेरेको (अपने लिये) कुछ नहीं करना है'—ऐसा माननेसे कर्तृत्वरहित हो जाता है। ममतारहित, कामनारहित और कर्तृत्वरहित होनेसे मनुष्य 'स्व'में स्थित अर्थात् 'मुक्त' हो जाता है[१]। अगर साधक अपनी सत्ताको परमात्माकी सत्ताके अर्पित कर देता है अर्थात् 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—ऐसी आत्मीयता (अभिन्नता) स्वीकार कर लेता है तो वह 'स्वकीय'में स्थित अर्थात् 'भक्त' हो जाता है।

अगर कोई साधक ज्ञानमार्ग (निर्गुणोपासना)-का आग्रह रखकर भक्तिमार्ग (सगुणोपासना)-की उपेक्षा, अनादर, खण्डन, निन्दा अथवा तिरस्कार करता है तो उसको मुक्त होनेके बाद भी भक्तिकी प्राप्ति नहीं होगी। अगर साधक अपने साधनका आग्रह न रखे, भक्तिकी उपेक्षा, तिरस्कार न करे, प्रत्युत उसका आदर करे तो उसको मुक्त होनेके बाद भक्तिकी प्राप्ति स्वतः-स्वाभाविक हो जायगी। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने '**येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि**' (४। ३५) पदोंसे कहा है कि 'तत्त्वज्ञान होनेपर सम्पूर्ण प्राणियोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें देखेगा' (**द्रक्ष्यसि आत्मनि**)—यह मुक्तिकी प्राप्ति है, और 'उसके बाद मेरेमें देखेगा' (**अथो मयि**)—यह भक्तिकी प्राप्ति है। वास्तवमें हम शरीरके साथ कभी मिल सकते ही नहीं और परमात्मासे कभी अलग हो सकते ही नहीं। अतः मुक्त होना और भक्त होना वास्तविकता है।

मुक्तिमें तो सूक्ष्म अहम्‌की गंध रह जाती है, जिससे द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि मतभेद पैदा होते हैं, पर प्रेमकी प्राप्तिमें अहम्‌का सर्वथा अभाव हो जाता है[२], जिससे सम्पूर्ण मतभेद मिटकर '**वासुदेवः सर्वम्**'का अर्थात् परा-अपराके सहित भगवान्‌के समग्ररूपका अनुभव हो जाता है। यही 'विज्ञानसहित ज्ञान' है, जिसको जाननेके बाद फिर कुछ जाननेयोग्य शेष रहता ही नहीं—'**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते**' (गीता ७। २) और जिसको जानकर साधक जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त हो जाता है—'**यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्**' (गीता ९। १)। इसी विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन भगवान्‌ने सातवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें किया है। फिर बारहवें अध्यायमें इसका निर्णय किया है कि केवल ज्ञानकी अपेक्षा विज्ञानसहित ज्ञान श्रेष्ठ है। कारण कि 'ज्ञान'में निर्गुणकी उपासना है और 'विज्ञान'में सगुण (समग्र)-की उपासना है। सगुणकी उपासना समग्रकी उपासना है। परन्तु निर्गुणकी उपासना समग्रके एक अंगकी उपासना है; क्योंकि

१. विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः............। (गीता २। ७१-७२)

२. प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥ (मानस, उत्तर० ४९। ३)

निर्गुणमें गुणोंका निषेध होनेसे उसके अन्तर्गत सगुण (समग्र) नहीं आ सकता, जबकि सगुण (समग्र)-में किसीका भी निषेध न होनेसे निर्गुण भी उसके अन्तर्गत आ जाता है। इसलिये सगुणका उपासक विज्ञानसहित ज्ञानको अर्थात् सगुण-निर्गुण, साकार-निराकारके सहित भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है*।

'ज्ञान'से मुक्ति प्राप्त होती है और 'विज्ञान'से भक्ति प्राप्त होती है। मुक्तिमें परमात्मासे सधर्मता होती है—**'मम साधर्म्यमागताः'** (गीता १४। २) और भक्तिमें परमात्मासे आत्मीयता (अभिन्नता) होती है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८)। अन्तिम प्रापणीय तत्त्व भक्ति ही है; अतः इसीकी प्राप्तिमें मानवजीवनकी पूर्णता है।

१३. योग

(कर्मयोग-ज्ञानयोग-भक्तियोग)

श्रीभगवान्‌ने गीताके आरम्भमें शरीर और शरीरीका विवेचन किया है। शरीर और शरीरी (शरीरवाला)—दोनोंका विभाग अलग-अलग है। शरीर-विभाग जड़, असत् तथा नाशवान् है और शरीरी-विभाग चेतन, सत् तथा अविनाशी है। गीताके तेरहवें अध्यायमें भगवान्‌ने इन दोनोंको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा प्रकृति और पुरुष नामसे भी कहा है। शरीरका सम्बन्ध संसारके साथ और शरीरीका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। गीताके आरम्भमें इन दोनों विभागोंका विवेचन करनेमें भगवान्‌का तात्पर्य है कि इनको अलग-अलग जानना ही मनुष्यके कल्याणमें खास हेतु है*।

गीतामें जहाँ भगवान्‌ने ज्ञानयोगका वर्णन किया है, वहाँ शरीर और शरीरी, सत् और असत्, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, प्रकृति और पुरुष आदि दो विभागोंका वर्णन किया है, पर भक्तिके वर्णनमें इसको तीन विभागोंमें कहा है—परा, अपरा और अहम् (सातवें अध्यायके चौथेसे छठे श्लोकतक), अक्षर, क्षर और पुरुषोत्तम (पन्द्रहवें अध्यायके सोलहवेंसे अठारहवें श्लोकतक)। परन्तु इसमें भगवान्‌ने एक रहस्यकी बात यह बतायी कि परा (चेतन) और अपरा (जड़)—दोनों ही मेरी प्रकृतियाँ अर्थात् स्वभाव हैं। तात्पर्य है कि भगवान्‌का स्वभाव होनेसे परा और अपरा—दोनों भगवान्‌से अभिन्न हैं। अतः भक्तिकी दृष्टिसे एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९), **'सदसच्चाहम्'** (९। १९)। ज्ञान अथवा भक्ति, किसी भी दृष्टिसे देखें, सत्ता एक ही है। एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है।

जो साधक अपना कल्याण चाहता है, उसको पहले यह विचार करना चाहिये कि वह स्वतः-स्वाभाविक किसकी सत्ता और महत्ताको स्वीकार करता है अर्थात् उसपर किसका प्रभाव अधिक पड़ता है, संसारका, अपने-आपका अथवा परमात्माका। अगर वह संसारको मानता है तो 'कर्मयोग'के द्वारा उसका कल्याण हो जायगा, केवल अपने-आपको ही मानता है तो 'ज्ञानयोग'के द्वारा उसका कल्याण हो जायगा और भगवान्‌को मानता है तो 'भक्तियोग'के द्वारा उसका कल्याण हो जायगा। अगर वह किसीको भी नहीं मानता तो भी उसका कल्याण हो जायगा; क्योंकि किसीको भी न माननेसे तथा कल्याणकी

---

* जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये। ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः। प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ (गीता ७। २९-३०)

'वृद्धावस्था और मृत्युसे मुक्ति पानेके लिये जो मनुष्य मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जान जाते हैं।'

'जो मनुष्य अधिभूत तथा अधिदैवके सहित और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझमें लगे हुए चित्तवाले मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।'

इच्छा होनेसे उसपर किसीका भी प्रभाव नहीं पड़ेगा और किसीका भी प्रभाव न पड़नेसे राग-द्वेष नहीं होंगे, जिससे उसकी मुक्ति स्वतः हो जायगी।

शरीरको संसारकी सेवामें लगा दे तो सेवा करते-करते शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध स्वतः छूट जायगा और स्वरूपमें स्थिति हो जायगी—यह कर्मयोग है। शरीर और संसारसे अपनेको अलग कर ले—यह ज्ञानयोग है। शरीरसहित अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर दे—यह भक्तियोग है। संसारकी किसी भी वस्तुको अपनी न माने और किसीका अहित न करे तो कर्मयोग सिद्ध हो जायगा। अपने-आपको सर्वथा असंग अनुभव कर ले तो ज्ञानयोग सिद्ध हो जायगा। केवल भगवान्‌को ही अपना मान ले तो भक्तियोग सिद्ध हो जायगा। कर्मयोगी अपरा प्रकृतिके कार्य शरीरको अपरा (संसार)-की ही सेवामें लगा देता है तो आप (स्वयं) स्वतः अलग हो जाता है और ज्ञानयोगी अपने-आपको अपरासे अलग कर लेता है; अतः दोनोंको एक ही तत्त्व (स्वरूप-बोध अथवा मुक्ति)-की प्राप्ति होती है—'**यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते**' (गीता ५। ५)। परन्तु भक्तको मुक्तिके साथ-साथ पराभक्ति(प्रेम)-की भी प्राप्ति होती है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (गीता १८। ५४)। इसलिये भगवान्‌ने कर्मयोग और ज्ञानयोगको लौकिक निष्ठा कहा है*। परन्तु भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। अलौकिकके अन्तर्गत लौकिक भी आ जाता है; क्योंकि लौकिक (परा और अपरा) प्रकृति परमात्माकी है। इसलिये लौकिक दृष्टिसे देखें तो लौकिक अलग है और अलौकिक अलग है। परन्तु अलौकिक दृष्टिसे देखें तो सब कुछ अलौकिक है, लौकिक है ही नहीं—'**वासुदेवः सर्वम्**।' अलौकिकमें लौकिकका जन्म ही नहीं हुआ! वहाँ शरीर-संसार भी अलौकिक हैं—'**सदसच्चाहम्**।'

कर्मयोगमें 'अकर्म' मुख्य है—'**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः**' (गीता ४। १८), ज्ञानयोगमें 'आत्मा' मुख्य है—'**सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि**' (गीता ६। २९), और भक्तियोगमें 'भगवान्' मुख्य हैं—'**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति**' (गीता ६। ३०)। कर्मयोगमें अकर्म शेष रहता है। अकर्म शेष रहनेपर क्रिया-पदार्थरूप संसारका अभाव हो जाता है और शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है। ज्ञानयोगमें आत्मा शेष रहती है। आत्मा शेष रहनेपर स्वरूपमें स्थिति हो जाती है और अखण्ड आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। भक्तियोगमें भगवान् शेष रहते हैं। भगवान् शेष रहनेपर प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम (अनन्त आनन्द)-की प्राप्ति हो जाती है।

प्रत्येक मनुष्यके अनुभवमें दो वस्तुएँ आती हैं—एक शरीर और एक वह स्वयं (शरीरी)। शरीर संसारका अंश है और स्वयं परमात्माका अंश है। शरीरकी संसारसे और स्वयंकी परमात्मासे सजातीयता अर्थात् सधर्मता है। इसलिये शरीर संसारका तथा संसारके लिये है और स्वयं परमात्माका तथा परमात्माके लिये है। शरीरपर हमारा कोई आधिपत्य (वश) नहीं चलता। इसको हम अपने इच्छानुसार बदल नहीं सकते, इच्छानुसार रख नहीं सकते, इच्छानुसार बना नहीं सकते। इसलिये यह हमारा और हमारे लिये हो ही नहीं सकता। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, बल, विद्या, योग्यता आदि जो कुछ भी हमारे पास है, वह सब संसारका और संसारके लिये ही है। जब शरीर हमारा और हमारे लिये है ही नहीं, तो फिर उसमें हमारी आसक्ति कैसे हो सकती है? मोह कैसे हो सकता है? ममता कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। अपने साथ शरीरकी एकता माननेसे आसक्तिका त्याग हो ही नहीं सकता, और संसारके साथ शरीरकी एकता माननेसे आसक्ति हो ही नहीं सकती। कारण कि संसारके साथ सम्बन्ध मान लेनेसे अपना सम्बन्ध (शरीरमें अपनापन) छूट जाता है। अतः साधकका

* लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता ३। ३)

खास काम केवल इतना ही है कि वह संसारकी वस्तु संसारको दे दे और भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को दे दे। फिर कामना, ममता, आसक्ति कौन करेगा, किसमें करेगा, कैसे करेगा और क्यों करेगा? संसारकी वस्तु संसारको दे दें तो मुक्ति प्राप्त हो जायगी और भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को दे दें तो भक्ति प्राप्त हो जायगी।

मनुष्यसे यह बहुत बड़ी गलती होती है कि वह शरीरको, जो कि संसारकी वस्तु है, अपना मान लेता है। संसारकी वस्तुको अपना मान लेना बेईमानी है और इसी बेईमानीका दण्ड है—जन्म-मृत्युरूप महान् दु:ख। वास्तवमें संसारकी वस्तु शरीरको अपना और अपने लिये मानना मूल भूल है और इस मूल भूलको मिटानेके लिये साधकको तीन काम करने होंगे—

(१) सीधे-सरलभावसे अपनी भूल स्वीकार करना कि संसारकी वस्तुको अपना मानकर वास्तवमें मैंने बहुत बड़ी भूल की।

(२) अपनी भूलका दु:ख (पश्चात्ताप) करना कि मनुष्य होकर, समझदार होकर, ईमानदार होकर ऐसी भूल मेरेको नहीं करनी चाहिये थी।

(३) ऐसा निश्चय करना कि अब आगे मैं ऐसी भूल पुन: नहीं करूँगा अर्थात् शरीरको अपना और अपने लिये कभी नहीं मानूँगा।

इसके बाद साधकका खास कर्तव्य है कि वह ईमानदारीके साथ संसारकी वस्तुको संसारकी ही मानकर उसकी सेवामें लगा दे और भगवान्‌की वस्तुको अर्थात् अपने-आपको भगवान्‌का ही मानकर भगवान्‌के समर्पित कर दे।

भगवान्‌की अपरा प्रकृति होनेसे संसार भगवान्‌का है। अत: जैसे कोई हमारे प्यारे सम्बन्धीकी सेवा करे तो वह हमें प्यारा लगता है, ऐसे ही हम नि:स्वार्थभावसे संसारकी सेवा करेंगे तो हम भगवान्‌को प्यारे लगेंगे और हम भगवान्‌को अपना मान लेंगे तो भगवान् हमें प्यारे लगेंगे। जब हम भगवान्‌को और भगवान् हमारेको प्यारे लगेंगे, तब हमारी भगवान्‌से आत्मीयता हो जायगी* और हमारा मानव-जन्म पूर्णत: सार्थक हो जायगा।

हम संसारकी सेवा करेंगे तो संसार भी राजी हो जायगा और उसके मालिक भगवान् भी राजी हो जायँगे। हम भगवान्‌को अपना मानेंगे तो इससे भी भगवान् राजी हो जायँगे। इस प्रकार भगवान् दुगुने राजी हो जायँगे और हमें भी दुगुना लाभ हो जायगा—संसारसे मुक्ति भी मिल जायगी और भगवान्‌में भक्ति (प्रियता) भी मिल जायगी। संसारकी चीज संसारको दे दी और भगवान्‌की चीज भगवान्‌को दे दी तो हमारे घरका क्या खर्च हुआ? अपना कुछ भी खर्च नहीं होगा और मुफ्तमें मुक्ति और भक्ति प्राप्त हो जायगी। संसार अपना स्वार्थ चाहता है, उसका स्वार्थ सिद्ध हो जायगा। भगवान् प्रेम चाहते हैं, उनमें प्रेम हो जायगा। हम अपना कल्याण चाहते हैं, हमारा कल्याण हो जायगा।

कर्मयोग तथा ज्ञानयोगके साधनमें 'निषेध' मुख्य है और भक्तियोगके साधनमें 'विधि' मुख्य है। कारण कि हमें संसारके सम्बन्धका त्याग करना है, जो भूलसे माना हुआ है और भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ना है, जिसको हम भूल गये हैं। कर्मयोगमें सेवाके द्वारा संसारका निषेध होता है और ज्ञानयोगमें विवेक-विचारके द्वारा संसारका निषेध होता है। निषेध होनेपर स्वरूपमें स्थिति स्वत: होती है और विधि होनेपर संसारका त्याग स्वत: होता है। त्याग करनेकी अपेक्षा स्वत: होनेवाला त्याग श्रेष्ठ होता है। कारण कि त्याग करनेपर त्यागीकी और त्याज्य वस्तुकी सत्ता रहती है, पर स्वत: त्याग होनेपर त्यागीकी और त्याज्य वस्तुकी सत्ता सर्वथा नहीं रहती अर्थात् अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है।

यह सिद्धान्त है कि कर्तव्यमात्र समझकर (अपनी कामना-ममता न रखकर) जो कर्म किया जाता है, उस कर्मसे लिप्तता नहीं होती, प्रत्युत उससे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। इसलिये भगवान्‌ने गीतामें

---

*'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय:' (गीता ७।१७)।
'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गीता ७।१८)।

कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करनेको 'त्याग' नामसे कहा है—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

(गीता १८। ९)

'हे अर्जुन! केवल कर्तव्यमात्र करना है—ऐसा समझकर जो नियत कर्म आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है।'

इसलिये कर्मयोगमें जो भी साधन किया जाता है, वह कर्तव्यमात्र समझकर किया जाता है। मनुष्यशरीर साधन करनेके लिये मिला है; अतः साधन करना हमारा कर्तव्य है। इस प्रकार कर्तव्य समझकर साधन करनेसे कर्तापन, कर्म और करण—तीनोंसे अर्थात् संसारमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर स्वरूपमें स्थिति स्वतः हो जाती है, जो कि वास्तवमें है। परन्तु भक्तियोगमें नामजप, कीर्तन आदि जो भी साधन किया जाता है, वह कर्तव्यमात्र समझकर नहीं किया जाता, प्रत्युत अपने प्रेमास्पद भगवान्की सेवा (पूजन) समझकर किया जाता है। कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करना दवा लेनेके समान है और भगवान्का पूजन समझकर कर्म करना भोजन करनेके समान है। बीमार होनेपर दवा लेना कर्तव्य है, पर भूख लगनेपर भोजन करना कर्तव्य नहीं है, प्रत्युत प्राणोंका आधार है। भक्तिमें, भगवान्में अपनापन मुख्य होता है। जैसे बालक माँको पुकारता है तो कर्तव्य समझकर नहीं पुकारता, प्रत्युत अपनी माँ समझकर अपनेपनसे पुकारता है, ऐसे ही भक्त भगवान्को अपना समझकर पुकारता है, कर्तव्य समझकर नहीं*। कर्तव्य तो दूसरोंके लिये होता है, पर पुकार अपने लिये होती है।

भक्तियोगमें भक्तकी प्रत्येक क्रिया भगवान्के लिये होती है; क्योंकि वह खुद भी भगवान्का है और शरीर भी। परा और अपरा—दोनों ही प्रकृतियाँ भगवान्की हैं। इसलिये भक्त न तो शरीरको अलग करता है और न आप अलग होता है, प्रत्युत शरीरसहित अपने-आपको भगवान्के अर्पित कर देता है। जैसे बच्चेकी प्रत्येक क्रिया माँको प्रसन्न करनेवाली होती है; क्योंकि बच्चा माँके सिवाय अन्य किसीको मानता या जानता ही नहीं। ऐसे ही भक्तकी प्रत्येक क्रिया भगवान्को प्रसन्न करनेवाली होती है; क्योंकि वह भगवान्के सिवाय अन्य किसीको मानता या जानता ही नहीं। उसका भगवान्में अनन्यभाव होता है।

भक्त जब एकान्तमें बैठता है, तब उसकी दृष्टिमें एक भगवान्के सिवाय कुछ नहीं होता। अतः वह भगवत्प्रेमकी मादकतामें डूबा रहता है। परन्तु जब वह व्यवहार करता है, तब भगवान् संसाररूपसे सेव्य बनकर उसके सामने आते हैं। अतः व्यवहारमें भक्त अपनी प्रत्येक क्रियासे भगवान्का पूजन करता है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (गीता १८। ४६)। पहले पूजक मुख्य होता है, फिर वह पूजा होकर पूज्यमें लीन हो जाता है।

परमात्मा सगुण हैं कि निर्गुण हैं, साकार हैं कि निराकार हैं, दयालु हैं कि न्यायकारी अथवा उदासीन हैं, द्विभुज हैं कि चतुर्भुज हैं आदि विचार करना भक्तका काम नहीं है। ऐसा विचार उसी वस्तुके विषयमें किया जाता है, जिसका त्याग अथवा ग्रहण करनेकी आवश्यकता हो; क्योंकि ***'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने'*** (मानस, बाल० ६। १)। जैसे, हम कोई वस्तु खरीदने जाते हैं तो परीक्षा करते हैं कि वस्तु कैसी है, मेरे लिये कौन-सी वस्तु उपयोगी है, आदि। परन्तु परमात्माका त्याग कोई कर सकता ही नहीं। जीवमात्र परमात्माका सनातन अंश है। अंश अंशीका त्याग कैसे कर सकता है? इतना ही नहीं, सर्वसमर्थ परमात्मा भी अगर चाहें तो जीवका त्याग करनेमें असमर्थ हैं। अतः जिस परमात्माका त्याग कर सकते ही नहीं, उसके लिये यह विचार करना अथवा

* बच्चा तो सर्वथा अज्ञ होता है, पर भक्त सर्वथा विज्ञ होता है।

परीक्षा करना निरर्थक है कि वे कैसे हैं। वे तो वास्तवमें सदासे ही अपने हैं। केवल अपनी भूल मिटाकर उनको स्वीकारमात्र करना है। जैसे विवाह होनेपर पतिव्रताकी दृष्टिमें पति कैसा ही हो, वह हमारा है, ऐसे ही परमात्मा कैसे ही हों, वे हमारे हैं*—

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

'मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण कुरूप हों या सुन्दर-शिरोमणि हों, गुणहीन हों या गुणियोंमें श्रेष्ठ हों, मेरे प्रति द्वेष रखते हों या करुणासिन्धु-रूपसे कृपा करते हों, वे चाहे जैसे हों, मेरी तो वे ही एकमात्र गति हैं।'

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतं करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

(शिक्षाष्टक ८)

'वे चाहे मुझे हृदयसे लगा लें या चरणोंमें लिपटे हुए मुझे पैरोंतले रौंद डालें अथवा दर्शन न देकर मर्माहत ही करें। वे परम स्वतन्त्र श्रीकृष्ण जैसा चाहें, वैसा करें, मेरे तो वे ही प्राणनाथ हैं, दूसरा कोई नहीं।'

जैसे बालक माँको पुकारता है तो यह नहीं देखता कि माँ कैसी है, उसका रूप, स्वभाव, आचरण, कपड़े, गहने आदि कैसे हैं, प्रत्युत केवल अपनेपनको देखता है कि 'मेरी माँ है।' ऐसे ही भक्त यह नहीं देखता कि भगवान् कैसे हैं। वह तो केवल यही देखता है कि 'भगवान् मेरे हैं।' जो भगवान्‌के प्रभावको देखकर उनकी भक्ति करता है, वह वास्तवमें प्रभावका भक्त होता है, भगवान्‌का नहीं। जैसे माँ अपने बालकके रूप, स्वभाव, आचरण आदिको न देखकर केवल अपनेपनको देखती है कि 'मेरा बेटा है', ऐसे ही भगवान् भी भक्तके स्वभाव, आचरण आदिको न देखकर अपनेपनको देखते हैं कि यह मेरा ही अंश है और मेरेको ही चाहता है। तात्पर्य है कि भगवान् अपने अंश 'स्व'को देखते हैं, वह जिसके पराधीन हुआ है, उस 'पर'को नहीं देखते; उसकी पुकारको देखते हैं, उसकी पात्रताको नहीं देखते—

रहति न प्रभु चित चूक किए की।
करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस, बाल० २९। ३)

सच्चे हृदयसे भगवान्‌को पुकारनेपर वे अपना प्रेम प्रदान करते हैं। त्याग, तपस्या, विवेक आदिसे उनके प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती। केवल भगवान्‌को ही अपना मानकर पुकारनेके सिवाय प्रेम-प्राप्तिका और कोई उपाय नहीं है। भगवान्‌के सिवाय दूसरेको अपना माननेसे ही प्रेम प्रकट नहीं हो रहा है; क्योंकि अनन्यता नहीं हुई।

मुक्ति और भक्ति (प्रेम)—दोनोंकी प्राप्ति सहज है, स्वतः-स्वाभाविक है। शरीर संसारसे अलग नहीं हो सकता और हम स्वयं परमात्मासे अलग नहीं हो सकते। शरीरके साथ हमारा मिलन कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। परमात्माके साथ हमारा अलगाव कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। मनुष्यने दो खास भूलें की हैं कि शरीरको अपने साथ मान लिया और परमात्माको अपनेसे दूर मान लिया। अगर वह शरीरको संसारके साथ मान ले तो मुक्ति हो जायगी और स्वयंको परमात्माके साथ मान ले तो भक्ति हो जायगी। मुक्ति प्राप्त होनेपर मनुष्यका जीवन निरपेक्ष हो जाता है, वह स्वाधीन हो जाता है और भक्ति प्राप्त होनेपर मनुष्यकी परमात्मासे आत्मीयता हो जाती है, उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं रहता।

---

* पति तो परतः है, पर भगवान् स्वतः हैं। भगवान् स्वतः सबके परमपति हैं—'पतिं पतीनां परमम्' (श्वेताश्वतर० ६। ७)।

१४. भगवत्प्राप्तिका सुगम तथा शीघ्र सिद्धिदायक साधन

मनुष्यको भगवत्प्राप्ति बहुत सुगमतासे तथा जल्दी हो सकती है। परन्तु संसारकी आसक्तिके कारण वह बहुत कठिन तथा देरीसे होनेवाली प्रतीत होती है। वास्तवमें भगवत्प्राप्ति कठिन नहीं है, प्रत्युत संसारकी आसक्तिको छोड़ना कठिन है। इसमें भी गहराईसे विचार करें तो आसक्तिको छोड़ना भी कठिन नहीं है। कारण कि कोई भी आसक्ति निरन्तर नहीं रहती। आसक्ति मुख्यरूपसे दो ही चीजोंकी होती है—भोगकी और संग्रहकी। परन्तु इनकी आसक्ति एक दिन भी टिकती नहीं। उसमें निरन्तर रहनेकी ताकत ही नहीं है।

आसक्ति उत्पत्ति-विनाशवाली वस्तुओंमें होती है। यह नियम है कि उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुओंसे मनुष्यकी तृप्ति कभी हो ही नहीं सकती। नाशवान्के द्वारा अविनाशीकी तृप्ति कैसे होगी? नाशवान्की आसक्ति अविनाशी कैसे होगी? हो ही नहीं सकती। आसक्ति आगन्तुक दोष है। इसको मिटानेका उपाय है—'मेरा भगवान्में ही प्रेम हो जाय' इस एक इच्छाको बढ़ायें। रात-दिन एक ही लगन लग जाय कि मेरा प्रभुमें प्रेम कैसे हो? एक प्रेमके सिवाय और कोई इच्छा न रहे, दर्शनकी इच्छा भी नहीं! इस भगवत्प्रेमकी इच्छामें बड़ी विलक्षण शक्ति है। इस इच्छाको बढ़ायें तो बहुत जल्दी सिद्धि हो जायगी। इस इच्छाको इतना बढ़ायें कि अन्य सब इच्छाएँ गल जायँ। केवल एक ही लालसा रह जाय कि 'मेरा भगवान्में प्रेम हो जाय' तो इसकी सिद्धि होनेमें आठ पहर भी नहीं लगेंगे!

मेरेको भगवान् मीठे लगें, मेरा उनके चरणोंमें प्रेम हो जाय— यह वास्तवमें हमारी आवश्यकता है। एक आवश्यकता होती है और एक इच्छा (कामना) होती है। संसारकी इच्छाको कामना, वासना, तृष्णा, आशा आदि नामोंसे कहते हैं। परमात्माकी इच्छाको आवश्यकता, जरूरत, माँग, भूख आदि नामोंसे कहते हैं। तात्पर्य है कि नाशवान्की तरफ खिंचाव होना इच्छा है और अविनाशीकी तरफ खिंचाव होना आवश्यकता है। इच्छा मनुष्यको भोग तथा संग्रहमें लगाती है और आवश्यकता सत्संग, भजन-ध्यान आदिमें लगाती है। इच्छाएँ कभी पूरी होती ही नहीं और आवश्यकता पूरी होती ही है—यह नियम है। हमने जड़ताके साथ जितना सम्बन्ध मान रखा है, उतनी ही कमी है। उस कमीकी पूर्तिके लिये ही आवश्यकता है। जड़ता (नाशवान्)-का सम्बन्ध सर्वथा छूटते ही इच्छाएँ नष्ट हो जायँगी और आवश्यकता पूरी हो जायगी।

सम्पूर्ण इच्छाएँ आजतक किसीकी भी पूरी नहीं हुईं। कितना ही धन मिल जाय, कितनी ही सम्पत्ति मिल जाय, कितना ही वैभव मिल जाय, कितने ही भोग मिल जायँ, यहाँतक कि अनन्त ब्रह्माण्ड मिल जायँ तो भी इच्छा कभी पूरी नहीं होगी, बाकी रहेगी ही। परन्तु आवश्यकता पूरी ही होती है, कभी मिटती नहीं। किसी भी वस्तुकी कोई इच्छा या आसक्ति नहीं रहेगी तो आवश्यकता निःसन्देह पूरी हो जायगी।

हमारी आवश्यकता परमात्मतत्त्वकी है। इस आवश्यकताको हम कभी भूलें नहीं, इसको हरदम जाग्रत् रखें। नींद आ जाय तो आने दें, पर अपनी तरफसे आवश्यकताकी भूल मत होने दें। भगवान्की प्राप्ति हो जाय, उनमें प्रेम हो जाय—इस प्रकार आठ पहर इसको जाग्रत् रखें तो काम पूरा हो जायगा! बीचमें दूसरी इच्छाएँ होती रहेंगी तो ज्यादा समय लग जायगा। दूसरी इच्छा पैदा हो तो जबान हिला दें, सिर हिला दें कि नहीं-नहीं, मेरी कोई इच्छा नहीं! अगर दूसरी इच्छा न रहे तो आठ पहर भी नहीं लगेंगे।

परमात्माकी प्राप्ति कठिन नहीं है; क्योंकि परमात्मा कहाँ नहीं हैं? कब नहीं हैं? किसमें नहीं हैं? ऐसी कोई वस्तु नहीं बता सकते, कोई काल नहीं बता सकते, कोई देश नहीं बता सकते, कोई स्थान नहीं बता सकते, कोई व्यक्ति नहीं बता सकते, कोई अवस्था नहीं बता सकते, कोई परिस्थिति नहीं बता

सकते, जिसमें परमात्मा न हों। केवल उनकी इच्छाकी कमी है, और कुछ कमी नहीं है। केवल एक इच्छा हो जाय कि परमात्मा कैसे मिलें? वे कैसे हैं—यह देखनेकी जरूरत नहीं है। केवल उनकी आवश्यकताकी कभी विस्मृति न हो। उनकी एक इच्छा, एक लालसा करनेमें तो समय लगेगा, पर परमात्माकी प्राप्ति होनेमें समय नहीं लगेगा। लोग पागल कहें, कुछ भी कहें, परवाह न करें। केवल एक ही लालसा हो जायगी तो अन्य सभी इच्छाएँ मिट जायँगी। अन्य इच्छाएँ मिटते ही वह एक लालसा पूरी हो जायगी।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

'हे पृथानन्दन! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

'**अनन्यचेताः**'का तात्पर्य है कि एक परमात्माके सिवाय कोई इच्छा न हो। न जीनेकी इच्छा हो, न मरनेकी। न सुखकी इच्छा हो, न दुःखकी। '**सततम्**'का तात्पर्य है कि प्रातः नींद खुलनेसे लेकर रात्रि नींद आनेतक स्मरण करे और '**नित्यशः**'का तात्पर्य है कि आजसे लेकर मृत्यु आनेतक स्मरण करे। इस प्रकार '**अनन्यचेताः**', '**सततम्**' तथा '**नित्यशः**'—ये तीन बातें होनेसे भगवान् सुलभ हो जाते हैं। तात्पर्य है कि निरन्तर एक ही आवश्यकता रहे, एक ही भूख रहे, एक ही जागृति रहे कि भगवान् कैसे मिलें? जहाँ एक वृत्ति हुई कि प्राप्ति हुई। दूसरी वृत्ति रहेगी तो बाधा लगेगी। एक वृत्ति होनेमें कोई कठिनता भी नहीं है। कारण कि एक परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु टिकनेवाली है ही नहीं, फिर उसमें आसक्ति कैसे टिकेगी? वृत्ति कहाँ जायगी? किसी भी वस्तुमें ताकत नहीं है कि वह हर जगह रहे, हर समय रहे, हर वस्तुमें रहे, हर व्यक्तिमें रहे, हर अवस्थामें रहे, हर परिस्थितिमें रहे। परन्तु परमात्माका किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थितिमें अभाव नहीं है। परमात्माके बिना कोई चीज है ही नहीं।

जो सब जगह विद्यमान है, जिसका कहीं भी अभाव नहीं है, उसकी प्राप्तिमें देरीका कारण यही है कि उसको हम चाहते नहीं। उसकी प्राप्ति न होनेमें पाप कारण नहीं है। अगर पाप कारण हो तो पाप प्रबल हुआ, परमात्मा कमजोर हुए! परन्तु यह सम्भव है ही नहीं। मनुष्यकी जो नीच वृत्ति या कृत्य है, उसका नाम पाप है। पाप टिकनेवाला है ही नहीं। सत्संगसे, नामजपसे, गंगास्नानसे पाप टिकते ही नहीं। बड़े-से-बड़ा पाप क्यों न हो, उसमें टिकनेकी ताकत ही नहीं है। पापकी सत्ता है ही नहीं। सत्ता एक परमात्माकी ही है। परमात्मा पापमें भी हैं, पुण्यमें भी हैं; अच्छेमें भी हैं, मन्देमें भी हैं; शुद्धिमें भी हैं, गन्दगीमें भी हैं। किसीने मेरेसे कहा कि तुम्हारे भगवान् तो नरकोंमें हैं। मैंने कहा कि हमारे भगवान् तो सब जगह हैं; स्वर्गमें भी हैं, नरकमें भी हैं। तुम्हारे पूर्वज नरकोंमें गये तो उन्होंने वहाँका समाचार दे दिया! भगवान्‌से खाली जगह कोई हो सकती ही नहीं। वे सब जगह परिपूर्ण हैं। केवल उनकी प्राप्तिकी इच्छा हो, साथमें दूसरी कोई इच्छा न हो तो एक-दो दिन भले ही लग जायँ, उनकी प्राप्ति जरूर होगी। भगवान्‌के सिवाय हमारेको न धन चाहिये, न सम्पत्ति चाहिये, न वाह-वाह चाहिये, न आदर चाहिये, न सत्कार चाहिये, न महिमा चाहिये, न और कुछ चाहिये तो भगवत्प्राप्ति जरूर हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं है। परमात्मा कैसे मिलें?—इस बातकी जागृति हरदम रहेगी तो परमात्मा कैसे छिपे रहेंगे?

भूख लगे तो खा लें, प्यास लगे तो जल पी लें, नींद आये तो सो जायँ। हठ नहीं करना है। भोजनमें स्वाद, सुख नहीं लेना है। जल पीनेमें सुख नहीं लेना है। सोनेमें सुख नहीं लेना है। जैसे रोग होनेपर दवा लेते हैं, ऐसे भूख लगनेपर रोटी खा लें। दवा लेनेमें सुख थोड़े ही लेते हैं? दवामें रुचि थोड़े ही होती है? इच्छा केवल परमात्माकी ही रहे। इससे सुगम साधन और क्या होगा! दूसरी इच्छाएँ साथमें रखते हैं—यही

बाधा है। मनुष्य कैसा ही हो, पापी हो या मूर्ख हो, वह परमात्मप्राप्तिका पात्र है। परमात्मप्राप्तिके लिये कोई भी कुपात्र नहीं है। केवल एक ही लालसा होनी चाहिये। दूसरी लालसा ही बाधक है। अगर भूख, प्यास और नींद तंग न करे तो खानेकी, पीनेकी और सोनेकी भी जरूरत नहीं। रोटी खाकर, पानी पीकर, नींद लेकर क्या कोई जी सकता है? रोटी खाते, पानी पीते, नींद लेते हुए भी मनुष्य मर जाता है। जीनेकी ताकत अन्नमें, जलमें, नींदमें नहीं है। किसी भी वस्तुमें जीनेकी ताकत नहीं है। अगर भूखे रहनेसे मनुष्य मर जाता है तो खाते-पीते हुए भी मनुष्य मर जाता है। एक दिन मरना तो पड़ेगा ही, फिर नया नुकसान क्या हुआ? जो होनेवाला है, वही हुआ। परन्तु मैं भूखे-प्यासे रहकर मरनेके लिये नहीं कहता। कारण कि भूखे-प्यासे रहनेपर मन वैसा नहीं रहता। अतः भूख-प्यास लगे तो अन्न-जल ले लें, नींद आये तो सो जायँ, पर अपनी आवश्यकताको न भूलें। उसको हरदम जाग्रत् रखें। परमात्मप्राप्तिमें समय लगाना हमारे अधीन है, चाहे एक घड़ीमें प्राप्ति कर लें, चाहे अनेक दिनों-महीनों-वर्षोंमें। फर्क हमारी चाहनामें है। परमात्माके मिलनेमें फर्क नहीं है। भगवान्‌ने कहा है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४। १)

भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ तो करोड़ों जन्मोंके पाप उसी क्षण नष्ट हो जायँगे। पापोंमें, दुराचारोंमें, अवगुणोंमें ताकत नहीं है कि वे भगवान्‌को रोक दें। भगवान्‌को रोकनेकी ताकत किसीमें हो ही नहीं सकती। अगर कोई भगवान्‌को रोक दे तो वे भगवान् हमें मिलकर क्या निहाल करेंगे। वे भगवान् हमारे किस कामके, जो किसीके द्वारा अटक जायँ! केवल हमारी एक चाहनाकी आवश्यकता है। साधकको यही सावधानी रखनी है कि इस चाहनाकी कभी विस्मृति न हो। फिर भगवत्प्राप्तिमें कठिनता और देरी नहीं रहेगी।

१५. मुक्तिका सुगम उपाय

प्रभु-कृपासे जो यह मनुष्यजन्म मिला है, इसको हमें सफल करना है। अगर पशुओंकी तरह खाने-पीने, सोने-जागने आदिमें ही समय बरबाद कर दिया तो मनुष्यजन्म सफल नहीं हुआ। मनुष्यजन्म तभी सफल होगा, जब भगवान्‌का भजन किया जाय। भजनके बिना मनुष्य मुर्देकी तरह है—***'रामदास कहे जीव जगतमें मुर्दा-सा फिरता!'*** केवल प्राणोंके चलनेसे ही जीना नहीं होता। लुहारकी धौंकनी भी फू-फा, फू-फा करती है, पर वह जीना नहीं कहलाता। अतः केवल श्वास लेने-छोड़नेसे हमारा जीना सिद्ध नहीं होगा। जीना तभी सिद्ध होगा, जब हम मनुष्यके योग्य काम करें। चाहे मनुष्य कहो, चाहे भगवत्प्राप्तिका अधिकारी कहो, एक ही बात है। भगवत्प्राप्ति मनुष्यजन्ममें ही हो सकती है और बड़ी सुगमतासे हो सकती है।

हम सब साक्षात् भगवान्‌के अंश हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७), ***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६। २)। हम सब भगवान्‌के ही उत्पन्न किये हुए उनके प्यारे अंश हैं। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है, जो भगवान्‌का प्यारा न हो। हमें यहाँ भगवान्‌ने ही जन्म दिया है। कोई भी व्यक्ति यह नहीं बता सकता कि मैंने अपनी मरजीसे यहाँ जन्म लिया है। पालन-पोषण भी भगवान् ही करते हैं। रक्षा भी भगवान् ही करते हैं। किसीमें यह कहनेकी हिम्मत नहीं है कि मैं इतने वर्ष ही जीऊँगा, इतने वर्ष ही यहाँ रहूँगा। तात्पर्य है कि हम भगवान्‌की मरजीसे यहाँ आये हैं, भगवान्‌की मरजीसे जी रहे हैं और भगवान्‌की मरजीसे जायँगे। इसलिये हम भगवान्‌के ही हैं। एक सन्तसे किसीने पूछा कि किधर जाओगे?

तो वे बोले कि फुटबालको क्या पता कि वह किधर जायगा? खिलाड़ी जिधर ठोकर लगायेगा, वहीं जायगा। इसी तरह भगवान् जहाँ भेजेंगे, वहीं जायँगे; जैसा रखेंगे, वैसे रहेंगे—ऐसा विचार करके निश्चिन्त हो जायँ। अपनी कोई इच्छा न रखें; न जीनेकी, न मरनेकी। भगवान् चाहे नरकोंमें भेजें, चाहे स्वर्गमें भेजें, चाहे वैकुण्ठमें भेजें, चाहे मनुष्यलोकमें भेजें, जैसी उनकी मरजी; हम उनके भरोसे निश्चिन्त हो जायँ। अपनी अलग कोई इच्छा न रखकर भगवान्‌की इच्छामें अपनी इच्छा मिला दें। केवल इतनेसे ही हमारा जीवन सफल हो जायगा, लम्बी-चौड़ी बात ही नहीं है। बैठे हैं तो भगवान्‌की मरजीसे, जाते हैं तो भगवान्‌की मरजीसे। हमें कोई दु:ख नहीं, कोई सन्ताप नहीं। अगर अभी मर जायँ तो क्या हर्ज है? हमारेको संसारसे कुछ लेना ही नहीं है। जीयें तो भी आनन्द है, मर जायँ तो भी आनन्द है। कोई खिलाना चाहे तो खा लें, सुनना चाहे तो सुना दें और मिलना चाहे तो मिल लें। अपना काम कोई है ही नहीं। खानेमें इतना ध्यान रखना है कि वह वस्तु शास्त्रविरुद्ध और शरीरविरुद्ध (कुपथ्य) न हो। कोई न खिलाये अथवा कम खिलाये या ज्यादा खिलाये तो उसकी मरजी। अपनी कोई चिन्ता नहीं। कोई कहे कि हम सुनना नहीं चाहते, चुप हो जाओ तो चुप हो जायँ। कोई मिलना नहीं चाहे तो हमारेको मिलना है ही नहीं।

एक सन्त थे। उनको एक आदमीने निमन्त्रण दिया कि महाराज, कल आप हमारे यहाँ भिक्षा लें। सन्तने कहा—अच्छी बात है। दूसरे दिन सन्त उसके घर पहुँचे। वहाँ खड़े एक दूसरे आदमीने देखा तो बोला कि कैसे आये यहाँपर? निकल जाओ, नहीं तो मारेंगे! सन्त चले गये। दूसरे दिन वह आदमी पुन: उनके पास गया और बोला कि महाराज, कल आप आये नहीं? सन्त बोले कि भाई, आया तो था, पर वहाँ खड़े एक आदमीने कह दिया कि चले जाओ तो वापस आ गया। वह बोला कि महाराज, कल आप जरूर पधारो। दूसरे दिन फिर वे सन्त गये। उनको देखकर वहाँ खड़ा आदमी फिर बोला कि तेरेको शर्म नहीं आती? कल कहा था न कि मत आना, फिर आ गया! शर्म है ही नहीं। जाओ, निकलो यहाँसे! सन्त वापस चले आये। दूसरे दिन फिर उसने जाकर कहा कि महाराज, कल पधारे नहीं? वे बोले कि भाई, आया तो था। वहाँ ना मिल गयी तो चला गया। वह बोला कि महाराज, मैं वहाँ था नहीं, मेरेसे बड़ी भूल हुई, कृपा करके कल आप जरूर पधारो। वे सन्त फिर गये। उस आदमीने बड़ा सम्मान किया और बोला कि महाराज, आपने आकर बड़ी कृपा की! भोजन कीजिये। भोजन करानेके बाद वह बोला कि महाराज, आप बहुत बड़े सन्त हो! आपका कितना तिरस्कार हुआ, फिर भी आप आ गये! वे सन्त बोले—इसमें बड़प्पन क्या है? कुत्तेको भी तु-तु करो, पुचकारो तो वह आ जाता है और दुत्कारो तो वह चला जाता है। यह बात तो कुत्तेकी है, मनुष्यकी थोड़े ही है! ऐसा भाव हमारेमें भी होना चाहिये।

कोई सुनना चाहे तो सुना दें। वह बोले कि क्यों बकता है, चुप रह तो चुप रह जायँ। वह बोले कि रामायण सुनाओ, गीता सुनाओ तो जो जानते हैं, वह सुना दें। वह बोले कि बाइबिल सुनाओ, कुरान शरीफ सुनाओ तो कह दें कि भाई, यह हमें आता नहीं, कैसे सुनायें? ऐसे ही कोई मिलना चाहे तो मिल लें। कोई मिलना नहीं चाहे तो बड़ी अच्छी बात है, आनन्दसे बैठे रहें। ऐसा करनेमें क्या कठिनता है? इसमें कोई तपस्या नहीं करनी पड़ती, कहीं जाना नहीं पड़ता, कोई पढ़ाई नहीं करनी पड़ती, कोई शास्त्र नहीं पढ़ना पड़ता, कोई गुरु नहीं बनाना पड़ता, कोई दीक्षा नहीं लेनी पड़ती। दूसरा जैसे राजी हो, वैसे कर दिया। हमारी न खानेकी मरजी है, न सुनानेकी मरजी है, न मिलनेकी मरजी है। कोई खिलाना चाहे तो खा लिया, सुनना चाहे तो सुना दिया और मिलना चाहे तो मिल लिया। कितनी सुगम बात है! इसमें हमारा क्या खर्च हुआ?

एक सन्तने लिखा है कि हमारेसे दुनिया राजी

नहीं हुई तो हमने विचार किया कि वह राजी क्यों नहीं हुई? विचार आया कि हम दुनियाके काम नहीं आये। अगर हम दुनियाके काम आते तो दुनिया राजी हो जाती। दुनियाके काम वही आता है, जो कुछ नहीं चाहता। कुछ भी चाहनेवाला सबके काम नहीं आ सकता। ऐसा विचार करके हमने इच्छा छोड़ दी। इच्छा छोड़ते ही मनमें आया कि अगर हम दुनियाके काम नहीं आये तो दुनिया भी हमारे काम नहीं आयी। दोनोंमें समता हो गयी। न दुनियाका दोष, न हमारा दोष। अब जिस तरहसे भगवान् रखेंगे, उसी तरहसे हम रहेंगे। हमें खाना ही नहीं है, बात सुनानी ही नहीं है, किसीसे मिलना ही नहीं है। कोई कहे खाओ तो खा लिया। कोई कहे सुनाओ तो सुना दिया। कोई कहे मिलो तो मिल लिया। कोई न खिलाये तो मौज, न सुनना चाहे तो मौज, न मिलना चाहे तो मौज! इतनी-सी बातसे परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी! परमात्माकी प्राप्ति जितनी सरल है, उतना सरल कोई काम है ही नहीं।

जो हमारे बिना रह सकता है, उसके बिना हम बड़े आनन्दसे रह सकते हैं। एक सन्तने कहा कि हमारी आँखें चली गयीं तो दुःख हुआ। फिर विचार आया कि हमारे बिना आँखें रह सकती हैं तो हम भी आँखोंके बिना रह सकते हैं। जब आँखोंको हमारी जरूरत नहीं तो फिर हमारेको भी आँखोंकी जरूरत नहीं। अब मनमें ही नहीं आती कि आँखोंसे देखें। ऐसे ही हमारे बिना आप रह सकते हैं तो आपके बिना हम भी मौजसे रह सकते हैं। कितनी ऊँची बात है और कितनी सीधी-सरल है! अपनी कोई इच्छा हो ही नहीं। न खानेकी इच्छा हो, न सुनानेकी इच्छा हो, न मिलनेकी इच्छा हो। इससे सुगम बात और क्या होगी? इसमें न जप है, न ध्यान है, न स्वाध्याय है! संसारके साथ यह सम्बन्ध रहे कि कोई जैसा खिलाये, वैसा खा ले। जैसा पिलाये, वैसा पी ले। मिलना चाहे तो मिल ले। इस तरह संसारमें हम बड़े आनन्दसे रह सकते हैं! गीतामें आया है—

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

(४। २२)

'जो फलकी इच्छाके बिना अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहता है और ईर्ष्यासे रहित, द्वन्द्वोंसे रहित तथा सिद्धि और असिद्धिमें सम है, वह कर्म करते हुए भी उससे नहीं बँधता।'

सन्तोंने कहा है—

जाहि विधि राखे राम, ताहि विधि रहिये,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये।

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न मख जप तप उपवासा॥

(मानस, उत्तर० ४६। १)

बीमारी आ गयी तो बहुत ठीक है, बीमारी चली गयी तो बहुत ठीक है। किसीने अपमान कर दिया तो बहुत ठीक है, किसीने सम्मान कर दिया तो बहुत ठीक है। कोई मान करे, कोई अपमान करे। कोई भोजन दे, कोई भोजन न दे। कोई सुनना चाहे, कोई सुनना न चाहे। कोई मिलना चाहे, कोई मिलना न चाहे। अपना उससे क्या मतलब? अपनी कोई जरूरत नहीं। कोई परवाह नहीं। हमारा न जीनेसे मतलब है, न मरनेसे मतलब है। न किसीके आनेसे मतलब है, न किसीके जानेसे मतलब है। न मिलनेसे मतलब है, न नहीं मिलनेसे मतलब है। न करनेसे मतलब है, न नहीं करनेसे मतलब है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३। १८)

'उस महापुरुषका इस संसारमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्म न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें किसी भी प्राणीके साथ इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

सब काम भगवान्‌के लिये ही करना है। अपने लिये कुछ करना है ही नहीं। न कहीं जाना है, न आना है, न रहना है। फिर सब झंझट मिट जायगी।

निरन्तर आनन्द रहेगा, मौज रहेगी। हमारी कोई जरूरत नहीं, न भोजनकी जरूरत, न व्याख्यानकी जरूरत, न मिलनेकी जरूरत। कोई खिलाना चाहे तो खायेंगे, सुनना चाहे तो सुनायेंगे, मिलना चाहे तो मिलेंगे। इतनेसे ही जन्म सफल हो जायगा! कोई शास्त्रीय अनुष्ठान करनेकी जरूरत नहीं। कहीं जाना नहीं, कहीं आना नहीं। कहीं देना नहीं, कहीं लेना नहीं। अमुक जगह जाना है, उनसे मिलना है—यह है ही नहीं। हमारी कोई मरजी है ही नहीं। इससे मुक्ति नहीं होगी तो और क्या होगा?

भगवान्‌ने कृपा करके मानव-जन्म दिया है। उस मानवजन्मको सफल कर लेना मनुष्यका कर्तव्य है। वह मानवजन्म इस बातसे सफल हो जायगा कि मेरा कुछ नहीं है, मेरेको कुछ नहीं चाहिये और मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है। कोई ठीक करे या बेठीक करे, मरजी आये सो करे, हमें किसीसे कुछ नहीं कहना है। कभी मनमें आ जाय तो कह दे कि भाई, ऐसा मत करो। वह कहे कि 'जा-जा, तेरी बात नहीं मानता' तो बहुत ठीक है, मौज हो गयी। इसमें क्या कठिनता है?

सदा दीवाली सन्तके आठों पहर आनन्द।

आठों पहर आनन्द-ही-आनन्द, मौज-ही-मौज है। कोई पूछे कि आपको कहीं जाना है तो कहे कि ना, हमारेको न जाना है, न आना है। कोई कहे 'बैठ जाओ' तो बैठ जाय, 'सो जाओ' तो सो जाय, 'चलो' तो चलो, 'नहीं चलो' तो नहीं चलो। कितनी सुगम बात है! ***'जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिये।'*** यह सबको सुख देनेवाली, आनन्द देनेवाली बात है। कोई भोजन कराना चाहे तो अच्छी बात, नहीं कराना चाहे तो अच्छी बात। कोई सुनना चाहे तो अच्छी बात, नहीं सुनना चाहे तो अच्छी बात। कोई मिलना चाहे तो अच्छी बात, नहीं मिलना चाहे तो अच्छी बात। अपने मस्तीसे भजन करो, कीर्तन करो, नामजप करो। इसीसे मनुष्यजन्म सफल हो जायगा।

१६. त्यागसे कल्याण

भगवान् बिना हेतु स्नेह करनेवाले अर्थात् स्वाभाविक ही कृपा करनेवाले हैं। वे भगवान् विशेष कृपा करके जीवको अपना उद्धार करनेके लिये मानवशरीर देते हैं—'**कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥**' (मानस, उत्तर० ४४। ३)। जीव अपना उद्धार कैसे करे? जैसे जलाशयमें पड़ा हुआ कोई व्यक्ति अपना उद्धार करना चाहे तो वह जलको अपने हाथोंसे और लातोंसे मारता चला जाय। ऐसा करनेसे वह तर जायगा। परन्तु वह ऐसा न करके जलको हाथोंसे लेने लगे तो वह निश्चित ही डूब जायगा। ठीक यही बात संसार-समुद्रमें पड़े हुए जीवपर भी लागू होती है। अगर वह संसारका त्याग करने लगे तो वह तर जायगा, उसका उद्धार हो जायगा। परन्तु वह संसारसे लेना शुरू कर दे तो वह डूब जायगा।

जो संसारसे अपना उद्धार चाहता है, उसको यह अवश्य ही मान लेना चाहिये कि हमारेको जो कुछ मिला है, जो वस्तु, योग्यता और बल मिला है, वह सब-का-सब केवल सेवा करनेके लिये मिला है। कारण कि जो मिला है, वह अपना नहीं है। अगर कारणकी दृष्टिसे देखें तो वह प्रकृतिका है, कार्यकी दृष्टिसे देखें तो वह संसारका है और मालिककी दृष्टिसे देखें तो वह भगवान्‌का है। वह अपना नहीं है—यह सच्ची बात है। जो मिला है, वह अपना उद्धार करनेके लिये मिला है। उद्धार तब होगा, जब हम मिले हुएको अपना न मानें, उससे सुख न लें। तात्पर्य है कि जो मिला है, वह केवल त्याग करनेके लिये अर्थात् दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये ही मिला है और ऐसा करनेसे ही हमारा कल्याण होगा।

बाहरसे वस्तुका त्याग करनेसे कल्याण नहीं होता। कल्याण भीतरके भावसे होता है अर्थात् भीतरसे

वस्तुओंका त्याग करनेसे, उनके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे कल्याण होता है। जड़ वस्तुओंका सम्बन्ध ही पतन करता है और उनसे सम्बन्ध-विच्छेद ही उद्धार करता है। स्वयं चेतन होते हुए भी जीवने जड़को सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया—यही बन्धन है। इसने जड़ शरीरको सत्ता दे दी कि 'शरीर है', उसको महत्ता दे दी कि 'शरीरके बिना सुख नहीं मिल सकता' और उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया कि 'मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है और मेरे लिये है'।

हमारेको जो कुछ मिला है, वह सब बिछुड़नेवाला ही मिला है। शरीर मिला है तो बिछुड़नेवाला मिला है, कुटुम्ब मिला है तो बिछुड़नेवाला मिला है, धन मिला है तो बिछुड़नेवाला मिला है, योग्यता मिली है तो बिछुड़नेवाली मिली है, बल मिला है तो बिछुड़नेवाला मिला है। बिछुड़नेवाली वस्तुका त्याग कर दें तो स्वतः कल्याण होता है—यह भगवान्‌की बड़ी विलक्षण कृपा है! भगवान् मिले हुए और बिछुड़नेवाले नहीं हैं, प्रत्युत सदासे ही मिले हुए हैं, सदा मिले हुए ही रहते हैं, कभी बिछुड़ते नहीं। भगवान्‌के सिवाय जो कुछ है, वह सब-का-सब बिछुड़नेवाला है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(गीता ८। १६)

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्तीवाले हैं अर्थात् वहाँ जानेपर पुनः लौटकर संसारमें आना पड़ता है; परन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता।'

मनुष्यशरीर केवल त्याग करनेके लिये ही मिला है। त्याग करनेसे अपने घरका कुछ भी खर्च नहीं होगा और कल्याण मुफ्तमें हो जायगा! अतः मिली हुई वस्तुका हृदयसे त्याग कर दें कि यह हमारी नहीं है और हमारे लिये भी नहीं है तो कल्याण हो जायगा—यह पक्का सिद्धान्त है। त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२); क्योंकि शरीर, योग्यता, बल, बुद्धि आदि जो कुछ मिला है, त्याग करनेके लिये ही मिला है। त्याग नहीं करेंगे तो भी वे बिछुड़ेंगे ही। साथमें रहनेवाली कोई भी चीज नहीं है।

दान-पुण्य करते हैं तो लोग समझते हैं कि रुपयोंसे कल्याण होता है। वास्तवमें रुपयोंसे कल्याण नहीं होता, प्रत्युत रुपयोंमें जो मोह है, उसके त्यागसे कल्याण होता है। अगर बाहरसे रुपयोंका त्याग करनेसे ही कल्याण होता तो धनी आदमी कल्याण कर लेते और गरीबोंका कल्याण होता ही नहीं।

एक मार्मिक बात है। संसार सत् है या असत्, नित्य है या अनित्य—इस विषयमें बड़ा मतभेद है। परन्तु संसारका सम्बन्ध असत् है, अनित्य है—इस विषयमें कोई मतभेद नहीं है। जड़-चेतनका सम्बन्ध असत् है; क्योंकि जड़-चेतनका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। अतः संसारसे माने हुए सम्बन्धका ही त्याग करना है। असत् अपना नहीं है—यही असत्‌का त्याग है। असत्‌के त्यागसे सत्-तत्त्व परमात्माकी प्राप्ति स्वतः हो जायगी। शरीर बिछुड़ जायगा तो मौत हो जायगी, पर उसके सम्बन्धका त्याग कर दें तो मौज हो जायगी! छूटनेवालेको हम अपनी मरजीसे छोड़ दें तो आनन्द हो जायगा, पर वह जबर्दस्ती छूटेगा तो रोना पड़ेगा।

असत्‌के त्यागका उपाय है—हमारे पास जो वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य है, उसका प्रवाह हमारी तरफ न होकर संसारकी तरफ हो जाय अर्थात् वह संसारकी ही सेवामें लग जाय। यह कर्मयोग है। विवेक-विचारके द्वारा असत्‌से ऊँचे उठ जायँ, उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लें तो यह ज्ञानयोग है। सब कुछ भगवान्‌का मान लें और भगवान्‌को अपना मान लें तो यह भक्तियोग है। ये तीनों योग जीवका उद्धार करनेवाले हैं। तीनों योगोंमें खास बात है—त्याग। त्याग करनेके लिये ही हमारेको यह मनुष्यशरीर मिला है। त्याग यही करना है कि वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। यह सम्बन्ध चाहे सेवा करके छोड़ दें, चाहे विचारपूर्वक छोड़ दें, चाहे भगवान्‌के शरण होकर छोड़ दें। गुणोंका संग

ही जन्म-मरणमें कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। गुणोंका संग छूट जाय तो फिर जन्म-मरण कैसे होगा?

माना हुआ सम्बन्ध न माननेसे छूट जाता है—यह नियम है। संसारका सम्बन्ध माना हुआ है, वास्तवमें है नहीं। जैसे अमावस्याकी रात्रि और सूर्यका परस्पर सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, ऐसे ही जड़ और चेतनका परस्पर सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। अत: जड़-चेतनका सम्बन्ध केवल माना हुआ है और न माननेसे छूट जायगा, जो कि वास्तवमें पहलेसे ही छूटा हुआ है। इस असत्य सम्बन्धकी मान्यता छोड़नेमें मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है। इसको छोड़नेकी योग्यता भी पापी-पुण्यात्मा, दुष्ट-सज्जन सबमें है। इसमें सब-के-सब पात्र हैं, कोई कुपात्र नहीं है। केवल त्यागका भाव चाहिये और कुछ नहीं। जब हम अपने मनसे ही सब कुछ छोड़ देंगे तो फिर बन्धन कैसे रहेगा? असत्यको सत्य मानने और उसको महत्त्व देनेके कारण ही उसको छोड़ना कठिन प्रतीत होता है। मिट्टीके लौंदेको जहाँ फेंको, वहीं चिपक जाता है। दीवारपर फेंको तो दीवारको पकड़ लेता है। परन्तु रबरकी गेंदको फेंको तो वह कहीं चिपकती नहीं। हमें रबरकी गेंद बनना है, मिट्टीका लौंदा नहीं। चिपकना ही बन्धन है और न चिपकना, निर्लेप रहना ही मुक्ति है।

जो पकड़ा है, अपना मान रखा है, उसको छोड़ दें अर्थात् अपनापन हटा लें तो मुक्ति हो जायगी। वास्तवमें संसार छूटा हुआ ही है। केवल थोड़े-से रुपये, थोड़ी-सी जमीन-जायदाद, थोड़े-से व्यक्ति पकड़े हुए हैं, बाकी सब तो छूटा हुआ है, सबसे मुक्ति है। अरबों रुपयोंसे मुक्ति है, अरबों वस्तुओंसे मुक्ति है, अरबों आदमियोंसे मुक्ति है। केवल थोड़े-से रुपये, वस्तु, व्यक्ति आदि पकड़े हुए हैं, उतना ही बन्धन है। उतना छोड़ दें तो फिर बन्धन कहाँ रहा? तात्पर्य है कि मुक्ति कठिन नहीं है, बहुत सुगम है। वस्तु-व्यक्तिके सम्बन्धसे हम सुख लेना चाहते हैं—इस सुख-लोलुपताके कारण मुक्ति कठिन मालूम देती है। वास्तवमें सुख बहुत थोड़ा है और दु:ख बहुत अधिक है—

'अनाराम' कहे सुख एक रती,
दुख मेरु प्रमाण ही पावता है॥

गीताने तो संसारको दु:खालय कहा है—'**दु:खालयम्**' (८।१५)। संसार दु:खोंका ही घर है, यहाँ सुखको ढूँढ़ना व्यर्थ है। रामायणमें भी आया है—'***एहि तन कर फल बिषय न भाई***' (मानस, उत्तर० ४४। १)। यह मनुष्यशरीर सुख लेनेके लिये है ही नहीं। जहाँ सुख लिया, वहीं फँसे! मानमें, बड़ाईमें, आराममें, नीरोगतामें, आलस्यमें, प्रमादमें, खानेमें, सोनेमें, जिसमें सुख लेंगे, उसीमें फँस जायँगे। परन्तु ये सब चीजें छूटनेवाली हैं, रहनेवाली नहीं हैं। जो चीज बिछुड़नेवाली है, उससे अपनापन हटा लें—यही मुक्ति है। यह अपनापन अपनेसे न छूट सके तो भगवान्‌को पुकारो। वे छुड़ा देंगे। व्याकुल होकर, दु:खी होकर भगवान्‌से कहो कि हे नाथ! शरीर-संसारसे मेरापन छूटता नहीं, क्या करूँ! तो भगवान्‌की कृपासे छूट जायगा।

संसारका कोई भी सुख रहता नहीं—यह सबका अनुभव है। इसका कारण यह है कि वह सुख हमारा है ही नहीं। अगर हमारा सुख होता तो वह सदा रहता। हमारा सुख तो निजानन्द है। 'पर'से होनेवाला सुख परानन्द है और 'स्व'से होनेवाला सुख निजानन्द है। परानन्द ठहरेगा नहीं और निजानन्द जायगा नहीं। निजानन्द हमारा खुदका है, इसलिये एक बार अनुभवमें आनेपर फिर कभी हमारेसे अलग नहीं होता। परानन्दकी आसक्तिके कारण ही निजानन्दका अनुभव नहीं होता।

सांसारिक सुखकी आसक्ति न छूटे तो निराश नहीं होना चाहिये, प्रत्युत व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारना चाहिये कि 'हे नाथ! हे प्रभो! यह मेरेसे छूटती नहीं, क्या करूँ? आप बचाओ तो बच सकता हूँ'—

हौं हार्‌यौ करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥
(विनय० ८९)

आप सबके प्रेरक हैं। आपकी प्रेरणासे छूट जायगी। आपके लिये तो मामूली बात है—'***काम हमारे जमत है, रमत तिहारी राम।***'' आपका तो खेल है, पर हमारी आफत मिट जायगी।'

एक मार्मिक बात है कि सांसारिक सम्बन्धको छोड़नेकी इच्छा करनेसे वह छूटता नहीं, प्रत्युत और दृढ़ होता है। कारण कि हम छोड़ना चाहते हैं तो वास्तवमें उसको सत्ता देते हैं अर्थात् उसकी सत्ता मानते हैं, तभी छोड़नेकी इच्छा करते हैं। इसलिये उससे तटस्थ हो जायँ, चुप हो जायँ अर्थात् एक परमात्मा ही हैं—ऐसा निश्चय करके कुछ भी चिन्तन न करें तो वह स्वतः छूट जायगा; क्योंकि दूसरी सत्ता है ही नहीं, सत्ता एक ही है। हम तटस्थ नहीं होते, यही बाधा है। हम संसारका विरोध करते हैं, तभी वह छूटता नहीं। वास्तवमें तो वह निरन्तर ही छूट रहा है। केवल हमारे तटस्थ, उदासीन होनेकी आवश्यकता है। अगर हम केवल दुःखी, व्याकुल हो जायँ तो भी वह छूट जायगा, चाहे परमात्माको मानें या न मानें। जो योगमार्गमें अथवा ज्ञानमार्गमें चल रहे हैं, उनके लिये तटस्थ होना बढ़िया है। जो भक्तिमार्गमें चल रहे हैं, उनको भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता असह्य हो जाय।

सांसारिक सम्बन्ध स्वतः छूट रहा है, पर हम नया-नया पकड़ते रहते हैं। बालकपना छूट गया तो जवानी पकड़ ली, जवानी छूट गयी तो बुढ़ापा पकड़ लिया, रोगीपना छूटा तो नीरोगता पकड़ ली, दरिद्रता छूटी तो धनवत्ता पकड़ ली। अगर यह पकड़ना छोड़ दें तो वह स्वतः छूट ही जायगा। हमें केवल त्यागका भाव बनाना है, त्यागी नहीं बनना है। त्यागी बननेसे त्याज्य वस्तुके साथ सम्बन्ध हो जायगा। जो मिला है, वह तो छूटेगा ही। वह बना रहे अथवा न बना रहे—यही बन्धन है, और कोई बन्धन नहीं है। आजतक सृष्टिमें किसीका भी सम्बन्ध नहीं रहा तो हमारा सम्बन्ध कैसे रहेगा? यह तो छूटेगा ही और प्रतिक्षण ही छूट रहा है। इसलिये हम ही अलग हो जायँ!

पारमार्थिक मार्गमें साधकको हिम्मत नहीं हारनी चाहिये; क्योंकि इसमें विजय निश्चित है। परमात्मासे तो कभी निराश नहीं होना चाहिये और संसारकी आशा नहीं रखनी चाहिये—'**आशा हि परमं दुःखम्**' (श्रीमद्भा० ११। ८। ४४)। परमात्मा परम दयालु हैं, सर्वसमर्थ हैं और सर्वज्ञ हैं। वे सर्वज्ञ हैं, इसलिये हमारे दुःखको जानते हैं। वे परम दयालु हैं, इसलिये हमारे दुःखको सह नहीं सकते। वे सर्वसमर्थ हैं, इसलिये हमारे दुःखको दूर कर सकते हैं। परन्तु जो सांसारिक पदार्थोंके लिये दुःखी होता है, वह कितना ही रोये, रोते-रोते मर जाय, पर भगवान् उसकी बात सुनते ही नहीं। कारण कि वह वास्तवमें दुःखके लिये ही रो रहा है! परन्तु जो संसारका त्याग करनेके लिये रोता है, भगवान्‌को पानेके लिये रोता है, उसका दुःख भगवान् सह नहीं सकते।

मनुष्य सांसारिक सुखमें फँसा है तो यह वास्तवमें केवल सुखलोलुपता है, सुखका लोभ है। सुख मिलता नहीं है। सुखकी मामूली झलक मिलती है, उसीमें वह फँसा रहता है। जैसे, गधेको सुबह थोड़ा-सा मोठ-नमक मिलाकर देते हैं। उसको खानेसे दाँत कड़कड़-कड़कड़ बोलते हैं तो वह राजी हो जाता है। फिर उससे दिनभर पत्थर ढोनेका काम लेते हैं। रात होनेपर उसको छोड़ देते हैं। रातमें वह गलियोंमें घूमता रहता है और सुबह होनेपर मोठ-चना खानेके लिये स्वतः चला आता है! इस प्रकार थोड़े-से सुखके लिये गधा पूरे दिन पत्थर ढोता है। अगर वह सुख छोड़ दे तो फिर पत्थर क्यों ढोना पड़े! इसलिये जबतक हम थोड़े-से सुखके लिये नया-नया सम्बन्ध जोड़ते रहेंगे, तबतक दुःख छूटेगा नहीं। जहरके लड्डू हम नहीं छोड़ेंगे तो जहर हमें नहीं छोड़ेगा। यह सुखासक्ति अगर हमारेसे न छूटे तो निर्बलताका अनुभव करके भगवान्‌को पुकारना चाहिये—

जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्‍यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बल राम पुकार्‍यो, आये आधे नाम॥
द्रुपद सुता निरबल भइ ता दिन, तजि आये निज धाम।
दुस्सासनकी भुजा थकित भई, बसन रूप भये स्याम॥
सुने री मैंने निरबलके बल राम॥

जबतक भगवान् सुखासक्ति न छुड़ायें, तबतक पीछे पड़े रहो। जैसे बच्चा माँका पल्ला पकड़कर पीछे पड़ जाता है कि मेरेको लड्डू दे दे तो माँ हारकर कह देती है कि जा, ले ले! ऐसे ही दु:खी होकर भगवान्‌के पीछे पड़ जाओ तो वे सुखासक्ति छुड़ा देंगे।

१७. सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण

मनुष्यके देखनेमें दो चीजें आती हैं—एक अविनाशी और दूसरा, नाशवान्! स्वरूप अविनाशी है और शरीर-संसार नाशवान् हैं। स्वरूपके विषयमें गीता और रामायणमें आया है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा मेरा ही सनातन अंश है।'

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। १)

तात्पर्य है कि हमारा सम्बन्ध शरीर-संसारके साथ नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌का अंश होनेसे हमारा सम्बन्ध भगवान्‌के साथ ही है। हमारेसे खास भूल यह हुई है कि हमने अपनेको संसारका और संसारको अपना मान लिया अर्थात् शरीर-संसारके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया।

परमात्माके अंश होनेके कारण वास्तवमें हम परमात्मासे दूर हो सकते ही नहीं और संसारके साथ मिलकर एक हो सकते ही नहीं—यह एकदम पक्की, सिद्धान्तकी बात है। परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध कभी टूट सकता ही नहीं और जड़ शरीर-संसारके साथ हमारा सम्बन्ध हो सकता ही नहीं। परन्तु जिसके साथ हमारा सम्बन्ध है, उसको तो भुला दिया और जिसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, उसको अपना मान लिया—यह हमारेसे बड़ी भारी गलती हुई है। अगर हम यह मान लें कि हम भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं तो 'संसार हमारा नहीं है'—यह अपने-आप सिद्ध हो जायगा। अगर हम यह मान लें कि हम संसारके नहीं हैं और संसार हमारा नहीं है तो 'भगवान् हमारे हैं'—यह अपने-आप सिद्ध हो जायगा। दोनोंमेंसे कोई एक बात सिद्ध कर लें।

विचार करें, क्या जड़ तथा परिवर्तनशील संसारके साथ हमारी एकता हो सकती है? अगर नहीं हो सकती तो इस बातको मानना शुरू कर दें कि संसारके साथ हमारी एकता नहीं है; इसके साथ एकता मानना गलती है। कम-से-कम यह गलती भीतरसे हमारी समझमें आ जाय तो समय पाकर सब काम ठीक हो जायगा। अगर संसारके साथ अपनी एकता मानें तो केवल नुकसान ही है, फायदा कोई नहीं है और एकता न मानें तो केवल फायदा ही है, नुकसान कोई नहीं है।

एकदम सच्ची बात है कि शरीर अपने साथ नहीं रहेगा। जो चीज अपनी नहीं है, वह अपने साथ कैसे रहेगी? भगवान् अपने हैं, वे अपनेसे दूर कैसे हो जायँगे? न तो हम भगवान्‌से दूर हो सकते हैं और न भगवान् ही हमसे दूर हो सकते हैं। शरीर, पदार्थ, रुपये, जमीन, मकान आदि सब-के-सब नाशवान् हैं। ये हमारे साथ नहीं रह सकते और हम इनके साथ नहीं रह सकते। परन्तु भगवान्‌को हम जानें, चाहे न जानें, उनसे हमारा कभी वियोग हो ही नहीं सकता—यह पक्की बात है। शरीर चाहे स्थूल हो, चाहे सूक्ष्म हो, चाहे कारण हो, वह सर्वथा प्रकृतिका है और हम अच्छे-मन्दे कैसे ही हों, सर्वथा भगवान्‌के हैं। अगर यह बात समझमें आ जाय तो हम आज ही जीवन्मुक्त हैं! कारण कि नाशवान् चीजोंको अपना मानकर ही

हम बँधे हैं। जिनको अपना माना है, उनसे ही बँधे हैं। जिनको अपना नहीं माना, उनसे नहीं बँधे हैं।

***प्रश्न*—**बात समझमें तो आती है, पर भीतरमें स्वीकृति नहीं होती, क्या करें?

***उत्तर*—**विचार करें, आप इस बातकी स्वीकृति होना ठीक समझते हैं अथवा स्वीकृति न होना ठीक समझते हैं? अगर स्वीकृति होना ठीक समझते हैं तो फिर मना कौन करता है? अगर कोई लाभकी बात हो तो उसको जबर्दस्ती मान लेना चाहिये। मान लेनेपर फिर वह बात सुगम हो जाती है। वास्तवमें आप भीतरसे चाहते नहीं हैं। हमारी समझसे इसका मूल कारण है—सुखलोलुपता। सुखलोलुपताके कारण ही सच्ची बातकी स्वीकृति नहीं हो रही है।

आप आँखें मीचकर, दाँत भींचकर, छाती कड़ी करके यह मान लो कि हम भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं। शरीर अपना नहीं है, नहीं है, नहीं है। जब शरीर भी अपना नहीं है, तो फिर संसारमें क्या चीज अपनी है?

***प्रश्न*—**सामने कोई चीज देखते हैं तो उसका असर पड़ता है; ऐसी स्थितिमें क्या करें?

***उत्तर*—**असरको इतना आदर मत दो। कोई वस्तु देखते हैं तो वह हमारेको अच्छी लगती है, प्यारी लगती है, उसको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है तो ऐसा असर पड़नेपर भी भीतरसे यह भाव होना चाहिये कि यह वस्तु हमारी नहीं है। वस्तुके असरका आदर न करके सच्ची बातका आदर करो। असरको महत्त्व देकर आप असली चीज खो रहे हो! आजसे हृदयमें पक्का विचार कर लो कि अब हम असरको नहीं मानेंगे, प्रत्युत सच्ची बातको मानेंगे। असर कभी-कभी पड़ता है, हरदम नहीं पड़ता, पर आप इसको स्थायी मान लेते हो। यह भूल है। वास्तवमें आप शरीर नहीं हो। बालकपनमें जो आपका शरीर था, वह आज नहीं है, पर आप वे-के-वे ही हो। इसलिये कृपा करके आप असरको महत्त्व मत दो। सच्ची बातका असर पड़ना चाहिये। झूठी बातका असर पड़ जाय तो उसको आदर मत दो। सच्ची बात यह है कि हम शरीर नहीं हैं, शरीर हमारा नहीं है।

मुक्ति प्राप्त करनेमें, भगवान्‌की तरफ चलनेमें स्थूल, सूक्ष्म या कारण, कोई भी शरीर काम नहीं आता। शरीर कुटुम्बके लिये, समाजके लिये और संसारके लिये काम आता है, हमारे लिये काम आता ही नहीं। इसलिये शरीरको कुटुम्ब, समाज और संसारकी सेवामें लगा दो। यह बड़ी भारी दामी बात है। इसको मान लो तो आप सदाके लिये सुखी हो जाओगे। शरीरसे हमारेको लाभ हो जायगा—यह कोरा वहम है।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण—कोई भी शरीर हमारे काम नहीं आता—इस बातको समझ लेनेसे बहुत लाभ होता है। स्थूलशरीरसे क्रिया होती है, सूक्ष्मशरीरसे चिन्तन होता है और कारणशरीरसे स्थिरता तथा समाधि होती है। क्रिया, चिन्तन, स्थिरता और समाधि आपके लिये नहीं है। इनके भरोसे मत रहना। आपके काम आनेवाली चीज है—कुछ भी चिन्तन न करना। ग्रन्थोंमें समाधिकी बड़ी महिमा आती है, पर वह भी आपके काम नहीं आयेगी। आपके काम न क्रिया आयेगी, न चिन्तन आयेगा, न स्थिरता आयेगी, न समाधि आयेगी। इसी तरह प्राणायाम, कुण्डलिनी-जागरण, एकाग्रता आदि कोई कामके नहीं हैं। ये सब प्राकृत चीजें हैं, जबकि आप परमात्माके अंश हो। ये आपकी जातिकी चीजें नहीं हैं। आप इन सबसे अलग हो। आपकी एकता परमात्माके साथ है। आप चाहे अद्वैत मानो, चाहे द्वैत मानो; चाहे ज्ञान मानो, चाहे भक्ति मानो, कम-से-कम इतनी बात तो स्वीकार कर ही लो कि शरीर हमारे कामका नहीं है, इसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है।

अगर संसारका असर पड़ जाय तो उसकी परवाह मत करो, उसको स्वीकार मत करो, फिर वह मिट जायगा। असरको महत्त्व देकर आप बड़े भारी लाभसे वंचित हो रहे हो। इसलिये असर पड़ता है तो पड़ने दो, पर मनमें समझो कि यह सच्ची बात नहीं है। झूठी चीजका असर भी झूठा ही होगा, सच्चा कैसे होगा? आपसे कोई पैसा ठगता है तो आपको

उसकी बात ठीक दीखती है, आप उससे मोहित हो जाते हो, तभी तो ठगाईमें आते हो। ऐसे ही संसारका असर पड़ना बिलकुल ठगाई है, मूर्खता है।

एक मार्मिक बात है कि असर शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिपर पड़ता है, आपपर नहीं। जिस जातिकी वस्तु है, उसी जातिपर उसका असर पड़ता है, आपपर नहीं पड़ता, क्योंकि आपकी जाति अलग है। शरीर-संसार जड़ हैं, आप चेतन हो। जड़का असर चेतनपर कैसे पड़ेगा? जड़का असर तो जड़ (शरीर)-पर ही पड़ेगा। यह सच्ची बात है। इसको अभी मान लो तो अभी काम हो गया! आँखोंके कारण देखनेका असर पड़ता है। कानोंके कारण सुननेका असर पड़ता है। तात्पर्य है कि असर सजातीय वस्तुपर पड़ता है। अतः कितना ही असर पड़े, उसको आप सच्चा मत मानो। आपके स्वरूपपर असर नहीं पड़ता। स्वरूप बिलकुल निर्लेप है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४। ३। १५)। मन-बुद्धिपर असर पड़ता है तो पड़ता रहे। मन-बुद्धि हमारे नहीं हैं। ये उसी धातुके हैं, जिस धातुकी वस्तुका असर पड़ता है।

***प्रश्न*—**फिर सुखी और दुःखी स्वयं क्यों होता है?

***उत्तर*—**मन-बुद्धिको अपना माननेसे ही स्वयं सुखी-दुःखी होता है। मन-बुद्धि अपने नहीं हैं, प्रत्युत प्रकृतिके अंश हैं। आप परमात्माके अंश हो। मन-बुद्धिपर असर पड़नेसे आप सुखी-दुःखी होते हो तो यह गलतीकी बात है। वास्तवमें आप सुखी-दुःखी नहीं होते, प्रत्युत ज्यों-के-त्यों रहते हो। विचार करें, अगर आपके ऊपर सुख-दुःखका असर पड़ जाय तो आप अपरिवर्तनशील और एकरस नहीं रहेंगे। आपपर असर पड़ता नहीं है, प्रत्युत आप अपनेपर असर मान लेते हैं। कारण कि आपने मन-बुद्धिको अपने मान रखा है, जो आपके कभी नहीं हैं, कभी नहीं हैं। मन-बुद्धि प्रकृतिके हैं और प्रकृतिका असर प्रकृतिपर ही पड़ेगा।

***प्रश्न*—**असर पड़नेपर वैसा कर्म भी हो जाय तो?

***उत्तर*—**कर्म भी हो जाय तो भी आपमें क्या फर्क पड़ा? आप विचार करके देखो तो आपपर असर नहीं पड़ा। परन्तु मुश्किल यह है कि आप उसके साथ मिल जाते हो। आप मन-बुद्धिको अपना स्वरूप मानकर ही कहते हो कि हमारेपर असर पड़ा। मन-बुद्धि आपके नहीं हैं, प्रत्युत प्रकृतिके हैं—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७) और आप मन-बुद्धिके नहीं हो, प्रत्युत परमात्माके हो—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। इसलिये असर मन-बुद्धिपर पड़ता है, आपपर नहीं। आप तो वैसे-के-वैसे ही रहते हो—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४। २४)। प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही सुख-दुःखका भोक्ता बनता है—'**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्तेप्रकृतिजान्गुणान्**' (गीता १३। २१)। मन-बुद्धिपर असर पड़ता है तो पड़ता रहे, अपनेको क्या मतलब है! असरको महत्त्व मत दो। इसको अपनेमें स्वीकार मत करो। आप 'स्व' में स्थित हैं—'**स्वस्थः**।' असर 'स्व' में पहुँचता ही नहीं। असत् वस्तु सत्‌में कैसे पहुँचेगी? और सत् वस्तु असत्‌में कैसे पहुँचेगी? सत् तो निर्लेप रहता है।

मन-बुद्धि चाहे आपके हों, चाहे एक कुत्तेके हों, उनसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। कुत्तेके मन-बुद्धिपर असर पड़ता है तो क्या आप सुखी-दुःखी होते हो? जैसे कुत्तेके मन-बुद्धि आपके नहीं हैं, ऐसे ही आपके मन-बुद्धि भी वास्तवमें आपके नहीं हैं। मन-बुद्धिको अपना मानना ही मूल गलती है। इनको अपना मानकर आप मुफ्तमें ही दुःख पाते हो!

एक मार्मिक बात है कि हमारे और परमात्माके बीचमें जड़ता (शरीर-संसार)-का परदा नहीं है, प्रत्युत जड़ताके सम्बन्धका परदा है। यह बात पढ़ाईकी पुस्तकोंमें, वेदान्तके ग्रन्थोंमें मेरेको नहीं मिली। केवल एक जगह सन्तोंसे मिली है। इसलिये शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे हमारा बिलकुल सम्बन्ध नहीं है—ऐसा स्वीकार कर लो तो आप निहाल हो जाओगे।

***प्रश्न*—**जड़ताका सम्बन्ध छोड़नेके लिये क्या अभ्यास करना पड़ेगा?

***उत्तर*—**जड़ताका सम्बन्ध अभ्याससे नहीं छूटता, प्रत्युत विवेक-विचारसे छूटता है। यह अभ्याससे होनेवाली बात है ही नहीं। विवेकका आदर करो तो आज ही यह सम्बन्ध छूट सकता है। आप दो बातोंको स्वीकार कर लें—जानना और मानना। जड़के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है—यह 'जानना' है और हमारा सम्बन्ध भगवान्‌के साथ है—यह 'मानना' है। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश-जितनी चीज भी हमारी नहीं है—यह जाननेपर जड़ताका असर नहीं पड़ेगा। इसमें अभ्यास काम नहीं करता, पर विवेकसे तत्काल काम होता है। आपपर असर नहीं पड़ता, आप वैसे-के-वैसे ही रहते हो। वास्तवमें मुक्ति स्वतः-स्वाभाविक है। मुक्ति होती नहीं है, प्रत्युत मुक्ति है। जो होती है, वह मिट जाती है और जो है, वह कभी मिटती नहीं—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'

(गीता २। १६)

'असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।'

आपने असरको सच्चा मान लिया, जो कि असत् है, झूठा है। मन-बुद्धिके साथ आपका सम्बन्ध है ही नहीं। श्रीशरणानन्दजी महाराजसे किसीने पूछा कि कुण्डलिनी क्या होती है? उन्होंने उत्तर दिया कि कुण्डलिनी क्या होती है—यह तो हम जानते नहीं, पर इतना जरूर जानते हैं कि कुण्डलिनीके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। कुण्डलिनी सोती रहे अथवा जाग जाय, हमारा उससे क्या मतलब? ऐसे ही शरीर-संसारके साथ हमारा सम्बन्ध ही नहीं है। अतः उसके असरका आदर मत करो। यह अभ्याससे नहीं होगा। अभ्यास एक नयी स्थिति पैदा करता है। जैसे, रस्सेपर चलना हो तो इसके लिये अभ्यास करना पड़ेगा। अभ्याससे कुछ लाभ नहीं होगा। अभ्याससे तत्त्वज्ञान कभी हुआ नहीं, कभी होगा नहीं, कभी हो सकता नहीं। विवेकका आदर करो तो आज ही, अभी निहाल हो जाओगे।

आप केवल इतनी बात याद कर लें कि जड़ चीजोंके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि वे प्रकृतिकी अंश हैं और हम परमात्माके अंश हैं। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली चीजोंका असर हमारेपर कैसे पड़ सकता है? आपतक वह असर पहुँचता ही नहीं। आप असंग हैं। स्थिरता और समाधि भी आपकी नहीं है, प्रत्युत कारणशरीरकी है। आप कारणशरीरसे अलग हैं। समाधिमें दो अवस्थाएँ होती हैं समाधि और व्युत्थान। आपमें दो अवस्थाएँ नहीं होतीं। आपकी सहजावस्था है, जो स्वतः-स्वाभाविक है। आपका स्वरूप सत्तामात्र है।

सार बात है कि जड़ और चेतन कभी मिलते नहीं, मिल सकते नहीं। जड़-चेतनका सम्बन्ध झूठा है। जैसे अमावस्याकी रातका सूर्यके साथ विवाह नहीं हो सकता, ऐसे ही जड़का चेतनके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

***प्रश्न*—**जड़-चेतनका सम्बन्ध झूठा है तो उसको छोड़नेमें कठिनता क्यों है?

***उत्तर*—**जड़-चेतनका सम्बन्ध झूठा होनेपर भी उसको छोड़नेमें कठिनता इसलिये होती है कि आपने जड़-चेतनके सम्बन्धको महत्त्व दे दिया। अतः आज ही अपने विवेकको महत्त्व देकर सच्चे हृदयसे इस सत्यको स्वीकार कर लें कि जड़ (शरीर-संसार)-के साथ हमारा बिलकुल सम्बन्ध नहीं है। हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है।

मनुष्यमें शरीरको लेकर भोगोंकी इच्छा (कामना) होती है, स्वरूपको लेकर तत्त्वकी इच्छा (जिज्ञासा) होती है और परमात्माको लेकर प्रेमकी इच्छा (अभिलाषा) होती है। शरीर अपना नहीं है, इसलिये भोगकी इच्छा भी अपनी नहीं है, प्रत्युत भूलसे उत्पन्न होनेवाली है। परन्तु तत्त्वकी और प्रेमकी इच्छा अपनी है, भूलसे होनेवाली नहीं है। इसलिये शरीरको निष्कामभावपूर्वक दूसरोंकी सेवामें लगानेसे अथवा तत्त्वकी जिज्ञासा तेज होनेसे भूल मिट जाती है। भूल

मिटनेसे भोगकी कामना मिट जाती है और तत्त्वकी जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है अर्थात् मनुष्यको तत्त्वज्ञान हो जाता है, जीवन्मुक्ति हो जाती है। फिर स्वरूप जिसका अंश है, उस परमात्माके प्रेमकी अभिलाषा जाग्रत् होती है। सम्पूर्ण जीव परमात्माके अंश हैं, इसलिये प्रेमकी इच्छा सम्पूर्ण जीवोंकी अन्तिम तथा सार्वभौम इच्छा है। मुक्ति तो साधन है, पर प्रेम साध्य है। जैसे समुद्रसे सूर्य-किरणोंके द्वारा जल उठता है तो उसकी यात्रा तबतक पूरी नहीं होती, जबतक वह समुद्रमें मिल नहीं जाता, ऐसे ही परमात्माका अंश जीवात्मा जबतक परम प्रेमकी प्राप्ति नहीं कर लेता, तबतक उसकी यात्रा पूरी नहीं होती। परम प्रेमका उदय होनेपर मनुष्यजीवन पूर्ण हो जाता है, फिर कुछ बाकी नहीं रहता।

१८. अभ्याससे बोध नहीं होता

हमलोगोंके भीतर एक बात जँची हुई है कि हरेक काम अभ्याससे होता है; अतः तत्त्वज्ञान भी अभ्याससे होगा। वास्तवमें तत्त्वज्ञान अभ्याससे नहीं होता। यह बड़ी मार्मिक और बड़ी उत्तम बात है। अभ्याससे एक नयी स्थिति बनती है, संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। यह बहुत मनन करनेकी बात है। यह बात आपको जँचा देना मेरे हाथकी बात नहीं है। परन्तु यह मेरी अनुभव की हुई बात है। अभ्याससे एक स्थिति बनती है, बोध नहीं होता। अभ्यासमें समय लगता है, जबकि परमात्मप्राप्ति तत्काल होनेवाली वस्तु है। जैसे, रस्सेके ऊपर चलना हो तो तत्काल नहीं चल सकते। उसके लिये अभ्यास करना ही पड़ेगा। अभ्यास किये बिना आप रस्सेपर नहीं चल सकते। परन्तु दो और दो चार होते हैं— इसमें अभ्यास होता ही नहीं। तत्त्वज्ञानमें समयकी अपेक्षा है ही नहीं। परन्तु जिसके भीतर अभ्यासके संस्कार हैं, वह इस बातको जल्दी नहीं समझ सकता।

अभ्यास और अनुभवमें बड़ा अन्तर है। अभ्याससे अनुभव नहीं होता, प्रत्युत एक नयी स्थिति बनती है। परमात्मतत्त्व स्थितिसे अतीत है। वह स्थितिसे नहीं मिलता—यह बहुत मार्मिक बात है। परन्तु जिसने ज्यादा लोगोंका सत्संग किया है, ज्यादा पुस्तकें पढ़ी हैं, उनको यह बात समझनेमें कठिनाई होती है। इस बातका मैं भुक्तभोगी हूँ! मैंने काफी पढ़ाई की है और वर्षोंतक अभ्यास किया है, इसलिये मेरेको इस बातका पता है। मैंने योगका अभ्यास किया है, वेदान्तका किया है, व्याकरणका किया है, काव्यका किया है, साहित्यका किया है, न्यायका किया है! वेदान्तमें आचार्यतककी परीक्षाएँ दी हैं। यद्यपि मैं अपनेको विशेष विद्वान् नहीं मानता, तथापि विद्याका अभ्यास मेरा किया हुआ है। इसलिये मेरे-जैसे व्यक्तिका जल्दी कल्याण नहीं हुआ! जिसके भीतर यह बात जँची हुई है कि अभ्याससे कल्याण होता है, उसका जल्दी कल्याण नहीं होगा।

कल्याणके लिये तीन बातें मुख्य हैं—मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है। इसमें अभ्यास क्या करेंगे? अभ्यास करेंगे तो वर्ष बीत जायँगे, बोध नहीं होगा। अभ्यास न करें तो अभी इसी क्षण बोध हो सकता है, चाहे अन्तःकरण कैसा ही क्यों न हो! आप मानें अथवा न मानें, मेरा कोई आग्रह नहीं है। परन्तु यह मेरी देखी हुई, समझी हुई बात है कि अभ्याससे तत्त्वज्ञान नहीं होता। अभ्याससे आप विद्वान् बन जाओगे, पर तत्त्वज्ञान नहीं होगा। कितना ही अभ्यास करो, पर 'मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है और शरीर मेरे लिये है'—ये तीन बातें भीतरसे निकलती नहीं हैं। स्वरूपका बोध अभ्याससे सिद्ध होनेवाली चीज है ही नहीं। अभ्याससे नयी

स्थिति बनती है, जबकि तत्त्व स्थितिसे अतीत है। स्थितिमें तत्त्व नहीं होता और तत्त्वमें स्थिति नहीं होती। उसको सहजावस्था कहते हैं, पर वास्तवमें वह अवस्था नहीं है। तत्त्व अवस्थासे अतीत है। अवस्थासे अतीत तत्त्व अभ्याससे नहीं मिलता, प्रत्युत तत्काल मिलता है। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही जाननेमें अभ्यास नहीं है। अभ्यासमें मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका सहारा लेना पड़ेगा। तत्त्वबोधमें मन-बुद्धि-इन्द्रियोंकी जरूरत है ही नहीं। तत्त्वबोध वृक्षके फलकी तरह नहीं है, जिसमें समय लगता है। समय स्थिति बननेमें लगता है। जब अन्तःकरण शुद्ध होगा, मल-विक्षेप-आवरण दोष दूर होंगे, तब बोध होगा—यह प्रक्रिया मेरी की हुई है। वास्तवमें तत्त्वबोधके लिये अन्तःकरण-शुद्धिकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेदकी जरूरत है। केवल तत्त्वप्राप्तिकी चाहना जोरदार बढ़ जायगी तो चट प्राप्ति हो जायगी।

अपने भीतर अभ्यासके संस्कार पड़े हुए हैं, इसलिये प्रत्येक व्यक्तिके भीतरसे यह प्रश्न उठता है कि अब क्या करें? आपने कहा, हमने सुन लिया, अब क्या करें? 'क्या करें?'—यह बाकी रहेगा। अगर तत्काल प्राप्ति चाहते हो तो 'मैं शरीर नहीं हूँ'—यह बात मान लो। एक आदमीने दूसरेसे कहा कि दो और दो कितने होते हैं—इसका सही उत्तर दोगे तो मैं तुम्हें सौ रुपये दूँगा। दूसरेने कहा—चार होते हैं। पहला आदमी बोला कि नहीं होते! वह बार-बार कहे कि दो और दो चार होते हैं, पर पहला आदमी बार-बार यही कहे कि नहीं होते! अब उसको कोई कैसे समझाये? वह समझना ही नहीं चाहता।

आपको इतनी ही बात समझनी है कि मैं शरीर नहीं हूँ। आप 'घड़ी मेरी है'—यह तो कहते हैं, पर 'मैं घड़ी हूँ'—यह नहीं कहते। परन्तु शरीरके विषयमें आप 'शरीर मेरा है'—यह भी कहते हैं और 'मैं शरीर हूँ'—यह भी कहते हैं। 'मैं शरीर हूँ'—यह शरीरके साथ अभेदभावका सम्बन्ध है और 'शरीर मेरा है'—यह शरीरके साथ भेदभावका सम्बन्ध है। आपको कोई एक बात कहनी चाहिये, चाहे अभेदभावका सम्बन्ध कहो, चाहे भेदभावका सम्बन्ध कहो। एक ही शरीरको 'मैं' भी कहना और 'मेरा' भी कहना गलती है।

प्राणी चौरासी लाख योनियोंमें जाता है तो एक शरीरको छोड़ता है, तभी दूसरे शरीरमें जाता है। जब चौरासी लाख योनियोंके शरीर हमारे साथ नहीं रहे तो फिर यह शरीर हमारे साथ कैसे रहेगा? वे शरीर हमारे नहीं हुए तो यह शरीर हमारा कैसे हो जायगा? शरीर तो छूटेगा ही। अतः सीधी-सरल बात है कि शरीर मैं नहीं हूँ। इसमें अभ्यासका काम नहीं है।

जबतक अहंभाव (मैंपन) रहेगा, तबतक बोध नहीं होगा। अहम् मिटनेपर ही ब्राह्मी स्थिति होती है—

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।

(गीता २।७१-७२)

अहंकार अपरा प्रकृति है और स्वयं परा प्रकृति है। परा प्रकृतिका सम्बन्ध परमात्माके साथ है, अपराके साथ नहीं। अहंकारको पकड़नेसे बोध कैसे होगा? बहुत वर्ष पहलेकी बात है। एक बार मैंने कहा कि '**अहं ब्रह्मास्मि**' (मैं ब्रह्म हूँ) कहना ठीक नहीं है; '**अहं ब्रह्मास्ति**' (मैं ब्रह्म है)—ऐसा कहना चाहिये! व्याकरणकी दृष्टिसे ऐसा कहना अशुद्ध है; क्योंकि '**अहम्**' के साथ '**अस्मि**' ही लगेगा, '**अस्ति**' नहीं। परन्तु मेरे कहनेका तात्पर्य था कि '**अहम्**' साथमें रहेगा तो बोध नहीं होगा। '**अहं नास्मि, ब्रह्म अस्ति**' (मैं नहीं हूँ, ब्रह्म है)—ऐसा विभाग कर लो तो समझमें आ जायगा। '**अस्मि**' रहेगा तो अहंकार साथमें रहेगा ही। यह अहंकार अभ्याससे कभी छूटेगा नहीं, चाहे बीसों वर्ष अभ्यास कर लो। यह मार्मिक बात है।

यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु मिलती है और

बिछुड़ती है, वह अपनी नहीं होती। शरीर मिला है और बिछुड़ जायगा, फिर वह अपना कैसे हुआ? परमात्मा मिलने तथा बिछुड़नेवाले नहीं हैं। वे सदासे ही मिले हुए हैं और कभी बिछुड़ते ही नहीं। उनका अनुभव नहीं होनेका दुःख नहीं है, इसीलिये देरी लग रही है। उनकी असली चाहना नहीं है। असली चाहना होगी तो तत्काल प्राप्ति हो जायगी। परमात्मप्राप्ति शरीरादि जड़ पदार्थोंके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत इनके त्यागसे होती है। मन-बुद्धिकी सहायतासे बोध नहीं होता, प्रत्युत इनके त्यागसे बोध होता है।

योगदर्शनमें अभ्यासका लक्षण बताया है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (१।१३)

'किसी एक विषयमें स्थिति प्राप्त करनेके लिये बार-बार प्रयत्न करनेका नाम अभ्यास है।'

तत्त्वबोध किसी स्थितिका नाम नहीं है। जहाँ स्थिति होगी, वहाँ गति भी होगी—यह नियम है। तत्त्व स्थिति और गति—दोनोंसे अतीत है। तत्त्वमें न स्थिति है, न गति है; न स्थिरता है, न चंचलता है। जैसे भूख और प्यासके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता, ऐसे ही तत्त्वकी जिज्ञासाके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता। हमारी आदत अभ्यास करनेकी पड़ी हुई है, इसलिये अभ्यासकी बात ही हमें जँचती है।

अभ्यासका मैं खण्डन नहीं करता हूँ। अभ्यास करते-करते और नयी स्थिति होते-होते तत्त्वकी जिज्ञासा होकर उसकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु यह बहुत लम्बा रास्ता है। कितने जन्म लगेंगे, इसका पता नहीं। अन्तमें भी जब अभ्यास छूटेगा अर्थात् जड़ता (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि)-से हमारा सम्बन्ध छूटेगा, तब तत्त्वप्राप्ति होगी। तत्त्वप्राप्ति जड़ताके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होती है—यह सिद्धान्त है। जड़ताकी सहायताके बिना अभ्यास हो ही नहीं सकता। अभ्यास शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे ही होता है। अतः अभ्यासके द्वारा जड़ताका त्याग नहीं हो सकता। जिसकी सहायतासे अभ्यास करेंगे, उसका त्याग अभ्याससे कैसे होगा? परन्तु अभ्यासकी बात हरेक आदमीके भीतर जड़से बैठी हुई है, इसलिये बोध होनेमें कठिनता हो रही है। बोध होनेमें अभ्यासको हेतु माननेके कारण जल्दी बोध नहीं हो रहा है।

यद्यपि भगवन्नामका जप, कीर्तन, प्रार्थना भी अभ्यासके अन्तर्गत आते हैं, तथापि ये अभ्याससे तेज हैं। कारण कि अभ्यासमें अपना सहारा रहता है, पर जप, प्रार्थना आदिमें भगवान्‌का सहारा रहता है। 'हे नाथ! हे मेरे नाथ!' यह पुकार अभ्याससे तेज है। अभ्यासमें अपने उद्योगसे काम होता है, पर पुकारमें भगवान्‌की कृपासे काम होता है। आप अभी अभ्यासके राज्यमें ही बैठे हुए हैं, आपके संस्कार अभ्यासके हैं, इसलिये आप नामजप, कीर्तन, प्रार्थनामें लग जाओ तो आपको बहुत लाभ होगा।

१९. नित्यप्राप्तकी प्राप्ति

भगवान्‌ने जीवको अपना कल्याण करनेके लिये ही मनुष्यशरीर दिया है। इस दृष्टिसे मनुष्ययोनि वास्तवमें साधनयोनि है। साधनयोनि होनेके नाते मनुष्य मात्र अपना कल्याण कर सकता है, जन्म-मरणसे मुक्त हो सकता है। क्यों हो सकता है? क्योंकि वास्तवमें वह मुक्त है। इसलिये साधकको सर्वप्रथम इस सत्यको दृढ़तासे स्वीकार करना चाहिये कि मैं मुक्त हो सकता हूँ। क्यों हो सकता हूँ? क्योंकि मैं मुक्त हूँ। मैं परमात्माको प्राप्त कर सकता हूँ। क्यों कर सकता हूँ? क्योंकि परमात्मा प्राप्त हैं। जो सब देशमें हैं, सब कालमें हैं, सब समय हैं, सब व्यक्तियोंमें हैं, सब वस्तुओंमें हैं, सब अवस्थाओंमें हैं, सब घटनाओंमें हैं, सब परिस्थितियोंमें हैं, वे परमात्मा क्या हमसे कभी अलग हो सकते हैं? जैसे परमात्मा

हमसे कभी अलग नहीं होते, ऐसे ही शरीरके साथ हमारा कभी मिलन नहीं होता। आजतक हम अनेक योनियोंमें गये, अनेक शरीर धारण किये, पर कोई भी शरीर हमारे साथ नहीं रहा, जबकि हम स्वयं वे-के-वे ही रहे। अतः साधकको यह सत्य स्वीकार कर लेना चाहिये कि परमात्माके साथ हमारा अविभाज्य सम्बन्ध है और संसारके साथ शरीरका अविभाज्य सम्बन्ध है। इसलिये हम शरीरके द्वारा अपने लिये कुछ नहीं कर सकते। शरीरसे कोई भी क्रिया करेंगे तो वह संसारके लिये ही होगी, अपने लिये नहीं। क्रियामात्रका सम्बन्ध संसारके साथ है। हमारा स्वरूप अक्रिय है। अगर हम कोई भी क्रिया न करना चाहें तो शरीरकी क्या जरूरत है?

अब साधकको विचार करना है कि जब शरीरके द्वारा हम अपने लिये कुछ कर ही नहीं सकते, केवल संसारके लिये ही कर सकते हैं, तो फिर अपने लिये क्या कर सकते हैं? कैसे कर सकते हैं? विचार करनेपर पता लगता है कि हम अपने लिये अपने द्वारा निष्काम हो सकते हैं। क्यों हो सकते हैं? क्योंकि हम निष्काम हैं। हम अपने लिये निर्मम (ममतारहित) हो सकते हैं। क्यों हो सकते हैं? क्योंकि हम निर्मम हैं। हम अपने लिये निरहंकार हो सकते हैं। क्यों हो सकते हैं? क्योंकि हम निरहंकार हैं। गीतामें भगवान् भी हमें निष्काम, निर्मम और निरहंकार होनेके लिये कहते हैं*। क्यों कहते हैं? क्योंकि हम निष्काम, निर्मम और निरहंकार हैं।

हम अपने द्वारा भगवान्‌को अपना मान सकते हैं। क्यों मान सकते हैं? क्योंकि भगवान् अपने हैं। दूसरा कोई अपना है ही नहीं, हो सकता ही नहीं। हम अपने द्वारा संसारसे अलग हो सकते हैं। क्यों हो सकते हैं? क्योंकि हम संसारसे अलग हैं—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदारण्यक० ४। ३। १५)। तात्पर्य यह निकला कि हम अपने लिये निष्काम, निर्मम, निरहंकार हो सकते हैं और अभी हो सकते हैं। ऐसा होनेके लिये शरीरकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत अपने ही द्वारा हो सकते हैं। परिश्रम और पराश्रयका त्याग करके हम अपने ही द्वारा विश्राम और भगवदाश्रय पा सकते हैं। इसमें हम पराधीन नहीं हैं, प्रत्युत सर्वथा स्वाधीन हैं।

शरीरके साथ हमारा सम्बन्ध कभी था नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता ही नहीं। अतः शरीरके द्वारा हम भोजन तो कर सकते हैं, पर भजन नहीं कर सकते। सेवा भी हम शरीरके द्वारा नहीं कर सकते, प्रत्युत शरीरसे अलग होकर कर सकते हैं। कैसे कर सकते हैं? अपने द्वारा बुराईरहित होकर कर सकते हैं। क्यों कर सकते हैं? क्योंकि हम बुराईरहित हैं—***'चेतन अमल सहज सुख रासी॥'*** (मानस, उत्तर० ११७। २)। भजन भी हम अपने ही द्वारा कर सकते हैं। कैसे कर सकते हैं? भगवान्‌में प्रेम करके कर सकते हैं। क्यों कर सकते हैं? क्योंकि हम भगवान्‌के प्रेमी हैं। शरीरके द्वारा हम सेवा और प्रेमकी चर्चा तो कर सकते हैं, पर सेवा और प्रेम नहीं कर सकते।

संसारसे मिले हुए शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके द्वारा हम संसारको ही प्राप्त कर सकते हैं, परमात्माको नहीं। परमात्माको न शरीरके द्वारा पकड़ा जा सकता है, न मनके द्वारा पकड़ा जा सकता है, न इन्द्रियोंके द्वारा पकड़ा जा सकता है और न बुद्धिके द्वारा पकड़ा जा सकता है। यदि इनके द्वारा परमात्मा पकड़ा जा सकता तो फिर मशीनके द्वारा भी परमात्मा पकड़ा जा सकता! इसलिये यदि साधक परमात्माको प्राप्त करना चाहता है तो उसको शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके आश्रयका त्याग करना पड़ेगा, क्रियाके आश्रयका त्याग करना

* विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (गीता २। ७१)

पड़ेगा। परमात्मा इन शरीरादि जड़ वस्तुओंके द्वारा नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत इनके त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद)-से प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्माको पानेके लिये, उनका प्रेमी बननेके लिये हमें न तो शरीरकी आवश्यकता है, न इन्द्रियोंकी आवश्यकता है, न मनकी आवश्यकता है और न बुद्धिकी ही आवश्यकता है। शरीरके द्वारा मिलनेवाली वस्तु सबको नहीं मिल सकती, पर अपने द्वारा मिलनेवाली वस्तु (परमात्मा) सभीको मिल सकती है। जो किसीको मिले, किसीको न मिले, उसका नाम परमात्मा नहीं है। परमात्मा तो वह है, जो सभीको मिल सकता है। क्यों मिल सकता है? क्योंकि वह मिला हुआ ही है। जब परमात्माके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं तो फिर परमात्मा अप्राप्त कैसे?

हे जग के करतार तेरी कहा अस्तुति कीजै।
तू ही एक अनेक भयो है, अपनी इच्छा धार॥
तू ही सिरजै तू ही पालै, तू ही करै सँहार।
जित देखूँ तित तू-ही-तू है, तेरा रूप अपार॥
तू ही राम, नारायण तू ही, तू ही कृष्ण मुरार।
साधौं की रक्षाके कारण, युग युग ले औतार॥
तू ही आदि अरु मध्य तुही है, अन्त तेरा उजियार।
दानव देव तुही सूँ प्रकटे, तीन लोक विस्तार॥
जल थलमें व्यापक है तू ही, घट-घट बोलनहार।
तो बिन और कौन है ऐसो, जासों करों पुकार॥
तू ही चतुर शिरोमणि है प्रभु, तू ही पतित उधार।
चरणदास शुकदेव तुही है, जीवन प्राण अधार॥

---

२०. कामना, जिज्ञासा और लालसा

मनुष्यके भीतर जो इच्छा रहती है, उसके तीन भेद हैं—कामना, जिज्ञासा और लालसा। सांसारिक भोग और संग्रहकी 'कामना' होती है, स्वरूप (निर्गुण तत्त्व)-की 'जिज्ञासा' होती है और भगवान् (सगुण तत्त्व)-की 'लालसा' होती है।

संसारकी जो कामना है, वह भूलसे पैदा हुई है। कारण कि हमारेमें एक तो परमात्माका अंश है और एक प्रकृतिका अंश है। परमात्माका अंश जीवात्मा है—'**ममैवांशो जीवलोके**' और प्रकृतिका अंश शरीर है—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**' (गीता १५। ७)। मैं क्या हूँ? —इस प्रकार स्वरूप (जीवात्मा)-को जाननेकी इच्छा 'जिज्ञासा' है और भगवान् कैसे मिलें? उनमें प्रेम कैसे हो?—इस प्रकार भगवान्‌को पानेकी इच्छा 'लालसा' है। जिज्ञासा और लालसा—ये दोनों इच्छाएँ अपनी हैं, पर कामना अपनी नहीं है। कारण कि जिज्ञासा और लालसा सत्-तत्त्वकी होती है, पर कामना असत्‌की होती है।

कामनाएँ शरीरको लेकर होती हैं। बहुत-से भाई-बहन शरीरको मुख्य मानते हैं। पर वास्तवमें शरीर मुख्य नहीं है, प्रत्युत जो शरीरमें अपना रहना मानता है, वह शरीरी मुख्य है। शरीर तो कपड़ेकी तरह है। जैसे मनुष्य पुराने कपड़ोंको छोड़कर नये कपड़े पहन लेता है, ऐसे ही वह (शरीरी) पुराने शरीरोंको छोड़कर नये शरीर धारण कर लेता है*। शरीर हरदम बदलता है। इसलिये शरीरको लेकर जो कामनाएँ होती हैं, वे अपनी नहीं हैं।

शरीर-संसारकी इच्छाके कई नाम हैं; जैसे—कामना, आशा, वासना, तृष्णा आदि। अमुक वस्तु मिल जाय, धन मिल जाय, भोग मिल जाय, कुटुम्ब मिल जाय, घर मिल जाय—ये सब इच्छाएँ सच्ची नहीं हैं। ये इच्छाएँ सभी योनियोंमें होती हैं। मनुष्यकी इच्छाएँ और होती हैं, कुत्तेकी इच्छाएँ और होती हैं, सिंहकी इच्छाएँ और होती हैं। ऐसे ही गाय-भैंस, भेड़-बकरी, गधा, ऊँट आदिकी अलग-अलग इच्छाएँ होती हैं। तात्पर्य है कि शरीर भी बदलते रहते हैं और इच्छाएँ भी बदलती रहती हैं। वृक्षोंको खाद तथा पानीकी इच्छा होती है। ये मिलें तो वृक्ष हरे हो जाते हैं। ये न मिलें तो वे सूख जाते हैं। परन्तु जिज्ञासा और लालसा—ये दो इच्छाएँ केवल मनुष्यशरीरमें ही होती हैं, अन्य शरीरोंमें नहीं होतीं। कारण कि अन्य शरीर भोगयोनियाँ हैं। उनमें केवल भोगनेकी इच्छा है।

जिज्ञासा और लालसा असुरों-राक्षसोंमें नहीं होती, भूत-प्रेत-पिशाचमें नहीं होती। यह देवताओंमें हो सकती है, पर उनमें भी भोग भोगनेकी इच्छा मुख्य रहती है। जैसे—मनुष्यलोकमें ज्यादा धनी लोगोंमें भोग भोगनेकी और धनका संग्रह करनेकी इच्छा मुख्य रहती है तो वे भगवान्‌में नहीं लगते। कलकत्तेके एक धनी आदमीसे मैंने पूछा कि तुम्हारे पास इतने रुपये हैं कि कई पीढ़ियोंतक जीवन-निर्वाह हो जाय, फिर और रुपये कमाकर क्या करोगे? उसने बड़ी सज्जनतासे उत्तर दिया कि 'स्वामीजी! इसका उत्तर हमारे पास नहीं है।' केवल एक ही धुन है—धन कमाओ, धन कमाओ। उस धनका करेंगे क्या—इस तरफ खयाल नहीं है। पूरा धन भोग तो सकते नहीं; अतः छोड़कर मरना पड़ेगा।

केवल भोगोंकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य कहलानेयोग्य नहीं हैं। मनुष्य कहलानेयोग्य वही हैं, जिनमें अपने स्वरूपकी जिज्ञासा और परमात्माकी लालसा है। अपने स्वरूपको जाननेकी और परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छा मनुष्यमें ही हो सकती है। यह सामर्थ्य मनुष्यमें ही है। परन्तु इसको छोड़कर जो भोग और संग्रहमें लगे हुए हैं, उनमें मनुष्यपना नहीं है, प्रत्युत

* वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(गीता २। २२)

पशुपना है। भागवतमें इसको पशुबुद्धि कहा गया है—'**पशुबुद्धिमिमां जहि**' (१२। ५। २)। मैं कौन हूँ? मेरा मालिक कौन है?—यह जाननेकी इच्छा मनुष्यबुद्धि है।

इस दुनियामें एक अँधेरा,
सबकी आँख में जो छाया।
जिसके कारण सूझ पड़े नहीं,
कौन हूँ मैं कहाँ से आया॥
कौन दिशाको जाना मुझको,
किसको देख मैं ललचाया।
कौन है मालिक इस दुनिया का,
किसने रची है यह माया॥

—यह जिज्ञासा मनुष्यमें ही हो सकती है। पशुओंमें गाय बड़ी पवित्र है। मल और मूत्र किसीका भी पवित्र नहीं होता, पर गायका गोबर और गोमूत्र भी पवित्र होता है! पवित्रताके लिये गोमूत्र छिड़का जाता है, गोबरका चौका लगाया जाता है। ऐसी पवित्र होनेपर भी गायमें यह जाननेकी शक्ति नहीं है कि मेरा स्वरूप क्या है? परमात्मा क्या है? इसको मनुष्य ही जान सकता है। मनुष्यजन्मके सिवाय और कोई जाननेकी जगह नहीं है। यह मौका मनुष्यजन्ममें ही है। इस जन्ममें ही हम अपने-आपको जान सकते हैं, भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं, भगवान्‌में प्रेम कर सकते हैं। अगर मनुष्यशरीरमें आकर यह काम नहीं किया तो मनुष्यशरीर निरर्थक गया!

कामनाएँ सदा बदलती रहती हैं, पर जिज्ञासा और लालसा सदा एक ही रहती है, कभी बदलती नहीं। कारण कि ये दोनों खुदकी हैं। खुद कभी बदलता नहीं, शरीर बदलता रहता है। ऐसे ही इच्छाएँ बदलती हैं, भाव बदलते हैं, रहन-सहन बदलता है। जो बदलता है, वह हमारा स्वरूप नहीं है। इसलिये शुकदेवजीने राजा परीक्षित्‌को कहा—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
(श्रीमद्भा० १२। ५। २)

'राजन्! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मरूँगा।'

अगर स्वयं मर जाय तो दूसरी योनिमें कौन जायगा? स्वर्ग-नरकमें कौन जायगा? चौरासी लाख योनियाँ कौन भोगेगा? परन्तु स्वयं कभी मरता नहीं; क्योंकि वह परमात्माका अंश है।

राम मरे तो मैं मरूँ, नहिं तो मरे बलाय।
अविनाशीका बालका, मरे न मारा जाय॥

जब रामजी नहीं मरते तो फिर हम अकेले क्यों मरें? हम रामजीके अंश हैं। हमारा विनाश कभी होता ही नहीं। हम कैसे हैं—यह तो हम नहीं जानते, पर हम अनेक योनियोंमें गये, कभी जलचर बने, कभी नभचर बने, कभी थलचर बने, कभी अण्डज, जरायुज, स्वेदज अथवा उद्भिज्ज बने तो शरीर बदल गये, पर हम नहीं बदले। वे शरीर तो नहीं रहे, पर हम रहे। अत: हमारा स्वरूप हरदम रहनेवाली सत्ता है, जिसका कभी विनाश नहीं होता। यह सत्ता परमात्माका अंश है।

समुद्रसे जल उठता है तो बादल बनता है। बादल बनकर वह बरसता है। जानकार लोग बता देते हैं कि अमुक जगहसे बादल उठा है तो वह अमुक जगह बरसेगा। वर्षाका जल नालेमें जाता है, नाला नदीमें जाता है। नदी समुद्रमें जाती है। तात्पर्य है कि समुद्रसे उठनेके बाद जल कहीं भी ठहरता नहीं, चलता ही रहता है। अन्तमें जब वह समुद्रमें मिल जाता है, तब उसको शान्ति मिलती है। ऐसे ही परमात्माका अंश जबतक परमात्माको प्राप्त नहीं हो जाता, तबतक इसकी मुसाफिरी चलती रहती है। परमात्मासे मिलनेपर ही इसको शान्ति मिलती है। जैसे, शरीर पृथ्वीका अंश है। जबतक यह पृथ्वीमें नहीं मिल जाता, तबतक यह चलता-फिरता रहता है। अन्तमें मरकर यह मिट्टीमें मिल जाता है। यह पृथ्वीमें ही पैदा होता है, पृथ्वीमें ही रहता है और पृथ्वीमें ही लीन हो जाता है। यह पृथ्वीको छोड़कर कहीं नहीं जा सकता। इसी तरह इस जीवको जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक इसकी यात्रा चलती ही रहेगी। यह जन्मता-मरता ही रहेगा, दु:ख पाता ही रहेगा—'**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि**

जननीजठरे शयनम्।' इसको कहीं शान्ति नहीं मिलेगी। इसलिये मनुष्यको अपनी जो असली जिज्ञासा और लालसा है, उसको जाग्रत् करना चाहिये।

मनुष्यशरीरमें आकर भोग और संग्रहमें लग गये तो लाभ कुछ भी नहीं हुआ, वहीं-के-वहीं रहे। कोल्हूका बैल उम्रभर चलता है, पर वहीं-का-वहीं रहता है। ऐसे ही बार-बार जन्म लेते रहे और मरते रहे तो वहीं-के-वहीं रहे, कुछ फायदा नहीं हुआ। फायदा तभी होगा, जब हमारा भटकना मिट जायगा। इसलिये विचार करना चाहिये कि हम किसके अंश हैं? हम जिसके अंश हैं, उसको प्राप्त करनेपर ही हमारा भटकना मिटेगा।

मनुष्यशरीर मिल गया तो परमात्मप्राप्तिका, अपना कल्याण करनेका अधिकार मिल गया। कल्याणकी प्राप्तिमें केवल जिज्ञासा या लालसा मुख्य है। अपनी जिज्ञासा अथवा लालसा होगी तो कल्याणकी सब सामग्री मिल जायगी। सत्संग भी मिल जायगा, गुरु भी मिल जायगा, अच्छे सन्त-महात्मा भी मिल जायँगे, अच्छे ग्रन्थ भी मिल जायँगे। कहाँ मिलेंगे, कैसे मिलेंगे—इसका पता नहीं, पर सच्ची जिज्ञासा या लालसा होगी तो जरूर मिलेंगे। आप कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग, जिस योगमार्गपर चलना चाहते हैं, उस मार्गकी सामग्री देनेके लिये भगवान् तैयार हैं। परन्तु आप चलना ही नहीं चाहें तो भगवान् क्या करें? आपके ऊपर कोई टैक्स नहीं, कोई जिम्मेवारी नहीं, केवल आपकी लालसा होनी चाहिये।

कल्याणकी सच्ची लालसावाला साधक बिना कल्याण हुए कहीं टिक नहीं सकेगा। गुरु मिल गया, पर कल्याण नहीं हुआ तो वहाँ नहीं टिकेगा। साधु बनेगा तो वहाँ नहीं टिकेगा। गृहस्थ बनेगा तो वहाँ नहीं टिकेगा। किसी सम्प्रदायमें गया तो वहाँ नहीं टिकेगा। भूखे आदमीको जबतक अन्न नहीं मिलेगा, तबतक वह कैसे टिकेगा? जिसमें कल्याणकी अभिलाषा है, वह कहीं भी ठहरेगा नहीं। ठहरना उसके हाथकी बात नहीं है। जहाँ उसकी लालसा पूरी होगी, वहीं ठहरेगा।

सत्संग बड़े भाग्यसे मिलता है—***'बड़े भाग पाइब सतसंगा'*** (मानस, उत्तर० ३३।४)। परन्तु जिस ग्रन्थमें भाग्यकी बात लिखी है, उसी ग्रन्थमें यह भी लिखा है—***'जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥'*** (मानस, बाल० २५९।३)। सच्ची लालसावालेको सच्चा सत्संग अवश्य मिलेगा। जिसके भीतर कल्याणकी सच्ची लालसा है, उसको कल्याणका मौका मिलेगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसमें भाग्यका काम है ही नहीं।

सांसारिक धनकी प्राप्तिके लिये तीन बातोंका होना जरूरी है—धनकी इच्छा हो, उसके लिये उद्योग किया जाय और भाग्य साथ दे। परन्तु परमात्मा इच्छामात्रसे मिलते हैं। कारण कि मनुष्यशरीर मिला ही परमात्माकी प्राप्तिके लिये है। अगर परमात्मा नहीं मिले तो मनुष्यजन्म सार्थक ही क्या हुआ? इसलिये सांसारिक कामनाओंका त्याग करके केवल स्वरूपकी जिज्ञासा अथवा परमात्माकी लालसा जाग्रत् करो। इसीमें मनुष्यजन्मकी सार्थकता है।

जबतक कामना (भोग और संग्रहकी इच्छा) रहती है, तबतक जीव संसारी रहता है। कामना मिटनेपर जब जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है, तब जीवकी अपने अव्यक्त स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। फिर वह स्वरूप जिसका अंश है, उसके प्रेमकी लालसा जाग्रत् होती है। स्वयं अव्यक्त होते हुए भी ज्ञानमें केवल अद्वैत रहता है और भक्तिमें कभी द्वैत होता है, कभी अद्वैत होता है। भक्तिमें भक्त अपनी तरफ देखता है तो द्वैत होता है और भगवान्‌की तरफ देखता है तो अद्वैत होता है अर्थात् अपनी तरफ देखनेसे 'मैं भगवान्‌का हूँ तथा भगवान् मेरे हैं'—यह अनुभव होता है और भगवान्‌की तरफ देखनेसे 'सब कुछ केवल भगवान् ही हैं'—यह अनुभव होता है। इस प्रकार द्वैत और अद्वैत—दोनों होनेसे प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है।

२१. मानवशरीरका सदुपयोग

मानवशरीरकी जो महिमा है, वह आकृतिको लेकर नहीं है, प्रत्युत विवेकको लेकर ही है। सत् और असत्, जड़ और चेतन, सार और असार, कर्तव्य और अकर्तव्य—ऐसी जो दो-दो चीजें हैं, उनको अलग-अलग समझनेका नाम 'विवेक' है। यह विवेक परमात्माका दिया हुआ और अनादि है। इसलिये यह पैदा नहीं होता, प्रत्युत जाग्रत् होता है। सत्संगसे यह विवेक जाग्रत् और पुष्ट होता है। सत्संगमें भी खूब ध्यान देनेसे, गहरा विचार करनेसे ही विवेक जाग्रत् होता है, साधारण ध्यान देनेसे नहीं होता। आजकल प्रायः यह देखनेमें आता है कि सत्संग करनेवाले, सत्संग करानेवाले, व्याख्यान देनेवाले भी गहरी पारमार्थिक बातोंको समझते नहीं। वे जड़-चेतनके विभागको ठीक तरहसे जानते ही नहीं। थोड़ी जानकारी होनेपर व्याख्यान देने लग जाते हैं। जिनका विवेक जाग्रत् हो जाता है, उनमें बहुत विलक्षणता, अलौकिकता आ जाती है।

साधकको सबसे पहले शरीर (जड़) और शरीरी (चेतन)-का विभाग समझना चाहिये। शरीर और अशरीरीसे आरम्भ करके संसार और परमात्मातक विवेक होना चाहिये। शरीर और शरीरीका विवेक मनुष्यके सिवाय और जगह नहीं है। देवताओंमें विवेक तो है, पर भोगोंमें लिप्त होनेके कारण वह विवेक काम नहीं करता।

शरीर और शरीरीके विभागको जाननेवाले मनुष्य बहुत कम हैं। इसलिये सत्संगके द्वारा इस विभागको जाननेकी खास जरूरत है। शरीर जड़ है और स्वयं (आत्मा) चेतन है। स्वयं परमात्माका अंश है और शरीर प्रकृतिका अंश है। चेतन अलग है और जड़ अलग है। मुक्ति चेतनकी होगी, जड़की नहीं; क्योंकि बन्धन चेतनने स्वीकार किया है। जड़ तो हरदम बदल रहा है और नाशकी तरफ जा रहा है। हमारी जितनी उम्र बीत गयी है, उतने दिन तो हम मर ही गये हैं। 'मरना' शब्द भले ही खराब लगे, पर बात सच्ची है। जन्मके समय जीनेके जितने दिन बाकी थे, उतने दिन अब बाकी नहीं रहे। जितने दिन बीत गये, उतने दिन तो मर गये, अब कितने दिन बाकी हैं, इसका पता नहीं है। जीवनका जो समय चला गया, नष्ट हो गया, वह जड़-विभागमें हुआ है, चेतन-विभागमें नहीं। चेतन-विभागमें मृत्यु नहीं है। उसकी कोई उम्र नहीं है। वह अमर है। शरीर मरता है, आत्मा नहीं मरता। इस प्रकार आरम्भसे ही जड़-चेतनके विभागको समझ लेना चाहिये। जो चेतन-विभाग है, वह परमात्माका है और जो जड़-विभाग है, वह प्रकृतिका है। गीतामें आया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। (१३। १९)

प्रकृति और पुरुष—दोनों अनादि तो हैं, पर दोनोंमें पुरुष (चेतन) अनादि तथा अनन्त है, और प्रकृति अनादि तथा सान्त है। कई विद्वान् प्रकृतिको भी अनन्त मानते हैं, पर यह दार्शनिक मतभेद है। यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि जो अपनेको भी नहीं जानता और दूसरेको भी नहीं जानता, उसका नाम 'जड़' है। जो अपनेको भी जानता है और दूसरेको भी जानता है, उसका नाम 'चेतन' है। जाननेकी शक्ति चेतनता है। यह शक्ति जड़में नहीं है।

मन-बुद्धि चेतनमें दीखते हैं, पर हैं ये जड़ ही। ये चेतनके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं। हम (स्वयं) शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको जाननेवाले हैं। इन्द्रियोंके दो विभाग हैं—कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ। कर्मेन्द्रियाँ तो सर्वथा जड़ हैं और ज्ञानेन्द्रियोंमें चेतनका आभास है। उस आभासको लेकर ही श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण—ये पाँचों इन्द्रियाँ 'ज्ञानेन्द्रियाँ' कहलाती हैं। ज्ञानेन्द्रियोंको लेकर जीवात्मा विषयोंका सेवन करता है—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥

(गीता १५। ९)

ज्ञानेन्द्रियोंमें और अन्तःकरणमें जो ज्ञान दीखता

है, वह उनका खुदका नहीं है, प्रत्युत चेतनके द्वारा आया हुआ है। खुद तो वे जड़ ही हैं। जैसे दर्पणको सूर्यके सामने कर दिया जाय तो सूर्यका प्रकाश दर्पणमें आ जाता है। उस प्रकाशको अँधेरी कोठरीमें डाला जाय तो वहाँ प्रकाश हो जाता है। वह प्रकाश मूलमें सूर्यका है, दर्पणका नहीं। ऐसे ही इन्द्रियोंमें और अन्त:करणमें चेतनसे प्रकाश आता है। चेतनके प्रकाशसे प्रकाशित होनेपर भी इन्द्रियाँ और अन्त:करण जड़ हैं। हम स्वयं चेतन हैं और परमात्माके अंश हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (१५।७)। जैसे शरीर माँ और बाप दोनोंसे बना हुआ है, ऐसे स्वयं प्रकृति और परमात्मा दोनोंसे बना हुआ नहीं है। यह केवल परमात्माका ही अंश है। भगवान्ने कहा है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।

(गीता १४। ३)

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता॥

(गीता १४। ४)

अर्थात् प्रकृति माता है और मैं उसमें बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ, जिससे सम्पूर्ण प्राणी पैदा होते हैं। अत: प्राणियोंमें प्रकृतिका अंश भी है और परमात्माका भी। परन्तु जो जीवात्मा है, उसमें केवल परमात्माका ही अंश है—**'ममैवांश:' (मम एव अंश:)**। देवता, भूत-प्रेत, पिशाच आदि जितने भी शरीर हैं, उन सबमें जड़ और चेतन—दोनों रहते हैं। देवताओंके शरीरमें तैजस-तत्त्वकी प्रधानता है, भूत-प्रेतोंके शरीरमें वायु-तत्त्वकी प्रधानता है, मनुष्योंके शरीरमें पृथ्वी-तत्त्वकी प्रधानता है, आदि। भिन्न-भिन्न शरीरोंमें भिन्न-भिन्न तत्त्वकी प्रधानता रहती है। यद्यपि सभी शरीरोंमें मुख्यता चेतनकी ही है, पर वह शरीरमें मैं-मेरापन करके उसीको मुख्य मान लेता है। जड़ शरीरकी मुख्यता मानना ही जन्म-मरणका कारण है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। गुणोंका संग होनेसे ही जीवकी तीन गतियाँ होती हैं। जो सत्त्वगुणमें स्थित होते हैं, वे ऊर्ध्वगतिमें जाते हैं। जो रजोगुणमें स्थित होते हैं, वे मध्यलोकमें जाते हैं। जो तमोगुणमें स्थित होते हैं, वे अधोगतिमें जाते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा:।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा:॥

(गीता १४। १८)

इस प्रकार जड़-चेतनके विभागको ठीक तरहसे समझना चाहिये। जड़-अंश (शरीर) छूट जाता है, हम रह जाते हैं। जबतक मुक्ति नहीं होती, तबतक जड़ता साथमें रहती है। इसलिये एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जानेपर स्थूलशरीर तो छूट जाता है, पर सूक्ष्म और कारणशरीर साथमें रहते हैं। मुक्ति होनेपर केवल चेतनता रहती है, जड़ता साथमें नहीं रहती अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर साथमें नहीं रहते। परन्तु इसमें एक बहुत सूक्ष्म बात है कि मुक्ति होनेपर भी जड़ताका संस्कार रहता है। वह संस्कार जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर मतभेद करनेवाला होता है। जैसे द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और अचिन्त्यभेदाभेद—ये पाँच मुख्य मतभेद हैं, जो शैव और वैष्णव आचार्योंमें रहते हैं। जबतक मतभेद है, तबतक जड़ताका संस्कार है। परन्तु मुक्तिके बाद जब भक्ति होती है, तब जड़ताका यह सूक्ष्म संस्कार भी मिट जाता है। भगवान्के प्रेमी भक्तोंमें जड़ता सर्वथा नहीं रहती, केवल चेतनता रहती है। जैसे, राधाजी सर्वथा चिन्मय हैं।

मनुष्योंके कल्याणके लिये तीन योग बताये गये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग*। कर्मयोग जड़को लेकर चलता है, ज्ञानयोग चेतनको लेकर चलता है और भक्तियोग भगवान्को लेकर चलता है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो लौकिक साधन हैं—**'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा'** (गीता ३। ३), पर भक्तियोग

* योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
(श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

अलौकिक निष्ठा है। कारण कि जगत् (क्षर) तथा जीव (अक्षर)—दोनों लौकिक हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५। १६)। परन्तु भगवान् क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण अर्थात् अलौकिक हैं—'**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः**' (गीता १५। १७)। जिसकी संसारमें ही आसक्ति है, जो संसारको मुख्य मानते हैं, जिनका आत्माकी तरफ इतना विचार नहीं है, पर जो अपना कल्याण चाहते हैं, उनके लिये कर्मयोग मुख्य है। अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार निष्कामभावसे अर्थात् केवल दूसरोंके हितके लिये कर्तव्य-कर्म करना कर्मयोग है। सकामभावमें जड़ता आती है, पर निष्कामभावमें चेतनता रहती है। निष्कामभाव होनेके कारण कर्मयोगी जड़-अंशसे ऊँचा उठ जाता है। अगर निष्कामभाव नहीं हो कर्म होंगे, कर्मयोग नहीं होगा। कर्मोंसे मनुष्य बँधता है—'**कर्मणा बध्यते जन्तुः**'।

निष्कामभाव होनेसे मनुष्यमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंका नाश हो जाता है और समता आ जाती है। समता आनेसे योग हो जाता है; क्योंकि योग नाम समताका ही है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)। निष्कामभाव आनेसे चेतनताकी मुख्यता और जड़ताकी गौणता हो जाती है। मनुष्यमें जितना-जितना निष्कामभाव आता है, उतना-उतना वह संसारसे ऊँचा उठता है और जितना-जितना सकामभाव आता है, उतना-उतना वह संसारमें बँधता है।

गीतामें आया है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(५। १९)

जिनका मन साम्यावस्थामें स्थित हो गया, उन लोगोंने संसारको जीत लिया अर्थात् वे जन्म-मरणसे ऊँचे उठ गये। ब्रह्म निर्दोष और सम है और उनका अन्त:करण भी निर्दोष और सम हो गया, इसलिये वे ब्रह्ममें ही स्थित हो गये। वास्तवमें परमात्मामें स्थिति सबकी है; क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक हैं। एक सुईकी नोक-जितनी जगह भी परमात्मासे खाली नहीं है। परमात्मा सब जगह समानरूपसे परिपूर्ण हैं। परन्तु परमात्मामें स्थित होते हुए भी संसारमें राग-द्वेषके कारण मनुष्य परमात्मामें स्थित नहीं हैं, प्रत्युत संसारमें स्थित हैं। वे परमात्मामें स्थित तभी होंगे, जब उनके मनमें राग-द्वेष मिट जायँगे। जबतक मनमें राग-द्वेष रहेंगे, तबतक भले ही चारों वेद और छः शास्त्र पढ़ लो, पर मुक्ति नहीं होगी। राग-द्वेषको हटानेके लिये क्या करें? इसके लिये भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

'इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें (प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें) मनुष्यके राग-द्वेष व्यवस्थासे (अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर) स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके (पारमार्थिक मार्गमें विघ्न डालनेवाले) शत्रु हैं।'

अनुकूलताको लेकर राग और प्रतिकूलताको लेकर द्वेष होता है। साधकको चाहिये कि वह इनके वशीभूत न हो। वशीभूत होनेसे राग-द्वेष बढ़ते हैं। जबतक राग-द्वेष हैं, तबतक जन्म-मरण है। राग-द्वेषसे ऊँचा उठनेपर मुक्ति होती है और परमात्मामें प्रेम होनेपर भक्ति होती है। पहले कर्मयोग और ज्ञानयोग करके भी भक्ति कर सकते हैं और आरम्भसे भी भक्ति कर सकते हैं।

कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है। कई व्यक्ति ऐसा नहीं मानते, प्रत्युत कर्मयोग तथा भक्तियोगको साधन और ज्ञानयोगको साध्य मानते हैं। परन्तु गीता भक्तियोगको ही साध्य मानती है। गीताके अनुसार कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों निष्ठाएँ समकक्ष हैं, पर भक्ति दोनोंसे विलक्षण है।

कर्मयोगमें दो बातें हैं—कर्म और योग। ऐसे ही ज्ञानयोगमें भी दो बातें हैं—ज्ञान और योग। परन्तु भक्तियोगमें दो बातें नहीं होतीं। हाँ, भक्तियोगके

प्रकार दो हैं—साधन-भक्ति और साध्य-भक्ति।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकारकी साधन-भक्ति है और प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमाभक्ति साध्य-भक्ति है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (गीता १८।५४)। इसलिये श्रीमद्भागवतमें आया है—'**भक्त्या सञ्जातया भक्त्या**' (११। ३। ३१) 'भक्तिसे भक्ति पैदा होती है' अर्थात् साधनभक्तिसे साध्यभक्तिकी प्राप्ति होती है। इस तरह साधक चाहे तो आरम्भसे ही भक्ति कर सकता है। भक्तिका आरम्भ कब होता है? जब भगवान् प्यारे लगते हैं, भगवान्‌में मन खिंच जाता है। संसारके भोग और रुपये प्यारे लगते हैं—यह सांसारिक (बन्धनमें पड़े हुए) आदमीकी पहचान है। भगवान् प्यारे लगते हैं—यह भक्तकी पहचान है। इसलिये जब रुपये और पदार्थ अच्छे नहीं लगेंगे, इनसे चित्त हट जायगा और भगवान्‌में लग जायगा, तब भक्ति आरम्भ हो जायगी। जबतक भोगोंमें और रुपयोंमें आकर्षण है, तबतक ज्ञानकी बड़ी ऊँची-ऊँची बातें कर लो, बन्धन ज्यों-का-त्यों रहेगा। जैसे गीध बहुत ऊँचा उड़ता है, पर उसकी दृष्टि मुर्देपर रहती है। मांस देखते ही उसकी ऊँची उड़ान खत्म हो जाती है और वह वहीं नीचे गिर पड़ता है। ऐसे ही बड़ी ऊँची-ऊँची बातें करनेवाले, व्याख्यान देनेवाले रुपयोंको और भोगोंको देखते ही उनपर गिर पड़ते हैं! जैसे गीधको सड़े-गले एवं दुर्गन्धित मांसमें ही रस (आनन्द) आता है, ऐसे ही उनको रुपयोंमें और भोगोंमें ही रस आता है। इसलिये गीताने कहा है—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(२। ४४)

'उस पुष्पित (दिखाऊ शोभायुक्त) वाणीसे जिसका अन्तःकरण हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें एक निश्चयवाली बुद्धि नहीं होती।'

जो मान, आदर, बड़ाई, रुपये, भोग आदिमें ही रचे-पचे हैं, वे मुक्त नहीं हो सकते। मुक्त अर्थात् बन्धनसे रहित तभी हो सकते हैं, जब इनसे ऊँचे उठेंगे। 'भोगैश्वर्य' का अर्थ है—भोग भोगना और भोग-सामग्री (रुपये, सोना-चाँदी, जमीन, मकान आदि)-का संग्रह करना। इन दोनोंमें लगे हुए मनुष्य परमात्मप्राप्ति करना तो दूर रहा, 'हमें परमात्माको प्राप्त करना है'—ऐसा निश्चय भी नहीं कर सकते। सत्संग करनेवालोंका अनुभव है कि भोग और संग्रहकी आसक्ति कम होती है और मिटती है। जैसे, हमारी वृत्तिमें क्रोध ज्यादा था। अतः थोड़ी-सी बातमें क्रोध आ जाता था, बड़े जोरसे आता था और काफी देरतक रहता था। परन्तु सत्संग करते-करते वह क्रोध कम होता है, थोड़ी-सी बातमें नहीं आता, जोरसे नहीं आता और कम देर ठहरता है। जब छोटी-छोटी कई बातें इकट्ठी हो जाती हैं, तब सहसा किसी बातपर जोरसे क्रोधका भभका आता है। परन्तु सत्संग करते-करते वह भी मिट जाता है। क्रोधका स्वरूप है कि जिसपर क्रोध आता है, उसका अनिष्ट चाहता है। सत्संग करते-करते किसीका अनिष्ट करनेकी चाहना मिट जाती है। सत्संग करनेवालेको कभी क्रोध आ जाय तो उसमें होश रहता है और वह नरक देनेवाला नहीं होता। काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों नरकोंके दरवाजे हैं।* इनमें फँसे हुए मनुष्य सीधे नरकोंमें जाते हैं। उनको नरकोंमें जानेसे कोई अटकानेवाला नहीं है। परन्तु सत्संग करनेवालोंमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोष कम हो जाते हैं। वह काम-क्रोधादिके वशीभूत नहीं होता। वह अन्यायपूर्वक, झूठ, कपट, जालसाजी, बेईमानीसे धन इकट्ठा नहीं करता। वह उतना ही लेता है, जितनेपर उसका हक लगता है।

* त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ (गीता १६। २१)

पराये हककी चीज नहीं लेता। काम-क्रोधादिके वशीभूत होनेसे अन्याय-मार्गमें प्रवेश हो जाता है, जिसके फलस्वरूप नरकोंकी प्राप्ति होती है। परन्तु सत्संग करनेसे ये काम-क्रोधादि दोष क्रमशः पत्थर, बालू, जल और आकाशकी लकीरकी तरह कम होते-होते मिट जाते हैं। पत्थरपर जो लकीर पड़ जाती है, वह कभी मिटती नहीं। बालूकी लकीर जब हवा चलती है, तब बालूसे ढककर मिट जाती है। जलपर लकीर खिंचती हुई तो दीखती है, पर जलपर लकीर बनती नहीं। परन्तु आकाशमें लकीर खींचें तो केवल अँगुली ही दीखती है, लकीर बनती ही नहीं। इस प्रकार जब काम-क्रोधादि दोष किंचिन्मात्र भी नहीं रहते, तब बन्धन मिट जाता है और परमात्मामें स्थिति हो जाती है।

इस प्रकार सत्संग करनेसे दोष कम होते हैं। अगर दोष कम नहीं होते तो असली सत्संग नहीं मिला है। भगवान्‌की कथा तो किसीसे भी सुनें, सुननेसे लाभ होता है। अगर कथा कहनेवाला प्रेमी भक्त हो तो बहुत विलक्षणता आती है। परन्तु तात्त्विक विवेचन जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुषसे सुननेपर ही लाभ होता है। जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ सन्त-महात्माओंके संगसे बहुत विलक्षण एवं ठोस लाभ होता है। प्रेमी भक्तके विषयमें आया है—

वाग् गद्‌गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्‌गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

‘जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करती-करती गद्‌गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंको याद करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बार-बार रोता रहता है, कभी-कभी हँसने लग जाता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है, तो कभी नाचने लग जाता है, ऐसा मेरा भक्त सारे संसारको पवित्र कर देता है।’

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः॥

(अध्यात्म० उत्तर० ५। ६१)

‘चाहे मेरे निर्गुण स्वरूपका चित्तसे उपासना करनेवाला हो अथवा मायिक गुणोंसे अतीत मेरे सगुण स्वरूपकी सेवा-अर्चना करनेवाला हो, वह भक्त मेरा ही स्वरूप है। वह सूर्यकी भाँति विचरण करता हुआ अपनी चरण-रजके स्पर्शसे तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है।’

तात्पर्य है कि चाहे भक्त हो या ज्ञानी, उसके चरणोंके स्पर्शसे पृथ्वी पवित्र हो जाती है। जैसे सूर्य जहाँ जाता है, वहाँ प्रकाश हो जाता है, ऐसे ही वह महात्मा जहाँ जाता है, वहाँ ज्ञानका प्रकाश हो जाता है, आनन्द हो जाता है। कारण कि उसके भीतर राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि बिलकुल नहीं होते। इसलिये हमारी यही चेष्टा होनी चाहिये कि राग-द्वेष, काम-क्रोध आदिसे पिण्ड छूट जाय। हमारे हृदयमें राग-द्वेषादि विकार न रहें। जबतक ये कम न हों, तबतक समझे कि असली सत्संग मिला नहीं है। जबतक मनुष्यमें गुण-अवगुण दोनों रहते हैं, तबतक वह साधक नहीं होता। साधक तभी होता है, जब अवगुण मिट जाते हैं। दूसरा उसके साथ वैर करे तो भी उसके हृदयमें वैर नहीं होता, उलटे हँसी आती है, प्रसन्नता होती है। वह अनिष्ट-से-अनिष्ट चाहनेवालेका भी बुरा नहीं चाहता। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों मार्गोंमें राग-द्वेष मिट जाते हैं। अतः साधकको देखते रहना चाहिये कि मेरे राग-द्वेष कम हो रहे हैं या नहीं। अगर कम हो रहे हैं तो समझे कि साधन ठीक चल रहा है।

साधकमें तीन बातें रहनी चाहिये। वह किसीको बुरा मत समझे, किसीका बुरा मत चाहे और किसीका बुरा मत करे। इन तीन बातोंका वह नियम ले ले तो उसका साधन बहुत तेज और बढ़िया

होगा। इन तीन बातोंको धारण करनेसे वह कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंका अधिकारी बन जाता है। इसलिये मेरी साधकोंसे प्रार्थना है कि वे कम-से-कम इन तीन बातोंको धारण कर लें। वे सबकी सेवा करें, सबको सुख पहुँचायें। सुख भी न पहुँचा सकें तो कम-से-कम किसीको दुःख मत पहुँचायें। जो दूसरोंको दुःख पहुँचाता है, वह साधन नहीं कर सकता।

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(मानस, उत्तर० ४१। १)

मनुष्यशरीर साधन करनेके लिये मिला है। यह साधनयोनि है। इसलिये सच्चे साधक बनो। सच्चे सत्संगी बनो। योगारूढ़ हो जाओ। जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ हो जाओ। भगवान्‌के प्रेमी हो जाओ। यह मौका मनुष्यजन्ममें ही है।

२२. सच्ची आस्तिकता

गीता भगवान्‌के समग्ररूपको मानती है, उसीको महत्त्व देती है और उसकी प्राप्तिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता मानती है। सब कुछ भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)—यह भगवान्‌का समग्ररूप है। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, द्विभुज, चतुर्भुज, सहस्रभुज आदि रूप तथा पदार्थ और क्रियारूप सम्पूर्ण जगत्, सम्पूर्ण जीव, सम्पूर्ण देवता—ये सब-के-सब भगवान्‌के समग्ररूपके अन्तर्गत आ जाते हैं। इसलिये जो समग्रको जान लेता है, उसके लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहता—'**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते**' (गीता ७। २)। समग्रको जाननेका मुख्य साधन है—शरणागति। इसलिये भगवान्‌ने गीतोपदेशका पर्यवसान शरणागतिमें ही किया है—'**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' (गीता १८। ६६)। भगवान्‌ने गीताभरमें केवल शरणागतिको ही 'सर्वगुह्यतम' (सबसे अत्यन्त गोपनीय) कहा है—'**सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु**' (गीता १८। ६४)।

वास्तवमें सत्ता एक ही है। उस एक परमात्माकी सत्ताके अधीन जीवकी सत्ता है और जीवके अधीन जगत्‌की सत्ता है। जीव और जगत्—दोनों परमात्मामें ही भासित होते हैं। गीताके सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने जीवको अपनी 'परा प्रकृति' और जगत्‌को अपनी 'अपरा प्रकृति' बताया है। परा और अपरा—दोनों भगवान्‌की शक्तियाँ हैं। अतः इनको अपनी प्रकृति बतानेमें भगवान्‌का तात्पर्य है कि ये दोनों मेरेसे अलग नहीं हैं। शक्तिमान्‌से अलग शक्तिकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। शक्तिमान् शक्तिके बिना रह सकता है, पर शक्ति शक्तिमान्‌के बिना नहीं रह सकती।

अब शंका होती है कि जब जीव (परा) और जगत् (अपरा)—दोनों ही भगवान्‌से अभिन्न हैं तो फिर जगत्‌की सत्ता अलग क्यों दीखती है? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा है—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५) अर्थात् जीवने ही जगत्‌को धारण किया है अर्थात् जगत्‌को सत्ता और महत्ता दी है। जीव केवल मेरा (भगवान्‌का) ही अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। परन्तु यह मिलने और बिछुड़नेवाले शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना मान लेता है—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७)। जगत्‌के साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही यह जन्म-मरणके चक्करमें पड़कर दुःख पा रहा है। जीवके द्वारा जगत्‌से माना हुआ यह सम्बन्ध ही सम्पूर्ण योनियोंका कारण है—'**एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय**' (गीता ७। ६) अर्थात् इन दोनोंके माने हुए संयोगके कारण ही सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणी पैदा होते हैं। तात्पर्य हुआ कि जीवके द्वारा अपरासे जोड़ा गया सम्बन्ध ही मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है।

'**वासुदेवः सर्वम्**' अर्थात् सब कुछ भगवान् ही

हैं—यह गीताका सर्वोपरि सिद्धान्त है। इसका अनुभव करनेका मनुष्यमात्र अधिकारी है। प्रत्येक देश, वेश, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका मनुष्य भगवान्‌का भक्त होकर '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव कर सकता है। कारण कि भगवान्‌की प्राप्ति शरीरके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत शरीरके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेदके लिये तीन बातोंको जानना आवश्यक है—शरीर 'मैं' नहीं हूँ, शरीर 'मेरा' नहीं है और शरीर 'मेरे लिये' नहीं है। यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु मिलने और बिछुड़नेवाली होती है, वह अपनी और अपने लिये नहीं होती। एक भगवान् ही हमारे ऐसे साथी हैं, जो सदा हमारे साथ रहते हैं, कभी हमसे बिछुड़ते नहीं। परन्तु जो मनुष्य मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुओंमें ही उलझे रहते हैं, नाशवान् भोगोंमें और संग्रहमें ही लगे रहते हैं, वे सदा साथ रहते हुए भी भगवान्‌को न प्राप्त होकर बार-बार संसारमें जन्मते-मरते रहते हैं—'**अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि**' (गीता ९। ३)।

संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। उसको जीवने ही अहंता-ममता-कामनाके कारण स्वतन्त्र सत्ता दी है। जबतक साधकमें अहंता-ममता-कामना रहती है, तबतक उसको यह मानना चाहिये कि परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा है। परन्तु जब उसकी अहंता-ममता-कामना मिट जायगी, तब उसकी दृष्टिमें न संसारमें परमात्मा रहेंगे, न परमात्मामें संसार रहेगा, प्रत्युत परमात्मा-ही-परमात्मा रहेंगे। परमात्मामें संसारको देखना अथवा संसारमें परमात्माको देखना अधूरी आस्तिकता है। परन्तु केवल परमात्माको ही देखना पूरी आस्तिकता है।

भगवान्‌ने कहा है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। भगवान्‌का अंश होनेके कारण जीवका सम्बन्ध केवल भगवान्‌के साथ है, प्रकृतिके साथ बिलकुल नहीं है। इसलिये जड़-चेतनका ठीक-ठीक विवेक करना साधकके लिये बहुत आवश्यक है। साधकको यह जानना चाहिये कि हमारा विभाग ही अलग है। हम चेतन-विभागमें हैं। जड़-विभागसे हमारा किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाएँ जड़-विभागमें हैं। चेतन-विभागमें न पदार्थ है, न क्रिया है। वास्तवमें पदार्थ और क्रियाकी सत्ता ही नहीं है। इसलिये साधकको पदार्थ और क्रियासे रहित होना नहीं है, प्रत्युत वह स्वतः इनसे रहित है। साधक अव्यक्त (निराकार) और अक्रियरूप है। मात्र 'करना' प्रकृतिका और 'न करना' स्वयंका होता है। परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों विद्यमान है, उसके लिये कुछ न करनेकी जरूरत है। करनेका आश्रय प्रकृतिका आश्रय है। वह छोड़ दिया तो तत्त्व ज्यों-का-त्यों रहा। तत्त्वमें न पदार्थ है, न क्रिया है, प्रत्युत केवल विश्राम है।

भगवान्‌ने जीवात्माके लिये कहा है—'**नित्यः सर्वगतः**' (गीता २। २४), '**येन सर्वमिदं ततम्**' (गीता २। १७) अर्थात् इस जीवात्मासे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, यह नित्य रहनेवाला और सबमें परिपूर्ण है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह शरीर-अन्तःकरणको न देखकर अपनी सर्वव्यापी सामान्य सत्तामें स्थित हो जाय। जो सब जगह व्याप्त है, वही साधकका स्वरूप है। उसका स्वरूप शरीर-अन्तःकरणमें नहीं है। साधकमें 'मैं हूँ' की मुख्यता न होकर 'है' की मुख्यता रहे। जो 'है', वही वास्तवमें अपना है।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**' (७।७) और सन्त-महात्माओंका भी अनुभव है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९)। भगवान् और उनके भक्त—ये दो ही संसारका अकारण हित करनेवाले हैं*। इसलिये इन दोनोंकी बात मान लेनी चाहिये। उनकी बातके आगे हमारी बातका कोई मूल्य नहीं है। हमें भले ही वैसा न दीखे,

* हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥ (मानस, उत्तर० ४७।३)

पर बात उनकी ही सच्ची है। इसलिये हमें जगत्‌को जगत्-रूपसे न देखकर भगवत्-रूपसे ही देखना चाहिये। संसारमें जो सात्त्विक, राजस और तामस भाव (गुण, पदार्थ और क्रिया) देखनेमें आते हैं, वे भी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। भगवान्‌के स्वरूप होते हुए भी वे गुण हमारे उपास्य नहीं हैं। हमारा उपास्य गुणातीत है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—**'न त्वहं तेषु ते मयि'** (गीता ७। १२) 'मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं'। गुण उपास्य इसलिये नहीं हैं कि हमें तीनों गुणोंसे ऊँचा उठना है। कारण कि जो मनुष्य तीनों गुणोंसे मोहित होता है, वह गुणातीत भगवान्‌को नहीं जानता।* जो गुणोंसे मोहित नहीं होते, उनको सब जगह भगवान् ही दीखते हैं, पर गुणोंसे मोहित मनुष्यको संसार ही दीखता है, भगवान् नहीं दीखते।

यहाँ शंका हो सकती है कि भगवान्‌में राजस-तामस भाव कैसे होते हैं? इसका समाधान है कि जैसे घर एक ही होता है, पर उसमें रसोई भी होती है और शौचालय भी अथवा एक ही शरीरमें उत्तमांग भी होते हैं और अधमांग भी, ऐसे ही एक भगवान्‌में सात्त्विक भाव भी हैं और राजस-तामस भाव भी।

संसारको मिथ्या मानकर केवल भगवान्‌को सत्य मानना भी एक पद्धति (साधन-मार्ग) है। पर इस पद्धतिमें संसार बहुत दूरतक साथ रहता है। कारण कि त्याग करनेसे त्याज्य वस्तुकी सूक्ष्म सत्ता बनी रहती है। इसलिये इस पद्धतिमें भगवान्‌से अभेद तो होता है, पर अभिन्नता (आत्मीयता) नहीं होती। परन्तु जो संसाररूपसे भगवान्‌को देखते हैं, वे भगवान्‌के साथ अभिन्न हो जाते हैं।

२३. संसारका असर कैसे छूटे?

साधकोंकी प्राय: यह शिकायत रहती है कि यह जानते हुए भी कि संसारकी कोई भी वस्तु अपनी नहीं है, जब कोई वस्तु सामने आती है तो उसका असर पड़ जाता है। इस विषयमें दो बातें ध्यान देनेयोग्य हैं। एक बात तो यह है कि असर पड़े तो परवाह मत करो अर्थात् उसकी उपेक्षा कर दो। न तो उसको अच्छा समझो, न बुरा समझो। न उसके बने रहनेकी इच्छा करो, न मिटनेकी इच्छा करो। उससे उदासीन हो जाओ। दूसरी बात यह है कि असर वास्तवमें मन-बुद्धिपर पड़ता है, आपपर नहीं पड़ता। अत: उसको अपनेमें मत मानो।

किसी वस्तुसे राग होनेपर भी सम्बन्ध जुड़ता है और द्वेष होनेपर भी सम्बन्ध जुड़ता है। भगवान् श्रीराम वनमें गये तो उनके साथ जिन ऋषि-मुनियोंने स्नेह किया, उनका उद्धार हो गया और जिन राक्षसोंने द्वेष किया, उनका भी उद्धार हो गया, पर जिन्होंने न राग किया, न द्वेष किया, उनका उद्धार नहीं हुआ; क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ नहीं जुड़ा। इसी तरह संसारका असर मनमें पड़े तो उसमें राग-द्वेष करके उसके साथ अपना सम्बन्ध मत जोड़ो। आप भगवान्‌के भजन-साधनमें लगे रहो। संसारका असर हो जाय तो होता रहे, अपना उससे कोई मतलब नहीं—इस तरह उसकी उपेक्षा कर दो।

जैसे आप कुत्तेके मनके साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानते, ऐसे ही अपने मनके साथ भी अपना कोई सम्बन्ध मत मानो। कुत्तेका मन और आपका मन एक ही जातिके हैं। जब कुत्तेका मन आपका नहीं है तो यह मन भी आपका नहीं है। मन जड़ प्रकृतिका कार्य है, आप चेतन परमात्माके अंश हो। जैसे कुत्तेके मनमें संसारका असर पड़नेसे आपमें कोई फर्क नहीं पड़ा, ऐसे ही इस मनका भी आपमें कोई फर्क नहीं पड़ना चाहिये।

मनका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है और आपका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। आपने मनके साथ

* त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्। मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ (गीता ७। १३)

अपना सम्बन्ध मान लिया तो अब दु:ख पाना ही पड़ेगा। अब आप मनसे, शरीरसे जो काम करोगे, उसका पाप-पुण्य आपको लगेगा ही। कुत्तेके मनमें कुछ भी आये, उससे आपको क्या मतलब ? ऐसे ही इस मनमें कुछ भी आये, उससे आपको क्या मतलब ? आपका सम्बन्ध शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके साथ नहीं है, प्रत्युत परमात्माके साथ है—इस बातको समझानेके लिये ही गीतामें भगवान् कहते हैं—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:'** (१५। ७) 'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा मेरा ही सनातन अंश है'। इस बातको समझ लो तो आपकी वृत्तियोंमें, आपके साधनमें फर्क पड़ जायगा।

आप अपनेको 'मैं हूँ'—इस तरह जानते हैं। इसमें 'मैं' तो जड़ है और 'हूँ' चेतन है। 'मैं' के कारणसे 'हूँ' है। अगर 'मैं' (अहम्) न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत केवल 'है' (चिन्मय सत्तामात्र) रह जायगा। इसी बातको गीतामें भगवान्ने कहा है कि जब साधक निर्मम-निरहंकार हो जाता है, तब उसकी स्थिति ब्रह्ममें हो जाती है—**'एषा ब्राह्मी स्थिति:'** (गीता २। ७२)।

अहंकार हमारा स्वरूप नहीं है। अहंकार अपरा प्रकृति है और हम परा प्रकृति हैं। हम अलग हैं, अहंकार अलग है। जैसे, जाग्रत् और स्वप्नमें अहंकार जाग्रत् रहता है, पर सुषुप्तिमें अहंकार जाग्रत् नहीं रहता, प्रत्युत अविद्यामें लीन हो जाता है। सुषुप्तिमें अहंकार न रहनेपर भी हम रहते हैं। हमारा स्वरूप अशरीरी है। जैसे भगवान् अव्यक्त हैं*, ऐसे ही उनका अंश होनेसे हम भी स्वरूपसे अव्यक्त (निराकार) हैं। अव्यक्तमूर्तिका अंश भी अव्यक्तमूर्ति ही होगा। यह शरीर तो भोगायतन (भोगनेका स्थान) है। जैसे हम रसोईघरमें बैठकर भोजन करते हैं, ऐसे ही हम शरीरमें रहकर कर्मफल भोगते हैं। इसलिये साधकको यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि मैं अव्यक्त (निराकार)-रूप हूँ, मनुष्यरूप नहीं हूँ। साधन करनेवाला शरीर नहीं होता। इसीलिये हम कहते हैं कि मैं बचपनमें जो था, वही मैं आज हूँ। बचपनसे लेकर आजतक हमारे शरीरमें इतना फर्क पड़ गया कि पहचान भी नहीं सकते, फिर भी हम वही हैं। बचपनमें मैं खेला करता था, बादमें पढ़ता था, वही मैं आज हूँ। शरीर वही नहीं है। शरीर तो एक क्षण भी नहीं रहता, निरन्तर बदलता रहता है। जो नहीं बदलता, वही साधक है। बदलनेवाला साधक नहीं है।

साधक योगभ्रष्ट होता है तो वह दूसरे जन्ममें श्रीमानोंके घर जन्म लेता है अथवा योगियोंके घर जन्म लेता है। शरीर तो मर गया, जला दिया गया, फिर श्रीमानों अथवा योगियोंके घर कौन जन्म लेगा ? वही जन्म लेगा जो शरीरसे अलग है। इसलिये आप इस बातको दृढ़तासे स्वीकार कर लें कि हम शरीर नहीं हैं, प्रत्युत शरीरको जाननेवाले हैं। इस बातको स्वीकार किये बिना साधन बढ़िया नहीं होगा, सत्संगकी बातें ठीक समझमें नहीं आयेंगी।

शरीर तो प्रतिक्षण बदलता है, पर आप महासर्ग और महाप्रलय होनेपर भी नहीं बदलते, प्रत्युत ज्यों-के-त्यों एकरूप रहते हैं—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।'** (गीता १४। २)।

आपने अबतक कई शरीर धारण किये, पर सब शरीर छूट गये, आप वही रहे। शरीर तो यहीं छूट जायगा, पर स्वर्ग या नरकमें आप जाओगे, मुक्ति आपकी होगी, भगवान्के धाममें आप पहुँचोगे। तात्पर्य है कि आपकी सत्ता (स्वरूप) शरीरके अधीन नहीं है। अत: शरीरके रहने अथवा न रहनेसे आपकी सत्तामें कोई फर्क नहीं पड़ता। अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, अनन्त सृष्टियाँ हैं, पर उनका आपपर रत्तीभर भी

---

* मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। (गीता ९। ४)
यह सब संसार मेरे निराकार स्वरूपसे व्याप्त है।'

फर्क नहीं पड़ता। केश-जितनी चीज भी आपतक नहीं पहुँचती। ये सब मन-बुद्धितक ही पहुँचती हैं। प्रकृतिका कार्य मन-बुद्धिसे आगे जा सकता ही नहीं। इसलिये अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश-जितनी चीज भी आपकी नहीं है। आपके परमात्मा हैं और आप परमात्माके हो। साधन करके आप ही परमात्माको प्राप्त होंगे, शरीर प्राप्त नहीं होगा। इसलिये साधन करते हुए ऐसा मानना चाहिये कि हम निराकार हैं, साकार (शरीर) नहीं हैं। आप मकानमें बैठते हैं तो आप मकान नहीं हो जाते। मकान अलग है, आप अलग हैं। मकानको छोड़कर आप चल दोगे। फर्क आपमें पड़ेगा, मकानमें नहीं। ऐसे ही शरीर यहीं रहेगा, आप चल दोगे। पाप-पुण्यका फल आप भोगोगे, शरीर नहीं भोगेगा। मुक्ति आपकी होगी, शरीरकी नहीं होगी। शरीर तो मिट्टी हो जायगा, पर आप मिट्टी नहीं होंगे। आपका स्वरूप गीताने इस प्रकार बताया है—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

(२। २४-२५)

'यह शरीरी काटा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह गीला नहीं किया जा सकता और यह सुखाया भी नहीं जा सकता। कारण कि यह नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाववाला और अनादि है।'

'यह देही प्रत्यक्ष नहीं दीखता, यह चिन्तनका विषय नहीं है और यह निर्विकार कहा जाता है। अतः इस देहीको ऐसा जानकर शोक नहीं करना चाहिये।'

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि मैं कभी मरूँ नहीं, मैं सब कुछ जान जाऊँ और मैं सदा सुखी रहूँ। ये तीनों इच्छाएँ मूलमें सत्, चित् और आनन्दकी इच्छा है। परन्तु वह इस वास्तविक इच्छाको शरीरकी सहायतासे पूरी करना चाहता है; क्योंकि स्वयं परमात्माका अंश होते हुए भी वह शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना मान लेता है[1]। परन्तु वास्तवमें मनुष्य अपनी वास्तविक इच्छाको शरीर अथवा संसारकी सहायतासे पूरी कर ही नहीं सकता। कारण कि शरीर नाशवान् है, इसलिये उसके द्वारा कोई मरनेसे नहीं बच सकता। शरीर जड़ है, इसलिये उसके द्वारा ज्ञान नहीं हो सकता। शरीर प्रतिक्षण बदलनेवाला है, इसलिये उसके द्वारा कोई सुखी नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्यमें जो सत्-चित्-आनन्दकी इच्छा है, उसकी पूर्ति शरीरसे असंग (सम्बन्ध-रहित) होनेपर ही हो सकती है। इस वास्तविक इच्छाकी पूर्तिमें शरीर लेशमात्र भी साधक अथवा बाधक नहीं है, प्रत्युत शरीरका सम्बन्ध ही इसमें बाधक है। इसलिये शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर साधक क्रिया और पदार्थसे असंग हो जाता है। क्रिया और पदार्थ—दोनों प्रकृतिके कार्य हैं। क्रिया और पदार्थसे असंग होनेपर साधककी वास्तविक इच्छा पूरी हो जाती है। वास्तविक इच्छाकी पूर्ति होनेपर साधककी सत्-चित्-आनन्दरूप स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। स्वरूपमें स्थिति होनेपर लौकिक साधना (कर्मयोग तथा ज्ञानयोग)-की सिद्धि हो जाती है। फिर स्वरूप जिसका अंश है, उस परमात्माको अपना माननेसे, उसके शरणागत होनेसे अलौकिक साधना (भक्तियोग)-की सिद्धि हो जाती है अर्थात् परम प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। परम प्रेमकी प्राप्तिमें ही मनुष्यजन्मकी पूर्णता है[2]। इसलिये साधकको आरम्भसे ही इस सत्यको स्वीकार कर लेना चाहिये कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है। कारण कि मैं परा प्रकृति (चेतन) हूँ,

---

१. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ (गीता १५। ७)

२. लौकिक साधनाकी सिद्धिमें तो अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध रह सकती है, पर अलौकिक साधनाकी सिद्धिमें अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध भी नहीं रहती।

जो कि परमात्माका अंश है और शरीर-संसार अपरा प्रकृति (जड़) है। अपरा प्रकृति अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी हमारी वास्तविक इच्छाकी पूर्ति नहीं कर सकती अर्थात् हमें अमर नहीं बना सकती, हमारा अज्ञान नहीं मिटा सकती और हमें सदाके लिये सुखी नहीं कर सकती।

प्रश्न—सत्संगमें ऐसी बातें सुनते हुए भी जब व्यवहार करते हैं, तब राजी-नाराज हो जाते हैं, क्या करें?

उत्तर—व्यवहारमें राजी-नाराज हो जाते हैं तो यह बालकपना है। बच्चे खेलते हैं तो वे मिट्टी इकट्ठी करके पहाड़, मकान आदि बना देते हैं और उसमें लाइन खींच देते हैं कि इतनी जमीन मेरी है, इतनी तुम्हारी है। दूसरा बच्चा जमीन ले लेता है तो लड़ने लग जाते हैं कि तुमने हमारी जमीन कैसे ले ली? यह तुम्हारी नहीं, हमारी है। कोई बड़ा आदमी आकर कहता है कि 'बच्चो! लड़ते क्यों हो?' वे कहते हैं कि हमने पहले लकीर खींची है, इसलिये यह हमारी है। वह आदमी कहता है कि अच्छा, तुम ऐसा-ऐसा कर दो तो दोनों राजी हो जाते हैं। इतनेमें माँ बुलाती है कि 'अरे बच्चो! आओ, भोजनका समय हो गया' तो बच्चे झट उठकर चल देते हैं। अब उनका जमीनसे कोई मतलब नहीं! इसी तरह हम कहते हैं कि धन-सम्पत्ति हमारी है, जमीन हमारी है आदि। वास्तवमें न हमारी है, न तुम्हारी है। यह तो खेल है, तमाशा है! एक दिन धन-सम्पत्ति, जमीन आदि सबको छोड़कर जाना पड़ेगा। इनकी यादतक नहीं रहेगी। पिछले जन्ममें हमारा कौन-सा घर था, कौन-सा कुटुम्ब था, अब याद है क्या? इस संसारकी कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है। जैसे धर्मशाला सबके लिये होती है, ऐसे ही यह संसार सबके लिये है। इसलिये मकान वही रहते हैं, जमीन वही रहती है, पर आदमी बदलते रहते हैं। इन बातोंकी तरफ आपका ध्यान जाना चाहिये। सत्संग करनेवालोंका इन बातोंकी तरफ ध्यान नहीं जायगा तो फिर किसका जायगा? सत्संग भी करते हो और राग-द्वेष भी करते हो तो वास्तवमें सत्संग किया ही नहीं, सत्संग सुना ही नहीं, सत्संग समझा ही नहीं, सत्संगकी हवा ही नहीं लगी! सत्संगमें राग-द्वेष, काम-क्रोध कम नहीं होंगे तो फिर कैसे कम होंगे? यदि आपके भावोंमें, आचरणोंमें फर्क नहीं पड़ा तो सत्संग क्या किया! कोरा समय खराब किया! सत्संग करे और फर्क नहीं पड़े—यह हो ही नहीं सकता। सत्संग करेगा तो फर्क जरूर पड़ेगा। फर्क नहीं पड़ा तो असली सत्संग मिला नहीं है। असली सत्संग मिले तो फर्क पड़े बिना रह सकता ही नहीं।

---

२४. अभिमान कैसे छूटे ?

अभिमानके विषयमें रामायणमें आया है—

संसृत मूल सूलप्रद नाना।
सकल सोक दायक अभिमाना॥

(मानस ७। ७४। ३)

जितनी भी आसुरी-सम्पत्ति है, दुर्गुण-दुराचार हैं, वे सब अभिमानकी छायामें रहते हैं। मैं हूँ—इस प्रकार जो अपना होनापन (अहंभाव) है, वह उतना दोषी नहीं है, जितना अभिमान दोषी है। भगवान्का अंश भी निर्दोष है। परन्तु मेरेमें गुण हैं, मेरेमें योग्यता है, मेरेमें विद्या है, मैं बड़ा चतुर हूँ, मैं वक्ता हूँ, मैं दूसरोंको समझा सकता हूँ—इस प्रकार दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें जो विशेषता दीखती है, यह बहुत दोषी है। अपनेमें विशेषता चाहे भजन-ध्यानसे दीखे, चाहे कीर्तनसे दीखे, चाहे जपसे दीखे, चाहे चतुराईसे दीखे, चाहे उपकार (परहित) करनेसे दीखे, किसी भी तरहसे दूसरोंकी अपेक्षा विशेषता दीखती है तो यह अभिमान है। यह अभिमान बहुत घातक है और इससे बचना भी बहुत कठिन है।

अभिमान जातिको लेकर भी होता है, वर्णको लेकर भी होता है, आश्रमको लेकर भी होता है, विद्याको लेकर भी होता है, बुद्धिको लेकर भी होता है। कई तरहका अभिमान होता है। मेरेको गीता याद है, मैं गीता पढ़ा सकता हूँ, मैं गीताके भाव विशेषतासे समझता हूँ—यह भी अभिमान है। अभिमान बड़ा पतन करनेवाला है। जो श्रेष्ठता है, उत्तमता है, विशेषता है, उसको अपना मान लेनेसे ही अभिमान आता है। यह अभिमान अपने उद्योगसे दूर नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌की कृपासे ही दूर होता है। अभिमानको दूर करनेका ज्यों-ज्यों उद्योग करते हैं, त्यों-त्यों अभिमान दृढ़ होता है। अभिमानको मिटानेका कोई उपाय करें तो वह उपाय ही अभिमान बढ़ानेवाला हो जाता है। इसलिये अभिमानसे छूटना बड़ा कठिन है! साधकको इस विषयमें बहुत सावधान रहना चाहिये।

साधकको इस बातका खयाल रखना चाहिये कि अपनेमें जो कुछ विशेषता आयी है, वह खुदकी नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌से आयी है। इसलिये उस विशेषताको भगवान्‌की ही समझे, अपनी बिलकुल न समझे। अपनेमें जो कुछ विशेषता दीखती है, वह प्रभुकी दी हुई है—ऐसा दृढ़तापूर्वक माननेसे ही अभिमान दूर हो सकता है।

मैं जैसा कीर्तन करता हूँ, वैसा दूसरा नहीं कर सकता; दूसरे इतने हैं, पर मेरे-जैसा करनेवाला कोई नहीं है—इस प्रकार जहाँ दूसरेको अपने सामने रखा कि अभिमान आया! साधकको ऐसा मानना चाहिये कि मैं करनेवाला नहीं हूँ, प्रत्युत यह तो भगवान्‌की कृपासे हो रहा है। जो विशेषता आयी है, वह मेरी व्यक्तिगत नहीं है। अगर व्यक्तिगत होती तो सदा रहती, उसपर मेरा अधिकार चलता। ऐसा माननेसे ही अभिमानसे छुटकारा हो सकता है।

भगवान्‌की कृपा है कि वे किसीका अभिमान रहने नहीं देते। इसलिये अभिमान आते ही उसमें टक्कर लगती है। भगवान् विशेष कृपा करके चेताते हैं कि तू कुछ भी अपना मत मान, तेरा सब काम मैं करूँगा। भगवान् अभिमानको तोड़ देते हैं, उसको ठहरने नहीं देते—यह उनकी बड़ी अलौकिक, विचित्र कृपा है।

जिसमें अभिमान रह जाता है, वह राक्षस हो जाता है। हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, रावण, दन्तवक्त्र, शिशुपाल आदि सबमें अभिमान था। अभिमानके कारण वे किसीको नहीं गिनते। भगवान्‌को भी नहीं गिनते! उनके अभिमानको दूर करनेके लिये भगवान् अवतार लेते हैं और कृपा करके उनका नाश करते हैं। वास्तवमें भगवान् मनुष्यको नहीं मारते हैं, प्रत्युत उसके अभिमानको मारते हैं। जैसे फोड़ा हो जाता है तो वैद्यलोग पहले उसको पकाते हैं, फिर चीरा लगाते हैं। ऐसे ही भगवान् पहले अभिमानको बढ़ाते हैं, फिर उसका नाश करते हैं। इस विषयमें वे किसीका कायदा नहीं रखते।

भगवान्‌का स्वभाव बड़ा विचित्र है। दूसरे मनुष्य तो हमारा कुछ भी उपकार करते हैं तो एहसान जनाते हैं कि तेरेको मैंने ऊँचा बनाया! पर भगवान् सब कुछ देकर भी कहते हैं—***'मैं तो हूँ भगतन को दास, भगत मेरे मुकुटमणि'!*** भगवान् यह नहीं कहते कि मैंने तेरेको ऊँचा बनाया है, प्रत्युत खुद उसके दास बन जाते हैं। इतना ही नहीं, भगवान् उसको पता ही नहीं चलने देते कि मैंने तेरेको दिया है। मनुष्यके पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो कुछ है, वह सब भगवान्‌का ही दिया हुआ है। वे इतना छिपकर देते हैं कि मनुष्य इन वस्तुओंको अपना ही मान लेता है कि मेरा ही मन है, मेरी ही बुद्धि है, मेरी ही योग्यता है, मेरी ही सामर्थ्य है, मेरी ही समझ है। यह तो देनेवालेकी विलक्षणता है कि मिली हुई चीज अपनी ही मालूम देती है। अगर आँखें अपनी हैं तो फिर चश्मा क्यों लगाते हो? आँखोंमें कमजोरी आ गयी तो उसको ठीक कर लो। शरीर अपना है तो उसको बीमार मत होने दो, मरने मत दो।

देनेवालेकी इतनी विचित्रता है कि वे यह जनाते ही नहीं कि मेरा दिया हुआ है। इसलिये मनुष्य मान लेता है कि मैं समझदार हूँ, मैं वक्ता हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं लेखक हूँ आदि। वह अभिमान कर लेता है

कि मैं इतना जप करता हूँ, इतना भजन करता हूँ, इतना ध्यान करता हूँ, इतना पाठ करता हूँ आदि। विचार करना चाहिये कि यह किस शक्तिसे कर रहा हूँ? यह शक्ति कहाँसे आयी है? अर्जुन वही थे, गाण्डीव धनुष और बाण भी वही थे, पर डाकूलोग गोपियोंको ले गये, अर्जुन कुछ नहीं कर सके—*'काबाँ लूटी गोपिका, वे अर्जुन वे बाण'।* अर्जुनने महाभारत-युद्धमें विजय कर ली तो यह उनका बल नहीं था, प्रत्युत जो उनके सारथि बने थे, उन भगवान् श्रीकृष्णका बल था। गीतामें भगवान्ने कहा भी है—**'मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'** (गीता ११। ३३) 'ये सभी मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन्! तुम निमित्तमात्र बन जाओ।'

सन्तोंकी वाणीमें एक बड़ी विचित्र बात आयी है कि भगवान्ने संसारको मनुष्यके लिये बनाया और मनुष्यको अपने लिये बनाया। तात्पर्य है कि मनुष्य मेरी भक्ति करेगा तो संसारकी सब वस्तुएँ उसको दूँगा! उसको किसी बातकी कमी रहेगी ही नहीं! सदाके लिये कमी मिट जायगी! पर वह भक्ति न करके अभिमान करने लग गया। अभिमान भगवान्को सुहाता नहीं—

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च।

(नारदभक्ति० २७)

'ईश्वरका भी अभिमानसे द्वेषभाव है और दैन्यसे प्रियभाव है।'

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ।
जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
संसृत मूल सूलप्रद नाना।
सकल सोक दायक अभिमाना॥
ताते करहिं कृपानिधि दूरी।
सेवक पर ममता अति भूरी॥

(मानस, उत्तर० ७४। ३-४)

भगवान् अभिमानको दूर करते हैं, पर मनुष्य फिर अभिमान कर लेता है! अभिमान करते-करते उम्र बीत जाती है! इसलिये हरदम 'हे नाथ! हे मेरे नाथ!' पुकारते रहो और भीतरसे इस बातका खयाल रखो कि जो कुछ विशेषता आयी है, भगवान्से आयी है। यह अपने घरकी नहीं है। ऐसा नहीं मानोगे तो बड़ी दुर्दशा होगी!

यह मानवजन्म भगवान्का ही दिया हुआ है। भगवान्ने मनुष्यको तीन शक्तियाँ दी हैं—करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। करनेकी शक्ति दूसरोंका हित करनेके लिये दी है, जाननेकी शक्ति अपने-आपको जाननेके लिये दी है और माननेकी शक्ति भगवान्को माननेके लिये दी है। परन्तु गलती तब होती है, जब मनुष्य इन तीनों शक्तियोंको अपने लिये लगा देता है। इसीलिये वह दुःख पा रहा है। बल, बुद्धि, योग्यता आदि अपने दीखते ही अभिमान आता है। मैं ब्राह्मण हूँ—ऐसा माननेपर ब्राह्मणपनेका अभिमान आ जाता है। मैं धनवान् हूँ—ऐसा माननेपर धनका अभिमान आ जाता है। मैं विद्वान् हूँ—ऐसा माननेपर विद्याका अभिमान आ जाता है। जहाँ मैंपनका आरोप किया, वहीं अभिमान आ जाता है। इसलिये भीतरसे हरदम भगवान्को पुकारते रहो। अपनेमें योग्यता प्रत्यक्ष दीखती है, इसलिये अभिमानसे बचना बहुत कठिन होता है। मनुष्यको प्रत्यक्ष दीखता है कि मैं अधिक पढ़ा-लिखा हूँ, मैं गीता जाननेवाला हूँ, मैं कीर्तन करनेवाला हूँ, इसलिये वह फँस जाता है। अगर यह दीखने लग जाय कि यह सब केवल भगवान्की कृपासे हो रहा है तो निहाल हो जाय! ऐसा चेत भी भगवान्की कृपासे ही होता है। जिनको चेत न हो, उनपर दया आनी चाहिये। वे भी चेतेंगे, पर देरीसे!

नारदजी महाराज भगवान्के भक्त थे, पर उनको भी अभिमान हो गया। इतना अभिमान हो गया कि भगवान्को ही शाप दे दिया—

भले भवन अब बायन दीन्हा।
पावहुगे फल आपन कीन्हा॥
बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा।
सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा॥
कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी।
करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥

मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी।
नारि बिरहँ तुम्ह होब दुखारी॥

(मानस, बाल० १३७। ३-४)

नारदजीने कहा कि बन्दर आपकी सहायता करेंगे—***'करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी'*** तो यह शाप हुआ कि वरदान? यह तो वरदान हुआ! इसलिये कहा है—***'साधु ते होइ न कारज हानी'*** (मानस, सुन्दर० ६।२)। शापके कारण भगवान्‌का अवतार हुआ और विविध लीलाएँ हुईं, जिनको गा-गाकर लोगोंका कल्याण हो रहा है। तात्पर्य है कि नारदजीका शाप लोगोंके कल्याणका उपाय हो गया! ऐसे ही भगवान्‌का भी क्रोध वरदानके समान कल्याणकारी होता है—**'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः'**। भगवान् और उनके भक्त—दोनों ही बिना हेतु सबका हित करनेवाले हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

इन दोनोंके साथ किसी भी तरहसे सम्बन्ध हो जाय तो लाभ-ही-लाभ होता है। ये सबपर कृपा करते हैं। लोग कहते हैं कि भगवान्‌ने दुःख भेज दिया! पर भगवान्‌के खजानेमें दुःख है ही नहीं, फिर वे कहाँसे दुःख लाकर आपको देंगे? भगवान् और सन्त कृपा-ही-कृपा करते हैं, इसलिये इनका संग छोड़ना नहीं चाहिये।

मनुष्यजन्ममें किये गये पाप चौरासी लाख योनियाँ भोगनेपर भी सर्वथा नष्ट नहीं होते, बाकी रह जाते हैं। फिर भी भगवान् कृपा करके मनुष्यशरीर दे देते हैं, अपने उद्धारका मौका दे देते हैं। परन्तु मनुष्य मिले हुएको अपना मान लेता है। मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुको अपना माननेसे वह वस्तु अशुद्ध हो जाती है। इसलिये शुद्ध करनेसे अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता, प्रत्युत अपना न माननेसे शुद्ध होता है। अतः सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर दो। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिको भगवान्‌का मान लो तो सब शुद्ध निर्मल हो जायँगे। जहाँ अपना माना, वहीं अशुद्ध हो जायँगे और अभिमान आ जायगा।

एक समय बाँकुड़े जिलेमें अकाल पड़ा। सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने नियम रख दिया कि कोई भी आदमी आकर दो घण्टे कीर्तन करे और चावल ले जाय। कारण कि अगर उनको पैसा देंगे तो उससे वे अशुद्ध वस्तु खरीदेंगे। इसलिये पैसा न देकर चावल देते थे। इस तरह सौ-सवा सौ जगह ऐसे केन्द्र बना दिये, जहाँ लोग जाकर कीर्तन करते थे और चावल ले जाते थे। एक दिन सेठजी वहाँ गये। रात्रिके समय बंगाली लोग इकट्ठे हुए। उन्होंने सेठजीसे कहा कि महाराज! आपने हमारे जिलेको जिला दिया, नहीं तो बिना अन्नके लोग भूखों मर जाते! आपने बड़ी कृपा की। सेठजीने बदलेमें बहुत बढ़िया बात कही कि आपलोग झूठी प्रशंसा करते हो। हमने मारवाड़से यहाँ आकर जितने रुपये कमाये, वे सब-के-सब लग जायँ, तबतक तो आपकी ही चीज आपको दी है, हमारी चीज दी ही नहीं। हम मारवाड़से लाकर यहाँ दें, तब आप ऐसा कह सकते हो। हमने तो यहाँसे कमाया हुआ धन भी पूरा दिया नहीं है। सेठजीने केवल सभ्यताकी दृष्टिसे यह बात नहीं कही, प्रत्युत हृदयसे यह बात कही। सेठजीके छोटे भाई हरिकृष्णदासजीसे पूछा गया कि आपने सबको चावल देनेका इतना काम शुरू किया है, इसमें कहाँतक पैसा लगानेका विचार किया है? उन्होंने बड़ी विचित्र बात कही कि जबतक माँगनेवालोंकी जो दशा है—वैसी दशा हमारी न हो जाय, तबतक! कोई धनी आदमी क्या ऐसा कह सकता है? उनके मनमें यह अभिमान ही नहीं है कि हम इतना उपकार करते हैं।

हमलोग विचार ही नहीं करते कि भगवान्‌की हमपर कितनी विलक्षण कृपा है! हम क्या थे, क्या हो गये! भगवान्‌ने कृपा करके क्या बना दिया—इस तरफ देखते ही नहीं, सोचते ही नहीं, समझते ही नहीं। अपने-अपने जीवनको देखें तो मालूम होता है कि हम कैसे थे और भगवान्‌ने कैसा बना दिया! गोस्वामीजीने कहा है—

नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥

(मानस, बाल० २६)

हौं तो सदा खरको असवार,
तिहारोइ नामु गयंद चढ़ायो॥

(कवितावली, उत्तर० ६०)

मैं कितना अयोग्य था, पर आपकी कृपाने कितना योग्य बना दिया! इसलिये भगवान्‌की कृपाकी ओर देखो। हम जो कुछ बने हैं, अपनी बुद्धि, बल, विद्या, योग्यता, सामर्थ्यसे नहीं बने हैं। जहाँ मनमें अपनी बुद्धि, बल आदिसे बननेकी बात आयी, वहीं अभिमान आता है कि हमने ऐसा किया, हमने वैसा किया। इस अभिमानसे बचनेके लिये भगवान्‌को पुकारो। अपने बलसे नहीं बच सकते, प्रत्युत भगवान्‌की कृपासे ही बच सकते हैं। भगवान्‌की स्मृति समस्त विपत्तियोंका नाश करनेवाली है—‘**हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्**’ (श्रीमद्भा० ८। १०। ५५)। इसलिये भगवान्‌को याद करो, भगवान्‌का नाम लो, भगवान्‌के चरणोंकी शरण लो। उनके सिवाय और कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। भगवान्‌के बिना संसारमात्र अनाथ है। भगवान्‌के कारणसे ही संसार सनाथ है। चलती चक्कीमें आकर सब दाने पिस जाते हैं, पर जिस कीलके आधारपर चक्की चलती है, उस कीलके पास जो दाने चले जाते हैं, वे पिसनेसे बच जाते हैं—‘**कोई हरिजन ऊबरे कील माकड़ी पास**’। इसलिये प्रभुके चरणोंकी शरण लो और प्रभुको पुकारो, इसके सिवाय अभिमानसे बचनेका कोई उपाय नहीं है।

२५. साधक, साध्य तथा साधन

एक सत्तामात्रके सिवाय और कुछ नहीं है। उस सत्तामें न ‘मैं’ है, न ‘तू’ है, न ‘यह’ है और न ‘वह’ है। संसारकी सत्ता हमारी मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। सत्तामात्र ‘है’ है और संसार ‘नहीं’ है। ‘नहीं’ नहीं ही है और ‘है’ है ही है—‘**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**’ (गीता २। १६)। ‘नहीं’ का अभाव स्वतःस्वाभाविक है और ‘है’ का भाव स्वतःस्वाभाविक है। वह ‘है’ ही हमारा साध्य है। जो ‘नहीं’ है, वह हमारा साध्य कैसे हो सकता है? उस ‘है’ का अनुभव करना नहीं है, वह तो अनुभवरूप ही है।

तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो साधक वह है जो साध्यके बिना नहीं रह सकता और साध्य वह है जो साधकके बिना नहीं रह सकता। साधक साध्यसे अलग नहीं हो सकता और साध्य साधकसे अलग नहीं हो सकता। कारण कि साधक और साध्यकी सत्ता एक ही है। ‘है’ से अलग कोई हो सकता ही नहीं। इसलिये अगर हम साधक हैं तो साध्यकी प्राप्ति तत्काल होनी चाहिये। साधक वही है, जो साध्यके बिना अन्यकी सत्ता ही स्वीकार न करे। वह साध्यके सिवाय किसीका आश्रय न ले, न पदार्थका, न क्रियाका।

जो साध्यके बिना रहे, वह साधक कैसा और जो साधकके बिना रहे, वह साध्य कैसा? जो माँके बिना रह सके, वह बच्चा कैसा और जो बच्चेके बिना रह सके, वह माँ कैसी? हमारा साध्य हमारे बिना नहीं रह सकता, रहनेकी ताकत ही नहीं; क्योंकि मूलमें सत्ता एक ही है। जैसे समुद्र और लहरमें एक ही जल-तत्त्वकी सत्ता है, ऐसे ही साधक और साध्यमें एक ही सत्ता है। लहररूपसे केवल मान्यता है। जबतक लहररूप शरीर (जड़ता)-से सम्बन्ध है, तबतक साधक है। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर साधक नहीं रहता, केवल साध्य रहता है।

अगर साधक साध्यके बिना रहता है तो समझना चाहिये कि वह साध्यके सिवाय अन्य (भोग तथा संग्रह)-का भी साधक है। उसने अपने मनमें दूसरेको भी सत्ता दी है। अगर साध्य साधकके बिना रहता है तो समझना चाहिये कि साध्यके सिवाय

साधकका अन्य भी कोई साध्य है अर्थात् भोग तथा संग्रह भी साध्य है। हृदयमें नाशवान्‌का जितना महत्त्व है, उतनी ही साधकपनेमें कमी है। साधकपनेमें जितनी कमी रहती है, उतनी ही साध्यसे दूरी रहती है। पूर्ण साधक होनेपर साध्यकी प्राप्ति हो जाती है।

शरीरको मैं, मेरा तथा मेरे लिये माननेसे ही साधकको साध्यकी अप्राप्ति दीखती है। साध्यके सिवाय अन्यकी सत्ता स्वीकार न करना ही उसकी प्राप्तिका बढ़िया उपाय है। इसलिये साधककी दृष्टि केवल इस तरफ रहनी चाहिये कि संसार नहीं है। संसारका पहले भी अभाव था, बादमें भी अभाव हो जायगा और बीचमें भी वह प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। संसारकी स्थिति है ही नहीं। उत्पत्ति-प्रलयकी धारा ही स्थितिरूपसे दीखती है।

साधकके लिये साध्यमें विश्वास और प्रेम होना बहुत जरूरी है। विश्वास और प्रेम उसी साध्यमें होना चाहिये, जो विवेक-विरोधी न हो। मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुमें विश्वास और प्रेम करना विवेक-विरोधी है। विश्वास और प्रेम—दोनोंमें कोई एक भी हो जाय तो दोनों स्वत: हो जायँगे। विश्वास दृढ़ हो जाय तो प्रेम अपने-आप हो जायगा। अगर प्रेम नहीं होता तो समझना चाहिये कि विश्वासमें कमी है अर्थात् साध्य (परमात्मा)-के विश्वासके साथ संसारका विश्वास भी है। पूर्ण विश्वास होनेपर एक सत्ताके सिवाय अन्य (संसार)-की सत्ता ही नहीं रहेगी। साध्यमें विश्वासकी कमी होगी तो साधनमें भी विश्वासकी कमी होगी अर्थात् साध्यके सिवाय अन्य इच्छाएँ भी होंगी। जितनी दूसरी इच्छा है, उतनी ही साधनमें कमी है।

सम्पूर्ण इच्छाओंके मूलमें एक परमात्माकी ही इच्छा है। उसीपर सम्पूर्ण इच्छाएँ टिकी हुई हैं। हमसे भूल यह होती है कि अपनी इस स्वाभाविक (परमात्माकी) इच्छाको हम शरीरकी सहायतासे पूरी करना चाहते हैं। वास्तवमें परमात्माकी प्राप्तिमें शरीर अथवा संसारकी किंचिन्मात्र भी जरूरत नहीं है। परमात्मा अपनेमें हैं; अत: कुछ न करनेसे ही उनका अनुभव होगा। कुछ करनेके लिये तो शरीरकी आवश्यकता है, पर कुछ न करनेके लिये शरीरकी क्या आवश्यकता है? कुछ देखनेके लिये नेत्रोंकी आवश्यकता है, पर कुछ न देखनेके लिये नेत्रोंकी क्या आवश्यकता है? हाँ, नामजप, कीर्तन आदि साधन अवश्य करने चाहिये; क्योंकि इनको करनेसे कुछ न करनेकी सामर्थ्य आती है।

हम परमात्माके अंश हैं, इसलिये हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ ही है। हमारा सम्बन्ध न तो शरीरके साथ है और न शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंके साथ है। हम परमात्माके हैं—इस सत्यपर साधकको दृढ़ विश्वास करना चाहिये। अगर दृढ़ विश्वास न कर सके तो भगवान्‌से माँगे। हम शरीर-संसारके हैं—यह भूल है। भूलको भूल समझनेमें देरी लगती है, पर भूल समझनेपर फिर भूल मिटनेमें देरी नहीं लगती।

यह नियम है कि परमात्माकी प्राप्ति असत् (पदार्थ और क्रिया)-के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत असत्‌के सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। असत्‌से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये साधकको तीन बातोंको स्वीकार करनेकी आवश्यकता है—

१. मेरा कुछ भी नहीं है।

२. मेरेको कुछ नहीं चाहिये।

३. मैं कुछ नहीं हूँ।

अब इन तीन बातोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। पहली बात है—मेरा कुछ भी नहीं है। इसको स्वीकार करनेके लिये साधकको इस बातका मनन करना चाहिये कि हम अपने साथ क्या लाये हैं और अपने साथ क्या ले जायँगे? मनन करनेसे साधकको पता लगेगा कि हम अपने साथ कुछ लाये नहीं और अपने साथ कुछ ले जा सकते नहीं। तात्पर्य यह निकला कि जो वस्तु मिलने और बिछुड़नेवाली है, वह हमारी नहीं हो सकती। जो वस्तु उत्पन्न और नष्ट होनेवाली है, वह हमारी नहीं हो सकती। जो वस्तु आने और जानेवाली है, वह हमारी नहीं हो सकती। कारण कि स्वयं मिलने-बिछुड़नेवाला, उत्पन्न-

नष्ट होनेवाला, आने-जानेवाला नहीं है। अतः सिद्ध हुआ कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें तिल-जितनी वस्तु भी हमारी नहीं है।

दूसरी बात है—मेरेको कुछ नहीं चाहिये। साधकको विचार करना चाहिये कि जब संसारमें कोई वस्तु मेरी है ही नहीं, तो फिर मेरेको क्या चाहिये? शरीरको अपना माननेसे ही चाह पैदा होती है कि हमें रोटी चाहिये, जल चाहिये, कपड़ा चाहिये, मकान चाहिये आदि-आदि। साधक इस बातपर विचार करे कि शरीरसे अलग होकर मेरेको क्या चाहिये? तात्पर्य है कि जब साधक इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि मेरा कुछ भी नहीं है, तब वह इस सत्यको स्वीकार करनेमें समर्थ हो जाता है कि मेरेको कुछ नहीं चाहिये।

तीसरी बात है—मैं कुछ नहीं हूँ। शरीर और संसारको तो सब देखते हैं, पर 'मैं' को किसीने नहीं देखा है। शरीरकी प्रतीति होती है और स्वयंका अनुभव होता है, पर 'मैं' की न तो प्रतीति होती है और न अनुभव ही होता है। 'मैं' का भान होता है। जब साधक इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि मेरेको कुछ नहीं चाहिये, तब वह इस सत्यको स्वीकार करनेमें समर्थ हो जाता है कि 'मैं' कुछ नहीं है। जिसमें संसारकी ममता और परमात्माकी जिज्ञासा है, उसको 'मैं' कह देते हैं, पर वास्तवमें 'मैं' कुछ नहीं है। सुषुप्तिमें स्वयं तो रहता है, पर 'मैं' नहीं रहता। सुषुप्तिमें स्वयंके भावका और 'मैं' के अभावका अनुभव सबको होता है।

मेरा कुछ नहीं है और मेरेको कुछ नहीं चाहिये—इन दो बातोंकी सिद्धि होते ही 'मैं' सत्तामात्रमें अर्थात् 'है' में विलीन हो जाता है। तात्पर्य है कि चेतन-अंश चेतन-तत्त्वमें और जड़-अंश जड़में विलीन हो जाता है। फिर एक सत्तामात्रके सिवाय कुछ नहीं रहता।

प्रकृतिका स्वरूप है—पदार्थ और क्रिया। पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश होता है। क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। शरीरादि पदार्थोंका आश्रय 'पराश्रय' है और क्रियाका आश्रय 'परिश्रम' है। परमात्मप्राप्तिके लिये क्रिया और पदार्थकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। संसारमें तो 'करना' मुख्य है, पर परमात्मामें 'न करना' ही मुख्य है। शरीर और संसारकी सहायतासे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। जो तत्त्व सब जगह परिपूर्ण है, उसकी प्राप्ति 'करने' से कैसे होगी? करनेसे तो उलटे वह दूर होगा!

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, योग्यता, बल आदि सब प्रकृतिके हैं। इनका आश्रय लेना प्रकृतिका आश्रय है। प्रकृतिका आश्रय रखनेपर परमात्माकी प्राप्ति कैसे होगी? शरीर प्रकृतिका होनेसे हमारा नहीं है और हमारे लिये भी नहीं है। इसलिये शरीरके द्वारा जो कुछ भी किया जाय, वह केवल संसारके लिये ही किया जाना चाहिये। शरीरसे जप, ध्यान, पूजन, तीर्थ, व्रत आदि जो कुछ भी किया जाय, वह इस भावसे किया जाय कि दूसरोंका हित हो। अपने लिये कुछ भी करना भोग है, योग नहीं। तात्पर्य हुआ कि शरीर संसारका अंश है, इसलिये शरीरसे होनेवाली प्रत्येक क्रिया संसारके लिये ही है, हमारे लिये नहीं। हमारे लिये केवल परमात्मा हैं; क्योंकि हम उन्हींके अंश हैं। अतः पराश्रय और परिश्रम भोग है। जो पराश्रयको छोड़कर भगवदाश्रयको अपनाता है और परिश्रमको छोड़कर विश्रामको अपनाता है, वह योगी होता है। परन्तु जो पराश्रय और परिश्रमको अपनाता है, वह भोगी होता है।

पराश्रय और परिश्रममें सभी पराधीन हैं, पर भगवदाश्रय और विश्राममें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं। पराश्रय और परिश्रम तो संसारके लिये हैं, पर भगवदाश्रय और विश्राम अपने लिये हैं। साधकको अपनेमें जितनी कमी दीखती है, उतना ही पराश्रय और परिश्रम है। भगवदाश्रय और विश्रामके आते ही मानव-जीवन पूर्ण हो जाता है। कारण कि एक भगवान्‌के सिवाय और कोई ऐसा नहीं है, जो सदा हमारे साथ रहे, कभी हमसे बिछुड़े नहीं। संसारकी प्राप्तिके लिये क्रिया है और परमात्माकी प्राप्तिके लिये विश्राम है। क्रियासे शक्तिका ह्रास होता है और

अक्रियता अर्थात् विश्रामसे शक्तिका संचय होता है। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण शक्तियाँ अक्रिय-तत्त्वसे ही प्रकट होती हैं। मनुष्य दिनभर परिश्रम करके रातको सोता है तो निद्रासे उसकी थकावट मिट जाती है और पुनः कार्य करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। परन्तु निद्राका सुख तामस होता है—'**निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्**' (गीता १८। ३९)। अपने लिये विश्राम करना अर्थात् कुछ न करना भोग है, पर परमात्माके लिये विश्राम करना साधन है; क्योंकि परमात्मा परम विश्राम-स्वरूप हैं। अतः विश्राम अपने लिये न होकर परमात्माके लिये होना चाहिये। नित्य परमात्मसत्तामें निरन्तर स्थित रहना ही परमात्माके लिये विश्राम करना है। परमात्माके लिये होनेवाला विश्राम तामस नहीं होता, प्रत्युत सात्त्विक होकर गुणातीत हो जाता है। इसलिये साधकके लिये सबसे मूल्यवान् वस्तुएँ दो ही हैं—भगवदाश्रय और विश्राम। भगवदाश्रय और विश्रामसे पारमार्थिक इच्छा पूरी हो जाती है और सांसारिक इच्छाएँ मिट जाती हैं। अगर साधकका भगवान्पर विश्वास न हो, प्रत्युत अपनेपर विश्वास हो तो वह स्वाश्रयको अपना सकता है। अगर साधकका न तो भगवान्पर विश्वास हो, न अपनेपर विश्वास हो तो वह धर्मका अर्थात् कर्तव्यका आश्रय अपना सकता है। मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं—यह भगवान्का आश्रय है। मेरा कुछ नहीं है, मेरेको कुछ नहीं चाहिये—यह 'स्व' का आश्रय है। पदार्थ और क्रिया केवल दूसरोंके हितके लिये है—यह धर्मका आश्रय है। भगवान्का आश्रय 'भक्तियोग' है। 'स्व' का आश्रय 'ज्ञानयोग' है। धर्मका आश्रय 'कर्मयोग' है। यद्यपि तीनों ही योगमार्गोंसे पदार्थ और क्रियारूप प्रकृतिका आश्रय छूट जाता है और सत्तामात्रमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है, तथापि इन तीनोंमें भगवान्का आश्रय सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि मूलमें हम भगवान्के ही अंश हैं। भगवदाश्रयसे मुक्तिके साथ-साथ भक्तिकी भी प्राप्ति हो जाती है, जो मानवजीवनका चरम लक्ष्य है।

एक 'है' (सत्तामात्र)-के सिवाय और कुछ नहीं है—ऐसा जाननेसे मुक्ति हो जाती है और वह 'है' अपना है—ऐसा माननेसे भक्ति हो जाती है। वास्तवमें जो 'है', वही अपना हो सकता है। जो 'नहीं' है, वह अपना कैसे हो सकता है? अगर साधक असत्की सत्ता ही स्वीकार न करे और अपना कोई आग्रह न रखे तो भक्ति अपने-आप होती है।

२६. साधक कौन ?

भगवान् कहते हैं—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९। ४) 'यह सब संसार मेरे अव्यक्त (निराकार)-स्वरूपसे व्याप्त है।' जिसकी आकृति होती है, उसको 'मूर्ति' कहते हैं और जिसकी कोई भी आकृति नहीं होती, उसको 'अव्यक्तमूर्ति' कहते हैं। जैसे भगवान् अव्यक्तमूर्ति हैं, ऐसे ही साधक भी अव्यक्तमूर्ति होता है '**अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते**' (गीता २। २५)।

साधक शरीर नहीं होता—ऐसी बात ग्रन्थोंमें आती नहीं, पर वास्तवमें बात ऐसी ही है। साधक भावशरीर होता है। वह योगी होता है, भोगी नहीं होता। भोग और योगका आपसमें विरोध है। भोगी योगी नहीं होता और योगी भोगी नहीं होता। साधक कोई भी काम भोगबुद्धि अथवा सुखबुद्धिसे नहीं करता, प्रत्युत योगबुद्धिसे करता है। समताका नाम 'योग' है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)। समता भाव है। अतः साधक भावशरीर होता है।

स्थूलशरीर प्रतिक्षण बदलता है। ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिस क्षणमें शरीरका परिवर्तन न होता हो। परमात्माकी दो प्रकृतियाँ हैं। शरीर अपरा प्रकृति है और जीव परा प्रकृति है। परा प्रकृति अव्यक्त है और

अपरा प्रकृति व्यक्त है। सम्पूर्ण प्राणी पहले अव्यक्त हैं, बीचमें व्यक्त हैं और अन्तमें अव्यक्त हैं।* स्वप्न आता है तो पहले जाग्रत् है, बीचमें स्वप्न है और अन्तमें जाग्रत् है। जैसे मध्यमें स्वप्न है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी मध्यमें व्यक्त हैं।

यह सिद्धान्त है कि जो आदि और अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी नहीं होता—'**आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा**' (माण्डूक्यकारिका २। ६, ४। ३१)। प्राणी आदिमें और अन्तमें अव्यक्त हैं; अतः बीचमें व्यक्त दीखते हुए भी वे वास्तवमें अव्यक्त ही हैं। व्यक्तमें दो व्यक्ति भी एक (समान) नहीं होते, पर अव्यक्तमें सब-के-सब एक हो जाते हैं। अतः अव्यक्तमें सबको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। जो सबको प्राप्त हो सकता है, वही परमात्मा होता है। जो किसीको प्राप्त होता है, किसीको प्राप्त नहीं होता, वह परमात्मा नहीं होता, प्रत्युत संसार होता है। इसलिये परमात्माकी प्राप्ति अव्यक्तको होती है और अव्यक्तमें होती है।

अव्यक्त ही साधक होता है। व्यक्त साधक नहीं होता। व्यक्त तो एक क्षण भी नहीं ठहरता। '**प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः**' 'चितिशक्ति' (चेतन शक्ति)-को छोड़कर सभी भाव प्रतिक्षण परिणामी हैं अर्थात् एक क्षण भी स्थिर रहनेवाले नहीं हैं। विचार करें, जब हमने माँसे जन्म लिया था, उस समय हमारे शरीरका क्या रूप था और आज क्या रूप है? विचार करनेपर यह मानना ही पड़ेगा कि शरीर-संसार प्रतिक्षण बदलते हैं। बदलनेके पुंजका नाम ही संसार है। जो बदलता है, वह साधक कैसे हो सकता है? साधक वही होता है, जो बदलता नहीं। साधकको सिद्धि होती है तो शरीर सिद्ध नहीं होता। सिद्ध तो अशरीरी होता है। इसलिये साधकको सबसे पहले यह बात मान लेनी चाहिये कि शरीर मेरा स्वरूप नहीं है, चाहे समझमें आये या न आये।

ज्ञानमार्गमें पहले साधक समझता है, फिर वह मान लेता है। भक्तिमार्गमें पहले मानता है, फिर समझ लेता है। तात्पर्य है कि ज्ञानमें विवेक मुख्य है और भक्तिमें श्रद्धा-विश्वास। ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गमें यही फर्क है। दोनों मार्गोंमें एक-एक विलक्षणता है। ज्ञानमार्गवाला साधक तो आरम्भसे ही ब्रह्म हो जाता है, ब्रह्मसे नीचे उतरता ही नहीं, पर भक्त सिद्ध हो जानेपर, परमात्माकी प्राप्ति हो जानेपर भी ब्रह्म नहीं होता, प्रत्युत ब्रह्म ही उसके वशमें हो जाता है! गोस्वामीजी महाराजने सब ग्रन्थ लिखनेके बाद अन्तमें विनय-पत्रिकाकी रचना की। उसमें वे छोटे बच्चेकी तरह सीता माँसे कहते हैं—

कबहुँक अंब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ॥ १॥
दीन, सब अँगहीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥ २॥
बूझिहैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥ ३॥
जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ॥ ४॥

तात्पर्य है कि सिद्ध, भगवत्प्राप्त होनेपर भी भक्त अपनेको सदा छोटा ही समझते हैं। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो ऐसे भक्त ही वास्तवमें ज्ञानी हैं। गीतामें भी भगवान्ने गुणातीत महापुरुषको ज्ञानी नहीं कहा, प्रत्युत अपने भक्तको ही ज्ञानी कहा है (गीता ७। १६—१८)। भगवान्ने ज्ञानमार्गीको 'सर्ववित्' (सर्वज्ञ) भी नहीं कहा, प्रत्युत भक्तको ही 'सर्ववित्' कहा है—'**स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत**' (गीता १५। १९)। गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

भक्तिके बिना भीतरका सूक्ष्म मल (अहम्)

* अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ (गीता २। २८)

मिटता नहीं। वह मल मुक्तिमें तो बाधक नहीं होता, पर दार्शनिकों और उनके दर्शनोंमें मतभेद पैदा करता है। जब वह सूक्ष्म मल मिट जाता है, तब मतभेद नहीं रहता। इसलिये भक्त ही वास्तविक ज्ञानी है।

शरीर हमारा स्वरूप नहीं है। शरीर पृथ्वीपर ही (माँके पेटमें) बनता है, पृथ्वीपर ही घूमता-फिरता है और मरकर पृथ्वीमें ही लीन हो जाता है। इसकी तीन गतियाँ बतायी गयी हैं—या तो इसकी भस्म हो जायगी, या मिट्टी हो जायगी, या विष्ठा हो जायगी। इसको जला देंगे तो भस्म बन जायगी, पृथ्वीमें गाड़ देंगे तो मिट्टी बन जायगी और जानवर खा लेंगे तो विष्ठा बन जायगी। इसलिये शरीरकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत अव्यक्त स्वरूपकी मुख्यता है—

भूमा अचल शाश्वत अमल सम ठोस है तू सर्वदा।
यह देह है पोला घड़ा बनता बिगड़ता है सदा॥

इसलिये वास्तवमें साधक अव्यक्त होकर ही भगवान्‌का भजन करते हैं। एक पांचभौतिक शरीर होता है और एक अव्यक्त भावशरीर होता है। भजन-ध्यान वास्तवमें भावशरीरसे ही होता है। भजन नाम प्रेमका है—***'पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन'*** (मानस, अरण्य० १० में पाठभेद)। प्रेम भाव-शरीरसे ही होता है। अतः वास्तवमें अव्यक्तमूर्ति ही भगवान्‌में प्रेम करता है, भगवान्‌का भजन करता है, भगवान्‌में तल्लीन होता है। उसीको भगवान् मीठे लगते हैं, भगवान्‌की बात अच्छी लगती है, भगवान्‌की लीला अच्छी लगती है, भगवान्‌का नाम अच्छा लगता है।

भगवान्‌ने कहा है कि यह जीव अनादिकालसे मेरा ही अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (गीता १५। ७)। यहाँ **'मम एव अंशः'** कहनेका तात्पर्य है कि जैसे शरीरमें माता-पिता दोनोंका अंश है, ऐसे जीवमें प्रकृतिका अंश नहीं है, प्रत्युत केवल मेरा ही अंश है। प्रकृतिका अंश शरीर तो प्रकृतिमें ही स्थित रहता है, पर जीव परमात्माका अंश होते हुए भी परमात्मामें स्थित नहीं रहता। वह अपने-आपको संसारमें स्थित मानता है, भगवान्‌में स्थित नहीं मानता। वह प्रकृतिमें स्थित शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना स्वरूप मान लेता है—**'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'**। इसलिये 'मैं शरीरसे रहित हूँ'—यह बात उसकी समझमें नहीं आती। मनुष्यकी सबसे बड़ी कोई भूल है तो यही है कि वह प्रतिक्षण बदलनेवाले शरीरको अपना स्थायी रूप मान लेता है।

भगवान्‌ने गीताके आरम्भमें शरीर और शरीरी (शरीरवाले)-का वर्णन किया है, जिसका तात्पर्य साधकमात्रको यह बताना है कि तुम शरीर नहीं हो। वास्तवमें साधक न शरीर है और न शरीरी ही है। साधकका स्वरूप सत्तामात्र है, पर समझानेकी दृष्टिसे भगवान्‌ने स्वरूपको 'शरीरी' नामसे कहा है। कारण कि संसारमें जैसे धनके सम्बन्धसे मनुष्य 'धनी' कहलाता है, ऐसे ही शरीरके सम्बन्धसे स्वरूप 'शरीरी' कहलाता है। जैसे धनका सम्बन्ध न रहनेपर धनी (मनुष्य) तो रहता है, पर उसका नाम 'धनी' नहीं रहता, ऐसे ही शरीरका सम्बन्ध न रहनेपर शरीरी (स्वरूप) तो रहता है, पर उसका नाम 'शरीरी' नहीं रहता। इसी तरह एक ही स्वरूप क्षेत्रके सम्बन्धसे 'क्षेत्रज्ञ', दृश्यके सम्बन्धसे 'द्रष्टा' और साक्ष्यके सम्बन्धसे 'साक्षी' कहलाता है। पर वास्तवमें स्वरूप न शरीर है, न शरीरी है; न क्षेत्र है, न क्षेत्रज्ञ है; न दृश्य है, न द्रष्टा है; न साक्ष्य है, न साक्षी है, प्रत्युत चिन्मय सत्तामात्र है।

यहाँ एक बात विशेष समझनेकी है कि जैसे धनके कारण धनी है, ऐसे शरीरके कारण शरीरी नहीं है। कारण कि जैसे धन और धनी—दोनों एक जातिके हैं, ऐसे शरीर और शरीरी—दोनों एक जातिके नहीं हैं। जैसे धनीका धनमें आकर्षण होता है, ऐसे शरीरीका शरीरमें कभी आकर्षण नहीं होता, प्रत्युत आकर्षणकी मान्यता होती है। धनीमें तो धनकी मुख्यता है, पर शरीरीमें शरीरकी मुख्यता है ही नहीं। धनके विकार तो धनीमें आते हैं, पर शरीरके विकार शरीरीमें कभी नहीं आते। इसलिये धनसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर धनी रोता है, पर शरीरसे

सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर शरीरी अखण्ड, अपार, असीम आनन्दका अनुभव करता है। धन और धनीके विवेकसे मुक्ति नहीं होती, पर शरीर और शरीरीके विवेकसे मुक्ति हो जाती है। इसलिये धनके सम्बन्ध-विच्छेदसे धनी मुक्त नहीं होता, प्रत्युत निर्धन अथवा विरक्त हो जाता है, पर शरीरके सम्बन्ध-विच्छेदसे शरीरी सदाके लिये मुक्त हो जाता है। कारण कि शरीर संसारका बीज है। अतः जिसका शरीरके साथ सम्बन्ध है, उसका संसारमात्रके साथ सम्बन्ध है। शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर संसारमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

संसारमें हमें दो चीजें दीखती हैं—पदार्थ और क्रिया। ये दोनों ही प्रकृतिके कार्य हैं। साधारण दृष्टिसे हमलोगोंको संसारमें पदार्थ प्रधान दीखता है, पर वास्तवमें क्रिया प्रधान है, पदार्थ प्रधान नहीं है। पदार्थमें हरदम परिवर्तन-ही-परिवर्तन होता है तो फिर क्रिया ही हुई, पदार्थ कहाँ हुआ? क्रियाका पुंज ही पदार्थरूपसे दीखता है। वह क्रिया भी बदलनेवाली है। ये क्रिया और पदार्थ प्रकृतिका स्वरूप हैं, हमारा स्वरूप नहीं हैं। हमारा स्वरूप क्रिया और पदार्थसे रहित 'अव्यक्त' है। जैसे हम मकानमें बैठे हुए हैं तो मकान अलग है, हम अलग हैं। इसलिये हम मकानको छोड़कर चले जाते हैं। ऐसे ही हम शरीरमें बैठे हुए हैं। शरीर यहीं पड़ा रहता है, हम चले जाते हैं। मकान पीछे रहता है, हम अलग हो जाते हैं तो वास्तवमें हम पहलेसे ही उससे अलग हैं। ऐसे ही हम शरीरसे अलग हो जाते हैं तो वास्तवमें हम पहलेसे ही शरीरसे अलग हैं। वास्तवमें हम शरीरमें रहते नहीं हैं, प्रत्युत रहना मान लेते हैं। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—'**अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्**' (गीता २।१७) 'अविनाशी तो उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है।' तात्पर्य है कि स्वरूप सर्वव्यापी है, एक शरीरमें सीमित नहीं है—'**नित्यः सर्वगतः**' (गीता २। २४)। जबतक वह शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक वह साधक है। शरीरका सम्बन्ध सर्वथा छूटनेपर वह सिद्ध हो जाता है।

शास्त्रमें आता है कि देव होकर देवका भजन करना चाहिये—'**देवो भूत्वा यजेद्देवम्**'। इसलिये अव्यक्त होकर ही अव्यक्त परमात्माका भजन करना चाहिये। शरीर तो क्षण-प्रतिक्षण बदलता है, पर साधक क्षण-प्रतिक्षण बदलनेवाला साधक थोड़े ही है! क्षण-प्रतिक्षण बदलनेवाला मुक्त कैसे होगा? नित्य कैसे होगा? स्वरूपका विनाश कोई कर सकता ही नहीं—'**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति**' (गीता २। १७), पर शरीर नष्ट हुए बिना रहता ही नहीं। जो अविनाशी होता है, वही मुक्त होता है। विनाशी मुक्त कैसे होगा? बन्धनका वहम (मोह) मिट जाय—इसको मुक्ति कहते हैं। इसलिये एक बार मोह मिटनेपर पुनः मोह नहीं होता—'**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्**' (गीता ४। ३५)। कारण कि मूलमें मोह है नहीं। जो वास्तवमें है नहीं, वही मिटता है। जो है, वह मिटता ही नहीं। सत्‌का अभाव नहीं होता और जिसका अभाव होता है, वह सत् नहीं होता, प्रत्युत असत् होता है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

शरीर तो भोगायतन है। जैसे रसोईघर भोजन करनेका स्थान है, ऐसे ही शरीर सुख-दुःख भोगनेका स्थान है। सुख-दुःख भोगनेवाला शरीर नहीं होता। भोगनेका स्थान और होता है, भोगनेवाला और होता है। शरीर तो ऊपरका चोला है। हम लाल, काला, सफेद आदि कैसा ही कपड़ा पहनें, वह स्वरूप थोड़े ही होता है! ऐसे ही स्त्री-पुरुष ऊपरका चोला है। स्वरूप न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है। परमात्मा, प्रकृति और जीव—ये तीनों ही अलिंग हैं।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार—इन सबके अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। जिसके अभावका अनुभव होता है, उससे हम अतीत

हैं। हमारी भावरूप सत्ता हरदम रहती है। सुषुप्तिमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार कुछ भी नहीं रहता, सब लीन हो जाते हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं कहता कि सुषुप्तिमें मैं मर गया था, अब जी गया हूँ। सुषुप्तिमें भी हम रहते हैं, तभी तो हम कहते हैं कि मैं बड़े सुखसे सोया कि कुछ भी पता नहीं था। सुषुप्तिमें भी हमारा होनापन ज्यों-का-त्यों था। कारण कि हमारी सत्ता (होनापन) अहंकारके अधीन नहीं है, बुद्धिके अधीन नहीं है, मनके अधीन नहीं है, इन्द्रियोंके अधीन नहीं है, शरीरके अधीन नहीं है। हमारी सत्ता स्वतन्त्र है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण सब शरीरोंका अभाव होता है, पर हमारा अभाव नहीं होता। इसलिये हमारा स्वरूप निराकार है। साकाररूप शरीर पीछे बनता है और मिट जाता है। हम निराकार-रूपसे हैं, पर शरीररूपसे अपनेको साकार मानते हैं। यह मूल भूल है। इस भूलका हमें प्रायश्चित्त करना है। प्रायश्चित्त करनेमें तीन बातें हैं—१-अपनी भूलको स्वीकार करें कि अपनेको शरीर मानकर मैंने भूल की। २-अपनी भूलका पश्चात्ताप करें कि मनुष्य (साधक) होकर मैंने ऐसी भूल की और ३-ऐसा निश्चय करें कि अब आगे मैं कभी भूल नहीं करूँगा अर्थात् अपनेको कभी शरीर नहीं मानूँगा। ये तीन बातें होनेसे प्रायश्चित्त हो जाता है और साधक अपने वास्तविक अव्यक्त स्वरूपमें स्थित हो जाता है।

२७. मुक्ति स्वाभाविक है

परमात्मतत्त्व समान रूपसे सबमें परिपूर्ण है। सबमें परिपूर्ण होनेपर भी विलक्षणता यह है कि वह ज्यों-का-त्यों रहता है, जबकि संसारमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। गीतामें आया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥

(१३। १९)

'प्रकृति और पुरुष दोनोंको ही तुम अनादि समझो और विकारोंको तथा गुणोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न समझो।'

यद्यपि प्रकृति और पुरुष—दोनों ही अनादि हैं, तथापि परिवर्तनशील विकार और गुण प्रकृतिसे ही होते हैं। पुरुष (जीवात्मा) अपरिवर्तनशील है।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

(गीता १३। २०)

'कार्य और करणके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको उत्पन्न करनेमें प्रकृति हेतु कही जाती है और सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें पुरुष हेतु कहा जाता है।'

पुरुष भोक्तापनमें हेतु तो है, पर क्रियामें हेतु नहीं है। सभी भोग क्रियाजन्य होते हैं। जब पुरुष प्रकृतिमें स्थित होता है, तभी वह भोक्ता होता है—'**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**' (गीता १३। २१)। प्रकृतिसे अलग होनेपर पुरुष भोक्ता नहीं होता। यह पुरुषकी विलक्षणता है कि देहमें स्थित होता हुआ भी वह देहसे पर है अर्थात् देहसे असंग, अलिप्त, असम्बद्ध है—'**देहेऽस्मिन्पुरुषः परः**' (गीता १३। २२)। शरीरके साथ अपनी एकता माननेसे ही वह कर्ता-भोक्ता बनता है, अन्यथा वह कर्ता-भोक्ता है ही नहीं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। जैसे सूर्य सबको प्रकाशित करता है, पर वह किसी क्रियाका कर्ता नहीं बनता। सूर्यके प्रकाशमें कोई वेद पढ़ता है तो सूर्य उस पुण्यका भागी नहीं होता और कोई शिकार करता है तो सूर्य उस पापका भागी नहीं होता। ऐसे ही पुरुष शरीरके साथ सम्बन्ध न जोड़े तो वह पाप-पुण्यका भागी नहीं होता।

जीवात्माकी प्रकृतिके साथ मानी हुई एकता है और परमात्माके साथ स्वरूपसे एकता है; क्योंकि यह परमात्माका ही अंश है। शरीरके साथ सम्बन्ध

जोड़नेसे यह कर्ता–भोक्ता बनता है और जन्म–मरणमें चला जाता है। अगर यह शरीरके साथ सम्बन्ध न जोड़े तो मुक्त हो जाता है। वास्तवमें यह मुक्त ही है। यह स्वत:स्वाभाविक सबमें परिपूर्ण होते हुए भी अपनेको एक शरीरमें स्थित मान लेता है और जन्म–मरणके चक्करमें पड़ जाता है। अगर यह अपने निर्विकल्प स्वरूपमें स्थित रहे तो शरीरमें रहता हुआ भी कर्ता–भोक्ता नहीं बनता। जीवात्मामें निर्लिप्तता स्वाभाविक है और लिप्तता कृत्रिम है। परन्तु निर्लिप्तताकी तरफ उसकी दृष्टि नहीं है। यह मुक्त होता नहीं है, प्रत्युत मुक्त है, पर उस तरफ इसकी दृष्टि नहीं है। जैसे परमात्मा सबमें परिपूर्ण रहते हुए भी कर्ता–भोक्ता नहीं बनते, ऐसे ही सबमें परिपूर्ण रहते हुए भी जीवात्मा कर्ता–भोक्ता नहीं बनता। जीवात्माका परमात्मासे साधर्म्य है—‘**मम साधर्म्यमागताः**’ (गीता १४। २)। यह साधर्म्य स्वत:स्वाभाविक है।

उपर्युक्त बातोंसे यह सिद्ध हुआ कि हम अपनेको जो संसारी आदमी मानते हैं कि हम संसारमें तो हैं और परमात्माको प्राप्त करेंगे, ऐसी बात नहीं है। हम परमात्माको प्राप्त हैं, पर उधर ध्यान न होनेसे हम परमात्माको अप्राप्त मानते हैं। मानी हुई बात मिट जाती है तो मुक्तपना स्वत: रह जाता है। तात्पर्य है कि गलत बात न मानें तो मुक्त होना स्वाभाविक है। बद्ध होना अस्वाभाविक है। परन्तु मनुष्योंने भूलसे मान लिया है कि बद्ध होना स्वाभाविक है और मुक्त होना अस्वाभाविक है, इसलिये मेहनत करेंगे, उद्योग करेंगे, तब मुक्त होंगे, अन्यथा बद्ध ही रहेंगे! मुक्ति स्वाभाविक है, तभी एक बार मुक्त होनेपर फिर पुन: मोह नहीं होता—‘**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्**’ (गीता ४। ३५)। अगर मनुष्य वास्तवमें मोहित (बद्ध) होता तो फिर सदा मोहित ही रहता। इसलिये वास्तवमें मुक्त ही मुक्त होता है! अगर वह वास्तवमें बद्ध होता तो फिर कभी मुक्त होता ही नहीं। परन्तु मुक्त होता हुआ भी वह अपनेको बद्ध मान लेता है। यह माना हुआ बन्धन मिटनेपर जो मुक्ति स्वत:स्वाभाविक है, उसका अनुभव हो जाता है।

बद्धावस्थामें भी जीव वास्तवमें लिप्त नहीं है—‘**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**’ (गीता १३। ३१)। बद्धावस्थामें भी वह तटस्थ, अलग है, पर अलगावका अनुभव न करके लिप्तताका अनुभव करता है। इसलिये बद्धपना माना हुआ है और मुक्तपना इसका स्वत: वास्तविक स्वरूप है। जो हमारा वास्तविक स्वरूप है, उसीको जानना है। उसको जाननेपर फिर मोह नहीं होगा।

बन्धन आगन्तुक है, मुक्ति स्वत:सिद्ध है। हमने अस्वाभाविकको स्वाभाविक और स्वाभाविकको अस्वाभाविक मान लिया है, इसलिये बँधे हुए रहते हैं। वास्तवमें जड़ और चेतनका सम्बन्ध होना असम्भव है। जैसे अन्धकार और प्रकाश आपसमें नहीं मिल सकते, ऐसे ही जड़ और चेतन आपसमें नहीं मिल सकते। परन्तु चेतनमें यह शक्ति है कि वह जड़को अपने साथ मिला हुआ मान लेता है। चेतन सत्य है, इसलिये वह जो मान्यता कर लेता है, वह भी सत्यकी तरह हो जाती है। यह शक्ति जड़में नहीं है। जड़ने चेतनको अपना नहीं माना है, प्रत्युत चेतनने ही जड़को अपना माना है, तभी वह बद्ध होता है। अगर यह जड़को अपना न माने तो बनावटी बन्धन मिट जायगा और स्वाभाविक मुक्तिका अनुभव हो जायगा। इसलिये मुक्ति सहज है, स्वाभाविक है। बद्धपना बनावटी है, अस्वाभाविक है।

हमारा स्वरूप स्वाभाविक मुक्त है। प्रकृतिमें निरन्तर क्रिया होती है—सर्गावस्थामें भी और प्रलयावस्थामें भी। पर स्वरूपमें कभी क्रिया होती ही नहीं। वह है ज्यों ही रहता है। अनन्त–अनन्त–अनन्त काल बीत जायँ तो भी वह है ज्यों–का–त्यों रहेगा। वह अनेक शरीर धारण करनेपर भी उनसे अलग रहता है। एक दिनमें कई क्रियाएँ करता है, पर स्वयं अलग रहता है। अलग रहनेसे ही वह पहली क्रियाको छोड़कर दूसरी क्रिया पकड़ता है, दूसरीको छोड़कर तीसरी पकड़ता है, तीसरीको छोड़कर चौथी पकड़ता है। अगर स्वरूपमें भी क्रियाशीलता होती तो वह सदा एक ही क्रियामें और एक ही शरीरमें रहता। वह पहली क्रियाको छोड़कर दूसरीको कैसे पकड़ता? एक शरीरको छोड़कर चौरासी लाख योनियोंके दूसरे

शरीरोंमें कैसे जाता? सबसे अलग होनेपर भी यह जड़ शरीर, वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके साथ सम्बन्ध जोड़कर बँध जाता है। बँध जानेके बाद फिर छूटना कठिन हो जाता है—

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

(मानस, उत्तर० ११७। २)

वास्तवमें यह बँधा हुआ है ही नहीं। इसलिये मुक्ति स्वाभाविक है—यह बात हरेकको मान लेनी चाहिये। बन्धन अस्वाभाविक है, कृतिसाध्य है। मुक्ति कृतिसाध्य नहीं है।

गीतामें आया है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(३। ५)

'कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृतिके परवश हुए सब प्राणियोंसे प्रकृतिजन्य गुण कर्म करवा लेते हैं।'

—यह प्रकृतिस्थ पुरुषका वर्णन है। वास्तवमें पुरुष किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कोई कर्म नहीं करता, पर प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेपर वह किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता। प्रकृतिकी क्रिया कभी मिटती ही नहीं और पुरुष (जीवात्मा)-में क्रिया लागू होती ही नहीं। यह स्वतः-स्वाभाविक असंग, निर्लिप्त रहता है। परन्तु प्रकृतिसे सम्बन्ध मानकर इसने मुक्तिको कृतिसाध्य, उद्योगसाध्य मान लिया है।

हम कोई कर्म करें, तभी शरीर काम आता है। कोई भी कर्म न करें तो शरीरका क्या उपयोग है? शरीरसे परिवारकी, समाजकी अथवा संसारकी सेवा कर सकते हैं। अपने लिये शरीर है ही नहीं। स्थूलशरीरसे कोई काम न करें तो स्थूलशरीर निकम्मा है। कोई चिन्तन न करें तो सूक्ष्मशरीर निकम्मा है। स्थिरतामें अथवा समाधिमें न रहें तो कारणशरीर निकम्मा है।* तात्पर्य है कि ये सब क्रियाएँ स्वरूपमें नहीं होतीं, पर मनुष्य इनको अपनेमें मान लेता है। यह मान्यता ही बन्धन है। अपनेको कर्ता माननेसे यह बँध जाता है—'**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७) और अपनेको कर्ता न माननेसे यह मुक्त हो जाता है—'**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (गीता ५। ८)। जैसे मनुष्य एक लड़कीके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है तो उसका पूरे ससुराल (सास-ससुर, साला-साली आदि)-के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। ऐसे ही एक शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंसे सम्बन्ध जुड़ जाता है अर्थात् शरीरसे होनेवाली क्रियाएँ अपनी क्रियाएँ हो जाती हैं। शरीरसे स्वाभाविक अलगावका अनुभव हो जाय तो फिर जन्म-मरण नहीं होता।

शरीरके साथ सम्बन्ध रखते हुए मनुष्य कर्म करनेसे भी बँधता है और कर्म न करनेसे भी बँधता है। परन्तु शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर वह कर्म करते हुए भी वास्तवमें कुछ नहीं करता—'**कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः**' (गीता ४। २०) जैसे, दहीके साथ घी भी रहता है, पर दहीमेंसे घी निकाल दिया जाय तो फिर वह उसमें (छाछमें) नहीं मिलता, अलग हो जाता है। ऐसे ही शरीरसे अलग होनेके बाद फिर स्वयं उससे नहीं मिलता। वास्तवमें वह मिला हुआ होनेपर भी अलग ही है, पर मिला हुआ मान लेता है। तात्पर्य है कि जड़ चेतनतक नहीं पहुँचता, पर चेतन जड़तक पहुँचता है और उसके साथ सम्बन्ध मान लेता है तथा जड़में होनेवाली क्रियाओंको, विकारोंको अपनेमें मान लेता है। अगर सम्बन्ध न माने तो बन्धन है ही नहीं और मुक्ति स्वाभाविक है।

---

* जब साधक स्थिरतासे भी तटस्थ हो जाता है और स्थिरताका भी साक्षी हो जाता है, तब वह कारणशरीरसे भी अलग हो जाता है, जो उसका वास्तविक स्वरूप है।

२८. हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं

एक बात साधकमात्रके हृदयमें बैठ जानी चाहिये कि हम सब भगवान्‌के पुत्र हैं—'**अमृतस्य पुत्राः**'। कारण कि हम सब भगवान्‌के ही अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**'। हमसे यही गलती होती है कि हम जिनके अंश हैं, उन भगवान्‌को अपना न मानकर जड़ वस्तुओं (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि)-को अपना मान लेते हैं—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७)। जड़ वस्तुओंको अपना माननेसे ही बन्धन हुआ है। यदि अपना न मानें तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है। जड़ वस्तु अपनी नहीं है। यदि अपनी होती तो सदा अपने साथ रहती। न शरीर साथ रहेगा, न इन्द्रियाँ साथ रहेंगी, न मन साथ रहेगा, न बुद्धि साथ रहेगी, न प्राण साथ रहेंगे। कोई भी चीज साथमें नहीं रहेगी। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त चीजें हैं, पर उनमेंसे केश-जितनी चीज भी हमारी नहीं है। फिर शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण अपने कैसे हुए?

एक वस्तु अपनी होती है और एक वस्तु अपनी मानी हुई होती है। शरीर आदि अपने नहीं हैं, प्रत्युत अपने माने हुए हैं। जैसे कोई खेल होता है तो उस खेलमें कोई राजा बनता है, कोई रानी बनती है, कोई सिपाही बनते हैं तो वे सब माने हुए होते हैं, असली नहीं होते। इसी तरह संसारमें व्यक्ति और पदार्थ केवल व्यवहारके लिये अपने माने हुए होते हैं। वे वास्तवमें अपने नहीं होते। अपना न स्थूलशरीर है, न सूक्ष्मशरीर है, न कारणशरीर है। जब अपना कुछ है ही नहीं तो फिर हमें क्या चाहिये? अपने तो केवल भगवान् ही हैं। हम उन्हींके अंश हैं। भगवान्‌के सिवाय और कोई भी अपना नहीं है। भगवान्‌के सिवाय जो कुछ है, सब मिला हुआ है और छूटनेवाला है।

विचार करें, आप आये तो कोई वस्तु साथ लाये क्या? और जाते हुए कोई वस्तु साथ ले जाओगे क्या? सब कुछ यहीं पड़ा रहेगा। परन्तु उनको अपने काममें लेते रहनेसे आदत पड़ गयी, जिससे उसकी ममता छोड़ना कठिन हो रहा है। गाढ़ नींदमें आपको इन्द्रियाँ-अन्तःकरणसे कुछ भी अनुभव नहीं होता। इसलिये जगनेपर कहते हैं कि मैं ऐसा सुखसे सोया कि कुछ पता नहीं था अर्थात् सबके अभावका और सुखके भावका अनुभव होता है। इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रियोंके बिना भी हमें सुखका अनुभव हुआ। कारण यह है कि जीव स्वाभाविक ही सुखरूप है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। १)

जीवमें स्वाभाविक ही सुख है, दुःख है ही नहीं। दुःख-सन्ताप जड़के सम्बन्धसे ही होते हैं। मनमें जो पुरानी बात याद आती है कि बालकपनमें मैं खेलता था, पढ़ता था, जवानीपनमें मैं अमुक कार्य करता था, वह याद आना भी मनमें ही है, हमारेमें नहीं है। जो काम शरीरसे होता है, वह हमारेसे नहीं होता। स्थूल और सूक्ष्म-शरीरसे भोगे गये भोग हमारेमें नहीं हैं। हम उनसे अलग हैं। यह विशेष ध्यान देनेकी बात है। हमारे साथ कोई भी चीज रहनेवाली नहीं है। हम शरीर नहीं हैं, प्रत्युत भगवान्‌के साक्षात् अंश हैं। हमारेमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं हैं। गीताने बहुत बढ़िया बात कही है—

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(१३। ३१)

'यह (आत्मा) शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

तात्पर्य है कि कर्तापन और भोक्तापन शरीरमें है, पर हम उसको अपनेमें मान लेते हैं। इसी बातका विवेचन भगवान्‌ने गीतामें आकाश और सूर्यका दृष्टान्त देकर किया है कि जैसे आकाश किसी भी वस्तुसे लिप्त नहीं होता, ऐसे ही आत्मा भी किसी देहसे लिप्त नहीं होती; और जैसे सूर्य तीनों लोकोंको प्रकाशित करता है, ऐसे ही आत्मा सम्पूर्ण शरीरोंको प्रकाशित करती है (गीता १३। ३२-३३)। तात्पर्य

है कि सूर्यके प्रकाशमें ही वेदका पाठ होता है और सूर्यके प्रकाशमें ही व्याध शिकार करता है, पर सूर्यको उन क्रियाओंका न पुण्य लगता है, न पाप। कारण कि सूर्य किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं बनता। भगवान् कहते हैं—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

'जिसका अहंकृतभाव (मैं कर्ता हूँ—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह युद्धमें इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

जैसे आकाश भोक्ता नहीं है, ऐसे ही हम भी भोक्ता नहीं हैं और जैसे सूर्य कर्ता नहीं है, ऐसे ही हम भी कर्ता नहीं हैं। स्वरूपमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व है ही नहीं। यह कितनी विलक्षण, अलौकिक, सच्ची बात है! कर्तृत्व और भोक्तृत्व ही संसार है। कर्तापना और लिप्तपना न हो तो संसार है ही नहीं। स्वयं शरीरमें रहता हुआ भी न करता है, न लिप्त होता है। यह साधकमात्रके लिये बड़े कामकी बात है। यह भगवान्ने हमारी वस्तुस्थिति बतायी है। इसमें कई दिन, कई महीने, कई वर्ष, कई जन्म लगेंगे—यह बात नहीं है। ऐसा नहीं है कि शरीरके मरनेपर मुक्ति होगी। शरीरके रहते हुए भी मुक्ति स्वत:सिद्ध है—'**शरीरस्थोऽपि**'।

अहंकारसे मोहित अन्त:करणवाला ही अपनेको कर्ता मानता है—'**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)। अहंकार अपरा प्रकृति है। परन्तु अहंकारसे मोहित होते हुए भी वास्तवमें वह कर्ता-भोक्ता नहीं है। न तो ब्रह्म कर्ता-भोक्ता है, न जीव कर्ता-भोक्ता है और न आत्मा ही कर्ता-भोक्ता है। कर्ता-भोक्तापन केवल माना हुआ है। इसीलिये भगवान्ने कहा है कि तत्त्ववेत्ता पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा न माने—'**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (गीता ५। ८)। हम परमात्माके अंश हैं; अत: हम अहंकारसे मोहित नहीं हैं; क्योंकि हम परा प्रकृति हैं और अहंकार अपरा प्रकृति है। अहंकारसे हम मोहित नहीं होते, प्रत्युत अन्त:करण मोहित होता है। अन्त:करणसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण हम कर्ता-भोक्ता बन जाते हैं।

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें कोई भी चीज हमारी नहीं है तो शरीर हमारा कैसे हुआ? अहंकारसे मोहित अन्त:करणवाला हमारा कैसे हुआ? तभी भगवान्ने कहा है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**'। गीताके तेरहवें अध्यायका इकतीसवाँ, बत्तीसवाँ तथा तैंतीसवाँ श्लोक, अठारहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक, तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक और पाँचवें अध्यायका आठवाँ श्लोक*—इन श्लोकोंपर आप एकान्तमें बैठकर विचार करें तो बहुत लाभ होगा। जब स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर मैं हूँ ही नहीं तो फिर कर्ता-भोक्तापन अपनेमें कैसे हुआ? यह बात हमारी-आपकी नहीं है, प्रत्युत गीताकी है! ये गीतामें भगवान्के वचन हैं!

दुष्ट-से-दुष्ट, पापी-से-पापी कोई क्यों न हो, सब-के-सब परमात्माके अंश हैं। आप दृढ़तासे इस बातको स्वीकार कर लें कि हम परमात्माके अंश हैं। परमात्मा हमारे हैं, संसार हमारा नहीं है प्रत्येक आदमी अपने पिताका होते हुए ही सब कार्य करता है। कोई चाहे रेलवेमें काम करे, चाहे बैंकमें काम करे, चाहे खेतमें काम करे, वह पिताका होते हुए ही

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ (गीता १३। ३१—३३)
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ (गीता १८। १७)
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (गीता ३। २७)
नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। (गीता ५। ८)

सब काम करता है। ऐसे ही हम कोई भी काम करें, परमपिता परमात्माके होते हुए ही करते हैं। काम करते समय हम दूसरेके नहीं हो जाते।

जैसे हम मकानमें बैठे हुए भी मकानमें नहीं हैं, चट छोड़कर चल देते हैं, ऐसे ही शरीरमें रहते हुए भी हम शरीरमें नहीं हैं, हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। इस बातको केवल मानना है, स्वीकार करना है। इसके लिये पढ़ाईकी जरूरत नहीं है। इसको सभी भाई-बहन स्वीकार कर सकते हैं कि हम भगवान्‌के अंश हैं, हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। प्रकृतिका विभाग अलग है और चेतनका विभाग अलग है। कर्तापन-भोक्तापन प्रकृति-विभागमें है और '**न करोति न लिप्यते**' चेतन-विभागमें है। पहलेके अभ्यासके कारण भले ही अभी इसका अनुभव न हो, पर वास्तवमें बात ऐसी ही है। हम बिलकुल निर्लेप हैं। मुक्ति होती नहीं है, मुक्ति है। केवल अनुभव करना है। गीतामें आया है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥

(४। ३६)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'

विवेक, वैराग्य, मुमुक्षा आदि होना तो दूर रहा, सब पापियोंसे भी अधिक पापी हो तो वह भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है! '**न करोति न लिप्यते**' का अनुभव कर सकता है! हम चाहे ज्ञानमार्गसे चलें, चाहे भक्तिमार्गसे चलें, सबसे पहले यह स्वीकार कर लें कि 'मैं भगवान्‌का अंश हूँ।' कर्तृत्व और लिप्तता स्वाभाविक ही हमारेमें नहीं हैं। ऐसा विचार करके चुप हो जायँ। इस बातको पक्की कर लें कि वास्तवमें बात ऐसी ही है। इसको हम भूल जायँ तो भी बात ऐसी ही है। भूल अन्तःकरणमें होती है। हमारेमें भूल होती ही नहीं, हो सकती ही नहीं। हम भले ही सच्ची बातको भूल जायँ और कर्ता-भोक्ता बन जायँ तो भी वास्तवमें हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। आप केवल इतना विचार रखें कि '**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**'—यही बात सच्ची है। गलत मान्यता सही मान्यतासे कट जाती है। सही मान्यता करनेमें, सच्ची बातको माननेमें कोई उद्योग, परिश्रम नहीं है।

२९. अक्रियतासे परमात्मप्राप्ति

परमात्मतत्त्व सम्पूर्ण संसारमें समान रीतिसे परिपूर्ण है—'**मया ततमिदं सर्वम्**' (गीता ९।४), '**समोऽहं सर्वभूतेषु**' (गीता ९। २९)। अगर कोई उसकी प्राप्ति करना चाहे तो वह कुछ भी चिन्तन न करे। जो सर्वव्यापक है, उसका चिन्तन हो ही नहीं सकता। **कुछ भी चिन्तन न करनेसे हमारी स्थिति स्वतः परमात्मामें ही होती है।** इसलिये परमात्मप्राप्तिका खास साधन है—कुछ भी चिन्तन न करना; न परमात्माका, न संसारका, न और किसीका। **साधक जहाँ है, वहीं स्थिर हो जाय; क्योंकि वहीं परमात्मा हैं।** क्रिया तो उसके लिये होती है, जो देश, काल, वस्तु आदिकी दृष्टिसे दूर हो। परन्तु जो सब जगह है, सब समय है, सब वस्तुओंमें है, सब व्यक्तियोंमें है, सब अवस्थाओंमें है, सब परिस्थितियोंमें है, सब घटनाओं आदिमें है, उसकी प्राप्तिके लिये क्रियाकी क्या जरूरत?

चुप होना, शान्त होना, कुछ न करना एक बहुत बड़ा साधन है, जिसका पता बहुतोंको नहीं है। कुछ करनेसे संसारकी प्राप्ति होती है और कुछ न करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। संसारका स्वरूप है—क्रिया (श्रम) और परमात्माका स्वरूप है—अक्रिय (विश्राम)। प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है, पर अक्रिय-तत्त्व ज्यों-का-त्यों रहता है। इतना ही नहीं, उस अक्रिय-तत्त्वसे ही

सम्पूर्ण क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं और उसीमें लीन होती हैं। क्रियासे शक्तिका ह्रास होता है और अक्रिय होनेसे शक्तिका संचय होता है। इसलिये **साधक प्रत्येक क्रियासे पहले और क्रियाके अन्तमें शान्त (चिन्तनरहित) हो जाय।** पहले शान्त होकर सुनेगा तो सुनी हुई बात विशेष समझमें आयेगी, पढ़ेगा तो पढ़ी हुई बात विशेष समझमें आयेगी। अन्तमें शान्त होनेसे सुनी हुई या पढ़ी हुई बातको धारण करनेकी शक्ति आयेगी। क्रिया करनेसे विषमता आती है और अक्रिय होनेसे समता आती है। इसलिये क्रिया करनेमें दो आदमी भी बराबर नहीं होते, पर कुछ न करनेमें लाखों-करोड़ों आदमी भी एक हो जाते हैं। कोई विद्वान् हो या मूर्ख हो, धनी हो या निर्धन हो, रोगी हो या नीरोग हो, निर्बल हो या बलवान् हो, योग्य हो या अयोग्य हो, कुछ न करनेमें सब एक हो जाते हैं, सबकी स्थिति परमात्मामें हो जाती है। तात्पर्य है कि **अगर कुछ भी चिन्तन करेंगे तो संसारमें स्थिति होगी और कुछ भी चिन्तन नहीं करेंगे तो परमात्मामें स्थिति होगी।** वास्तवमें हमारी स्थिति स्वतः परमात्मामें ही है, पर चिन्तन करनेसे इसका भान नहीं होता। इसलिये गीतामें भगवान् कहते हैं—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(६। २५)

'धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा संसारसे धीरे-धीरे उपराम हो जाय और मन (बुद्धि)-को परमात्मस्वरूपमें सम्यक् प्रकारसे स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे।'

तात्पर्य है कि सात्त्विक बुद्धि और सात्त्विक धृतिके द्वारा क्रिया और पदार्थरूप संसारसे धीरे-धीरे उपराम हो जाय। जल्दबाजी न करे; क्योंकि जल्दबाजी करनेसे साधन बढ़िया नहीं होता। **एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवाय कुछ भी नहीं है—ऐसा निश्चय करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे।** परमात्मा स्वतः-स्वाभाविक सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन हैं। 'घन' का अर्थ होता है—ठोस। जैसे, पत्थर या काँच ठोस होता है, इसलिये उसमें सुई नहीं चुभती। परन्तु परमात्मा पत्थर या काँचसे भी ज्यादा ठोस हैं। कारण कि पत्थर या काँचमें तो अग्नि प्रविष्ट हो जाती है, पर परमात्मामें कोई भी वस्तु प्रविष्ट नहीं हो सकती। **ऐसे सर्वथा ठोस परमात्माका साधक चिन्तन करता है तो उलटे उनसे दूर होता है! इसलिये वह जहाँ है, वहीं (निद्रा-आलस्य छोड़कर) बाहर-भीतरसे चुप, शान्त रहनेका स्वभाव बना ले।** यह बहुत सुगम और बहुत बढ़िया साधन है। इससे बहुत शान्ति मिलेगी और सब पाप-ताप नष्ट हो जायँगे।

उपराम होनेका तात्पर्य है कि राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व न हों। जैसे रास्तेमें चल रहे हैं तो कहीं पत्थर पड़ा है, कहीं लकड़ी पड़ी है, कहीं कागज पड़ा है, पर अपना उससे कोई मतलब नहीं होता, ऐसे ही किसी भी क्रिया और पदार्थसे अपना कोई मतलब नहीं रहे—'**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन**' (गीता ३। १८)। उनसे तटस्थ रहे। **तटस्थ रहना भी एक विद्या है।** साधक तटस्थ रहते हुए सब काम करे तो वह संसारसे असंग हो जाता है। संसारमें लाभ हो, हानि हो, आदर हो, निरादर हो, सुख हो, दुःख हो, प्रशंसा हो, निन्दा हो, उसमें तटस्थ रहे तो परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अगर वह उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख कर लेगा तो भोग होगा, योग नहीं। भोगीका कल्याण नहीं होता। इसलिये तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भए भव पार॥

(दोहावली ९४)

गीतामें आया है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ (६। ३)

'जो योग (समता)-में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये कर्तव्य-कर्म करना कारण कहा गया है और उसी योगारूढ़ मनुष्यका शम (शान्ति) परमात्मप्राप्तिमें कारण कहा गया है।'

शम (शान्ति)-का अर्थ है—कुछ न करना। **जबतक 'करने' के साथ सम्बन्ध है, तबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है** और जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक अशान्ति है, दुःख है, जन्म-मरण है। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध 'न करने' से मिटेगा। कारण कि क्रिया और पदार्थ दोनों प्रकृतिके हैं। चेतन-तत्त्वमें न क्रिया है, न पदार्थ। क्रिया अनित्य है, अक्रियपना नित्य है। क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है, पर अक्रियपना नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। इसलिये परमात्मप्राप्तिके लिये 'शम' अर्थात् कुछ न करना ही कारण है। हाँ, अगर इस शान्तिका उपभोग किया जायगा तो परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी। 'मैं शान्त हूँ'—इस प्रकार शान्तिमें अहंकार लगानेसे और 'बड़ी शान्ति है'—इस प्रकार शान्तिमें राजी होनेसे शान्तिका उपभोग हो जाता है। इसलिये शान्तिमें व्यक्तित्व न मिलाये, प्रत्युत ऐसा समझे कि शान्ति स्वतः है। शान्तिका उपभोग करनेसे शान्ति नहीं रहेगी, प्रत्युत चंचलता आ जायगी अथवा नींद आ जायगी। उपभोग नहीं करनेसे शान्ति स्वतः रहेगी। बिना क्रिया और बिना अभिमानके जो स्वतः शान्ति होती है, वह 'योग' है। कारण कि उस शान्तिका कोई कर्ता या भोक्ता नहीं है। जहाँ कर्ता या भोक्ता होता है, वहाँ भोग होता है। भोग होनेपर संसारमें स्थिति होती है।

सम्पूर्ण क्रियाएँ और पदार्थ संसारके और संसारके लिये ही हैं। इसलिये कर्मयोगी इनको अपने और अपने लिये न मानकर संसारकी ही सेवामें लगा देता है। सेवामें लगानेसे उसका क्रिया और पदार्थरूप संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। प्रकृति श्रमरूप है और परमात्मतत्त्व विश्रामरूप है। इसलिये ज्ञानयोगी क्रिया और पदार्थसे असंग होकर विश्रामको स्वीकार करता है। विश्रामको स्वीकार करनेका तात्पर्य है—अपना जो चिन्मय सत्तामात्र स्वरूप है, उसमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव करना। परन्तु **भक्तियोगी भगवदाश्रयको स्वीकार करता है अर्थात् अपना चिन्मय सत्तामात्र स्वरूप भी जिसका अंश है, उस भगवान्‌के आश्रयको स्वीकार करता है। सेवा और विश्रामसे मुक्ति होती है तथा भगवदाश्रयसे प्रेमकी प्राप्ति होती है।**

यह एक सिद्धान्त है कि जो सर्वव्यापक तत्त्व होता है, उसकी प्राप्ति किसी क्रियासे नहीं होती। क्रिया करते ही हम उससे अलग होते हैं। **अगर हम कुछ भी क्रिया नहीं करेंगे तो उस परमात्मतत्त्वमें ही स्थिति होगी।** इसलिये साधक चलते-फिरते, उठते-बैठते हरदम शान्त रहनेका स्वभाव बना ले।

हरदम शान्त रहनेमें साधकके सामने मुख्य बाधा आती है—व्यर्थ चिन्तन। जब साधक कोई भी कार्य पूरा करके थोड़ी देर शान्त बैठना चाहता है, तब उसके मनमें उन देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना आदिका चिन्तन होने लगता है, जिनका सम्बन्ध भूतकालसे अथवा भविष्यकालसे है। भूतकाल अथवा भविष्यकालमें होनेवाली वस्तु अभी (वर्तमानमें) नहीं है; अतः **व्यर्थ चिन्तनका अर्थ हुआ—'नहीं' का चिन्तन। जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, उसका चिन्तन भी व्यर्थ चिन्तन है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसका चिन्तन भी व्यर्थ चिन्तन है।**

एक चिन्तन किया जाता है और एक चिन्तन स्वतः होता है। जब किसीको प्यास लगती है, तब वह जलका चिन्तन नहीं करता, प्रत्युत जलका चिन्तन स्वतः होता है। इसी तरह साधकको भी परमात्माका चिन्तन स्वतः होना चाहिये, जो कि उसकी वास्तविक आवश्यकता है। परन्तु साधककी दशा यह होती है कि उसको परमात्माका चिन्तन तो करना पड़ता है, पर संसारका चिन्तन स्वतः होता है। वह संसारके व्यर्थ चिन्तनको मिटानेके लिये सार्थक चिन्तन (भगवान्‌के नाम-रूप-लीला आदिका चिन्तन, आत्मचिन्तन आदि) करनेका प्रयत्न करता है। इसका फल यह होता है कि बलपूर्वक किये हुए चिन्तनका प्रभाव भी अन्तःकरणमें अंकित हो जाता है और व्यर्थ चिन्तन भी होता रहता है। यह सिद्धान्त है कि सार्थक चिन्तन करनेसे व्यर्थ चिन्तन नहीं मिटता, उलटे साधकमें इस बातका अभिमान पैदा हो जाता है कि मैंने इतनी देर बैठकर साधन किया, इतने

वर्षोंतक साधन किया! परन्तु जब वह ईमानदारीसे अपनी स्थितिकी ओर देखता है, तब वह निराश हो जाता है कि इतना साधन करनेपर भी वास्तविक शान्ति नहीं मिली! व्यर्थ चिन्तनके रहते हुए साधकको न तो शान्ति मिलती है, न स्वाधीनता मिलती है और न प्रियता ही मिलती है। इतना ही नहीं, साधक निराश होकर अपनेमें असमर्थताका अनुभव करने लगता है। इस असमर्थताके कारण वह जो कार्य नहीं करना चाहिये, वह कर बैठता है और जो कार्य करना चाहिये, उसको कर नहीं पाता। इस असमर्थताके कारण ही उसको अपने कर्तव्यकी, अपने स्वरूपकी तथा अपने अंशी परमात्माकी विस्मृति हो जाती है। इस असमर्थताको मिटानेके लिये विश्राम (शान्ति)-की आवश्यकता है और विश्रामको प्राप्त करनेके लिये व्यर्थ चिन्तनको मिटानेकी आवश्यकता है।

अब इस विषयपर विचार करें कि व्यर्थ चिन्तन किन कारणोंसे होता है और उनका निराकरण कैसे हो सकता है—

(१) आवश्यक कार्य न करना—आवश्यक कार्य न करनेसे व्यर्थ चिन्तन होने लगता है। अतः साधकको चाहिये कि जिस कार्यको करना चाहिये, जिसको वह कर सकता है और जिसको वर्तमानमें करना जरूरी है, उस आवश्यक कार्यको कर दे।

(२) अनावश्यक कार्य करना—अनावश्यक कार्य करनेसे अथवा उसको करनेका विचार करनेसे व्यर्थ चिन्तन होने लगता है। जिसको नहीं करना चाहिये, जिसको कर नहीं सकते और जिसका वर्तमानसे सम्बन्ध नहीं है, वह अनावश्यक कार्य कहलाता है। अतः साधकको चाहिये कि वह अनावश्यक कार्य कभी न करे और न करनेका विचार ही करे।

(३) ममता करना—साधककी जिस वस्तु या व्यक्तिमें ममता रहती है अर्थात् जिसको वह अपना और अपने लिये मानता है, उसका चिन्तन स्वतः होता है। अतः साधकको विचार करना चाहिये कि जो मिला है और बिछुड़ जायगा, वह अपना कैसे हो सकता है?

(४) कामना करना—साधकके मनमें जिसकी कामना रहती है, उसका चिन्तन स्वतः होता है। कामनाको मिटानेके लिये साधकको यह विचार करना चाहिये कि चाहनेमात्रसे कोई वस्तु नहीं मिलती। वस्तुका मिलना प्रारब्धके अधीन है, कामनाके अधीन नहीं। अगर वस्तु मिल भी जाती है तो वह टिकती नहीं। कारण कि जो मिलता है, वह बिछुड़ जाता है, यह नियम है। संयोगका वियोग अवश्यम्भावी है। मिली हुई वस्तुसे मनुष्यकी कभी तृप्ति नहीं होती। एक कामनाकी पूर्ति होती है तो दूसरी नयी कामना पैदा हो जाती है। इस प्रकार कामनाओंका अन्त कभी नहीं आता।

(५) तादात्म्य करना—शरीरको मैं, मेरा और मेरे लिये माननेसे साधक व्यर्थ चिन्तनसे बच नहीं सकता। 'यह' को 'मैं' कहना विवेक-विरुद्ध है। कारण कि 'यह' (शरीर) कभी 'मैं' (स्वयं) नहीं हो सकता। शरीरका विभाग अलग है और स्वयंका विभाग अलग है।

(६) भुक्त-अभुक्तका प्रभाव—साधकने इन्द्रियोंसे जिन विषयोंका उपभोग किया है अथवा उपभोग करना चाहता है, उन भुक्त अथवा अभुक्त विषयोंका प्रभाव उसके अन्तःकरणमें पड़ जाता है, जो व्यर्थ चिन्तनके रूपमें प्रकट होता है। इस प्रभावको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि वह व्यर्थ चिन्तनका न तो समर्थन करे और न विरोध ही करे। उसको वह न तो अपनेमें माने और न सत्य ही माने। व्यर्थ चिन्तनमें राग-द्वेष करनेसे अथवा उसको अपनेमें माननेसे उसको सत्ता मिलती है। अतः साधकको चाहिये कि वह उस व्यर्थ चिन्तनकी उपेक्षा कर दे। उपेक्षा करनेसे वह स्वतः मिट जायगा। कारण कि व्यर्थ चिन्तन स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत अस्वाभाविक है, भूलजनित है। व्यर्थ चिन्तन मिटनेपर शान्ति अर्थात् विश्राम स्वतः प्राप्त होता है। कारण कि **विश्राम स्वतःसिद्ध है, कृतिसाध्य नहीं।** विश्रामसे साधकको कर्तव्य-पालनकी, स्वयंको जाननेकी तथा परमात्माको माननेकी सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है, जिसके प्राप्त होनेपर मानवजीवन सफल हो जाता है।

३०. कल्याणके तीन सुगम मार्ग

श्रीभगवान् कहते हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योग बताये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन तीनोंके सिवाय दूसरा कोई कल्याणका मार्ग नहीं है।'

प्रत्येक मनुष्य वास्तवमें साधक है। कारण कि चौरासी लाख योनियोंमें भटकते हुए जीवको यह मनुष्यशरीर केवल अपना कल्याण करनेके लिये ही मिला है। **किसी आकृतिविशेषका नाम मनुष्य नहीं है, प्रत्युत मनुष्य वह है, जिसमें सत् और असत् तथा कर्तव्य और अकर्तव्यका विवेक हो।** यह विवेक अनादि और भगवत्प्रदत्त है। इस विवेकको महत्त्व देकर मनुष्य ज्ञानयोगी, कर्मयोगी अथवा भक्तियोगी बन सकता है और सुगमतापूर्वक अपना कल्याण कर सकता है। मिले हुए और बिछुड़नेवाले शरीरका नाम मनुष्य नहीं है। **शरीर तो केवल कर्म-सामग्री है, जिसका उपयोग केवल दूसरोंकी सेवा करनेमें ही है।** परन्तु जब मनुष्य मिले हुए और बिछुड़नेवाले शरीर, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदिको अपना और अपने लिये मान लेता है, तब वह कोई-सा भी योगी नहीं होता, प्रत्युत भोगी होता है। भोगी व्यक्ति स्वयं भी दुःख पाता है और दूसरोंको भी दुःख देता है; क्योंकि **दुःखी व्यक्ति ही दूसरोंको दुःख देता है—यह सिद्धान्त है।**

मनुष्यशरीर अपना कल्याण करनेके लिये ही मिला है, इसलिये किसी भी मनुष्यको अपने कल्याणसे निराश नहीं होना चाहिये। **मनुष्यमात्रको परमात्मप्राप्तिका जन्मसिद्ध अधिकार है।** साधक होनेके नाते मनुष्यमात्र अपने साध्यको प्राप्त करनेमें स्वतन्त्र एवं समर्थ है। सबसे पहले इस बातकी आवश्यकता है कि मनुष्य अपने उद्देश्यको पहचानकर यह स्वीकार करे कि **मैं संसारी नहीं हूँ, प्रत्युत साधक हूँ।** मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं अन्त्यज हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं वानप्रस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ आदि मान्यताएँ सांसारिक व्यवहार (मर्यादा)-के लिये तो ठीक हैं, पर परमात्मप्राप्तिमें ये बाधक हैं। **ये मान्यताएँ शरीरको लेकर हैं। परमात्मप्राप्ति शरीरको नहीं होती, प्रत्युत साधकको होती है। साधक अशरीरी होता है।** जब मनुष्य अपनेको साधक स्वीकार कर लेता है, तब उसके द्वारा असाधनका त्याग स्वतः होने लगता है। मिले हुए और बिछुड़नेवाले शरीर, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदिको अपना और अपने लिये मानना ही असाधन है। इस असाधनको मिटाना प्रत्येक साधकके लिये आवश्यक है।

जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंके सिवाय अन्य कोई नहीं है। गीतामें इन तीनोंका विभिन्न नामोंसे वर्णन हुआ है; जैसे—परा, अपरा और भगवान्; क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम आदि। इन तीनोंमें जगत् और जीव—ये दोनों विचारके विषय होनेसे 'लौकिक' हैं[१]। परन्तु परमात्मा विचारका विषय न होनेसे 'अलौकिक' हैं[२]। इन तीनोंमें जीवको लेकर ज्ञानयोग, जगत्को लेकर कर्मयोग और परमात्माको लेकर भक्तियोग चलता है। इसलिये ज्ञानयोग तथा कर्मयोग—ये दोनों 'लौकिक साधन' हैं[३] और भक्तियोग 'अलौकिक साधन' है। लौकिक साधनसे मुक्ति होती है और अलौकिक साधनसे परमप्रेमकी प्राप्ति होती है।

---

१. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ (गीता १५। १६)

२. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ (गीता १५। १७)

३. लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता ३। ३)

मनुष्यमात्रके भीतर बीजरूपसे एक तो मुक्ति (अखण्ड आनन्द)-की माँग रहती है, दूसरी दुःखनिवृत्तिकी माँग रहती है और तीसरी परमप्रेमकी माँग रहती है। **मुक्तिकी माँग (स्वयंकी भूख) ज्ञानयोगसे, दुःखनिवृत्तिकी माँग कर्मयोगसे और परमप्रेमकी माँग भक्तियोगसे पूरी होती है।** अगर साधकमें अपने साधनका आग्रह, पक्षपात न हो तो एक माँगकी पूर्तिसे तीनों माँगें पूर्ण हो जाती हैं।

ज्ञानयोगका मार्ग

मनुष्यमात्रको 'मैं हूँ'—इस रूपमें अपनी एक सत्ताका अनुभव होता है। इस सत्तामें अहम् ('मैं') मिला हुआ होनेसे ही 'हूँ' के रूपमें अपनी एकदेशीय सत्ता अनुभवमें आती है। यदि अहम् न रहे तो 'है' के रूपमें सर्वदेशीय सत्ता ही अनुभवमें आयेगी। वह सर्वदेशीय सत्ता ही मनुष्यका वास्तविक स्वरूप है। **उस सत्तामें अहम् (जड़ता) नहीं है।** जब मनुष्य अहम्‌को स्वीकार करता है, तब वह बँध जाता है और जब सत्ता ('है')-को स्वीकार करता है, तब वह मुक्त हो जाता है।

संसारका स्वरूप है—क्रिया और पदार्थ। क्रिया और पदार्थ—दोनों ही आदि-अन्तवाले (अनित्य) हैं। प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश होता है। मात्र जड़ वस्तु मिली है और प्रतिक्षण बिछुड़ रही है। जो मिली है और बिछुड़ जायगी, उसका उपयोग केवल संसारकी सेवामें ही हो सकता है। अपने लिये उसका कोई उपयोग नहीं है। कारण कि **मिली हुई और बिछुड़नेवाली वस्तु अपनी नहीं होती—यह सिद्धान्त है।** जो वस्तु अपनी नहीं होती, वह अपने लिये भी नहीं होती। अपनी वस्तु वह होती है, जिसपर हमारा पूरा अधिकार हो और अपने लिये वस्तु वह होती है, जिसको पानेके बाद फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहे। परन्तु यह हम सबका अनुभव है कि शरीरादि मिली हुई वस्तुओंपर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं चलता। हम अपनी इच्छाके अनुसार उनको प्राप्त नहीं कर सकते, उनको रख नहीं सकते, उनको बना नहीं सकते, उनमें परिवर्तन नहीं कर सकते। उनकी प्राप्तिके बाद भी 'और मिले, और मिले' यह कामना बनी रहती है अर्थात् अभाव बना रहता है। इस अभावकी कभी पूर्ति नहीं होती। इसलिये साधकको चाहिये कि वह इस सत्यको स्वीकार करे कि मिली हुई और बिछुड़नेवाली वस्तु मेरी और मेरे लिये नहीं है।

मिली हुई और बिछुड़नेवाली वस्तुको अपनी और अपने लिये न माननेसे मनुष्य निर्मम हो जाता है। निर्मम होते ही उसके द्वारा मिली हुई वस्तुओंका सदुपयोग सुगमतासे होने लगता है। कारण कि निर्मम हुए बिना प्राप्त वस्तुओंका सदुपयोग नहीं हो सकता। ममतावाले मनुष्यके द्वारा प्राप्त वस्तुओंका दुरुपयोग ही होता है। **भोग और संग्रह करना ही प्राप्त वस्तुओंका दुरुपयोग है और उनको दूसरोंकी सेवामें लगाना ही उनका सदुपयोग है।** प्राप्त वस्तुओंके दुरुपयोगसे समाजमें संघर्ष पैदा होता है और सदुपयोगसे समाजमें शान्तिकी स्थापना होती है।

मिली हुई और बिछुड़नेवाली वस्तुओंको अपना और अपने लिये मानना मनुष्यकी भूल है। जब स्वयं चेतन तथा अविनाशी है तो फिर जड़ तथा नाशवान् वस्तु अपनी और अपने लिये कैसे हुई? यह भूल स्वतः-स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत मनुष्यके द्वारा उत्पन्न की हुई (कृत्रिम) है। अपने विवेकको महत्त्व न देनेसे यह भूल उत्पन्न होती है। इस एक भूलसे फिर अनेक तरहकी भूलें उत्पन्न होती हैं। इसलिये इस मूल भूलको मिटाना अत्यन्त आवश्यक है और इसको मिटानेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर ही है। इसको मिटानेके लिये भगवान्‌ने मनुष्यको विवेक दिया है। जब मनुष्य अपने विवेकको महत्त्व देकर इस भूलको मिटा देता है, तब वह निर्मम हो जाता है।

निर्मम होना प्रत्येक साधकके लिये बहुत आवश्यक है; क्योंकि ममताको मिटाये बिना साधककी उन्नति नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, **जिसमें ममता की जाती है, वह वस्तु भी अशुद्ध हो जाती है और उसकी उन्नतिमें भी बाधा लग जाती है।** ममतासे मनुष्यमें अनेक दोषोंकी उत्पत्ति होती है।

कुछ लोगोंको यह शंका होती है कि ममताके बिना हमारा शरीर कैसे चलेगा? हम परिवार अथवा समाजकी सेवा कैसे करेंगे? परन्तु वास्तवमें **ममताके कारण शरीर, समाज, परिवार आदिकी सेवामें बाधा ही लगती है।** निर्मम मनुष्यका शरीर-निर्वाह बहुत बढ़िया रीतिसे होता है। निर्मम मनुष्यके द्वारा ही परिवार, समाज आदिकी वास्तविक सेवा होती है। जिसकी अपने शरीरमें ममता है, वह परिवारकी सेवा नहीं कर सकता। जिसकी अपने परिवारमें ममता है, वह समाजकी सेवा नहीं कर सकता। जिसकी अपने समाजमें ममता है, वह देशकी सेवा नहीं कर सकता। जिसकी अपने देशमें ममता है, वह दुनियाकी सेवा नहीं कर सकता। तात्पर्य है कि ममताके कारण मनुष्यका भाव संकुचित, एकदेशीय हो जाता है। वह सेवासे विमुख होकर स्वार्थमें बँध जाता है। इसलिये साधकमात्रके लिये ममताका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। जब साधकमें ममताका त्याग करनेकी तीव्र अभिलाषा जाग्रत् हो जाती है, तब ममताका त्याग करना बड़ा सुगम हो जाता है। कारण कि जब साधक सच्चे हृदयसे संसारसे विमुख होकर परमात्माकी ओर चलना चाहता है, तब सम्पूर्ण संसार तथा स्वयं परमात्मा भी उसकी सहायता करनेके लिये तत्पर हो जाते हैं। इसलिये साधकको कभी भी अपने उद्देश्यकी पूर्तिसे निराश नहीं होना चाहिये। वह **कम-से-कम आयुमें तथा कम-से-कम सामर्थ्यमें भी अपने उद्देश्यकी पूर्ति कर सकता है।** कारण कि अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिये ही भगवान्‌ने अपनी अहैतुकी कृपासे उसको मानवशरीर दिया है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस, उत्तर० ४४। ३)

ममताके कारण ही कामनाओंकी उत्पत्ति होती है। जैसे, शरीरमें ममता होगी तो शरीरकी आवश्यकता हमारी आवश्यकता हो जायगी अर्थात् अन्न, जल, वस्त्र, मकान आदिकी अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जायँगी। ममताका त्याग होते ही साधकमें कामना-त्यागकी सामर्थ्य आ जाती है। कारण कि शरीर और संसार एक ही धातुसे बने हुए हैं। शरीरको संसारसे अलग नहीं कर सकते। अतः शरीरकी ममताका नाश होते ही सांसारिक कामनाओंका भी नाश हो जाता है।

मिली हुई और बिछुड़नेवाली वस्तुओंमें 'मैं'-पन और 'मेरा'-पन होनेसे ही कामनाओंकी उत्पत्ति होती है। सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति आजतक किसीकी नहीं हुई, न होगी और न हो ही सकती है। जिन कामनाओंकी पूर्ति होती है, वे भी परिणाममें दुःख ही देती हैं। कारण कि एक कामनाकी पूर्ति होनेपर दूसरी अनेक कामनाएँ पैदा हो जाती हैं, जिससे कामना-अपूर्तिका दुःख ज्यों-का-त्यों बना रहता है। मनुष्य समझता है कि कामनाकी पूर्ति होनेपर मैं स्वतन्त्र हो गया, पर वास्तवमें वह काम्य पदार्थके पराधीन हो जाता है। परन्तु प्रमादके कारण वह पराधीनतामें भी सुखका अनुभव करता है। मनुष्यको इस पराधीनतासे छुड़ानेके लिये भगवान्‌के मंगलमय विधानसे दुःख आता है। परन्तु मनुष्य दुःखसे दुःखी होकर भगवान्‌के मंगलमय विधानकी भी अवहेलना कर देता है। अगर वह दुःखसे दुःखी न होकर दुःखके कारणकी खोज करे और सम्पूर्ण दुःखोंके कारण 'कामना'को मिटा दे तो वह सदाके लिये सुखी हो जायगा।

प्रत्येक साधकके लिये निष्काम होना बहुत आवश्यक है; क्योंकि निष्काम हुए बिना साधक अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर सकता। इतना ही नहीं, कामनाके कारण वह साध्यरूप भगवान्‌को भी कामनापूर्तिका साधन बना लेता है। तात्पर्य है कि वह कोई भी कामना रखकर भगवान्‌का भजन करता है तो उसका साध्य तो वह काम्य पदार्थ होता है और भगवान् उसकी प्राप्तिके साधन होते हैं। जबतक कामना रहती है, तबतक मनुष्य पराधीन रहता है। पराधीन मनुष्य न तो त्याग कर सकता है, न सेवा कर सकता है और न प्रेम ही कर सकता है। वह न तो ज्ञानयोगी बन सकता है, न कर्मयोगी बन सकता है और न भक्तियोगी ही बन सकता है। अतः **पराधीनताको मिटानेके लिये निष्काम होना बहुत आवश्यक है।**

कामनाकी पूर्तिमें तो सब मनुष्य पराधीन हैं, पर कामनाका त्याग करनेमें सब-के-सब मनुष्य स्वाधीन और समर्थ हैं। प्रत्येक मनुष्य स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता (मुक्ति)-की प्राप्ति कर सकता है। परन्तु जबतक मनुष्यके भीतर कामना रहती है, तबतक वह स्वाधीन नहीं हो सकता। पराधीनताका सर्वथा नाश निष्काम होनेपर ही सम्भव है। **निष्काम होनेपर साधक संसारपर विजय प्राप्त कर लेता है।** कारण कि कामनावाले मनुष्यको कइयोंके अधीन होना पड़ता है, पर जिसको कुछ नहीं चाहिये, उसको किसीके भी अधीन नहीं होना पड़ता। उसका मूल्य संसारसे अधिक हो जाता है। वह तीनों योगोंका अधिकारी बन जाता है। इतना ही नहीं, वह भगवत्प्रेमका भी पात्र बन जाता है; क्योंकि कामनावाला मनुष्य किसीसे प्रेम नहीं कर सकता।

जब कर्ता निष्काम होता है, तब उसके द्वारा स्वतः कर्तव्य-कर्मका पालन होने लगता है। **कर्ता निष्काम हुए बिना कर्तव्य-कर्मका पालन नहीं होता और कर्तव्य-कर्मका पालन हुए बिना प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग नहीं होता।** सकाम मनुष्य प्राप्त परिस्थितिके अधीन हो जाता है तथा अप्राप्त परिस्थितिका चिन्तन करता रहता है। परन्तु निष्काम होते ही मनुष्य प्राप्त परिस्थितिकी पराधीनता तथा अप्राप्त परिस्थितिके चिन्तनसे छूटकर परिस्थितिसे अतीत तत्त्वको प्राप्त कर लेता है।

जप, तप, व्रत, तीर्थ, स्वाध्याय आदि क्रियासाध्य साधनोंसे कामनाका नाश नहीं होता। कारण कि कोई भी क्रिया (अभ्यास) करनेके लिये शरीरकी सहायता लेनी पड़ती है और शरीरके सम्बन्धसे ही कामनाओंकी उत्पत्ति होती है। अतः **कामनाका नाश किसी क्रियासे नहीं होता, प्रत्युत सर्वथा क्रियारहित होनेसे तथा विवेकको महत्त्व देनेसे होता है।** क्रियारहित होते ही शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वरूपमें स्थिति स्वतः होती है। स्वरूपमें निर्ममता और निष्कामता स्वतःसिद्ध हैं। अतः शरीर-संसारके सम्बन्धसे होनेवाले ममता, कामना आदि दोषोंका नाश करनेके लिये क्रिया और पदार्थसे सम्बन्ध-विच्छेद करना आवश्यक है।

जब साधक निर्मम और निष्काम हो जाता है, तब उसकी अहंता मिट जाती है। अहंता मिटनेपर फिर उसके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता—**'निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति'** (गीता २। ७१)। जबतक साधक अपने लिये कुछ भी करता है, तबतक उसका सम्बन्ध क्रिया और पदार्थसे बना रहता है। जबतक क्रिया और पदार्थसे सम्बन्ध है, तबतक पराधीनता है। क्रिया और पदार्थ संसारकी सेवाके लिये तो उपयोगी हैं, पर अपने लिये इनका त्याग ही उपयोगी है। **सेवा और त्याग कृत्रिम नहीं हैं, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक हैं।** इसलिये मैं सेवा करता हूँ अथवा मैं त्याग करता हूँ—ऐसा अभिमान करना भूल है। जब संसारमें मेरी कोई वस्तु है ही नहीं तो त्याग क्या हुआ? और जिसकी वस्तु थी, वह उसको दे दी तो सेवा क्या हुई? यह सिद्धान्त है कि जो कभी भी अलग होगा, वह अभी भी अलग है और जो कभी भी मिलेगा, वह अभी भी मिला हुआ है। इसलिये **नित्यनिवृत्तकी ही निवृत्ति होती है और नित्यप्राप्तकी ही प्राप्ति होती है**—इस सत्यको स्वीकार करना साधकके लिये आवश्यक है।

जबतक साधकमें अपने लिये कुछ भी करनेका भाव रहता है, तबतक उसका सम्बन्ध कर्म-सामग्रीके साथ अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके साथ बना रहता है। जबतक शरीरके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक मनुष्यमें न तो निःस्वार्थभाव आता है और न स्वाधीनता आती है अर्थात् वह न तो कर्मयोगका अधिकारी होता है, न ज्ञानयोगका। जो मनुष्य स्वार्थभाव और पराधीनतासे रहित नहीं हो सका, वह भगवान्‌का प्रेमी भी कैसे हो सकता है? इसलिये **'क्रिया' के आश्रयका त्याग करके विश्राम (कुछ न करने)-को अपनाना और 'पदार्थ' के आश्रयका त्याग करके स्वाश्रय अथवा भगवदाश्रयको अपनाना प्रत्येक साधकके लिये बहुत आवश्यक है।**

विवेककी जागृति किसी क्रियासे नहीं होती,

प्रत्युत क्रियारहित होनेसे होती है। विवेकको महत्त्व देनेसे विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञान किसी क्रिया या पदार्थके द्वारा नहीं होता, प्रत्युत अपने ही द्वारा होता है। **जिसकी प्राप्ति अपने द्वारा होती है, उसके लिये किसी अभ्यासकी आवश्यकता नहीं होती। अभ्याससे तो उलटे वह दूर होता है!** मनुष्य जिन करणों (मन-बुद्धि-इन्द्रियों)-से संसारको देखता है, उनसे अपने-आपको (करणरहित सत्तामात्र स्वरूपको) नहीं देख सकता। अपने-आपको तो वह अपने-आपसे ही देख सकता है—'**यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति**' (गीता ६। २०)। तात्पर्य है कि अपने-आपको किसी करणके द्वारा नहीं देखा जा सकता, प्रत्युत करणोंके त्यागसे ही देखा जा सकता है।

कर्मयोगका मार्ग

जब साधक अपने जीवनमेंसे बुराईका त्याग कर देता है, तब कर्मयोगकी सिद्धि हो जाती है। बुराईका त्याग तीन बातोंसे होता है—(१) किसीका भी बुरा न करना, (२) किसीको भी बुरा न समझना और (३) किसीका भी बुरा न चाहना। बुराईका त्याग किये बिना मनुष्य कर्तव्यपरायण नहीं हो सकता।

मनुष्य किसीका भी बुरा तब करता है, जब वह स्वार्थवश खुद बुरा बनता है। **खुदको बुरा बनाये बिना मनुष्य किसीका भी बुरा नहीं कर सकता।** कारण कि जैसा कर्ता होता है, वैसे ही कर्म होते हैं—यह सिद्धान्त है। कर्म कर्ताके अधीन होते हैं। इसलिये सबसे पहले मनुष्यको चाहिये कि वह अपनेको साधक स्वीकार करे। जब कर्ता साधक होगा तो फिर उसके द्वारा साधकके विपरीत कर्म कैसे होंगे? साधकके द्वारा किसीका बुरा नहीं होता। इतना ही नहीं, वह अपने प्रति बुराई करनेवालेका भी बुरा नहीं करता, प्रत्युत उसपर दया करता है। बुराईके बदले बुराई करनेसे तो बुराईकी वृद्धि ही होगी, बुराईकी निवृत्ति कैसे होगी? बुराईके बदले बुराई न करनेसे तथा भलाई करनेसे ही बुराईकी निवृत्ति हो सकती है।

कोई भी मनुष्य सर्वथा बुरा नहीं होता और सभीके लिये बुरा नहीं होता। **मनुष्य सर्वथा भला तो हो सकता है, पर सर्वथा बुरा नहीं हो सकता।** कारण कि बुराई कृत्रिम, आगन्तुक, अस्वाभाविक है। बुराईकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसलिये बुराईको न दुहरानेसे बुराई सर्वथा मिट जाती है। बुराईको न दुहराना साधकका खास काम है। बुराईको न दुहरानेसे मनुष्य बुरा नहीं रहता, प्रत्युत भला हो जाता है।

मनुष्यको किसीको भी बुरा समझनेका अधिकार नहीं है। दूसरेमें जो बुराई दीखती है, वह उसके स्वरूपमें नहीं है, प्रत्युत आगन्तुक है। मनुष्यके स्वभावमें यह दोष रहता है कि वह अपनी बुराईको तो क्षमा कर देता है, पर दूसरेकी बुराईको देखकर उसके प्रति न्याय करता है। **साधकका कर्तव्य है कि वह अपने प्रति न्याय करे और दूसरेके प्रति क्षमा करे।** भगवान्‌का अंश होनेके नाते मनुष्यमात्र स्वरूपसे निर्दोष है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। २)

इसलिये किसी भी मनुष्यमें बुराईकी स्थापना नहीं करनी चाहिये। आगन्तुक बुराईके आधारपर किसीको बुरा समझना अनुचित है। दूसरा चाहे बुरा हो या न हो, पर उसको बुरा समझनेसे अपनेमें बुराई आ ही जायगी। दूसरेको बुरा समझेंगे तो अपने भीतर बुरे संकल्प पैदा होंगे, क्रोध पैदा होगा, वैर-भाव पैदा होगा, विषमता पैदा होगी, पक्षपात पैदा होगा। इनके पैदा होनेसे कर्म भी अशुद्ध होने लगेंगे। अतः बुराईकी स्थापना न तो अपनेमें करनी चाहिये और न दूसरोंमें ही करनी चाहिये। बुराईकी स्थापना करनेसे न अपना हित होता है, न दूसरेका। **किसीको बुरा समझना अथवा किसीका बुरा चाहना बुराई करनेसे भी बड़ा दोष है।**

मनुष्य किसीका बुरा चाहता है तो उसका बुरा तो होता नहीं, पर अपना बुरा अवश्य हो जाता है। दूसरेका बुरा चाहनेवालेकी हानि ज्यादा होती है; क्योंकि बुरा चाहनेसे उसके भावमें बुराई आ जाती है।

कर्मकी अपेक्षा भाव सूक्ष्म और व्यापक होता है। अत: दूसरेका बुरा चाहनेमें अपना ही बुरा निहित है। **यह नियम है कि हम दूसरेके प्रति जो करेंगे, वही परिणाममें अपने प्रति हो जायगा।** इसलिये साधकको किसीका भी बुरा चाहनेका, बुरा समझनेका अथवा बुरा करनेका अधिकार नहीं है। उसको समानरूपसे सबके हितका भाव रखते हुए सबकी सेवा करनेका ही अधिकार है। सेवा करनेसे ही वह कर्मयोगका अधिकारी होता है। **दूसरेका बुरा करनेवाला, बुरा समझनेवाला अथवा बुरा चाहनेवाला दूसरेपर शासन तो कर सकता है, पर सेवा नहीं कर सकता।** शासक सेवक नहीं हो सकता और सेवक शासक नहीं हो सकता। **समाजकी उन्नति सेवकके द्वारा होती है, शासकके द्वारा नहीं।**

भलाई करना तो परिश्रम-साध्य है, पर बुराई न करनेमें कोई परिश्रम नहीं होता तथा कोई खर्चा भी नहीं होता। इसलिये बुराईका त्याग करनेमें सब स्वतन्त्र तथा समर्थ हैं। यहाँ एक शंका होती है कि जब दूसरा व्यक्ति हमारे साथ बुराई कर रहा है तो फिर हम कैसे उसको बुरा न समझें, उसका बुरा न चाहें? इसका समाधान यह है कि दूसरा हमारा बुरा करता है तो यह बुराई उसमें आयी हुई है, स्वाभाविक नहीं है। स्वरूपसे तो वह सर्वथा बुराईरहित है। दूसरी बात, हमारा बुरा होनेसे हमारे पुराने पाप कटते हैं और हम शुद्ध होते हैं। तीसरी बात, गहरा विचार करनेसे पता लगता है कि दूसरा हमारे साथ बुराई तभी करता है, जब हम निर्बल होते हैं। हम निर्बल तब होते हैं, जब प्राणोंमें मोह होनेके कारण हम मृत्युसे डरते हैं और इस कारण अपने प्रति होनेवाली बुराईको हम सहते हैं। अगर हमारेमें प्राणोंका मोह न रहे, जीनेकी इच्छा और मरनेका भय न रहे तो कोई बलवान् व्यक्ति हमारेपर अत्याचार नहीं कर सकेगा। **यह सिद्धान्त है कि भौतिक बल कभी भी आध्यात्मिक बलपर विजय प्राप्त नहीं कर सकता।** नाशवान् वस्तु अविनाशीपर विजय कैसे कर सकती है? अन्धकार प्रकाशपर विजय कैसे कर सकता है? **जिसका मिलने और बिछुड़नेवाले शरीरमें 'मैं'-पन और 'मेरा'-पन नहीं है, उसको कोई अपने अधीन नहीं कर सकता।** उसपर कोई विजय नहीं कर सकता। विचार करना चाहिये कि जब शरीरका नाश होनेपर भी हमारी सत्ताका नाश नहीं होता*, तो फिर शरीरको रखनेकी इच्छा और मृत्युका भय करनेसे क्या लाभ? इसलिये साधकको अपना कर्तव्य जितना प्रिय होता है, उतने अपने प्राण भी प्रिय नहीं होते। अपने कर्तव्यकी रक्षाके लिये वह प्राणोंका भी त्याग कर देता है। ऐसे साधकको कोई बलवान्-से-बलवान् व्यक्ति भी अपने अधीन करके कर्तव्यच्युत नहीं कर सकता।

कर्मयोगी अपने कर्तव्यका पालन करते हुए दूसरेके अधिकारकी रक्षा करता है। **जो दूसरेका अधिकार होता है, वही हमारा कर्तव्य होता है।** जैसे, माता-पिताकी सेवा करना पुत्रका कर्तव्य है और माता-पिताका अधिकार है। अपना अधिकार चाहनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर सकता। इसलिये कर्मयोगका साधक अपने अधिकारका त्याग करता है। अपने अधिकारका त्याग करनेसे नया राग पैदा नहीं होता और दूसरेके अधिकारकी रक्षा करनेसे पुराना राग मिट जाता है और साधक सुगमतापूर्वक रागरहित हो जाता है।

मनुष्य अपने अधिकारका त्याग तथा दूसरेके अधिकारकी रक्षा करनेमें तो स्वतन्त्र है, पर अधिकार प्राप्त करनेमें स्वतन्त्र नहीं है। अधिकार पानेकी लालसा मनुष्यको कर्तव्यच्युत करके उसको काम, क्रोध, लोभ आदि दोषोंसे युक्त कर देती है, जिससे उसका पतन हो जाता है। इसलिये कर्मयोगका साधक दूसरेके अधिकारकी रक्षा करता है।

* न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूय:।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (गीता २।२०)

जब अपने कहलानेवाले शरीरपर ही हमारा अधिकार नहीं चलता, तो फिर शरीर जिसका अंश है, उस संसारपर हमारा अधिकार कैसे चल सकता है? परन्तु हमारेपर शरीर और संसारका अधिकार अवश्य है। शरीरका अधिकार यह है कि हम उसको आलसी, अकर्मण्य, प्रमादी, असंयमी न बनने दें और संसारका अधिकार यह है कि हम शरीरके द्वारा संसारकी सेवा करें, किसीका भी अहित न करें, सबको सुख पहुँचायें।

समाजमें ज्यों-ज्यों अधिकार पानेकी लालसा बढ़ती जाती है, त्यों-ही-त्यों लोग अपने कर्तव्यसे हटते जाते हैं, जिससे समाजमें संघर्ष पैदा हो जाता है। अधिकार पानेकी इच्छासे गुलामी आ जाती है। अत: अपने अधिकारका त्याग करना प्रत्येक साधकके लिये आवश्यक है। अपने अधिकारका त्याग करनेसे उदारता और असंगता—दोनों आ जाती हैं। उदारता आनेसे कर्मयोगकी तथा असंगता आनेसे ज्ञानयोगकी सिद्धि हो जाती है।

वास्तवमें अधिकार देनेकी वस्तु है, लेनेकी वस्तु नहीं। कोई जबर्दस्ती अधिकार लेना भी चाहे तो नहीं ले सकता। बलवान्-से-बलवान् व्यक्ति भी दूसरोंका विनाश तो कर सकता है, पर दूसरोंका अपने प्रति आदर, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास उत्पन्न नहीं करा सकता। यद्यपि मनुष्यका मूल्य संसारसे अधिक है, तथापि अधिकार पानेकी लालसासे वह अपना मूल्य गिरा देता है। अधिकार पानेकी लालसाके मूलमें नाशवान् सुखकी लालसा है। जब साधक सुखकी आसक्तिको मिटा देता है, तब अधिकार पानेकी लालसा भी मिट जाती है और साधकका कर्मयोग सिद्ध हो जाता है।

भक्तियोगका मार्ग

यह नियम है कि **प्रत्येक रचनाके मूलमें कोई-न-कोई रचयिता रहता है।** प्रत्येक उत्पत्तिके मूलमें कोई-न-कोई अनुत्पन्न तत्त्व रहता है। अगर मनुष्य संसारको तो मानता है, पर संसारके रचयिताको नहीं मानता तो यह उसकी बहुत बड़ी भूल है। जो परा (जीव) और अपरा (जगत्)—दोनोंका आश्रय तथा प्रकाशक है, उस परमात्मापर दृढ़ विश्वास करके उसके साथ आत्मीयता करना अथवा उसके शरणागत हो जाना साधकके लिये बहुत आवश्यक है। **वह परमात्मा कैसा है, कैसा नहीं है—यह जानना साधकके लिये आवश्यक नहीं है। साधकके लिये केवल इतना ही मानना आवश्यक है कि परमात्मा है और वह मेरा है।** उसको इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जाना नहीं जा सकता, प्रत्युत केवल माना जा सकता है। रचना अपने रचयिताको कैसे जान सकती है? अंश अपने अंशीको कैसे जान सकता है?

परमात्मा विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासका विषय है। उसको मानने अथवा न माननेमें मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है। विचारका विषय तो जीव और जगत् हैं। जिसके विषयमें हम कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते, उसपर विचार किया जा सकता है। परन्तु जिसके विषयमें हम कुछ नहीं जानते, जिसको हमने देखा नहीं है, उसपर श्रद्धा-विश्वास ही किया जा सकता है। अपने द्वारा किये हुए श्रद्धा-विश्वासको दूसरा कोई मिटा नहीं सकता।

ईश्वरको हम जान सकते ही नहीं और माने बिना रह सकते ही नहीं। जैसे, माता-पिताको हम जान नहीं सकते, प्रत्युत मान ही सकते हैं; क्योंकि उस समय हमारी (शरीरकी) सत्ता ही नहीं थी। अगर हम अपने शरीरकी सत्ता मानते हैं तो माता-पिताकी सत्ता माननी ही पड़ेगी। हम हैं तो माता-पिता भी हैं। कार्य है तो उसका कारण भी है। ऐसे ही हम स्वयं हैं तो ईश्वर भी है। **हमारी सत्ता ईश्वरके होनेमें प्रत्यक्ष प्रमाण है।** हम नहीं हैं—इस तरह अपने होनेपनका निषेध कोई कर सकता ही नहीं। जब अपने होनेपनका निषेध नहीं हो सकता, तो फिर ईश्वरका भी निषेध नहीं हो सकता।

माताकी अपेक्षा भी पिताको जानना सर्वथा असम्भव है; क्योंकि मातासे जन्म लेते समय तो हमारा शरीर बन चुका था, पर पिताके समय तो हमारे शरीरकी सत्ता ही नहीं थी! भगवान् सम्पूर्ण संसारके पिता हैं—'**अहं बीजप्रद: पिता**' (गीता १४। ४),

'पिताहमस्य जगतः' (गीता ९।१७), **'पितासि लोकस्य चराचरस्य'** (गीता ११।४३)। इसलिये भगवान्‌को जानना तो सर्वथा असम्भव है। उनको तो माना ही जा सकता है। माने बिना दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। **मानना जाननेसे कमजोर नहीं होता।** भगवान्‌को दृढ़तापूर्वक माननेसे उनमें आत्मीयता हो जाती है और आत्मीयता होनेसे उनमें प्रेम हो जाता है।

जो पहले नहीं था, बादमें भी नहीं रहेगा तथा वर्तमानमें भी प्रतिक्षण नाशकी ओर जा रहा है, वह शरीर तथा संसार विश्वासके योग्य हैं ही नहीं। जो एक क्षण भी हमारे साथ न रहे, प्रतिक्षण बदलता रहे, उसपर विश्वास कैसे किया जा सकता है? उसकी सेवा की जा सकती है, पर विश्वास नहीं किया जा सकता। विश्वास तो उसीपर किया जा सकता है, जो सदा हमारे साथ रहे, कभी हमसे बिछुड़े नहीं। भगवान् सदा हमारे साथ रहते हैं—**'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'** (गीता १५।१५)। हम पशु-पक्षी आदि किसी भी योनिमें चले जायँ, स्वर्ग-नरकादि किसी भी लोकमें चले जायँ तो भी भगवान् हमारा साथ कभी नहीं छोड़ते।

जब मनुष्य अपनी आवश्यकताकी पूर्ति न तो खुद कर सकता है और न उसकी पूर्ति संसार ही कर सकता है, तब वह स्वतः भगवान्‌की ओर खिंचता है, जिसको उसने देखा नहीं है, प्रत्युत सुना है। जब मनुष्यपर कोई संकट आता है और उससे बचनेका कोई उपाय नहीं दीखता तथा उससे बचनेके लिये किये गये सब प्रयत्न व्यर्थ चले जाते हैं, तब उसको भगवान्‌पर विश्वास करके उनको पुकारना ही पड़ता है।

जो मनुष्य भगवान्‌पर विश्वास न करके शरीर-संसारपर विश्वास करता है, वह जन्म-मरणके चक्रमें फँसकर तरह-तरहके दुःख पाता है। शरीर आदिपर विश्वास करनेसे अहंता, ममता, कामना, आसक्ति, लोभ आदि अनेक विकारोंकी उत्पत्ति होती है। परिणाम यह होता है कि शरीर आदि तो रहते नहीं, पर उसका सम्बन्ध रह जाता है, जो अनेक योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बनता है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)।

जो न तो भगवान्‌पर विश्वास करता है और न शरीर-संसारपर ही विश्वास करता है, प्रत्युत अपने-आपपर विश्वास करता है, वह ज्ञानयोगका साधक हो जाता है। ऐसा साधक 'मैं कौन हूँ'—इसकी खोज करता है। **'मैं' की खोज करते-करते 'मैं' मिट जाता है और 'है' रह जाता है।** साधक 'है' (परमात्मतत्त्व)-को स्वीकार करे अथवा न करे, पर अन्तमें प्राप्ति 'है' की ही होती है। जैसे, कोई कितना ही कूदे-फाँदे या नाचे, पर अन्तमें वह जमीनपर ही टिकेगा।

एक सत्तामात्र है—इस प्रकार दृढ़तापूर्वक परमात्मतत्त्वपर विश्वास होनेसे शरीर तथा संसारका विश्वास निर्जीव, फीका हो जाता है। कारण कि परस्परविरुद्ध दो विश्वास एक साथ नहीं रह सकते। जब साधक यह स्वीकार करता है कि **परमात्मा अद्वितीय है, सदा है, सर्वसमर्थ है, सर्वज्ञ है, सर्वसुहृद् है, परम दयालु है, सभीका है और सब जगह है,** तब उसकी परमात्मापर स्वतः श्रद्धा जाग्रत् हो जाती है। परमात्मामें श्रद्धा-विश्वास होनेपर साधक एक परमात्माके सिवाय दूसरे किसीकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता ही नहीं। ऐसी स्थितिमें जैसे नींदसे जागते ही स्वप्नकी विस्मृति तथा जाग्रत्‌की स्मृति हो जाती है, ऐसे ही साधकके भीतर स्वतः परमात्मा ('है')-के नित्य-सम्बन्धकी स्मृति जाग्रत् हो जाती है और संसार ('नहीं')-की सर्वथा विस्मृति हो जाती है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २।१६)। परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्धकी स्मृति जाग्रत् होते ही साधककी परमात्मासे अभिन्नता अथवा आत्मीयता हो जाती है। परमात्मासे अभिन्नता होते ही साधकको प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है, जो मानवजीवनका चरम लक्ष्य है।

एक शंका होती है कि जब परमात्मा सब समयमें तथा सब जगह विद्यमान है, तो फिर साधकको उससे

दूरी क्यों प्रतीत होती है? इसपर गहरा विचार करनेसे पता लगता है कि जब साधक मिले हुए तथा बिछुड़नेवाले शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके द्वारा परमात्माको प्राप्त करना चाहता है, तब उसको परमात्मासे दूरी प्रतीत होती है। कारण कि **परमात्माकी प्राप्ति क्रिया और पदार्थके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत क्रिया और पदार्थके त्यागसे अपने ही द्वारा होती है।** इसलिये साधकको चाहिये कि वह शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको संसारकी सेवामें समर्पित कर दे और अपने-आपको (सत्तामात्र स्वरूपको) भगवान्‌के समर्पित कर दे। जब साधक स्वयं सब ओरसे विमुख होकर एकमात्र भगवान्‌के ही शरणागत हो जाता है, तब भगवान् कृपापूर्वक उसको अपना लेते हैं, अपनेसे अभिन्न कर लेते हैं।

विचारपूर्वक देखें तो जो सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, अवस्था, परिस्थिति आदिमें परिपूर्ण है, उससे दूरी कैसे सम्भव है? **यह सिद्धान्त है कि जिससे दूरी नहीं होती, उसकी प्राप्ति क्रियासे नहीं होती, प्रत्युत चाहनामात्रसे होती है।** अगर साधक मिले हुए और बिछुड़नेवाले प्राणी-पदार्थोंको अपना और अपने लिये न माने और भगवान्‌के साथ आत्मीयता (अपनापन) कर ले तो फिर भगवान्‌से दूरी नहीं रहेगी; क्योंकि वास्तवमें वह भगवान्‌का ही अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। मनुष्यसे भूल यह होती है कि वह मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदिको तो अपना मान लेता है, पर जिसने उनको दिया है, उसको (भगवान्‌को) अपना नहीं मानता। वास्तवमें वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत उसको देनेवाला अपना है। जिस क्षण साधक भगवान्‌को अपना मानकर उनके शरणागत हो जाता है, उसी क्षण भगवान् उसको अपना लेते हैं। कारण कि भगवान् साधकका भूतकाल न देखकर उसके वर्तमानको देखते हैं, उसके आचरणोंको न देखकर उसके भावोंको देखते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की।
करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस, बाल० २९। ३)

वे अपने शरणागत भक्तको निर्भय, नि:शोक, निश्चिन्त और नि:शंक कर देते हैं। परन्तु साथमें अन्यका आश्रय नहीं रहना चाहिये। अन्यका आश्रय, अन्यका विश्वास और अन्यका सम्बन्ध रहनेसे भगवान्‌का आश्रय दृढ़ नहीं होता। जिस मनुष्यको एक भगवान्‌के सिवाय और कोई अपना नहीं दीखता तथा जिसको अपनेमें कोई विशेषता नहीं दीखती, वह सुगमतापूर्वक भगवान्‌के आश्रित हो जाता है। भगवान्‌के आश्रित होनेपर उसको अपने लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता। उसके द्वारा होनेवाली प्रत्येक प्रवृत्ति भगवान्‌की पूजा होती है।

भगवान्‌के साथ सम्बन्ध केवल प्रेमकी प्राप्तिके लिये ही होना चाहिये। **प्रेम प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है—भगवान्‌में अपनापन।** एकमात्र भगवान्‌को अपना माननेसे प्रेमकी जागृति होती है। प्रेमकी जागृति होनेपर अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है। अहम्‌का सर्वथा नाश होनेपर भगवान्‌से दूरी, भेद और भिन्नता—तीनों सर्वथा मिट जाते हैं।

प्रेमकी जागृतिके बिना अहम्‌का सर्वथा नाश नहीं होता—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

मुक्त महापुरुषमें भी प्रेमकी एक माँग (भूख) रहती है। इसलिये जो मुक्तिमें भी सन्तुष्ट नहीं होता, उसको भगवान् अपना प्रेम प्रदान करते हैं। इस दृष्टिसे मुक्ति भी साधन है और प्रेम साध्य है। **प्रेमकी प्राप्तिके बिना साधनकी पूर्णता नहीं होती।** भगवान् ज्ञानस्वरूप होते हुए भी प्रेमके भूखे हैं। ज्ञानयोग तथा कर्मयोगके मार्गसे मोक्षकी प्राप्ति होनेपर भी एक सूक्ष्म अहम् रहता है, जिसके कारण भगवान्‌से दूरी और भेद तो मिट जाते हैं, पर उनसे अभिन्नता नहीं होती। यह सूक्ष्म अहम् जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर दार्शनिक मतभेद पैदा करनेवाला होता है। इस सूक्ष्म अहम्‌के कारण ही मुक्त महापुरुषोंमें तथा उनकी मान्यताओं और सिद्धान्तोंमें परस्पर मतभेद

रहता है। परन्तु प्रेमकी प्राप्ति होनेपर जब वह सूक्ष्म अहम् सर्वथा मिट जाता है, तब सम्पूर्ण मतभेद मिट जाते हैं और भगवान्‌से अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नता होनेपर एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीकी भी सत्ता नहीं रहती—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)।

उपसंहार

उपनिषद्‌में आता है कि अकेलेमें भगवान्‌का मन नहीं लगा—'**एकाकी न रमते**' (बृहदारण्यक० १।४।३)। अतः खेल (प्रेम-लीला)-के लिये भगवान् एकसे अनेकरूप हो गये—'**सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति**' (तैत्तिरीय० २। ६)। उन अनेक रूपोंमें श्रीजी तो भगवान्‌के ही सम्मुख रहीं, पर जीव खेलके खिलौनों (शरीर-संसार)-में ही लग गये! श्रीजी खिलौनोंमें नहीं लगीं तो उनको प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति हो गयी और जीव खिलौनोंमें लग गये तो उनको जन्म-मरणरूप संसारकी प्राप्ति हो गयी। ये खिलौने अपने और अपने लिये हैं ही नहीं। ये तो केवल दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये ही हैं। इनको अपना और अपने लिये मानना बहुत बड़ी भूल है, जिसका त्याग करना मनुष्यका कर्तव्य है। यह एक ही भूल स्थानभेदसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, दम्भ, पाखण्ड आदि अनेक विकारोंके रूपमें हो जाती है। फिर भूलें बढ़ती ही रहती हैं। उनका कोई अन्त नहीं आता।

अपने-आपको भूलनेसे देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है। कर्तव्यको भूलनेसे अकर्तव्य होने लगता है। भगवान्‌को भूलनेसे नाशवान्‌के साथ सम्बन्ध हो जाता है। इस भूलको मिटानेके लिये तीन योग हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। विवेक-विचारपूर्वक संसारसे मिली हुई वस्तुओंसे अलग हो जाय—यह ज्ञानयोग है। उन वस्तुओंको संसारकी ही सेवामें लगा दे—यह कर्मयोग है। मनुष्य स्वयं जिसका अंश है, उस भगवान्‌में लग जाय—यह भक्तियोग है। परन्तु जो ज्ञानयोग, कर्मयोग अथवा भक्तियोगमें न लगकर संसारमें अर्थात् भोग और संग्रहमें लग जाता है, वह जन्म-मरणमें पड़ जाता है। वह जन्म गया तो मरना बाकी रहता है और मर गया तो जन्मना बाकी रहता है। इस प्रकार वह जन्म-मरणके चक्रमें घूमता रहता है—'**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्**'।

मनुष्यको तीन ही शक्तियाँ प्राप्त हैं—जाननेकी शक्ति, करनेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। जाननेकी शक्ति ज्ञानयोगके लिये, करनेकी शक्ति कर्मयोगके लिये और माननेकी शक्ति भक्तियोगके लिये है। **जाननेकी शक्तिका सदुपयोग है—अपने-आपको जानना, करनेकी शक्तिका सदुपयोग है—सेवा करना और माननेकी शक्तिका सदुपयोग है—भगवान्‌को मानना।**

वस्तु, शरीर, योग्यता और सामर्थ्य—ये चारों ही चीजें जड़-विभागमें हैं। चेतन-विभाग (स्वरूप)-तक ये चीजें पहुँचती ही नहीं। इसलिये वस्तु, शरीर, योग्यता और सामर्थ्य संसारके हैं और संसारके ही काम आते हैं, अपने काम किंचिन्मात्र भी नहीं आते। **जड़-विभाग अर्थात् शरीर-संसारके द्वारा हमें कुछ भी नहीं मिलता, हमारी किंचिन्मात्र भी पुष्टि नहीं होती, हित नहीं होता।** शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद ही हमारे काम आता है, हमारे लिये हितकारी होता है। **इसलिये शरीर-संसारकी सहायतासे कोई भी मनुष्य बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता।** शरीरके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ शरीर-संसारके ही काम आती हैं। उसका सम्बन्ध-विच्छेद ही स्वयंके काम आता है।

कुछ करनेसे हमारेको लाभ होगा—ऐसा सोचना भूल है। कारण कि मात्र क्रियाएँ जड़ तथा नाशवान् हैं और स्वयं चेतन तथा अविनाशी है। जड़ वस्तुके द्वारा चेतनको क्या मिलेगा? नाशवान् वस्तुसे अविनाशीको क्या लाभ होगा? जड़ और नाशवान् क्रियासे हमारा भला होनेवाला नहीं है। इसलिये हमारा न तो कर्म करनेसे कोई मतलब होना चाहिये और न कर्म नहीं करनेसे ही कोई मतलब होना चाहिये—'**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन**' (गीता ३।१८)। 'करना' और 'न करना'— दोनों प्रकृति (जड़-

विभाग)-में हैं और अभावरूप हैं। स्वयं (चेतन-विभाग)-में 'करना' और 'न करना' दोनों ही नहीं हैं, प्रत्युत वह इन दोनोंको प्रकाशित करनेवाला भावरूप निरपेक्ष तत्त्व है। जैसे 'करने' से शरीरको परिश्रम होता है, ऐसे ही 'न करने' से अर्थात् सुषुप्तिसे शरीरको ही विश्राम मिलता है, स्वयंको नहीं। **स्वयंको विश्राम तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे ही मिलेगा।**

साधकको गहरे उतरकर समझना चाहिये कि मैं स्थूलशरीर नहीं हूँ, सूक्ष्मशरीर भी नहीं हूँ और कारण-शरीर भी नहीं हूँ। वस्तु, योग्यता, बल आदि कुछ भी मेरा नहीं है। ये सब परिवर्तनशील हैं। मेरा स्वरूप अपरिवर्तनशील सत्तामात्र है। उसमें आना-जाना नहीं होता। उसमें उत्पत्ति-विनाश नहीं होता। वह ज्यों-का-त्यों रहता है। ऐसा समझकर साधक अपने सत्तामात्र स्वरूप (होनेपन)-में स्थित होकर चुप हो जाय।

सत्तामें अर्थात् हमारे होनेपनमें मैंपन नहीं है। मैंपनका सम्बन्ध भूलसे माना हुआ है। 'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' नहीं है, पर 'हूँ' है। हमारा अस्तित्व 'मैं' के बिना है। 'है'-रूपसे एक परमात्मा ही सब जगह परिपूर्ण है। उस 'है' का अंश ही 'हूँ' है। मैं हूँ, तू है, यह है और वह है—इन चारोंमें केवल 'मैं' के साथ ही 'हूँ' है। अगर 'मैं' न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' ही रहेगा। **तात्पर्य है कि 'हूँ' भी वास्तवमें 'है' ही है।** यह बात अगर साधककी समझमें आ जाय तो बहुत लाभकी बात है!

जगत्‌की सत्ता 'मैं' के कारण ही है। जगत् 'मैं' से ही पैदा होता है। जीवमें जो अहंभाव है, उसीसे यह जगत् प्रतीत होता है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। इसलिये **जगत् न तो परमात्माकी दृष्टिमें है, न जीवन्मुक्त महात्माकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टिमें है।** हमारा जो होनापन है, उसमें मैंपन नहीं है। मैंपन जड़-विभागमें है। जबतक हमारा सम्बन्ध जड़ताके साथ है, तबतक जन्म-मरण है। जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करके सत्तामात्रमें रहना मुक्ति है।

यह मनुष्य है, यह पशु है, यह पक्षी है; यह जलचर है, यह थलचर है, यह नभचर है; यह ईंट है, यह चूना है, यह पत्थर है—सबमें 'है'-पन रहता है। परन्तु साथमें 'मैं'-पन होनेसे बन्धन हो जाता है। तत्त्वज्ञ पुरुषोंकी स्थिति 'है' में होती है। यद्यपि सबकी स्थिति 'है' में ही है, पर जड़ताके साथ सम्बन्ध माननेसे 'मैं हूँ' हो गया। जड़ताका सम्बन्ध न रहे तो 'मैं हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'मैं है' रहेगा। इस स्थितिका नाम जीवन्मुक्ति है।

पशु, पक्षी, देवता, राक्षस आदि सभीमें समान रीतिसे जो एक सत्ता परिपूर्ण है, वह सत्ता परमात्माका स्वरूप है। **उस सत्ताको 'मैं' के साथ मिलानेसे जीव हो जाता है, 'मैं' से अलग करनेसे मुक्त हो जाता है और भगवान्‌के साथ मिला देनेसे भक्त हो जाता है।**

मनुष्यका खास काम है—जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करना; क्योंकि जड़ताको अपना और अपने लिये माननेसे ही सब अनर्थ हुए हैं। जड़ताको अपना और अपने लिये मानेंगे तो फिर जड़ता ही रहेगी, चिन्मयता नहीं आयेगी। इसलिये शरीरको संसारकी सेवामें लगाना है। केवल मनुष्ययोनि ही सेवा करनेके योग्य है। दूसरा कोई सेवा करनेके लिये है ही नहीं। दूसरी योनियोंसे सेवा ले सकते हैं, पर वे सेवा कर नहीं सकतीं। पेड़-पौधोंको हम अपने काममें ले सकते हैं, पर वे खुद हमारा काम नहीं कर सकते। जो सेवा नहीं करता, वह मनुष्यतासे गिर जाता है और पशुतामें चला जाता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह संसारसे मिली हुई वस्तुको संसारकी ही सेवामें लगा दे और बदलेमें कुछ चाहे नहीं। संसारकी चीज संसारको दे दी तो चाहना किस बातकी? संसारकी चीज संसारकी सेवामें लगा दे—यह कर्मयोग हो गया। स्वयं संसारसे अलग होकर चिन्मयतामें स्थित हो जाय—यह ज्ञानयोग हो गया। स्वयं भगवान्‌में लग जाय—यह भक्तियोग हो गया।

शरणागतिमें न तो सांसारिक दीनता है और न पराधीनता ही है। कारण कि भगवान् 'पर' नहीं हैं, प्रत्युत 'स्वकीय' हैं। प्रकृति तथा उसका कार्य 'पर'

है। अतः प्रकृति तथा उसके कार्य (क्रिया और पदार्थ)-की अधीनतामें ही पराधीनता है। भगवान्‌की अधीनतामें तो परम स्वाधीनता है। जैसे, माता-पिताके भक्त पुत्रमें माता-पिताकी पराधीनता नहीं होती, प्रत्युत कर्तव्यका पालन होता है; क्योंकि माता-पिता 'पर' नहीं हैं, प्रत्युत 'निज' (अपने) हैं। सांसारिक दीनतामें तो कुछ लेनेका भाव रहता है, पर शरणागतिमें कुछ लेना नहीं है, प्रत्युत अपने-आपको देना है। भगवान्‌का अंश होनेके कारण जीव सदासे ही भगवान्‌का है। **भगवान्‌के साथ इस नित्य सम्बन्धकी स्मृति ही शरणागति है।**

भगवान्‌ने अपनेको भक्तोंके पराधीन कहा है—'**अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज**' (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)। यह प्रेमकी विलक्षणता है। भगवान् प्रेमके भूखे हैं। वास्तवमें भगवान् पराधीन नहीं हैं, प्रत्युत पराधीनकी तरह **(इव)** हैं। पराधीनता वहाँ होती है, जहाँ भेद हो। भक्तिमें भेद मिटकर भगवान् तथा भक्तमें अभिन्नता हो जाती है, फिर पराधीनताका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। जब 'पर' (क्रिया और पदार्थ)-का सम्बन्ध सर्वथा मिट जाता है, तब भगवान्‌में प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम होता है। प्रेममें न तो कोई दूसरा है, न कोई पराया है। अतः प्रेममें पराधीनताकी गन्ध भी नहीं है।

भक्तियोग साध्य है। ज्ञानयोग तथा कर्मयोग साधन हैं। संसारके बन्धन (जन्म-मरण)-से छूटनेका नाम मुक्ति है। ज्ञानयोग तथा कर्मयोगसे मुक्ति होती है*। **भक्तियोगमें मुक्तिके साथ-साथ प्रेमकी भी प्राप्ति होती है। इसलिये भक्तियोग विशेष है।**

३१-एक नयी बात

जिससे क्रियाकी सिद्धि होती है, जो क्रियाको उत्पन्न करनेवाला है, उसको 'कारक' कहते हैं। कारकोंमें कर्ता मुख्य होता है; क्योंकि सब क्रियाएँ कर्ताके ही अधीन होती हैं। अन्य कारक तो क्रियाकी सिद्धिमें सहायकमात्र होते हैं, पर कर्ता स्वतन्त्र होता है। कर्तामें चेतनका आभास होता है; परन्तु वास्तवमें चेतन कर्ता नहीं होता। इसलिये गीतामें जहाँ भगवान्‌ने कर्ममात्रकी सिद्धिमें अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव—ये पाँच हेतु बताये हैं, वहाँ शुद्ध आत्मा (चेतन)-को कर्ता माननेवालेकी निन्दा की है—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

(१८। १६)

'ऐसे पाँच हेतुओंके होनेपर भी जो कर्मोंके विषयमें केवल (शुद्ध) आत्माको कर्ता देखता है, वह दुष्ट बुद्धिवाला ठीक नहीं देखता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है अर्थात् उसने विवेकको महत्त्व नहीं दिया है।'

गीतामें भगवान्‌ने कहीं प्रकृतिको, कहीं गुणोंको और कहीं इन्द्रियोंको कर्ता बताया है। प्रकृतिका कार्य गुण हैं और गुणोंका कार्य इन्द्रियाँ हैं। अतः

---

* भगवान्‌ने ज्ञानयोग और कर्मयोगको समकक्ष कहा है—

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ (गीता ५। ४-५)

'बेसमझ लोग सांख्ययोग और कर्मयोगको अलग-अलग फलवाले कहते हैं, न कि पण्डितजन; क्योंकि इन दोनोंमेंसे एक साधनमें भी अच्छी तरहसे स्थित मनुष्य दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

'सांख्ययोगियोंके द्वारा जो तत्त्व प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंके द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। अतः जो मनुष्य सांख्ययोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही ठीक देखता है।'

वास्तवमें कर्तृत्व प्रकृतिमें ही है। हमारे चेतन स्वरूपमें कर्तृत्व नहीं है। भगवान्‌ने कहा है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥

(१३। २९)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

(३। २७)

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

(३। २८)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(१४। १९)

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(५। ९)

भगवान्‌ने अपनेमें भी कर्तृत्व-भोक्तृत्वका निषेध किया है; जैसे—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

(गीता ४। १३-१४)

'मेरे द्वारा गुणों और कर्मोंके विभागपूर्वक चारों वर्णोंकी रचना की गयी है। उस (सृष्टि-रचना आदि)-का कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू अकर्ता जान। कारण कि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते। इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।'

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥

(गीता ९। ९)

'हे धनंजय! उन (सृष्टि-रचना आदि) कर्मोंमें अनासक्त और उदासीनकी तरह रहते हुए मुझे वे कर्म नहीं बाँधते।'

तात्पर्य है कि सृष्टिकी रचना, पालन, संहार आदि सम्पूर्ण कर्मोंको करते हुए भी भगवान् उन कर्मोंसे लिप्त नहीं होते अर्थात् उनमें कर्तापन और भोक्तापन नहीं आता। भगवान्‌का ही अंश होनेसे जीवमें भी कर्तापन और भोक्तापन नहीं आता—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(गीता १३। ३१)

'हे कुन्तीनन्दन! यह पुरुष स्वयं अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

दो विभाग हैं—जड़ और चेतन। जड़-विभाग नाशवान् है और चेतन-विभाग अविनाशी है। गीतामें भगवान्‌ने जड़-विभागको प्रकृति, क्षेत्र, क्षर आदि नामोंसे कहा है और चेतन-विभागको पुरुष, क्षेत्रज्ञ, अक्षर आदि नामोंसे कहा है। **ये दोनों विभाग अन्धकार और प्रकाशकी तरह परस्पर सर्वथा असम्बद्ध हैं।** जड़-विभाग असत् है, जिसकी सत्ता ही विद्यमान नहीं है और चेतन-विभाग सत् है, जिसकी सत्ता विद्यमान है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। सम्पूर्ण क्रियाएँ जड़-विभागमें ही होती हैं। चेतन-विभागमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती। **स्थूलशरीर तथा उससे होनेवाली क्रियाएँ, सूक्ष्मशरीर तथा उससे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीर तथा उससे होनेवाली स्थिरता और समाधि—ये सभी जड़-विभागमें ही हैं। कामना, ममता, अहंता आदि सम्पूर्ण विकार जड़-विभागमें ही हैं। सम्पूर्ण पाप-ताप भी जड़-विभागमें ही हैं। पराश्रय तथा परिश्रम—ये दोनों जड़-विभागमें हैं और भगवदाश्रय तथा विश्राम (अपने लिये कुछ न करना)—ये दोनों चेतन-विभागमें हैं।** जड़ और चेतनके विभागको अलग-अलग जानना ही ज्ञान है—'**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा**' (गीता १३। ३४)। इस ज्ञानरूपी अग्निसे सम्पूर्ण पाप सर्वथा नष्ट हो जाते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

(गीता ४। ३६-३७)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा। हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको सर्वथा भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण (संचित, प्रारब्ध* तथा क्रियमाण) कर्मोंको सर्वथा भस्म कर देती है।'

तात्पर्य है कि चेतन-विभागमें अपनी स्वतः-स्वाभाविक स्थितिका अनुभव करते ही साधक सम्पूर्ण विकारों तथा पापोंसे छूट जाता है और जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है। कारण कि जड़-विभागके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही जन्म-मरणका मूल कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि चेतनके बिना केवल जड़में पाप-पुण्य आदि होना कैसे सम्भव है? इसका समाधान है कि जैसे एक गाड़ीकी टक्करसे कोई मनुष्य मर जाय तो उसका दण्ड गाड़ीको न होकर उसके चालकको होता है। दुर्घटनारूप क्रिया तो गाड़ीके द्वारा ही हुई, पर उसका दण्ड उसको भोगना पड़ता है, जिसने उस गाड़ीसे अपना सम्बन्ध जोड़ा अर्थात् जो उस गाड़ीका चालक (कर्ता) बना। **जो कर्ता होता है, वही भोक्ता होता है।** ऐसे ही पाप-पुण्यरूप क्रिया तो जड़ (शरीर)-के द्वारा ही होती है, पर उसका फल जड़के साथ अपना सम्बन्ध माननेवाले कर्ता (चेतन)-को ही भोगना पड़ता है। तात्पर्य है कि **सभी विकार जड़-विभागमें ही होते हैं, पर जड़से तादात्म्य माननेके कारण उसका परिणाम चेतनपर होता है।** जैसे ज्वर शरीरमें आता है, पर शरीरसे तादात्म्य करनेके कारण मनुष्य मान लेता है कि मेरेमें ज्वर आ गया। स्वयं (चेतन)-में ज्वर नहीं आता, यदि आता तो कभी मिटता नहीं। जड़-विभागके साथ अर्थात् अपरा प्रकृतिके अंश अहम्‌के साथ अपना सम्बन्ध (तादात्म्य) मान लेनेके कारण ही अज्ञानी मनुष्य अपनेको कर्ता तथा भोक्ता मान लेता है—'**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७), '**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**' (गीता १३। २१)। तात्पर्य है कि स्वयं (चेतन स्वरूप)-में कर्तापन तथा भोक्तापन बनता नहीं है, प्रत्युत वह अविवेकपूर्वक अपनेको कर्ता-भोक्ता मान लेता है। सुखलोलुपता अथवा फलेच्छाके कारण वह अपनेको कर्ता मानता है और अपनेको कर्ता माननेके कारण उसको कर्मफलका भोक्ता बनना पड़ता है। कारण कि अपनेको कर्ता मान लेनेसे वह प्रकृतिकी जिस क्रियाके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है, वह क्रिया उसके लिये फलजनक 'कर्म' बन जाती है।

स्वयंमें लेशमात्र भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है—'**नैव किञ्चित्करोति सः**' (गीता ४। २०), '**नैव किञ्चित्करोमीति**' (गीता ५। ८)। आजतक चौरासी लाख योनियोंमें जो भी क्रियाएँ की गयी हैं, उनमेंसे कोई भी क्रिया स्वयंतक नहीं पहुँची; क्योंकि **स्वयंका विभाग ही अलग है और क्रियाका विभाग ही अलग है।** जबतक अपने लिये 'करना' है, तबतक कर्तापन (अहंकार) है; क्योंकि कर्तापनके बिना अपने लिये 'करना' सिद्ध नहीं होता। इसलिये **अपने उद्धारके लिये जो साधन किया जाता है, उससे अहंकार ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रहता है।** अहंकारपूर्वक किया गया कोई भी कर्म कल्याणकारक नहीं होता; क्योंकि अहंकार ही जन्म-मरणका मूल है। इसलिये **साधकको चाहिये कि वह क्रियाको महत्त्व न देकर स्वयंको महत्त्व दे।**

शरीरका सम्बन्ध संसारके साथ है और स्वयंका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। शरीर प्रकृतिका अंश है और स्वयं परमात्माका अंश है। अतः **स्वयं कभी शरीरस्थ (शरीरमें स्थित) हो सकता ही नहीं।** परन्तु

* ज्ञान होनेपर प्रारब्ध अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति तो पैदा कर सकता है, पर सुखी-दुःखी नहीं कर सकता।

अज्ञानके कारण मनुष्य अपनेको शरीरस्थ मान लेता है। इसमें एक मार्मिक बात है कि **अपनेको शरीरस्थ मान लेनेपर भी वास्तवमें स्वयं कर्ता-भोक्ता नहीं बनता—'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३।३१)। इससे सिद्ध होता है कि स्वयंका कर्ता-भोक्ता न होना साधनजन्य नहीं है, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक है। अतः **साधकको कर्तृत्व-भोक्तृत्व मिटाना नहीं है, प्रत्युत इनको अपनेमें स्वीकार नहीं करना है; क्योंकि वास्तवमें ये अपनेमें हैं ही नहीं।** गीतामें भगवान्‌ने आत्मामें भोक्तृत्वके अभावको आकाशका दृष्टान्त देकर और कर्तृत्वके अभावको सूर्यका दृष्टान्त देकर समझाया है—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥

(गीता १३।३२)

'जैसे सब जगह व्याप्त आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे कहीं भी लिप्त नहीं होता, ऐसे ही सब जगह परिपूर्ण आत्मा किसी भी देहमें लिप्त नहीं होता।'

चिन्मय सत्ता शरीरस्थ अथवा प्रकृतिस्थ हो ही नहीं सकती। वह आकाशकी तरह सर्वत्र स्थित (सर्वगत) है—**'नित्यः सर्वगतः'** (गीता २।२४)। वह सम्पूर्ण शरीरोंके बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है। **वह सर्वव्यापी सत्ता ही हमारा स्वरूप है।**

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

(गीता १३। ३३)

'हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! जैसे एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करता है, ऐसे ही क्षेत्रज्ञ (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है।'

सूर्यके प्रकाशमें सम्पूर्ण शुभ-अशुभ क्रियाएँ होती हैं। सूर्यके प्रकाशमें कोई वेदका पाठ करता है, कोई शिकार करता है। परन्तु सूर्यको उन क्रियाओंका न तो पुण्य लगता है, न पाप। कारण कि सूर्य उन क्रियाओंका न तो कर्ता बनता है, न भोक्ता ही बनता है। इसी तरह आत्मा (सर्वव्यापी सत्ता) सम्पूर्ण शरीरोंको सत्ता-स्फूर्ति देता है, पर वास्तवमें वह न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८।१७)

'जिसका अहंकृतभाव (मैं कर्ता हूँ—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह (युद्धमें) इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

जैसे गंगाजीमें कोई डूबकर मर जाता है तो गंगाजीको पाप नहीं लगता और कोई स्नान आदि करता है तो गंगाजीको पुण्य नहीं लगता। कारण कि गंगाजीमें अहंकृतभाव (कर्तृत्व) और बुद्धिकी लिप्तता (भोक्तृत्व) नहीं है।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व प्रकृतिमें ही है, स्वरूपमें नहीं। इसलिये अपने स्वरूपमें स्थित तत्त्वज्ञ महापुरुष 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा अनुभव करता है—**'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** (गीता ५।८)। खाने-पीने, सोने-जागने, नौकरी-धंधा करने आदि सम्पूर्ण लौकिक क्रियाएँ और श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि सम्पूर्ण पारमार्थिक क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं। स्वरूपमें कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह शास्त्रविहित लौकिक तथा पारमार्थिक क्रियाओंका बाहरसे त्याग तो न करे, पर उनमें अपना कर्तृत्व न माने अर्थात् उनको अपने द्वारा होनेवाली और अपने लिये न माने। **क्रियाका महत्त्व वास्तवमें जड़ताका ही महत्त्व है।** क्रियाकी मुख्यता होनेपर वर्षोंतक साधन करनेपर भी प्रत्यक्ष लाभ नहीं दीखता। इसलिये साधकके अन्तःकरणमें क्रियाका अर्थात् जड़-विभागका महत्त्व न होकर चेतन-विभागका ही महत्त्व होना चाहिये। साधक शरीर नहीं होता, जबकि क्रिया शरीरके द्वारा ही होती है। **साधकका स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है और सत्तामात्रमें कोई क्रिया नहीं होती।** क्रिया और पदार्थ संसारका स्वरूप है।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व अपनेमें नहीं हैं, प्रत्युत अज्ञानके कारण अपनेमें माने हुए हैं। अपनेमें माननेपर भी वास्तवमें हम कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित ही हैं—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'**। तात्पर्य है कि शरीरमें अपनी स्थिति माननेपर भी वास्तवमें हम शरीरसे असंग हैं। **अपनेमें बन्धनकी मान्यता करनेपर भी वास्तवमें हम मुक्त ही हैं।** इस सत्यको स्वीकार करना साधकके लिये बहुत ही आवश्यक है।

३२. सार बात

संसारको सत्ता और महत्ता देकर उसमें अपनापन कर लेनेसे मनुष्य पराधीन हो जाता है; क्योंकि संसार 'पर' है। पराधीन मनुष्य सदा दुःखी रहता है—***'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'*** (मानस, बाल० १०२। ३)। वह ऊँच-नीच योनियोंमें भटकता रहता है और दुःख पाता रहता है। इस दुःखसे छुटकारा पानेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य संसारके मालिक परमात्माकी सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उनमें अपनापन कर ले कि केवल वे ही हमारे हैं। परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करनेके बाद फिर साधकके लिये किसी अन्यकी सत्ताको स्वीकार करनेकी जरूरत ही नहीं रहती। कारण कि एक परमात्मा ही ऐसे हैं, जो पहलेसे ही सदा हमारे साथ रहते हैं, कभी हमसे बिछुड़ते नहीं। परमात्माके सिवाय जो भी है, वह सब-का-सब मिलने और बिछुड़नेवाला है।

परमात्माकी सत्ता और महत्ताको स्वीकार करनेसे साधक व्यर्थ चिन्तनसे छूट जाता है। कारण कि हम जिसकी सत्ता और महत्ता स्वीकार करते हैं, उसीका चिन्तन होता है। जबतक साधक एक परमात्माके सिवाय अन्यकी सत्ता और महत्ता स्वीकार करता रहता है, तबतक उसके मनमें न तो स्थिरता आती है, न निर्भयता आती है और न प्रसन्नता ही आती है। वह न तो मुक्तिका अधिकारी होता है और न भक्तिका ही अधिकारी होता है। यह नियम है कि मनुष्य जिसकी सत्ताको स्वीकार करता है, उसका चिन्तन स्वतः होने लगता है। अगर साधक संसारके चिन्तनसे छूटना चाहता हो तो उसको संसारकी सत्ताको अस्वीकार करना होगा।

संसार प्रतिक्षण बदल रहा है। उसका पहले भी अभाव था, पीछे भी अभाव हो जायगा और अभी भी वह निरन्तर अभावमें जा रहा है। आजतक किसीको भी संसारकी प्राप्ति नहीं हुई। संसारकी प्रतीति तो होती है, पर प्राप्ति नहीं होती। प्राप्त होनेवाली वस्तु परमात्मा ही है। इसलिये प्रतीतिके आधारपर संसारकी सत्ता मानना अज्ञान है। संसारकी प्रतीति होनेपर भी उसकी सत्ता विद्यमान नहीं है और परमात्माकी प्रतीति न होनेपर भी उसकी सत्ता विद्यमान है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। जिसकी प्राप्ति होती है, वही वास्तवमें अपना है, अपने लिये है और अपनेमें है। उसकी प्राप्ति क्रियासे नहीं होती, प्रत्युत स्वीकृतिमात्रसे होती है। जो अपना, अपने लिये और अपनेमें नहीं है, उस संसारकी मानी हुई सत्ताको अस्वीकार करनेके लिये अपनेमें परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करना आवश्यक है। अगर हम संसारकी सत्ताको न मानें तो परमात्माकी प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। असत्‌की निवृत्ति होनेपर सत्‌की प्राप्ति और सत्‌की प्राप्ति होनेपर असत्‌की निवृत्ति स्वतः हो जाती है।

भगवान् अपने हैं, अपने लिये हैं और अपनेमें हैं—इस प्रकार भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास उनकी प्राप्तिका अचूक उपाय है। कारण कि भगवान्‌के सिवाय अन्यपर विश्वास करके ही जीव भगवान्‌से विमुख हुआ है। इसलिये अन्यका विश्वास छोड़नेसे भगवान्‌पर

विश्वास दृढ़ हो जाता है। भगवान्‌पर विश्वास दृढ़ होनेपर उनमें आत्मीयता अर्थात् अपनापन हो जाता है और आत्मीयता होनेपर भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। प्रेमकी प्राप्तिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है।

कोई भी मनुष्य अभाव नहीं चाहता; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वरूपसे भावरूप परमात्माका अंश है। परन्तु अभावरूप संसारको सत्ता और महत्ता देनेसे मनुष्यको अपनेमें अभावका अनुभव होने लगता है। जब साधक अपनेमें परमात्माको स्वीकार कर लेता है, तब सब प्रकारके अभावोंका अन्त हो जाता है और वह सदाके लिये स्वाधीन हो जाता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह परमात्माकी सत्ता और महत्ताको स्वीकार करके उनको अपना मान ले—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'*** जिसको हम अपना मान लेते हैं, उसमें हमारी स्वाभाविक प्रियता हो जाती है—यह नियम है। इसलिये प्रेम-प्राप्तिके लिये भगवान्‌को अपना मान लेना आवश्यक है। भगवान्‌के सिवाय और कोई भी अपना तथा अपने लिये नहीं है—ऐसा माननेसे प्रेममें दृढ़ता आ जाती है।

अगर साधक निर्विकार होना चाहे तो वह ममताका त्याग कर दे। अगर वह शान्ति प्राप्त करना चाहे तो कामनाका त्याग कर दे। अगर वह मुक्त होना चाहे तो असंग हो जाय। अगर वह प्रेमी होना चाहे तो भगवान्‌को अपना मान ले।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

भगवत्प्रेम

१. भक्तिकी विलक्षणता

गीतामें भगवान्‌ने अपनी दो प्रकृतियोंका वर्णन किया है—अपरा और परा। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह आठ भेदोंवाली 'अपरा' प्रकृति है; और जिसने जगत्‌को धारण कर रखा है, वह जीवात्मा 'परा' प्रकृति है (७। ४-५)। भगवान् इन दोनों प्रकृतियोंके मालिक हैं। अपरा प्रकृति भौतिक तत्त्व है और परा प्रकृति आध्यात्मिक तत्त्व है। इन दोनोंको लेकर साधना भी दो तरहकी है—भौतिक साधना अर्थात् कर्मयोग और आध्यात्मिक साधना अर्थात् ज्ञानयोग। परन्तु जो अपरा और परा प्रकृतिके मालिक हैं, उन भगवान्‌को लेकर जो साधना है, वह आस्तिक साधना अर्थात् भक्तियोग है।

अपरा प्रकृतिको 'क्षर', परा प्रकृतिको 'अक्षर' और दोनोंके मालिक भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' नामसे भी कहा गया है (गीता १५।.१६—१८)। कर्मयोग क्षरकी साधना है, ज्ञानयोग अक्षरकी साधना है और भक्तियोग पुरुषोत्तमकी साधना है। अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि मैं अपने समग्ररूपका वर्णन करूँगा, जिसको जाननेपर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहेगा। उसका वर्णन करनेमें मैं कुछ भी शेष नहीं रखूँगा—'**वक्ष्याम्यशेषतः**' (गीता ७। २) और उसको जाननेपर तुम्हारे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा—'**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते**' (७। २)। किस बातको जाननेसे कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा? इसको बताते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

(गीता ७। ७)

'हे धनंजय! मेरेसे बढ़कर इस जगत्‌का दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी कारण तथा कार्य नहीं है।'

जब समग्रके सिवाय कोई वस्तु है ही नहीं तो फिर जानना बाकी क्या रहे? उस समग्र परमात्माके स्वरूपका ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है। ज्ञानमार्गमें तो परमात्माके अंश (स्वरूप)-का ज्ञान होता है, पर भक्तिमार्गमें समग्र परमात्माका ज्ञान होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, अष्टांगयोग, लययोग, राजयोग आदि जितने योग हैं, वे सब-के-सब समग्रके ज्ञानके अन्तर्गत आ जाते हैं। परन्तु सम्पूर्ण योगियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ योगी वे हैं, जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें तल्लीन हुए मनसे (प्रेमपूर्वक) मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२। २)

'मेरेमें मनको लगाकर नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।'

इस प्रकार भक्तिको ही भगवान्‌ने श्रेष्ठ बताया है। भगवान्‌ने गीतामें कर्मयोग और ज्ञानयोगका भी वर्णन किया है और उन दोनोंको समकक्ष बताया है—'**एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्**' (५। ४) अर्थात् दोनोंमेंसे किसी एक भी साधनमें

स्थित मनुष्य दोनोंके फलरूप परमात्मतत्त्वको पा लेता है। तात्पर्य है कि साधक किसी भी एक साधनमें तत्परतापूर्वक लग जाय तो उसकी साधना सिद्ध हो जायगी। वास्तवमें एक परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेपर कोई भी साधन छोटा-बड़ा नहीं होता। परन्तु जिनका भोग भोगने और संग्रह करनेका उद्देश्य है, वे कोई भी साधन नहीं कर सकते; न कर्मयोग कर सकते हैं, न ज्ञानयोग कर सकते हैं, न ध्यानयोग कर सकते हैं, न भक्तियोग कर सकते हैं। नाशवान् पदार्थोंमें लगे होनेसे उनका भोग और संग्रह तो नष्ट हो जाता है, पर भोग और संग्रहमें उनका जो राग है, वह नष्ट नहीं होता, प्रत्युत उनको बार-बार जन्म-मरण देता रहता है। कारण कि पदार्थोंमें राग ही जीवको ऊँच-नीच योनियोंमें ले जानेका कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। इस रागके मिटनेपर ही मुक्ति होती है। इस रागको मिटानेके लिये कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि साधन हैं। साधकको अपनी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यताके अनुसार कोई एक साधन करके इस रागको मिटा देना चाहिये। शास्त्रमें इस रागको अज्ञानका चिह्न बताया गया है—

रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः॥

तात्पर्य है कि क्रिया, पदार्थ और व्यक्तिमें जो मनका खिंचाव, प्रियता है, यह अज्ञानका खास चिह्न है। जैसे किसी वृक्षके कोटरमें आग लग गयी हो तो वह वृक्ष हरा-भरा नहीं रहता, सूख जाता है, ऐसे ही जिसके भीतर राग-रूपी आग लगी हुई हो, उसको शान्ति नहीं मिल सकती, उसका उत्थान नहीं हो सकता। सांसारिक पदार्थ, मान, बड़ाई, प्रशंसा, आराम, सत्कार आदिका प्रिय लगना पतनका कारण है। भोगोंकी प्रियता जन्म-मरण देनेवाली और परमात्माकी प्रियता कल्याण करनेवाली है।

अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ परमात्माकी हैं; अतः इनको परमात्माके ही भेंट कर दें, अपनी न मानें। न स्थूलशरीरको अपना मानें, न सूक्ष्मशरीरको अपना मानें और न कारणशरीरको अपना मानें। स्वयं भी परमात्माका अंश होनेसे अपना नहीं है। अतः स्वयंको भी परमात्माके भेंट (समर्पित) कर दें।

कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं।* परंतु भक्तियोग लौकिक निष्ठा अर्थात् प्राणीकी निष्ठा नहीं है। जो भगवान्‌में लग जाता है, वह भगवन्निष्ठ होता है, उसकी निष्ठा अलौकिक होती है। उसके साध्य भी भगवान् होते हैं और साधन भी। इसलिये भक्तियोग साधन भी है और साध्य भी, तभी कहा है—'**भक्त्या सञ्जातया भक्त्या**' (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१) अर्थात् भक्तिसे भक्ति पैदा होती है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकारकी साधन भक्ति है और इससे आगे प्रेमलक्षणा भक्ति साध्य भक्ति है। वह प्रेमलक्षणा भक्ति कर्मयोग और ज्ञानयोग सबकी साध्य है। यह साध्यभक्ति ही सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है और उसीको हमें प्राप्त करना है।

संसारकी वस्तु संसारकी सेवामें लगा दें तो कर्मयोग हो जायगा, स्वयं संसारसे अलग हो जायँ तो ज्ञानयोग हो जायगा और भगवान्‌में लग जायँ तो भक्तियोग हो जायगा। कर्मयोगमें अनित्य संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे 'नित्य सम्बन्ध' होता है अर्थात् नित्य परमात्मतत्त्वके साथ सम्बन्धका अनुभव हो जाता है। ज्ञानयोगमें स्वरूपमें स्थिति होनेसे 'तात्त्विक सम्बन्ध' होता है अर्थात् ब्रह्मके साथ सधर्मता (अभेद)-का अनुभव हो जाता है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २) भक्तियोगमें अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित करनेसे 'आत्मीय सम्बन्ध' होता है अर्थात् भगवान्‌के साथ आत्मीयता (अभिन्नता)-का अनुभव हो जाता है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८)।

संसारके सम्बन्धसे ही अशान्ति, हलचल होती है। अतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर शान्ति हो जाती है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)।

* लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता ३। ३)

स्वरूपमें स्थिति होनेपर तत्त्वबोध हो जाता है। भगवान्‌के शरणागत होनेपर प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम प्राप्त हो जाता है। साधक चाहे तो संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके शान्त (नित्य) आनन्द ले ले, चाहे स्वरूपमें स्थित होकर अखण्ड आनन्द ले ले, चाहे भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़कर अनन्त आनन्द ले ले, यह उसकी मरजी है। साधक किसी भी योगका अवलम्बन ले ले, पर संसारका अवलम्बन कभी न ले। योगका अवलम्बन मुक्त करनेवाला है, पर संसारका अवलम्बन जन्म-मरण देनेवाला, पतन करनेवाला है।

लेनेका भाव जडता है और देनेका भाव चेतनता है। जो केवल लेता-ही-लेता है, वह 'जड' (जगत्) है। अगर वह पशु, पक्षी, वृक्ष, पहाड़ आदि हो तो भी जड़ है और मनुष्य हो तो भी जड़ है। जो लेता भी है और देता भी है, वह 'जीव' (चिज्जडग्रन्थि) है। जो लेना बन्द करके देना शुरू कर देता है, वह 'साधक' है। जो किसीसे कुछ नहीं लेता, न जगत्‌से लेता है, न भगवान्‌से, वह 'सिद्ध' है। जो केवल देता-ही-देता है, वह 'भगवान्' है। भगवान् और उनके भक्त—दोनों देते-ही-देते हैं, लेते हैं ही नहीं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७।३)

लेनेकी इच्छा उसीमें होती है, जिसमें अभाव है और अभाव जड़में ही होता है, चेतनमें नहीं। लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग करनेपर कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों योग सिद्ध हो जाते हैं। वास्तवमें मुक्तितक कुछ भी लेनेकी इच्छा जड़ता है, इसलिये भक्त मुक्ति भी नहीं चाहते—

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं।
अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

(मानस, उत्तर० ११९।२)

अगर कोई ऐसा कहे कि ईश्वरकी भक्तिमें पराधीनता है, स्वाधीनता तो मुक्तिमें ही है तो उनका कहना ठीक है; परन्तु वास्तवमें भक्तिमें ही असली स्वाधीनता है। 'स्व' के दो अर्थ होते हैं—स्वयं और स्वकीय। अपने स्वरूपका नाम भी 'स्व' है और जो अपना है, उसका नाम भी 'स्व' है। परमात्मा अपने होनेसे स्वकीय हैं। स्वकीयकी अधीनतामें विशेष स्वाधीनता और निश्चिन्तता है। जैसे, बालक माँके पराधीन नहीं होता; क्योंकि माँ 'पर' नहीं है, प्रत्युत अपनी होनेसे स्वकीय है। बालकके लिये अपनी अधीनताकी अपेक्षा माँकी अधीनता ज्यादा श्रेष्ठ है; क्योंकि माँकी अधीनतामें बालकका जितना हित है, उतना अपनी अधीनता (स्वाधीनता)-में नहीं है। माँकी अधीनतामें अपनेपर कोई जिम्मेवारी न होनेसे बालक निश्चिन्त रहता है। माँ उसका जितना खयाल रखती है, उतना वह अपना खयाल नहीं रख सकता। इसलिये रामायणमें भगवान् कहते हैं—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।
जिमि बालक राखइ महतारी॥

(मानस, अरण्य० ४३।२)

सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू।
बड़ रखवार रमापति जासू॥

(मानस, बाल० १२६।४)

जीव परमात्माका अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७); **'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'** (मानस, उत्तर० ११७।१)। परमात्माका अंश होनेसे हम परमात्माके हैं और परमात्मा हमारे हैं; अतः उनकी अधीनता पराधीनता नहीं है। जो इस तत्त्वमें गहरा नहीं उतरा है, उसीको ऐसा दीखता है कि भक्तिमें पराधीनता है। वास्तवमें उसने ईश्वरको 'पर' मानकर अन्य सत्ताको स्वीकार कर लिया! 'पर' वही होता है, जो बदलता है और 'स्व' वही होता है, जो कभी बदलता नहीं। शरीर बदलता है, पर स्वयं नहीं बदलता। मात्र संसार बदलता है, पर परमात्मा नहीं बदलते। उस परमात्माके अधीन होना असली स्वाधीनता है। हमारी एकता परमात्माके साथ है और शरीरकी

एकता संसारके साथ है। अतः हम और परमात्मा एक हैं, शरीर और संसार एक हैं। हम और परमात्मा अविनाशी हैं, शरीर और संसार नाशवान् हैं। नाशवान्के सम्बन्धसे पराधीनता होती है और अविनाशीके सम्बन्धसे स्वाधीनता होती है।

मीराबाईने कहा है—'**मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई**'। इसी तरह हमारे भी भगवान् ही हैं, दूसरा कोई हमारा नहीं है। यह अपना कहलानेवाला शरीर भी हमारा नहीं है, प्रत्युत पराया है। शरीर-संसारके साथ हमारा नित्य-निरन्तर वियोग है और परमात्माके साथ हमारा नित्य-निरन्तर योग है। इसलिये संसारके साथ हमारा सम्बन्ध रह ही नहीं सकता और परमात्मासे हमारा सम्बन्ध कभी छूट ही नहीं सकता।

कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी अकेले होते हैं और भक्त भगवान्के साथ होता है। शरीर, पदार्थ, क्रिया आदि बदलनेवाली वस्तुओंके साथ अपना सम्बन्ध न मानना, उनसे असंग होना 'अकेला' होना है। कर्मयोगी त्यागसे (संसारकी वस्तु संसारमें लगाकर) असंग होता है और ज्ञानयोगी विवेकसे (संसारसे स्वयं अलग होकर) असंग होता है। 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस प्रकार भगवान्के साथ रहना भक्तियोग है। कर्मयोगी एवं ज्ञानयोगी संसारसे असंग होते हैं, पर भक्त भगवान्से प्रेम करता है। असंगताकी अपेक्षा प्रेम विलक्षण है। प्रेममें जो आनन्द है, वह असंगता (मुक्ति)-में नहीं है। कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी तो स्वयं अपना उद्धार करते हैं—'**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' (गीता ६। ५); '**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' (गीता १२। ४); परन्तु भक्तका उद्धार भगवान् करते हैं—'**तेषामहं समुद्धर्ता**' (गीता १२। ७)। अतः सभी साधनोंमें भक्ति विलक्षण है—

'**भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी।**'
(मानस, उत्तर० ४५। ३)

२. प्रेमकी जागृतिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता

गीतामें आया है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (२। १६) अर्थात् असत् (वस्तु, व्यक्ति, क्रिया)-की तो सत्ता विद्यमान नहीं है और सत् (परमात्मतत्त्व)-का अभाव विद्यमान नहीं है। तात्पर्य है कि असत्का अभाव-ही-अभाव है, सिवाय अभावके कुछ नहीं और सत्का भाव-ही-भाव है, सिवाय भावके कुछ नहीं। इस विवेकको महत्त्व न देकर जब मनुष्य शरीर (असत्)-को ही अपना स्वरूप मान लेता है अर्थात् शरीरमें 'मैं' और 'मेरा' कर लेता है, तब उसमें अभावकी उत्पत्ति हो जाती है। कारण कि अभावरूप असत्के सम्बन्धसे अभाव ही पैदा होता है। अभाव उत्पन्न होनेपर मनुष्य अभावके दुःखसे दुःखी हो जाता है। अभावके दुःखसे दुःखी होनेपर उसमें उस दुःखकी निवृत्तिके लिये कामना पैदा होती है। कामना पैदा होनेपर फिर अभाव बढ़ता ही जाता है, जिससे वह स्वाधीन नहीं रहता, प्रत्युत पराधीन हो जाता है। कारण कि एक कामना पूरी होनेपर दूसरी कामना पैदा हो जाती है और यह क्रम चलता ही रहता है। सम्पूर्ण कामनाएँ कभी किसीकी भी पूरी नहीं होतीं।

परमात्मतत्त्व सत्-चित्-आनन्दमय है। परन्तु प्रेमके आदान-प्रदानके लिये मिली हुई स्वाधीनताका दुरुपयोग करके जब मनुष्य असत्के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब उसमें सत्, चित् और आनन्दकी आवश्यकता (जिज्ञासा) उत्पन्न हो जाती है, जिसकी पूर्तिके लिये वह असत्की कामना करता है। मैं सदा जीता रहूँ, कभी मरूँ नहीं—यह 'सत्' की आवश्यकता है। मैं सब कुछ जान लूँ, कभी अज्ञानी न रहूँ—यह 'चित्' की आवश्यकता है। मैं सदा सुखी रहूँ, कभी दुःखी न रहूँ—यह 'आनन्द'

की आवश्यकता है। परन्तु असत्‌के साथ सम्बन्ध माननेके कारण मनुष्यसे भूल यह होती है कि वह सत्-चित्-आनन्दकी आवश्यकताको असत्‌के द्वारा ही पूरी करना चाहता है; जैसे—वह शरीरके द्वारा जीना चाहता है, बुद्धिके द्वारा ज्ञानी बनना चाहता है और इन्द्रियाँ—अन्तःकरणके द्वारा सुखी होना चाहता है। इस प्रकार उसमें आवश्यकता तो सत्-तत्त्वकी रहती है, पर उसकी पूर्तिके लिये कामना असत्‌की करता है—यही उसकी मूल भूल है। असत्‌की कामना करनेसे न तो आवश्यकताकी पूर्ति होती है और न कामनाका नाश होता है।[१] अतः मनुष्य सत्-तत्त्वसे विमुख हो जाता है और असत्‌को ही सत्य मानकर, उसको ही महत्ता देकर उसमें आसक्त हो जाता है। वह असत्‌को ही अपने जीवनका लक्ष्य मान लेता है। परिणाम यह होता है कि वह पराधीन, दुःखी, क्लान्त, पराजित, अभावग्रस्त और अनाथ हो जाता है। इतना ही नहीं, असत्‌की आसक्ति दृढ़ होनेपर वह पराधीनतामें ही स्वाधीनता, दुःखमें ही सुख, क्लान्ति (थकावट)-में ही विश्राम, पराजयमें ही विजय, अभावमें ही भाव और अनाथपनेमें ही सनाथपना मान बैठता है और मनुष्यतासे पशुताकी ओर चला जाता है!

मनुष्य कितना ही पतित क्यों न हो जाय, उसमें सत्-चित्-आनन्दकी जिज्ञासा दब तो सकती है, पर मिट नहीं सकती। उसकी वास्तविक आवश्यकता कभी नष्ट नहीं होती। जैसे मनुष्य थोड़ी भी दरिद्रताको नहीं चाहता, ऐसे ही वह अपने नाशको, अपने अनजानपनेको और अपने दुःखको थोड़ा भी नहीं चाहता। कभी सद्‌ग्रन्थ, सद्विचार, सत्संगके द्वारा अथवा कोई आफत आनेपर भगवत्कृपासे मनुष्यकी दृष्टि असत्‌से हटकर उसके प्रकाशक सत्‌की ओर चली जाती है, वह असत्‌से विमुख होकर उसके आधार सत्‌के सम्मुख हो जाता है, तब उसकी रुचि असत्‌से हटकर सत्-तत्त्वमें हो जाती है, असत्‌की कामना न रहकर सत्‌की जिज्ञासा हो जाती है अर्थात् आवश्यकता और कामनाका भेद स्पष्ट हो जाता है। भेद स्पष्ट होनेपर आवश्यकताकी पूर्ति और कामनाकी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् असत्‌से माना हुआ सम्बन्ध नहीं रहता। असत्‌का सम्बन्ध मिटनेपर मनुष्यको शान्तरसका अनुभव हो जाता है। शान्तिको सत् मानकर उसका भोग न करनेसे उसको अखण्डरसका अनुभव होता है और अखण्डरसमें भी सन्तोष न करनेपर उसको अनन्तरसका अनुभव हो जाता है।

असत् (जड़ता)-से सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर शान्तरसका अनुभव होता है और सत् (चिन्मयता)-में स्थिति होनेपर अखण्डरसका अनुभव होता है। कर्मयोगमें शान्तरसका और ज्ञानयोगमें अखण्डरसका अनुभव होता है। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंका परिणाम एक ही है[२] अर्थात् दोनोंके परिणाममें अपने चिन्मय स्वरूपमें स्थिति (मोक्ष)- का अनुभव होता है। मोक्षकी प्राप्ति होनेपर मुमुक्षा अथवा जिज्ञासा तो नहीं रहती, पर प्रेम-पिपासा रह जाती है। इसलिये

---

१. आवश्यकता और कामना—दोनोंमें भेद है। आवश्यकता उसकी होती है, जो अविनाशी, चेतन और अपनेसे अभिन्न हो एवं कामना उसकी होती है, जो नाशवान्, जड़ और अपनेसे भिन्न हो। तात्पर्य है कि आवश्यकता नित्य-तत्त्व (सत्)-की होती है और कामना अनित्य-तत्त्व (असत्)-की होती है। इसलिये भगवद्दर्शन, भगवत्प्रेम, स्वरूपबोध, मोक्ष आदिकी इच्छा कामना नहीं है, प्रत्युत आवश्यकता है। यह नियम है कि आवश्यकताकी तो पूर्ति ही होती है, पर कामनाकी निवृत्ति ही होती है। कामनाकी पूर्ति होना असम्भव है।

जब जीव अपने अंशी परमात्मासे विमुख होकर संसार (जड़ता)-के साथ अपना सम्बन्ध (मैं-मेरापन) मान लेता है, तभी उसमें आवश्यकता और कामना—दोनोंकी उत्पत्ति होती है। चेतनकी मुख्यतासे आवश्यकता और जड़की मुख्यतासे कामना होती है। संसारसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग होनेपर आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है और कामनाकी निवृत्ति हो जाती है।

२. सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ (गीता ५। ४-५)

जब मुक्त पुरुषको अखण्डरसमें भी सन्तोष नहीं होता, तब उसको भगवान् अपनी अहैतुकी कृपासे अनन्तरस प्रदान करते हैं। अनन्तरसको ही 'प्रेम' कहते हैं। मुमुक्षा अथवा जिज्ञासाकी तो पूर्ति होती है, पर इस प्रेमकी कभी पूर्ति नहीं होती। जैसे धनकी प्राप्ति होनेपर भी उसका लोभ बढ़ता रहता है; ऐसे ही प्रेमकी प्राप्ति अर्थात् जागृति होनेपर भी यह प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। इसलिये इस प्रेमको प्रतिक्षण वर्धमान कहा गया है—'**प्रतिक्षणवर्धमानम्**' (नारदभक्ति० ५४)।

मोक्ष (अखण्डरस) प्राप्त होनेपर 'मैं मुक्त हूँ अथवा मैं योगी हूँ या मैं ज्ञानी हूँ'—इस प्रकार अहम्‌की एक सूक्ष्म गन्ध रहती है। अहम्‌की यह सूक्ष्म गन्ध मुक्तिमें तो बाधक नहीं होती, पर प्रेम (अनन्तरस)-की जागृतिमें बाधक होती है। इस सूक्ष्म अहम्‌के कारण ही दार्शनिकोंमें परस्पर मतभेद रहता है। प्रेम जाग्रत् होनेपर फिर मतभेद नहीं रहता। अत: प्रेमकी जागृतिमें ही पूर्णता है।

परमात्माका स्वरूप सत्-चित्-आनन्दमय है। 'सत्' में असीम, अनन्त, अपार सौन्दर्य है, 'चित्' में असीम, अनन्त, अपार ऐश्वर्य है और 'आनन्द' में असीम, अनन्त, अपार माधुर्य है। सत्‌में सौन्दर्य इसलिये है कि अपनी सत्ताकी तरफ सबका आकर्षण होता है कि मैं सदा बना रहूँ। अपनी सत्तामें कभी अरुचि नहीं होती। चितमें ऐश्वर्य इसलिये है कि मैं इतनी बातोंका जानकार हूँ—इस तरह अपनेमें विशेष जानकारी (विद्वत्ता)-का, एक संग्रहका, एक प्रभावका अनुभव होता है।[१] आनन्दमें माधुर्य इसलिये है कि आनन्द सबको मधुर, मीठा लगता है। सत्, चित् और आनन्द तीनों एक होते हुए भी केवल दृष्टिभेदसे अलग-अलग प्रतीत होते हैं। वास्तवमें जहाँ सत् है, वहाँ चित् और आनन्द भी हैं। जहाँ चित् है, वहाँ सत् और आनन्द भी हैं। जहाँ आनन्द है, वहाँ सत् और चित् भी हैं। परमात्मतत्त्व (अंशी)-में तो सत्-चित्-आनन्द पूर्णरूपसे विद्यमान हैं, पर उनके अंश जीवमें ये आंशिक रूपसे विद्यमान हैं।

संसारमें जो सौन्दर्य, ऐश्वर्य और माधुर्य दीखता है, वह प्रतिक्षण मिटनेवाला है। परन्तु संसारके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण मनुष्यकी दृष्टि संसारमें ही अटक जाती है, उससे आगे परमात्मतत्त्वकी तरफ जाती ही नहीं। रागके कारण वह संसारके क्षणिक सौन्दर्य, ऐश्वर्य और माधुर्यको ही स्थायी तथा सत्य मान बैठता है। यद्यपि संसारमें दीखनेवाला सौन्दर्य-ऐश्वर्य-माधुर्य भी उस परमात्माके ही सौन्दर्य-ऐश्वर्य-माधुर्यकी एक आभा, झलक है[२], तथापि मनुष्य उसको परमात्माका न मानकर उसकी स्वतन्त्र सत्ता मान लेता है और उसको ही महत्ता दे देता है। सांसारिक सौन्दर्यको महत्ता देनेसे ममता, ऐश्वर्यको महत्ता देनेसे कामना और माधुर्यको महत्ता देनेसे आसक्ति पैदा हो जाती है। परिणामस्वरूप उसका जीवन विकारी, अशान्त और परतन्त्र हो जाता है। परन्तु जब संसारसे माना हुआ सम्बन्ध नहीं रहता, तब ममता, कामना और आसक्तिका नाश हो जाता है और मनुष्य निर्विकार, शान्त और स्वतन्त्र हो जाता है अर्थात् संसार-बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। जब भगवान्‌की अहैतुकी कृपा उस मुक्तिको भी फीका कर देती है, तब प्रेमकी जागृति होती है। जैसे सूर्यका उदय होनेपर हजार वाटके लट्टूका प्रकाश मिट तो नहीं जाता, पर सूर्यके सामने उस प्रकाशका उतना महत्त्व नहीं रहता, ऐसे ही प्रेमका उदय होनेपर निर्विकारता, शान्ति और स्वतन्त्रता मिट तो नहीं जाती, पर उनका उतना महत्त्व नहीं रहता। महत्त्व न रहनेसे 'मैं निर्विकार हूँ; मैं शान्त हूँ; मैं स्वतन्त्र हूँ'—यह सूक्ष्म अहंभाव तथा इससे पैदा होनेवाले सभी

१-राजा जनकजी कहते हैं—

धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाँही॥ (मानस, अयोध्या० २८८। २-३)

२-जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥ (मानस, बाल० ११७। ४)

दार्शनिक मतभेद सर्वथा मिट जाते हैं अर्थात् अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि जितने भी मतभेद हैं, सब वासुदेवरूप हो जाते हैं, जो कि वास्तवमें है। इसलिये '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करनेवाले प्रेमी भक्तके हृदयमें किसी एक मतका आग्रह नहीं रहता, प्रत्युत सबका समान आदर रहता है। किसी एक मतका आग्रह न होनेसे उसके द्वारा किसीका भी कभी अनादर नहीं होता।

३. भक्तिकी अलौकिक विलक्षणता

जिस साधनमें अपना उद्योग मुख्य होता है, वह लौकिक होता है और जिस साधनमें भगवान्का आश्रय मुख्य होता है, वह अलौकिक होता है। कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों लौकिक साधन हैं; क्योंकि इनमें अपना उद्योग मुख्य है, इसलिये भगवान् कहते हैं—'**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' (गीता ६।५) 'अपने द्वारा अपना उद्धार करें'। परन्तु भक्तियोग अलौकिक साधन है; क्योंकि इसमें भगवान्का सम्बन्ध मुख्य है, इसलिये भगवान् कहते हैं—'**तेषामहं समुद्धर्ता**' (गीता १२।७) 'उनका उद्धार मैं करता हूँ।' तात्पर्य है कि भगवान्का सम्बन्ध होनेसे सब अलौकिक हो जाता है अन्यथा सब लौकिक ही है।

लौकिक साधनमें जगत् और जीवकी मुख्यता होती है; क्योंकि 'यह संसार है और मैं हूँ'—इस प्रकार जगत् और जीव दोनों हमारे प्रत्यक्ष होनेसे लौकिक हैं। परन्तु अलौकिक साधनमें भगवान्की मुख्यता होती है; क्योंकि भगवान् हमारे प्रत्यक्ष न होनेसे अलौकिक हैं। यद्यपि लौकिक और अलौकिक—दोनों ही साधनोंमें विवेक-विचार और श्रद्धा-विश्वासकी आवश्यकता है, तथापि लौकिक साधनमें विवेक-विचारकी मुख्यता है और अलौकिक साधनमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता है। तात्पर्य है कि जगत्के लिये और अपने लिये 'विचार' की आवश्यकता है एवं भगवान्के लिये 'विश्वास' की आवश्यकता है।

विचारकी आवश्यकता उस विषयमें होती है, जिस विषयमें हम कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते अर्थात् अधूरा जानते हैं। जगत् और स्वयंके विषयमें हम यह तो जानते हैं कि 'संसार है और मैं हूँ', पर 'संसार क्या है? मैं क्या हूँ? इनका स्वरूप क्या है?'—इस प्रकार हम इनको तत्त्वसे (यथार्थ रूपसे) नहीं जानते। इसलिये जगत् और जीव—दोनों विचारके विषय हैं।

विश्वासकी आवश्यकता उस विषयमें होती है, जिस विषयमें हम कुछ भी नहीं जानते, जो हमारे लिये सर्वथा अज्ञात है। भगवान्के विषयमें हम कुछ भी नहीं जानते, इसलिये भगवान् विश्वासके विषय हैं। तात्पर्य है कि 'भगवान् हैं'—इस प्रकार उनपर विश्वास ही हो सकता है, 'वे कैसे हैं'—इस प्रकार उनपर विचार नहीं हो सकता, तर्क नहीं चल सकता। भगवान्को मानने अथवा न माननेमें मनुष्य स्वतन्त्र है।

जिसको हम देखते हैं अथवा जानते हैं, उसपर विश्वास नहीं होता; क्योंकि वह तो हमारे सामने ही है। विश्वास उसीपर होता है, जिसको देखा अथवा जाना नहीं है, प्रत्युत सुना और माना है। जैसे माता-पिताको हमने देखा अथवा जाना नहीं है, प्रत्युत सुना और माना है। तात्पर्य है कि माता-पिताको हम केवल विश्वासके आधारपर ही अपना मानते हैं, इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। ऐसे ही भगवान्को भी हम शास्त्रोंसे अथवा सन्तोंसे सुनकर मानते हैं। शास्त्र और सन्त भगवान्के विषयमें कहते हैं कि भगवान् हमारे हैं, हमारेमें हैं, अभी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वसुहृद् हैं, सर्वसमर्थ हैं और अद्वितीय हैं। इसपर विश्वास करना हमारा काम है और विश्वास करने अथवा न करनेमें हम स्वतन्त्र हैं।

भगवान्को प्राप्त तो कर सकते हैं, पर उनका वर्णन, चिन्तन ध्यान नहीं कर सकते। प्राप्त इसलिये कर सकते हैं कि हम उनके ही अंश हैं। भगवान्की पूरी महिमाको बतानेवाला कोई शब्द, विशेषण, युक्ति

या दृष्टान्त संसारकी किसी भाषामें है ही नहीं। भगवान् तो सर्वथा ही अलौकिक हैं। इसलिये शास्त्रोंसे अथवा सन्तोंसे सुनकर हम भगवान्‌को मान तो सकते हैं, पर जान नहीं सकते। भगवान्‌को केवल विश्वाससे और उनकी कृपासे ही जान सकते हैं[१]। इसके सिवाय और कोई उपाय है ही नहीं।

वास्तवमें किसी-न-किसीपर विश्वास किये बिना मनुष्य रह सकता ही नहीं। अगर वह भगवान्‌पर विश्वास नहीं करेगा तो फिर अपने-आपपर अथवा संसारपर विश्वास करेगा। अपने-आपपर विश्वास करनेसे अगर वह शरीरको अपना स्वरूप मान लेगा तो उससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होगी—'**देहाभिमानिनि सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति**'[२]। शरीर-संसारपर विश्वास करना महान् घातक है। शरीर-संसारपर विश्वास करके ही जीव जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ा है, अन्य कोई कारण नहीं है। इसी तरह भगवान्‌पर विवेक-विचार करना भी महान् घातक है; क्योंकि ऐसा करनेसे मनुष्य भगवान्‌को बुद्धिका विषय बना लेगा और कोरी बातें सीख जायगा, हाथ कुछ लगेगा नहीं! सीखा हुआ ज्ञान अभिमान पैदा करता है और भगवान्‌से विमुख करता है, जो मनुष्यके पतनका हेतु है।

संसारपर विश्वास करनेसे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है। जैसे, वस्तुपर विश्वास करनेसे लोभ उत्पन्न होता है। व्यक्ति (शरीर) पर विश्वास करनेसे मोह उत्पन्न होता है। परिस्थितिपर विश्वास करनेसे अभिमान उत्पन्न होता है कि 'मैं बड़ा धनी हूँ, ऊँचे पदवाला हूँ' आदि, अथवा दीनता उत्पन्न होती है कि 'मेरे पास कुछ नहीं है, मैं बड़ा अभागा हूँ' आदि। अवस्थापर विश्वास करनेसे परिच्छिन्नता उत्पन्न होती है कि 'मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ' आदि। यद्यपि कोई भी मनुष्य दोषी नहीं बनना चाहता, तथापि नाशवान्‌पर विश्वास करके वह न चाहते हुए भी दोषी बन ही जाता है। कारण कि नाशवान्‌पर विश्वास ही एक ऐसा दोष है, जिससे अनन्त दोष पैदा होते हैं।

मनुष्य देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, घटना, परिस्थिति और अवस्थाके परिवर्तनका भी अनुभव करता है और अभावका भी। फिर भी वह उसपर विश्वास करता है तो यह अन्धविश्वास है। वास्तवमें विश्वास अन्धा ही होता है। विश्वासकी आँख नहीं होती और जहाँ आँख होती है, वहाँ विश्वास नहीं होता। कारण कि जो प्रत्यक्ष दीखता है, उसपर विश्वास क्या करें? परन्तु जैसा दीखता है, वैसा न मानकर और तरहसे मानना 'अन्धविश्वास' कहलाता है; जैसे—संसार प्रत्यक्ष बदलते हुए और नष्ट होते हुए दीखता है, फिर भी उसपर विश्वास करना 'अन्धविश्वास' है। विवेक-विरुद्ध विश्वास ही अन्धविश्वास होता है। इस अन्धविश्वासका परिणाम यह होता है कि वह अधर्मको धर्म और उलटेको सुलटा मान लेता है[३]! वह पराधीनताको स्वाधीनता, तुच्छताको श्रेष्ठता, पतनको उत्थान मान लेता है। मनुष्य भगवान्‌का अंश होनेके नाते स्वयं बड़ा है, पर संसारपर विश्वास करके वह उसके अधीन हो जाता है, छोटा हो जाता है और इसको अपना बड़प्पन मान लेता है। संसारमें जितना दुःख हो रहा है, सन्ताप हो रहा है, अनर्थ हो रहा है, जन्म-मरण हो रहा है, वह सब संसारपर विश्वास करनेसे ही हो रहा है।

मनुष्य सोचता है कि हमारे पास धन हो जायगा तो हम बड़े आदमी हो जायँगे। जिसके पास थोड़ा

---

१. सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥ (मानस, अयोध्या० १२७। २)

२. अगर मनुष्य अपने-आपको शरीर मानकर उसपर विश्वास करेगा तो उसका वही परिणाम होगा, जो संसारपर विश्वास करनेका होता है; क्योंकि शरीर और संसार एक हैं। अगर वह अपने-आपको सत्तामात्र मानकर विश्वास करेगा तो उसका वही परिणाम होगा, जो परमात्मापर विश्वास करनेका होता है; क्योंकि अपनी सत्ता और परमात्माकी सत्ता एक है।

३. अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ (गीता १८। ३२)

धन हो, उसको छोटी पार्टी कहते हैं और जिसके पास ज्यादा धन हो, उसको बड़ी पार्टी कहते हैं तो बड़ा धन ही हुआ, पार्टीकी तो फजीती हुई! तात्पर्य है कि अगर धनके कारण मनुष्य अपनेको बड़ा मानता है तो धन बड़ा हुआ, मनुष्य छोटा (निकृष्ट) हुआ। पदके कारण अपनेको बड़ा मानता है तो पद बड़ा हुआ, वह छोटा हुआ। चेलोंके कारण अपनेको बड़ा मानता है तो चेले बड़े हुए, वह छोटा हुआ। लोग हमें बहुत मानते हैं, इसलिये हम बड़े हो गये तो वास्तवमें लोग बड़े हुए, खुद तो छोटा ही हुआ। हम ब्राह्मण हैं, इसलिये हम बड़े हैं तो वास्तवमें जाति बड़ी हुई, खुद तो छोटा ही हुआ। हम साधु हैं, इसलिये हम बड़े हैं तो वास्तवमें आश्रम बड़ा हुआ, खुद तो छोटा ही हुआ। हम मिनिस्टर हैं, इसलिये हम बड़े हैं तो वास्तवमें मिनिस्टरी बड़ी हुई, खुद तो छोटा ही हुआ। इस प्रकार बल, विद्या, मान, आदर, प्रशंसा आदि जिस चीजसे मनुष्य अपनेको बड़ा मानता है, वह चीज तो बड़ी हो जाती है और मनुष्य छोटा हो जाता है। परन्तु छोटा होनेपर भी वह अपनेको बड़ा मान लेता है! नाशवान्‌के सम्बन्धसे उसको यह होश ही नहीं रहता कि दूसरी वस्तुके कारण मैं बड़ा कैसे हुआ? स्वयं अविनाशी और अपरिवर्तनशील होते हुए भी वह विनाशी और परिवर्तनशीलसे अपनी उन्नति, बड़प्पन मानता है—यह कितने आश्चर्यकी बात है! सांसारिक वस्तुओंसे अपनेको बड़ा मानना वास्तवमें हमारी फजीती है, पतन है, परतन्त्रता है, निन्दा है, तुच्छता है।

मनुष्य जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसीके पराधीन हो जाता है। इच्छा करनेवाला तो छोटा हो जाता है, पर इच्छित वस्तु बड़ी हो जाती है। परन्तु वह भगवान्‌की इच्छा करता है तो वह बड़ा हो जाता है अर्थात् उसका वास्तविक बड़प्पन प्रकट हो जाता है। कारण कि भगवान् बड़े हैं, इसलिये वे दूसरेको भी बड़ा ही बनाते हैं। परन्तु संसार तुच्छ है, इसलिये वह दूसरेको भी तुच्छ ही बनाता है।

प्रकृति और उसका कार्य शरीर तथा संसार 'पर' अर्थात् दूसरा है। जो 'पर' को लेकर अपनेको बड़ा मानता है, वह वास्तवमें पराधीन ही हो जाता है। परन्तु भगवान् 'स्वकीय' अर्थात् अपने हैं। जो अपना होता है, उसकी अधीनता पराधीनता नहीं होती। जैसे माँ अपनी होती है तो उसके अधीन होना गुण है, अवगुण नहीं है। लोग भी उसकी प्रशंसा करते हैं कि यह मातृभक्त अथवा पितृभक्त है। उसकी कोई निन्दा नहीं करता कि यह तो माँका गुलाम है! कारण कि शरीरकी दृष्टिसे माता-पिता हमसे बड़े हैं। भगवान् स्वरूपकी दृष्टिसे अपने हैं, इसलिये भगवान्‌की अधीनता पराधीनता नहीं है, प्रत्युत स्वाधीनताका मूल है, स्वाधीन होनेका खास उपाय है। परन्तु जो सुख लेनेकी इच्छासे संसार या भगवान्‌को अपना मानता है, वह पराधीन हो जाता है। सुख चाहनेवाला कभी स्वाधीन नहीं हो सकता। कारण कि 'पर' (शरीर)-के अधीन हुए बिना सुखका भोग हो सकता ही नहीं।

'पर' को अपना मानना पराधीनताका मूल है। जबतक हम शरीरको अपना मानते रहेंगे, तबतक पराधीनता कभी छूटेगी नहीं, छूट सकती ही नहीं। शरीरके छूटनेपर भी पराधीनता नहीं छूटेगी। शरीर ('पर') तो बदलता रहेगा, पर पराधीनता निरन्तर रहेगी। शरीर टिकेगा नहीं और पराधीनता मिटेगी नहीं। अगर कोई कहे कि मुक्ति (स्वाधीनता) पानेके लिये तो शरीरकी सहायता लेनी आवश्यक है, तो यह मान्यता भी ठीक नहीं है। स्वाधीनताका साधन पराधीन कैसे हो सकता है? पराधीनताके द्वारा स्वाधीनता कैसे प्राप्त हो सकती है? अतः मुक्तिको, तत्त्वज्ञानको, प्रेमको प्राप्त करनेमें शरीर सहायक नहीं है, प्रत्युत शरीरका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) सहायक है। त्यागका अर्थ है—शरीरमें अहंता-ममताका त्याग। बन्धन अहंता-ममतासे होता है, शरीरसे नहीं। शरीरको सत्ता और महत्ता देकर उसको अपना मानते हुए कभी मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिये शरीरको आवश्यकतानुसार अन्न-जल-वस्त्र तो देना है, पर शरीरसे सम्बन्ध

जोड़कर अन्न-जल-वस्त्र लेनेवाला नहीं बनना है। देनेवाला मालिक होता है और लेनेवाला गुलाम होता है। शरीरकी सेवा करनेवाला परतन्त्र नहीं होता, प्रत्युत उससे कुछ चाहनेवाला परतन्त्र होता है। सेवा करनेवाला तो ऊँचा उठ जाता है, पर लेनेकी इच्छावालेका पतन ही होता है।

संसार तो दूसरेको पराधीन बनाता है, पर भगवान् किसीको कभी अपने पराधीन नहीं बनाते, प्रत्युत उसको अपने समान, अपना सखा बनाते हैं, जैसे, सुग्रीव भोगी था, विभीषण साधक था और निषादराज सिद्ध था, पर भगवान्ने उन तीनोंको ही अपना सखा बनाया। किसीको भी अपना चेला (अधीन) नहीं बनाया। भगवान् जीवको अपना सखा ही मानते हैं। उपनिषद्में आया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

(मुण्डक० ३।१।१, श्वेताश्वतर० ४।६)

भगवान् जिस रीतिसे दूसरेको अपने समान बनाते हैं, उस रीतिसे दूसरा कोई अपने समान बना सकता ही नहीं। दूसरे तो अपनी वस्तुएँ देकर अपने बराबर बनाते हैं, पर भगवान् अपने-आपको देकर अपने बराबर बनाते हैं। जैसे, कोई राजा किसीको अपने समान बनाता है तो उसको अपना आधा राज्य दे देता है, ऐसा नहीं कि उसको पूरा राज्य देकर खुद उसका दास बन जाय। परन्तु भगवान् अपने-आपको दे देते हैं और खुद भक्तके दास हो जाते हैं—

'मैं तो हूँ भगतन को दास, भगत मेरे मुकुटमणि'

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।'

(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

'हे द्विज! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ।'

जैसे माँ प्रेमके कारण बालकके वशमें हो जाती है, ऐसे ही भगवान् प्रेमके कारण भक्तके वशमें हो जाते हैं। भगवान्का स्वभाव है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११)। 'जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ।' इसलिये जो भगवान्के अधीन होता है, भगवान् उसके अधीन हो जाते हैं, उसको सबसे बड़ा बना देते हैं।

'कोयला होय नहिं ऊजला सौ मन साबुन लगाय'—कोयलेपर सौ मन साबुन लगा दें तो भी वह साफ नहीं होगा; परन्तु उसको अग्निमें रख दें तो वह चमकने लगेगा; क्योंकि वह अग्निसे अलग होनेपर ही काला हुआ है। अगर चमकते कोयले (अंगार) से लकीर खींची जाय तो वह भी काली ही निकलेगी; क्योंकि वह अग्निसे अलग हो गयी। ऐसे ही जीव भगवान्से अलग होनेपर ही काला, तुच्छ हुआ है। अगर वह भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़ ले तो वह चमकने लगेगा। तात्पर्य है कि जीव भगवान्से अलग होकर अपनेको कितना ही बड़ा मान ले, त्रिलोकीका अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्डोंका अधिपति हो जाय तो भी वास्तवमें वह छोटा-का-छोटा, त्रिलोकीका गुलाम ही रहेगा। परन्तु वह भगवान्का दास हो जाय तो बड़े-से-बड़ा (नरसे नारायण) हो जायगा। नाशवान्के साथ मिलनेसे अविनाशी (जीव) की फजीती ही है। उसकी इज्जत तो अविनाशीके साथ मिलनेसे ही है।

संसारमें भगवान् और उनके भक्त—ये दो ही दूसरेको बड़ा बनानेवाले हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं।
सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

(मानस, उत्तर० ४७।३)

ये दोनों खुद बड़े हैं, इसलिये दूसरोंको भी बड़ा ही बनाते हैं, किसीको भी छोटा नहीं बनाते। कारण कि जो खुद छोटा होता है, वही दूसरेको छोटा बनाता है। जो खुद पराधीन होता है, वही दूसरेको पराधीन बनाता है। संसार कभी किसीको बड़ा बनाता ही नहीं, बना सकता ही नहीं। इसलिये जो संसारका आश्रय लेता है, वह छोटा हो जाता है। परन्तु जो भगवान्का

आश्रय लेता है, उनके साथ सम्बन्ध जोड़ता है, वह बड़ा हो जाता है—

बड़ सेयाँ बड़ होत है, ज्यों बामन भुज दंड।
तुलसी बड़े प्रताप ते, दंड गयउ ब्रह्मंड॥

जो सच्चे सन्त होते हैं, वे अपनी ओरसे किसीको अपना चेला नहीं बनाते। पारस तो लोहेको सोना बनाता है, अपने समान (पारस) नहीं बनाता; परन्तु सन्त दूसरेको भी अपने समान (सन्त) ही बनाते हैं—

पारस में अरु संत में, बड़ो अंतरो जान।
वह लोहा कंचन करे, यह कर आपु समान॥

ऐसे सच्चे सन्तका चेला बनना गुलामी नहीं है, प्रत्युत गुरुभक्ति है। ऐसा गुरुभक्त दुनियाका गुरु हो जाता है। परन्तु जिस सन्तके मनमें यह बात आती है कि मेरे इतने चेले हैं, इसलिये मैं बड़ा हूँ अथवा उसमें दूसरेको अपना चेला बनानेकी इच्छा होती है तो वह वास्तवमें चेलादास है, गुरु नहीं है। सच्चा गुरु चेलेके अधीन नहीं होता, चेलेके कारण अपनेको बड़ा नहीं मानता और चेलेको अपने अधीन नहीं बनाता। उसका यह स्वभाव भी भगवान्‌से ही आया है।

भगवान्‌पर विश्वास करनेसे ही मनुष्य बड़ा होता है। भगवान्‌के सिवाय वह कहीं भी विश्वास करेगा तो उसकी फजीती-ही-फजीती होगी। इसलिये संसार विश्वास करनेयोग्य नहीं है। उसकी तो सेवा करना अथवा विचारपूर्वक त्याग करना ही उचित है। कर्मयोगी संसारको सच्चा मानकर निष्कामभावसे संसारकी ही वस्तुको संसारकी सेवामें लगा देता है और ज्ञानयोगी आत्माको ही सच्चा मानकर विचारपूर्वक शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करके असंगताका अनुभव करता है तो उन दोनोंकी मुक्ति हो जाती है। तात्पर्य है कि जो ईश्वरको न मानकर कर्मयोग अथवा ज्ञानयोगका साधन करते हैं, उनकी भी मुक्ति हो जाती है, पराधीनता मिट जाती है। परन्तु भक्ति (प्रेम)-की प्राप्ति तो ईश्वरको सच्चा माननेसे ही होती है। मुक्तिमें संसारका सम्बन्ध छूटता है और भक्तिमें भगवान्‌से सम्बन्ध जुड़ता है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंका परिणाम एक ही होता है (गीता ५।४-५) अर्थात् दोनोंके परिणाममें मनुष्य जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है, सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट जाता है, पराधीनतासे छूट जाता है। मुक्त होनेपर संसारकी निवृत्ति तो हो जाती है, पर प्राप्ति कुछ नहीं होती। परन्तु भक्तियोगसे संसारकी निवृत्तिके साथ-साथ परमात्माकी तथा उनके प्रेमकी प्राप्ति भी हो जाती है। मुक्तिमें तो जीव स्वयं रसका अनुभव करनेवाला होता है, पर भक्ति (प्रेम) में वह रसका दाता हो जाता है, भगवान्‌को भी रस देनेवाला हो जाता है! कारण कि ज्ञानस्वरूप भगवान् ज्ञानके भूखे (जिज्ञासु) नहीं हैं, प्रत्युत प्रेमके भूखे (प्रेम-पिपासु) हैं—'**एकाकी न रमते**' (बृहदारण्यक० १।४।३)। अतः प्रेमकी प्राप्ति होनेपर प्रेमी भक्त भगवान्‌को भी तृप्त करनेवाला हो जाता है। परन्तु उसमें यह विशेषता भी भगवान्‌से ही आती है, उसकी अपनी नहीं होती। तात्पर्य है कि जैसे कोई मनुष्य गंगाजलसे गंगाकी पूजा करे तो इसमें गंगाकी ही विशेषता हुई, खुद मनुष्यकी क्या विशेषता हुई? ऐसे ही भक्त भगवान्‌के दिये हुए प्रेमसे ही भगवान्‌की भूख मिटाता है।

भगवान्‌ने मनुष्यको तीन शक्तियाँ प्रदान की हैं—करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। प्राप्त करनेकी शक्ति मनुष्यमें नहीं है, इसलिये संसारकी कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं होती, हो सकती ही नहीं। संसार एक क्षण भी नहीं टिकता, निरन्तर बदलता रहता है, फिर वह प्राप्त कैसे हो सकता है? अगर संसार वास्तवमें प्राप्त होता तो कभी बिछुड़ता नहीं और हमारी भी सदाके लिये तृप्ति हो जाती। परन्तु संसारसे कभी किसीकी तृप्ति नहीं होती, प्रत्युत तृष्णा बढ़ती है—'**जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई**'। भोगोंसे होनेवाली थकावटको ही मनुष्य भूलसे तृप्ति मान लेता है; जैसे—भोजन करते-करते जब और खानेकी सामर्थ्य नहीं रहती अर्थात् थकावट (असमर्थता) हो जाती है, तब उसको तृप्ति कह देते

हैं। परन्तु वास्तवमें यह तृप्ति नहीं होती, इसलिये पुनः भूख लग जाती है। प्राप्ति वास्तवमें परमात्माकी ही होती है, जो एक बार होती है और सदाके लिये होती है। कारण कि वास्तवमें परमात्मा सबको नित्य प्राप्त हैं, केवल अप्राप्तिका वहम मिटता है।

'करने' और 'जानने' की शक्तिका सदुपयोग करके मनुष्य शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और स्वरूपका बोध कर सकता है। परन्तु 'मानने' की शक्तिका सदुपयोग करनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और स्वरूप-बोधके साथ-साथ भगवत्प्रेमकी प्राप्ति भी हो जाती है। तात्पर्य है कि यद्यपि लौकिक साधन (कर्मयोग और ज्ञानयोग) मनुष्यके करनेका है, तथापि भगवान्पर विश्वास करनेसे जो काम साधकको करना चाहिये, वह काम (मुक्ति) भी भगवान् कर देते हैं और जो काम भगवान्के करनेका है, वह काम (दर्शन और प्रेम) भी भगवान् कर देते हैं[१] (गीता १०। १०-११)। जैसे किसी नगरमें एक व्यक्ति अपने घरमें बन्द है। उस नगरके सब घर नगरकी चहारदीवारी (परकोटे) में बन्द हैं। अगर वह व्यक्ति अपने घरसे निकलना चाहे तो यह उसके हाथकी बात है, पर नगरकी चहारदीवारीसे निकलना उसके हाथकी बात नहीं है, प्रत्युत वहाँके राजाके हाथकी बात है। अगर राजा चाहे तो वह चहारदीवारीका दरवाजा भी खोल सकता है और उस व्यक्तिके घरका दरवाजा भी खोल सकता है, न खुले तो तोड़ भी सकता है। ऐसे ही भगवान् भक्तका सब काम कर देते हैं, उसके करनेयोग्य काम भी कर देते हैं और अपने करनेयोग्य काम भी कर देते हैं! तात्पर्य है कि विवेक-विचारसे तो केवल लौकिक साधन सिद्ध होता है, पर विश्वाससे लौकिक और अलौकिक दोनों साधन सिद्ध हो जाते हैं। इसलिये माननेकी शक्ति (विश्वास) क्रियाशक्ति और विवेकशक्तिसे भी श्रेष्ठ और विलक्षण है।

शरीर भी हमारा नहीं है, मन-बुद्धि-प्राण भी हमारे नहीं हैं और उनके द्वारा होनेवाले चिन्तन-ध्यान-समाधि भी हमारे नहीं हैं—इस प्रकार 'पर' को अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरको अपना न माननेसे मनुष्य स्वाधीन (मुक्त) हो जाता है, उसकी पराधीनता सर्वथा मिट जाती है। स्वाधीन होनेपर मनुष्य भगवत्प्रेमका अधिकारी हो जाता है; क्योंकि जो पराधीन है, वह प्रेम नहीं करता, प्रत्युत मोह करता है। प्रेमकी प्राप्ति 'पर' के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत 'पर' के त्यागसे और 'स्वकीय' के द्वारा होती है। परन्तु भगवान्की कृपासे स्वाधीन अर्थात् मुक्त होनेसे पहले भी प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। जब भक्त विश्वासपूर्वक केवल भगवान्को अपना मान लेता है, तब उसका भगवान्में प्रेम हो जाता है। कारण कि प्रेमकी प्राप्ति अपने बल, तप, योग्यता आदिसे नहीं होती, प्रत्युत भगवान्को अपना माननेसे होती है। बल, तप, योग्यता आदिके द्वारा जो वस्तु मिलेगी, वह बल, तप आदिसे कम मूल्यकी ही होगी। अगर किसी साधनसे साध्य मिलेगा तो वह साधनसे छोटा ही होगा। इसलिये भगवान्को अपना माने बिना और कोई प्रेम-प्राप्तिका उपाय हो ही नहीं सकता। भगवान् भक्तके अपनेपनको ही देखते हैं, यह नहीं देखते कि वह बद्ध है या मुक्त[२]। जैसे बालक माँको पुकारता है तो माँ बच्चेकी योग्यता, बल, विद्या आदिको न देखकर उसके अपनेपनको देखती है और उसको गोदमें ले लेती है, ऐसे ही जब भक्त अपनी स्थितिसे असन्तुष्ट होकर, पराधीनतासे व्याकुल होकर भगवान्को पुकारता है, तब भगवान् उसको अपना प्रेम प्रदान कर देते हैं। तात्पर्य है कि शरीर-संसारको अपना न माननेसे लौकिक साधन सिद्ध हो जाता है और भगवान्को अपना माननेसे अलौकिक साधन सिद्ध हो जाता है।

---

१. मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥ (मानस, अरण्य० ३६। ५)
'जीव पाव निज सहज सरूपा'—यह कर्मयोग और ज्ञानयोगका फल है।

२. रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥ (मानस, बाल० २९। ३)

जिनमें मुक्तिकी इच्छा है और जो मुक्तिको ही सर्वोपरि मानते हैं, ऐसे साधक प्रेम (भक्ति)-की प्राप्ति तो दूर रही, प्रेमकी बातको भी समझ नहीं सकते! जैसे स्वार्थी आदमीकी दृष्टि दूसरेके हितकी तरफ जाती ही नहीं, ऐसे ही लौकिक साधनावाले मनुष्यकी दृष्टि अलौकिक प्रेमकी तरफ जाती ही नहीं। उसमें प्रेम-तत्त्वको समझनेकी सामर्थ्य ही नहीं होती। प्रेमकी बातको वही समझ सकता है, जिसके भीतर भक्तिके संस्कार हैं, भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास है, भगवान्‌की कृपाका आश्रय है और जो भक्ति, भक्त और भगवान्‌का तिरस्कार नहीं करता, ऐसा साधक अगर मुक्त हो जाय तो उसको मुक्तिमें सन्तोष नहीं होता। अतः भगवान् कृपापूर्वक उसके मुक्तिके अखण्डरसको फीका करके प्रेमका अनन्तरस प्रदान कर देते हैं। अगर वह पहलेसे ही भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास करके अपनापन कर ले तो भगवान् कृपापूर्वक उसको मुक्ति और भक्ति (प्रेम) दोनों प्रदान कर देते हैं।

४. भगवल्लीलाका तत्त्व

कर्म, क्रिया और लीला—तीनों एक दीखते हुए भी वास्तवमें सर्वथा भिन्न हैं। जो कर्तृत्वाभिमानपूर्वक किया जाय तथा अनुकूल-प्रतिकूल फल देनेवाला हो, वह 'कर्म' होता है। जो कर्तृत्वाभिमानपूर्वक न की जाय तथा जो फल देनेवाली भी न हो, वह 'क्रिया' होती है; जैसे—श्वासोंका चलना, आँखोंका खुलना और बन्द होना आदि। जो क्रिया कर्तृत्वाभिमान तथा फलेच्छासे रहित तो होती ही है, साथ-साथ दिव्य तथा दुनियामात्रका हित करनेवाली भी होती है, वह 'लीला' होती है। सांसारिक लोगोंके द्वारा 'कर्म' होता है, मुक्त पुरुषोंके द्वारा 'क्रिया' होती है और भगवान्‌के द्वारा 'लीला' होती है—

'**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**' (ब्रह्मसूत्र २।१।३३)

'ईश्वरका सृष्टि रचना आदि कार्य लोकमें तत्त्वज्ञ महापुरुषोंकी तरह केवल लीलामात्र है।'

भगवान्‌की छोटी-से-छोटी तथा बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक क्रिया 'लीला' होती है। लीलामें भगवान् सामान्य मनुष्यों-जैसी क्रिया करते हुए भी निर्लिप्त रहते हैं[1]। भगवान्‌की लीला दिव्य होती है—'**जन्म कर्म च मे दिव्यम्**' (गीता ४।९)। यह दिव्यता देवताओंकी दिव्यतासे भी विलक्षण होती है। देवताओंकी दिव्यता मनुष्योंकी अपेक्षासे होनेके कारण सापेक्ष और सीमित होती है, पर भगवान्‌की दिव्यता निरपेक्ष और असीम होती है। यद्यपि जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुषोंकी क्रियाएँ भी दिव्य होती हैं, तथापि वे भी भगवल्लीलाके समान नहीं होतीं। भगवान्‌की साधारण लौकिक लीला भी अत्यन्त अलौकिक होती है। जैसे, भगवान्‌की रासलीला लौकिक दीखती है, पर उसको पढ़ने-सुननेसे साधककी कामवृत्तिका नाश हो जाता है[2]।

---

१. तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ (गीता ४।१३)

'उस (सृष्टि-रचना आदि)-का कर्ता होनेपर भी मुझ अव्यय परमेश्वरको तू अकर्ता जान।'

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा। (गीता ४।१४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते।'

२. विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥ (श्रीमद्भा० १०।३३।४०)

'परीक्षित्! जो धीर पुरुष व्रजयुवतियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णके इस चिन्मय रास-विलासका श्रद्धाके साथ बार-बार श्रवण और वर्णन करता है, उसे भगवान्‌के चरणोंमें पराभक्तिकी प्राप्ति होती है और वह बहुत ही शीघ्र अपने हृदयके रोग—कामविकारसे छुटकारा पा जाता है। उसका कामभाव सदाके लिये नष्ट हो जाता है।'

यह जगत् भगवान्‌का आदि अवतार है—**'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य'** (श्रीमद्भा० २।६।४१)। तात्पर्य है कि भगवान् ही जगत्-रूपसे प्रकट हुए हैं। परन्तु जीवने भोगासक्तिके कारण जगत्‌को भगवद्रूपसे स्वीकार न करके नाशवान् जगत्-रूपसे ही धारण कर रखा है—**'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५)। इस धारणाको मिटानेके लिये साधकको दृढ़तासे ऐसा मानना चाहिये कि जो दीख रहा है, वह भगवान्‌का स्वरूप है और जो हो रहा है, वह भगवान्‌की लीला है। ऐसा मानने (स्वीकार करने) पर जगत् जगत्-रूपसे नहीं रहेगा और 'भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है'—इसका अनुभव हो जायगा। दूसरे शब्दोंमें, संसार लुप्त हो जायगा और केवल भगवान् रह जायँगे। कारण कि प्रत्येक वस्तु एवं व्यक्तिको भगवान्‌का स्वरूप और प्रत्येक क्रियाको भगवल्लीला माननेसे भोगासक्ति, राग-द्वेष नहीं रहेंगे। भोगासक्तिका नाश होनेपर जो क्रियाएँ पहले लौकिक दीखती थीं, वही क्रियाएँ अलौकिक भगवल्लीला-रूपसे दीखने लगेंगी और जहाँ पहले भोगासक्ति थी, वहाँ भगवत्प्रेम हो जायगा।

साधकको ऐसा मानना चाहिये कि भगवान् जैसा रूप धारण करते हैं, उसीके अनुरूप लीला करते हैं*। जब वे अर्चावतार अर्थात् मूर्तिका रूप धारण करते हैं, तब वे मूर्तिकी तरह ही अचल रहनेकी लीला करते हैं। अगर वे अचल नहीं रहेंगे तो वह अर्चावतार कैसे रहेगा? भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूप भी धारण किये और मत्स्य, कच्छप, वराह आदि रूप भी धारण किये। उन्होंने जैसा रूप धारण किया, वैसी ही लीला की। जैसे, वराहावतारमें भगवान्‌ने सूअर बनकर लीला की और वामनावतारमें ब्रह्मचारी ब्राह्मण बनकर लीला की।

भगवल्लीलाको पढ़ने-सुननेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, संसारकी आसक्ति मिटती है और भगवान्‌में प्रेम होता है। ज्ञानस्वरूप भगवान् शंकर, ब्रह्माजी, सनकादिक ऋषि, देवर्षि नारद आदि भी भगवान्‌की लीलाओंको गाकर और सुनकर प्रेममग्न हो जाते हैं। भगवान् अवतार लेकर जिन स्थानोंमें लीलाएँ करते हैं, वे स्थान भी इतने पवित्र हो जाते हैं कि उनमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निवास करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है। इसका कारण यह है कि भगवान् मात्र जीवोंका कल्याण करनेके उद्देश्यसे ही अवतार लेकर लीलाएँ करते हैं—**'नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।'** (श्रीमद्भा० १०।२९।१४)।

---

* भगवान् श्रीकृष्ण उत्तंक ऋषिसे कहते हैं-

धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव। (महाभारत, आश्व० ५४।१३-१४)

'मैं धर्मकी रक्षा और स्थापनाके लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ।'

यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन। तदाहं देववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्तामि भृगुनन्दन। तदा गन्धर्ववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत्। यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद् विचराम्यहम्॥ (महा०, आश्व० ५४।१७—१९)

'भृगुनन्दन! जब मैं देवयोनिमें अवतार लेता हूँ, तब देवताओंकी ही भाँति सारे आचार-विचारका पालन करता हूँ, इसमें संशय नहीं है।'

'जब मैं गन्धर्वयोनिमें प्रकट होता हूँ, तब मेरे सारे आचार-विचार गन्धर्वोंके ही समान होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।'

'जब मैं नागयोनिमें जन्म ग्रहण करता हूँ, तब नागोंकी तरह बर्ताव करता हूँ। यक्षों और राक्षसोंकी योनियोंमें प्रकट होनेपर मैं उन्हींके आचार-विचारका यथावत्-रूपसे पालन करता हूँ।'

५. मुक्ति और प्रेम

परमात्माके अन्तर्गत जीव है और जीवके अन्तर्गत संसार है। कारण कि संसारकी सत्ता जीवके अधीन है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५) और जीवकी सत्ता परमात्माके अधीन है—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः'** (गीता १५।७)। जब जीव संसारको अपनेसे अधिक महत्त्व देता है, तब वह बँध जाता है और जब अपनेको संसारसे अधिक महत्त्व देता है, तब वह मुक्त (स्वरूपमें स्थित) हो जाता है। परन्तु जब वह अपनेसे भी अधिक परमात्माको महत्त्व देता है, तब वह भक्त (प्रेमी) हो जाता है।

जबतक जीव शरीर-संसारको अपनेसे भी अधिक महत्त्व देता है, तबतक उसका अभाव (दारिद्र्य) नहीं मिटता। उसको अनन्त ब्रह्माण्डोंका आधिपत्य मिल जाय तो भी उसका अभाव बना रहता है। अभाव होनेसे उसके जीवनमें दो बातें रहती हैं—मिली हुई वस्तुमें ममता और जो नहीं मिली है, उसकी कामना। ममता और कामनाके रहते हुए मुक्ति नहीं होती और मुक्ति हुए बिना अभाव नहीं मिटता। जब जीव अपनेको संसारसे अधिक महत्त्व देता है अर्थात् उसने जितनी सच्चाईसे, दृढ़तासे, विश्वाससे और निःसन्देहतासे शरीरकी सत्ता-महत्ता मानी है, उतनी ही सच्चाईसे, दृढ़तासे, विश्वाससे और निःसन्देहतासे स्वयं (स्वरूप)-की सत्ता-महत्ता मान लेता है और अनुभव कर लेता है, तब उसके जीवनमें अभावका सर्वथा अभाव हो जाता है। अभावका अभाव होनेपर प्राप्त वस्तु, परिस्थिति आदिमें ममता नहीं रहती। अप्राप्तकी कामना मिट जाती है। भोग और संग्रहकी रुचिका नाश हो जाता है। प्राप्त वस्तुका दुरुपयोग नहीं होता। मृत्युका भय मिट जाता है। फिर जीवन-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुएँ उसको समयसे पहले ही प्राप्त होने लगती हैं; जैसे—जन्मसे पहले माँका दूध प्राप्त होता है। लोभ न रहनेसे वस्तुएँ उसके पास आनेके लिये लालायित रहती हैं।

एक ही दोष अथवा गुण स्थानभेदसे अनेक रूपसे प्रकट होता है। शरीर (अनित्य, नाशवान्)-को अपनेसे अधिक महत्त्व देना अर्थात् शरीरको अपना स्वरूप मानना मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्ति उत्पन्न होती है। अपने चेतनस्वरूप (नित्य, अविनाशी)-को शरीरसे अधिक महत्त्व देना मूल गुण है, जिससे सम्पूर्ण दैवी-सम्पत्ति प्रकट होती है। अपनेको शरीरसे अधिक महत्त्व देनेका तात्पर्य है कि हमारी सत्ता शरीरके अधीन नहीं है अर्थात् शरीरके बिना भी हम रह सकते हैं और रहते हैं, जी सकते हैं और जीते हैं। शरीरके सम्बन्धसे हम बँधते हैं और सम्बन्ध-विच्छेदसे मुक्त होते हैं। शरीर संसारसे अभिन्न है; अतः एक शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे संसारमात्रके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है।

जब जीव परमात्माको अपनेसे भी अधिक महत्त्व देता है अर्थात् वह जिस सच्चाईसे, दृढ़तासे, विश्वाससे और निःसन्देहतासे शरीरको अपना और अपने लिये मानता है, उसी सच्चाईसे, दृढ़तासे, विश्वाससे और निःसन्देहतासे परमात्माको अपना और अपने लिये मान लेता है, तब वह भक्त (प्रेमी) हो जाता है। परमात्माको अपनेसे भी अधिक महत्त्व देनेसे मुक्तिका रस भी फीका हो जाता है!

परमात्मा सम्पूर्ण संसारके परम प्रकाशक, परम आधार, परम आश्रय और परम अधिष्ठान हैं। जीव उस परमात्माका ही अंश है। जो अपनेसे अभिन्न है, उस परमात्माको अपनेसे अलग मानना और जो अपनेसे भिन्न है, उस शरीर-संसारको अपना और अपने लिये मानना सम्पूर्ण दोषोंका मूल है। परमात्माको अपना मानना सत्का संग है और शरीर-संसारको अपना मानना असत्का संग है। जो मिला है और बिछुड़ जायगा, उस शरीर-संसारको अपना माननेसे ही जो वास्तवमें अपना है, वह अपना नहीं दीखता। इसीका परिणाम है कि मनुष्यको अपने जीवनमें अशान्ति, दुःख, अभाव, नीरसता, पराधीनता, बन्धन आदि अनेक दोषोंका अनुभव होता है। जबतक

मनुष्यको शरीर अपना और अपने लिये प्रतीत होता रहेगा, तबतक वह कितना ही साधन कर ले, तपस्या कर ले, अभ्यास कर ले, श्रवण-मनन-निदिध्यासन कर ले, उसको परमशान्ति नहीं मिलेगी, उलटे उसमें अभिमान पैदा हो जायगा कि मैं इतना जानकार हूँ, मैं तपस्वी हूँ, मैं ऊँचा साधक हूँ आदि। अभिमानसे सब दोष उत्पन्न होते हैं और पुष्ट होते हैं। तात्पर्य है कि शरीरको अपना मानकर वह कुछ भी करेगा, उससे उसके अभावकी पूर्ति नहीं होगी। इसलिये यह सिद्धान्त है कि जो मिला है और बिछुड़ जायगा, वह हमारे कुछ काम नहीं आ सकता। हाँ, उसके द्वारा दूसरोंकी सेवा कर सकते हैं; क्योंकि वह दूसरोंका तथा दूसरोंके लिये ही है। सेवा अथवा त्यागके सिवाय उसका और कोई उपयोग नहीं है।

अनेक शास्त्रोंका अध्ययन करनेसे, बहुत व्याख्यान सुननेसे, बहुत-सी बातें जान लेनेसे ही जीवनमें दुःख, अशान्ति, अभाव, पराधीनता आदिका नाश नहीं हो सकता। उससे मनुष्यकी बुद्धि बलवती बन सकती है, पर सम (स्थिर) नहीं हो सकती। बुद्धि बलवती होनेसे मनुष्य अच्छा व्याख्यान दे सकता है, पुस्तकें लिख सकता है, अनेक विद्याएँ सीख सकता है, शास्त्रार्थमें दूसरेको हरा सकता है, बड़े-बड़े प्रश्नोंका उत्तर दे सकता है, पर पराधीनतासे नहीं छूट सकता। अगर मनुष्य चाहे तो वह शास्त्रोंके अध्ययनके बिना भी यह अनुभव कर सकता है कि जो वस्तु मिली है और बिछुड़ जायगी, वह अपनी और अपने लिये नहीं है। उसको अपनी और अपने लिये न माननेपर ममता और कामना नहीं रहती। ममता और कामना न रहनेपर बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि सम होनेसे असत्से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् शरीर-संसारकी सत्ता, महत्ता और अपनापन सर्वथा नहीं रहता।

जब मनुष्य अपनेको अधिक महत्त्व देता है, तब वह मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेपर 'मैं मुक्त हूँ' ऐसा एक सूक्ष्म अहम् (अभिमानशून्य अहम्) रह जाता है, जिससे दार्शनिक मतभेद पैदा होते हैं। परन्तु जब वह अपनेसे भी परमात्माको अधिक महत्त्व देता है, तब उसका वह सूक्ष्म अहम् प्रेममें परिणत हो जाता है, आत्मरति भगवद्रतिमें परिणत हो जाती है*। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर सभी भेद मिट जाते हैं। मुक्ति तो साधन है, पर प्रेम साध्य है। प्रेमकी प्राप्तिमें ही मानव-जीवनकी वास्तविक पूर्णता है, सफलता है।

मुक्ति होनेपर जिज्ञासाकी पूर्ति हो जाती है और दुःखोंकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है; परन्तु प्रेमकी प्राप्ति होनेपर न तो प्रेमकी पूर्ति होती है, न क्षति होती है और न निवृत्ति ही होती है, प्रत्युत उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है—'**प्रतिक्षणवर्धमानम्**' (नारद० ५४)। इस प्रेमकी प्राप्ति भगवान्में अपनापन करनेसे होती है—'**मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।**' कारण कि भगवान्ने भोग और मोक्ष तो मनुष्यके लिये बनाये हैं, पर मनुष्यको अपने लिये बनाया है कि वह मेरेसे प्रेम करे, मैं उससे प्रेम करूँ। भगवान्ने भोगके लिये क्रिया-शक्ति दी है, मोक्षके लिये विवेक दिया है और अपने लिये प्रेम दिया है। प्रेमकी भूख भगवान्में भी है—'**एकाकी न रमते।**' प्रेम भगवान्को भी तृप्त करनेवाला है। इसलिये प्रेम सबसे ऊँची चीज है। प्रेमसे आगे कुछ नहीं है।

---

* ज्ञानमार्गी अपनेको अधिक महत्त्व देता है और भक्तिमार्गी भगवान्को अधिक महत्त्व देता है।

६. हम भगवान्‌के हैं

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(१५।७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं) मेरा ही सनातन अंश है। परन्तु वह प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षित करता है अर्थात् उनको अपना मान लेता है।'

जैसे किसी पिताका कोई पुत्र होता है, उससे भी विलक्षण हम भगवान्‌के पुत्र हैं। परन्तु हमने भगवान्‌को अपना न मानकर प्रकृतिमें स्थित शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना मान लिया—यही बन्धन है। इसके सिवाय और कोई बन्धन नहीं है। जैसे शरीरमें माता-पिता दोनोंका अंश है, ऐसे हमारेमें भगवान् और प्रकृति—दोनोंका अंश नहीं है। हम केवल भगवान्‌के अंश हैं—'**मम एव अंशः।**' भगवान्‌का अंश होनेसे हम भगवान्‌में ही स्थित हैं, पर हमने प्रकृतिमें स्थित शरीरको अपना मान लिया—यही हमारी गलती है। प्रकृतिका अंश तो प्रकृतिमें ही स्थित रहा, हम ही अपने अंशी भगवान्‌से विमुख हो गये! जड़ तो सपूत ही रहा, हम ही कपूत हो गये!

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त वस्तुएँ हैं, पर कोई भी वस्तु हमारी नहीं है, हमें निहाल करनेवाली नहीं है। अनन्त ब्रह्माण्डोंका राज्य भी मिल जाय, तो भी उससे हमें कोई लाभ होनेवाला नहीं है। जो वस्तु हमारी है ही नहीं, वह हमें निहाल कैसे कर सकती है? कर ही नहीं सकती। हम जिसके अंश हैं, जो वास्तवमें हमारा है, वही हमें निहाल कर सकता है।

हम परमात्माके अंश हैं और चेतन, मलरहित (निर्मल) तथा सहज सुखराशि हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। १)

हम किसी भी योनिमें चले जायँ तो भी वैसे-के-वैसे ही '***चेतन अमल सहज सुखरासी***' रहेंगे। ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण गुणोंका संग है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। सत्त्वगुणके संगसे ऊर्ध्वगति होती है, रजोगुणके संगसे मध्यगति होती है और तमोगुणके संगसे अधोगति होती है*। तात्पर्य हुआ कि गुणोंके साथ सम्बन्ध होनेसे अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके साथ सम्बन्ध माननेसे ही जन्म-मरण होता है। इसलिये साधकको आज ही, इसी समय यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि हमारा सम्बन्ध तो केवल परमात्माके साथ ही है। हम साक्षात् परमात्माके अंश हैं और परमात्मामें ही रहते हैं। फिर मुक्त होनेमें कोई सन्देह नहीं है; क्योंकि हमने असली बात पकड़ ली। हमारे पास जो वस्तु है, जो योग्यता है, जो बल है, वह सब संसारका है और संसारके लिये ही है। हम परमात्माके हैं और परमात्माके लिये हैं।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—ये सब 'अपरा प्रकृति' हैं और जीवरूपसे बने हुए हम 'परा प्रकृति' हैं। हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है, शरीरके साथ नहीं। शरीर अपरा प्रकृति है। मैं (अहम्) और मेरा—दोनोंका सम्बन्ध संसारके साथ है। इस प्रकार निर्मम और निरहंकार होते ही तत्काल शान्ति मिल जायगी—'**निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति**' (गीता २।७१)। हमारा कुछ नहीं है। ममता भी हमारी नहीं है और अहंकार भी हमारा नहीं है। कामना भी हमारी नहीं

* ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ (गीता १४।१८)

है और स्पृहा भी हमारी नहीं है। इसको गीताने ब्राह्मी स्थिति कहा है—**'एषा ब्राह्मी स्थितिः'** (गीता २। ७२)। इसलिये केवल यह स्वीकार कर लें कि हम परमात्माके हैं, शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है तो अभी-अभी मुक्त हो जायँगे! इसमें पाप-पुण्यका कायदा नहीं है। यह भावना ही उठा दें कि हम पापी हैं। हमारेमें पाप-ताप कुछ नहीं हैं। हम साक्षात् परमात्माके अंश हैं। पाप आगन्तुक हैं और किये हुए हैं, स्वाभाविक नहीं हैं। परन्तु हम स्वाभाविक ***'चेतन अमल सहज सुखरासी'*** हैं—इतना ही हमें जानना है। पाप पैदा और नष्ट होनेवाली वस्तु है। हम पैदा और नष्ट होनेवाली वस्तु नहीं हैं।

हम सदा परमात्माके साथ हैं और परमात्मा सदा हमारे साथ हैं। हम पापी हैं तो परमात्माके साथ हैं, पुण्यात्मा हैं तो परमात्माके साथ हैं। हम अच्छे हैं तो परमात्माके साथ हैं, मन्दे हैं तो परमात्माके साथ हैं। हमारेमें न पाप है, न पुण्य। न अच्छा है, न मन्दा। अभी हमें अनुभव न हो तो भी हम परमात्माके साथ ही हैं। कितना ही बड़ा पापी हो, रोजाना जानवरोंको काटनेवाला कसाई हो, तो भी है वह परमात्माका अंश ही! हम साक्षात् परमात्माके अंश हैं, पाप-पुण्य हमें छूते ही नहीं, हमतक पहुँचते ही नहीं। इस बातको हम ठीक समझ लें तो इतनेसे मुक्ति हो जायगी।

शरीर तो संसारका है और जन्मता-मरता रहता है, पर हम वही रहते हैं—**'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते'** (गीता ८। १९)। संसारके साथ शरीरकी एकता है, हमारी बिलकुल नहीं। समस्त पाप-ताप शरीरके साथ हैं, हमारे साथ नहीं। हम सम्पूर्ण पाप-पुण्योंसे, शुभ-अशुभ कर्मोंसे अलहदा हैं। बस, इतनी बात मान लें। हम केवल परमात्माके हैं—यह एकदम सच्ची बात है। इसको माननेमात्रसे मुक्ति हो जायगी; क्योंकि मान्यतासे ही बन्धन होता है और मान्यतासे ही मुक्ति होती है।

हम भगवान्‌के हैं—इस बातको अगर हम भूल जायँ तो भी यह बात वैसी-की-वैसी ही रहेगी। कारण कि भूलना अथवा न भूलना हमारी बुद्धिमें है, हमारेमें नहीं। हमारा सम्बन्ध न भूलके साथ है, न यादके साथ है। हम तो वैसे-के-वैसे ही ***'चेतन अमल सहज सुखरासी'*** हैं। हमारेमें क्या भूलना और क्या याद करना? हम चेतन हैं और सत्त्व-रज-तम तीनों गुण जड़ हैं। हम इन गुणोंके साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं, तभी ये गुण हमें बाँधते हैं। अगर हम गुणोंको न पकड़ें तो ये कुछ नहीं करेंगे। हम स्वयं चेतन तथा असंग होते हुए भी जड़को पकड़ लेते हैं, तभी फँसते हैं। हम न पकड़ें तो गुण प्रकृतिमें ही रहेंगे—**'प्रकृतिस्थानि'**, हमारे पास नहीं आयेंगे। इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। अगर हम गुणोंका साथ न दें तो ये हमारा बाल बाँका नहीं कर सकते। इनमें ताकत ही नहीं है। हमारे लाखों जन्मोंके कैसे ही कर्म हों, सब प्रभुको अपना मानते ही नष्ट हो जाते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४। १)

पुराने पाप नष्ट हो जायँगे और नया पाप होगा ही नहीं। कारण कि पाप-कर्म तभी होता है, जब हम संसारको अपना मानकर उससे कुछ चाहते हैं। अगर संसारको अपना न मानकर, उससे कुछ न चाहकर भगवान्‌को अपना मान लें तो इसी क्षण अनन्त जन्मोंके पाप छूट जायँगे। भगवान् अपने हैं—यह बार-बार कहनेकी जरूरत नहीं है। जैसे, माँको हम अपना मान लेते हैं तो इसको बार-बार नहीं कहना पड़ता। माँ तो अपनी बनी हुई है, पर भगवान् अपने बने हुए नहीं हैं। माँके पेटमें आये हैं, उसका दूध पिया है, तब माँ बनी है। परन्तु भगवान् पहलेसे (सदासे) ही अपने हैं और सदा अपने रहेंगे। संसारका कोई भी सम्बन्ध रहनेवाला नहीं है। अभी मर जायँ तो सभी सम्बन्ध मिट जायँगे। मिटता वही

है, जो नहीं होता और टिकता वही है, जो होता है। टिकनेवाली बातको हम पकड़ लें, उधर दृष्टि कर लें—इतना ही हमारा काम है।

हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं। शरीर संसारका है, संसार शरीरका है। हमारी और परमात्माकी एकता है। शरीर और संसारकी एकता है। इसको सन्तोंने 'सत्संग' कहा है। सत्‌का संग करना, सत्‌को स्वीकार करना 'सत्संग' है। सत्संग करें तो कोई बन्धन है ही नहीं। हमारा सम्बन्ध शरीर-संसारके साथ है ही नहीं—यह बात मान लें तो इससे बड़ा कोई काम है ही नहीं। हजारों-लाखों आदमियोंको भोजन करायें तो वह भी इसके बराबर नहीं हो सकता। हम सदासे ही शरीरसे अलग हैं। इसमें सन्देहकी कोई बात ही नहीं है। हमने अपनेको शरीर-संसारके साथ मान रखा है—इस गलत धारणाको छोड़ना है। इसको छोड़ दें तो अभी इसी क्षण मुक्ति है।

हमारेसे भूल यह होती है कि संसारके जो सम्बन्ध रहनेवाले नहीं हैं, उनको तो हम मान लेते हैं और जो सम्बन्ध सदा रहनेवाला है, उसको मानते ही नहीं! जिससे बन्धन होता है, उसको तो मान लेते हैं और जिससे मुक्ति होती है, उसको मानते ही नहीं! संसारका कोई भी सम्बन्ध रहनेवाला नहीं है। कितना ही जोर लगा लें, संसारका सम्बन्ध रख सकते ही नहीं। इसी तरह कितना ही जोर लगा लें, भगवान्‌का सम्बन्ध तोड़ सकते ही नहीं। भगवान्‌में भी ताकत नहीं कि वे हमारा सम्बन्ध तोड़ दें। वे सर्वसमर्थ होते हुए भी हमें छोड़नेमें असमर्थ हैं।

मैं भगवान्‌का हूँ—इसका चिन्तन करनेकी जरूरत नहीं है। यह बात चिन्तनके अधीन नहीं है, प्रत्युत माननेके अधीन है। जैसे, यह खम्बा है तो अब इसमें चिन्तन क्या करें? दो और दो चार ही होते हैं, इसमें चिन्तन क्या करें? हम भगवान्‌के हैं—यह सच्ची बात है। सच्ची बातको मान लें तो निहाल हो जायँगे। अगर शरीरके साथ हमारा सम्बन्ध होता तो शरीरके बदलनेपर हम भी बदल जाते। पर शरीर बदलता है, हम वही रहते हैं। शरीर बालक, जवान और बूढ़ा होता है, हम बालक, जवान और बूढ़े नहीं होते। हम शरीर भी नहीं हैं और शरीरी (शरीरवाले) भी नहीं हैं। हम शरीरसे अलग हैं और शरीर हमारेसे अलग है। शरीरसे अलग होनेसे ही हम एक शरीरको छोड़ते हैं और दूसरे शरीरको धारण करते हैं। हम साक्षात् परमात्माके अंश हैं—यह एकदम सच्ची, पक्की और सिद्धान्तकी बात है। इसलिये हमें आज ही सुनना, पढ़ना, सीखना आदि बन्द करके जानना और मानना आरम्भ कर देना चाहिये। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें एक भी वस्तु अपनी नहीं है, यहाँतक कि ये शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि भी अपने नहीं हैं—यह जानना है, और केवल भगवान् ही अपने हैं—यह मानना है। सुनने, पढ़ने, सीखने आदिसे हम विद्वान् बन सकते हैं, वक्ता बन सकते हैं, लेखक बन सकते हैं, पर हमारा बन्धन ज्यों-का-त्यों रहेगा। परन्तु 'हमारा कोई नहीं है'—ऐसा जान लें तो हम मुक्त हो जायँगे और 'केवल प्रभु ही हमारे हैं'—ऐसा मान लें तो हम भक्त हो जायँगे।

७. हमारा असली घर

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं) मेरा ही सनातन अंश है।'

भगवान्‌के ही अंश होनेसे हम सब-के-सब भगवान्‌के ही घरके हैं। हमारा घर संसारमें नहीं है, इसीलिये हम चौरासी लाख योनियोंमें जाते हैं, स्वर्ग-नरकादि लोकोंमें जाते हैं, कहीं ठहरते नहीं। अगर यहाँ हमारा घर होता तो हम यहीं रहते, कहीं जाते

नहीं। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति होनेपर फिर जन्म-मरण नहीं होता; क्योंकि हम परमात्माके ही घरके हैं। इसलिये परमात्माकी प्राप्ति तो हमारे घरकी बात है, पर संसारकी प्राप्ति हमारे घरकी बात नहीं है। जबतक असली घरकी प्राप्ति नहीं होगी, तबतक अनेक घरोंमें भटकना पड़ेगा। लाखों-करोड़ों वर्ष बीत जायँ तो भी भटकना बन्द नहीं होगा। परन्तु परमात्माके घर पहुँचते ही हमारा भटकना सदाके लिये बन्द हो जायगा।

हम परमात्माके हैं और परमात्मा हमारे हैं। हम संसारके नहीं हैं और संसार हमारा नहीं है। हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है। संसारके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। इसीलिये हम संसारमें कभी एक योनिमें नहीं रहते। इतना ही नहीं, एक योनिमें भी हम पहले बालक होते हैं, फिर जवान होते हैं, फिर बूढ़े होते हैं। एक क्षण भी स्थिर नहीं रहते। प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, अवस्था आदिमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। कारण कि संसारमें कुछ भी स्थायी नहीं है। स्थायी रहनेवाली वस्तु भगवान्के घरकी ही है।

संसार पराया घर है। हमें परायी जगह छोड़नी है और अपनी जगह पहुँचना है। साधकोंके हृदयमें प्राय: यह बात जँची रहती है कि हम संसारके हैं और परमात्माको प्राप्त करना है। वास्तवमें हम परमात्माके ही हैं और परमात्माकी प्राप्ति स्वत: है। अगर पहलेसे ही यह धारणा हो जाय कि हम संसारके नहीं हैं, हम तो परमात्माके हैं (जो वास्तवमें है) तो परमात्मप्राप्ति बहुत सुगम हो जायगी।

संसारका सम्बन्ध अनित्य है, पर भगवान्का सम्बन्ध नित्य है। लाखों-करोड़ों वर्ष अथवा अनन्त वर्ष बीत जायँ तो भी भगवान्के साथ हमारा सम्बन्ध ज्यों-का-त्यों रहेगा। परन्तु संसारका सम्बन्ध छूटता ही रहेगा। यह क्षणमात्र भी स्थिर नहीं है। जीव संसारको अपना मानकर कभी वृक्ष बनता है, कभी पशु बनता है, कभी पक्षी बनता है, कभी भूत-प्रेत बनता है, कभी पिशाच बनता है, कभी देवता बनता है, कभी पितर बनता है; क्योंकि जो अपने घरका नहीं होगा, वह भटकनेके सिवाय और क्या करेगा?

हम परमात्माके हैं, इसलिये उनकी प्राप्तिमें उत्साह होना चाहिये। हम उनके हैं, वे हमारे हैं। संसारमें शरीर बदलता है। तो माँ-बाप भी बदलते हैं, भाई भी बदलते हैं, स्त्री भी बदलती है, पुत्र भी बदलता है। परन्तु भगवान् कभी नहीं बदलते, उनका सम्बन्ध कभी नहीं बदलता। इसलिये उनकी प्राप्ति करना अपने घरपर पहुँचना है। अत: साधकको यह बात निश्चित कर लेनी चाहिये कि यह संसार पराया घर है, अपना घर नहीं है। संसारमें जो मोह हुआ है, आसक्ति हुई है, कामना हुई है वे सब मिटनेवाली चीजें हैं, पर भगवान्का सम्बन्ध मिटनेवाला है ही नहीं। इसको हम भूल जायँ तो भी यह मिटेगा नहीं।

इतने बड़े संसारमें हमारे लायक कोई वस्तु है ही नहीं। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें कोई भी वस्तु हमारी नहीं है और हम किसीके नहीं हैं—यह बात साधकको दृढ़तासे धारण कर लेनी चाहिये; क्योंकि यह वास्तवमें है। हम परमात्माके हैं, अत: परमात्माकी प्राप्ति करना नया काम नहीं है। नया काम तो संसारकी प्राप्ति करना है। संसारमें नये-नये शरीर मिलते ही रहते हैं। कभी हम मनुष्य बनते हैं, कभी पशु बनते हैं, कभी पक्षी बनते हैं, कभी जलचर होते हैं, कभी थलचर होते हैं, कभी नभचर होते हैं; कभी जरायुज होते हैं, कभी स्वेदज होते हैं, कभी अण्डज होते हैं, कभी उद्भिज्ज होते हैं। जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी, तबतक इस प्रकार परिवर्तन होता ही रहेगा। हम संसारके नहीं हैं, हम परमात्माके हैं—यह ज्ञान मनुष्यको ही होता है। अन्य योनियोंमें यह ज्ञान नहीं है कि हम किसके हैं! इसलिये 'मैं तो परमात्माका हूँ'—यह बात साधकमें स्वत:-स्वाभाविक होनी चाहिये।

परमात्माकी प्राप्ति कठिन नहीं है। कठिन तो

संसारकी प्राप्ति है। कारण कि जो वस्तु परायी होती है, उसीकी प्राप्ति कठिन होती है। अपनी वस्तुकी प्राप्तिमें क्या कठिनता? बालकके लिये माँकी गोदीमें जाना क्या कठिन है? भगवान् हमारे वास्तविक माता-पिता हैं—'**त्वमेव माता च पिता त्वमेव**', '**माता च कमला देवी पिता देवो जनार्दनः**।' संसारमें तो प्रत्येक योनिमें नये-नये माँ-बाप, भाई-बन्धु, कुटुम्बी बनाने पड़ते हैं, पर भगवान् नये नहीं बनाने पड़ते। भगवान् तो वे-के-वे ही रहते हैं। वे सदा ही हमारे हैं और हम सदा ही उनके हैं। यही हमारी असली पहचान है।

संसारकी कोई भी वस्तु हमारी नहीं है। जो हमारे नजदीक-से-नजदीक है, वह शरीर भी हमारा नहीं है। शरीरमें रहनेवाले मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, प्राण आदि भी हमारे नहीं हैं। नजदीक-से-नजदीक शरीरसे लेकर दूर-से-दूर ब्रह्मलोकतक कोई भी वस्तु हमारी नहीं है। हम ब्रह्मलोकतक चले जायँ तो भी वहाँसे लौटकर आना पड़ता है—'**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८। १६)। वहाँसे लौटकर आनेका कारण यही है कि हम वहाँके नहीं हैं और वे हमारे नहीं हैं। हम भगवान्‌के अंश हैं, संसारके नहीं, इसलिये संसार छूट जाता है। बड़ी मेहनतसे कमाया हुआ धन छूट जाता है। बनाया हुआ मकान छूट जाता है। कुटुम्ब-परिवार छूट जाता है। कारण कि यह हमारी वस्तु नहीं है। यह हमारा देश नहीं है। यह परदेश है। हम स्वयं अपरिवर्तनशील हैं; अतः जिसमें परिवर्तन नहीं होता, वही हमारा देश है। हमारा देश वह है, जिसको भगवान्‌ने अपना धाम बताया है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता १५। ६)

'उस परमपदको न सूर्य, न चन्द्र और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकती है और जिसको प्राप्त होकर जीव लौटकर संसारमें नहीं आते, वही मेरा धाम है।'

जो भगवान्‌का धाम है, वही हमारा धाम है। हम उस धामके हैं, यहाँके नहीं हैं। यहाँ तो हम आये हैं। आया हुआ आदमी कबतक रहेगा? मुसाफिर कितने दिन ठहरेगा? जबतक हम अपने असली धाममें नहीं जायँगे, तबतक हमारी मुसाफिरी चलती ही रहेगी, मिटेगी नहीं।

भगवान् अपने हैं और सब कुछ पराया है। परायी वस्तुको हम अपने पास कबतक रखेंगे? जो वस्तु हमारी है, वही हमारे पास रहेगी। जो वस्तु हमारी नहीं है, वह हमारे पास कैसे रहेगी? संसारकी वस्तुको अपने पासमें रखनेकी ताकत किसीमें नहीं है।

एक वैश्य था और एक राजपूत था। वैश्य बलवान् था और राजपूत कमजोर था। राजपूत उस वैश्यको लूटने लगा। वैश्यने राजपूतको नीचे पटक दिया और उसके ऊपर चढ़ गया। राजपूतने पूछा कि तू कौन है? वह बोला कि मैं वैश्य हूँ। यह सुनते ही राजपूतको जोश आ गया कि अरे! एक बनिया मेरेको दबा रहा है! उसने पट वैश्यको नीचे दबा दिया। इसी तरह यह संसार हमारेको दबा रहा है। हमारे मनमें उत्साह होना चाहिये कि हम तो भगवान्‌के अंश हैं, नित्य-निरन्तर रहनेवाले हैं और संसार प्रकृतिका है, क्षणभंगुर और परिवर्तनशील है, फिर संसार हमारेको कैसे दबा सकता है! वास्तवमें हम संसारसे दबे हुए नहीं हैं, प्रत्युत अपनेको दबा हुआ (कमजोर) मान लिया है। संसारकी कोई भी वस्तु ठहरती नहीं। न शरीर ठहरता है, न सुख ठहरता है, न कुटुम्ब ठहरता है, न धन ठहरता है, न विद्या ठहरती है, न योग्यता ठहरती है, न बल ठहरता है। कोई वस्तु ठहर सकती ही नहीं। जो वस्तु कभी ठहरती ही नहीं, उससे हम क्यों दबें? उसके गुलाम क्यों बनें?

संसारमें अपना कोई नहीं है। केवल भगवान् और उनके भक्त—ये दो ही अपने हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

इन दोनोंकी बात हमें माननी चाहिये। भगवान् कहते हैं—**‘ममैवांशो जीवलोके’** (गीता १५। ७) और भक्त कहते हैं—***‘ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥’*** (मानस, उत्तर० ११७। १)। परन्तु अपनेको संसारका मानकर हम ठगाईमें आ गये! अनादिकालसे भगवान्‌के होते हुए भी हम ठगाईमें आकर संसारके बन गये और अपने असली घरको भूल गये! इसलिये गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि हम किस घरके हैं?

हमारी जाति और शरीर-संसारकी जाति परस्पर मिलती नहीं। हम अविनाशी हैं और शरीर-संसार नाशवान् हैं। हम अपरिवर्तनशील हैं और शरीर-संसार निरन्तर बदलनेवाले हैं। हमारी जाति तो भगवान्‌के साथ मिलती है। हम भगवान्‌की जातिके हैं और भगवान् हमारी जातिके हैं। हम भगवान्‌की बिरादरीके हैं। हम संसारके नहीं हैं।

८. नामजपकी विलक्षणता

यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि तो क्रियाएँ हैं, पर भगवन्नामका जप क्रिया नहीं है, प्रत्युत पुकार है। जैसे किसीको डाकू मिल जाय और वह लूटने लगे, मारपीट करने लगे तो अपनेमें छूटनेकी शक्ति न देखकर वह रक्षाके लिये पुकारता है तो यह पुकार क्रिया नहीं है। पुकारमें अपनी क्रियाका, अपने बलका भरोसा अथवा अभिमान नहीं होता। इसमें भरोसा उसका होता है, जिसको पुकारा जाता है। अत: पुकारमें अपनी क्रिया मुख्य नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌से अपनेपनका सम्बन्ध मुख्य है।

सन्तोंने कहा है—

हरिया बंदीवान ज्यों, करियै कूक पुकार।

जैसे किसीको जबर्दस्ती बाँध दिया जाय तो वह पुकारता है, ऐसे ही भगवान्‌को पुकारा जाय, उनके नामका जप किया जाय तो भगवान्‌के साथ अपनापन प्रकट हो जाता है। इस अपनेपनमें अर्थात् भगवत्सम्बन्धमें जो शक्ति है, वह यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाओंमें नहीं है। इसलिये नामजपका विलक्षण प्रभाव होता है।

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

(मानस, बाल० २८। १)

किसी भी प्रकारसे नामजप करते-करते यह विलक्षणता प्रकट हो जाती है। परन्तु भावपूर्वक, समझपूर्वक नामजप किया जाय तो बहुत जल्दी उद्धार हो जाता है—

सादर सुमिरन जे नर करहीं।
भव बारिधि गोपद इव तरहीं॥

(मानस, बाल० ११९। २)

तात्पर्य है कि भावपूर्वक, लगनपूर्वक नामजप करनेसे संसारसमुद्र गोपदकी तरह बीचमें ही रह जाता है। उसको तैरकर पार नहीं करना पड़ता, प्रत्युत वह स्वत: पार हो जाता है और भगवान्‌के साथ जो नित्ययोग है, वह प्रकट हो जाता है।

जैसे प्यास लगनेपर जलकी याद आती है तो वह याद भी जलरूप ही है, ऐसे ही परमात्माकी याद भी परमात्माका स्वरूप ही है। जड़ होनेके कारण जल प्यासेको नहीं चाहता, पर भगवान् स्वाभाविक ही जीवको चाहते हैं; क्योंकि अंशीका अपने अंशमें स्वाभाविक प्रेम होता है। कुआँ प्यासेके पास नहीं जाता, प्रत्युत प्यासा कुएँके पास जाता है। परन्तु भगवान् स्वयं भक्तके पास आते हैं। वास्तवमें तो भक्त जहाँ परमात्माको याद करता है, वहाँ परमात्मा पहलेसे ही मौजूद हैं! अत: परमात्माको याद करना, उनके नामका जप करना क्रिया नहीं है। क्रिया प्रकृतिका कार्य है, पर नामजप प्रकृतिसे अतीत है। वास्तवमें उपासक (जापक) और उपास्य—दोनों ही प्रकृतिसे अतीत हैं। अत: नामजपसे स्वयं परमात्माके सम्मुख हो जाता है; क्योंकि पुकार स्वयंकी होती है,

मन-बुद्धिकी नहीं। इसलिये नामजप गुणातीत है।

सांसारिक अथवा पारमार्थिक कोई भी क्रिया की जाय, वह जड़के द्वारा ही होती है। परन्तु लक्ष्य चेतन (परमात्मा) रहनेसे वह जड़ क्रिया भी चेतनकी ओर ले जानेवाली हो जाती है—

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(गीता १७। २७)

जहाँ हमारा लक्ष्य होगा, वहीं हम जायँगे। लक्ष्य परमात्मा है तो युद्धरूपी क्रिया भी परमात्मप्राप्तिका कारण हो जायगी। इतना ही नहीं, लक्ष्य चेतन होनेसे जड़ भी चिन्मय हो जायगा। जैसे, ***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'***—इस प्रकार भगवान्‌का होकर भगवान्‌का भजन करनेसे मीराबाईका जड़ शरीर भी चिन्मय होकर भगवान्‌के श्रीविग्रहमें लीन हो गया! अतः क्रिया भले ही जड़ हो, पर उद्देश्य जड़ (भोग और संग्रह) नहीं होना चाहिये।

शास्त्रोंमें यहाँतक लिखा है कि पापी-से-पापी मनुष्य भी उतने पाप नहीं कर सकता, जितने पापोंका नाश करनेकी शक्ति भगवन्नाममें है! वह शक्ति 'हे मेरे नाथ! हे मेरे प्रभु!' इस पुकारमें है। इसमें शब्द तो बाहरकी वाणीसे, क्रियासे निकलते हैं, पर आह भीतरसे, स्वयंसे निकलती है। भीतरसे जो आवाज निकलती है, उसमें एक ताकत होती है। वह ताकत उसकी होती है, जिसको वह पुकारता है। जैसे, बच्चा रोता है और माँको पुकारता है तो उसका माँके साथ भीतरसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इसलिये माँ ठहर नहीं सकती, दूसरा काम कर नहीं सकती। इसी तरह सच्चे हृदयसे भगवन्नामका उच्चारण करनेसे भगवान् ठहर नहीं सकते, उनके सब काम छूट जाते हैं! तात्पर्य है कि भगवन्नामके जपमें एक अलौकिक, विलक्षण ताकत है, जिससे जीवका बहुत जल्दी कल्याण हो जाता है। जब दुःशासन द्रौपदीका चीर खींचने लगा, तब द्रौपदीने **'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय'** कहकर भगवान्‌को पुकारा। पुकार सुनते ही भगवान् आ गये। पर उनके आनेमें थोड़ी-सी देरी लगी; क्योंकि द्रौपदीने भगवान्‌को **'द्वारकावासिन्'** कहा तो भगवान्‌को द्वारका जाकर आना पड़ा। अगर वह **'द्वारकावासिन्'** नहीं कहती तो थोड़ी-सी देरी भी नहीं लगती, भगवान् तत्काल वहीं प्रकट हो जाते!

एक भगवान् कृष्णका भक्त था और एक भगवान् रामका भक्त था। दोनोंने अपने-अपने इष्टदेवको पुकारा तो भगवान् कृष्ण बहुत जल्दी आ गये, पर भगवान् रामको आनेमें देरी लगी। कारण यह था कि भगवान् राम राजाधिराज हैं। राजाओंकी सवारी आनेमें तो देरी लगती है, पर ग्वालेके आनेमें क्या देरी लगती है? उसको आनेके लिये कोई तैयारी नहीं करनी पड़ती। यह भक्तका भाव है। अयोध्यामें एक सज्जन मिले थे। वे अपने पास एक बालरूप रामका चित्र रखा करते थे। उन्होंने कहा कि मैं तो बालरूप रामजीकी उपासना किया करता हूँ। महाराजाधिराज राजा रामकी उपासना करते हुए मेरेको डर लगता है कि वे राजा ठहरे, कोई कसूर हो जाय तो चट कैदमें डाल देंगे! परन्तु बालरूप रामको मैं धमका भी सकता हूँ, थप्पड़ भी लगा सकता हूँ! यह भक्तोंकी भावनाएँ हैं।

अगर मनुष्य नामजपको क्रियारूपसे न लेकर पुकाररूपसे ले तो बहुत जल्दी काम हो जायगा और भगवत्प्रेमकी, भगवत्सम्बन्धकी स्मृति जाग्रत् हो जायगी। संसारकी आसक्तिके कारण भगवत्प्रेम ढक जाता है। भगवान्‌को पुकारनेसे वह प्रेम प्रकट हो जाता है।

९. विचार करें

विचार करें, परमात्मा अपने हैं कि संसार अपना है? हमें संसार प्यारा लगता है कि भगवान् प्यारे लगते हैं? सदा हमारे साथ भगवान् रहेंगे कि संसार रहेगा? हम परमात्माके अंश हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)। फिर हमें परमात्मा प्यारे न लगें, संसार प्यारा लगे—यह क्या उचित बात है? संसार तो हरदम हमसे दूर होता है, क्षणभर भी हमारे साथ नहीं रहता और परमात्मा सदा हमारे साथ रहते हैं, क्षणभर भी दूर नहीं होते। परन्तु हमारी दृष्टि परमात्माकी तरफ नहीं है, प्रत्युत संसारकी तरफ है। हम भगवान्के अंश हैं तो हमें भगवान् प्यारे लगने चाहिये। परन्तु हमें परमपिता परमेश्वर इतने प्यारे नहीं लगते, जितना संसार प्यारा लगता है। संसार साथ रहता नहीं और साथ रहेगा नहीं, रह सकता नहीं। यह एक क्षण भी साथ नहीं रहता, हरदम हमसे दूर हो रहा है। रुपये-पैसे, मकान, स्त्री, पुत्र, परिवार आदि कोई भी साथ रहनेवाला नहीं है और भगवान्का साथ छूटनेवाला नहीं है।

शरीर-संसारका सम्बन्ध हरदम छूट रहा है। हमारी उम्रमेंसे जितने वर्ष बीत गये, उतना तो संसार छूट ही गया—यह प्रत्यक्ष बात है, एकदम सच्ची तथा पक्की बात है। जिस क्षण जन्म हुआ, उसी क्षणसे शरीर-संसार हमसे दूर जा रहे हैं। संसारकी प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण बदल रही है। परन्तु अनन्त युग भले ही बीत जायँ, भगवान् नहीं बदलेंगे। वे कभी हमसे दूर नहीं होंगे, सदा साथ रहेंगे। हम सदा भगवान्के साथ हैं और भगवान् सदा हमारे साथ हैं। जो शरीर एक क्षण भी हमारे साथ नहीं रहता, वह शरीर हमें प्यारा लगता है और लोगोंकी दृष्टिमें हम भगवान्की तरफ चलनेवाले सत्संगी कहलाते हैं! विचार करें कि वास्तवमें हम सत्संगी हुए कि कुसंगी हुए? हम सत्का संग करते हैं कि असत्का संग करते हैं? हमें सत् प्यारा लगता है कि असत् प्यारा लगता है? कम-से-कम इतनी बातकी तो होश होनी चाहिये कि संसार हमारा नहीं है।

हम परमात्माके अंश होनेसे मलरहित हैं—***'चेतन अमल सहज सुखरासी।'*** परन्तु संसारका संग करनेसे मल-ही-मल लगता है, दोष-ही-दोष लगता है, पाप-ही-पाप लगता है। संसारके संगसे लाभ कोई नहीं होता और नुकसान कोई बाकी नहीं रहता। हम शरीरमें कितनी ममता रखते हैं, उसको अन्न-जल देते हैं, कपड़ा देते हैं, आराम देते हैं, उसकी सँभाल रखते हैं, पर शरीर हमारा बिलकुल कायदा नहीं रखता। रातको भूलसे भी शरीरसे कपड़ा उतर जाय तो शीत लग जाता है, बुखार आ जाता है! रोटी देनेमें एक दिन देरी हो जाय तो शरीर कमजोर हो जाता है! हम तो रात-दिन शरीरके पीछे पड़े हैं, पर यह हमारी परवाह नहीं करता, हमारी भूलको भी माफ नहीं करता! फिर भी शरीर हमें प्यारा लगता है और सदा हमारा हित चाहनेवाले भगवान् और उनके भक्त प्यारे नहीं लगते!

प्रत्येक व्यक्तिको विचार करना चाहिये कि हमें कौन अच्छा लगता है? जो भगवान्में, उनके भजन-स्मरणमें लगाता है, वह अच्छा लगता है कि जो संसारमें लगाता है, वह अच्छा लगता है? जो वस्तु सदा साथ नहीं रहती, वह अच्छी लगती है कि जो सदा साथ रहती है, वह अच्छी लगती है? शरीर-संसार हमारे साथ नहीं रहते और हम उनके साथ नहीं रहते। परन्तु धर्म हमारे साथ रहता है, ईश्वर हमारे साथ रहता है, न्याय हमारे साथ रहता है, सच्चाई हमारे साथ रहती है। विचार करें कि हम सच बोलते हैं कि झूठ बोलते हैं? हमें न्याय अच्छा लगता है कि अन्याय अच्छा लगता है? ईमानदारी अच्छी लगती है कि बेईमानी अच्छी लगती है? हमें अन्याय अच्छा लगता है तो उसका फल क्या होगा? भोग अच्छे लगते हैं तो उसका फल क्या होगा? भोग

भोगनेसे हमें लाभ हुआ है कि नुकसान हुआ है? अपने जीवनको सँभालें और सोचें कि हम क्या कर रहे हैं? किधर जा रहे हैं? हमें क्या अच्छा लगता है? भगवान्‌का भजन अच्छा लगता है कि संसार (भोग और संग्रह) अच्छा लगता है? संसार क्या फायदा करता है और भगवान् क्या नुकसान करते हैं? पाप क्या फायदा करता है और धर्म क्या नुकसान करता है? विचार करें, देखें, सोचें—

संसार साथी सब स्वार्थ के हैं,
पक्के विरोधी परमार्थ के हैं।
देगा न कोई दुःख में सहारा,
सुन तू किसी की मत बात प्यारा॥

भजन-स्मरण करें तो घरवाले राजी नहीं होंगे। पर झूठ, कपट, बेईमानी करें तो घरवाले राजी हो जायँगे। विचार करो कि वे आपके फायदेमें राजी होते हैं कि आपके नुकसानमें राजी होते हैं? इस तरफ ध्यान दो कि आपका भला चाहनेवाले और भला करनेवाले कौन-कौन हैं? भगवान्‌ने हमें शरीर दिया है, पदार्थ दिये हैं, पर सब कुछ देकर भी वे हमारेपर एहसान नहीं करते। परन्तु संसार थोड़ा-सा काम करता है तो कितना एहसान करता है? वह तो अच्छा लगता है, पर भगवान् अच्छे नहीं लगते! भगवान्‌ने शरीर दिया, आँखें दीं, हाथ दिये, पाँव दिये, बुद्धि दी, विवेक दिया, सब कुछ दिया, उनसे सुख पाते हैं और भगवान्‌को याद ही नहीं करते! भगवान्‌से मिली हुई चीज तो अच्छी लगती है, पर भगवान् अच्छे नहीं लगते। क्या यह उचित है? स्वयं विचार करें। महाभारतमें आया है—'**यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्। विमुच्यते**............ ॥' 'जिनको याद करनेमात्रसे संसारका जन्म-मरणरूप बन्धन छूट जाता है।' भगवान्‌को याद करनेसे ही संसारके दुःख छूट जाते हैं! कुछ मत करो, कोई चीज मत दो, केवल याद करो तो भगवान् राजी हो जाते हैं—'**अच्युतः स्मृतिमात्रेण।**' संसारमें ऐसा कोई है, जो केवल याद करनेसे राजी हो जाय? आप दिनभर काम करके शामको घर जाओ और स्त्रीसे पूछो कि रसोई बनायी? वह कहे कि नहीं, मैं तो आपको याद कर रही थी तो क्या आप राजी हो जाओगे? रोटी तो बनायी ही नहीं, याद करनेसे क्या होगा? परन्तु भगवान्‌को याद करनेसे ही वे राजी हो जायँगे। क्या इतना सस्ता कोई है? इतना हितैषी कोई है? उसको तो भूल जाते हैं और संसारको याद रखते हैं! क्या यह उचित है? भगवान्‌का स्मरण करके कितने बड़े-बड़े सन्त-महात्मा हो गये! आज उनका सब आदर करते हैं। उनमें यह विशेषता इसलिये आयी कि उन्होंने संसारको याद न करके भगवान्‌को याद किया।

विचार करें, हम सन्त-महात्माओंका कहना मानते हैं कि संसारमें रचे-पचे लोगोंका कहना मानते हैं? जो सदा हमारा हित चाहते हैं और हित करते हैं, जिन्होंने हमारा कभी अहित नहीं किया, कभी धोखा नहीं दिया—वे तो हमें अच्छे नहीं लगते और धोखा देनेवाले, ठगाई करनेवाले आदमी अच्छे लगते हैं, फिर हमारा भला कैसे होगा? उद्धार कैसे होगा? हरदम भगवान्‌को याद करो और 'हे नाथ! हे नाथ!!' पुकारते रहो तो आपकी विलक्षण स्थिति हो जायगी। लोग आपको महात्मा कहेंगे। सच्चाईसे, ईमानदारीसे काम करो तो लोग अच्छा कहेंगे। पहले भले ही बुरा कह दें, पर अन्तमें सब अच्छा-ही-अच्छा कहेंगे।

भगवान् सदा हित करनेवाले हैं। उनके द्वारा कभी किसीका अहित नहीं होता, सदा हित-ही-हित होता है। हम उनकी परवाह नहीं करते, उनको याद नहीं करते, इतनेपर भी वे हमारा हित करना छोड़ते नहीं। वे भगवान् हमें मीठे लगने चाहिये। उनकी मीठी-मीठी याद आनी चाहिये। उनको याद करके हम पवित्र हो जायँगे, सन्त हो जायँगे! जिनको हम याद करते हैं, वे स्त्री, पुत्र, परिवार हमें क्या निहाल करेंगे? मीराबाईने भगवान्‌को अपना मान लिया तो अच्छे-अच्छे सन्त मीराबाईका आदर करते हैं, उनके पद गाते हैं। वास्तवमें भगवान् और उनके भक्त—ये दो ही बिना स्वार्थ सबका हित करनेवाले हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं।
सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

सुर नर मुनि सब कै यह रीती।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

(मानस, किष्किंधा० १२। १)

सब लोग अपने मतलबसे प्रेम करते हैं। बिना मतलब प्रेम करनेवाले भगवान् और उनके भक्त ही हैं। अगर वे हमें अच्छे लगने लग जायँ तो हम सन्त बन जायँगे, ऊँचे बन जायँगे। परन्तु झूठ, कपट, बेईमानी, ठगी, धोखेबाजी अच्छी लगेगी तो नीचे बन जायँगे। अपनी तरफ देखें कि क्या दशा है? सत्संग कितने वर्षोंसे कर रहे हैं और भगवान्के नजदीक कितने गये हैं? विचार करें। रुपये कितने प्यारे लगते हैं, पर चट हाथसे निकल जाते हैं। फिर भी हाय रुपया, हाय रुपया करते हो! रुपया आपको याद नहीं करता। पर भगवान् आपको याद करते हैं, आपकी रक्षा करते हैं, सहायता करते हैं। भगवान्के समान दूसरा कौन है?

उमा राम सम हित जग माहीं।
गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥

(मानस, किष्किंधा० १२। १)

भगवान्ने हमारा कितना उपकार किया है, कितना उपकार करते हैं और कितना उपकार करेंगे! भगवान्के समान हित करनेवाला कोई है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। हम भगवान्के लिये क्या करते हैं? भगवान्को हमारेसे क्या स्वार्थ है? फिर भी वे हमसे प्रेम रखते हैं, हमारा हित करते हैं। अगर हम सच्चे हृदयसे भगवान्में लग जायँ तो निहाल हो जायँगे।

नाम नाम बिनु ना रहे, सुनो सयाने लोय।
मीरा सुत जायो नहीं, शिष्य न मुंड्यो कोय॥

हम सोचते हैं कि हमारा बेटा हो जाय तो हम निहाल हो जायँगे, हमारा चेला बन जाय तो हम निहाल हो जायँगे। परन्तु मीराबाईका न कोई बेटा हुआ, न उन्होंने कोई चेला बनाया, पर आज कई पीढ़ी बीतनेपर भी लोग उनका नाम लेते हैं, उनको याद करते हैं। आपको तीन-चार पीढ़ीके नाम भी याद नहीं होंगे! मीराबाईमें एक ही विशेषता थी—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'*** एक भगवान्को याद करनेसे सब काम ठीक हो जाता है। लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं। परन्तु भोगोंको याद करनेसे शरीर भी खराब होता है, मन भी खराब होता है, आदत भी खराब होती है, स्वास्थ्य भी खराब होता है। इसलिये हरदम भगवान्को याद रखो। यही सबका सार है।

१०. मेरे तो गिरधर गोपाल

मानवशरीर भगवान्की कृपासे मिला है और केवल भगवान्की प्राप्तिके लिये मिला है। इसलिये सब काम छोड़कर भगवान्में लग जाना चाहिये। जिनकी उम्र ज्यादा हो गयी है, उनको तो भगवान्में लगना ही है, जिनकी उम्र छोटी है, उनको भी सच्चे हृदयसे भगवान्में लगना है। संसारका सब काम कर देना है, पर अपना असली ध्येय, लक्ष्य, उद्देश्य केवल परमात्माकी प्राप्ति ही रखना है।

वास्तवमें सत्ता एक परमात्माकी ही है। संसारकी तरफ आप ध्यान दें तो यह सब मिटनेवाला है और निरन्तर मिट रहा है। आप अपनी तरफ देखें कि जब आप अपनी माँके पेटसे पैदा हुए, उस समय शरीरकी कैसी अवस्था थी और आज कैसी अवस्था है। संसार निरन्तर बदलनेवाला है और परमात्मा निरन्तर रहनेवाले हैं। संसार रहनेवाला है ही नहीं और परमात्मा बदलनेवाले हैं ही नहीं। वे परमात्मा हमारे हैं और

हम परमात्माके हैं—इसमें दृढ़ता होनी चाहिये। जैसे छोटा बालक कहता है कि माँ मेरी है। उससे कोई पूछे कि माँ तेरी क्यों है, तो इसका उत्तर उसके पास नहीं है। उसके मनमें यह शंका ही पैदा नहीं होती कि माँ मेरी क्यों है? माँ मेरी है, बस, इसमें उसको कोई सन्देह नहीं होता। इसी तरह आप भी सन्देह मत करो और यह बात दृढ़तासे मान लो कि भगवान् मेरे हैं। भगवान्‌के सिवाय और कोई मेरा नहीं है; क्योंकि वह सब छूटनेवाला है। जिनके प्रति आप बहुत सावधान रहते हैं, वे रुपये, जमीन, मकान आदि सब छूट जायँगे। उनकी यादतक नहीं रहेगी। अगर याद रहनेकी रीति हो तो बतायें कि इस जन्मसे पहले आप कहाँ थे? आपके माँ-बाप, स्त्री-पुत्र कौन थे? आपका घर कौन-सा था? जैसे पहले जन्मकी याद नहीं है, ऐसे ही इस जन्मकी भी याद नहीं रहेगी। जिसकी यादतक नहीं रहेगी, उसके लिये आप अकारण परेशान हो रहे हो! यह सबके अनुभवकी बात है कि हमारा कोई नहीं है। सब मिले हैं और बिछुड़ जायँगे। इसलिये ***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'***—ऐसा मानकर मस्त हो जाओ। संसारका काम बिगड़ रहा है तो बिगड़ने दो। वह तो बिगड़नेवाला ही है। सुधर जाय तो भी बिगड़ेगा। उसकी चिन्ता मत करो। आरम्भमें थोड़ा-सा बिगड़ेगा, परन्तु पीछे बहुत बढ़िया हो जायगा। दुनिया सब-की-सब चली जाय तो परवाह नहीं है। मैं और भगवान्—इन दोके सिवाय और कोई नहीं है। मैं केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् मेरे हैं—इसके सिवाय और किसी बातकी तरफ देखो ही मत, विचार ही मत करो।

एक परमात्मा ही सब जगह परिपूर्ण हैं। उनके सिवाय और कोई है नहीं, कोई हुआ नहीं, कोई होगा नहीं, कोई हो सकता नहीं। वे परमात्मा ही मेरे हैं—ऐसा मानकर मस्त हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ। हम अच्छे हैं कि मन्दे हैं, इसकी फिक्र मत करो। जैसे भरतजी महाराज चित्रकूट जाते हुए माँ कैकेयीकी तरफ देखते हैं तो उनके पैर पीछे पड़ते हैं, और अपनी तरफ देखते हैं तो खड़े रहते हैं, पर जब रघुनाथजी महाराजकी तरफ देखते हैं तो दौड़ पड़ते हैं—

जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ।
तब पथ परत उताइल पाऊ॥

(मानस, अयोध्या० २३४। ३)

ऐसे ही आप अपनी करनीकी तरफ मत देखो, अपने पापोंकी तरफ मत देखो, केवल भगवान्‌की तरफ देखो। जैसे विदुरानी भगवान्‌को छिलका देती हैं तो भगवान् छिलका ही खाते हैं। छिलका खानेमें भगवान्‌को जो आनन्द आता है, वैसा आनन्द गिरी खानेमें नहीं आता। कारण कि विदुरानीके मनमें यह भाव है कि भगवान् मेरे हैं। जैसे बच्चेको भूखा देखकर माँ जिस भावसे उसको खिलाती है, उससे भी विशेष भाव विदुरानीमें है। ऐसे ही आप भगवान्‌को अपना मान लो। जीने-मरने आदि किसीकी भी परवाह मत करो। किसीसे डरो मत। किसीकी भी गर्ज करनेकी जरूरत नहीं। बस, एक ही विचार रखो कि ***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'***। अगर यह विचार कर लोगे तो निहाल हो जाओगे। परन्तु बहुत धन कमा लो, बहुत सैर-शौकीनी कर लो, बहुत मान-बड़ाई प्राप्त कर लो तो यह सब कुछ काम नहीं आयेगा—

सपना-सा हो जावसी, सुत कुटुम्ब धन धाम,
हो सचेत बलदेव नींदसे, जप ईश्वरका नाम।
मनुष्य तन फिर फिर नहिं होई,
किया शुभ कर्म नहीं कोई,
उम्र सब गफलतमें खोई।

अब आजसे भगवान्‌के होकर रहो। कोई क्या कर रहा है, भगवान् जानें। हमें मतलब नहीं है। सब संसार नाराज हो जाय तो परवाह नहीं, पर भगवान् मेरे हैं—इस बातको छोड़ो मत। मीराबाईको जँच गयी कि अब मैं भगवान्‌से दूर होकर नहीं रह सकती—***'मिल बिछुड़न मत कीजै'*** तो उनका डेढ़-दो मनका थैला शरीर भी नहीं मिला, भगवान्‌में समा गया! एक

ठाकुरजीके सिवाय किसीसे कोई मतलब नहीं है।

अंतहुँ तोहिं तजैंगे पामर! तू न तजै अबही ते।

(विनय० १९८)

अन्तमें तुझे सब छोड़ देंगे, कोई तुम्हारा नहीं रहेगा तो फिर पहलेसे ही छोड़ दे।

साधु विचारकर भली समझ्या, दिवी जगत को पूठ।
पीछे देखी बिगड़ती, पहले बैठा रूठ॥

पीछे तो सब बिगड़ेगी ही, फिर अपना काम बिगाड़कर बात बिगड़े तो क्या लाभ? अपने तो अभी-अभी भगवान्‌के हो जाओ। तुम तुम्हारे, हम हमारे। हमारा कोई नहीं, हम किसीके नहीं, केवल भगवान् हमारे हैं, हम भगवान्‌के हैं। भगवान्‌के चरणोंकी शरण होकर मस्त हो जाओ। कौन राजी है, कौन नाराज; कौन मेरा है, कौन पराया, इसकी परवाह मत करो। वे निन्दा करें या प्रशंसा करें; तिरस्कार करें या सत्कार करें, उनकी मरजी। हमें निन्दा-प्रशंसा, तिरस्कार-सत्कारसे कोई मतलब नहीं। सब राजी हो जायँ तो हमें क्या मतलब और सब नाराज हो जायँ तो हमें क्या मतलब?

केवल एक भगवान् मेरे हैं—इससे बढ़कर न यज्ञ है, न तप है, न दान है, न तीर्थ है, न विद्या है, न कोई बढ़िया बात है। इसलिये भगवान्‌को अपना मानते हुए हरदम प्रसन्न रहो। न जीनेकी इच्छा हो, न मरनेकी इच्छा हो। न जानेकी इच्छा हो, न रहनेकी इच्छा हो। एक भगवान्‌से मतलब हो। एक भगवान्‌के सिवाय मेरा और कोई है ही नहीं। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश-जितनी अथवा तिनके-जितनी चीज भी अपनी नहीं है। हमारा कुछ है ही नहीं, हमारा कुछ था ही नहीं, हमारा कुछ होगा ही नहीं, हमारा कुछ हो सकता ही नहीं। इसलिये एक भगवान्‌को अपना मान लो तो निहाल हो जाओगे। भगवान्‌के सिवाय किसीसे स्वप्नमें भी मतलब नहीं। किसीकी गुलामी करनेकी जरूरत नहीं। हमें किसीसे क्या लेना है और क्या देना है! हमारे जो सम्बन्धी हैं, उनका कितने दिनका साथ है! ***'सपना-सा हो जावसी, सुत कुटुम्ब धन धाम'!*** स्वप्न तो याद रहता है, पर उनकी याद भी नहीं रहेगी। जैसे स्वप्नको नापसन्द कर देते हो तो उसको भूल जाते हो, ऐसे ही संसारको नापसन्द कर दो तो उसको भूल जाओगे। संसारमें यह आदमी ठीक है, यह बेठीक है; ऐसा हो जाय, ऐसा नहीं हो—यह केवल मोह है। मोह सम्पूर्ण व्याधियोंका मूल है—***'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला'*** (मानस, उत्तर० १२१। १५)। ठीक हो या बेठीक, हमें क्या मतलब? दूसरे ही हमारी गरज करेंगे, हमें किसीकी क्या गरज? संसारके आदमियोंसे हमें क्या मतलब? बस, एक ही बात याद रखो—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'।***

प्यास लगे तो पानी पी लिया, भूख लगे तो रोटी खा ली, ठण्ड लगे तो कपड़ा ओढ़ लिया, नहीं मिले तो नहीं सही! शरीर जाय तो अच्छी बात, रहे तो अच्छी बात, अपना कोई मतलब नहीं। न शरीरके रहनेसे कोई मतलब, न शरीर जानेसे कोई मतलब। हमारा मतलब केवल भगवान्‌से है। केवल भगवान् हमारे हैं, हम भगवान्‌के हैं—ऐसा सोचकर मस्त हो जाओ, आनन्दमें हो जाओ, नाच उठो कि आज हमें पता चल गया, आज तो मौज हो गयी! अब हम किसीकी गुलामी नहीं करेंगे।

ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर सब जगह एक परमात्मा ही हैं—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

(गीता १३। १५)

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

(महानारायणोपनिषद् ११। ६)

वह परमात्मा नजदीक-से-नजदीक है, दूर-से-दूर है, बाहर-से-बाहर है, भीतर-से-भीतर है। एक परमात्मा-ही-परमात्मा है और वह अपना है—ऐसा सोचकर मस्त हो जाओ। कोई आये तो परमात्मा है, कोई जाय तो परमात्मा है। कोई प्रेम करे तो परमात्मा है, कोई वैर करे तो परमात्मा है। कोई

कुछ करे, परमात्मा-ही-परमात्मा है। उस परमात्माको पुकारो कि 'हे नाथ! हे मेरे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं।' आपका जन्म सफल हो जायगा! यह कितनी बढ़िया बात है! कितनी ऊँची बात है! कितनी सच्ची बात है! कितनी निर्मल बात है! कोई क्या करता है, यह आप मत देखो। हमें उससे क्या मतलब है?

तेरे भावै कछु करौ, भलो बुरो संसार।
'नारायन' तू बैठि के, अपनौ भवन बुहार॥

हमारा मतलब केवल भगवान्‌से है। हम अच्छे हैं तो उनके हैं, बुरे हैं तो उनके हैं—

जौ हम भले बुरे तौ तेरे।
तुम्हैं हमारी लाज-बड़ाई, बिनती सुनि प्रभु मेरे॥

(सूरविनय० २३६)

संसारमें तो एक तिनका भी हमारा नहीं रहेगा, नहीं रहेगा, नहीं रहेगा। अपना है ही नहीं तो कैसे रहेगा? संसारका प्रतिक्षण आपसे वियोग हो रहा है। जन्म लेनेके बाद जितने वर्ष बीत गये, उतने वर्ष तो आप मर ही गये और बाकी जो दिन बचे हैं, वे भी जानेवाले हैं। एक भगवान्‌के सिवाय अपना कुछ नहीं है। इसलिये भगवान्‌को पुकारो कि हे प्रभो! हे मेरे प्रभो! मेरा कोई नहीं है, केवल आप ही मेरे हो, और कोई मेरा नहीं है। फिर मौज हो जायगी, आनन्द हो जायगा! मेरे तो भगवान् हैं—इस बातको लेकर नाचने लग जाओ, कूदने लग जाओ कि आज हमारा काम हो गया! सब कुछ भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर दो। स्वप्नमें भी किसीकी गुलामी मत करो। हृदयसे गुलामी निकाल दो। नाचने लग जाओ कि बस, आज तो हम निहाल हो गये! कोई पूछे कि अरे! क्या मिल गया? तो कहो कि जो मिलना चाहिये था, वह मिल गया! वह परमात्मा स्वतः सबको मिला हुआ है, सबके भीतर विराजमान है। वह हमारा अपना है। और किसीसे हमें कोई गरज नहीं, किसीकी आवश्यकता नहीं, किसीकी परवाह नहीं। कोई राजी रहे तो मौज, नाराज हो जाय तो मौज! हम किसीको दुःख नहीं देते, किसीके विरुद्ध कुछ करते नहीं, स्वप्नमें भी किसीका अहित नहीं चाहते, फिर कोई राजी रहे या नाराज, यह उसकी मरजी। हमारा किसीसे कोई मतलब नहीं।

भगवान् मेरे हैं—इसके समान कोई बात है नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं। इस बातका हमें पता लग गया तो अब मौज हो गयी! इतने दिन दूसरोंकी गुलामी करके मुफ्तमें दुःख पाया। अब हम सबको प्रणाम करते हैं! सभी श्रेष्ठ हैं, पर हमें उनसे मतलब नहीं। हमें केवल भगवान्‌से ही मतलब है। परन्तु भगवान्‌से भी हमें कुछ लेना नहीं है, कोई गरज नहीं करनी है।

ढूँढ़ा सब जहां में, पाया पता तेरा नहीं।
जब पता तेरा लगा, अब पता मेरा नहीं॥

वास्तवमें मैं है ही नहीं, केवल तू-ही-तू है। छोटा-बड़ा, अच्छा-मन्दा सब तू-ही-तू है। अब हमें असली चीज मिल गयी! आज पता लग गया कि तू ही है, मैं हूँ ही नहीं! न मैं है, न मेरा है। केवल तू है और तेरा है। अब आनन्द-ही-आनन्द है! पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, सम आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, बाहर आनन्द, भीतर आनन्द, केवल आनन्द-ही-आनन्द!

११. अभेद और अभिन्नता

मानवमात्रका कल्याण करनेके लिये तीन योग हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। यद्यपि तीनों ही योग कल्याण करनेवाले हैं, तथापि इनमें एक सूक्ष्म भेद है कि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है। भक्तियोग सब योगोंका अन्तिम फल है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं, पर भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। शरीर और शरीरी—दोनों हमारे जाननेमें आते हैं,

इसलिये ये दोनों ही लौकिक हैं। परन्तु परमात्मा हमारे जाननेमें नहीं आते, प्रत्युत केवल माननेमें आते हैं, इसलिये वे अलौकिक हैं। शरीरको लेकर कर्मयोग, शरीरीको लेकर ज्ञानयोग और परमात्माको लेकर भक्तियोग चलता है। कर्मयोग भौतिक साधना है, ज्ञानयोग आध्यात्मिक साधना है और भक्तियोग आस्तिक साधना है।

गीताने कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंको समकक्ष बताया है—'**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा**' (३। ३)। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंसे एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है—'**एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्**' (गीता ५। ४), '**यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते**' (गीता ५। ५)। साधक चाहे कर्मयोगसे चले, चाहे ज्ञानयोगसे चले, दोनोंका एक ही फल होता है।

कर्मोंसे मनुष्य क्रिया और पदार्थमें फँसता है, पर कर्मयोग इन दोनोंसे ऊँचा उठाता है। इसलिये कल्याण करनेकी शक्ति कर्ममें नहीं है, प्रत्युत कर्मयोगमें है; क्योंकि कर्मोंमें योग ही कुशलता है—'**योगः कर्मसु कौशलम्**' (गीता २। ५०)। साधारण मनुष्य कर्म करते ही रहते हैं और कर्मोंका फल भी भोगते ही रहते हैं अर्थात् जन्मते-मरते रहते हैं। कर्म करनेसे उनका कल्याण नहीं होता। परन्तु कर्मयोगसे कल्याण हो जाता है। कर्मयोगमें निःस्वार्थभावसे सेवा करनेपर संसारका त्याग हो जाता है। सांख्ययोगमें साधक सबको छोड़कर अपने स्वरूपमें स्थित होता है। कर्मयोगमें करनेकी मुख्यता है और सांख्ययोगमें विवेक-विचारकी मुख्यता है। इस प्रकार कर्मयोग और सांख्ययोगमें बड़ा फर्क है। फर्क होते हुए भी दोनोंका फल एक ही है। दोनोंके द्वारा संसारसे ऊँचा उठनेपर मुक्ति हो जाती है। ये दोनों लौकिक साधन हैं; क्योंकि शरीर (जड़) और शरीरी (चेतन)—ये दोनों विभाग हमारे देखनेमें आते हैं, पर भगवान् देखनेमें नहीं आते। भगवान्‌को मानें या न मानें, यह हमारी मरजी है। इसमें विचार नहीं चलता। भगवान् हैं—ऐसा मानना ही पड़ता है। फिर वह माना हुआ नहीं रहता, उसका अनुभव हो जाता है।

'कर्म' में परिश्रम है और 'कर्मयोग' में विश्राम है। परिश्रम पशुओंके लिये है और विश्राम मनुष्यके लिये है। शरीरकी जरूरत परिश्रममें ही है। विश्राममें शरीरकी जरूरत है ही नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि शरीर हमारे लिये है ही नहीं। कर्मयोगमें शरीरके द्वारा होनेवाला परिश्रम दूसरोंकी सेवाके लिये है और विश्राम अपने लिये है।

कर्मयोग तथा सांख्ययोगसे 'अभेद' होता है और भक्तियोगसे 'अभिन्नता' होती है। जहाँ-जहाँ ज्ञानका वर्णन है, वहाँ-वहाँ सत् और असत्, प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, क्षर और अक्षर आदि दोका वर्णन है; जैसे—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। परन्तु भक्तियोगमें दोका वर्णन नहीं है, प्रत्युत एक भगवान्‌के सिवाय कुछ भी नहीं है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)। ज्ञानयोगमें सत् अलग है और असत् अलग है, पर भक्तियोगमें सत् भी भगवान् हैं और असत् भी भगवान् हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। अभेदकी अपेक्षा अभिन्नतामें एक विलक्षणता है। अभिन्नतामें कभी भेद होता है, कभी अभेद होता है। इसलिये अभिन्नतामें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम होता है। कर्मयोग और सांख्ययोगके द्वारा जो अभेद होता है, उसका आनन्द प्रतिक्षण वर्धमान नहीं है। जैसे दूध उबलता है तो दूधमें उथल-पुथल होती है, ऐसे ही उथल-पुथलवाला जो आनन्द है, वह भक्तिका है और जो शान्त, एकरस आनन्द है, वह ज्ञानका है।

भक्तियोगकी अभिन्नतामें दो बातें होती हैं—जब भक्त अपनेको देखता है, तब वह भगवान्‌को अपना मालिक देखता है कि मैं भगवान्‌का दास हूँ और जब वह भगवान्‌को देखता है, तब वह अपनेको भूल जाता है कि केवल भगवान् ही हैं; भगवान्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं, हुआ ही नहीं, हो सकता ही नहीं।

इस प्रकार भेद और अभेद दोनों होते रहते हैं, जिससे प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता रहता है। गोस्वामीजी महाराजने लिखा है—

माई री! मोहि कोउ न समुझावै।
राम-गवन साँचो किधौं सपनो,मन परतीति न आवै॥ १॥
लगेइ रहत मेरे नैननि आगे, राम लखन अरु सीता।
तदपि न मिटत दाह या उर को, बिधि जो भयो बिपरीता॥ २॥
दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रहै बिनु देखे।
करत न प्रान पयान, सुनहु सखि! अरुझि परी यहि लेखे॥ ३॥

(गीतावली, अयोध्या० ५३)

कौशल्या माताको राम, लक्ष्मण और सीता—तीनों अपने सामने दीखते हैं तो वे सुमित्रासे पूछती हैं कि यह बताओ, अगर रामजी वनको चले गये हैं तो वे मेरेको दीखते क्यों हैं? और अगर वे वनको नहीं गये हैं तो मेरे चित्तमें व्याकुलता क्यों है? कौशल्याजीकी ये दो अवस्थाएँ हैं। इन दोनों अवस्थाओंमें प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है।

भक्तिकी अभिन्नतामें अपनी तरफ देखते हैं तो भेद होता है कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं। भगवान्‌की तरफ देखते हैं तो अभेद होता है कि एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। यह अभेद भक्तिमें ही है, ज्ञानयोगमें नहीं। भक्तिकी अभिन्नतामें भक्त भगवान्‌से भिन्न कभी होता ही नहीं। वह न संयोग (मिलन)-में भिन्न होता है, न वियोग (विरह)-में भिन्न होता है। ज्ञानमें अपने स्वरूपका ज्ञान होता है, जो परमात्माका अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**'।

ज्ञानयोगमें साधकको एक तत्त्वसे अभेदका अनुभव हो जाता है। परन्तु जिसके भीतर भक्तिके संस्कार होते हैं, उसको ज्ञानके अभेदमें सन्तोष नहीं होता। अत: उसको भक्तिकी प्राप्ति होती है। भक्तिमें फिर भेद और अभेद होते रहते हैं, जिसको अभिन्नता कहते हैं। परन्तु ज्ञानयोगमें केवल अभेद होता है। ज्ञानयोगमें परमात्माका अंश अपने स्वरूपमें स्थित हो गया, अब उसमें भेद कैसे हो? उसमें अखण्ड आनन्द, अपार आनन्द, असीम आनन्द, एक आनन्द-ही-आनन्द रहता है। परन्तु भक्तियोगमें अभिन्नता होती है। दोसे एक होते हैं तो अभेद होता है और एकसे दो होते हैं तो अभिन्नता होती है। अभेदमें जीवकी ब्रह्मके साथ एकता हो जाती है। एकरूपसे जो ब्रह्म है, वही अनेकरूपसे जीव है। अभिन्नतामें ईश्वरके साथ एकता होती है। अंश-अंशकी एकता अभेद है और अंश-अंशीकी एकता अभिन्नता है। अंश-अंशीकी एकतामें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम होता है। प्रतिक्षण वर्धमान प्रेममें विरह होनेपर भक्त मिलनकी इच्छा करता है और मिलन होनेपर चुप, शान्त हो जाता है! इस अवस्थाका वर्णन भागवतमें इस प्रकार किया गया है—

वाग्गद्‌गदा द्रवते यस्य चित्तं-
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्‌गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करती-करती गद्‌गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंको याद करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बारंबार रोता रहता है, कभी हँसने लग जाता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है, तो कभी नाचने लग जाता है, ऐसा मेरा भक्त सारे संसारको पवित्र कर देता है।'

वेदान्तमें ऐसी मान्यता है कि अभेदके बाद कुछ भी बाकी नहीं रहता। अगर अभेदके बाद ईश्वरसे अभिन्नता मानें तो वेदान्तके अद्वैत सिद्धान्तमें कमी आती है। अपने सिद्धान्तमें कमी न आ जाय, इसलिये वेदान्तियोंने ईश्वरको कल्पित बता दिया; क्योंकि कल्पित बतानेके सिवाय और कोई उपाय नहीं। परन्तु ईश्वर किसकी कल्पना है—इसका उत्तर उनके पास नहीं है। वे द्वैतसे डरते हैं कि कहीं अपनेमें द्वैत न आ जाय। वास्तवमें सत्ता एक ही (अद्वैत) है; परन्तु अपने रागके कारण दूसरी सत्ता (द्वैत) दीखती है। दूसरी सत्ताका तात्पर्य संसारसे है, ईश्वरसे नहीं;

क्योंकि संसार 'पर' है और ईश्वर 'स्व' (स्वकीय) है। दूसरी सत्ताका निषेध करनेके लिये वेदान्तने ईश्वरको भी कल्पित मान लिया! राग तो अपना है, पर मान लिया ईश्वरको कल्पित! अपना राग मिटाये बिना दूसरी सत्ता कैसे मिटेगी? इसलिये ईश्वरको कल्पित न मानकर अपना राग मिटाना चाहिये। ईश्वर कल्पित नहीं है, प्रत्युत अलौकिक है*।

जीव सब एक हो जायँ तो (जीवभाव मिटनेपर) 'ब्रह्म' होता है। जो ऐश्वर्यसे युक्त है और सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति, प्रलय आदिको जानता है, वह 'भगवान्' है। ये बातें जीवमें नहीं होतीं। इसलिये सब जीव एक होनेपर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय नहीं होता—**'जगद्व्यापारवर्जम्'** (ब्रह्मसूत्र ४। ४। १७)। कारण कि जीव ब्रह्मके साथ एक हो सकता है, भगवान्के साथ नहीं। भगवान्के साथ उसका अभेद नहीं हो सकता, पर अभिन्नता हो सकती है। श्रीएकनाथजी महाराजने भागवत, एकादश स्कन्धकी टीकामें इसी अभिन्नताको अभेदभक्ति कहा है।

१२. अलौकिक प्रेम

शरत्पूर्णिमाकी चाँदनी रातमें जब भगवान् श्रीकृष्णने अपनी बाँसुरी बजानी आरम्भ की, तब उसकी मधुर एवं चित्ताकर्षक ध्वनिको सुनकर गोपियाँ जिस अवस्थामें थीं, उसी अवस्थामें श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये वेगपूर्वक चल पड़ीं। यह प्रेमकी ऐसी विलक्षण स्थिति थी कि स्वयं गोपियोंको ही पता नहीं था कि हम कौन हैं! कहाँ जा रही हैं! क्यों जा रही हैं! भगवान्का सब कुछ दिव्य है, अलौकिक है, चिन्मय है! अत: उनकी बाँसुरी भी दिव्य थी और उसकी ध्वनि भी। उस दिव्य ध्वनिको सुननेपर गोपियोंमें भी जडता नहीं रही और वे चिन्मय होकर चिन्मयसे मिलनेके लिये चल पड़ीं!

'काम' (लौकिक शृंगार)-में स्त्री और पुरुष दोनों ही एक-दूसरेसे सुख लेना चाहते हैं, एक-दूसरेको अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हैं। इसलिये उनमें विशेष सावधानी रहती है और वे अपने शरीरको सजाते हैं। परन्तु 'प्रेम' में सुख लेनेका, अपनी ओर खींचनेका किंचिन्मात्र भी भाव न होनेसे यह सावधानी नहीं रहती, प्रत्युत अपने शरीरकी भी विस्मृति हो जाती है, इसीलिये गोपियाँ अपनेको सजाना, शृंगार करना भूल गयीं और वंशीध्वनि सुनते ही वे जैसी थीं, वैसी ही अस्त-व्यस्त वस्त्रोंके साथ चल पड़ीं—**'व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः'** (श्रीमद्भा० १०। २९। ७)।

उस समय कुछ गोपियोंको उनके पति, पुत्र आदिने अथवा पिता, भाई आदिने घरमें ही बन्द कर दिया, जिससे उनको घरसे निकलनेका मार्ग नहीं मिला। मार्ग न मिलनेपर उन गोपियोंकी क्या दशा हुई—इस विषयमें श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १०-११)

* द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ (गीता १५। १६-१७)

'इस संसारमें क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी)—ये दो प्रकारके ही पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर क्षर और जीवात्मा अक्षर कहा जाता है।'

'उत्तम पुरुष तो अन्य (विलक्षण) ही है, जो 'परमात्मा'—इस नामसे कहा गया है। वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका भरण-पोषण करता है।'

'उन गोपियोंके हृदयमें अपने परम प्रियतम श्रीकृष्णके असह्य विरहका जो तीव्र ताप हुआ, उससे उनका अशुभ जल गया और ध्यानमें आये हुए श्रीकृष्णका आलिंगन करनेसे जो सुख हुआ, उससे उनका मंगल नष्ट हो गया।'

'यद्यपि उन गोपियोंकी श्रीकृष्णमें जारबुद्धि थी, फिर भी एकमात्र परमात्मा (श्रीकृष्ण)-के साथ सम्बन्ध होनेसे उनके सम्पूर्ण बन्धन तत्काल एवं सर्वथा नष्ट हो गये और उन्होंने अपने गुणमय शरीरका त्याग कर दिया।'

अगर उपर्युक्त श्लोकोंपर विचार करते हुए ऐसा मानें कि भगवान्के विरहकी तीव्र जलनसे गोपियोंके पाप नष्ट हो गये—'**धुताशुभाः**' तथा ध्यानजनित सुखसे पुण्य नष्ट हो गये—'**क्षीणमङ्गलाः**' और इस प्रकार पाप-पुण्यसे रहित (मुक्त) होकर वे भगवान्से जा मिलीं तो यह बात युक्तिसंगत नहीं दीखती। कारण कि विरह और मिलन पाप-पुण्यसे ऊँचा उठनेपर ही होते हैं। पाप-पुण्यसे होनेवाले सुख-दुःख तो प्राकृत हैं, पर भगवान्को लेकर होनेवाले सुख-दुःख (मिलन-विरह) प्राकृत नहीं हैं, प्रत्युत अलौकिक हैं। भगवान्का विरह और मिलन तो गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होता है, पर पाप और पुण्य गुणोंके सम्बन्धसे होते हैं। गुणोंसे सम्बन्ध न हो तो पाप-पुण्य हो सकते ही नहीं। भगवान्के प्रेममें होनेवाले सुख-दुःखको अर्थात् मिलन-विरहको पाप-पुण्यका फल कहना वास्तवमें उसकी निन्दा है। भगवान्के सम्बन्धसे योग होता है, भोग नहीं होता। भोग तो पापोंका कारण है।*

एक विचारणीय बात है कि पाप और पुण्यका नाश सुखी-दुःखी होनेसे नहीं होता, प्रत्युत अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आनेसे होता है। सुखी-दुःखी होना पाप-पुण्यका फल नहीं है, प्रत्युत अज्ञता (मूर्खता)-का फल है। परन्तु भगवान्का विरह प्रेमका फल है। भगवान्से सम्बन्ध होनेपर अज्ञता कैसे रह सकती है! अज्ञता न ज्ञानमें रहती है, न प्रेममें। मनुष्य तभीतक सुखी-दुःखी होता है, जबतक उसको अपने स्वरूपका बोध नहीं होता अथवा उसका भगवान्में प्रेम नहीं होता।

पाप-पुण्य नष्ट होना कोई बड़ी बात नहीं है। पाप-पुण्य तो हरेक आदमीके नष्ट होते रहते हैं; क्योंकि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति हरेक प्राणीके सामने आती-जाती रहती है। स्वर्गमें निरन्तर पुण्योंका नाश होता है और नरकोंमें निरन्तर पापोंका नाश होता है। पाप-पुण्य प्रकृतिजन्य गुणोंके अन्तर्गत हैं। अतः पाप-पुण्य दोनों एक ही जातिके (बन्धनकारक) हैं, अशुभ हैं, मलिन हैं, उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। परन्तु भगवान्के सम्बन्धसे होनेवाले विरह तथा मिलन अत्यन्त दिव्य हैं, चिन्मय हैं, अलौकिक हैं, नित्य हैं और प्रेमकी वृद्धि करनेवाले हैं। भगवान्के सम्बन्धसे केवल पाप-पुण्य ही नष्ट नहीं होते, प्रत्युत पाप-पुण्यका कारण अज्ञान (गुणसंग) ही नष्ट हो जाता है। इसलिये पाप-पुण्यका और विरह-मिलनका विभाग ही अलग है।

तत्त्वज्ञान होनेपर ज्ञानी पुरुष परिस्थितिसे रहित नहीं होता, प्रत्युत सुख-दुःखसे रहित होता है। ज्ञानीके सामने भी प्रारब्धके अनुसार अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति आती-जाती रहती है, पर उसपर परिस्थितिका असर नहीं होता अर्थात् वह सुखी-दुःखी नहीं होता; क्योंकि वह गुणातीत है—'**समदुःखसुखःस्वस्थः**' (गीता १४। २४)। अगर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति सुख-दुःख देनेवाली होती अर्थात् सुख-दुःख पाप-पुण्यका फल होता तो मनुष्य कभी सुख-दुःखसे रहित नहीं हो पाता, जबकि ज्ञानी पुरुष सुख-दुःखसे रहित हो जाता है—'**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः**' (गीता १५। ५)। प्रह्लादजी, मीराबाई आदिके सामने कितनी ही प्रतिकूल परिस्थितियाँ आयीं, फिर भी वे दुःखी नहीं हुए। इसलिये परिस्थितिसे रहित होनेमें मनुष्य स्वतन्त्र

* काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गीता ३। ३७)

नहीं है, पर उसका भोग न करनेमें अर्थात् सुखी-दु:खी न होनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। कारण कि परमात्माका अंश होनेसे उसमें निर्विकारता स्वत:सिद्ध है।[1] अत: भागवतके उपर्युक्त श्लोकोंमें आये '**धुताशुभा:**' पदका अर्थ पाप नष्ट होना और '**क्षीणमङ्गला:**' पदका अर्थ पुण्य नष्ट होना नहीं लिया जा सकता। तो फिर इन पदोंका क्या तात्पर्य है? अब इसपर विचार किया जाता है।

भगवान्‌के विरहसे गोपियोंको जो ताप (दु:ख) हुआ, वह दु:सह और तीव्र था—'**दु:सहप्रेष्ठ विरहतीव्रताप।**' यह ताप संसारके तापसे अत्यन्त विलक्षण है। सांसारिक तापमें तो दु:ख-ही-दु:ख होता है, पर विरहके तापमें आनन्द-ही-आनन्द होता है। जैसे मिर्ची खानेसे मुखमें जलन होती है, आँखोंमें पानी आता है, फिर भी मनुष्य उसको खाना छोड़ता नहीं; क्योंकि उसको मिर्ची खानेमें एक रस मिलता है। ऐसे ही प्रेमी भक्तको विरहके तीव्र तापमें उससे भी अत्यन्त विलक्षण एक रस मिलता है। इसीलिये चैतन्य महाप्रभु-जैसे महापुरुषने भी विरहको ही सर्वश्रेष्ठ माना है। सांसारिक ताप तो पापोंके सम्बन्धसे होता है, पर विरहका ताप भगवत्प्रेमके सम्बन्धसे होता है। इसलिये विरहके तापमें भगवान्‌के साथ मानसिक सम्बन्ध रहनेसे आनन्दका अनुभव होता है—'**ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या**'। जैसे प्यास वास्तवमें जलसे अलग नहीं है, ऐसे ही विरह भी वास्तवमें मिलनसे अलग नहीं है। जलका सम्बन्ध रहनेसे ही प्यास लगती है। प्यासमें जलकी स्मृति रहती है। अत: प्यास जलरूप ही हुई। इसी तरह विरह भी मिलनरूप ही है। विरह और मिलन—दोनों एक ही प्रेमकी दो अवस्थाएँ हैं। संसारके सम्बन्धमें सुख भी दु:खरूप है और दु:ख भी दु:खरूप है, पर भगवान्‌के सम्बन्धमें दु:ख (विरह) भी सुखरूप है और सुख (मिलन) भी सुखरूप (आनन्दरूप) है। कारण कि सांसारिक सुख-दु:ख (अनुकूलता-प्रतिकूलता) तो गुणोंके संगसे होते हैं, पर भगवान्‌का विरह और मिलन गुणोंसे अतीत हैं। इसलिये भगवान्‌के सम्बन्धसे होनेवाला दु:ख (विरह) सांसारिक सुखसे भी बहुत अधिक आनन्द देनेवाला होता है! सांसारिक दु:खमें अभावरूप संसारका सम्बन्ध है, पर विरहके दु:खमें भावरूप भगवान्‌का सम्बन्ध है। सांसारिक दु:खमें कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं और कर्ताकी स्वतन्त्र सत्ता रह जाती है; परन्तु विरहके दु:खमें कर्मोंका कारण (गुणोंका संग) ही नष्ट हो जाता है और कर्ताकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत केवल परमात्माकी सत्ता रहती है। सांसारिक दु:खसे जन्म-मरणरूप बन्धन नष्ट नहीं होता, पर विरहके दु:खसे यह बन्धन सर्वथा नष्ट हो जाता है—'**प्रक्षीणबन्धना:।**' इसलिये श्रीकृष्णके विरहके तीव्र तापसे गोपियोंका गुणमय शरीर छूट गया। इसके साथ मन-ही-मन श्रीकृष्णका मिलन होनेसे गोपियोंको ब्रह्मलोकके सुखसे भी विलक्षण सुखका अनुभव हुआ। कारण कि ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्ती होनेसे बन्धनकारक हैं—'**आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८। १६)। अत: ब्रह्मलोकका सुख भी प्राकृत है, जबकि गोपियोंको मिलनेवाला ध्यानजनित सुख प्रकृतिसे अतीत है। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌के विरहके दु:खसे और ध्यानजनित मिलनके सुखसे गोपियोंके पाप-पुण्य ही नष्ट नहीं हुए, प्रत्युत जन्म-मरणका कारण जो गुणोंका संग है, वह भी नष्ट हो गया! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—तीनों गुणोंका संग मिटनेसे उनका गुणमय शरीर भी छूट गया और वे भगवान्‌के पास जा पहुँचीं—'**जहुर्गुणमयं देहं सद्य: प्रक्षीणबन्धना:।**' कारण कि सत्त्व, रज और तम—तीनों ही गुण जीवको शरीरमें बाँधनेवाले हैं।[2] इन

---

१. ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ (मानस, उत्तर० ११७। १)
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्यय:। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ (गीता १३। ३१)

२. सत्त्वं रजस्तम इति गुणा: प्रकृतिसम्भवा:। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (गीता १४। ५)

गुणोंका संग ही ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है '**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३।२१)। गुणसंग नष्ट होनेके कारण गोपियाँ किसी ऊँची या नीची योनिमें नहीं गयीं, प्रत्युत सीधे भगवान्‌को ही प्राप्त हो गयीं। तात्पर्य है कि जिनसे कर्मबन्धन होता है, ऐसे शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे गोपियाँ मुक्त हो गयीं—'**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः**' (गीता ९।२८)। जिस बन्धनके रहते हुए नरकोंका दुःख भोगा जाता है और जिस बन्धनके रहते हुए स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदिका सुख भोगा जाता है, गोपियोंका वह बन्धन (गुणोंका संग) सर्वथा नष्ट हो गया। कारण कि बन्धन पाप-पुण्यसे नहीं होता, प्रत्युत गुणोंके संगसे होता है। अतः भागवतके उपर्युक्त श्लोकोंमें आये '**धुताशुभाः**' पदका अर्थ हुआ कि रजोगुण तथा तमोगुण नष्ट हो गये और '**क्षीणमङ्गलाः**' पदका अर्थ हुआ कि सत्त्वगुण नष्ट हो गया।[1] सत्त्वगुण प्रकाशक और अनामय है, इसलिये उसको यहाँ 'मंगल' नामसे कहा गया है।[2] परन्तु प्रकाशक और अनामय होनेपर भी वह सुख और ज्ञानके संगसे बाँधनेवाला होता है—'**सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ**' (गीता १४।६)। ध्यानमें आये हुए श्रीकृष्णका मन-ही-मन आलिंगन करनेसे गोपियोंको जो विलक्षण सुख हुआ, उस सुखसे सत्त्वगुणसे होनेवाले सुखसंग और ज्ञानसंगका भी सुख मिट गया अर्थात् सात्त्विक सुख और सात्त्विक ज्ञानकी भी आसक्ति मिट गयी! इस प्रकार जन्म-मरणका कारण जो तीनों गुणोंका संग है, वह सर्वथा नहीं रहा, जिसके न रहनेसे गोपियोंका गुणमय शरीर भी नहीं रहा।

तत्त्वज्ञान शरीरके सम्बन्ध (अहंता-ममता)-का नाश तो करता है, पर शरीरका नाश नहीं करता। कारण कि जीवन्मुक्त होनेपर संचित और क्रियमाण कर्म तो क्षीण हो जाते हैं, पर प्रारब्ध क्षीण नहीं होता। इसलिये जीवन्मुक्ति, तत्त्वज्ञान होनेपर भी जबतक प्रारब्धका वेग रहता है, तबतक शरीर भी रहता है। अगर शरीर तत्काल नष्ट हो जाय तो फिर ज्ञानका उपदेश कौन करेगा? ब्रह्मविद्याकी परम्परा कैसे चलेगी? परन्तु गोपियोंका विरहजन्य ताप इतना विलक्षण था कि उनका गुणसंग तो रहा ही नहीं, गुणमय शरीर भी नष्ट हो गया! उनके संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध—तीनों एक साथ तत्काल (सद्यः) और सर्वथा क्षीण (प्रक्षीण) हो गये—'**सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः।**' इससे सिद्ध होता है कि 'वियोग' में बन्धन जल्दी छूटता है, पर 'योग' में देरी लगती है। वियोगमें योगसे भी विलक्षण आनन्द होता है।

विरहका तीव्र ताप जन्म-मरणके मूल कारण गुणसंग (मूल अज्ञान)-को ही जला देता है। जो गोपियाँ वंशीवादन सुनकर भगवान्‌के पास चली गयी

---

१. आगे राजा परीक्षित् और श्रीशुकदेवजीके प्रश्नोत्तरसे भी यही बात सिद्ध होती है कि गोपियाँ तीनों गुणोंसे छूट गयी थीं। परीक्षित्‌ने पूछा—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने। गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥ (श्रीमद्भा० १०। २९। १२)

'मुने! उन गोपियोंकी श्रीकृष्णमें ब्रह्मबुद्धि नहीं थी, प्रत्युत वे श्रीकृष्णको केवल अपना परमपति ही मानती थीं। फिर उन गुणोंमें आसक्त गोपियोंका गुणप्रवाहरूप (गुणमय) शरीर कैसे नष्ट हो गया?'

श्रीशुकदेवजीने उत्तर दिया—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप। अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥ (श्रीमद्भा० १०। २९। १४)

'राजन्! भगवान् अव्यय (सर्वथा निर्विकार), अप्रमेय (ज्ञानका विषय नहीं), सत्त्वादि गुणोंसे रहित और सौन्दर्य आदि दिव्य गुणोंसे युक्त हैं। वे केवल मनुष्योंके परम कल्याणके लिये ही सबके सामने प्रकट होते हैं।'

२. गीतामें सत्त्वगुणको भी अनामय कहा गया है—'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्' (१४। ६) और परमपदको भी अनामय कहा गया है—'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्' (२। ५१)। दोनोंमें फर्क यह है कि सत्त्वगुण सापेक्ष अनामय है और परमपद निरपेक्ष अनामय है।

थीं, उनका वह अनादिकालका गुणसंग नष्ट नहीं हुआ; क्योंकि उनको वियोगजन्य तीव्र ताप नहीं हुआ। परन्तु जिनको वियोगजन्य तीव्र ताप हुआ, उनके लिये अनादिकालके गुणसंगसहित सम्पूर्ण जगत्‌की निवृत्ति हो गयी और वे सबसे पहले भगवान्‌से जा मिलीं। विरहके तीव्र तापसे उनका शरीर छूट गया और ध्यानजनित आनन्दसे वे भगवान्‌से अभिन्न हो गयीं। वे भगवान्‌से बाहर न मिलकर भीतरसे ही मिल गयीं, जो कि वास्तविक (सर्वथा) मिलन है।

यद्यपि श्रीकृष्णके प्रति उन गोपियोंकी जारबुद्धि थी अर्थात् उनकी दृष्टि परमपति भगवान्‌के शरीरकी सुन्दरताकी तरफ थी तो भी वे भगवान्‌को प्राप्त हो गयीं—**'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः'।** जारबुद्धि होनेपर भी गोपियोंमें अपने सुखकी इच्छा (काम) लेशमात्र भी नहीं है। अगर उनमें अपने सुखकी इच्छा होती तो वे अपने शरीरको सजाकर भगवान्‌के पास जातीं। यहाँ 'जारबुद्धि' शब्द इसलिये दिया है कि गोपियोंका विवाह तो दूसरेके साथ हुआ था, पर उनका प्रेम श्रीकृष्णमें था। उनका गुणमय शरीर ही नहीं रहा, फिर भोगबुद्धि कैसे रहेगी? भोगबुद्धिके रहनेका स्थान ही नहीं रहा, केवल परमात्मा ही रहे। गोपियोंमें यह विलक्षणता भगवान्‌की दिव्यातिदिव्य वस्तुशक्ति (स्वरूपशक्ति)-से आयी है, अपनी भावशक्तिसे नहीं। भगवान्‌की वस्तुशक्तिसे गोपियोंकी जारबुद्धि नष्ट हो गयी। जैसे अग्निसे सम्बन्ध होनेपर सभी वस्तुएँ (अग्निकी वस्तुशक्तिसे) अग्निरूप ही हो जाती हैं, ऐसे ही भक्त भगवान्‌के साथ काम, द्वेष, भय, स्नेह आदि किसी भी भावसे सम्बन्ध जोड़े, वह (भगवान्‌की वस्तुशक्तिसे) भगवत्स्वरूप ही हो जाता है।[1] इसमें भक्तका भाव, उसका प्रयास काम नहीं करता, प्रत्युत भगवान्‌की दिव्यातिदिव्य स्वरूपशक्ति काम करती है। इसका कारण यह है कि भगवान् जीवके कल्याणके लिये ही प्रकट होते हैं—**'नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप'** (श्रीमद्भा० १०। २९। १४)।

गीतामें भगवान्‌के चार प्रकारके भक्त बताये गये हैं—अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (प्रेमी)[2]। यद्यपि अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासुका गुणोंके साथ सम्बन्ध रहता है, तथापि मुख्य सम्बन्ध भगवान्‌के साथ रहनेके कारण वे भी तीनों गुणोंसे रहित हो जाते हैं। इसलिये जिस-किसी उपायसे जीवका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ना चाहिये—**'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्'** (श्रीमद्भा० ७। १। ३१); क्योंकि जीव भगवान्‌का ही अंश है। भगवान्‌का सम्बन्ध मुख्य रहनेसे भोगोंका सम्बन्ध मिट जाता है, पर भोगोंका सम्बन्ध मुख्य रहनेसे भगवान्‌का सम्बन्ध छिप जाता है, मिटता नहीं। कारण कि जीवका भगवान्‌के साथ नित्ययोग है।

भगवान् श्रीकृष्णका एक नाम आता है—**'चोरजारशिखामणिः।'** इसका अर्थ है कि भगवान्‌के समान चोर और जार दूसरा कोई है ही नहीं, हो सकता ही नहीं। दूसरे चोर और जार तो केवल अपना ही सुख चाहते हैं, पर भगवान् केवल दूसरेके सुखके लिये चोर और जारकी लीला करते हैं। उनकी

---

१. कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः। आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥
गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः। सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥
(श्रीमद्भा० ७। १। २९-३०)

'एक नहीं, अनेक मनुष्य कामसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्‌में लगाकर तथा अपने सारे पाप धोकर वैसे ही भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्तिसे। जैसे, गोपियोंने कामसे, कंसने भयसे, शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि राजाओंने द्वेषसे, यदुवंशियोंने परिवारके सम्बन्धसे, तुमलोगों (युधिष्ठिर आदि)-ने स्नेहसे और हमलोगों (नारद आदि)-ने भक्तिसे अपने मनको भगवान्‌में लगाया है।'

२. चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ (गीता ७। १६)

ये दोनों ही लीलाएँ दिव्य, विलक्षण, अलौकिक हैं—**‘जन्म कर्म च मे दिव्यम्’** (गीता ४। ९)।[१] संसारी चोर तो केवल वस्तुओंकी ही चोरी करते हैं, पर भगवान् वस्तुओंके साथ-साथ उन वस्तुओंके राग, आसक्ति, प्रियता आदिको भी चुरा लेते हैं। भगवान्ने गोपियोंके मक्खनके साथ-साथ उनके रागरूप बन्धनको भी खा लिया था। वे जार बनते हैं तो सुखके भोक्ताके साथ-साथ सुखासक्ति, सुखबुद्धिका भी हरण कर लेते हैं, जिससे सम्बन्धजन्य आकर्षण (काम) न रहकर केवल भगवान्का आकर्षण (विशुद्ध प्रेम) रह जाता है, अन्यकी सत्ता न रहकर केवल भगवान्की सत्ता रह जाती है। तात्पर्य है कि भगवान् अपने भक्तोंमें किसीको चोर और जार रहने ही नहीं देते, उनके चोर-जारपनेको ही हर लेते हैं। ‘कनक’ (धन) और ‘कामिनी’ (स्त्री)-की आसक्तिसे ही मनुष्य ‘चोर’ और ‘जार’ होता है। अत: कनक-कामिनीकी आसक्तिका सर्वथा अभाव करनेवाले होनेसे भगवान् चोर और जारके भी शिखामणि हैं।

यहाँ शंका हो सकती है कि जिन गोपियोंका गुणमय शरीर नहीं रहा, उनकी भगवान्के साथ रासलीला कैसे हुई? इसका समाधान है कि वास्तवमें रासलीला गुणोंसे अतीत (निर्गुण) होनेपर ही होती है। गुणोंके रहते हुए भगवान्के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसकी अपेक्षा गुणोंसे रहित होकर भगवान्के साथ होनेवाला सम्बन्ध अत्यन्त विलक्षण है। दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि भाव भी वास्तवमें गुणातीत (मुक्त) होनेपर ही होते हैं।[२] एक श्लोक आता है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं (स्वीकृतं) द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥
(बोधसार, भक्ति० ४२)

‘तत्त्वबोधसे पहलेका द्वैत तो मोहमें डालता है, पर बोध हो जानेपर भक्तिके लिये स्वीकृत द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।’

भगवान्को विलक्षण आनन्द देनेवाला जो प्रेम है, वह गुणोंमें नहीं है, प्रत्युत निर्गुणमें है। कारण कि गुणातीत भगवान् भी जिस प्रेमके लोभी हैं, वह प्रेम गुणमय कैसे हो सकता है? जैसे भगवान्का शरीर दिव्य है, गुणमय नहीं है, ऐसे ही उन गोपियोंका शरीर भी दिव्य हो गया, गुणमय नहीं रहा। सगुण भगवान् भी सत्त्व-रज-तम-गुणोंसे युक्त नहीं हैं, प्रत्युत ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि दिव्य गुणोंसे युक्त हैं। इसलिये सगुण भगवान्की भक्तिको भी निर्गुण (सत्त्वादि गुणोंसे रहित) बताया गया है; जैसे—**‘मन्निकेतं तु निर्गुणम्’** (श्रीमद्भा० ११। २५। २५), **‘मत्सेवायां तु निर्गुणा’** (श्रीमद्भा० ११। २५। २७) आदि। भगवान्की भक्ति करनेसे मनुष्य गुणातीत हो जाता है।[३] तात्पर्य यह है कि भगवान्से सम्बन्ध होनेपर सत्त्व, रज और तमोगुण रहते ही नहीं। अत: रासलीलामें जो शरीर थे, वे हमारे शरीर-जैसे गुणोंवाले नहीं थे, प्रत्युत भगवान्के शरीर-जैसे तीनों गुणोंसे रहित अर्थात् दिव्यातिदिव्य थे। उस रासलीलामें जितनी भी गोपियाँ गयी थीं, वे सब-की-सब भगवान्की इच्छासे दिव्य भावमय शरीर धारण करके ही गयी थीं। इसीलिये उन गोपियोंके गुणमय शरीरोंको उनके पतियोंने अपने पास (घरमें ही) सोते हुए

---

१. यद्यपि देवता भी दिव्य कहलाते हैं, तथापि उनकी दिव्यता मनुष्योंकी अपेक्षासे कही जाती है। परन्तु भगवान्की दिव्यता निरपेक्ष होनेसे देवताओंसे भी विलक्षण है। इसलिये देवता भी भगवान्के दिव्यातिदिव्य रूपके दर्शनकी नित्य इच्छा रखते हैं—‘देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिण:’ (गीता ११। ५२)।

२. भक्तियोगकी यह विलक्षणता है कि उसमें साधक पहलेसे ही (गुणोंके रहते हुए भी) भगवान्में दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि भाव कर सकता है।

३. मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

‘जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरा सेवन करता है, वह इन गुणोंका अतिक्रमण करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है।’

देखा—‘**मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः**’ (श्रीमद्भा० १०। ३३। ३८)।

तात्पर्य यह निकला कि जिन गोपियोंको विरहजन्य तीव्र ताप नहीं हुआ, उनके गुणमय शरीर तो पतिके पास रहे, पर (जीवन्मुक्तकी तरह) उन शरीरोंके साथ सम्बन्ध नहीं रहा, केवल शरीरका भान रहा। परन्तु जिन गोपियोंको विरहजन्य तीव्र ताप हुआ, उनके गुणमय शरीर और उनका भान ही नहीं रहा, फिर उन शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता; क्योंकि उनका अनादिकालका गुणसंग ही नहीं रहा, जो कि जन्म-मरणका मूल कारण है।

१३. रासलीला—प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम

भगवान् अनन्त हैं, इसलिये उनका सब कुछ अनन्त है—‘***हरि अनंत हरिकथा अनंता***’ (मानस, बाल० १४०। ३)। उनका प्रेम भी अनन्त है। इसलिये प्रेममें अनन्तरस है। अनन्तरसका तात्पर्य है कि प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान है। प्रतिक्षण वर्धमान होनेके लिये प्रेममें विरह और मिलन—दोनोंका ही होना आवश्यक है। कारण कि विरहके बिना रसकी वृद्धि नहीं होती और मिलनके बिना रसकी अनुभूति नहीं होती, उसका आस्वादन नहीं होता। संसारमें तो संयोगका रस भी नहीं रहता और वियोगका रस भी नहीं रहता; क्योंकि संसारका नित्यवियोग है। परन्तु मिलन (योग)-का रस भी नित्य रहता है और विरह (वियोग)-का रस भी नित्य रहता है; क्योंकि भगवान्‌का नित्ययोग है। संसारके नित्यवियोगके अन्तर्गत संयोग-वियोग होते हैं और भगवान्‌के नित्ययोगके अन्तर्गत मिलन-विरह होते हैं। जैसे, माता कौसल्या सुमित्रासे कहती हैं कि ‘हे सुमित्रे! यदि रामजी वनमें चले गये हैं तो फिर मेरेको दीखते क्यों हैं? और यदि वनमें नहीं गये हैं तो सामने दीखनेपर भी हृदयमें जलन क्यों होती है? अतः प्रेममें मिलन और विरह दोनों साथ-साथ रहते हैं—

अरबरात मिलिबे को निसिदिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।
‘भगवतरसिक’ रसिक की बातें,
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

‘***अरबरात मिलिबे को निसिदिन मिलेइ रहत***’—यह मिलन है और ‘***मनु कबहुँ मिलै ना***’—यह विरह है। राधाजी सखीसे कहती हैं कि तुम धन्य हो जो श्रीकृष्णको देखती हो! मैंने तो आजतक श्रीकृष्णको देखा ही नहीं! कारण कि जब श्रीकृष्ण सामने आये तो राधाजीकी दृष्टि उनके कर्णकुण्डलमें ही अटक गयी, स्थिर हो गयी, उससे आगे बढ़ी ही नहीं! फिर वे श्रीकृष्णको कैसे देखें?

भगवान्‌का मिलन और विरह दोनों ही नित्य हैं, अनिर्वचनीय हैं, दिव्य हैं, जिनसे प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है। मिलनमें प्रेमीको अपनेमें प्रेमकी कमी मालूम देती है कि जैसे भगवान् हैं, वैसा (भगवान्‌के लायक) मेरेमें प्रेम नहीं है; और विरहमें प्रेमीको कभी प्रेमास्पदकी विस्मृति नहीं होती, प्रत्युत निरन्तर स्मृति (तल्लीनता) बनी रहती है। यह मिलन और विरह—दोनों भगवान् देते हैं और दोनों भगवत्स्वरूप ही होते हैं। वे ‘विरह’ इसलिये देते हैं कि भक्त अपनेमें प्रेमकी कमीका अनुभव करे और कमीका अनुभव होनेसे प्रेम बढ़े। वे ‘मिलन’ इसलिये देते हैं कि भक्त प्रेमका अनुभव करे, आस्वादन करे।

भक्तका भगवान्‌में दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि कोई भी भाव हो, भक्तकी अपनी अलग सत्ता नहीं होती; क्योंकि प्रेममें भक्त और भगवान् एक होकर दो होते हैं और दो होकर भी एक ही रहते हैं। इसलिये प्रेमी और प्रेमास्पद—दोनोंमें कभी सेवक स्वामी हो जाता है, कभी स्वामी सेवक हो जाता है। शंकरजीके लिये कहा भी है—‘***सेवक स्वामि सखा***

सिय पी के' (मानस, बाल० १५। २)। दक्षिण भारतमें एक मन्दिर है, जिसमें शंकरजीने नन्दीको उठा रखा है! कभी नन्दीके ऊपर शंकरजी हैं, कभी शंकरजीके ऊपर नन्दी हैं! कभी भगवान् भक्तके इष्ट बन जाते हैं, कभी भक्त भगवान्‌का इष्ट बन जाता है—'**इष्टोऽसि मे दृढमिति**' (गीता १८। ६४)। कभी श्रीकृष्ण राधा बन जाते हैं, कभी राधा श्रीकृष्ण बन जाती हैं।

ज्ञानका अखण्डरस तो शान्त है, पर प्रेमका अनन्तरस प्रतिक्षण वर्धमान है। प्रतिक्षण वर्धमान कहनेका अर्थ यह नहीं है कि प्रेममें कुछ कमी रहती है और उस कमीकी पूर्तिके लिये वह बढ़ता है। वास्तवमें प्रेम कम या अधिक नहीं होता। जैसे, समुद्र भीतरसे शान्त रहता है, पर बाहरसे उसपर लहरें उठती हैं और चन्द्रमाको देखकर उसमें उछाल आता है। परन्तु लहरें उठनेपर, उछाल आनेपर भी समुद्रका जल कम-ज्यादा नहीं होता, उतना-का-उतना ही रहता है। ऐसे ही प्रेमके अनन्तरसमें लहरें उठती हैं, उछाल आता है, पर वह कम-ज्यादा नहीं होता। जब प्रेम शान्त रहता है, तब प्रेमी और प्रेमास्पद एक अर्थात् अभिन्न होते हैं; और जब प्रेममें उछाल आता है, तब प्रेमी और प्रेमास्पद दो होते हैं। प्रेमी और प्रेमास्पद एक होते हुए भी दो होते हैं—यह विरह है और दो होकर भी एक ही रहते हैं—यह मिलन है।

इस प्रकार प्रतिक्षण वर्धमान रस (प्रेम)-का ही नाम '**रास**' है। कल्पना करें कि किसीको ऐसी प्यास लगे, जो कभी बुझे नहीं और जल भी घटे नहीं तथा पेट भी भरे नहीं तो ऐसी स्थितिमें जलके प्रत्येक घूँटमें नित्य नया रस मिलेगा। इसी तरह प्रेममें भी श्रीकृष्णको देखकर श्रीजीको और श्रीजीको देखकर श्रीकृष्णको नित्य नया रस मिलता है और उन दोनोंके रसका अनुभव गोपियाँ करती हैं! प्रेमकी इस वृद्धिका नाम ही '**रासलीला**' है।

१४. अनिर्वचनीय प्रेम

जो मनुष्य संसारसे दुःखी होकर ऐसा सोचता है कि कोई तो अपना होता, जो मुझे अपनी शरणमें लेकर, अपने गले लगाकर मेरे दुःख, सन्ताप, पाप, अभाव, भय, नीरसता आदिको हर लेता, उसको भगवान् अपनी भक्ति प्रदान करते हैं। परन्तु जो मनुष्य केवल संसारके दुःखोंसे मुक्त होना चाहता है, पराधीनतासे छूटकर स्वाधीन होना चाहता है, उसको भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं। मुक्त होनेपर वह 'स्व' में स्थित हो जाता है—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४। २४)। 'स्व' में स्थित होनेपर 'स्व'-पना अर्थात् व्यक्तित्वका सूक्ष्म अहंकार रह जाता है, जिसके कारण उसको 'अखण्ड आनन्द' का अनुभव होता है। जीव परमात्माका अंश है। अंशका अंशीकी तरफ स्वतः आकर्षण होता है। अतः 'स्व' में स्थित अर्थात् मुक्त होनेके बाद जब उसको मुक्तिमें भी सन्तोष नहीं होता, तब 'स्व' का 'स्वकीय' (परमात्मा)-की तरफ स्वतः आकर्षण होता है। कारण कि मुक्त होनेपर जीवके दुःखोंका अन्त और जिज्ञासाकी पूर्ति तो हो जाती है, पर प्रेम-पिपासा शान्त नहीं होती। तात्पर्य है कि प्रेमकी जागृतिके बिना स्वयंकी भूखका अत्यन्त अभाव नहीं होता। स्वकीयकी तरफ आकर्षण होनेसे अर्थात् प्रेम जाग्रत् होनेसे अखण्ड आनन्द 'अनन्त आनन्द' में बदल जाता है और व्यक्तित्वका सर्वथा नाश हो जाता है।

मुक्त होनेसे पहले जीव और भगवान्‌में जो भेद होता है, वह बन्धनमें डालनेवाला होता है, पर मुक्त होनेके बाद जीव (प्रेमी) और भगवान् (प्रेमास्पद)-में जो प्रेमके लिये स्वीकृत भेद होता है, वह अनन्त

आनन्द देनेवाला होता है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भक्ति० ४२)

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहमें डाल सकता है, पर बोध हो जानेपर भक्तिके लिये कल्पित अर्थात् स्वीकृत द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

कारण कि बोधसे पहलेका भेद अहम्‌के कारण होता है और बोधके बादका (प्रेमकी वृद्धिके लिये होनेवाला) भेद अहम्‌का नाश होनेपर होता है।

जैसे संसारमें 'किसी वस्तुका ज्ञान होनेपर ज्ञान बढ़ता नहीं, प्रत्युत अज्ञान मिट जाता है, ऐसे ही ज्ञानमार्गमें स्वरूपका ज्ञान होनेपर अज्ञानको मिटाकर ज्ञान खुद भी शान्त हो जाता है और स्व-स्वरूप स्वतः ज्यों-का-त्यों रह जाता है। इसलिये ज्ञानमार्गमें अखण्ड, शान्त, एकरस आनन्द मिलता है। परन्तु जैसे संसारमें किसी वस्तुमें आसक्ति होनेपर फिर आसक्ति बढ़ती ही रहती है—***'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'***, ऐसे ही भक्तिमार्गमें भगवान्‌में प्रेम होनेपर फिर वह प्रेम बढ़ता ही रहता है। इसलिये भक्तिमार्गमें अनन्त, प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द मिलता है। तात्पर्य यह हुआ कि आकर्षणमें जो आनन्द है, वह ज्ञानमें नहीं है। सांसारिक वस्तुका ज्ञान तो बाँधता है, पर स्वरूपका ज्ञान मुक्त करता है। इसी तरह सांसारिक वस्तुका आकर्षण तो अपार दुःख देता है, पर भगवान्‌का आकर्षण अनन्त आनन्द देता है।

अनन्तरसको प्रवाहित करनेवाली प्रेमरूपी नदीके दो तट हैं—नित्यमिलन और नित्यविरह। नित्यमिलनसे प्रेममें चेतना आती है, विशेष विलक्षणता आती है, प्रेमका उछाल आता है और नित्यविरहसे प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है अर्थात् अपनेमें प्रेमकी कमी मालूम देनेपर 'प्रेम और बढ़े, और बढ़े' यह उत्कण्ठा होती है।

अरबरात मिलिबे को निसिदिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।

जैसे धनी आदमीमें तीन चीजें रहती हैं—१. धन २. धनका नशा अर्थात् अभिमान और ३. धन बढ़नेकी इच्छा। ऐसे ही प्रेमीमें तीन चीजें रहती हैं—१. प्रेम २. प्रेमकी मादकता, मस्ती और ३. प्रेम बढ़नेकी इच्छा। धनी आदमीमें जो 'धन और बढ़े, और बढ़े'—यह इच्छा रहती है, वह लोभरूपी दोषके बढ़नेसे होती है। परन्तु प्रेमीमें जो 'प्रेम और बढ़े, और बढ़े'—यह इच्छा रहती है, वह अहंता-ममतारूपी दोषोंके मिटनेसे होती है।

अहंता-ममतारूपी दोषोंके मिटनेके बाद जहाँ अहंता (मैं-पन) थी, वहाँ 'नित्यमिलन' प्रकट होता है और जहाँ ममता (मेरा-पन) थी, वहाँ 'नित्यविरह' प्रकट होता है। वास्तवमें नित्यमिलन (नित्ययोग) और नित्यविरह—दोनों जीवमें सदासे विद्यमान हैं, पर भगवान्‌से विमुख होकर संसारके सम्मुख हो जानेसे 'नित्यमिलन' ने अहंताका रूप धारण कर लिया और 'नित्यविरह' ने ममताका रूप धारण कर लिया। अहंता और ममताके पैदा होनेसे प्रेम दब गया और संसारकी आसक्ति या मोह उत्पन्न हो गया। तात्पर्य यह हुआ कि दोषोंके रहनेसे संसारकी आसक्ति बढ़ती है और दोषोंके मिटनेसे शान्ति मिलती है एवं शान्तिमें सन्तोष न करनेसे प्रेम बढ़ता है। संसारमें प्रियता काम-क्रोधादि दोषोंसे होती है, पर भगवान्‌में प्रियता निर्दोषतासे होती है। जबतक अपनेमें थोड़ा भी संसारका आकर्षण है, तबतक प्रेम प्राप्त नहीं हुआ है; क्योंकि प्रेमकी जगह कामने ले ली! प्रेम प्राप्त होनेपर संसारमें किंचिन्मात्र भी आकर्षण नहीं रहता।

प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान तभी होता है, जब उसमें पहली अवस्थाका क्षय और दूसरी अवस्थाका उदय होता है। पहली अवस्थाका त्याग 'नित्यविरह' और दूसरी अवस्थाकी प्राप्ति 'नित्यमिलन' है। वास्तवमें देखा जाय तो प्रेममें क्षय या उदय, त्याग या प्राप्ति है ही नहीं, प्रत्युत प्रेमके नित्य-निरन्तर ज्यों-के-त्यों रहते हुए ही प्रतिक्षण वर्धमान होनेसे उसमें क्षय या उदयकी प्रतीति होती है।

प्रेममें प्रेमीको अपनेमें एक कमीका भान होता है, जिससे उसमें 'प्रेम और बढ़े, और बढ़े' यह लालसा (भूख) होती है। अगर सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो 'और बढ़े, और बढ़े' इस लालसामें प्रेमकी प्राप्ति भी है और कमी भी! कमी नहीं है, फिर भी कमी दीखती है। इसलिये प्रेमको अनिर्वचनीय कहा गया है—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।

(नारद० ५१-५२)

आनन्द भी आये और कमी भी दीखे—यह प्रेमकी अनिर्वचनीयता है।

जो पूर्णताको प्राप्त हो गये हैं, जिनके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहा, ऐसे महापुरुषोंमें भी प्रेमकी भूख रहती है। उनका भगवान्‌की तरफ स्वत:स्वाभाविक खिंचाव होता है। इसलिये भगवान् '**आत्मारामगणाकर्षी**' कहलाते हैं। सनकादि मुनि ***'ब्रह्मानंद सदा लयलीना'*** होते हुए भी भगवल्लीला-कथा सुनते रहते हैं—

आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं।
रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥

(मानस, उत्तर० ३२। ३)

जब वे वैकुण्ठधाममें गये, तब वहाँ भगवान्‌के चरणकमलोंकी दिव्य गन्धसे उनका स्थिर चित्त भी चंचल हो उठा—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

(श्रीमद्भा० ३। १५। ४३)

'प्रणाम करनेपर उन कमलनेत्र भगवान्‌के चरण-कमलके परागसे मिली हुई तुलसी-मंजरीकी वायुने उनके नासिका-छिद्रोंमें प्रवेश करके उन अक्षर परमात्मामें नित्य स्थित रहनेवाले ज्ञानी महात्माओंके भी चित्त और शरीरको क्षुब्ध कर दिया।'

भगवान् श्रीरामको देखकर तत्त्वज्ञानी जनक भी कह उठे—

सहज बिरागरूप मनु मोरा।
थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(मानस, बाल० २१६। २-३)

सर्वथा पूर्ण होते हुए भी भगवान् शंकरके मनमें भगवल्लीला सुनानेकी लालसा होती है और जगज्जननी पार्वतीके मनमें सुननेकी लालसा होती है। भगवान् शंकर कैलासको छोड़कर यशोदाजीके पास आते हैं और प्रार्थना करते हैं कि मैया! एक बार अपने लालाका मुख तो दिखा दे! जब वे सतीजीके साथ कैलास जा रहे थे, तब भी मार्गमें भगवान् श्रीरामका दर्शन करके उनकी विचित्र दशा हो गयी—

सतीं सो दसा संभु कै देखी।
उर उपजा संदेहु बिसेषी॥
संकरु जगतबंद्य जगदीसा।
सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा।
कहि सच्चिदानंद परधामा॥
भए मगन छबि तासु बिलोकी।
अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥

इस प्रकार सनकादि, जनक, भगवान् शंकर आदि सभीका स्वाभाविक ही भगवान्‌की तरफ खिंचाव होता है। इस खिंचावका नाम ही प्रेम है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(१। ७। १०)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चिज्जडग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की निष्काम भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।'

कोई कमी भी न हो और प्रेमकी भूख भी हो—यह प्रेमकी अनिर्वचनीयता है। सत्संगमें लगे हुए साधकोंका यह अनुभव भी है कि प्रतिदिन सत्संग

सुनते हुए, भगवान्‌की लीलाएँ सुनते हुए, भजन-कीर्तन करते और सुनते हुए भी न तो उनसे तृप्ति होती है और न उनको छोड़नेका मन ही करता है। उनमें प्रतिदिन नया-नया रस मिलता है, जिसमें भूतकालका रस फीका दीखता है और वर्तमानका रस विलक्षण दीखता है।* इस प्रकार प्रेममें पूर्णता भी है और अभाव भी है—यह प्रेमकी अनिर्वचनीयता है।

ज्ञानमें तो स्वरूपमें स्थिति होती है, जिससे ज्ञानीको सन्तोष हो जाता है—'**आत्मन्येव च सन्तुष्टः**' (गीता ३। १७); परन्तु प्रेममें न स्थिति होती है और न सन्तोष होता है, प्रत्युत नित्य-निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

वास्तवमें प्रेमका निर्वचन (वर्णन) किया ही नहीं जा सकता। अगर उसका निर्वचन कर दें तो फिर वह अनिर्वचनीय कैसे रहेगा?

डूबै सो बोलै नहीं, बोलै सो अनजान।
गहरो प्रेम-समुद्र कोउ डूबै चतुर सुजान॥

भगवान्‌के ही समग्ररूपका एक अंश अथवा ऐश्वर्य ब्रह्म है—'**ते ब्रह्म तद्विदुः**' (गीता ७। २९), '**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**' (गीता १४। २७)। समग्ररूप (**समग्रम्**) विशेषण है और भगवान् (**माम्**) विशेष्य हैं—'**असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु**' (गीता ७। १)। इसी तरह भगवान्‌ने अधियज्ञ (अन्तर्यामी) को भी अपना स्वरूप बताया है—'**अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे**' (गीता ८। ४)। अतः ब्रह्म विशेषण है और अन्तर्यामी भगवान् विशेष्य हैं। इसलिये ज्ञानीका सम्बन्ध विशेषणके साथ होता है और भक्तका सम्बन्ध विशेष्यके साथ होता है। दूसरे शब्दोंमें, ज्ञानीका सम्बन्ध ऐश्वर्यके साथ होता है और भक्तका सम्बन्ध ऐश्वर्यवान्‌के साथ होता है।

ज्ञानीकी तो ब्रह्मसे 'तात्त्विक एकता' होती है, पर भक्तकी भगवान्‌के साथ 'आत्मीय एकता' होती है। इसलिये भगवान् कहते हैं—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८) 'ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है—ऐसा मेरा मत है।' यहाँ 'ज्ञानी' शब्द तत्त्वज्ञानीके लिये नहीं आया है, प्रत्युत 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव करनेवाले ज्ञानी अर्थात् शरणागत भक्तके लिये आया है—'**वासुदेवः सर्वम् इति ज्ञानवान् मां प्रपद्यते**' (गीता ७। १९)। ज्ञानी (तत्त्वज्ञानी) की 'तात्त्विक एकता' में तो जीव और ब्रह्ममें अभेद हो जाता है तथा एक तत्त्वके सिवाय कुछ नहीं रहता। परन्तु भक्तकी 'आत्मीय एकता' में जीव और भगवान्‌में अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नतामें भक्त और भगवान् एक होते हुए भी प्रेमके लिये दो हो जाते हैं।

यद्यपि भगवान् सर्वथा पूर्ण हैं, उनमें किंचिन्मात्र भी अभाव नहीं है, फिर भी वे प्रेमके भूखे हैं—'**एकाकी न रमते**' (बृहदारण्यक० १। ४। ३)। इसलिये भगवान् प्रेम-लीलाके लिये श्रीजी और कृष्णरूपसे दो हो जाते हैं—

येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धि-
र्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्।

(राधातापनीयोपनिषद्)

वास्तवमें श्रीजी कृष्णसे अलग नहीं होतीं, प्रत्युत कृष्ण ही प्रेमकी वृद्धिके लिये श्रीजीको अलग करते हैं। तात्पर्य है कि प्रेमकी प्राप्ति होनेपर भक्त भगवान्‌से अलग नहीं होता, प्रत्युत भगवान् ही प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमके लिये भक्तको अलग करते हैं। इसलिये प्रेम प्राप्त होनेपर भक्त और भगवान्—दोनोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। दोनों ही एक-दूसरेके भक्त और दोनों ही एक-दूसरेके इष्ट होते हैं। तत्त्वज्ञानसे पहलेका भेद (द्वैत) तो अज्ञानसे होता है, पर तत्त्वज्ञानके बादका (प्रेमका) भेद भगवान्‌की इच्छासे होता है।

अभिन्नता दो होते हुए भी हो सकती है; जैसे बालककी माँसे, सेवककी स्वामीसे, पत्नीकी पतिसे अथवा मित्रकी मित्रसे अभिन्नता होती है। इसलिये

* राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥
जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥ (मानस, उत्तर० ५३। १)

भक्तिमें आरम्भसे ही भक्तकी भगवान्‌से अभिन्नता हो जाती है—***'साह ही को गोतु गोतु होत है गुलाम को'*** (कवितावली, उत्तर० १०७)। कारण कि भक्त अपना अलग अस्तित्व नहीं मानता। उसमें यह भाव रहता है कि भगवान् ही हैं, मैं हूँ ही नहीं।

प्रेममें माधुर्य है। अतः '*प्रभु मेरे हैं*' ऐसे अपनापन होनेसे भक्त भगवान्‌का ऐश्वर्य (प्रभाव) भूल जाता है। जैसे, महारानीका बालक उसको '*माँ मेरी है*' ऐसे मानता है तो उसका प्रभाव भूल जाता है कि यह महारानी है। एक बाबाजीने गोपियोंसे कहा कि कृष्ण बड़े ऐश्वर्यशाली हैं, उनके पास ऐश्वर्यका बड़ा खजाना है, तो गोपियाँ बोलीं कि महाराज! उस खजानेकी चाबी तो हमारे पास है! कन्हैयाके पास क्या है? उसके पास तो कुछ भी नहीं है! तात्पर्य है कि माधुर्यमें ऐश्वर्यकी विस्मृति हो जाती है। संसारमें तो ऐश्वर्यका ही ज्यादा आदर है, पर भगवान्‌में माधुर्यका ज्यादा आदर है। जिस समय भगवान्‌में माधुर्य-शक्ति प्रकट रहती है, उस समय ऐश्वर्य-शक्ति दूर भाग जाती है, पासमें नहीं आती। वास्तवमें भक्त भगवान्‌के ऐश्वर्यको देखता ही नहीं। कारण कि भगवान्‌को भगवान् समझकर प्रेम करना भगवान्‌के साथ प्रेम नहीं है, प्रत्युत भगवत्ता (ऐश्वर्य) के साथ प्रेम है। जैसे, धनको देखकर धनवान्‌के साथ स्नेह करना वास्तवमें धनवत्ताके साथ स्नेह करना है।

प्रेमकी जागृतिमें भगवान्‌की कृपा ही खास कारण है। प्रेमकी वृद्धिके लिये विरह और मिलन भी भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होते हैं। आदरपूर्वक भगवल्लीलाका श्रवण, वर्णन, चिन्तन तथा भगवन्नामका कीर्तन आदि साधनोंके बलसे प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत समयका सदुपयोग होता है, जिसको वैष्णवाचार्योंने '*कालक्षेप*' कहा है। भगवान्‌की कृपा प्राप्त होती है उनकी शरण होनेपर। शरण होनेमें संसारके आश्रयका त्याग मुख्य है।

संसारसे अलग होनेपर संसारका ज्ञान होता है और भगवान्‌से अभिन्न होनेपर भगवान्‌का ज्ञान होता है। कारण कि जीव संसारसे अलग है और भगवान्‌से अभिन्न है—यह वास्तविक, यथार्थ बात है। परन्तु शरीर-संसारसे एकता माननेसे संसारका ज्ञान नहीं होता और संसारका ज्ञान न होनेसे ही संसारकी तरफ खिंचाव होता है। इसी तरह भगवान्‌से भिन्नता माननेसे भगवान्‌का ज्ञान नहीं होता और भगवान्‌का ज्ञान न होनेसे ही भगवान्‌की तरफ खिंचाव नहीं होता। संसार अपना नहीं है—इस तरह संसारका ज्ञान होनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। भगवान् अपने हैं—इस तरह भगवान्‌का ज्ञान होनेसे भगवान्‌के साथ अभिन्नता होकर प्रेम हो जाता है।

१५. तू-ही-तू

(१)

उपनिषद्‌में आता है कि आरम्भमें एकमात्र अद्वितीय सत् ही विद्यमान था—'**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दोग्य० ६। २। १)। वह एक ही सत्स्वरूप परमात्मतत्त्व एकसे अनेकरूप हो गया—

(१) **तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।**

(छान्दोग्य० ६। २। ३)

(२) **सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।**

(तैत्तिरीय० २। ६)

(३) **एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।** (कठ० २। २। १२)

एकसे अनेक होनेपर भी वह एक ही रहा, उसमें नानात्व नहीं आया—

(१) '**नेह नानास्ति किञ्चन**'

(बृहदारण्यक० ४। ४। १९, कठ० २। १। ११)

(२) **'एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति'**

(गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद्)

(३) **'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'**

(बृहदारण्यक० ३। ४। १)

(४) **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**

(छान्दोग्य० ३। १४। १)

(५) **'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदम्'**

(मुण्डक० २। २। ११)

इसलिये श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने ब्रह्माजीसे कहा है—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(२। ९। ३२)

'सृष्टिके पहले भी मैं ही था, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं था। सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह दृश्यवर्ग है, वह मैं ही हूँ। जो सत्, असत् और उससे परे है, वह सब मैं ही हूँ। सृष्टिके बाद भी मैं ही हूँ और इन सबका नाश हो जानेपर जो कुछ बाकी रहता है, वह भी मैं ही हूँ।'

गीतामें भी भगवान्ने कहा है—

(१) **अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥**

(१०। २०)

'सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिमें भी मैं ही हूँ, मध्यमें भी मैं ही हूँ और अन्तमें भी मैं ही हूँ।'

(२) **सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।**

(१०। ३२)

'सम्पूर्ण सृष्टियोंके आदिमें भी मैं ही हूँ, मध्यमें भी मैं ही हूँ और अन्तमें भी मैं ही हूँ।'

(३) **'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'** (७। ७)

'मेरे सिवाय इस जगत्का दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी कारण तथा कार्य नहीं है।'

(४) **'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९)

'सब कुछ परमात्मा ही हैं।'

(५) **'सदसच्चाहमर्जुन'** (९। १९)

'सत् और असत् भी मैं ही हूँ।'

(६) **न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥**

(१०। ३९)

'वह चर-अचर कोई प्राणी नहीं है, जो मेरे बिना हो अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।'

सन्तोंने भी अपना अनुभव बताते हुए कहा है—

(१) तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तू॥

(२) सब जग ईश्वर-रूप है, भलो बुरो नहिं कोय।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय॥

(३) सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस, किष्किंधा० ३)

(४) निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥ (मानस, उत्तर० ११२ ख)

(५) जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि। (मानस, बाल० ७ ग)

(२)

गीतामें भगवान्ने कहा है कि मेरी दो प्रकृतियाँ हैं—अपरा और परा। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली भगवान्की 'अपरा प्रकृति' है और जीवरूप बनी हुई आत्मा 'परा प्रकृति' है।* अपरा और परा—ये दोनों भगवान्की प्रकृतियाँ अर्थात् शक्तियाँ हैं। **शक्तिमान्के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती।** इसलिये भगवान्की शक्ति होनेसे ये दोनों (अपरा और परा) भगवान्से अभिन्न हैं। जैसे मनुष्य अपनी शक्ति (ताकत)-को अपनेसे अलग करके नहीं दिखा सकता, ऐसे ही अपरा और पराको भगवान्से अलग

---

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(गीता ७। ४-५)

करके नहीं देखा जा सकता। तात्पर्य यह निकला कि **अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌से अभिन्न होनेके कारण भगवान्‌का स्वरूप ही हैं**।

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें तीन लोक, चौदह भुवन, जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, थलचर-जलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज, सात्त्विक-राजस-तामस, मनुष्य, देवता, पितर, गन्धर्व, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, भूत-प्रेत-पिशाच, ब्रह्मराक्षस आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, पढ़ने, चिन्तन करने तथा कल्पना करनेमें आता है, उसमें 'अपरा' और 'परा'—इन दो प्रकृतियोंके सिवाय कुछ भी नहीं है। जो देखने, सुनने, पढ़ने, चिन्तन करने तथा कल्पना करनेमें आता है और जिन शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्‌के द्वारा देखा, सुना, पढ़ा, चिन्तन किया तथा कल्पना किया जाता है, वह सब-का-सब 'अपरा' है। परन्तु जो देखता, सुनता, पढ़ता, चिन्तन करता तथा कल्पना करता है, वह 'परा' है। जितने भी शरीर हैं, वे सब-के-सब 'अपरा' के अन्तर्गत हैं और जितने भी जीव हैं, वे सब-के-सब 'परा' के अन्तर्गत हैं। अतः अनन्त ब्रह्माण्डोंके भीतर तथा बाहर और अनन्त ब्रह्माण्डोंके रूपमें आठ अपरा, एक परा और एक भगवान्—इन दसके सिवाय कुछ नहीं है अर्थात् एक भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है।

अपरा प्रकृतिको मैं, मेरा और मेरे लिये माननेसे ही जीवको अपरा (जगत्), परा (जीव) और परमात्मा—तीनों अलग-अलग दिखायी देते हैं। वास्तवमें परमात्मा ही हैं, प्रकृति है ही नहीं। प्रकृतिकी तरफ दृष्टि होनेसे ही प्रकृति है। दृष्टि न हो तो प्रकृति है ही नहीं। द्रष्टा भी दृश्यके सम्बन्धसे है। साक्षी भी साक्ष्यके सम्बन्धसे है। **जब हम अपनेको शरीर मानते हैं, तब भगवान् हमारे लिये संसार बन जाते हैं अर्थात् हमें संसार-रूपसे दीखने लगते हैं**। जब अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की हैं तो फिर उसमें मैं-तूका भेद कैसे हो सकता है?

अगर हम अपनेको देखें तो अपरा और पराके सिवाय हम कुछ नहीं हैं। हमारे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्—ये सब अपरा हैं और हम स्वयं जीवरूपसे परा हैं। परा-अपरा दोनों भगवान्‌की प्रकृतियाँ हैं; अतः केवल भगवान् ही रहे! हमारी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रही! 'मैं' नामसे कुछ नहीं रहा!

प्रकृति और प्रकृतिवाला (शक्ति और शक्तिमान्) एक होते हुए भी दो हैं और दो होते हुए भी एक हैं। एक ही अनेकरूपसे दीखता है और अनेकरूपसे दीखते हुए भी वह एक है। भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।'

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥

(श्रीमद्भा० ११। २८। ६)

'जो कुछ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वस्तु है, वह सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही हैं। वे परमात्मा ही विश्व बनाते हैं और वे ही विश्व बनते हैं। वे ही विश्वके रक्षक हैं और वे ही रक्षित हैं। वे ही सर्वात्मा भगवान् विश्वका संहार करते हैं और जिसका संहार होता है, वह विश्व भी वे ही हैं।'

तैत्तिरीयोपनिषद्‌में आया है—

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः।

(३। १०। ५)

'अन्न भी मैं ही हूँ और अन्नको खानेवाला भी मैं ही हूँ।'

संसारको सत्ता देकर उसको अपना मानने और उसकी आवश्यकताका अनुभव करनेसे मनुष्यको परमात्मासे दूरी, भेद और भिन्नता दीखती है। इसलिये **साधकको चाहिये कि वह भगवान्‌को अपना माने और उनकी आवश्यकताका अनुभव करे**। इन दो

बातोंका पालन करनेसे ही साधकका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और परमात्मासे समीपता, अभेद तथा अभिन्नताका अनुभव हो जायगा। तात्पर्य यह हुआ कि **साधक जबतक परमात्माके सिवाय अन्य कुछ भी सत्ता मानता है, तबतक उसकी परमात्मासे दूरी, भेद तथा भिन्नता बनी रहती है**। एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है—इस वास्तविकताका अनुभव होनेपर दूरी, भेद तथा भिन्नता मिट जाती है और साधक साध्यमें लीन हो जाता है।

(३)

सब कुछ भगवान् ही हैं—यह गीताका सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है और इसका अनुभव करनेवालेको भगवान्‌ने अत्यन्त दुर्लभ महात्मा कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने कहा है—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

(११। २९। १९)

'मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं, उनमें मैं सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें, मन, वाणी तथा शरीरके बर्तावमें मेरी ही भावना की जाय।'

उपनिषदोंमें इस बातको समझनेके लिये तीन दृष्टान्त दिये गये हैं—सोनेका, लोहेका और मिट्टीका। जैसे सोनेके अनेक गहने होते हैं। उन गहनोंकी आकृति, नाम, रूप, तौल, उपयोग, मूल्य आदि अलग-अलग होनेपर भी उनमें सोना एक ही होता है। लोहेके अनेक अस्त्र-शस्त्र होते हैं, पर उनमें लोहा एक ही होता है। मिट्टीके अनेक बर्तन होते हैं, पर उनमें मिट्टी एक ही होती है। ऐसे ही भगवान्‌से उत्पन्न हुई सृष्टिमें अनेक प्राणी, पदार्थ आदि होनेपर भी उनमें भगवान् एक ही हैं।

सोनेसे बने हुए गहनोंमें सोना प्रत्यक्ष दीखता है, लोहेसे बने हुए अस्त्र-शस्त्रोंमें लोहा प्रत्यक्ष दीखता है और मिट्टीसे बने हुए बर्तनोंमें मिट्टी प्रत्यक्ष दीखती है; परन्तु परमात्मासे बने हुए संसारमें परमात्मा प्रत्यक्ष नहीं दीखते। इसलिये सब कुछ परमात्मा ही हैं—इस बातको समझनेके लिये गेहूँके खेतका दृष्टान्त दिया जाता है।

किसानलोग गेहूँकी हरी-भरी खेतीको भी गेहूँ ही कहते हैं। खेतीको गाय खा जाती है तो वे कहते हैं कि तुम्हारी गाय हमारा गेहूँ खा गयी, जबकि गायने गेहूँका एक दाना भी नहीं खाया! खेतमें भले ही गेहूँका एक दाना भी दिखायी न दे, पर यह गेहूँ है—इसमें किसानको किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं होता। कोई शहरमें रहनेवाला व्यापारी हो तो वह उसको गेहूँ नहीं मानेगा, प्रत्युत कहेगा कि यह तो घास है, गेहूँ कैसे हुआ? मैंने बोरे-के-बोरे गेहूँ खरीदा और बेचा है, मैं जानता हूँ कि गेहूँ कैसा होता है। परन्तु किसान यही कहेगा कि यह वह घास नहीं है, जिसको पशु खाया करते हैं। यह तो गेहूँ है। कारण कि आरम्भमें बीजके रूपमें गेहूँ ही था और अन्तमें भी इसमेंसे गेहूँ ही निकलेगा। अतः बीचमें खेतीरूपसे यह गेहूँ ही है। जो आरम्भ और अन्तमें होता है, वह बीचमें भी होता है—यह सिद्धान्त है—'**यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्।**' (श्रीमद्भा० ११। २४। १७)

भगवान् सम्पूर्ण सृष्टिके आदि बीज हैं—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(गीता १०। ३९)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज (मूल कारण) है, वह बीज मैं ही हूँ; क्योंकि वह चर-अचर कोई प्राणी नहीं है, जो मेरे बिना हो अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।'

सांसारिक बीज तो वृक्षसे पैदा होता है और फिर वृक्षको पैदा करके स्वयं नष्ट हो जाता है, पर भगवान् पैदा नहीं होते और अनन्त सृष्टियोंको पैदा करके भी स्वयं ज्यों-के-त्यों रहते हैं। इसलिये भगवान्‌ने अपनेको 'सनातन' और 'अव्यय' बीज कहा है—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

(गीता ७। १०)

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(गीता ९। १८)

आमके बगीचेमें आमका एक फल भी न हो तो भी वह बगीचा आमका ही कहलाता है। कारण कि पहले भी आमके बीज थे, फिर उनसे वृक्ष उत्पन्न हुए और अन्तमें उनमें आम ही निकलेंगे, इसलिये बीचमें भी वह आमका ही बगीचा कहलाता है। लौकिक बीजसे तो एक ही प्रकारकी खेती होती है; जैसे—गेहूँके बीजसे गेहूँ ही पैदा होता है, बाजरेसे बाजरा ही पैदा होता है, ज्वारसे ज्वार ही पैदा होता है, मक्केसे मक्का ही पैदा होता है, आमसे आम ही पैदा होता है, आदि-आदि। सबके बीज अलग-अलग होते हैं। परन्तु भगवान्‌रूपी बीज इतना विलक्षण है कि उस एक ही बीजसे अनन्त भेदोंवाली सृष्टि पैदा हो जाती है—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(गीता १४। ४)

'हे कुन्तीनन्दन! सम्पूर्ण योनियोंमें प्राणियोंके जितने शरीर पैदा होते हैं, उन सबकी मूल प्रकृति तो माता है और मैं बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ।'

सृष्टिसे पहले भी परमात्मा थे—**'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** (छान्दोग्य० ६। २। १) और अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे—**'शिष्यते शेषसंज्ञः'** (श्रीमद्भा० १०।३।२५), फिर बीचमें दूसरा कहाँसे आया? सोनेके गहनोंमें सोना दीखता है और गेहूँकी खेतीमें गेहूँ नहीं दीखता—इसका तात्पर्य दीखने या न दीखनेमें नहीं है, प्रत्युत तत्त्वको एक बतानेमें है। सभी दृष्टान्तोंका तात्पर्य है कि तत्त्व एक ही है, चाहे दीखे या न दीखे। भगवान् कहते हैं—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥

(गीता ९। १९)

अमृत भी भगवान्‌का स्वरूप है, मृत्यु भी भगवान्‌का स्वरूप है। सत् भी भगवान्‌का स्वरूप है, असत् भी भगवान्‌का स्वरूप है। सुन्दर पुष्प खिले हों, सुगन्ध आ रही हो तो वह भी भगवान्‌का स्वरूप है और मांस, हड्डियाँ, मैला पड़ा हो, दुर्गन्ध आ रही हो तो वह भी भगवान्‌का स्वरूप है। भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूप भी धारण किये और मत्स्य, कच्छप, वराह आदि रूप भी धारण किये। **वे कोई भी रूप धारण करें, हैं तो भगवान् ही! वे चाहे किसी भी रूपमें आयें, उनकी मरजी है**। वे जैसा रूप धारण करते हैं, वैसी ही लीला करते हैं। वराह (सूअर)-का रूप धारण करके वे वराहकी तरह लीला करते हैं, मनुष्यका रूप धारण करके वे मनुष्यकी तरह लीला करते हैं। नृसिंहरूपसे वे प्रह्लादजीको चाटते हैं!

भगवान् उत्तंक ऋषिसे कहते हैं—

धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।

(महाभारत, आश्व० ५४। १३-१४)

'मैं धर्मकी रक्षा और स्थापनाके लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ।'

भगवान् सत्ययुगमें सत्ययुगकी लीला करते हैं, कलियुगमें कलियुगकी लीला करते हैं। कोई पाप, अन्याय करता हुआ दीखे तो समझना चाहिये कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। वे कोई भी रूप धारण करके कैसी ही लीला करें, हमारी दृष्टि उनको छोड़कर कहीं जानी ही नहीं चाहिये। भगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो सबमें मुझे देखता है और मुझमें सबको देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

जैसे सब जगह बर्फ-ही-बर्फ पड़ी हो तो बर्फ कैसे छिपेगी? बर्फके पीछे बर्फ रखनेपर भी बर्फ ही

दीखेगी! ऐसे ही **जब सब रूपोंमें भगवान् ही हों तो भगवान् कैसे छिपेंगे? कहाँ छिपेंगे? किसके पीछे छिपेंगे**? तात्पर्य है कि एक परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण हैं। उस परमात्मामें न मैं है, न तू है, न यह है, न वह है। न भूत है, न भविष्य है, न वर्तमान है। न सर्ग-महासर्ग है, न प्रलय-महाप्रलय है। न देवता है, न मनुष्य है, न राक्षस है। न पशु है, न पक्षी है। न प्रेत है, न पिशाच है। न जड़ है, न चेतन है। न स्थावर है, न जंगम है। एक परमात्माके सिवाय कुछ भी नहीं है। वे एक ही अनेक रूपोंमें बने हुए हैं। वे एक ही अनन्त रूपोंमें भासित हो रहे हैं।

(४)

सब कुछ भगवान् ही हैं—यह बात हमें दीखे चाहे न दीखे, हमारे जाननेमें आये चाहे न आये, हमारे अनुभवमें आये चाहे न आये, पर हम दृढ़तासे इस बातको स्वीकार कर लें कि वास्तवमें बात यही सच्ची है। **कमी है तो हमारे माननेमें कमी है, वास्तविकतामें कमी नहीं है**। सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा अनुभव करनेके लिये क्रिया और पदार्थकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत केवल भावकी आवश्यकता है। हमें केवल अपनी भावना बदलनी है। **जब साधककी अन्तर्वृत्ति हो, तब एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है और जब साधककी बाह्यवृत्ति हो, तब जो कुछ दीखे, वह भगवान्‌की ही लीला है**!

भगवान्‌की अपरा प्रकृतिके सम्मुख होनेसे ही हमारी भगवान्‌से विमुखता हो गयी है। अगर हम अपरासे विमुख हो जायँ और जिसकी अपरा प्रकृति है, उसके (भगवान्‌के) सम्मुख हो जायँ तो वास्तविकताका अनुभव हो जायगा—'**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥**' (गीता ७। १४)

भगवान् कहते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥
(गीता ७। १२)

'जितने भी सात्त्विक भाव हैं और जितने भी राजस तथा तामस भाव हैं, वे सब मुझमें ही रहते हैं—ऐसा समझो। परन्तु मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं।'

'**न त्वहं तेषु ते मयि**' कहनेका तात्पर्य है कि तुम गुणोंमें उलझो मत। भगवान् तो सबमें ही हैं। वे गुणोंमें भी हैं। पर गुणोंमें उलझनेसे हम उनसे दूर हो जाते हैं। यदि हम भगवान्‌को सत्ता और महत्ता न देकर गुणोंको सत्ता और महत्ता देंगे तो हम जन्म-मरणमें चले जायँगे—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। जैसे, गेहूँके खेतमें गेहूँ ही मुख्य होता है, पत्ती-डंठल नहीं। गेहूँके पौधेमें जड़ तामस है, डंठल राजस है, सिट्टा सात्त्विक है और गेहूँ (दाना) गुणातीत है। किसानका उद्देश्य केवल गेहूँको प्राप्त करनेका ही होता है। गेहूँको प्राप्त करनेके लिये ही वह सारी मेहनत करता है, खेतीमें जल-खाद आदि डालता है। गेहूँ प्राप्त होनेके बाद उसका पत्ती-डंठलसे कोई मतलब नहीं रहता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें पत्ती-डंठलका कोई महत्त्व नहीं है। इसी तरह साधकका उद्देश्य भी केवल भगवान्‌का ही होता है, सात्त्विक-राजस-तामस तीनों गुणोंका नहीं। जैसे गेहूँसे पैदा होनेपर भी पत्ती-डंठलसे किसानका कोई प्रयोजन नहीं होता, ऐसे ही भगवान्‌से उत्पन्न होनेपर भी सात्त्विक-राजस-तामस भावोंसे साधकका कोई प्रयोजन नहीं होता।

जैसे बालक मिट्टीका खिलौना चाहता है तो पिताजी रुपये खर्च करके भी उसके लिये मिट्टीका खिलौना लाकर देते हैं। **ऐसे ही हम संसारको चाहते हैं तो भगवान् संसाररूपमें हमारे सामने आ जाते हैं**। हम शरीर बनते हैं तो भगवान् विश्व बन जाते हैं। शरीर बननेके बाद फिर विश्वसे भिन्न कुछ भी जाननेमें नहीं आता—यह नियम है।

सब कुछ भगवान् हैं—इसका चिन्तन नहीं करना है, प्रत्युत इसको स्वयंसे स्वीकार करना है। स्वीकार करते ही हमारी दृष्टि बदल जायगी। दृष्टिमें ही सृष्टि है। हमारी दृष्टि बदलेगी तो सारी सृष्टि बदल जायगी! इसलिये अपनी दृष्टि ऐसी बनाओ कि

सब रूपोंमें भगवान् ही दीखने लग जायँ। **यही सच्ची आस्तिकता है।**

भक्तराज ध्रुव कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
भूतादिरादिप्रकृतिर्यस्य रूपं नतोऽस्मि तम्॥

(विष्णुपुराण १। १२। ५१)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार और मूल प्रकृति—ये सब जिनके रूप हैं, उन भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ।'

अगर हमारे भीतर राग-द्वेष होते हैं तो हमने 'सब कुछ भगवान् हैं'—यह बुद्धिसे सीखा है, स्वयंसे स्वीकार नहीं किया है। **बुद्धिसे सीखनेपर कल्याण नहीं होता, प्रत्युत स्वयंसे स्वीकार करनेपर कल्याण होता है।** जब सब कुछ भगवान् ही हैं तो फिर राग-द्वेष कौन करे और किससे करे?

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस, उत्तर० ११२ ख)

(५)

शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जो भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव, क्रिया, पदार्थ आदि ग्रहण किये जाते हैं, वे सब भगवान् ही हैं। मनकी स्फुरणामात्र भगवान् ही हैं। संसारमें अच्छा-बुरा, शुद्ध-अशुद्ध, शत्रु-मित्र, दुष्ट-सज्जन, पापात्मा-पुण्यात्मा आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, कहने, सोचने, समझने आदिमें आता है, वह सब-का-सब केवल भगवान् ही हैं। शरीर-शरीरी, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, अपरा-परा, क्षर-अक्षर आदि सब केवल भगवान् ही हैं। जब सब कुछ भगवान् ही हैं तो फिर उसमें 'मैं' कहाँसे आये? 'मैं' है ही नहीं, केवल तू-ही-तू है—

तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तू॥

अब भगवान्‌की प्राप्तिमें देरी किस बातकी है? भगवत्प्राप्ति तत्काल होनेवाली वस्तु है। मान लो कि हम एक नदीको देख रहे हैं। किसी जानकार व्यक्तिने हमारेसे कहा कि यह नदी गंगाजी हैं। यह सुनते ही हमारी भावना बदल गयी, दृष्टि बदल गयी। इसमें देरी क्या लगी? परिश्रम (अभ्यास) क्या करना पड़ा? किस क्रिया और पदार्थकी आवश्यकता पड़ी? **सब कुछ भगवान् ही हैं—इस वास्तविक बातको स्वीकार करनेके लिये न कोई ग्रन्थ पढ़ना है, न कोई ध्यान करना है, न कोई चिन्तन करना है, न श्रवण-मनन-निदिध्यासन करना है, न आँख मीचनी है, न कान मूँदने हैं, न नाक दबानी है, न जंगलमें जाना है, न गुफामें जाना है, न हिमालयमें जाना है!** अपनी सत्ताको भी अलग न रखकर भगवान्‌में मिला देना है। 'मैं' और 'मेरा' को छोड़कर 'तू' और 'तेरा' को स्वीकार करना है। फिर 'तेरा' भी न रहे, प्रत्युत तू-ही-तू रह जाय। 'मैं' की जगह भी केवल भगवान् ही रह जायँ!

यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु सब समयमें मौजूद होती है, उसकी प्राप्तिके लिये भविष्यकी अपेक्षा नहीं होती और जो वस्तु सब जगह मौजूद होती है, उसकी प्राप्ति किसी क्रिया तथा पदार्थसे नहीं होती। **कहीं जानेसे जो परमात्मा मिलेंगे, वे ही परमात्मा जहाँ हम हैं, वहाँ पूरे-के-पूरे हैं।** कहीं जानेकी, कुछ बदलनेकी जरूरत नहीं है। केवल मन बदलनेकी जरूरत है। उनकी प्राप्तिकी सच्ची चाहना होनी चाहिये। उनकी प्राप्ति केवल इच्छामात्रसे होती है। जो केवल परमात्माकी प्राप्ति चाहता है, उसको तत्काल प्राप्ति होती है। देरी उसको लगती है, जिसको इच्छाकी कमीके कारण देरी सह्य है।

जो वस्तु दूर हो, उसकी प्राप्तिके लिये मार्ग होता है। जो वस्तु सर्वव्यापक हो, सब जगह परिपूर्ण हो, उसकी प्राप्तिके लिये मार्ग नहीं होता। उसकी प्राप्ति केवल चाहनासे होती है। चाहनामात्रसे केवल परमात्मा ही मिलते हैं और कोई वस्तु नहीं मिलती। परमात्मा अद्वितीय हैं तो उनकी चाहना भी अद्वितीय होनी चाहिये। संसारकी प्राप्ति चाहनामात्रसे नहीं होती। संसारकी प्राप्ति 'करने' से होती है, परमात्माकी प्राप्ति 'न करने' से होती है।

मूलमें साधकके भीतर परमात्माकी लालसा होनी चाहिये। अगर भीतरसे संसार अच्छा लगता है, संसारकी लालसा है तो परमात्मप्राप्ति नहीं हो सकती। जैसे जिसके भीतर प्यास होती है, उसीको जल दीखता है, ऐसे ही जिसके भीतर संसारकी प्यास (लालसा) है, उसको संसार दीखता है और जिसके भीतर परमात्माकी प्यास है, उसको परमात्मा दीखते हैं। प्यास न हो तो वस्तु सामने रहते हुए भी नहीं दीखती। **परमात्माकी प्यास हो तो जगत् लुप्त हो जाता है और जगत्की प्यास हो तो परमात्मा लुप्त हो जाते हैं**। जिसके भीतर जगत्की प्यास है, वह जगत्का निर्माण कर लेता है—‘**ययेदं धार्यते जगत्**’ (गीता ७।५) और जिसके भीतर परमात्माकी प्यास है, वह परमात्माकी खोज कर लेता है—‘**ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्**’ (गीता १५। ४)। जगत्की प्यास होनेसे जगत् न होते हुए भी मृगमरीचिकाकी तरह दीखने लग जाता है और परमात्माकी प्यास होनेसे परमात्मा न दीखनेपर भी दीखने लग जाता है। परमात्माकी प्यास जाग्रत् होनेपर साधकको भूतकालका चिन्तन नहीं होता, भविष्यकी आशा नहीं रहती और वर्तमानमें उसको प्राप्त किये बिना चैन नहीं पड़ता।

(६)

अपरा, परा और परमात्मा—इन तीनोंमें अपरा और परा तो जाननेका विषय है, पर परमात्मा जाननेका विषय नहीं हैं, प्रत्युत माननेका विषय हैं। उनको माना ही जा सकता है, जाना नहीं जा सकता। रचना अपने रचयिताको कैसे जान सकती है? कार्य अपने कारणको कैसे जान सकता है? इसलिये गीतामें भगवान्ने कहा है—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(७। २६)

‘हे अर्जुन! जो प्राणी भूतकालमें हो चुके हैं तथा जो वर्तमानमें हैं और जो भविष्यमें होंगे, उन सब प्राणियोंको तो मैं जानता हूँ, पर मुझे कोई भी नहीं जानता।’

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

(१०। २)

‘मेरे प्रकट होनेको न देवता जानते हैं और न महर्षि; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका आदि हूँ।’

जैसे अपने माता-पिताको हम जान नहीं सकते, प्रत्युत मान ही सकते हैं; क्योंकि जन्म लेते समय हमने उनको देखा ही नहीं, देखना सम्भव ही नहीं। ऐसे ही **परमात्माको भी हम जान नहीं सकते, प्रत्युत मान ही सकते हैं**। माताकी अपेक्षा भी पिताको जानना सर्वथा असम्भव है; क्योंकि मातासे जन्म लेते समय तो हमारा शरीर बन चुका था, पर पितासे जन्म लेते समय हमारी (शरीरकी) सत्ता ही नहीं थी! भगवान् सम्पूर्ण संसारके पिता हैं—‘**अहं बीजप्रदः पिता**’ (गीता १४।४), ‘**पिताहमस्य जगतः**’ (गीता ९।१७), ‘**पितासि लोकस्य चराचरस्य**’ (गीता ११।४३), ‘**ममैवांशो जीवलोके**’ (गीता १५।७)। इसलिये परमात्माको माना ही जा सकता है। उनको जानना सर्वथा असम्भव है। जैसे, माता-पिताको माने बिना हम रह सकते ही नहीं। अगर हम अपनी (शरीरकी) सत्ता मानते हैं तो माता-पिताकी सत्ता माननी ही पड़ेगी। ऐसे ही **परमात्माको माने बिना हम रह सकते ही नहीं। अगर हम अपनी सत्ता (होनापन) मानते हैं तो परमात्माकी सत्ता माननी ही पड़ेगी**। कारणके बिना कार्य कहाँसे आया? परमात्माके बिना हम स्वयं कहाँसे आये? जैसे ‘हम नहीं हैं’—इस तरह अपने होनेपनका कोई निषेध या खण्डन नहीं कर सकता, ऐसे ही ‘परमात्मा नहीं हैं’—इस तरह परमात्माके होनेपनका भी कोई निषेध या खण्डन नहीं कर सकता।

सब कुछ भगवान् ही हैं—यह मान ही सकते हैं, जान नहीं सकते; क्योंकि यह समझके अन्तर्गत नहीं आता, प्रत्युत समझ (बुद्धि) इसके अन्तर्गत आती है।

(७)

सब कुछ भगवान् ही हैं—इसका अनुभव करनेके तीन चरण हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. **सब कुछ भगवान्‌का ही है।**

२. **सब कुछ भगवान् ही हैं।**

३. **भगवान्‌के सिवाय कभी कुछ हुआ ही नहीं।**

देखने-सुननेमें जो कुछ आता है, वह सब मिलने और बिछुड़नेवाला है। जो मिला है, वह बिछुड़ जायगा—इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें तिल-जितनी कोई वस्तु भी हमारी नहीं है। जो कुछ देखने-सुननेमें आता है, वह सब अपरा प्रकृति है, जो भगवान्‌की है। भगवान्‌ने अपरा प्रकृतिको भी 'मेरी प्रकृति' कहा है—'**अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा**' (गीता ७।४) और परा प्रकृतिको भी 'मेरी प्रकृति' कहा है—'**प्रकृतिं विद्धि मे पराम्**' (गीता ७। ५)। फिर हमारी क्या वस्तु हुई? सब कुछ भगवान्‌का ही हुआ! अतः जो कुछ दीखता है, वह हमारा नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌का है—यह दृढ़तासे स्वीकार कर लें तो हमारा साधन शुरू हो जायगा। जबतक हम मिले हुएको अपना मानते रहेंगे, तबतक साधन शुरू नहीं होगा। मिले हुएको अपना मानते रहनेसे न तो विवेक दृढ़ होता है और न विश्वास ही दृढ़ होता है। इसलिये सन्तोंने, भक्तोंने कभी संसारको अपना नहीं माना, प्रत्युत केवल भगवान्‌को ही अपना माना—'**मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई**'। '**मैं**' भी हमारा नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌का ही है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि सब भगवान्‌के ही हैं।

मेरा कुछ नहीं है, सब कुछ भगवान्‌का ही है—इस सत्यकी स्वीकृति होते ही 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह सत्य प्रकट हो जायगा। कारण कि यह जगत् केवल जीवकी कल्पना है। जगत् न तो महात्माकी दृष्टिमें है और न परमात्माकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवात्माकी दृष्टिमें है। महात्माकी दृष्टिमें सब कुछ भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७।१९)। भगवान्‌की दृष्टिमें सत्-असत् सब कुछ वे ही हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९।१९)। परन्तु जीवने अपने राग-द्वेषके कारण जगत्‌को अपनी बुद्धिमें धारण कर रखा है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७।५)। वास्तवमें जगत्‌का नामोनिशान भी नहीं है। सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिमें केवल भगवान्-ही-भगवान् परिपूर्ण हैं। अगर यह बात हमारी समझमें नहीं आती तो हमारी समझमें कमी है, तत्त्वमें कमी नहीं है। भले ही हमारी समझमें न आये, पर सच्ची बात सच्ची ही रहेगी, झूठी कैसे हो जायगी? साधक कुछ भी करे, अन्तमें उसे सच्ची बातको स्वीकार करना ही पड़ेगा।

'**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव होनेके बाद फिर '**सर्वम्**' भी नहीं रहता, प्रत्युत केवल '**वासुदेवः**' रह जाता है। इसीको श्रीमद्भागवतमें 'आत्यन्तिक प्रलय' कहा गया है (१२। ४। २३—३४) और इसीको गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने 'परम विश्राम' कहा है—'**पायो परम बिश्रामु**' (मानस, उत्तर० १३०। छं०३)। जैसे, जबतक गेहूँकी खेती रहती है, तबतक पत्ती-डंठल दीखते हैं। अन्तमें पत्ती-डंठल नहीं रहते, केवल गेहूँ रह जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि केवल वासुदेव-ही-वासुदेव विद्यमान है। अन्य कुछ है ही नहीं, कभी हुआ ही नहीं, कभी होगा ही नहीं, कभी हो सकता ही नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि **एक परमात्माके सिवाय कोई चीज कभी पैदा हुई ही नहीं**! इस स्थितिका वर्णन नहीं हो सकता; क्योंकि वर्णन करनेवाला कोई (व्यक्ति) रहता ही नहीं!

भगवान् कहते हैं—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १८)

'जब सबमें परमात्मबुद्धि की जाती है, तब सब कुछ परमात्मा ही हैं—ऐसा दीखने लगता है। फिर इस परमात्मदृष्टिसे भी उपराम होनेपर सम्पूर्ण संशय स्वतः निवृत्त हो जाते हैं।'

'उपरमेत्' पदका तात्पर्य है कि साधक 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस वृत्तिसे भी उपराम हो जाता है, इस वृत्तिको भी छोड़ देता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें 'सब कुछ' रहता ही नहीं। इसलिये वृत्ति छूटनेपर एक भगवान् ही रह जाते हैं। तात्पर्य है कि भक्त सर्वत्र परिपूर्ण भगवान्‌के शरणागत होकर अपने-आपको भी भगवान्‌में ही लीन कर देता है। फिर शरणागत नहीं रहता, केवल शरण्य रह जाते हैं। **'मैं' नहीं रहता, केवल भगवान् रह जाते हैं। यही असली शरणागति है**। ऐसी शरणागतिके बाद फिर परमप्रेमकी प्राप्ति होती है—**'मद्भक्तिं लभते पराम्'** (गीता १८।५४)। भगवान् अपनी इच्छासे प्रेमलीलाके लिये एकसे दो हो जाते हैं—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं (स्वीकृतं) द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भक्ति० ४२)

'तत्त्वबोधसे पहलेका द्वैत तो मोहमें डालता है, पर बोध हो जानेपर भक्तिके लिये स्वीकृत द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

भगवान्‌की इच्छासे होनेवाला यह प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है। इसलिये कभी भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं और कभी दो हो जाते हैं। प्रेममें यह मिलना और अलग होना (मिलन और विरह) भगवान्‌की इच्छासे ही होता है, भक्तकी इच्छासे नहीं। **इस प्रेमकी माँग मुक्त महापुरुषोंमें भी देखी जाती है**। कारण कि योग और बोधकी प्राप्ति होनेपर तो सूक्ष्म अहम् रहता है*, पर प्रेमकी प्राप्ति होनेपर इस सूक्ष्म अहम्‌का भी सर्वथा अभाव हो जाता है। तभी कहा है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

उपसंहार

यह जगत् भगवान्‌का आदि अवतार है—**'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य'** (श्रीमद्भा० २।६।४१)। एक परमात्मा ही अनेकरूप बन जाते हैं और फिर अनेकरूपका त्याग करके एकरूप हो जाते हैं। अनेकरूपसे होनेपर भी वे एक ही रहते हैं। वे एक रहें या अनेक हो जायँ, यह उनकी मरजी है, उनकी लीला है। एक सोनेके सैकड़ों गहने बन जायँ और फिर गहने पुनः सोना हो जायँ अथवा एक खाँड़के सैकड़ों खिलौने बन जायँ और फिर खिलौने पुनः खाँड़ हो जायँ, फर्क क्या पड़ा? ऐसे ही भगवान् कुछ भी बन जायँ, फर्क क्या पड़ा? तत्त्व एक ही है और एक ही रहेगा। उस एक तत्त्वके सिवाय कभी कुछ हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता ही नहीं। **एकमात्र भगवान् ही थे, भगवान् ही हैं और भगवान् ही रहेंगे**। वे एक ही भगवान् प्रेमी और प्रेमास्पदका रूप धारण करके प्रेमकी लीला करते हैं। उस प्रतिक्षण वर्धमान परमप्रेमकी प्राप्तिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है।

१६. सब साधनोंका सार

जीवमात्रका स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है। वह सत्ता सत्-रूप, चित्-रूप और आनन्द-रूप है। वह सत्ता नित्य-निरन्तर ज्यों-की-त्यों निर्विकार, असंग रहती है। इस स्वरूपको अर्थात् अपने-आपको जब मनुष्य भूल जाता है, तब उसमें देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है अर्थात् वह अपनेको शरीर मान लेता है। शरीरसे माना हुआ यह सम्बन्ध तीन प्रकारका होता है—१. मैं शरीर हूँ, २. शरीर मेरा है और ३. शरीर मेरे लिये है।

हमारे देखनेमें दो ही चीजें आती हैं—नाशवान्

* यह सूक्ष्म अहम् जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर मतभेद पैदा करनेवाला होता है। इस सूक्ष्म अहम्‌के कारण ही आचार्योंमें तथा उनके दर्शनोंमें मतभेद रहता है।

(जड़) और अविनाशी (चेतन)। इन दोनोंका विभाग अलग-अलग है। इसीको गीताने शरीर और शरीरी, क्षर और अक्षर, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ आदि नामोंसे कहा है। इसीको सन्तोंने 'नहीं' और 'है' नामसे कहा है। हमारा स्वरूप शरीरी है, चेतन है, अविनाशी है, अक्षर है, क्षेत्रज्ञ है और 'है'-रूप है। जो हमारा स्वरूप नहीं है, वह शरीर है, जड़ है, नाशवान् है, क्षर है, क्षेत्र है और 'नहीं'-रूप है। जो 'है'-रूप है, वह नित्यप्राप्त है और जो 'नहीं'-रूप है, वह मिलता है और बिछुड़ जाता है।

एक मार्मिक बात है कि 'है' को देखनेसे शुद्ध 'है' नहीं दीखता, पर 'नहीं'को 'नहीं'-रूपसे देखनेसे शुद्ध 'है' दीख जाता है। कारण यह है कि मैं शुद्ध, बुद्ध और मुक्त आत्मा हूँ—इस प्रकार 'है' पर विचार करनेमें हम मन-बुद्धि लगायेंगे, वृत्ति लगायेंगे तो 'है' के साथ 'नहीं' (मन-बुद्धि, वृत्ति, मैं-पन) भी मिला रहेगा। परन्तु मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है—इस प्रकार 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे विचार करनेपर वृत्ति भी 'नहीं' में चली जायगी और शुद्ध 'है' शेष रह जायगा। उदाहरणार्थ—झाड़ूके द्वारा कूड़ा-करकट दूर करनेसे उसके साथ झाड़ूका भी त्याग हो जाता है और साफ मकान शेष रह जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि 'मैं आत्मा हूँ'—इसका मनसे चिन्तन तथा बुद्धिसे निश्चय करनेपर वृत्तिके साथ हमारा सम्बन्ध बना रहेगा। परन्तु 'मैं शरीर नहीं हूँ'—इस प्रकार विचार करनेपर शरीर और वृत्ति दोनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और चिन्मय सत्तारूप शुद्ध स्वरूप स्वतः शेष रह जायगा। इसलिये तत्त्वप्राप्तिमें निषेधात्मक साधन मुख्य है। निषेधात्मक साधनमें साधकके लिये तीन बातोंको स्वीकार कर लेना आवश्यक है—मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है। जबतक साधकमें यह भाव रहेगा कि मैं शरीर हूँ और शरीर मेरा तथा मेरे लिये है, तबतक वह कितना ही उपदेश पढ़ता-सुनता रहे और दूसरोंको सुनाता रहे, उसको शान्ति नहीं मिलेगी और कल्याण भी नहीं होगा। इसलिये गीताके आरम्भमें ही भगवान्ने साधकके लिये इस बातपर विशेष जोर दिया है कि जो बदलता है, जिसका जन्म और मृत्यु होती है, वह शरीर तुम नहीं हो।

मैं शरीर नहीं हूँ

सर्वप्रथम साधकको यह बात अच्छी तरहसे समझ लेनी चाहिये कि मैं चिन्मय सत्तारूप हूँ, शरीररूप नहीं हूँ। हम कहते हैं कि बचपनमें मैं जो था, वही मैं आज हूँ। शरीरको देखें तो बचपनसे लेकर आजतक हमारा शरीर इतना बदल गया कि उसको पहचान भी नहीं सकते, फिर भी हम वही हैं—यह हमारा अनुभव कहता है। बचपनमें मैं खेलता-कूदता था, बादमें मैं पढ़ता था, आज मैं नौकरी-धंधा करता हूँ। सब कुछ बदल गया, पर मैं वही हूँ। कारण कि शरीर एक क्षण भी ज्यों-का-त्यों नहीं रहता, निरन्तर बदलता रहता है। तात्पर्य यह हुआ कि जो बदलता है, वह हमारा स्वरूप नहीं है। जो नहीं बदलता, वही हमारा स्वरूप है।

हमने अबतक असंख्य शरीर धारण किये, पर सब शरीर छूट गये, हम वही रहे। मृत्युकालमें भी शरीर तो यहीं छूट जायगा, पर अन्य योनियोंमें हम जायँगे, स्वर्ग-नरक आदि लोकोंमें हम जायँगे, मुक्ति हमारी होगी, भगवान्के धाममें हम जायँगे। तात्पर्य है कि हमारी सत्ता (होनापन) शरीरके अधीन नहीं है। शरीरके बढ़ने-घटनेपर, कमजोर-बलवान् होनेपर, बालक-बूढ़ा होनेपर अथवा रहने-न-रहनेपर हमारी सत्तामें कोई फर्क नहीं पड़ता। जैसे हम किसी मकानमें रहते हैं तो हम मकान नहीं हो जाते। मकान अलग है, हम अलग हैं। मकान वहीं रहता है, हम उसको छोड़कर चले जाते हैं। ऐसे ही शरीर यहीं रहता है, हम उसको छोड़कर चले जाते हैं। शरीर तो मिट्टी हो जाता है, पर हम मिट्टी नहीं होते। हमारा स्वरूप गीताने इस प्रकार बताया है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

(गीता २। २३-२४)

'शस्त्र इस शरीरीको काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसको सुखा नहीं सकती। यह शरीरी काटा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह गीला नहीं किया जा सकता और यह सुखाया भी नहीं जा सकता। कारण कि यह नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाववाला और अनादि है।'

तात्पर्य है कि शरीरका विभाग ही अलग है और न बदलनेवाले शरीरी (स्वरूप)-का विभाग ही अलग है। हमारा स्वरूप किसी शरीरसे लिप्त नहीं है, इसलिये उसको गीतामें भगवान्‌ने सर्वव्यापी कहा है—**'येन सर्वमिदं ततम्'** (२।१७), **'सर्वगतः'** (२।२४)। तात्पर्य है कि स्वरूप एक शरीरमें सीमित नहीं है, प्रत्युत सर्वव्यापी है।

शरीर पृथ्वीपर ही (माँके पेटमें) बनता है, पृथ्वीपर ही घूमता-फिरता है और मरकर पृथ्वीमें ही लीन हो जाता है। इसकी तीन गतियाँ बतायी गयी हैं—इसको जला देंगे तो भस्म बन जायगी, पृथ्वीमें गाड़ देंगे तो मिट्टी बन जायगी और जानवर खा लेंगे तो विष्ठा बन जायगी। इसलिये शरीर मुख्य नहीं है, प्रत्युत हमारा स्वरूप मुख्य है।

यद्यपि होनापन (सत्ता) आत्माका ही है, शरीरका नहीं, तथापि साधकसे भूल यह होती है कि वह पहले शरीरको देखकर फिर उसमें आत्माको देखता है, पहले आकृतिको देखकर फिर भावको देखता है। ऊपर लगायी हुई पालिश कबतक टिकेगी? साधकको विचार करना चाहिये कि आत्मा पहले थी या शरीर पहले था? विचार करनेपर सिद्ध होता है कि आत्मा पहले है और शरीर पीछे है। भाव पहले है और आकृति पीछे है। इसलिये हमारी दृष्टि पहले भावरूप आत्मा (स्वरूप)-की तरफ जानी चाहिये, शरीरकी तरफ नहीं।

जैसे भोजनालय भोजन करनेका स्थान होता है, ऐसे ही यह शरीर सुख-दुःख भोगनेका स्थान (भोगायतन) है। सुख-दुःख भोगनेवाला शरीर नहीं होता, प्रत्युत शरीरसे सम्बन्ध जोड़नेवाले हम स्वयं होते हैं। भोगनेका स्थान अलग होता है और भोगनेवाला अलग होता है। शरीर तो ऊपरका चोला है। हम कैसा ही कपड़ा पहनें, कपड़ा अलग होता है, हम अलग होते हैं। जैसे हम अनेक कपड़े बदलनेपर भी एक ही रहते हैं, अनेक नहीं हो जाते, ऐसे ही अनेक योनियोंमें अनेक शरीर धारण करनेपर भी हम स्वयं एक ही (वही-के-वही) रहते हैं। जैसे पुराने कपड़े उतारनेपर हम मर नहीं जाते और नये कपड़े पहननेपर हम पैदा नहीं हो जाते, ऐसे ही पुराने शरीर छोड़नेपर हम मर नहीं जाते और नया शरीर धारण करनेपर हम पैदा नहीं हो जाते*। तात्पर्य है कि शरीर जन्मता-मरता है, हम नहीं जन्मते-मरते। अगर हम मर जायँ तो फिर पाप-पुण्यका फल कौन भोगेगा? अन्य योनियोंमें और स्वर्ग-नरकादि लोकोंमें कौन जायगा? बन्धन किसका होगा? मुक्त कौन होगा? हमारा जीवन इस शरीरके अधीन नहीं है। हमारी आयु बहुत लम्बी—अनादि और अनन्त है। महासर्ग और महाप्रलय हो जाय तो भी हम जन्मते-मरते नहीं, प्रत्युत ज्यों-के-त्यों रहते हैं—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'** (गीता १४। २)।

हमारा और शरीरका स्वभाव बिलकुल अलग-अलग है। हम शरीरके साथ चिपके हुए, शरीरके साथ मिले हुए नहीं हैं। शरीर भी हमारे साथ चिपका हुआ, हमारे साथ मिला हुआ नहीं है। जैसे शरीर संसारमें रहता है, ऐसे हम शरीरमें नहीं रहते। शरीरके साथ हमारा मिलन कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं,

---

* वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(गीता २। २२)

होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। वास्तवमें हमें शरीरकी जरूरत ही नहीं है। शरीरके बिना भी हम स्वयं मौजसे रहते हैं। तात्पर्य है कि शरीरके न रहनेपर हमारा कुछ भी नहीं बिगड़ता। अबतक हम असंख्य शरीर धारण कर-करके छोड़ चुके हैं, पर उससे हमारी सत्तामें क्या फर्क पड़ा? हमारा क्या नुकसान हुआ? हम तो ज्यों-के-त्यों ही रहे—'**भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**' (गीता ८। १९)।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार—इन सबके अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। उदाहरणार्थ, सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा)-के समय हमें शरीरादिके अभावका अनुभव होता है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं कहता कि सुषुप्तिमें मैं नहीं था, मर गया था। कारण कि शरीरादिके अभावका अनुभव होनेपर भी हमें अपने अभावका अनुभव नहीं होता। तभी जगनेपर हम कहते हैं कि मैं बड़े सुखसे सोया कि कुछ भी पता नहीं था। सुषुप्तिमें भी हमारा होनापन ज्यों-का-त्यों था। इससे सिद्ध हुआ कि हमारा होनापन शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकारके अधीन नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण सब शरीरोंका अभाव होता है, पर हमारा अभाव नहीं होता।

हमारा स्वरूप स्वतः-स्वाभाविक असंग है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदारण्यक० ४।३।१५), '**देहेऽस्मिन्पुरुषः परः**' (गीता १३। २२)। इसलिये शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानते हुए भी वास्तवमें हम शरीरसे लिप्त नहीं होते। शरीरका संग करते हुए भी वास्तवमें हम असंग रहते हैं। तभी भगवान् कहते हैं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। तात्पर्य है कि बद्धावस्थामें भी स्वरूप वास्तवमें मुक्त ही है। बद्धपना माना हुआ है और मुक्तपना हमारा स्वतःसिद्ध स्वरूप है। जैसे अन्धकार और प्रकाश आपसमें नहीं मिल सकते, ऐसे ही शरीर (जड़, नाशवान्) और स्वरूप (चेतन, अविनाशी) आपसमें नहीं मिल सकते। कारण कि शरीर संसारका अंश है और हम स्वयं परमात्माके अंश हैं।

एक ही दोष अथवा गुण स्थानभेदसे अनेक रूपोंसे प्रकट होता है। शरीरको अपनेसे अधिक महत्त्व देना अर्थात् शरीरको अपना स्वरूप मानना मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है। अपने स्वरूप (चिन्मय सत्तामात्र)-को शरीरसे अधिक महत्त्व देना मूल गुण है, जिससे सम्पूर्ण सद्गुणोंकी उत्पत्ति होती है।

अर्जुनने गीताके आरम्भमें भगवान्से अपने कल्याणका उपाय पूछा—'**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे**' (२। ७)। इसके उत्तरमें भगवान्ने सर्वप्रथम शरीर और शरीरी (स्वरूप)-का ही वर्णन किया। इससे सिद्ध होता है कि जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसके लिये सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ'। जबतक उसमें 'मैं शरीर हूँ'—यह भाव रहेगा, तबतक वह कितना ही उपदेश सुनता रहे अथवा सुनाता रहे और साधन भी करता रहे, उसका कल्याण नहीं होगा।

मनुष्यशरीर विवेकप्रधान है। अतः 'मैं शरीर नहीं हूँ'—यह विवेक मनुष्यशरीरमें ही हो सकता है। शरीरको 'मैं' मानना मनुष्यता नहीं है, प्रत्युत पशुता है। इसलिये श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित्से कहते हैं—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥

(श्रीमद्भा० १२। ५। २)

'हे राजन्! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मर जाऊँगा। जैसे शरीर पहले नहीं था, पीछे पैदा हुआ और फिर मर जायगा, ऐसे तुम पहले नहीं थे, पीछे पैदा हुए और फिर मर जाओगे—यह बात नहीं है।'

शरीर कभी एकरूप रहता ही नहीं और हमारा स्वरूप कभी अनेकरूप होता ही नहीं। शरीर जन्मसे पहले भी नहीं था, मरनेके बाद भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी यह प्रतिक्षण मर रहा है। वास्तवमें गर्भमें

आते ही शरीरके मरनेका क्रम शुरू हो जाता है। बाल्यावस्था मर जाय तो युवावस्था आ जाती है। युवावस्था मर जाय तो वृद्धावस्था आ जाती है। वृद्धावस्था मर जाय तो देहान्तर-अवस्था अर्थात् दूसरे शरीरकी प्राप्ति हो जाती है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २। १३)

बाल, युवा और वृद्ध—ये तीन अवस्थाएँ स्थूलशरीरकी हैं और देहान्तरकी प्राप्ति सूक्ष्म तथा कारणशरीरकी है। देहान्तरकी प्राप्ति (मृत्यु) होनेपर स्थूलशरीर तो छूट जाता है, पर सूक्ष्म तथा कारणशरीर नहीं छूटते। जबतक मुक्ति न हो, तबतक सूक्ष्म तथा कारणशरीरसे सम्बन्ध बना रहता है। तात्पर्य है कि हमारा वास्तविक स्वरूप स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण—इन तीनों शरीरोंसे तथा इनकी अवस्थाओंसे अतीत है। शरीर और उसकी अवस्थाएँ बदलती हैं, पर स्वरूप वही-का-वही रहता है। जन्मना और मरना हमारा धर्म नहीं है, प्रत्युत शरीरका धर्म है। हमारी आयु अनादि और अनन्त है, जिसके अन्तर्गत अनेक शरीर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। हमारी स्वतन्त्रता और असंगता स्वत:सिद्ध है। असंग (निर्लिप्त) होनेके कारण ही हम अनेक शरीरोंमें जानेपर भी वही रहते हैं, पर शरीरके साथ संग मान लेनेके कारण हम अनेक शरीरोंको धारण करते रहते हैं। माना हुआ संग तो टिकता नहीं, पर हम नया-नया संग पकड़ते रहते हैं। अगर नया संग न पकड़ें तो मुक्ति स्वत:सिद्ध है।

बालिके मरनेपर भगवान् श्रीराम तारासे कहते हैं—

तारा बिकल देखि रघुराया।
दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया॥
छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा।
जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
उपजा ग्यान चरन तब लागी।
लीन्हेसि परम भगति बर मागी॥

(मानस, किष्किन्धा० ११। २-३)

देश बदलता है, काल बदलता है, वस्तुएँ बदलती हैं, व्यक्ति बदलते हैं, अवस्थाएँ बदलती हैं, परिस्थितियाँ बदलती हैं, घटनाएँ बदलती हैं, पर हम नहीं बदलते। हम निरन्तर वही रहते हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ बदलती हैं, पर तीनों अवस्थाओंमें हम एक ही रहते हैं, तभी हमें तीनों अवस्थाओंका और उनके परिवर्तन (आरम्भ और अन्त)-का ज्ञान होता है। स्थूल दृष्टिसे विचार करें तो जैसे हम हरिद्वारसे रायवाला आये और फिर रायवालासे ऋषिकेश आये। अगर हरिद्वारमें या रायवालामें अथवा ऋषिकेशमें ही रहनेवाले होते तो हरिद्वारसे ऋषिकेश कैसे आते? अत: हम न तो हरिद्वारमें रहनेवाले हुए, न रायवालामें रहनेवाले हुए और न ऋषिकेशमें ही रहनेवाले हुए, प्रत्युत तीनोंसे अलग हुए। हरिद्वार, रायवाला और ऋषिकेश तो अलग-अलग हुए, पर हम उन तीनोंको जाननेवाले एक ही रहे। ऐसे ही हम सभी अवस्थाओंमें एक ही रहते हैं। इसलिये हमें बदलनेवालेको न देखकर रहनेवाले (स्वरूप)-को ही देखना चाहिये—

रहता रूप सही कर राखो बहता संग न बहीजे।

जैसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीनों शरीर अपने नहीं हैं, ऐसे ही स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरता तथा समाधि भी अपनी नहीं है। कारण कि प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। प्रत्येक चिन्तन आता और जाता है। स्थिरताके बाद चंचलता तथा समाधिके बाद व्युत्थान होता ही है। क्रिया, चिन्तन, स्थिरता और समाधि—कोई भी अवस्था निरन्तर नहीं रहती। इन सबके आने-जानेका अनुभव तो हम सबको होता है, पर अपने आने-जानेका, परिवर्तनका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। हमारा होनापन निरन्तर रहता है।

विचार करें, जब चौरासी लाख योनियोंमें कोई भी शरीर हमारे साथ नहीं रहा तो फिर यह शरीर हमारे साथ कैसे रहेगा? जब चौरासी लाख शरीर मैं-मेरे नहीं रहे तो फिर यह शरीर मैं-मेरा कैसे रहेगा?

शरीर मेरा नहीं है

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त वस्तुएँ हैं, पर उनमेंसे तिनके-जितनी वस्तु भी हमारी नहीं है, फिर शरीर हमारा कैसे हुआ? यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु मिलती है और बिछुड़ जाती है, वह अपनी नहीं होती। शरीर मिला है और बिछुड़ जायगा, इसलिये वह अपना नहीं है। अपनी वस्तु वही हो सकती है, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें। यदि शरीर अपना होता तो यह सदा हमारे साथ रहता और हम सदा इसके साथ रहते। परन्तु शरीर एक क्षण भी हमारे साथ नहीं रहता और हम इसके साथ नहीं रहते।

एक वस्तु अपनी होती है और एक वस्तु अपनी मानी हुई होती है। भगवान् अपने हैं; क्योंकि हम उन्हींके अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। वे हमसे कभी बिछुड़ते ही नहीं। परन्तु शरीर अपना नहीं है, प्रत्युत अपना माना हुआ है। जैसे नाटकमें कोई राजा बनता है, कोई रानी बनती है, कोई सिपाही बनते हैं तो वे सब नाटक करनेके लिये माने हुए होते हैं, असली नहीं होते। ऐसे ही शरीर संसारके व्यवहार (कर्तव्य-पालन)-के लिये अपना माना हुआ है। यह वास्तवमें अपना नहीं है। जो वास्तवमें अपना है, उस परमात्माको तो भुला दिया और जो अपना नहीं है, उस शरीरको अपना मान लिया—यह हमारी बहुत बड़ी भूल है। शरीर चाहे स्थूल हो, चाहे सूक्ष्म हो, चाहे कारण हो, वह सर्वथा प्रकृतिका है। उसको अपना मानकर ही हम संसारमें बँधे हैं।

परमात्माका अंश होनेके नाते हम परमात्मासे अभिन्न हैं। प्रकृतिका अंश होनेके नाते शरीर प्रकृतिसे अभिन्न है। जो अपनेसे अभिन्न है, उसको अपनेसे अलग मानना और जो अपनेसे भिन्न है, उसको अपना मानना सम्पूर्ण दोषोंका मूल है। जो अपना नहीं है, उसको अपना माननेके कारण ही जो वास्तवमें अपना है, वह अपना नहीं दीखता।

यह हम सबका अनुभव है कि शरीरपर हमारा कोई वश (अधिकार) नहीं चलता। हम अपनी इच्छाके अनुसार शरीरको बदल नहीं सकते, बूढ़ेसे जवान नहीं बना सकते, रोगीसे नीरोग नहीं बना सकते, कमजोरसे बलवान् नहीं बना सकते, कालेसे गोरा नहीं बना सकते, कुरूपसे सुन्दर नहीं बना सकते, मृत्युसे बचाकर अमर नहीं बना सकते। हमारे न चाहते हुए भी, लाख प्रयत्न करनेपर भी शरीर बीमार हो जाता है, कमजोर हो जाता है, बूढ़ा हो जाता है और मर भी जाता है। जिसपर अपना वश न चले, उसको अपना मान लेना मूर्खता ही है।

शरीर मेरे लिये नहीं है

शरीर नाशवान् है और हमारा स्वरूप अविनाशी है। अविनाशी तत्त्वके लिये अविनाशी वस्तु ही हो सकती है। नाशवान् वस्तु अविनाशीके लिये कैसे हो सकती है? अविनाशीके क्या काम आ सकती है? अमावस्याकी रात्रि सूर्यके क्या काम आ सकती है? सांसारिक शरीर आदि वस्तुएँ संसारके ही काम आती हैं, हमारे काम किंचिन्मात्र भी नहीं आतीं। इसलिये अनन्त ब्रह्माण्डोंमें एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो हमारी और हमारे लिये हो। अतः शरीर मेरे लिये है, शरीरसे मेरेको कोई लाभ हो जायगा—यह कोरा वहम है।

शरीर केवल कर्म करनेका साधन है और कर्म केवल संसारके लिये ही होता है। जैसे कोई लेखक जब लिखने बैठता है, तब वह लेखनीको ग्रहण करता है और लिखना बन्द करनेपर लेखनीको छोड़ देता है, ऐसे ही हमें कर्म करते समय शरीरको स्वीकार करना चाहिये और कर्म समाप्त होते ही शरीरसे असंग हो जाना चाहिये। अगर हम कुछ भी न करें तो शरीरकी क्या जरूरत है? अगर हम कोई कर्म

न करें तो शरीरका कोई उपयोग नहीं है। शरीर परिवारकी, समाजकी अथवा संसारकी सेवाके लिये है, अपने लिये है ही नहीं। स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरता तथा समाधि भी हमारे लिये नहीं है। हमारे काम न क्रिया आती है, न चिन्तन आता है, न स्थिरता आती है, न समाधि आती है। ये सब प्राकृत वस्तुएँ हैं और संसारके ही काम आती हैं। हमारा स्वरूप इनसे अलग है।

अगर शरीर हमारे लिये होता तो उसके मिलनेपर हमें सन्तोष हो जाता, हमारे भीतर और कुछ पानेकी इच्छा नहीं रहती और शरीरसे कभी वियोग भी नहीं होता, वह सदा ही हमारे साथ रहता। परन्तु यह सबका अनुभव है कि शरीर मिलनेपर भी हमें सन्तोष नहीं होता, हमारी इच्छाएँ समाप्त नहीं होतीं, हमें पूर्णताका अनुभव नहीं होता और शरीर भी सदा हमारे साथ नहीं रहता, प्रत्युत हमारेसे बिछुड़ जाता है। इसलिये शरीर हमारे लिये नहीं है।

यहाँ शंका हो सकती है कि जब शरीर हमारे लिये है ही नहीं, तो फिर शास्त्रोंमें मनुष्यशरीरकी महिमा क्यों गायी गयी है? इसका समाधान है कि वास्तवमें वह महिमा शरीर (आकृति)-की नहीं है, प्रत्युत विवेककी है। आकृतिका नाम मनुष्य नहीं है, प्रत्युत विवेकशक्तिका नाम मनुष्य है। मनुष्य-शरीरका मस्तिष्क विशेष प्रकारसे बना हुआ है, जिसमें सत् और असत्, कर्तव्य और अकर्तव्यका विवेक विशेषरूपसे प्रकट हो सकता है। वैसा मस्तिष्क अन्य शरीरोंमें नहीं है। अन्य (पशु आदि) शरीरोंका विवेक उनके जीवन-निर्वाहतक सीमित रहता है। इसलिये मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है और शरीर मेरे लिये है—इस विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग मनुष्य ही कर सकता है।

उपसंहार

शरीरको मैं, मेरा और मेरे लिये मानना विवेकविरोधी सम्बन्ध है। विवेकविरोधी सम्बन्धको रखते हुए कोई भी साधक सिद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता। शरीरके साथ सम्बन्ध रखते हुए कोई कितनी ही तपस्या कर ले, समाधि लगा ले, लोक-लोकान्तरोंमें घूम आये अथवा यज्ञ, दान आदि बड़े-बड़े पुण्यकर्म कर ले, तो भी उसका बन्धन सर्वथा नहीं मिट सकता। परन्तु शरीरके सम्बन्धका त्याग होते ही बन्धन मिट जाता है और सत्य तत्त्वकी अनुभूति हो जाती है। इसलिये विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग किये बिना साधकको चैनसे नहीं बैठना चाहिये। अगर हम शरीरसे माने हुए सम्बन्धका त्याग न करें तो भी शरीर हमारा त्याग कर ही देगा। जो हमारा त्याग अवश्य करेगा, उसका त्याग करनेमें क्या कठिनाई है? किसी भी मार्गका साधक क्यों न हो, उसे इस सत्यको स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है। कारण कि शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही मूल बन्धन अथवा दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है।

शरीर संसारकी वस्तु है। संसारकी वस्तुको मैं, मेरा और मेरे लिये मान लेना बेईमानी है और इसी बेईमानीका दण्ड है—जन्म-मरणरूप महान् दुःख। इसलिये साधकका कर्तव्य है कि वह ईमानदारीके साथ संसारकी वस्तुको संसारकी ही मानते हुए उसे संसारकी सेवामें अर्पित कर दे और भगवान्‌की वस्तुको अर्थात् अपने-आपको भगवान्‌का ही मानते हुए भगवान्‌के समर्पित कर दे। ऐसा करनेमें ही मनुष्यजन्मकी पूर्ण सार्थकता है।

१७. अपना किसे मानें ?

सच्चे हृदयसे स्वीकार कर लें कि हम भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं। भगवान्‌ने जीवको खास अपना अंश बताया है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। अंश होनेके नाते हम खास भगवान्‌के हैं। भगवान्‌के सिवाय दूसरी चीजको अपनी मानना बहुत बड़ी गलती है। भगवान्‌के सिवाय दूसरा सब क्षणभंगुर है, नाशवान् है। यद्यपि वह क्षणभंगुर, नाशवान् भी भगवान्‌की ही अपरा प्रकृति है, पर हम उसको भगवान्‌की वस्तु न मानकर भोग और संग्रहकी दृष्टिसे देखते हैं।

संसार भगवान्‌का है। उसको अपने भोग और संग्रहके लिये मानना बहुत बड़ी गलती है। संसार तो खिलौना है, खेलकी सामग्री है। खिलौना कोई तत्त्व नहीं होता। वह तो खेलके लिये होता है। उसमें कभी हार होती है, कभी जीत होती है। हार और जीत कोई तत्त्व नहीं रखते। तत्त्वकी चीज तो एक परमात्मा ही हैं। उस परमात्माकी विलक्षणताका पूरा वर्णन कोई कर सकता ही नहीं। वह अनन्त है, अपार है, असीम है। आज दिनतक वेद-पुराणादि शास्त्रोंमें परमात्माका जो वर्णन हुआ है, वह सब-का-सब इकट्ठा कर लिया जाय तो उससे परमात्माके किसी छोटे अंशका भी वर्णन नहीं होगा! ऐसे अनन्त, अपार परमात्माका वर्णन तो नहीं कर सकते, पर उनको अपना मान सकते हैं। इसलिये मीराबाईने कहा—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'***। यह असली तत्त्वकी, समझकी बात है। भगवान् हमारे हैं और सदा हमारे ही रहेंगे। हम कहीं भी चले जायँ, वे सदा हमारे साथमें ही रहते हैं। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई हमारे साथ रहता ही नहीं, रह सकता ही नहीं, फिर भगवान्‌के सिवाय और किसको अपना मानें? अन्तमें भगवान्‌को ही अपना मानना पड़ेगा। ऐसा साथी और कोई मिलेगा नहीं। विचार करें, क्या शरीर हरदम साथमें रहेगा? क्या घर-कुटुम्ब सदा साथमें रहेगा? क्या जमीन-जायदाद सदा साथमें रहेगी? क्या आदर-सत्कार,मान-बड़ाई सदा साथमें रहेगी? जब हमारे साथ रहनेवाली कोई चीज है ही नहीं, तो फिर किससे अपनापन करें? किससे प्रेम करें? किसको अपना समझें? अब चाहे परवश, पराधीन, मजबूर, लाचार होकर ही क्यों न मानना पड़े, हमें परमात्माको ही अपना मानना पड़ेगा! कोई साथमें रहनेवाला है ही नहीं तो क्या करें? साथमें रहनेवाला एक ही है, और वह है—परमात्मा। हम चौरासी लाख योनियोंमें जायँ, स्वर्गमें जायँ, नरकोंमें जायँ, किसी भी लोकमें जायँ, तो भी वह हमारा साथ कभी छोड़ता नहीं। हमारा साथ छोड़ना उसको आता ही नहीं! परमात्मामें अनन्त सामर्थ्य है, पर हमारा साथ छोड़नेकी उसमें सामर्थ्य ही नहीं है! इस विषयमें वह लाचार है! सन्त-महात्माओंने इस बातको ठीक तरहसे जानकर ही भगवान्‌को अपना माना है, उनसे प्रेम किया है!

भगवान्‌के समान साथी कोई नहीं मिलेगा, कभी नहीं मिलेगा, कहीं नहीं मिलेगा। आपको जँचे या न जँचे, यह बात अलग है, पर बात यही सच्ची है। भगवान्‌ने भी साफ कह दिया—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा स्वयं मेरा ही सनातन अंश है।'

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी कहा है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। २)

ईश्वरका अंश होनेसे जीव अविनाशी है, चेतन है, मलरहित है और सहज सुखराशि है। परन्तु मिलने और बिछुड़नेवाले पदार्थोंको अपना मानकर यह दुःख पा रहा है। यह कभी माताका वियोग होनेसे रोता है, कभी पिताका वियोग होनेसे रोता है, कभी स्त्रीका

वियोग होनेसे रोता है, कभी पुत्रका वियोग होनेसे रोता है, कभी मित्रका वियोग होनेसे रोता है! यह सोचता ही नहीं कि जिनसे रोना पड़े, ऐसोंको अपना साथी क्यों बनाऊँ? संसारके सभी सम्बन्ध सेवा करनेके लिये हैं, अपना माननेके लिये नहीं। उनको अपना मानोगे तो एक दिन रोना ही पड़ेगा। जिनको हम अपना प्रिय मानते हैं, वे एक दिन हमें रुलायेंगे—'**प्रियं रोत्स्यति**' (बृहदारण्यक० १।४।८)। इसलिये हमें ऐसा साथी बनाना चाहिये, जिसके लिये कभी रोना पड़े ही नहीं। पीछे रोना पड़े, ऐसी भूल करें ही क्यों? कोई बालक या जवान मर जाता है तो बूढ़ी माताएँ कहती हैं कि हमने ऐसा नहीं जाना था कि यह हमारेको छोड़ जायगा! नहीं जाना था तो अब जान जाओ कि ये सभी जानेवाले हैं। अब ऐसा साथी बनाओ कि कभी छोड़कर जाय ही नहीं। ऐसा साथी केवल भगवान् ही हैं। भगवान् कभी बदलते ही नहीं, कभी बूढ़े होते ही नहीं, कभी उनके सफेद बाल होते ही नहीं, कभी मरते ही नहीं। उनका बनाया हुआ संसार तो सेवा करनेके लिये है। सेवा करनेकी सामग्रीको भोग-सामग्री समझ लेना गलती है। जिस वस्तुका संयोग और वियोग होता है, वह वस्तु अपनी और अपने लिये होती ही नहीं। उसको केवल सेवाके लिये ही मानो। आज मानो तो आज निहाल हो जाओगे। जैसे मनुष्य दान-पुण्यके लिये पैसे निकालता है तो उसके भीतर यह भाव रहता है कि यह पैसा अपने लिये नहीं है, देनेके लिये है। ऐसे ही संसारकी सब वस्तुओंके लिये मान लो कि ये अपने लिये नहीं हैं, सेवाके लिये हैं। उनसे अपना शरीर-निर्वाह करनेमें कोई हर्ज नहीं है। उनसे अपना निर्वाह तो करो, पर उनको अपना साथी मत मानो।

आप प्रत्यक्ष देखते हैं कि किसीका भी शरीर सदा नहीं रहता। आपके सामने वस्तु नष्ट हो जाती है और आप रोते हैं। इसलिये इतना विचार तो होना चाहिये कि जिसके बिछुड़नेपर रोना पड़े, उसको अपना न मानें। आपके पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो कुछ है, वह सब-का-सब दूसरोंकी सेवाके लिये ही है, अपने लिये है ही नहीं। ऐसी स्पष्ट बात सुगमतासे पढ़ने-सुननेको नहीं मिलती। मेरेको तो व्याख्यान देते हुए भी वर्षोंतक नहीं मिली। स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली समाधि दूसरोंके लिये ही है, अपने लिये है ही नहीं। इनके द्वारा कभी अपनी तृप्ति नहीं होती, चाहे लाखों-करोड़ों, अरबों-खरबों वर्ष क्यों न बीत जायँ! ये सब नाशवान् हैं और आप सब साक्षात् परमात्माके अंश हैं। चौरासी लाख योनियाँ भुगतते हुए सब शरीर छूट गये तो क्या यह शरीर नहीं छूटेगा? जिस माटीके वे शरीर थे, उसी माटीका यह शरीर है। यह भी मिला है और बिछुड़ेगा।

इस एक ही बातको ठीक तरहसे मान लो, समझ लो,पक्का कर लो कि जो वस्तु मिलती है और बिछुड़ जाती है, वह अपनी नहीं होती। जैसे बालकपना आपके साथ था, पर वह बिछुड़ गया, ऐसे ही जवानी भी बिछुड़ जायगी, वृद्धावस्था भी बिछुड़ जायगी, रोगावस्था भी बिछुड़ जायगी, नीरोगावस्था भी बिछुड़ जायगी, निर्धनता भी बिछुड़ जायगी, धनवत्ता भी बिछुड़ जायगी। ये सब बिछुड़नेवाली चीजें हैं।

विचार करें, क्या यह शरीर बिछुड़नेवाला नहीं है? क्या धन-सम्पत्ति बिछुड़नेवाली नहीं है? क्या घर, जमीन, रुपये, कुटुम्ब आदि बिछुड़नेवाले नहीं हैं? क्या ये आपसे अलग नहीं होंगे? क्या आप इनसे अलग नहीं होंगे? अभी आपके जितने साथी हैं, क्या ये सदा आपके साथ रहेंगे? जो आपसे अलग होनेवाले हैं, उनकी सेवा करो, उनको सुख-आराम पहुँचाओ, उनसे अच्छा बर्ताव करो। सदा साथ रहनेवाले एक भगवान् ही हैं। उनको आप चाहे सगुण मानो, चाहे निर्गुण मानो, चाहे द्विभुज मानो, चाहे चतुर्भुज मानो, आपकी जैसी मरजी हो, वैसा मानो। वे ही सदा साथ रहनेवाले हैं। उनके सिवाय और कोई साथ रहनेवाला नहीं है। उनके सिवाय सब बिछुड़नेवाले हैं। अच्छे-अच्छे सन्त-महात्माओंका

भी शरीर नहीं रहा, फिर आपका शरीर कैसे रह जायगा? आज दिनतक ऐसी रीत चली आ रही है, अब क्या कोई नयी रीत हो जायगी? जानेवालेमें मोह मत करो। मोह करोगे तो रोना पड़ेगा।

हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं। हम और किसीके नहीं हैं, और कोई हमारा नहीं है। इस बातको आज मान लो तो आज ही सुखी हो जाओगे। सेवा करनेके लिये सब अपने हैं। सब भगवान्‌के प्यारे हैं, इसलिये सबकी सेवा करो। भगवान्‌ने कहा है—*'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'* (मानस, उत्तर० ८६। २)। सबकी सेवा करो, पर किसीको अपना मत मानो। आपका रोना, दुःख छूट जायगा। अगर आपसे मोह न छूटे तो सच्चे हृदयसे भगवान्‌को पुकारो कि हे नाथ! हे मेरे नाथ! मैं आफतमें फँस गया! मेरी यह आफत छुड़ाओ! भगवान् अवश्य छुड़ा देंगे।

१८. सब कुछ परमात्माका है

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(७। ४-५)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पंचमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी अपरा प्रकृति है। हे महाबाहो! इस अपरा प्रकृतिसे भिन्न जीवरूप बनी हुई मेरी परा प्रकृतिको जान, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।'

सृष्टिमात्रमें इन आठ चीजोंके सिवाय कुछ नहीं है। ये आठों परमात्माकी प्रकृति (स्वभाव) होनेसे परमात्माका ही स्वरूप हैं। पंचमहाभूतोंसे बना हुआ शरीर और मन, बुद्धि तथा अहंकार भी भगवान्‌के ही हुए। इनको हम अपना मान लेते हैं—यही गलती है। जीव भी परमात्माकी प्रकृति होनेसे परमात्माका ही स्वरूप हुआ। आप विचार करें, आठ प्रकारकी अपरा प्रकृति, जीव और परमात्मा—इन दसके सिवाय और क्या है? सब कुछ परमात्मा ही हुए—'सब जग ईश्वररूप है' **'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब-के-सब परमात्माके हैं। इनको अपना मानकर ही हम बन्धनमें पड़े हैं। इनको अपना मत मानो तो आपको बन्धन बिलकुल नहीं होगा। आप मनको सर्वथा भगवान्‌का ही मान लो तो मनके विकार आपको नहीं लगेंगे। मनके सुख-दुःख आपको नहीं लगेंगे। जब सब कुछ भगवान्‌का ही है, आपका कुछ है ही नहीं, फिर आपका किसीसे क्या लेना-देना? आपका काम यही है कि भगवान्‌की प्रकृतिको अपना मत मानो। मनको अपना मत मानो, बुद्धिको अपना मत मानो, अहंकारको अपना मत मानो। यह काम आप चाहे अभी करो, चाहे वर्षोंके बाद अथवा जन्मोंके बाद करो! इन वस्तुओंको अपना मानते ही आपपर आफत आयेगी! नहीं तो कुत्तेके मनका विकार आपको लगता है क्या? मनको अपना मानते ही विकार लगता है। इतनी ही बात आपको समझनी है! मैं आपको यही बात कहना चाहता हूँ कि सम्पूर्ण जगत् परमात्माका स्वरूप है। इसलिये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकारको आप अपना मत मानो। इनको भगवान्‌के अर्पित करनेमें क्या बाधा है? किंचिन्मात्र भी बाधा नहीं है; क्योंकि सब वस्तुएँ हैं ही भगवान्‌की। उनको अपना मानना ही गलती है, जिसके फलस्वरूप पाप-पुण्य तथा जन्म-मरण होते हैं। उनको अपना मत मानो तो कोई बन्धन नहीं रहेगा, कल्याण हो जायगा।

किसीको अपना मानने या न माननेमें मनुष्य

सर्वथा स्वतन्त्र है, परतन्त्र है ही नहीं। आप धर्मशालामें रहते हैं, सब काम करते हैं, पर भीतरसे मानते हैं कि यह मेरा नहीं है। राजकीय वस्तुको कोई अपनी मान लेता है तो उसको दण्ड मिलता है। उसको अपनी न मानकर उचित व्यवहार करे तो दण्ड क्यों मिलेगा? अगर आपको अपना कल्याण करना है, जन्म-मरणमें नहीं जाना है तो इतनी-सी बात मान लो कि सब वस्तुएँ भगवान्‌की हैं, मेरी नहीं हैं। भगवान् भी कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

(गीता ७। ७)

'हे धनंजय! मेरे सिवाय इस जगत्‌का दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी (कारण तथा कार्य) नहीं है।'

अगर अपना उद्धार करना हो तो सच्ची बातको स्वीकार कर लो कि सब कुछ भगवान्‌का है। स्वीकार करना या न करना आपकी मरजीके अधीन है। शरीरको आपने अपना मान लिया, पर यह आपका है नहीं। एक दिन शरीर छूट जायगा, मर जायगा और लोग इसको जला देंगे। जैसे मरनेके समय यह आपके साथ नहीं रहेगा, ऐसे अब भी यह आपके साथ नहीं है। इतनी-सी बात आप स्वीकार कर लो तो सब काम ठीक हो जायगा। आप कह सकते हैं कि हमारेसे स्वीकार नहीं होता। परन्तु यह बात आपके भीतर खटकनी चाहिये कि स्वीकार क्यों नहीं होता! इसपर आपका वश चलता है क्या? इसका रात-दिन विचार होना चाहिये। फिर स्वीकार हो जायगा। कारण कि सच्ची बात मिट नहीं सकती। दो और दो चार ही होंगे, तीन या पाँच नहीं हो सकते। आप मकानको अपना मानते हो, पर जब उसको बेच देते हो, तब उसको अपना मानते हो क्या? आप खुद विचार करो कि कौन-सी बात सच्ची है! सच्ची बातको स्वीकार करनेमें बाधा क्या है? आपके मनमें उत्कण्ठा होनी चाहिये कि अब तो मैं सच्ची बात मानूँगा। चाहे आज मानो, चाहे वर्षोंके बाद मानो, चाहे जन्मोंके बाद मानो, कभी-न-कभी सच्ची बातको मानना ही पड़ेगा। जबतक सच्ची बातको नहीं मानोगे, तबतक सुखी नहीं हो सकते। दु:ख पाना ही पड़ेगा। सच्ची बातको माने बिना पिण्ड नहीं छूटेगा। जब सच्ची बात माने बिना कभी शान्ति मिलेगी नहीं, तो फिर झूठी बात क्यों मानें? जब कभी कल्याण होगा तो सच्ची बातको माननेसे ही होगा।

रामानंद आनंद से सिंवरया सरसी काज।
भावे सिंवरो काल ही, भावे सिंवरो आज॥

यह आपके कल्याणकी बात है, इसलिये आपके हितके लिये ही कहता हूँ। आप मान लोगे तो मेरेको क्या मिल जायगा? आप नहीं मानोगे तो मेरेको क्या घाटा पड़ जायगा? मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप सच्ची बात मान लो। सच्ची बातको पहले स्वीकार कर लो, फिर वह वैसी ही दीखने लग जायगी। मन-बुद्धि आदि सबको भगवान्‌का मान लो तो आपका सांसारिक व्यवहार भी बढ़िया होगा। किसी प्रकारका कोई नुकसान नहीं होगा। अगर आपको विश्वास न होता हो तो मेरेसे सौदा कर लो, जो नफा होगा, वह आपका और जो नुकसान होगा, वह मेरा! आप यह तो कह सकते हैं कि बात हमारे माननेमें नहीं आती, पर बात यह सच्ची है, यह तो आप स्वीकार कर ही सकते हैं। स्वीकार करनेमें क्या नुकसान है?

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—ऐसा अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। दुर्लभ होनेके कारण यह बात हमारे माननेमें नहीं आती तो कोई हर्ज नहीं। आपके भीतर यह इच्छा जाग्रत् रहनी चाहिये कि यह बात हमारे माननेमें कैसे आये! एकान्तमें, अकेले बैठकर विचार करो। सच्ची बातको स्वीकार कर लो तो जिसको भगवान्‌ने दुर्लभ महात्मा कहा है, वह महात्मा आप बन जाओगे। सच्ची बातको काटनेकी चेष्टा न करके जाननेकी चेष्टा करो। आपका व्यवहार भी ठीक हो जायगा, परमार्थ भी ठीक हो जायगा।

सच्ची बातको स्वीकार कर लो तो वह माननेमें आ ही जायगी, चाहे आज आ जाय या दिनोंके बाद, महीनोंके बाद अथवा वर्षोंके बाद! सच्ची बात अनुभवमें आयेगी ही—यह नियम है। इसलिये सच्ची बातको आज ही और अभी स्वीकार कर लो।

सब कुछ परमात्मा ही हैं—इस बातको स्वीकार करना है। सच्ची बातको स्वीकार करनेमें हिम्मत नहीं हारनी चाहिये। आप मानो चाहे नहीं मानो, सच्ची बात अन्तमें सच्ची ही रहेगी। अगर आप मान लो तो बड़ा भारी लाभ है। अगर आज मान लो और आज ही मृत्यु हो जाय तो भी मानी हुई बात नष्ट नहीं होगी। सच्ची बातकी जितनी स्वीकृति हो गयी, उतनी स्वीकृति किसी भी जन्ममें मिटेगी नहीं। किसी भी जन्ममें जाओ, वहीं तैयार मिल जायगी—**'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः'** (गीता ६। ४४)। सच्ची बात आपने जितनी स्वीकार कर ली, उतनी आपके पास पूँजी हो गयी। अब वह कभी मिटेगी नहीं। सत्संगके संस्कार कभी मिटते नहीं। आप चाहें तो इसी जन्ममें सच्ची बातकी स्वीकृति हो जायगी। सच्ची बात कभी मिटती नहीं और झूठी बात टिकती नहीं। हरदम इस बातका मनन करो कि सच्ची बात यही है तो चट काम हो जायगा। जैसे दूर कोई मन्दिर हो और वहाँ जानेका सीधा रास्ता हो तो हम वहाँ पहुँच ही जायँगे। ऐसे ही हमें **'वासुदेवः सर्वम्'** (सब कुछ परमात्मा ही है)—यहाँतक पहुँचना है। कारण कि अन्तिम, सर्वश्रेष्ठ और सच्ची बात यही है। यह भगवान्‌के वचन हैं। भगवान्‌के समान हमारा सुहृद् कोई है नहीं, हो सकता नहीं। इसलिये इस बातको आप सरलतासे, सच्चे हृदयसे अभी स्वीकार कर लो।

---

१९. सच्ची बात

एक साधकका प्रश्न आया है कि सब कुछ भगवान् ही हैं—यह बात बुद्धिसे तो समझमें आती है, पर इसका स्वयंसे अनुभव कैसे हो? स्वयंसे अभी अनुभव न हो तो कोई बात नहीं, चिन्ता मत करो। बुद्धिसे भी समझमें आये या न आये, आप इतना मान लो कि बात यही सच्ची है। हमारे अनुभवमें नहीं आयी, समझमें नहीं आयी तो भी बात तो यही है। हमारी समझमें कमी है, तत्त्वमें कमी नहीं है। इसलिये सच्ची बात अवश्य बैठेगी, हटेगी नहीं। और किसीके कहनेसे माननेमें न आये तो मेरे कहनेसे मान लो। इसमें अभ्यास नहीं है। अभ्याससे अनुभव नहीं होता; क्योंकि अभ्यास जड़से होता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके बिना अभ्यास नहीं होता। जड़से चेतनकी प्राप्ति नहीं होती। चेतनकी प्राप्ति चेतनसे ही होती है। जड़से सांसारिक काम होता है। परमात्माको तो केवल मानना है, स्वीकार करना है; क्योंकि वह तो है ही ऐसा! यह गंगाजी है—इसमें अभ्यास क्या है? पहले हम इसको एक नदी मानते थे। अब किसीने बता दिया कि यह गंगाजी है तो माननेमें क्या जोर आया? ऐसे ही मान लो कि यह सब परमात्मा है। हमें अनुभव हो या न हो, बुद्धिमें आये या न आये, पर सच्ची बात तो सच्ची ही रहेगी। उसको कोई झूठी कर सकता ही नहीं। कम-से-कम सत्संग करनेवाले भाई-बहन तो इस बातको मान ही सकते हैं।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इसको स्वीकार कर लो, बस, और कुछ नहीं करना है। स्वीकार करनेमात्रसे काम हो जायगा; क्योंकि बात है ही ऐसी। यह किसीकी बनायी हुई नहीं है। यह सब परमात्मा है—यह कच्ची बात नहीं है, पक्की बात है। इसलिये इसमें सन्देह, संशय करनेकी जरूरत नहीं है। इसको एक बार मान लिया तो बस, मान ही लिया! मनुष्य अग्निकी साक्षीमें विवाह करता है। ब्राह्मण

कन्यासे कह देता है कि बेटी! तेरे पति ये हैं तो बस, वह उसको सदाके लिये अपना पति मान लेती है। अपना पति मानते ही उसका गोत्र बदल जाता है। फिर वह माँ बन जाती है, दादी बन जाती है, परदादी बन जाती है। पोते-परपोतेकी बहू आती है तो दादीजी कहती हैं—'**घर खोयो पराई जायी**' इस परायी जायी (पराये घरमें जन्मी) छोकरीने मेरा घर खो दिया, घर बिगाड़ दिया! अब उस दादीजीसे पूछो कि माँजी! आप तो घरजायी हो? दादीजीको याद ही नहीं है कि मैं भी परायी जायी हूँ! वह तो यही देखती है कि मैं दादी-परदादी हूँ और यह मेरा पोता-परपोता है, यह मेरा कुटुम्ब है! इसी तरह आप सच्ची बातको स्वीकार कर लो, फिर सब कुछ हो जायगा। भीतरसे स्वीकार कर लो कि यह सब कुछ भगवान् ही हैं। स्वीकृति करनेमें शरीरकी कोई जरूरत नहीं है। शरीर बीमार हो या स्वस्थ, स्वीकृति करनेमें कोई बाधा नहीं लगती। सब कुछ परमात्मा ही हैं—यह स्वीकार कर लो तो 'संसार है'—यह भावना मिट जायगी और परमात्मा ही रह जायँगे, जो कि वास्तवमें हैं।

एक कहानी है। एक लड़का मुंबईमें रहता था। उसके पिताजी दूर गाँवमें रहते थे। एक बार वह लड़का बीमार हो गया। पिताको बीमारीका समाचार मिला तो विचार किया कि चलो, जाकर मिल आयें। दैवयोगसे वे जिस धर्मशालामें ठहरे थे, उनका लड़का भी उसी धर्मशालामें पासवाले कमरेमें ठहर गया। लड़केको बड़ी खाँसी आ रही थी। पिताने व्यवस्थापकको बुलाया और उससे कहा कि पासवाले कमरेमें कोई व्यक्ति खाँस रहा है, जिससे मेरेको नींद नहीं आती, इसको यहाँसे निकालो। व्यवस्थापकने उस लड़केको निकाल दिया। दूसरा कोई कमरा खाली था नहीं। अत: वह लड़का बेचारा बाहर जाकर बैठ गया। सुबह होनेपर पिता बाहर निकला। बाहर लड़केको बैठा हुआ देखा तो बोला! अरे! यह तो मेरा बेटा है! वह उसको अपने कमरेमें ले गया। जो लड़का पड़ोसमें नहीं सुहाता था, उसको अब वह अपने कमरेमें ले गया! पहले पता नहीं था कि यह मेरा ही बेटा है, अब पता लग गया तो इसमें क्या देरी लगी? क्या अभ्यास करना पड़ा? ऐसे ही आप मेरे कहनेसे मान लो कि यह सब परमात्मा ही है।

गेहूँके खेतमें अनजान आदमीको घास दीखती है, पर जानकार आदमीको गेहूँ दीखता है। कारण कि मूलमें वह गेहूँ ही था और अन्तमें उसमेंसे गेहूँ ही आयेगा। ऐसे ही इस सृष्टिके आरम्भमें भी परमात्मा ही थे और अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे, फिर बीचमें दूसरी चीज कहाँसे आयी? एक परमात्मा ही अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। इसलिये मन भी वही है, बुद्धि भी वही है, प्राण भी वही है, इन्द्रियाँ भी वही है, शरीर भी वही है। स्थूलशरीर भी वही है, सूक्ष्मशरीर भी वही है और कारणशरीर भी वही है। सब कुछ वह परमात्मा ही है। दूसरा कोई है ही नहीं। आपको दीखे या न दीखे, केवल यह मान लें कि परमात्मा ही हैं। फिर दीखने लग जायगा; क्योंकि वास्तवमें है ही वही। इसमें कोई असत्य नहीं है, ठगाई नहीं है, धोखा नहीं है। बिलकुल सच्ची बात है। साक्षात् परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। भगवान्‌ने सृष्टि बनायी तो कहींसे बिल्टी नहीं मँगाई, कहींसे वस्तुएँ नहीं मँगायीं। आप ही आपमेंसे बन गये। एक ही अनेकरूपसे प्रकट हो गये—'**सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।**' (तैत्तिरीय० २। ६)। वे एक भगवान् इतने रूपोंमें हो गये कि उनकी गणना नहीं कर सकते—

रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

(मानस, बाल० २०१)

हरि की लीला बड़ी अपार।
बन गये आप अकेले सब कुछ, नाम धरा संसार॥
मात पिता गुरु स्वामी बनकर, करे डाँट फटकार।
सुत दारा अरु सेवक बनकर, खूब करे सतकार॥ १॥
कभी रोगका रूप बनाकर, बनते आप बुखार।
कभी वैद्य बन दवा खिलाते, आप करे उपचार॥ २॥
कभी भोग सुख मान बड़ाई, हाजिर में नर नार।
कभी दुखोंका पहाड़ पटकते, मचती हाहाकार॥ ३॥

कभी संत बनकर जीवों पर, कृपा दृष्टि विस्तार।
अगनित जनमों का दुख संकट, छन महँ देवे टार॥ ४॥
कभी धरनि पर संतन के हित, धर मानुष अवतार।
अजब अनोखी लीला करते, सुमिरत हो भव पार॥ ५॥
अगनित स्वाँग रचाते हरदम, धन्य बड़े सरकार।
ऐसे परम कृपालू प्रभूको, बिनवउँ बारम्बार॥ ६॥

भगवान् ही अनेक रूपोंमें लीला कर रहे हैं। न मैं है, न तू है, न यह है, न वह है। एक भगवान् ही हैं। मैं भी वही है, तू भी वही है, यह भी वही है, वह भी वही है। उनके सिवाय दूसरा कहाँसे आये? कैसे आये? दूसरा कोई है ही नहीं।

एक साधु थे। वे कहीं जा रहे थे। रास्तेमें लघुशंका करनेके लिये वे एक खेतमें बैठ गये। खेतके मालिकने देखा कि जो हमारे खेतसे मतीरा चुराता है, वह यही है। उसने आकर पीछेसे लाठी मार दी। जब देखा कि ये तो बाबाजी हैं तो माफी माँगने लगा। बाबाजी बोले कि तुमने मेरेको मारा ही नहीं, तुमने तो चोरको मारा है। वह बोला—अब क्या करूँ महाराज! बाबाजी बोले—अब तेरी जैसी मरजी! वह बाबाजीको गाड़ीमें बिठाकर शहरमें ले गया। उनकी मलहम-पट्टी करायी। बादमें एक दूसरा आदमी दूध लेकर आया और बोला कि महाराज! दूध पी लो। बाबाजी बोले—तू बड़ा अजीब है! कभी लाठी मारता है, कभी दूध लाता है! तेरी लीला विचित्र है! वह आदमी बोला कि नहीं महाराज! मैंने लाठी नहीं मारी! बाबाजी बोले कि तू बता, दूसरा आया कहाँसे? तू ही था, मैं जानता हूँ! वह आदमी घबड़ा गया कि बाबाजी मेरेको पकड़ा देंगे, फँसा देंगे! वह बार-बार कहे कि महाराज! मैंने नहीं मारा, पर बाबाजी उसकी बात माननेको राजी नहीं थे। बाबाजी यही कहते कि मैं जानता हूँ, तू ही था! यह सब तेरा ही काम है। बाबाजीकी दृष्टि भगवान्‌पर थी। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई कहाँसे आये?

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह 'अपरा प्रकृति' है और जीव 'परा प्रकृति' है। ये दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌का स्वभाव होनेसे भगवत्स्वरूप ही हैं। इसलिये सब रूपोंमें भगवान्‌को देखकर मस्त हो जाओ! हरदम मौजमें रहो, आनन्दमें रहो! वाह, प्रभु वाह! आनन्द हो गया, कृपा हो गयी कि सब जगह, सब समय आपके ही दर्शन हो रहे हैं! पहले हम इस बातको जानते नहीं थे, अब आपकी कृपासे यह बात मिल गयी! अब पता लग गया कि प्रभो! आप ही हो, आप ही हो, आप ही हो! जड़ भी आप ही हो, चेतन भी आप ही हो। स्त्री भी आप ही हो, पुरुष भी आप ही हो। माँ भी आप ही हो, बाप भी आप ही हो। दादी भी आप ही हो, दादा भी आप ही हो। हमारे सब कुटुम्बी आप ही हो। पशु भी आप ही हो, पक्षी भी आप ही हो। जलचर-नभचर-थलचर भी आप ही हो। उद्भिज्ज-स्वेदज-अण्डज-जरायुज भी आप ही हो। आप ही नदी हो, आप ही पहाड़ हो, आप ही समुद्र हो। आप ही सूर्य हो, आप ही चन्द्रमा हो, आप ही तारा हो। आप ही मनुष्य हो,आप ही असुर हो। आप ही भूत-प्रेत हो, आप ही राक्षस हो, आप ही देवता हो। मैं भी आप ही हूँ, तू भी आप ही हो, यह भी आप ही हो, वह भी आप ही हो। ऊपर भी आप ही हो, नीचे भी आप ही हो। पूर्वमें भी आप ही हो, पश्चिममें भी आप ही हो, उत्तरमें भी आप ही हो, दक्षिणमें भी आप ही हो। ईशानमें भी आप ही हो, नैर्ऋत्यमें भी आप ही हो, आग्नेयमें भी आप ही हो, वायव्यमें भी आप ही हो। भूतकाल भी आप ही हो, वर्तमानकाल भी आप ही हो, भविष्यकाल भी आप ही हो। कालसे अतीत भी आप ही हो। जंगल भी आप ही हो, मैदान भी आप ही हो। इस मण्डप (पण्डाल)-के रूपमें भी आप ही हो। बत्ती भी आप ही हो, पंखा भी आप ही हो। खम्भा भी आप ही हो, वृक्ष भी आप ही हो। मकानरूपमें भी आप ही हो। जो दीखता है, वह भी आप ही हो और जो नहीं दीखता है, वह भी आप ही हो। सिंहरूपमें भी आप ही हो, रीछरूपमें भी आप ही हो, बन्दररूपमें भी

आप ही हो। साधुरूपमें भी आप ही हो, गृहस्थरूपमें भी आप ही हो। अन्नरूपमें भी आप ही हो। तरह-तरहके फलोंके रूपमें भी आप ही हो। भूखमें भी आप ही हो, प्यासमें भी आप ही हो। सोते हुए भी आप ही हो, बैठे हुए भी आप ही हो।

तरह-तरहके रूपोंमें आप ही हो। आपके सिवाय कोई है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। सब रूपोंमें केवल आप-ही-आप हो। राग-रागिनी भी आप ही हो। ताल-स्वर भी आप ही हो। बाजा भी आप ही हो। गानेवाले भी आप ही हो, सुननेवाले भी आप ही हो। वक्ता भी आप ही हो, श्रोता भी आप ही हो। गाँव भी आप ही हो, घर भी आप ही हो। मिट्टी भी आप ही हो, बर्तन भी आप ही हो। अस्त्र-शस्त्र भी आप ही हो। खेल भी आप ही हो, खेलनेवाले भी आप ही हो, खिलौने भी आप ही हो। हे प्रभो! आपने कैसे-कैसे रूप धारण किये हैं। कितने-कितने रूप धारण किये हैं! अनन्त-अनन्त रूपोंमें केवल आप ही हो! आप ही हो!

२०. परमात्मप्राप्तिमें देरी क्यों ?

परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य लेकर चलनेवाले जितने भी मनुष्य हैं, उन सबको परमात्मप्राप्ति होगी, पर कब होगी? कितने जन्मोंके बाद होगी? इसका पता नहीं है। शरीरको अपना और अपने लिये मानते हुए कोई साधन करेगा तो उसको कितने जन्म लेने पड़ेंगे, कितनी योनियाँ भोगनी पड़ेंगी, इसका कुछ पता नहीं है। इसलिये मेरी शुरूसे यही लगन रही है कि मनुष्यको जल्दी परमात्मप्राप्ति कैसे हो? यद्यपि किया हुआ साधन निरर्थक नहीं जाता, तथापि परमात्माकी प्राप्ति जल्दी कैसे हो, यह लगन होनी चाहिये। लगन नहीं होगी तो कई जन्म लग जायँगे। जो वस्तु कल मिलेगी, वह आज मिलनी चाहिये, आज भी अभी मिलनी चाहिये। परमात्मा भी मौजूद हैं, आप भी मौजूद हैं, फिर देरी किस बातकी? परमात्मप्राप्तिमें देरीकी बात मेरेको सुहाती नहीं। जो काम जल्दी हो सके, उसके लिये देरी क्यों? जो काम अभी हो सके, उसके लिये कल क्यों?

श्रीशरणानन्दजी महाराजने लिखा है कि जीव-ब्रह्मकी एकता कभी हुई नहीं, कभी हो सकती नहीं। इसका तात्पर्य है कि जीवपना छूटनेपर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यह सूक्ष्म विवेचन है। इसी तरह कहा जाता है कि साधुको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, गृहस्थको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, ब्राह्मणको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती तो इसका तात्पर्य है कि साधुपनेका अभिमान रहते हुए परमात्मप्राप्ति नहीं होती। ब्राह्मणपनेका अभिमान रखते हुए परमात्मप्राप्ति नहीं होती। अभिमान छूटेगा, तब प्राप्ति होगी। इन सब बातोंको कहनेका तात्पर्य यही है कि परमात्मप्राप्तिमें देरी मत करो। आपके कैसे ही पाप-ताप हों, आप कितने ही दुर्गुणी-दुराचारी हों, पर आपकी लगन लग जाय तो आज परमात्मप्राप्ति हो सकती है।

साध्यकी प्राप्ति साधकको ही हो सकती है, ब्राह्मण, साधु आदिको कैसे होगी? ब्राह्मणको ब्राह्मण-कन्या विवाहके लिये मिल सकती है, पर परमात्मा कैसे मिलेंगे? साधुको भिक्षा मिल सकती है, पर परमात्मा कैसे मिलेंगे? शरीरधारीको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। साधक शरीरधारी नहीं होता और शरीरधारी साधक नहीं होता। अपनेको पुरुष या स्त्री मानेंगे तो परमात्मप्राप्ति कैसे होगी? मैं स्त्री या पुरुष हूँ ही नहीं, मैं तो भगवान्‌का हूँ—ऐसा भाव होगा तो बहुत जल्दी कल्याण हो जायगा। अपनेको स्त्री या पुरुष मानना तो सांसारिक व्यवहार (मर्यादा)-के लिये है। परन्तु पारमार्थिक मार्गमें अपनेको स्त्री या पुरुष मानेंगे तो बहुत देरी लगेगी। चिन्मयकी प्राप्ति चिन्मयको ही होगी, जड़को कैसे हो जायगी?

समताकी प्राप्तिको बहुत ऊँचा बताया गया है।

सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने लिखा है कि गीताके अनुसार अगर समता आ गयी तो दूसरे लक्षण भले ही न आयें, परमात्मप्राप्ति हो जायगी और समता नहीं आयी तो भले ही दूसरे बड़े-बड़े लक्षण आ जायँ, परमात्मप्राप्ति नहीं होगी। वह समता ममताका त्याग करते ही आ जाती है!

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।

(दोहावली ९४)

श्रीशरणानन्दजी महाराजने साफ लिखा है कि ममताको छोड़ते ही समता आ जायगी। दूसरी बात उन्होंने लिखी है कि अपने लिये तप करना भी भोग है और परमात्माके लिये झाड़ू लगाना भी पूजा है! हिरण्यकशिपुने कितनी कठोर तपस्या की! ब्रह्माजीने भी कह दिया कि ऐसी तपस्या आजतक किसीने नहीं की। परन्तु उसको तपस्यासे क्या परमात्मप्राप्ति हो गयी? उसका परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य ही नहीं था। इन बातोंका तात्पर्य परमात्मप्राप्ति जल्दी करनेमें है।

अगर परमात्माकी प्राप्ति करना चाहते हो तो अपनेको स्त्री या पुरुष न मानकर अपना सम्बन्ध परमात्माके साथ जोड़ो। शरीर तो मिला है और बिछुड़ जायगा। इस शरीरमें ही आप अटक जाओगे तो फिर परमात्मप्राप्ति कैसे होगी? परमात्माकी प्राप्ति तब होगी, जब परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़ोगे। कोई कपूत हो या सपूत हो, पूत तो वह है ही। कपूत भी बेटा है, सपूत भी बेटा है। अतः हम कैसे ही हों, अच्छे हों या मन्दे हों, परमात्माके ही हैं। परमात्माकी प्राप्ति न स्त्रीको होती है, न पुरुषको होती है। विवाह करना हो तो अपनेको स्त्री-पुरुष मानो। स्त्रीको पुरुष मिलेगा, परमात्मा कैसे मिलेंगे? पुरुषको स्त्री मिलेगी, परमात्मा कैसे मिलेंगे? परमात्मा तो साधकको मिलेंगे। साधक स्वयं होता है, शरीर नहीं होता। मुक्ति भी स्वयंकी होती है, शरीरकी नहीं होती। अतः हम न स्त्री हैं, न पुरुष हैं, प्रत्युत हम परमात्माके हैं। परमात्मा हमारे हैं। हम और किसीके नहीं हैं। और कोई हमारा नहीं है। जिसको प्राप्त करना हो, उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिये। इसलिये परमात्माके साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ो। परमात्माकी प्राप्तिमें स्त्रीपना और पुरुषपना—दोनों ही बाधक हैं। अपनेको स्त्री या पुरुष माननेवाला तो शरीरमें ही बैठा है, फिर उसको परमात्मा कैसे मिलेंगे? मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं—यह मान लो तो बड़ा भारी काम हो गया! यह मामूली साधन नहीं हुआ है। भगवान्‌की और आपकी जाति एक हो गयी, जो कि वास्तवमें है।

जाति, कुल, विद्या, सम्प्रदाय आदिका अभिमान परमात्माकी प्राप्तिमें बहुत बाधक है। भगवान् जिस जातिके हैं, उसी जातिके हम हैं। भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध असली है, बाकी सब सम्बन्ध नकली हैं। हम भगवान्‌के अंश हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)। हम संसारके अंश नहीं हैं। हम साक्षात् भगवान्‌के बेटा-बेटी हैं। सांसारिक स्त्री-पुरुष तो हम बादमें बने हैं—***'सो मायाबस भयउ गोसाईं'*** (मानस, उत्तर० ११७। २)।

यहाँ शंका हो सकती है कि 'मैं भगवान्‌की बेटी हूँ'—ऐसा माननेसे अपनेमें स्त्रीभाव रह जायगा! वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। अगर भगवान्‌के साथ सम्बन्ध माननेसे स्त्रीभाव रह भी जाय तो वह मिट जायगा। भगवान्‌का सम्बन्ध ऐसा विलक्षण है कि सभी सम्बन्धोंको काट देता है। कारण कि सब सम्बन्ध झूठे हैं, पर भगवान्‌का सम्बन्ध सच्चा है। भगवान्‌ने कहा है कि जीव केवल मेरा ही अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'**। सच्ची बातके आगे झूठी बात कैसे टिकेगी? परन्तु आप 'मैं स्त्री हूँ या मैं पुरुष हूँ'—इस बातको ही महत्त्व देते रहोगे तो यह कैसे मिटेगा? ***'जदपि मृषा छूटत कठिनई'***। इसलिये एक भगवान्‌के सिवाय दूसरेका सर्वथा निषेध कर दो—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'***। भगवान् मिलें चाहे उम्रभर न मिलें, दर्शन दें चाहे न दें, पर हम तो भगवान्‌के ही हैं। भरतजी कहते हैं—

जानहुँ रामु कुटिल करि मोही।
लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥

सीता राम चरन रति मोरें।
अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥

(मानस, अयोध्या० २०५। १)

हम जैसे हैं, भगवान्के हैं। अच्छे हैं तो भगवान्के हैं, बुरे हैं तो भगवान्के हैं। जैसे विवाहित स्त्री भीतरसे अपनेको कुँआरी नहीं मान सकती, इसी तरह भक्त भगवान्के सिवाय दूसरेको अपना मान सकता ही नहीं। झूठी बात कैसे माने? भगवान्को हरेक आदमी अपना मान सकता है। पापी-से-पापी, दुष्ट-से-दुष्ट आदमी भी भगवान्को अपना मान सकता है। कारण कि यह मान्यता सच्ची है, दूसरी सब मान्यताएँ झूठी हैं। आपको हजारों आदमी कह दें कि तुम भगवान्के नहीं हो तो उनसे यही कहें कि आपको पता नहीं है। भगवान् भी कह दें कि तुम हमारे नहीं हो तो उनसे कहें कि आपको भूल हो सकती है, पर मेरेको भूल नहीं हो सकती! इतना पक्का विचार होना चाहिये!

अस अभिमान जाइ जनि भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(मानस, अरण्य० ११। ११)

इस तरह दृढ़तासे भगवान्में अपनापन हो जाय तो फिर परमात्मप्राप्तिमें देरी नहीं लगेगी।

२१. कल्याणका निश्चित उपाय

भगवान्ने जीवपर कृपा करके उसको अपना कल्याण करनेके लिये ही मनुष्यशरीर दिया है। अपना कल्याण करनेके सिवाय मनुष्यजन्मका दूसरा कोई प्रयोजन है ही नहीं। शरीर, धन-सम्पत्ति, जमीन-मकान, स्त्री-पुत्र आदि जितनी भी सांसारिक वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब मिलने और बिछुड़नेवाली हैं। अतः कोई कितना ही बड़ा धनवान् बन जाय, बलवान् बन जाय, विद्वान् बन जाय, ऊँचे पदवाला बन जाय, बड़े कुटुम्बवाला बन जाय, पर अपने कल्याणके बिना ये सब-की-सब वस्तुएँ अपने कुछ काम न आयेंगी। बिना दूल्हेकी बरातकी तरह सम्पूर्ण सांसारिक भोग व्यर्थ हैं। इसलिये मनुष्यका खास कर्तव्य है—अपना कल्याण करना।

एक मार्मिक बात है कि अपना कल्याण करनेमें मनुष्यमात्र सर्वथा स्वतन्त्र है, समर्थ है, योग्य है, अधिकारी है। कारण कि भगवान् जीवको मनुष्यशरीर देते हैं तो उसके साथ ही अपना कल्याण करनेकी स्वतन्त्रता, सामर्थ्य, योग्यता और अधिकार भी प्रदान करते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि मनुष्य अपना कल्याण करनेके लिये क्या करे? इसका उत्तर है कि यदि मनुष्य इन चार बातोंको दृढ़तासे स्वीकार कर ले तो उसका कल्याण हो जायगा—

१- मेरा कुछ भी नहीं है।
२- मेरेको कुछ भी नहीं चाहिये।
३- मेरा किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं है।
४- केवल भगवान् ही मेरे हैं।

मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुओंको अपना मानना मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है। वास्तवमें अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश-जितनी वस्तु भी अपनी नहीं है। इसलिये 'मेरा कुछ भी नहीं है'—ऐसा स्वीकार करनेसे जीवनमें निर्दोषता आ जाती है। निर्दोषता आते ही मनुष्य धर्मात्मा हो जाता है।

जब मेरा कुछ है ही नहीं, तो फिर हम किस वस्तुकी चाहना करें? अतः 'मेरेको कुछ भी नहीं चाहिये'—ऐसा स्वीकार करते ही जीवनमें निष्कामता आ जाती है। निष्कामता आते ही मनुष्य योगी हो जाता है अर्थात् उसको समत्वरूप योगकी प्राप्ति हो जाती है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)। कोई भी कामना न होनेसे उसको चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगकी भी प्राप्ति हो जाती है—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' (योगदर्शन १। २)।

मनुष्यमात्रका स्वरूप स्वतः असंग है—**'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'** (बृहदा० ४। ३। १५)। अतः मिलने और बिछुड़नेवाले किसी भी वस्तु-व्यक्तिके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे मनुष्यको अपनी असंगताका अनुभव हो जाता है। असंगताका अनुभव होनेपर वह ज्ञानी हो जाता है।

जीवमात्र परमात्माका अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७)। भगवान्‌का अंश होनेके नाते केवल भगवान् ही हमारे हैं। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई हमारा नहीं है। इस प्रकार भगवान्‌में अपनापन स्वीकार करते ही मनुष्य भक्त हो जाता है।

धर्मात्मा, योगी, ज्ञानी और भक्त होनेमें ही मनुष्यका कल्याण निहित है। ऐसा होनेमें कठिनाई भी नहीं है; क्योंकि वास्तवमें मनुष्यमात्रका स्वरूप स्वतः निर्दोष, निष्काम, असंग और भगवान्‌का अंश है। तात्पर्य है कि हमारा स्वरूप सत्तामात्र है। उस सत्तामें निर्दोषता, निष्कामता और असंगता स्वतःसिद्ध है और वह सत्ता भगवान्‌का अंश है। इसलिये साधकका कर्तव्य है कि वह उपर्युक्त चारों बातोंको दृढ़तासे स्वीकार कर ले। फिर उसका कल्याण निश्चित है।

२२. कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्

मनुष्यमात्रके लिये मुख्य बात है—अपने जीवनका एक उद्देश्य बनाना। वास्तवमें मनुष्यजीवनका उद्देश्य पहलेसे ही बना हुआ है। भगवान्‌ने जीवको सदाके लिये जन्म-मरणरूप बन्धनसे मुक्त होकर अपनी प्राप्ति करनेके लिये ही मनुष्यशरीर दिया है और इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये जीवने मनुष्यशरीर लिया है। इसलिये भगवान्‌को प्राप्त कर लेनेमें ही मनुष्यजन्मकी सार्थकता है। इस कार्यके लिये मनुष्यशरीरके सिवाय दूसरा कोई शरीर है ही नहीं। यद्यपि भगवान्‌की ओरसे किसीके लिये भी कोई मनाही नहीं है, तथापि मनुष्यशरीर खास भगवत्प्राप्तिके लिये ही है। इस मनुष्यशरीरको पाकर यदि अपना उद्देश्य ठीक नहीं बनाया तो क्या किया! इसलिये सब भाई-बहनोंसे प्रार्थना है कि आप स्वयं अपना उद्देश्य बनायें कि हमें भगवान्‌को प्राप्त करना ही है। आप चाहे मेरा कहना मान लो, चाहे गीता, रामायण आदि ग्रन्थोंकी बात मान लो, चाहे अन्य किसीकी बात मान लो, सबकी खास बात यही है कि मनुष्यजन्म भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है। भगवत्प्राप्तिके सिवाय मनुष्यजन्मका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। भगवत्प्राप्तिके बिना मनुष्यशरीर भी चौरासी लाख योनियोंकी तरह ही है। इसलिये मनुष्यजन्मके मूल्यको समझें। विचार करें कि मनुष्यजन्म क्यों मिला है? भगवान्‌ने क्यों दिया है? हमने क्यों लिया है? परमात्मप्राप्तिके बिना मनुष्यजन्मका क्या प्रयोजन है?

मनुष्यजन्म ही एक ऐसा है, जिससे मनुष्य सदाके लिये दुःखोंसे मुक्त हो सकता है—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।
पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(मानस, उत्तर० ४३)

ऐसे शरीरको प्राप्त करके भी अगर आध्यात्मिक उन्नति नहीं की तो क्या किया? आध्यात्मिक तत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्यजन्म मिला है, इसके सिवाय मनुष्यजन्मका और क्या मतलब है? अगर यह भी आपने नहीं किया तो मनुष्य होनेका क्या मतलब हुआ? मनुष्य हो, चाहे कीड़ा-मकोड़ा हो, फर्क क्या हुआ? मनुष्यजन्मकी सार्थकता क्या हुई? परमात्मप्राप्तिके विषयमें आप जोरसे नहीं लगे तो फिर आपने क्या किया? क्या मतलब सिद्ध किया? चाहे भाई हो, चाहे बहन हो, अगर उसने परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य नहीं रखा तो मनुष्यजन्मका क्या मतलब हुआ? नीतिमें एक श्लोक आता है—

शतं विहाय भोक्तव्यं सहस्रं स्नानमाचरेत्।
लक्षं विहाय दातव्यं कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्॥

'सौ काम छोड़कर भोजन करो, हजार काम छोड़कर स्नान करो, लाख काम छोड़कर दान दो और करोड़ काम छोड़कर भगवान्‌का स्मरण करो।'

तात्पर्य है कि करोड़ काम भी बिगड़ते हों तो बिगड़ जायँ, उनको छोड़कर भगवान्‌का स्मरण करो। भगवान्‌का स्मरण करना सबसे मुख्य रहा। भोजनसे, स्नानसे, दानसे भी बढ़कर भगवान्‌का स्मरण हुआ! भगवान्‌का स्मरण किये बिना जन्म-मरण नहीं छूट सकता। जन्म-मरण छूटे बिना मनुष्यजन्म किस कामका? लोग सत्संग छोड़कर जाते हैं तो कारण पूछनेपर कहते हैं कि हमें अमुक-अमुक काम करने हैं, जाना ही पड़ेगा। आनेमें देरी हो जाय तो कहते हैं कि अमुक-अमुक काम आ गया, नहीं तो हम पहले ही आ जाते। इससे यह सिद्ध हुआ कि आपने सत्संगकी अपेक्षा दूसरे कामोंको ज्यादा आदर दिया है। शास्त्र कहता है—'**कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्**' 'करोड़ों काम छोड़कर भी भगवान्‌का स्मरण करो'। क्या आपने करोड़ों काम छोड़कर कभी भगवान्‌का स्मरण किया है? विचार करें कि पारमार्थिक उन्नतिके लिये हमने कितने काम छोड़े हैं? कितने कामोंकी उपेक्षा की है? अपने हृदयपर हाथ रखकर स्वयं सोचो कि क्या हमने पारमार्थिक बातोंका इतना आदर किया है? आप कहते तो हैं कि हम सत्संग करते हैं, हमें आध्यात्मिक उन्नति चाहिये, पर अपने लक्ष्यको ठीक पूरा करनेके लिये क्या आपने ऐसा किया है? क्या ऐसा करनेका विचार है? विचार करनेसे पता लगेगा कि आप कितने पानीमें हैं? हमें परमात्मप्राप्ति नहीं हो रही है, ऐसा कहते तो हैं, पर उसके लिये आपने कितने काम छोड़े हैं?

पारमार्थिक उन्नति इस मनुष्यजन्ममें ही हो सकती है। कारण कि इसीके लिये यह मनुष्यजन्म मिला है। पर इस कामके लिये आपकी कितनी तत्परता है—इधर ध्यान दो। अपने भीतर विचार करो। शास्त्र कहता है कि करोड़ों काम बिगड़ते हों तो बिगड़ जायँ, पर भगवान्‌का स्मरण मत छोड़ो। इस भगवत्स्मरणको आपने कितना महत्त्व दिया है? इसपर कितना विचार किया है? फिर आपको पता लगेगा कि हमारी आध्यात्मिक उन्नति कितनी हुई है? हरेक साधकको इस तरह विचार करना चाहिये। यदि सब काम छोड़कर भगवत्स्मरणको महत्त्व देते तो फिर ऐसा नहीं कहते कि हम इतने वर्षोंसे लगे हुए हैं, परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई! हम भगवत्स्मरणका जितना आदर करते हैं, उसकी अपेक्षा भी भगवान् हमपर विशेष कृपा करते हैं।

प्रश्न—क्या शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म छोड़कर भगवान्‌का भजन करें?

उत्तर—शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म करना, कुटुम्बका पालन करना, न्यायानुकूल काम करना बहुत अच्छा है, पर भगवत्स्मरणके सामने सब काम गौण हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कर्तव्य-कर्म करना छोड़ दें। कर्तव्य-कर्म करें, पर भगवान्‌का स्मरण सबसे मुख्य होना चाहिये। संसारके जितने भी काम हैं, वे सब-के-सब एक दिन बिगड़नेवाले हैं। परन्तु भगवान्‌का स्मरण कभी बिगड़ेगा नहीं। संसारका कितना ही सुधार कर लो, वह तो बिगड़ेगा। वह सुधर जाय तो बिगड़ गया, बिगड़ जाय तो बिगड़ गया। वास्तवमें तो संसारका काम बिगड़ा हुआ ही है। मनुष्यजन्मकी सफलता भगवान्‌को प्राप्त करनेमें ही है। भोजन करनेसे, स्नान करनेसे, दान देनेसे मनुष्यजन्म सफल नहीं होगा। मनुष्यजन्म सफल होगा—भगवान्‌का स्मरण करनेसे। आप स्वयं सोचो कि भगवान्‌के स्मरणसे बढ़कर क्या काम है?

समस्त कर्तव्योंका मूल कर्तव्य है—भगवान्‌का स्मरण करना। अन्य सब कर्तव्य इससे नीचे हैं। कहनेमें तो आप कर्तव्य-कर्मकी बात कहते हो, पर वास्तवमें अपनी आयुका नाश कर रहे हो! पर यह बात पढ़ने-सुननेसे समझमें नहीं आती। आप स्वयं सोचोगे, तब समझमें आयेगी। '**कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्**'—यह बात यों ही अँधेरेमें नहीं कही गयी है।

असली कर्तव्य वही है, जिससे मनुष्य संसारसे ऊँचा उठ जाय। कर्मयोगके पालनसे मनुष्य संसारसे ऊँचा उठ जाता है। अगर आप संसारसे ऊँचा उठ गये, तब तो आपने कर्तव्यका पालन किया, नहीं तो कर्तव्यको समझा ही नहीं है, केवल समय बरबाद किया है। अगर आपने कर्तव्य-कर्मका ठीक पालन किया होता तो स्त्री-पुत्र, रुपये-पैसेमें मन नहीं जाता। रुपयोंके लिये झूठ, कपट, चालाकी, ठगी नहीं करते। यह नियम है कि कर्तव्य-कर्मका पालन करनेसे मनुष्य संसारसे ऊँचा उठ जाता है और उसे शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

'जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके स्पृहारहित, ममतारहित और अहंतारहित होकर आचरण करता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

प्रश्न—अगर कोई बीमार हो तो क्या उसकी सेवा छोड़कर भगवान्का भजन करें?

उत्तर—अगर भगवान्की सेवा मानकर बीमारकी सेवा करें तो क्या हर्ज है? क्या बाधा लगती है? बीमार व्यक्तिको साक्षात् भगवान् मानकर उसकी सेवा करो। घरके कामको भगवान्का काम मानकर करो। गीतामें भगवान्ने कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

'हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ भोजन करता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।'

भगवान्का काम समझकर सब कार्य करो तो वह सब भजन हो जायगा। शौच-स्नान करना भी भगवान्की सेवा है। बालक भोजन कर लेता है तो माँ राजी हो जाती है! भगवान् क्या माँसे भी कम दयालु हैं? एकनाथजी महाराजने भागवतके एकादश स्कन्धकी टीकामें लिखा है कि घरमें झाड़ू देकर कचरा भगवान्के अर्पणकी भावनासे बाहर फेंकें तो वह भी भजन हो जायगा! निरर्थक कर्म भी भगवान्के अर्पण करनेसे भजन हो जाता है। अगर भगवत्प्राप्तिका दृढ़ उद्देश्य हो जाय तो फिर आपके सभी कार्य भजन हो जायँगे। फिर आपके द्वारा संसारका काम नहीं होगा, प्रत्युत प्रत्येक काम भगवान्का ही हो जायगा। इसीमें मनुष्यजन्मकी सार्थकता है।

---

२३. अनेकतामें एकता

एक अपरा प्रकृति (जगत्) है, एक परा प्रकृति (जीव) है और एक परा-अपराके मालिक परमात्मा हैं। सम्पूर्ण शरीर तथा संसार 'अपरा' के अन्तर्गत हैं और सम्पूर्ण जीव 'परा' के अन्तर्गत हैं। सम्पूर्ण शरीर भी एक हैं। सम्पूर्ण जीव भी एक हैं और परा तथा अपरा जिसकी शक्तियाँ हैं, वे परमात्मा भी एक हैं—'**एकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दोग्य० ६। २। १)। अतः शरीरोंकी दृष्टिसे, जीवों (आत्मा)-की दृष्टिसे और परमात्माकी दृष्टिसे—तीनों ही दृष्टियोंसे हम सब एक हैं, अनेक नहीं हैं। परन्तु जब मनुष्य सबको एक न मानकर अपने और परायेका भेद पैदा कर लेता है, तब उसके जीवनमें बुराई आ जाती है। जैसे, कौरव और पाण्डव एक थे, परन्तु जब धृतराष्ट्रके मनमें '**मामकाः**' (मेरे पुत्र) और '**पाण्डवाः**' (पाण्डुके पुत्र)—यह भेद पैदा हो गया, तब उसके जीवनमें बुराई आ गयी, जिसके परिणाममें महाभारतका

युद्ध हुआ। अतः बुराईरहित होनेके लिये साधकको दृढ़तापूर्वक इस सत्यको स्वीकार कर लेना चाहिये कि ऊपरसे अनेक भेद दीखते हुए भी वास्तवमें हम एक हैं—शरीरोंकी दृष्टिसे भी एक हैं, आत्माकी दृष्टिसे भी एक हैं और परमात्माकी दृष्टिसे भी एक हैं। सम्पूर्ण शरीर पंचमहाभूतोंसे बने हुए हैं, इसलिये एक हैं। सम्पूर्ण जीव परमात्माके अंश हैं, इसलिये एक हैं और सम्पूर्ण मनुष्य अलग-अलग नाम-रूपोंसे जिनकी उपासना करते हैं, वे परमात्मा भी एक हैं।

असली भक्त वही हो सकता है, जो किसीको भी पराया नहीं मानता, प्रत्युत सबको अपना मानता है और सबकी सेवा करता है*। सेवा करनेके लिये सभी अपने हैं, पर अपने लिये केवल परमात्मा ही हैं। हमारे पास शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि जो भी वस्तुएँ हैं, वे संसारकी हैं और संसारसे ही मिली हैं। परन्तु अपने लिये वही वस्तु हो सकती है, जो सदा हमारे साथ रहे। ऐसी वस्तु केवल परमात्मा ही हैं।

असली सेवा है—किसीका भी बुरा न करना। जो कभी किसीका बुरा नहीं करता, उसके द्वारा विश्वमात्रकी सेवा होती है। कारण कि किसीका भी बुरा न करनेसे उसका व्यक्तित्व मिट जाता है और उसका सम्बन्ध सर्वव्यापी, असीम-अनन्त तत्त्वके साथ हो जाता है। जिसके द्वारा कभी किसीका बुरा नहीं होता, वह खुद बुरा नहीं रह सकता, प्रत्युत भला हो जाता है। मनुष्य भलाई करनेसे भला नहीं होता, प्रत्युत बुराईका सर्वथा त्याग करनेसे भला होता है। कारण कि भलाई करना सीमित होता है, पर किसीका बुरा न करना असीम होता है। असीमसे असीम तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये सबसे बड़ी सेवा है—बुराईका त्याग। जिसने बुराईका त्याग कर दिया है, वह सबसे बड़ा आदमी है।

बुराईका त्याग करनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य किसीसे कुछ न चाहे, न संसारसे, न परमात्मासे। क्यों न चाहे? क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश-जितनी वस्तु भी अपनी नहीं है। जप, तप, तीर्थ, व्रत आदि करनेसे कामनाका नाश नहीं होता। कामनाका नाश तब होता है, जब मनुष्य इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि संसारकी कोई भी वस्तु मेरी नहीं है। जो वस्तु मेरी नहीं होती, वह मेरे लिये भी नहीं होती। जिसपर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं चलता, जो सदा हमारे साथ नहीं रह सकती, जिसकी प्राप्ति होनेसे हमारे अभावकी पूर्ति नहीं होती, वह वस्तु मेरी और मेरे लिये कैसे हो सकती है?

सम्पूर्ण संसार एक है। उसमें जो अलग-अलग देशों और प्रान्तोंका बँटवारा दीखता है, वह मनुष्योंके द्वारा किया गया है। मनुष्य अपने स्वार्थके वशीभूत होकर एक ही संसारमें अनेक भेद पैदा कर लेता है। वास्तवमें सारी सृष्टि एक है और उसका रचयिता परमात्मा भी एक है। जो संसारको जानता है और परमात्माको मानता है, वह मनुष्य भी एक है। वास्तवमें सृष्टि (अपरा) और जीव (परा)-की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। स्वतन्त्र सत्ता एक परमात्माकी ही है। जगत्‌को जीवने ही धारण किया है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५) अर्थात् जगत्‌को सत्ता जीवने ही दी है, इसलिये जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जीव परमात्माका अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७), इसलिये खुद जीवकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। तात्पर्य है कि जगत्‌की सत्ता जीवके अधीन है और जीवकी सत्ता परमात्माके अधीन है। इसलिये एक परमात्माके सिवाय अन्य कुछ नहीं है। जगत् और जीव—दोनों परमात्मामें ही भासित हो रहे हैं।

संसारके साथ हमारा सम्बन्ध माना हुआ (बनावटी) है और परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध वास्तविक

---

* आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन! जो भक्त अपने शरीरकी उपमासे सब जगह मुझे समान देखता है और सुख अथवा दुःखको भी समान देखता है, वह परम योगी माना गया है।'

है। जिसके साथ हमारा माना हुआ सम्बन्ध है, उसकी सेवा करनी है और जिसके साथ हमारा वास्तविक सम्बन्ध है, उससे प्रेम करना है। न तो संसारसे कुछ चाहना है और न परमात्मासे ही कुछ चाहना है। सेवा और प्रेम साधकका स्वरूप है। जब साधक परमात्माको संसाररूपमें देखता है, तब वह सेवा करता है और जब परमात्माको परमात्मरूपमें देखता है, तब वह प्रेम करता है। परन्तु साधक सेवक तभी हो सकता है, जब वह इस सत्यको स्वीकार कर ले कि मेरा कुछ नहीं है और मेरेको कुछ नहीं चाहिये। वह प्रेमी तभी हो सकता है, जब वह इस सत्यको स्वीकार कर ले कि केवल भगवान् अपने हैं।

यदि साधक विवेकपूर्वक विचार करे तो वह अपनेमें ही संसारको देखेगा और परमात्मामें ही अपनेको देखेगा। संसार तो प्रतिक्षण बदलता है, उत्पन्न और नष्ट होता है, पर परमात्मा कभी नहीं बदलते। जो बदलता है, उसकी सत्ता नहीं होती और जो नहीं बदलता, उसीकी सत्ता होती है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २।१६)। जब साधक सर्वथा बुराईरहित हो जाता है, तब उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं रहता। फिर उसकी परमात्मासे न तो दूरी रहती है, न भेद रहता है और न भिन्नता ही रहती है। इसीको गीताने **'वासुदेवः सर्वम्'** (७।१९) पदोंसे कहा है।

२४. मामेकं शरणं व्रज

वेदोंका सार उपनिषद् हैं और उपनिषदोंका सार श्रीमद्भगवद्गीता है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषदें गायें हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उन्हें दुहनेवाले हैं, अर्जुन बछड़ा हैं, गीतारूप महान् अमृत ही दूध है और श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुष ही उसका पान करनेवाले हैं।'

श्रीमद्भगवद्गीताका सार है—शरणागति। शरणागतिको भगवान्ने **'सर्वगुह्यतम'** अर्थात् सबसे अत्यन्त गोपनीय कहा है—**'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु'** (गीता १८।६४)। यह 'सर्वगुह्यतम' शब्द गीतामें एक ही बार आया है। ऐसी सर्वगुह्यतम शरणागतिकी बात भगवान्ने इस प्रकार कही है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर।'

भगवान्ने सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं बताया। अगर स्वरूपसे त्याग बताते तो कम-से-कम अर्जुन तो युद्ध न करते; क्योंकि युद्ध करना क्षत्रियका धर्म है—**'युद्धे चाप्यपलायनम्'** (गीता १८।४३)। परन्तु अर्जुनने युद्ध किया है। अतः भगवान्के कथनका तात्पर्य है कि धर्मकी भी शरण नहीं होनी चाहिये, प्रत्युत केवल मेरी शरण होनी चाहिये।

जब मनुष्यको अपनी कमजोरीका और भगवान्की सर्वसमर्थताका अनुभव हो जाता है, तब वह शरणागत हो जाता है। शरण होनेमात्रसे शरणागत भक्तमें बड़ी विलक्षणता आ जाती है। उसके भीतर बहुत विलक्षण भाव पैदा होने लगते हैं। भगवान्की शरण होनेपर उनकी कृपासे सब सद्गुण प्राप्त हो जाते हैं। भगवान्में अनन्त, अपार, असीम शक्ति है, जिसका कोई पारावार नहीं है। अतः मनुष्यको भगवान्के चरणोंका आश्रय लेना चाहिये। गीतामें भगवान्ने कहा है—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधि भूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(७। २९-३०)

'वृद्धावस्था और मृत्युसे मुक्ति पानेके लिये जो मनुष्य मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जान जाते हैं।'

'जो मनुष्य अधिभूत तथा अधिदैवके सहित और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझमें लगे हुए चित्तवाले मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।'

तात्पर्य है कि जो प्रभुके चरणोंका आश्रय लेकर साधन करते हैं, वे ब्रह्म, जीव, जगत् आदि सबको जान जाते हैं अर्थात् पूर्ण जानकार हो जाते हैं। इसलिये मनुष्यको तत्परतासे, उत्साहपूर्वक सब कार्य करना चाहिये; परन्तु भरोसा भगवान्‌का ही रखना चाहिये कि भगवान्‌की कृपासे ही मेरा कल्याण होगा। साधनका भी भरोसा नहीं रखना चाहिये। साधनका भरोसा रखनेसे अभिमान पैदा होगा और अभिमानसे पतन होगा।

गीतामें भगवान् अर्जुनको आज्ञा देते हैं—'**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**' (११। ३३) 'हे सव्यसाचिन् अर्थात् दोनों हाथोंसे बाण चलानेवाले अर्जुन! तुम (शत्रुओंको मारनेमें) निमित्तमात्र बन जाओ।' गीताके अन्तमें अर्जुनने भगवान्‌से कहा कि आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है, अब आप जैसा कहोगे, वैसा करूँगा—'**करिष्ये वचनं तव**' (गीता १८। ७३)। फिर भगवान्‌ने जैसा कहा, वैसा ही अर्जुनने किया। जब कर्णके रथका चक्का जमीनमें धँस गया और वह रथसे नीचे उतरकर उसको बाहर निकालनेका प्रयत्न करने लगा, तब भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि बाण चलाओ। अर्जुनकी समझमें बात नहीं आयी, पर समझमें न आनेपर भी उसने बाण चलाना शुरू कर दिया; क्योंकि भगवान्‌ने आज्ञा दे दी तो अब समझनेकी जरूरत नहीं। कर्णने कहा कि तू शास्त्र और शस्त्रविद्या—दोनोंको जानता है, फिर तू अन्याय कैसे कर रहा है? मैं नीचे खड़ा हूँ तथा अन्य काममें लगा हूँ और तू बाण चलाता है! इसका उत्तर भगवान्‌ने दिया कि आततायीको मारनेके लिये विचार नहीं करना चाहिये। आततायीको मारनेवालेको कोई दोष नहीं लगता—यह शास्त्रकी आज्ञा है*। यह सुनकर अर्जुन भी समझ गये कि भगवान्‌ने बाण चलानेकी आज्ञा क्यों दी। इसी तरह भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लो और उनकी आज्ञा समझकर कर्तव्य-कर्म करो। अपना अभिमान छोड़कर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलो, फिर मौज-ही-मौज है! सच्चे हृदयसे भगवान्‌का आश्रय लेकर निश्चिन्त रहो, निर्भय रहो, निःशंक रहो, निःशोक रहो। हरदम भगवान्‌का स्मरण करो, जप करो, कीर्तन करो और दूसरोंकी सेवा करो, उनको सुख पहुँचाओ। फिर यह चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं कि क्या होगा, कैसे होगा, उद्धार होगा कि नहीं होगा! हाँ, एक बातका खयाल रखो कि कहीं हम भगवान्‌की आज्ञासे विरुद्ध तो नहीं चल रहे?

---

* अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्। नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

(वसिष्ठस्मृति ३। १९-२०)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, निःशस्त्र व्यक्तिपर शस्त्रसे प्रहार करनेवाला, धन हरनेवाला, खेत-मकान आदि छीननेवाला एवं स्त्रीको हरनेवाला—ये छः प्रकारके आततायी होते हैं। अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना ही विचारे मार देना चाहिये। आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कोई भी दोष नहीं लगता।'

अग्निदत्त विषदत्त नर, क्षेत्र दार धन हार। बहुरि बकारत शस्त्र गहि, अवध वध्य षटकार॥

(पाण्डवयशेन्दुचन्द्रिका १०। १७)

हम भगवान्‌के शरण कैसे हों—इसको समझनेके लिये एक दृष्टान्त है। आपके घरकी एक कन्या है, पर आप उसका विवाह (कन्यादान) कर देते हैं तो वह आपके घरकी नहीं रहती। जिस घरमें उसको दे देते हैं, वह उसी घरकी हो जाती है। उसका गोत्र भी बदल जाता है। जब पीहरमें कोई सूतक होता है तो वह उसको नहीं लगता, पर ससुरालका सूतक उसको लग जाता है! वह पीहरमें ही पैदा हुई, वहीं उसका पालन-पोषण हुआ, वहीं वह पढ़-लिखकर योग्य बनी, पर कन्यादान करनेपर वह ससुरालकी हो गयी, पीहरकी नहीं रही। इसी तरहसे आप भगवान्‌के हो जायँ! आप दृढ़तासे यह मान लें कि अब मैं संसारका नहीं रहा, मैं तो भगवान्‌का हो गया। यह गीताकी गोपनीय-से-गोपनीय सार बात है! लड़की तो विवाहके बाद ही ससुरालकी होती है, पर जीव सदासे ही भगवान्‌का है; क्योंकि यह भगवान्‌का ही अंश है—‘**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**’ (गीता १५।७)। परन्तु भगवान्‌को भूलकर यह दूसरोंका हो जाता है और भटकते-फिरते दुःख पाता है। अतः शरण होनेका तात्पर्य केवल अपनी भूल मिटाना है, कोई नया काम नहीं करना है।

आप सच्चे हृदयसे यह विचार कर लें कि मैं भगवान्‌का हूँ तो आपका जीवन बदल जायगा। आपका जीवन महान् शुद्ध, पवित्र हो जायगा। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥

(दोहावली २२)

भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌का भजन, ध्यान, नामजप, कीर्तन आदि करें तो अनेक जन्मोंकी बिगड़ी हुई बात आज ही नहीं, अभी इसी क्षण सुधर जाय! आज तो बड़ा होता है। रात्रिके बारह बजेतक आज कहलाता है। परन्तु भगवान्‌की शरण लेनेपर तो अभी, इसी क्षण उद्धार हो जाय! इसलिये भगवान् कहते हैं—‘**मा शुचः**’, सब चिन्ताएँ छोड़ दो। हम भगवान्‌के शरण हो गये तो अब भगवान् जाने, भगवान्‌का काम जाने!

‘होहि राम को नाम जपु’—भगवान्‌का होकर नामजप किया जाय तो वह नामजप श्रेष्ठ होता है। जैसे बालक माँ-माँ करके रोता है तो वह जिस माँके लिये रोता है, वही माँ उसके पास आती है। जिनके बालक हैं, उन सब स्त्रियोंका नाम माँ है, पर बालकके पुकारनेपर सब माताएँ नहीं दौड़तीं, प्रत्युत एक वही माता दौड़ती है। कारण कि बालक केवल उसीको ‘माँ’ कहता है, सबको ‘माँ’ नहीं कहता। उस स्त्रीके कपड़े भी बढ़िया नहीं हैं, गहने भी नहीं हैं, सुन्दर शरीर भी नहीं है, पर बालक तो उसीको ‘माँ’ कहकर पुकारता है और उसीकी गोदमें जाना चाहता है। इसी तरह भक्त जिनका होकर नामजप करता है, वही (राम, कृष्ण, शंकर, दुर्गा आदि) आ जाते हैं। माँ तो अनेक स्त्रियाँ हो सकती हैं, पर भगवान् अनेक नहीं हैं। भगवान् तत्त्वसे एक ही हैं।

जैसे बालकको स्नान कराकर शुद्ध करना माँकी जिम्मेवारी है, बालककी नहीं, ऐसे ही शरणागत भक्तको शुद्ध करना भगवान्‌की जिम्मेवारी है, भक्तकी नहीं। शरण होनेके बाद भक्तको कोई चिन्ता करनेकी जरूरत ही नहीं है। मीराबाईने सार बात पकड़ ली थी—***‘मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई’***। इसलिये मीराबाई निश्चिन्त, निर्भय, निःशोक और निःशंक हो गयी थीं अर्थात् उनके मनमें न चिन्ता थी, न भय था, न शोक था, न शंका थी, प्रत्युत केवल प्रभु-चरणोंका आश्रय था। मीराबाई परदेमें रहनेवाली थीं। वे परदेमें जन्मीं, परदेमें ब्याही गयीं और परदेमें ही रहीं। एक तो स्त्री-जाति और दूसरे परदेमें रहनेवाली होते हुए भी वे अकेली वृन्दावन चली गयीं, द्वारका चली गयीं! उनके भीतर कोई भय था ही नहीं! प्रत्यक्षमें कोई सहायता करनेवाला न होनेपर भी उनके भीतर कितनी दृढ़ता थी! इसलिये ***‘मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई’***—इसके सिवाय और किसी बातको माननेकी आवश्यकता नहीं है। हम

चाहे घरमें रहें, चाहे बाहर रहें, कैसी ही अवस्थामें रहें, एक भगवान्‌का ही आश्रय हो तो फिर किसी बातका भय नहीं।

भगवान् कहते हैं—‘**मामेकं शरणं व्रज**’ ‘एक मेरी शरणमें आ जा।’ ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि अनन्यभावसे शरण लेनी चाहिये अर्थात् मैं केवल भगवान्‌का हूँ, और किसीका नहीं हूँ। अब जो भी कमी होगी, वह स्वतः पूरी हो जायगी। शरण होनेमें कोई कमी होगी तो वह भी पूरी हो जायगी। लड़कीका पहले पीहरमें मोह रहता है, पर वह स्वतः मिट जाता है। ससुरालमें वह माँ बन जाती है, फिर दादी-परदादी बन जाती है। फिर उसको याद ही नहीं रहता कि मैं दूसरे घरकी हूँ। पोते-परपोतेकी बहू आती है तो वह कहती है कि ‘परायी जायी’ (पराये घरमें जन्मी) छोकरीने मेरा घर बिगाड़ दिया! अब उस दादीसे कोई पूछे कि आप तो ‘घर जायी’ (इस घरमें जन्मी) हो न? पर वह अपनेको ‘परायी जायी’ मानती ही नहीं! मेरा बेटा है, मेरा पोता है, मेरा परिवार है, मैं परायी जायी कैसे हूँ? मैं तो इस घरकी मालकिन हूँ! वह उसमें इतनी तल्लीन हो जाती है कि उसी घरकी हो जाती है। ऐसे ही आप भगवान्‌के शरण हो जायँ। फिर उसकी पूर्णता स्वतः हो जायगी। आप सर्वथा निर्भय, निःशोक, निश्चिन्त और निःशंक हो जायँगे। जैसे वह बूढ़ी दादी घरकी मालकिन बन जाती है, ऐसे ही आप भी भगवान्‌की सम्पत्तिके मालिक बन जायँगे! ब्रह्माजी भगवान्‌से कहते हैं—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ८)

‘जो पुरुष क्षण-क्षणपर बड़ी उत्सुकतासे आपकी कृपाका ही भलीभाँति अनुभव करता रहता है और प्रारब्धानुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है, उसे निर्विकार मनसे भोग लेता है,एवं जो प्रेमपूर्ण हृदय, गद्गद वाणी और पुलकित शरीरसे अपनेको आपके चरणोंमें समर्पित करता रहता है—इस प्रकार जीवन व्यतीत करनेवाला पुरुष ठीक वैसे ही आपके परमपदका अधिकारी हो जाता है, जैसे अपने पिताकी सम्पत्तिका पुत्र!’

भगवान् कहते हैं—***‘मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि’***। शरणागत भक्त अपने-आपको भगवान्‌को दे देता है तो भगवान् भी अपने-आपको भक्तको दे देते हैं; क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—‘**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**’ (गीता ४। ११)।

राजा अम्बरीष भगवान्‌के बड़े भक्त थे। उनको तंग करनेके लिये दुर्वासा ऋषि आये। अम्बरीषने द्वादशीप्रधान एकादशी-व्रत करनेका नियम ले रखा था। जब उन्होंने व्रतका पारण करनेकी तैयारी की, तभी दुर्वासा ऋषि आ गये। अम्बरीषने उनसे भोजन करनेकी प्रार्थना की तो वे बोले कि हम स्नान-सन्ध्या करके आते हैं, फिर भोजन करेंगे। वहाँ दुर्वासाने जान-बूझकर देरी लगा दी। इधर द्वादशी घड़ीभर शेष रह गयी तो अम्बरीषने ब्राह्मणोंसे पूछा कि ‘अब मैं क्या करूँ? द्वादशी समाप्त होनेवाली है। द्वादशीके रहते-रहते पारण होना चाहिये। परन्तु ऋषिके आनेसे पहले भोजन कैसे करूँ?’ ब्राह्मणोंने आज्ञा दी कि ‘निर्जला उपवास रखनेवाला यदि तुलसीदल और चरणामृत ले लेता है तो उसका भोजन करना भी हो गया और न करना भी हो गया।’ अम्बरीषने चरणामृत ले लिया। जब दुर्वासाको पता लगा कि इसने मेरे भोजन करनेसे पहले पारण कर लिया तो उनको बड़ा क्रोध आया। उन्होंने अपनी एक जटा उखाड़ी और अम्बरीषको मारनेके लिये एक कृत्या पैदा की। अम्बरीष हाथ जोड़कर खड़े रहे। भगवान्‌के सुदर्शन चक्रने उस कृत्याको नष्ट कर दिया और

दुर्वासाके पीछे लग गया! दुर्वासा भागते-भागते अनेक लोकोंमें गये, ब्रह्माजी और शंकरजीके पास गये, पर कोई भी उनकी चक्रसे रक्षा नहीं कर सका। फिर वे विष्णुभगवान्‌के पास गये और उनसे रक्षा करनेके लिये प्रार्थना की तो भगवान् बोले कि यह मेरे हाथकी बात नहीं है! मैंने तो अपना चक्र अम्बरीषको उनकी रक्षाके लिये दिया हुआ है, अब वह चक्र मेरा नहीं है!

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

'दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ। मुझे भक्तजन बहुत प्रिय हैं। उनका मेरे हृदयपर पूर्ण अधिकार है।'

दुर्वासाजी वापस अम्बरीषके पास आकर उनके चरणोंमें पड़े और उनसे प्रार्थना की कि मेरेको बचाओ! तब उनको चक्रसे छुटकारा मिला। तात्पर्य है कि भगवान्‌की शरण होनेसे भक्त भगवान्‌से भी बढ़कर हो गया। इस कारण भगवान् भी सुदर्शन चक्रसे दुर्वासाकी रक्षा नहीं कर सके! सुदर्शन चक्र भी भगवान्‌का नहीं रहा! भगवान्‌ने साफ कह दिया कि भाई! मेरे हाथकी बात नहीं है। इसलिये आप सच्चे हृदयसे भगवान्‌के हो जायँ कि 'हे मेरे नाथ! मैं तो आपका हूँ' और निर्भय, नि:शोक, निश्चिन्त और नि:शंक हो जायँ।

सुग्रीव भगवान्‌से कहता है कि जिस तरहसे जानकीजी मिल जायँ, वैसा मैं उद्योग करूँगा*, तो भगवान् भी कहते हैं कि तुम लोक-परलोकका सब काम मेरे भरोसे छोड़ दो—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें।
सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

(मानस, किष्किन्धा० ७।५)

वही सुग्रीव जब भगवान्‌का काम करना भूल गया, तब भगवान्‌ने कहा कि जिस बाणसे मैंने बालिको मारा, उसी बाणसे सुग्रीवको मारूँगा! लक्ष्मणजीने कहा कि 'महाराज! आपको तकलीफ करनेकी जरूरत नहीं है, यह काम तो मैं ही कर दूँगा'। तब भगवान् बोले कि 'नहीं-नहीं, सुग्रीवको मारना मत, वह तो मेरा मित्र है। उसको केवल डरा-धमकाकर ले आओ—***'भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥'*** (किष्किन्धा० १८)। ऐसे दयालु भगवान्‌के रहते हमें चिन्ता करनेकी क्या जरूरत? उनके भरोसे निश्चिन्त हो जाओ। दयालुदासजी महाराजने कहा है—

बोल न जाणूं कोय अल्प बुद्धि मन वेग तें।
नहिं जाके हरि होय या तो मैं जाणूं सदा॥

(करुणासागर ७४)

यह मैं सदा जानता हूँ कि जिसका कोई नहीं होता, उसके भगवान् होते हैं। संसारका बल, आश्रय ही बाधक है। लोक-परलोक सबके लिये एक भगवच्चरणोंका आश्रय ले लो और निधड़क रहो—

जब जानकीनाथ सहाय करे तब कौन बिगाड़ करे नर तेरो।

जब भगवान् हमारे सहायक हैं तो फिर हमारा बिगाड़ करनेवाला कोई हो ही नहीं सकता। भाई हो या बहन हो, छोटा हो या बड़ा हो, पढ़ा-लिखा हो या अपढ़ हो, धनी हो या निर्धन हो, कैसा ही क्यों न हो, जो भगवान्‌का भरोसा रखे, उसकी सहायताके लिये भगवान् सब समयमें तैयार हैं, सब तरहसे तैयार हैं!

उमा राम सम हित जग माहीं।
गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥

(मानस, किष्किन्धा० १२।१)

भगवान्‌के समान हमारा हित करनेवाला दूसरा

* सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥ (मानस, किष्किन्धा० ५।४)

कोई नहीं है। इसलिये हृदय खोलकर भगवान्‌को पुकारो। मीराबाईने हमें रास्ता दिखा दिया है—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'।*** भगवान् यह नहीं देखते कि आप कैसे हो। वर्षा जब बरसती है, तब यह नहीं देखती कि जगह कैसी है, अच्छी है या मन्दी? काँटेवाले वृक्ष हैं या फलवाले? समुद्रमें जलकी कोई कमी नहीं है, पर वहाँ भी वर्षा बरस जाती है! ऐसे ही भगवान्‌की कृपा सबपर बरस रही है। सभी उनकी कृपाके पात्र हैं। इसलिये किसीको भी निराश होनेकी जरूरत नहीं है।

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥

(दोहावली २७७)

चातक केवल वर्षाजलके आश्रित रहता है। एक बार चातक ऊपर उड़ रहा था। एक बहेलियेने उसको मार दिया तो वह नीचे गिर गया। नीचे गंगाजी बह रही थी। चातकने अपनी चोंच ऊपर उठा ली कि कहीं गंगाजीका जल मुखमें न चला जाय!

बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्य जल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥

(दोहावली ३०२)

जैसे चातकको केवल वर्षाकी बूँदका ही सहारा है, ऐसे ही केवल भगवान्‌का सहारा होना चाहिये। जगह-जगह भटकनेसे, दूसरोंकी गरज करनेसे क्या लाभ? एक भगवान्‌का आश्रय ले लें तो फिर दूसरेके आश्रयकी जरूरत ही नहीं।

बालक माँकी गोदमें बैठा होता है तो राजाको भी धमका देता है, जबकि माँ सर्वशक्तिमान् नहीं होती। फिर भगवान् तो सर्वशक्तिमान् हैं। उनमें किसी भी चीजकी, किसी भी तरहकी कोई कमी नहीं है। वे सुन्दर-से-सुन्दर, बलवान्-से-बलवान्, धनवान्-से-धनवान्, विद्वान्-से-विद्वान् हैं। वे सब तरहसे पूर्ण हैं। अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं—**'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः'** (गीता ११। ४३) 'आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो हो ही कैसे सकता है?' ऐसे सर्वसमर्थ और अद्वितीय भगवान् हमारे हैं, फिर किस बातकी चिन्ता? हमें किंचिन्मात्र भी चिन्ता, भय, शोक करनेकी जरूरत नहीं है।

शरणागति बहुत सस्ता, सुगम और श्रेष्ठ साधन है! भगवान्‌ने कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वाल्मीकि० ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं आपका हूँ' ऐसा कहकर मुझसे रक्षाकी याचना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत (नियम) है।'

एक बार कह दिया कि 'मैं आपका हूँ' तो फिर दूसरी बार क्या कहें? एक बार अपने-आपको दे दिया तो फिर दूसरी बार क्या दें? एक बार शरण होनेमात्रसे सब काम ठीक हो जाता है! कितने ही जन्मोंके पाप क्यों न हों, सब मिट जाते हैं। इस विषयमें दूसरे किसीकी सम्मति लेनेकी जरूरत ही नहीं है। कइयोंका आश्रय लेनेकी जरूरत नहीं, कइयोंकी गरज करनेकी जरूरत नहीं, कइयोंका भरोसा रखनेकी जरूरत नहीं, केवल एक भगवान्‌के हो जायँ। फिर किसीसे डरनेकी जरूरत नहीं। भगवान् पूर्ण अभय कर देंगे। हमें कोई नया काम नहीं करना है। भगवान्‌के तो हम सदासे हैं ही। केवल अपनी भूल मिटानी है।

२५. भगवत्प्रेमका स्वरूप और महत्त्व

जीवमात्र भगवान्‌का अंश है। गीतामें भगवान् कहते हैं—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (१५। ७)। भगवान्‌का अंश होनेके कारण जीवमें भगवान्‌के प्रति एक स्वतःसिद्ध आकर्षण है। वह आकर्षण भगवान्‌की तरफ होनेसे 'प्रेम' और नाशवान् पदार्थों तथा व्यक्तियोंके प्रति होनेसे 'राग' (काम, आसक्ति अथवा मोह) हो जाता है। राग तो जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए सम्पूर्ण जीवोंमें रहता है, पर प्रेम केवल भगवान् तथा उनके अनन्यभक्तोंमें ही रहता है*।

रागमें सुख लेनेका भाव रहता है, प्रेममें सुख देनेका भाव रहता है। रागमें लेना-ही-लेना होता है, प्रेममें देना-ही-देना होता है। रागमें जड़ताकी मुख्यता होती है, प्रेममें चिन्मयताकी मुख्यता होती है। रागमें पराधीनता होती है, प्रेममें स्वाधीनता होती है। राग परिणाममें दुःख देता है, प्रेम अनन्त आनन्द देता है। राग नरकोंकी तरफ ले जाता है, प्रेम भगवान्‌की तरफ ले जाता है। रागका भोक्ता जीव है, प्रेमके भोक्ता स्वयं भगवान् हैं।

भगवान्‌में भी प्रेमकी भूख रहती है। इसलिये उपनिषद्‌में आता है कि भगवान्‌का अकेलेमें मन नहीं लगा तो उन्होंने संकल्प किया कि 'मैं एक ही अनेक रूपोंमें हो जाऊँ'। इस संकल्पसे सृष्टिकी रचना हुई—

'**एकाकी न रमते**' (बृहदारण्यक० १। ४। ३)

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।

(तैत्तिरीय० २। ६)

सदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।

(छान्दोग्य० ६। २। ३)

इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने मनुष्यको अपने लिये अर्थात् प्रेमके लिये ही बनाया है। भगवान्‌ने मनुष्यकी रचना न तो अपने सुखभोगके लिये की है और न उसपर शासन करनेके लिये की है, प्रत्युत इसलिये की है कि वह मेरेसे प्रेम करे और मैं उससे प्रेम करूँ। तात्पर्य है कि भगवान्‌ने मनुष्यको अपना दास (पराधीन) नहीं बनाया है, प्रत्युत अपने समान (सखा) बनाया है। उपनिषद्‌में आया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

(मुण्डक० ३। १। १; श्वेताश्वतर० ४। ६)

इसलिये सम्पूर्ण योनियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा है, जो भगवान्‌से प्रेम कर सकता है, उनको अपना मान सकता है। जैसे, पुत्र मूढ़तावश अलग हो जाय तो माता-पिता चाहते हैं कि वह हमारे पास लौट आये, ऐसे ही भगवान् चाहते हैं कि संसारमें फँसा हुआ जीव मेरी तरफ आ जाय। भगवान्‌के इस प्रेमकी भूखकी पूर्ति मनुष्यके सिवाय और कोई नहीं कर सकता। देवतालोग भोगोंमें लगे हुए हैं, नारकीय जीव दुःख पा रहे हैं और चौरासी लाख योनियोंके जीव मूढ़ता (अज्ञान, मोह)-में पड़े हुए हैं। एक मनुष्य ही ऐसा है जो अपनी मूढ़ता मिटाकर यह मान सकता है कि 'मैं संसारका नहीं हूँ, संसार मेरा नहीं है' और 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।'

मनुष्य तो संसारमें राग करके भगवान्‌से विमुख हो जाता है, पर भगवान् कभी मनुष्यसे विमुख नहीं होते। भगवान्‌का मनुष्यके प्रति प्रेम ज्यों-का-त्यों बना रहता है—***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६। २)। इस प्रेमके कारण ही भगवान् मनुष्यको निरन्तर अपनी ओर खींचते रहते हैं। इसकी पहचान यह है कि कोई भी अवस्था,

* 'प्रेम ही भगवान् है'—ऐसा कहना ठीक नहीं है, प्रत्युत 'भगवान्‌में प्रेम है'—ऐसा कहना चाहिये। कारण कि 'प्रेम ही भगवान् है'—ऐसा माननेसे भगवान् सीमित हो जाते हैं, जबकि भगवान् असीम हैं। प्रेम भगवान्‌की विभूति है। दूसरी बात, 'प्रेम ही भगवान् है'—ऐसा कहनेसे ज्ञानकी प्रधानता रहेगी और प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान नहीं होगा। अतः 'भगवान्‌में प्रेम' है और उस प्रेमको प्रकट करनेके लिये ही भगवान् एकसे दो होते हैं।

परिस्थिति नित्य-निरन्तर नहीं रहती, बदलती रहती है। मनुष्य भगवान्‌के सिवाय जिस वस्तु या व्यक्तिको पकड़ता है, उसको भगवान् छुड़ा देते हैं। परन्तु अन्त:करणमें संसारका महत्त्व अधिक होनेके कारण मनुष्य भगवान्‌के इस प्रेमको पहचानता नहीं। अगर वह भगवान्‌के प्रेमको पहचान ले तो फिर उसका संसारमें आकर्षण हो ही नहीं!

मुक्ति तो उनकी भी हो सकती है, जो ईश्वरको नहीं मानते। परन्तु प्रेमकी प्राप्ति सबको नहीं होती। प्रेमकी प्राप्ति भगवान्‌में आत्मीयता (अपनापन) होनेसे होती है। भगवान् मुक्त अथवा ज्ञानी महापुरुषके वशमें नहीं होते, प्रत्युत प्रेमीके वशमें होते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

'हे द्विज! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। मुझे भक्तजन बहुत प्रिय हैं। उनका मेरे हृदयपर पूर्ण अधिकार है।'

ज्ञानीको प्रेम प्राप्त हो जाय—यह नियम नहीं है, पर प्रेमीको ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है—यह नियम है। यद्यपि प्रेमी भक्तको ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, तथापि उसमें किसी प्रकारकी कमी न रहे, इसलिये भगवान् उसको अपनी तरफसे ज्ञान प्रदान करते हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। ११)

'उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूप (होनेपन)-में रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

प्रेम ज्ञानसे भी विलक्षण है। ज्ञानमें उदासीनता है, प्रेममें मिठास है। जैसे, किसी वस्तुका ज्ञान होनेपर केवल अज्ञान मिटता है, मिलता कुछ नहीं। परन्तु 'वस्तु मेरी है'—इस तरह वस्तुमें ममता होनेसे एक रस मिलता है। तात्पर्य यह हुआ कि वस्तुके आकर्षणमें जो आनन्द है, वह वस्तुके ज्ञानमें नहीं है। इसलिये ज्ञानमें तो 'अखण्ड आनन्द' है, पर प्रेममें 'अनन्त आनन्द' है। मोक्षकी प्राप्ति होनेपर मुमुक्षा अथवा जिज्ञासा तो नहीं रहती है, पर प्रेम-पिपासा रह जाती है। भोगेच्छाका अन्त होता है, मुमुक्षा अथवा जिज्ञासाकी पूर्ति होती है, पर प्रेम-पिपासाका न अन्त होता है और न पूर्ति होती है, प्रत्युत वह प्रतिक्षण बढ़ती रहती है—'**प्रतिक्षणवर्धमानम्**' (नारदभक्ति० ५४)।

जैसे धनी आदमीको सदा धनकी कमी ही दीखती है—***'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई',*** ऐसे ही प्रेमी भक्तको सदा प्रेमकी कमी ही दीखती है। यदि अपनेमें प्रेमकी कमी न दीखे तो प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान कैसे होगा? अपनेमें प्रेमकी कमी मानना ही 'नित्यविरह' है। नित्यविरह और नित्यमिलन—दोनों ही नित्य हैं। इसलिये न तो प्रियतमसे मिलनकी लालसा पूरी होती है और न प्रियतमसे वियोग ही होता है—

अरबरात मिलिबे को निसिदिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।
'भगवतरसिक' रसिक की बातें,
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

ज्ञानमें तो तृप्ति हो जाती है—'**आत्मतृप्तश्च मानवः**' (गीता ३। १७), पर प्रेममें तृप्ति होती ही नहीं—

राम चरित जे सुनत अघाहीं।
रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

(मानस, उत्तर० ५३। १)

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना।
कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे।
तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥

(मानस, अयोध्या० १२८। २-३)

इसलिये मुक्त होनेपर भी स्वयंमें अनन्त-रसकी भूख रहती है। भगवान् श्रीरामको देखकर जीवन्मुक्त एवं तत्त्वज्ञानी राजा जनक कहते हैं—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(मानस, बाल० २१६।३)

'ब्रह्मसुख' में ज्ञानका अखण्डरस है और 'अति अनुराग' में प्रेमका अनन्तरस है। प्रेमकी जागृतिके बिना स्वयंकी भूखका अत्यन्त अभाव नहीं होता।

मुक्त होनेसे पहले जीव और परमात्मामें भेद होता है, मुक्त होनेपर अभेद होता है और मुक्त होनेके बाद जब प्रेमकी जागृति होती है, तब जीव (प्रेमी) और परमात्मा (प्रेमास्पद)-में अभिन्नता होती है। मुक्त होनेसे पहलेका भेद अहम्‌के कारण बाँधनेवाला होता है, पर मुक्त होनेके बाद अहम्‌का नाश होनेपर जो प्रेमी और प्रेमास्पदका भेद होता है, वह अनन्त आनन्द देनेवाला होता है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भक्ति० ४२)

'बोधसे पहलेका द्वैत तो मोहमें डाल सकता है, पर बोध होनेके बाद भक्तिके लिये कल्पित अर्थात् स्वीकृत द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

भक्तियोगमें तो सीधे ही प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है, पर ज्ञानयोगमें मुक्तिके बाद प्रेमकी प्राप्ति होती है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (गीता १८।५४)। ज्ञानयोगके जिस साधकमें भक्तिके संस्कार होते हैं, जो मुक्तिको ही सर्वोपरि नहीं मानता, ऐसे साधकको मुक्ति प्राप्त होनेके बाद भी सन्तोष नहीं होता। अत: भगवान् अपनी अहैतुकी कृपासे उसके मुक्तिके अखण्डरसको फीका कर देते हैं और अपने प्रेमके अनन्तरसकी प्राप्ति करा देते हैं। परन्तु जिस साधकमें भक्तिके संस्कार नहीं होते और जो मुक्तिको ही सर्वोपरि मानकर भक्तिका अनादर, तिरस्कार, खण्डन करता है, वह सदा मुक्त ही रहता है। उसको प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती।

जिस साधनमें अपने उद्योगकी मुख्यता होती है, वह 'लौकिक' होता है और जिस साधनमें भगवान्‌के आश्रयकी मुख्यता होती है, वह 'अलौकिक' होता है। भगवान्‌ने कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंको 'लौकिक निष्ठा' बताया है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(गीता ३।३)

परन्तु भक्तियोग 'अलौकिक निष्ठा' है। कारण कि जो भगवान्‌के आश्रित हो जाता है, वह भगवन्निष्ठ होता है। उसका साधन और साध्य—दोनों भगवान् ही होते हैं। क्षर और अक्षर—दोनों लौकिक हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५।१६)। परन्तु भगवान् अलौकिक हैं—'**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः**' (गीता १५।१७)। कर्मयोग 'क्षर' (जगत्)-को लेकर और ज्ञानयोग 'अक्षर' (जीव)-को लेकर चलता है, पर भक्तियोग भगवान्‌को लेकर चलता है। अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है। प्रेमलक्षणा भक्ति ही सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है।

लौकिक साधनावाले जो साधक मोक्षको ही सर्वोपरि मानकर भक्तिका अनादर, उपेक्षा करते हैं, वे प्रेमके तत्त्वको समझ ही नहीं सकते। परन्तु अलौकिक साधनावाला भक्त आरम्भसे ही भगवान्‌में अपनापन करके उनके आश्रित हो जाता है तो भगवान् उसको मोक्ष और प्रेम—दोनों प्रदान कर देते हैं।

शरीर तथा संसार 'पर' हैं और स्वयं तथा परमात्मा 'स्व' हैं। 'स्व' के दो अर्थ होते हैं—स्वयं और स्वकीय। परमात्माका अंश होनेसे हम परमात्माके हैं और परमात्मा हमारे हैं; अतः परमात्मा 'स्वकीय' हैं। स्वकीयकी अधीनतामें पराधीनता नहीं है, प्रत्युत असली स्वाधीनता है। जैसे, बालकके लिये माँकी अधीनता पराधीनता नहीं होती; क्योंकि माँ 'पर' नहीं है,प्रत्युत अपनी होनेसे 'स्वकीय' है। इसलिये माँकी अधीनतामें बालकका विशेष हित होता है और अपनेपर कोई जिम्मेवारी न होनेसे बालक निर्भय और निश्चिन्त रहता है।

मुक्ति प्राप्त होनेपर मुक्त महापुरुषमें अहम्‌की एक सूक्ष्म गंध रहती है। अहम्‌की यह गंध मुक्तिमें बाधक नहीं होती, प्रत्युत मुक्त महापुरुषोंमें मतभेद पैदा करनेवाली होती है। परन्तु प्रेमकी प्राप्ति होनेपर अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है, अहम्‌की सूक्ष्म गंध भी नहीं रहती—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंका परिणाम एक ही होता है*। दोनोंके परिणाममें मनुष्य मुक्त हो जाता है; अर्थात् जन्म-मरणसे, सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट जाता है और स्वाधीन हो जाता है। मुक्त होनेपर संसारकी निवृत्ति तो हो जाती है, पर प्राप्ति कुछ नहीं होती। परन्तु भक्तियोगसे संसारकी निवृत्तिके साथ-साथ परमात्माकी तथा उनके प्रेमकी प्राप्ति भी हो जाती है। मुक्तिमें तो जीव स्वयं जीवन्मुक्तिके रसका आस्वादन करनेवाला होता है, पर प्रेम (पराभक्ति)-की प्राप्ति होनेपर वह रसका दाता हो जाता है! भगवान्‌को भी रस देनेवाला हो जाता है! जैसे कोई मनुष्य गंगाजलसे गंगाकी पूजा करे तो इसमें गंगाकी ही विशेषता हुई, मनुष्यकी नहीं। ऐसे ही भक्त भगवान्‌के दिये हुए प्रेमसे ही उनको रस देता है तो इसमें भगवान्‌की ही विशेषता हुई।

प्रेमकी प्राप्ति अपने बल, योग्यता, विद्या, यज्ञ, तप आदि साधनोंसे नहीं होती, प्रत्युत भगवान्‌को अपना माननेसे होती है। बल, योग्यता आदिके बदले जो वस्तु मिलेगी, वह बल, योग्यता आदिसे कम मूल्यकी ही होगी। अगर किसी साधनके बदले साध्य मिलेगा तो वह साधनसे तुच्छ ही होगा और ऐसा साध्य मिलकर भी हमें क्या निहाल करेगा? इसलिये भगवान्‌को अपना माने बिना प्रेम-प्राप्तिका दूसरा कोई साधन हो ही नही सकता; क्योंकि भगवान् वास्तवमें अपने हैं। अपना वही होता है जो कभी हमारेसे बिछुड़ता नहीं। एक भगवान् ही ऐसे हैं, जो हमारेसे कभी बिछुड़ते नहीं, सदा हमारे साथ रहते हैं—‘**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**’ (गीता १५। १५)।

भगवान् भक्तके अपनेपन (आत्मीयता)-को देखते हैं, यह नहीं देखते कि यह कैसा है, बद्ध है या मुक्त? जैसे बालक माँको पुकारता है तो वह बालकके बल, योग्यता, विद्या आदिको न देखकर उसके अपनेपनको देखती है और उसको गोदमें ले लेती है। ऐसे ही जब भक्त अपनी स्थितिसे असन्तुष्ट होकर भगवान्‌को पुकारता है, तब भगवान् उसको अपना प्रेम प्रदान कर देते हैं।

जब जीव अपनेसे भी अधिक शरीर-संसारको महत्त्व देता है, तब वह बँध जाता है। जब वह शरीर-संसारसे भी अधिक अपनेको महत्त्व देता है, तब वह मुक्त हो जाता है। जब वह अपनेसे भी अधिक भगवान्‌को महत्त्व देता है, तब वह भक्त (प्रेमी) हो जाता है। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर भक्त और भगवान् कभी दो हो जाते हैं, कभी एक हो जाते हैं। जब भक्त अपनी तरफ देखता है, तब ‘मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं’—ऐसा अनुभव होनेसे भक्त और भगवान् दो हो जाते हैं। जब भक्त भगवान्‌की तरफ देखता है, तब ‘एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है’—ऐसा अनुभव होनेसे भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं। इस प्रकार द्वैत और अद्वैत दोनों होनेसे ही प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है अर्थात् उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है, कभी पूर्णता नहीं आती।

---

* साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितःसम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(गीता ५। ४-५)

२६-भगवान् आज ही मिल सकते हैं

परमात्मप्राप्ति बहुत सुगम है। **इतना सुगम दूसरा कोई काम नहीं है।** परन्तु केवल परमात्माकी ही चाहना रहे, साथमें दूसरी कोई भी चाहना न रहे। कारण कि परमात्माके समान दूसरा कोई है ही नहीं*। जैसे परमात्मा अनन्य हैं, ऐसे ही उनकी चाहना भी अनन्य होनी चाहिये। सांसारिक भोगोंके प्राप्त होनेमें तीन बातें होनी जरूरी हैं—इच्छा, उद्योग और प्रारब्ध। पहले तो सांसारिक वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा होनी चाहिये, फिर उसकी प्राप्तिके लिये कर्म करना चाहिये। कर्म करनेपर भी उसकी प्राप्ति तब होगी, जब उसके मिलनेका प्रारब्ध होगा। अगर प्रारब्ध नहीं होगा तो इच्छा रखते हुए और उद्योग करते हुए भी वस्तु नहीं मिलेगी। इसलिये उद्योग तो करते हैं नफेके लिये, पर लग जाता है घाटा! परन्तु **परमात्माकी प्राप्ति इच्छामात्रसे होती है। उसमें उद्योग और प्रारब्धकी जरूरत नहीं है।** परमात्माके मार्गमें घाटा कभी होता ही नहीं, नफा-ही-नफा होता है।

एक परमात्माके सिवाय कोई भी चीज इच्छामात्रसे नहीं मिलती। कारण यह है कि मनुष्यशरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। अपनी प्राप्तिका उद्देश्य रखकर ही भगवान्‌ने हमारेको मनुष्यशरीर दिया है। दूसरी बात, परमात्मा सब जगह हैं। सुईकी तीखी नोक टिक जाय, इतनी जगह भी भगवान्‌से खाली नहीं है। अत: उनकी प्राप्तिमें उद्योग और प्रारब्धका काम ही नहीं है। कर्मोंसे वह चीज मिलती है, जो नाशवान् होती है। अविनाशी परमात्मा कर्मोंसे नहीं मिलते। उनकी प्राप्ति उत्कट इच्छामात्रसे होती है।

पुरुष हो या स्त्री हो, साधु हो या गृहस्थ हो, पढ़ा-लिखा हो या अपढ़ हो, बालक हो या जवान हो, कैसा ही क्यों न हो, वह इच्छामात्रसे परमात्माको प्राप्त कर सकता है। परमात्माके सिवाय न जीनेकी चाहना हो, न मरनेकी चाहना हो, न भोगोंकी चाहना हो, न संग्रहकी चाहना हो। वस्तुओंकी चाहना न होनेसे वस्तुओंका अभाव नहीं हो जायगा। **जो हमारे प्रारब्धमें लिखा है, वह हमारेको मिलेगा ही।** जो चीज हमारे भाग्यमें लिखी है, उसको दूसरा नहीं ले सकता—'**यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्**'। हमारेको आनेवाला बुखार दूसरेको कैसे आयेगा? ऐसे ही हमारे प्रारब्धमें धन लिखा है तो जरूर आयेगा। परन्तु **परमात्माकी प्राप्तिमें प्रारब्ध नहीं है।**

परमात्मा किसी मूल्यके बदले नहीं मिलते। मूल्यसे वही वस्तु मिलती है, जो मूल्यसे छोटी होती है। बाजारमें किसी वस्तुके जितने रुपये लगते हैं, वह वस्तु उतने रुपयोंकी नहीं होती। हमारे पास ऐसी कोई वस्तु (क्रिया और पदार्थ) है ही नहीं, जिससे परमात्माको प्राप्त किया जा सके। वह परमात्मा अद्वितीय है, सदैव है, समर्थ है, सब समयमें है और सब जगह है। वह हमारा है और हमारेमें है—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५। १५), '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' (गीता १८। ६१)। वह हमारेसे दूर नहीं है। हम चौरासी लाख योनियोंमें चले जायँ तो भी भगवान् हमारे हृदयमें रहेंगे। स्वर्ग या नरकमें चले जायँ तो भी वे हमारे हृदयमें रहेंगे। पशु-पक्षी या वृक्ष आदि बन जायँ तो भी वे हमारे हृदयमें रहेंगे। देवता बन जायँ तो भी वे हमारे हृदयमें रहेंगे। तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त बन जायँ तो भी वे हमारे हृदयमें रहेंगे। दुष्ट-से-दुष्ट, पापी-से-पापी, अन्यायी-से-अन्यायी बन जायँ तो भी वे भगवान् हमारे हृदयमें रहेंगे। **ऐसे**

---

* न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥ (गीता ११। ४३)

'हे अनन्त प्रभावशाली भगवन्! इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो हो ही कैसे सकता है!'

सबके हृदयमें रहनेवाले भगवान्‌की प्राप्ति क्या कठिन होगी? पर जीनेकी इच्छा, मानकी इच्छा, बड़ाईकी इच्छा, सुखकी इच्छा, भोगकी इच्छा आदि दूसरी इच्छाएँ साथमें रहते हुए भगवान् नहीं मिलते। कारण कि भगवान्‌के समान तो भगवान् ही हैं। उनके समान दूसरा कोई था ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं, फिर वे कैसे मिलेंगे? केवल भगवान्‌की चाहना होनेसे ही वे मिलेंगे। अविनाशी भगवान्‌के सामने नाशवान्‌की क्या कीमत है? क्या नाशवान् क्रिया और पदार्थके द्वारा वे मिल सकते हैं? नहीं मिल सकते। जब साधक भगवान्‌से मिले बिना नहीं रह सकता, तब भगवान् भी उससे मिले बिना नहीं रहते; क्योंकि भगवान्‌का स्वभाव है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११) 'जो भक्त जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ।'

मान लें कि कोई मच्छर गरुड़जीसे मिलना चाहे और गरुड़जी भी उससे मिलना चाहें तो पहले मच्छर गरुड़जीके पास पहुँचेगा या गरुड़जी मच्छरके पास पहुँचेंगे? गरुड़जीसे मिलनेमें मच्छरकी ताकत काम नहीं करेगी। इसमें तो गरुड़जीकी ताकत ही काम करेगी। इसी तरह परमात्मप्राप्तिकी इच्छा हो तो परमात्माकी ताकत ही काम करेगी। इसमें हमारी ताकत, हमारे कर्म, हमारा प्रारब्ध काम नहीं करेगा, प्रत्युत हमारी चाहना ही काम करेगी। हमारी चाहनाके सिवाय और किसी चीजकी आवश्यकता नहीं है।

हम तो भगवान्‌के पास नहीं पहुँच सकते तो क्या भगवान् भी हमारे पास नहीं पहुँच सकते? हम कितना ही जोर लगायें, पर भगवान्‌के पास नहीं पहुँच सकते। परन्तु भगवान् तो हमारे हृदयमें ही विराजमान हैं! हम भगवान्‌को दूर मानते हैं, इसलिये भगवान् हमसे दूर होते हैं। द्रौपदीने भगवान्‌को '**गोविन्द द्वारकावासिन्**' कहकर पुकारा तो भगवान्‌को द्वारका जाकर आना पड़ा। वह यहाँ कहती तो वे चट यहीं प्रकट हो जाते! **अगर हम ऐसा मानते हैं कि भगवान् अभी नहीं मिलेंगे तो वे नहीं मिलेंगे; क्योंकि हमने आड़ लगा दी।**

गोरखपुरकी एक घटना है। संवत् २००० से पहलेकी बात है। मैं गोरखपुरमें व्याख्यान देता था। वहाँ सेवारामजी नामके एक सज्जन थे, जो बैंकमें काम करते थे। एक दिन मैंने व्याख्यानमें कह दिया कि अगर आपका दृढ़ विचार हो जाय कि भगवान् आज मिलेंगे तो वे आज ही मिल जायँगे! उन सज्जनको यह बात लग गयी। उन्होंने विचार कर लिया कि हमें तो आज ही भगवान्‌से मिलना है। वे पुष्पमाला, चन्दन आदि ले आये कि भगवान् आयेंगे तो उनको माला पहनाऊँगा, चन्दन चढ़ाऊँगा! वे कमरा बन्द करके भगवान्‌के आनेकी प्रतीक्षामें बैठ गये। समयपर भगवान्‌के आनेकी सम्भावना भी हो गयी और सुगन्ध भी आने लगी, पर भगवान् प्रकट नहीं हुए। दूसरे दिन उन्होंने मेरेसे कहा कि आज आप मेरे घरसे भिक्षा लें। मैं कई घरोंसे भिक्षा लेकर पाता था। उस दिन उनके घर गया तो उन्होंने मेरेसे पूछा कि भगवान् मिलनेवाले थे, सुगन्ध भी आ गयी थी, फिर बाधा क्या लगी कि वे मिले नहीं? मैंने कहा कि भाई! मेरेको इसका क्या पता? परन्तु मैं तुम्हारेसे पूछता हूँ कि क्या तुम्हारे मनमें यह बात आती थी कि इतनी जल्दी भगवान् कैसे मिलेंगे? वे बोले कि यह बात तो आती थी! मैंने कहा कि इसी बातने अटकाया! अगर मनमें यह बात होती कि भगवान् मेरेको अवश्य मिलेंगे, उनको मिलना ही पड़ेगा तो वे जरूर मिलते। भगवान् ऐसे कैसे जल्दी मिलेंगे—ऐसा भाव करके तुमने ही बाधा लगायी है।

अगर आप विचार कर लें कि भगवान् आज मिलेंगे तो वे आज ही मिल जायँगे! परन्तु मनमें यह छाया नहीं आनी चाहिये कि इतनी जल्दी कैसे मिलेंगे? **भगवान् आपके कर्मोंसे अटकते नहीं। अगर आपके दुष्कर्मसे, पापकर्मसे भगवान् अटक जायँ तो वे मिलकर भी क्या निहाल करेंगे?** परन्तु भगवान् किसी कर्मसे अटकते नहीं। ऐसी कोई शक्ति

है ही नहीं, जो भगवान्‌को मिलनेसे रोक दे। वे न तो पापकर्मोंसे अटकते हैं, न पुण्यकर्मोंसे अटकते हैं। वे सबके लिये सुलभ हैं। अगर भगवान् हमारे पापोंसे अटक जायँ तो हमारे पाप भगवान्‌से भी प्रबल हुए! अगर पाप प्रबल (बलवान्) हैं तो भगवान् मिलकर भी क्या निहाल करेंगे? जो पापोंसे ही अटक जाय, उसके मिलनेसे क्या लाभ? परन्तु **भगवान् इतने निर्बल नहीं हैं, जो पापोंसे अटक जायँ।** उनके समान बलवान् कोई है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता ही नहीं। आपकी जोरदार इच्छा हो जाय तो आप कैसे ही हों, भगवान् तो मिलेंगे, मिलेंगे, मिलेंगे! उनको मिलना पड़ेगा, इसमें सन्देह नहीं है। परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही तो मानवजन्म मिला है, नहीं तो पशुमें और मनुष्यमें क्या फर्क हुआ?

खादते मोदते नित्यं शुनकः शूकरः खरः।
तेषामेषां को विशेषो वृत्तिर्येषां तु तादृशी॥
सूकर कूकर ऊँट खर, बड़ पशुअन में चार।
तुलसी हरि की भगति बिनु, ऐसे ही नर नार॥

देवता भोगयोनि है। वे भी चाहते हैं कि भगवान् हमारेको मिलें—'**देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः**' (गीता ११। ५२)। वे भगवान्‌को चाहते तो हैं, पर भोगोंकी इच्छाको नहीं छोड़ते। यही दशा मनुष्योंकी है। अगर आप हृदयसे भगवान्‌को चाहो तो उनको मिलना ही पड़ेगा, इसमें सन्देह नहीं है। पर आप ही बाधा लगा दो कि भगवान् नहीं मिलेंगे, तो फिर वे नहीं मिलेंगे! गीतामें साफ लिखा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९। ३०-३१)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्य भक्त होकर मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।'

'वह तत्काल (उसी क्षण) धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! मेरे भक्तका पतन नहीं होता—ऐसी तुम प्रतिज्ञा करो।'

तात्पर्य है कि दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी यदि '**अनन्यभाक्**' हो जाय अर्थात् भगवान्‌के सिवाय कोई चाहना न रखे तो उसको भी साधु मान लेना चाहिये; क्योंकि उसने निश्चय पक्का कर लिया है कि भगवान् जरूर मिलेंगे।

आप केवल भगवान्‌की ही इच्छा करो और कोई इच्छा मत करो। न जीनेकी इच्छा करो, न मरनेकी इच्छा करो। न मानकी इच्छा करो, न बड़ाईकी इच्छा करो। न भोगोंकी इच्छा करो, न रुपयोंकी इच्छा करो। केवल एक भगवान्‌की इच्छा करो तो वे मिल जायँगे। कम-से-कम मेरी बातकी परीक्षा तो करके देखो! भगवान् आपको मिलते नहीं; क्योंकि आप उनको चाहते नहीं। आपके भीतर रुपयोंकी चाहना हो तो भगवान् बीचमें कूदकर क्यों पड़ेंगे? **संसारमें सबसे रद्दी वस्तु रुपया है। रुपयोंसे रद्दी चीज दूसरी कोई है ही नहीं। ऐसी रद्दी चीजमें आपका मन अटका हुआ हो तो भगवान् कैसे मिलेंगे?** रुपये देकर आप भोजन, वस्त्र, सवारी आदि खरीद सकते हो, पर रुपया खुद न तो खानेके काम आता है, न पहननेके काम आता है, न सवारीके काम आता है। तात्पर्य है कि **रुपये काम नहीं आते, प्रत्युत उनका खर्च काम आता है।**

परमात्मा इच्छामात्रसे मिलते हैं। उनको रोकनेकी ताकत किसीमें भी नहीं है। छोटा बालक रोता है तो माँ आ ही जाती है। बालक घरका कुछ भी काम नहीं करता, उलटे काम करनेमें आपको बाधा लगाता है, पर जब वह रोने लगता है, तब सब घरवाले उसके पक्षमें हो जाते हैं। सास-ससुर, देवर-जेठ सभी कहते हैं कि बहू! बालक रो रहा है, उसको उठा ले। माँको सब काम छोड़कर बालकको उठाना पड़ता है। बालकका एकमात्र बल

रोना ही है—**'बालानां रोदनं बलम्'।** रोनेमें बड़ी ताकत है। आप सच्चे हृदयसे व्याकुल होकर भगवान्‌के लिये रोने लग जाओ तो जितने भगवान्‌के भक्त हुए हैं, सन्त-महात्मा हुए हैं, वे सब-के-सब आपके पक्षमें हो जायँगे और भगवान्‌को उलाहना देंगे कि आप मिलते क्यों नहीं? वे ही भगवान्‌के सास-ससुर आदि हैं!

वास्तवमें भगवान् मिले हुए ही हैं। आपकी सांसारिक इच्छा ही उनको रोक रही है। आप रुपयोंकी इच्छा करते हो, भोगोंकी इच्छा करते हो तो भगवान् उनको जबर्दस्ती नहीं छुड़ाते। अगर आप सांसारिक इच्छाएँ छोड़कर केवल भगवान्‌को ही चाहो तो आपको कौन रोक सकता है? आपको बाधा देनेकी किसीकी ताकत नहीं है। अगर आप भगवान्‌के लिये व्याकुल हो जाओ तो भगवान् भी व्याकुल हो जायँगे। आप संसारके लिये व्याकुल हो जाओ तो संसार व्याकुल नहीं होगा। आप संसारके लिये रोओ तो संसार राजी नहीं होगा। पर भगवान्‌के लिये रोओ तो वे भी रो पड़ेंगे।

बालक सच्चा रोता है या झूठा, यह माँ ही समझती है। बालकके आँसू तो आये नहीं, केवल ऊँ-ऊँ करता है तो माँ समझ लेती है कि यह ठगाई करता है! अगर बालक सचाईसे रो पड़े, उसके साँस ऊँचे चढ़ जायँ तो माँ सब काम भूल जायगी और चट उसको उठा लेगी। अगर माँ उस बालकके पास न जाय तो उस माँको मर जाना चाहिये! उसके जीनेका क्या लाभ! ऐसे ही सच्चे हृदयसे चाहनेवालेको भगवान् न मिलें तो भगवान्‌को मर जाना चाहिये!

एक साधु थे। उनके पास एक आदमी आया और उसने पूछा कि भगवान् जल्दी कैसे मिलें? साधुने कहा कि भगवान् उत्कट चाहना होनेसे मिलेंगे। उसने पूछा कि उत्कट चाहना कैसी होती है? साधुने कहा कि भगवान्‌के बिना रहा न जाय। वह आदमी ठीक समझा नहीं और बार-बार पूछता रहा कि उत्कट चाहना कैसी होती है? एक दिन साधुने उस आदमीसे कहा कि आज तुम मेरे साथ नदीमें स्नान करने चलो। दोनों नदीमें गये और स्नान करने लगे। उस आदमीने जैसे ही नदीमें डुबकी लगायी, साधुने उसका गला पकड़कर नीचे दबा दिया। वह आदमी थोड़ी देर नदीके भीतर छटपटाया, फिर साधुने उसको छोड़ दिया। पानीसे ऊपर आनेपर वह बोला कि तुम साधु होकर ऐसा काम करते हो! मैं तो आज मर जाता! साधुने पूछा कि बता, तेरेको क्या याद आया? माँ याद आयी, बाप याद आया, धन याद आया या स्त्री-पुत्र याद आये? वह बोला कि महाराज, मेरे तो प्राण निकले जा रहे थे, याद किसकी आती? साधु बोले कि तुम पूछते थे कि उत्कट अभिलाषा कैसी होती है, उसीका नमूना मैंने तेरेको बताया है। जब एक भगवान्‌के सिवाय कोई भी याद नहीं आयेगा और उनकी प्राप्तिके बिना रह नहीं सकोगे, तब भगवान् मिल जायँगे। भगवान्‌की ताकत नहीं है कि मिले बिना रह जायँ।

भगवान् कर्मोंसे नहीं मिलते। कर्मोंसे मिलनेवाली चीज नाशवान् होती है। कर्मोंसे धन, मान, आदर, सत्कार मिलता है। परमात्मा अविनाशी हैं। वे कर्मोंका फल नहीं हैं, प्रत्युत आपकी चाहनाका फल है। परन्तु आपको परमात्माके मिलनेकी परवाह ही नहीं है, फिर वे कैसे मिलेंगे? भगवान् मानो कहते हैं कि मेरे बिना तेरा काम चलता है तो मेरा भी तेरे बिना काम चलता है। मेरे बिना तेरा काम अटकता है तो मेरा काम भी तेरे बिना अटकता है। तू मेरे बिना नहीं रह सकता तो मैं भी तेरे बिना नहीं रह सकता।

आपमें परमात्मप्राप्तिकी जोरदार इच्छा है ही नहीं। आप सत्संग करते हो तो लाभ जरूर होगा। जितना सत्संग करोगे, विचार करोगे, उतना लाभ होगा—इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति जल्दी नहीं होगी। कई जन्म लग जायँगे, तब उनकी प्राप्ति होगी। **अगर उनकी प्राप्तिकी जोरदार इच्छा हो जाय तो भगवान्‌को आना ही पड़ेगा।** वे

तो हरदम मिलनेके लिये तैयार हैं! जो उनको चाहता है, उसको वे नहीं मिलेंगे तो फिर किसको मिलेंगे? इसलिये 'हे नाथ! हे मेरे नाथ!' कहते हुए सच्चे हृदयसे उनको पुकारो।

सच्चे हृदयसे प्रार्थना, जब भक्त सच्चा गाय है।
तो भक्तवत्सल कान में, वह पहुँच झट ही जाय है॥

भक्त सच्चे हृदयसे प्रार्थना करता है तो भगवान्‌को आना ही पड़ता है। किसीकी ताकत नहीं जो भगवान्‌को रोक दे। जिसके भीतर एक भगवान्‌के सिवाय अन्य कोई इच्छा नहीं है, न जीनेकी इच्छा है, न मरनेकी इच्छा है, न मानकी इच्छा है, न सत्कारकी इच्छा है, न आदरकी इच्छा है, न रुपयोंकी इच्छा है, न कुटुम्बकी इच्छा है, उसको भगवान् नहीं मिलेंगे तो क्या मिलेगा? **आप पापी हैं या पुण्यात्मा हैं, पढ़े-लिखे हैं या अपढ़ हैं, इस बातको भगवान् नहीं देखते।** वे तो केवल आपके हृदयका भाव देखते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की।
करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस, बाल० २९।३)

वे हृदयकी बातको याद रखते हैं, पहले किये पापोंको याद रखते ही नहीं! भगवान्‌का अन्तःकरण ऐसा है, जिसमें आपके पाप छपते ही नहीं! केवल आपकी अनन्य लालसा छपती है। भगवान् कैसे मिलें? कैसे मिलें? ऐसी अनन्य लालसा हो जायगी तो भगवान् जरूर मिलेंगे, इसमें सन्देह नहीं है। **आप और कोई इच्छा न करके, केवल भगवान्‌की इच्छा करके देखो कि वे मिलते हैं कि नहीं मिलते हैं!** आप करके देखो तो मेरी भी परीक्षा हो जायगी कि मैं ठीक कहता हूँ कि नहीं! मैं तो गीताके बलपर कहता हूँ। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (४। ११) 'जो भक्त जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ।' हमें भगवान्‌के बिना चैन नहीं पड़ेगा तो भगवान्‌को भी हमारे बिना चैन नहीं पड़ेगा। हम भगवान्‌के बिना रोते हैं तो भगवान् भी हमारे बिना रोने लग जायँगे! भगवान्‌के समान सुलभ कोई है ही नहीं! भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८।१४)

'हे पृथानन्दन! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ।'

भगवान्‌ने अपनेको तो सुलभ कहा है, पर महात्माको दुर्लभ कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७।१९)

'बहुत जन्मोंके अन्तिम जन्ममें अर्थात् मनुष्यजन्ममें 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इस प्रकार जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

हरि दुरलभ नहिं जगत में, हरिजन दुरलभ होय।
हरि हेर्‌याँ सब जग मिलै, हरिजन कहिं एक होय॥

भगवान्‌के भक्त तो सब जगह नहीं मिलते, पर भगवान् सब जगह मिलते हैं। भक्त जहाँ भी निश्चय कर लेता है, भगवान् वहीं प्रकट हो जाते हैं—

आदि अन्त जन अनँत के, सारे कारज सोय।
जेहि जिव उर नहचो धरै, तेहि ढिग परगट होय॥

प्रह्लादजीके लिये भगवान् खम्भेमेंसे प्रकट हो गये—

प्रेम बदौं प्रहलादहिको, जिन पाहनतें परमेस्वरु काढ़े॥

(कवितावली ७।१२७)

भगवान् सबके परम सुहृद् हैं। वे पापी, दुराचारीको जल्दी मिलते हैं। माँ कमजोर बालकको जल्दी मिलती है। एक माँके दो बेटे हैं। एक बेटा तो समयपर भोजन कर लेता है, फिर कुछ नहीं लेता और दूसरा बेटा दिनभर खाता रहता है। दोनों बेटे भोजनके लिये बैठ जायँ तो माँ पहले उसको रोटी

देगी जो समयपर भोजन करता है; क्योंकि वह भूखा उठ जायगा तो शामतक खायेगा नहीं। दूसरे बेटेको माँ कहती है कि तू ठहर जा; क्योंकि वह तो बकरीकी तरह दिनभर चरता रहता है। दोनों एक ही माँके बेटे हैं, फिर भी माँ पक्षपात करती है। इसी तरह **जो एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं चाहता, उसको भगवान् सबसे पहले मिलते हैं; क्योंकि वह भगवान्‌को अधिक प्रिय है।** वह एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीको अपना नहीं मानता। वह भगवान्‌के लिये दुःखी होता है तो भगवान्‌से उसका दुःख सहा नहीं जाता।

कोई चार-पाँच वर्षका बालक हो और उसका माँसे झगड़ा हो जाय तो माँ उसके सामने ढीली पड़ जाती है। संसारकी लड़ाईमें तो जिसमें अधिक बल होता है, वह जीत जाता है, पर **प्रेमकी लड़ाईमें जिसमें प्रेम अधिक होता है, वह हार जाता है।** बेटा माँसे कहता है कि मैं तेरी गोदीमें नहीं आऊँगा, पर माँ उसकी गरज करती है कि आ जा, आ जा बेटा! माँमें यह स्नेह भगवान्‌से ही तो आया है। भगवान् भी भक्तकी गरज करते हैं। भगवान्‌को जितनी गरज है, उतनी गरज दुनियाको नहीं है। माँको जितनी गरज होती है, उतनी बालकको नहीं होती। बालक तो माँका दूध पीते समय दाँतोंसे काट लेता है, पर माँ क्रोध नहीं करती। अगर वह क्रोध करे तो बालक जी सकता है क्या? माँ तो बालकपर कृपा ही करती है। ऐसे ही भगवान् हमारी अनन्त जन्मोंकी माता है। वे भक्तकी उपेक्षा नहीं कर सकते। भक्तको वे अपना मुकुटमणि मानते हैं—***'मैं तो हूँ भगतन को दास, भगत मेरे मुकुटमणि'।*** भक्तोंका काम करनेके लिये भगवान् हरदम तैयार रहते हैं। जैसे बच्चा माँके बिना नहीं रह सकता और माँ बच्चेके बिना नहीं रह सकती, ऐसे ही भक्त भगवान्‌के बिना नहीं रह सकता और भगवान् भक्तके बिना नहीं रह सकते।

२७. साधनके दो प्रधान सूत्र

चौरासी लाख योनियोंमें भटकते हुए जीवको परमपिता परमात्मा अपनी अहैतुकी कृपासे बीचमें ही मानवशरीर प्रदान करते हैं। इस मानवशरीरको प्राप्त करके जीव सुगमतासे अपना कल्याण कर सकता है। इसलिये गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

बड़े भाग मानुष तनु पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।
पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

(मानस, उत्तर० ४३। ४)

भगवान्‌ने तो इसलिये मानवशरीर प्रदान किया कि जीव संसार-बन्धनसे छूटकर सदाके लिये कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाय। परन्तु दुःखकी बात है कि मनुष्य अपने उद्देश्यसे विमुख होकर भोग तथा संग्रहमें लग गया! कभी कोई मनुष्य संतकृपा अथवा भगवत्कृपासे साधनमें लग भी जाता है तो उसमें दृढ़ निश्चयकी कमी रहती है। दृढ़ निश्चयके बिना उसका जीवन साधनमय नहीं बन पाता। जीवन साधनमय न बननेके कारण वह कोरी बातें सीखकर वक्ता अथवा लेखक तो बन सकता है, पर परमशान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। जीवनको साधनमय बनानेके लिये यह आवश्यक है कि साधक इन दो बातोंको दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर ले—

(१) मेरा कुछ भी नहीं है, मेरेको कुछ भी नहीं चाहिये और मेरा किसीसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

(२) केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं।

पहली बात संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करानेवाली है और दूसरी बात भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाली है। पहली बातको दृढ़तासे स्वीकार करनेसे 'मुक्ति' और दूसरी बातको दृढ़तासे स्वीकार करनेसे 'भक्ति' की

सिद्धि हो जाती है। अतः विवेकप्रधान साधक पहली बातको स्वीकार करे। परिणाममें दोनों ही प्रकारके साधक कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जायँगे। उनका मनुष्यजन्म सफल हो जायगा। इन बातोंको सीखना नहीं है, प्रत्युत स्वयंसे स्वीकार करना है। सीखी हुई बातकी विस्मृति हो सकती है, परंतु स्वीकार की गयी बातकी विस्मृति नहीं होती।

अब यह शंका पैदा होती है कि जब मेरा कुछ भी नहीं है तो फिर माता-पिताकी सेवा क्यों करें? वस्तुओंकी रक्षा क्यों करें? जब मेरेको कुछ नहीं चाहिये तो फिर अन्न-जलकी क्या जरूरत है? जब मेरा किसीसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है तो फिर दूसरेकी सहायता क्यों करें? सेवा क्यों करें? जब केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं तो फिर पतिकी सेवा क्यों करें? इन सब शंकाओंका मूल कारण यह है कि साधक उपर्युक्त दोनों बातोंको शरीरके साथ एक होकर स्वीकार करता है। शरीरके साथ मैं-मेरेका सम्बन्ध (तादात्म्य) ही बन्धनका मूल कारण है। इसलिये हमारे स्वरूपके विषयमें गोस्वामीजीने कहा है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। १)

अब इसपर विचार करते हैं—

'ईस्वर अंस जीव'—जीव स्वयं अंश है और परमात्मा अंशी हैं। भगवान्ने भी कहा है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)। जैसे भगवान् सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हैं, ऐसे ही जीव भी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हैं। जैसे सभी बेटोंका माँपर समान अधिकार होता है, ऐसे ही परमपिता परमात्मापर मानवमात्रका समान अधिकार है। जैसे कोई राजकुमार 'मैं राजाका बेटा हूँ'—इस बातको भूलकर भीख माँगता है तो राजाको आश्चर्यके साथ-साथ बड़ा दुःख होता है, ऐसे ही सांसारिक भोग और संग्रहमें लगे हुए मनुष्यको देखकर भगवान्को बड़ा दुःख होता है कि यह मेरेको प्राप्त न करके अपना पतन कर रहा है—**'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्'** (गीता १६। २०)।

साधकमें इस बातका गर्व (स्वाभिमान) होना चाहिये कि भगवान् मेरे अपने हैं, मैं भगवान्का हूँ—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(मानस, अरण्य० ११। ११)

हम त्रिलोकीके स्वामी परमपिता परमात्माकी सन्तान हैं, फिर हम तुच्छ नाशवान् संसारकी ओर हाथ क्यों फैलायें? जो संसारके सम्मुख होता है, उसको संसार अपना दास बना लेता है। परन्तु जो भगवान्के सम्मुख होता है, स्वयं भगवान् उसके दास बन जाते हैं—**'अहं भक्तपराधीनः'** (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३); ***मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि'!*** ऐसे परमसुहृद् प्रभुको छोड़कर संसारकी चाहना कितनी मूर्खताकी बात है।

'अबिनासी'—परमात्मा अविनाशी हैं; अतः उनका अंश जीव भी अविनाशी है—**'अविनाशि तु तद्विद्धि'** (गीता २। १७)। परन्तु स्वयं अविनाशी होकर भी नाशवान् शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(गीता १५। ७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा स्वयं मेरा ही सनातन अंश है; परन्तु वह प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षित करता है अर्थात् अपना मान लेता है।'

प्रकृतिका अंश इतना ईमानदार है कि सदा प्रकृतिमें ही स्थित रहता है—**'प्रकृतिस्थानि'**। परन्तु जीव परमात्माका अंश होते हुए भी प्रकृतिके अंश (शरीर)-के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है! इस माने हुए सम्बन्धके कारण वह जन्म-मरणके चक्रमें पड़ा रहता है।

'चेतन'—परमात्माका अंश होनेके कारण जीव चित्स्वरूप है। मात्र जड़ वस्तु मिलने और बिछुड़नेवाली है। जैसे अमावास्याकी रातका सूर्यके साथ मिलन असम्भव है, ऐसे ही जड़ वस्तुका चेतनके साथ सम्बन्ध असम्भव है। अत: चेतनका जड़से सम्बन्ध कृत्रिम और माना हुआ है, वास्तविक नहीं है।

'अमल'—परमात्माका अंश होनेसे स्वयं निर्मल, निर्दोष है। इसलिये गीतामें भगवान् कहते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(१३। ३१)

'हे कुन्तीनन्दन! यह पुरुष स्वयं अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता (कर्त्ता बनता) है और न लिप्त होता (भोक्ता बनता) है।'

काम-क्रोधादि जितने भी दोष हैं, वे सब-के-सब आगन्तुक हैं; परन्तु शरीरसे तादात्म्य होनेके कारण अज्ञानी मनुष्य मान लेता है कि मैं कामी हूँ, मैं क्रोधी हूँ आदि। कोई भी दोष नित्य-निरन्तर नहीं रहता, आता-जाता है—**'आगमापायिनोऽनित्याः'** (गीता २। १४); परन्तु स्वरूप सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। समस्त दोष जड़-विभागमें ही हैं, चेतन-विभागमें नहीं। इसलिये स्वयंतक कोई दोष पहुँच सकता ही नहीं। स्वयं नित्य-निरन्तर निर्दोष रहता है।

'सहज सुख रासी'—संसार दु:खरूप है—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'** (गीता ५। २२); **'दुःखालयमशाश्वतम्'** (गीता ८। १५)। इस दु:खरूप संसारके साथ मैं—मेरेपनका सम्बन्ध मानकर ही जीव दु:खी होता है। वास्तवमें जीव परमात्माका अंश होनेसे सुखकी खान है। इसलिये शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही साधकको अपने सहज, अक्षय, आत्यन्तिक सुखका अनुभव हो जाता है—**'स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते'** (गीता ५। २१); **'सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्'** (गीता ६। २१)। जैसे घरमें पारस होते हुए भी अज्ञानी मनुष्य द्वार-द्वार जाकर भीख माँगता है, ऐसे ही स्वयं सुखकी खान होते हुए भी मनुष्य सुख पानेकी लालसामें सांसारिक भोग तथा संग्रहमें लगा रहता है और परिणाममें महान् दु:ख पाता है—**'परिणामे विषमिव'** (गीता १८। ३८)।

सम्पूर्ण दु:खोंका मूल कारण है—नाशवान् सुखकी कामना। कामनाको छोड़े बिना कोई भी सुख नहीं पा सकता—**'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी'** (गीता २। ७०)। सांसारिक सुखकी कामना अभ्याससे नहीं मिटती, प्रत्युत पारमार्थिक सुख मिलनेसे मिटती है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह नामजप, भजन-कीर्तन, भक्त-चरित्रके पठन आदिमें लग जाय। जब उसको नामजप आदिमें रस आने लगेगा, तब संसारका रस स्वत: छूटने लगेगा। जैसे, बचपनमें कंकड़-पत्थरोंमें रस मिलता था, पर जब रुपयोंमें रस आने लगता है, तब कंकड़-पत्थरोंका रस स्वत: छूट जाता है।

दूसरोंकी सेवा करना और भगवान्‌को अपना मानना—इन दो कार्योंके लिये ही यह मानवशरीर मिला है। मनुष्यके सिवाय अन्य किसी भी योनिमें इन दो कार्योंको करनेकी योग्यता और सामर्थ्य नहीं है। भगवान् भी मनुष्यसे यह आशा रखते हैं कि यह दूसरोंकी सेवा करे और मेरेको अपना माने—मेरेसे प्रेम करे! जैसे, माँ अपने बेटेसे पूछती है कि बता, तू किसका बेटा है? तो बालक कहता है कि 'तेरा हूँ'। यह सुनते ही माँ राजी हो जाती है। इसी तरह भगवान् भी अपने बनाये हुए मनुष्यके द्वारा यह सुनना चाहते हैं कि वह मेरेको अपना कहे, मेरेसे प्रेम करे।

भगवान्‌में अपनेपनके सिवाय प्रेम-प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है। 'केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं और मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ'—ऐसा स्वीकार करनेसे भगवान् कृपा करके अपना साध्यप्रेम प्रदान

करते हैं, जो प्रतिक्षण वर्धमान है। इस साध्यप्रेमकी जागृतिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है।

साधक दो प्रकारके होते हैं—मस्तिष्क (विवेक)-प्रधान और हृदय (भाव)-प्रधान। विवेकप्रधान साधक विवेकपूर्वक संसारका त्याग करता है और भावप्रधान साधक संसारको भगवत्स्वरूप देखता है। कारण कि सब कुछ भगवान् ही हैं—यह विवेकका विषय न होकर भावका विषय है। जबतक विवेक रहता है, तबतक सत् और असत् दोनोंकी सत्ता रहती है। इसलिये विवेकमार्गी साधक सत्तत्त्व (परमात्मा)-को असत् (संसार)-से अलग करके देखता है। जबतक साधककी दृष्टिमें भगवान् और संसार—दोनों अलग-अलग रहते हैं, तबतक उसके जीवनमें अखण्ड आनन्द नहीं आता, प्रत्युत कभी तो आनन्द आता है, कभी नीरसता आती है। कभी तो अपने साधनमें बड़ी उन्नति दीखती है, कभी साधनमें कोई लाभ नहीं दीखता। कारण यह है कि विवेकमार्गमें त्याज्य वस्तु (असत्)-की सूक्ष्म सत्ता बहुत दूरतक साथ रहती है। परन्तु भावप्रधान साधककी दृष्टिमें सत्-असत्, परा-अपराके सहित सब कुछ एक भगवान् ही होते हैं—**'सदसच्चाहम्'** (गीता ९। १९); **'अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्'** (गीता ७। ५)। अतः उसकी दृष्टिमें त्याज्य वस्तु कोई होती ही नहीं। अतः भावप्रधान साधनमें संसार नहीं रहता, केवल भगवान् ही रहते हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)। ऐसे साधकको अखण्ड आनन्दके साथ-साथ भगवत्कृपासे अनन्त आनन्द (साध्य-प्रेम)-का अनुभव हो जाता है।

२८. साधनकी चरम सीमा

किसी भी मार्गका साधक क्यों न हो, उसे अन्तमें **'वासुदेवः सर्वम्'** तक पहुँचना है। सब कुछ परमात्मा ही हैं, मैं-तू-यह-वह नहीं है—यहाँतक पहुँचना है। इस विषयमें साधकको कभी निराश नहीं होना चाहिये, बड़े उत्साहसे चलना चाहिये। कारण यह है कि यह सच्ची बात है।

नाशवान् पदार्थोंकी तरफ चलते हुए जीवको कभी सुख-शान्ति नहीं मिल सकते। इसलिये धन, सम्पत्ति, वैभव, जमीन-जायदाद आदि कितने ही मिल जायँ, तृष्णा छूटती नहीं। कारण यह है कि जीव साक्षात् परमात्माका अंश है। परमात्माका अंश प्राकृत पदार्थोंसे कैसे तृप्त हो सकता है? भगवान्‌ने कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं) मेरा ही सनातन अंश है।'

भगवान्‌ने यहाँ **'ममांशः' (मम अंशः)** नहीं कहा, प्रत्युत **'ममैवांशः' (मम एव अंशः)** कहा। इसका तात्पर्य है कि जीव केवल भगवान्‌का ही अंश है, इसमें प्रकृतिका अंश किंचिन्मात्र भी नहीं है। यद्यपि अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की ही हैं, तथापि भगवान्‌ने कभी भी तथा कहीं भी अपरा प्रकृतिको अपना अंश नहीं बताया। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—ये आठ प्रकारकी 'अपरा प्रकृति' हैं और जीवात्मा 'परा प्रकृति' है।* **'ममैवांशः'** कहनेका तात्पर्य है कि जीव अपरा प्रकृतिसे सर्वथा रहित है। जैसे शरीरमें माता और पिता—दोनोंके अंशका मिश्रण है, ऐसे जीवमें भगवान् और प्रकृति—दोनोंके अंशका मिश्रण नहीं है। जीव केवल भगवान्‌का अंश है; अतः जैसे भगवान् हैं, वैसे ही यह भी है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। १)

शुद्ध परमात्माका अंश होनेसे जीवात्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित है। इसलिये गीतामें आया है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(१३। ३१)

'हे कुन्तीनन्दन! यह (पुरुष स्वयं) अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

कर्तृत्व-भोक्तृत्व वास्तवमें प्रकृतिमें ही हैं। इसलिये साधकको कर्तृत्व-भोक्तृत्वका त्याग नहीं करना है, प्रत्युत इनको अपनेमें स्वीकार ही नहीं करना है। वास्तवमें शरीरमें रहता हुआ भी स्वयं कभी कर्ता-भोक्ता बना ही नहीं, कभी बनेगा ही नहीं, कभी बन सकता ही नहीं। गीतामें आया है—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(१८। १७)

'जिसका अहंकृतभाव (मैं कर्ता हूँ—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह (युद्धमें) इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

यह अहंकृतभाव (अहंकार) अपरा प्रकृतिका अंश है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—ये उत्तरोत्तर पूर्वकी अपेक्षा सूक्ष्म हैं। इनमें अहंकार सबसे अधिक सूक्ष्म है। सबसे सूक्ष्म होनेपर

---

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (गीता ७। ४-५)

भी यह है प्रकृतिका अंश। यह अपरा प्रकृति ही बन्धन करनेवाली है। अपरा प्रकृतिके सिवाय स्वयंमें कोई दोष नहीं है। स्वयं सर्वथा निर्दोष और भगवान्‌का अंश है। प्रकृतिका अंश प्रकृतिमें स्थित रहता है और भगवान्‌का अंश भगवान्‌में स्थित रहता है। परंतु जीव प्रकृतिके अंश (मन-बुद्धि-इन्द्रियों)-को अपनी तरफ खींचता है अर्थात् अपना मान लेता है—

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(गीता १५। ७)

प्रकृति ईमानदार है कि अपनेमें ही स्थित रहती है, पर हम भूलसे प्रकृतिमें स्थित स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरको अपना मान लेते हैं और बँध जाते हैं। स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रियाएँ, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली समाधि—ये सब प्रकृतिमें ही हैं। हम स्वयं प्रकृतिसे अतीत हैं—'**गुणातीतः स उच्यते**' (गीता १४। २५)। हम स्वयं साक्षात् भगवान्‌के हैं। इसलिये साधकको चाहिये कि वह एक बार, सरल हृदयसे, दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर ले कि मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ और केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं। केवल इतना ही साधकका काम है और कोई काम नहीं है।

स्वीकृति दो बार नहीं होती, प्रत्युत एक ही बार होती है। स्वीकृतिमें अभ्यास नहीं है। विवाह होनेपर कन्या अपनेको पत्नीरूपसे स्वीकार कर लेती है तो इसके लिये उसको माला नहीं फेरनी पड़ती। स्वीकृतिमात्रसे वह पतिकी हो जाती है। ऐसे ही स्वीकृतिमात्रसे साधकका बेड़ा पार हो जायगा। परंतु प्रायः एक बार स्वीकृति होती नहीं है। इसमें दो कारण मुख्य मालूम देते हैं—१-अभ्यासका महत्त्व और २-भोग तथा संग्रहकी आसक्ति।

आजतक जितने काम किये हैं, सब अभ्याससे किये हैं। इसलिये अन्तःकरणमें यह बात बैठी हुई है कि परमात्माकी प्राप्ति भी अभ्याससे होगी। वास्तवमें अभ्याससे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। अभ्याससे नया सीखना होता है। अभ्यासमें जड़की सहायता लेनी ही पड़ती है; परंतु परमात्माकी प्राप्ति जड़की सहायतासे नहीं होती, प्रत्युत जड़के त्यागसे होती है। जड़की सहायतासे संसारका कार्य होता है। परमात्माकी प्राप्तिमें कुछ भी करना है ही नहीं। बिना जड़की सहायतासे कुछ भी करना होता ही नहीं। परंतु अभ्यास करनेका बहुत ज्यादा आग्रह होनेसे, अभ्यासका स्वभाव पड़ा हुआ होनेसे साधक पूछता है कि बोलो, फिर क्या करें? यह विषय तो जान लिया, अब क्या करें?

जैसे अभ्यास प्रिय लगता है, ऐसे भोग और संग्रह भी प्रिय लगते हैं। भोग और संग्रहकी आसक्ति जल्दी छूटती नहीं। इस आसक्तिके कारण साधनमें दृढ़ता नहीं आती—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(गीता २। ४४)

'उस पुष्पित वाणीसे जिसका अन्तःकरण हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें एक निश्चयवाली बुद्धि नहीं होती।'

उपर्युक्त दो कारणोंके रहते हुए कहनेपर भी, सुननेपर भी, पढ़नेपर भी परमात्माकी स्वीकृति नहीं होती। परमात्माके अंश तो हम पहलेसे ही हैं, अंश बनना थोड़े ही है! परंतु ऐसा होते हुए भी हम स्वीकार नहीं करते। जो परमात्माको स्वीकार कर लेता है, उसका गोत्र बदल जाता है। वह संसारका नहीं रहता। वह 'अच्युतगोत्र' हो जाता है। गोस्वामीजी महाराजने भी लिखा है—'**साह ही को गोतु गोतु होत है गुलामको**' (कविता०, उत्तर० १०७)।

वेदान्तके ग्रन्थोंमें भी अभ्यासकी बात आती है। श्रवण, मनन, निदिध्यासनके बाद विविध समाधियोंकी बात आती है। समाधि वास्तवमें कारणशरीरसे अभ्यास है, जिसमें समाधि और व्युत्थान—दो अवस्थाएँ होती हैं। परमात्माको प्राप्त होनेके बाद फिर व्युत्थान नहीं होता—

'सदा भवति तन्मयः।' पातञ्जलयोगदर्शनमें अभ्यासका लक्षण बताया है—**'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥'** (१। १३) अर्थात् चित्तकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करना (बार-बार चेष्टा करना) अभ्यास है।

भगवान्‌को एक बार स्वीकार करनेका तात्पर्य है कि इसमें अभ्यास नहीं है। एक बार भी इसलिये कहना है कि हमने अपने-आपको संसारी मान रखा है। इसलिये एक बार कह दें कि मैं संसारी नहीं हूँ, मैं तो केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं। स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि कोई भी जीव क्यों न हो, वह खास परमात्माका अंश है—**'अमृतस्य पुत्राः'।** जो जिसका अंश होगा, वह उसीमें लीन होगा। जैसे जलका अंश जलमें ही लीन होगा। पृथ्वीका अंश पृथ्वीमें ही लीन होगा। ऐसे ही परमात्माका अंश परमात्मामें ही लीन होगा। परमात्मामें लीन होनेपर फिर एक परमात्मा ही रहेंगे—**'वासुदेवः सर्वम्'।**

यहाँ **'वासुदेवः'** शब्द पुँल्लिंगमें होनेसे **'वासुदेवः सर्वः'** कहना चाहिये था। परंतु यहाँ **'सर्वः'** की जगह **'सर्वम्'** कहा गया है, जो नपुंसकलिंगमें है। अगर तीनों लिंगों **(सर्वः, सर्वा, सर्वम्)**-का एकशेष किया जाय तो नपुंसकलिंग **'सर्वम्'** ही एकशेष रहता है[1]। नपुंसकलिंगके अन्तर्गत तीनों लिंग आ जाते हैं। अतः **'सर्वम्'** शब्दमें स्त्री, पुरुष और नपुंसक—सबका समाहार हो जाता है। गीतामें जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंके लिये पुँल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग—इन तीनों ही लिंगोंका प्रयोग किया गया है[2]। इससे यह सिद्ध होता है कि जगत्, जीव और परमात्मा—ये तीनों ही **'सर्वम्'** शब्दके अन्तर्गत हैं। अतः तीनों लिंगोंसे कही जानेवाली सब-की-सब वस्तुएँ तथा व्यक्ति आदि एक परमात्मा ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्।'**

वास्तवमें यहाँ **'सर्वम्'** कहनेकी भी आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि वास्तवमें **'सर्वम्'** की सत्ता ही नहीं है—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २। १६)। एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं। अतः वास्तवमें वासुदेव-ही-वासुदेव है, **'सर्वम्'** है ही नहीं। परंतु हमारी दृष्टिमें **'सर्वम्'** (संसार)-की सत्ता है, इसलिये हमें समझानेके लिये भगवान्‌ने **'वासुदेवः सर्वम्'** पदोंका प्रयोग किया है, अन्यथा **'सर्वम्'** कहनेकी जरूरत ही नहीं थी। एक भगवान्‌के सिवाय जो कुछ हम मानते हैं, वह सब-का-सब बनावटी है, कल्पित है, असली चीज एक भगवान् ही हैं। यहीं हम सबको पहुँचना है।

सर्वथा पूर्ण होते हुए भी भगवान्‌में प्रेमकी भूख है—**'एकाकी न रमते'** (बृहदा० १। ४। ३)। इसलिये भगवान् प्रेम-लीलाके लिये एकसे अनेक हो जाते हैं—

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।'
(छान्दोग्य० ६। २। ३)

'सोऽकामयत्। बहु स्यां प्रजायेयेति।'
(तैत्तिरीय० २। ६)

'एकं रूपं बहुधा यः करोति।'
(कठ० २। २। १२)

प्रेम-लीलाके लिये भगवान्‌ने अपने लिये तथा अपनेमेंसे जीवोंकी रचना की। इसके साथ ही खेल-सामग्रीके रूपमें संसारकी भी रचना की। परंतु जीवने खेल-सामग्रीके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया और भगवान्‌से विमुख हो गया। तभीसे वह जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गया।

जबतक संसारकी कोई भी वस्तु अच्छी, प्रिय,

---

१. उदाहरणार्थ, गीतामें आया है—'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' (१८। ५)। इसमें 'यज्ञः' शब्दका प्रयोग पुँल्लिंगमें और 'दानम्' तथा 'तपः' शब्दोंका प्रयोग नपुंसकलिंगमें किया गया है। अतः एकशेषमें नपुंसकलिंग और बहुवचन 'पावनानि' शब्दका प्रयोग हुआ है।

२. द्रष्टव्य—'गीता-दर्पण' पुस्तककी लेख-संख्या ९९—'गीतामें ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृतिकी अलिंगता।'

सुन्दर लगती है, तभीतक भोगासक्ति है। इस भोगासक्तिको ही 'काम' कहते हैं। इस कामके रहते हुए 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसका अनुभव नहीं होता।

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(महाभारत, शान्ति० २५१। ७)

'जगत्‌में काम ही एकमात्र बन्धन है, दूसरा कोई बन्धन नहीं। जो कामके बन्धनसे छूट जाता है, वह ब्रह्मभाव प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है।'

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(कठ० २। ३। १४; बृहदा० ४। ४। ७)

'साधकके हृदयमें स्थित सम्पूर्ण काम जब समूल नष्ट हो जाते हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं (मनुष्यशरीरमें ही) ब्रह्मका भलीभाँति अनुभव कर लेता है।'

जबतक काम-नाशपूर्वक '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव न हो जाय, तबतक साधककी साधना अपूर्ण रहती है। साधनकी पूर्णताके लिये एक बार सरल हृदयसे दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर ले कि 'मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ तथा केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं।' कारण कि शरीर-संसार कभी किसीके साथ रहते ही नहीं और भगवान् कभी किसीका साथ छोड़ते ही नहीं।

२९. भगवान् हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं

हमारे और भगवान्‌के बीचमें जो परदा दीखता है, दूरी दीखती है, अलगाव दीखता है, वह वास्तवमें हमारा ही बनाया हुआ है, भगवान्‌का नहीं। कारण कि भगवान् सब जगह और सब समय विद्यमान हैं। वे हमारे भीतर भी विद्यमान हैं। इतना ही नहीं, वे हमारे माने हुए मैं-पनसे भी नजदीक विद्यमान हैं। पतित-से-पतित प्राणीके भीतर भी वे ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। इसलिये साधकको चाहिये कि वह अपने ही भीतर अपने प्रेमास्पदको स्वीकार करके निश्चिन्त हो जाय। जब एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसी भी सत्ताकी मान्यता नहीं रहेगी, तब साधक अपनेमें ही अपने प्रेमास्पदको पा लेगा। परन्तु जबतक उसके भीतर 'मैं शरीर हूँ'—ऐसी मान्यता रहेगी, तबतक वह संसारके सिवाय कुछ नहीं पायेगा।

जो अपने प्रेमास्पदको अन्य व्यक्तियों, सन्त-महात्माओं, ग्रन्थों आदिमें देखते हैं, उनको अपने प्रेमास्पदसे वियोगका अनुभव करना ही पड़ता है। परन्तु जो अपनेमें ही अपने प्रेमास्पदको देखते हैं, उनको अपने प्रेमास्पदसे वियोगका दुःख नहीं पाना पड़ता। अपनेसे अलग प्रेमास्पदको कितना ही अपने नजदीक दीखें, उससे वियोग अवश्य ही होगा। परन्तु अपनेसे अभिन्न (अपनेमें ही) अपने प्रेमास्पदको देखनेसे प्रेमास्पदसे नित्य-सम्बन्ध हो जाता है। जबतक साधकके अन्तःकरणमें अन्यकी सत्ता रहती है, तबतक वह अपने प्रेमास्पदसे नित्य-सम्बन्धका अनुभव नहीं करता, प्रत्युत अपने प्रेमास्पदको पानेके लिये संसारमें भटकता रहता है।

साधकको कभी वास्तविक तत्त्वसे निराश नहीं होना चाहिये। कारण कि साधकमें तत्त्वप्राप्तिकी पूर्ण योग्यता, अधिकार एवं सामर्थ्य है। यह नियम है कि जो सांसारिक सुख भोग सकता है, वह संसारसे विमुख होकर आनन्दका भी अनुभव कर सकता है। जो संसारमें राग-द्वेष कर सकता है, वह राग-द्वेषका त्याग करके प्रेम भी कर सकता है। जो भोगोंमें लग सकता है, वह भोगोंका त्याग करके योग भी कर सकता है। जिसको ग्रहण करना आता है, वह त्याग भी कर सकता है।

कामनायुक्त प्राणी किसीसे प्रेम नहीं कर सकता। इसलिये कामनावाला व्यक्ति सच्चा आस्तिक नहीं बन सकता। मनुष्य सच्चा आस्तिक तभी बनता है, जब

उसकी दृष्टिमें एक प्रेमास्पद (भगवान्)-के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं रहता। ऐसे सच्चे आस्तिकको भगवान्‌की कृपासे प्रेमकी प्राप्ति होती है। यद्यपि भगवान्‌की कृपा सभी प्राणियोंपर समानरूपसे है, तथापि उस कृपाका अनुभव तभी होता है, जब मनुष्य सर्वथा भगवान्‌का ही हो जाता है। भगवान्‌के सिवाय किसी अन्यकी सत्ता स्वीकार न करना ही भगवान्‌का हो जाना है।

एक भगवान्‌के सिवाय अन्य कोई भी हमारा प्रेमास्पद नहीं है। जब हम परमात्माके सिवाय अन्य किसीसे प्यार करते हैं, तब वह प्यार अपना तथा दूसरेका भी संहार करने लगता है। यह प्रेम नहीं, प्रेमोन्माद (मोह) है। अपने देशका प्रेमोन्माद ही अन्य देशका संहार कराता है। अपने सम्प्रदायका प्रेमोन्माद ही अन्य सम्प्रदायका संहार कराता है। अपनी जातिका प्रेमोन्माद ही अन्य जातिका संहार कराता है।

अगर एक भगवान्‌के सिवाय अन्य सभी इच्छाएँ मिट जायँ तो भगवान् बिना बुलाये आ जायँगे और संसार बिना मिटाये मिट जायगा। उनकी प्राप्तिके लिये भविष्यकी आशा रखना भूल है। अगर साधककी दृष्टिमें संसार सत्य प्रतीत होता है तो उसको दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये। अगर उसका भगवान्‌में पूर्ण अपनापन नहीं है तो उसको भगवान्‌का भजन (नाम-जप, स्मरण, कीर्तन) करना चाहिये। अपने शरीर तथा संसारसे लेशमात्र भी सम्बन्ध न रहे—यही 'त्याग' है और भगवान्‌के सिवाय लेशमात्र भी किसी सत्ताको स्वीकार न करे—यही 'प्रेम' है।

जिसके भीतर कामनाएँ हैं, वह प्राणी प्रेम नहीं कर सकता। कारण कि कामनाएँ संसारकी और प्रेम परमात्माका होता है। कामनायुक्त व्यक्ति सांसारिक विषयोंका उपासक होता है और प्रेमयुक्त व्यक्ति भगवान्‌का उपासक होता है। संसारका उपासक परतन्त्र हो जाता है और भगवान्‌का उपासक स्वतन्त्र हो जाता है।

सत्-तत्त्वकी प्राप्ति किसी क्रियासे नहीं होती। कारण कि प्रत्येक क्रिया असत्‌में ही होती है, जबकि सत्-तत्त्वकी प्राप्ति असत्‌के त्यागसे होती है। कामनाओंका अन्त होनेपर असत्‌का भी त्याग हो जाता है और सत्-तत्त्वकी अभिलाषा जाग्रत् हो जाती है। सत्-तत्त्वकी अभिलाषा जाग्रत् होनेपर भूतकालकी स्मृति नहीं होती, वर्तमानमें सत्-तत्त्वको पानेकी व्याकुलता जाग्रत् होती है और भविष्यकी आशा मिट जाती है। सत्-तत्त्वकी अभिलाषा सम्पूर्ण कामनाओंको मिटाकर सत्-तत्त्वकी अनुभूति करा देती है।

जिनको हम सांसारिक सुख कहते हैं, वे सब वास्तवमें मनकी थकावट हैं। मनकी थकावटसे होनेवाला सुख तो मिट जाता है, पर पारमार्थिक आनन्द मिटता नहीं। वह आनन्द ही हमारा स्वरूप है। मनकी थकावट हमारा स्वरूप नहीं है।

जब संसारके सभी सुख (सुखासक्ति) मिट जाते हैं, तब उस परमसुखका अनुभव होता है, जिसका वर्णन नहीं हो सकता—'**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः**' (गीता ६। २२)। उस परमसुखका अनुभव होनेपर सभी कामनाओंका नाश हो जाता है तथा किसी प्रकारकी कोई कमी शेष नहीं रहती—'**रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते**' (गीता २। ५९)।

यदि मनुष्य दुःखसे बचना चाहे तो वह सुखकी इच्छाको मिटा दे। यदि रोगसे बचना चाहे तो भोगकी इच्छाको मिटा दे। यदि अपमानसे बचना चाहे तो सम्मानकी इच्छाको मिटा दे। यदि शोकसे बचना चाहे तो हर्षकी इच्छाको मिटा दे। तात्पर्य है कि दुःखका निर्माण स्वयं हमने किया है। हमारी इच्छाके बिना कोई हमें दुःखी, पराधीन नहीं कर सकता।

एक मार्मिक बात है कि मनुष्यको जिस वस्तुकी आवश्यकता है, उसको प्राप्त करनेकी सामर्थ्य उसमें विद्यमान है। तात्पर्य है कि मनुष्य जो कुछ कर सकता है, उसीसे उसकी आवश्यकताकी पूर्ति हो सकती है। संसार भी मनुष्यसे वही आशा करता है,

जो वह कर सकता है। भगवान् भी वही आज्ञा देते हैं, जो वह कर सकता है। मनुष्य जो कर सकता है, उसको न करना ही अकर्तव्य है। जबतक मनुष्यकी वास्तविक आवश्यकताकी पूर्ति नहीं होती, तबतक उसका करना समाप्त नहीं होगा, वह कुछ-न-कुछ करता ही रहेगा। कारण कि करना साधन है, साध्य नहीं। साध्यकी प्राप्ति होनेपर साधन शेष नहीं रहता अर्थात् आवश्यकता शेष न रहनेपर करना भी शेष नहीं रहता, मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

परमात्माकी अनन्त शक्ति प्राणिमात्रको निरन्तर अपनी ओर खींचती रहती है। इसीलिये कोई भी परिस्थिति निरन्तर नहीं रहती। मनुष्यकी ममता कहीं भी स्थायी नहीं रहती। उसका प्रत्येक वस्तु तथा व्यक्तिसे निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद होता रहता है। परमात्माकी वह अनन्त शक्ति न तो मनुष्योंपर शासन करती है, न उनकी स्वतन्त्रता छीनकर उनको पराधीन बनाती है। यह नियम है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, अन्तमें उसीमें विलीन होती है, तभी पूर्णता होती है। जीव परमात्मासे अलग हुआ है; अतः जबतक वह परमात्मामें विलीन नहीं होगा, तबतक पूर्णता नहीं होगी, वह भटकता ही रहेगा। इसलिये परमात्माको छोड़कर अन्य वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थिति आदिकी ममता-कामनामें फँसना व्यर्थ है। उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ चेष्टा है। जीवकी स्वाभाविक गति परमात्मामें विलीन होनेकी ही है। जब हम अपनी स्वाभाविक गतिसे विमुख होकर अन्य वस्तु, व्यक्ति आदिके सम्मुख हो जाते हैं, तब भगवान्‌की कृपा उस वस्तु, व्यक्ति आदिसे वियोग करा देती है। जबतक हमारा परमात्मासे योग नहीं होगा, तबतक प्रत्येक संयोगका वियोग होता रहेगा—यह नियम है। संसारमें होनेवाला परिवर्तन निरन्तर यह शिक्षा दे रहा है कि तुम मेरेमें मत फँसो। मैं तुम्हारा लक्ष्य नहीं हूँ। तुम्हारा लक्ष्य परमात्मा है, जो निरन्तर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।

३०. साधकोंके लिये

एक बार सरल हृदयसे दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर लें कि—

सर्वकालमें मैं स्वयं—केवल भगवान्‌का ही अंश हूँ, और किसीका भी अंश नहीं हूँ। तथा

सर्वकालमें—केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं, और कोई भी मेरा अपना नहीं है।

कारण यह है कि—

शरीर-संसार कभी किसीके साथ रहते ही नहीं; क्योंकि इनकी **सत्ता** विद्यमान नहीं है—

'नासतो विद्यते भावः' (गीता २। १६)

और

परमात्मा कभी किसीका साथ छोड़ते ही नहीं; क्योंकि उनकी **सत्ता** नित्य विद्यमान है—

'नाभावो विद्यते सतः' (गीता २। १६)

स्पष्टीकरण

एक बार—'मैं भगवान्‌का हूँ तथा भगवान् मेरे हैं'—ऐसा माननेके लिये कोई अभ्यास नहीं करना है, माला नहीं फेरनी है, प्रत्युत एक बार स्वीकारमात्र करना है। स्वीकारमात्र करनेमें कोई अभ्यास या क्रिया नहीं है। स्वीकृति एक ही बार होती है और सदाके लिये होती है। कारण कि पहलेसे ही हम भगवान्‌के हैं तथा भगवान् हमारे हैं। उदाहरणार्थ, विवाह होनेपर कन्या एक बार पतिको अपना मान लेती है। फिर उसे इसको दृढ़ करनेके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता।

सरल हृदयसे—सच्ची स्वीकृति सरल हृदयसे ही

होती है। भगवान् भावग्राही हैं। भगवान्का स्वभाव सरल है और सरल स्वभाववाले भक्त ही भगवान्को प्रिय हैं—

निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः।

(श्रीमद्भा० १०। ६०। १४)

'सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं'

(मानस, बाल० २३७। १)

'मोहि कपट छल छिद्र न भावा'

(मानस, सुन्दर० ४४। ३)

उदाहरणार्थ, छोटा बच्चा सरल हृदयसे माँको अपना मानता है। माँको अपना माननेके लिये उसे किसी प्रमाणकी जरूरत नहीं पड़ती। उससे कोई पूछे कि यह तेरी माँ क्यों है तो वह यही कहता है कि बस, मेरी माँ है।

हृदयप्रधान (भावप्रधान) भक्त ही भगवान्के साथ अपना सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। मस्तिष्कप्रधान (विवेकप्रधान) साधक ऐसा नहीं कर सकते। कारण कि विवेकमें स्वीकार करनेयोग्य 'सत्' और अस्वीकार करनेयोग्य 'असत्'—दोनों रहते हैं। अतः असत्की सत्ता बहुत दूरतक साथ रहती है।

दृढ़तापूर्वक—शिथिल स्वभाववाला मनुष्य एक ही बार भगवान्के साथ अपना सम्बन्ध स्वीकार नहीं कर सकता। वह बार-बार भगवान्के साथ सम्बन्ध स्वीकार करता है और बार-बार उसे छोड़कर संसारको अपना मानता है। इस प्रकार बार-बार विचार करने और उसे छोड़नेकी आदतके कारण संसारसे माना हुआ सम्बन्ध नहीं छूटता। अतः साधकको चाहिये कि वह एक बार जो स्वीकार कर ले, उसपर सदा दृढ़ रहे। उदाहरणार्थ, स्त्री पतिको इतनी दृढ़तासे अपना मान लेती है कि पतिके मरनेके बाद भी उसका यह सम्बन्ध छूटता नहीं।

हरदोई जिलेके इकनोरा गाँवमें एक लड़की अपने ननिहालमें रहती थी। पति दूसरे गाँवमें बीमार था, वह मर गया। उस लड़कीको पतिके मरनेका समाचार मिला तो उसने अपने मामासे कहा कि मैं सती होऊँगी। मामाने ऐसा करनेके लिये मना किया तो उसने दीपक जलाया और उसपर अपनी अँगुली रखी। उसकी अँगुली मोमबत्तीकी तरह जलने लगी! उसने मामासे कहा कि आप सती होनेकी आज्ञा नहीं देंगे तो यह सारा घर भस्म हो जायगा। मामाने कहा कि ठीक है, तेरी जैसी मरजी! उसने जलती हुई अँगुलीको एक दीवारपर रगड़कर बुझाया और घरसे बाहर जाकर एक पीपलवृक्षके नीचे खड़ी हो गयी। उसने मामासे आग देनेको कहा तो मामाने मना कर दिया। तब उसने हाथ जोड़कर सूर्य भगवान्से आग देनेकी प्रार्थना की और वहाँ खड़ी-खड़ी अपने-आप जल गयी। साधकका भाव भी इसी तरह दृढ़ होना चाहिये।

स्वीकार कर लें—हमें भगवान्के साथ कोई नया सम्बन्ध नहीं जोड़ना है। भगवान्के साथ हमारा सम्बन्ध अनादिकालसे है। हम सदासे ही भगवान्के हैं और सदासे ही भगवान् हमारे हैं। संसारके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण हमें इस (भगवान्के) सम्बन्धकी विस्मृति हो गयी है। अतः हमें केवल भगवान्के साथ अपना सम्बन्ध स्वीकार करना है। यह स्वीकृति स्वयंसे होती है, बुद्धिसे नहीं। स्वयंसे जोड़े गये सम्बन्धकी विस्मृति नहीं होती। उदाहरणार्थ, विवाह होनेपर स्त्री पतिको अपना मान लेती है तो फिर स्वप्नमें भी उसे इस सम्बन्धकी विस्मृति नहीं होती। शिष्य गुरुको स्वीकार कर लेता है तो फिर स्वप्नमें भी नहीं भूलता कि मैं अमुक गुरुका शिष्य हूँ।

सर्वकालमें मैं स्वयं केवल भगवान्का ही अंश हूँ—भगवान्ने गीतामें कहा है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (१५। ७) 'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा मेरा ही सनातन अंश है।' अतः जीवमात्र भगवान्का ही अंश रहेगा। कोई भी जीव किसी भी कालमें भगवान्से अलग नहीं हो सकता। सर्वसमर्थ भगवान्में भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वे जीवको अपनेसे अलग कर सकें।

और किसीका भी अंश नहीं हूँ—शरीरमें तो माता और पिता—दोनोंके अंश रहते हैं; परन्तु स्वयं केवल भगवान्‌का ही अंश है **(मम एव अंशः)**, इसमें प्रकृतिके अंशका मिश्रण नहीं है। जीव ही प्रकृतिके अंश (शरीर-संसार)-को पकड़कर जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ जाता है।

सर्वकालमें केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं—सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंमें लेशमात्र भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो सदा हमारे साथ रह सके और हम उसके साथ रह सकें। सभी वस्तुएँ और व्यक्ति मिलने तथा बिछुड़नेवाले हैं। परन्तु भगवान्‌से जीवमात्रका स्वाभाविक सम्बन्ध है। भगवान्‌से अलग कोई हुआ ही नहीं, अलग है ही नहीं, अलग होगा ही नहीं, अलग हो सकता ही नहीं। इसलिये मीराबाईने दृढ़तासे स्वीकार कर लिया कि **'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'**

और कोई भी मेरा अपना नहीं है—माता, पिता, स्त्री, पुत्र भाई आदि कोई भी मेरा अपना नहीं है। वे केवल सेवा करनेके लिये ही अपने हैं। यदि वास्तवमें वे अपने होते तो कभी अपनेसे बिछड़ते नहीं। भगवान्‌के सिवाय जो कुछ भी है, वह सब मिला हुआ है और बिछुड़ जायगा; अतः वह अपना नहीं है।

गीतामें भगवान्‌ने कहा—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (२। १६) 'असत्‌का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।' तात्पर्य है कि संसारको कितना ही स्वीकार करें, उसकी सत्ता है ही नहीं। वह सदा अप्राप्त है, प्राप्त हो सकता ही नहीं। परन्तु भगवान्‌को कितना ही अस्वीकार करें, उनकी सत्ता सदा विद्यमान है। वे सबको सदा प्राप्त हैं, अप्राप्त हो सकते ही नहीं। अतः साधकको उसीसे सम्बन्ध-विच्छेद करना है, जिससे कभी सम्बन्ध हुआ ही नहीं और उसीसे सम्बन्ध जोड़ना है, जिससे कभी सम्बन्ध छूटा ही नहीं। जिसे छोड़ना है, वह छूटा हुआ ही है और जिसे पाना है, वह पाया हुआ ही है।

३१. परमपितासे प्रार्थना

जीवमात्र भगवान्‌का ही अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७), ***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥'*** (मानस, उत्तर० ११७।१)। अतः भगवान् पिता हैं और जीवमात्र उनका पुत्र है। पिताका स्वाभाविक ही पुत्रमें प्रेम, अपनापन होता है। परन्तु जीव अपने परमपिताको भूलकर मायाके वशमें हो जाता है—***'सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥'*** (मानस, उत्तर० ११७।२)। अब वह अपने परमपिता भगवान्‌की कृपासे ही इस मायासे छूट सकता है। हमारे परमपिता सर्वसमर्थ हैं। हमें मायाके वशसे छुड़ानेके लिये उनके समान कोई दूसरा है ही नहीं। इसलिये हमें अपने परमपितासे प्रार्थना करनी चाहिये—

हे परमपिता! हे परमेश्वर! आप इस मायासे मेरेको छुड़ाओ। मैं अपनी शक्तिसे छूट नहीं सकता। आप कहते हैं कि तुम्हारेमें शक्ति है, पर हमें ऐसी शक्ति दीखती नहीं। आपमें अपार, अनन्त, असीम शक्ति है, जिसका कोई पारावार नहीं है। ऐसी शक्तिके होते हुए मैं मायाके परवश हो गया! आप जरा सोचो। आप पिता हो न? पिताको सोचना चाहिये न? पुत्रकी सहायता पिता ही करेगा, और कौन करेगा? दूसरेको दया क्यों आयेगी? परमपिताको ही तो दया आयेगी। इसलिये दया करके मेरेको बचाओ प्रभो! आपके होकर और किसको कहें? आपसे अधिक समर्थ कौन है? आपकी दृष्टिमें कोई हो तो बता दो। हमारेको तो कोई दीखता नहीं। गीतामें

भी लिखा है कि आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो हो ही कैसे सकता है—'**न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः**' (गीता ११।४३)। इसलिये यह काम तो आपको ही करना पड़ेगा। *'काम हमारो जमत है, रमत तिहारी राम'!* आपका तो खेल होगा, हमारा काम हो जायगा!

महाराज! हमारे एक मुश्किल हो गयी है। आप कहते हो कि तुम्हारेमें शक्ति है, पर शक्ति हमें याद नहीं है। फँसना तो हमें दीखता है, पर छूटनेकी शक्ति हमें नहीं दीखती। हमारेमें शक्ति हो तो आपको क्यों कहें? हम ही अपना काम कर लें। हमारेमें शक्ति नहीं है, अगर है तो उसको आप जगा दो। होना होगा तो आपकी कृपासे ही होगा। विचार करें तो आपकी कृपाको छोड़कर और कोई दीखता नहीं।

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

(मानस, सुन्दर०)

'हे रघुनाथजी! मैं सत्य कहता हूँ और फिर आप सबके अन्तरात्मा ही हैं (सब जानते ही हैं) कि मेरे हृदयमें दूसरी कोई इच्छा नहीं है। हे रघुकुलश्रेष्ठ! मुझे अपनी निर्भरा (पूर्ण) भक्ति दीजिये और मेरे मनको काम आदि दोषोंसे रहित कीजिये।'

हे प्रभो! यह काम आपको ही करना होगा। आपको छोड़कर हम कहाँ जायँ? किसको कहें? कौन सुनेगा? क्यों सुनेगा? हम आपके हैं। आपने कहा है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। आपका अंश होकर हम दुःख पायें? आपकी सामर्थ्य अपार है, अनन्त है, असीम है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु ऐसी सामर्थ्यके होते हुए भी हम दुःख पा रहे हैं? आपके सिवाय हमारा कौन है?

संसार साथी सब स्वार्थ के हैं,
पक्के विरोधी परमार्थ के हैं।
देगा न कोई दुःख में सहारा,
सुन तू किसी की मत बात प्यारा।

इसलिये हे मेरे नाथ! हे मेरे स्वामी! हे मेरे प्रभो! आपके सामने तो मामूली चीज है। आप थोड़ी-सी कृपा कर दो तो इतनेमें हमारा काम हो जायगा! आपका अंश होकर, दास होकर हम दूसरे किसीको कहें तो यह बड़े शर्मकी बात है। आपके लिये यह कोई बड़ा भारी काम नहीं है। बहुत छोटा, तुच्छ काम है। आपके सामने तो मामूली बात है, पर हमारी सब आफत छूट जायगी। हम जैसे होने चाहिये, वैसे नहीं हैं, यह बात ठीक है, हम स्वीकार करते हैं; परन्तु हम कैसे ही हों, हैं तो आपके ही। हम किसी दूसरेके तो हो नहीं सकते। अब ऐसी कृपा करो कि आपकी निर्भरा भक्ति मिल जाय। हम आपपर ही निर्भर हो जायँ। आपके ही चरणोंके शरण हो जायँ। आपके तो कोई घाटा पड़ेगा नहीं, पर हमारा बड़ा भारी काम हो जायगा। यह हम अपनी शक्तिसे नहीं कर सकते। आप देखते हैं कि हम पात्र नहीं हैं तो पात्र भी आपकी शक्तिसे ही बनेंगे। आपकी शक्तिसे ही मनुष्य योग्य बनता है। आपकी जो अपार, अनन्त शक्ति है, उसीसे सब काम होता है। नहीं तो फिर आप जानो, आपका काम जाने! हमने तो अपनी बात कह दी, अब जैसी आपकी मरजी, वैसा करो। जिसमें आपकी प्रसन्नता हो, वह करो। हमारा कोई आग्रह नहीं है। हम तो समझते नहीं महाराज! हमारी अक्लमें बात नहीं आती। हमारे अधिकारकी बात नहीं दीखती। आपको दीखती हो तो वैसे कर लीजिये।

आप कृपा को आसरो, आप कृपा को जोर।
आप बिना दीखै नहीं, तीन लोक में और॥

हम अयोग्य हैं। जो अयोग्य होते हैं, वे ही आपकी कृपाके अधिकारी होते हैं। जो योग्य हैं, वे कृपाकी चाहना क्यों करेंगे? वे अपना काम खुद कर लेंगे। परन्तु हमारेसे ऐसा नहीं होगा। आप ही कृपा करके अपनी निर्भरा भक्ति दीजिये। निर्भरा भक्ति पाकर हम कृतार्थ हो जायँगे! आपके चरणोंकी निर्भरा भक्ति मिल जाय तो फिर 'कामादि दोषोंसे रहित

कीजिये'—ऐसा कहनेकी जरूरत ही नहीं। हमारे मनमें तो आती है कि आपको कुछ नहीं कहें। आप सब जानते हो। आपसे अपरिचित कुछ नहीं है। हम आपकी जानकारीमें हैं। आप जानते हो कि हम कैसे हैं। हम जैसे भी हैं, आपके ही हैं।

गायका बच्चा मलसे भरा होता है तो गाय मुखसे चाटकर उसको साफ कर देती है। आप नहीं करो तो आपकी मरजी। आपकी जैसी प्रसन्नता हो, वैसा करो। हम उसमें ही राजी हैं। हमारी इस अवस्थामें ही आप राजी हों तो कोई बात नहीं। फिर परवाह ही नहीं। फिर हमारे चित्तमें बहुत आनन्द है। क्यों आनन्द है? कि आपकी ऐसी ही मरजी है। हमने तो अपनी बात कह दी, अब आप जानो, आपका काम जाने। आपको छोड़कर और किसको अपनी बात कहें? और कौन सुनेगा? सुनकर भी वह क्या करेगा बेचारा! दूसरेमें वह शक्ति नहीं है। सन्तोंने कहा है—

घर घर लागो लायणो, घर घर दाह पुकार।
जनहरिया घर आपणो, राखै सो हुसियार॥

अपना घर रखनेकी शक्ति भी हमारेमें नहीं है! हमें तो केवल आपकी कृपाका ही भरोसा है। और हमें क्या करना है महाराज! आप ही बताओ। हम तो जैसे हैं, आपके सामने हैं। अब आपकी जैसी मरजी हो, वैसे करो। परन्तु आपकी मरजीमें हम सन्तोष करें, वह सन्तोष भी आप दे दीजिये। फिर हमारे आनन्दका ठिकाना नहीं है!

हे प्रभो! हे दीनानाथ! हे पतितपावन! हे अशरणशरण! आप पापियोंका भी उद्धार कर देते हो, अयोग्यको भी योग्य बना देते हो। सब आपकी मरजी है। आप ही जानो महाराज! हे नाथ! अगर हम घोर पापी हैं तो आपके हैं, कम पापी हैं तो आपके हैं और पापरहित हैं तो आपके हैं। हमारा उद्धार आपको ही करना है। आपके ऊपर ही हमारा भार है। हम जैसे हैं, वैसे ही आपके हैं। अगर हम भक्त हैं तो आप भक्तवत्सल हो, हम पतित हैं तो आप पतितपावन हो। भक्तोंका उद्धार करनेवाले भी आप ही हो और पापियोंका उद्धार करनेवाले भी आप ही हो। आपके सिवाय और कौन है हमारा? हम शुद्ध हो जायँ तो कई हमारे हो जायँगे। परन्तु अशुद्धको कोई अपनाता नहीं। आप तो सबके हो। हम शुद्ध हैं तो आपके हैं, अशुद्ध हैं तो आपके हैं। अच्छे हैं तो आपके हैं, मन्दे हैं तो आपके हैं। आपके सिवाय और किसके शरण जायँ? सिवाय आपके अपना कोई नहीं है। हमारा उद्धार तो आपको ही करना है। महान् अशुद्धको शुद्ध बनानेवाले आप ही हो। घोर पापीका उद्धार करनेवाले भी आप ही हो। हम आपके ही अंश हैं, आपसे ही पैदा हुए हैं; अतः हम जैसे हैं, वैसे-के-वैसे आपके हैं। शबरीने कहा—

अधम ते अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥

(मानस, अरण्य० ३५। २)

ऐसोंका उद्धार भी आप ही करते हो। आपके सिवाय अधमोंका उद्धार करनेवाला और कोई नहीं है। अधमोंकी उपेक्षा करनेवाले बहुत मिल जायँगे। अधमोंसे, पापियोंसे सब घृणा करते हैं, पर आप उनको शुद्ध करनेवाले हो। उनको शुद्ध करनेकी जिम्मेवारी आपपर है; क्योंकि वे पापी आपके ही हैं। आप पतितपावन हैं। इसलिये हम ज्यादा पापी हैं या कम पापी हैं, इसका विचार हम क्यों करें?

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥

(दोहावली २७७)

बड़े-बड़े पापियोंका भी आपने उद्धार किया है, कसाइयोंका भी उद्धार किया है, महान् चोर-डाकुओंका भी उद्धार किया है। यह तो आपका स्वभाव है। इसलिये हे नाथ! हमारा उद्धार आपको ही करना है। हम कैसे ही हैं, हैं तो आपके ही। हम आपकी दयाके भरोसे आपकी शरणमें आये हैं, जैसा कि विभीषणने कहा है—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

(मानस, सुन्दर० ४५)

आपके सिवाय और कोई भी सुननेवाला नहीं है। ऐसी दयालुता किसीमें नहीं है। आपके समान दयालु हमने दूसरा कोई सुना नहीं है। सुनें कैसे? है ही नहीं। इसलिये हम आपके चरणोंमें आकर पड़ गये हैं। बस, अब और विचार ही क्यों करें? विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं। कहीं जानेकी जरूरत ही नहीं है। किसीसे पूछनेकी जरूरत ही नहीं। हमारे तो जो कुछ हो, सब आप ही हो। एक आपपर ही विश्वास है। एक आपकी ही आशा है।

सुर नर मुनि सब कै यह रीती।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, किष्किंधा० १२। १, उत्तर० ४७। ३)

बिना हेतु उद्धार करनेवाले दो ही हैं—एक आप और एक आपके प्यारे भक्त। इनके हृदयमें स्वाभाविक ही दूसरोंका उद्धार करनेकी बात रहती है। आपके भक्तोंमें तो आपसे भी अधिक उत्साह रहता है। आपके भक्तोंमें यह स्वभाव आपसे ही आया है। परंतु आपमें यह स्वभाव पहलेसे ही स्वत:-स्वाभाविक है। अधमोंका उद्धार करना आपका स्वभाव है, आपकी आदत है। अधमोंका उद्धार करते-करते आपकी कृपामें कमी नहीं आती—***'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती'*** (मानस, बाल० २८। २)। आपकी कृपा आपके स्वभावको लेकर ही है—***'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥'*** (मानस, उत्तर० १२४। २)। ऐसा स्वभाव कहीं सुना नहीं, कहीं देखा नहीं। आपके समान कौन है? आपने पहलेसे ही बिना हेतु कृपा करनेका स्वभाव स्वत: बना रखा है। इसलिये आपको कहनेकी हिम्मत होती है। आपके सिवाय और किसीको कहनेकी हिम्मत ही नहीं होती! अब मारो चाहे तारो, कुछ भी करो, हम तो आपके हैं। अगर हम अनन्य शरण नहीं हैं तो आप अनन्य कर लो महाराज! आप जैसा चाहते हो, वैसा बना लो। हम तो वैसा बन नहीं सके, अपनेको शुद्ध कर नहीं सके! बालक कैसा ही हो, उसको स्नान तो माँ ही कराती है। परन्तु बालक रोता है कि माँ स्नान क्यों कराती है? हम तो ऐसे हैं महाराज!

हे नाथ! हे पतितपावन! हे अधम-उद्धारक! हे कृपाासिन्धो! हे दयासिन्धो! आपके चरणोंका ही आश्रय है। और किसीको हम जानते ही नहीं हैं। जानें क्या, आपके सिवाय और कोई है ही नहीं, कोई हुआ ही नहीं, कोई होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। जो दीन हैं, नीच हैं, वे आपको प्यारे लगते हैं। आपका ऐसा स्वभाव सुनकर ही हम आपकी शरणमें आये हैं—***'श्रवन सुजसु सुनि आयउँ।'*** हमारेमें कमी हो तो आप दूर कर दो। हम तो कमीसे ही भरे हुए हैं। हम अच्छे-मन्दे जैसे हैं, आपके ही हैं। आपके चरणोंको छोड़कर हम कहाँ जायँ?

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥

(विनयपत्रिका १०१)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सर्वोपयोगी

१. अन्त मति सो गति

मनुष्य यदि, प्रत्येक कार्य विचारपूर्वक करे तो उसको पीछे पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता। इसलिये हम जो कुछ करें, उसके विषयमें पहले विचार करना चाहिये। सबका अलग-अलग कर्तव्य होता है। कोई कुछ करता है तो कोई कुछ करता है। परन्तु यहाँ हम उस खास कामकी चर्चा करते हैं, जिसे सबको करना ही पड़ेगा अर्थात् सबको एक-न-एक दिन शरीर छोड़कर यहाँसे जाना ही पड़ेगा। बालक जन्मता है तो वह बड़ा होगा कि नहीं होगा, पढ़ेगा कि नहीं पढ़ेगा, विवाह करेगा कि नहीं करेगा, व्यापार आदि करेगा कि नहीं करेगा, उसकी सन्तान होगी कि नहीं होगी, वह धनी बनेगा कि नहीं बनेगा आदि सब बातोंमें सन्देह रहता है, पर वह मरेगा कि नहीं मरेगा—इस बातमें कोई सन्देह नहीं रहता अर्थात् वह मरेगा ही। अतः मरनेके बाद हमारी क्या गति होगी—इस विषयमें विचार करनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है।

श्रीमद्भगवद्गीताके आठवें अध्यायके आरम्भमें ही अर्जुनने सात प्रश्न किये थे। उनमें सातवाँ प्रश्न था कि 'अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं?' उसके उत्तरमें भगवान्ने कहा—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८।५)

'जो मनुष्य अन्तकालमें भी मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरेको ही प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।'

यह नियम केवल आपके लिये ही है क्या? इसपर भगवान् कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८।६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।'

जीवकी गतियाँ

जीवकी गतियोंमें एक मुक्ति है, जिसको कल्याण, तत्त्वप्राप्ति, तत्त्वज्ञान आदि अनेक नामोंसे कहते हैं। इस मुक्तिके अनेक भेद माने गये हैं, उनमें दो मुख्य हैं—(१) जीवन्मुक्ति और (२) विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति-का अर्थ है—जीते हुए मुक्त हो जाना।[१] अभी वर्तमान अवस्थामें प्राणोंके रहते हुए मुक्त हो जायँ—इस स्थितिका नाम जीवन्मुक्ति है। विदेहमुक्ति वह कहलाती है, जो मरनेके बाद होती है।[२] ये दो भेद निर्गुण तत्त्वको माननेवालोंके लिये बताये गये हैं। सगुण-साकार भगवान्को माननेवालोंकी मुक्ति पाँच तरहकी बतायी गयी है—सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। भगवान्के लोक (परमधाम)-में जाकर रहना 'सालोक्य मुक्ति' है। भगवद्धाममें भगवान्के समान ऐश्वर्य प्राप्त करना 'सार्ष्टि मुक्ति' है। भगवान्के समीप जाकर रहना 'सामीप्य मुक्ति' है। भगवान्के समान ही शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि धारण करके वैसे ही रूपसे साथमें

१-मुक्ति वास्तवमें पहलेसे ही है, क्योंकि संसार विजातीय है और विजातीय वस्तुसे सम्बन्ध होता ही नहीं, केवल सम्बन्धकी मान्यता होती है। सम्बन्धकी मान्यता मिटते ही मनुष्य मुक्त हो जाता है।

२-मृत्युके बाद विदेहमुक्ति होना लोगोंकी दृष्टिसे कहा जाता है। वास्तवमें जीवन्मुक्त होते ही मनुष्य विदेह (शरीरसे असंग) हो जाता है।

रहना 'सारूप्य मुक्ति' है। भगवान्‌में ही अपनेको मिला देना, उनसे अभिन्न हो जाना 'सायुज्य मुक्ति' है। इनमेंसे भक्त जिस मुक्तिको चाहता है, उसको वही मुक्ति मिलती है। यह सब प्रकारकी मुक्तियाँ जीवकी ऊर्ध्वगतिके अन्तर्गत हैं। जीवकी मुख्य तीन गतियाँ होती हैं—ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति। गीतामें आया है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(१४। १८)

'सत्त्वगुणमें स्थित मनुष्य ऊर्ध्वलोकोंमें जाते हैं, रजोगुणमें स्थित मनुष्य मृत्युलोकमें जन्म लेते हैं और निन्दनीय तमोगुणकी वृत्तिमें स्थित मनुष्य अधोगतिमें जाते हैं।'

ऊर्ध्वगतिमें जानेवालोंके दो भेद हैं—(१) ऊपरके लोकोंमें जाकर परमात्माको प्राप्त हो जाना, पीछे लौटकर नहीं आना[१] और (२) स्वर्गादि भोगभूमियोंमें जाकर अपने पुण्योंके अनुसार सुख भोगना और पुण्य क्षीण होनेपर पीछे लौटकर मृत्युलोकमें आना। मरकर पुनः मनुष्ययोनिमें जन्म लेना मध्यगति है। अधोगतिके दो भेद हैं—(१) चौरासी लाख योनियों (साँप, बिच्छू, सूकर आदि योनियों)-में जाना और (२) रौरव, कुम्भीपाक आदि नरकोंमें जाना। इस प्रकार पाँच गतियाँ हो गयीं—दो ऊर्ध्वगति, एक मध्यगति और दो अधोगति।[२]

अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार गति

अन्तकालीन चिन्तन और उसके अनुसार गतिको समझनेके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है। एक आदमी अपना चित्र खिंचवानेके लिये बैठा। फोटोग्राफरने उससे कहा कि ठीक तरहसे बैठना, फोटो खिंचते समय कोई अंग न हिले। ज्यों ही चित्र खिंचनेका समय आया, त्यों ही उस आदमीकी नाकपर एक मक्खी आकर बैठ गयी। अब यदि हिल जाऊँगा तो चित्र बिगड़ जायगा—ऐसा विचार करके उसने मक्खीको हटानेके लिये नाकको सिकोड़ा। उतनेमें ही उसका चित्र खिंच गया। जब चित्रको धुलाईके बाद उसने देखा तो चित्र बिगड़ा हुआ मिला। चित्र देखकर वह बहुत नाराज हुआ और बोला कि तुमने मेरा चित्र बिगाड़ दिया! फोटोग्राफरने कहा कि इसमें मेरी क्या गलती है, चित्र खिंचते समय तुमने जैसी आकृति बनायी थी, वैसी ही चित्रमें आ गयी। अब इस चित्रमें परिवर्तन नहीं हो सकता। इसी तरह मृत्युके समय मनुष्यके भीतर जैसा चिन्तन होगा, उसीके अनुसार उसको योनिकी प्राप्ति होगी। चित्र तो दूसरा भी खींचा जा सकता है, पर योनि दूसरी बदली नहीं जा सकती। इसलिये मनुष्यको हर समय सावधान रहनेकी आवश्यकता है; क्योंकि मृत्युके समयका कोई पता नहीं, न जाने कब आ जाय। अतः कोई खराब चिन्तन आ जाय तो सावधान हो जायँ कि यदि इस समय मृत्यु हो जाती तो क्या गति होती? भगवान् कहते हैं—**'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर'** (गीता ८। ७) अर्थात् तुम सब समय मेरा स्मरण करो। फिर कोई जोखिम नहीं रहेगी। जैसे जीवनबीमा हो जाता है तो फिर मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है। मोटरका बीमा हो जाय तो उसमें टूट-फूट होनेपर

---

१. मनुष्य तीनों गुणोंसे अतीत होनेपर ही परमात्माको प्राप्त होता है—'स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते' (गीता १४। २६)। परन्तु यहाँ ऊर्ध्वगतिको सत्त्वगुणके अन्तर्गत इसलिये कहा गया है कि गीताका सत्त्वगुण केवल सांसारिक सुख देनेवाला ही नहीं है, प्रत्युत अविनाशी सुख (मुक्ति) देनेवाला भी है। इसलिये गीतामें सत्त्वगुणको 'अनामय' (निर्विकार) कहा गया है जो कि मुक्तिका वाचक है। परन्तु जब इसके साथ रागरूप रजोगुण मिल जाता है, तब (इससे होनेवाले सुख और ज्ञानका संग करनेसे) यह बन्धकारक हो जाता है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ (गीता १४।६)
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्। (गीता २। ५१)

२. द्रष्टव्य—गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीता-दर्पण' ग्रन्थका पचीसवाँ लेख—'गीतामें जीवकी गतियाँ।'

कोई चिन्ता नहीं होती कि पैसे वापस मिल जायँगे। इसी तरह 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'— इस तरह भगवान्‌के साथ अपनेपनकी घनिष्ठता हो जाय, भगवत्सम्बन्धकी स्मृति जाग्रत् हो जाय, और इसके बाद हर समय भगवान्‌का चिन्तन स्वतः होता रहे, करना न पड़े, तो समझो कि इस मानव-जीवनका बीमा हो गया। हम भगवान्‌के हो गये तो समझो हमने बीमाके पैसे जमा कर दिये और हरदम भगवान्‌का चिन्तन कर रहे हैं तो समझो दैनिक देय (किस्त) दे रहे हैं!

अन्तकालमें जैसा चिन्तन होता है, वैसी ही गति होती है, पर अन्तकालका पता नहीं कि कब आ जाय! अगर सब समयमें प्रभुका स्मरण होता रहे तो मृत्यु कभी भी आ जाय, कोई चिन्ता नहीं है; क्योंकि अब कोई खतरा नहीं रहा। जैसे भगवान्‌की प्राप्तिमें अन्तकालका स्मरण कारण है, ऐसे ही पशु-पक्षी आदि योनियोंकी प्राप्तिमें भी अन्तकालका स्मरण ही कारण है। जो अन्तसमयमें याद आ जायगा, उसीमें जाना पड़ेगा। बहुत-से लोग पशु-पक्षियोंको पालते हैं। जो कुत्ता पासमें रखता है, उसको मृत्युसमयमें कुत्ता याद आ जायगा तो मरकर कुत्ता बनना ही पड़ेगा। जैसे कैमरेकी फिल्ममें सामनेवाली आकृति पकड़ी जाती है, ऐसे ही अन्तकालमें कुत्तेकी तरफ वृत्ति जानेपर वही आकृति पकड़ी जाती है और प्राणोंके साथ बाहर निकलती है। जब उस आकृतिके समान दूसरी आकृति सामने आती है, तब वह उसके द्वारा पकड़ी जाती है। अतः वह आकृति कुत्तेके द्वारा पकड़ी जाती है और कुत्तेके श्वासोंके द्वारा अथवा खाद्य पदार्थके द्वारा अथवा जलके द्वारा जीवका कुत्तेमें प्रवेश होता है। फिर वह गर्भाधानके द्वारा कुतियामें जाता है और गर्भ बनकर परिपक्व होनेपर जन्म लेता है। यह पहले खींचे गये चित्रका तैयार होकर सामने आना है! अब प्रश्न उठता है कि वह कुत्तेमें ही क्यों पकड़ा गया? जैसे, आकाशवाणी-केन्द्रके द्वारा जो शब्द फेंका जाता है, वह रेडियोके द्वारा पकड़ा जाता है। रेडियोमें अंक लिखे रहते हैं, जिसका तात्पर्य है कि अमुक स्टेशनसे जो शब्द फेंका गया, वह इतनी गतिसे फेंका गया। वह शब्द वहाँसे बड़ी तेजीसे चलता है और पूरे विश्वमें चक्कर लगाता है। जिस गतिसे वह शब्द फेंका गया, उस गतिके अंकोंपर काँटा होनेसे वह शब्द रेडियोके द्वारा पकड़ा जाता है और बोलने लगता है। परन्तु जहाँ उस गतिके अंकोंपर काँटा नहीं होता, वहाँ वह शब्द चक्कर लगाते हुए भी पकड़ा नहीं जाता। तात्पर्य है कि वह शब्द सजातीयता होनेपर पकड़ा जाता है। ऐसे ही अन्तकालमें जिसका स्मरण करता हुआ यह प्राणी शरीर छोड़ता है, उसकी सजातीयता जिस प्राणीमें है, उस प्राणीमें वह पकड़ा जाता है। विजातीयतामें वह नहीं पकड़ा जाता।

प्राणोंका निष्कासन

जिस क्षण पिण्ड-प्राणका वियोग होता है, उस समय सब अंगोंसे प्राण संकुचित होते हैं। प्राण पाँच माने गये हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।* इनके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि—ये बारह रहते हैं। इन सत्रह तत्त्वोंका सूक्ष्मशरीर माना जाता है। अभी हमारे सामने हाड़-मांसका जो शरीर दीखता है, यह स्थूलशरीर है। स्थूलशरीरके भीतर सूक्ष्मशरीर है और सूक्ष्मशरीरके भीतर कारणशरीर है। जाग्रत्-अवस्था स्थूलशरीरकी है। स्वप्नावस्था सूक्ष्मशरीरकी है। सुषुप्ति-अवस्था (गाढ़ नींद, जिसमें कुछ याद नहीं रहता) कारणशरीरकी है। हम चलते-फिरते हैं—यह स्थूलशरीरका काम है। हम सोचते हैं, मनन व चिन्तन करते हैं, विचार करते हैं, मनोराज्य कहते हैं—यह सूक्ष्मशरीरका काम है। हमारा जो स्वभाव है, आदत है, प्रकृति है—यह कारणशरीरमें है। स्थूलशरीरमें क्रिया मुख्य है, सूक्ष्मशरीरमें

* हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले। उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥
'प्राण हृदयमें, अपान गुदामें, समान नाभिमें, उदान कण्ठमें और व्यान सम्पूर्ण शरीरमें रहता है।'

चिन्तन मुख्य है और कारणशरीरमें स्थिरता मुख्य है। मृत्युके समय सूक्ष्मशरीर (जिसके भीतर कारणशरीर भी है) स्थूलशरीरसे विमुक्त होता है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये प्राणोंके भीतर रहते हैं। पहले सब अंगोंसे प्राण संकुचित होते हैं। इसलिये चलने-फिरनेकी शक्ति, लेने-देनेकी शक्ति, बोलनेकी शक्ति, सुननेकी शक्ति, देखनेकी शक्ति आदि सब संकुचित होकर हृदयमें आती हैं। फिर वह सूक्ष्मशरीर प्राणवायुके द्वारा बाहर निकलता है। ऊर्ध्वगतिमें जानेवालोंके प्राण ऊपरके छिद्रों (कान, आँख, नाक, मुख)-से निकलते हैं और अधोगतिमें जानेवालोंके प्राण नीचेके छिद्रोंसे निकलते हैं। योगाभ्यास, प्राणायाम करके जो प्राण छोड़ते हैं, उनके प्राण शब्दके साथ ब्रह्मरन्ध्र (दसवें द्वार)-से निकलते हैं।

कर्मफलका भोक्ता

हम यहाँ पाप अथवा पुण्य करते हैं, शुभ अथवा अशुभ करते हैं, किसीका हित अथवा अहित करते हैं तो इस शरीरसे और यहाँके पदार्थोंसे करते हैं। मृत्युके समय शरीर भी छूट जाता है और पदार्थ भी छूट जाते हैं, फिर अगले जन्ममें पाप-पुण्यका फल किसको मिलता है? अगर हाथोंसे किसी मनुष्यकी हत्या की है तो उसका दण्ड भी इन्हीं हाथोंको मिलना चाहिये, पर ये तो मरकर खाक हो गये, अब दण्ड किसको मिलेगा? इसपर विचार करें। जैसे, कोई आदमी मोटर चला रहा है और गलतीसे कोई मनुष्य मोटरके नीचे आकर मर गया। उस मरनेवाले मनुष्यको ड्राइवरने छुआ ही नहीं, पर दण्ड ड्राइवरको ही होगा, मोटरको नहीं। यदि कहा जाय कि दण्ड ड्राइवरको ही होनेका नियम है तो उस दुर्घटनाके समय एक ड्राइवर फुटपाथपर खड़ा था, क्या उसको दण्ड होगा? उसको दण्ड नहीं होगा; क्योंकि वह मोटरमें नहीं था। यदि मोटरमें बैठे हुए ड्राइवरको दण्ड होता है, तो मोटरके ड्राइवरके पास दूसरा भी ड्राइवर बैठा था, क्या उसको दण्ड होगा? उसको भी दण्ड नहीं होगा; क्योंकि वह मोटरमें तो था, पर मोटर चला नहीं रहा था। अत: दण्ड मोटर चलानेवाले ड्राइवरको ही होगा। ऐसे ही इस शरीरके द्वारा किसीकी हत्या की, चोरी की, अण्डे-मांसादि महान् अपवित्र चीजोंका सेवन किया तो इन पापोंका दण्ड उसको होगा, जो इस शरीरका संचालक बना हुआ है। जो इस शरीरको 'मैं' और 'मेरा' कहता है, इस शरीरका मालिक बना हुआ है, उसको दण्ड होगा।

यह शरीर मोटरकी तरह है, एक रहनेकी जगह है। यह शरीर 'मैं' नहीं है। हरेक मनुष्य शरीरको 'मेरा' कहता है; जैसे—हाथ मेरा, पाँव मेरा, कान-नाक-जीभ मेरी, सीना मेरा, पीठ मेरी, पेट मेरा, गर्दन मेरी, मस्तक मेरा, रक्त मेरा आदि-आदि। जो 'मेरा' कहनेवाला होता है, वह 'मैं' से अलग होता है। शरीर मैं नहीं हूँ, प्रत्युत शरीर मेरा है। पर भूलसे कह देते हैं कि शरीर मैं हूँ। विचार करें, जब एक-एक अंग मैं नहीं, फिर पूरा मिला हुआ मैं कैसे! सेरभर चावल हों तो उसका एक-एक दाना तो है चावल और जब मिलकर एक सेर हो जायँ तो हो जाय गेहूँ, क्या ऐसा हो सकता है? नहीं हो सकता। इसलिये शरीर मैं नहीं है, पर भूलसे इसको मैं मान लेते हैं। शरीर तो यहीं पड़ा रहता है और इसको 'मैं' और 'मेरा' कहनेवाला चल देता है और पाप-पुण्यका फल भोगता है।

तात्पर्य यह हुआ कि जो कर्म करता है, वही कर्मका भोक्ता बनता है। कर्ता और भोक्ता क्या चीज है? इसपर विचार करें। हम मोटरमें बैठकर कहीं गये। वहाँ किसीने हमसे पूछा कि कैसे आये? तो हमने कहा कि हम मोटरसे आये। मोटर हमें वहाँ ले गयी। यदि हम मोटरमें ड्राइवरको न बैठायें तो क्या मोटर हमें वहाँ ले जायगी? नहीं ले जा सकती। ड्राइवर हमें वहाँ ले जाता है। अगर हम कहीं बैठ जायँ और ड्राइवरको भी बैठा दें और कहें कि आप हमें अमुक जगह ले चलिये तो क्या वह हमें वहाँ ले जा सकता है? नहीं ले जा सकता। हमें वहाँ न तो केवल ड्राइवर ले जा सकता है, न केवल मोटर ले जा सकती है।

वहाँ ले जानेकी क्रिया न तो केवल ड्राइवरसे होती है, न केवल मोटरसे होती है, प्रत्युत जब दोनों मिलते हैं, तब क्रिया होती है। जब चालक होता है, तब यन्त्र चलता है। अगर चालक न हो तो यन्त्र नहीं चल सकता। ऐसे ही जब जीवात्मा स्थूलशरीरका संचालन करता है, तब इससे कार्य होते हैं। शरीरके बिना जीवात्मा कुछ नहीं कर सकता और जीवात्माके बिना शरीर कुछ नहीं कर सकता। अत: दोनोंके संयोगसे क्रिया होती है। जो करता है, वही भोगता है।

क्रिया करनेमें शरीरकी प्रधानता होती है और फल भोगनेमें जीवात्माकी प्रधानता होती है। जैसे, मोटरके द्वारा किसी मनुष्यकी मृत्यु हुई तो उसको छूकर मारनेमें मोटरकी मुख्यता रहती है और दण्ड भोगनेमें ड्राइवरकी मुख्यता रहती है। ड्राइवरके संयोगसे मोटर मारती है और मोटरके संयोगसे ड्राइवर दण्ड भोगता है। अत: कर्तापन और भोक्तापन दोनोंमें शरीर और जीवात्मा दोनोंका संयोग रहता है। मनुष्य जो पाप करता है, अन्यायपूर्वक, धोखा देकर, झूठ-कपट करके, बेईमानी करके धन कमाता है, वह धन तो मरनेपर यहीं रह जाता है और भीतर जमा किया हुआ पाप, झूठ-कपट, बेईमानी, जालसाजी साथमें चलती है। धन एक कौड़ी भी साथ चलेगा नहीं और जो भाव बिगड़े हैं, वे एक कौड़ी भी पीछे रहेंगे नहीं। आगे (परलोकमें) उनका महान् भयंकर दण्ड भोगना ही पड़ेगा। यहीं रह जानेवाली चीजोंके लिये मनुष्य साथमें चलनेवाले भावोंको बिगाड़ लेता है और कहलाता है कि बड़ा बुद्धिमान् है! कितना काम कर लिया! थोड़े दिनोंमें लखपति बन गया! परन्तु साथ चलनेवाली पूँजीको महान् बिगाड़ लिया! अगर यही बुद्धिमानी है तो मूर्खता किसका नाम धरें? यहीं छूट जानेवाली चीजोंके लिये साथमें चलनेवाली चीजें बिगाड़ लें—ऐसा अन्धेर हमारे भारतवर्षमें नहीं था!

सिबि दधीच हरिचंद नरेसा।
सहे धरम हित कोटि कलेसा॥

(मानस, अयोध्या० ९५। २)

राजा शिबिने शरणागतकी रक्षाके लिये पहले अपने शरीरसे मांस काटकर दिया और फिर पूरा शरीर ही दे दिया। दधीचि ऋषिने अपनी हड्डियाँ दे दीं। राजा हरिश्चन्द्रने अपना राज्य दे दिया। परन्तु उन्होंने अपने भीतरके भावोंका नाश नहीं होने दिया। जो चीजें साथमें नहीं रहतीं, उन नाशवान् चीजोंको दूसरोंके हितमें लगाकर उन्होंने साथमें चलनेवाली बढ़िया पूँजी संगृहीत कर ली। वे बड़े चतुर और समझदार रहे; क्योंकि उन्होंने छूटनेवाली चीजको छोड़ दिया और साथमें रहनेवाली चीजका नाश नहीं होने दिया।

भीतरी भावोंका सुधार

आजकल लोग भीतरकी चीजोंके बिगड़नेकी परवाह नहीं करते। भीतरसे चाहे कितने ही काले हों, पर बाहरकी इज्जत, आबरू, पोजीशन ठीक बनी रहे, समाजमें अच्छे कहलाते रहें! कोई उनके दोषोंकी तरफ दृष्टि करे, उनसे पूछे कि आप कैसे हैं, तो वे कहते हैं कि यह हमारा व्यक्तिगत जीवन है। यदि व्यक्तिगत जीवन बिगड़ेगा तो समाज कैसे अच्छा रहेगा? समाज भी पूरा-का-पूरा बिगड़ जायगा; क्योंकि व्यक्तियोंसे ही समाज बनता है। अत: व्यक्तिगत सुधारसे ही समाजका सुधार हो सकता है। भीतरके भाव न सुधारकर बाहरके सुधारकी बड़ी-बड़ी बातें बनायें, व्याख्यान दें और लोग भी प्रमाणपत्र दे दें कि बहुत अच्छा है, तो इससे क्या लाभ हुआ?

तुलसी सो नर चतुर है, राम भजन लवलीन।
परधन परमन हरणको, वेश्या भी परवीन॥

वास्तवमें चतुर वही है, जो भजन कर ले, अपने भावको शुद्ध बना ले, अपनी आदत अच्छी बना ले। यदि भीतरके भावको गन्दा कर लें, और बाहरसे वाहवाही ले लें, धनका संग्रह कर लें तो ऐसा करनेमें वेश्या भी प्रवीण होती है! हम तो किसीको कोई वस्तु दिये बिना उससे रुपया नहीं ले सकते, पर वेश्या मुफ्तमें रुपया ले लेती है। हम किसीका मन भी अपनी तरफ खींचेंगे तो कोई तमाशा दिखायेंगे, गाना-बजाना आदि करेंगे, तब लोगोंसे वाहवाही लेंगे, पर वेश्याको इतनी मेहनत भी

नहीं करनी पड़ती। अत: हम ज्यादा-से-ज्यादा मेहनत करेंगे तो वेश्याके समान बन जायँगे, और क्या होगा? इसमें हमारी इज्जत नहीं है। हमारी वास्तविक इज्जत इसीमें है कि हम भीतरसे शुद्ध बन जायँ। समाजमें लोग चाहे हमें अच्छा न मानें अथवा अच्छा न जानें अथवा अच्छा न कहें, पर हमारे भाव अगर अच्छे हैं तो हमारे चित्तमें हर समय आनन्द रहेगा, प्रसन्नता रहेगी और मरनेपर सद्‌गति होगी। समाज हमें अच्छा ही कहे—यह हमारे हाथकी बात नहीं है। समाज हमें अच्छा भी कहेगा और बुरा भी कहेगा। पर हम अच्छे बन जायँ, बुरे न बनें—यह हमारे हाथकी बात है। वास्तवमें जो चीज सच्ची होती है, वह छिपती नहीं, प्रकट हो ही जाती है। सन्तोंने कहा है—

भजन करे पाताल में, प्रगट होय आकाश।
दाबी-दूबी ना रहे, कस्तूरी की बास॥

कस्तूरीकी सुगन्धको कोई सौगन्ध दिला दे कि बाहर मत आना, तो भी डिबिया खोलते ही वह बाहर फैल जाती है। ऐसे ही हम अपने भावोंको थोड़े दिन दबा सकते हैं, पर वे दुनियामें प्रकट हो ही जाते हैं। थोड़ी सूक्ष्म बुद्धिवाले उनको विशेष पहचान लेते हैं।

भावके अनुसार गति

यदि हमें आगे अच्छी गतिमें जाना है जो हमें अपने भावोंको शुद्ध बनाना होगा। हमारे भाव, आदत, स्वभाव अच्छे बन जायँ तो हम नीची गतिमें नहीं जा सकते। जिस व्यक्तिमें दया व क्षमा है, शान्ति व प्रसन्नता है, उसको यदि बिच्छू अथवा साँप बनाया जाय तो वह बिच्छू अथवा साँपका, क्रूरताका काम कर ही नहीं सकेगा। जो आदमी दूसरेको दु:ख देता है, बिना कारण कष्ट देता है, अपने स्वार्थके लिये दूसरेका नुकसान कर देता है, ऐसे आदमी ही बिच्छू, साँप आदि योनियोंमें, अधोगतिमें जाते हैं। जो समाजमें अपनेको अच्छा दिखाता है, चुपचाप रहता है, पर मौका पड़नेपर आँख बचाकर दूसरेको लूट लेता है, ऐसे स्वभाववाला ही बिल्ली बनता है। जैसे, बिल्ली आँख मीचकर चुपचाप बैठी रहती है और जब देखती है कि मलाई पड़ी है और कोई नहीं है तो फट छापा मारती है; क्योंकि यह उसकी आदत (स्वभाव) है। यह आदत मनुष्यजन्ममें बनायी हुई है। जीव मनुष्यजन्ममें स्वभाव बदलता है और भगवान् उसका चोला (शरीर) बदलते हैं। नाटकमें भी स्वाँग उसीको दिया जाता है जो स्वाँग ठीक भर सके। भेड़-बकरी चरानेवालेको प्रधानाध्यापक नहीं बनाया जाता। जो सबको पढ़ा सकता है, ऐसी योग्यतावालेको प्रधानाध्यापक बनाया जाता है। अत: जो मनुष्य अपना स्वभाव सौम्य, शान्त, शुद्ध बना लेता है, उसकी अधोगति हो ही नहीं सकती। कारण कि उसका भाव हर समय शुद्ध है तो अन्तकालमें भी शुद्ध रहेगा। अन्तकालके भावके अनुसार उसकी गति होगी। वह किसी योनिमें भी जायगा तो वहाँ भी उसका भाव वैसा ही शुद्ध रहेगा।

श्रीमद्‌भागवतमें एक कथा आती है। महाराज भरत भारतवर्षके बहुत बड़े राजा थे। अपने जीवनके अन्तिम भागमें वे सब कुछ छोड़कर पुलहाश्रममें चले गये और भगवान्‌के भजन-स्मरणमें लग गये। एक दिन जब वे स्नान करनेके लिये गण्डकी नदीमें गये तो उन्होंने देखा कि एक गर्भवती हरिणी जल पीनेके लिये नदीके तटपर आयी। वह ज्यों ही जल पीने लगी, त्यों ही पीछेसे सिंहकी भयंकर गर्जना सुनायी पड़ी। इससे बेचारी हरिणी डर गयी और उसने नदी पार करनेके लिये छलाँग मारी। छलाँग मारते ही उसका गर्भ नदीमें गिर गया। वह हरिणी आगे जाकर मर गयी। भरतजीने देखा कि हरिणीका बच्चा बिना माताका हो गया, अब उसकी रक्षा कौन करे? उनको दया आ गयी और उन्होंने उस बच्चेको उठा लिया तथा अपने आश्रमपर ले आये। उस बच्चेको फलों आदिका रस देते हुए धीरे-धीरे घास खाना सिखा दिया और हरदम उसका पालन-पोषण करने लगे। जैसे माँ-बापका अपने बच्चेमें मोह होता है, ऐसे ही भरतजीका उस बच्चेमें मोह हो गया। हरिणीका वह बच्चा खेलता, फुदकता, सींग मारता, खुजली करता तो बाबाजीको बड़ा आनन्द आता! वे रात-दिन उसके पालन-पोषणकी

चिन्तामें ही डूबे रहते। कभी वह दिखायी नहीं देता तो वे उसके लिये बड़े व्याकुल हो जाते। इस प्रकार दिन बीतते गये और एक दिन बाबाजीका अन्तसमय आ पहुँचा। अन्तकालमें भी उस हरिणका चिन्तन होनेसे वे मरकर हरिण बन गये।

जिसका स्वभाव शुद्ध बन जाता है, वह नीची गतिमें नहीं जा सकता। भरतजीका स्वभाव तो शुद्ध ही था, भोगोंका त्याग करके वनमें रहते थे और तपश्चर्या करते थे, फिर वे अधोगतिमें कैसे गये? इसका समाधान यह है कि हरिणका शरीर मिलना अधोगति नहीं है। अधोगति है—भीतरके भावोंका गिरना। इसलिये हरिणके जन्ममें भी भरतजीको पूर्वजन्मकी याद रही। वहाँ वे हरी घास न खाकर सूखे पत्ते खाते रहे। वैराग्यके कारण वे अपनी माता हरिणीके भी साथ नहीं रहे कि कहीं मोह हो गया तो पुनः हरिणीके गर्भसे जन्म लेना पड़ेगा। हरिणके जन्ममें भी उनमें इतनी सावधानी रही, जो मनुष्योंमें भी बहुत कम रहती है। उनमें त्यागका शुद्ध भाव रहा। शुद्ध भाव रहनेसे हरिणका शरीर मिलनेपर भी उनकी अधोगति नहीं हुई। वहाँसे मरकर उन्होंने श्रेष्ठ ब्राह्मणके घरमें जन्म लिया। वहाँ उनका नाम 'जड़ भरत' हुआ। किसीका संग, मोह न हो जाय, कहीं फँस न जायँ—ऐसी सावधानी रखनेके कारण वे 'जड़' कहलाये।

तात्पर्य है कि किया हुआ भजन, स्मरण, तपश्चर्या व्यर्थ नहीं जाती और अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार गतिका कानून भी व्यर्थ नहीं जाता। अतः हमें कर्म करते हुए भी सावधान रहना है और चिन्तन भी भगवान्‌का करते रहना है। यह मनुष्यके लिये बड़ी खास बात है। अन्य योनियोंमें हम कर्म और चिन्तनको नहीं बदल सकते। पशु-पक्षियोंके स्वभावको बदलकर उनको अध्यात्म-मार्गमें नहीं ला सकते। उनके स्वभावके अनुसार उनको शिक्षा दे सकते हैं, पर तुम ऐसे कर्म करो, ऐसा चिन्तन करो जिससे मुक्ति हो जाय—यह शिक्षा नहीं दे सकते। यह अधिकार इस मानव-जन्ममें ही है।* अगर हमने अपना स्वभाव अशुद्ध बना लिया, अपनी आदत बिगाड़ ली, तो फिर अधोगति असम्भव नहीं है! इसलिये—

डरते रहो यह जिन्दगी बेकार न हो जाय,
सपनेमें किसी जीवका अपकार न हो जाय।

अधोगतिसे बचनेके लिये दो खास बातें हैं— (१) दूसरोंकी निःस्वार्थ सेवा करना और (२) भगवान्‌को याद करना। यह काम मनुष्य ही कर सकता है और इसीमें उसकी मनुष्यता सिद्ध होती है। जो दूसरोंका अनिष्ट करता है, वह वास्तवमें अपना ही महान् अनिष्ट करता है और जो दूसरोंको सुख पहुँचाता है, वह वास्तवमें अपनेको ही सुखी बनाता है। अपना बिगाड़ किये बिना कोई दूसरेका बिगाड़ कर ही नहीं सकता। जैसे, मनुष्य पहले चोर बनता है, पीछे चोरी करता है। चोरी करनेपर माल हाथ लगे अथवा न लगे, पर वह खुद चोर बन ही जाता है अर्थात् उसके भीतर चोरपनेका भाव (मैं चोर हूँ) आ ही जाता है।

मृत्यु अवश्यम्भावी है। थोड़ी भी असावधानी परलोकमें हमारी दुर्गतिका कारण बन सकती है। अभी मनुष्यशरीर हमें प्राप्त है। अतः शरीरके रहते-रहते ऐसा काम कर लेना चाहिये, जिससे कोई जोखिम न रहे अर्थात् कभी भी मृत्यु आ जाय तो कम-से-कम अधोगतिमें न जाना पड़े। हरदम सावधान रहनेवाला दुर्गतिमें कैसे जा सकता है? इसलिये हमें बड़ी सावधानीसे अपना जीवन बिताना चाहिये और दूसरोंके हितके लिये कर्तव्यकर्म करते हुए हर समय भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करते रहना चाहिये।

---

* पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भगवान्‌की ओर चलनेकी योग्यता नहीं है, फिर भी (अपवाद रूपसे) पूर्वजन्मके संस्कारसे अथवा अन्य किसी कारणसे वे भी भगवान्‌के सम्मुख हो सकते हैं। कारण कि भगवान्‌का अंश होनेसे जीवमात्रका भगवान्‌के साथ समान सम्बन्ध है; अतः भगवान्‌की तरफ चलनेमें (भगवान्‌की ओरसे) कोई मनाही नहीं है। इसलिये पशु-पक्षियोंमें भी गजेन्द्र, जटायु, काकभुशुण्डि आदि अनेक भगवद्भक्त हो चुके हैं।

२. आकस्मिक और अकाल मृत्यु

एक 'आकस्मिक मृत्यु' होती है और एक 'अकाल मृत्यु' होती है। दोनोंका भेद न जाननेके कारण लोग आकस्मिक मृत्युको भी अकाल मृत्यु कह देते हैं, जबकि वह अकाल मृत्यु होती नहीं। इसलिये दोनोंका भेद जानना आवश्यक है।

कोई आदमी मरना चाहता नहीं, पर अचानक उसकी मृत्यु हो जाय अर्थात् वह किसी दुर्घटना (एक्सीडेंट) में मर जाय, मकानसे गिरकर मर जाय, साँप काटनेसे मर जाय, नदीमें डूबकर मर जाय, बिजलीसे मर जाय, भूकम्प आदिसे मर जाय तो यह उसकी '**आकस्मिक मृत्यु**' है।

कोई आदमी आत्महत्या कर ले अर्थात् मरनेकी इच्छासे फाँसी लगा ले, जहर खा ले, रेलके नीचे आ जाय, छतसे कूद जाय, नदीमें कूद जाय अथवा अन्य किसी उपायसे जान-बूझकर मर जाय तो यह उसकी '**अकाल मृत्यु**' है।

आकस्मिक मृत्यु तो प्रारब्धके अनुसार आयु पूरी होनेपर ही होती है, पर अकाल मृत्यु आयुके रहते हुए ही हो सकती है। अकाल मृत्यु अर्थात् आत्महत्या एक नया घोर पाप-कर्म है, प्रारब्ध नहीं। जो आत्महत्या करता है, उसको एक मनुष्यकी हत्याका पाप लगता है, जिसका परलोकमें भयंकर दण्ड भोगना पड़ता है। भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये, अपना उद्धार करनेके लिये ही कृपापूर्वक मनुष्यशरीर दिया है*। ऐसे दुर्लभ मनुष्य शरीरको आत्महत्या करके नष्ट कर देना महापाप है, बड़ा भारी पाप है!

आत्महत्या करनेपर भी कभी-कभी मनुष्य बच जाता है, मरता नहीं। इसमें यह कारण रहता है कि उसके जीवनका सम्बन्ध किसी दूसरे प्राणीके साथ है। जैसे, भविष्यमें किसीका बेटा होनेवाला हो तो आत्महत्याका प्रयास करनेपर भी मरेगा नहीं; क्योंकि आगे होनेवाले बेटेका प्रारब्ध उसको मरने नहीं देगा। ऐसे ही दूसरेका प्रारब्ध साथमें जुड़ा हुआ रहता है तो आत्महत्याकी चेष्टा करनेपर भी वह मरता नहीं। अगर भविष्यमें उसके द्वारा कोई विशेष कार्य होनेवाला हो अथवा प्रारब्धका कोई उत्कट भोग (सुख-दुःख) आनेवाला हो तो आत्महत्याकी चेष्टा करनेपर भी वह मरेगा नहीं। परन्तु उसको एक मनुष्यकी हत्याका पाप तो लगेगा ही और उसका फल दुःख भी बड़ा भारी होगा! जैसे, किसीने जजके सामने बन्दूक करके गोली चला दी, पर गोली जजको लगी नहीं तो भी उसको सजा होती है; क्योंकि उसकी नीयत तो जजको मारनेकी थी। ऐसे ही आत्महत्याकी नीयत होनेमात्रसे पाप लगता है।

आत्महत्या करनेवालेको मरते समय बड़ा भयंकर कष्ट होता है और वह मरनेसे बचना चाहता है कि मैं अब किसी तरह बच जाऊँ, पर बचनेकी सम्भावना रहती नहीं! उसको बड़ा पश्चात्ताप होता है कि मैंने बहुत बड़ी गलती की, पर अब क्या हो! इसलिये आत्महत्याकी इच्छा करना भी घोर पाप है।

कितनी ही आफत आ जाय, कितना ही दुःख हो जाय, कितना ही अपमान हो जाय, आत्महत्याकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये। पहले किये कर्मोंके फलस्वरूप जो दुःखदायी परिस्थिति आनेवाली है,

---

* बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
(मानस, उत्तर० ४३। ४)

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(मानस, उत्तर० ४४। २-३)

वह तो आयेगी ही*। आत्महत्या करके भी उससे कोई बच नहीं सकता। उलटे आत्महत्याका एक नया पाप-कर्म और हो जायगा! परन्तु दुःखदायी परिस्थितिको सहन कर लेंगे तो पुराने पाप नष्ट होंगे और हम शुद्ध हो जायँगे।

कोई भी परिस्थिति सदा रहनेवाली नहीं होती। न सदा सुख रहता है, न सदा दुःख रहता है। सूर्यका उदय होनेके बाद अस्त होना और अस्त होनेके बाद उदय होना प्रकृतिका नियम है। अतः दुःखदायी परिस्थिति आनेपर घबराना नहीं चाहिये—

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति तस्माद् धीरो नैव हृष्येन्न शोचेत्॥

(महाभारत, शान्ति० २५।३१)

‘सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये समय-समयपर क्रमसे सबको प्राप्त होते हैं। इसलिये धीर पुरुष इनके लिये न हर्ष करे, न शोक करे।’

यद्भावि तद्भवत्येव यदभाव्यं न तद्भवेत्।
इति निश्चितबुद्धीनां न चिन्ता बाधते क्वचित्॥

(नारदपुराण, पूर्व०३७।४७)

‘जो होनेवाला है, वह होकर ही रहता है और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी नहीं होता—ऐसा जिनकी बुद्धिमें निश्चय होता है, उन्हें चिन्ता कभी नहीं सताती।’

जब भगवान्‌का चरणामृत लेते हैं, तब बोलते हैं—

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णोः पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

‘भगवान् विष्णुका चरणामृत अकालमृत्यु (कुबुद्धि)-का हरण करनेवाला तथा सम्पूर्ण रोगोंका नाश करनेवाला है। उसको ग्रहण करनेवालेका पुनर्जन्म नहीं होता।’

इसलिये सभीको भगवान्‌का चरणामृत लेते रहना चाहिये, जिससे ऐसी (आत्महत्याकी) कुबुद्धि, खोटी बुद्धि पैदा न हो। गंगाजल भगवान् विष्णुके ही चरणोंका जल है। अतः सभीको अपने घरोंमें गंगाजल रखना चाहिये और छोटे-बड़े सबको सुबह-शाम उसका चरणामृत लेना चाहिये।

अगर एक आदमी दूसरे आदमीकी हत्या कर दे तो यह मरनेवालेकी तो आकस्मिक मृत्यु है, पर मारनेवालेका नया पाप है, जिसका भयंकर दण्ड उसको भोगना पड़ेगा। कारण कि किसीके भी प्रारब्धमें ऐसा विधान नहीं होता कि वह अमुक आदमीके हाथसे मरेगा। मरनेवाला आयु पूरी होनेपर किसी भी कारणसे मर सकता है, पर उसको मारनेवाला मुफ्तमें ही निमित्त बनकर पापका भागी हो जाता है। जैसे, न्यायालयने एक आदमीको दस बजे फाँसी देनेका हुक्म दिया। परन्तु एक दूसरे आदमीने उसको जल्लादोंके हाथोंसे छुड़ा लिया और ठीक दस बजे उसकी हत्या कर दी। कारण कि उसके मनमें वैर था; अतः उसने सोचा कि इसको मारकर मैं अपने वैरका बदला भी ले लूँ और सरकारका काम भी कर दूँ। परन्तु ऐसी स्थितिमें उस हत्यारेकी भी फाँसीकी सजा होगी। कारण कि न्यायालयने उसको मारने (फाँसी देने)-का हुक्म जल्लादोंको दिया था, न कि दूसरे आदमीको।

मनुष्य चाहे तो अपनी आयु दूसरेको भी दे सकता है। परन्तु यह अधिकार उसी मनुष्यको है, जिसने परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर ली है। जैसे अपनी सम्पत्ति देनेका अधिकार बालिगको ही होता है, नाबालिगको नहीं होता, ऐसे ही अपनी आयु देनेका अधिकार तत्त्वज्ञान होनेपर ही होता है। जबतक तत्त्वज्ञान, परमात्मप्राप्ति, जीवन्मुक्ति न हो, तबतक मनुष्य नाबालिग है और वह अपनी आयु दूसरेको नहीं दे

* अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि॥
‘अपने किये हुए शुभ या अशुभ कर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। कर्मोंका फल भोगे बिना उनका सैकड़ों-करोड़ों (अनन्त) जन्मोंमें भी नाश नहीं होता।’

सकता। कारण कि भगवान्‌ने अपना कल्याण करनेके लिये ही आयु दी है, इसलिये उसको अपने तथा दूसरोंके कल्याणमें ही लगाना चाहिये। उसको नष्ट नहीं करना चाहिये।

राजस्थानमें एक सन्त थे। वे और उनकी माँ—दोनों ही तत्त्वज्ञानी थे। जब उनका अन्तसमय नजदीक आया, तब उनकी माँने अपनी आधी उम्र उनको दे दी, जिससे वे पुनः जी उठे। बादमें जब वे मरे तो माँ और बेटा दोनों एक साथ ही मरे! इसलिये जिसको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो गयी है, ऐसा समर्थ व्यक्ति ही अपनी आयु दूसरेको दे सकता है। परन्तु ऐसा तभी होता है, जब आयु देनेवालेकी, लेनेवालेकी और भगवान्‌की—तीनोंकी मरजी हो। एककी मरजीसे कुछ नहीं होता।

दधीचि ऋषिने देवताओंके हितके लिये अपने प्राण छोड़ दिये, पर उनको पाप नहीं लगा; क्योंकि वे समर्थ थे। रामायणमें आया है—

'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं।
रबि पावक सुरसरि की नाईं॥'

(मानस, बाल० ६९।४)

पृथ्वीपर जो मल-मूत्र आदि अशुद्ध वस्तुएँ रहती हैं, उनको भी अपनी किरणोंसे खींचकर सूर्य उनको शुद्ध बना देता है, इसलिये सूर्य समर्थ है। चन्दन हो या मुर्दा हो, अग्नि सबको जलाकर शुद्ध कर देती है, इसलिये अग्नि समर्थ है। गंगामें नालीका अशुद्ध जल मिल जाय तो वह उसको भी शुद्ध बना देती है, इसलिये गंगा समर्थ है। अतः 'समर्थ' नाम उसका है, जो असमर्थको समर्थ कर दे, अशुद्धको शुद्ध कर दे, अपवित्रको पवित्र कर दे और स्वयं ज्यों-का-त्यों शुद्ध, पवित्र रहे। जो दूसरेको असमर्थ बनाता है, वह तो राक्षस, असुर होता है। जिसके पास धन ज्यादा है, वह भी समर्थ नहीं है। वह बेचारा तो धनका गुलाम है, दयाका पात्र है। ऐसे ही जिसके पास ज्यादा बल है अथवा ऊँचा पद है, वह भी समर्थ नहीं है; क्योंकि वह बल, पद, अधिकार आदिका गुलाम है। उसमें जो समर्थता दीखती है, वह उसकी खुदकी नहीं है, प्रत्युत उसको मिले हुए धन, पद, अधिकार, बल, राज्य आदिकी है, जो कि बिछुड़नेवाले हैं। आगन्तुक वस्तुओंसे अपनेको समर्थ मान लेना बेईमानी है।

कोई स्त्री सती होती है तो उसको आत्महत्याका पाप नहीं लगता; क्योंकि यह आत्महत्या है ही नहीं। सती होनेवाली स्त्री जान-बूझकर नहीं जलती। वह अपनी आयुका नाश नहीं करती, प्रत्युत त्याग करती है। सती होना कोई साधारण बात नहीं है। जिसके भीतर 'सत्' आ जाता है, वह आगके बिना भी जल जाती है और जलते समय उसको कोई कष्ट भी नहीं होता। वर्तमान समयकी एक सत्य घटना है। हरदोई जिलेमें इकनोरा गाँव है। वहाँ एक लड़की अपने मामाके घरपर थी। उसका पति मर गया। उस लड़कीको जब पतिकी मृत्युका समाचार मिला तो उसने मामासे कहा कि मेरेको जल्दी पतिके पास पहुँचा दो। मामाने कहा कि कैसे पहुँचाऊँ? शरीर तो अब जल गया होगा। उसने कहा कि मैं सती होऊँगी? मामाने मना किया तो उसने अपनी अँगुली दीयेपर रखी। वह अँगुली मोमबत्तीकी तरह जलने लगी। वह बोली कि अगर आप मेरेको सती होनेसे रोकेंगे तो आपका सब घर जल जायगा। मामा डर गया। उस लड़कीने दीवारपर अपनी जलती हुई अँगुलीको बुझाया और घरसे बाहर निकलकर पीपलके नीचे खड़ी हो गयी। उसने लकड़ी माँगी तो किसीने दी नहीं। उसने सूर्यसे प्रार्थना की कि ये मेरेको लकड़ी नहीं देते हैं, आप ही कृपा करके मेरेको अग्नि दो। ऐसा कहते ही उसके शरीरमें अपने-आप आग लग गयी और वह वहीं जल गयी। गाँवके लोगोंने यह सब अपनी आँखोंसे देखा। करपात्रीजी महाराज भी वहाँ गये थे और उन्होंने दीवारपर पड़ी वे काली लकीरें देखीं, जो जलती हुई अँगुली बुझानेसे खिंच गयी थीं, और पीपलके जले हुए पत्ते भी देखे। गीताप्रेसके 'कल्याण'—विभागसे भी एक आदमी वहाँ गया था और उसने इस घटनाको सत्य पाया। उसने वहाँके मुसलमानोंसे पूछा तो उन्होंने भी कहा कि यह सब घटना हमारे सामने घटी है।

राजस्थानके दूधोर गाँवकी एक ठकुरानी थी। जब उसके पतिका शरीर शान्त हुआ तो उसको सत् चढ़ गया। उस समय अंग्रेजोंका शासन था। अतः अंग्रेजोंके भयसे वहाँके लोगोंने कह दिया कि हम सती नहीं होने देंगे। पर उसने स्नान करके शृंगार करना शुरू कर दिया। लोगोंने दरवाजा बन्द कर दिया। राजपूतोंके घरोंके दरवाजे भीतरसे बन्द हुआ करते थे, बाहरसे नहीं। इसलिये दोनों किवाड़ोंकी जो कड़ियाँ थीं, उसमें साँकल डाल दी गयी और उस साँकलको पकड़कर तथा दरवाजेपर पैर देकर दो आदमी खड़े हो गये। उधर वह अच्छी तरहसे शृंगार करके आयी और भीतरसे दरवाजेको झटका दिया तो आदमीसहित वह दरवाजा नीचे आ पड़ा! वह बाहर निकल गयी। रास्तेमें जितने मन्दिर थे, उनको नमस्कार करती हुई वह श्मशान-भूमि पहुँची। वहाँ उसके पतिका शव जल रहा था। वहाँ खड़े आदमियोंने उसको आते देखा तो जैसे कबूतरको पकड़ते हैं, ऐसे ऊपरसे बड़ा कपड़ा डालकर पकड़कर उठा लिया और घर ले आये। घरके भीतर मन्दिरमें वह दस दिनतक रही। बादमें उसने मेरेसे भागवत-सप्ताह-कथा सुनी। उस समय मेरेको उसने बताया कि दस दिनतक मेरे पास एक प्रकाश रहा। फिर धीरे-धीरे वह प्रकाश ऊपरकी ओर चला गया।

तात्पर्य है कि सती जान-बूझकर नहीं होती। जब उसको सत् चढ़ता है, तब वह सती होती है। उस समय वह जो बात कह देती है, शाप या वरदान दे देती है, वह सत्य होता है। अब समय बहुत गिर गया है, इसलिये आजकलके लोग इन बातोंको समझते नहीं। अगर किसानसे कोई कह दे कि तुम हवाई जहाज बनाओ तो वह कैसे बना देगा? जिस विषयको वह जानता ही नहीं, उसको क्या वह बता देगा? इसी तरह जो संसारमें रचे-पचे हैं, वे बेचारे धार्मिक और पारमार्थिक बातोंको क्या समझें? **'मायाको मजूर बंदो कहा जाने बंदगी'**!

३. शास्त्रीय विवादसे हानि

शास्त्रोंमें कहीं-कहीं आयी कुछ बातोंको लेकर प्रायः लोग अनेक शंकाएँ किया करते हैं। कुछ लोग उन बातोंको लेकर बड़ा विवाद खड़ा कर देते हैं। शास्त्रोंमें अनेक प्रकारकी बातें मिलती हैं, पर सब बातें हमारे मनके, हमारे सिद्धान्तके अनुकूल हों—ऐसा सम्भव नहीं है। उनमेंसे कुछ बातें प्रक्षिप्त भी हो सकती हैं, पर कौन-सी बात प्रक्षिप्त है और कौन-सी नहीं है—इसका निर्णय कौन करे? निर्णय करना असम्भव है। शास्त्रोंका निर्णय करना मनुष्यकी बुद्धिके बाहरकी बात है। वास्तवमें शास्त्रोंकी सब बातें सबकी समझमें आ भी नहीं सकतीं। अतः कोई बात हमारी समझमें न आये तो इसमें अपनी समझकी कमी न मानकर उस बातको ही सहसा गलत सिद्ध कर देना उचित नहीं है।

अपनेको समझदार मानकर अभिमान करनेवाले व्यक्ति ही विवाद खड़ा करते हैं। परन्तु जिनमें अपनी समझदारीका अभिमान नहीं है, जो शास्त्रकी कमी न मानकर अपनी समझकी कमी मानते हैं, वे कभी विवाद खड़ा नहीं करते। ऐसे व्यक्ति भविष्यमें शास्त्रकी बातको समझ भी सकते हैं। इसलिये शास्त्रकी बातोंको लेकर विवाद खड़ा करनेमें न हमारा हित है, न दूसरोंका हित है; न वर्तमानमें हित है, न परिणाममें हित है। उलटे लोगोंमें शास्त्रोंके प्रति अश्रद्धा पैदा हो जायगी, जिससे वे शास्त्रोंकी अमूल्य तथा हितकारक बातोंसे वंचित रह जायँगे!

इतिहासके आधारपर सत्यका निर्णय नहीं हो सकता। कारण कि उस समय समाजकी क्या परिस्थिति थी और किसने किस परिस्थितिमें क्या किया और क्यों किया, किस परिस्थितिमें क्या कहा और क्यों कहा—इसका पूरा पता नहीं चल सकता।

इसलिये इतिहासमें आयी अच्छी बातोंसे मार्गदर्शन तो हो सकता है, पर सत्यका निर्णय विधि-निषेधसे ही हो सकता है। अतः हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इस विषयमें इतिहासको प्रमाण न मानकर शास्त्रके विधि-निषेधको ही प्रमाण मानना चाहिये। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

'तेरे लिये कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है—ऐसा जानकर तू इस लोकमें शास्त्रविधिसे नियत कर्तव्य-कर्म करनेयोग्य है, अर्थात् तुझे शास्त्रविधिके अनुसार कर्तव्य-कर्म करना चाहिये।'

इतिहाससे विधि प्रबल है और विधिसे भी निषेध प्रबल है।

शास्त्रीय विवादमें पड़ना साधकका काम नहीं है। वह इस विवादमें पड़ जायगा तो फिर साधन कब करेगा? वास्तवमें जो अपना कल्याण चाहते हैं, जिनमें श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता है, वे शास्त्रीय विवादमें नहीं पड़ते। शास्त्रोंका निर्णय करना कठिन है, पर अपना कल्याण करना सुगम है! जैसे मनुष्य किसी सरोवरके जलसे अपनी प्यास तो बुझा सकता है, पर पूरे सरोवरका जल ग्रहण करना उसके वशकी बात नहीं है, ऐसे ही मनुष्य शास्त्रोंकी बातोंसे अपना कल्याण तो कर सकता है, पर शास्त्रोंकी सब बातोंको समझना, उसका निर्णय करना उसके वशकी बात नहीं है। आजतक बड़े-बड़े विद्वान्, आचार्य भी इसका निर्णय नहीं कर सके। इसलिये साधकके लिये इस विवादमें न पड़ना ही बढ़िया है। अगर वह उनका निर्णय करनेमें लगेगा तो इससे लाभ तो कुछ होगा नहीं, पर समय अवश्य बरबाद हो जायगा। आजकल कहाँ इतना समय है? कहाँ इतना ज्ञान है? कहाँ इतनी बुद्धि है? कहाँ इतनी सामर्थ्य है? कहाँ इतनी योग्यता है? इसलिये सन्तोंने ठीक ही कहा है—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥

(मानस, बाल० ६)

तेरे भावैं जो करौ, भलौ बुरौ संसार।
'नारायन' तू बैठि के, अपनौ भुवन बुहार॥

भगवान्‌ने भी गीतामें शास्त्र-जालको 'श्रुतिविप्रतिपत्ति' कहा है[१]। इसलिये शास्त्रोंमें कोई बात प्रक्षिप्त दीखे अथवा अपनी समझमें न आये, उस बातको निकाल देना अनधिकार चेष्टा है और बड़ी हानिकी बात है। साधकके लिये यही उचित है कि वह शास्त्रीय विवादमें न पड़े और जो बात उसको निर्विवाद दीखे, उसके अनुसार आचरण करे[२] और जो बात विवादास्पद दीखे, उसको छोड़ दे। जैसे, परीक्षामें चतुर विद्यार्थी निर्विवाद प्रश्नोंका उत्तर पहले लिखता है, पीछे विवादास्पद प्रश्नोंपर विचार करता है। अगर वह पहले ही विवादास्पद प्रश्नोंको लेकर बैठ जायगा तो समय निकल जायगा और वह फेल हो जायगा।

अगर कोई अनुभवी सन्त-महापुरुष दीखे तो उसकी आज्ञाके अनुसार अपना जीवन बनाना सबसे बढ़िया है। सन्त-महापुरुषोंके वचनोंमें भी परस्पर मतभेद होता है; क्योंकि वे वही बात कहते हैं, जो उस समयके अनुसार आवश्यक हो। इसलिये उनकी बातोंमें भी जो बात निर्विवाद हो, उसको अपनाना चाहिये; जैसे—नामजप, भगवत्स्मरण, सेवा, बुराईका त्याग, किसीका अहित न करना आदि निर्विवाद बातें हैं, जो सब समय पालन करनेयोग्य हैं।

---

१. श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ (गीता २। ५३)

'जिस कालमें शास्त्रीय मतभेदोंसे विचलित हुई तेरी बुद्धि निश्चल हो जायगी और परमात्मामें अचल हो जायगी, उस कालमें तू योगको प्राप्त हो जायगा।'

२. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ (मनु० २। १२)

'वेद, स्मृति, सदाचार और (अपनेमें निष्कामभाव तथा मात्र जीवोंके हितकी दृष्टिसे) जो अपनेको ठीक जँचे—ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण हैं।'

शास्त्रोंमें अनेक देवताओं तथा उनकी उपासनाओंका वर्णन है; क्योंकि सभी मनुष्योंकी समान रुचि, श्रद्धा-विश्वास एवं योग्यता नहीं होती। सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुणकी तारतम्यतासे मनुष्योंकी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यता अलग-अलग होते हैं। इसलिये उनकी उपासनाएँ भी अलग-अलग होती हैं। जैसे भूख सबकी एक होती है और तृप्ति भी सबकी एक होती है, पर भोजनकी रुचि अलग-अलग होनेसे भोजनके पदार्थ भी अलग-अलग होते हैं, ऐसे ही उपास्य-तत्त्वकी अप्राप्तिका दु:ख और प्राप्तिका आनन्द सबमें एक होनेपर भी उपासनाकी रुचि अलग-अलग होती है। वास्तवमें उपास्य-तत्त्व एक ही है। एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकता हिन्दू-संस्कृतिकी विशेषता है। जैसे शरीरके अवयव अनेक होनेपर भी शरीर एक ही होता है, ऐसे ही उपास्यदेव अनेक होनेपर भी उपास्य-तत्त्व एक ही होता है।

अनेक उपास्यदेव होनेपर भी साधककी निष्ठा एकमें ही होनी चाहिये। अगर वह अनेक उपासना करेगा तो उसकी एक निष्ठा नहीं होगी और एक निष्ठा हुए बिना सिद्धि नहीं होगी। इसी कारण शास्त्रोंमें जहाँ जिस देवता, तीर्थ आदिका वर्णन हुआ है, वहाँ उसीको सर्वोपरि बताया गया है, जिससे मनुष्यकी निष्ठा एकमें ही हो। अगर वह अपने साध्यको सर्वोपरि नहीं मानेगा तो उसका साधन सिद्ध नहीं होगा।

जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके सम्बन्धसे सबका आदर-सत्कार करती है, पर उसकी निष्ठा पतिमें ही होती है, ऐसे ही गृहस्थका धर्म है कि वह समय-समयपर (तिथि-त्यौहारपर) सब देवताओंका पूजन करे, आदर करे, पर निष्ठा एककी ही रखे। कुछ लोग अनेक देवी-देवताओंकी उपासना आरम्भ कर देते हैं, पर जब उनके मनमें एक ही देवताकी उपासनाका विचार आता है, तब अन्य देवताओंकी उपासना छोड़नेमें उनको भय लगता है कि कहीं देवता नाराज न हो जायँ, हमारी हानि न कर दें। वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। यदि उद्देश्य कल्याणका हो और निष्कामभाव हो तो एकको उपासना करनेसे दूसरे नाराज नहीं होंगे; क्योंकि मूलमें उपास्य-तत्त्व एक ही है। अनेककी उपासना करनेसे सकामभावकी भी पूर्ति होनी कठिन है। अत: साधकका इष्ट एक ही होना चाहिये।

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

(हनुमन्नाटक १। ३)

'शैव शिवरूपसे, वेदान्ती ब्रह्मरूपसे, बौद्ध बुद्धरूपसे, प्रमाणकुशल नैयायिक कर्तारूपसे, जैन अर्हन्‌रूपसे और मीमांसक कर्मरूपसे जिसकी उपासना करते हैं, वे त्रैलोक्याधिपति श्रीहरि हमें वाञ्छित फल प्रदान करें।'

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

(शिवमहिम्न० ७)

'हे प्रभो! वैदिकमत (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद), सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र, शैवमत, वैष्णवमत आदि विभिन्न मत-मतान्तर हैं; इनमें 'हमारा मत उत्तम, लाभप्रद है'—इस प्रकार रुचियोंकी विचित्रता (रुचिभेद) के कारण अनेक सीधे-टेढ़े मार्गोंसे चलनेवाले मनुष्योंके लिये एकमात्र प्रापणीय स्थान आप ही हैं। जैसे सीधे-टेढ़े मार्गोंसे बहती हुई सभी नदियाँ अन्तमें समुद्रमें ही पहुँचती हैं, उसी प्रकार सभी मतावलम्बी अन्तमें आपके पास ही पहुँचते हैं।

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति॥

(लौगाक्षिस्मृति)

'जैसे आकाशसे गिरा हुआ जल समुद्रमें ही जाता है, ऐसे ही सम्पूर्ण देवताओंको किया गया नमस्कार परमात्माके पास ही जाता है।'

४. रुपयोंके सहारेसे हानि

हमें सबसे पहले अपने जीवनका एक उद्देश्य बनाना चाहिये कि इस जीवनमें हमें परमात्माकी प्राप्ति करनी है। चाहे सारी दुनिया हमारा विरोध करे, पर हमें अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनी है—ऐसा पक्का विचार किये बिना संसार-बन्धन छूटेगा नहीं। अपना उद्देश्य, ध्येय एक बना लो, फिर सब ठीक हो जायगा। जो विधवा हो गयीं अथवा जो साधु हो गये, उनको तो सर्वथा परमात्माकी तरफ लग जाना चाहिये। इसके सिवाय उनका संसारमें क्या काम है? उनका शरीर-निर्वाह हो जायगा। कैसे होगा? यह तो भगवान् जानें!

प्राय: आपने समझ रखा है कि पहले अपने निर्वाहका प्रबन्ध कर लें, रुपये जमा कर लें, पीछे भजन-स्मरण करेंगे। ऐसा भाव आपकी आध्यात्मिक उन्नति नहीं होने देगा। जिन्होंने अपने पास रुपये जमा किये हुए हैं, उनकी जल्दी आध्यात्मिक उन्नति नहीं होगी। रुपयोंका सम्बन्ध आपकी आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधा डालेगा। जिसके पास कुछ नहीं है, रोटी कहाँ मिलेगी—इसका भी पता न हो, उसकी जितनी जल्दी उन्नति होगी, उतनी जल्दी रुपये रखकर साधन करनेवालेकी नहीं होगी। कारण कि उसके भीतर रुपयोंका सहारा रहेगा। रुपयोंके सहारेसे कल्याण नहीं होगा, यह निश्चित बात है। जिसके पास रुपयों आदिका कोई सहारा न हो, रोटीका भी ठिकाना न हो कि क्या खायेंगे? कल क्या मिलेगा? उसकी उन्नति बहुत जल्दी होगी। यह बात आपको शायद न जँचे, पर मेरेको यह जँचती है। जिसका रुपयोंका सहारा रहेगा कि रुपये जमा रखकर उसके ब्याजसे काम चलायेंगे, उसकी जल्दी उन्नति नहीं होगी। रुपयोंका आश्रय रहनेसे भगवान्‌का अनन्य आश्रय नहीं होगा। कुछ भी सहारा रहेगा तो वह परमात्माकी प्राप्ति नहीं होने देगा। दीखता ऐसा है कि रुपयोंका प्रबन्ध हो जाय तो फिर निश्चिन्त होकर भजन करेंगे, पर वास्तवमें निश्चिन्त नहीं हो सकोगे।

भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे पृथानन्दन! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

यहाँ भगवान्‌ने तीन बातें कही हैं—'**अनन्यचेताः**', '**सततम्**' और '**नित्यशः**'। इन तीनों बातोंका तात्पर्य है—१. '**अनन्यचेताः**' अर्थात् एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीका सहारा न हो, २. '**सततम्**' अर्थात् जिस दिन परमात्मामें लगे, उस दिनसे लेकर मृत्युतक और ३. '**नित्यशः**' अर्थात् सुबहसे लेकर शामतक—नींद खुलनेसे लेकर नींद आनेतक परमात्मासे जुड़े रहें। इन तीन बातोंसे भगवान् सुलभ हो जाते हैं। जिसका एक भगवान्‌के सिवाय और कोई सहारा नहीं है, ऐसे अनन्यचेता मनुष्यके लिये भगवान्‌ने अपनेको सुलभ बताया है। जिसको रोटी, कपड़ा, मकान आदि किसीका कोई सहारा नहीं है, वह अगर भगवान्‌में लगे तो बहुत जल्दी उन्नति करेगा। कई आदमी कहते हैं कि हमारे पास पैसा नहीं है, पैसा होता तो भजन करते! यह बिलकुल झूठी बात है। रुपयोंका सहारा दीखता अच्छा है, पर अच्छा है नहीं। जिसके पास कुछ नहीं है, किसीका भी सहारा नहीं है, उसके ऊपर भगवान्‌की बहुत कृपा समझनी चाहिये। वह बड़ा भाग्यशाली है! उसकी बहुत जल्दी उन्नति होगी।

असत् पदार्थोंके सहारेसे ही सबका नुकसान हो रहा है। असत्‌के सहारेसे ही आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो रही है। जो असत्, अनित्य वस्तुका सहारा नहीं लेता, उसकी उन्नति जरूर होगी। सहारा लेना हो तो नित्यका लो। अनित्यका सहारा दीखता तो ठीक है, पर उससे लाभ नहीं होता। रुपये जमा हो जायँगे तो उनका ब्याज आ जायगा, उस ब्याजसे काम चलेगा

और निश्चिन्त होकर भजन-स्मरण करेंगे—यह असत्‌का सहारा है। अगर आप आध्यात्मिक उन्नति चाहते हो तो असत्‌का सहारा छोड़ना ही पड़ेगा। असत्‌का सहारा छोड़नेपर उन्नति जरूर होगी, इसमें सन्देह नहीं है। इसलिये किसीका भी सहारा मत लो, न वस्तुका, न व्यक्तिका। सत्संगसे भी लाभ लो, पर उसका सहारा मत लो। गुरुका भी सहारा मत लो। श्रीदयालुदासजी महाराजने कहा है—

बोल न जाणूं कोय अल्प बुद्धि मन वेग तें।
नहिं जाके हरि होय या तो मैं जाणूं सदा॥

(करुणासागर ७४)

तात्पर्य है कि जिसका कोई नहीं होता, उसके भगवान् होते हैं। परन्तु जिनको दीखता है कि हमारे पास रुपये हों तो हम भी भजन करें, वह भजन नहीं कर सकता। संसारमें देखो कि जिनके पास रुपये हैं, वे कितना भजन करते हैं? ज्यादा रुपयोंवाले सत्संग नहीं कर सकते, सत्संगमें ज्यादा ठहर नहीं सकते। मैंने ऐसे आदमियोंको देखा है, जो सत्संग करते थे। परन्तु जब उनके पास रुपये ज्यादा हो गये, तब उनका सत्संगमें आना छूट गया। संसारका सहारा बिलकुल कामका नहीं है। जिसके पास कुछ नहीं है, कोई सहारा नहीं है, वह व्यक्ति भगवान्‌को बहुत प्रिय होता है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः।

(श्रीमद्भा० १०।६०।१४)

'हम सदासे अकिंचन हैं और अकिंचन लोगोंसे ही हम प्रेम करते हैं तथा अकिंचन लोग ही हमारेसे प्रेम करते हैं।'

कुन्तीदेवी भगवान्‌से कहती हैं कि आप उन लोगोंको दर्शन देते हैं, जो अकिंचन हैं—**'त्वामकिञ्चनगोचरम्'** (श्रीमद्भा० १।८।२६)। इसलिये जिसके पास अपना करके कुछ नहीं है, वह बड़ा भाग्यशाली है। उसपर भगवान्‌की बड़ी भारी कृपा है। संसारको अपना माननेसे धोखा ही होगा। संसारका सहारा टिकनेवाला नहीं है, एक दिन छूट जायगा—इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। अगर मनमें रुपयोंका सहारा पकड़ा हुआ रहेगा कि ब्याज आता रहेगा, हम मौजसे भजन-साधन करेंगे तो रुपयोंका भजन होगा, भगवान्‌का नहीं। असली चिन्तन रुपयोंका ही होगा। अगर संसारका सहारा छोड़ दोगे तो फिर भगवान्‌का ही सहारा रहेगा। कारण कि असत्‌का त्याग करनेपर सत् ही शेष रहेगा।

जिनके पास कुछ नहीं है और भीतरमें कोई इच्छा भी नहीं है, वे बड़े बड़भागी हैं। मेरा कुछ नहीं है और मेरेको कुछ नहीं चाहिये—ऐसा भाव रखनेवालेके जीवन-निर्वाहमें कमी नहीं आयेगी। कुत्तों आदिको देखो। वे बिना झोलीके फकीर हैं! उनके पास न रुपया है, न जमीन-जायदाद है, न कोई जीविका है, फिर भी उनका वंश लाखों वर्षोंसे चलता आया है। भगवान् श्रीरामके राज्यमें भी कुत्तेकी कथा आती है! जिनके पास ज्यादा रुपये हैं, वे खर्च नहीं कर सकते। साधुओंको रोटी भी गरीबोंके घरसे मिलती है, धनियोंके घरसे नहीं। इसका मैं भुक्तभोगी हूँ। गरीबोंके घरमें रसोईतक जा सकते हैं, पर धनियोंके घरमें प्रवेश नहीं कर सकते; क्योंकि वहाँ लाठी लिये हुए आदमी खड़ा रहता है! जिनके पास खानेको रोटी नहीं, पहननेको पूरा कपड़ा नहीं, रहनेको मकान नहीं, अण्टीमें दाम नहीं, पैरोंमें जूती नहीं, सिरपर छाता नहीं, पर एक भगवान्‌का ही सहारा है, वे सन्त-महात्मा बन जाते हैं! पैसा होनेपर भजन करेंगे—यह कोरा वहम है। मैंने धनी आदमियोंसे बात करके देखा है। उनके पास इतना रुपया है कि कई पीढ़ियाँ बिना कुछ किये उन रुपयोंसे अपना जीवन-निर्वाह कर सकती हैं, फिर भी वे रात-दिन रुपये कमानेमें ही लगे हुए हैं। अब वे भजन कैसे कर सकते हैं? रुपयोंका सहारा भजनमें बड़ा भारी विघ्न है।

मेरी सभी भाई-बहनोंसे प्रार्थना है कि आप अपना एक उद्देश्य बना लें कि हमें तो आध्यात्मिक उन्नति करनी है और 'हे नाथ! हे मेरे नाथ!' कहते हुए भगवान्‌को पुकारें। यह बहुत ही उत्तम एवं लाभकी बात है।

५. गीताकी विलक्षणता

धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हैं। दोनों सेनाओंके मध्यमें एक विशाल रथ खड़ा है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण सारथि-रूपसे और अर्जुन रथी-रूपसे विराजमान हैं। कौरवसेनामें अपने स्वजनोंको देखकर अर्जुन भयभीत हो जाते हैं। वे युद्धसे नहीं, प्रत्युत अधर्मसे भयभीत होते हैं। कारण कि अर्जुन कल्याणके इच्छुक थे (२।७, ३।२, ५।१) और यह कदापि नहीं चाहते थे कि उनके कल्याणमें कोई बाधा लगे। कल्याण युद्ध करनेमें है अथवा न करनेमें—इस विषयमें अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। वे भगवान् श्रीकृष्णको अपना प्रिय सखा मानते थे, पर आज पहली बार शरणागत होकर, अपनेको शिष्य मानकर भगवान्से अपने कल्याणका उपाय पूछते हैं—'**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' (२।७)। युद्ध करने अथवा न करनेका कल्याणसे कोई सम्बन्ध नहीं है—यह बतानेके लिये भगवान् बड़े विलक्षण ढंगसे अपने उपदेशका आरम्भ करते हैं।

कल्याणके सभी साधनोंमें विवेककी अत्यधिक आवश्यकता है। मनुष्यशरीरकी जो महिमा गायी गयी है, वह महिमा विवेककी है, मनुष्यशरीरकी नहीं। इसलिये भगवान् सर्वप्रथम सत्-असत्के विवेकका विवेचन करते हैं। इस विवेचनकी खास बात है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (२।१६) अर्थात् असत् (नाशवान्)-की सत्ता विद्यमान है ही नहीं और सत् (अविनाशी)-की सत्ता सदा ही विद्यमान है, उसका अभाव कभी होता ही नहीं, हो सकता ही नहीं। इस विषयको समझानेके लिये गीताने 'असत्' को शरीर, देह, क्षेत्र आदि नामोंसे और 'सत्' को शरीरी, देही, क्षेत्रज्ञ आदि नामोंसे कहा है। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखें तो एक चिन्मय सत्तामात्रमें न असत् है, न सत्; न शरीर है, न शरीरी; न देह है, न देही। ये शब्द केवल अज्ञानी मनुष्योंको समझानेके लिये ही कहे जाते हैं। उस परमतत्त्वको अनिर्वचनीय बतानेके उद्देश्यसे गीताने इसे अनेक प्रकारसे कहा है; जैसे—

(१) परमात्मतत्त्व सत् भी है और असत् भी—'**सदसच्चाहम्**' (९।१९)।

(२) परमात्मतत्त्व सत् भी है, असत् भी है और सत्-असत्से पर भी है—'**सदसत्तत्परं यत्**' (११।३७)।

(३) परमात्मतत्त्व न सत् है और न असत् है—'**न सत्तन्नासदुच्यते**' (१३।१२)।

तात्पर्य है कि सत्-तत्त्वका अनुभव तो किया जा सकता है, पर वर्णन नहीं किया जा सकता। एक चिन्मय सत्तामात्रके सिवाय कुछ नहीं है। इस सत्ताका कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन अथवा अभाव नहीं होता। परन्तु शरीर और संसारका प्रतिक्षण परिवर्तन और अभाव हो रहा है। शरीर मिला है और बिछुड़नेवाला है। उस शरीरको मैं, मेरा तथा मेरे लिये मानना जीवकी मूल भूल है, जिससे वह बन्धनमें पड़ा है। इस भूलको मिटानेके लिये ही भगवत्कृपासे जीवको विवेकप्रधान मनुष्यशरीर मिला है। उत्पन्न होना, सत्तावाला दीखना, बदलना, घटना और नष्ट होना—ये छहों विकार शरीरमें ही होते हैं। शरीरी (आत्मा अर्थात् चिन्मय सत्ता)-तक ये विकार पहुँचते ही नहीं, पहुँच सकते ही नहीं। अंधकार सूर्यतक पहुँच ही कैसे सकता है!

जिस कल्याणकी प्राप्ति विवेकप्रधान ज्ञानयोगसे होती है, उसी कल्याणकी प्राप्ति कर्मयोगसे भी हो सकती है। यह अन्य शास्त्रोंकी अपेक्षा गीताकी विलक्षणता है। कल्याणकी प्राप्तिमें ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनों ही साधनोंको भगवान् समकक्ष बताते हैं—

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। (५।२)

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ (५।४)

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

(५।५)

इन दोनों ही साधनोंको भगवान् लौकिक बताते हैं (३।३)। इन साधनोंसे साधककी बुद्धि समतामें स्थिर हो जाती है। ज्ञानयोगमें अपने विवेकको महत्त्व देनेसे समता आती है और कर्मयोगमें निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करनेसे समता आती है।

अन्य शास्त्रोंमें यह बात प्रसिद्ध है कि मुमुक्षा जाग्रत् होनेपर कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना चाहिये; जैसे—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ (मुण्डक० १।२।१२)

'कर्मसे प्राप्त किये जानेवाले लोकोंकी परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्यको प्राप्त हो जाय, यह समझ ले कि किये जानेवाले कर्मोंसे परमात्मतत्त्व नहीं मिल सकता। वह उस ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करनेके लिये हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाय।'

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।

(श्रीमद्भा० ११।२०।९)

'तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक वैराग्य न हो जाय।'

परन्तु गीताके अनुसार कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना असम्भव है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(३।५)

'कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृतिके परवश हुए सब प्राणियोंसे प्रकृतिजन्य गुण कर्म करवा लेते हैं।'

इसलिये भगवान् कर्मोंके त्यागका उपदेश न देकर फलेच्छाके त्यागका उपदेश देते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(२।४७)

'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं। अतः तू कर्मफलका हेतु भी मत बन और तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(१८।६)

'हे पार्थ! इन (यज्ञ, दान और तपरूप) कर्मोंको तथा दूसरे भी कर्मोंको आसक्ति और फलोंकी इच्छाका त्याग करके करना चाहिये—यह मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है।'

कर्म स्वभावसे ही मनुष्यको बाँधनेवाले हैं—'**कर्मणा बध्यते जन्तुः**'। परन्तु भगवान्ने कर्मोंकी बन्धनकारक शक्तिको नष्ट करके उन्हें भी कल्याणके योग्य बना दिया है—'**योगः कर्मसु कौशलम्**' (२।५०) 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है'। तात्पर्य है कि जो कर्म स्वभावसे ही मनुष्यको बाँधनेवाले हैं, वे ही योग (समता अथवा निष्कामभाव)-पूर्वक करनेसे मुक्ति देनेवाले हो जाते हैं। इसलिये भगवान् स्पष्टरूपसे आज्ञा देते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(३।१९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्मका भलीभाँति आचरण कर; क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

केवल साधकके लिये ही नहीं, सिद्ध महापुरुषके लिये भी भगवान् आज्ञा देते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्॥

(३।२५)

'हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! कर्ममें आसक्त हुए

अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित तत्त्वज्ञ महापुरुष भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

इतना ही नहीं, सबसे बढ़कर प्रमाण भगवान् अपना देते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(३। २२)

'हे पार्थ! मुझे तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, फिर भी मैं कर्तव्य-कर्ममें ही लगा रहता हूँ।'

गीताके अनुसार मनुष्य युद्ध-जैसे घोर कर्म करते हुए भी अपना कल्याण कर सकता है, इससे बढ़कर और क्या बात होगी—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा।'

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(१८। १७)

'जिसका अहंकृतभाव ('मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह युद्धमें इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनों ही साधनोंमें निश्चयात्मिका बुद्धिका होना अनिवार्य है—

'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन'

(२। ४१)

'व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते'

(२। ४४)

'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' (२। ६६)

इसलिये साधन सिद्ध होनेपर मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है अर्थात् उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है—

'समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि'

(२। ५३)

'आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते'

(२। ५५)

'स्थितधीर्मुनिरुच्यते' (२। ५६)

'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' (२। ५७-५८। ६१, ६८)

'बुद्धिः पर्यवतिष्ठते' (२। ६५)

बुद्धि स्थिर होनेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है, जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाता है। परन्तु मुक्त होनेपर भी उसमें सूक्ष्म अहम् रह जाता है। कारण कि अहम् बुद्धिसे परे है—

'मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः'

(३। ४२)*

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

(७। ४)

इस अहम्‌का सर्वथा नाश भक्तियोगमें ही होता है। कारण कि भक्तियोगमें भक्तकी बुद्धि व्यवसित नहीं होती, प्रत्युत भक्त स्वयं (जो कि भगवान्‌का अंश है) व्यवसित होता है—**'सम्यग्व्यवसितो हि सः'** (९। ३०)। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—यह अपरा प्रकृति है और स्वयं परा प्रकृति है (७। ४-५)। इसलिये गीता भक्तियोग (पराभक्ति)-की प्राप्तिमें ही साधनकी पूर्णता मानती है। यही विशेषता गीताको अन्य दर्शनशास्त्रोंसे भिन्न करती है।

सभी दर्शनशास्त्र दुःखोंके नाशको अर्थात् मोक्षको ही मानवजीवनका चरम लक्ष्य मानते हैं, इसलिये उनमें ईश्वरका स्थान गौण है। परन्तु गीतामें ईश्वरकी मुख्यता है। गीता मोक्षके बाद पराभक्ति-(परम प्रेम)

* बुद्धिसे परे अहम् है। अहम् अर्थात् चिज्जड़ग्रन्थिमें एक जड़-अंश है, एक चेतन-अंश। उस जड़-अंशमें काम रहता है। (विस्तारसे जाननेके लिये साधक-संजीवनी टीका पढ़नी चाहिये।)

प्राप्त होनेकी बात कहती है—'**समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्**' (१८।५४)। * तात्पर्य है कि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है। इसलिये क्षरकी प्रधानतावाला कर्मयोग तथा अक्षरकी प्रधानतावाला ज्ञानयोग तो लौकिक एवं करणसापेक्ष है—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (१५।१६); परन्तु परमात्माकी प्रधानतावाला भक्तियोग अलौकिक एवं करणनिरपेक्ष है—'**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः**' (१५।१७)।

गीताका कर्मयोग और ज्ञानयोग भी ईश्वर-भक्तिसे रहित नहीं है; जैसे, कर्मयोगमें—

'**युक्त आसीत मत्परः**' (२।६१)

'कर्मयोगी साधक मेरे परायण होकर बैठे।'

और ज्ञानयोगमें—

'**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी**' (१३।१०)

'मुझमें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्तिका होना (ज्ञानप्राप्तिका उपाय है)।'

'**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते**' (१४।२६)

'जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरा सेवन करता है (वह गुणातीत हो जाता है)।'

ध्यानयोगमें भी गीता कहती है—

'**मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः**' (६।१४)

'सावधान ध्यानयोगी मनका संयम करके मुझमें चित्त लगाता हुआ मेरे परायण होकर बैठे।'

इस प्रकार अन्य दर्शनशास्त्रोंमें ईश्वरवादका जो अभाव दीखता है, वह अभाव गीताने मिटा दिया है। साधक कितनी ही ऊँची अवस्थाको प्राप्त हो जाय, जबतक वह ईश्वरको प्राप्त नहीं होता, तबतक उसका आवागमन नहीं मिटता, इस बातको गीताने स्पष्ट कर दिया है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ (८।१६)

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्ती हैं अर्थात् वहाँ जानेपर पुनः लौटकर संसारमें आना पड़ता है; परन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता।'

'**यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम**' (८।२१)

'जिसे प्राप्त होनेपर जीव फिर लौटकर संसारमें नहीं आते, वह मेरा परम धाम है।'

'**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम**' (१५।६)

'जिसको प्राप्त होकर जीव लौटकर संसारमें नहीं आते, वही मेरा परम धाम है।'

फलासक्ति तथा कर्तृत्वाभिमानके त्यागका उपदेश तो अन्य शास्त्रोंमें भी मिलता है, पर सम्पूर्ण कर्मोंको भगवदर्पण करनेका उपदेश विशेषरूपसे गीतामें ही मिलता है—

'**मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा**' (३।३०)

'तू विवेकवती बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको मेरे अर्पण कर।'

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (९।२७)

'हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ भोजन करता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।'

'**मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि**' (१२।१०)

'मेरे लिये कर्मोंको करता हुआ भी तू सिद्धिको

---

* दर्शनशास्त्रोंमें दु:खोंकी निवृत्तिका सुख है, पर गीतामें परमात्माकी प्राप्तिका सुख है। दु:खोंका सर्वथा नाश होनेपर 'अखण्ड सुख' मिलता है, पर ईश्वरमें प्रेम होनेपर 'अनन्त सुख' मिलता है।

प्राप्त हो जायगा।'

गीतामें भगवान् सम्पूर्ण योगियोंमें भी अपने (सगुणोपासक) भक्तको सर्वश्रेष्ठ योगी मानते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६।४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें तल्लीन हुए मनसे मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है।'

कारण कि भक्त भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है—

'असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु'

(७।१)

'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः' (१८।५५)[1]

ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), अध्यात्म (अनन्त योनियोंके अनन्त जीव), कर्म (उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदिकी सम्पूर्ण क्रियाएँ), अधिभूत (अपने शरीरसहित सम्पूर्ण पांचभौतिक शरीर), अधिदैव (मन-इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवतासहित ब्रह्माजी आदि सभी देवता) और अधियज्ञ (अन्तर्यामी विष्णु और उनके सभी रूप)—यह भगवान्‌का समग्र रूप है[2]। तात्पर्य है कि भक्तको 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इस तत्त्वका अनुभव हो जाता है, जो अत्यन्त दुर्लभ है—**'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'** (७।१९)। गीतामें 'महात्मा', 'युक्ततम', 'सर्ववित्' आदि विशेषण भी भक्तके लिये ही आये हैं।[3] इससे सिद्ध होता है कि गीतामें भगवद्‌भक्तका सर्वाधिक आदर किया गया है। भगवान्‌ने भी स्पष्टरूपसे अपने भक्तका ही पक्ष लिया है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९।२९)

'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान हूँ। उन प्राणियोंमें न तो कोई मेरा द्वेषी है और न कोई प्रिय है। परन्तु जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ।'

सम्पूर्ण वेदोंका सार उपनिषद् हैं और उपनिषदोंका सार गीता है। जैसे आमके वृक्षमें जड़से लेकर पत्तोंतक रस विद्यमान रहता है, पर जो रस उसके फलमें है, वह जड़, टहनी, पत्तों आदिमें नहीं है। ऐसे ही सम्पूर्ण वेदों, उपनिषदों, शास्त्रोंका सार होनेपर भी जो विलक्षणता गीतामें है, वह वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों आदिमें नहीं है। वेद भगवान्‌के निःश्वास हैं—**'यस्य निःश्वसितं वेदाः'** और गीता भगवान्‌की वाणी है। निःश्वास तो स्वाभाविक होते हैं, पर गीता भगवान्‌ने विशेषरूपसे कही है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंकी वाणीसे भी भगवान्‌की वाणी विलक्षण है; क्योंकि भगवान् ऋषि-मुनियोंके भी आदि हैं—**'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः'** (१०।२)। इसलिये सभी दर्शनशास्त्र गीताके अन्तर्गत आ जाते हैं, पर गीता किसी दर्शनशास्त्रके अन्तर्गत नहीं आती।

१.'यावान्-तावान्' (मैं जितना हूँ और जो हूँ)—यह बात निर्गुणमें नहीं हो सकती, प्रत्युत सगुणमें ही हो सकती है।

२. जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये। ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः। प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ (७।२९-३०)

३. बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (७।१९)
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ (८।१५)
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ (९।१३)
योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (६।४७)
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ (१२।२)
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ (१५।१९)

गीता एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। यदि गीताके भावोंको समझना हो उसमें केवल कल्याणकी इच्छा काम आयेगी। कोई गीताको समझना चाहे तो उसे किसी शास्त्र, सम्प्रदाय, योग्यता, बुद्धिमत्ता आदिका आग्रह छोड़कर और केवल भगवान्‌का आश्रय लेकर गीताका अध्ययन करना चाहिये।

भगवान्‌के द्वारा गीता अर्जुनको निमित्त बनाकर मानवमात्रके कल्याणके लिये कही गयी है। अतः गीताके अनुसार मानवमात्र अपना कल्याण करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र, योग्य, समर्थ और अधिकारी है। इसलिये गीता सम्पूर्ण शास्त्रोंसे विलक्षण है—इसमें सन्देहका अवकाश नहीं है।

६. वेद और श्रीमद्भगवद्गीता

वेद नाम शुद्ध ज्ञानका है, जो परमात्मासे प्रकट हुआ है—‘**ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्**’ (गीता ३। १५), ‘**ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा**’ (गीता १७। २३)। वही ज्ञान आनुपूर्वीरूपसे ऋक्, यजुः आदि वेदोंके रूपसे संसारमें प्रकट हुआ है। वेद भगवद्रूप हैं और भगवान् वेदरूप हैं। उन वेदोंका सार उपनिषद् हैं और उपनिषदोंका सार श्रीमद्भगवद्गीता है। वेद तो भगवान्‌के निःश्वास हैं—‘**यस्य निःश्वसितं वेदाः**’, पर गीता भगवान्‌की वाणी है। वेद और उपनिषद् तो अधिकारी मनुष्योंके लिये हैं, पर गीतामें मनुष्यमात्रका अधिकार है। कौरव-पाण्डवोंके इतिहास-ग्रन्थ महाभारतके अन्तर्गत होनेसे इसके अधिकारी सभी हो सकते हैं। श्रीवेदव्यासजी महाराजने महाभारतरूप पंचम वेदकी रचना भी इसीलिये की थी कि मनुष्यमात्रको वेदोंका ज्ञान प्राप्त हो सके।

गीतामें भगवान्‌ने वेदोंका बहुत आदर किया है और उनको अपना स्वरूप बताया है—‘**पिताहमस्य जगतो..........ऋक्साम यजुरेव च**’ (९। १७)। जिसमें नियताक्षरवाले मन्त्रोंकी ऋचाएँ हैं, वह ‘ऋग्वेद’ कहलाता है। जिसमें स्वरोंसहित गानेमें आनेवाले मन्त्र हैं, वह ‘सामवेद’ कहलाता है। जिसमें अनियताक्षरवाले मन्त्र हैं, वह ‘यजुर्वेद’ कहलाता है। जिसमें अस्त्र-शस्त्र, भवन-निर्माण आदि लौकिक विद्याओंका वर्णन करनेवाले मन्त्र हैं, वह ‘अथर्ववेद’ कहलाता है। लौकिक विद्याओंका वर्णन होनेसे भगवान्‌ने गीतामें अथर्ववेदका नाम न लेकर केवल ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद—इन तीन वेदोंका ही नाम लिया है; जैसे—‘**ऋक्साम यजुरेव च**’ (९। १७), ‘**त्रैविद्याः**’ (९। २०), ‘**त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः**’ (९। २१)।

भगवान्‌ने वेदोंमें सामवेदको अपनी विभूति बताया है—‘**वेदानां सामवेदोऽस्मि**’ (१०। २२)। सामवेदमें ‘बृहत्साम’ नामक एक गीति है, जिसमें इन्द्ररूप परमेश्वरकी स्तुति की गयी है। अतिरात्रयागमें यह एक पृष्ठस्तोत्र है। सामवेदमें सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण इस बृहत्सामको भी भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है—‘**बृहत्साम तथा साम्नाम्**’ (१०। ३५)।

सृष्टिमें सबसे पहले प्रणव (ॐ) प्रकट हुआ है। उस प्रणवकी तीन मात्राएँ हैं—‘अ’, ‘उ’ और ‘म’। इन तीनों मात्राओंसे त्रिपदा गायत्री प्रकट हुई है। त्रिपदा गायत्रीसे ऋक्, साम और यजुः—ये तीन वेद प्रकट हुए हैं। वेदोंसे शास्त्र, पुराण आदि सम्पूर्ण वाङ्‌मय जगत् प्रकट हुआ है। इस दृष्टिसे ‘प्रणव’ सबका मूल है और इसीके अन्तर्गत गायत्री तथा सम्पूर्ण वेद हैं। अतः जितनी भी वैदिक क्रियाएँ की जाती हैं, वे सब ‘ॐ’ का उच्चारण करके ही की जाती हैं—‘**तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः। प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥**’ (गीता १७। २४)। जैसे गायें साँड़के बिना फलवती नहीं होतीं, ऐसे ही वेदकी जितनी ऋचाएँ, श्रुतियाँ हैं, वे सब ‘ॐ’ का उच्चारण किये बिना अभीष्ट फल देनेवाली नहीं होतीं। गीतामें भगवान्‌ने प्रणवको भी अपना स्वरूप बताया है—‘**गिरामस्म्येकमक्षरम्**’

(१०।२५), **'प्रणवः सर्ववेदेषु'** (७।८), गायत्रीको भी अपना स्वरूप बताया है—**'गायत्री छन्दसामहम्'** (१०।३५), और वेदोंको भी अपना स्वरूप बताया है।

सृष्टिचक्रको चलानेमें वेदोंकी मुख्य भूमिका है। वेद कर्तव्य-कर्मोंको करनेकी विधि बताते हैं—**'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'** (गीता ३। १५), **'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे'** (गीता ४। ३२)*। मनुष्य उन कर्तव्य-कर्मोंका विधिपूर्वक पालन करते हैं। निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्मोंके पालनसे यज्ञ होता है। यज्ञसे वर्षा होती है, वर्षासे अन्न होता है, अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं और उन प्राणियोंमें मनुष्य कर्तव्य-कर्मोंके पालनसे यज्ञ करते हैं। इस तरह यह सृष्टिचक्र चल रहा है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

(गीता ३। १४-१५)

भगवान् गीतामें कहते हैं कि ऊपरकी ओर मूलवाले तथा नीचेकी ओर शाखावाले जिस संसाररूप अश्वत्थवृक्षको अव्यय कहते हैं और वेद जिसके पत्ते हैं, उस संसारवृक्षको जो जानता है, वह सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाला है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

(१५। १)

संसारसे विमुख होकर उसके मूल परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव कर लेना ही वेदोंका वास्तविक तात्पर्य जानना है। वेदोंका अध्ययन करनेमात्रसे मनुष्य वेदोंका विद्वान् तो हो सकता है, पर यथार्थ तत्त्ववेत्ता नहीं। परन्तु वेदोंका अध्ययन न होनेपर भी जिसको संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक परमात्मतत्त्वका अनुभव हो गया है, वही वास्तवमें वेदोंके तात्पर्यको जाननेवाला अर्थात् अनुभवमें लानेवाला 'वेदवेत्ता' है—**'यस्तं वेद स वेदवित्।'** भगवान्ने भी अपनेको वेदान्तका कर्ता अर्थात् वेदोंके निष्कर्षका वक्ता और वेदवेत्ता कहा है—**'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्'** (१५। १५)। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जिसने परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लिया है, ऐसे वेदवेत्ताकी भगवान्के साथ एकता (सधर्मता) हो जाती है—**'मम साधर्म्यमागताः'** (गीता १४। २)।

भगवान्ने गीतामें अपनेको ही संसारवृक्षका मूल 'पुरुषोत्तम' बताया है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

(१५। १८)

'मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

वेदमें आये 'पुरुषसूक्त' में पुरुषोत्तमका वर्णन हुआ है। गीतामें भगवान् कहते हैं कि वेदोंमें इन्द्ररूपसे जिस परमेश्वरका वर्णन हुआ है, वह भी मैं ही हूँ, इसलिये स्वर्गप्राप्ति चाहनेवाले मनुष्य यज्ञोंके द्वारा मेरा ही पूजन करते हैं—**'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।'** (गीता ९। २०)

वेदोंमें सकामभाववाले मन्त्रोंकी संख्या तो अस्सी हजार है, पर मुक्त करनेवाले अर्थात् निष्कामभाववाले मन्त्रोंकी संख्या बीस हजार ही है, जिसमें चार हजार मन्त्र ज्ञानकाण्डके और सोलह हजार मन्त्र उपासना-काण्डके हैं। इसलिये गीतामें कुछ श्लोक ऐसे भी आते हैं, जिनमें वेदोंकी निन्दा प्रतीत होती है; जैसे—**'यामिमां पुष्पितां वाचम्', 'वेदवादरताः'** (२।४२)।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ (२।४३)

'त्रैगुण्यविषया वेदाः' (२।४५), **'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते'** (६।४४), **'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना**

* यहाँ 'ब्रह्म' पद वेदका वाचक है।

गतागतं कामकामा लभन्ते' (९। २१), '**न वेद-यज्ञाध्ययनैर्न......द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर**' (११।४८), **नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥** (११। ५३) '**छन्दांसि यस्य पर्णानि**' (१५।१) आदि। वास्तवमें यह वेदोंकी निन्दा नहीं है, प्रत्युत वेदोंमें आये सकामभावकी निन्दा है।

संसारके मनुष्य प्रायः मृत्युलोकके भोगोंमें ही लगे रहते हैं। परन्तु उसमें भी जो विशेष बुद्धिमान् कहलाते हैं, उनके हृदयमें भी नाशवान् वस्तुओंका महत्त्व रहनेके कारण जब वे वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका तथा उनके फलका वर्णन सुनते हैं, तब वे वेदोंमें श्रद्धा-विश्वास होनेके कारण यहाँके भोगोंकी इतनी परवाह न करके स्वर्गप्राप्तिके लिये वेदोंमें वर्णित यज्ञोंके अनुष्ठानमें लग जाते हैं। उन सकाम अनुष्ठानोंके फलस्वरूप वे लोग स्वर्गमें जाकर देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते हैं, जो मनुष्यलोकके भोगोंकी अपेक्षा बहुत विलक्षण हैं। वे लोग स्वर्गके प्रापक जिन पुण्योंके फलस्वरूप स्वर्गमें जाते हैं, उन पुण्योंके समाप्त होनेपर वे पुनः मृत्युलोकमें लौट आते हैं—'**ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**' (गीता ९। २१)। सकामभावके कारण ही मनुष्य बार-बार जन्मता-मरता है—'**गतागतं कामकामा लभन्ते**' (गीता ९। २१)। इसलिये भगवान्ने सकामभावकी निन्दा की है।

वेदोंमें सकामभावका वर्णन होनेका कारण यह है कि वेद श्रुतिमाता है और माता सब बालकोंके लिये समान होती है। संसारमें सकामभाववाले मनुष्योंकी संख्या अधिक रहती है। अतः वेदमाताने अपने बालकोंकी अलग-अलग रुचियोंके अनुसार लौकिक और पारमार्थिक सब तरहकी सिद्धियोंके उपाय बताये हैं।

भगवान्ने वेदोंको संसारवृक्षके पत्ते बताया है—'**छन्दांसि यस्य पर्णानि**' और वेदोंकी वाणीको 'पुष्पित' कहा है—'**यामिमां पुष्पितां वाचम्**'। यद्यपि निषिद्ध कर्मोंको करनेकी अपेक्षा वेदविहित सकाम अनुष्ठानको करना श्रेष्ठ है, तथापि उससे मुक्ति नहीं हो सकती। अतः साधकको वैदिक सकाम अनुष्ठानरूप पत्तों और पुष्पोंमें तथा नाशवान् फलमें न फँसकर संसारवृक्षके मूल—परमात्माका ही आश्रय लेना चाहिये। वेदोंका वास्तविक तत्त्व संसार या स्वर्ग नहीं है, प्रत्युत परमात्मा ही हैं—'**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**' (गीता १५। १५)। महाभारतमें आया है—

साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते।
वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः॥

(शान्ति० ३१८। ५०)

'सांगोपांग वेद पढ़कर भी जो वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य परमात्माको नहीं जानता, वह मूढ़ केवल वेदोंका बोझ ढोनेवाला है।'

---

७. स्त्रीके दो रूप—कामिनी और माता

प्रायः कई लोगोंकी यह शिकायत रहती है कि शास्त्रकारोंने स्त्रियोंकी बड़ी निन्दा की है। इस विषयमें गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो पता लगता है कि स्त्रीके दो रूप हैं—कामिनीरूप और मातृरूप। विभिन्न धर्मोंमें जहाँ भी स्त्रियोंकी निन्दा की गयी है, वह कामिनी अर्थात् भोग्यारूपकी ही निन्दा है, मातृरूपकी नहीं। मातृरूपसे तो स्त्रीको पुरुषसे भी सहस्रगुना श्रेष्ठ माना गया है—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(मनु० २। १४५)

'दस उपाध्यायोंकी अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्योंकी अपेक्षा पिता और सहस्र पिताओंकी अपेक्षा माताका गौरव अधिक है।'

संन्यासीके लिये कहा गया है कि वह हाड़-मांसमय शरीरवाली स्त्रीका तो कहना ही क्या है,

लकड़ीसे बनी हुई स्त्रीका भी स्पर्श न करे और हाथसे स्पर्श करना तो दूर रहा, पैरसे भी स्पर्श न करे—

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।

(श्रीमद्भा० ११। ८। १३)

परन्तु उसी संन्यासीके लिये कहा गया है कि यदि उसकी माता सामने आ जाय तो उसे आदरपूर्वक प्रणाम करे—

सर्ववन्द्येन यतिना प्रसूर्वन्द्या प्रयत्नतः॥

(स्कन्दपु०, काशी० ११। ५०)

सभी गुरुजनोंमें माताको परम गुरु माना गया है—

गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः।

(महा०, आदि० १९५। १६)

'नास्ति मातुः परो गुरुः' (अत्रिसंहिता १५०)

'नास्ति मातृसमो गुरुः'

महा०, शान्ति० १०८। १८)

शास्त्रमें यहाँतक आया है—

पतिता गुरवस्त्याज्या माता च न कथञ्चन।
गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी॥

(स्कन्दपु०, मा० कौ० ६। १०७; मत्स्यपु० २२७। १५०)

'पतित गुरु भी त्याज्य है, पर माता किसी प्रकार भी त्याज्य नहीं है। गर्भकालमें धारण-पोषण करनेके कारण माताका गौरव गुरुजनोंसे भी अधिक है।'

प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता॥

(महा०, शान्ति० १०८। २५)

'मनुष्य जिस क्रियासे माताको प्रसन्न कर लेता है, उस क्रियासे सम्पूर्ण पृथ्वीका पूजन हो जाता है।'

हिन्दू-संस्कृतिमें परमात्माको पुरुष (भगवान्) और स्त्री (भगवती)—दोनों रूपोंमें स्वीकार करके उनकी उपासनाका विधान किया गया है। इसलिये ईश्वरकोटिके पंचदेवोंमें विष्णु, शंकर, गणेश और सूर्यके साथ भगवतीको भी समान स्थान दिया गया है।

ईसाइयोंकी पवित्र 'बाइबिल' और मुसलमानोंकी 'कुरान शरीफ' को देखें तो उनमें भी मातृरूपसे ही स्त्रियोंको महत्त्व दिया गया है, भोग्यारूपसे नहीं। पवित्र 'बाइबिल' के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं*—

(१) तू अपने पिता और अपनी माताका आदर करना (पुराना नियम, निर्गमन २०। १२, व्यवस्था० ५। १६)।

(२) तुम अपनी-अपनी माता और अपने-अपने पिताका भय मानना (पुराना नियम, लैव्य० १९। ३)।

(३) शापित हो वह जो अपने पिता वा माताको तुच्छ जाने (पुराना नियम, व्यवस्था० २७। १६)।

(४) मूढ़ अपने पिताकी शिक्षाका तिरस्कार करता है; परन्तु जो डाँटको मानता है, वह चतुर हो जाता है (पुराना नियम, नीति० १५। ५)।

(५) अपने जन्मानेवालेकी सुनना, और जब तेरी माता बुढ़िया हो जाय, तब भी उसे तुच्छ न जानना (पुराना नियम, नीति० २३। २२)।

(६) जिस आँखसे कोई अपने पितापर अनादरकी दृष्टि करे और अपमानके साथ अपनी माताकी आज्ञा न माने, उस आँखको तराईके कौवे खोद-खोदकर निकालेंगे और उकाबके बच्चे खा डालेंगे (पुराना नियम, नीति० ३०। १७)।

(७) अपने पिता और अपनी माताका आदर करना, जो कोई पिता या माताको बुरा कहे, वह मार डाला जाय (नया नियम, मत्ती १५। ४)।

(८) हे बालको, प्रभुमें अपने माता-पिताके आज्ञाकारी बनो (नया नियम, इफिसियो ६। १)।

(९) हे बालको, सब बातोंमें अपने-अपने माता-पिताकी आज्ञाका पालन करो; क्योंकि प्रभु इससे प्रसन्न होता है (नया नियम, कुलुस्सियो ३। १८)।

(१०) मैं कहता हूँ कि स्त्री न उपदेश करे और न पुरुषपर आज्ञा चलाये; परन्तु चुपचाप रहे; क्योंकि आदम पहले, उसके बाद हव्वा बनायी गयी। आदम

* सन्दर्भ—बाइबिल सोसाइटी ऑफ इण्डिया, २०६ महात्मा गाँधी रोड, बेंगलोर—५६०००१

बहकाया न गया, पर स्त्री बहकावेमें आकर अपराधिनी हुई। तो भी बच्चे जननेके द्वारा उद्धार पायेगी, यदि वे संयमसहित विश्वास, प्रेम और पवित्रतामें स्थिर रहें (नया नियम, १-तीमुथियुस २। १२—१५)।

'कुरान शरीफ' के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं*—

(१) तुम्हारे परवरदिगारका हुक्म है कि उसके सिवाय किसीकी इबादत न करो और माता-पिताके साथ अच्छा सलूक करो। अगर (माता-पितामेंसे) एक या दोनों तुम्हारे सामने बुढ़ापेको पहुँच जायँ तो उनके आगे (जवाबदेहीमें) 'हूँ' भी मत करना और न उनको झिड़कना और (उनके साथ) अदबके साथ बोलना और प्यारसे आजिजी (विनम्रता)-के साथ उनके सामने बाजू झुकाये रखना और दुआ करते रहना कि ऐ मेरे परवरदिगार! जिस तरह उन्होंने मुझे छोटे-से पाला है, उसी तरह तू भी इनपर (अपनी) कृपा कर (१५। १७। २३-२४)।

(२) हमने आदमीको माता-पिताके साथ भलाई करनेकी ताकीद की है कि उसकी माताने उसको पेटमें रखा तकलीफ उठाकर और उसको जना तकलीफ उठाकर (२६। ४६। १५)।

बड़े खेदकी बात है कि वर्तमानमें स्त्रीके भोग्यारूपको ही महत्त्व दिया जा रहा है और सन्तति-निरोध, गर्भपात आदि उपायोंसे तथा विज्ञापनोंसे स्त्रीके मातृरूपका तिरस्कार किया जा रहा है। वृद्धावस्था आनेपर स्त्रीका भोग्यारूप तो नष्ट हो जाता है, पर मातृरूप सदा आदरणीय रहता है। आश्चर्यकी बात है कि वर्तमानमें स्त्रियाँ भी भोग्या बनना चाहती हैं, माता नहीं! आजकल स्त्री-पुरुषके समान अधिकारकी बात की जाती है; परन्तु भोग्या स्त्री कभी पुरुषके समान अधिकार नहीं पा सकती। हाँ, मातृरूपसे वह पुरुषसे भी ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकती है। इसलिये भोग्या स्त्रीके लिये कहा गया है—

'**द्वारं किमेकं नरकस्य नारी**' (प्रश्नोत्तरी ३)

'नरकका प्रधान द्वार क्या है? नारी।'

और मातृरूपके लिये कहा गया है—

'**मातृदेवो भव**' (तैत्तिरीय० १। ११)

'माताको देवरूप समझो।'

८. दिनचर्या और आयुश्चर्या

दिनचर्या

ध्यानयोग, हठयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, अष्टांगयोग, लययोग आदि सभी योगोंकी सिद्धिके लिये दिनचर्याकी बात भगवान्ने गीतामें बहुत बढ़िया कही है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६। १६-१७)

'हे अर्जुन! यह योग न तो अधिक खानेवालेका और न बिलकुल न खानेवालेका तथा न अधिक सोनेवालेका और न बिलकुल न सोनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार और विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका तथा यथायोग्य सोने और जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

भोजन इतनी मात्रामें करे, जिससे पेट याद न आये। पेट दो कारणोंसे याद आता है—ज्यादा खानेसे और भूखा रहनेसे। अतः जितनी भूख हो, उससे आधा पेट भोजन करे। पेटका पाव हिस्सा जल पीनेके

* सन्दर्भ—लखनऊ किताबघर, शेरवानी संस्करण।

लिये और पाव हिस्सा श्वास ठीक तरहसे आनेके लिये खाली रखे। अगर मनुष्य भूखसे ज्यादा खा लेगा तो योग-साधन होना दूर रहा, घरका काम-धंधा भी नहीं होगा। पेट भारी होनेसे वह आलस्यमें, नींदमें पड़ा रहेगा। अतः नियमित भोजन करना बहुत आवश्यक है। घूमना-फिरना, आसन-व्यायाम आदि भी यथायोग्य हो, जिससे स्वास्थ्य-निर्माण ठीक तरहसे हो। मनुष्य जीविका-संबंधी जो काम-धंधा करता है, वह भी यथायोग्य हो तथा नींद लेना और जगना भी नियमित हो।

हमारे पास चौबीस घण्टे हैं और हमारे सामने चार काम हैं। चौबीस घण्टोंको चारका भाग देनेसे प्रत्येक कामके लिये छः-छः घण्टे मिल जाते हैं; जैसे—(१) आहार-विहार अर्थात् भोजन करना और घूमना-फिरना—इन शारीरिक आवश्यक कार्योंके लिये छः घण्टे, (२) कर्म अर्थात् खेती, व्यापार, नौकरी आदि जीविका-सम्बन्धी कार्योंके लिये छः घण्टे, (३) सोनेके लिये छः घण्टे और (४) जागने अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये जप, ध्यान, साधन-भजन, कथा-कीर्तन आदिके लिये छः घण्टे।

इन चार बातोंके भी दो-दो बातोंके दो विभाग हैं—एक विभाग 'उपार्जन' अर्थात् कमानेका है और दूसरा विभाग 'व्यय' अर्थात् खर्चेका है। यथायोग्य कर्म और यथायोग्य जगना—ये दो बातें उपार्जनकी हैं। यथायोग्य आहार-विहार और यथायोग्य सोना—ये दो बातें व्ययकी हैं। उपार्जन और व्यय—इन दो विभागोंके लिये हमारे पास दो प्रकारकी पूँजी है—(१) सांसारिक धन-धान्य और (२) आयु।

पहली पूँजी 'धन-धान्य' पर विचार किया जाय तो उपार्जन अधिक करना तो चल जायगा, पर उपार्जनकी अपेक्षा अधिक खर्चा करनेसे काम नहीं चलेगा। इसलिये आहार-विहारमें छः घण्टे न लगाकर चार घण्टेसे ही काम चला ले और खेती, व्यापार आदिमें आठ घण्टे लगा दे। तात्पर्य है कि आहार-विहारका समय कम करके जीविका-सम्बन्धी कार्योंमें अधिक समय लगा दे।

दूसरी पूँजी 'आयु' पर विचार किया जाय तो सोनेमें आयु व्यर्थ खर्च होती है। अतः सोनेमें छः घण्टे न लगाकर चार घण्टेसे ही काम चला ले और भजन-ध्यान आदिमें आठ घण्टे लगा दे। तात्पर्य है कि जितना कम सोनेसे काम चल जाय, उतना चला ले और नींदका बचा हुआ समय भगवान्‌के भजन-ध्यान आदिमें लगा दे। इस उपार्जन (साधन-भजन)-की मात्रा तो दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही रहनी चाहिये; क्योंकि हम यहाँ सांसारिक धन-वैभव आदि कमानेके लिये नहीं आये हैं, प्रत्युत परमात्माकी प्राप्ति करनेके लिये ही आये हैं। इसलिये दूसरे समयमेंसे जितना समय निकाल सकें, उतना समय निकालकर अधिक-से-अधिक भजन-ध्यान करना चाहिये।

दूसरी बात, जीविका-सम्बन्धी कर्म करते समय भी भगवान्‌को याद रखे और सोते समय भी भगवान्‌को याद रखे। सोते समय यह समझे कि अबतक चलते-फिरते, बैठकर भजन किया है, अब लेटकर भजन करना है। लेटकर भजन करते-करते नींद आ जाय तो आ जाय, पर नींदके लिये नींद नहीं लेनी है। इस प्रकार लेटकर भगवत्स्मरण करनेका समय पूरा हो जाय तो फिर उठकर भजन-ध्यान, सत्संग-स्वाध्याय करे और भगवत्स्मरण करते हुए ही काम-धंधेमें लग जाय, तो सब-का-सब काम-धंधा भजन हो जायगा।

यह मनुष्यजन्म केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। इसमें जो कुछ है, वह सब साधन-सामग्री है। अतः मनुष्य जो कुछ करे, वह सब उपार्जन-ही-उपार्जन होना चाहिये। परमात्मप्राप्तिका लक्ष्य रखकर कार्य करनेसे, परमात्माकी प्रसन्नताके लिये ही लौकिक-पारलौकिक कार्य करनेसे हमारा उद्धार तो होता ही है, भगवान्‌की कमीकी भी पूर्ति होती है! जैसे, कैकेयी जबतक जीती रही, तबतक भरतजीने उसको 'माँ' नहीं कहा। कारण कि भरतजीके मनमें यह बात रही कि जिसने अपने प्यारे पुत्रको वनवासमें

भेज दिया, वह माँ कैसे? कैकेयीके मनमें यह बात रही कि भरतलाल मुझे माँ कह दे। यह कमी (घाटा) कैकेयीकी ही रही। ऐसे ही किसी वक्ताके श्रोता दूसरी जगह सुनने चले जायँ तो यह कमी उस वक्ताकी ही रही। इसी तरह हम किसी वस्तु-व्यक्तिपर श्रद्धा-विश्वास करते हैं तो उतने श्रद्धा-विश्वास भगवान्‌के प्रति ही कम हुए। यदि हम संसारपर श्रद्धा-विश्वास नहीं करते तो वह श्रद्धा-विश्वास भगवान्‌पर ही होता। इसलिये भगवान्‌की कमीकी पूर्तिके लिये ही हमें भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास करने चाहिये।

आयुश्चर्या

भगवान्‌ने, शास्त्रोंने, महर्षियोंने, महापुरुषोंने मनुष्योंको मिली हुई आयुका सदुपयोग करनेके लिये उसके चार विभाग कर दिये हैं अर्थात् मनुष्योंकी आयुश्चर्याको चार आश्रमोंमें विभक्त कर दिया है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।

पहला विभाग है—ब्रह्मचर्य-आश्रम। एकसे पचीस वर्षतक मनुष्यको ब्रह्मचारीके नियमोंका एवं गुरु-आज्ञाका पालन करते हुए विद्याध्ययन करना चाहिये। उसे ब्रह्मचर्य-आश्रममें शारीरिक, बौद्धिक, आर्थिक, सामाजिक, दैशिक, आध्यात्मिक आदि उन्नतिके लिये सब तरहकी योग्यताका सम्पादन करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य-आश्रममें जो ब्रह्मचारी सांसारिक भोगोंको बिना ही भोगे विचारद्वारा उनका त्याग कर सकता है, उसको अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए सीधे ही संन्यास-आश्रममें प्रवेश करना चाहिये। परन्तु जो ब्रह्मचारी विचारपूर्वक भोगोंका त्याग नहीं कर सकता, अपनी वृत्तियोंको भोगोंसे उपरत नहीं कर सकता, जिसके मनमें बार-बार भोगोंकी वृत्तियाँ आती हैं, उसको गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करना चाहिये। उसको चाहिये कि वह विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य-आश्रमका समापन करके भोगोंका ज्ञान करनेके उद्देश्यसे ही गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करे और शास्त्र तथा कुल-मर्यादाके अनुसार विवाह करे।

गृहस्थ-आश्रम पचीस वर्षका है। इन पचीस वर्षोंमें मनुष्य शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार न्याययुक्त भोग भोगे, द्रव्यका उपार्जन करे तथा द्रव्यका यथोचित व्यय करे। अतिथि-सत्कार करे। पिताके धनका आश्रय न ले, प्रत्युत स्वयंके उपार्जित धनसे ही माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र आदिका पालन-पोषण करे। यद्यपि पिताका धन लेना कोई पाप नहीं है, तथापि मनुष्यको गृहस्थ-आश्रममें प्रवेशसे पहले ही ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिये, जिससे वह खुदका निर्वाह स्वयं (अपने पुरुषार्थसे) कर सके, किसीपर निर्भर न रहे। पिताके धनको श्राद्ध-तर्पण, यज्ञ, दान आदिमें तथा कुआँ, बगीचा, धर्मशाला आदि बनवानेमें खर्च करे।

गृहस्थ-आश्रमका उपभोग करके तपस्या करनेके लिये वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करना चाहिये। वानप्रस्थ-आश्रम पचीस वर्षका है और यह सरदी-गरमी, वात-वर्षा, भूख-प्यास आदि सब प्रकारकी प्रतिकूलताओंको सहनेकी शक्ति सम्पादन करनेके लिये है। जैसे—सरदीके दिनोंमें एक घड़ेके तलेमें छेद करके उसको जलसे भरकर एक तख्तेपर रख दे और मध्यरात्रिमें दो-तीन घण्टेतक उस घड़ेकी जलधाराका सेवन करे अथवा आकण्ठ जलमें खड़ा रहे। वर्षाकालमें पर्वतकी चोटीपर बैठे। गरमीके दिनोंमें पंचाग्नि तपे अर्थात् ऊपर सूर्य तपता हो और नीचे चारों तरफ कण्डोंकी अग्नि जलती रहे। ऐसी तपश्चर्या न कर सके तो कम-से-कम भूख-प्यासको सह सके और संन्यास-आश्रमका ठीक पालन हो सके—ऐसा सहिष्णु तो बनना ही चाहिये।

वानप्रस्थ-आश्रमके बाद संन्यास-आश्रममें प्रवेश करे। इसमें परिग्रह एवं कंचन-कामिनीका सर्वथा त्याग कर दे। भिक्षासे ही जीवन-निर्वाह करे। समयपर अपने-आप जो कुछ भिक्षा मिल जाय, उसीमें सन्तोष कर ले और रात-दिन परमात्माके चिन्तनमें, भजन-स्मरणमें, सद्‌ग्रन्थोंके स्वाध्यायमें लगा रहे।

इन चारों आश्रमोंमें एक-एक बातकी मुख्यता

है। ब्रह्मचर्य-आश्रममें 'गुरु-आज्ञापालन', गृहस्थ-आश्रममें 'अतिथि-सत्कार', वानप्रस्थ-आश्रममें 'तपस्या' और संन्यास-आश्रममें 'ब्रह्म-चिन्तन' मुख्य है। इन चारों आश्रमोंमें मुख्य दो ही आश्रम हैं—गृहस्थ और संन्यास। ब्रह्मचर्य-आश्रम 'गृहस्थ' की तैयारीके लिये है और वानप्रस्थ-आश्रम 'संन्यास' की तैयारीके लिये है।

प्रश्न—आजकल मनुष्य प्राय: सौ वर्षतक जीवित नहीं रहता; अत: चारों आश्रमोंका पालन कैसे किया जाय?

उत्तर—वर्तमानमें मनुष्य अठारह वर्षकी आयुतक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए विद्याध्ययन करे। उसके बाद शास्त्र-मर्यादाके अनुसार, अपनी जाति, गोत्र आदिको देखकर विवाह करे अर्थात् गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करे। पैंतीस-चालीस वर्षकी अवस्थामें किसीकी स्त्री मर जाय तो वह दूसरा विवाह न करे; क्योंकि दूसरी स्त्री पहली स्त्रीके बच्चोंका पालन करेगी या नहीं, इसका क्या पता? पैंतीस-चालीस वर्षकी उम्रमें वानप्रस्थ-आश्रममें चला जाय। वानप्रस्थमें स्त्री-पुरुष दोनों संयमसे रहें। फिर अलिंग-संन्यास ग्रहण करे अर्थात् काम-धंधा छोड़कर संयमपूर्वक संन्यासीकी तरह ही जीवन बिताये।

प्रश्न—इन चारों आश्रमोंकी मर्यादामें चलनेसे क्या लाभ है और न चलनेसे क्या हानि है?

उत्तर—चारों आश्रमोंकी मर्यादामें चलनेसे स्वाभाविक संयम होता है। संयमसे तेज बढ़ता है, शक्ति बढ़ती है, लोक-परलोकका सुधार होता है। परन्तु मर्यादामें न चलनेसे संयम नहीं रहता, जिससे उच्छृंखलता बढ़ती है और मनुष्य-जीवन पशु-पक्षियोंकी तरह ही हो जाता है। अत: चारों आश्रमोंका पालन जरूर करना चाहिये; क्योंकि चारों आश्रमोंका उद्देश्य कल्याणमें है।

९. वास्तविक आरोग्य

वास्तविक आरोग्य परमात्मप्राप्तिमें ही है। इसलिये गीतामें परमात्माको 'अनामय' कहा गया है—'**जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्**' (२।५१)। 'आमय' नाम रोगका है। जिसमें किंचिन्मात्र भी किसी प्रकारका रोग अथवा विकार न हो, उसको '**अनामय**' अर्थात् निर्विकार कहते हैं। जन्म-मरण ही सबसे बड़ा रोग है—'**को दीर्घरोगो भव एव साधो**' (प्रश्नोत्तरी ७)। अनामय-पदकी प्राप्ति होनेपर इन जन्म-मरणरूप रोगका सदाके लिये नाश हो जाता है। इसलिये जो महापुरुष परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो चुके हैं, वही असली नीरोग हैं। उपनिषद्‌में आया है—

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

(बृहदारण्यक० ४।४।१२)

'यदि पुरुष आत्माको 'मैं यह हूँ' इस प्रकार विशेषरूपसे जान जाय तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामनासे शरीरके तापसे अनुतप्त हो?'

तात्पर्य है कि आत्मा और परमात्मा—दोनों नीरोग (अनामय) हैं। रोग केवल शरीरमें ही आता है। इसलिये कहा गया है—'**शरीरं व्याधिमन्दिरम्**'। शरीरमें रोग दो प्रकारसे आते हैं—प्रारब्धसे और कुपथ्यसे। पुराने पापोंका फल भुगतानेके लिये शरीरमें जो रोग पैदा होते हैं, वे 'प्रारब्धजन्य' कहलाते हैं। जो रोग निषिद्ध खान-पान, आहार-विहार आदिसे पैदा होते हैं, वे 'कुपथ्यजन्य' कहलाते हैं। अत: पथ्यका सेवन करनेसे, संयमपूर्वक रहनेसे और दवाई लेनेसे भी जो रोग नहीं मिटता, उसको 'प्रारब्धजन्य' जानना चाहिये। दवाई और पथ्यका सेवन करनेसे जो रोग मिट जाता है, उसको 'कुपथ्यजन्य' जानना चाहिये।

कुपथ्यजन्य रोग चार प्रकारके होते हैं—**१. साध्य**—जो रोग दवाई लेनेसे मिट जाते हैं। **२. कृच्छ्रसाध्य**—जो रोग कई दिनतक दवाई और पथ्यका विशेषतासे सेवन करनेपर मिटते हैं। **३. याप्य**—जो पथ्य आदिका सेवन करनेसे दबे रहते हैं, जड़से नहीं मिटते। **४. असाध्य**—जो रोग दवाई आदिका सेवन करनेपर भी नहीं मिटते। प्रारब्धसे होनेवाला रोग तो असाध्य होता ही है, कुपथ्यसे होनेवाला रोग भी ज्यादा दिन रहनेसे कभी-कभी असाध्य हो जाता है। ऐसे असाध्य रोग प्रायः दवाइयोंसे दूर नहीं होते। किसी संतके आशीर्वादसे, मन्त्रोंके प्रबल अनुष्ठानसे अथवा विशेष पुण्यकर्म करनेसे ऐसे रोग दूर हो सकते हैं।

कुपथ्यजन्य रोगीके असाध्य होनेमें कई कारण हो सकते हैं; जैसे—१. रोग बहुत पुराना हो जाय, २. रोगी कुपथ्यका सेवन कर ले, ३. जिन जड़ी-बूटियोंसे दवाइयाँ बनी हों, वे पुरानी हों, ४. रोगीका वैद्यपर और औषधपर विश्वास न हो, ५. रोगीका खान-पान, आहार-विहार आदिमें संयम न हो, आदि-आदि।

जो रोगी बार-बार तरह-तरहकी दवाइयाँ लेता रहता है, दवाइयोंका अधिक मात्रामें सेवन करता है, उसको दवाइयोंसे विशेष लाभ नहीं होता; क्योंकि दवाइयाँ उसके लिये आहाररूप हो जाती हैं। गाँवोंमें रहनेवाले प्रायः दवाई नहीं लेते, पर कभी वे दवाई लें तो उनपर दवाई बहुत जल्दी असर करती है। जो लोग मदिरा, चाय आदि नशीली वस्तुओंका सेवन करते हैं, उनकी आँतें खराब हो जाती हैं, जिससे उनके शरीरपर दवाइयाँ असर नहीं करतीं। जो व्यक्ति धर्मशास्त्र और आयुर्वेदशास्त्रके विरुद्ध खान-पान, आहार-विहार करता है, उसका कुपथ्यजन्य रोग दवाइयोंका सेवन करनेपर भी दूर नहीं होता।

अधिकतर रोग कुपथ्यसे पैदा होते हैं। कुपथ्यजन्य रोगसे शरीरकी ज्यादा क्षति होती है। कुपथ्यका त्याग और पथ्यका सेवन दवाइयोंसे भी बढ़कर रोग दूर करनेवाला है। इसलिये कहा गया है—

पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः॥

(वैद्यजीवनम् १०)

'पथ्यसे रहनेपर रोगी व्यक्तिको औषधके सेवनसे क्या प्रयोजन? और पथ्यसे न रहनेपर रोगी व्यक्तिको औषधके सेवनसे क्या प्रयोजन?' तात्पर्य है कि पथ्यसे रहनेपर रोगी व्यक्तिका रोग बिना औषध लिये मिट जाता है और पथ्यसे न रहनेपर उसका रोग औषध लेनेपर भी नहीं मिटता।

रोगीके साथ खाने-पीनेसे, रोगीके पात्रमें भोजन करनेसे, रोगीके आसनपर बैठनेसे, रोगीके वस्त्र आदिको काममें लेनेसे तथा व्यभिचार आदिसे ऐसे संकर (मिश्रित) रोग हो जाते हैं, जिनकी पहचान करना बड़ा कठिन हो जाता है। जब रोगकी पहचान ही नहीं होगी तो फिर वैद्यकी दवाई क्या काम करेगी?

युगके प्रभावसे जड़ी-बूटियोंकी शक्ति क्षीण हो गयी है। कई दिव्य जड़ी-बूटियाँ लुप्त हो गयी हैं। दवाइयाँ बनानेवाले ठीक ढंगसे दवाइयाँ नहीं बनाते और पैसोंके लोभमें आकर जिस दवाईमें जो चीज मिलानी चाहिये, उसको न मिलाकर दूसरी सस्ती चीज मिला देते हैं। अतः वह दवाई वैसी गुणकारी नहीं होती।

जो रोगोंके कारण दुःखी रहता है, उसपर रोग ज्यादा असर करते हैं। परंतु जो भजन-स्मरण करता है, संयमसे रहता है, प्रसन्न रहता है, उसपर रोग ज्यादा असर नहीं करते। चित्तकी प्रसन्नतासे उसके रोग नष्ट हो जाते हैं।

प्रारब्धजन्य रोगके मिटनेमें दवाई तो केवल निमित्तमात्र बनती है। मूलमें तो प्रारब्धकर्म समाप्त होनेसे ही रोग मिटता है। जिन कर्मोंके कारण रोग हुआ है, उन कर्मोंसे बढ़कर कोई पुण्यकर्म, प्रायश्चित्त, मन्त्र आदिका अनुष्ठान किया जाय तो प्रारब्धजन्य रोग मिट जाता है। परंतु इसमें प्रारब्धके बलाबलका प्रभाव पड़ता है अर्थात् प्रारब्धकी अपेक्षा अनुष्ठान

प्रबल हो तो रोग मिट जाता है और अनुष्ठानकी अपेक्षा प्रारब्ध प्रबल हो तो रोग नहीं मिटता अथवा थोड़ा ही लाभ होता है।

लोगोंकी ऐसी धारणा बन गयी है कि दवाईके रूपमें मांस, अण्डा, मदिरा आदिका सेवन करना बुरा नहीं है। वास्तवमें यह महान् पतन करनेवाली बात है। ऐसा माननेवाले वे ही लोग होते हैं, जिनका केवल शरीरको ठीक रखनेका, सुख-आरामका ही उद्देश्य है, जिनको धर्मकी अथवा अपना कल्याण करनेकी परवाह नहीं है। अशुद्ध चीज लेनेसे शरीर ठीक हो जायगा—यह नियम नहीं है, उलटे नये रोग पैदा हो जायँगे। पशुओंके रोग उनका मांस खानेवालोंमें भी आ जाते हैं। अशुद्ध चीज लेनेसे जो पाप होगा, उसका दण्ड तो भोगना ही पड़ेगा। अतः दवाईके रूपमें भी अशुद्ध चीज नहीं खानी चाहिये। जिसका शरीरमें राग नहीं है, जिसका उद्देश्य अपना कल्याण करना है, वह नाशवान् शरीरके लिये अशुद्ध चीजोंका सेवन करके पाप क्यों करेगा?

अन्न और जल—इन दोनोंके सिवाय मनुष्यमें अन्य किसी चीजका व्यसन नहीं होना चाहिये। जीवित रहनेके लिये अन्न और जल लेना ही पड़ता है, पर चाय, काफी, बीड़ी, सिगरेट, जर्दा, पान-मसाला, तम्बाकू, अफीम, चिलम आदि न ले तो मनुष्य मर नहीं जाता। इन चीजोंको लेनेसे आदत खराब होती है, समय खराब होता है, पैसा खराब होता है, शरीर खराब होता है। दुर्व्यसनोंकी आदत पड़ जाय तो फिर उनको छोड़ना बड़ा कठिन होता है और मनुष्य उनके अधीन हो जाता है। पराधीनको स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलता—***'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'*** (मानस, बाल० १०२।३)।

गीतामें भगवान्ने **'आयुःसत्त्वबलारोग्य-सुखप्रीतिविवर्धनाः'** पदोंसे सात्त्विक भोजनका फल पहले बताया और बादमें भोजनके पदार्थोंका वर्णन किया। इससे सिद्ध होता है कि सात्त्विक मनुष्य भोजन करनेसे पहले उसके परिणामपर विचार करता है।[1] परंतु राजस मनुष्यकी दृष्टि सबसे पहले भोजनकी तरफ जाती है, उसके परिणामकी तरफ नहीं, इसलिये भगवान्ने पहले राजस भोजनके पदार्थोंका वर्णन किया और बादमें **'दुःखशोकामयप्रदाः'** पदसे उसका फल बताया।[2] अगर मनुष्य आरम्भमें ही भोजनके परिणामपर विचार करे तो फिर उसको राजस भोजन करनेमें हिचकिचाहट होगी; क्योंकि कोई भी मनुष्य परिणाममें दुःख, शोक और रोगको नहीं चाहता। परंतु भोजनमें आसक्ति होनेके कारण राजस मनुष्यकी बुद्धि परिणामकी तरफ जाती ही नहीं। तामस मनुष्यमें मूढ़ता रहती है; अतः मोहपूर्वक भोजन करनेके कारण वह परिणामको देखता ही नहीं। इसलिये भगवान्ने तामस भोजनका फल बताया ही नहीं।[3] भोजन न्याययुक्त है या नहीं, उसपर मेरा हक लगता है या नहीं, वह शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार है या नहीं, उसका परिणाम अच्छा है या नहीं—इन बातोंपर कुछ भी विचार न करके तामस मनुष्य पशुकी तरह खानेमें प्रवृत्त हो जाता है।

सात्त्विक मनुष्य तो श्रेष्ठ है ही, उससे भी श्रेष्ठ वह भगवद्भक्त है, जो भोजनके पदार्थोंको पहले भगवान्के अर्पण करके फिर उनको प्रसादरूपसे ग्रहण करता है। इसलिये गीतामें भगवान् कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(९।२७-२८)

'हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ

१- आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः । रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ (गीता १७।८)

२- कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ (गीता १७।९)

३- यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ (गीता १७।१०)

भोजन करता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।' 'इस प्रकार मेरे अर्पण करनेसे तू कर्मबन्धनसे और शुभ (विहित) तथा अशुभ (निषिद्ध) सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे मुक्त हो जायगा। ऐसे अपनेसहित सब कुछ मेरे अर्पण करनेवाला और सबसे सर्वथा मुक्त हुआ तू मुझे प्राप्त हो जायगा।'

सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करनेका परिणाम यह होगा कि मनुष्यका जन्म-मरणरूप महान् रोग मिट जायगा। जन्म-मरणरूप रोग मिटनेसे ही मनुष्यको वास्तविक आरोग्यकी प्राप्ति होगी। इस आरोग्यको प्राप्त करना ही मानव-जीवनका लक्ष्य है।

१०. परोपकारका सुगम उपाय

भगवान्‌का भजन-स्मरण स्वयं करनेसे और दूसरोंसे करवानेसे बड़ा लाभ होता है। भागवतमें आया है—

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।

(११। ३। ३१)

'भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण पापराशिको एक क्षणमें भस्म कर देते हैं। सब उन्हींका स्मरण करें और एक-दूसरेको स्मरण करावें।'

दूसरोंको भगवान्‌में लगानेका बड़ा भारी पुण्य होता है। शास्त्रमें आया है—'**अन्नदानं महादानं विद्यादानं ततोऽधिकम्**' अर्थात् अन्नदान महादान है, पर विद्यादान उससे भी बड़ा दान है। विद्याओंमें सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या है। ब्रह्मविद्याका दान तो कोई तत्त्वज्ञ महापुरुष ही कर सकता है, पर एक ऐसा विद्यादान है, जिसको सभी भाई-बहन कर सकते हैं। वह विद्यादान है—भगवान्‌के नामका, गुणोंका, लीलाओंका, महिमाका, तत्त्वका प्रचार। यह प्रचार साधारण-से-साधारण आदमी भी कर सकता है। इसका अभी बड़ा सुन्दर अवसर आया हुआ है।

गीताप्रेसके द्वारा बड़े अच्छे-अच्छे ग्रन्थ बहुत सरल भाषामें और थोड़े मूल्यमें प्रकाशित किये जाते हैं। मैंने श्रेष्ठ पुरुषोंसे सुना है कि गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थ घरमें पड़े-पड़े कल्याण करते हैं। एक मेरे मित्र थे। वे खूब नाम-जप करते थे। वे कहते थे कि मैं गीता, रामायण, तत्त्व-चिन्तामणि आदि ग्रन्थ अपने सामने रख देता हूँ और उनकी तरफ देखते हुए नाम-जप करता हूँ तो उनमें लिखी बातें याद आनेसे जप बड़ी तेजीसे होता है। इस तरह इन ग्रन्थोंसे बहुत लाभ होता है।

अगर दूसरोंके हितके लिये इन पुस्तकोंका प्रचार किया जाय तो लोगोंको बड़ी शान्ति मिलती है। ऐसे कई सज्जन मेरेसे मिले हैं, जिनका गीताप्रेसकी पुस्तकोंके द्वारा जीवन बदल गया। पुस्तकोंसे आश्चर्यजनक लाभ होता है। जब मैं संस्कृतका विद्यार्थी था, तब साधारण भिक्षासे जीवन-निर्वाह करता था। पैसोंके अभावके कारण मनचाही पुस्तक नहीं मँगा सकता था। तब मैंने और एक दूसरे विद्यार्थीने मिलकर गीताप्रेसको पत्र दिया कि हम 'कल्याण' के ग्राहक बनना चाहते हैं; अतः कुछ रियायत हो जाय। उस समय 'कल्याण' चार रुपयेमें मिलता था, पर उन्होंने हमें तीन रुपयेमें भेज दिया तो बड़ी प्रसन्नता हुई कि हमारेपर बड़ी कृपा हो गयी! 'कल्याण' पढ़नेको मिल गया!

पुस्तकोंसे बड़ा लाभ होता है—इसका मेरेको अनुभव है। सत्संगसे और पुस्तकोंसे मेरेको जितना लाभ हुआ है, उतना दूसरे किसी साधनसे नहीं हुआ है। गीताप्रेसके संस्थापक, संचालक तथा संरक्षक सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी पुस्तकोंका मेरेपर बड़ा असर पड़ा था। उनकी पुस्तकोंको पढ़नेसे ऐसा लगा कि ये अनुभवके जोरसे लिखी गयी हैं, विद्वत्ताके जोरसे नहीं। उनकी पुस्तकोंको पढ़कर ही मैं उनके पास गीताप्रेस गया।

गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकें बड़ा असर करनेवाली हैं। उनको पढ़नेसे बड़ा संतोष होता है, शान्ति मिलती है। उन पुस्तकोंकी कई प्रतियाँ अपने पास रखो और दूसरोंको पढ़नेके लिये दो। उनसे कहो कि यह पुस्तक पढ़कर हमारेको दे देना। फिर उनसे पूछते रहो कि आपने वह पुस्तक पढ़ ली कि नहीं? वे पूरी पढ़कर पुस्तक दे दें तो फिर दूसरी पुस्तक दे दो। इससे पुस्तकोंका बहुत बढ़िया प्रचार होता है। मुफ्तमें पुस्तकें देना भी विद्यादान है, पर मुफ्तमें देनेसे लोग प्रायः पुस्तकका आदर नहीं करते, उसको पढ़ते नहीं। उपर्युक्त प्रकारसे पुस्तकें पढ़नेके लिये दी जायँ तो लोग उनको पढ़ते हैं। किसीको कोई पुस्तक बहुत अच्छी लगे और वह लेना चाहे तो उसको वह पुस्तक दे दो। इस तरह पुस्तकोंका प्रचार करना चाहिये।

दुकानदार भाई अपनी दुकानमें गीताप्रेसकी पुस्तकें रखें और उनकी बिक्री करें। एक बार प्रयागराजमें कुम्भ-मेलेके अवसरपर सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने कहा था कि कोई व्यक्ति थैलेमें गीताप्रेसकी पुस्तकें भरकर घूमे और उनकी बिक्री करे तो उसका कल्याण हो जायगा। कारण कि पुस्तकोंको पढ़नेसे लोगोंको बड़ी शान्ति मिलती है, उनके लोक तथा परलोक दोनोंका सुधार होता है। रामायणमें आया है—***'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई'*** (मानस ७। ४१। १)। इसलिये भाई-बहनोंके मनमें यह उत्साह होना चाहिये कि किस तरह गीताप्रेसकी पुस्तकें घर-घरमें पहुँचें।

बीकानेरमें एक भाई अपनी माँको सत्संगमें पहुँचाकर चला जाता था और सत्संग उठनेके समय उनको लेने आ जाता था। एक दिन माँने कह दिया कि 'बेटा! आज तुम भी थोड़ा बैठ जाओ'। वह सत्संगमें बैठ गया। उसपर ऐसा असर पड़ा कि वह स्वयं सत्संग करने लग गया। जैसे बिना चखे फलका, मिठाईका स्वाद नहीं जान सकते, ऐसे ही बिना सत्संग किये उसके आनन्दको नहीं जान सकते। सत्संग करनेसे एक रस आता है, शान्ति मिलती है, लोक और परलोक दोनों सुधरते हैं, कई उलझनें मिट जाती हैं, घरोंमें लड़ाई मिट जाती है। पुस्तकोंके द्वारा हरेकको घर बैठे ऐसा सत्संग मिल सकता है। पुस्तकोंको पढ़ने-सुननेसे शोक, चिन्ता, भय, उद्वेग, हलचल मिटते हैं—ऐसा मेरेसे कई सज्जनोंने कहा है। इसलिये पुस्तकोंका विशेषरूपसे प्रचार करना चाहिये। पुस्तकोंको मुफ्तमें देनेकी अपेक्षा उनकी बिक्री करनेको मैं ठीक मानता हूँ। कारण कि आजकल लोगोंमें पैसोंका जितना आदर है, उतना सच्छास्त्र और सत्संगका आदर नहीं है। इसलिये जब पैसे लगते हैं, तब उनके मनमें पुस्तक पढ़नेकी आती है। ऐसा देखनेमें भी आता है कि जिसकी फीस ज्यादा होती है, उसको लोग बड़ा डॉक्टर मानते हैं। जिस दवामें ज्यादा पैसे लगते हैं, उसको बढ़िया दवा मानते हैं। यद्यपि पैसा सबसे रद्दी चीज है, तथापि उसका आज बड़ा मूल्य हो रहा है।

पुस्तकोंसे कितना लाभ होता है, इसको मैं कह नहीं सकता। जैसे प्यासेको जल प्रिय लगता है, भूखेको भोजन प्रिय लगता है, ऐसे ही जिज्ञासुको पुस्तक प्रिय लगती है। इतना ही नहीं, जितनी बार पुस्तक पढ़े, उतनी ही बार वह नयी-नयी दीखती है। हर बार उसमें विलक्षणता दीखती है और ऐसा दीखता है कि यह बात तो हमने पहले पढ़ी ही नहीं। मेरे एक गुरुभाई हरेक चौमासेमें तुलसीकृत रामायणकी कथा किया करते थे। एक दिन मैंने कहा कि भगवान् शंकर इतने सरल और निरभिमान हैं कि अपने हाथोंसे आसन बिछाकर बैठते हैं—***'निज कर डासि नागरिपु छाला। बैठे सहजहिं संभु कृपाला॥'*** (बाल० १०६। ३) यह सुनकर उन्होंने बड़ा आश्चर्य किया कि इस बातकी तरफ मेरा खयाल गया ही नहीं, जबकि इतने वर्षोंसे मैं कथा करता हूँ। इसी तरह पुस्तकोंको पढ़ते-पढ़ते कई नयी बातोंकी तरफ खयाल जाता है और विलक्षण-विलक्षण भाव पैदा होते हैं। गीताको पढ़ते हैं तो नये-नये विलक्षण भाव आते ही चले जाते

हैं। उनका कोई अन्त नहीं आता। जब भगवान्‌का भी अन्त नहीं आता, तो फिर उनकी वाणीका अन्त कैसे आयेगा? एक साधारण मनुष्यके भी भावोंका अन्त नहीं आता, फिर भगवान्‌के भावोंका अन्त कैसे आयेगा? *'हरि अनंत हरि कथा अनंता'* (मानस, बाल० १४०। ३)।

शास्त्रोंमें गीताकी बहुत महिमा बतायी गयी है। प्रायः ग्रन्थ बड़ा होता है और उसका माहात्म्य छोटा होता है। परंतु पद्मपुराणमें गीताका जो माहात्म्य आया है, उसमें अठारह अध्याय हैं और लगभग एक हजार एक सौ श्लोक हैं, जबकि गीताके अठारह अध्यायोंमें सात सौ ही श्लोक हैं! गीतापर तरह-तरहकी प्रान्तीय भाषाओंमें तरह-तरहकी टीकाएँ हुई हैं और अब भी होती चली जा रही हैं। उन टीकाओंमें विचित्र-विचित्र भाव आये हैं। गीता और रामायणमें कितने-कितने भाव भरे पड़े हैं, इसका कोई अन्त नहीं है। इन दोनों ग्रन्थोंका प्रचार इनके अपने जोरसे हुआ है, राजसत्ता और पैसोंके जोरसे नहीं। ये दोनों प्रासादिक ग्रन्थ हैं और जो इनका आश्रय लेते हैं, उनपर ये कृपा करते हैं। इनका आश्रय लेनेसे मनमें विलक्षणता, विचित्रता आती है और ये ग्रन्थ समझमें आने लगते हैं। विद्याके जोरसे गीताका अर्थ नहीं समझ सकते। रामायणकी बड़ी सीधी-सरल चौपाइयाँ हैं, पर विद्याके जोरसे उनका गहरा अर्थ नहीं समझ सकते। परंतु भगवान्‌के शरण होनेपर साधारण आदमी भी इनका अर्थ जान सकता है।

कलकत्तेकी एक बात है। हम आठ-दस व्यक्ति प्रतिदिन गीताकी चर्चा किया करते थे और परस्पर पूछा करते थे कि बताओ, यह कौन-से अध्यायका कौन-सा श्लोक है? और चटाचट बताया करते थे। वहाँ एक व्यापारी सज्जन आये। उनको भी पूरी गीता याद थी, पर संख्यासहित याद नहीं थी। उनको बड़ा आश्चर्य होता था कि ये संख्यासहित श्लोक कैसे बता देते हैं! उन्होंने मेरेसे पूछा कि गीताके श्लोकोंकी संख्या कैसे याद करूँ? मैंने बताया कि आप बिना पुस्तक देखे **'यत्र योगेश्वरः कृष्णो....'**, **'तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य....'**, **'राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य...'**—इस प्रकार गीताका उलटा पाठ करो और **'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे...'** तक आ जाओ। एकान्तमें बैठकर इस प्रकार उलटा पाठ किया जाय तो बड़ा विचित्र आनन्द आता है, समाधि-सी लग जाती है। उलटा पाठ करनेसे संख्याका खयाल रहता है, जिससे संख्या याद हो जाती है। उन्होंने ऐसा करना शुरू कर दिया। एक दिन आकर उन्होंने एकान्तमें मेरेसे कहा कि आज रात बहुत विलक्षण बात हुई। मेरे पूछनेपर उन्होंने गद्‌गद होकर बताया कि 'मैं रातको लेटे-लेटे गीताका उलटा पाठ कर रहा था। तीसरे-चौथे अध्यायतक पहुँचा तो नींद आ गयी। नींदमें देखता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण छोटे बालकके रूपमें खेलते-खेलते आते हैं। उनके पीछे बड़ी अवस्थावाली तीन-चार गोपियाँ हैं। मैंने पूछा कि महाराज! आपकी कितनी अवस्था है? तो उन्होंने मुँहके पास आकर कहा कि सात वर्षकी। छोटे बालकसे कोई बात पूछो तो वह मुँहके पास आकर कहता है; क्योंकि वह समझता है कि आदमी मुँहसे बोलता है तो वह मुँहसे ही सुनता है। अतः बालरूप भगवान् श्रीकृष्णने मुँहके पास आकर ही कहा तो छातीपर उनका स्पर्श हुआ। वैसा स्पर्श मैंने संसारमें किसीका देखा नहीं। उस स्पर्शसे इतना आनन्द आया कि कह नहीं सकता। नींद खुल गयी और आँसू नेत्रोंसे निकलकर कानमें भर गये। यह गीता-पाठका ही प्रभाव था। गीता-पाठसे बड़ी विलक्षणता आती है, भगवान्‌की बड़ी कृपा प्राप्त होती है।

गीताके प्रचारकी भी बड़ी महिमा है। गीताका प्रचार करनेवालेके लिये भगवान् कहते हैं—

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(गीता १८। ६८-६९)

'मेरेमें पराभक्ति करके जो इस परम गोपनीय संवाद (गीता-ग्रन्थ)-को मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझे ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। उसके समान मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है और इस भूमण्डलपर उसके समान मेरा दूसरा कोई प्रियतर होगा भी नहीं।'

इन दो श्लोकोंसे प्रेरणा पाकर ही सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने गीताका प्रचार करनेके लिये 'गीताप्रेस' खोला। एक दिन मैंने उनसे कहा कि 'आपने गीताका बहुत प्रचार किया है' तो उन्होंने कहा कि 'बालक जन्मते ही गीता बोले, तब समझें कि गीताका कुछ प्रचार हुआ है, नहीं तो क्या प्रचार हुआ!' जैसे गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने जन्मते ही 'राम' बोला था, जिस कारण उनका नाम 'रामबोला' रखा गया। इसी तरह पूर्वजन्ममें गीताका अभ्यास तेज होगा तो बालक जन्मते ही 'गीता' बोल देगा अथवा गीताका कोई पद ही बोल देगा।

गीताप्रेससे प्रकाशित गीताकी 'तत्त्व-विवेचनी' और 'साधक-संजीवनी' हिन्दी टीकाओंका लोगोंपर बड़ा असर पड़ा है। इसी तरह 'गीता-दर्पण', 'गीता-माधुर्य', 'गीता-ज्ञान-प्रवेशिका' आदि पुस्तकोंका भी लोगोंपर बड़ा विचित्र असर पड़ा है। जो आदमी खोज करते हैं, गहरा उतरकर विचार करते हैं, उनके सामने ऐसी पुस्तकें आती हैं, तब इनकी वास्तविकताका पता चलता है। 'ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप' और 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश'—इन दोनों पुस्तकोंको पढ़नेसे पाठकके भीतर विचित्रता आती है। 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश' के अनुसार चिन्तन किया जाय तो सुगमतासे ध्यान लगने लगता है। ऐसी विचित्र-विचित्र पुस्तकें गीताप्रेससे प्रकाशित होती हैं, जिनको पढ़नेसे बड़ा लाभ होता है। उन पुस्तकोंको स्वयं भी पढ़ें और दूसरोंको भी पढ़ायें। इससे बिना कौड़ी खर्च किये स्वाभाविक ही बड़ा उपकार होगा।

गीताप्रेससे प्राय: ऐसी ही पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, जिनके द्वारा दुनियाका हित हो। सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका और भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी पुस्तकोंको पढ़नेसे बड़ा लाभ होता है, शान्ति मिलती है। गीताप्रेससे पद्मपुराण, स्कन्दपुराण आदि कई पुराण भी बड़ी मेहनतसे संक्षिप्त करके हिन्दीमें छापे गये हैं। सम्पूर्ण महाभारत भी छपा है। महाभारतका संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद भी छपा है। हर महीने 'कल्याण' भी निकलता है। 'कल्याण' के अंक कभी पुराने नहीं होते। इसलिये आपके पास पुराने अंक पड़े हों तो उनको भी पढ़ो और पढ़ाओ।

आपके घरमें जो पढ़नेवाले, स्कूल-कॉलेजमें जानेवाले लड़के-लड़कियाँ हों, उनसे गीताप्रेसकी पुस्तकें सुनो। आजकलके बालक प्राय: खुद ऐसी पुस्तकें नहीं पढ़ते। अत: आप उनसे कहो कि बेटा! मेरेको अमुक पुस्तक या ग्रन्थ सुनाओ। आप उनसे सुनोगे तो उनके भीतर अच्छे संस्कार बैठ जायँगे, जिससे उनके स्वभावका सुधार होगा। बालकोंको भक्तोंके चरित्र पढ़नेको दो; क्योंकि कहानी पढ़नेसे बालक बहुत राजी होते हैं। बालकोंके लिये गीताप्रेससे 'वीर बालक', 'वीर बालिकाएँ', 'गुरु और माता-पिताके भक्त बालक', 'सच्चे और ईमानदार बालक' आदि कई पुस्तकें छपी हैं। 'कल्याण' का 'बालक-अंक' भी छपा है। उन्हें बालकोंको पढ़नेके लिये दो।

भक्तोंके चरित्र पढ़नेसे बड़ा विलक्षण लाभ होता है। गीताप्रेससे ऐसी बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं; जैसे—'भक्त बालक', 'भक्त नारी', 'भक्त महिलारत्न', 'भक्त सप्तरत्न', 'भक्त पंचरत्न' आदि। इन पुस्तकोंको पढ़नेसे हृदय गद्‌गद हो जाता है, आँसू आने लगते हैं, एक मस्ती आ जाती है!

इस प्रकार गीताप्रेससे मनुष्यमात्रका कल्याण करनेवाली अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। उनको स्वयं पढ़ना चाहिये तथा उत्साहपूर्वक उनका प्रचार करना चाहिये। इससे संसारका बड़ा भारी उपकार होगा, संसारमें शान्तिका विस्तार होगा।

११. धर्मकी महत्ता और आवश्यकता

मनुष्यशरीर विवेकप्रधान है। यद्यपि विवेक प्राणिमात्रमें विद्यमान है, तथापि सत्-असत् और कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक मनुष्यशरीरमें ही है। यह विवेक व्यवहार और परमार्थमें, लोक और परलोकमें सब जगह काम आता है। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीताके उपदेशमें भगवान्ने सबसे पहले सत्-असत्, शरीरी-शरीरके विवेकका विवेचन किया (गीता २। ११—३०)। परन्तु जिन मनुष्योंकी बुद्धि तीक्ष्ण नहीं है और वैराग्य भी कम है, उनके लिये सत्-असत्के विवेकको समझना कठिन पड़ता है। इसलिये ऐसे मनुष्योंके लिये भगवान्ने कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेचन किया (गीता २। ३१—३८) और अकर्तव्यका त्याग करके कर्तव्यका अर्थात् धर्मका पालन करनेकी प्रेरणा की। कारण कि सत्-असत्के विवेकको महत्त्व देनेसे जो तत्त्व मिलता है, वही तत्त्व अपने कर्तव्यका अर्थात् स्वधर्मका पालन करनेसे भी मिल जाता है।*

वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार अपने-अपने कर्तव्यका निःस्वार्थभावसे पालन करनेका नाम 'स्वधर्म' है। कर्तव्य और धर्म—दोनों एक ही हैं। मनुष्यको परिस्थिति-रूपसे जो कर्तव्य प्राप्त हो जाय, उसका पालन करना भी मनुष्यका धर्म है। जैसे, कोई विद्यार्थी है तो तत्परतासे विद्या पढ़ना उसका धर्म है। कोई शिक्षक है तो विद्यार्थियोंको तत्परतासे पढ़ाना उसका धर्म है। कोई साधक है तो तत्परतासे साधन करना उसका धर्म है। जिसमें दूसरेके अहितका, अनिष्टका भाव होता है, वह चोरी, हिंसा आदि कर्म किसीके भी धर्म नहीं हैं, प्रत्युत कुधर्म अथवा अधर्म हैं।

मनुष्यमात्रका खास धर्म है—स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके तत्परतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करना और किसीको कभी किंचिन्मात्र भी दुःख न देना। दूसरेका कर्तव्य देखना अथवा दूसरेकी निन्दा, तिरस्कार करना भी किसीका कर्तव्य अर्थात् धर्म नहीं है। वास्तवमें धर्म वही है, जिससे अपना भी हित हो और दूसरेका भी हित हो, अभी (वर्तमानमें) भी हित हो और परिणाम (भविष्य)-में भी हित हो, लोकमें भी हित हो और परलोकमें भी हित हो—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिक० १। २)

अर्जुन क्षत्रिय थे; अतः क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे भगवान् कहते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

(गीता २। ३७)

'अगर युद्धमें तू मारा जायगा तो तुझे स्वर्गकी प्राप्ति होगी और अगर युद्धमें तू जीत जायगा तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा। अतः हे कुन्तीनन्दन! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा।'

तात्पर्य है कि अपने धर्मका पालन करनेसे लोक और परलोक दोनों सुधर जाते हैं अर्थात् लोकमें सुख-शान्ति हो जाती है, समाज सुखी हो जाता है और परलोकमें स्वर्गादि ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति होती है। यदि सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर अपने धर्मका पालन किया जाय तो मनुष्य पाप और पुण्य दोनोंसे ऊँचा उठकर जन्म-मरणसे मुक्ति पा लेता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे (अपने धर्मका पालन करनेसे) तू पापको

---

* सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ (गीता ५। ४-५)

प्राप्त नहीं होगा।'

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २।४८)

'हे धनंजय! तू आसक्तिका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर; क्योंकि समत्व ही योग कहलाता है।'

वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार सभी मनुष्योंका अपना-अपना धर्म (कर्तव्य) कल्याणकारक है। परन्तु दूसरे वर्ण, आश्रम आदिका धर्म देखनेसे उसकी अपेक्षा अपना धर्म कम गुणोंवाला दीख सकता है। जैसे, ब्राह्मणके धर्म (शम, दम, तप, क्षमा आदि)-की अपेक्षा क्षत्रियके धर्म (युद्ध आदि)-में अहिंसा आदि गुणोंकी कमी दीख सकती है। ऐसा दीखनेपर भी वास्तवमें अपना धर्म ही कल्याण करनेवाला है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३।३५)

'अच्छी तरह आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणोंकी कमीवाला अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

जो धर्मकी रक्षा करता है, उसकी रक्षा धर्म करता है—'**धर्मो रक्षति रक्षितः**' (मनु० ८।१५)। अतः जो धर्मका पालन करता है, उसकी रक्षा अर्थात् कल्याणका भार धर्मपर और धर्मके उपदेष्टा भगवान्, वेदों, शास्त्रों, ऋषियों, मुनियों आदिपर होता है तथा उन्हींकी शक्तिसे उसका कल्याण होता है। जैसे, शास्त्रोंमें आया है कि पातिव्रतधर्मका पालन करनेसे स्त्रीका कल्याण हो जाता है तो वहाँ पातिव्रतधर्मकी आज्ञा देनेवाले भगवान्, वेद, शास्त्र आदिकी शक्तिसे ही कल्याण होता है, पतिकी शक्तिसे नहीं। पति चाहे कैसा ही हो, सदाचारी हो अथवा दुराचारी हो, तो भी पातिव्रतधर्मके कारण स्त्रीका कल्याण हो जाता है।

प्रायः लोग कर्मोंका आश्रय लिया करते हैं कि अमुक कर्म करके हम अमुक फलको प्राप्त कर लेंगे।* परन्तु कर्मोंके द्वारा प्राप्त होनेवाला फल नाशवान् होता है। कारण कि जब कर्मोंका भी आदि और अन्त होता है, तो फिर उसका फल अविनाशी कैसे होगा? अतः भगवान् कहते हैं कि कर्तव्य-कर्मका आश्रय न लेकर मेरा (भगवान्‌का) ही आश्रय लेना चाहिये—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर।'

तात्पर्य है कि अपने धर्मका पालन तो अवश्य करना चाहिये, पर आश्रय धर्मका न लेकर भगवान्‌का ही लेना चाहिये। धर्मका पालन तो शरीरको लेकर होता है, पर भगवान्‌का आश्रय स्वयंको लेकर होता है। धर्मका निष्कामभावपूर्वक पालन करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, पर भगवान्‌का आश्रय लेनेसे मोक्षके साथ-साथ परमप्रेमकी भी प्राप्ति होती है। मोक्षमें तो अखण्ड (एकरस) आनन्द है, पर प्रेममें अनन्त (प्रतिक्षण वर्धमान) आनन्द है।

भगवान्‌ने मनुष्यको दूसरोंकी सेवाके लिये 'कर्म-सामग्री' दी है, असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद करके सत्-तत्त्वको जाननेके लिये 'विवेक' दिया है और अपने (भगवान्‌के) साथ सम्बन्ध जोड़नेके लिये 'प्रेम' दिया है। परन्तु मनुष्य भगवान्‌की दी हुई सामग्रीका दुरुपयोग करके कर्म-सामग्रीको अपने सुखभोगमें लगा देता है, विवेकको दूसरोंका नाश करनेके

* काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः। क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ (गीता ४।१२)

उपायोंमें लगा देता है और प्रेमको संसारमें (आसक्ति-रूपसे) लगा देता है। इस प्रकार भगवान्‌से मिली हुई वस्तुका दुरुपयोग करनेसे अपना और दूसरोंका, सबका पतन होता है। इस पतनसे धर्म ही रक्षा कर सकता है। कारण कि धर्म ही मनुष्योंको अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंका हित करना सिखाता है। धर्म ही मनुष्योंको मर्यादामें रखता है, उनको उच्छृंखल नहीं होने देता। धर्म ही समाजमें संघर्षको मिटाकर शान्तिकी स्थापना करता है। धर्म ही मनुष्यमें मनुष्यता लाता है। धर्म (कर्तव्य)-का पालन करनेसे ही मनुष्य ऊँचा उठता है। यदि मनुष्य धर्मका त्याग कर दे तो वह पशुओंसे भी नीचा हो जायगा। इसलिये मनुष्यको किसी भी अवस्थामें अपने धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारतके अन्तमें भगवान् वेदव्यासजी कहते हैं—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गा० ५।६३)

'कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा प्राण बचानेके लिये भी अपने धर्मका त्याग न करे; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धनका हेतु (राग) अनित्य है।'

१२. तीन महाव्रत

शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करना अर्थात् उनको मैं, मेरा और मेरे लिये न मानना मनुष्यमात्रका महाव्रत है। इस महाव्रतका पालन करते हुए परमात्मप्राप्ति करनेके लिये ही यह मनुष्यशरीर मिला है। इस महाव्रतकी सिद्धिके लिये भगवान्‌ने तीन योग बताये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। कर्मयोगीका महाव्रत है—किसीको बुरा नहीं समझना, किसीका बुरा नहीं चाहना तथा किसीका बुरा न करना। ज्ञानयोगीका महाव्रत है—किसी भी वस्तु-व्यक्तिका संग न करना। भक्तियोगीका महाव्रत है—एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीको भी अपना न मानना। इन तीनोंमेंसे किसी एक भी महाव्रतका पालन करनेसे मनुष्य सदाके लिये कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है।

कर्मयोगीका महाव्रत—परमात्माका अंश होनेसे प्राणिमात्र स्वरूपसे निर्दोष (बुराईरहित) है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७।२)

इसलिये कोई भी मनुष्य सर्वथा, सर्वदा और सबके लिये बुरा नहीं होता। उसमें जो बुराई दीखती है, वह आगन्तुक है, स्वाभाविक नहीं है। आगन्तुक बुराईको देखकर किसीको बुरा समझना, किसीका बुरा चाहना तथा किसीका बुरा करना सर्वथा अनुचित है। बुरा समझनेवाला, बुरा चाहनेवाला और बुरा करनेवाला कभी सेवा नहीं कर सकता, जबकि कर्मयोगमें निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करना मुख्य है।

दूसरेको बुरा समझनेसे हमारे भीतर क्रोध, वैर, विषमता, पक्षपात आदि बुराइयाँ आ ही जायँगी, भले ही दूसरा बुरा हो या न हो। दूसरेका बुरा चाहनेसे हमारे भावोंमें बुराई आ ही जायगी। अतः बुरा चाहनेसे दूसरेका बुरा तो होगा नहीं, पर हमारा बुरा हो ही जायगा। इसलिये कर्मयोगी इस महाव्रतका पालन करता है कि मैं किसीको बुरा नहीं समझूँगा, किसीका बुरा नहीं चाहूँगा तथा किसीका बुरा नहीं करूँगा।

ज्ञानयोगीका महाव्रत—प्राणिमात्रका स्वरूप असंग है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४।३।१५)। परन्तु मिलने तथा बिछुड़नेवाली वस्तुओंका संग करनेसे अर्थात् उनको अपनी और अपने लिये

माननेसे मनुष्यको अपनी स्वत:सिद्ध असंगताका अनुभव नहीं होता। स्वरूपका विभाग अलग है और मिलने-बिछुड़नेवाली वस्तुओंका विभाग अलग है। ये दोनों विभाग सूर्य और अमावस्याकी रातके समान एक-दूसरेसे सर्वथा अलग-अलग हैं। मिलने-बिछुड़नेवाली वस्तुओंके विभागसे अपना सम्बन्ध मानना ही ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। इसलिये ज्ञानयोगी इस महाव्रतका पालन करता है कि मैं किसी भी कालमें शरीर नहीं हूँ; मेरा किसी भी वस्तु-व्यक्तिसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

भक्तियोगीका महाव्रत—भगवान्‌को जान तो नहीं सकते, पर अपना अवश्य मान सकते हैं। जैसे, हम अपने माता-पिताको जान नहीं सकते, केवल अपना मान सकते हैं। माता-पिताको माने बिना रह सकते भी नहीं; क्योंकि शरीरकी सत्ता मानते हैं तो माता-पिताकी सत्ता माननी ही पड़ेगी। माता-पिताके बिना शरीर कहाँसे आया? ऐसे ही हम अपनी (स्वयंकी) सत्ता मानते हैं तो भगवान्‌की सत्ता माननी ही पड़ेगी। भगवान्‌को अपना माननेसे उनमें आत्मीयता होकर प्रेम हो जाता है। परमप्रेमकी जागृतिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है।

कर्मयोगी और ज्ञानयोगी—दोनोंके महाव्रत लौकिक हैं। परन्तु भक्तियोगीका महाव्रत अलौकिक है। लौकिक महाव्रतका पालन करनेसे मोक्षकी तथा अलौकिक महाव्रतका पालन करनेसे मोक्षके साथ-साथ परमप्रेमकी प्राप्ति भी हो जाती है, जो मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है।

१३. भगवान् गणेश

एक ही समग्र भगवान् उपासकोंकी प्रकृति, श्रद्धा-विश्वास, रुचि आदिको लेकर विष्णु, सूर्य, शिव, गणेश और शक्ति—इन पाँच रूपोंको धारण करते हैं। भगवान्‌के इन पाँचों रूपोंको लेकर वैष्णव, सौर, शैव, गाणपत और शाक्त—ये पाँच सम्प्रदाय चले हैं। भगवान् विष्णुके भक्त 'वैष्णव' कहलाते हैं। विष्णुके अवतार राम, कृष्ण, नृसिंह आदिके भक्त भी वैष्णव कहलाते हैं। भगवान् सूर्यके भक्त 'सौर' कहलाते हैं। भगवान् शंकरके भक्त 'शैव' कहलाते हैं। उत्तर भारतमें वैष्णव अधिक हैं और दक्षिण भारतमें शैव अधिक हैं। भगवान् शंकरके दो पुत्र हुए—कार्तिकेय और गणेश। इन दोनोंका पूजन दक्षिणमें बहुत होता है। गणेशके भक्त 'गाणपत' कहलाते हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कथा आती है कि पार्वतीजीके द्वारा पुण्यकव्रतका अनुष्ठान करनेसे भगवान् श्रीकृष्ण ही उनके पुत्र गणेशरूपसे प्रकट हुए थे। शक्तिके उपासक 'शाक्त' कहलाते हैं। लक्ष्मी, सीता, राधा, पार्वती, दुर्गा आदि जितनी भी देवियाँ हैं, वे सब शक्तिका ही स्वरूप हैं। इस प्रकार पाँचों सम्प्रदायोंके अनुयायी अपने-अपने इष्टको साक्षात् ईश्वर मानते हैं और शेष चारोंको देवता मानते हैं। जब भगवान्‌के इन पाँचों रूपोंमेंसे किसी एक रूपका मन्दिर बनता है, तब वह एक रूप मुख्य (ईश्वररूपसे) होता है और शेष चारों रूप गौण (देवतारूपसे) होते हैं। इन पाँचोंमें भी गणेशजीका स्थान विशेष महत्त्व रखता है; क्योंकि प्रत्येक शुभ कार्यमें सर्वप्रथम गणेशजीका ही पूजन होता है। इतना महत्त्व अन्य किसीका नहीं है।

एक बार देवताओंमें यह विचार हुआ कि सर्वप्रथम पूजनीय कौन है। इसका निर्णय करनेके लिये यह शर्त रखी गयी कि जो सम्पूर्ण पृथ्वीकी परिक्रमा करके सबसे पहले आ जायगा, वही सबसे पहले पूजनीय होगा। सभी देवता अपने-अपने वाहनोंपर चढ़कर रवाना हो गये। गणेशजीने अपने माता-पिता (शंकर-पार्वती)-की परिक्रमा कर ली और बैठ गये। शास्त्रोंमें माताको पृथ्वीसे भी अधिक भारी और पिताको आकाशसे

भी अधिक ऊँचा बताया गया है—

माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा।

(महा०, वन० ३१३।६०)

अतः माता-पिताकी परिक्रमासे पृथ्वीकी परिक्रमा हो गयी। इस प्रकार गणेशजीकी परिक्रमा सबसे पहले हो गयी और वे सर्वप्रथम पूजनीय हो गये। कहीं-कहीं ऐसा वर्णन भी मिलता है कि गणेशजीने पृथ्वीपर 'राम' नाम लिखकर उसकी परिक्रमा कर ली। गोस्वामीजी महाराजने भी लिखा है—

महिमा जासु जान गनराऊ।
प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥

(मानस, बाल० १९। २)

जब भगवान् शंकरका विवाह हुआ, तब सर्वप्रथम गणेशजीका पूजन हुआ। इसपर शंका होती है कि अभी तो पार्वतीजीका विवाह हुआ है, गणेशजीका जन्म तो बादमें होगा। इसका समाधान गोस्वामीजी महाराजने इस प्रकार किया है—*'सुर अनादि जियँ जानि'* (मानस, बाल० १००) अर्थात् देवता अनादि हैं। जैसे भगवान् अनादि हैं और वे अवतार लेकर किसी भी रूपको धारण करें, सदा वैसे-के-वैसे ही रहते हैं, ऐसे ही भगवान् गणेश भी अनादि हैं।

महाभारतका लेखन-कार्य गणेशजीने ही किया है। वेदव्यासजीने गणेशजीसे प्रार्थना की कि 'मैंने मन-ही-मन महाभारतकी रचना कर ली है, आप उसको लिखनेकी कृपा करें। मैं बोलता जाऊँगा और आप उसको लिखते जायँ।' गणेशजीने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, पर यह शर्त रखी कि मेरी कलम एक क्षणके लिये भी नहीं रुकनी चाहिये। वेदव्यासजीने भी इसको स्वीकार करके अपनी एक शर्त रखी कि आप भी बिना समझे कोई श्लोक न लिखें। गणेशजीने इसको स्वीकार करके लिखना आरम्भ कर दिया। वेदव्यासजी बीच-बीचमें ऐसे कूट श्लोक बोलते थे, जिनका अर्थ समझनेके लिये गणेशजीकी कलम एक क्षणके लिये रुक जाती थी, उतनेमें ही वेदव्यासजी दूसरे बहुत-से श्लोकोंकी रचना कर देते थे। इस प्रकार गणेशजीने महाभारतके साथ-साथ उसमें सम्मिलित भगवद्वाणी गीताको भी लिखा, जिससे संसारका महान् उपकार हुआ है और होता रहेगा।

गणेशजी बुद्धिके देवता हैं और उत्तम बुद्धि प्रदान करनेवाले हैं। पहले विद्यार्थी वर्णमाला सीखते थे तो 'ग' से गणेश पढ़ा करते थे। परन्तु आजकल 'ग' से गदहा पढ़ते हैं। इसलिये विद्यार्थियोंकी बुद्धि भी गदहेकी तरह तामसी हो रही है। तामसी बुद्धिका लक्षण गीतामें इस प्रकार आया है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(१८।३२)

'हे पार्थ! तमोगुणसे घिरी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म और सम्पूर्ण चीजोंको उलटा मानती है, वह तामसी है।'

विद्यार्थियोंके लिये गणेशजीका एक अनुष्ठान है। प्रतिदिन प्रातः शौच-स्नानादि करनेके बाद लाल आसनपर पूर्वकी ओर मुख करके बैठ जाय और रुद्राक्ष या मूँगेकी मालासे '**ॐ गं गणपतये नमः**'— इस मन्त्रका कम-से-कम इक्कीस माला जप करे। यह अनुष्ठान शुक्लपक्षकी चतुर्थीसे आरम्भ करना चाहिये। अगर भाद्रपद महीनेके शुक्लपक्षकी चतुर्थी हो तो बहुत बढ़िया है। अनुष्ठानके आरम्भमें गणेशजीका पूजन कर लेना चाहिये। अनुष्ठानकालमें चतुर्थीका व्रत भी करना चाहिये। यह अनुष्ठान छः महीनेतक लगातार करनेसे बुद्धि तेज होती है।

१४. शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता

हिन्दू-संस्कृति बहुत विलक्षण है। इसमें छोटी-से-छोटी अथवा बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक बातका धर्मके साथ सम्बन्ध है और धर्मका सम्बन्ध कल्याणके साथ है। हिन्दूधर्ममें जो-जो नियम बताये गये हैं, वे सब-के-सब नियम मनुष्यके कल्याणके साथ सम्बन्ध रखते हैं। कोई परम्परासे सम्बन्ध रखते हैं, कोई साक्षात् सम्बन्ध रखते हैं। हिन्दूधर्ममें विद्याध्ययनका भी सम्बन्ध कल्याणके साथ है। संस्कृतव्याकरण भी एक दर्शनशास्त्र है, जिससे परिणाममें परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है! इसलिये हिन्दूधर्मके किसी नियमका त्याग करना वास्तवमें अपने कल्याणका त्याग करना है!

जैसे, घड़ीमें छोटे-बड़े अनेक पुर्जे होते हैं। उसमें बड़े पुर्जेका जो महत्त्व है, वही महत्त्व छोटे पुर्जेका भी है। बड़ा पुर्जा अपनी जगह पूरा है और छोटा पुर्जा अपनी जगह पूरा है। छोटे-से-छोटा पुर्जा भी यदि निकाल दिया जाय तो घड़ी बन्द हो जायगी। इसी तरह हिन्दूधर्मकी छोटी-से-छोटी बात भी अपनी जगह पूरी है और कल्याण करनेमें सहायक है। छोटी-सी शिखा अर्थात् चोटी भी अपनी जगह पूरी है और मनुष्यके कल्याणमें सहायक है। शिखाका त्याग करना मानो अपने कल्याणका त्याग करना है!

जैसे घड़ीके छोटे पुर्जेकी जगह बड़ा पुर्जा काम नहीं कर सकता, ऐसे ही हम कोई भी काम करें, उसमें अगर थोड़ी-सी भी कमी रह जायगी तो उसकी पूर्ति नहीं होगी। महाराज नलके चरित्रमें आता है कि कलियुग कई दिनोंतक उनके शरीरमें प्रवेश करनेकी चेष्टा करता रहा, पर प्रवेश कर नहीं सका। एक दिन महाराज नलने लघुशंका करके हाथ तो धो लिये, पर पैर नहीं धोये तो उसी दिन कलियुग उनके भीतर प्रवेश कर गया। फलस्वरूप महाराज नल और उनकी पत्नी दमयन्ती—दोनोंको बड़ा कष्ट भोगना पड़ा। अतः शिखा नहीं रखना बड़ी भारी कमी है, जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती।

शिखा अर्थात् चोटी हिन्दुओंका प्रधान चिह्न है। हिन्दुओंमें चोटी रखनेकी परम्परा प्राचीनकालसे चली आ रही है। परन्तु अब आपने इसका त्याग कर दिया है—यह बड़े भारी नुकसानकी बात है। विचार करें, चोटी न रखनेके लिये अथवा चोटी काटनेके लिये किसीने प्रचार भी नहीं किया, किसीने आपसे कहा भी नहीं, आपको आज्ञा भी नहीं दी, फिर भी आपने चोटी काट ली तो आप मानो कलियुगके अनुयायी बन गये! यह कलियुगका प्रभाव है; क्योंकि उसे सबको नरकोंमें ले जाना है। चोटी कट जानेसे नरकोंमें जाना सुगम हो जायगा। इसलिये आपसे प्रार्थना है कि चोटीको साधारण समझकर इसकी उपेक्षा न करें। चोटी रखना मामूली दीखता है, पर यह मामूली काम नहीं है।

अग्निका एक नाम 'शिखी' है। शिखी उसको कहा जाता है, जिसकी शिखा हो—**'शिखा यस्यास्तीति स शिखी'**। वह धूमशिखावाला अग्नि हमारा इष्टदेव है—**'अग्निर्देवो द्विजातीनाम्'**। अतः शिखा हमारे इष्टदेव (अग्नि)-का प्रतीक है।

हरिवंशपुराणमें एक कथा आती है। हैहय और तालजंघ वंशके राजाओंने शक, यवन, काम्बोज, पारद आदि राजाओंको साथ लेकर राजा बाहुका राज्य छीन लिया। राजा बाहु अपनी पत्नीके साथ वनमें चला गया। वहाँ राजा बाहुकी मृत्यु हो गयी। तब महर्षि और्वने उसकी गर्भवती स्त्रीकी रक्षा की और उसको अपने आश्रममें ले आये। वहाँ उसने एक पुत्रको जन्म दिया, जो आगे चलकर राजा सगरके नामसे प्रसिद्ध हुआ। राजा सगरने महर्षि और्वसे शस्त्र और शास्त्रकी विद्या सीखी। समय पाकर राजा सगरने हैहयोंको मार डाला और फिर शक, यवन, काम्बोज, पारद आदि राजाओंको भी मारनेका निश्चय किया। वे शक, यवन आदि राजालोग महर्षि वसिष्ठकी शरणमें चले

गये। वसिष्ठजीने कुछ शर्तोंपर उनको अभयदान दे दिया और राजा सगरको आज्ञा दी कि वे उनको न मारें। राजा सगर अपनी प्रतिज्ञा भी नहीं छोड़ सकते थे और वसिष्ठजीकी आज्ञा भी नहीं टाल सकते थे। अतः उन्होंने उन राजाओंका सिर शिखासहित मुँड़वाकर उनको छोड़ दिया। वे राजालोग क्षत्रिय थे, पर शिखा कटनेके कारण वे सब धर्मभ्रष्ट हो गये—

शकाः यवनकाम्बोजाः पारदाश्च विशाम्पते।
कोलिसर्पाः समहिषा दार्द्याश्चोलाः सकेरलाः॥
सर्वे ते क्षत्रियास्तात धर्मस्तेषां निराकृतः।
वसिष्ठवचनाद् राजन् सगरेण महात्मना॥

(हरिवंशपुराण १४। १८-१९)

'शक, यवन, काम्बोज, पारद, कोलिसर्प, महिष, दर्द, चोल और केरल—ये सब क्षत्रिय ही थे। वसिष्ठजीके वचनसे महात्मा सगरने इनके धर्मको ही नष्ट कर दिया।'

इस कथासे यह सिद्ध होता है कि शिखा काटनेसे मनुष्य मरे हुएके समान हो जाता है और अपने धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है। प्राचीनकालमें किसीकी शिखा काट देना मृत्युदण्डके समान माना जाता था। धर्मके साथ शिखाका अटूट सम्बन्ध है। इसलिये शिखा काटनेपर मनुष्य धर्मच्युत हो जाता है। बड़े दुःखकी बात है कि आज हिन्दूलोग मुसलमानों-ईसाइयोंके प्रभावमें आकर अपने हाथों अपनी शिखा काट रहे हैं! खुद अपने धर्मका नाश कर रहे हैं! यह हमारी गुलामीकी पहचान है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २३-२४)

'जो मनुष्य शास्त्रविधिको छोड़कर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धि (अन्तःकरणकी शुद्धि)-को, न सुख (शान्ति)-को और न परमगतिको ही प्राप्त होता है।'

'अतः तेरे लिये कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है—ऐसा जानकर तू इस लोकमें शास्त्रविधिसे नियत कर्तव्य-कर्म करनेयोग्य है अर्थात् तुझे शास्त्रविधिके अनुसार कर्तव्य-कर्म करने चाहिये।'

चोटी रखना शास्त्रका विधान है। चाहे सुख मिले या दुःख मिले, हमें तो शास्त्रके विधानके अनुसार चलना है। भगवान् जो कहते हैं, सन्त-महापुरुष जो कहते हैं, शास्त्र जो कहते हैं, उसके अनुसार चलनेमें ही हमारा वास्तविक हित है। भगवान् और उनके भक्त—ये दोनों ही निःस्वार्थभावसे सबका हित करनेवाले हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

इसलिये इनकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाला लोक और परलोक दोनोंमें सुख पाता है।

एक कहानी है। एक बनजारा था। वह बैलोंपर मेट (मुल्तानी मिट्टी) लादकर दिल्लीकी तरफ आ रहा था। रास्तेमें कई गाँवोंसे गुजरते समय उसकी बहुत-सी मेट बिक गयी। बैलोंकी पीठपर लदे बोरे आधे तो खाली हो गये और आधे भरे रह गये। अब वे बैलोंकी पीठपर टिकें कैसे? क्योंकि भार एक तरफ हो गया। नौकरोंने पूछा कि क्या करें? बनजारा बोला—'अरे! सोचते क्या हो, बोरोंके एक तरफ रेत (बालू) भर लो। यह राजस्थानकी जमीन है, यहाँ रेत बहुत है।' नौकरोंने वैसा ही किया। बैलोंकी पीठपर एक तरफ आधे बोरेमें मेट हो गयी और दूसरी तरफ आधे बोरेमें रेत हो गयी।

दिल्लीसे एक सज्जन उधर आ रहे थे। उन्होंने बैलोंपर लदे बोरोंमेंसे एक तरफ रेत झरते हुए देखी तो वे बोले कि बोरोंमें एक तरफ रेत क्यों भरी है? नौकरोंने कहा—सन्तुलन करनेके लिये। वे सज्जन बोले—'अरे! यह तुम क्या मूर्खता करते हो? तुम्हारा मालिक और तुम एक-से ही हो। बैलोंपर मुफ्तमें ही

भार ढोकर उनको मार रहे हो! मेटके आधे-आधे दो बोरोंको एक ही जगह बाँध दो तो कम-से-कम आधे बैल तो बिना भारके खुले चलेंगे।' नौकरोंने कहा कि आपकी बात तो ठीक जँचती है, पर हम वही करेंगे, जो हमारा मालिक कहेगा। तुम जाकर हमारे मालिकसे यह बात कहो और उनसे हमें हुक्म दिलवाओ। वह मालिक (बनजारे)-से मिला और उससे बात कही। बनजारेने पूछा कि आप कहाँके हैं? कहाँ जा रहे हैं? उसने कहा कि मैं भिवानीका रहनेवाला हूँ। रुपये कमानेके लिये दिल्ली गया था। कुछ दिन वहाँ रहा, फिर बीमार हो गया। जो थोड़े रुपये कमाये थे, वे खर्च हो गये। व्यापारमें घाटा लग गया। पासमें कुछ रहा नहीं तो विचार किया कि घर चलना चाहिये। उसकी बात सुनकर बनजारा नौकरोंसे बोला कि इनकी सम्मति मत लो। अपने जैसे चलते हैं, वैसे ही चलो। इनकी बुद्धि तो अच्छी दीखती है, पर उसका नतीजा ठीक नहीं निकलता। अगर ठीक निकलता तो ये धनवान् हो जाते। हमारी बुद्धि भले ही ठीक न दीखे, पर उसका नतीजा ठीक होता है। मैंने कभी अपने काममें घाटा नहीं खाया।

बनजारा अपने बैलोंको लेकर दिल्ली पहुँचा। वहाँ उसने जमीन खरीदकर मेट और रेत दोनोंका अलग-अलग ढेर लगा दिया और नौकरोंसे कहा कि बैलोंको जंगलमें ले जाओ और जहाँ चारा-पानी हो, वहाँ उनको रखो। यहाँ उनको चारा खिलायेंगे तो नफा कैसे कमायेंगे? मेट बिकनी शुरू हो गयी। उधर दिल्लीका बादशाह बीमार हो गया। वैद्यने सलाह दी कि अगर बादशाह राजस्थानके धोरे (रेतके टीले)-पर रहें तो उनका शरीर ठीक हो सकता है। रेतमें मनुष्यको नीरोग करनेकी शक्ति होती है। अतः बादशाहको राजस्थान भेजो।

'राजस्थान क्यों भेजो? वहाँकी रेत यहीं मँगा लो।'

'ठीक है, मँगा लेते हैं। रेत लानेके लिये ऊँट भेजो।'

'ऊँट क्यों भेजें? यहीं बाजारमें रेत मिल जायगी।'

'बाजारमें कैसे मिल जायगी?'

'अरे! दिल्लीका बाजार है, यहाँ सब कुछ मिलता है। मैंने एक जगह रेतका ढेर लगा हुआ देखा है!'

'अच्छा! तो फिर जल्दी रेत मँगा लो।'

बादशाहके आदमियोंने जाकर बनजारेसे पूछा कि रेत क्या भाव है? वह बोला कि चाहे मेट खरीदो, चाहे रेत खरीदो, एक ही भाव है। दोनों बैलोंपर बराबर तुलकर आये हैं। बादशाहके आदमियोंने वह सारी रेत खरीद ली। अगर बनजारा दिल्लीसे आये उस सज्जनकी बात मानता तो ये मुफ्तके रुपये कैसे मिलते? इससे सिद्ध हुआ कि बनजारेकी बुद्धि ठीक काम करती थी।

इस कहानीसे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि जिन्होंने अपनी उन्नति कर ली है, जिनका विवेक विकसित हो चुका है, जिनको तत्त्वकी प्राप्ति हो गयी है, ऐसे सन्त-महात्माओंकी बात मान लेनी चाहिये; क्योंकि उनकी बुद्धिका नतीजा अच्छा हुआ है। उनकी बात माननेमें ही हमारा लाभ है। अपनी बुद्धिसे अबतक हमने कितनी उन्नति की है? क्या तत्त्वकी प्राप्ति कर ली है? इसलिये भगवान्, शास्त्र और सन्तोंकी बात मानकर शिखा धारण कर लेनी चाहिये। अगर उनकी बात समझमें न आये तो भी मान लेनी चाहिये। हमने आजतक अपनी समझसे काम किया तो कितना लाभ लिया? जैसे, किसीने व्यापारमें बहुत धन कमाया हो तो वह जैसा कहे, वैसा ही हम करेंगे तो हमें भी लाभ होगा। उनको लाभ हुआ है तो हमें लाभ क्यों नहीं होगा? ऐसे ही जिन सन्त-महात्माओंने परमात्मप्राप्ति कर ली है; अशान्ति, दुःख, सन्ताप आदिको मिटा दिया है, उनकी बात मानेंगे तो हमारेको भी अवश्य लाभ होगा।

मैं चोटी रखनेकी बात कहता हूँ तो आपके अहितके लिये नहीं कहता हूँ। आपको दुःख हो जाय, नुकसान हो जाय, सन्ताप हो जाय—ऐसा मेरा

बिलकुल उद्देश्य नहीं है। मैं आपके हितकी बात कहता हूँ। आपके लोक और परलोक दोनों सुधर जायँ, ऐसी बात कहता हूँ। वही बात कहता हूँ जो पीढ़ियोंसे आपकी वंश-परम्परामें चली आयी है। एक चोटी रखनेसे आपका क्या नुकसान होता है? आपको क्या दोष लगता है? क्या पाप लगता है? आपके जीवनमें क्या अड़चन आती है? चोटी रखनेकी जो परम्परा सदासे थी, उसका त्याग आपने किसके कहनेसे कर दिया? किस सन्तके कहनेसे, किस पुराणके कहनेसे, किस शास्त्रकी आज्ञासे, किस वेदकी आज्ञासे आपने चोटी रखना छोड़ दिया?

चोटी रखना बहुत सुगम काम है, पर आपके लिये कठिन हो रहा है; क्योंकि आपने उसको छोड़ दिया है। यह बात आपकी पीढ़ियोंसे है। आपके बाप, दादा, परदादा आदि सब परम्परासे चोटी रखते आये हैं, पर अब आपने इसका त्याग कर दिया है, इसलिये अब आपको चोटी रखनेमें कठिनता हो रही है। विचार करें, चोटी रखना छोड़ देनेसे आपको क्या लाभ हुआ? और अब आप चोटी रख लें तो क्या नुकसान होगा? चोटी रखनेसे आपको पैसोंकी हानि होती हो, धर्मकी हानि होती हो, स्वास्थ्यकी हानि होती हो, आपको बड़ा भारी दुःख मिलता हो तो बतायें! चोटी न रखनेमें लाभ तो कोई-सा भी नहीं है, पर हानि बड़ी भारी है! चोटीके बिना आपका देवपूजन तथा श्राद्ध-तर्पण निष्फल हो जाता है, आपके दान-पुण्य आदि सब शुभकर्म निष्फल हो जाते हैं। इसलिये चोटीको मामूली समझकर इसकी उपेक्षा न करें।

पहले सब लोग चोटी रखते थे। चोटीके बिना कोई आदमी नहीं दीखता था। पर हमारे देखते-देखते थोड़े वर्षोंमें आदमी शिखारहित हो गये। अब प्रायः लोगोंकी शिखा नहीं दीखती। शिखा और सूत्र (जनेऊ)-का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। आश्चर्यकी बात है कि आज ऐसे लोग भी हैं; जिनका सूत्र तो है, पर शिखा नहीं है! यह कितने पतनकी बात है! अगर यही दशा रही तो आगे आपको कौन कहेगा कि चोटी रखो? और क्यों कहेगा? कहनेसे उसको क्या लाभ?

शिखा हिन्दुत्वकी पहचान है। यह आपकी जातिकी रक्षा करनेवाली है। जनेऊ तो सबके लिये नहीं है, केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके लिये है, पर शिखा हिन्दूमात्रके लिये है। चाहे द्विजाति हो, चाहे अन्त्यज हो, शिखा सबके लिये है। जैसे मुसलमानोंके लिये सुन्नत है, ऐसे ही हिन्दुओंके लिये शिखा है। सुन्नतके बिना कोई मुसलमान नहीं मिलेगा, पर शिखाके बिना आज हिन्दुओंका समुदाय-का-समुदाय मिल जायगा। मुसलमान और ईसाई बड़े जोरोंसे अपने धर्मका प्रचार कर रहे हैं और हिन्दुओंका धर्म-परिवर्तन करनेकी नयी-नयी योजनाएँ बना रहे हैं! आपने अपनी चोटी कटवाकर उनके प्रचार-कार्यको सुगम बना दिया है! इसलिये समय रहते हिन्दुओंको सावधान हो जाना चाहिये। मुसलमान अपने धर्मका प्रचार मूर्खतासे करते हैं और ईसाई बुद्धिमत्तासे। मुसलमान तो तलवारके जोरसे जबर्दस्ती धर्मपरिवर्तन करते हैं, पर ईसाई बाहरसे सेवा करके भीतर-ही-भीतर (गुप्त रीतिसे) धर्म-परिवर्तन करते हैं। वे स्कूल खोलते हैं और उनमें बालकोंपर अपने धर्मके संस्कार डालते हैं। इसीका परिणाम है कि घर बैठे-बैठे हिन्दुओंने अपनी चोटीका त्याग कर दिया। इस काममें ईसाई सफल हो गये! मुसलमानों और ईसाइयोंका उद्देश्य मनुष्यमात्रका कल्याण करना नहीं है, प्रत्युत अपनी संख्या बढ़ाना है, जिससे उनका राज्य हो जाय। कलियुगका प्रभाव प्रतिवर्ष, प्रतिमास, प्रतिदिन जोरोंसे बढ़ रहा है। लोगोंकी बुद्धि भ्रष्ट हो रही है। मनुष्यमात्रका कल्याण चाहनेवाली हिन्दू-संस्कृति नष्ट हो रही है। हिन्दू स्वयं ही अपनी संस्कृतिका नाश करेंगे तो रक्षा कौन करेगा?

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—चोटी रखनेसे क्या लाभ होगा?

उत्तर—जो लाभको देखता है, वह पारमार्थिक

उन्नति कर सकता ही नहीं। लाभ देखकर ही कोई काम करोगे तो फिर शास्त्र-वचनका, सन्त-वचनका क्या आदर हुआ? उनकी क्या इज्जत हुई? अपने लाभके लिये, अपना मतलब सिद्ध करनेके लिये तो पशु-पक्षी भी कार्य करते हैं। यह मनुष्यपना नहीं है। चोटी रखनेमें आपकी भलाई है—इसमें मेरेको रत्तीमात्र भी सन्देह नहीं है। वास्तवमें हमें लाभ-हानिको न देखकर धर्मको देखना है। धर्मशास्त्रमें आया है कि बिना शिखाके जो भी यज्ञ, दान, तप, व्रत आदि शुभकर्म किये जाते हैं, वे सब निष्फल हो जाते हैं—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

(कात्यायनस्मृति १।४)

इतना ही नहीं, शिखाके बिना किये गये वे पुण्यकर्म राक्षस-कर्म हो जाते हैं—

विना यच्छिखया कर्म विना यज्ञोपवीतकम्।
राक्षसं तद्धि विज्ञेयं समस्ता निष्फला क्रियाः॥

(व्यास)

इसलिये धर्मशास्त्रने आज्ञा दी है—

स्नाने दाने जपे होमे सन्ध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥

'स्नान, दान, जप, होम, सन्ध्या और देवपूजनके समय शिखामें ग्रन्थि (चोटीमें गाँठ) अवश्य लगानी चाहिये—ऐसा महाराज मनुने कहा है।'

हिन्दूधर्मके सोलह संस्कारोंमें 'चूड़ाकरण संस्कार' (मुण्डन संस्कार)-का भी विशेष महत्त्व है। इस संस्कारमें शिखा धारण करनेसे दीर्घ आयु, तेज, बल और ओजकी प्राप्ति होती है—

दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे शिखायै वषट्।

शिखाके विशेष महत्त्वके कारण ही हिन्दुओंने यवन-शासनमें अपनी शिखाकी रक्षाके लिये सिर कटवा दिया, पर शिखा नहीं कटवायी। कितने दुःखकी बात है कि आज हिन्दू उसी शिखाको अपने ही हाथों काट रहे हैं! धर्मशास्त्रमें शिखा न रखनेका प्रायश्चित्त बताया गया है—

शिखां छिन्दन्ति ये मोहाद् द्वेषादज्ञानतोऽपि वा।
तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥

(लघुहारीत)

'तीनों वर्णोंके जो द्विजातिलोग मोहसे, द्वेषसे अथवा अज्ञानसे अपनी शिखा काट देते हैं, वे तप्तकृच्छ्र-व्रत करनेसे शुद्ध होते हैं।

अथ चेत् प्रमादान्निशिखं वपनं स्यात् तत्र कौशीं शिखां ब्रह्मग्रन्थिसमन्वितां दक्षिणकर्णोपरि आशिखाबन्धादवतिष्ठेत्॥ (काठकगृह्यसूत्र)

'यदि कोई मनुष्य प्रमादवश शिखासहित क्षौर (हजामत) करा ले तो वह ब्रह्मग्रन्थियुक्त कुशाकी शिखा बनाकर दाहिने कानपर तबतक रखे, जबतक बाँधनेयोग्य शिखा न बढ़ जाय।'

यदि सत्तर वर्षकी अवस्थाके बाद (वृद्धावस्थामें) बाल झड़ जानेके कारण शिखा न रहे तो यथासम्भव चारों ओर बचे हुए बालोंसे शिखा बनाकर नित्यकर्म करता रहे। यदि बाल बिलकुल न हों तो कुशा आदिकी शिखा रखकर नित्यकर्म करे, पर शिखाशून्य कभी न रहे—

सप्तत्यूर्ध्वं तु चेत्तस्याः पूर्वतः पृष्ठतोऽपि वा।
पार्श्वतः परितो वापि समुद्भूतैश्च रोमभिः॥
शिखा कार्या प्रयत्नेन न चेन्नैवोपपद्यते।
तत्स्थाने सर्वशून्ये तु परितो वापि किं पुनः॥
ब्राह्मण्यसूचनायैवं तानि लोमानि धारयेत्।
अन्यथा न भवेदेव तथा तस्मात्समाचरेत्॥

(आंगिरसस्मृति ६१—६३)

'अखिल भारतीय पण्डित महापरिषद्'(वाराणसी)-ने शिखा रखनेके निम्न लाभ बताये हैं—

१- शिखा रखने तथा उसके नियमोंका यथावत् पालन करनेसे मनुष्यको सद्बुद्धि, सद्विचार आदिकी प्राप्ति होती है।

२- शिखा रखनेसे आत्मशक्ति प्रबल बनी रहती है।

३- शिखा रखनेसे मनुष्य धार्मिक, सात्त्विक और संयमी बनता है।

४- शिखा रखनेसे मनुष्य लौकिक तथा पारलौकिक समस्त कार्योंमें सफलता प्राप्त करता है।

५- शिखा रखनेसे मनुष्य प्राणायाम, अष्टांगयोग आदि यौगिक क्रियाओंको ठीक-ठीक कर सकता है।

६- शिखा रखनेसे सभी देवता मनुष्यकी रक्षा करते हैं।

७- शिखा रखनेसे मनुष्यकी नेत्रज्योति सुरक्षित रहती है।

८- शिखा रखनेसे मनुष्य स्वस्थ, बलिष्ठ, तेजस्वी और दीर्घायु होता है।

प्रश्न—चोटी रखनेसे शर्म आती है, वह कैसे छूटे?

उत्तर—आश्चर्यकी बात है कि व्यापार आदिमें बेईमानी, झूठ-कपट करनेमें शर्म नहीं आती, गर्भपात आदि पाप करनेमें शर्म नहीं आती, चोरी, विश्वासघात आदि करते समय शर्म नहीं आती, पर चोटी रखनेमें शर्म आती है! आपकी शर्म ठीक है या भगवान् और सन्तोंकी बात मानना, उनको प्रसन्न करना ठीक है? आप चोटी रखो तो आरम्भमें शर्म आयेगी, पर पीछे सब ठीक हो जायगा।

प्रश्न—चोटी देखकर लोग हँसी उड़ाते हैं, कैसे बचें?

उत्तर—लोग हँसी उड़ायें, पागल कहें तो उसको सह लो, पर धर्मका त्याग मत करो। आपका धर्म आपके साथ चलेगा, हँसी-दिल्लगी आपके साथ नहीं चलेगी। लोगोंकी हँसीसे आप डरो मत। लोग पहले हँसी उड़ायेंगे, पर बादमें आदर करने लगेंगे कि यह अपने धर्मका पक्का आदमी है। एक शंकरानन्द नामके हमारे प्रेमी सज्जन थे। वे बहुत पढ़े-लिखे थे। उन्होंने मेरेको बताया कि मैं पढ़नेके लिये जर्मनी गया। वहाँ मैं धोती पहना करता था। मेरी वेश-भूषा देखकर पहले तो वहाँके लोगोंने मेरी हँसी उड़ायी, पर बादमें सब मेरा विशेष आदर करने लग गये कि यह ईमानदार आदमी है, सच्चा धर्मात्मा आदमी है। इसलिये अपने धर्मका पालन निधड़क होकर करो, इसमें डर किस बातका?

एक कहानी है। एक आदमीकी किसी कारणसे नाक कट गयी। उसके साथीने पूछा तो वह बोला कि दोनों आँखोंके बीचमें नाक आड़े आती है, इसलिये ब्रह्मके दर्शन नहीं होते। अगर बीचमें नाक न रहे तो दोनों आँखोंकी दृष्टि मिलनेसे साक्षात् ब्रह्मके दर्शन होते हैं! ऐसा सुनकर उसके साथीने भी अपनी नाक कटवा ली। जब उसको ब्रह्मके दर्शन नहीं हुए तो उसने साथीसे कहा कि नाक कटवानेसे मेरेको तो दर्शन नहीं हुए? वह साथी बोला—'चुप रह, हल्ला मत कर! तेरेसे कोई पूछे तो यही कहना कि मेरेको ब्रह्मके दर्शन होते हैं।' धीरे-धीरे यह बात फैलती गयी। दूसरोंके कहनेसे, एक-दूसरेको देखकर नाक तो सबने कटवा ली, पर ब्रह्मके दर्शन किसीको नहीं हुए। एक पूरा समुदाय कटी नाकका हो गया! अब कोई नाकवाला आदमी उनके बीच आता तो वे सब मिलकर उसकी हँसी उड़ाते कि देखो, नक्कू आ गया! नक्कू आ गया!! इसी तरह चोटीकटिया लोग आज चोटीवालेकी हँसी उड़ाते हैं। अतः उनकी हँसीकी परवाह न करके अपने धर्मका पालन करना चाहिये।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(महाभारत, स्वर्गा० ५। ६३)

'कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा प्राण बचानेके लिये भी धर्मका त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धनका हेतु (राग) अनित्य है।'

॥ श्रीहरिः ॥

१५. क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं ?

नम्र निवेदन

सत्संग-कार्यक्रमके निमित्त मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ, वहाँ-वहाँ अधिकतर लोग मेरेसे गुरुके विषयमें तरह-तरहके प्रश्न किया करते हैं। उन प्रश्नोंका उत्तर पाकर उनको सन्तोष भी होता है। इसलिये अनेक सत्संगी भाई-बहनोंका विशेष आग्रह रहा कि एक ऐसी पुस्तक बन जाय, जिससे लोगोंकी गुरु-विषयक शंकाओंका समाधान हो जाय। इसी उद्देश्यसे प्रस्तुत पुस्तक लिखी गयी है।

गुरु-विषयक मेरे विचारोंको गहराईसे न समझनेके कारण कुछ लोग कह देते हैं कि मैं गुरुकी निन्दा या खण्डन करता हूँ। यह बिलकुल झूठी बात है। मैं गुरुकी निन्दा नहीं करता हूँ, प्रत्युत पाखण्डकी निन्दा करता हूँ। गुरुका खण्डन तो कोई कर सकता ही नहीं। गुरुजनोंकी मेरेपर बड़ी कृपा रही है और गुरुजनोंके प्रति मेरे मनमें बड़ा आदरभाव है। गुरुजनोंसे मेरेको लाभ भी हुआ है। परन्तु जो लोग गुरु बनकर लोगोंको ठगते हैं, उनकी प्रशंसा कैसे होगी? उनकी तो निन्दा ही होगी।

वर्तमान समयमें सच्चा गुरु मिलना बड़ा दुर्लभ होता जा रहा है। दम्भ-पाखण्ड दिनोदिन बढ़ता चला जा रहा है। इसलिये शास्त्रोंने पहलेसे ही इस कलियुगमें दम्भी-पाखण्डी गुरुओंके होनेकी बात कह दी है, जिससे लोग सावधान हो जायँ। अतः अपना कल्याण चाहनेवाले साधकोंके सही मार्गदर्शनके लिये यह पुस्तक लिखी गयी है। इससे पहले भी 'सच्चा गुरु कौन?' नामक एक छोटी पुस्तिका प्रकाशित हो चुकी है।

इस पुस्तकमें हमने 'गुरुगीता' के कुछ श्लोक भी प्रमाणस्वरूप लिये हैं। परन्तु बहुत खोज करनेपर भी हमें यह पता नहीं चल सका कि 'गुरुगीता' का आधार क्या है? इसकी रचना किसने की है? गुरुगीताके अन्तमें इसको स्कन्दपुराणसे लिया गया बताया गया है, पर स्कन्दपुराणकी किसी प्रतिमें हमें गुरुगीता मिली नहीं। अनेक स्थानोंसे प्रकाशित गुरुगीतामें भी परस्पर अन्तर पाया जाता है। अगर कोई विद्वान् इस विषयमें जानते हों तो हमें सूचित करनेकी कृपा करें।

पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इस पुस्तकको ध्यानपूर्वक पढ़ें और सच्ची लगनके साथ भगवान्‌में लग जायँ। वे किसी व्यक्तिके अनुयायी न बनकर तत्त्वके अनुयायी बनें।

विनीत—

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

गुरु कौन होता है?

किसी विषयमें हमें जिससे ज्ञानरूपी प्रकाश मिले, हमारा अज्ञानान्धकार दूर हो, उस विषयमें वह हमारा गुरु है। जैसे, हम किसीसे मार्ग पूछते हैं और वह हमें मार्ग बताता है तो मार्ग बतानेवाला हमारा गुरु हो गया, हम चाहे गुरु मानें या न मानें। उससे सम्बन्ध जोड़नेकी जरूरत नहीं है। विवाहके समय ब्राह्मण कन्याका सम्बन्ध वरके साथ करा देता है तो उनका उम्रभरके लिये पति-पत्नीका सम्बन्ध जुड़ जाता है। वही स्त्री पतिव्रता हो जाती है। फिर उनको कभी उस ब्राह्मणकी याद ही नहीं आती; और उसको याद करनेका विधान भी शास्त्रोंमें कहीं नहीं आता। ऐसे ही गुरु हमारा सम्बन्ध भगवान्‌के साथ जोड़ देता है तो गुरुका काम हो गया। तात्पर्य है कि गुरुका काम मनुष्यको भगवान्‌के सम्मुख करना है। मनुष्यको अपने सम्मुख करना, अपने साथ सम्बन्ध जोड़ना गुरुका काम नहीं है। इसी तरह हमारा काम भी भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ना है, गुरुके साथ नहीं। जैसे संसारमें कोई माँ है, कोई बाप है, कोई भतीजा है, कोई भौजाई है, कोई स्त्री है, कोई पुत्र है, ऐसे ही अगर एक गुरुके साथ और सम्बन्ध जुड़ गया तो इससे क्या लाभ? पहले अनेक बन्धन थे ही, अब एक बन्धन और हो गया! भगवान्‌के साथ तो हमारा सम्बन्ध सदासे और स्वतःस्वाभाविक है; क्योंकि हम भगवान्‌के सनातन अंश हैं—‘**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**’ (गीता १५। ७), ‘***ईस्वर अंस जीव अबिनासी***’ (मानस, उत्तर० ११७।१)। गुरु उस भूले हुए सम्बन्धकी याद कराता है, कोई नया सम्बन्ध नहीं जोड़ता।

मैं प्रायः यह पूछा करता हूँ कि पहले बेटा होता है कि बाप? इसका उत्तर प्रायः यही मिलता है कि बाप पहले होता है। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो पहले बेटा होता है, फिर बाप होता है। कारण कि बेटा पैदा हुए बिना उसका बाप नाम होगा ही नहीं। पहले वह मनुष्य (पति) है और जब बेटा जन्मता है, तब उसका नाम बाप होता है। इसी तरह शिष्यको जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब उसके मार्गदर्शकका नाम ‘गुरु’ होता है। शिष्यको ज्ञान होनेसे पहले वह गुरु होता ही नहीं। इसीलिये कहा है—

गुकारश्चान्धकारो हि रुकारस्तेज उच्यते।
अज्ञानग्रासकं ब्रह्म गुरुरेव न संशयः॥

(गुरुगीता)

अर्थात् ‘गु’ नाम अन्धकारका है और ‘रु’ नाम प्रकाशका है, इसलिये जो अज्ञानरूपी अन्धकारको मिटा दे, उसका नाम ‘गुरु’ है।

गुरुके विषयमें एक दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

गुरु गोविन्द दोउ खड़े, किनके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दियो बताय॥

गोविन्दको बता दिया, सामने लाकर खड़ा कर दिया, तब गुरुकी बलिहारी होती है। गोविन्दको तो बताया नहीं और गुरु बन गये—यह कोरी ठगाई है! केवल गुरु बन जानेसे गुरुपना सिद्ध नहीं होता। इसलिये अकेले खड़े गुरुकी महिमा नहीं है। महिमा उस गुरुकी है, जिसके साथ गोविन्द भी खड़े हैं—‘गुरु गोविन्द दोउ खड़े’ अर्थात् जिसने भगवान्‌की प्राप्ति करा दी है।

असली गुरु वह होता है, जिसके मनमें चेलेके कल्याणकी इच्छा हो और चेला वह होता है, जिसमें गुरुकी भक्ति हो—

को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा
शिष्यस्तु को यो गुरुभक्त एव।

(प्रश्नोत्तरी ७)

अगर गुरु पहुँचा हुआ हो और शिष्य सच्चे हृदयसे आज्ञापालन करनेवाला हो तो शिष्यका उद्धार होनेमें सन्देह नहीं है।

पारस केरा गुण किसा, पलटा नहीं लोहा।
कै तो निज पारस नहीं, कै बीच रहा बिछोहा॥

अगर पारसके स्पर्शसे लोहा सोना नहीं बना तो वह पारस असली पारस नहीं है अथवा लोहा असली

लोहा नहीं है अथवा बीचमें कोई आड़ है। इसी तरह अगर शिष्यको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ तो गुरु तत्त्वप्राप्त नहीं है अथवा शिष्य आज्ञापालन करनेवाला नहीं है अथवा बीचमें कोई आड़ (कपटभाव) है।

वास्तविक गुरु

वास्तविक गुरु वह होता है, जिसमें केवल चेलेके कल्याणकी चिन्ता होती है। जिसके हृदयमें हमारे कल्याणकी चिन्ता ही नहीं है, वह हमारा गुरु कैसे हुआ? जो हृदयसे हमारा कल्याण चाहता है, वही हमारा वास्तविक गुरु है, चाहे हम उसको गुरु मानें या न मानें और वह गुरु बने या न बने। उसमें यह इच्छा नहीं होती कि मैं गुरु बन जाऊँ, दूसरे मेरेको गुरु मान लें, मेरे चेले बन जायँ। जिसके मनमें धनकी इच्छा होती है, वह धनदास होता है। ऐसे ही जिसके मनमें चेलेकी इच्छा होती है, वह चेलादास होता है। जिसके मनमें गुरु बननेकी इच्छा है, वह दूसरेका कल्याण नहीं कर सकता। जो चेलेसे रुपये चाहता है, वह गुरु नहीं होता, प्रत्युत पोता-चेला होता है। कारण कि चेलेके पास रुपये हैं तो उसका चेला हुआ रुपया और रुपयेका चेला हुआ गुरु तो वह गुरु वास्तवमें पोता-चेला ही हुआ! विचार करें, जो आपसे कुछ भी चाहता है, वह क्या आपका गुरु हो सकता है? नहीं हो सकता। जो आपसे कुछ भी धन चाहता है, मान-बड़ाई चाहता है, आदर चाहता है, वह आपका चेला होता है, गुरु नहीं होता। सच्चे महात्माको दुनियाकी गरज नहीं होती, प्रत्युत दुनियाको ही उसकी गरज होती है। जिसको किसीकी भी गरज नहीं होती, वही वास्तविक गुरु होता है।

कबीर जोगी जगत गुरु, तजै जगत की आस।
जो जग की आसा करै तो जगत गुरु वह दास॥

जो सच्चे सन्त-महात्मा होते हैं, उनको गुरु बननेका शौक नहीं होता, प्रत्युत दुनियाके उद्धारका शौक होता है। उनमें दुनियाके उद्धारकी स्वाभाविक सच्ची लगन होती है। मैं भी अच्छे सन्त-महात्माओंकी खोजमें रहा हूँ और मेरेको अच्छे सन्त-महात्मा मिले भी हैं। परन्तु उन्होंने कभी ऐसा नहीं कहा कि तुम चेला बन जाओ तो कल्याण हो जायगा। जिनको गुरु बननेका शौक है, वही ऐसा प्रचार करते हैं कि गुरु बनाना बहुत जरूरी है, बिना गुरुके मुक्ति नहीं होती, आदि-आदि।

कोई वर्तमान मनुष्य ही गुरु होना चाहिये—ऐसा कोई विधान नहीं है। श्रीशुकदेवजी महाराज हजारों वर्ष पहले हुए थे, पर उन्होंने चरणदासजी महाराजको दीक्षा दी! सच्चे शिष्यको गुरु अपने-आप दीक्षा देता है। कारण कि चेला सच्चा होता है तो उसके लिये गुरुको ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं होती, प्रत्युत गुरु अपने-आप मिलता है। सच्ची लगनवालेको सच्चा महात्मा मिल जाता है—

जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥

(मानस, बाल० २५९। ३)

लोग तो गुरुको ढूँढ़ते हैं, पर जो असली गुरु होते हैं, वे शिष्यको ढूँढ़ते हैं। उनके भीतर विशेष दया होती है। जैसे, संसारमें माँका दर्जा सबसे ऊँचा है। माँ सबसे पहला गुरु है। बच्चा माँसे ही जन्म लेता है, माँका ही दूध पीता है, माँकी ही गोदीमें खेलता है, माँसे ही पलता है, माँके बिना बच्चा पैदा हो ही नहीं सकता, रह ही नहीं सकता, पल भी नहीं सकता। माँ तो वर्षोंतक बच्चेके बिना रही है। बच्चेके बिना माँको कोई बाधा नहीं लगी। इतना होते हुए भी माँका स्वभाव है कि वह आप तो भूखी रह जायगी, पर बच्चेको भूखा नहीं रहने देगी। वह खुद कष्ट उठाकर भी बच्चेका पालन करती है। ऐसे ही सच्चे गुरु होते हैं। वे जिसको शिष्यरूपसे स्वीकार कर लेते हैं, उसका उद्धार कर देते हैं। उनमें शिष्यका उद्धार करनेकी

सामर्थ्य होती है। ऐसी बातें मेरी देखी हुई हैं।

एक सन्त थे। वे दूसरेको शिष्य न मानकर मित्र ही मानते थे। उनके एक मित्रको कोई भयंकर बीमारी हो गयी तो वह घबरा गया। दवाइयोंसे वह ठीक नहीं हुआ। उन सन्तने उससे कहा कि तू अपनी बीमारी मेरेको दे दे। वह बोला कि अपनी बीमारी आपको कैसे दे दूँ? सन्तने फिर कहा कि अब मैं कहूँ तो मना मत करना, आड़ मत लगाना; तू आधी बीमारी मेरेको दे दे। उनके मित्रने स्वीकार कर लिया तो उन सन्तने उसकी आधी बीमारी अपनेपर ले ली। फिर बिना दवा किये उसकी पूरी बीमारी मिट गयी। इस प्रकार जो समर्थ होते हैं, वे गुरु बन सकते हैं। परन्तु इतने समर्थ होनेपर भी उन्होंने उम्रभर किसीको चेला नहीं बनाया।

गुरु बनानेपर उसकी महिमा बताते हैं कि गुरु गोविन्दसे बढ़कर है। इसका नतीजा यह होता है कि चेला भगवान्‌के भजनमें न लगकर गुरुके ही भजनमें लग जाता है! यह बड़े अनर्थकी, नरकोंमें ले जानेवाली बात है! यह अच्छे सन्तकी बात है। उनको चेलोंने भगवान्‌से बढ़कर मानना शुरू कर दिया तो उन्होंने चेला बनाना छोड़ दिया और फिर उम्रभरमें कभी चेला बनाया ही नहीं। कारण कि चेले भगवान्‌को तो पकड़ते नहीं, गुरुको ही पकड़ लेते हैं! गुरुकी बात सुनकर मनुष्य भगवान्‌में लग जाय तो ठीक है, पर वह गुरुमें ही लग जाय तो बड़ी हानिकी बात है! चेलेको अपनेमें लगानेवाले कालनेमि अथवा कपटमुनि होते हैं, गुरु नहीं होते। गुरु वे होते हैं, जो चेलेको भगवान्‌में लगाते हैं। भगवान्‌के समान हमारा हित चाहनेवाला गुरु, पिता, माता, बन्धु, समर्थ आदि कोई नहीं है—

उमा राम सम हित जग माहीं।
गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥

(मानस, किष्किंधा० १२। १)

भगवान्‌की जगह अपनी पूजा करवाना पाखण्डियोंका काम है। जिसके भीतर शिष्य बनानेकी इच्छा है, रुपयोंकी इच्छा है, मकान (आश्रम आदि) बनानेकी इच्छा है, मान-बड़ाईकी इच्छा है, अपनी प्रसिद्धिकी इच्छा है, उसके द्वारा दूसरेका कल्याण होना तो दूर रहा, उसका अपना कल्याण भी नहीं हो सकता—

शिष शाखा सुत वितको तरसे,
परम तत्त्वको कैसे परसे?

उसके द्वारा लोगोंकी वही दुर्दशा होती है, जो कपटी मुनिके द्वारा राजा प्रतापभानुकी हुई थी (देखें—मानस, बाल० १५३-१७५)। कल्याण तो उनके संगसे होता है, जिनके भीतर सबका कल्याण करनेकी भावना है। दूसरेके कल्याणके सिवाय जिनके भीतर कोई इच्छा नहीं है। जो स्वयं इच्छारहित होता है, वही दूसरेको इच्छारहित कर सकता है। इच्छावालेके द्वारा ठगाई होती है, कल्याण नहीं होता।

यह सिद्धान्त है कि जो दूसरेको कमजोर बनाता है, वह खुद कमजोर होता है। जो दूसरेको समर्थ बनाता है, वह खुद समर्थ होता है। जो दूसरेको चेला बनाता है, वह समर्थ नहीं होता। जो गुरु होता है, वह दूसरेको भी गुरु ही बनाता है। भगवान् सबसे बड़े हैं, इसलिये वे कभी किसीको छोटा नहीं बनाते। जो भगवान्‌के चरणोंकी शरण हो जाता है, वह संसारमें बड़ा हो जाता है। भगवान् सबको अपना मित्र बनाते हैं, अपने समान बनाते हैं, किसीको अपना चेला नहीं बनाते। जैसे, निषादराज सिद्ध भक्त था, विभीषण साधक था और सुग्रीव भोगी था, पर भगवान् रामने तीनोंको ही अपना मित्र बनाया। अर्जुन तो अपनेको भगवान्‌का शिष्य मानते हैं—'**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' (गीता २। ७), पर भगवान् अपनेको गुरु न मानकर मित्र ही मानते हैं—'**भक्तोऽसि मे सखा चेति**' (गीता ४। ३), '**इष्टोऽसि**' (गीता १८। ६४)। वेदोंमें भी भगवान्‌को जीवका सखा बताया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।*

(मुण्डक० ३। १। १, श्वेताश्वतर० ४। ६)

* सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे। (श्रीमद्भा० ११। ११। ६)

'सदा साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी—जीवात्मा और परमात्मा एक ही वृक्ष—शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं।'

जो खुद बड़ा होता है, वह दूसरेको भी बड़ा ही बनाता है। जो दूसरेको छोटा बनाता है, वह खुद छोटा होता है। जो वास्तवमें बड़ा होता है, उसको छोटा बननेमें लज्जा भी नहीं आती। क्षत्रियोंके समुदायमें, अठारह अक्षौहिणी सेनामें भगवान् घोड़े हाँकनेवाले बने। अर्जुनने कहा कि दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा करो तो भगवान् शिष्यकी तरह अर्जुनकी आज्ञाका पालन करते हैं। ऐसे ही पाण्डवोंने यज्ञ किया तो उसमें सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्णका पूजन किया गया। परन्तु उस यज्ञमें ब्राह्मणोंकी जूठी पत्तलें उठानेका काम भी भगवान्ने किया। छोटा काम करनेमें भगवान्को लज्जा नहीं आती। जो खुद छोटा होता है, उसीको लज्जा आती है और भय लगता है कि कोई मेरेको छोटा न समझ ले, कोई मेरा अपमान न कर दे।

गुरुकी महिमा

वास्तवमें गुरुकी महिमाका पूरा वर्णन कोई कर सकता ही नहीं। गुरुकी महिमा भगवान्से भी अधिक है। इसलिये शास्त्रोंमें गुरुकी बहुत महिमा आयी है। परन्तु वह महिमा सच्चाईकी है, दम्भ-पाखण्डकी नहीं। आजकल दम्भ-पाखण्ड बहुत हो गया है और बढ़ता ही जा रहा है। कौन अच्छा है और कौन बुरा—इसका जल्दी पता लगता नहीं। जो बुराई बुराईके रूपमें आती है, उसको मिटाना सुगम होता है। परन्तु जो बुराई अच्छाईके रूपमें आती है, उसको मिटाना बड़ा कठिन होता है। सीताजीके सामने रावण, राजा प्रतापभानुके सामने कपटमुनि और हनुमान्जीके सामने कालनेमि आये तो वे उनको पहचान नहीं सके, उनके फेरेमें आ गये; क्योंकि उनका स्वाँग साधुओंका था। आजकल भी शिष्योंकी अपने गुरुके प्रति जैसी श्रद्धा देखनेमें आती है, वैसा गुरु स्वयं होता नहीं। इसलिये सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका कहते थे कि आजकलके गुरुओंमें हमारी श्रद्धा नहीं होती, प्रत्युत उनके चेलोंमें श्रद्धा होती है! कारण कि चेलोंमें अपने गुरुके प्रति जो श्रद्धा है, वह आदरणीय है।

शास्त्रोंमें आयी गुरु-महिमा ठीक होते हुए भी वर्तमानमें प्रचारके योग्य नहीं है। कारण कि आजकल दम्भी-पाखण्डी लोग गुरु-महिमाके सहारे अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। इसमें कलियुग भी सहायक है; क्योंकि कलियुग अधर्मका मित्र है—'**कलिनाधर्ममित्रेण**' (पद्मपुराण, उत्तर० १९३।३१)। वास्तवमें गुरु-महिमा प्रचार करनेके लिये नहीं है, प्रत्युत धारण करनेके लिये है। कोई गुरु खुद ही गुरु-महिमाकी बातें कहता है, गुरु-महिमाकी पुस्तकोंका प्रचार करता है तो इससे सिद्ध होता है कि उसके मनमें गुरु बननेकी इच्छा है। जिसके भीतर गुरु बननेकी इच्छा होती है, उससे दूसरोंका भला नहीं हो सकता। इसलिये मैं गुरुका निषेध नहीं करता हूँ, प्रत्युत पाखण्डका निषेध करता हूँ। गुरुका निषेध तो कोई कर सकता ही नहीं।

गुरुकी महिमा वास्तवमें शिष्यकी दृष्टिसे है, गुरुकी दृष्टिसे नहीं। एक गुरुकी दृष्टि होती है, एक शिष्यकी दृष्टि होती है और एक तीसरे आदमीकी दृष्टि होती है। गुरुकी दृष्टि यह होती है कि मैंने कुछ नहीं किया, प्रत्युत जो स्वत:स्वाभाविक वास्तविक तत्त्व है, उसकी तरफ शिष्यकी दृष्टि करा दी। तात्पर्य हुआ कि मैंने उसीके स्वरूपका उसीको बोध कराया है, अपने पाससे उसको कुछ दिया ही नहीं। चेलेकी दृष्टि यह होती है कि गुरुने मेरेको सब कुछ दे दिया। जो कुछ हुआ है, सब गुरुकी कृपासे ही हुआ है। तीसरे आदमीकी दृष्टि यह होती है कि शिष्यकी

श्रद्धासे ही उसको तत्त्वबोध हुआ है।

असली महिमा उस गुरुकी है, जिसने गोविन्दसे मिला दिया है। जो गोविन्दसे तो मिलाता नहीं, कोरी बातें ही करता है, वह गुरु नहीं होता। ऐसे गुरुकी महिमा नकली और केवल दूसरोंको ठगनेके लिये होती है!

गुरुकी कृपा

गुरु-कृपा अथवा सन्त-कृपाका बहुत विशेष माहात्म्य है। भगवान्‌की कृपासे जीवको मानवशरीर मिलता है और गुरु-कृपासे भगवान् मिलते हैं। लोग समझते हैं कि हम गुरु बनायेंगे, तब वे कृपा करेंगे। परन्तु यह कोई महत्त्वकी बात नहीं है। अपने-अपने बालकोंका सब पालन करते हैं। कुतिया भी अपने बच्चोंका पालन करती है। परन्तु सन्तकृपा बहुत विलक्षण होती है! दूसरा शिष्य बने या न बने, उनसे प्रेम करे या वैर करे—इसको सन्त नहीं देखते। दीन-दु:खीको देखकर सन्तका हृदय द्रवित हो जाता है तो इससे उसका काम हो जाता है।* जगाई-मधाई प्रसिद्ध पापी थे और साधुओंसे वैर रखते थे, पर चैतन्य महाप्रभुने उनपर भी दया करके उनका उद्धार कर दिया।

सन्त सबपर कृपा करते हैं, पर परमात्मतत्त्वका जिज्ञासु ही उस कृपाको ग्रहण करता है; जैसे-प्यासा आदमी ही जलको ग्रहण करता है। वास्तवमें अपने उद्धारकी लगन जितनी तेज होती है, सत्य तत्त्वकी जिज्ञासा जितनी अधिक होती है, उतना ही वह उस कृपाको अधिक ग्रहण करता है। सच्चे जिज्ञासुपर सन्तकृपा अथवा गुरुकृपा अपने-आप होती है। गुरुकृपा होनेपर फिर कुछ बाकी नहीं रहता। परन्तु ऐसे गुरु बहुत दुर्लभ होते हैं!

पारससे लोहा सोना बन जाता है, पर उस सोनेमें यह ताकत नहीं होती कि दूसरे लोहेको भी सोना बना दे। परन्तु असली गुरु मिल जाय तो उसकी कृपासे चेला भी गुरु बन जाता है, महात्मा बन जाता है—

पारस में अरु संत में, बहुत अंतरौ जान।
वह लोहा कंचन करे, वह करै आपु समान॥

यह गुरुकृपाकी ही विलक्षणता है! यह गुरुकृपा चार प्रकारसे होती है—स्मरणसे, दृष्टिसे, शब्दसे और स्पर्शसे। जैसे कछवी रेतके भीतर अण्डा देती है, पर खुद पानीके भीतर रहती हुई उस अण्डेको याद करती रहती है तो उसके स्मरणसे अण्डा पक जाता है, ऐसे ही गुरुके याद करनेमात्रसे शिष्यको ज्ञान हो जाता है—यह 'स्मरण-दीक्षा' है। जैसे मछली जलमें अपने अण्डेको थोड़ी-थोड़ी देरमें देखती रहती है तो देखनेमात्रसे अण्डा पक जाता है, ऐसे ही गुरुकी कृपादृष्टिसे शिष्यको ज्ञान हो जाता है—यह 'दृष्टि-दीक्षा' है। जैसे कुररी पृथ्वीपर अण्डा देती है और आकाशमें शब्द करती हुई घूमती रहती है तो उसके शब्दसे अण्डा पक जाता है, ऐसे ही गुरु अपने शब्दोंसे शिष्यको ज्ञान करा देता है—यह 'शब्द-दीक्षा' है। जैसे मयूरी अपने अण्डेपर बैठी रहती है तो उसके स्पर्शसे अण्डा पक जाता है, ऐसे ही गुरुके हाथके स्पर्शसे शिष्यको ज्ञान हो जाता है—यह 'स्पर्श-दीक्षा' है।

ईश्वरकी कृपासे मानवशरीर मिलता है, जिसको पाकर जीव स्वर्ग अथवा नरकमें भी जा सकता है तथा मुक्त भी हो सकता है। परन्तु गुरुकृपा या सन्तकृपासे मनुष्यको स्वर्ग अथवा नरक नहीं मिलते, केवल मुक्ति ही मिलती है। गुरु बनानेसे ही गुरुकृपा होती है—ऐसा नहीं है। बनावटी गुरुसे कल्याण नहीं होता। जो अच्छे सन्त-महात्मा होते हैं, वे चेला

* एक कृपा होती है और एक दया होती है। दयामें कोमलता होती है, पर कृपामें थोड़ा शासन होता है। दयामें शासन नहीं होता, केवल हृदय द्रवित हो जाता है। हृदय द्रवित होनेसे ही शिष्यका काम हो जाता है।

बनानेसे ही कृपा करते हों—ऐसी बात नहीं है। वे स्वत: और स्वाभाविक कृपा करते हैं। सूर्यको कोई इष्ट मानेगा, तभी वह प्रकाश करेगा—यह बात नहीं है। सूर्य तो स्वत: और स्वाभाविक प्रकाश करता है, उस प्रकाशको चाहे कोई काममें ले ले। ऐसे ही गुरुकी, सन्त-महात्माकी कृपा स्वत:स्वाभाविक होती है। जो उनके सम्मुख हो जाता है, वह लाभ ले लेता है। जो सम्मुख नहीं होता, वह लाभ नहीं लेता। जैसे, वर्षा बरसती है तो उसके सामने पात्र रखनेसे वह जलसे भर जाता है। परन्तु पात्र उलटा रख दें तो वह जलसे नहीं भरता और सूखा रह जाता है। सन्तकृपाको ग्रहण करनेवाला पात्र जैसा होता है, वैसा ही उसको लाभ होता है।

सतगुरु भूठा इन्द्र सम, कमी न राखी कोय।
वैसा ही फल नीपजै, जैसी भूमिका होय॥

वर्षा सबपर समान रूपसे होती है, पर बीज जैसा होता है, वैसा ही फल पैदा होता है। इसी तरह भगवान्‌की और सन्त-महात्माओंकी कृपा सबपर सदा समान रूपसे रहती है। जो जैसा चाहे, लाभ उठा सकता है।

गुरुके वचनका महत्त्व

गुरु बनानेसे कल्याण नहीं होता, प्रत्युत गुरुकी बात माननेसे कल्याण होता है; क्योंकि गुरु शब्द होता है, शरीर नहीं—

जो तू चेला देह को, देह खेह की खान।
जो तू चेला सबद को, सबद ब्रह्म कर मान॥

गुरु शरीर नहीं होता और शरीर गुरु नहीं होता—**'न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत'** (श्रीमद्भा० ११। १७। २७)। इसलिये गुरु कभी मरता नहीं। अगर गुरु मर जाय तो चेलेका कल्याण कैसे होगा? शरीरको तो अधम कहा गया है—

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥

(मानस, किष्किंधा० ११। २)

अगर किसीका हाड़-मांसमय शरीर गुरु होता है, तो वह अधम होता है, कालनेमि होता है। इसलिये गुरुमें शरीर-बुद्धि करना और शरीरमें गुरु-बुद्धि करना अपराध है। सन्त एकनाथजीके चरित्रमें यह बात बहुत विशेषतासे मिलती है। शास्त्रकी प्रक्रियाके अनुसार पहले तीर्थयात्रा की जाती है, फिर उपासना की जाती है और फिर ज्ञान होता है। परन्तु एकनाथजीके जीवनमें उलटा क्रम मिलता है। उनको पहले ज्ञान हुआ, फिर उन्होंने उपासना की और फिर गुरुजीने तीर्थयात्राकी आज्ञा दी। जब वे तीर्थयात्रामें थे, तब उनके गाँव पैठणका एक ब्राह्मण उनके गुरुजीके पास देवगढ़ पहुँचा और बोला कि 'महाराज! आपके यहाँ जो एकनाथ था, उनके दादा-दादी बहुत बूढ़े हो गये हैं और एकनाथको याद कर-करके रोते रहते हैं। गुरुजीको सुनकर आश्चर्य हुआ कि एकनाथ मेरे पास इतने वर्ष रहा, पर उसने अपने दादा-दादीके विषयमें कभी कहा ही नहीं! उन्होंने एक पत्र लिखकर उस ब्राह्मणको दिया और कहा वह तीर्थयात्रा करते हुए जब पैठण आयेगा, तब उसको मेरा यह पत्र दे देना। मैंने कहा है, इसलिये वह पैठण जरूर आयेगा। ब्राह्मण पत्र लेकर चला गया। घूमते-घूमते जब एकनाथजी वहाँ पहुँचे तो वे दादा-दादीसे मिलने गाँवमें नहीं गये, प्रत्युत गाँवके बाहर ही ठहर गये। उस ब्राह्मणने जब एकनाथजीको देखा तो उनको पहचान लिया और उनके दादाजीका हाथ पकड़कर उनको एकनाथजीके पास ले चला। संयोगसे एकनाथजी रास्तेमें ही मिल गये। दादाजीने स्नेहपूर्वक एकनाथजीको गलेसे लगाया और गुरुजीका पत्र निकालकर कहा कि 'यह तुम्हारे गुरुजीका पत्र है'। यह सुनते ही एकनाथजी गद्‌गद हो गये। उन्होंने कपड़ा बिछाकर उसके ऊपर पत्र रखा, उसकी परिक्रमा करके दण्डवत् प्रणाम किया, फिर उसको पढ़ा। उसमें लिखा था कि

'एकनाथ, तुम वहीं रहना'। एकनाथजी वहीं बैठ गये। फिर उम्रभर वहाँसे कहीं गये नहीं। वहीं मकान बन गया। सत्संग शुरू हो गया। दादा-दादी उनके पास आकर रहे। फिर कभी गुरुजीसे मिलने भी नहीं गये। विचार करें, गुरु शरीर हुआ कि वचन हुआ? जब गुरुजीका शरीर शान्त हो गया तो वे बोले कि 'गुरु मरे और चेला रोये तो दोनोंको क्या ज्ञान मिला?' तात्पर्य है कि गुरु मरता नहीं और चेला रोता नहीं।

एकनाथजीके चरित्रमें जैसी गुरुभक्ति देखनेमें आती है, वैसी और किसी सन्तके चरित्रमें देखनेमें नहीं आती। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धपर उन्होंने मराठीमें जो टीका लिखी है, उसके प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें उन्होंने विस्तारसे गुरुकी स्तुति की है। ऐसे परम गुरुभक्त एकनाथजीने भी गुरुसे बढ़कर उनके वचन (आज्ञा) को महत्त्व दिया।

भगवान्‌से लाभ उठानेकी पाँच बातें हैं—नामजप, ध्यान, सेवा, आज्ञापालन और संग। परन्तु सन्त-महात्माओंसे लाभ उठानेमें तीन ही बातें उपयुक्त हैं—सेवा, आज्ञापालन और संग। इसलिये गुरुका नाम-जप और ध्यान न करके उनकी आज्ञाका, उनके सिद्धान्तका पालन करना चाहिये। गुरुके सिद्धान्तके अनुसार अपना जीवन बनाना ही वास्तविक गुरु-पूजन और गुरु-सेवा है। कारण कि सन्त-महात्माओंको शरीरसे भी बढ़कर सिद्धान्त प्यारा होता है। सिद्धान्तकी रक्षाके लिये वे प्राण भी दे देते हैं, पर सिद्धान्त नहीं छोड़ते।

गुरु शरीर नहीं होता, प्रत्युत तत्त्व होता है। अतः सच्चे गुरु अपना पूजन-ध्यान नहीं करवाते, प्रत्युत भगवान्‌का ही पूजन-ध्यान करवाते हैं। सच्चे सन्त अपनी आज्ञाका पालन भी नहीं करवाते, प्रत्युत यही कहते हैं कि गीता, रामायण आदि ग्रन्थोंकी आज्ञाका पालन करो। जो गुरु अपनी फोटो देते हैं, उसको गलेमें धारण करवाते हैं, उसकी पूजा और ध्यान करवाते हैं, वे धोखा देनेवाले होते हैं। कहाँ तो भगवान्‌का चिन्मय पवित्र शरीर और कहाँ हाड़-मांसका जड़ अपवित्र शरीर! जहाँ भगवान्‌की पूजा होनी चाहिये, वहाँ हाड़-मांसके पुतलेकी पूजा होना बड़ा भारी दोष है। जैसे राजासे वैर करनेवाला, उससे विरुद्ध चलनेवाला राजद्रोही होता है, ऐसे ही अपनी पूजा करवानेवाला भगवद्द्रोही होता है। गीताप्रेसके संस्थापक, संचालक और संरक्षक सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकासे एक सज्जनने कहा कि हम आपकी फोटो लेना चाहते हैं तो उन्होंने कहा कि पहले अपनी जूती लाकर मेरे सिरपर बाँध दो, पीछे फोटो ले लो! अपनी पूजा कराना मैं जूता मारनेकी तरह समझता हूँ। एक बार सेठजीने एक सन्तसे पूछा कि आप पुस्तकोंमें अपना चित्र दिया करते हैं, अपने नाम, चित्र आदिका प्रचार किया करते हैं तो इससे आपका भला होता है या शिष्योंका भला होता है अथवा संसारका भला होता है? किसका भला होता है? इस प्रश्नका उत्तर उनसे देते नहीं बना।

गुरु बननेका अधिकार किसको?

गुरुकी महिमा गोविन्दसे भी अधिक बतायी गयी है, पर यह महिमा उस गुरुकी है, जो शिष्यका उद्धार कर सके। श्रीमद्भागवतमें आया है—

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥

(श्रीमद्भा० ५। ५। १८)

'जो समीप आयी हुई मृत्युसे नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है।'

इसलिये सन्तोंकी वाणीमें आया है—

चौथे पद चीन्हे बिना शिष्य करो मत कोय।

तात्पर्य है कि जबतक अपनेमें शिष्यका उद्धार करनेकी ताकत न आये, तबतक कोई गुरु मत बनो।

कारण कि गुरु बन जाय और उद्धार न कर सके तो बड़ा दोष लगता है—

हरइ सिष्य धन सोक न हरई।
सो गुर घोर नरक महुँ परई॥

(मानस, उत्तर० ९९।४)

वह घोर नरकमें इसलिये पड़ता है कि मनुष्य दूसरी जगह जाकर अपना कल्याण कर लेता, पर उसको अपना शिष्य बनाकर एक जगह अटका दिया! उसको अपना कल्याण करनेके लिये मनुष्यशरीर मिला था, उसमें बड़ी बाधा लगा दी! जैसे एक घरके भीतर कुत्ता आ गया तो घरके मालिकने दरवाजा बन्द कर दिया। घरमें खानेको कुछ था नहीं। अब उस कुत्तेको वहाँ तो कुछ खानेको मिलेगा नहीं और दूसरी जगह जा सकेगा नहीं। यही दशा आजकल चेलेकी होती है। गुरुजी खुद तो चेलेका कल्याण कर सकते नहीं और दूसरी जगह जाने देते नहीं। वह कहीं और चला जाय तो उसको धमकाते हैं कि मेरा चेला होकर दूसरेके पास जाता है! श्रीकरपात्रीजी महाराज कहते थे कि जो गुरु अपना शिष्य तो बना लेता है, पर उसका उद्धार नहीं करता, वह अगले जन्ममें कुत्ता बनता है और शिष्य चींचड़ बनकर उसका खून चूसते हैं!

मन्त्रिदोषश्च राजानं जायादोषः पतिं यथा।
तथा प्राप्नोत्यसन्देहं शिष्यपापं गुरुं प्रिये॥

(कुलार्णवतन्त्र)

'जिस प्रकार मन्त्रीका दोष राजाको और स्त्रीका दोष पतिको प्राप्त होता है, उसी प्रकार निश्चय ही शिष्यका पाप गुरुको प्राप्त होता है।'

दापयेत् स्वकृतं दोषं पत्नी पापं स्वभर्तरि।
तथा शिष्यार्जितं पापं गुरुमाप्नोति निश्चितम्॥

(गन्धर्वतन्त्र)

'जैसे स्त्रीका दोष और पाप उसके स्वामीको प्राप्त होता है, वैसे ही शिष्यका अर्जित पाप गुरुको अवश्य ही प्राप्त होता है।'

एक सन्तके पूर्वजन्मकी सच्ची घटना है। पूर्वजन्ममें वे एक राजाके मन्त्री थे। उनको वैराग्य हो गया तो वे सब छोड़कर अच्छे विरक्त सन्त बन गये। उनके पास कई साधु आकर रहने लगे। राजाके मनमें भी विचार आया कि मैं इन मन्त्री महाराजको ही गुरु बना लूँ और भजन करूँ। वे जाकर उनके शिष्य बन गये। आगे चलकर जब गुरुजी (पूर्व मन्त्री) का शरीर शान्त हो गया तो उनकी जगह उस राजाको महन्त बना दिया गया। महन्त बननेके बाद राजा भोग भोगनेमें लग गया; क्योंकि भोग भोगनेकी पुरानी आदत थी ही। परिणामस्वरूप वह राजा मरनेके बाद नरकोंमें गया। गुरुजी (पूर्व मन्त्री) ऊँचे लोकोंमें गये थे। नरकोंको भोगनेके बाद जब उस राजाने पुनर्जन्म लिया, तब उसके साथ गुरुजीको भी जन्म लेना पड़ा। फिर गुरुजीने उनको पुनः भगवान्‌में लगाया, पर उनको शिष्य नहीं बनाया, प्रत्युत मित्र ही बनाया। उम्रभरमें उन्होंने किसीको भी शिष्य नहीं बनाया। इस घटनासे सिद्ध होता है कि अगर गुरु अपने शिष्यका उद्धार न कर सके तो उसको शिष्यके उद्धारके लिये पुनः संसारमें आना पड़ता है। इसलिये गुरु उन्हींको बनना चाहिये, जो शिष्यका उद्धार कर सकें।

आजकलके गुरु चेलेको भगवान्‌की तरफ न लगाकर अपनी तरफ लगाते हैं, उनको भगवान्‌का न बनाकर अपना बनाते हैं। यह बड़ा भारी अपराध है*। एक जीव परमात्माकी तरफ जाना चाहता है, उसको अपना चेला बना लिया तो अब वह गुरुमें अटक गया। अब वह भगवान्‌की तरफ कैसे जायगा? गुरु भगवान्‌की तरफ जानेमें रुकावट डालनेवाला हो गया! गुरु तो वह है, जो भगवान्‌के सम्मुख कर दे, भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वास करा दे; जैसे—हनुमान्‌जीने विभीषणका विश्वास अपनेमें न कराकर

* पाप और अपराधमें फर्क होता है। पापका फल (नरक आदि) भोगनेसे पाप नष्ट हो जाता है, पर जिसका अपराध किया है, उसकी प्रसन्नताके बिना अपराध नष्ट नहीं होता। इसलिये अपराध पापसे भी ज्यादा भयंकर होता है।

भगवान्‌में कराया—

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती।
करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना।
कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

(मानस, सुन्दर० ७)

श्रीशरणानन्दजी महाराजने लिखा है—

'जो उपदेष्टा भगवद्‌विश्वासकी जगहपर अपने व्यक्तित्वका विश्वास दिलाते हैं और भगवत्सम्बन्धके बदले अपने व्यक्तित्वसे सम्बन्ध जोड़ने देते हैं, वे घोर अनर्थ करते हैं।' (प्रबोधनी)

व्यक्तिमें श्रद्धा-विश्वास करनेकी अपेक्षा भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वास करनेसे ज्यादा लाभ होगा, जल्दी लाभ होगा और विशेष लाभ होगा। इसलिये जो गुरु अपनेमें विश्वास कराता है, अपनी सेवा कराता है, अपने नामका जप करवाता है, अपने रूपका ध्यान करवाता है, अपनी पूजा करवाता है, अपनी जूठन देता है, अपने चरण धुलवाता है, वह पतनकी तरफ ले जानेवाला है। उससे सावधान रहना चाहिये।

भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण मनुष्यमात्रका सदासे ही भगवान्‌के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध स्वतः-स्वाभाविक है, बनावटी नहीं है। परन्तु गुरुके साथ जोड़ा गया सम्बन्ध बनावटी होता है। बनावटी सम्बन्धसे कल्याण नहीं होता, प्रत्युत बन्धन होता है; क्योंकि संसारके बनावटी सम्बन्धसे ही हम बँधे हैं। आप विचार करें, जिन लोगोंने गुरु बनाया है, क्या उन सबका कल्याण हो गया? उनको तत्त्वज्ञान हो गया? भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी? जीवन्मुक्ति हो गयी? किसीको हो गयी हो तो बड़े आनन्दकी बात है, पर हमें विश्वास नहीं होता। एक तो वे लोग हैं, जिन्होंने गुरु बनाया है और दूसरे वे लोग हैं, जिन्होंने गुरु नहीं बनाया है, पर सत्संग करते हैं—उन दोनोंमें आपको क्या फर्क दीखता है? विचार करें कि गुरु बनानेसे ज्यादा लाभ होता है अथवा सत्संग करनेसे ज्यादा लाभ होता है? गुरुजी हमारा कल्याण कर देंगे—ऐसा भाव होनेसे अपने साधनमें ढिलाई आ जाती है। इसलिये गुरु बनानेवालोंमें जितने राग-द्वेष पाये जाते हैं, उतना सत्संग करनेवालोंमें नहीं पाये जाते। किसीको अच्छा संग भी मिल जाय तो वह किसीके साथ लड़ाई-झगड़ा, मार-पीट नहीं करता, पर अपनेको किसी गुरुका चेला माननेवाले दूसरे गुरुके चेलोंके साथ मार-पीट भी कर देते हैं। गुरु बनानेवालोंमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं दीखता। केवल एक वहम पड़ जाता है कि हमने गुरु बना लिया, इसके सिवाय और कुछ नहीं होता। इसलिये गुरु बनानेसे मुक्ति हो जाती है—यह नियम है ही नहीं।

गुरु बनना और बनाना बड़े जोखिमकी बात है, कोई तमाशा नहीं है। कोई आदमी कपड़ेकी दूकानपर जाय और दूकानदारसे कहे कि मेरेको अमुक कपड़ा चाहिये। दूकानदार उससे कपड़ेका मूल्य तो ले ले, पर कपड़ा नहीं दे तो क्या यह उचित है? अगर कपड़ा नहीं दे सकते थे तो मूल्य क्यों लिया? और मूल्य लिया तो कपड़ा क्यों नहीं दिया? ऐसे ही शिष्य तो बना ले, भेंट-पूजा ले ले और उद्धार करे नहीं तो क्या यह उचित है? पहले चेला बन जाओ, उद्धार पीछे करेंगे—यह ठगाई है। अपना पूजन करवा लिया, भेंट ले ली, चेला बना लिया और भगवत्प्राप्ति नहीं करायी तो फिर आप गुरु क्यों बने? गुरु बने हो तो भगवत्प्राप्ति कराओ और नहीं कराओ तो आपको गुरु बननेका कोई अधिकार नहीं है। अगर चेलेका कल्याण नहीं कर सकते तो उसको दूसरी जगह जाने दो। खुद कल्याण नहीं कर सकते तो फिर उसको रोकनेका क्या अधिकार है? खुद कल्याण करते नहीं और दूसरी जगह जाने देते नहीं तो बेचारे शिष्यका तो नाश कर दिया! उसका मनुष्यजन्म निरर्थक कर दिया! अब वह अपना कल्याण कैसे करेगा?

इसलिये जहाँतक बने, गुरु-शिष्यका सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये। गुरु-शिष्यका सम्बन्ध बिना जोड़े सन्तकी बात मानोगे तो लाभ होगा और नहीं मानोगे तो नुकसान नहीं होगा। तात्पर्य है कि गुरु-शिष्यका सम्बन्ध न जोड़नेमें लाभ-ही-लाभ है, नुकसान नहीं है। परन्तु गुरु-शिष्यका सम्बन्ध जोड़ोगे तो बात नहीं माननेपर नुकसान होगा। कारण कि अगर गुरु असली हो और उसकी एक बात भी टाल दे, उनकी आज्ञा न माने तो वह गुरुका अपराध होता है, जिसको भगवान् भी माफ नहीं कर सकते!

शिवक्रोधाद् गुरुस्त्राता गुरुक्रोधाच्छिवो न हि।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरोराज्ञां न लङ्घयेत्॥

(गुरुगीता)

'भगवान् शंकरके क्रोधसे तो गुरु रक्षा कर सकता है, पर गुरुके क्रोधसे भगवान् शंकर भी रक्षा नहीं कर सकते। इसलिये सब प्रकारसे प्रयत्नपूर्वक गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन न करे।'

राखइ गुर जौं कोप बिधाता।
गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता॥

(मानस, बाल० १६६।३)

सच्चे गुरुकी दुर्लभता

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।
तमेकं दुर्लभं मन्ये शिष्यहृत्तापहारकम्॥

(गुरुगीता)

'शिष्यके धनका हरण करनेवाले गुरु तो बहुत हैं, पर शिष्यके हृदयका ताप हरण करनेवाले गुरु दुर्लभ हैं।'

गीताने प्राणिमात्रके हितमें प्रीतिकी बात कही है—'**सर्वभूतहिते रताः**' (५।२५, १२।४)। सच्चे सन्तोंकी दृष्टि प्राणियोंके हितकी तरफ रहती है, उनको अपनी तरफ खींचनेकी नहीं। वे न तो किसीको अपना चेला बनाते हैं, न अपनी टोली बनाते हैं और न किसीसे कुछ लेते हैं, प्रत्युत दूसरेका कल्याण कैसे हो—इस तरफ दृष्टि रखते हैं और केवल शिष्योंके लिये ही नहीं, प्रत्युत प्राणिमात्रके कल्याणके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

कारण कि वे भुक्तभोगी होते हैं। अतः वे जानते हैं कि संसारमें कितना दुःख है और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें कितना सुख है। इसलिये वे चाहते हैं कि दूसरे लोग भी संसारके दुःखोंसे छूट जायँ और सदाके लिये परम सुखका अनुभव कर लें।

इस जमानेमें सच्चे सन्त-महात्मा देखनेको नहीं मिलते। सच्चे महात्मा पहले जमानेमें भी बहुत कम थे, वर्तमानमें तो विशेष कम हो गये हैं। वर्तमानमें तो गुरु बननेका एक पेशा (व्यवसाय) ही बन गया है। चेला इसलिये बनाते हैं कि अपनी जीविका चलती रहे, अपनी मनमानी होती रहे, अपनी मान-बड़ाई (शरीरका मान और नामकी बड़ाई) होती रहे, अपना स्वार्थ सिद्ध होता रहे। यही भाव चेलोंका भी रहता है!

गुरु लोभी सिष लालची, दोनों खेले दाँव।
दोनों डूबा 'परसराम', बैठ पथरकी नाँव॥

आजकल नकली चीजोंका जमाना है। ब्राह्मण भी नकली, क्षत्रिय भी नकली, वैश्य भी नकली, शूद्र भी नकली, ब्रह्मचारी भी नकली, गृहस्थ भी नकली, वानप्रस्थ भी नकली, साधु भी नकली, यहाँतक कि साग-सब्जी, फूल-पत्ती, मिर्च-मसाले, दूध आदि भी नकली मिलते हैं। हर चीज नकली है तो गुरु भी नकली हैं—

मिथ्यारंभ दंभ रत जोई।
ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी।
कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥

(मानस, उत्तर० ९८। २, ४)

साधु होनेमात्रसे कल्याण नहीं होता। मैंने खुद साधु होकर देखा है। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवालोंको किसी मनुष्यके फेरमें नहीं आना चाहिये, किसीको गुरु नहीं बनाना चाहिये।

वास्तवमें कल्याण, मुक्ति, तत्त्वज्ञान, परमात्मप्राप्ति गुरुके अधीन नहीं है। अगर बिना गुरु बनाये तत्त्वज्ञान नहीं होता तो सृष्टिमें जो सबसे पहला गुरु रहा होगा, उसको तत्त्वज्ञान कैसे हुआ होगा? अगर बिना किसी मनुष्यको गुरु बनाये उसको तत्त्वज्ञान हो गया तो इससे सिद्ध हुआ कि बिना किसी मनुष्यको गुरु बनाये भी जगद्गुरु भगवान्की कृपासे तत्त्वज्ञान हो सकता है। परन्तु आजकल तो ऐसी प्रथा चल रही है कि पहले चेला बनो, गुरुमन्त्र लो, पीछे उपदेश देंगे। ऐसी दशामें गुरु बनानेपर चेलेकी बड़ी दुर्दशा होती है। भाव बैठता नहीं, लाभ भी दीखता नहीं, भीतरका भ्रम भी मिटता नहीं और छोड़कर दूसरी जगह जा सकते नहीं। मेरेसे कोई सम्मति ले तो मैं कहूँगा कि सत्संग करो और जितना ले सको, उतना लाभ लो, पर किसीको गुरु मत बनाओ। जहाँ-जहाँसे अच्छी बातें मिलें, वहाँ-वहाँसे उनको लेते रहो और जहाँ अच्छी बात न मिले, वहाँसे चल दो। गुरु बनाकर बँधो मत।

मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत्।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्॥
(गुरुगीता)

'मधुका लोभी भ्रमर जैसे एक पुष्पसे दूसरे पुष्पकी ओर जाता है, ऐसे ही ज्ञानका लोभी शिष्य एक गुरुसे दूसरे गुरुकी ओर जाय।'

गुरु बनानेके बाद आगे जाकर न जाने क्या दशा होगी! मेरेसे ऐसे कई आदमी मिले हैं, जिन्होंने अपनी दृष्टिसे अच्छे-अच्छे गुरु बनाये, पर पीछे उनपर अश्रद्धा हो गयी। अतः जो अपना कल्याण चाहता है, उसको किसीसे भी सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये। संसारसे सम्बन्ध जोड़नेवाला अपना ही कल्याण नहीं कर सकता, फिर दूसरेका कल्याण कैसे करेगा?

आजकल असली गुरु मिलना बहुत कठिन है। जो ठीक तत्त्वको जाननेवाला हो, ऐसा देखनेमें नहीं आता। जो स्वयं तत्त्वको नहीं जानता, वह शिष्यको क्या बतायेगा? ठीक तत्त्वको जाननेवाले गुरु पहले भी बहुत कम हुए हैं। पहले हो चुके सन्तोंकी पुस्तकें पढ़ते हैं तो उनसे भी हमें पूरा सन्तोष नहीं होता। सबसे बढ़कर सन्त वे होते हैं, जिनमें मतभेद नहीं होता अर्थात् द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि किसी एक मतका आग्रह नहीं होता। इसलिये साधकके लिये सबसे बढ़िया बात यही है कि वह सच्चे हृदयसे भगवान्में लग जाय। किसी व्यक्तिको न पकड़कर परमात्माको पकड़े। व्यक्तिमें पूर्णता नहीं होती। पूर्णता परमात्मामें होती है। हम सच्चे हृदयसे परमात्माके सम्मुख हो जायँ तो वे योग, ज्ञान, भक्ति—सब कुछ दे देते हैं*।

---

* तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०। १०-११)

'उन नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है।'

'उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये उनके स्वरूप (होनेपन)में रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूपी दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

मनुष्यका जन्मजात गुरु—विवेक

एक मार्मिक बात है कि जगद्गुरु भगवान् अपनी प्राप्तिके लिये मनुष्यशरीर देते हैं तो साथमें विवेकरूपी गुरु भी देते हैं। भगवान् अधूरा काम नहीं करते। जैसे बड़े अफसरोंको मकान, नौकर, मोटर आदि सब सुविधाएँ मिलती हैं, ऐसे ही भगवान् मनुष्यशरीरके साथ-साथ कल्याणकी सब सामग्री भी देते हैं। वे मनुष्यको 'विवेक'-रूपी गुरु देते हैं, जिससे वह सत् और असत्, कर्तव्य और अकर्तव्य, ठीक और बेठीक आदिको जान सकता है। इस विवेकसे बढ़कर कोई गुरु नहीं है। जो अपने विवेकका आदर करता है, उसको अपने कल्याणके लिये बाहरी गुरुकी जरूरत नहीं पड़ती। जो अपने विवेकका आदर नहीं करता, वह बाहरी गुरु बनाकर भी अपना कल्याण नहीं कर सकता। इसलिये बाहरी गुरु बनानेपर भी कल्याण नहीं होता।

मनुष्य जितना-जितना विवेकको महत्त्व देता है, उसको काममें लाता है, उतना-उतना उसका विवेक बढ़ता जाता है और बढ़ते-बढ़ते वही विवेक तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। विवेकका आदर गुरु बनानेसे नहीं होता, प्रत्युत सत्संगसे होता है—***'बिनु सतसंग बिबेक न होई'*** (मानस, बाल० ३।४)। अच्छे सन्त-महात्मा शिष्य नहीं बनाते तो भी उनका सत्संग करनेसे उद्धार हो जाता है। उनके आचरणोंसे शिक्षा मिलती है, उनकी वाणीसे शास्त्र बनते हैं। अतः जहाँ अच्छा सत्संग मिले, अपने उद्धारकी बात मिले, वहाँ सत्संग करना चाहिये, पर जहाँतक बने, गुरु-शिष्यका सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये।

मेवाड़के राजाके चाचा थे—महाराज चतुरसिंहजी। वे सत्संग सुनते और उसमें कोई बढ़िया बात मिलती तो सुनते ही वहाँसे चल देते कि अब इस बातको काममें लाना है। वे ऐसा निर्णय कर लेते कि अब यह बात हमारी उम्रसे नहीं निकलेगी। ऐसा करनेसे वे अच्छे सन्त हो गये। उन्होंने अनेक अच्छे ग्रन्थोंकी रचना की और वे मेवाड़ी भाषाके वाल्मीकि कहलाये। इस तरह आपको जो भी अच्छी बात मिले, उसको ग्रहण करते जाओ तो आप भी सन्त हो जाओगे।

कल्याणमें शिष्यकी मुख्यता

गुरुजी किसी गद्दीके महन्त हों, उनके पास लाखों-करोड़ों रुपये हों तो उनसे रुपये प्राप्त करनेमें गुरुकी मुख्यता है। गुरु चेलेको स्वीकार करेगा, तभी चेलेको धन मिलेगा। गुरुकी मरजीके बिना चेला उनसे धन नहीं ले सकेगा। इस प्रकार धनकी प्राप्तिमें तो गुरुकी मुख्यता है, पर कल्याण और विद्याकी प्राप्तिमें चेलेकी ही मुख्यता है। अगर चेलेमें अपने कल्याणकी भूख न हो तो गुरु उसका कल्याण नहीं कर सकता। परन्तु चेलेमें अपने कल्याणकी भूख हो तो गुरुके द्वारा उसको स्वीकार न करनेपर भी वह अपना कल्याण कर लेगा।

स्वामी रामानन्दजी महाराजने कबीरको शिष्य बनानेसे मना कर दिया तो वे एक दिन पंचगंगा घाटकी सीढ़ियोंपर लेट गये। रामानन्दजी महाराज स्नानके लिये वहाँसे गुजरे तो अनजानमें उनका पैर कबीरपर पड़ गया और वे 'राम-राम' बोल उठे। कबीरने 'राम'-नामको ही गुरुमन्त्र मान लिया और साधनामें लग गये। परिणाममें कबीर सन्तोंमें चक्रवर्ती सन्त हुए! द्रोणाचार्यजीने एकलव्यको शिष्यरूपसे स्वीकार नहीं किया तो उसने द्रोणाचार्यकी प्रतिमा बनाकर और उनको गुरु मानकर धनुर्विद्याका अभ्यास शुरू कर दिया। परिणाममें वह अर्जुनसे भी तेज हो गया! अतः गुरु बनानेसे ही कल्याण होगा—यह बात है ही नहीं। अगर ऐसी बात होती तो जिन्होंने गुरु

बना लिया, क्या उन सबका कल्याण हो गया? क्या उन सबको भगवान् मिल गये? जिसके उपदेशसे, मार्ग-दर्शनसे हमारा कल्याण हो जाय, वही वास्तवमें हमारा गुरु है, चाहे हम उसको गुरु मानें या न मानें, चाहे वह हमें चेला माने या न माने और चाहे गुरुको हमारा पता हो या न हो। दत्तात्रेयजीने अपने चौबीस गुरुओंकी बात बतायी तो क्या किसीने आकर उनसे कहा कि तू मेरा चेला है और मैं तेरा गुरु हूँ? गुरु ऐसा बनाना चाहिये कि गुरुको पता ही न चले कि कोई मेरा चेला है!

भगवत्प्राप्ति गुरुके अधीन नहीं

जिसको हम प्राप्त करना चाहते हैं, वह परमात्मतत्त्व एक जगह सीमित नहीं है, किसीके कब्जेमें नहीं है, अगर है तो वह हमें क्या निहाल करेगा? परमात्मतत्त्व तो प्राणिमात्रको नित्य प्राप्त है। जो उस परमात्मतत्त्वको जाननेवाले महात्मा हैं, वे न गुरु बनते हैं, न कोई फीस (भेंट) लेते हैं, प्रत्युत सबको चौड़े बताते हैं। जो गुरु नहीं बनते, वे जैसी तत्त्वकी बात बता सकते हैं, वैसी तत्त्वकी बात गुरु बननेवाले नहीं बता सकते।

सौदा करनेवाले व्यक्ति गुरु नहीं होते। जो कहते हैं कि पहले हमारा शिष्य बनो, फिर हम भगवत्प्राप्तिका रास्ता बतायेंगे, वे मानो भगवान्‌की बिक्री करते हैं। यह सिद्धान्त है कि कोई वस्तु जितने मूल्यमें मिलती है, वह वास्तवमें उससे कम मूल्यकी होती है। जैसे कोई घड़ी सौ रुपयोंमें मिलती है तो उसको लेनेमें दूकानदारके सौ रुपये नहीं लगे हैं। अगर गुरु बनानेसे ही कोई चीज मिलेगी तो वह गुरुसे कम दामवाली अर्थात् गुरुसे कमजोर ही होगी। फिर उससे हमें भगवान् कैसे मिल जायँगे? भगवान् अमूल्य हैं। अमूल्य वस्तु बिना मूल्यके मिलती है और जो वस्तु मूल्यसे मिलती है, वह मूल्यसे कमजोर होती है। इसलिये कोई कहे कि मेरा चेला बनो तो मैं बात बताऊँगा, वहाँ हाथ जोड़ देना चाहिये! समझ लेना चाहिये कि कोई कालनेमि है! नकली गुरु बने हुए कालनेमि राक्षसने हनुमान्‌जीसे कहा था—

सर मज्जन करि आतुर आवहु।
दिच्छा देउँ ग्यान जेहिं पावहु॥

(मानस, लंका० ५७।४)

उसकी पोल खुलनेपर हनुमान्‌जीने कहा कि पहले गुरुदक्षिणा ले लो, पीछे मन्त्र देना और पूँछमें सिर लपेटकर उसको पछाड़ दिया!

कल्याणकी प्राप्तिमें अपनी लगन कारण

भगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(६।५)

'अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे; क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

तात्पर्य है कि अपने उद्धार और पतनमें मनुष्य स्वयं ही कारण है, दूसरा कोई नहीं। भगवान्‌ने मनुष्यशरीर दिया है तो अपने कल्याणकी सामग्री भी पूरी दी है। इसलिये अपने कल्याणके लिये दूसरेकी जरूरत नहीं है।

गुरु, सन्त और भगवान् भी तभी उद्धार करते हैं, जब मनुष्य स्वयं उनपर श्रद्धा-विश्वास करता है, उनको स्वीकार करता है, उनके सम्मुख होता है, उनकी आज्ञाका पालन करता है। अगर मनुष्य उनको स्वीकार न करे तो वे कैसे उद्धार करेंगे? नहीं कर सकते। खुद शिष्य न बने तो गुरु क्या करेगा? जैसे,

दूसरा व्यक्ति भोजन तो दे देगा, पर भूख खुदकी चाहिये। खुदकी भूख न हो तो दूसरेके द्वारा दिया गया बढ़िया भोजन भी किस कामका? ऐसे ही खुदकी लगन न हो तो गुरुका, सन्त-महात्माओंका उपदेश किस कामका?

गुरु, सन्त और भगवान्‌का कभी अभाव नहीं होता। अनेक बड़े-बड़े सन्त हो गये, आचार्य हो गये, गुरु हो गये, भगवान्‌के अवतार हो गये, पर अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ है! इससे सिद्ध होता है कि हमने ही उनको स्वीकार नहीं किया। अत: अपने उद्धार और पतनमें हम ही हेतु हैं। जो अपने उद्धार और पतनमें दूसरेको हेतु मानता है, उसका उद्धार कभी हो ही नहीं सकता।

वास्तवमें मनुष्य आप ही अपना गुरु है—'**आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषत:**' (श्रीमद्भा० ११।७।२०)। इसलिये उपदेश अपनेको ही दे। दूसरेमें कमी न देखकर अपनेमें ही कमी देखे और उसको दूर करनेकी चेष्टा करे। वह आप ही अपना गुरु बने, आप ही अपना नेता बने और आप ही अपना शासक बने। तात्पर्य हुआ कि वास्तवमें कल्याण न गुरुसे होता है और न ईश्वरसे ही होता है, प्रत्युत हमारी सच्ची लगनसे होता है। खुदकी लगनके बिना भगवान् भी कल्याण नहीं कर सकते। अगर कर देते तो हम आजतक कल्याणसे वंचित क्यों रहते? न तो गुरुका अभाव है, न सन्त-महात्माओंका अभाव है और न भगवान्‌का ही अभाव है। अभाव हमारी लगनका है। कल्याणकी प्राप्ति न गुरुके अधीन है, न सन्त-महात्माओंके अधीन है और न भगवान्‌के अधीन है। यह तो स्वयंके ही अधीन है। जब हमारी लगनके बिना सर्वशक्तिमान् भगवान् भी हमारा कल्याण नहीं कर सकते, तो फिर मनुष्यमें कितनी शक्ति है कि हमारा कल्याण कर दे? हमारी लगन नहीं होगी तो लाखों-करोड़ों गुरु बना लें तो भी कल्याण नहीं होगा। अगर हमारे हृदयकी सच्ची लगन होगी तो गुरु भी मिल जायगा, सन्त भी मिल जायँगे, भगवान् भी मिल जायँगे, अच्छी पुस्तकें भी मिल जायँगी, ज्ञान भी मिल जायगा। कैसे मिलेगा, किस तरहसे मिलेगा—यह भगवान् जानें! फल पककर तैयार होता है तो तोता आकर स्वयं उसको चोंच मारता है। ऐसे ही हम सच्चे शिष्य बन जायँ तो सच्चा गुरु खुद हमारे पास आयेगा। शिष्यको गुरुकी जितनी आवश्यकता रहती है, उससे अधिक आवश्यकता गुरुको चेलेकी रहती है! हमारी लगन सच्ची होगी तो कोई कपटी गुरु भी मिल जायगा तो भगवान् छुड़ा देंगे। हमें कोई अटका सकेगा ही नहीं। जिसके भीतर अपने उद्धारकी लगन होती है, वह किसी जगह अटकता (फँसता) नहीं—यह नियम है। सच्चे जिज्ञासुको सच्चा सत्संग मिल जाय तो वह उसको चट पकड़ लेता है।

अगर आप अपना उद्धार चाहते हैं तो उसमें बाधा कौन दे सकता है? और अगर आप अपना उद्धार नहीं चाहते तो आपका उद्धार कौन कर सकता है? कितने ही अच्छे गुरु हों, सन्त हों, पर आपकी इच्छाके बिना कोई आपका उद्धार नहीं कर सकता। अगर आप अपने उद्धारके लिये तैयार हो जाओ तो सन्त-महात्मा ही नहीं, चोर-डाकू भी आपकी सहायता करेंगे, दुष्ट भी आपकी सेवा करेंगे, सिंह, सर्प आदि भी आपकी सेवा करेंगे! इतना ही नहीं, दुनियामात्र आपकी सेवा करनेवाली हो जायगी। मैंने ऐसा कई बार देखा है कि अगर सच्चे हृदयसे भगवान्‌में लगे हुए व्यक्तिको कोई दु:ख देता है तो वह दु:ख भी उसकी उन्नतिमें सहायक हो जाता है! दूसरा तो उसको दु:ख देनेकी नीयतसे काम करता है, पर उसका भला हो जाता है! इतना ही नहीं, जो भगवान्‌को नहीं मानता, उसमें भी अगर अपने कल्याणकी लगन पैदा हो जाय तो उसका भी कल्याण हो जाता है।

धनी आदमी काम करनेके लिये नौकर रख लेते हैं, पूजन करनेके लिये ब्राह्मण रख लेते हैं, पर भोजन करने और दवा लेनेके लिये कोई नौकर या ब्राह्मण नहीं रखता। भूख लगनेपर भोजन खुदको ही करना पड़ता है। रोगी होनेपर दवा खुदको ही लेनी पड़ती

है। जब रोटी भी खुद खानेसे भूख मिटती है, दवा भी खुद लेनेसे रोग मिटता है, तो फिर कल्याण अपनी लगनके बिना कैसे हो जायगा? आप तत्परतासे भगवान्‌में लग जाओ तो गुरु, सन्त, भगवान्—सब आपकी सहायता करनेके लिये तैयार हैं, पर कल्याण तो खुदको ही करना पड़ेगा। इसलिये गुरु हमारा कल्याण कर देगा—यह पूरी ठगाई है!

माँ कितनी ही दयालु क्यों न हो, पर आपकी भूख नहीं हो तो वह भोजन कैसे करायेगी? ऐसे ही आपमें अपने कल्याणकी उत्कण्ठा न हो तो भगवान् परम दयालु होते हुए भी क्या करेंगे? चीर-हरणके समय द्रौपदीने भगवान्‌को पुकारा तो वे वस्त्ररूपसे प्रकट हो गये, पर जुएमें हारते समय युधिष्ठिरने भगवान्‌को पुकारा ही नहीं तो वे कैसे आयें? युधिष्ठिरने तेरह वर्षोंतक वनमें दुःख पाया। कुन्ती माताने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा कि 'कन्हैया! क्या तेरेको पाण्डवोंपर दया नहीं आती?' भगवान्‌ने कहा कि 'मैं क्या करूँ, युधिष्ठिरने जुएमें राज्य, धन-सम्पत्ति आदि सब कुछ लगा दिया, पर मेरेको याद ही नहीं किया!'

भगवान् सबके गुरु हैं

भगवान् जगत्‌के गुरु हैं—

'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'

'जगद्गुरुं च शाश्वतम्'

(मानस, अरण्य० ४। ९)

वे केवल गुरु ही नहीं, प्रत्युत गुरुओंके भी परम गुरु हैं—

'स ईशः परमो गुरोर्गुरुः'

(श्रीमद्भा० ८। २४। ४८)

'त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्'

(गीता ११। ४३)

राजा सत्यव्रत भगवान्‌से कहते हैं—

अचक्षुरन्धस्य यथाग्रणीः कृत-
स्तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः।
त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणो
वृतो गुरुर्नः स्वगतिं बुभुत्सताम्॥

(श्रीमद्भा० ८। २४। ५०)

'जैसे कोई अन्धा अन्धेको ही अपना पथ-प्रदर्शक बना ले, वैसे ही अज्ञानी जीव अज्ञानीको ही अपना गुरु बनाते हैं। आप सूर्यके समान स्वयं प्रकाश और समस्त इन्द्रियोंके प्रेरक हैं। हम आत्मतत्त्वके जिज्ञासु आपको ही गुरुके रूपमें वरण करते हैं।'

भक्तराज प्रह्लादजी कहते हैं—

शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो हृदि स्थितः।
तमृते परमात्मानं तात कः केन शास्यते॥

(विष्णुपुराण १। १७। २०)

'हृदयमें स्थित भगवान् विष्णु ही तो सम्पूर्ण जगत्‌के उपदेशक हैं। हे तात! उन परमात्माको छोड़कर और कौन किसको कुछ सिखा सकता है? नहीं सिखा सकता।'

भगवान् जगत्‌के गुरु हैं और हम भी जगत्‌के भीतर ही हैं। इसलिये वास्तवमें हम गुरुसे रहित नहीं हैं। हम असली महान् गुरुके शिष्य हैं। कलियुगी गुरुओंसे तो बड़ा खतरा है, पर जगद्गुरु भगवान्‌से कोई खतरा नहीं है! कोरा लाभ-ही-लाभ है, नुकसान कोई है ही नहीं। इसलिये भगवान्‌को गुरु मानें और उनकी गीताको पढ़ें, उसके अनुसार अपना जीवन बनायें तो हमारा निश्चितरूपसे कल्याण हो जायगा। कृष्ण, राम, शंकर, हनुमान्, गणेश, सूर्य आदि किसीको भी अपना गुरु मान सकते हैं। गजेन्द्रने कहा था—

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भया-
न्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥

(श्रीमद्भा० ८। २। ३३)

'जो कोई ईश्वर प्रचण्ड वेगसे दौड़ते हुए अत्यन्त बलवान् कालरूपी साँपसे भयभीत होकर शरणमें आये हुएकी रक्षा करता है और जिससे भयभीत होकर मृत्यु भी दौड़ रही है, उसीकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।'

गजेन्द्रके कथनका तात्पर्य है कि ईश्वर कैसा है, उसका क्या नाम है—यह सब मैं नहीं जानता, पर जो कोई ईश्वर है, उसकी मैं शरण लेता हूँ। इस प्रकार हम भी ईश्वरकी शरण हो जायँ तो वह गुरु भेज देगा अथवा स्वयं ही गुरु हो जायगा।

हम भगवान्‌के अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७); अत: हमारे गुरु, माता, पिता आदि सब वे ही हैं। वास्तवमें हमें गुरुसे सम्बन्ध नहीं जोड़ना है, प्रत्युत भगवान्‌से ही सम्बन्ध जोड़ना है। सच्चा गुरु वही होता है, जो भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ दे। भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेके लिये किसीसे सलाह लेनेकी जरूरत नहीं है। भगवान्‌के साथ जीवमात्रका स्वतन्त्र सम्बन्ध है। उसमें किसी दलालकी जरूरत नहीं है। हम पहले गुरु बनायेंगे, फिर गुरु हमारा सम्बन्ध भगवान्‌के साथ जोड़े तो भगवान् हमारेसे एक पीढ़ी दूर हो गये! हम पहलेसे ही सीधे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ लें तो बीचमें दलालकी जरूरत ही नहीं। मुक्ति हमारे न चाहनेपर भी जबर्दस्ती आयेगी—

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद।
संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं।
अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

(मानस, उत्तर० ११९। २)

इसलिये भगवान् गीतामें कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

(गीता ९। ३४, १८। ६५)

'तू मेरा भक्त हो जा, मुझमें मनवाला हो जा, मेरा पूजन करनेवाला हो जा और मुझे नमस्कार कर।'

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

(गीता १८। ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा।'

भगवान् गुरु न बनकर अपनी शरणमें आनेके लिये कहते हैं।

जगद्गुरु भगवान्‌की उदारता

भगवान्‌में अनन्त गुण हैं, जिनका कोई पार नहीं पा सकता। आजतक भगवान्‌के गुणोंका जितना शास्त्रोंमें वर्णन हुआ है, जितना महात्माओंने वर्णन किया है, वह सब-का-सब मिलकर भी अधूरा है। भगवान्‌के परम भक्त गोस्वामीजी महाराज भी कहते हैं—'***रामु न सकहिं नाम गुन गाईं***' (मानस, बाल० २६।४)। सन्तोंकी वाणीमें भी आया है कि अपनी शक्तिको खुद भगवान् भी नहीं जानते! ऐसे अनन्त गुणोंवाले भगवान्‌में कम-से-कम तीन मुख्य गुण हैं—सर्वज्ञता, सर्वसमर्थता और सर्वसुहृत्ता। तात्पर्य है कि भगवान्‌के समान कोई सर्वज्ञ नहीं है, कोई सर्वसमर्थ नहीं है और कोई सर्वसुहृद् (परम दयालु) नहीं है। ऐसे भगवान्‌के रहते हुए भी आप दु:ख पा रहे हैं, आपकी मुक्ति नहीं हो रही है तो क्या गुरु आपको मुक्त कर देगा? क्या गुरु भगवान्‌से भी अधिक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और दयालु है? कोरी ठगाईके सिवाय कुछ नहीं होगा! जबतक आपके भीतर अपने कल्याणकी लालसा जाग्रत् नहीं होगी, तबतक भगवान् भी आपका कल्याण नहीं कर सकते, फिर गुरु कैसे कर देगा?

आपको गुरुमें, सन्त-महात्मामें जो विशेषता दीखती है, वह भी उनकी अपनी विशेषता नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌से आयी हुई और आपकी मानी हुई है। जैसे कोई भी मिठाई बनायें, उसमें मिठास चीनीकी

ही होती है, ऐसे ही जहाँ भी विशेषता दीखती है, वह सब भगवान्‌की ही होती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा भी है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
(१०।४१)

‘जो-जो ऐश्वर्ययुक्त, शोभायुक्त और बलयुक्त प्राणी तथा पदार्थ है, उस-उसको तुम मेरे ही तेज (योग अर्थात् सामर्थ्य) के अंशसे उत्पन्न हुई समझो।’

भगवान्‌का विरोध करनेवाले राक्षसोंको भी भगवान्‌से ही बल मिलता है[1] तो क्या भगवान्‌का भजन करनेवालोंको भगवान्‌से बल नहीं मिलेगा? आप भगवान्‌के सम्मुख हो जाओ तो करोड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो जायँगे,[2] पर आप सम्मुख ही नहीं होंगे तो पाप कैसे नष्ट होंगे? भगवान् अपने शत्रुओंको भी शक्ति देते हैं, प्रेमियोंको भी शक्ति देते हैं और उदासीनोंको भी शक्ति देते हैं। भगवान्‌की रची हुई पृथ्वी दुष्ट-सज्जन, आस्तिक-नास्तिक, पापी-पुण्यात्मा सबको रहनेका स्थान देती है। उनका बनाया हुआ अन्न सबकी भूख मिटाता है। उनका बनाया हुआ जल सबकी प्यास बुझाता है। उनका बनाया हुआ पवन सबको श्वास देता है। दुष्ट-से-दुष्ट, पापी-से-पापीके लिये भी भगवान्‌की दयालुता समान है। हम घरमें बिजलीका एक लट्टू भी लगाते हैं तो उसका किराया देना पड़ता है, पर भगवान्‌के बनाये सूर्य और चन्द्रने कभी किराया माँगा है? पानीका एक नल लगा लें तो रुपया लगता है, पर भगवान्‌की बनायी नदियाँ रात-दिन बह रही हैं। क्या किसीने उसका रुपया माँगा है? रहनेके लिये थोड़ी-सी जमीन भी लें तो उसका रुपया देना पड़ता है, पर भगवान्‌ने रहनेके लिये इतनी बड़ी पृथ्वी दे दी। क्या उसका किराया माँगा है? अगर उसका किराया माँगें तो किसमें देनेकी ताकत है? जिसकी बनायी हुई सृष्टि भी इतनी उदार है, वह खुद कितना उदार होगा!

एक कथा आती है। एक सज्जनने एकादशीका व्रत किया। द्वादशीके दिन किसीको भोजन कराकर पारण करना था, पर कोई मिला नहीं। वर्षा हो रही थी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आखिर एक बूढ़े साधु मिल गये। उनको भोजनके लिये घर बुलाया। उनको बैठाकर उनके सामने भोजनकी पत्तल परोसी तो वे साधु चट खाने लग गये। उन सज्जनने कहा कि ‘महाराज, आपने भगवान्‌को भोग तो लगाया ही नहीं!’ वह साधु बोला कि ‘भगवान् क्या होता है? तुम तो मूर्ख हो, समझते नहीं।’ यह सुनते ही उन सज्जनने पत्तल खींच ली और बोले कि ‘भगवान् कुछ नहीं होता तो तुम कौन होते हो? हम भगवान्‌के नाते ही तो आपको भोजन कराते हैं।’ उसी समय आकाशवाणी हुई कि ‘अरे! मेरी निन्दा करते-करते यह साधु बूढ़ा हो गया, पर अभीतक मैं इसको भोजन दे रहा हूँ, तू एक समय भी भोजन नहीं दे सकता और मेरा भक्त कहलाता है! अगर मैं भोजन न दूँ तो यह कितने दिन जीये?’ आकाशवाणी सुनकर उनको बड़ी शर्म आयी और फिर उस साधुसे माफी माँगकर उसको प्रेमपूर्वक भोजन कराया।

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥
(विनयपत्रिका १६२)

ऐसे परम उदार भगवान्‌के रहते हुए हम दुःख पा रहे हैं और गुरुजी हमें सुखी कर देंगे, हमारा उद्धार कर देंगे—यह कितनी ठगाई है! अपने उद्धारके लिये हम खुद तैयार हो जायँ, बस, इतनी

१- हनुमान्‌जी रावणसे कहते हैं—
जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि। तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥
(मानस, सुन्दर० २१)

२- सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥ (मानस, सुन्दर० ४४।१)

ही जरूरत है।

भगवान् महान् दयालु हैं। वे सबके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध करते हैं तो क्या कल्याणका प्रबन्ध नहीं करेंगे? इसलिये आप सच्चे हृदयसे अपने कल्याणकी चाहना बढ़ाओ और भगवान्से प्रार्थना करो कि 'हे नाथ! मेरा कल्याण हो जाय, उद्धार हो जाय। मैं नहीं जानता कि कल्याण क्या होता है, पर मैं किसी भी जगह फँसूँ नहीं, सदाके लिये सुखी हो जाऊँ। हे नाथ! मैं क्या करूँ?' भगवान् सच्ची प्रार्थना अवश्य सुनते हैं—

सच्चे हृदयसे प्रार्थना, जब भक्त सच्चा गाय है।
तो भक्तवत्सल कान में, वह पहुँच झट ही जाय है॥

हमें अपने कल्याणकी जितनी चिन्ता है, उससे ज्यादा भगवान्को और सन्त-महात्माओंको चिन्ता है! बच्चेको अपनी जितनी चिन्ता होती है, उससे ज्यादा माँको चिन्ता होती है, पर बच्चा इस बातको समझता नहीं।

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७।३)

जो सच्चे हृदयसे भगवान्की तरफ चलता है, उसकी सहायताके लिये सभी सन्त-महात्मा उत्कण्ठित रहते हैं। सन्तोंके हृदयमें सबके कल्याणके लिये अपार दया भरी हुई रहती है। बच्चा भूखा हो तो उसको अन्न देनेका भाव किसके मनमें नहीं आता?

अगर कोई सच्चे हृदयसे अपना कल्याण चाहता है तो भगवान् अवश्य उसका कल्याण करते हैं। भगवान्के समान हमारा हित करनेवाला गुरु भी नहीं है—

उमा राम सम हित जग माहीं।
गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥
सुर नर मुनि सब कै यह रीती।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

(मानस, किष्किंधा० १२।१)

गुरु-विषयक प्रश्नोत्तर

प्रश्न*—**गुरुके बिना उद्धार कैसे होगा; क्योंकि रामायणमें आया है—'गुर बिनु भव निधि तरइ न कोई'*** (मानस, उत्तर० ९३।३)?

***उत्तर*—**उसी रामायणमें यह भी आया है—

गुर सिष बधिर अंध का लेखा।
एक न सुनइ एक नहिं देखा॥
हरइ सिष्य धन सोक न हरई।
सो गुर घोर नरक महुँ परई॥

(मानस, उत्तर० ९९। ३-४)

तात्पर्य हुआ कि बनावटी गुरुसे उद्धार नहीं होगा। बनाया हुआ गुरु कुछ काम नहीं करेगा। किसी-न-किसी सन्तकी बात मानेंगे, तभी उद्धार होगा और जिसकी बात माननेसे उद्धार होगा, वही हमारा गुरु होगा। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें दत्तात्रेयजीने अपने चौबीस गुरुओंका वर्णन किया है। तात्पर्य है कि मनुष्य किसीसे भी शिक्षा लेकर अपना उद्धार कर सकता है। अतः गुरु बनानेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत शिक्षा लेनेकी जरूरत है। जिसकी शिक्षा लेनेसे, जिसकी बात माननेसे हमारा उद्धार हो जाय, वह बिना गुरु बनाये भी गुरु हो गया। अगर बात न मानें तो गुरु बनानेपर भी कल्याण नहीं होगा, उलटे पाप होगा, अपराध होगा।

आजकल एक साथ कई लोगोंको दीक्षा दे देते हैं और सामूहिक रूपसे सबको अपना चेला बना लेते हैं। न तो गुरुमें चेलोंके कल्याणकी चिन्ता होती है और न चेलोंमें ही अपने कल्याणकी लगन होती है। गुरु चेलोंका कल्याण कर सकता नहीं और चेले दूसरी जगह जा सकते नहीं। अतः चेले बनाकर उलटे उन लोगोंके कल्याणमें बाधा लगा दी!

***प्रश्न*—**यह बात प्रचलित है कि निगुरेका कल्याण

नहीं होता। अत: गुरु बनाना आवश्यक हुआ?

***उत्तर*—**जिसको अच्छाई-बुराईका ज्ञान है, वह निगुरा कैसे हुआ? अच्छाई-बुराईका ज्ञान (विवेक) सबमें है। भगवान्‌का नाम लेना चाहिये, उनका स्मरण करना चाहिये, किसीको भी दु:ख नहीं देना चाहिये आदि बातें सब जानते हैं। इन बातोंका ज्ञान उनको जिससे हुआ, वह गुरु हो गया, चाहे उसको जानें या न जानें, मानें या न मानें।

जिसने गुरु तो बना लिया, पर उनकी बात नहीं मानी, वही निगुरा होता है। उसको अपराध लगता है। जिसने गुरु बनाया ही नहीं, उसको अपराध कैसे लगेगा?

गुरु बनानेसे कल्याण हो ही जायगा—ऐसा कोई विधान नहीं है। कल्याण अपनी लगनसे होता है, गुरु बनानेसे नहीं।

भगवान् जगत्‌के गुरु हैं—**'कृष्णं वन्दे जगद्‌गुरुम्।'** आप जगत्‌से बाहर नहीं हैं, फिर आप निगुरे कैसे हुए? इसलिये अच्छे महात्माओंका सत्संग करो और उनकी बातोंको काममें लाओ। गुरु-शिष्यका सम्बन्ध जोड़ना ठीक नहीं है। वास्तवमें जो जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महात्मा होते हैं, वे कल्याणकी बात तो बताते हैं, पर चेला नहीं बनाते। उनको गुरु बनाये बिना उनकी जितनी बातें मानोगे, उतना लाभ तो अवश्य होगा ही, और किसी बातको नहीं मानोगे तो पाप नहीं लगेगा। परन्तु गुरु बनानेपर बात नहीं मानोगे तो पाप ही नहीं, अपराध लगेगा।

***प्रश्न*—**कहते हैं कि गुरुसे मन्त्र लेनेसे उस मन्त्रमें शक्ति आती है?

***उत्तर*—**मन्त्र देनेवालेमें शक्ति होगी, तभी तो उसके दिये मन्त्रमें शक्ति आयेगी। जिसमें खुदमें शक्ति नहीं हो, उसके दिये मन्त्रमें शक्ति कैसे आयेगी? इसलिये कहा है—

वचन आगले सन्त का, हरिया हस्ती दन्त।
ताख न टूटे भरम का, सैंधे ही बिनु सन्त॥

अर्थात् अनुभवी सन्तका वचन हाथी-दाँतकी तरह होता है, जो अज्ञानरूपी द्वारको तोड़ देता है। हाथी अपने दाँतोंसे किलेका द्वार तोड़ देता है। परन्तु हाथीके बिना केवल उसके दाँतोंसे कोई द्वार तोड़ना चाहे तो नहीं तोड़ सकता। कारण कि वास्तवमें शक्ति हाथीमें है, केवल उसके दाँतोंमें नहीं। ऐसे ही शक्ति सन्तके अनुभवमें है, केवल उसके वचनोंमें नहीं।

आजकल गुरु बननेका, अपने सम्प्रदायकी टोली बनानेका शौक तो है, पर जीवका कल्याण हो जाय—इस तरफ खयाल कम है। अपने सम्प्रदायके अनुसार मन्त्र देनेसे अपनी टोली तो बन जाती है, पर तत्त्वप्राप्तिमें कठिनता होती है। तत्त्वप्राप्ति तब होती है, जब अपनी श्रद्धा, विश्वास, रुचि और योग्यताके अनुसार साधन किया जाय। सभी उपासनाएँ ठीक हैं, पर जो उपासना स्वाभाविक होती है, वह असली होती है और जो की जाती है, वह नकली होती है। आजकल साधन करनेवालोंके सामने बड़ी उलझन आ रही है। गुरुजीने कृष्ण-मन्त्र दे दिया, पर हमारा मन लगता है राम-मन्त्रमें, अब क्या करें? इस विषयमें मेरी प्रार्थना है कि अगर आपकी रुचि, श्रद्धा-विश्वास राम-मन्त्रमें है तो राम-मन्त्रका ही जप करना चाहिये। गुरुजीने दूसरा मन्त्र बताया है तो एक माला उसकी जप सकते हैं, पर अन्य समय अपनी रुचिवाला मन्त्र ही जपना चाहिये। उपासना वही सिद्ध होती है, जिसमें स्वत:स्वाभाविक रुचि होती है। ऊपरसे भरी हुई उपासना जल्दी सिद्ध नहीं होती।

जिस मन्त्रमें आपका श्रद्धाभाव अधिक होगा, उस मन्त्रमें स्वत: शक्ति आ जायगी। कारण कि मूलमें शक्ति परमात्माकी है, किसी व्यक्तिकी नहीं। अगस्त्य, विश्वामित्र आदि बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंमें जो शक्ति थी, वह उनको गुरुसे प्राप्त नहीं हुई थी, प्रत्युत अपनी तपस्या आदिके कारण भगवान्‌से प्राप्त हुई थी। भगवान्‌की शक्ति सर्वत्र है, नित्य है और सबके लिये है। उसमें किसीका पक्षपात नहीं है, जो चाहे, उस शक्तिको प्राप्त कर सकता है।

***प्रश्न*—गुरुके बिना कुण्डलिनी कैसे जगेगी?**

***उत्तर*—**कुण्डलिनी जगनेसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, कल्याण नहीं होता, किसी सोयी हुई सर्पिणीको छेड़ दो तो क्या मुक्ति हो जायगी? श्रीशरणानन्दजी महाराजसे किसीने पूछा कि कुण्डलिनीके विषयमें आप क्या जानते हैं? उन्होंने उत्तर दिया कि हम यह जानते हैं कि कुण्डलिनीके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। कुण्डलिनी सोती रहे अथवा जाग जाय, उससे हमारा क्या मतलब? कुण्डलिनी शरीरमें है, स्वरूपमें नहीं। अतः कुण्डलिनीके जगनेसे साधक शरीरसे अतीत कैसे होगा? शरीरसे अतीत हुए बिना कल्याण कैसे होगा? कल्याण तो शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही होता है।

***प्रश्न*—**कई लोगोंको गुरुके द्वारा कुण्डलिनी-जागरण आदिकी अलौकिक अनुभूतियाँ होती हैं, वह क्या है?

***उत्तर*—**वह चमत्कार तो होता है, पर उससे कल्याण नहीं होता। कल्याण तो जड़ता (शरीर-संसार) से ऊँचा उठनेपर ही होता है।

***प्रश्न*—**हमने गुरुसे कण्ठी तो ले ली, पर अब उनमें श्रद्धा नहीं रही तो क्या कण्ठी उनको वापिस कर दें?

***उत्तर*—**कण्ठी वापिस करनेके लिये मैं कभी नहीं कहता। मैं यही सम्मति देता हूँ कि रोजाना एक माला गुरु-मन्त्रकी फेर लो और बाकी समय जिसमें श्रद्धा हो, उस मन्त्रका जप करो और सत्संग-स्वाध्याय करो।

***प्रश्न*—**पहले गुरु बना लिया, पर अब उनमें श्रद्धा नहीं रही तो उनका त्याग करनेसे पाप तो नहीं लगेगा?

***उत्तर*—**जब आपके मनमें गुरुको छोड़नेकी इच्छा हो गयी, उनसे श्रद्धा हट गयी तो गुरुका त्याग हो ही गया। इसलिये उस गुरुकी निन्दा भी मत करो और उसके साथ सम्बन्ध भी मत रखो।

जिसमें रुपयोंका लोभ हो, स्त्रियोंमें मोह हो, कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान न हो, खराब रास्तेपर चलता हो, ऐसे गुरुका त्याग करनेमें कोई पाप, दोष नहीं लगता। शास्त्रोंमें ऐसे गुरुका त्याग करनेकी बात आती है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥*

(महाभारत, उद्योग० १७८। ४८)

'यदि गुरु भी घमण्डमें आकर कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान खो बैठे और कुमार्गपर चलने लगे तो उसका भी त्याग कर देनेका विधान है।'

ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मिथ्यावादी विकल्पकः।
स्वविश्रान्तिं न जानाति परशान्तिं करोति किम्॥

(सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, गुरुगीता)

'ज्ञानरहित, मिथ्यावादी और भ्रम पैदा करनेवाले गुरुका त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि जो खुद शान्ति नहीं प्राप्त कर सका, वह दूसरोंको शान्ति कैसे देगा?'

पतिता गुरवस्त्याज्या माता च न कथञ्चन।
गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी॥

(स्कन्दपुराण, मा० कौ० ६। ७; मत्स्यपुराण २२७। १५०)

'पतित गुरु भी त्याज्य है, पर माता किसी प्रकार भी त्याज्य नहीं है। गर्भकालमें धारण-पोषण करनेके कारण माताका गौरव गुरुजनोंसे भी अधिक है।'

***प्रश्न*—**क्या स्त्री किसीको गुरु बना सकती है?

***उत्तर*—**स्त्रीको कोई गुरु नहीं बनाना चाहिये। अगर बनाया हो तो छोड़ देना चाहिये। स्त्रीका पति ही उसका गुरु है। शास्त्रमें आया है—

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः॥

(पद्मपुराण, स्वर्ग० ५१।५१, ब्रह्मपुराण ८०।४७)

'अग्नि द्विजातियोंका गुरु है, ब्राह्मण चारों वर्णोंका

* यह श्लोक किंचित् पाठभेदके साथ वाल्मीकिरामायण, पद्मपुराण, स्कन्दपुराण आदिमें भी आया है।

गुरु है, एकमात्र पति ही स्त्रियोंका गुरु है और अतिथि सबका गुरु है।'

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

(मनुस्मृति २।६७)

'स्त्रियोंके लिये वैवाहिक विधिका पालन ही वैदिक-संस्कार (यज्ञोपवीत), पतिकी सेवा ही गुरुकुलवास और गृह-कार्य ही अग्निहोत्र कहा गया है।'

स्त्रीको पतिके सिवाय किसी भी पुरुषसे किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये। स्त्रियोंसे प्रार्थना है कि वे कभी किसी साधुके फेरमें न पड़ें। आजकल बहुत ठगी, दम्भ, पाखण्ड हो रहा है। मेरे पास ऐसे पत्र भी आते हैं और भुक्तभोगी स्त्रियाँ भी आकर अपनी बात सुनाती हैं, जिससे ऐसा लगता है कि वर्तमान समयमें स्त्रीके लिये गुरु बनाना अर्थात् किसी भी परपुरुषसे सम्बन्ध जोड़ना अनर्थका मूल है।

साधुको भी चाहिये कि वह किसी स्त्रीको चेली न बनाये। दीक्षा देते समय गुरुको शिष्यके हृदय आदिका स्पर्श करना पड़ता है, जबकि संन्यासीके लिये स्त्रीके स्पर्शका कड़ा निषेध है। श्रीमद्भागवतमें आया है कि हाड़-मांसमय शरीरवाली स्त्रीका तो कहना ही क्या है, लकड़ीकी बनी हुई स्त्रीका भी स्पर्श न करे और हाथसे स्पर्श करना तो दूर रहा, पैरसे भी स्पर्श न करे—

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।

(श्रीमद्भा० ११।८।१३)

शास्त्रमें यहाँतक कहा गया है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(मनु० २।२१५)

'मनुष्यको चाहिये कि अपनी माता, बहन अथवा पुत्रीके साथ भी कभी एकान्तमें न रहे; क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं, वे विद्वान् मनुष्यको भी अपनी तरफ खींच लेती हैं।'

सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु
योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो
वदन्ति या निरयद्वारमस्य॥

(श्रीमद्भा० ३। ३१। ३९)

'जो पुरुष योगके परम पदपर आरूढ़ होना चाहता हो अथवा जिसे मेरी सेवाके प्रभावसे आत्मा-अनात्माका विवेक हो गया हो, वह स्त्रियोंका संग कभी न करे; क्योंकि उन्हें ऐसे पुरुषके लिये नरकका खुला द्वार बताया गया है।'

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरे॥

(भर्तृहरिशतक)

'जो वायु-भक्षण करके, जल पीकर और सूखे पत्ते खाकर रहते थे, वे विश्वामित्र, पराशर आदि भी स्त्रियोंके सुन्दर मुखको देखकर मोहको प्राप्त हो गये, फिर जो लोग शाली धान्य (सांठी चावल) को घी, दूध और दहीके साथ खाते हैं, वे यदि अपनी इन्द्रियका निग्रह कर सकें तो मानो विन्ध्याचल पर्वत समुद्रपर तैरने लगा!'

ऐसी स्थितिमें जो जवान स्त्रियोंको अपनी चेली बनाते हैं, उनको अपने आश्रममें रखते हैं, उनका स्वप्नमें भी कल्याण हो जायगा—यह बात मेरेको जँचती नहीं! फिर उनके द्वारा आपका भला कैसे हो जायगा? केवल धोखा ही होगा।

***प्रश्न*—**ऐसा कहते हैं कि जीवन्मुक्त महात्मा भोग भी भोगे तो उसको दोष नहीं लगता। क्या यह ठीक है?

***उत्तर*—**ऐसा सम्भव ही नहीं है। जीवन्मुक्त भी हो जाय और भोग भी भोगता रहे—यह सर्वथा असम्भव बात है। भोग तो साधनकालमें ही छूट जाते हैं, फिर सिद्ध पुरुषको भोग भोगनेकी जरूरत भी क्यों

पड़ेगी? ऐसी बातें दम्भी-पाखण्डी लोग ही अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये फैलाते हैं। इसलिये रामायणमें आया है—

मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥

(मानस, उत्तर० ९८। २, ४)

पर त्रिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने॥
तेइ अभेदबादी ग्यानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर॥

(मानस, उत्तर० १००। १)

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचि भक्षणे॥

'यदि अद्वैत तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर भी यथेच्छाचार बना रहा तो फिर अशुद्ध वस्तु (मांस-मदिरा आदि) खानेमें यथेच्छाचारी तत्त्वज्ञ और कुत्तेमें भेद ही क्या रह गया?'

यस्तु प्रव्रजितो भूत्वा पुनः सेवेत मैथुनम्।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः॥

(स्कन्दपुराण, काशी० पू० ४०।१०७)

'जो संन्यास लेनेके बाद पुनः स्त्रीसंग करता है, वह साठ हजार वर्षोंतक विष्ठाका कीड़ा होता है।'

भोगोंका कारण कामना है और कामनाका सर्वथा नाश होनेपर ही जीवन्मुक्ति होती है। भोगोंकी कामना तो साधककी भी आरम्भमें ही मिट जाती है। अगर किसी ग्रन्थमें ऐसी बात आयी हो कि जीवन्मुक्त भोग भी भोगे तो उसको दोष नहीं लगता, तो यह बात उसकी महिमा बतानेके लिये है, विधि नहीं है। इसका तात्पर्य भोग भोगनेमें नहीं है। जैसे, गीतामें जीवन्मुक्तके लिये आया है कि 'जिसका अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है'* तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जीवन्मुक्त महात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंको मार देता है!

***प्रश्न*—**गुरु बनानेसे वे शक्तिपात करेंगे; अतः गुरु बनाना जरूरी हुआ?

***उत्तर*—**शक्तिपात कोई तमाशा नहीं है। वर्तमानमें शक्तिपातकी बात देखनेको तो दूर रही, पढ़नेको भी प्रायः मिलती नहीं! एक सन्त थे। उनके पीछे एक आदमी पड़ा कि शक्तिपात कर दो। वे सन्त बोले कि शक्तिपात कोई मामूली चीज नहीं है; उसको तुम सह नहीं सकोगे, मर जाओगे। वह पीछे पड़ा रहा कि महाराज, किसी तरह कर दो। सन्तने शक्तिपातका थोड़ा-सा असर डाला तो वह आदमी घबरा गया और चिल्लाने लगा कि मेरे स्त्री-पुत्र, माँ-बाप सब मिट गये! संसार सब मिट गया! मैं कहाँ जाऊँगा? मेरेको बचाओ! तात्पर्य है कि शक्तिपात करनेवाला भी मामूली नहीं होता और उसको सहनेवाला भी मामूली नहीं होता।

***प्रश्न*—**चेला इसलिये बनाते हैं कि कोई ईसाई या मुसलमान न बने; अतः चेला बनानेमें क्या दोष है?

***उत्तर*—**यह बिलकुल झूठी बात है! जो ईसाई या मुसलमान बनना चाहते हैं वे गुरुके पास आयेंगे ही नहीं! अगर चेला न बनानेके कारण कोई ईसाई या मुसलमान बन जाय तो गुरुको दोष नहीं लगेगा। परन्तु उसने चेला बनाकर उसको दूसरी जगह जानेसे रोक दिया और खुद उसका कल्याण नहीं कर सका—यह दोष तो उसको लगेगा ही। चेला बननेसे वह भगवान्‌के शरण न होकर गुरुके शरण हो गया, भगवान्‌के साथ सम्बन्ध न जोड़कर गुरुके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया—यह बड़ा भारी दोष है।

प्रश्न*—*'गुरु कीजै जान के, पानी पीजै छान के' तो गुरुको जाननेका उपाय क्या है? गुरुकी परीक्षा कैसे करें?

***उत्तर*—**गुरुकी परीक्षा आप नहीं कर सकते।

* यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ (गीता १८।१७)

अगर आप गुरुकी परीक्षा कर सकें तो आप गुरुके भी गुरु हो गये! जो गुरुकी परीक्षा कर सके, वह क्या गुरुसे छोटा होगा? परीक्षा करनेवाला तो बड़ा होता है। ऐसी स्थितिमें आपको चाहिये कि किसीको गुरु न बनाकर सत्संग-स्वाध्याय करो और उसमें जो अच्छी बातें मिलें, उनको धारण करो। जिनका संग करनेसे परमात्मप्राप्तिकी लगन बढ़ती हो, दुर्गुण-दुराचार स्वतः दूर होते हों और सद्गुण-सदाचार स्वतः आते हों, भगवान्की विशेष याद आती हो, भगवान्पर श्रद्धा-विश्वास बढ़ते हों, बिना पूछे ही शंकाओंका समाधान हो जाता हो और जो हमसे कुछ भी लेनेकी इच्छा न रखते हों, उन सन्तोंका संग करो। उनसे गुरु-शिष्यका सम्बन्ध जोड़े बिना उनसे लाभ लो। अगर वहाँ कोई दोष दीखे, कोई गड़बड़ी मालूम दे तो वहाँसे चल दो।

वास्तवमें परीक्षा गुरुकी नहीं होती, प्रत्युत अपनी होती है। इस विषयमें एक कहानी है। एक युवावस्थाके राजा थे। उन्होंने अपने राज्यके बड़े-बूढ़े और समझदार आदमियोंको बुलाया और उनसे पूछा कि आप सच्ची बात बताओ कि मेरे दादाजीका राज्य ठीक हुआ या मेरे पिताजीका राज्य ठीक हुआ अथवा मेरा राज्य ठीक हुआ? आपने तीनोंके राज्य देखें हैं तो किसका राज्य श्रेष्ठ हुआ? यह सुनकर सब चुप हो गये। तब उनमेंसे एक बूढ़ा आदमी बोला कि महाराज! हम आपकी प्रजा हैं, आप हमारे मालिक हो। आपकी बातका निर्णय हम कैसे करें? हम आपकी परीक्षा नहीं कर सकते, पर मेरी बात पूछें तो मैं अपनी बात बता सकता हूँ। राजाने कहा—अच्छा, तुम अपनी बात बताओ। वह बूढ़ा आदमी बोला कि जब आपके दादाजी राज्य करते थे, उस समय मैं बीस-पचीस वर्षका जवान था। हाथमें लाठी रखता था। कुश्ती करना, लाठी चलाना आदि सब मेरेको आता था। एक दिन मैं कहीं जा रहा था तो जंगलमें मैंने किसीके रोनेकी आवाज सुनी। आवाजसे पता चला कि कोई स्त्री रो रही है; क्योंकि स्त्रीका पंचम स्वर होता है, षड्ज स्वर नहीं होता। मैं उधर गया तो देखा कि अच्छे वस्त्रों एवं गहनोंसे सजी एक स्त्री बैठी रो रही है। मैंने पूछा कि तू रो क्यों रही है? तो वह मेरेको देखकर एकदम डर गयी। मैंने उसको आश्वासन दिया कि बेटी, तुम डरो मत, अपनी बात बताओ। उसने बताया कि मैं अपने सम्बन्धियोंके साथ पीहरसे ससुराल जा रही थी। बीचमें सहसा डाकू आ गये और उनके तथा हमारे साथियोंके बीच लड़ाई छिड़ गयी। मैं डरकर जंगलमें भाग गयी। अब मेरेको पता नहीं कि पीछे क्या हुआ? अब मैं कहाँ जाऊँ, क्या करूँ? मेरेको पता नहीं कि पीहर किधर है और ससुराल किधर है? मैंने उससे ससुरालका गाँव पूछा तो उसने गाँवका नाम बताया। मैंने कहा कि तेरे ससुरालका गाँव नजदीक ही है, मैं तेरेको पहुँचा दूँगा, डर मत। मैंने उसके ससुरका नाम पूछा तो उसने जमीनपर लिखकर बता दिया। मैंने कहा कि मैं तेरे ससुरको जानता हूँ। मैं पहुँचा दूँगा।

रात्रिका समय था। मैं उस स्त्रीको लेकर उसके ससुरके घर पहुँचा। वहाँ सब चिन्ता कर रहे थे कि हम तो डाकुओंके साथ लड़ाईमें लग गये, उन्होंने हमारी बहूको मार डाला होगा! उसका हजारों रुपयोंका गहना था, उसको लूट लिया होगा! अब उसका पता कैसे मिले? आदि-आदि। अपनी बहूको देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उस स्त्रीने भी घरकी स्त्रियोंसे कहा कि ये पिताकी तरह बड़े स्नेहपूर्वक, आदरपूर्वक मेरेको यहाँ लाये हैं। उन्होंने मेरेसे चार-पाँच सौ रुपये लेनेके लिये आग्रह किया तो मैंने कहा कि रुपयोंके लिये मैंने काम नहीं किया है, कोई मजदूरी नहीं की है, मैंने तो अपना कर्तव्य समझकर काम किया है। उनके बहुत आग्रह करनेपर भी मैंने कुछ लिया नहीं और चला गया। मेरे चित्तमें बड़ी प्रसन्नता रही कि आज मेरेसे एक अबलाकी सेवा बन गयी! यह उस समयकी बात है, जब आपके दादाजी राज्य करते थे।

बहुत समय बीतनेपर मेरे व्यापारमें घाटा लग गया

और पैसोंकी बड़ी तंगी हो गयी। तब मेरे मनमें विचार आया कि मैंने बड़ी गलती की कि उस स्त्रीको छोड़ दिया! अगर मैं उसको एक थप्पड़ लगाता तो दस-पन्द्रह हजारका गहना मिल जाता। फिर आज यह तंगी नहीं भोगनी पड़ती। उसके ससुरने रुपये दिये, पर वे भी मैंने नहीं लिये। पर अब क्या हो, बात हाथसे निकल गयी! यह उस समयकी बात है, जब आपके पिताजीका राज्य था। अब तो महाराज! आपके सामने कहनेसे मेरेको शर्म आती है; क्योंकि आप मेरे पोतेकी तरह हो। पर आप पूछते हो तो कहता हूँ। अब मेरे मनमें आती है कि उस स्त्रीको डरा-धमकाकर अथवा फुसलाकर अपनी स्त्री बना लेता तो स्त्री भी आ जाती और गहना भी आ जाता! आज इस अवस्थामें दोनों मेरे काम आते। मैंने अपनी बात कह दी। आपका राज्य कैसा है—यह मैं कैसे कहूँ? राजा समझ गया कि यह बूढ़ा बहुत बुद्धिमान् है! अपनी दशा कहकर बता दिया कि जैसा राजा होता है, वैसी प्रजा होती है—'***यथा राजा तथा प्रजा।***'

तात्पर्य है कि हम गुरुकी परीक्षा तो नहीं कर सकते, पर अपनी परीक्षा कर सकते हैं कि उनका संग करनेसे हमारे भावोंपर क्या असर पड़ा? हमारे आचरणोंपर क्या असर पड़ा? हमारे जीवनपर क्या असर पड़ा? हमारे राग-द्वेष, काम-क्रोध कितने कम हुए?

***प्रश्न*—**इतिहासमें ऐसे उदाहरण भी आते हैं, जिनसे गुरु बनाना अनिवार्य सिद्ध होता है?

***उत्तर*—**इतिहासके आधारपर सत्यका निर्णय नहीं हो सकता। इतिहासकी बात ठोस नहीं होती, पोली होती है। कारण कि किस व्यक्तिने पूर्वके किस सम्बन्धसे और किस परिस्थितिमें क्या किया और क्यों किया—इसका पूरा पता नहीं चल सकता। इसलिये इतिहासमें आयी अच्छी बातोंसे मार्गदर्शन तो हो सकता है, पर सत्यका निर्णय शास्त्रके विधि-निषेधसे ही हो सकता है। इतिहाससे विधि प्रबल है और विधिसे भी निषेध प्रबल है।

गुरु-सम्बन्धी अधिकतर बातोंका प्रचार उन्हीं लोगोंने किया है, जिनको गुरु बननेका शौक है। अत: वर्तमान कलियुगमें विशेष सावधानीकी जरूरत है।

संन्यासी साधकों और कीर्तनकारोंसे नम्र निवेदन

[यह लेख बहुत पहले 'कल्याण' के ९वें वर्षमें संवत् १९९१, सन् १९३४ में) प्रकाशित हुआ था। वर्तमान समयमें इसकी विशेष उपयोगिता देखते हुए इसे यहाँ दिया जा रहा है।]

श्रीपरमात्मदेव तथा उनके भक्तोंकी कृपा और आज्ञासे आज मैं यहाँ संन्यासी साधकोंके आचरण और कीर्तनके सम्बन्धमें उन भावोंको लिखनेकी चेष्टा करता हूँ जो मुझे प्रिय लगते हैं। यद्यपि मैं अपनेको लिखने और इस तरह उपदेश-आदेश देनेका किसी तरह भी अधिकारी नहीं मानता, और न मुझसे ऐसे आचरण पूरी तौरसे बनते ही हैं, तथापि मुझको ऐसे शास्त्रीय तथा संतोंके आदरणीय आचार-विचार कुछ प्रिय मालूम होते हैं, इसीलिये ऐसी चर्चामें समय बिताना अपना अहोभाग्य समझकर कुछ प्रयास कर रहा हूँ। आशा करता हूँ, मेरे अन्यान्य साधक भाई भी ऐसे विचार यदा-कदा प्रकट करेंगे; क्योंकि ऐसा करनेसे मुझ-सरीखे लोगोंको उनके विचार पढ़नेको मिलेंगे और उन भाइयोंका भी कुछ समय सच्चर्चामें बीतेगा। संत-महात्मा तथा शास्त्रोंके वचनोंके अनुसार सत्संगमें सुने हुए और ग्रन्थोंमें पढ़े हुए जो कुछ विचार मैं यहाँ लिखता हूँ, उनमें यदि कोई बात अनुचित हो तो विज्ञ महानुभाव अपना ही बालक समझकर मुझे क्षमा करनेकी कृपा करेंगे।

साधकको हर्ष, शोक, काम, क्रोध आदिसे अलग रहनेकी पूरी कोशिश करनी चाहिये। कम-से-कम इनके वशीभूत तो कभी नहीं होना चाहिये। उसमें भी

मुझ-जैसोंको तो राग-द्वेषस्वरूप कामिनी और कांचनसे उसी तरह डरना चाहिये जैसे साधारण लोग भूत, प्रेत, सर्प, व्याघ्रादिसे डरते हैं और यह समझना चाहिये कि जिस क्षण कामिनी-कांचनमें संन्यासी साधककी आसक्ति हुई कि बस, उसी क्षण उसका पतन हो गया।

यह कभी नहीं समझना चाहिये कि राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि अन्त:करणके धर्म हैं। ये धर्म नहीं हैं, विकार हैं। जो इनको अन्त:करणके धर्म समझ लेता है वह शरीर-नाश होनेतक अन्त:करण रहनेके कारण इनका भी रहना अनिवार्य मानता है; फलत: वह अपनेको ज्ञानी मानकर भी ऐसा समझ लेता है कि राग-द्वेष, काम-क्रोधादि तो जबतक अन्त:करण है तबतक रहेंगे ही, मेरा इनसे क्या सम्बन्ध है? वास्तवमें ऐसा समझना भ्रम ही है। जो ऐसा समझता है और राग-द्वेष, काम-क्रोध आदिसे बचनेकी कोशिश नहीं करता, वह ज्ञानी तो दूर रहा, अच्छा साधक भी नहीं है।

यह निश्चय समझ रखना चाहिये कि सच्चे ज्ञानीमें वस्तुत: काम-क्रोध आदि दोष रहते ही नहीं। जिसे खूब अच्छा बोलना आता है, जो शास्त्रवाक्योंद्वारा ब्रह्मका सुन्दर निरूपण कर सकता है अथवा जो ज्ञानपर अच्छे-अच्छे तर्कप्रधान निबन्ध लिख सकता है, वह ज्ञानी ही है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। ये सब बातें तो ग्रन्थोंके पढ़नेसे हो सकती हैं। नाटकमें भी शुकदेवका पार्ट किया जा सकता है। ज्ञानी तो वह है जो अज्ञानके समुद्रसे सर्वथा तर गया। राग-द्वेष, काम-क्रोधादि अज्ञानमें ही हैं। ज्ञानमें तो इनका लेश भी नहीं।

जो लोग वास्तविक ब्राह्मी स्थितितक पहुँचनेसे पहले ही केवल पुस्तकीय ज्ञानके आधारपर अपनेको ज्ञानी मान बैठते हैं और विधि-निषेधसे मुक्त समझकर साधन छोड़ बैठते हैं, वे प्राय: गिर ही जाते हैं। क्योंकि जबतक अज्ञान है तबतक इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्ति है ही, और पाप होनेमें प्रधान कारण भोगोंकी आसक्ति ही है। फिर, जहाँ काम-क्रोधादि ही अन्त:करणके अनिवार्य धर्म मान लिये जायँ, वहाँ तो कहना ही क्या? अतएव मुझ-जैसे साधकोंको तो बड़ी ही सावधानीके साथ दुर्गुणोंसे बचते रहनेका पूरा ध्यान रखना चाहिये। अपनेको राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभादि दोषोंसे हरदम बचाते रहना चाहिये। संन्यासाश्रममें तो साधकको कभी भूलकर भी स्त्री और धनके साथ किसी प्रकार भी सम्बन्ध न जोड़ना चाहिये। इनका संग ही न करना चाहिये। जो सिद्ध महापुरुष हैं, उनमें तो कोई ऐसा दोष रह ही नहीं सकता।

यह स्मरण रखना चाहिये कि ढोंगी ज्ञानीकी अपेक्षा अज्ञानी रहना अच्छा है; उसको पापोंसे डर तो रहता है। ढोंगी तो जान-बूझकर ढोंगकी रक्षाके लिये भी पाप करता है। अतएव ढोंगको कभी कल्पनामें भी न आने देना चाहिये; सच्चा संन्यासी बनना चाहिये। और—

यावदायुस्त्वया वन्द्यो वेदान्तो गुरुरीश्वरः।
मनसा कर्मणा वाचा श्रुतेरेवैष निश्चयः॥

(तत्त्वोपदेश ८६)

—आचार्यचरणोंकी इस उक्तिके अनुसार शास्त्रकी विधिको सर्वदा मानते रहना चाहिये। संन्यासीके पालन करनेयोग्य कुछ धर्म ये हैं—गृहस्थोंका संग न करे। स्त्रीकी तो तस्वीर भी न देखे। धनका स्पर्श न करे। किसीके साथ कोई नाता न जोड़े। किसी भी विषयमें ममत्व न करे। मान-बड़ाई स्वीकार न करे। वैराग्यकी बड़ी सावधानीसे रक्षा करे। इन्द्रियोंको संयममें रखे। वस्तुओंका संग्रह न करे। जमात न बनावे। घर न बाँधे। व्यर्थ न बोले। ब्रह्मचर्य धारण करे। काम-क्रोध-लोभादिसे सदा मुक्त रहे। किसीसे द्वेष न करे। किसीमें राग न करे। नित्य आत्मचिन्तन या भगवत्स्मरणमें ही लगा रहे।

जो संन्यासी अपने इस संन्यास-धर्मका पालन नहीं करता वह प्राय: गिर जाता है। अतएव अपने आश्रमधर्मका पूरा पालन करना चाहिये। विधि-निषेधसे परे पहुँचे हुए महापुरुषोंके द्वारा भी लोकसंग्रहार्थ

आदर्श शुभ कर्म ही हुआ करते हैं।

अगर भक्त बननेकी चाह हो तो भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌का सतत भजन करते रहना चाहिये। धन, मान, बड़ाई आदिकी चाहको मनमें न आने देना चाहिये। लोग भक्त समझें या कहें, इस बातकी परवा छोड़ ही देनी चाहिये। भगवान्‌का नाम और गुणकीर्तन प्रेमसे करते रहना चाहिये। जहाँतक बने, अपनी भक्तिको प्रकट नहीं होने देना चाहिये। लोग हमारी पूजा करें, हमारा सम्मान करें, ऐसा अवसर ही नहीं आने देना चाहिये। मान-बड़ाईसे सदा सावधानीसे बचते रहना चाहिये। स्त्रीका और स्त्रीसंगियोंका संग तो कभी नहीं करना चाहिये। धनका लोभ मनमें न आने देना चाहिये। प्रतिष्ठाको तो शूकरीविष्ठा ही समझना चाहिये।

कीर्तन करना चाहिये, खूब कीर्तन करना चाहिये; परंतु करना चाहिये श्रीभगवान्‌के प्रीत्यर्थ, लोकरंजनके लिये नहीं। लोकरंजनका कीर्तन बाह्य हो जायगा। कीर्तन करनेवालेके मनमें यह दृढ़ भाव निश्चयरूपसे होना चाहिये कि मेरे भगवान् निश्चय ही यहाँ मौजूद हैं और मैं उन्हींके सामने उन्हींके प्रीत्यर्थ उनके नाम-गुण गा रहा हूँ। भगवान्‌के नाम-गुणोंके अर्थका चिन्तन करते हुए—भगवान्‌का ध्यान करते हुए कीर्तनमें मस्त होना चाहिये। यदि ऐसा भाव न हो तो इस प्रकारका अभ्यास ही करना चाहिये। परंतु ऐसा कभी न सोचना चाहिये कि मेरे इस कीर्तनसे लोगोंको—देखने-सुननेवालोंको प्रसन्नता हुई या नहीं, उनका मन मेरी ओर आकर्षित हुआ या नहीं। भगवान्‌के नाममें श्रद्धा कीजिये, प्रेम कीजिये और श्रद्धा तथा प्रेममें सानकर ही भगवान्‌के नामका उच्चारण कीजिये। फिर आपके मुखसे निकला हुआ एक ही नाम चमत्कार उत्पन्न कर देगा। श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुके श्रीमुखसे निकला हुआ एक ही नाम सुननेवालेको पागल कर देता था; क्योंकि उस नामके साथ श्रीचैतन्यकी प्रेमशक्ति भरी रहती थी।

एक बात और याद रखनी चाहिये। भगवान्‌का कीर्तन करनेवालोंको सदाचारी होना ही चाहिये, दैवी सम्पत्तिवान् बनना ही चाहिये। जो भगवान्‌का नाम लेकर नाचता-गाता है, परंतु जिसके आचरण शुद्ध नहीं हैं, उससे जनतापर अच्छा असर नहीं पड़ता। लोग उसको आदर्श मानकर आचरणोंकी ओर ध्यान नहीं देते, जिससे दूसरे लोगोंको कीर्तन तथा कीर्तन करनेवालोंपर, यहाँतक कि उनके कीर्तनीय भगवान्‌पर भी आक्षेप करनेका अवसर मिल जाता है। अतएव हमें अपनी जिम्मेवारी समझनी चाहिये। कहीं हमारे आचरणसे पवित्र संकीर्तन और हमारे भगवान्‌पर कोई कलंक न लगाने पाये। वास्तवमें पवित्र संकीर्तन और भगवान्‌पर तो कलंक लग ही नहीं सकता; तथापि कहनेके लिये भी हमारे दोषसे ऐसा क्यों होना चाहिये?

आचरण शुद्ध नहीं है तो भी कीर्तन करना चाहिये, परंतु एकान्तमें। आचरणोंकी शुद्धिके लिये भगवान्‌के सामने रोना चाहिये। भगवान्‌से भीख माँगनी चाहिये। परंतु सावधान! संकीर्तनके नामपर दुराचरणको कभी छिपाना नहीं चाहिये और दुराचारका समर्थन तो किसी भी हालतमें नहीं करना चाहिये।

संकीर्तनके नामपर वर्ण और आश्रमके कर्मोंकी अवहेलना या उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिये। स्वधर्मको पालते हुए ही कीर्तन करना चाहिये। ज्ञानकी, वैराग्यकी, सदाचारकी, वर्णाश्रमधर्मकी और संध्या-गायत्रीकी संकीर्तनके नामपर कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये; बल्कि इनको अवश्यपालनीय समझना चाहिये, इन सबका आदर करना चाहिये और यथायोग्य शास्त्रविधानके अनुसार पालन करना चाहिये।

संकीर्तनके नामपर पक्षपात या भगवान्‌के नामोंमें ऊँच-नीच-बुद्धि और दलबंदी नहीं करनी चाहिये। संकीर्तनका संगठन अवश्य करना चाहिये, परंतु दलबंदी नहीं। सरल पवित्र निष्कपट निष्काम अनन्य प्रेमभावसे भगवान्‌के पवित्र नामोंको स्वयं गाना चाहिये और दूसरोंको ऐसा करनेके लिये प्रेरणा करनी चाहिये। परंतु यथासाध्य उपदेशक, नेता अथवा

आचार्य नहीं बनना चाहिये। पूजा, सत्कार, मान, बड़ाई आदिसे सदा अपनेको बचाते रहना चाहिये। धन और स्त्रीके लालचमें तो कभी पड़ना ही नहीं चाहिये।

संकीर्तनके समय मुक्तकण्ठसे भगवान्‌के नामोंका घोष करना चाहिये। ज्ञान, विद्वत्ता, पद, धन आदिके अभिमानमें चुप नहीं बैठ रहना चाहिये। खड़ा कीर्तन होता हो तो संकोच छोड़कर खड़े हो जाना चाहिये। कहीं हमारे किसी आचरणसे भगवन्नामसंकीर्तनका अपमान न हो जाय। परंतु नाचना चाहिये प्रेमावेश होनेपर ही, लोग-दिखाऊ नहीं। कलाका नृत्य दूसरी चीज है एवं प्रेममय भगवन्नामकीर्तनका दूसरी।

याद रखना चाहिये, भगवन्नामकीर्तन बहुत ही आदरणीय और ऊँचा साधन है। इसका ऊँची-से-ऊँची भावनासे साधन करना चाहिये; ऊँचे-से-ऊँचे आचरणोंसे युक्त होकर कीर्तन करना चाहिये। पवित्र पुरुषोंद्वारा किये हुए भगवन्नामकीर्तनकी ध्वनि जहाँतक पहुँचेगी वहाँतकके समस्त जीवोंका अनायास ही कल्याण हो सकता है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कहानियाँ (आदर्श कहानियाँ)

१. भगवान्‌की कृपा

एक राजा था। उसका मन्त्री भगवान्‌का भक्त था। कोई भी बात होती तो वह यही कहता कि भगवान्‌की बड़ी कृपा हो गयी! एक दिन राजाके बेटेकी मृत्यु हो गयी। मृत्युका समाचार सुनते ही मन्त्री बोल उठा—भगवान्‌की बड़ी कृपा हो गयी! यह बात राजाको बुरी तो लगी, पर वह चुप रहा। कुछ दिनोंके बाद राजाकी पत्नीकी भी मृत्यु हो गयी। मन्त्रीने कहा—भगवान्‌की बड़ी कृपा हो गयी! राजाको गुस्सा आया, पर उसने गुस्सा पी लिया, कुछ बोला नहीं। एक दिन राजाके पास एक नयी तलवार बनकर आयी। राजा अपनी अँगुलीसे तलवारकी धार देखने लगा तो धार बहुत तेज होनेके कारण चट उसकी अँगुली कट गयी! मन्त्री पासमें ही खड़ा था। वह बोला—भगवान्‌की बड़ी कृपा हो गयी! अब राजाके भीतर जमा गुस्सा बाहर निकला और उसने तुरन्त मन्त्रीको राज्यसे बाहर निकल जानेका आदेश दे दिया और कहा कि मेरे राज्यमें अन्न-जल ग्रहण मत करना। मन्त्री बोला—भगवान्‌की बड़ी कृपा हो गयी! मन्त्री अपने घरपर भी नहीं गया, साथमें कोई वस्तु भी नहीं ली और राज्यके बाहर निकल गया।

कुछ दिन बीत गये। एक बार राजा अपने साथियोंके साथ शिकार खेलनेके लिये जंगल गया। जंगलमें एक सूअरका पीछा करते-करते राजा बहुत दूर घने जंगलमें निकल गया। उसके सभी साथी बहुत पीछे छूट गये। वहाँ जंगलमें डाकुओंका एक दल रहता था। उस दिन डाकुओंने काली देवीको एक मनुष्यकी बलि देनेका विचार किया हुआ था।

संयोगसे डाकुओंने राजाको देख लिया। उन्होंने राजाको पकड़कर बाँध दिया। अब उन्होंने बलि देनेकी तैयारी शुरू कर दी। जब पूरी तैयारी हो गयी, तब डाकुओंके पुरोहितने राजासे पूछा—तुम्हारा बेटा जीवित है? राजा बोला—नहीं, वह मर गया। पुरोहितने कहा कि इसका तो हृदय जला हुआ है। पुरोहितने फिर पूछा—तुम्हारी पत्नी जीवित है? राजा बोला—वह भी मर चुकी है। पुरोहितने कहा कि यह तो आधे अंगका है। अतः यह बलिके योग्य नहीं है। परन्तु हो सकता है कि यह मरनेके भयसे झूठ बोल रहा हो! पुरोहितने राजाके शरीरकी जाँच की तो देखा कि उसकी अँगुली कटी हुई है। पुरोहित बोला—अरे! यह तो अंग-भंग है, बलिके योग्य नहीं है! छोड़ दो इसको! डाकुओंने राजाको छोड़ दिया।

राजा अपने घर लौट आया। लौटते ही उसने अपने आदमियोंको आज्ञा दी कि हमारा मन्त्री जहाँ भी हो, उसको तुरन्त ढूँढ़कर हमारे पास लाओ। जबतक मन्त्री वापस नहीं आयेगा, तबतक मैं अन्न ग्रहण नहीं करूँगा। राजाके आदमियोंने मन्त्रीको ढूँढ़ लिया और उससे तुरन्त राजाके पास वापस चलनेकी प्रार्थना की। मन्त्रीने कहा—भगवान्‌की बड़ी कृपा हो गयी! मन्त्री राजाके सामने उपस्थित हो गया। राजाने बड़े आदरपूर्वक मन्त्रीको बैठाया और अपनी भूलपर पश्चात्ताप करते हुए जंगलवाली घटना सुनाकर कहा कि 'पहले मैं तुम्हारी बातको समझा नहीं। अब समझमें आया कि भगवान्‌की मेरेपर कितनी कृपा थी! भगवान्‌की कृपासे अगर मेरी अँगुली न कटती तो उस दिन मेरा गला कट जाता! परन्तु जब मैंने तुम्हें राज्यसे निकाल दिया, तब तुमने कहा कि भगवान्‌की बड़ी कृपा हो गयी तो वह कृपा क्या थी, यह अभी मेरी समझमें नहीं आया! मन्त्री बोला—महाराज, जब आप शिकार करने गये, तब मैं भी आपके साथ जंगलमें जाता। आपके साथ मैं भी जंगलमें बहुत दूर निकल जाता; क्योंकि मेरा घोड़ा आपके घोड़ेसे कम तेज नहीं है। डाकूलोग आपके साथ मेरेको भी पकड़ लेते। आप तो अँगुली कटी होनेके कारण बच गये, पर मेरा तो उस दिन गला कट ही जाता! इसलिये भगवान्‌की कृपासे मैं आपके साथ नहीं था, राज्यसे बाहर था; अतः मरनेसे बच गया। अब मैं पुनः अपनी जगह वापस आ गया हूँ। यह भगवान्‌की कृपा ही तो है!

२. पापका फल भोगना ही पड़ता है

मनुष्यको ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि मेरा पाप तो कम था पर दण्ड अधिक भोगना पड़ा अथवा मैंने पाप तो किया नहीं पर दण्ड मुझे मिल गया! कारण कि यह सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वसमर्थ भगवान्‌का विधान है कि पापसे अधिक दण्ड कोई नहीं भोगता और जो दण्ड मिलता है, वह किसी-न-किसी पापका ही फल होता है। एक सुनी हुई घटना है। किसी गाँवमें एक सज्जन रहते थे। उनके घरके सामने एक सुनारका घर था। सुनारके पास सोना आता रहता था और वह गढ़कर देता रहता था। ऐसे वह पैसे कमाता था। एक दिन उसके पास अधिक सोना जमा हो गया। रात्रिमें पहरा लगानेवाले सिपाहीको इस बातका पता लग गया। उस पहरेदारने रात्रिमें उस सुनारको मार दिया और जिस बक्सेमें सोना था, उसे उठाकर चल दिया। इसी बीच सामने रहनेवाले सज्जन लघुशंकाके लिये उठकर बाहर आये। उन्होंने पहरेदारको पकड़ लिया कि तू इस बक्सेको कैसे ले जा रहा है? तो पहरेदारने कहा—'तू चुप रह, हल्ला मत कर। इसमेंसे कुछ तू ले ले और कुछ मैं ले लूँ।' सज्जन बोले—'मैं कैसे ले लूँ? मैं चोर थोड़े ही हूँ!' पहरेदारने कहा—'देख, तू समझ जा, मेरी बात मान ले, नहीं तो दुःख पायेगा।' पर वे सज्जन माने नहीं। तब पहरेदारने बक्सा नीचे रख दिया और उस सज्जनको पकड़कर जोरसे सीटी बजा दी। सीटी सुनते ही और जगह पहरा लगानेवाले सिपाही दौड़कर वहाँ आ गये। उसने सबसे कहा कि 'यह इस घरसे बक्सा लेकर आया है और मैंने इसको पकड़ लिया है।' तब सिपाहियोंने घरमें घुसकर देखा कि सुनार मरा पड़ा है। उन्होंने उस सज्जनको पकड़ लिया और राजकीय आदमियोंके हवाले कर दिया। जजके सामने बहस हुई तो उस सज्जनने कहा कि 'मैंने नहीं मारा है, उस पहरेदार सिपाहीने मारा है।' सब सिपाही आपसमें मिले हुए थे, उन्होंने कहा कि 'नहीं इसीने मारा है, हमने खुद रात्रिमें इसे पकड़ा है', इत्यादि।

मुकदमा चला। चलते-चलते अन्तमें उस सज्जनके लिये फाँसीका हुक्म हुआ। फाँसीका हुक्म होते ही उस सज्जनके मुखसे निकला—'देखो, सरासर अन्याय हो रहा है! भगवान्‌के दरबारमें कोई न्याय नहीं! मैंने मारा नहीं, मुझे दण्ड हो और जिसने मारा है, वह बेदाग छूट जाय, जुर्माना भी नहीं; यह अन्याय है!' जजपर उसके वचनोंका असर पड़ा कि वास्तवमें यह सच्चा बोल रहा है, इसकी किसी तरहसे जाँच होनी चाहिये। ऐसा विचार करके उस जजने एक षड्यन्त्र रचा।

सुबह होते ही एक आदमी रोता-चिल्लाता हुआ आया और बोला—'हमारे भाईकी हत्या हो गयी, सरकार! इसकी जाँच होनी चाहिये।' तब जजने उसी सिपाहीको और कैदी सज्जनको मरे व्यक्तिकी लाश उठाकर लानेके लिये भेजा। दोनों उस आदमीके साथ वहाँ गये, जहाँ लाश पड़ी थी। खाटपर लाशके ऊपर कपड़ा बिछा था। खून बिखरा पड़ा था। दोनोंने उस खाटको उठाया और उठाकर ले चले। साथका दूसरा आदमी खबर देनेके बहाने दौड़कर आगे चला गया। तब चलते-चलते सिपाहीने कैदीसे कहा—'देख, उस दिन तू मेरी बात मान लेता तो सोना मिल जाता और फाँसी भी नहीं होती, अब देख लिया सच्चाईका फल?' कैदीने कहा—'मैंने तो अपना काम सच्चाईका ही किया था, फाँसी हो गयी तो हो गयी! हत्या की तूने और दण्ड भोगना पड़ा मेरेको! भगवान्‌के यहाँ न्याय नहीं!'

खाटपर झूठमूठ मरे हुएके समान पड़ा हुआ आदमी उन दोनोंकी बातें सुन रहा था। जब जजके सामने खाट रखी गयी तो खूनभरे कपड़ेको हटाकर वह उठ खड़ा हुआ और उसने सारी बात जजको बता दी कि रास्तेमें सिपाही यह बोला और कैदी यह

बोला। यह सुनकर जजको बड़ा आश्चर्य हुआ। सिपाही भी हक्का-बक्का रह गया। सिपाहीको पकड़कर कैद कर लिया गया। परन्तु जजके मनमें सन्तोष नहीं हुआ। उसने कैदीको एकान्तमें बुलाकर कहा कि 'इस मामलेमें तो मैं तुम्हें निर्दोष मानता हूँ, पर सच-सच बताओ कि इस जन्ममें तुमने कोई हत्या की है क्या?' वह बोला—बहुत पहलेकी घटना है। एक दुष्ट था, जो छिपकर मेरे घर मेरी स्त्रीके पास आया करता था। मैंने अपनी स्त्रीको तथा उसको अलग-अलग खूब समझाया, पर वह माना नहीं। एक रात वह घरपर था और अचानक मैं आ गया। मेरेको गुस्सा आया हुआ था। मैंने तलवारसे उसका गला काट दिया और घरके पीछे जो नदी है, उसमें फेंक दिया। इस घटनाका किसीको पता नहीं लगा। यह सुनकर जज बोला—'तुम्हारेको इस समय फाँसी होगी ही; मैंने भी सोचा कि मैंने किसीसे घूस (रिश्वत) नहीं खायी, कभी बेईमानी नहीं की, फिर मेरे हाथसे इसके लिये फाँसीका हुक्म लिखा कैसे गया? अब सन्तोष हुआ। उसी पापका फल तुम्हें यह भोगना पड़ेगा। सिपाहीको अलग फाँसी होगी।'

[उस सज्जनने चोर सिपाहीको पकड़कर अपने कर्तव्यका पालन किया था। फिर उसको जो दण्ड मिला है, वह उसके कर्तव्य-पालनका फल नहीं है, प्रत्युत उसने बहुत पहले जो हत्या की थी, उस हत्याका फल है। कारण कि मनुष्यको अपनी रक्षा करनेका अधिकार है, मारनेका अधिकार नहीं। मारनेका अधिकार रक्षक क्षत्रियका, राजाका है। अतः कर्तव्यका पालन करनेके कारण उस पाप-(हत्या-) का फल उसको यहीं मिल गया और परलोकके भयंकर दण्डसे उसका छुटकारा हो गया। कारण कि इस लोकमें जो दण्ड भोग लिया जाता है, उसका थोड़ेमें ही छुटकारा हो जाता है, थोड़ेमें ही शुद्धि हो जाती है, नहीं तो परलोकमें बड़ा भयंकर (ब्याजसहित) दण्ड भोगना पड़ता है।]

इस कहानीसे यह पता लगता है कि मनुष्यके कब किये हुए पापका फल कब मिलेगा—इसका कुछ पता नहीं। भगवान्‌का विधान विचित्र है। जबतक पुराने पुण्य प्रबल रहते हैं तबतक उग्र पापका फल भी तत्काल नहीं मिलता। जब पुराने पुण्य खत्म होते हैं, तब उस पापकी बारी आती है। पापका फल (दण्ड) तो भोगना ही पड़ता है, चाहे इस जन्ममें भोगना पड़े या जन्मान्तरमें।

३. आँख और पेटकी बीमारी

सभी मनुष्योंमें दो तरहकी बीमारी है—आँखकी बीमारी और पेटकी बीमारी। आँखकी बीमारी क्या है?—

इस दुनियामें एक अँधेरा, सबकी आँखमें जो छाया।
जिसके कारण सूझ पड़े नहीं, कौन हूँ मैं कहाँ से आया।
कौन दिशा को जाना मुझको, किसको देख मैं ललचाया।
कौन है मालिक इस दुनियाका, किसने रची है यह माया।

और पेटकी बीमारी क्या है?—

इस दुनियामें एक कूप है, जिसका पार कोई नहीं पावै।
जिसको भरने कारण प्राणी, देश दिगन्तर को जावै।
दीन भये पर घर में जाकर, सेवा कर कर मर जावै।
भजन ध्यान चिन्तन ईश्वरका, जिसके कारण बिसरावै।

इस विषयमें एक कहानी है। एक वैद्य थे। उनके पास एक रोगी पहुँचा। उसने वैद्यसे कहा कि मेरी आँखमें बड़ी पीड़ा हो रही है और पेटमें भी पीड़ा हो रही है। वैद्यने उसको लिटाकर उसका पेट देखा और आँख देखी। इतनेमें एक दूसरा रोगी आया। उसने भी कहा कि मेरी आँखमें और पेटमें बड़ी पीड़ा हो रही है। वैद्यने विचार किया कि यह कैसी हवा चली है, सबको एक ही बीमारी! वैद्यने दोनों रोगियोंके लिये अलग-अलग दवा लिख दी और कहा कि कम्पाउण्डरसे दवा ले लो। कम्पाउण्डरने

दोनोंको दवाकी दो-दो पुड़िया बनाकर दे दीं, एक आँखके लिये और एक पेटके लिये। वैद्यने समझा दिया कि देखो, यह आँखमें डालनेकी पुड़िया है। इसको रातमें सोते समय आँखमें डालना और बार-बार पलक झपकाना, जिससे आँखसे गरम-गरम पानी निकल जायगा। फिर सो जाना। इससे आँख ठीक हो जायगी। यह दूसरी पुड़िया पेटके लिये है। इसको एक पाव जलमें डालकर आगपर रख देना। जब जल एक छटाक रह जाय, तब वह काढ़ा छानकर पी लेना। इससे पेट ठीक हो जायगा और दस्त लगनेसे आँखमें भी लाभ होगा।

दोनों रोगी दवा लेकर चले गये। घर जाकर एक रोगीने तो ठीक वैसा ही किया, जैसा वैद्यने कहा था। आँखकी दवा आँखमें डाल दी और पेटकी दवा पेटमें। परन्तु दूसरे रोगीने पुड़िया उलट दी! उसने पेटकी दवा आँखमें डाल दी और आँखकी दवा पेटमें डाल दी। आँखमें थोड़ा-सा कचरा भी पड़ जाय तो पीड़ा होने लगती है, पर उसने पेटका चूर्ण आँखमें डाल दिया! इससे आँखकी पीड़ा बढ़ गयी! आँखकी दवा ठण्डी होती है, वह पेटमें चली गयी तो पेटकी पीड़ा भी बढ़ गयी! अब वह वैद्यको गाली देने लगा कि तेरे बापको मैंने मारा था क्या? वह तो अपनी मौत मरा था। फिर मेरेसे किस दिनका बदला लिया है! दूसरे दिन वह दवाखाना खुलनेसे पहले ही वहाँ जा बैठा। वैद्यजी आये और दवाखाना खोलकर उससे पूछा—कहो, कैसे हो?

वह बोला—कैसे क्या हूँ!

वैद्यने कहा—अरे, क्या हुआ?

वह बोला—हुआ क्या, जो तुमने किया, वही हुआ!

वैद्यने कहा—हमने क्या किया?

वह बोला—ऐसी दवा दे दी कि मेरी आँखकी पीड़ा भी बढ़ गयी और पेटकी पीड़ा भी बढ़ गयी! साफ कह देते कि मैं दवा नहीं देता! मेरे पास ज्यादा रुपया तो है नहीं, इसलिये उलटी दवा दे दी।

वैद्यने कहा—भाई, पीड़ा कैसे बढ़ गयी? किसी आदमीको दवा जल्दी असर करती है, किसीको नहीं करती, यह तो अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार होता है, पर पीड़ा बढ़नेका तो कोई कारण ही नहीं है!

वह बोला—मैं तो भुक्तभोगी हूँ, मेरी पीड़ा तो बढ़ गयी! इतनेमें दूसरा रोगी आया। वैद्यने उससे पूछा—कहो, तुम कैसे हो? वह बोला—महाराज, बहुत आराम है। एक-दो दस्त लगे, पेट भी ठीक है और आँखें भी ठीक हैं। यह सुनते ही पहला रोगी बोला—देखो, यह पैसेवाला आदमी है, इसको तो बढ़िया दवा दे दी, मेरेको घटिया दे दी! वैद्यने कहा—घटिया कैसे दे दी? जो दवा उसको दी, वही तुमको भी दी। तुम्हारी पुड़िया कैसी थी? रोगीने जेबसे चूर्णकी पुड़िया निकालकर वैद्यके सामने पटक दी और बोला—यह है वह पुड़िया। वैद्यने कहा—दूसरी पुड़िया? वह बोला—दूसरी तो मैं काढ़ा बनाकर पी गया! यह पुड़िया आँखमें डाली थी, दवा ज्यादा थी, इसलिये बच गयी। वैद्यने कहा कि इसको निकालो यहाँसे! उलटी दवा तो यह खुद लेता है और कहता है कि तुमने मेरी पीड़ा बढ़ा दी!

इसी तरह हम सब लोग रोगी हैं। हमारी आँखकी बीमारी क्या है? वास्तविक बात सूझती नहीं है। खुद तो जानते नहीं, दूसरेकी मानते नहीं। जो अधूरा जानते हैं, उसीको पूरा मान लेते हैं कि बस, यही ठीक है। पेटकी बीमारी क्या है? पेट कभी भरता ही नहीं! दरिद्रका भी पेट नहीं भरता और लखपति-करोड़पतिका भी पेट नहीं भरता। कितना ही मिल जाय तो भी कहते हैं कि क्या करें, काम नहीं चलता। इन दोनों रोगोंके लिये भगवान्‌ने हमें दो पुड़िया दी हैं—प्रारब्ध और पुरुषार्थ। आँखकी बीमारीके लिये 'पुरुषार्थ' है और पेटकी बीमारीके लिये 'प्रारब्ध' है। पुरुषार्थ करेंगे, सत्संग-स्वाध्याय, विवेक-विचार करेंगे तो आँखका रोग दूर होगा और अपने कर्तव्यका पालन करते हुए

प्रारब्धपर विश्वास करेंगे कि जो हमारे भाग्यमें लिखा है, वही मिलेगा* तो पेटका रोग दूर होगा।

प्रारब्ध शोक-चिन्ता मिटानेके लिये है, आलसी-अकर्मण्य बनानेके लिये नहीं। जैसे, बेटा बीमार हो तो अपनी सामर्थ्यके अनुसार उसका भलीभाँति इलाज करते-करते अगर वह मर जाय तो मनमें इस बातको लेकर चिन्ता, शोक, दुःख नहीं होगा कि हमने अपनी तरफसे उसके इलाजमें कमी रखी। बेटा तो प्रारब्धके अनुसार ही मरेगा, पर अपने पुरुषार्थमें कमी होगी तो चिन्ता, शोक, दुःख होगा कि हमने अपने कर्तव्यका ठीक पालन नहीं किया! इसलिये जो करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहते हैं, उनकी आँखका रोग भी ठीक हो जाता है और पेटका रोग भी। परन्तु जो पुड़िया उलट देते हैं अर्थात् आँखके रोगके लिये प्रारब्ध और पेटके रोगके लिये पुरुषार्थ लगा देते हैं, उनके ये दोनों ही रोग बढ़ जाते हैं। ऐसे लोगोंसे सत्संग-स्वाध्याय, भजन-ध्यान करनेके लिये कहा जाय तो वे कहते हैं कि कैसे करें महाराज! हमारे तो भाग्यमें ही नहीं है। प्रारब्धसे मिलनेवाले धनके लिये रात-दिन पुरुषार्थमें लगे रहते हैं। सारा पुरुषार्थ पेटके लिये लगा देते हैं और आँखके लिये कुछ करते ही नहीं! भगवान्का नाम लेनेके लिये कहो तो कहते हैं कि नाम कैसे लें, मुखमें सौ मनका ताला लगा है! नाम लेना हमारे भाग्यमें लिखा ही नहीं है! भगवान्की ऐसी ही मरजी है, हम क्या करें? हमारा क्या दोष है?

अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिका प्राप्त होना 'प्रारब्ध'के अधीन है और प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करना 'पुरुषार्थ'के अधीन है। इसलिये कर्तव्य-पालन, सत्संग-स्वाध्याय, भजन-ध्यान आदि करनेमें तो मनुष्य स्वतन्त्र है, पर धन कमानेमें स्वतन्त्र नहीं है। मनुष्य यह नियम तो ले सकता है कि मैं रोजाना इतनी माला जप करूँगा, इतना स्वाध्याय करूँगा, पर यह नियम नहीं ले सकता कि मैं रोजाना इतने रुपये कमाऊँगा। कारण कि भजन-ध्यान आदि करना पुरुषार्थके अधीन है और रुपये कमाना प्रारब्धके अधीन है। परन्तु जहाँ पुरुषार्थ लगाना चाहिये, वहाँ प्रारब्ध लगा दिया और जहाँ प्रारब्ध लगाना चाहिये, वहाँ पुरुषार्थ लगा दिया। इससे दोनों बीमारियाँ बढ़ गयीं। पेटकी बीमारी बढ़नेसे जीवन-निर्वाहका खर्चा बहुत बढ़ गया। पढ़ाई-लिखाईमें, खान-पानमें, स्वाद-शौकीनीमें, रहन-सहनमें खर्चा बढ़ गया और कहते हैं कि स्टैण्डर्ड ऊँचा होना चाहिये! सारा पुरुषार्थ स्टैण्डर्ड ऊँचा करनेमें, पेट भरनेमें लगा दिया और आँखसे कुछ दीखता ही नहीं है कि भगवान् क्या हैं? संसार क्या है? मैं कौन हूँ? मेरेको क्या करना है? रात-दिन 'हाय पैसा! हाय पैसा!' करते हैं। अगर 'हाय भगवन्! हाय भगवन्!' करें तो निहाल हो जायँ!

जिस लगनसे धन कमाते हैं, उस लगनसे साधन करें तो कल्याण हो जाय! परन्तु साधनकी यह दशा है कि नित्य नियम पूरा हुआ तो सोचते हैं कि आजकी आफत तो मिटी! माला पूरी हुई तो मानो जेलसे छूट गये! दूकानमें रोज सौ रुपये कमाते हैं और वे सौ रुपये अगर सुबह ही पैदा हो जायँ तो भी दूकान दिनभर खोलकर बैठे रहेंगे। पर जप पूरा हो जाय तो माला लपेटकर रख देंगे! यह क्या है? यह उलटी पुड़िया ले ली। इसलिये जो मिला है, उसमें सन्तोष करें; जो नहीं मिला है, उसकी कामना न करें; अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन करें, दूसरोंकी सेवा करें और भगवान्का भजन-स्मरण, सत्संग-स्वाध्याय करें तो आँखकी पीड़ा भी ठीक हो जायगी और पेटकी पीड़ा भी।

---

* यद् भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा। इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते॥

'जो नहीं होनेवाला है, वह होगा नहीं और जो होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा। चिन्तारूपी विषय नाश करनेवाली इस औषधका पान क्यों न किया जाय?'

प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा सरीर। तुलसी चिन्ता क्यों करे भज ले श्रीरघुबीर॥

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥ (मानस, बाल० ५२।४)

४. सन्तको कैसे पहचानें?

सन्त-महात्मा और उनको पहचाननेवाले बहुत ही दुर्लभ हैं। आज तो दम्भ, पाखण्ड और बनावटीपन इतना हो गया कि असली सन्त-महात्माको पहचानना अत्यन्त ही कठिन कार्य हो गया है। पर सच्चे जिज्ञासुको पता लगता है। भगवान् कृपा करते हैं, तभी उनको पहचाना जा सकता है। अब उनकी पहचान क्या हो? हम उनकी पहचान नहीं कर सकते, हम तो अपनी पहचान कर सकते हैं।

एक कहानी है। एक नवयुवक राजगद्दीपर बैठा। पाँच-सात वर्ष राज्य करनेके बाद उसने अपने राज्यके बड़े-बूढ़ोंको इकट्ठा करके पूछा—'आपलोग बतायें कि राज्य हमारा ठीक रहा या हमारे पिताजीका ठीक था? अथवा हमारे दादाजीका ठीक था? किसका राज्य ठीक रहा? आपने हमारी तीनों पीढ़ियोंका राज्य देखा है। बेचारे सब चुप रहे। एक बहुत बूढ़ा आदमी खड़ा होकर कहने लगा कि 'महाराज! हम आपकी प्रजा हैं। आप उमरमें छोटे हैं तो क्या हुआ, आप हमारे मालिक हैं। अब हम आपके बारेमें निर्णय कैसे करें कि आपमें कौन योग्य और कौन अयोग्य है? कौन बढ़िया और कौन घटिया है? यह हमारी क्षमता नहीं है। मेरी बात पूछें तो मैं अपनी बात तो कह सकता हूँ, पर आपकी परीक्षा नहीं कर सकता।' राजाने कहा—'अच्छा! अपनी बात बताओ।'

वह कहने लगा—'जब आपके दादाजीका राज्य था, उस समय मैं जवान था। मैं पढ़ा-लिखा था। शरीरमें बल भी अच्छा था। मैं एक लाठी पासमें रखता था। उस समय यदि पाँच-दस आदमी एक साथ भी सामना करनेके लिये आ जाते तो मैं हार नहीं खाता, बल्कि उन सबको मार दूँ—ऐसा मेरा विश्वास था। एक दिन मैं किसी गाँव जा रहा था। रास्ते चलते मेरे कानमें किसी स्त्रीके रोनेकी आवाज आयी तो मैंने सोचा चलकर देखें, क्या बात है? मैं आवाजकी दिशामें गया, तो देखा कि एक सुन्दर युवती अकेली जंगलमें बैठी रो रही है। उसने बहुत कीमती गहने, कपड़े पहन रखे थे। मैं अचानक उसके पास पहुँचा तो वह डर गयी और एकदम चुप हो गयी। मैंने बड़े प्यारसे कहा कि बहिन! घबराओ मत। बताओ कि तुम क्यों रो रही हो? मेरे ऐसा कहनेपर वह आश्वस्त हुई और बोली—मैं पीहरसे ससुराल जा रही थी। साथमें दो-चार बैलगाड़ियाँ और ऊँट थे। रास्तेमें डाकू मिल गये, तो उनसे मुठभेड़ हो गयी। मेरे सम्बन्धी और डाकू आपसमें लड़ने लगे। मुझे डर लगा तो भागकर जंगलमें चली आयी और यहाँ आकर बैठ गयी। अब उनका क्या हाल हुआ, यह तो भगवान् जानें? किन्तु मैं किधर जाऊँ, यह भी मुझे रास्ता मालूम नहीं है। मेरा जन्म-गाँव तो दूर रह गया, लेकिन ससुराल-गाँव पास ही है, ऐसा अन्दाज है। लेकिन मैं जानती नहीं, क्या करूँ? यह सोचकर रोना आ रहा है।' इस तरह कहकर उसने मुझे अपने ससुरालका पता बताया। मैं उस गाँवको जानता था, इसलिये मैंने उससे कहा—बहिन! तुम चलो, डरनेकी कोई बात नहीं है, मैं तुम्हारे साथ हूँ। पूछनेपर उसने अपने श्वशुरका नाम कागजपर लिखकर बताया। मैं उसके श्वशुरको जानता था, इसलिये उसे उसके ससुराल ले गया। रात हो चुकी थी, सब लोग तरह-तरहकी चिन्ता कर रहे थे। वे लोग बहुत दु:खी थे; क्योंकि बहूके शरीरपर गहने आदि बहुत थे। बहूको सही-सलामत पहुँची देखकर सबके मनमें प्रसन्नता छा गयी। उस स्त्रीने अपने घरवालोंसे कहा—इन सज्जनको मैं पिता कहूँ या भाई कहूँ। इन्होंने मुझे बड़े प्यारसे धीरज दिलाया और यहाँतक पहुँचाया। उसके श्वशुर मुझे इनाम देनेके लिये पाँच-सात सौ रुपये लाये और लेनेका आग्रह करने लगे। मैंने अपना कर्तव्य समझकर यह काम किया था कि कोई दु:खी है तो उसका दु:ख

दूर हो जाय, इसलिये मैंने रुपये नहीं लिये। मैंने मनमें सोचा कि अपने कर्तव्य-पालनकी बिक्री नहीं करूँगा। मेरे मनमें रुपये न लेनेसे बड़ा सन्तोष रहा। मैं वापस चला आया।

यह बात तो आपके दादाजीके समयकी थी। इसके बाद आपके पिताजीका राज्य आया। उनके राज्य-कालके पाँच-सात वर्ष बीतनेपर एक बार मेरे व्यापारमें बड़ा घाटा लगा। धनकी तंगी हुई तो मेरे मनमें बात आने लगी कि उस समय इतना अच्छा अवसर मिला था, दस-पन्द्रह हजारका तो गहना ही था। अकेली स्त्री थी, एक थप्पड़ मारता तो सारा गहना, जेवर मिल जाता। आज यह दुःख नहीं भोगना पड़ता। उस समय बड़ी भूल हो गयी। अब पछतानेसे क्या हो। जब वे इनाम देने लगे, तब भी नहीं लिया। बड़ाईका भूखा आज तंगी भोगता है। इस प्रकारके भाव मनमें आये थे। महाराज! आप तो अवस्थामें मेरे पोतेके समान हैं, आपके सामने कहनेमें लज्जा आती है। अब तो मनमें ऐसे भाव आ रहे हैं कि उस समय उस स्त्रीको समझा-बुझाकर या धमकाकर अपनी स्त्री बना लेता, तो आज वह मेरी सेवा करती और धन भी मिल जाता। परन्तु, अब तो बात हाथसे निकल गयी, पछतानेसे क्या लाभ? इस तरह, महाराज! हम तो अपने मनके विचार बता सकते हैं। आप! राजाओंका निर्णय कौन करे। आपका निर्णय करनेकी ताकत हममें कहाँ!

राजा समझ गया कि बुड्ढा बड़ा बुद्धिमान् है। **'यथा राजा तथा प्रजा।'** यह बात भी कह दी और हमें रुष्ट भी नहीं किया। इस तरह सन्तोंकी पहचान हम नहीं कर सकते कि ये कहाँतक पहुँचे हुए हैं, किन्तु उनके पास जानेसे हमारे मनमें मच रही हलचल शान्त होती हो, बिना पूछे शंकाओंका समाधान होता हो, मनमें सन्तोष होता हो, अपनेमें दैवी सम्पदाके गुण आते हों अर्थात् दया, क्षमा, उदारता, त्याग, सन्तोष, नीति, धर्म आदिकी वृद्धि होती हो, दुर्गुण-दुराचार दीखने लगें और घटने लगें। जिन महापुरुषोंके संग अथवा दर्शनोंसे ऐसी विलक्षणताएँ आती हों—तो हम अन्दाज लगा सकते हैं।

इसके अलावा हम गरीब हों अथवा धनी हों—जिनके मनमें हमारी कोई गरज नहीं दीखती। हम धनी हैं तो कुछ ज्यादा आदर करें और गरीब हैं तो निरादर करें, हमसे वे कुछ स्वार्थ सिद्ध करना चाहें—ऐसा हमें कभी लगता ही नहीं। हम उनसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदिकी बातें पूछते हैं तो वे उनसे भी आगेकी बातें बता देते हैं। हमारी दृष्टिमें सगुण-निर्गुण, साकार-निराकारके तत्त्वको जाननेवाला, उनसे बढ़कर कोई दीखता नहीं—ऐसे महापुरुषोंका संग मिल जाय तो बड़ा लाभ होता है।

५. आदर्श बहू

एक सेठ था। उसके सात बेटे थे। उन सातोंमें छःका विवाह हो चुका था। अब सातवें बेटेका विवाह हुआ। उसका विवाह जिस लड़कीसे हुआ, वह अच्छे समझदार माँ-बापकी बेटी थी। माँ-बापने उसको अच्छी शिक्षा दी हुई थी। उस घरमें सबका भाव अच्छा था। सात भाई होनेपर भी सभी एक साथ रहते थे। एक विलक्षण बात यह थी घरकी रसोई स्त्रियाँ ही बनाती थीं। कोई रसोइया नहीं था। स्त्रियाँ स्वयं रसोई बनाती हैं तो वे पति-पुत्र, सास-ससुर आदिको प्रेमसे भोजन कराती हैं। परन्तु रसोइया रसोई बनाता है तो वह मजदूरी करता है। दूसरा न खाये अथवा कम खाये तो सोचता है कि रोटी थोड़ी बनानी पड़ेगी, आफत मिटी!

घरमें छः जेठानियाँ थीं और सुबह-शाम बारी-बारीसे रसोई बनाया करती थीं। हरेक जेठानीकी तीन दिनमें बारी आया करती थी। परन्तु उनमें खटपट

रहती थी। कोई बीमार हो जाय तो दूसरी कहती कि मेरी बारीमें तूने रसोई नहीं बनायी, फिर तेरी बारीमें मैं क्यों बनाऊँ? छोटी बहू आयी तो उसके भीतर बहुत उत्साह था। वह एक दिन स्नान करके, शुद्ध वस्त्र पहनकर पहले ही रसोईमें जा बैठी। जेठानीने देखा तो कहा कि 'बहू! तू रसोई क्यों बनाती है? रसोई बनानेके लिये हम कम हैं क्या?' फिर भी छोटी बहूने बड़े प्रेमसे रसोई बनायी और सबको भोजन कराया। सब बड़े प्रसन्न हुए कि आज छोटी बहूने बहुत बढ़िया रसोई बनायी!

सभी भाइयोंके अलग-अलग कमरे थे। दिनमें सास छोटी बहूके कमरेमें गयी और उससे कहा कि 'बहू! तू सबसे छोटी है, इसलिये सब तेरेसे लाड़-प्यार रखते हैं। तू रसोई क्यों बनाती है? तेरी छः जेठानियाँ हैं।' छोटी बहू बोली—'माँजी! कोई भूखा अतिथि घर आ जाय तो उसको आप अन्न क्यों देते हो?' सास बोली—'बहू! इससे बड़ा पुण्य होता है। घरमें कोई भूखा आ जाय तो उसको भोजन कराना गृहस्थका खास धर्म है। उसको तृप्ति होती है, सुख मिलता है तो देनेवालेको पुण्य होता है।' छोटी बहू बोली—'दूसरोंको भोजन करानेसे पुण्य होता है तो क्या घरवालोंको भोजन करानेसे पाप होता है? मकान आपका, अन्न आपका, बर्तन आपके, सब चीजें आपकी हैं। मैं थोड़ी-सी मेहनत करके रसोई बनाकर खिलाऊँ तो मेरा पुण्य होगा कि नहीं होगा? सब भोजन करके तृप्त होंगे, प्रसन्न होंगे तो इससे कितना लाभ होगा! इसलिये माँजी, आप रसोई मेरेको बनाने दो। मैं बैठी-बैठी करूँगी भी क्या? कुछ मेहनत करूँगी तो शरीर भी ठीक रहेगा, स्वास्थ्य ठीक रहेगा।' सासने ये बातें सुनीं तो मनको सोचा कि बहू बात ठीक कहती है! हम इसको सबसे छोटी समझते हैं, पर इसकी बुद्धि बहुत अच्छी है!

दूसरे दिन सुबह जल्दी ही सास रसोई बनाने बैठ गयी। बहुओंने देखा तो बोलीं—'माँजी! यह आप क्या करती हो? रसोई बनानेवाली बहुत हैं। आप परिश्रम क्यों करो?' सास बोली—'तुम्हारी अवस्था छोटी है, पर मेरी अवस्था बड़ी है। मेरेको जल्दी मरना है। मैं अभी पुण्य नहीं करूँगी तो फिर कब करूँगी?' बहुएँ बोलीं—'इसमें पुण्य क्या है? यह तो घरका काम है!' सास बोली—'घरका काम करनेसे पाप होता है क्या? जब भूखे व्यक्तियोंको, साधुओंको, ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे पुण्य होता है तो क्या घरवालोंको भोजन करानेसे पाप होता है? उलटे इसका तो व्यक्तिगत पुण्य होता है। घरकी चीज सब घरवालोंकी होती है, इसलिये दान-पुण्य करनेसे सबको पुण्य होता है। परन्तु खुद मेहनत करके रसोई बनायी जाय तो अकेले रसोई बनानेवालेको पुण्य होता है। हम बड़े-बूढ़े अभी पुण्य नहीं करेंगे तो फिर कब करेंगे?' सासकी बातें सुनकर सब बहुओंके भीतर उत्साह हुआ कि इस बातका हमने खयाल ही नहीं किया कि घरका काम करनेसे, भोजन बनाकर सबको खिलानेसे भी पुण्य होता है! यह युक्ति बहुत बढ़िया है! अब जो बहू पहले जग जाय, वही पहले रसोई बनाने बैठ जाय। आपसमें खटपट होने लगी। एक कहती कि रसोई मैं बनाऊँगी, दूसरी कहती कि मैं बनाऊँगी! सेठके पास यह बात पहुँची तो उसने कहा कि सब अपनी बारी बाँध लो और अपनी-अपनी बारीमें रसोई बनाओ।

पहले जब 'रसोई तू बना, तू बना'—यह भाव था, तब छः बारी बँधी थी। अब 'मैं बनाऊँ, मैं बनाऊँ'—यह भाव हुआ तो आठ बारी बँध गयी। दो और बढ़ गये—सास और छोटी बहू। काम करनेमें 'तू कर, तू कर'—इससे काम बढ़ जाता है और आदमी कम हो जाते हैं, पर 'मैं करूँ, मैं करूँ'—इससे काम हलका हो जाता है और आदमी बढ़ जाते हैं। धनी आदमी घरके काम-धंधेके लिये नौकर रखते हैं। नौकर कोई साधु-संन्यासी थोड़े ही होता है! उसका भी अपना कुटुम्ब होता है। वह अपने घरका भी काम करता है और आपके घरका भी काम करके पैसे ले जाता है। परन्तु आप अपने घरका

भी काम नहीं कर सकते और बड़े कहलाते हो! आप बड़े हुए कि नौकर बड़ा हुआ?

छोटी बहूने सोचा कि अब तो चौथे दिन बारी आती है, क्या किया जाय? घरमें आटा पीसनेकी पुरानी चक्की पड़ी थी। वह उसको अपने कमरेमें ले आयी और आटा पीसना शुरू कर दिया। मशीनकी चक्कीका आटा गरम होता है और गरम-गरम ही बोरीमें भर देनेसे जल जाता है, जिससे उसकी रोटी स्वादिष्ट नहीं होती। परन्तु हाथसे पीसा गया आटा ठण्डा होता है और उसकी रोटी स्वादिष्ट होती है। छोटी बहूने हाथसे आटा पीसकर उसीसे रोटी बनायी तो सब कहने लगे कि आज तो फुलकेका जायका बड़ा विलक्षण है!

सासने छोटी बहूके पास जाकर कहा कि 'बहू! तू आटा क्यों पीसती है? अपने पास पैसोंकी कमी नहीं है। भगवान्ने बहुत दिया है!' बहूने कहा— 'माँजी! भले ही पैसा बहुत हो, पर आटा तो रोजाना मैं ही पीसूँगी। हाथसे आटा पीसनेसे शरीर ठीक रहता है। व्यायाम स्वत: हो जाता है। बीमारी नहीं आती। वैद्यों-डॉक्टरोंके चक्कर नहीं काटने पड़ते। दूसरी बात, रसोई बनानेसे भी ज्यादा पुण्य आटा पीसनेका है। रसोई चाहे कोई बनाये, आटा तो मेरा पीसा हुआ ही सब खायेंगे!' सासने और जेठानियोंने ये बातें सुनीं तो विचार किया कि छोटी बहू ठीक बात कहती है। उन्होंने अपने-अपने पतियोंसे कहा कि घरमें चक्की ले आओ, हम सब आटा पीसेंगी। सब चक्की ले आये। सभी चक्कीमें रोजाना दो-ढाई सेर आटा पीसने लगीं। आटा अधिक हो गया। अब अधिक आटेका क्या करें? छोटी बहूने कहा कि अपनी दूकानमें आटेकी बिक्री कर दो। छोटी बहूकी बात सबने मान ली कि यह जो कहती है, ठीक कहती है।

अब छोटी बहू विचार करने लगी कि आटा पीसनेका काम तो मेरे हाथसे गया, अब क्या करूँ? घरमें कुआँ था। रोजाना सुबह एक नौकर पानी भरनेके लिये आता था। छोटी बहूने सुबह जल्दी उठकर स्नान करके कुएँसे सब पानी भर दिया। नौकर आया तो उसने देखा कि सब बर्तनोंमें पानी भरा हुआ है। वह बैठ गया। सेठ आया तो बोला कि 'बैठा क्यों है? पानी क्यों नहीं भरता?' नौकर बोला—'आप देखो, सब पानी पहलेसे ही भरा हुआ है, मैं क्या करूँ?' सेठ बोला कि पता लगाओ, पानी किसने भरा? सासने छोटी बहूके पास जाकर कहा—'बहू! पानी तूने भरा?' बहू बोली—'माँजी! आप चुप रहो, बोलो मत! आपके बोलनेसे मेरी कमाई चली जाती है! आपने वैशाख-माहात्म्य सुना है कि नहीं? वैशाखके महीनेमें पानी पिलानेका बड़ा माहात्म्य है। पानी पिलानेका जितना पुण्य है, उतना अन्न देनेका नहीं है; क्योंकि अन्न तो दिनमें एक-दो बार खाते हैं, पर पानी दिनमें कई बार पीते हैं। पानीसे स्नान करते हैं, कुल्ला करते हैं, हाथ-पैर धोते हैं। पानी ज्यादा काममें आता है।'

दूसरे दिन सास जल्दी उठकर कुएँपर चली गयी और पानी खींचने लगी। दूसरी बहुओंने देखा तो बोलीं—'माँजी! यह आप क्या करती हो? लोगोंमें हमारा मुँह काला होगा कि घरमें इतनी बहुएँ बैठी हैं और सास पानी भरती है!' सास बोली—'बूढ़ोंको तो जल्दी मरना है, इसलिये उनको पहले काम करके पुण्य कमाना चाहिये। तुमलोग तो पीछे भी कर लोगी।' अब सब बहुओंने भी पानी भरना शुरू कर दिया। सेठने देखा तो कहा कि 'नौकर निकम्मा बैठा है, इसको छुट्टी दे दो।' यह बात छोटी बहूने सुनी तो वह सासके पास गयी और बोली—'मेरी प्रार्थना सुनो, पिताजीसे कहो कि नौकरको छुट्टी न दें। यह गृहस्थी आदमी है। बेचारेकी कमाई होती है। इसको छुट्टी न देकर दूसरे काममें लगा दें।' इस बातका सासपर असर पड़ा कि छोटी बहूका कितना अच्छा भाव है! यह कितनी समझदार है!

अब छोटी बहूने विचार किया कि रसोई भी सब बनाने लगीं, आटा भी सब पीसने लगीं, पानी भी सब

भरने लगीं, अब मैं क्या करूँ? घरमें जूठे बर्तन माँजनेके लिये एक नौकरानी आया करती थी। छोटी बहू राख लेकर कोनेमें बैठ गयी और अपने सब बर्तन माँज दिये। नौकरानी दूर बैठी थी। सासने देखा तो बोली—'बहू! विचार तो कर। बर्तन माँजनेसे तेरा गहना घिस जायगा, कपड़े खराब हो जायँगे, फायदा क्या होगा?' छोटी बहू बोली—'माँजी! ऐसी बात नहीं है। आप चुप रहो!' सास बोली—'बता तो सही, क्या बात है?' बहू बोली—'माँजी! जूठन उठानेका बड़ा माहात्म्य है। आपने महाभारतमें कथा नहीं सुनी? पाण्डवोंने यज्ञ किया तो सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्णका पूजन हुआ। उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णने सबकी जूठी पत्तलें उठानेका काम किया। जितना छोटा काम होता है, उतना ही उसको करनेका ज्यादा माहात्म्य होता है। अगर जूठन उठानेका ज्यादा माहात्म्य नहीं होता तो भगवान् यह काम क्यों करते?'

दूसरे दिन सास बर्तन माँजनेके लिये बैठ गयी तो छोटी बहूने कहा—'माँजी! मेरी बात सुनो। इस थाली-कटोरी-गिलासपर तो मेरा हक लगता है; क्योंकि ये मेरे पतिदेवके हैं। अत: इनको मैं माँजूँगी।' सास बोली—'जा, तेरा पति पीछे है, मेरा बेटा पहले है, इसलिये मैं माँजूँगी।' इस तरह बर्तन माँजनेके लिये खटपट होने लगी। आखिर सब बहुओंने बर्तन माँजने शुरू कर दिये।

छोटी बहू विचार करने लगी कि अब मैं क्या काम करूँ? सुबह रोजाना झाड़ू लगानेके लिये नौकर आया करता था। छोटी बहूने सुबह जल्दी उठकर सब जगह झाड़ू लगा दिया। नौकरने आकर देखा कि सब जगह झाड़ू लगा हुआ है तो वह बैठ गया। सास छोटी बहूके पास गयी और बोली कि 'झाड़ू तूने लगाया है क्या?' छोटी बहू बोली—'माँजी! आप चुप रहो, बोलो मत। आप बोलती हो तो मेरे हाथसे काम चला जाता है!' सासने कहा—'झाड़ू देनेका काम तो नौकरका है, तू झाड़ू क्यों देती है?' छोटी बहूने कहा—'माँजी! आपने रामायण नहीं सुनी क्या? वनमें बड़े-बड़े ऋषि-मुनि रहते थे, पर भगवान् उनकी कुटियामें न जाकर पहले शबरीकी कुटियामें गये। कारण क्या था? शबरी रोजाना रातमें झाड़ू देती थी, पम्पासरका रास्ता साफ करती थी, जिससे ऋषि-मुनियोंके पैरमें कंकड़ न चुभें। इसलिये इस सेवाका बड़ा माहात्म्य है।' सासने देखा कि यह छोटी बहू सबको लूट लेगी! यह सबका पुण्य अकेले ले लेती है। अब सासने और सब बहुओंने झाड़ू लगाना शुरू कर दिया।

जिस घरमें सबका आपसमें प्रेम होता है, वहाँ लक्ष्मी बढ़ती है। जिस घरमें कलह होता है, वहाँ निर्धनता आ जाती है।

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना।
जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥

(मानस, सुन्दर० ४०। ३)

सेठकी दूकानमें अधिक धन पैदा होने लगा। सेठने सोचा कि स्त्रियोंके पास भी अधिक धन आना चाहिये। उसने घरकी सब स्त्रियोंके लिये गहने बनवा दिये। गहना स्त्रियोंका धन होता है, जिसमें पतिका भी हक नहीं लगता। अब छोटी बहू ससुरसे मिले गहने लेकर बड़ी जेठानीके पास गयी और बोली कि 'आपके लड़का-लड़की है। उनका विवाह करोगी तो गहना बनवाना पड़ेगा। मेरे तो अभी कोई लड़का-लड़की है नहीं। इसलिये इन गहनोंका मैं क्या करूँगी? मेरे माता-पिताने मेरेको खूब गहने दिये हैं, वे सब मेरे पास तिजोरीमें पड़े हैं।' सासने देखा तो छोटी बहूके पास जाकर बोली—'बहू! यह तुम क्या करती हो? तेरे ससुरने सबको गहने दिये हैं।' छोटी बहू बोली—'माँजी! आप चुप रहा करो। आपको कोई बात कहना तो गाँवमें हल्ला करना है! काम-धंधा करनेसे पुण्य होता है तो क्या दान करनेसे पाप होता है? वस्तु देनेका तो बड़ा पुण्य होता है!' सासको बहूकी बात लग गयी। वह सेठके पास गयी और बोली—'आपके नौकरोंको मैं धोती-साड़ी दूँगी।'

सेठ बहुत राजी हुआ कि पहले नौकरोंको कुछ देते थे तो यह लड़ पड़ती थी, पर अब कहती है कि मैं दूँगी! अब सास भी दूसरोंको वस्तुएँ देने लगी, बहुएँ भी वस्तुएँ देने लगीं। घरमें वस्तुएँ हो गयीं ज्यादा और आदमी हो गये कम! पुण्यके दो ही काम हैं—काम-धंधा खुद करना और वस्तुएँ दूसरोंको देना। ये दो काम होने लगें तो घरमें खटपट मिट जाय, शान्ति हो जाय। दूसरे लोग भी सोचते हैं कि कन्या देनी हो तो ऐसे घरमें दो, जिससे वह सुख पाये। कन्या लेनी भी हो तो ऐसे घरकी लो, जिससे हमारे घरमें भी सुख-शान्ति रहे। साधु भी ऐसे घरोंकी भिक्षा लेना चाहते हैं।

गीताने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(३। २१)

'श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, दूसरे मनुष्य उसीके अनुसार आचरण करते हैं।'

इस श्लोकमें श्रेष्ठ मनुष्यके आचरणके लिये तो पाँच पद आये हैं—**'यत्'**-**'यत्'**, **'तत्'**-**'तत्'** तथा **'एव'**, पर प्रमाण (वचन)-के लिये केवल दो पद आये हैं—**'यत्'** और **'तत्'**। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि समाजपर मनुष्यके आचरणोंका असर पाँच गुना पड़ता है और वचनोंका असर दो गुना पड़ता है। छोटी बहूने आचरण किया, केवल व्याख्यान नहीं दिया। इसलिये उसका असर पूरे घरपर पड़ा, जिससे पूरे घरका सुधार हो गया। इतना ही नहीं, पड़ोसियोंपर भी उसका अच्छा असर पड़ा, जिससे उनके घर भी सुधर गये। एक घरका सुधार होनेसे अनेक घरोंका सुधार हो गया!

६. सास-बहूकी लड़ाई मिटानेवाला विलक्षण तावीज

एक महात्मा थे। वे पैदल घूम-घूमकर सत्संगका प्रचार किया करते थे। वे एक गाँवमें जाते, कुछ दिन ठहरकर सत्संग करते और फिर वहाँसे दूसरे गाँव चल देते। लोग भी उनपर बड़ी श्रद्धा रखते थे और उनकी बात मानते थे। घूमते-घूमते वे एक गाँवमें पहुँचे। गाँवमें सब जगह प्रचार हो गया कि महाराजजी पधारे हैं, आज अमुक जगह सत्संग होगा। सत्संगके समय बहुत-से भाई-बहन इकट्ठे हुए। जब सत्संग पूरा हुआ, तब एक माताजी महाराजजीके पास जाकर बोलीं—'महाराजजी! आप अमुक गाँवमें जाया करते हो!'

महाराजजी—'हाँ माई, जाया करता हूँ।'

माताजी—'वहाँ आपका अमुक सेवक है। आप उनके घर भी जाया करते हो!'

महाराजजी—'हाँ, जाया करता हूँ।'

माताजी—'यह मेरी बहू उसीकी बेटी है। यह मेरेसे लड़ती है! मेरा कहना नहीं मानती है!'

लोगोंमें महाराजजीका एक भय था। कोई गड़बड़ी करता तो कहते कि हम महाराजजीसे कह देंगे। वह कहता कि भाई, महाराजजीको मत कहना, तुम जैसा कहोगे, वैसा हम करेंगे। महाराजजी कोई राजाकी तरह दण्ड नहीं देते थे। वे बड़े प्रेमसे कहते थे कि भाई, तुम ऐसा क्यों करते हो? लोग उनकी बातका आदर करते थे। प्रेमका जो शासन होता है, वह बड़ा विलक्षण होता है। राजाका शासन तो राजसी-तामसी होता है, पर सन्तोंका शासन सात्त्विक होता है।

महाराजजीने उस माताजीकी बहूको बुलाया और उससे कहा कि 'बेटी! तू साससे क्यों लड़ती है?' महाराजजीने ऐसा कहा तो उसकी आँखोंसे झर-झर आँसू बहने लग गये! वह जब छोटी बच्ची थी, तब

वह महाराजजीके सामने खेला करती थी। अब बड़ी हो गयी, विवाह हो गया तो ससुरालमें आ गयी। उसके मनमें महाराजजीके प्रति बाप-दादेकी तरह पूज्यभाव था। अब उसने महाराजजीके सामने अपनी शिकायत सुनी तो वह घबरा गयी और रोने लग गयी। महाराजजीने आश्वासन दिया तो वह बोली—'महाराजजी! मैंने कोई कसूर तो किया नहीं। मैं सासको दुःख नहीं देती हूँ, फिर भी उनको मेरा काम पसन्द नहीं आता। मैं क्या करूँ? सास बिना कारण मेरेसे लड़ती है!'

बहू तो कहती है कि सास लड़ती है और सास कहती है कि बहू लड़ती है! लड़ाई कम-से-कम दो आदमियोंमें होती है। अकेलेमें लड़ाई नहीं होती। सैकड़ों-हजारों आदमी मिलकर लड़ाई कर सकते हैं, पर अकेला आदमी लड़ाई नहीं कर सकता। दो आदमी लड़ते हैं तो एक कहता है कि वह लड़ाई करता है और दूसरा कहता है कि वह लड़ाई करता है। अपना अवगुण अपनेको नहीं दीखता।

महाराजजीने कहा—'बेटी! तू घबरा मत। मैं एक ऐसा यन्त्र बनाकर देता हूँ, जिससे लड़ाई मिट जायगी।' वहाँ उसका देवर खड़ा था। उसको महाराजजीने कागज, कलम, दवात और एक तावीज लानेके लिये कहा। वह जाकर चारों चीजें ले आया। महाराजजीने कागजके एक टुकड़ेपर कुछ लिख दिया और उसको समेटकर तावीजमें बन्द कर दिया।

महाराजजी—'बेटी! यह तावीज तू बाँध ले। तेरे घरकी लड़ाई मिट जायगी। परन्तु इसके साथ तेरेको मेरी बात माननी पड़ेगी।'

बहू—'हाँ महाराजजी! आप जैसा कहोगे, वैसा ही करूँगी।'

महाराजजी—'दो बातें हैं। एक तो सास कोई बात कहे तो सामने मत बोलना और दूसरा, सास जो काम कहे, चट उठकर कर देना। इन दो बातोंका तू पालन कर लेगी तो यह यन्त्र सिद्ध हो जायगा।'

बहू—'महाराजजी! कितना दिन करना पड़ेगा?'

महाराजजी—'कम-से-कम बारह महीने पालन कर लिया तो सब काम ठीक हो जायगा। पर बीचमें कभी भूल हो गयी तो उसी दिनसे फिर बारह महीने गिने जायँगे। उससे पहले जो दिन बीते, वे गिनतीमें नहीं आयेंगे।'

बहू—'ठीक है, आप जैसा कहते हैं, वैसा ही करूँगी।'

बहूने तावीज लेकर बाँध लिया। महाराजजीने चार-पाँच दिन और सत्संग किया, फिर दूसरे गाँवमें चले गये। उनका कोई नियम नहीं था कि इतने ही दिन यहाँ रुकेंगे। हमारे यहाँ पहले ऐसे सन्तोंकी परम्परा चलती थी और लोगोंपर उनका धार्मिक शासन चलता था। उनके शासनसे लोग प्रभावित होते थे। लोग उन सन्तोंको बड़े पूज्यभावसे देखते थे और उनकी आज्ञाका पालन करते थे। इससे गाँवोंमें बड़ी शान्ति रहती थी।

बहू महाराजजीके बताये नियमोंका पालन करने लगी। सास कोई काम कहती तो वह चट हाथ जोड़कर हाजिर हो जाती थी और सामने नहीं बोलती थी। सासने मनमें विचार किया कि महाराजजीका यन्त्र बड़ा विलक्षण है! देखो, एक दिनमें ही बहू सुधर गयी! घरमें बड़ी शान्ति हो गयी। घरवाले भी सब राजी हो गये। सास-बहू आपसमें प्रेमसे रहने लगीं। बहू आज्ञा माने तो वह सासको बेटीसे भी अधिक प्यारी लगती है; क्योंकि बेटी तो थोड़े दिन घरपर रहती है, फिर अपने घर चली जाती है, पर बहू तो सदा ही पासमें रहती है। खटपट तो तब होती है, जब वह सासके सामने बोल दे और उसका कहना नहीं करे।

कुछ दिनोंके बाद महाराजजी फिर आये तो उन्होंने पूछा—'माताजी! ठीक है न?' वह बोली—'महाराजजी! आपकी कृपासे बहुत ठीक है! बहू सुधर गयी है।' बहूसे पूछा तो वह बोली—'महाराजजी! एक दिन मेरेसे गलती हो गयी, मैं सासके सामने बोल गयी!' महाराजजीने कहा—

'बेटी! उसी दिनसे बारह महीने गिने जायँगे, पहलेवाले दिन गिनतीमें नहीं आयेंगे। एकादशीके दिन अन्नका एक दाना भी खा ले तो व्रत भंग हो जाता है!' बहू बोली—'ठीक है महाराजजी! अब मैं ध्यान रखूँगी।' इस तरह डेढ़-दो वर्षोंमें उसके बारह महीने पूरे हो गये। सास-बहूमें परस्पर बड़ा प्रेम हो गया।

दो-ढाई वर्ष बीतनेपर महाराजजी फिर उस गाँवमें आये और उनसे बोले कि 'एक दिन हम तुम्हारे घर भिक्षा करेंगे।' वे बहुत राजी हुए। महाराजजी बड़े त्यागी सन्त थे। वे दो-चार घरोंसे भिक्षा लेकर खाते थे। कपड़े फट जाते थे तो कोई ज्यादा आग्रह करता तो कपड़ा ले लेते थे। रुपयों-पैसोंका कोई काम ही नहीं था। जब वे उनके घर भिक्षाके लिये गये तो बहुत-से लोग इकट्ठा हो गये कि महाराजजी आये हैं, सत्संग सुनायेंगे। महाराजजीने भिक्षा की और सत्संग सुनाया। फिर कहा कि 'दूसरे घरोंके जो लोग आये हैं, उनको भेज दो। केवल आपके घरवाले ही रहें, आपसे एक बात कहनी है।' घरवालोंने हाथ जोड़कर सबसे कह दिया कि 'भाई, अब सत्संग हो गया, अब आप सब लोग जाओ।' सब लोग चले गये। घरवाले महाराजजीके पास आकर बैठ गये।

महाराजजी बोले कि 'मैंने जो तावीज बनाकर दी थी, उसको लाओ।' उन्होंने तावीज लाकर महाराजजीके सामने रख दी। महाराजजीने कहा कि 'इसको खोलकर पढ़ो, इसमें क्या लिखा है?' उन्होंने तावीजके भीतर रखा कागज खोलकर पढ़ा। उसमें लिखा था—

'सास-बहू राजी तो साधुको क्या और सास-बहू नाराज तो साधुको क्या!'

महाराजजी बोले—'सास-बहू शान्तिसे रहें तो हमें क्या मतलब और रोजाना आपसमें लड़ें तो हमें क्या मतलब? हमारा मतलब तो यह है कि तुम्हारे घरमें शान्ति, आनन्द रहे। यह शक्ति यन्त्रमें नहीं है। यह शक्ति इस बातमें है कि सामने न बोले और जैसा कहे, वैसा कर दे। देखो, दूसरा कोई जन्तर-मन्तरकी बात कहे कि हमें देवता सिद्ध है, हम तुम्हारेको ऐसा कर देंगे, वैसा कर देंगे तो डरना नहीं! इसीलिये तुमको यन्त्र खोलकर दिखाया है। जन्तर-मन्तरको मैं नहीं मानता। परन्तु तुम्हारेको मेरी बातपर विश्वास हो जाय, इसलिये यन्त्र बनाकर दिया है। बड़ोंके सामने बोलना नहीं और उनकी आज्ञाका पालन करना—इन दो बातोंका घरके सभी लोग पालन करें तो आपके लोक और परलोक दोनों सुधर जायँगे। कभी सास कोई ऐसा काम करनेको कह दे, जिससे आगे नुकसान दीखता हो तो हाथ जोड़कर खड़ी हो जाय। वह पूछे कि खड़ी क्यों है, तो कहे कि आपका काम तो मैं कर दूँगी, पर इससे बिगाड़ हो जायगा। वह कहे कि 'नहीं-नहीं, यह काम करना है' तो वैसा कर दे। अगर काम बिगड़ जाय तो शेखी न बघारे कि देखो, मैंने तो पहले ही कह दिया था, पर आपने माना नहीं! प्रत्युत बड़ी नम्रता, सरलता, निरभिमानता रखे।' महाराजजीकी इन बातोंका सबपर बड़ा असर पड़ा।

सब भाई-बहनोंसे प्रार्थना है कि आपलोग भी आज इस विलक्षण यन्त्रको धारण कर लें कि बड़ोंके सामने नहीं बोलेंगे, उनका तिरस्कार, अपमान, अवहेलना नहीं करेंगे और वे जैसा कहेंगे, वैसा कर देंगे। फिर आपके घरोंमें भी शान्ति, आनन्द हो जायगा।

७. सेठको शिक्षा

एक बहुत धनी सेठ था। वह सुबह जल्दी उठकर नदीमें स्नान करके घर आकर नित्य-नियम करता था। ऐसे वह रोजाना नहाने नदीपर आता था। एक बार एक अच्छे संत विचरते हुए वहाँ घाटपर आ गये। उन्होंने कहा—'सेठ! राम-राम!' वह बोला नहीं तो बोले—'सेठ! राम-राम!' ऐसे दो-तीन बार बोलनेपर भी सेठ 'राम-राम' नहीं बोला। सेठने समझा कि कोई मँगता है। इसलिये कहने लगा—'हट! हट! चल, हट यहाँसे।' संतने देखा कि अभिमान बहुत बढ़ गया है, भगवान्‌का नाम भी नहीं लेता। मैं तो भगवान्‌का नाम लेता हूँ और यह हट-हट कहता है।

इन धनी आदमियोंके वहम रहता है कि हमारेसे कोई कुछ माँग लेगा, कुछ ले लेगा। इसलिये धनी लोग सबसे डरते रहते हैं। वे गरीबसे, साधुसे, ब्राह्मणसे, राज्यसे, चोरोंसे, डाकुओंसे डरते हैं। अपने बेटा-पोता ज्यादा हो जायँगे तो धनका बँटवारा हो जायगा—ऐसे भी डर लगता है उन्हें।

संतने सोचा कि इसे ठीक करना है। तो वे वैसे ही सेठ बन गये और सेठ बनकर घरपर चले गये। दरबानने कहा कि 'आज आप जल्दी कैसे आ गये?' तो उन्होंने कहा कि 'एक बहुरुपिया मेरा रूप धरके वहाँ आ गया था, मैंने समझा कि वह घरपर जाकर कोई गड़बड़ी नहीं कर दे। इसलिये मैं जल्दी आ गया। तुम सावधानी रखना, वह आ जाय तो उसे भीतर मत आने देना।'

सेठ घरपर जैसा नित्य-नियम करता था, वैसे ही वे सेठ बने हुए संत भजन-पाठ करने लग गये। अब वह सेठ सदाकी तरह धोती और लोटा लिये आया तो दरबानने रोक दिया। 'कहाँ जाते हो? हटो यहाँसे!' सेठ बोला—'तूने भाँग पी ली है क्या? नशा आ गया है क्या? क्या बात है? तू नौकर है मेरा, और मालिक बनता है।' दरबानने कहा—'हट यहाँसे, नहीं जाने दूँगा भीतर।' सेठने छोरोंको आवाज दी—'आज इसको क्या हो गया?' तो उन्होंने कहा—'बाहर जाओ, भीतर मत आना।' बेटे भी ऐसे ही कहने लगे। जिसको पूछे, वे ही धक्का दें। सेठने देखा कि क्या तमाशा हुआ भाई? मुझे दरवाजेके भीतर भी नहीं जाने देते हैं। बेचारा इधर-उधर घूमने लगा।

अब क्या करें? उसकी कहीं चली नहीं तो उसने राज्यमें जाकर रिपोर्ट दी कि इस तरह आफत आ गयी। वे सेठ राज्यके बड़े मान्य आदमी थे। राजाने उनको जब इस हालतमें देखा तो कहा—'आज क्या बात है? लोटा, धोती लिये कैसे आये हो?' तो वह बोला—'कैसे-कैसे क्या, महाराज! मेरे घरमें कोई बहुरुपिया बनकर घुस गया और मुझे निकाल दिया बाहर।' राजाने कहा—'चार घोड़ोंकी बग्घीमें आया करते थे, आज आपकी यह दशा!' राजाने अपने आदमियोंसे पूछा—'कौन है वह? जाकर मालूम करो।' घरपर खबर गयी तो घरवालोंने कहा कि 'अच्छा! वह राज्यमें पहुँच गया! बिलकुल नकली आदमी है वह। हमारे सेठ तो भीतर विराजमान हैं। राजाको जाकर कहा कि वह तो घरमें अच्छी तरहसे विराजमान है। राजाने कहा—'सेठको कहो कि राजा बुलाते हैं।' अब सेठ चार घोड़ोंकी बग्घी लगाकर ठाट-बाटसे जैसे जाते थे, वैसे ही पहुँचे और बोले—'अन्नदाता! क्यों याद फरमाया, क्या बात है?'

राजाजी बड़े चकराये कि दोनों एक-से दीख रहे हैं। पता कैसे लगे? मंत्रियोंसे पूछा तो वे बोले—'साहब, असली सेठका कुछ पता नहीं लगता।' तब राजाने पूछा—'आप दोनोंमें असली और नकली कौन हैं?' तो कहा—'परीक्षा कर लो।' जो सन्त सेठ बने हुए थे उन्होंने कहा—'बही लाओ। बहीमें जो लिखा हुआ है, वह हम बता देंगे।' बही मँगायी गयी। जो सेठ बने हुए संत थे, उन्होंने बिना देखे ही कह दिया कि 'अमुक-अमुक वर्षमें अमुक मकानमें इतना खर्चा

लगा, इतना घी लगा, अमुकके ब्याहमें इतना खर्चा हुआ। वह हिसाब अमुक बहीमें, अमुक जगह लिखा हुआ है।' वह सब-का-सब मिल गया। सेठ बेचारा देखता ही रह गया। उसको इतना याद नहीं था। इससे यह सिद्ध हो गया कि वह सेठ नकली है। तो कहा कि—'इसे दण्ड दो।' पर संतके कहनेसे छोड़ दिया।

दूसरे दिन फिर वह धोती और लोटा लेकर गया। वहाँ वही संत बैठे थे। उस सेठको देखकर संतने कहा—'राम-राम!' तब उसकी आँख खुली कि यह सब इन संतका चमत्कार है। संतने कहा—'तुम भगवान्‌का नाम लिया करो, हरेकका तिरस्कार, अपमान मत किया करो। जाओ, अब तुम अपने घर जाओ।' वह सेठ सदाकी तरह चुपचाप अपने घर आ गये।

८. पापका बाप

एक पण्डितजी काशीसे पढ़कर आये। ब्याह हुआ, स्त्री आयी। कई दिन हो गये। एक दिन स्त्रीने प्रश्न पूछा कि 'पण्डितजी महाराज! यह तो बताओ कि पापका बाप कौन है?' पण्डितजी पोथी देखते रहे, पर पता नहीं लगा, उत्तर नहीं दे सके। अब बड़ी शर्म आयी कि स्त्री पूछती है पापका बाप कौन है? हमने इतनी पढ़ाई की, पर पता नहीं लगा। वे वापस काशी जाने लगे। मार्गमें ही एक वेश्या रहती थी। उसने सुन रखा था कि पण्डितजी काशी पढ़कर आये हैं। उसने पूछा—'कहाँ जा रहे हैं महाराज?' तो बोले—'मैं काशी जा रहा हूँ।' काशी क्यों जा रहे हैं? आप तो पढ़कर आये हैं? तो बोले—'क्या करूँ? मेरे घरमें स्त्रीने यह प्रश्न पूछ लिया कि पापका बाप कौन है? मेरेको उत्तर देना आया नहीं। अब पढ़ाई करके देखूँगा कि पापका बाप कौन है?' वह वेश्या बोली—'आप वहाँ क्यों जाते हो? यह तो मैं यहीं बता सकती हूँ आपको।'

बहुत अच्छी बात। इतनी दूर जाना ही नहीं पड़ेगा। 'आप घरपर पधारो। आपको पापका बाप मैं बताऊँगी।' अमावस्याके एक दिन पहले पण्डितजी महाराजको अपने घर बुलाया। सौ रुपया सामने भेंट दे दिये और कहा कि 'महाराज! आप मेरे यहाँ कल भोजन करो।' पण्डितजीने कह दिया—'क्या हर्ज है, कर लेंगे!' पण्डितजीके लिये रसोई बनानेका सब सामान तैयार कर दिया। अब पण्डितजी महाराज पधार गये और रसोई बनाने लगे तो वह बोली—'देखो, पक्की रसोई तो आप पाते ही हो, कच्ची रसोई हरेकके हाथकी नहीं पाते। पक्की रसोई मैं बना दूँ, आप पा लेना!' ऐसा कहकर सौ रुपये पासमें और रख दिये। उन्होंने देखा कि पक्की रसोई हम दूसरोंके हाथकी लेते ही हैं, कोई हर्ज नहीं, ऐसा करके स्वीकार कर लिया।

अब रसोई बनाकर पण्डितजीको परोस दिया। सौ रुपये और पण्डितजी महाराजके आगे रख दिये और नमस्कार करके बोली—'महाराज! जब मेरे हाथसे बनी रसोई आप पा रहे हैं तो मैं अपने हाथसे ग्रास दे दूँ। हाथ तो वे ही हैं, जिनसे रसोई बनायी है, ऐसी कृपा करो।' पण्डितजी तैयार हो गये उसकी बातपर। उसने ग्रासको मुँहके सामने किया और उन्होंने ज्यों ही ग्रास लेनेके लिये मुँह खोला कि उठाकर मारी थप्पड़ जोरसे, और वह बोली—'अभीतक आपको ज्ञान नहीं हुआ? खबरदार! जो मेरे घरका अन्न खाया तो! आप-जैसे पण्डितका मैं धर्म-भ्रष्ट करना नहीं चाहती। यह तो मैंने पापका बाप कौन है, इसका ज्ञान कराया है।' रुपये ज्यों-ज्यों आगे रखते गये पण्डितजी ढीले होते गये।

इससे सिद्ध क्या हुआ? पापका बाप कौन हुआ? रुपयोंका लोभ! '**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः**' (गीता १६।२१)। काम, क्रोध और लोभ—ये नरकके खास दरवाजे हैं।

पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥

(मानस, लंकाकाण्ड ७८। १)

दूसरोंको उपदेश देनेमें तो लोग कुशल होते हैं, परंतु उपदेशके अनुसार ही खुद आचरण करनेवाले बहुत ही कम लोग होते हैं।

मनुष्य खयाल नहीं करता कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। औरोंको समझाते हुए पण्डित बन जाते हैं। अपना काम जब सामने आता है, तब पण्डिताई भूल जाते हैं, वह याद नहीं रहती।

परोपदेशवेलायां शिष्टाः सर्वे भवन्ति हि।
विस्मरन्तीह शिष्टत्वं स्वकार्ये समुपस्थिते॥

दूसरोंको उपदेश देते समय जो पण्डिताई होती है, वही अगर अपने काम पड़े, उस समय आ जाय तो आदमी निहाल हो जाय। जाननेकी कमी नहीं है, काममें लानेकी कमी है।

९. शुद्ध हरिकथा

महाराष्ट्रमें समर्थ गुरु रामदास बाबा एक बहुत विचित्र संत हुए हैं। इनके सम्बन्धमें एक कथा प्रसिद्ध है। ये हनुमान्‌जीके भक्त थे और इनको हनुमान्‌जीके दर्शन हुआ करते थे। एक बार बाबाजीने हनुमान्‌जीसे कहा कि 'महाराज! आप एक दिन सब लोगोंको दर्शन दें।' हनुमान्‌जीने कहा कि 'तुम लोगोंको इकट्ठा करो तो मैं दर्शन दे दूँगा।' बाबाजी बोले कि 'लोगोंको तो मैं हरिकथासे इकट्ठा कर लूँगा।' हनुमान्‌जीने कहा कि 'शुद्ध हरिकथा करना।' हरिकथासे लोग आते हैं, 'शुद्ध हरिकथासे मैं आ जाऊँगा।' बाबाजी बोले कि 'शुद्ध हरिकथा ही करूँगा।'

संत तथा राजगुरु होनेके कारण बाबाजीका ऐसा प्रभाव था कि वे जहाँ जाते, वहीं हजारोंकी संख्यामें लोग इकट्ठे हो जाते। उन्होंने एक शहरमें जाकर कहा कि आज रात शहरके बाहर अमुक मैदानमें हरिकथा होगी। समाचार सुनते ही हरिकथाकी तैयारी प्रारम्भ हो गयी। प्रकाशकी व्यवस्था की गयी, दरियाँ बिछायी गयीं। समयपर बहुत-से लोग इकट्ठे हो गये। सब गाने-बजानेवाले आकर बैठ गये और कीर्तन प्रारम्भ हो गया। बीच-बीचमें बाबाजी भगवान्‌की कथा कह देते और फिर कीर्तन करने लगते। ऐसा करते-करते वे केवल कीर्तनमें ही मस्त हो गये। लोगोंको यह आशा थी कि अब बाबाजी कथा सुनायेंगे, पर वे तो कीर्तन ही करते चले गये। लोगोंके भीतर असली भाव तो था नहीं; अतः 'यह कीर्तन तो हम घरपर ही कर लिया करते हैं; यहाँ कबतक बैठे रहेंगे!' ऐसा कहकर वे धीरे-धीरे उठकर जाने लगे। वास्तवमें वे घरपर कीर्तन करते नहीं थे। घरमें कीर्तन करनेकी बात तो वहाँसे उठनेका एक बहाना था। बाबाजीके पासमें बैठे लोग कानपर जनेऊ टाँगकर उठ गये! थोड़ी देरमें सभी लोग उठकर चले गये। धीरे-धीरे गाने-बजानेवाले भी खिसक गये। बाबाजी तो आँखें बन्द करके अपनी मस्तीमें कीर्तन करते ही रहे। क्योंकि वे हनुमान्‌जीकी आज्ञाके अनुसार शुद्ध हरिकथा कर रहे थे। प्रकाशकी व्यवस्था करनेवाले भी चले गये। अब दरीवालोंको मुश्किल हो गयी कि बाबाजी तो मस्तीसे नाच रहे हैं, दरी कैसे उठायें! उन्होंने भी अटकल लगायी। जब बाबाजी नाचते-नाचते उधर गये तो इधरकी दरी इकट्ठी कर ली और जब वे इधर आये तो उधरकी दरी इकट्ठी कर ली और चल दिये। जब सब चले गये, तब हनुमान्‌जी प्रकट हो गये। बाबाजीने हनुमान्‌जीसे कहा कि 'महाराज! सबको दर्शन दें!' हनुमान्‌जी बोले—'सब हैं कहाँ?' वहाँ और तो कोई था ही नहीं, केवल बाबाजी ही थे।

इस प्रकार भावपूर्वक केवल भगवन्नामका संकीर्तन करना 'शुद्ध हरिकथा' है। इस शुद्ध हरिकथासे भगवान् साक्षात् प्रकट हो जाते हैं।

१०. घोड़ा अड़ गया

सन्त-महात्माओंको हमारी विशेष गरज रहती है। जैसे, माँको अपने बच्चेकी याद आती है। बच्चेको भूख लगते ही माँ स्वयं चलकर बच्चेके पास चली आती है, ऐसे ही सन्त-महात्मा सच्चे जिज्ञासुओंके पास खिंचे चले आते हैं। इस विषयमें एक कहानी सुनी है—

एक गृहस्थ बहुत ऊँचे दर्जेके तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त महापुरुष थे। वे अपने घोड़ेपर चढ़कर किसी गाँव जा रहे थे। चलते-चलते घोड़ा एक अन्य रास्तेपर चल पड़ा। उन्होंने उसको कितना ही मोड़ना चाहा, लेकिन वह तो उसी रास्तेपर चलनेके लिये अड़ गया। इसपर उन्होंने सोचा कि अच्छी बात है, इसके मनमें जिधर जानेकी है, उधरसे चलना चाहिये। अपने थोड़ा चक्कर पड़ेगा, कोई बात नहीं। वह घोड़ा जाते-जाते एक घरके सामने रुक गया। समय अधिक हो गया था, अत: वे सन्त घोड़ेसे नीचे उतर पड़े और उस घरके अन्दर गये। वहाँ एक सज्जन मिले। उन्होंने उन महापुरुषका बड़ा आदर-सत्कार किया, क्योंकि वे उन्हें नामसे जानते थे कि अमुक महापुरुष बड़े अच्छे सन्त हैं। वे सज्जन अच्छे साधक थे। वे कई बार सोचते थे कि सन्त-महात्माके पास जावें और उनसे साधन-सम्बन्धी रास्ता पूछें। आज तो भगवान्‌ने कृपा कर दी, तो घर बैठे गंगा आ गयीं। उन्होंने उन गृहस्थ-सन्तको भोजनादि कराया। सत्संग-सम्बन्धी बातें हुईं। जो बातें उन सज्जनने पूछीं, उनका अच्छी प्रकार समाधान उन सन्तने किया। वे सन्त जाते-जाते बोले कि 'भाई! जब भी कोई शंका हो तो यह मेरा पता है, आ जाना या मुझे समाचार कर देना, मैं आ जाऊँगा।' इसपर उन सज्जनने पूछा—'महाराज! अभी आपको किसने समाचार भेजा था कि आप पधारिये?' तो वे सन्त बोले—'मेरा घोड़ा अड़ गया था, इसलिये मुझे आना पड़ा।' तो उन सज्जनने कहा—'अबकी बार फिर आपका घोड़ा अड़ जाय तब फिर आ जाना।' तात्पर्य यह है कि जब साधककी सच्ची जिज्ञासा होती है तो सन्तोंका घोड़ा अड़ जाता है।

सन्तोंकी बात क्या! स्वयं भगवान्‌के कानोंमें भी सच्ची पुकार तुरन्त पहुँच जाती है और वे किसी सन्तके साथ हमारी भेंट करा देते हैं—

सच्चे हृदयसे प्रार्थना जब भक्त सच्चा गाय है।
तो भक्त-वत्सल कानमें वह पहुँच झट ही जाय है॥

११. सत्संगका असर

डाकुओंका एक दल था। उनमें जो बड़ा-बूढ़ा डाकू था, वह सबसे कहता था कि 'भाई, जहाँ कथा-सत्संग होता हो, वहाँ कभी मत जाना, नहीं तो तुम्हारा काम बन्द हो जायगा। कहीं जा रहे हो, बीचमें कथा होती हो तो जोरसे कान दबा लेना, उसको सुनना बिलकुल नहीं।' ऐसी शिक्षा डाकुओंको मिली हुई थी। एक दिन एक डाकू कहीं जा रहा था। रास्तेमें एक जगह सत्संग-प्रवचन हो रहा था। रास्ता वही था, उधर ही जाना था। जब वह डाकू उधरसे गुजरने लगा तो उसने जोरसे अपने कान दबा लिये। चलते हुए अचानक उसके पैरमें एक काँटा लग गया। उसने एक हाथसे काँटा निकाला और फिर कान दबाकर चल पड़ा। काँटा निकालते समय उसको यह बात सुनायी दी कि देवताकी छाया नहीं होती।

एक दिन उन डाकुओंने राजाके खजानेमें डाका डाला। राजाके गुप्तचरोंने खोज की। एक गुप्तचरको उन डाकुओंपर शक हो गया। डाकूलोग देवीकी पूजा किया करते थे। वह गुप्तचर देवीका रूप बनाकर उनके मंदिरमें देवीकी प्रतिमाके पास खड़ा हो गया। जब डाकूलोग वहाँ आये तो उसने कुपित होकर

डाकुओंसे कहा कि तुम लोगोंने इतना धन खा लिया, पर मेरी पूजा ही नहीं की! मैं तुम सबको खत्म कर दूँगी। ऐसा सुनकर वे सब डाकू डर गये और बोले कि क्षमा करो, हमसे भूल हो गयी। हम जरूर पूजा करेंगे। अब वे धूप-दीप जलाकर देवीकी आरती करने लगे। उनमेंसे जिस डाकूने कथाकी यह बात सुन रखी थी कि देवताकी छाया नहीं होती, वह बोला—यह देवी नहीं है। देवीकी छाया नहीं पड़ती, पर इसकी तो छाया पड़ रही है! ऐसा सुनते ही डाकुओंने देवीका रूप बनाये हुए उस गुप्तचरको पकड़ लिया और लगे मारने। वे बोले कि चोर तो तू है, हम कैसे हैं? हमने चोरी की ही नहीं। वह गुप्तचर वहाँसे भाग गया। सत्संगकी एक बात सुननेसे ही फर्क पड़ गया।

१२. चुगलीसे हानि

चुगली करना, इधर-उधर बात फैलाना, द्वेष पैदा करना, कलह करवाना—यह महान् हत्या है, बड़ा भारी पाप है। एक नौकर मुसलमानके यहाँ जाकर रहा। रहनेसे पहले उसने कह दिया कि मेरी इधर-की-उधर करनेकी आदत है, पहले ही कह देता हूँ! मियाँने सोचा कि कोई परवाह नहीं, **'मियाँ बीबी राजी तो क्या करेगा काजी'** और रख लिया उसे। अब वह एक दिन जाकर रोने लगा तो बीबीने पूछा कि रोता क्यों है? तो बोला कि आपके घर रहता हूँ, तनखा पाता हूँ, जिससे मेरा काम चलता है। आपके हितकी बात कहनेकी मनमें आती है, पर क्या करूँ, आपको जचे, न जचे! दु:ख होता है! बीबीने कहा कि बता तो दे, क्या दु:ख है? उसने कहा कि मियाँ साहब तो दूसरी शादी करना चाहते हैं, आपके आफत आ जायगी! तो बीबीने पूछा कि इसका कोई उपाय है? उसने कहा—'हाँ, इसका उपाय है। आप मियाँकी दाढ़ीके कुछ केश ले आओ तो मैं उसकी एक तावीज (यन्त्र) बना दूँगा, फिर सब ठीक हो जायगा।' उधर उस मियाँको जाकर कह दिया कि 'बीबी आपसे बड़ा द्वेष रखती है, कभी मारेगी आपको! मेरे आगे बात करती है, इसलिये आप खयाल रखना।' अब मियाँ भी सजग रहने लगा कि कहीं मेरेको मार न दे। एक दिन मियाँ नींदका बहाना बनाकर लेटे हुए थे। वह दाढ़ीके केश काटनेके लिये छुरी लेकर आयी तो उसने सोचा कि यह तो मेरा गला काटेगी। अत: दोनोंमें बड़ी कलह हो गयी। इसलिये कहा है—

चुगलखोरसे बात न करना, खड़ा न रहना पास।
मियाँ बीबी दोनों मरे, भयो कुटुम्ब को नास॥

१३. दृढ़ उद्देश्यसे लाभ

एक भक्त इमलीके वृक्षके नीचे बैठकर भगवान्‌का भजन कर रहा था। एक दिन वहाँ नारदजी महाराज आ गये। उस भक्तने नारदजीसे कहा कि आप इतनी कृपा करें कि जब भगवान्‌के पास जायँ, तब उनसे पूछ लें कि वे मुझे कब मिलेंगे? नारदजी भगवान्‌के पास गये और पूछा कि अमुक स्थानपर एक भक्त इमलीके वृक्षके नीचे बैठा है और भजन कर रहा है, उसको आप कब मिलेंगे? भगवान्‌ने कहा कि उस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने जन्मोंके बाद मिलूँगा। ऐसा सुनकर नारदजी उदास हो गये। वे उस भक्तके पास गये, पर उससे कुछ कहा नहीं। भक्तने प्रार्थना की कि भगवान्‌ने क्या कहा है, कह तो दो। नारदजी बोले कि तुम सुनोगे तो हताश हो जाओगे। जब भक्तने बहुत आग्रह किया, तब नारदजी बोले कि इस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने जन्मोंके बाद भगवान्‌की प्राप्ति होगी। भक्तने उत्सुकतासे पूछा कि क्या भगवान्‌ने

खुद ऐसा कहा है? नारदजीने कहा कि हाँ, खुद भगवान्‌ने कहा है। यह सुनकर वह भक्त खुशीसे नाचने लगा कि भगवान् मेरेको मिलेंगे, मिलेंगे, मिलेंगे!! क्योंकि भगवान्‌के वचन झूठे नहीं हो सकते। इतनेमें ही भगवान् वहाँ प्रकट हो गये! नारदजीने देखा तो उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे भगवान्‌से बोले कि महाराज! अगर यही बात थी तो मेरी फजीतीं क्यों करायी? आपको जल्दी मिलना था तो मिल जाते। मेरेसे तो कहा कि इतने जन्मोंके बाद मिलूँगा और आप अभी आ गये! भगवान्‌ने कहा कि नारद! जब तुमने इसके विषयमें पूछा था, तब यह जिस चालसे भजन कर रहा था, उस चालसे तो इसको उतने ही जन्म लगते। परन्तु अब तो इसकी चाल ही बदल गयी! यह तो 'भगवान् मेरेको मिलेंगे'—इतनी बातपर ही मस्तीसे नाचने लग गया! इसलिये मुझे अभी ही आना पड़ा। कारण कि उद्‌देश्यकी सिद्धिमें जो अटल विश्वास, अनन्यता, दृढ़ता, उत्साह होता है, उससे भजन तेज हो जाता है।

एक सन्त थे। वे एक जाटके घर गये। जाटने उनकी बड़ी सेवा की। सन्तने उससे कहा कि रोजाना नामजप करनेका कुछ नियम ले लो। जाटने कहा कि बाबा, हमारेको वक्त नहीं मिलता। सन्तने कहा कि अच्छा, रोजाना एक बार ठाकुरजीकी मूर्तिका दर्शन कर आया करो। जाटने कहा कि मैं तो खेतमें रह जाता हूँ, ठाकुरजीकी मूर्ति गाँवके मन्दिरमें है, कैसे करूँ? सन्तने उसको कई साधन बताये कि वह कुछ-न-कुछ नियम ले ले, पर वह यही कहता रहा कि मेरेसे यह बनेगा नहीं। मैं खेतमें काम करूँ या माला लेकर जप करूँ! इतना समय मेरे पास कहाँ है? बाल-बच्चोंका पालन-पोषण करना है; तुम्हारे-जैसे बाबाजी थोड़े ही हूँ कि बैठकर भजन करूँ। सन्तने कहा कि अच्छा, तू क्या कर सकता है? जाट बोला कि हमारे पड़ोसमें एक कुम्हार रहता है, उसके साथ मेरी मित्रता है; खेत भी पास-पासमें है और घर भी पास-पासमें है; रोजाना नियमसे एक बार उसको देख लिया करूँगा। सन्तने कहा कि ठीक है, उसको देखे बिना भोजन मत करना। जाटने स्वीकार कर लिया। जब उसकी स्त्री कहती कि रोटी तैयार हो गयी, भोजन कर लो तो वह चट बाड़पर चढ़कर कुम्हारको देख लेता और भोजन कर लेता। इस नियममें वह पक्का रहा।

एक दिन जाटको खेतमें जल्दी जाना था, इसलिये भोजन जल्दी तैयार कर लिया। उसने बाड़पर चढ़कर देखा तो कुम्हार दीखा नहीं। पूछनेपर पता लगा कि वह तो मिट्टी खोदने बाहर गया है! जाट बोला कि कहाँ मर गया, कम-से-कम देख तो लेता। अब जाट उसको देखनेके लिये तेजीसे भागा। उधर कुम्हारको मिट्टी खोदते-खोदते एक हाँड़ी मिल गयी, जिसमें तरह-तरहके रत्न, अशर्फियाँ भरी हुई थीं। उसके मनमें आया कि कोई देख लेगा तो मुश्किल हो जायगी! अतः वह देखनेके लिये ऊपर चढ़ा तो सामने वह जाट आ गया! कुम्हारको देखते ही जाट वापस भागा तो कुम्हारने समझा कि उसने वह हाँड़ी देख ली और अब वह आफत पैदा करेगा। कुम्हारने आवाज लगायी कि अरे, जा मत, जा मत! जाट बोला कि बस, देख लिया, देख लिया! कुम्हार बोला कि अच्छा, देख लिया तो आधा तेरा, आधा मेरा, पर किसीसे कहना मत! जाट वापस आया तो उसको धन मिल गया। उसके मनमें विचार आया कि सन्तसे अपना मनचाहा नियम लेनेमें इतनी बात है, अगर सदा उनकी आज्ञाका पालन करूँ तो कितना लाभ है! ऐसा विचार करके वह जाट और उसका मित्र कुम्हार—दोनों ही भगवान्‌के भक्त बन गये।

तात्पर्य यह है कि हम दृढ़तासे अपना एक उद्‌देश्य बना लें कि चाहे जो हो जाय, हमें तो भगवान्‌की तरफ चलना है, भगवान्‌का भजन करना है। उद्‌देश्य बनानेकी अपेक्षा भी उद्‌देश्यको पहचान लें। कारण कि उद्‌देश्य पहले बना है, मनुष्यजन्म पीछे मिला है। मनुष्यजन्म केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है—इस उद्‌देश्यको पहचान लें, सन्देहरहित मान लें तो फिर भजन अपने-आप होगा।

१४. राम काज करिबे को आतुर

एक बार भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—तीनों भाइयोंने माता सीताजीसे मिलकर विचार किया कि हनुमान्‌जी हमें रामजीकी सेवा करनेका मौका ही नहीं देते, पूरी सेवा अकेले ही किया करते हैं। अत: अब रामजीकी सेवाका पूरा काम हम ही करेंगे, हनुमान्‌जीके लिये कोई भी काम नहीं छोड़ेंगे। ऐसा विचार करके उन्होंने सेवाका पूरा काम आपसमें बाँट लिया। जब हनुमान्‌जी सेवाके लिये सामने आये, तब उनको रोक दिया और कहा कि आजसे प्रभुकी सेवा बाँट दी गयी है, आपके लिये कोई सेवा नहीं है। हनुमान्‌जीने देखा कि भगवान्‌को जम्हाई (जँभाई) आनेपर चुटकी बजानेकी सेवा किसीने भी नहीं ली है। अत: उन्होंने यही सेवा अपने हाथमें ले ली। यह सेवा किसीके खयालमें ही नहीं आयी थी! हनुमान्‌जीमें प्रभुकी सेवा करनेकी लगन थी। जिसमें लगन होती है, उसको कोई-न-कोई सेवा मिल ही जाती है। अब हनुमान्‌जी दिनभर रामजीके सामने ही बैठे रहे और उनके मुखकी तरफ देखते रहे; क्योंकि रामजीको किस समय जम्हाई आ जाय, इसका क्या पता? जब रात हुई, तब भी हनुमान्‌जी उसी तरह बैठे रहे। भरतादि सभी भाइयोंने हनुमान्‌जीसे कहा कि रातमें आप यहाँ नहीं बैठ सकते, अब आप चले जायँ। हनुमान्‌जी बोले कि कैसे चला जाऊँ? रातको न जाने कब रामजीको जम्हाई आ जाय! जब बहुत आग्रह किया, तब हनुमान्‌जी वहाँसे चले गये और छतपर जाकर बैठ गये। वहाँ बैठकर उन्होंने लगातार चुटकी बजाना शुरू कर दिया, क्योंकि रामजीको न जाने कब जम्हाई आ जाय! यहाँ रामजीको ऐसी जम्हाई आयी कि उनका मुख खुला ही रह गया, बन्द हुआ ही नहीं! यह देखकर सीताजी बड़ी व्याकुल हो गयीं कि न जाने रामजीको क्या हो गया है! भरतादि सभी भाई आ गये। वैद्योंको बुलाया गया तो वे भी कुछ कर नहीं सके। वसिष्ठजी आये तो उनको आश्चर्य हुआ कि ऐसी चिन्ताजनक स्थितिमें हनुमान्‌जी दिखायी नहीं दे रहे हैं! और सब तो यहाँ हैं, पर हनुमान्‌जी कहाँ हैं? खोज करनेपर हनुमान्‌जी छतपर बैठे चुटकी बजाते हुए मिले। उनको बुलाया गया और वे रामजीके पास आये तो चुटकी बजाना बन्द करते ही रामजीका मुख स्वाभाविक स्थितिमें आ गया! अब सबकी समझमें आया कि यह सब लीला हनुमान्‌जीके चुटकी बजानेके कारण ही थी! भगवान्‌ने यह लीला इसलिये की थी कि जैसे भूखेको अन्न देना ही चाहिये, ऐसे ही सेवाके लिये आतुर हनुमान्‌जीको सेवाका अवसर देना ही चाहिये, बन्द नहीं करना चाहिये। फिर भरतादि भाइयोंने ऐसा आग्रह नहीं रखा।

१५. तीन दिनका राज्य

एक राजकुँअर थे। स्कूलमें पढ़नेके लिये जाते थे। वहाँ प्रजाके बालक भी पढ़ने जाते थे। उनमेंसे पाँच-सात बालक राजकुँअरके मित्र हो गये। वे मित्र बोले—'आप राजकुँअर हो, राजगद्दीके मालिक हो। आज आप प्रेम और स्नेह करते हो, लेकिन राजगद्दी मिलनेपर ऐसा ही प्रेम निभायेंगे, तब हम समझेंगे कि मित्रता है, नहीं तो क्या है?' राजकुँअर बोले कि अच्छी बात है। समय बीतता गया। सब बड़े हो गये। राजकुँअरको राजगद्दी मिल गयी। एक-दो वर्षमें राज्य अच्छी प्रकार जम गया। राजकुँअरने अपने मित्रोंमेंसे एकको बुलाया और कहा कि तुम्हें याद है कि तुमने कहा था—'राजा बननेके बाद मित्रता निबाहो, तब समझें।' 'अब तुम्हें तीन दिनके लिये राज्य दिया जाता है। आप राजगद्दीपर बैठो और

राज्य करो।' वह बोला—'अन्नदाता! वह तो बचपनकी बात थी। मैं राज्य नहीं चाहता।' बहुत आग्रह करनेपर उस मित्रने तीन दिनके लिये राज्य स्वीकार कर लिया।

वह मित्र राजगद्दीपर बैठा और उस दिन खान-पान ऐश-आराममें मगन हो गया। दूसरे दिन सैर-सपाटा आदिमें लगा रहा। रात हुई तो बोला—'हम तो राजमहलमें जायँगे।' सब बड़ी मुश्किलमें पड़ गये। रानी बड़ी पतिव्रता थी। वह मित्र तो अड़ गया कि सब कुछ मेरा है, मैं राजा हूँ तो रानी भी मेरी है। रानीने अपने कुलगुरु ब्राह्मण देवतासे पुछवाया कि अब मैं क्या करूँ? गुरुजी महाराजने कहा—'बेटी! तुम चिन्ता मत करो, हम सब ठीक कर देंगे। गुरुजीने उस तीन दिनके लिये राजा बने मित्रसे पूछा कि आप महलोंमें जाना चाहते हैं तो राजाकी भाँति जाना होगा। इसलिये आपका ठीक तरहसे श्रृंगार होगा। उन्होंने भृत्योंको बुलाया और आज्ञा दी—महाराजके महलोंमें जानेकी तैयारी करो, श्रृंगार करो। नाईको बुलाया और कहा कि महाराजकी हजामत करो ठीक ढंगसे। तीन-चार घन्टे हो गये, तब वह राजा बोला—ऐसे क्या देरी लगाते हो? तो नाई बोला—महाराज! राजाओंका मामला है, साधारण आदमीकी तरह हजामत कैसे होगी? हजामतमें लम्बी कर दी अर्थात् बहुत देर लगा दी। इसके बाद पोशाक पहनानेवाला आदमी आया। उसने बहुत देर पोशाक पहनानेमें लगा दी। उसके बाद इत्र-तेल-फुलेल आदि लगानेवाला आया। उसने देर लगायी। इस प्रकार श्रृंगार-श्रृंगारमें ही रात बीत गयी। अब सुबह हो गयी। अन्तिम दिन था। समय पूरा हो गया और राजगद्दी वापस राजा साहबको मिल गयी। राजा साहबने अब अपने दूसरे मित्रको बुलाया और आग्रहपूर्वक तीन दिनके लिये राज्य दे दिया और बोले कि मैं, मेरी स्त्री, मेरा घर—ये सब तो मेरे हैं। मैं भी आपकी प्रजा हूँ। बाकी सारा राज्य आपका है। वह मित्र तीन दिनके लिये राजा बन गया।

राज्य मिलते ही उस मित्रने पूछा कि मेरा कितना अधिकार है? मन्त्रीने जवाब दिया—'महाराज! सारी फौज, पलटन, खजाना और इतनी पृथ्वीपर आपका राज्य है।' उसने दस-बीस योग्य अधिकारियोंको बुलाकर कहा कि हमारे राज्यमें कहाँ-कहाँ, क्या-क्या चीजकी कमी है, किसके क्या-क्या तकलीफें हैं—पता लगाकर मुझे बताओ। उन्होंने आकर खबर दी—फलाँ-फलाँ गाँवमें पानीकी तकलीफ है, कुआँ नहीं है, धर्मशाला नहीं है, पाठशाला नहीं है। उस राजाने हुक्म दिया कि सब गाँवोंमें जहाँ जो कमी है, तीन दिनमें पूरी हो जानी चाहिये। खजांचीको कह दिया कि मकान, धर्मशाला, पाठशाला, कुएँ आदि बनानेमें जो भी खर्च हो, वह तुरन्त दिया जाय। राजाका हुक्म होते ही अनेक लोग राजाज्ञाके पालनमें लग गये। तीन दिन पूरे होते-होते विभिन्न स्थानोंसे समाचार आने लगे कि इतना-इतना काम हो गया है और इतना बाकी रहा है। जल्दी पूरा करनेका आदेश देकर, उस मित्रने राज्य वापस राजाको दे दिया। राजा बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि हम तुम्हें जाने नहीं देंगे, अपना मन्त्री बनायेंगे। हमें राज्य मिला, लेकिन हमने प्रजाका इतना ध्यान नहीं रखा, जितना आपने तीन दिनमें रखा है। अब राजा तो नाममात्रके रहे और वह मित्र सदाके लिये उनका विश्वासपात्र मन्त्री बन गया।

इसी प्रकार हमें बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था—ऐसे तीन दिनके लिये भगवान्‌की तरफसे राज्य मिला है। अब जो रुपया-संग्रह और भोग भोगनेमें लगे हैं, उनकी तो हजामत हो रही है और जो दूसरे मित्रकी तरह सेवा कर रहे हैं, उनको भगवान् कहते हैं—

'मैं तो हूँ भगतन को दास, भगत मेरे मुकुट मणि॥'

तो भाई, हमारे पास जो भी धन, सम्पत्ति, वैभव आदि है, उसके द्वारा सबका प्रबन्ध करो, सबकी सेवा करो। यह राज्य तीन दिनके लिये मिला है। अब निर्णय अपनेको करना है कि हजामतमें समय खोना

है या भगवान्‌का विश्वासपात्र बनना है, लक्ष्मीजी हमारी माँ हैं। भगवान् हमारे पिता हैं। निर्वाहके लिये लक्ष्मी माँसे ले लो; लेकिन लक्ष्मीजीको भोगना चाहते हैं, स्त्री बनाना चाहते हैं—यह पाप है। वह हमारी पूजनीया माँ है। सेवाभाव होगा तो माँ भी खुश होंगी और पिताजी भी खुश होंगे। फिर हमें संसारमें लौटनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी। पिताजीके धाममें हमारा सदा निवास होगा।

१६. विचित्र बहुरुपिया

एक बाबाजी कहीं जा रहे थे। रास्तेमें एक खेत आया। बाबाजी वहाँ लघुशंकाके लिये (पेशाब करने) बैठ गये। पीछेसे खेतके मालिकने उनको देखा तो समझा कि हमारे खेतमेंसे मतीरा चुराकर ले जानेवाला यही है; क्योंकि खेतमेंसे मतीरोंकी चोरी हुआ करती थी। उसने पीछेसे आकर बाबाजीके सिरपर लाठी मारी और बोला—'हमारे खेतसे मतीरा चुराता है?' बाबाजी बोले—'भाई! मैं तो लघुशंका कर रहा था!' कृषकने बाबाजीको देखा तो बहुत दु:खी हुआ और बोला—'महाराज! मेरेसे बड़ा कसूर हो गया! मैं समझा था कि यह मतीरा चुरानेवाला है।' बाबाजी बोले— 'तेरा कसूर है ही नहीं; क्योंकि तूने तो चोरको मारा है, मेरेको थोड़े ही मारा है! क्या तूने साधु समझकर मारा है? कृषक बोला— 'नहीं महाराज! चोर समझकर मारा है। अब मैं क्या करूँ?' बाबाजी बोले—'जिसमें तेरी प्रसन्नता हो, वह कर।' बाबाजीके सिरमें लाठी लगनेसे रक्त निकल रहा था और पीड़ा हो रही थी। कृषक उनको गाड़ीपर बैठाकर अस्पताल ले गया और वहाँ भरती कर दिया। वहाँ उनकी मलहम-पट्टी करके उनको सुला दिया। थोड़ी देर बाद एक नौकर दूध लेकर आया और बाबाजीसे बोला—'महाराज! यह दूध लाया हूँ, पी लीजिये।' बाबाजी पहले हँसे, फिर बोले—'वाह! वाह! तू बड़ा विचित्र बहुरुपिया है, पहले लाठी मारता है, फिर दूध पिलाता है!' वह आदमी बोला—'महाराज! मैंने लाठी नहीं मारी है, लाठी मारनेवाला दूसरा था!' बाबाजी बोले—'नहीं, मैं तुझे पहचानता हूँ, लाठी मारनेवाला तू ही था। तेरे सिवाय दूसरा कौन आये, कहाँसे आये और कैसे आये? बता! यह केवल तेरी ही लीला है!' इस प्रकार बाबाजीकी दृष्टि तो **'वासुदेवः सर्वम्'** पर थी, पर वह आदमी डर रहा था कि बाबाजी कहीं मेरेको फँसा न दें! तात्पर्य है कि सब रूपोंमें भगवान् ही हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

सीय राममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(मानस, बाल० ८। १)

१७. नया जन्म

एक चोरने राजाके महलमें चोरी की। राजाके सिपाहियोंको पता चला तो उन्होंने उसके पदचिह्नोंका पीछा किया। चोरके पदचिह्नोंको देखते-देखते वे नगरसे बाहर आ गये। पासमें एक गाँव था। उन्होंने चोरके पदचिह्न गाँवकी ओर जाते देखे। सिपाहियोंने गाँवके बाहर चक्कर लगाकर देखा कि चोर गाँवसे बाहर नहीं गया, गाँवमें ही है। गाँवमें जाकर उन्होंने देखा एक जगह सत्संग हो रहा है और बहुत-से लोग बैठकर सत्संग सुन रहे हैं। सिपाहियोंको सन्देह हुआ कि चोर भी सत्संगमें लोगोंके बीच बैठा होगा।

वे वहीं खड़े रहकर उसका इन्तजार करने लगे।

सत्संगमें सन्त कह रहे थे कि जो मनुष्य सच्चे हृदयसे भगवान्‌की शरणमें चला जाता है, भगवान् उसके सब पापोंको माफ कर देते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर।'

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वाल्मीकीय रामायण ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे रक्षाकी याचना करता है, उसे मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

इसकी व्याख्या करते हुए सन्तने कहा कि जो भगवान्‌का हो गया, उसका मानो दूसरा जन्म हो गया! अब वह पापी नहीं रहा, साधु हो गया!

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्य भक्त होकर मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।'

चोर वहीं बैठा सुन रहा था। उसपर सत्संगकी बातोंका असर पड़ा। उसने वहीं बैठे-बैठे यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि अब मैं भगवान्‌की शरण लेता हूँ! अब मैं कभी चोरी नहीं करूँगा। मैं भगवान्‌का हो गया! सत्संग समाप्त हुआ। लोग उठकर बाहर जाने लगे। बाहर राजाके सिपाही सबके पदचिह्नोंको देख रहे थे। चोर बाहर निकला तो सिपाहियोंने उसके पदचिह्नोंको पहचान लिया और उसको पकड़ लिया।

सिपाहियोंने चोरको राजाके सामने पेश किया और कहा कि 'महाराज! हमने चोरको पकड़ लिया है। इसी आदमीने चोरी की है।' राजाने चोरसे पूछा—'इस महलमें तुमने चोरी की? सच-सच बताओ, तुमने चोरी किया धन कहाँ रखा है?' चोरने दृढ़तापूर्वक कहा—'महाराज! चोरी मैंने नहीं की। मैंने तो इस जन्ममें ही कभी चोरी नहीं की!' सिपाही बोले—'महाराज! यह झूठ बोलता है। हम इसके पदचिह्नोंको पहचानते हैं। इसके पदचिह्नोंसे साफ सिद्ध होता है कि चोरी इसीने की है।' राजाने चोरकी परीक्षा लेनेकी आज्ञा दी, जिससे पता चले कि वह झूठा है या सच्चा।

चोरके हाथपर पीपलके ढाई पत्ते रखकर उसको कच्चे सूतसे बाँध दिया गया। फिर उसके ऊपर गरम करके लाल किया हुआ लोहा रखा। उसका हाथ जलना तो दूर रहा, पत्ते और सूत भी नहीं जला। उसने लोहा नीचे फेंका तो जहाँ वह गिरा, वह जगह काली हो गयी। राजाने देखा कि इसने वास्तवमें चोरी नहीं की, यह निर्दोष है। अब राजा सिपाहियोंपर बहुत नाराज हुआ कि तुमलोगोंने एक निर्दोष पुरुषपर चोरीका आरोप लगाया। तुमलोगोंको दण्ड दिया जायगा। यह सुनकर चोर बोला—'नहीं महाराज! इनको आप दण्ड न दें। इनका कोई दोष नहीं है। चोरी मैंने ही की थी!' राजाने सोचा कि यह साधु पुरुष है, इसलिये सिपाहियोंको दण्डसे बचानेके लिये चोरीका दोष अपनेपर ले रहा है। राजा बोला—'तुम इनपर दया करके, इनको बचानेके लिये ऐसा कह रहे हो। पर मैं इनको अवश्य दण्ड दूँगा।' चोर बोला—'महाराज! मैं झूठ नहीं बोल रहा हूँ, चोरी मैंने ही की थी। अगर आपको विश्वास न हो तो अपने आदमियोंको मेरे साथ भेजो। मैंने चोरीका धन जंगलमें जहाँ छिपा रखा है, वहाँसे लाकर दिखा दूँगा।' राजाने अपने आदमियोंको

चोरके साथ भेजा। चोर उनको वहाँ ले गया, जहाँ उसने धन जमीनमें गाड़ रखा था। चोरने वहाँसे धन निकाल लिया और लाकर राजाके सामने रख दिया। यह देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ! राजा बोला—'अगर तुमने चोरी की थी तो परीक्षा करनेपर तुम्हारा हाथ क्यों नहीं जला? परन्तु तुम्हारा हाथ भी नहीं जला और तुमने चोरीका धन भी लाकर दे दिया—यह हमारी समझमें नहीं आ रहा है! ठीक-ठीक बताओ, बात क्या है?'

चोर बोला—'महाराज! मैंने चोरी करनेके बाद धनको जंगलमें गाड़ दिया और गाँवमें चला गया। वहाँ एक जगह सत्संग हो रहा था। मैं वहाँ जाकर लोगोंके बीच बैठ गया। सत्संगमें मैंने सुना कि जो भगवान्‌की शरण लेकर पुनः पाप न करनेका निश्चय कर लेता है, उसको भगवान् सब पापोंसे मुक्त कर देते हैं। उसका नया जन्म हो जाता है। इस बातका मेरेपर असर पड़ा और मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि अब मैं कभी चोरी नहीं करूँगा। अब मैं भगवान्‌का हो गया। इसलिये तबसे मेरा नया जन्म हो गया। इस जन्ममें मैंने कोई चोरी नहीं की, इसलिये मेरा हाथ नहीं जला। आपके महलमें मैंने जो चोरी की थी, वह तो पिछले जन्ममें की थी!'

१८. कल्याण कैसे होगा?

एक वेश्या थी। उसके मनमें विचार आया कि मेरा कल्याण कैसे हो? अपने कल्याणके लिये वह साधुओंके पास गयी। उन्होंने कहा कि तुम साधुओंका संग करो। साधु त्यागी होते हैं, इसलिये उनकी सेवा करो तो कल्याण होगा। फिर वह ब्राह्मणोंके पास गयी तो उन्होंने कहा कि साधु तो बनावटी हैं, पर हम जन्मसे ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण सबका गुरु होता है। अतः तुम ब्राह्मणोंकी सेवा करो तो कल्याण होगा। इसके बाद वह संन्यासियोंके पास गयी तो उन्होंने कहा कि संन्यासी सब वर्णोंका गुरु होता है, इसलिये उसकी सेवा करनेसे कल्याण होगा। फिर वह वैरागियोंके पास गयी तो उन्होंने कहा कि वैरागी सबसे तेज होता है; अतः उसकी सेवा करो तो कल्याण होगा। फिर वह अलग-अलग सम्प्रदायोंके गुरुओंके पास गयी तो उन्होंने कहा कि हम सबसे ऊँचे हैं, शेष सब पाखण्डी हैं। तुम हमारी चेली बन जाओ, हमारेसे मन्त्र लो, तब हम वह बात बतायेंगे, जिससे तुम्हारा कल्याण हो जायगा। इस प्रकार वह वेश्या जहाँ भी गयी, वहीं उसको अपने-अपने वर्ण, आश्रम, मत, सम्प्रदाय आदिका पक्षपात दिखायी दिया। यह देखकर उसके मनमें आया कि अब तत्त्व समझमें आ गया! युक्ति हाथ लग गयी! साधु कहते हैं कि साधुओंको पूजो, ब्राह्मण कहते हैं कि ब्राह्मणोंको पूजो तो हम क्यों न वेश्याओंको पूजें! ऐसा सोचकर उसने वेश्याभोज करनेका विचार किया। उसमें सब वेश्याओंको निमन्त्रण दिया। निश्चित समयपर सब वेश्याएँ वहाँ आने लगीं।

उस गाँवके बाहर एक विरक्त, त्यागी सन्त रहते थे। उन्होंने देखा तो विचार किया कि आज क्या बात है? जब उनको मालूम हुआ कि आज वेश्याभोज हो रहा है तो वे वेश्याको क्रियात्मक शिक्षा देनेके लिये वहाँ पहुँच गये। रसोई बन रही थी। रसोई बनानेवालोंने पकाये हुए चावलोंका पानी (माँड़) नालीमें गिराया। वेश्या छतपर खड़ी होकर जिधर देख रही थी, उधर बाबाजी बैठ गये और उस माँड़से हाथ धोने लगे। वेश्याने देखा तो बोली कि बाबाजी, यह क्या कर रहे हो? बाबाजीने कहा कि तू अन्धी है क्या? तेरेको दिखायी नहीं देता, मैं तो अपने हाथ धो रहा हूँ! वेश्याने बाबाजीको ऐसा करनेसे रोका तो वे माने नहीं। वेश्या उतरकर नीचे आयी और बोली कि बाबाजी, यह चावलोंका पानी है, इससे तो हाथ और मैले होंगे! आप साफ पानीसे हाथ धोओ। बाबाजीने

कहा कि अगर इससे हाथ मैले हो जायँगे तो क्या वेश्याएँ ज्यादा साफ, निर्मल हैं, जिससे इनकी सेवासे कल्याण हो जायगा? हाथ मैले पानीसे साफ होते हैं या साफ पानीसे? यह सुनकर वेश्याको होश आया कि बाबाजी बात तो ठीक कहते हैं! तो फिर कल्याण कैसे होगा? बाबाजी बोले—जिस सन्तमें किसी मत, सम्प्रदाय आदिका पक्षपात, आग्रह न हो, जिसके आचरण शुद्ध हों, जिसके भीतर एक ही भाव हो कि जीवका कल्याण कैसे हो, जिसमें किसी प्रकारकी कामना न हो—वह सन्त चाहे स्त्री हो या पुरुष, साधु हो या ब्राह्मण, किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो, उस सन्तका संग करो, उनकी बातें सुनो तो कल्याण होगा।

तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ स्वार्थ और अभिमान होगा, भोग और संग्रहकी इच्छा होगी, वहाँ आसुरी सम्पत्ति आयेगी ही। जहाँ आसुरी सम्पत्ति आयेगी वहाँ शान्ति नहीं रहेगी, प्रत्युत अशान्ति होगी, संघर्ष होगा, पतन होगा।

१९. भगवान्‌की मरजी

एक बाबाजी थे। कहीं जा रहे थे नौकामें बैठकर। नौकामें और भी बहुत लोग थे। संयोगसे नौका बीचमें बह गयी। ज्यों ही वह नौका जोरसे बही, मल्लाहने कहा—'अपने-अपने इष्टको याद करो, अब नौका हमारे हाथमें नहीं रही। प्रवाह जोरसे आ रहा है और आगे भँवर पड़ता है, शायद डूब जाय। अतः प्रभुको याद करो।' यह सुनकर कई तो रोने लगे, कई भगवान्‌को याद करने लगे। बाबाजी भी बैठे थे। पासमें था कमण्डलु। उन्होंने **'जय सियाराम जय जय सियाराम, जय सियाराम जय जय सियाराम'** बोलना शुरू कर दिया और कमण्डलुसे पानी भर-भरकर नौकामें गिराने लगे। लोगोंने कहा—'यह क्या करते हैं?' पर कौन सुने! वे तो नदीसे पानी नौकामें भरते रहे और **'जय सियाराम जय जय सियाराम'** कहते रहे। कुछ ही देरमें नौका घूमकर ठीक प्रवाहमें आ गयी, जहाँ नाविकका वश चलता था। तब नाविकने कहा—'अब घबरानेकी बात नहीं रही, किनारा निकट ही है।' यह सुनकर बाबाजी नौकासे जलको बाहर फेंकने लगे और वैसे ही **'जय सियाराम जय जय सियाराम**..............' कहने लगे। लोग बोले—'तुम पागल हो क्या? ऐसे-ऐसे काम करते हो?' बाबाजी—'क्या बात है भाई?' लोग—'तुमको दया नहीं आती? साधु बने हो। वेष तो तुम्हारा साधुका और काम ऐसा मूर्खके जैसा करते हो? लोग डूब जाते तब?' बाबाजी—'दया तो तब आती जब मैं अलग होता। मैं तो साधु ही रहा, मूर्खका काम कैसे किया जाय?' लोग—'जब नौका बह गयी तब तो तुम पानी नौकाके भीतर भरने लगे और जब नौका भँवरसे निकलने लगी तब पानी वापस बाहर निकालने लगे। उलटा काम करते हो?' बाबाजी—'हम तो उलटा नहीं सीधा ही करते है। उलटा कैसे हुआ?' लोग—'सीधा कैसे हुआ?' बाबाजी—'सीधा ऐसे कि हम तो पूरा जानते नहीं। मैंने समझा कि भगवान्‌को नौका डुबोनी है। उनकी ऐसी मर्जी है तो अपने भी इसमें मदद करो और जब नौका प्रवाहसे निकल गयी तो समझा कि नौका तो उन्हें डुबोनी नहीं है, तब हमें तो उनकी इच्छाके अनुसार करना है—यह सोचकर पानी नौकासे बाहर फेंकने लगे। साधु ही हो गये तब हमें हमारे जीने-मरनेसे तो मतलब नहीं है, भगवान्‌की मर्जीमें मर्जी मिलाना है। पूरी जानते हैं नहीं। पहले यह जान लेते कि भगवान् खेल ही करते हैं, उन्हें नौका डुबोनी नहीं है तो हम उसमें पानी नहीं भरते। पर उस समय मनमें यह बात समझमें नहीं आयी। हमने यही समझा था कि नौका डुबोनी है, यही इशारा है।'

यह शरणागत भक्तका लक्षण है। यह तो उन सन्तोंने कर दिया; पर आपलोगोंसे यह कहना है कि कहीं नौका डूबने लगे तो उसमें पानी तो नहीं भरना, परंतु रोना बिलकुल नहीं। यही समझना कि बहुत ठीक है, बड़ी मौजकी, बड़े आनन्दकी बात है; इसमें भी कोई छिपा हुआ मंगल है।

२०. बुद्धिमान् राजा

किसीके पास धन बहुत है तो यह कोई विशेष भगवत्कृपाकी बात नहीं है। ये धन आदि वस्तुएँ तो पापीको भी मिल जाती हैं—'**सुत दारा अरु लक्ष्मी पापी के भी होय।**' इनके मिलनेमें कोई विलक्षण बात नहीं है। एक राजा थे। उस राजाकी साधु-वेशमें बड़ी निष्ठा थी। यह निष्ठा किसी-किसीमें ही होती है। वह राजा साधु-सन्तोंको देखकर बहुत राजी होता। साधु-वेशमें कोई आ जाय, कैसा भी आ जाय, उसका बड़ा आदर करता, बहुत सेवा करता। कहीं सुन लेता कि अमुक तरफसे सन्त आ रहे हैं तो पैदल जाता और उनको ले आता, महलोंमें रखता और खूब सेवा करता। साधु जो माँगे, वही दे देता। उसकी ऐसी प्रसिद्धि हो गयी। पड़ोस-देशमें एक दूसरा राजा था, उसने यह बात सुन रखी थी। उसके मनमें ऐसा विचार आया कि यह राजा बड़ा मूर्ख है, इसको साधु बनकर कोई भी ठग ले। उसने एक बहुरुपियेको बुलाकर कहा कि तुम उस राजाके यहाँ साधु बनकर जाओ। वह तुम्हारे साथ जो-जो बर्ताव करे, वह आकर मेरेसे कहना। बहुरुपिया भी बहुत चतुर था। वह साधु बनकर वहाँ गया। वहाँके राजाने जब यह सुना कि अमुक रास्तेसे एक साधु आ रहा है तो वह उसके सामने गया और उसको बड़े आदर-सत्कारसे अपने महलमें ले आया, अपने हाथोंसे उसकी खूब सेवा की।

एक दिन राजाने उस साधुसे कहा कि 'महाराज, कुछ सुनाओ।' साधुने कहा कि 'राजन्! आप तो बड़े भाग्यशाली हो कि आपको इतना बड़ा राज्य मिला है, धन मिला है। आपके पास इतनी बड़ी फौज है। आपकी स्त्री, पुत्र, नौकर आदि सभी आपके अनुकूल हैं। इसलिये भगवान्की आपपर बड़ी कृपा है!' इस प्रकार उस साधुने कई बातें कहीं। राजाने चुप करके सुन लीं। दो-तीन दिन रहनेके बाद वह साधु (बहुरुपिया) बोला कि 'राजन्! अब तो हम जायँगे।' राजा बोला—'अच्छा महाराज, जैसी आपकी मर्जी।' राजाने उसके आगे खजाना खोल दिया और कहा कि इसमेंसे आपको जो सोना-चाँदी, माणिक-मोती, रुपये-पैसे चाहिये, खूब ले लीजिये। उस साधुने वहाँसे अच्छा-अच्छा माल ले लिया और ऊँटपर लाद दिया। जब वह रवाना होने लगा तब राजाने कहा कि 'महाराज, यह तो आपने अपनी तरफसे लिया है। एक चाँदीका बक्सा है, वह मैं अपनी तरफसे देता हूँ।' राजाने एक चाँदीके बक्सेको एक रेशमी जरीदार कपड़ेमें लपेटकर उसको दे दिया और कहा कि 'यह मेरी तरफसे आपको भेंट है।' उस साधुने वह बक्सा ले लिया और वहाँसे चल दिया।

वह साधु (बहुरुपिया) अपने राजाके पास पहुँचा। राजाने पूछा कि 'क्या-क्या लाये?' उसने सब बता दिया कि 'लाखों-करोड़ोंका धन ले आया हूँ।' राजाने समझा कि यह पड़ोसका राजा महान् मूर्ख ही है; क्योंकि इसको साधुकी पहचान ही नहीं है कि कैसा साधु है! यह तो बड़ा बेसमझ है! वह बहुरुपिया बोला कि 'एक बक्सा मुझे उस राजाने अपनी तरफसे दिया है कि यह मेरी तरफसे भेंट है।' राजाने कहा कि 'ठीक है, बक्सा लाओ, उसको मैं देखूँगा।' उसने वह बक्सा राजाके पास रख दिया और उसकी चाबी दे दी। राजाने खोलकर देखा कि चाँदीका एक बक्सा है, उसके भीतर एक और चाँदीका बक्सा है, फिर उसके भीतर एक और

चाँदीका छोटा बक्सा है। तीनों बक्सोंको खोलकर देखा तो भीतरके छोटे बक्सेमें एक फूटी कौड़ी पड़ी मिली। राजाने सोचा कि क्या मतलब है इसका! तो वह समझ गया कि यह राजा मूर्ख नहीं है, बड़ा बुद्धिमान् है। साधु-वेशमें इसकी निष्ठा आदरणीय है। राजाने बहुरुपियेसे पूछा कि 'तुमसे क्या बात हुई, सारी बात बताओ।' उसने कहा कि 'एक दिन उस राजाने मेरेसे कहा कि महाराज, कुछ सुनाओ। मैंने कहा कि तुम तो बड़े भाग्यशाली हो। तुम्हारे पास राज्य है, धन-सम्पत्ति है, अनुकूल स्त्री-पुत्र आदि हैं, तुम्हारेपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है।' यह सुनकर राजा सारी बात समझ गया। तीन बक्से होनेका मतलब था—स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर। इनके भीतर क्या है! भीतर तो फूटी कौड़ी है, कुछ नहीं है। बाहरसे वेश-भूषा बड़ी अच्छी है, बाहरसे बड़े अच्छे लगते हैं पर भीतर कुछ नहीं है। आपपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है—यह जो बात कही, यह फूटी कौड़ी है। यह कोई कृपा हुआ करती है? कृपा तो यह होती है कि भगवान्‌का भजन करे, भगवान्‌में लग जाय।

२१. भगवान् किसके दास होते हैं ?

वृन्दावनमें एक भक्तको बिहारीजीके दर्शन नहीं हुए। लोग कहते कि अरे! बिहारीजी सामने ही तो खड़े हैं। पर वह कहता कि भाई! मेरेको तो नहीं दीख रहे! इस तरह तीन दिन बीत गये पर दर्शन नहीं हुए। उस भक्तने ऐसा विचार किया कि सबको दर्शन होते हैं और मेरेको नहीं होते, तो मैं बड़ा पापी हूँ कि ठाकुरजी दर्शन नहीं देते; अतः मेरेको यमुनाजीमें डूब जाना चाहिये। ऐसा विचार करके रात्रिके समय वह यमुनाजीकी तरफ चला। वहाँ यमुनाजीके पास एक कोढ़ी सोया हुआ था। उसको भगवान्‌ने स्वप्नमें कहा कि अभी यहाँपर जो आदमी आयेगा, उसके तुम पैर पकड़ लेना। उसकी कृपासे तुम्हारा कोढ़ दूर हो जायगा। वह कोढ़ी उठकर बैठ गया। जैसे ही वह भक्त वहाँ आया, कोढ़ीने उसके पैर पकड़ लिये और कहा कि मेरा कोढ़ दूर करो। भक्त बोला कि अरे! मैं तो बड़ा पापी हूँ, ठाकुरजी मुझे दर्शन भी नहीं देते! बहुत झंझट किया; परन्तु कोढ़ीने उसको छोड़ा नहीं। अन्तमें कोढ़ीने कहा कि अच्छा, तुम इतना कह दो कि तुम्हारा कोढ़ दूर हो जाय। वह बोला कि इतनी हमारेमें योग्यता ही नहीं। कोढ़ीने जब बहुत आग्रह किया तब उसने कह दिया कि तुम्हारा कोढ़ दूर हो जाय। ऐसा कहते ही क्षणमात्रमें उसका कोढ़ दूर हो गया। तब उसने स्वप्नकी बात भक्तको सुना दी कि भगवान्‌ने ही स्वप्नमें मुझे ऐसा करनेके लिये कहा था। यह सुनकर भक्तने सोचा कि आज नहीं मरूँगा और लौटकर पीछे आया तो ठाकुरजीके दर्शन हो गये। उसने ठाकुरजीसे पूछा कि महाराज! पहले आपने दर्शन क्यों नहीं दिये? ठाकुरजीने कहा कि तुमने उम्रभर मेरे सामने कोई माँग नहीं रखी, मेरेसे कुछ चाहा नहीं; अतः मैं तुम्हें मुँह दिखानेलायक नहीं रहा! अब तुमने कह दिया कि इसका कोढ़ दूर कर दो, तो अब मैं मुँह दिखानेलायक हो गया! इसका क्या अर्थ हुआ? कि जो, कुछ भी नहीं चाहता, भगवान् उसके दास हो जाते हैं।

हनुमान्‌जीने भगवान्‌का कार्य किया तो भगवान् उनके दास, ऋणी हो गये—'**सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं**' (मानस, सुन्दर० ३२। ४)। सेवा करनेवाला बड़ा हो जाता है और सेवा करानेवाला छोटा हो जाता है। परन्तु भगवान् और उनके प्यारे भक्तोंको छोटे होनेमें शर्म नहीं आती। वे जान करके छोटे होते हैं। छोटे बननेपर भी वास्तवमें वे छोटे होते ही नहीं और उनमें बड़प्पनका अभिमान होता ही नहीं।

२२. बुराईके बदले भलाई

पण्डित जयदेव एक बड़े अच्छे संत हुए हैं। एक राजा उनपर बहुत भक्ति रखता था और उनका सब प्रबन्ध अपनी तरफसे ही किया करता था। वे ब्राह्मण देवता (जयदेव) त्यागी थे और गृहस्थ होते हुए भी 'मेरेको कुछ मिल जाय, कोई धन दे दे'—ऐसा चाहते नहीं थे। उनकी स्त्री भी बड़ी विलक्षण पतिव्रता थी; क्योंकि उनका विवाह भगवान्ने करवाया था, वे विवाह करना नहीं चाहते थे। एक दिनकी बात है, राजाने उनको बहुत-सा धन दिया, लाखों रुपयोंके रत्न दिये। उनको लेकर वे वहाँसे रवाना हुए और घरकी तरफ चले। रास्तेमें जंगल था। डाकुओंको इस बातका पता लग गया। उन्होंने जंगलमें जयदेवको घेर लिया और उनके पास जो धन था, वह सब छीन लिया। डाकुओंके मनमें आया कि यह राजाका गुरु है, कहीं जीता रह जायगा तो हमारेको पकड़वा देगा। अत: उन्होंने जयदेवके दोनों हाथ काट लिये और उनको एक सूखे हुए कुएँमें गिरा दिया। जयदेव कुएँके भीतर पड़े रहे। एक-दो दिनमें राजा जंगलमें आया। उसके आदमियोंने पानी लेनेके लिये कुएँमें लोटा डाला तो वे कुएँमेंसे बोले कि 'भाई, ध्यान रखना, मेरेको लग न जाय। इसमें जल नहीं है, क्या करते हो!' उन लोगोंने आवाज सुनी तो बोले कि यह आवाज तो पण्डितजीकी है! पण्डितजी यहाँ कैसे आये! उन्होंने राजाको कहा कि महाराज! पण्डितजी तो कुएँमेंसे बोल रहे हैं। राजा वहाँ गया। रस्सा डालकर उनको कुएँमेंसे निकाला तो देखा कि उनके दोनों हाथ कटे हुए हैं। उनसे पूछा गया कि यह कैसे हुआ? तो वे बोले कि भाई देखो, जैसा हमारा प्रारब्ध था, वैसा हो गया। उनसे बहुत कहा गया कि बताओ तो सही, कौन है, कैसा है। परन्तु उन्होंने कुछ नहीं बताया, यही कहा कि हमारे कर्मोंका फल है। राजा उनको घरपर ले गये। उनकी मरहम-पट्टी की, इलाज किया और खिलाने-पिलाने आदि सब तरहसे उनकी सेवा की।

एक दिनकी बात है। जिन्होंने जयदेवके हाथ काटे थे, वे चारों डाकू साधुके वेशमें कहीं जा रहे थे। उनको राजाने भी देखा और जयदेवने भी। जयदेवने उनको पहचान लिया कि ये वही डाकू हैं। उन्होंने राजासे कहा कि देखो राजन्! तुम धन लेनेके लिये बहुत आग्रह किया करते हो। अगर धन देना हो तो वे जो चारों जा रहे हैं, वे मेरे मित्र हैं, उनको धन दे दो। मेरेको धन दो या मेरे मित्रोंको दो, एक ही बात है। राजाको आश्चर्य हुआ कि पण्डितजीने कभी उम्रभरमें किसीके प्रति 'आप दे दो' ऐसा नहीं कहा, पर आज इन्होंने कह दिया है! राजाने उन चारोंको बुलवाया। वे आये और उन्होंने देखा कि हाथ कटे हुए पण्डितजी वहाँ बैठे हैं, तो उनके प्राण सूखने लगे कि अब कोई आफत आयेगी! अब ये हमें मरवा देंगे। राजाने उनके साथ बड़े आदरका बर्ताव किया और उनको खजानेमें ले गया। उनको सोना, चाँदी, मुहरें आदि खूब दिये। लेनेमें तो उन्होंने खूब धन ले लिया, पर पासमें बोझ ज्यादा हो गया। अब क्या करें? कैसे ले जायँ? तो राजाने अपने आदमियोंसे कहा कि इनको पहुँचा दो। धनको सवारीमें रखवाया और सिपाहियोंको साथमें भेज दिया। वे जा रहे थे। रास्तेमें उन सिपाहियोंमें जो बड़ा अफसर था, उसके मनमें आया कि पण्डितजी किसीको कभी देनेके लिये कहते ही नहीं और आज देनेके लिये कह दिया, तो बात क्या है! उसने उनसे पूछा कि महाराज, आप बताओ कि आपने पण्डितजीका क्या उपकार किया है? पण्डितजीके साथ आपका क्या सम्बन्ध है? आज हमने पण्डितजीके स्वभावसे विरुद्ध बात देखी है। बहुत वर्षोंसे देखता हूँ कि पण्डितजी किसीको ऐसा नहीं कहते कि तुम इसको दे दो, पर आपके लिये ऐसा कहा, तो बात क्या है? वे चारों आपसमें एक-दूसरेको देखने लगे, फिर बोले

कि 'ये एक दिन मौतके मुँहमें जा रहे थे तो हमने इनको मौतसे बचाया। इनके हाथ ही कटे, नहीं तो गला कट जाता। उस दिनका ये बदला चुका रहे हैं।' उनकी इतनी बात पृथ्वी सह नहीं सकी। पृथ्वी फट गयी और वे चारों पृथ्वीमें समा गये! सिपाहीलोगोंको बड़ी मुश्किल हो गयी कि अब धन कहाँ ले जायँ! वे तो पृथ्वीमें समा गये! अब वे वहाँसे लौट पड़े और आकर सब बात बतायी। उनकी बात सुनकर पण्डितजी जोर-जोरसे रोने लग गये! रोते-रोते आँसू पोंछने लगे तो उनके हाथ साबूत हो गये। यह देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह क्या तमाशा है। हाथ कैसे आ गये? राजाने सोचा कि वे इनके कोई घनिष्ठ मित्र थे, इसलिये उनके मरनेसे पण्डितजी रोते हैं। उनसे पूछा कि महाराज, बताओ तो सही, बात क्या है? हमारेको तो आप उपदेश देते हैं कि शोक नहीं करना चाहिये, चिन्ता नहीं करनी चाहिये, फिर मित्रोंका नाश होनेसे आप क्यों रोते हैं? शोक क्यों करते हैं? तो वे बोले कि ये जो चार आदमी थे, इन्होंने ही मेरेसे धन छीन लिया और हाथ काट दिये। राजाने बड़ा आश्चर्य किया और कहा कि महाराज, हाथ काटनेवालोंको आपने मित्र कैसे कहा? जयदेव बोले कि देखो राजन्! एक जबानसे उपदेश देता है और एक क्रियासे उपदेश देता है। क्रियासे उपदेश देनेवाला ऊँचा होता है। मैंने जिन हाथोंसे आपसे धन लिया, रत्न लिये, वे हाथ काट देने चाहिये। यह काम उन्होंने कर दिया और धन भी ले गये। अतः उन्होंने मेरा उपकार किया, मेरेपर कृपा की, जिससे मेरा पाप कट गया। इसलिये वे मेरे मित्र हुए। रोया मैं इस बातके लिये कि लोग मेरेको सन्त कहते हैं, अच्छा पुरुष कहते हैं, पण्डित कहते हैं, धर्मात्मा कहते हैं और मेरे कारणसे उन बेचारोंके प्राण चले गये! अतः मैंने भगवान्‌से रो करके प्रार्थना की कि हे नाथ! मेरेको लोग अच्छा आदमी कहते हैं तो बड़ी गलती करते हैं। मेरे कारणसे आज चार आदमी मर गये तो मैं अच्छा कैसे हुआ? मैं बड़ा दुष्ट हूँ। हे नाथ! मेरा कसूर माफ करो। अब मैं क्या करूँ? मेरे हाथकी बात कुछ रही नहीं; अतः प्रार्थनाके सिवा और मैं क्या कर सकता हूँ। राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ और बोला कि महाराज, आप अपनेको अपराधी मानते हो कि चार आदमी मेरे कारण मर गये, तो फिर आपके हाथ कैसे आ गये? वे बोले कि भगवान् अपने जनके अपराधोंको, पापोंको, अवगुणोंको देखते ही नहीं! उन्होंने कृपा की तो हाथ आ गये! राजाने कहा कि महाराज! उन्होंने आपको इतना दुःख दिया तो आपने उनको धन क्यों दिलवाया। वे बोले कि देखो राजन्! उनको धनका लोभ था और लोभ होनेसे वे और किसीके हाथ काटेंगे; अतः विचार किया कि आप धन देना ही चाहते हैं तो उनको इतना धन दे दिया जाय कि जिससे बेचारोंको कभी किसी निर्दोषकी हत्या न करनी पड़े। मैं तो सदोष था, इसलिये मुझे दुःख दे दिया। परन्तु वे किसी निर्दोषको दुःख न दें, इसलिये मैंने उनको भरपेट धन दिलवा दिया। राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ! उसने कहा कि आपने मेरेको पहले क्यों नहीं बताया? वे बोले कि महाराज! अगर पहले बताता तो आप उनको दण्ड देते। मैं उनको दण्ड नहीं दिलाना चाहता था। मैं तो उनकी सहायता करना चाहता था; क्योंकि उन्होंने मेरे पापोंका नाश किया, मेरेको क्रियात्मक उपदेश दिया। मैंने तो अपने पापोंका फल भोगा, इसलिये मेरे हाथ कट गये। नहीं तो भगवान्‌के दरबारमें, भगवान्‌के रहते हुए किसीको अनुचित दण्ड दे सकता है? कोई नहीं दे सकता। यह तो उनका उपकार है कि मेरे पापोंका फल भुगताकर मेरेको शुद्ध कर दिया।

इस कथासे सिद्ध होता है, सुख या दुःखको देनेवाला कोई दूसरा नहीं है; कोई दूसरा सुख-दुःख देता है—यह समझना कुबुद्धि है—'**सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा**' (अध्यात्म० २। ६। ६)। दुःख तो हमारे प्रारब्धसे मिलता है, पर उसमें कोई निमित्त बन जाता है तो उसपर दया आनी चाहिये कि बेचारा मुफ्तमें ही पापका भागी बन गया!

२३. भगवान् भावके भूखे हैं

गृहस्थमें रहनेवाले एक बड़े अच्छे त्यागी पण्डित थे। त्याग साधुओंका ठेका नहीं है। गृहस्थमें, साधुमें, सभीमें त्याग हो सकता है। त्याग साधुवेषमें ही हो; ऐसी बात नहीं है। पण्डितजी बड़े विचारवान् थे। भागवतकी कथा कहा करते थे। एक धनी आदमीने उनसे दीक्षा ली और कहा—'महाराज! कोई सेवा बताओ।' धनी आदमी बहुत पीछे पड़ गया तो कहा—'तुम्हें रामजीने धन दिया है तो सदाव्रत खोल दो।' **'अन्नदानं महादानम्।'** 'भूखोंको भोजन कराओ, भूखोंको अन्न दो।' ऐसा महाराजने कह दिया। वह श्रद्धालु था। उसने शुरू कर दिया। दान देते हुए कई दिन बीत गये। मनुष्य सावधान नहीं रहता है तो हरेक जगह अभिमान आकर पकड़ लेता है। उसे देनेका भी अभिमान हो गया कि 'मैं इतने लोगोंको अन्न देता हूँ।' अभिमान होनेसे नियत समयपर तो अन्न देता और दूसरे समयमें कोई माँगने आता तो उसकी बड़ी ताड़ना करता; तिरस्कार, अपमान करता, क्रोधमें आकर अतिथियोंकी ताड़ना करते हुए कह देता कि सभी भूखे हो गये, सभी आ जाते हैं। सबकी नीयत खराब हो गयी। इस प्रकार न जाने क्या-क्या गाली देता।

पण्डितजी महाराजने वहाँके लोगोंसे पूछा कि सदाव्रतका काम कैसा हो रहा है? लोगोंने जवाब दिया—'महाराजजी! अन्न तो देता है, पर अपमान-तिरस्कार बहुत करता है। एक दिन पण्डितजी महाराज स्वयं ग्यारह बजे रात्रिमें उस सेठके घरपर पहुँचे। दरवाजा खटखटाया और आवाज लगाने लगे, 'सेठ! कुछ खानेको मिल जाय।' भीतरसे सेठका उत्तर मिला—'जाओ, जाओ, अभी वक्त नहीं है।' तो फिर बोले—'कुछ भी मिल जाय, ठंडी-बासी मिल जाय। कलकी बची हुई रोटी मिल जाय। भूख मिटानेके लिये थोड़ा कुछ भी मिल जाय।' तो सेठ बोला—'अभी नहीं है।' पण्डितजी जानकर तंग करनेके लिये गये थे। बार-बार देनेके लिये कहा तो सेठ उत्तेजित हो गया। इसलिये जोरसे बोला—'रातमें भी पिण्ड छोड़ते नहीं, दु:ख दे रहे हो। कह दिया ठीक तरहसे, अभी नहीं मिलेगा, जाओ।' पण्डितजी फिर बोले—'सेठजी! थोड़ा ही मिल जाय, कुछ खानेको मिल जाय।' अब सेठजीको क्रोध आ गया। जोरसे बोले—'कैसे आदमी हैं?' दरवाजा खोलकर देखा तो पण्डितजी महाराज स्वयं खड़े हैं। उनको देखकर कहता है—'महाराजजी! आप थे?' पण्डितजीने कहा—'मेरेको ही देता है क्या?', 'मैं माँगूँ तो ही तू देगा क्या?', 'महाराज! आपको मैंने पहचाना नहीं।' 'सीधी बात है, मेरेको पहचान लेता तो अन्न देता। दूसरोंको ऐसे ही देता है क्या? यह कोई देना थोड़े ही हुआ। तूने कितनोंका अपमान-तिरस्कार कर दिया? इससे कितना नुकसान होता है?' सेठने कहा कि 'महाराज! अब नहीं करूँगा।' अब कोई माँगने आ जाय तो सेठजीको पण्डितजी याद आ जाते। इसलिये सब समय, सब वेषमें भगवान्‌को देखो। गरीबका वेष धारण कर, अभावग्रस्तका वेष धारण कर भगवान् आये हैं। क्या पता किस वेषमें साक्षात् नारायण आ जायँ। इस प्रकार आदरसे देगा तो भगवान् वहाँ आ जाते हैं। भगवान् तो भावके भूखे हैं। भाव आपके क्रोधका है तो वहाँ भगवान् कैसे आवेंगे। आपके देनेका भाव होता है तो भगवान् लेनेको लालायित रहते हैं। भगवान् तो प्रेम चाहते हैं। प्रेमसे, आदरसे दिया हुआ भगवान्‌को बहुत प्रिय लगता है। **'दुर्योधनका मेवा त्यागे, साग बिदुर घर खायो।'**

२४. मिले हुए अधिकारका सदुपयोग

एक हाथी था। वह मर गया तो धर्मराजके यहाँ पहुँचा। धर्मराजने उससे पूछा—'अरे! तुझे इतना बड़ा शरीर दिया, फिर भी तू मनुष्यके वशमें हो गया! तेरे एक पैर जितना था मनुष्य, उसके वशमें तू हो गया!' वह हाथी बोला—'महाराज! यह मनुष्य ऐसा ही है। बड़े-बड़े इसके वशमें हो जाते हैं!' धर्मराजने कहा—'हमारे यहाँ तो अनगिनत आदमी आते हैं!' हाथीने जवाब दिया—'आपके यहाँ मुर्दे आते हैं, जो जीता आदमी आये तो पता लगे!' धर्मराजने दूतोंसे कहा—'अरे! एक जीता आदमी ले आओ।' दूतोंने कहा—'ठीक है'।

दूत घूमते ही रहते थे। गर्मीके दिनोंमें उन्होंने देखा कि छतके ऊपर एक आदमी सोया हुआ है। दूतोंने उसकी खाट उठा ली और ले चले। उस आदमीकी नींद खुली तो देखा कि बात क्या है! वह कायस्थ था। ग्रन्थ लिखा करता था। ग्रन्थोंमें धर्मराजके दूतोंके लक्षण आते हैं। उसने देखा कि ये तो धर्मराजके दूत उठाये ले जा रहे हैं! उसने जेबसे कागज और कलम निकाली। कागजपर कुछ लिखा और जेबमें रख लिया। उसने सोचा कि हम कुछ चीं-चपड़ करेंगे तो गिर जायँगे, हड्डियाँ बिखर जायँगी! वह बेचारा खाटपर पड़ा रहा कि जो होगा, देखा जायगा।

सुबह होते ही दूत पहुँच गये। धर्मराजकी सभा लगी हुई थी। दूतोंने खाट नीचे रखी। उस कायस्थने तुरन्त जेबसे कागज निकाला और दूतोंको दे दिया कि धर्मराजको दे दो। उसपर विष्णुभगवान्‌का नाम लिखा था। दूतोंने वह कागज धर्मराजको दे दिया। धर्मराजने पत्र पढ़ा। उसमें लिखा था—

'धर्मराजजीसे नारायणकी यथायोग्य। यह हमारा मुनीम आपके पास आता है। इसके द्वारा ही सब काम कराना।' दस्तखत—नारायण, वैकुण्ठपुरी।

पत्र पढ़कर धर्मराजने अपनी गद्दी छोड़ दी और बोले—'आइये महाराज! गद्दीपर बैठो।' धर्मराजने कायस्थको गद्दीपर बैठा दिया कि भगवान्‌का हुक्म है।

अब दूत दूसरे आदमीको लाये। कायस्थ बोला—'यह कौन है?' दूत—'महाराज! यह डाका डालनेवाला है। बहुतोंको लूट लिया, बहुतोंको मार दिया। इसको क्या दण्ड दिया जाय?' कायस्थ—'इसको वैकुण्ठमें भेजो।'

'यह कौन है?'

'महाराज! यह दूध बेचनेवाली है। इसने पानी मिलाकर दूध बेचा, जिससे बच्चोंके पेट बढ़ गये, वे बीमार हो गये। इसका क्या करें?'

'इसको भी वैकुण्ठमें भेजो।' 'यह कौन है?'

'इसने झूठी गवाही देकर बेचारे लोगोंको फँसा दिया। इसका क्या किया जाय?'

'अरे, पूछते क्या हो? वैकुण्ठमें भेजो।'

अब व्यभिचारी आये, पापी आये, हिंसा करनेवाला आये, कोई भी आये, उसके लिये एक ही आज्ञा कि 'वैकुण्ठमें भेजो।' अब धर्मराज क्या करें? गद्दीपर बैठा मालिक जो कह रहा है, वही ठीक! वहाँ वैकुण्ठमें जानेवालोंकी कतार लग गयी। भगवान्‌ने देखा कि अरे! इतने लोग यहाँ कैसे आ रहे हैं? कहीं मृत्युलोकमें कोई महात्मा प्रकट हो गये? बात क्या है, जो सभीको वैकुण्ठमें भेज रहे हैं? कहाँसे आ रहे हैं? देखा कि ये तो धर्मराजके यहाँसे आ रहे हैं।

भगवान् धर्मराजके यहाँ पहुँचे। भगवान्‌को देखकर सब खड़े हो गये। धर्मराज भी खड़े हो गये। वह कायस्थ भी खड़ा हो गया। भगवान्‌ने पूछा—'धर्मराज! आपने सबको वैकुण्ठ भेज दिया, बात क्या है? क्या इतने लोग भक्त हो गये?'

धर्मराज—'प्रभो! यह मेरा काम नहीं है। आपने जो मुनीम भेजा है, उसका काम है।'

भगवान्‌ने कायस्थसे पूछा—'तुझे किसने भेजा?'

कायस्थ—'आपने महाराज!'

'हमने कैसे भेजा?'

'क्या मेरे बापके हाथकी बात है, जो यहाँ आता? आपने ही तो भेजा है। आपकी मरजीके बिना कोई काम होता है क्या? क्या यह मेरे बलसे हुआ है?'

'ठीक है, पर तूने यह क्या किया?'

'मैंने क्या किया महाराज?'

'तूने सबको वैकुण्ठमें भेज दिया!'

'यदि वैकुण्ठमें भेजना खराब काम है तो जितने सन्त-महात्मा हैं, उनको दण्ड दिया जाय! यदि यह खराब काम नहीं है तो उलाहना किस बातकी? इसपर भी आपको यह पसन्द न हो तो सबको वापस भेज दो। परन्तु भगवद्गीतामें लिखा यह श्लोक आपको निकालना पड़ेगा—'**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम**' (१५। ६) 'मेरे धाममें जाकर पीछे लौटकर कोई नहीं आता।'

'बात तो ठीक है। कितना ही बड़ा पापी हो, यदि वह वैकुण्ठमें चला जाय तो पीछे लौटकर थोड़े ही आयेगा! उसके पाप तो सब नष्ट हो गये। पर यह काम तूने क्यों किया?'

'मैंने क्या किया महाराज? मेरे हाथमें जब बात आयेगी तो मैं यही करूँगा, सबको वैकुण्ठ भेजूँगा। मैं किसीको दण्ड क्यों दूँ? मैं जानता हूँ कि थोड़ी देरके लिये गद्दी मिली है, तो फिर अच्छा काम क्यों न करूँ? लोगोंका उद्धार करना खराब काम है क्या?'

भगवान्‌ने धर्मराजसे पूछा—'धर्मराज! तुमने इसको गद्दी कैसे दे दी?'

धर्मराज बोले—'महाराज! देखिये, आपका कागज आया है। नीचे साफ-साफ आपके दस्तखत हैं।'

भगवान्‌ने कायस्थसे पूछा—'क्यों रे, यह कागज मैंने कब दिया तेरेको?'

कायस्थ बोला—'आपने गीतामें कहा है—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (१५। १५) 'मैं सबके हृदयमें रहता हूँ'; अतः हृदयसे आज्ञा आयी कि कागज लिख दो तो मैंने लिख दिया। हुक्म तो आपका ही हुआ! यदि आप इसको मेरा मानते हैं तो गीतामेंसे उपर्युक्त बात निकाल दीजिये!'

भगवान्‌ने कहा—'ठीक।' धर्मराजसे पूछा—'अरे धर्मराज! बात क्या है? यह कैसे आया?'

धर्मराज बोले—'महाराज! कैसे क्या आया, आपका पत्र ले आया!' दूतोंसे पूछा—'यह बात कैसे हुई?'

दूत बोले—'महाराज! आपने ही तो एक दिन कहा था कि एक जीवित आदमी लाना।'

धर्मराज—'तो वह यही है क्या? अरे, परिचय तो कराते!'

दूत—'हम क्या परिचय कराते महाराज! आपने तो कागज लिया और इसको गद्दीपर बैठा दिया। हमने सोचा कि परिचय होगा, फिर हमारी हिम्मत कैसे होती बोलनेकी?'

हाथी वहाँ खड़ा सब देख रहा था, बोला—'जै रामजीकी! आपने कहा था कि तू कैसे आदमीके वशमें हो गया? मैं क्या वशमें हो गया, वशमें तो धर्मराज हो गये और भगवान् हो गये! यह काले माथेवाला आदमी बड़ा विचित्र है महाराज! यह चाहे तो बड़ी उथल-पुथल कर दे! यह तो खुद ही संसारमें फँस गया!'

भगवान्‌ने कहा—'अच्छा, जो हुआ सो हुआ, अब तो नीचे चला जा।'

कायस्थ बोला—'गीतामें आपने कहा है—'**मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते**' (८। १६) 'मेरेको प्राप्त होकर पुनः जन्म नहीं लेता' तो बतायें, मैं आपको प्राप्त हुआ कि नहीं?'

भगवान्—'अच्छा भाई, तू चल मेरे साथ।'

कायस्थ—'महाराज! केवल मैं ही चलूँ? हाथी पीछे रहेगा बेचारा? इसकी कृपासे ही तो मैं यहाँ आया। इसको भी तो लो साथमें!'

हाथी बोला—'मेरे बहुत-से भाई यहीं नरकोंमें बैठे हैं, सबको साथ ले लो।'

भगवान् बोले—'चलो भाई, सबको ले लो!'

भगवान्‌के आनेसे हाथीका भी कल्याण हो गया, कायस्थका भी कल्याण हो गया और अन्य जीवोंका भी कल्याण हो गया!

यह कहानी तो कल्पित है, पर इसका सिद्धान्त पक्का है कि अपने हाथमें कोई अधिकार आये तो सबका भला करो। जितना कर सको, उतना भला करो। अपनी तरफसे किसीका बुरा मत करो, किसीको दु:ख मत दो। गीताका सिद्धान्त है—'**सर्वभूतहिते रता:**'(५। २५, १२।४) 'प्राणिमात्रके हितमें प्रीति हो'। अधिकार हो, पद हो, थोड़े ही दिन रहनेवाला है। सदा रहनेवाला नहीं है। इसलिये सबके साथ अच्छे-से-अच्छा बर्ताव करो।

२५. सबके दाता राम

एक बारकी बात है। बादशाह अकबर कहीं जंगलमें शिकारके लिये गये। साथमें बहुत आदमी थे, पर दैवयोगसे जंगलमें अकेले भटक गये। आगे गये तो एक खेत दिखायी दिया। उस खेतमें पहुँचे और उस खेतके मालिकसे कहा—'भैया! मुझे भूख और प्यास बड़ी जोरसे लगी है। तुम कुछ खाने-पीनेको दे दो। मैं राज्यका आदमी हूँ।' उसने कहा—'ठीक, आप हमारे तो मालिक ही हो।' यह कहकर उसने भोजन करा दिया। खेतमें ऊख (गन्ना) थी, ऊखका रस पिला दिया। आराम करनेके लिये खटिया बिछा दी। इससे बादशाह बहुत राजी हुआ। उसको ऐसा लगा कि ऐसा बढ़िया शर्बत मैंने कभी नहीं पिया। जंगलमें रोटी भी बड़ी मीठी लगती है फिर जिसमें भूख भी लगी हुई हो।

जब बादशाह वापस जाने लगा तो उस किसानसे कहा—'कभी तुम्हारे काम पड़ जाय तो दिल्लीमें आ जाना, मेरा नाम अकबर है। किसीसे मेरा नाम पूछ लेना।' और फिर कहा—'कलम, दवात-कागज ला, तुझे कुछ लिख दूँ।' खेतमें न कलम है, न दवात है, न कागज है। खेतमें रहनेवाला बिचारा पढ़ा-लिखा तो था नहीं। फूटा हुआ मिट्टीका घड़ा था। वह सामने रख दिया और एक कोयला ले आया। बादशाहने घड़ेकी ठीकरीके भीतरमें लिख दिया। वह बेचारा पढ़ा-लिखा था नहीं। अकबरने कहा—'मेरेसे जब मिलने आओ, तब इसको साथ लेकर आ जाना।' उसने कहा—'ठीक है'। उसने उस लिखे हुए घड़ेके टुकड़ेको रख दिया। कई वर्षोंतक पड़ा रहा।

जब अकाल पड़ा और अनाज कुछ हुआ नहीं, तब बड़ी तंगी आ गयी। अपने लिये अन्न और गायों-भैंसोंके लिये घासतक नहीं रहा। दोनोंके लिये पानी नहीं रहा। तब स्त्रीने कहा—'राज्यका एक आदमी आया था न? उसने कहा था कि आवश्यकता पड़े तब दिल्ली आ जाना। उसके पास जाओ तो सही।' स्त्रीने बार-बार कहा तो ठीकरा लेकर वह वहाँसे चला। दिल्लीमें पहुँचा तो लोगोंसे पूछा—'अकबरियेका घर कौन-सा है?' अकबरका नाम सुनकर किसीने बता दिया। खास महलके दरवाजेपर जाकर पूछने लगा—'अकबरियेका घर यही है क्या?'

द्वारपालोंने डाँटकर कहा—कैसे बोलता है? ढंगसे बोला कर। वह तो अपनी भाषामें सीधा बोला और उसने ठीकरी दिखाकर कहा—'जाकर कह दो एक आदमी आपसे मिलने आया है।' द्वारपाल चकरा गया कि बादशाहने स्वयं इसपर दस्तखत किये हैं। उसने जाकर कहा—'महाराज! एक ग्रामीण आदमी है, असभ्यतासे बोलता है। बोलनेका भी होश नहीं है। वह आपसे मिलना चाहता है।' उसे बुलाया, बादशाह ऊँचे सिंहासनपर बैठा था। उसने देखकर कहा—'ओ अकबरिया! तू तो बहुत ऊँचा बैठा है।' बादशाहने कहा—'आओ भाई! बैठो!' उसे बैठाया और कहा—'तू थोड़ी देर बैठ जा। मेरी नमाजका समय हो गया है, इसलिये मैं नमाज पढ़ लूँ।'

अब किसान देखता है कि उसने कपड़ा बिछाया

है और वह उसपर उठता है, बैठता है। अकबरने जब नमाज पढ़ ली और आकर बैठा तो उस किसानने पूछा—'यह क्या कर रहे थे?' बादशाहने जवाब दिया—'परवर दिगारकी बंदगी कर रहा था।' किसानने कहा—'मैं तो समझा नहीं।' तो कहा—'ईश्वर है न, यानी उस परमात्माकी हाजिरी भर रहा था।' 'कितनी बार करते हो?' 'पाँच बार।' 'पाँच बार उठते, बैठते हो। क्यों?' 'जिसने इतना दे रखा है उसकी हाजिरी भरता हूँ।'

'मैं तो एक बार भी हाजिरी नहीं भरता हूँ, फिर भी सब दे रखा है और दे रहा है। तुम्हें पाँच बार करनी पड़ती है। अच्छी बात, जैरामजीकी। अब जाता हूँ।' ऐसा कहकर जाने लगा तो पूछा कि क्यों आया था? 'मेरी स्त्रीने कह दिया था कि तुम दिल्ली जाओ तब आया और यहाँ तुमको देखा, तुम तो पाँच बार नमाज पढ़ते हो। जब आपको परमात्मासे मिला तो अब आपसे मैं क्या लूँ? मुझे कुछ करना नहीं पड़ता है तो भी वह परमात्मा मुझे देता है। अब तेरेसे क्या लेना है?'

'अरे भैया, तुझे जो चाहिये सो ले ले' बादशाहने कहा। 'नहीं! इतनी मेहनतसे तुम्हें मिली हुई चीज मैं मुफ्तमें कैसे ले लूँ?' ऐसा कहकर अपने घर चला आया। स्त्रीने पूछा—'क्या हुआ?' उसने कहा—'अपने प्रभुको याद करो। जो सबका मालिक है, वही सबको देता है। वह हमारा, उनका, सबका मालिक है। उसमें कोई पक्षपात नहीं है। वह सबका है तो हमारा भी है। अब अपने उस राज्यके आदमीसे क्या माँगें? जो कि स्वयं भी माँगता है। इसलिये भगवान्‌का भरोसा रखो, उनका नाम लो।'

कई चोर मिलकर चोरी करने गये। बाहर उस किसानका घर था, उसके पास वे चोर छिपकर रहे। उस घरमें वे दोनों पति-पत्नी आपसमें बात कर रहे थे। स्त्री पतिसे बोली—'दिल्ली गये और कुछ लाये नहीं।' तो उसने कहा—'क्या लावें? हमारे पास कुछ था ही नहीं।' 'कुछ कमाते!' इसपर पतिने उत्तर दिया—'अब तो भगवान् देंगे तब ही लेंगे। भगवान्‌पर ही हमने छोड़ दिया।' 'भगवान्‌पर छोड़ दिया तो कुछ काम-धंधा तो करो।' उसने कहा—'काम-धंधा किये बिना भी धन मिलता है, पर मैं लेता नहीं हूँ। ठाकुरजीकी मर्जी होगी तो घर बैठे भेज देंगे।' इस प्रकार स्त्री-पुरुष आपसमें बातचीत कर रहे थे। उसने अपनी स्त्रीको धीरज बँधाते हुए कहा—'अब वर्षा भी हो गयी है, खेती करेंगे, सब काम ठीक हो जायगा। कोई चिन्ताकी बात नहीं है। मैं तो भगवान्‌के भरोसे रहता हूँ, मैं लेता नहीं हूँ। भगवान्‌के देनेके बहुत तरीके हैं। छप्पर फाड़कर देते हैं।'

उसने कहा—'सुन! आजकी ही बात बताऊँ। मैं नदी-किनारे गया। नदीमें बाढ़ आ गयी। पानी बहुत बढ़ गया, जिससे किनारा कट गया। वहाँ शौच जाकर हाथ धोने लगा तो मेरेको दिखा, वहाँ कोई बर्तन है। ऊपरसे रेत निकल गयी थी और ढक्कन दिया हुआ एक चरु पड़ा था। उसको मैंने खोलकर देखा तो उसमें सोना-चाँदी, अशर्फियाँ भरी हुई थीं। बहुत धन था। मैंने विचार किया कि अपने तो यह लेना नहीं है। ठाकुरजी स्वयं भेजेंगे तब लेंगे। पता नहीं यह किसका है? इसलिये ढक्कन लगाकर मैं वापस आ गया।' स्त्रीने पूछा कि 'वह कहाँपर कौन-सी जगह है?' तो उसने सब बता दिया कि 'ऐसे वहाँ एक जालका वृक्ष है, उसके पासमें है?'

चोर इनकी बातोंको सुन रहे थे। उन्होंने सोचा कि यह किसान तो पागल है। अपने तो वहीं चलो और कहीं चोरी करेंगे तो कहीं पकड़े जायँगे, धन वहाँ मिल ही जायगा। वे वहीं गये, जहाँ किसानने हाथ धोये थे। ढक्कन ढकते समय उस किसानसे कुछ भूल हो गयी थी। ढक्कन कुछ खुला रह गया। उसके जानेके बाद एक साँप आकर उस बर्तनके भीतर बैठ गया। ज्यों ही चोरोंने उसका ढक्कन खोला कि साँपने फुंकार मारी। उन्होंने जोरसे ढक्कन बंद कर दिया। अब चोरोंने विचार किया कि उस किसानने हमको देख लिया होगा। हमें मारनेके लिये ही उसने यह सब बात कही थी। इस चरुमें न जाने

कितने जहरीले साँप-बिच्छू भरे हैं। इस चरुको उसके घरमें ही गिरा दो, जिससे ये साँप-बिच्छू उनको काटकर मार देंगे।

अब इस चरुको बाँधकर उसी किसानके घरपर ले गये। वे दोनों सो गये थे। उन चोरोंने छप्पर फाड़कर चरु उलटा कर दिया, जिससे सारा माल घरमें गिर गया और स्वयं आप भाग गये। ऊपरसे पहले साँप गिरा, उसपर सोनेके सामानसहित वह चरु गिरा। इससे साँप तो वहीं दबकर मर गया। इस प्रकार भगवान् छप्पर फाड़कर देते हैं। सबेरे जब दोनों जगे और घरमें देखा तो धनका ढेर लगा हुआ है। अब किसीसे क्यों माँगे? भगवान् किस तरहसे देते हैं; इसका पता ही नहीं लगता। जो भगवान्का भरोसा रखता है, वह कभी भी खाली नहीं जाता। भूखा रह सकता है, नंगा रह सकता है, लोगोंमें अपमान हो सकता है, परंतु उसके मनमें दुःख नहीं हो सकता। जो भगवान्पर पूरा भरोसा रखता है, वह हर हालतमें प्रसन्न रहता है।

२६. मुक्तिका उपाय

पुराण भारतीय संस्कृतिकी अमूल्य निधि है। पुराणोंमें मानव-जीवनको ऊँचा उठानेवाली अनेक सरल, सरस, सुन्दर और विचित्र-विचित्र कथाएँ भरी पड़ी हैं। उन कथाओंका तात्पर्य राग-द्वेषरहित होकर अपने कर्तव्यका पालन करने और भगवान्को प्राप्त करनेमें ही है। पद्मपुराणके भूमिखण्डमें ऐसी ही एक कथा आती है।

अमरकण्टक तीर्थमें सोमशर्मा नामके एक ब्राह्मण रहते थे। उनकी पत्नीका नाम था सुमना। वह बड़ी साध्वी और पतिव्रता थी। उनके कोई पुत्र नहीं था और धनका भी उनके पास अभाव था। पुत्र और धनका अभाव होनेके कारण सोमशर्मा बहुत दुःखी रहने लगे। एक दिन अपने पतिको अत्यन्त चिन्तित देखकर सुमनाने कहा कि 'प्राणनाथ! आप चिन्ताको छोड़ दीजिये; क्योंकि चिन्ताके समान दूसरा कोई दुःख नहीं है। स्त्री, पुत्र और धनकी चिन्ता तो कभी करनी ही नहीं चाहिये। इस संसारमें ऋणानुबन्धसे अर्थात् किसीका ऋण चुकानेके लिये और किसीसे ऋण वसूल करनेके लिये ही जीवका जन्म होता है। माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र, सेवक आदि सब लोग अपने-अपने ऋणानुबन्धसे ही इस पृथ्वीपर जन्म लेकर हमें प्राप्त होते हैं। केवल मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी ऋणानुबन्धसे ही प्राप्त होते हैं।'

'संसारमें शत्रु, मित्र और उदासीन—ऐसे तीन प्रकारके पुत्र होते हैं। शत्रुस्वभाववाले पुत्रके दो भेद हैं। पहला, किसीने पूर्वजन्ममें दूसरेसे ऋण लिया, पर उसको चुकाया नहीं तो दूसरे जन्ममें ऋण देनेवाला उस ऋणीका पुत्र बनता है। दूसरा, किसीने पूर्वजन्ममें दूसरेके पास अपनी धरोहर रखी, पर जब धरोहर देनेका समय आया, तब उसने धरोहर लौटायी नहीं, हड़प ली तो दूसरे जन्ममें धरोहरका स्वामी उस धरोहर हड़पनेवालेका पुत्र बनता है। ये दोनों ही प्रकारके पुत्र बचपनसे माता-पिताके साथ वैर रखते हैं और उसके साथ शत्रुकी तरह बर्ताव करते हैं। बड़े होनेपर वे माता-पिताकी सम्पत्तिको व्यर्थ ही नष्ट कर देते हैं। जब उनका विवाह हो जाता है, तब वे माता-पितासे कहते हैं कि यह घर, खेत आदि सब मेरा है, तुमलोग मुझे मना करनेवाले कौन हो? इस तरह वे कई प्रकारसे माता-पिताको कष्ट देते हैं। माता-पिताकी मृत्युके बाद वे उनके लिये श्राद्ध-तर्पण आदि भी नहीं करते। मित्रस्वभाववाला पुत्र बचपनसे ही माता-पिताका हितैषी होता है। वह माता-पिताको सदा संतुष्ट रखता है और स्नेहसे, मीठी वाणीसे उनको सदा प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करता है। माता-पिताकी मृत्युके बाद वह उनके लिये श्राद्ध-तर्पण, तीर्थयात्रा, दान आदि भी करता है। उदासीनस्वभाववाला पुत्र सदा उदासीनभावसे रहता

है। वह न कुछ देता है और न कुछ लेता है। वह न रुष्ट होता है, न संतुष्ट; न सुख देता है, न दु:ख*। इस प्रकार जैसे पुत्र तीन प्रकारके होते हैं, ऐसे ही माता, पिता, पत्नी, पुत्र, भाई आदि और नौकर, पड़ोसी, मित्र तथा गाय, भैंस, घोड़े आदि भी तीन प्रकारके (शत्रु, मित्र और उदासीन) होते हैं। इन सबके साथ हमारा सम्बन्ध ऋणानुबन्धसे ही होता है।'

'प्रियतम! जिस मनुष्यको जितना धन मिलता है, उसको बिना परिश्रम किये ही उतना धन मिल जाता है और जब धन जानेका समय आता है, तब कितनी ही रक्षा करनेपर भी वह चला जाता है—ऐसा समझकर आपको धनकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। वास्तवमें धर्मके पालनसे ही पुत्र और धनकी प्राप्ति होती है। धर्मका आचरण करनेवाले मनुष्य ही संसारमें सुख पाते हैं। इसलिये आप धर्मका अनुष्ठान करें। जो मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे धर्मका आचरण करता है, उसके लिये संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रहती।'

ऐसा कहनेके बाद सुमनाने विस्तारसे धर्मका स्वरूप तथा उसके अंगोंका वर्णन किया। उसको सुनकर सोमशर्माने प्रश्न किया कि 'तुम्हें इन सब गहरी बातोंका ज्ञान कैसे हुआ?' सुमनाने कहा—'आप जानते ही हैं कि मेरे पिताजी धर्मात्मा और शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाले थे, जिससे साधुलोग भी उनका आदर किया करते थे। वे खुद भी अच्छे-अच्छे सन्तोंके पास जाया करते तथा सत्संग किया करते थे। मैं उनकी एक ही बेटी होनेके कारण वे मेरेपर बड़ा स्नेह रखा करते तथा अपने साथ मुझे भी सत्संगमें ले जाया करते थे। इस प्रकार सत्संगके प्रभावसे मुझे भी धर्मके तत्त्वका ज्ञान हो गया।'

यह सब सुनकर सोमशर्माने पुत्रकी प्राप्तिका उपाय पूछा। सुमनाने कहा कि 'आप महामुनि वसिष्ठजीके पास जायँ और उनसे प्रार्थना करें। उनकी कृपासे आपको गुणवान् पुत्रकी प्राप्ति हो सकती है।' पत्नीके ऐसा कहनेपर सोमशर्मा वसिष्ठजीके पास गये। उन्होंने वसिष्ठजीसे पूछा कि 'किस पापके कारण मुझे पुत्र और धनके अभावका कष्ट भोगना पड़ रहा है?' वसिष्ठजीने कहा—'पूर्वजन्ममें तुम बड़े लोभी थे तथा दूसरोंके साथ सदा द्वेष रखते थे। तुमने कभी तीर्थयात्रा, देवपूजन, दान आदि शुभकर्म नहीं किये। श्राद्धका दिन आनेपर तुम घरसे बाहर चले जाते थे। धन ही तुम्हारा सब कुछ था। तुमने धर्मको छोड़कर धनका ही आश्रय ले रखा था। तुम रात-दिन धनकी ही चिन्तामें लगे रहते थे। तुम्हें अरबों-खरबों स्वर्णमुद्राएँ प्राप्त हो गयीं, फिर भी तुम्हारी तृष्णा कम नहीं हुई, प्रत्युत बढ़ती ही रही। तुमने जीवनमें जितना धन कमाया, वह सब जमीनमें गाड़ दिया। स्त्री और पुत्र पूछते ही रह गये; किंतु तुमने उनको न तो धन दिया और न धनका पता ही बताया। धनके लोभमें आकर तुमने पुत्रका स्नेह भी छोड़ दिया। इन्हीं कर्मोंके कारण तुम इस जन्ममें दरिद्र और पुत्रहीन हुए हो। हाँ, एक बार तुमने घरपर अतिथि-रूपसे आये एक विष्णुभक्त और धर्मात्मा ब्राह्मणकी प्रसन्नतापूर्वक सेवा की। उनके साथ तुमने अपनी स्त्रीसहित एकादशीव्रत रखा और भगवान् विष्णुका पूजन भी किया। इस कारण तुम्हें उत्तम ब्राह्मणवंशमें जन्म मिला है। विप्रवर! उत्तम स्त्री, पुत्र, कुल, राज्य, सुख, मोक्ष आदि दुर्लभ वस्तुओंकी प्राप्ति भगवान् विष्णुकी कृपासे ही होती है। अत: तुम भगवान् विष्णुकी ही शरणमें जाओ और उन्हींका भजन करो।'

वसिष्ठजीके द्वारा इस प्रकार समझाये जानेपर सोमशर्मा अपनी स्त्री सुमनाके साथ बड़ी तत्परतासे भगवान्‌के भजनमें लग गये। उठते, बैठते, चलते, सोते आदि सब समयमें उनकी दृष्टि भगवान्‌की तरफ ही रहने लगी। बड़े-बड़े विघ्न आनेपर भी वे अपने साधनसे विचलित नहीं हुए। इस प्रकार उनकी लगनको देखकर भगवान् उनके सामने प्रकट हो गये। भगवान्‌के वरदानसे उनको मनुष्यलोकके उत्तम भोगोंकी और भगवद्भक्त तथा धर्मात्मा पुत्रकी

* कोई व्यक्ति किसी सन्तकी खूब लगनसे सेवा करता है। अन्तसमयमें किसी कारणसे सन्तको उस सेवककी याद आ जाय तो वह उस सेवकके घरमें पुत्ररूपसे जन्म लेता है और उदासीनभावसे रहता है।

प्राप्ति हो गयी।

सोमशर्माके पुत्रका नाम सुव्रत था। सुव्रत बचपनसे ही भगवान्‌का अनन्य भक्त था। खेल खेलते समय भी उसका मन भगवान् विष्णुके ध्यानमें लगा रहता था। जब माता सुमना उससे कहती कि 'बेटा! तुझे भूख लगी होगी, कुछ खा ले' तब वह कहता कि 'माँ भगवान्‌का ध्यान महान् अमृतके समान है, मैं तो उसीसे तृप्त रहता हूँ!' जब उसके सामने मिठाई आती तो वह उसको भगवान्‌के ही अर्पण कर देता और कहता कि 'इस अन्नसे भगवान् तृप्त हों।' जब वह सोने लगता, तब भगवान्‌का चिन्तन करते हुए कहता कि 'मैं योगनिद्रापरायण भगवान् कृष्णकी शरण लेता हूँ।' इस प्रकार भोजन करते, वस्त्र पहनते, बैठते और सोते समय भी वह भगवान्‌के चिन्तनमें लगा रहता और सब वस्तुओंको भगवान्‌के अर्पण करता रहता। युवावस्था आनेपर भी वह भोगोंमें आसक्त नहीं हुआ, प्रत्युत भोगोंका त्याग करके सर्वथा भगवान्‌के भजनमें ही लग गया। उसकी ऐसी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु उसके सामने प्रकट हो गये। भगवान्‌ने उससे वर माँगनेके लिये कहा तो वह बोला—'श्रीकृष्ण! अगर आप मेरेपर प्रसन्न हैं तो मेरे माता-पिताको सशरीर अपने परमधाममें पहुँचा दें और मेरे साथ मेरी पत्नीको भी अपने लोकमें ले चलें।' भगवान्‌ने सुव्रतकी भक्तिसे संतुष्ट होकर उसको उत्तम वरदान दे दिया। इस प्रकार पुत्रकी भक्तिके प्रभावसे सोमशर्मा और सुमना भी भगवद्धामको प्राप्त हो गये।

इस कथामें विशेष बात यह आयी है कि संसारमें किसीका ऋण चुकानेके लिये और किसीसे ऋण वसूल करनेके लिये ही जन्म होता है; क्योंकि जीवने अनेक लोगोंसे लिया है और अनेक लोगोंको दिया है। लेन-देनका यह व्यवहार अनेक जन्मोंसे चला आ रहा है और इसको बंद किये बिना जन्म-मरणसे छुटकारा नहीं मिल सकता।

संसारमें जिनसे हमारा सम्बन्ध होता है, वे माता, पिता, स्त्री, पुत्र तथा पशु-पक्षी आदि सब लेन-देनके लिये ही आये हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह उनमें मोह-ममता न करके अपने कर्तव्यका पालन करे अर्थात् उनकी सेवा करे, उन्हें यथाशक्ति सुख पहुँचाये। यहाँ यह शंका हो सकती है कि अगर हम दूसरेके साथ शत्रुताका बर्ताव करते हैं तो इसका दोष हमें क्यों लगता है; क्योंकि हम तो ऐसा व्यवहार पूर्वजन्मके ऋणानुबन्धसे ही करते हैं? इसका समाधान यह है कि मनुष्यशरीर विवेकप्रधान है। अतः अपने विवेकको महत्त्व देकर हमारे साथ बुरा व्यवहार करनेवालेको हम माफ कर सकते हैं और बदलेमें उससे अच्छा व्यवहार कर सकते हैं[१]। मनुष्यशरीर बदला लेनेके लिये नहीं है, प्रत्युत जन्म-मरणसे सदाके लिये मुक्त होनेके लिये है। अगर हम पूर्वजन्मके ऋणानुबन्धसे लेन-देनका व्यवहार करते रहेंगे तो हम कभी जन्म-मरणसे मुक्त हो ही नहीं सकेंगे। लेन-देनके इस व्यवहारको बंद करनेका उपाय है—निःस्वार्थभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्म करना। दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे पुराना ऋण समाप्त हो जाता है और बदलेमें कुछ न चाहनेसे नया ऋण उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार ऋणसे मुक्त होनेपर मनुष्य जन्म-मरणसे छूट जाता है।

अगर मनुष्य भक्त सुव्रतकी तरह सब प्रकारसे भगवान्‌के ही भजनमें लग जाय तो उसके सभी ऋण समाप्त हो जाते हैं अर्थात् वह किसीका भी ऋणी नहीं रहता।[२] भगवद्भजनके प्रभावसे वह सभी ऋणोंसे मुक्त होकर सदाके लिये जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाता है और भगवान्‌के परमधामको प्राप्त हो जाता है।

---

१. उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥　　(मानस ५। ४१। ४)

२. देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥ (श्रीमद्भा० ११। ५। ४१)

२७. खरी कमाई

एक बड़े सदाचारी और विद्वान् ब्राह्मण थे। उनके घरमें प्रायः रोटी-कपड़ेकी तंगी रहती थी। साधारण निर्वाहमात्र होता था। वहाँके राजा बड़े धर्मात्मा थे। ब्राह्मणीने अपने पतिसे कई बार कहा कि आप एक बार तो राजासे मिल आओ, पर ब्राह्मण कहते कि वहाँ जानेके लिये मेरा मन नहीं करता। ब्राह्मणीने कहा कि मैं आपसे माँगनेके लिये नहीं कहती। वहाँ जाकर आप माँगो कुछ नहीं, केवल एक बार जाकर आ जाओ। ज्यादा कहा तो स्त्रीकी प्रसन्नताके लिये वे राजाके पास चले गये। राजाने उनको बड़े त्यागसे रहनेवाले गृहस्थ ब्राह्मण जानकर उनका बड़ा आदर-सत्कार किया और उनसे कहा कि आप एक दिन और पधारें। अभी तो आप मर्जीसे आये हैं, एक दिन आप मेरेपर कृपा करके मेरी मर्जीसे पधारें। ऐसा कहकर राजाने उनकी पूजा करके आनन्दपूर्वक उनको विदा कर दिया। घर आनेपर ब्राह्मणीने पूछा कि राजाने क्या दिया? ब्राह्मण बोले—दिया क्या, उन्होंने कहा कि एक दिन आप फिर आओ। ब्राह्मणीने सोचा कि अब माल मिलेगा। राजाने निमन्त्रण दिया है, इसलिये अब जरूर कुछ देंगे।

एक दिन राजा रात्रिमें अपना वेश बदलकर, बहुत गरीब आदमीके कपड़े पहनकर घूमने लगे। ठण्डीके दिन थे। एक लुहारके यहाँ एक कड़ाह बन रहा था। उसमें घन मारनेवाले आदमीकी जरूरत थी। राजा इस कामके लिये तैयार हो गये। लुहारने कहा कि एक घंटा काम करनेके दो पैसे दिये जायँगे। राजाने बड़े उत्साहसे, बड़ी तत्परतासे दो घंटे काम किया। राजाके हाथोंमें छाले पड़ गये, पसीना आ गया, बड़ी मेहनत पड़ी। लुहारने चार पैसे दे दिये। राजा उन चार पैसोंको लेकर आ गया और आकर हाथोंपर पट्टी बाँधी। धीरे-धीरे हाथोंमें पड़े छाले ठीक हो गये।

एक दिन ब्राह्मणीके कहनेपर वे ब्राह्मणदेवता राजाके यहाँ फिर पधारे। राजाने उनका बड़ा आदर किया, आसन दिया, पूजन किया और उनको वे चार पैसे भेंट दे दिये। ब्राह्मण बड़े संतोषी थे। वे उन चार पैसोंको लेकर घर पहुँचे। ब्राह्मणी सोच रही थी कि आज खूब माल मिलेगा। जब उसने चार पैसोंको देखा तो कहा कि राजाने क्या दिया और क्या आपने लिया! आप-जैसे पण्डित ब्राह्मण और देनेवाला राजा! ब्राह्मणीने चार पैसे बाहर फेंक दिये। जब सुबह उठकर देखा तो वहाँ चार जगह सोनेकी सीकें दिखायी दीं। सच्चा धन उग जाता है। सोनेकी उन सीकोंको वे रोजाना काटते पर दूसरे दिन वे पुनः उग आतीं। उनको खोदकर देखा तो मूलमें वे ही चार पैसे मिले!

राजाने ब्राह्मणको अन्न नहीं दिया; क्योंकि राजाका अन्न शुद्ध नहीं होता, खराब पैसोंका होता है। मदिरा आदिपर लगे टैक्सके पैसे होते हैं, चोरोंको दण्ड देनेसे प्राप्त हुए पैसे होते हैं—ऐसे पैसोंको देकर ब्राह्मणको भ्रष्ट नहीं करना है। इसलिये राजाने अपनी खरी कमाईके पैसे दिये। आप भी धार्मिक अनुष्ठान आदिमें अपनी खरी कमाईका धन खर्च करो।

२८. पराया हक

दूसरोंका हक हमारे पास न आये—इस विषयमें मनुष्यको खूब सावधान रहना है। अपनी खरी कमाईका अन्न खाओगे तो अन्तःकरण निर्मल होगा और अगर चोरीका, ठगी-धोखेबाजीका, अन्यायका अन्न खाओगे तो अन्तःकरण महान् अशुद्ध हो जायगा।

आजकल टैक्स बहुत बढ़ जानेसे लोग व्यापार आदिमें चोरी-छिपाव करते हैं। जैसे-जैसे वकील सिखाता है, वैसा-वैसा करके वे धन बचानेकी चेष्टा करते हैं। वे विचार ही नहीं करते कि इस प्रकार धन

बचानेसे अन्त:करण कितना मैला हो जायगा! एक सन्त कहा करते थे कि शुद्ध कमाईके धनसे बहुत पवित्रता आती है। उनके पास एक राजा आया करते थे। एक बार राजाने उनसे पूछा कि 'महाराज, आपके यहाँ बहुत-से लोग आया करते हैं और आप भी कई लोगोंके घरोंमें भिक्षाके लिये जाया करते हैं। ऐसा कोई घर आपकी दृष्टिमें है, जिसका अन्न शुद्ध कमाईका हो?' अगर ऐसा घर आपको दीखता है तो बतायें।' सन्तने कहा कि 'अमुक स्थानपर एक बूढ़ी माई रहती है, उसके घरका अन्न शुद्ध है। वह ऊनको कातकर उससे अपनी जीविका चलाती है। उसके पास धन नहीं है, साधारण घास-फूसकी कुटिया है; परन्तु वह पराया हक नहीं लेती, इस कारण उसका अन्न शुद्ध है।' ऐसा सुनकर राजाके मनमें आया कि उसके घरकी रोटी मिल जाय तो बड़ा अच्छा है! राजा स्वयं एक भिखारी बनकर उसके घर पहुँचा और बोला—'माताजी! कुछ भिक्षा मिल जाय।' वह बूढ़ी माई भीतरसे रोटी लायी और बोली—'बेटा! यह रोटी ले लो।' तब राजाने पूछा—'माताजी, एक बात बताओ कि यह रोटी शुद्ध है न? इसमें पराया हक तो नहीं है?' तो वह बोली—'देख बेटा, बात यह है कि यह पूरी शुद्ध नहीं है, इसमें थोड़ा पराया हक आ गया है! एक दिन रातमें बारात जा रही थी। बारातमें जो गैस-बत्तियाँ थीं, उनके प्रकाशमें मैंने ऊन ठीक की थी—इतना इसमें पराया हक आ गया है। इसके सिवाय मेरी कमाईमें कोई कसर नहीं है।' राजाने बड़ा आश्चर्य किया कि इतनी-सी कमीका भी इतना खयाल है! दूसरेके उस प्रकाशमें हमारा क्या अधिकार है कि उसमें हम अपनी ऊन ठीक करें?

२९. दुर्गतिका कारण

शरीर बहुत ही प्यारा लगता है, पर यह जानेवाला है। जो जानेवाला है उसकी मोह-ममता पहलेसे ही छोड़ दें। यदि पहलेसे नहीं छोड़ी तो बादमें बड़ी दुर्दशा होगी। भोगोंमें, रुपयोंमें, पदार्थोंमें आसक्ति रह गयी, उनमें मन रह गया तो बड़ी दुर्दशा होगी। साँप, अजगर बनना पड़ेगा; भूत, प्रेत, पिशाच आदि न जाने क्या-क्या बनना पड़ेगा!

एक सन्तकी बात हमने सुनी। विरक्त, त्यागी सन्त थे। पैसा नहीं छूते थे और एकान्तमें भजन करते थे। एक भाई उनकी बहुत सेवा किया करता। रोजाना भोजन आदि पहुँचाया करता। एक बार किसी जरूरी कामसे उसे दूसरे शहर जाना पड़ा। तो उसने सन्तसे कहा कि महाराज! मैं तो जा रहा हूँ। तो सन्त बोले कि भैया! हमारी सेवा तुम्हारे अधीन नहीं है, तुम जाओ। उसने कहा कि महाराज! पीछे न जाने कोई सेवा करे न करे? मैं बीस रुपये यहाँ सामने गाड़ देता हूँ, काम पड़े तो आप किसीसे कह देना। बाबाजी ना-ना करते रहे, पर वह तो बीस रुपये गाड़ ही गया। अब वह तो चला गया। पीछे बाबाजी बीमार पड़े और मर गये। मरकर भूत हो गये! अब वहाँ रात्रिमें कोई रहे तो उसे खड़ाऊँकी खट-खट-खट आवाज सुनायी दे। लोग सोचें कि बात क्या है? जब वह भाई आया तो उसे कहा गया कि वहाँ रातको खड़ाऊँकी आवाज आती है, कोई भूत-प्रेत है, पर किसीको दु:ख नहीं देता। वह रात्रिमें वहाँ रहा। उसे बड़ा दु:ख हुआ। उसने प्रार्थना की तो बाबाजी दीखे और बोले कि मरते वक्त तेरे रुपयोंकी तरफ मन चला गया था। अब इन्हें तू कहीं लगा दे तो मैं छुटकारा पा जाऊँ! बाबाजीने रुपयोंको काममें भी नहीं लिया पर 'मेरे लिये रुपये पड़े हैं' इस भावसे ही यह दशा हो गयी। अब वे रुपये वहाँसे निकालकर धार्मिक काममें लगाये गये, तब कहीं जाकर बाबाजीकी गति हुई।

वृन्दावनकी एक घटना हमने सुनी थी। एक गलीमें एक भिखारी पैसे माँगा करता था। उसके पास

एक रुपयेसे कुछ कम पैसे इकट्ठे हो गये थे। वह मर गया। जहाँ उसके चिथड़े पड़े थे, वहाँ लोगोंने एक छोटा-सा साँप बैठा हुआ देखा। उसे कई बार दूर फेंका गया, पर वह फिर उन्हीं चिथड़ोंमें आकर बैठ जाता। जब नहीं हटा तो सोचा बात क्या है? साँपको दूर फेंककर चिथड़ोंमें देखा तो उसमेंसे कुछ पैसे मिले। वे पैसे किसी काममें लगा दिये तो फिर वह साँप देखनेमें नहीं आया।

यह जो भीतर वासना रहती है, यह बड़ी भयंकर होती है। वासना तब रहती है, जब वस्तुओंमें प्रियता होती है। जहाँ वस्तुओंकी प्रियता या आकर्षण रहता है, वहीं भगवान्‌की प्रियता जाग्रत् होनी चाहिये।

३०. आदर्श माँ

एक गाँवकी सच्ची घटना है। वहाँ एक मुसलमानके घर बालक हुआ, पर बालककी माँ मर गयी। वह बेचारा बड़ा दु:खी हुआ। एक तो स्त्रीके मरनेका दु:ख और दूसरा नन्हे-से बालकका पालन कैसे करूँ—इसका दु:ख! पासमें ही एक अहीर रहता था। उसका भी दो-चार दिनका ही बालक था। उसकी स्त्रीको पता लगा तो उसने अपने पतिसे कहा कि उस बालकको ले आओ, मैं पालन करूँगी। अहीर उस मुसलमानके बालकको ले आया। अहीरकी स्त्रीने दोनों बालकोंका पालन किया। उनको अपना दूध पिलाती, स्नेहसे रखती, प्यार करती। उसके मनमें द्वैधीभाव नहीं था कि यह मेरा बालक है और यह दूसरेका बालक है। जब वह बालक बड़ा हो गया, कुछ पढ़नेलायक हो गया, तो उसने उस मुसलमानको बुलाकर कहा कि अब तुम अपने बच्चेको ले जाओ और पढ़ाओ-लिखाओ, जैसी मर्जी आये, वैसा करो। वह उस बालकको ले गया और उसको पढ़ाया-लिखाया। पढ़-लिखकर वह एक अस्पतालमें कम्पाउण्डर बन गया। उधर संयोगवश अहीरकी स्त्रीकी छाती कुछ कमजोर हो गयी और उसके भीतर घाव हो गया। इलाज करवानेके लिये वे अस्पतालमें डॉक्टरके पास पहुँचे। डॉक्टरने बीमारी देखकर कहा इसको खून चढ़ाया जाय तो यह ठीक हो जायगी। खून कौन दे? परीक्षा की गयी। मुसलमानका वह लड़का, जो कम्पाउण्डर बना हुआ था, उसी अस्पतालमें था। दैवयोगसे उसका खून मिल गया। उस माईने तो उसको पहचाना नहीं, पर उस लड़केने उसको पहचान लिया कि यही मेरा पालन करनेवाली माँ है। बचपनमें उसका दूध पीकर पला था, इस कारण खूनमें एकता आ गयी थी। डॉक्टरने कहा, इसका खून चढ़ाया जा सकता है। उससे पूछा गया कि क्या तुम खून दे सकते हो? उसने कहा कि खून तो मैं दे दूँगा, पर दो सौ रुपये लूँगा। अहीरने उसको दो सौ रुपये दे दिये। उसने आवश्यकतानुसार अपना खून दे दिया। वह खून उस माईको चढ़ा दिया गया, जिससे उसका शरीर ठीक हो गया और वह अपने घर चली गयी।

कुछ दिनोंके बाद वह लड़का अहीरके घर गया और हजार-दो-हजार रुपये माँके चरणोंमें भेंट करके बोला कि आप मेरी माँ हैं। मैं आपका ही बच्चा हूँ। आपने ही मेरा पालन किया है। ये रुपये आप ले लें। उसने लेनेसे मना किया तो कहा कि ये आपको लेने ही पड़ेंगे। उसने अस्पतालकी बात याद दिलायी कि खूनके दो सौ रुपये मैंने इसलिये लिये थे कि मुफ्तमें आप खून नहीं लेतीं और खून न लेनेसे आपका बचाव नहीं होता। यह खून तो वास्तवमें आपका ही है। आपके दूधसे ही मैं पला हूँ, इसलिये मेरा यह शरीर और सब कुछ आपका ही है। मेरे रुपये शुद्ध कमाईके हैं। आपकी कृपासे मैं लहसुन और प्याज भी नहीं खाता हूँ। अपवित्र, गन्दी चीजोंसे मेरी अरुचि हो गयी है। अत: ये रुपये आपको लेने ही पड़ेंगे। ऐसा कहकर उसने रुपये दे दिये। अहीरकी

स्त्री बड़े शुद्ध भाववाली थी, जिससे उसके दूधका असर ऐसा हुआ कि वह लड़का मुसलमान होते हुए भी अपवित्र चीज नहीं खाता था।

आप विचार करें। जितनी माताएँ हैं, सब अपने-अपने बच्चोंका पालन करती ही हैं। हम सबका पालन बहनों-माताओंने ही किया है। परन्तु उनकी कोई कथा नहीं सुनाता, कोई बात नहीं करता। अहीरकी स्त्रीकी बात आप और हम करते हैं। उसका हमपर असर पड़ता है कि कितनी विशेष दया थी उसके हृदयमें! उसके मनमें यह भेद-भाव नहीं था कि दूसरेके बच्चेका मैं कैसे पालन करूँ? इसलिये आज हमलोग उसका गुण गाते हैं कि कितनी श्रेष्ठ माँ थी, जिसने दूसरे बालकका भी पालन किया और पालन करके उसके पिताको सौंप दिया! अपने बच्चोंका पालन तो कुतिया भी करती है, इसमें क्या बड़ी बात है?

३१. राजाको उपदेश

एक राजा था। वह एक दिन शामके वक्त अपने महलकी छतपर घूम रहा था। साथमें पाँच-सात आदमी भी थे। महलके पीछे कुछ मकानोंके खण्डहर थे। उन खण्डहरोंमें कभी-कभी एक सन्त आकर ठहरा करते थे। राजाने उन खण्डहरोंकी तरफ संकेत करते हुए अपने आदमियोंसे पूछा कि 'यहाँ एक सन्त आकर ठहरा करते थे न?' उन्होंने कहा कि 'हाँ महाराज! आया करते थे, पर कुछ वर्षोंसे उनको यहाँ आते देखा नहीं।' राजाने कहा कि 'वे बड़े विरक्त, त्यागी सन्त थे। उनके दर्शनसे बड़ी शान्ति मिलती थी। वे मिलें तो उनसे कोई बात पूछें। उनका पता लगाओ।' राजाके आदमियोंने उनका पता लगाया तो पता लगा कि वे शरीर छोड़ गये। मनुष्यकी यह बड़ी भूल होती है कि जब कोई मौजूद होता है, तब उससे लाभ लेते नहीं और जब वह मर जाता है, तब रोते हैं। राजाने कहा कि 'अहो! हमसे बड़ी गलती हो गयी कि हम उनसे लाभ नहीं ले सके! अब उनका कोई शिष्य हो तो उसको ले आओ, हम उससे मिलेंगे।' राजपुरुषोंने खोज की तो एक साधु मिले। उनसे पूछा कि 'महाराज! क्या आप उन सन्तको जानते हैं?' वे बोले कि 'हाँ, जानता हूँ। वे बड़े ऊँचे महात्मा थे।' राजपुरुषोंने फिर पूछा कि 'क्या आप उन सन्तके शिष्य हैं?' साधुने कहा कि 'नहीं, वे किसीको शिष्य नहीं बनाते थे। हाँ, मैं उनके साथमें जरूर रहा हूँ।' राजाके पास यह समाचार पहुँचा तो राजाने उनको ही लानेकी आज्ञा दी। राजाके आदमी उस साधुके पास गये और बोले कि 'महाराज! राजाने आपको बुलाया है, हमारे साथ चलिये।' वे बोले कि 'भाई! मैंने क्या अपराध किया है?' कारण कि राजा प्राय: उसीको लानेकी आज्ञा देते हैं, जिसने कोई गलती की हो। राजपुरुषोंने कहा कि 'नहीं महाराज! आपको तो वे सत्संगके लिये, पारमार्थिक बातें पूछनेके लिये बुलाते हैं। आप हमारे साथ पधारें।' वे साधु 'अच्छा' कहकर उनके साथ चल दिये। रास्तेमें वे एक गलीमें जाकर बैठ गये। राजपुरुषोंने समझा कि वे लघुशंका करते होंगे। गलीमें एक कुतियाने बच्चे दे रखे थे। साधुने उनमेंसे एक पिल्लेको उठा लिया और अपनी चद्दरके भीतर छिपाकर राजपुरुषोंके साथ चल पड़े।

राजाओंके यहाँ आसन (कुर्सी)-का बड़ा महत्त्व होता है। किसको कौन-सा आसन दिया जाय, किसको कितना आदर दिया जाय, किसको ऊँचा और किसको नीचा आसन दिया जाय—इसका विशेष ध्यान रखा जाता है। राजाने साधुके बैठनेके लिये गलीचा बिछा दिया और खुद भी उसपर बैठ गये, जिससे ऊँचे-नीचे आसनका कोई विचार न रहे। बाबाजीने बैठते ही अपने दोनों पैर राजाके सामने फैला दिये। राजाने सोचा कि यह मूर्ख है, सभ्यताको

जानता नहीं! कभी राजसभामें गया नहीं, इसलिये राजाओंके सामने कैसे बैठना चाहिये—यह इसको आता नहीं। राजाने पूछ लिया—पैर फैलाये कबसे? बाबाजी बोले—हाथ सिकोड़े तबसे। तात्पर्य है कि कुछ लेनेकी इच्छा होती तो हम हाथ फैलाते और पैर सिकोड़ते, पर हमें लेना कुछ है ही नहीं, इसलिये हाथ सिकोड़ लिये और पैर फैला लिये। ऐसा कहकर बाबाजीने हाथ-पैर ठीक कर लिये। राजाने उत्तर सुनकर विचार किया कि ये मूर्ख नहीं हैं, प्रत्युत बड़े समझदार, त्यागी और चेतानेवाले हैं। राजाने उन सन्तकी चर्चा की तो साधुने कहा कि वे बड़े अच्छे सन्त थे, वैसे सन्त बहुत कम हुआ करते हैं।

राजाने पूछा—आप उनके साथ रहे हैं न?

साधुने कहा—हाँ, मैं उनके साथ रहा तो हूँ।

राजाने पूछा—आपने उनसे कुछ लिया होगा?

साधुने कहा—हमने लिया नहीं राजन्!

राजा बोला—तो क्या आप रीते ही रह गये?

साधुने कहा—नहीं, ऐसे सन्तके साथ रहनेवाला कभी रीता रह सकता ही नहीं। हमने लिया तो नहीं, पर रह गया।

राजाने पूछा—क्या रह गया?

साधुने कहा—जैसे डिबियामेंसे कस्तूरी निकालनेपर भी उसमें सुगन्ध रह जाती है, घीके बर्तनमेंसे घी निकालनेपर भी उसमें चिकनाहट रह जाती है, ऐसे ही सन्तके साथ रहनेसे उनकी सुगन्ध, चिकनाहट रह गयी।

राजा बोला—महाराज! वह सुगन्ध, चिकनाहट क्या है—यह मेरेको बताइये।

साधुने कहा—राजन्! यह हम साधुओंकी, फकीरोंकी बात है, राजाओंकी बात नहीं। आप जानकर क्या करोगे?

राजाने कहा—नहीं महाराज! आप जरूर बताइये।

साधुने चद्दरके पीछे छिपाया पिल्ला बाहर निकाला और राजाके सामने कर दिया।

राजाने कहा—हम समझे नहीं महाराज!

साधुने कहा—आप बुरा तो नहीं मानोगे?

राजाने कहा—अरे, मैं तो पूछता ही हूँ, बुरा कैसे मानूँगा? आप सच्ची बात कह दें।

साधुने कहा—राजन्! मेरेको आपमें और इस पिल्लेमें फर्क नहीं दीखता; यह समता ही उन सन्तके संगकी सुगन्ध, चिकनाहट है! यह पिल्ला बहुत साधारण चीज है और आप बहुत विशेष हैं—यह बात तो सच्ची है, पर मेरेको ऐसा नहीं दीखता। आपमें भी प्राण हैं और इसमें भी प्राण हैं। आपके भी श्वास चलते हैं और इसके भी श्वास चलते हैं। आपका शरीर भी पाँच भूतोंसे बना है और इसका शरीर भी पाँच भूतोंसे बना है। आप भी देखते हैं, यह भी देखता है। आप भी खाते-पीते हैं, यह भी खाता-पीता है। आपमें और इसमें फर्क क्या है? संसारके सभी प्राणियोंमें कोई-न-कोई विशेषता है ही। किसीमें कोई विशेषता है तो किसीमें कोई विशेषता है, टोटलमें सब बराबर हुए! आप ऊँचे पदपर हैं और यह नीचा है—यह फर्क तो तब होता है, जब मेरा स्वार्थका सम्बन्ध हो। मेरा किसीसे स्वार्थका सम्बन्ध है ही नहीं, न आपसे कुछ लेना है, न कुत्तेसे कुछ लेना है, फिर मेरे लिये आपमें और इसमें फर्क क्या है? आप बुरा न मानें। आपने बतानेका आग्रह किया, इसलिये साफ बात कह दी। मैं आपका तिरस्कार नहीं करता हूँ, प्रत्युत सत्कार करता हूँ; क्योंकि आप प्रजाके मालिक हैं।

तात्पर्य है कि जब हमें संसारसे कुछ लेना होता है, तब हमें कोई धनी और कोई दरिद्र दीखता है। धनी मिले या दरिद्र मिले, हमें उनसे कुछ लेना है ही नहीं तो फिर दोनोंमें क्या फर्क हुआ? एक साधु थे। घरोंसे भिक्षा लेना और पाकर चले आना—यह उनका प्रतिदिनका नियम था। शहरसे भिक्षा लाते समय बीचमें बहुत भीड़ रहती है, अतः स्पर्शदोषसे बचनेके लिये वे वहीं बैठकर पा लेते थे। एक दिन भिक्षा पानेके बाद वे अपना पात्र माँजने लगे तो एक सेठने कहा कि आपका पात्र मैं माँज देता हूँ। साधुने कहा

कि आपसे नहीं मँजवाना है तो वह सेठ बोला कि मेरा नौकर माँज देगा। साधुने कहा कि 'मेरे लिये आपमें और नौकरमें फर्क क्या है? आप माँजें या नौकर माँजे, फर्क क्या पड़ा? फर्क तो तब पड़े, जब मैं आपको बड़ा आदमी समझूँ और नौकरको मामूली आदमी समझूँ। मेरे लिये जैसे आप आदरणीय हैं, ऐसे ही नौकर आदरणीय है और जैसे नौकर आदरणीय है, ऐसे ही आप आदरणीय हैं। नौकर है तो आपका है, मेरा नौकर है क्या? उसको मैं तनख्वाह देता हूँ क्या? मेरा सम्बन्ध तो आपके साथ और नौकरके साथ समान ही है। अन्तर तो तब हो जब मेरेको कुछ लेना हो, कोई राग-द्वेषपूर्वक सम्बन्ध जोड़ना हो!'

३२. गीताके प्रभावसे चुड़ैल भागी

गीताके अध्ययन और श्रवणकी तो बात ही क्या है, गीताको रखनेमात्रका भी बड़ा माहात्म्य है! एक सिपाही था। वह रातके समय कहींसे अपने घर आ रहा था। रास्तेमें उसने चन्द्रमाके प्रकाशमें एक वृक्षके नीचे एक सुन्दर स्त्री देखी। उसने उस स्त्रीसे बातचीत की तो उस स्त्रीने कहा—मैं आ जाऊँ क्या? सिपाहीने कहा—हाँ, आ जा। सिपाहीके ऐसा कहनेपर वह स्त्री, जो वास्तवमें चुड़ैल थी, उसके पीछे आ गयी। अब वह रोज रातमें उस सिपाहीके पास आती, उसके साथ सोती, उसका संग करती और सबेरे चली जाती। इस तरह वह उस सिपाहीका शोषण करने लगी अर्थात् उसका खून चूसकर उसकी शक्ति क्षीण करने लगी। एक बार रातमें वे दोनों लेट गये, पर बत्ती जलती रह गयी तो सिपाहीने उससे कहा कि तू बत्ती बन्द कर दे। उसने लेटे-लेटे ही अपना हाथ लम्बा करके बत्ती बन्द कर दी। अब सिपाहीको पता लगा कि यह कोई सामान्य स्त्री नहीं है, यह तो चुड़ैल है! वह बहुत घबराया। चुड़ैलने उसको धमकी दी कि अगर तू किसीको मेरे बारेमें बतायेगा तो मैं तेरेको मार डालूँगी। इस तरह वह रोज रातमें आती और सबेरे चली जाती। सिपाहीका शरीर दिन-प्रतिदिन सूखता जा रहा था। लोग उससे पूछते कि भैया! तुम इतने क्यों सूखते जा रहे हो? क्या बात है, बताओ तो सही! परन्तु चुड़ैलके डरके मारे वह किसीको कुछ बताता नहीं था। एक दिन वह दूकानसे दवाई लाने गया। दूकानदारने दवाईकी पुड़िया बाँधकर दे दी। सिपाही उस पुड़ियाको जेबमें डालकर घर चला आया। रातके समय जब वह चुड़ैल आयी, तब वह दूरसे ही खड़े-खड़े बोली कि तेरी जेबमें जो पुड़िया है, उसको निकालकर फेंक दे। सिपाहीको विश्वास हो गया कि इस पुड़ियामें जरूर कुछ करामात है, तभी तो आज यह चुड़ैल मेरे पास नहीं आ रही है! सिपाहीने उससे कहा कि मैं पुड़िया नहीं फेकूँगा। चुड़ैलने बहुत कहा, पर सिपाहीने उसकी बात मानी नहीं। जब चुड़ैलका उसपर वश नहीं चला, तब वह चली गयी। सिपाहीने जेबमेंसे पुड़ियाको निकालकर देखा तो वह गीताका फटा हुआ पन्ना था! इस तरह गीताका प्रभाव देखकर वह सिपाही हर समय अपनी जेबमें गीता रखने लगा। वह चुड़ैल फिर कभी उसके पास नहीं आयी।

३३. बुद्धिमान् बनजारा (प्रेरक कहानियाँ)

एक बनजारा था। वह बैलोंपर मेट (मुल्तानी मिट्टी) लादकर दिल्लीकी तरफ आ रहा था। रास्तेमें कई गाँवोंसे गुजरते समय उसकी बहुत-सी मेट बिक गयी। बैलोंकी पीठपर लदे बोरे आधे तो खाली हो गये और आधे भरे रह गये। अब वे बैलोंकी पीठपर टिकें कैसे? क्योंकि भार एक तरफ हो गया! नौकरोंने पूछा कि क्या करें? बनजारा बोला—'अरे! सोचते क्या हो, बोरोंके एक तरफ रेत (बालू) भर लो। यह राजस्थानकी जमीन है, यहाँ रेत बहुत है।' नौकरोंने वैसा ही किया। बैलोंकी पीठपर एक तरफ आधे बोरेमें मेट हो गयी और दूसरी तरफ आधे बोरेमें रेत हो गयी।

दिल्लीसे एक सज्जन उधर आ रहे थे। उन्होंने बैलोंपर लदे बोरोंमेंसे एक तरफ रेत झरते हुए देखी तो वे बोले कि बोरोंमें एक तरफ रेत क्यों भरी है? नौकरोंने कहा—'सन्तुलन करनेके लिये।' वे सज्जन बोले—'अरे! यह तुम क्या मूर्खता करते हो? तुम्हारा मालिक और तुम एक-से ही हो। बैलोंपर मुफ्तमें ही भार ढोकर उनको मार रहे हो! मेटके आधे-आधे दो बोरोंको एक ही जगह बाँध दो तो कम-से-कम आधे बैल तो बिना भारके खुले चलेंगे।' नौकरोंने कहा कि आपकी बात तो ठीक जँचती है, पर हम वही करेंगे, जो हमारा मालिक कहेगा। आप जाकर हमारे मालिकसे यह बात कहो और उनसे हमें हुक्म दिलवाओ। वह मालिक (बनजारे)-से मिला और उससे बात कही। बनजारेने पूछा कि आप कहाँके हैं? कहाँ जा रहे हैं? उसने कहा कि मैं भिवानीका रहनेवाला हूँ। रुपये कमानेके लिये दिल्ली गया था। कुछ दिन वहाँ रहा, फिर बीमार हो गया। जो थोड़े रुपये कमाये थे, वे खर्च हो गये। व्यापारमें घाटा लग गया। पासमें कुछ रहा नहीं तो विचार किया कि घर चलना चाहिये। उसकी बात सुनकर बनजारा नौकरोंसे बोला कि इनकी सम्मति मत लो। अपने जैसे चलते हैं, वैसे ही चलो। इनकी बुद्धि तो अच्छी दीखती है, पर उसका नतीजा ठीक नहीं निकलता। अगर ठीक निकलता तो ये धनवान् हो जाते। हमारी बुद्धि भले ही ठीक न दीखे, पर उसका नतीजा ठीक होता है। मैंने कभी अपने काममें घाटा नहीं खाया।

बनजारा अपने बैलोंको लेकर दिल्ली पहुँचा। वहाँ उसने जमीन खरीदकर मेट और रेत दोनोंका अलग-अलग ढेर लगा दिया और नौकरोंसे कहा कि बैलोंको जंगलमें ले जाओ और जहाँ चारा-पानी हो, वहाँ उनको रखो। यहाँ उनको चारा खिलायेंगे तो नफा कैसे कमायेंगे? मेट बिकनी शुरू हो गयी। उधर दिल्लीका बादशाह बीमार हो गया। वैद्यने सलाह दी कि अगर बादशाह राजस्थानके धोरे (रेतके टीले)-पर रहें तो उनका शरीर ठीक हो सकता है। रेतमें शरीरको नीरोग करनेकी शक्ति होती है। अत: बादशाहको राजस्थान भेजो।

'राजस्थान क्यों भेजें? वहाँकी रेत यहीं मँगा लो!'

'ठीक बात है। रेत लानेके लिये ऊँटको भेजो।'

'ऊँट क्यों भेजें? यहीं बाजारमें रेत मिल जायगी।'

'बाजारमें कैसे मिल जायगी?'

'अरे! दिल्लीका बाजार है, यहाँ सब कुछ मिलता है! मैंने एक जगह रेतका ढेर लगा हुआ देखा है।'

'अच्छा! तो फिर जल्दी रेत मँगवा लो।'

बादशाहके आदमी बनजारेके पास गये और उससे पूछा कि रेत क्या भाव है? बनजारा बोला कि चाहे मेट खरीदो, चाहे रेत खरीदो, एक ही भाव है। दोनों बैलोंपर बराबर तुलकर आये हैं। बादशाहके आदमियोंने वह सारी रेत खरीद ली। अगर बनजारा दिल्लीसे आये उस सज्जनकी बात मानता तो ये मुफ्तके रुपये कैसे मिलते? इससे सिद्ध हुआ कि बनजारेकी बुद्धि ठीक काम करती थी।

इस कहानीसे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि

जिन्होंने अपनी वास्तविक उन्नति कर ली है, जिनका विवेक विकसित हो चुका है, जिनको तत्त्वका अनुभव हो चुका है, जिन्होंने अपने दु:ख, सन्ताप, अशान्ति आदिको मिटा दिया है, ऐसे सन्त-महात्माओंकी बात मान लेनी चाहिये; क्योंकि उनकी बुद्धिका नतीजा अच्छा हुआ है। जैसे, किसीने व्यापारमें बहुत धन कमाया हो तो वह जैसा कहे, वैसा ही हम करेंगे तो हमें भी लाभ होगा। उनको लाभ हुआ है तो हमें लाभ क्यों नहीं होगा? ऐसे ही हम सन्त-महात्माओंकी बात मानेंगे तो हमारेको भी अवश्य लाभ होगा। उनकी बात समझमें न आये तो भी मान लेनी चाहिये। हमने आजतक अपनी समझसे काम किया तो कितना लाभ लिया है? अपनी बुद्धिसे अबतक हमने कितनी उन्नति की है?

३४. ठण्डी रोटी

एक लड़का था। माँने उसका विवाह कर दिया। परन्तु वह कुछ कमाता नहीं था। माँ जब भी उसको रोटी परोसती थी, तब वह कहती कि बेटा, ठण्डी रोटी खा लो। लड़केकी समझमें नहीं आया कि माँ ऐसा क्यों कहती है। फिर भी वह चुप रहा। एक दिन माँ किसी कामसे बाहर गयी तो जाते समय अपनी बहू (उस लड़केकी स्त्री)-को कह गयी कि जब लड़का आये तो उसको रोटी परोस देना। रोटी परोसकर कह देना कि ठण्डी रोटी खा लो। उसने अपने पतिसे वैसा ही कह दिया तो वह चिढ़ गया कि माँ तो कहती ही है, यह भी कहना सीख गयी! वह अपनी स्त्रीसे बोला कि बता, रोटी ठण्डी कैसे हुई? रोटी भी गरम है, दाल-साग भी गरम हैं, फिर तू ठण्डी रोटी कैसे कहती है? वह बोली कि यह तो आपकी माँ जाने। आपकी माँने मेरेको ऐसा कहनेके लिये कहा था, इसलिये मैंने कह दिया। वह बोला कि मैं रोटी नहीं खाऊँगा। माँ तो कहती ही थी, तू भी सीख गयी!

माँ घर आयी तो उसने बहूसे पूछा कि क्या लड़केने भोजन कर लिया? वह बोली कि उन्होंने तो भोजन किया ही नहीं, उलटा नाराज हो गये! माँने लड़केसे पूछा तो वह बोला कि माँ, तू तो रोजाना कहती थी कि ठण्डी रोटी खा ले और मैं सह लेता था, अब यह भी कहना सीख गयी! रोटी तो गरम होती है, तू बता कि रोटी ठण्डी कैसे है? माँने पूछा कि ठण्डी रोटी किसको कहते हैं? वह बोला—सुबहकी बनायी हुई रोटी शामको ठण्डी होती है। ऐसे ही एक दिनकी बनायी हुई रोटी दूसरे दिन ठण्डी होती है। बासी रोटी ठण्डी और ताजी रोटी गरम होती है। माँने कहा—बेटा, अब तू विचार करके देख। तेरे बापकी जो कमाई है, वह ठण्डी, बासी रोटी है। गरम, ताजी रोटी तो तब होगी, जब तू खुद कमाकर लायेगा। लड़का समझ गया और माँसे बोला कि अब मैं खुद कमाऊँगा और गरम रोटी खाऊँगा!

इस कहानीसे यह शिक्षा मिलती है कि विवाह होनेके बाद ठण्डी रोटी नहीं खानी चाहिये, अपनी कमाईकी रोटी खानी चाहिये। जब भगवान् राम वनवासमें गये, तब रावण सीताजीको ले गया। किसी भी रामायणमें यह सुननेमें नहीं आया कि रामजीने भरतको समाचार दिया हो कि रावण मेरी स्त्रीको ले गया है, तुम मेरी सहायता करो। कारण कि रामजी इस बातको समझते थे कि विवाह किया है तो स्त्रीकी रक्षा करना, उसका पालन करना मेरा कर्तव्य है। उन्होंने अपनी भुजाओंके बलसे पहले सुग्रीवकी सहायता की, पीछे उससे सहायता ली। सुग्रीवको राज्य, कोष, पुर और नारी—ये चार चीजें दिलाकर अपनी एक स्त्रीके लिये सहायता ली। इसलिये विवाह तभी करना चाहिये, जब स्त्रीका और बच्चोंका पालन-पोषण करनेकी ताकत हो। यह ताकत न हो तो विवाह नहीं करना चाहिये।

३५. सन्तोंकी शरण

एक गाँवमें एक ठाकुर थे। उनके कुटुम्बमें कोई आदमी नहीं बचा, केवल एक लड़का रह गया। वह ठाकुरके घर काम करने लग गया। रोजाना सुबह वह बछड़े चराने जाता था और लौटकर आता तो रोटी खा लेता था। ऐसे समय बीतता गया। एक दिन दोपहरके समय वह बछड़े चराकर आया तो ठाकुरकी नौकरानीने उसको ठण्डी रोटी खानेके लिये दे दी। उसने कहा कि थोड़ी-सी छाछ या राबड़ी मिल जाय तो ठीक है। नौकरानीने कहा कि जा-जा, तेरे लिये बनायी है राबड़ी! जा, ऐसे ही खा ले, नहीं तो तेरी मरजी! उस लड़केके मनमें गुस्सा आया कि मैं धूपमें बछड़े चराकर आया हूँ, भूखा हूँ, पर मेरेको बाजरेकी रूखी रोटी दे दी, राबड़ी माँगी तो तिरस्कार कर दिया! वह भूखा ही वहाँसे चला गया। गाँवके पासमें एक शहर था। उस शहरमें सन्तोंकी एक मण्डली आयी हुई थी। वह लड़का वहाँ चला गया। सन्तोंने उसको भोजन कराया और पूछा कि तेरे परिवारमें कौन है? उसने कहा कि कोई नहीं है तो सन्तोंने कहा कि तू साधु बन जा। लड़का साधु बन गया। फिर वह पढ़नेके लिये काशी चला गया। वहाँ पढ़कर वह विद्वान् हो गया। फिर समय पाकर वह मण्डलेश्वर (महन्त) बन गया। मण्डलेश्वर बननेके बाद एक दिन उनको उसी शहरमें आनेका निमन्त्रण मिला। वे अपनी मण्डलीको लेकर वहाँ आये। जिनके यहाँ वे बचपनमें काम करते थे, वे ठाकुर बूढ़े हो गये थे। ठाकुर उनके पास गये, उनका सत्संग किया और प्रार्थना की कि महाराज! एक बार हमारी कुटियामें पधारो, जिससे हमारी कुटिया पवित्र हो जाय! मण्डलेश्वरजीने उनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

मण्डलेश्वरजी अपनी मण्डलीके साथ ठाकुरके घर पधारे। भोजनके लिये पंक्ति बैठी। गीताके पन्द्रहवें अध्यायका पाठ हुआ। फिर सबने भोजन करना आरम्भ किया। महाराजके सामने तख्ता लगा हुआ था और उसपर तरह-तरहके भोजनके पदार्थ रखे हुए थे। अब ठाकुर महाराजके पास आये। साथमें नौकर था, जिसके हाथमें हलवेका पात्र था। ठाकुर प्रार्थना करने लगे कि 'महाराज! कृपा करके थोड़ा-सा हलवा मेरे हाथसे ले लो!' महाराजको हँसी आ गयी। ठाकुरने पूछा कि 'आप हँसे कैसे?' महाराज बोले कि 'मेरेको पुरानी बात याद आ गयी, इसलिये हँसा।' ठाकुर बोले कि 'बताओ, वह बात क्या है?' महाराजने सब सन्तोंसे कहा कि 'भाई, थोड़ा ठहर जाओ, बैठे रहो, ठाकुर बात पूछते हैं तो बताता हूँ।' महाराजने ठाकुरसे पूछा कि आपके कुटुम्बमें वह परिवार रहता था, उस परिवारमें अब कोई है क्या? ठाकुर बोले कि केवल एक लड़का था। उसने कई दिन बछड़े चराये, फिर न जाने कहाँ चला गया! बहुत दिन हो गये, फिर कभी उसको देखा नहीं। महाराज बोले कि वही मैं हूँ! पासमें सन्त-मण्डली ठहरी हुई थी, मैं वहाँ चला गया। पीछे काशी चला गया, वहाँ पढ़ाई की और फिर मण्डलेश्वर बन गया। यही वह आँगन है, जहाँ आपकी नौकरानीने मेरेको थोड़ी-सी राबड़ी देनेसे भी मना कर दिया था। अब मैं भी वही हूँ, आँगन भी वही है और आप भी वही हैं, पर अब आप अपने हाथसे मोहनभोग दे रहे हो कि महाराज, कृपा करके थोड़ा मेरे हाथसे ले लो!

माँगे मिले न राबड़ी, करूँ कहाँ लगि वरण।
मोहनभोग गले में अटक्या, आ सन्तों की शरण॥

सन्तोंकी शरण लेनेमात्रसे इतना हो गया कि जहाँ राबड़ी नहीं मिलती थी, वहाँ मोहनभोग भी गलेमें अटक रहा है! अगर कोई भगवान्‌की शरण ले ले तो वह सन्तोंका भी आदरणीय हो जाय। लखपति-करोड़पति बननेमें सब स्वतन्त्र नहीं हैं, पर भगवान्‌के शरण होनेमें, भगवान्‌का भक्त बननेमें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं और ऐसा मौका इस मनुष्यजन्ममें ही है।

३६. मरकर आदमी कहाँ गया ?

एक साधारण ब्राह्मण थे। वे काशी पढ़कर आये। सिरपर पुस्तकें लदी हुई थीं। शहरसे होकर निकले तो वर्षा आ गयी। पासमें छाता था नहीं। अत: एक मकानके दरवाजेके पास जगह देखकर खड़े हो गये। उसके ऊपर एक वेश्या रहती थी। कुछ आदमी 'रामनाम सत्य है' कहते हुए एक मुर्देको लेकर वहाँसे निकले। उस वेश्याने आवाज देकर एक लड़कीसे कहा कि जा, पता लगाकर आ कि यह स्वर्गमें गया या नरकमें गया? लड़की चली गयी। पण्डितजीने सुना तो वहीं ठहर गये कि ऐसी कौन-सी विद्या है, जिससे मरनेवालेका पता लग जाय कि वह कहाँ गया? थोड़ी देरमें वह लड़की आयी और वेश्यासे बोली कि यह तो नरकोंमें गया। इतनेमें दूसरा मुर्दा आया तो वेश्याने फिर लड़कीको भेजा। लड़कीने आकर कहा कि यह तो स्वर्गमें गया। पण्डितजीने विचार किया कि मैं इतने वर्ष काशी रहा, वहाँ कितनी पुस्तकें पढ़ीं, पर यह पता नहीं लगता कि मरनेवाला कहाँ गया? यह विद्या तो मेरेको सीखनी चाहिये।

पण्डितजी मकानके ऊपर चले गये। वेश्याने देखा तो पहचान लिया कि यह मेरा ग्राहक तो है नहीं। उसने पूछा कि यहाँ कैसे आये? पण्डितजी बोले—'माताजी! मैं............'। वेश्या बोली—मेरेको माताजी मत कहो, मैं तो एक वेश्या हूँ। पण्डितजी बोले—हमारे लिये तो माँ, बहन या बेटी ही हो! वेश्या बोली—क्या बात है? पण्डितजीने कहा—तुमने लड़कीसे कहा कि पता लगाकर आओ, मरनेवाला कहाँ गया तो उसने आकर कहा कि एक नरकमें गया, एक स्वर्गमें गया, यह क्या विद्या है? मैं जानना चाहता हूँ। वेश्याने उस लड़कीको बुलाया और कहा कि महाराजको बता, तूने कैसे परीक्षा की कि यह नरकमें गया, यह स्वर्गमें गया। वह कहने लगी कि महाराज! वे मुर्दा लिये जा रहे थे तो मैंने उनसे पूछा कि यह कहाँसे आया है, किस मोहल्लेका है? फिर मैं पता लगाकर उस मोहल्लेमें पहुँची तो लोगोंको रोते देखकर पता लगा कि इस घरका आदमी मर गया। उनके पड़ोसियोंके घर जाकर सुना तो लोग कह रहे थे कि वह आदमी मर गया तो हम निहाल हो गये! वह सबकी चुगली करता था, चोरी करा देता था, लड़ाई करा देता था, झूठी गवाही देकर फँसा देता था, बहुत दु:ख देता था। मर गया तो बहुत अच्छा हुआ, आफत मिटी! ऐसी बातें मैंने कई घरोंमें सुनीं तो आकर कहा कि वह नरकोंमें गया। दूसरा मुर्दा आया तो उसका भी पता लगाकर मैं उसके मोहल्लेमें गयी। वहाँ लोग बातें कर रहे थे कि राम-राम, गजब हो गया! वह आदमी तो हमारे मोहल्लेका एक प्रकाश था। वह सन्त-महात्माओंको बुलाया करता था, सत्संग कराता था, कोई बीमार हो जाय तो रातों जगता था, किसीपर कोई आफत आती तो उसकी तन-मन-धनसे सहायता करता था! वह चला गया तो हमारे मोहल्लेमें अँधेरा हो गया! ऐसी बातें मैंने सुनीं तो आकर कहा कि वह स्वर्गमें गया।

पण्डितजी बोले—अरे, ये बातें तो हमारी पुस्तकोंमें भी लिखी हैं कि अच्छे काम करनेवालेकी सद्‍गति होती है और बुरे काम करनेवालेकी दुर्गति होती है, पर यह बात हमारी अक्लमें ही नहीं आयी!

३७. एक फूँककी दुनिया

एक बड़े विरक्त, त्यागी सन्त थे। एक व्यक्ति उनका शिष्य हो गया। वह बहुत पढ़ा-लिखा था। उसने व्याख्यान देना शुरू कर दिया। बहुत लोग उसके पास आने लगे। बाबाजीने उसको समझाया कि व्याख्यान देना कोई बढ़िया चीज नहीं है, इसमें फँसना नहीं। उनका शिष्य माना नहीं और दूसरी जगह जाकर व्याख्यान देने लगा। सब लोग वहीं जाने लगे। व्याख्यान सुननेके लिये बड़े-बड़े धनीलोग तथा स्वयं राजा भी आने लगे। बाबाजीको उसपर दया आ गयी कि मेरा शिष्य फँस जायगा!

एक दिन बाबाजी अपने शिष्यके पास पहुँचे। उसने देखा तो कहा—अरे! हमारे गुरु महाराज पधारे हैं! लोगोंने सुना तो सब बड़ी संख्यामें इकट्ठे हुए। उनका बड़ा आदर हुआ, प्रशंसा हुई, महिमा हुई कि हमारे महाराजके गुरुजी हैं! कितने बड़े हैं! सभा बैठी। राजा भी आये हुए थे। बाबाजीके मनमें क्या आयी कि उठकर राजाके पास गये और जोरसे 'भर्र..............' करके अपानवायु छोड़ दी! लोगोंने देखा तो उठ गये कि कुछ नहीं है! चेला तो अच्छा है, पर गुरुमें कुछ नहीं! लोग भी नाराज हुए, राजा भी नाराज हुए। बाबाजीने कहा कि आज हम यहाँसे चले जायँगे। लोग मनमें प्रसन्न हुए कि अच्छी बात है, आफत मिटी! महाराजके गुरुजी हैं, इसलिये थोड़ा आदर तो कर दें—ऐसा समझकर सभ्यताके नाते बहुत-से लोग बाबाजीको पहुँचानेके लिये आये। वहाँ एक मरी हुई चिड़िया पड़ी थी। बाबाजीने उस चिड़ियाको अँगुलियोंसे पकड़कर ऊपर उठा लिया और सबको दिखाने लगे। लोग देखने लगे कि बाबाजी यह क्या करते हैं? बाबाजीने फूँक मारी तो चिड़िया 'फुर्र..............' करके उड़ गयी! अब लोग वाह-वाह करने लगे कि बाबाजी तो बड़े सिद्ध महात्मा हैं! चारों तरफ बाबाजीकी जय-जयकार होने लगी।

बाबाजीने शिष्यको अपने पास बुलाया और कहा कि तू समझा कि नहीं? शिष्य बोला—क्या समझना है महाराज! बाबाजी बोले—इस दुनियाकी क्या कीमत समझी है तूने? यह सब दुनिया एक फूँककी है। एक फूँकमें भाग जाय और एक फूँकमें आ जाय! फूँककी क्या इज्जत है! इसमें कोई तत्त्व नहीं है। इसलिये मान-बड़ाईमें न फँसकर भगवान्‌का भजन करो। ऊँचे आसनपर बैठनेसे, व्याख्यान देनेसे कोई बड़ा नहीं हो जाता।

३८. चार साधु और चोर

चार साधु थे। वे शहरके पास एक जंगलमें रहते थे और भगवान्‌का भजन-स्मरण करते थे। उन चारों साधुओंकी अपनी अलग-अलग एक निष्ठा थी। एक दिन वहाँके राजाने अपनी स्त्रीसे कहा कि हमें अपने लड़केको अच्छा सन्त बनाना है, फिर वह चाहे राज्य करे, चाहे साधु बन जाय। रानी बोली कि महाराज! जो सन्त बनना चाहता है, वही सन्त बन सकता है, दूसरेके बनानेसे कैसे बन जायगा? आपका और मेरा उद्योग थोड़े ही काम करेगा? राजाने कहा कि इसका एक उपाय है—सत्संग! ***'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥'*** (मानस, बाल० ३।५)। रानी बोली कि ऐसा कोई अच्छा सन्त है, जिसके पास लड़केको भेजें? राजा बोला कि यहाँ पासमें ही जंगलमें चार अच्छे सन्त रहते हैं। उनके पास लड़केको भेज देते हैं। इस प्रकार राजा और रानी बातें कर रहे थे। रात्रिका समय था। दैवयोगसे एक चोर, जो चोरी करनेके उद्देश्यसे वहाँ आया था, छिपकर उनकी बातें सुन रहा था। उस चोरके मनमें

आया कि चोरी करनेसे तो मैं फँस भी सकता हूँ, पर साधु बन जाऊँ तो काम बन जायगा! राजकुँअर आयेगा और मेरा चेला बन जायगा, फिर चोरी करनेकी क्या जरूरत है?

चोरने गेरुआ वस्त्र पहन लिये और जंगलमें चला गया। उसके मनमें आया कि कोई पूछेगा तो मैं क्या उपदेश दूँगा! ऐसा सोचकर वह चार सन्तोंमेंसे पहले सन्तके पास गया और पूछा कि महाराज! कल्याण कैसे हो? सन्तने कहा—भाई, किसीका जी मत दुखाओ, किसीको दुःख मत दो—'दिल किसीका मत दु:खा, यह दिल खुदाका नूर है'! चोर बोला—और महाराज! सन्त बोले—औरकी जरूरत नहीं, इस एक बातसे ही काम बन जायगा। चोर दूसरे सन्तके पास पहुँचा और बोला कि महाराज! मैं कल्याण चाहता हूँ, कोई उपाय बताओ। सन्त बोले—कभी किंचिन्मात्र भी झूठ नहीं बोलना, सदा सत्य ही बोलना, चाहे गला क्यों न कट जाय! जैसा देखा, जैसा सुना और जैसा समझा, ठीक वैसा-का-वैसा कह देना—

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साँच है, ताके हिरदै आप॥

चोर बोला—और कोई बात? सन्त बोले—औरकी जरूरत नहीं है। अब वह चोर तीसरे सन्तके पास गया और बोला कि महाराज! मेरा कल्याण कैसे हो? सन्त बोले—सीधी-सादी बात है, रात-दिन राम-राम करो—

जुगति बताओ 'जालजी', राम मिलन की बात।
मिल जासी ओ 'मालजी' राम रटो दिन रात॥

चोर बोला—और कोई उपाय? सन्त बोले—और उपायकी जरूरत नहीं है। अब वह चौथे सन्तके पास पहुँचा और बोला कि महाराज! कल्याण कैसे हो? सन्त बोले—भाई! एक भगवान्‌के शरण हो जाओ। मनमें यह बात अटल रहे कि मैं तो केवल भगवान्‌का हूँ। जैसे विवाह होनेके बाद लड़कीके मनमें यह बात दृढ़ हो जाती है कि मैं कुँआरी नहीं हूँ, मेरा विवाह हो गया है, ऐसे ही मनमें यह बात दृढ़ हो जाय कि मैं भगवान्‌का हो गया, अब मैं और किसीका नहीं हो सकता—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'!*** चोर बोला—और कोई बात? सन्त बोले—औरकी जरूरत ही नहीं, इतना ही काम है।

चोरने चारों सन्तोंसे चार बातें सीख लीं और आगे जाकर बैठ गया। अब राजा आया। वह क्रमशः चारों सन्तोंके पास गया। चारोंने एक-एक बात कह दी। राजाने देखा कि आगे पाँचवाँ साधु भी बैठा है! राजा उसके पास भी गया और प्रार्थना की कि महाराज! कृपा करके कल्याणकी बात बतायें। वह साधुवेषधारी चोर चुपचाप ध्यानमें बैठा रहा, कुछ बोला नहीं। राजाने ज्यादा प्रार्थना की तो वह बोला—मैं जैसा बताऊँगा, वैसा करोगे? राजाने कहा कि हाँ महाराज! वैसा ही करूँगा। वह बोला—किसीका जी मत दुखाओ। राजा बोला—और कोई बात? वह बोला—सदा सत्य बोलो। राजा बोला—दूसरी कोई बात? वह बोला—भगवान्‌के नामका जप करो। राजा बोला—और कुछ बताइये! वह बोला—भगवान्‌के शरण हो जाओ। राजा बोला—महाराज! और कोई बात? वह बोला—सन्त जैसा कहे, वैसा कर दो। राजाने मनमें विचार किया कि यह सन्त ज्यादा ऊँचा है! अन्य सन्तोंने तो एक-एक बात कही, पर इन्होंने पाँच बातें कह दीं! राजा बड़े सरल स्वभावका था। उसको मालूम नहीं था कि सन्तकी पहचान इस तरह नहीं होती। राजा लौटकर महलमें आ गया।

रात होनेपर वह चोर फिर छिपकर महलमें आया। जब राजा रानीके पास गया, तब वह चोर दरवाजेके पीछे छिपकर उनकी बातें सुनने लगा। रानीने पूछा कि क्या बात हुई? राजाने कहा कि मैं जंगलमें सन्तोंके दर्शन करके आया हूँ। मैं तो चार ही सन्त समझता था, पर वहाँ पाँच सन्त बैठे थे। रानी बोली—वहाँ जाकर आपने क्या कहा? राजा बोला—मैंने भगवत्प्राप्तिकी बात पूछी तो उनमेंसे एक सन्तने कहा कि किसीका जी मत दुखाओ, दूसरेने कहा कि सदा सत्य बोलो, तीसरेने कहा कि नाम-जप करो, चौथेने कहा कि भगवान्‌के शरण हो जाओ। परन्तु पाँचवें सन्तने उन चारों सन्तोंकी चार बातें भी बतायीं

और साथमें पाँचवीं बात यह बतायी कि सन्तकी आज्ञाका पालन करो। राजा और रानी—दोनों सच्चे और सरल स्वभावके थे। उन्होंने विचार किया कि वह पाँचवाँ सन्त ठीक है, अपने लड़केको उसीके पास भेजो। उनकी बातोंका चोरपर बड़ा असर पड़ा कि अरे! मैंने तो नकली बात कही, उसपर भी राजाने श्रद्धा कर ली। अगर सच्ची बात कहूँ तो कितनी मौज हो जाय! राजाके सद्भावके कारण चोरका हृदय बदल गया! वह सच्चा साधु हो गया और जंगलमें निकल गया। उसने विचार किया कि चार बातोंका तो मैं ठीक पालन करूँगा, पर पाँचवीं बातका पालन तब हो, जब कोई अच्छा और सच्चा सन्त मिले। कोई ऐसा भगवत्प्राप्त सन्त मिले, जिनकी आज्ञाका मैं पालन करूँ। वह सन्तको ढूँढ़नेमें लग गया।

पहले चोर होनेसे वह चालाक तो था ही, इसलिये हरेक साधुपर उसका विश्वास नहीं बैठता था। वह कई साधुओंके पास गया, पर किसीपर उसका विश्वास नहीं बैठा। अब अच्छे सन्तको पानेके लिये उसकी लगन लग गयी। उसके मनमें यह बात थी कि जिसमें मेरा चित्त खिंच जाय, मेरा विश्वास हो जाय, उसीको गुरु बनाऊँगा। भगवान्‌ने उसकी सच्ची लगन देखी तो वे सन्त बनकर उसके सामने आ गये। उनको देखते ही उसपर असर पड़ा और वह बोला कि महाराज! मैं आपके शरण हूँ, मेरेको दीक्षा दीजिये। आप जैसा कहेंगे, मैं वैसा ही करूँगा। सन्तरूपमें भगवान् बोले—जैसा मैं कहूँगा, वैसा करेगा क्या? सच्ची बात कहता है न? वह बोला—हाँ महाराज! बिलकुल सच्ची बात कहता हूँ। भगवान् बोले—तो फिर पहले एक काम करो, पीछे तुम्हें मन्त्र देंगे। तुम यह काम करो कि जो किसीका जी नहीं दुखाता, उसका सिर काटकर लाओ, और जो सत्य बोलता है, उसका सिर काटकर लाओ, और जो नाम-जप करता है, उसका सिर काटकर लाओ, और जो भगवान्‌के शरण है, उसका सिर काटकर लाओ। ये चार सिर काटकर लाओ, तब तुम्हें दीक्षा देंगे। उसने सोचा कि ये चारों तो एक ही जगह बैठे हैं, काम आसानीसे बन जायगा! वह तलवार लेकर भागा-भागा गया, पर रास्तेमें ही विचार आया कि मैंने यह नियम लिया है कि किसीका जी नहीं दुखाऊँगा, पर जी दुखाना तो दूर रहा, मैं तो गला ही काटने जा रहा हूँ! उसको विचार हुआ कि यह काम मेरेसे नहीं होगा। उसमें सद्बुद्धि पैदा हो गयी। वह भागा-भागा पीछे आया। भगवान्‌ने पूछा—ले आया क्या? वह बोला—हाँ, ले आया हूँ। भगवान् बोले—कहाँ है? वह बोला—मेरे एक सिरमें चारों बातें हैं! मैं कभी किसीका जी नहीं दुखाता, सदा सत्य बोलता हूँ, नाम-जप करता हूँ और भगवान्‌के शरण हूँ। ये चारों बातें मेरेमें हैं; अत: मैं अपना ही सिर काटकर आपको देता हूँ। भगवान्‌ने कहा—बस, अब सिर काटनेकी जरूरत नहीं, मैं तेरेको दीक्षा देता हूँ! भगवान्‌ने उसको दीक्षा दी और वह अच्छा सन्त बन गया!

इस प्रकार चालाकीसे पाँच बातें धारण करनेसे भी चोरको भगवान् मिल गये और वह सन्त बन गया। अगर कोई सच्चे हृदयसे पाँचों बातोंको धारण कर ले तो फिर कहना ही क्या है!

३९. सच्चा स्वाँग

एक राजा था। उसके पास एक बहुरूपिया आया। वह तरह-तरहके स्वाँग धारण किया करता था। उसमें देवीकी ऐसी शक्ति थी कि वह जो भी स्वाँग धारण करता, उसको पूरा वैसा-का-वैसा निभाता था। उसमें वह कहीं चूकता नहीं था। राजाने कहा कि तुम एक विरक्त, त्यागी महात्माका स्वाँग लाओ। बहुरूपियेने स्वीकार कर लिया। वह कुछ दिनोंतक गुप्त रूपसे रहा। जब दाढ़ी बढ़ गयी तो वह साधुका स्वाँग लेकर शहरमें आया। वह सबके साथ सन्तकी तरह ही बर्ताव करता। किसीसे न राग रखता,

न द्वेष। भिक्षामें जो मिल जाय, उसीमें सन्तोष करता। लोगोंको खूब अच्छी-अच्छी बातें सुनाता। शहरमें हल्ला मच गया कि बड़े विरक्त, त्यागी महात्मा आये हैं। राजाने मन्त्रीको भेजा कि जाकर देखो, वही बहुरूपिया है या कोई और सन्त है? मन्त्रीने जाकर देखा तो पहचान लिया कि यह तो वही बहुरूपिया है। राजाने घोषणा की कि हम सन्तके दर्शनको जायँगे। राजाने एक थालमें बहुत-सी अशर्फियाँ भर लीं और भेंट-पूजाका सामान लेकर बड़े ठाट-बाटसे वहाँ गया। मन्त्री तथा अन्य लोग भी साथमें थे। लोग कहने लगे कि ऐसे सन्तके दर्शनके लिये खुद राजा आये हैं! राजा उसके पास गया और अशर्फियोंसे भरा थाल उसके सामने रखा। सन्तने अशर्फी अथवा रुपया, कपड़ा आदि कुछ भी नहीं लिया और 'शिव-शिव' कहते हुए उठकर वहाँसे चल दिया। लोग कहने लगे कि अच्छा सत्संग होता था, पर राजाको पता नहीं क्या सूझी कि सत्संगमें बाधा लगा दी! राजाकी भेंट क्या काम आयी!

वह बहुरूपिया अपने असली रूपमें राजाके सामने आया और बोला कि अन्नदाता! इनाम मिल जाय। राजाने पूछा कि क्या तुम्हारे मनमें है कि मैं इतने रुपये इनाममें दूँगा? वह बोला कि आप अपनी मरजीसे जो देंगे, उसीमें मैं राजी हो जाऊँगा। राजा बोला—तू मूर्ख है! मैंने इतनी अशर्फियाँ तुम्हारे सामने रखीं, पर तुमने उनको छोड़ दिया! वह बोला—अन्नदाता! मैंने साधुका स्वाँग लिया था, फिर मैं वह काम कैसे कर सकता था, जिससे साधुके स्वाँगको बट्टा लग जाय! अगर मैं रुपयोंपर मोहित हो जाता तो मेरा स्वाँग बिगड़ जाता और भगवती माता भी नाराज हो जाती। राजा बहुत प्रसन्न हुआ कि यह बात तो ठीक कहता है। राजाने उसको बहुत-सा इनाम दिया।

एक दिन राजाने बहुरूपियेसे कहा कि तुम सिंहका स्वाँग लाओ। वह बोला कि अन्नदाता! मैं स्वाँग पूरा करता हूँ, उसमें चूकता नहीं हूँ। इसलिये आप मेरेसे सिंहके स्वाँगके लिये न कहें। यह स्वाँग खतरनाक है! राजाने कहा कि हम तो सिंहका स्वाँग ही देखना चाहते हैं। बहुरूपियेने कहा—अगर कोई नुकसान हो जाय तो पहले ही मेरा गुनाह माफ कर दें, नहीं तो कोई दूसरा स्वाँग लानेकी आज्ञा दें। राजाने कहा—हम पहलेसे ही तुम्हारा गुनाह माफ करते हैं, तुम सिंहका स्वाँग लाओ। बहुरूपिया सिंहकी खाल पहनकर सिंहावलोकन करता हुआ, इधर-उधर देखता हुआ आया। वह आकर सिंहकी तरह बैठ गया। राजाका लड़का वहाँ खेल रहा था। वह खेलते-खेलते वहाँ आया और सिंह बने हुए बहुरूपियेको पीछेसे लकड़ी मार दी। सिंहने दहाड़ लगाते हुए चट उस लड़केको मार दिया! राजाको बड़ा दु:ख हुआ कि यह कैसा स्वाँग है कि मेरा लड़का मर गया! दूसरे दिन बहुरूपिया रोता-रोता आया और बोला—अन्नदाता! आप क्षमा करें! मैंने पहले ही कह दिया था कि ऐसा खतरनाक स्वाँग मेरेसे मत मँगाओ। मेरा शक्ति माँका इष्ट है, अगर स्वाँग बिगाड़ दूँ तो माँ नाराज हो जाय। राजा बोला—तुम्हारा तो स्वाँग है, पर हमारा कितना नुकसान हो गया, राजकुमार मर गया! परन्तु अब राजा कर भी क्या सकता था! वह वचनबद्ध था। बहुरूपियेने पहले ही क्षमा माँग ली थी।

राजाके पास एक नाई रहता था। उस नाईने राजाको सलाह दी कि इस बहुरूपियेसे सतीका स्वाँग मँगाओ। सती पतिके पीछे जल जाती है। यह सतीका स्वाँग करेगा तो जलकर मर जायगा और राजकुमारको मारनेका दण्ड इसको अपने-आप मिल जायगा! हमें दण्ड देना नहीं पड़ेगा। राजाने बहुरूपियेको बुलाकर कहा कि भाई, तुम सतीका स्वाँग लाओ। वह बोला कि ठीक है अन्नदाता, ले आऊँगा। शहरमें एक लावारिस मुर्दा पड़ा हुआ था। उसको देखकर बहुरूपियेने सतीका स्वाँग बनाया। सोलह सिंगार करके, ढोल आदि बजाते हुए वह मार्गसे चला। लोगोंने देखा कि कोई स्त्री सती होने जा रही है। राजाके पास समाचार पहुँचा तो मन्त्रीसे पता लगानेको

कहा। मन्त्रीने पता लगाया कि यह वही बहुरूपिया है। राजाने अपने आदमियोंको भेजा कि इसको अच्छी तरहसे जलाना, जिससे यह बच न जाय। नदीके किनारे श्मशानघाट था। लोगोंने वहाँ बहुत ज्यादा लकड़ियाँ इकट्ठी कर दीं। वह सती बना हुआ बहुरूपिया मुर्देको गोदमें लेकर चितापर बैठ गया। लकड़ियोंमें आग लगा दी गयी। इतनेमें जोरसे आँधी और वर्षा आयी। आँधी और वर्षा आनेसे सब लोग भाग गये। घरका कोई आदमी हो तो ठहरे! घरका तो कोई था नहीं। वर्षासे आग बुझ गयी और नदीमें वेग आनेसे लकड़ियाँ बह गयीं। वह बहुरूपिया लकड़ियोंके ऊपर बैठा रहा और तैरता हुआ किनारे जा लगा। देवीका इष्ट होनेसे उसके प्राण बच गये।

कुछ महीने बीत गये तो वह बहुरूपिया राजाके पास आया और बोला कि अन्नदाता! इनाम मिल जाय! राजा उसको देखकर चकरा गया और बोला—'अरे! तू तो जलकर मर गया था न?' वह बोला—'मर तो गया था, पर शक्ति माँकी कृपासे पीछे आ गया हूँ'। राजा बोला—'क्या तू हमारे बाप-दादा-परदादासे मिला?' वह बोला—'हाँ अन्नदाता! सबसे मिलकर आया हूँ।' राजा बोला—'उनका समाचार क्या लाया है?' बहुरूपिया बोला—'समाचार तो खुशीका है, पर उन सबकी हजामत और नाखून बहुत बढ़े हुए हैं, इसलिये उन्होंने घरके नाईको बुलाया है।' राजा बोला—'नाई वहाँ जायगा कैसे?' बहुरूपिया बोला—'जैसे बाप-दादा गये, मैं गया, ऐसे ही जायगा; क्योंकि जानेका रास्ता तो एक ही है!' नाईने सुना तो सोचा कि अब मेरी मौत आयी! राजाकी आज्ञा हो जाय तो फिर कौन रक्षा करनेवाला है? नाई जाकर बहुरूपियेके पैर पड़ा कि तू किसी तरह मेरेको बचा, मेरा घर बर्बाद हो जायगा! घरमें कोई कमानेवाला नहीं है! बहुरूपिया बोला कि सतीका स्वाँग लानेके लिये तूने ही राजाको सलाह दी थी, अब तू भी जा! नाई बहुत गिड़गिड़ाया तो बहुरूपियेने कहा कि अच्छी बात है, मेरा तुमसे कोई वैर तो है नहीं! उसने जाकर राजासे कहा—'अन्नदाता! वास्तवमें मैं मरा नहीं था। मेरे लिये लकड़ियाँ बहुत ज्यादा इकट्ठी की गयी थीं। अतः लकड़ियाँ जलते-जलते मेरे नजदीक आयें—इससे पहले ही आँधी और वर्षा आ गयी। लोग भाग गये और माँकी कृपासे मैं बच गया। मैंने सतीका स्वाँग किया तो जलनेसे मैं डरता नहीं हूँ। आप जो भी स्वाँग कहेंगे, मैं वैसा-का-वैसा स्वाँग लाऊँगा, स्वाँग नहीं बिगाड़ूँगा। पीछे आप जो इनाम दें, मैं प्रसन्नतापूर्वक ले लूँगा।'

तात्पर्य है कि मनुष्यको अपना स्वाँग नहीं बिगाड़ना चाहिये। पिताका, माँका, पुत्रका, भाईका, बहनका, बेटीका, सासका, बहूका, जो भी स्वाँग धारण किया है, उसको ठीक तरहसे निभाना चाहिये। जो अपने कर्तव्यका ठीक पालन करता है, उसपर भगवान् कृपा करते हैं।

४०. महलमें कमी

एक राजा था। वह एक सन्तके पास जाया करता और उनका सत्संग किया करता था। उस राजाने अपने लिये एक महल बनाया। पहले उसके कई महल थे, पर अब ऐसा महल बनाया, जिसमें आरामकी सब चीजें हों और उसमें ज्यादा ठाट-बाटसे रहें। राजाने सन्तसे कहा कि महाराज! एक दिन आप चलो, हमारी कुटिया पवित्र हो जाय! सन्त उसको टालते गये। राजाने बहुत बार कहा तो एक दिन सन्त बोले कि अच्छा भाई, चलो।

राजाने सन्तको महल दिखाना आरम्भ किया कि यह हमारे रहनेकी जगह है, यह हमारे पंचायतीकी जगह है, यह भोजनकी जगह है, यह शौच-स्नानकी जगह है, आदि-आदि। सन्त चुपचाप देखते रहे, कुछ बोले नहीं। अगर वाह-वाह करते

हैं तो हिंसा लगती है। कारण कि मकान बनानेमें बड़ी हिंसा होती है! बहुत-से जीव मरते हैं। चूहे, साँप, गिलहरी आदिके रहने और चलने-फिरनेमें आड़ लग जाती है; क्योंकि जितने हिस्सेमें मकान बना है, उतने हिस्सेमें वे जा नहीं सकते, स्वतन्त्रतासे घूम नहीं सकते। पहले उतने हिस्सेमें सब जीवोंका हक लगता था, पर अब केवल एकका ही हक लगता है। सन्त कुछ बोले नहीं तो राजाने समझा कि महाराजको मकान पसन्द नहीं आया। राजालोग चतुर होते हैं। राजाने पूछ लिया कि महाराज! महलमें कमी क्या है? सन्त बोले कि कमी तो इसमें बड़ी भारी है! राजाने विचार किया कि बड़े-बड़े कुशल कारीगरोंने महल बनाया है। उन्होंने कोई कमी बाकी नहीं छोड़ी। जहाँ कमी दीखी, उसको पूरा कर दिया। परन्तु बाबाजी कहते हैं कि कमी है, और वह भी मामूली नहीं है, बड़ी भारी कमी है! राजाको बड़ा आश्चर्य आया और पूछा कि क्या बहुत बड़ी कमी है? सन्त बोले कि हाँ, बहुत बड़ी कमी है! राजाने पूछा कि महाराज! क्या कमी है? सन्त बोले कि यह जो दरवाजा रख दिया है न, यह कमी है! राजा बोला कि महाराज! दरवाजेके बिना महल क्या काम आये? सन्त बोले कि तुमने यह महल क्यों बनवाया है? राजाने कहा कि महाराज! मैंने अपने रहनेके लिये बनाया है। सन्त बोले कि राजन्! तुमने तो रहनेके लिये बनाया है, पर एक दिन लोग उठाकर ले जायँगे! इससे ज्यादा कमी और क्या होगी, बताओ? बनाया तो है रहनेके लिये, पर लोग उठाकर बाहर ले जायँगे, रहने देंगे नहीं! इसलिये अगर रहना ही हो तो यह दरवाजा नहीं होना चाहिये, बाहर निकलनेकी जगह नहीं होनी चाहिये।

तात्पर्य है कि यह अपना असली घर नहीं है। एक दिन सब कुछ छोड़कर यहाँसे जाना पड़ेगा। हमारा असली घर तो वह है, जहाँ पहुँचनेपर फिर लौटकर आना ही न पड़े—**'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'** (गीता १५।६)।

४१. हीरेका मूल्य

एक बुद्धिमान् जौहरी था। अपने काममें वह बड़ा तेज था। दैवयोगसे युवावस्थामें ही वह मर गया। पीछे उसकी स्त्री तथा गोदमें एक बालक रह गया। लोगोंने उनके पैसे दबा लिये। धन नष्ट हो गया। उस स्त्रीके पास एक हीरा था, जो उसको जौहरीने दिया था। वह हीरा बहुत कीमती था। जब उसका बालक पन्द्रह-बीस वर्षका हो गया, तब उसने बालकसे कहा कि बेटा! देखो, तुम्हारे पिताजीने यह हीरा दिया था। उन्होंने इसका मूल्य नहीं बताया, प्रत्युत इसको अमूल्य बताया है। इसका मूल्य कोई करेगा तो उसकी बुद्धिका मूल्य होगा, हीरेका मूल्य नहीं होगा अर्थात् जैसी उसकी बुद्धि होगी, वैसी ही वह कीमत करेगा। इस हीरेको लेकर तुम जाओ और इसका मूल्य करा लाओ, पर हरेक जगह इसको देना नहीं!

वह लड़का हीरा लेकर बाजार गया। पहले वह एक सब्जी बेचनेवालीके पास गया और हीरा दिखाकर पूछा कि इसका क्या मूल्य दोगी? वह बोली कि दो मूली ले लो, बच्चोंके खेलनेके लिये अच्छी चीज है! वह लड़का बोला कि देना नहीं है। आगे जाकर कइयोंसे पूछा तो किसीने दो रुपये कहे, किसीने तीन रुपये कहे। आगे एक सुनारके पास गया तो उसकी कीमत दस, बीस, पचास रुपयेतक लग गयी। आगे जौहरीके पास गया तो पाँच सौ, सात सौ, एक हजार रुपयेतक कीमत हो गयी। वह लड़का ज्यों-ज्यों अच्छे जानकार आदमीके पास गया, त्यों-त्यों उसकी कीमत बढ़ती चली गयी। वह हीरेके एक अच्छे परीक्षकके पास गया तो उसने उसका मूल्य एक लाख रुपयेतक बताया। लड़केको बड़ा आश्चर्य

हुआ कि यह हीरा बड़ा विचित्र है! लोगोंसे पूछते-पूछते वह एक बहुत बूढ़े जौहरीके पास पहुँचा, जो बड़ा ईमानदार और हीरेका अच्छा परीक्षक था। उसको हीरा दिखाया तो उसने लड़केकी तरफ देखा और कहा—अरे! यह हीरा तेरे पास कहाँसे आया? लड़केने कहा—मेरे पिताजीने दिया था।

'तुम्हारे पिताजी कौन?'

'अमुक नामके हीरेके व्यापारी थे।'

'उनका नाम तो हमने पहले भी सुना था, अब बहुत दिनोंसे उनके बारेमें सुना नहीं, क्या बात है?'

'उनका शरीर शान्त हो गया।'

'अहो! वे तो बड़े नामी परीक्षक थे!'

'मैं उनका ही बेटा हूँ। इस हीरेकी क्या कीमत दोगे?'

'इसकी कीमत नहीं है, यह अमूल्य हीरा है! मेरे पास जितना धन है, वह सब-का-सब देनेपर भी इसकी पूरी कीमत नहीं होगी!'

'पर हम क्या करें? हमारेको तो रोटीकी तंगी हो रही है!'

'भाई, यह तो तुम जानो। मैं हीरेकी कीमत कैसे कह दूँ? इसकी कीमत कहनेसे तो इसका तिरस्कार होगा, अपमान होगा! हाँ, एक बात है, तू जितना लेगा, उतना हम तुम्हारेको दे देंगे।'

'वह कैसे?'

बूढ़े जौहरीने कहा—हमारी तीन दूकानें हैं। पहली दूकानमें हम तुम्हारेको पन्द्रह मिनट देंगे। पन्द्रह मिनटके भीतर तुम दूकानमेंसे जितनी वस्तुएँ बाहर निकाल दोगे, वे सब तुम्हारी हो जायँगी। वस्तु लेनेवाले और रखनेवाले सब तैयार रहेंगे। तुम केवल भीतरसे वस्तु फेंक दो। पन्द्रह मिनट पूरे होनेपर फिर तुम उसमें नहीं रह सकोगे। लड़केने कहा कि अच्छी बात है!

लड़केको दूकान दिखायी गयी। वह दूकानके भीतर गया तो देखा कि दूकान बहुत सजी हुई है। उसमें लाखों रुपयेका एक-एक हीरा रखा हुआ है। कई बक्से पड़े हुए हैं, जो चमक रहे हैं। हीरा तो दूर रहा, उसने उम्रमें ऐसा बक्सा भी नहीं देखा था। वह देखकर बहुत चकरा गया। उसके साथ एक आदमी था, जो घड़ीमें समय देख रहा था। उसने कहा कि देखो, पाँच मिनट हो गये हैं। लड़का बोला कि ठहर-ठहर, हल्ला मत कर! पन्द्रह मिनट होनेपर तो यहाँ रहने देंगे नहीं, इसलिये अच्छी तरहसे देख लूँ। देखते-देखते पन्द्रह मिनट हो गये तो वह आदमी बोला कि बस, समय पूरा हो गया है, अब बाहर निकलो। अब इसमें कोई वस्तु छू भी नहीं सकते, एक दाना भी ले नहीं सकते। लड़का बाहर निकल गया।

बूढ़े जौहरीने दूसरी दूकान दिखायी और कहा कि इसमें तुम्हारेको पचीस मिनट ठहरने दिया जायगा। इस बीच तुम जो माल बाहर फेंक दोगे, वह सब तुम्हारा हो जायगा। लड़का उस दूकानके भीतर गया। उसमें पहली दूकानसे भी बहुत विलक्षण सजावट थी। उसको देखकर वह चकरा गया कि यह तो कोई अजायबघर है! कितनी विलक्षण चीजें हैं! लड़केने पूछा कि क्या दूकान आगे और लम्बी है? वह आदमी बोला कि हाँ, आगे दूकान बहुत लम्बी तथा ज्यादा सुन्दर है। लड़का ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों अधिक सुन्दरता दीखती गयी! साथमें जो आदमी था, वह समय बताता रहा कि अब पाँच मिनट हो गये, अब दस मिनट हो गये! पर लड़केने सोचा कि अभी तो देख लें, फिर पीछे रहने नहीं देंगे। इस प्रकार देखते-देखते पचीस मिनट हो गये तो आदमीने कहा कि अब निकलो बाहर! अब कोई वस्तु छू भी नहीं सकते।

अब लड़केको तीसरी दूकान दिखायी और कहा कि इसमें तुम्हारेको साठ मिनट (एक घण्टे)-का समय दिया जायगा। पहली दूकानमें वस्तुएँ तो ज्यादा कीमती थीं, पर सजावट कम थी। दूसरी दूकानमें सजावट तो बहुत ज्यादा थी, पर वस्तुएँ कम कीमती थीं। तीसरी दूकान तो कोसोंतक फैली

हुई थी। उसमें खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने आदिकी सैकड़ों वस्तुएँ थीं। कार, स्कूटर, साइकिल आदि तरह-तरहकी सवारियाँ थीं। तरह-तरहका नाच-गान हो रहा था। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंकी तरह-तरहकी चीजें वहाँ मौजूद थीं। वह लड़का उन चीजोंमें ही मस्त हो गया। वह कभी मोटरपर चढ़ता है, कभी बग्घीपर चढ़ता है, कभी झूला झूलता है, कभी नाटक देखता है, कभी सिनेमा देखता है। उसने वहाँ ऐसी चीजें देखीं, जो पहले कभी देखी नहीं थीं, कभी सुनी नहीं थीं। साथवाले आदमीने कहा कि देखो, पहली दूकान गयी, दूसरी दूकान भी गयी और अब तीसरी दूकान भी जा रही है! अब समय बहुत थोड़ा बचा है। अब जल्दी पीछे लौटो! उस दूकानसे निकलते-निकलते समय पूरा हो गया! दूकानसे निकलते समय उसने वहाँ रखा एक टाटका थैला उठा लिया। दूकानसे बाहर आकर देखा तो थैलेमें खोटे सिक्के, लोहेके बाट, पत्थर आदि पड़े थे!

बूढ़े मालिकने अपने आदमियोंसे कह रखा था कि वह जितनी वस्तुएँ ले, उसकी खबर मेरेको करते रहना। अन्तमें आदमियोंने खबर कर दी कि उसने कुछ नहीं लिया। मालिकने कहा कि उसको निकालो यहाँसे! उसका मुँह मेरेको मत दिखाओ! किसी कामका आदमी नहीं है। लड़का बेचारा खाली हाथ वहाँसे चला गया!

जो भाई-बहन यह कहानी पढ़ रहे हैं, उनके मनमें आती होगी कि हमारेको वह दूकान मिले तो हम आँखें मीचकर बढ़िया-बढ़िया माल बाहर फेंक दें! परन्तु वास्तवमें हमारा मनुष्य-जीवन ही वह दूकान है! हमारे जीवनके प्रथम पन्द्रह वर्ष पहली दूकान है, पचीस वर्ष दूसरी दूकान है और अन्तिम साठ वर्ष तीसरी दूकान है। जीवनके प्रथम पन्द्रह वर्ष खेल-कूदमें बीत जाते हैं। उसके बादके पचीस वर्ष 'गदहपचीसी' के होते हैं, जिसमें मनुष्य स्त्री और धनके चक्करमें फँस जाता है। भजन करनेके लिये उसको समय ही नहीं मिलता। अगर वह भजन-साधन करे तो यही पचीस वर्ष 'साधन-पचीसी' हो जाते हैं। जो इन पचीस वर्षोंमें साधन नहीं करता, वह वृद्धावस्थामें भी साधन नहीं कर पाता। चालीस वर्षकी अवस्था आनेके बाद लड़के-लड़कियोंके विवाहकी चिन्ता सताने लगती है। उनका विवाह होनेके बाद परिवार बढ़ जाता है। पारिवारिक जिम्मेवारियाँ बढ़ जाती हैं। शरीरकी शक्ति कम हो जाती है। फिर भजन करनेका समय कहाँसे मिले? इस प्रकार सांसारिक चकाचौंधमें फँसकर मनुष्य अपना अमूल्य जीवन गँवा देता है!

४२. इन्द्रकी पोशाक

एक सीधे-सरल स्वभावके राजा थे। उनके पास एक आदमी आया, जो बहुत होशियार था। उसने राजासे कहा कि अन्नदाता! आप देशकी पोशाक पहनते हो। परन्तु आप राजा हो, आपको तो इन्द्रकी पोशाक पहननी चाहिये। राजा बोला—इन्द्रकी पोशाक? वह आदमी बोला—'हाँ, आप स्वीकार करो तो हम लाकर दे दें!' राजा बोला—'अच्छा, ले आओ। हम इन्द्रकी पोशाक पहनेंगे!' वह आदमी बोला—'पहले आप एक लाख रुपये दे दें, बाकी रुपये बादमें लेंगे। आप रुपये देंगे, तभी इन्द्रकी पोशाक आयेगी।' राजाने रुपये दे दिये।

दूसरे दिन वह आदमी एक बहुत बढ़िया चमचमाता हुआ बक्सा लेकर आया और सभाके बीचमें रख दिया। वह बोला—'देखिये अन्नदाता! यह इन्द्रकी पोशाक है। यह हरेक मनुष्यको दीखती नहीं! जो असली माँ-बापका होगा, उसको तो यह दीखेगी, पर कोई दूसरा बाप होगा तो उसको यह नहीं दीखेगी।' अब उस आदमीने उस बक्सेमेंसे इन्द्रकी पोशाक

निकालनेका अभिनय शुरू किया और कहने लगा कि यह देखो, यह पगड़ी कैसी बढ़िया है! यह देखो, धोती कैसी बढ़िया है! लोग कहने लगे कि हाँ-हाँ, बहुत बढ़िया है! वास्तवमें किसीको भी पोशाक दीखी नहीं। पोशाक थी ही नहीं, फिर दीखे कैसे? पर कोई कुछ बोला नहीं; क्योंकि अगर यह बोलते हैं कि पोशाक नहीं दीखती तो दूसरे सोचेंगे कि ये असली माँ-बापके नहीं हैं। कइयोंको यह वहम हो गया कि शायद हम असली माँ-बापके न हों; क्योंकि हमारेको इसका क्या पता? पर दूसरेको तो दीखती ही होगी! इस तरह सबने हाँ-में-हाँ मिला दी। राजा भी चुप रहे। अब उस आदमीने राजाको इन्द्रकी पोशाक पहनानी शुरू की कि पहली धोती उतारकर यह धोती पहनो, यह कुरता पहनो, यह पगड़ी बाँधो आदि-आदि। परिणाम यह हुआ कि राजा जैसे जन्मे थे, वैसे (निर्वस्त्र) हो गये! उसी अवस्थामें राजा रनिवासमें चले गये। रानियोंने राजाको देखा तो कहा कि आज भाँग पी ली है क्या? कपड़े कहाँ उतार दिये? राजा बोला— तुम असली माँ-बापकी नहीं हो, इसलिये तुम्हें दीखता नहीं है। यह इन्द्रकी पोशाक है! रानियोंने कहा— अन्नदाता! आप भले ही इन्द्रकी पोशाक पहनो, पर कम-से-कम धोती तो अपने ही देशकी पहनो!

४३. असली गहना

एक 'चक्ववेण' नामके राजा थे। वे बड़े धर्मात्मा थे। राजा और रानी दोनों खेती करते थे और खेतीसे जितना उपार्जन हो जाय, उससे अपना निर्वाह करते थे। राज्यके धनको वे अपने काममें नहीं लेते थे। प्रजासे जो कर लेते थे, उसको प्रजाके हितमें ही खर्च करते थे। राजा होते हुए भी वे साधारण मोटा कपड़ा पहनते थे और भोजन भी साधारण ही करते थे।

एक दिन नगरमें कोई उत्सव हुआ। नगरकी स्त्रियाँ रानीके पास आयीं। उन स्त्रियोंने बढ़िया-बढ़िया रेशमी वस्त्र तथा हीरे-पन्नेसे जड़े हुए सोनेके गहने पहन रखे थे। उन्होंने रानीको देखा तो कहा कि आप हमारी मालकिन हो, आपके तो हमारेसे भी बढ़िया गहने-कपड़े होने चाहिये, पर आपने तो साधारण वस्त्र पहन रखे हैं! रानीके कोमल हृदयमें उनकी बात लग गयी। रात्रिमें उसने राजासे कहा कि आज मेरी बड़ी फजीती हुई! हमारी प्रजाकी स्त्रियोंके तो ऐसे-ऐसे बढ़िया कपड़े और गहने हैं और हम उनके मालिक हैं, हमारी यह दशा! राजाने कहा कि देखो, हम खेती करते हैं। उससे जितना पैदा होता है, उतना खर्च हो जाता है। ज्यादा पैदा होता नहीं तो अब क्या करें? प्रजासे आया हुआ धन हम अपने काममें लेते नहीं। फिर भी हम तुम्हारे लिये गहनोंका प्रबन्ध कर देंगे, तुम धैर्य रखो।

दूसरे दिन चक्ववेणने अपने एक आदमीसे कहा कि तुम लंकापति रावणके पास जाओ और उससे कहो कि चक्ववेणने आपसे कर माँगा है। उससे कर-रूपमें सोना लेकर आओ। वह आदमी लंकामें रावणके पास पहुँचा। रावणने पूछा कि कैसे आये हो? वह बोला कि मेरेको महाराज चक्ववेणने आपसे कर लेनेके लिये भेजा है। रावण जोरसे हँसा और बोला कि देखो, आज भी संसारमें ऐसे मूर्ख आदमी जी रहे हैं, जो रावणसे कर माँगते हैं! अक्ल कहाँ चली गयी? क्या रावण कर देगा? वह आदमी बोला कि आपको अब कर देना पड़ेगा, आप दे दो तो अच्छी बात है। रावणने तिरस्कारपूर्वक कहा कि मेरे सामने ऐसी बात कहनेकी तुम्हारी हिम्मत कैसे हो गयी? चला जा यहाँसे!

रातमें रावण मन्दोदरीसे मिला तो उससे कहा कि ऐसे-ऐसे मूर्ख हैं संसारमें! आज चक्ववेणका एक आदमी आया था और मेरेसे कर-रूपमें सोना माँग रहा था! मन्दोदरी बोली कि आपने कर दिया कि नहीं? रावणने कहा कि तू भी ऐसी बात कहती है!

तू पगली है, समझती नहीं। तू मेरी महिमा जानती है कि नहीं? मैं रावण हूँ! क्या रावण कर दिया करता है? मन्दोदरी बोली कि महाराज! आप कृपा करके कर दे दो, नहीं तो अच्छा नहीं होगा। आपको कर जरूर देना चाहिये। मन्दोदरी राजा चक्ववेणके प्रभावको जानती थी; क्योंकि वह पतिव्रता थी। पातिव्रतके प्रभावसे वह इतना जानती थी, जितना रावण भी नहीं जानता था। सुबह रावण उठकर जाने लगा तो मन्दोदरीने उसको रोक लिया और कहा कि आप थोड़ी देर ठहरो मैं आपको एक तमाशा दिखाऊँगी। रावण ठहर गया। मन्दोदरी रोजाना छतपर कबूतरोंको दाना डाला करती थी। दाना डालनेके बाद जब कबूतर दाना चुग रहे थे, तब मन्दोदरीने उनसे कहा कि 'अगर एक भी दाना चुगा तो महाराजाधिराज रावणकी दुहाई (सौगन्ध) है!' कबूतरोंपर इस बातका कुछ भी असर नहीं हुआ और वे ज्यों-के-त्यों दाना चुगते रहे। मन्दोदरीने कहा कि देख लिया आपका प्रभाव? रावण बोला कि कैसी पागल है! पक्षी क्या समझें कि रावण क्या है? मन्दोदरी बोली कि अब दिखाती हूँ आपको! उसने कहा कि 'अगर एक भी दाना चुगा तो महाराज चक्ववेणकी दुहाई है।' मन्दोदरीद्वारा ऐसा कहते ही कबूतरोंने दाना चुगना छोड़ दिया! केवल एक कबूतरीने दाना चुगा तो चुगते ही उसका सिर कट गया। कारण कि बहरी होनेके कारण उस कबूतरीने मन्दोदरीकी बात नहीं सुनी। रावण बोला कि यह तो तेरा कोई जादू है, मैं नहीं मानता इस बातको! रावण वहाँसे चला गया।

रावण राजगद्दीपर जाकर बैठा। राजा चक्ववेणका आदमी पुन: वहाँ आया और बोला कि रातमें आपने विचार किया कि नहीं? आपको कर-रूपमें सोना देना पड़ेगा। रावण हँसकर बोला कि कैसे आदमी हो तुम? देवता हमारे यहाँ पानी भरते हैं, हम कर देंगे? वह आदमी बोला कि अच्छा, आप मेरे साथ समुद्रके किनारे चलें। रावणको भय तो था नहीं, वह उसके साथ समुद्रके किनारे चला गया। उस आदमीने समुद्रके किनारे बालूसे लंकाकी आकृति बना दी। लंकाके जैसे चार दरवाजे थे, वैसे चार दरवाजे बना दिये। उसने पूछा कि लंका ऐसी ही है न? रावण बोला कि हाँ, ऐसी ही है! तुम तो बड़े कारीगर हो! वह आदमी बोला कि अब आप ध्यानसे देखें। 'महाराज चक्ववेणकी दुहाई है'—ऐसा कहकर उसने अपना हाथ मारा और एक दरवाजेको गिरा दिया। इधर बालूसे बनी लंकाका एक हिस्सा बिखरा तो उधर असली लंकाका भी वही हिस्सा बिखर गया! अब वह आदमी रावणसे बोला कि कर देते हो कि नहीं? नहीं तो मैं अभी हाथ मारकर सारी लंका बिखेरता हूँ! रावण डर गया और बोला कि हल्ला मत कर, तेरेको जितना चाहिये, लेकर चुपचाप चला जा! रावणने उसको ले जाकर कर-रूपमें बहुत-सा सोना दे दिया।

रावणसे कर लेकर वह आदमी राजा चक्ववेणके पास पहुँचा और उनके सामने सब सोना रख दिया। चक्ववेणने वह सोना रानीके सामने रख दिया कि जितने चाहिये, उतने गहने बनवा लो। रानीने पूछा कि इतना सोना कहाँसे लाये? चक्ववेणने कहा कि यह रावणके यहाँसे कर-रूपमें मिला है। रानीको बड़ा भारी आश्चर्य हुआ कि रावणने कर कैसे दे दिया! उसने कर लानेवाले आदमीको बुलाया और उससे सारी बात पूछी कि कर कैसे लाये? उसने सारी कथा सुना दी। कथा सुनकर रानी चकरा गयी और बोली कि मेरा असली गहना तो मेरे पतिदेव हैं! दूसरा गहना मेरेको नहीं चाहिये। गहनोंकी शोभा पतिके कारण ही है। पतिके बिना गहनोंकी क्या शोभा? जिनका इतना प्रभाव है कि रावण भी भयभीत होता है, उनसे बढ़कर गहना और कोई हो नहीं सकता। रानीने उस आदमीसे कहा कि 'जाओ, रावणको यह सब सोना लौटा दो और कहो कि महाराज चक्ववेण तुम्हारा कर स्वीकार नहीं करते।'

४४. कंजूसीका परिणाम

एक गरीब ब्राह्मण था। उसको अपनी कन्याका विवाह करना था। उसने विचार किया कि कथा करनेसे कुछ पैसा आ जायगा तो काम चल जायगा। ऐसा विचार करके उसने भगवान् रामके एक मन्दिरमें बैठकर कथा आरम्भ कर दी। उसका भाव यह था कि कोई श्रोता आये, चाहे न आये, पर भगवान् तो मेरी कथा सुनेंगे ही!

पण्डितजीकी कथामें थोड़े-से श्रोता आने लगे। एक बहुत कंजूस सेठ था। एक दिन वह मन्दिरमें आया। जब वह मन्दिरकी परिक्रमा कर रहा था, तब उसको मन्दिरके भीतरसे कुछ आवाज आयी। ऐसा लगा कि कोई दो व्यक्ति आपसमें बात कर रहे हैं। सेठने कान लगाकर सुना। भगवान् राम हनुमान्जीसे कह रहे थे कि इस गरीब ब्राह्मणके लिये सौ रुपयोंका प्रबन्ध कर देना, जिससे कन्यादान ठीक हो जाय। हनुमान्जीने कहा कि ठीक है महाराज! इसके सौ रुपये पैदा हो जायँगे। सेठने यह सुना तो वे कथा समाप्तिके बाद पण्डितजीसे मिले और उनसे कहा कि महाराज! कथामें रुपये पैदा हो रहे हैं कि नहीं? पण्डितजी बोले कि श्रोतालोग बहुत कम आते हैं, रुपये कैसे पैदा हों? सेठने कहा कि मेरी एक शर्त है, कथामें जितना रुपया आये, वह मेरेको दे देना, मैं आपको पचास रुपये दे दूँगा। पण्डितजीने शर्त स्वीकार कर ली। उसने सोचा कि कथामें इतने रुपये तो आयेंगे नहीं, पर सेठजीसे पचास रुपये तो मिल ही जायँगे! पुराने जमानेमें पचास रुपये भी बहुत ज्यादा होते थे। इधर सेठकी नीयत यह थी कि हनुमान्जी भगवान्की आज्ञाका पालन करके इसको सौ रुपये जरूर दिलायेंगे। वे सौ रुपये मेरेको मिल जायँगे और पचास रुपये मैं दे दूँगा तो बाकी पचास रुपये मेरे पैदा हो जायँगे! जो लोभी आदमी होते हैं, वे सदा रुपयोंकी ही बात सोचते हैं। इसलिये भगवान् और हनुमान्जीकी बातें सुनकर भी सेठमें भगवान्के प्रति भक्ति उत्पन्न नहीं हुई, उलटे उसने लोभको ही पकड़ा!

कथाकी पूर्णाहुति होनेपर सेठ पण्डितजीके पास आया। उसको आशा थी कि आज सौ रुपये भेंटमें आये होंगे। पण्डितजीने कहा कि भाई, आज तो भेंट बहुत थोड़ी ही आयी! बस, पाँच-सात रुपये आये हैं। सेठ बेचारा क्या करे? उसने अपने वायदेके अनुसार पण्डितजीको पचास रुपये दे दिये। लेनेके बदले देने पड़ गये! सेठको हनुमान्जीपर बहुत गुस्सा आया कि उन्होंने पण्डितजीको सौ रुपये नहीं दिये और भगवान्के सामने झूठ बोला! वह मन्दिरमें गया और हनुमान्जीकी मूर्तिपर घूँसा मारा। घूँसा मारते ही सेठका हाथ मूर्तिसे चिपक गया! अब सेठने बहुत जोर लगाया, पर हाथ छूटा नहीं। जिसको हनुमान्जी पकड़ लें, वह कैसे छूट सकता है? सेठको फिर आवाज सुनायी दी। उसने ध्यानसे सुना। भगवान् हनुमान्जीसे पूछ रहे थे कि तुमने ब्राह्मणको सौ रुपये दिलाये कि नहीं? हनुमान्जीने कहा कि 'महाराज! पचास रुपये तो दिला दिये हैं, बाकी पचास रुपयोंके लिये सेठको पकड़ रखा है! वह पचास रुपये देगा तो छोड़ देंगे।' सेठने सुना तो विचार किया कि मन्दिरमें लोग आकर मेरेको देखेंगे तो बड़ी बेइज्जती होगी! वह चिल्लाकर बोला कि 'हनुमान्जी महाराज! मेरेको छोड़ दो, मैं पचास रुपये दूँगा!' हनुमान्जीने सेठका हाथ छोड़ दिया। सेठने जाकर पण्डितजीको पचास रुपये दे दिये।

४५. जब साधु राजा बना

एक साधु था। चलते-चलते वह एक शहरके पास पहुँचा तो शहरका दरवाजा बन्द हो गया। रात हो गयी थी। वह साधु दरवाजेके बाहर ही सो गया। दैवयोगसे उस दिन उस शहरके राजाका शरीर शान्त हो गया था। उसका कोई बेटा नहीं था। राज्य पानेके लिये कुटुम्बी लड़ने लगे। एक कहता कि मेरा हक लगता है, दूसरा कहता कि मेरा हक लगता है। अन्तमें सबने मिलकर यह निर्णय किया कि कल सुबह दरवाजा खोलनेपर जो सबसे पहले भीतर आये, उसीको राज्य दे दिया जाय। ऐसा निर्णय होनेसे विवाद मिट गया।

सुबह होते ही शहरका दरवाजा खुला तो सबसे पहले वह साधु भीतर गया। भीतर जाते ही हथिनीने चट सूँड़से उठाकर बाबाजीको अपने ऊपर चढ़ा लिया। लोग जय-जयकार करते हुए बाबाजीको दरबारमें ले गये। बाबाजीने पूछा कि 'यह क्या तमाशा है भाई?' उन्होंने बाबाजीसे कहा कि 'महाराज! हमने विचार कर लिया है कि शहरमें जो सबसे पहले आ जाय, उसको राज्य दे देना है। सबसे पहले आप आये, इसलिये हमने आपको यहाँका राजा बनाया है।' बाबाजीने कहा कि 'अच्छी बात है!' बाबाजीने नहा-धोकर राजाकी पोशाक पहन ली और आज्ञा दी कि एक बक्सा लाओ! जब बक्सा आया तो बाबाजीने अपने पहलेके कपड़े, तूँबी, खड़ाऊँ आदि रखकर ताला लगा दिया और चाबी अपने पासमें रख ली। अब बाबाजी बढ़िया रीतिसे राज्य करने लगे।

बाबाजीमें न तो अपनी कोई कामना थी, न कोई चिन्ता थी और न उनको कोई भोग ही भोगना था। उन्होंने भगवान्‌का काम समझकर खूब बढ़िया रीतिसे राज्य किया। फलस्वरूप राज्यकी बहुत उन्नति हो गयी। आमदनी बहुत ज्यादा हो गयी। राज्यका खजाना भर गया। प्रजा सुखी हो गयी। राज्यकी समृद्धिको देखकर पड़ोसके एक राजाने विचार किया कि बाबाजी राज्य तो करना जानते हैं, पर लड़ाई करना नहीं जानते! उसने चढ़ाई कर दी। राज्यके सैनिकोंने बाबाजीको समाचार दिया कि अमुक राजाने चढ़ाई कर दी है। बाबाजी बोले कि 'करने दो, अपने लड़ाई नहीं करनी है।' थोड़ी देरमें समाचार आया कि शत्रुकी सेना नजदीक आ रही है। बाबाजी बोले कि 'आने दो'। फिर समाचार आया कि शत्रुकी सेना पासमें आ गयी है तो बाबाजीने आदमी भेजा कि आप यहाँ क्यों आये हैं? पड़ोसी राजाने समाचार भेजा कि हम यह राज्य लेने आये हैं। बाबाजीने कहा कि राज्य पानेके लिये लड़नेकी जरूरत नहीं है। बाबाजीने आज्ञा दी कि मेरा बक्सा लाओ। बक्सा मँगाकर उन्होंने उसको खोला और अपने पहलेके कपड़े पहनकर हाथमें तूँबी ले ली। बाबाजीने पड़ोसी राजासे कहा कि इतने दिन मैंने रोटी खायी, अब आप खाओ! मैं तो इसलिये बैठा था कि राज्य सँभालनेवाला कोई नहीं था। अब आप आ गये तो इसको सँभालो। व्यर्थमें लड़ाई करके मनुष्योंको क्यों मारें?

इस कहानीका तात्पर्य यह नहीं है कि शत्रुकी सेना आये तो उसको राज्य दे दो, प्रत्युत यह तात्पर्य है कि बाबाजीकी तरह जो काम सामने आ जाय, उसको भगवान्‌का काम समझकर निष्कामभावसे बढ़िया रीतिसे करो, अपना कोई आग्रह मत रखो।

४६. दूसरेका कल्याण कौन कर सकता है ?

एक राजा था। उसने सुना कि राजा परीक्षित्‌ने भागवतकी कथा सुनी तो उनका कल्याण हो गया। राजाके मनमें आया कि अगर मैं भी भागवतकी कथा सुन लूँ तो मेरा भी कल्याण हो जायगा। ऐसा विचार करके राजाने एक पण्डितजीसे बात की। पण्डितजी भागवत सुनानेके लिये तैयार हो गये। निश्चित समयपर भागवत-कथा आरम्भ हुई। सात दिन बीतनेपर कथा समाप्त हुई।

दूसरे दिन राजाने पण्डितजीको बुलाया और कहा कि पण्डितजी! न तो आपने भागवत सुनानेमें कोई कमी रखी, न मैंने सुननेमें कोई कमी रखी, फिर भागवत सुननेपर कोई फर्क तो पड़ा नहीं, बात क्या है? पण्डितजीने कहा कि महाराज! इसका उत्तर तो मेरे गुरुजी ही दे सकते हैं। राजाने कहा कि आप अपने गुरुजीको आदरपूर्वक यहाँ लेकर आयें, हम उनसे पूछेंगे। पण्डितजी अपने गुरुजीको लेकर राजाके पास आये। राजाने अपनी शंका गुरुजीके सामने रखी कि भागवत सुननेपर भी मेरा कल्याण क्यों नहीं हुआ? मनकी हलचल क्यों नहीं मिटी? गुरुजीने राजासे कहा कि थोड़ी देरके लिये मेरेको अपना अधिकार दे दो। राजाने उनकी बात स्वीकार कर ली। गुरुजीने आदेश दिया कि राजा और पण्डितजी—दोनोंको बाँध दो। राजपुरुषोंने दोनोंको बाँध दिया। अब गुरुजीने पण्डितजीसे कहा कि तुम राजाको खोल दो। पण्डितजी बोले कि मैं खुद बँधा हुआ हूँ, फिर राजाको कैसे खोल सकता हूँ! गुरुजीने राजासे कहा कि तुम पण्डितजीको खोल दो। राजाने भी यही उत्तर दिया कि मैं खुद बँधा हूँ, पण्डितजीको कैसे खोलूँ! गुरुजीने कहा कि महाराज! मैंने आपके प्रश्नका उत्तर दे दिया! राजाने कहा—मैं समझा नहीं! गुरुजी बोले—'जैसे खुद बँधा हुआ आदमी दूसरेको नहीं खोल सकता, ऐसे ही जो खुद बन्धनमें पड़ा है, वह दूसरेको बन्धन-मुक्त कैसे कर सकता है? दूसरेका कल्याण कैसे कर सकता है?' अनुभवी पुरुषसे जो लाभ होता है, वैसा लाभ दूसरे पुरुषसे नहीं होता। इसलिये अनुभवी पुरुषकी वाणीके अनुसार ही अपना जीवन बनाना चाहिये।

४७. निन्यानबेका चक्कर

एक सेठकी हवेली थी। बगलमें एक गरीबका छोटा-सा घर था। दोनों घरोंकी स्त्रियाँ जब आपसमें मिलती थीं, तब एक-दूसरेसे पूछती थीं कि आज तुमने क्या रसोई बनायी? सेठकी स्त्री कहती कि आज पापड़की सब्जी बनायी है अथवा दाल बनायी है। गरीब घरकी स्त्री कहती कि आज हमने हलवा-पूरी बनायी है अथवा खीर बनायी है! सेठकी स्त्रीने अपने पतिसे कहा कि हमलोग तो साधारण भोजन करते हैं, पर गरीब आदमी इतना माल खाते हैं! आखिर बात क्या है? सेठने कहा कि अभी वे निन्यानबेके चक्करमें नहीं पड़े हैं, इसीलिये माल खाते हैं। जब निन्यानबेका चक्कर लग जायगा, तब ऐसा माल नहीं खायेंगे। स्त्रीने पूछा कि यह निन्यानबेका चक्कर क्या होता है? सेठने कहा कि मैं बताऊँगा, देखती जाओ!

दूसरे दिन सेठने अपनी स्त्रीसे कहा कि तुम निन्यानबे रुपये लाओ। वह निन्यानबे रुपये लेकर आयी। सेठने उन रुपयोंको एक कपड़ेकी पोटलीमें बाँध दिया और अपनी स्त्रीसे कहा कि रातमें मौका देखकर यह पोटली उस गरीबके घर फेंक देना। रात होनेपर स्त्रीने वैसा ही कर दिया। सुबह होनेपर गरीब आदमीको आँगनमें एक पोटली पड़ी हुई दीखी।

उसने भीतर ले जाकर पोटलीको खोला तो उसमें रुपये मिले। उसने बीस-बीस रुपये पाँच जगह रखे तो देखा कि पाँच बीसीमें एक रुपया कम है! पति-पत्नी दोनोंने विचार किया कि दो-तीन दिन घरका खर्चा कम करके एक रुपया बचा लें तो पाँच बीसी (सौ रुपये) पूरी हो जायगी। ऐसा विचार करके उन्होंने पैसे बचाने शुरू किये तो दो-तीन दिनमें एक रुपया बचा लिया। पाँच बीसी पूरी हो गयी! अब उन्होंने सोचा कि हमने दो-तीन दिनमें एक रुपया पैदा कर लिया, यदि पहलेसे इस तरफ ध्यान देते तो आजतक कितने रुपये जमा हो जाते! इतने दिन व्यर्थ ही गँवाये! अब आगेसे ध्यान रखेंगे।

कुछ दिन बीतनेपर सेठने अपनी स्त्रीसे कहा कि आज तुम उस गरीबकी स्त्रीसे पूछना कि क्या बनाया है? जब गरीब घरकी स्त्री मिली तो सेठानीने पूछ लिया कि आज क्या बनाया है? उसने कहा—'चटनी पीस ली है, उसके साथ रोटी खा लेंगे।' सेठानीको निन्यानबेका चक्कर समझमें आ गया!

ग्यान बढ़ै गुनवान की संगति, ध्यान बढ़ै तपसी सँग कीन्हे।
मोह बढ़ै परिवार की संगति, लोभ बढ़ै धनमें चित दीन्हे॥
क्रोध बढ़ै नर मूढ़ की संगति, काम बढ़ै तिय को सँग कीन्हे।
बुद्धि बिबेक बिचार बढ़ै, 'कबि दीन' सुसज्जन संगति कीन्हे॥

४८. गधेसे मनुष्य बनाना

एक वैद्य था। वह अपने साथ एक आदमीको रखता था। एक दिन वे एक गाँवसे रवाना हुए तो किसी बातको लेकर वैद्यने उस आदमीकी ताड़ना की—'अरे, तू जानता नहीं, पहले तू कैसा था? तू तो गधा था। मैंने तेरेको गधेसे मनुष्य बनाया! मैंने तेरा इतना उपकार किया, फिर भी तू मेरी बात मानता नहीं!' पासमें ही एक गधेवाला जा रहा था। उसने वैद्यकी बात सुन ली कि यह गधेसे मनुष्य बनाता है। वह वैद्यके पास आया और बोला कि 'महाराज! यों तो मेरे पास कई गधे हैं, पर आपको दो गधे देता हूँ, मेहरबानी करके इनको आप मनुष्य बना दो।' वैद्य बोला—'हाँ, बना देंगे, पर इसका रुपया लगेगा भाई! एक गधेका सौ रुपया लगेगा।' गधेवालेने कहा—'ठीक है, मैं आपको अभी पूरा रुपया दे देता हूँ, आप इनको मनुष्य बना दो।' उसने वैद्यको दो सौ रुपये दे दिये और अपने दो गधे देकर चला गया।

वैद्यने दोनों गधोंको बाजारमें जाकर बेच दिया। अब वह गधेवाला जब आकर पूछा तो वैद्य बोले कि 'अभी तुम्हारे गधे मनुष्य बन रहे हैं। उनपर मसाला चढ़ा दिया है।' ऐसा करते तीन-चार महीने बीत गये। अब वह गधेवाला आया तो वैद्य बोला कि 'अरे यार! तू आया नहीं! तेरे गधे तो कबसे मनुष्य बन गये और उनकी नौकरी भी लग गयी! जिस गधेके ज्यादा बाल थे, वह तो मौलवी बन गया और स्कूलमें बच्चोंको पढ़ाता है, और दूसरा गधा स्टेशन मास्टर बन गया। मैंने दोनोंको ठीक तरहसे मनुष्य बना दिया। परन्तु तू देरीसे आया, इसलिये मसाला ज्यादा चढ़ गया और वे नौकरीमें लग गये। अब तू जाने भाई!'

गधेवाला घास लेकर स्कूल गया। वैद्यने जिसका नाम बताया था, उस दाढ़ीवाले मौलवीके सामने जाकर वह खड़ा हो गया और घास दिखाते हुए कहने लगा—'आ जा, आ जा! घास ले ले, ले ले!' वह मौलवी चिल्लाया—'अरे! यह कौन है? क्या करता है? पागल हो गया है क्या?' गधेवाला बोला—'मैंने सौ रुपये खर्च करके तेरेको गधेसे मनुष्य बनाया है! मैं पागल कैसे हो गया?' मौलवीने उसको पागल कहते हुए बाहर निकाल दिया। अब वह स्टेशन मास्टरके पास पहुँचा और उसको भी घास दिखाकर कहने लगा—'आ जा, आ जा! ले ले, ले ले!' स्टेशन मास्टर बोला—'अरे, यह क्या करता है!' लोगोंने बताया कि यह पाठशालामें भी गया था और मौलवीको भी ऐसा ही कह रहा था! स्टेशन मास्टरने भी उसको पागल

समझकर बाहर निकाल दिया।

अब गधेवाला वापस वैद्यके पास आया और बोला कि वे दोनों तो मेरेको पागल कहते हैं! वैद्य बोला—'अरे भाई! मैंने पहले ही कहा था कि तू देरीसे आया, इसलिये उनपर ज्यादा मसाला चढ़ गया! अधिक मसाला चढ़नेसे अब वे कब्जेमें नहीं रहे! अब मैं क्या करूँ!'

इसी तरह मनुष्य अभिमान कर लेता है कि मैं बड़ा समझदार हूँ, बड़ा जानकार हूँ, तुम्हारेको वर्षोंतक पढ़ा सकता हूँ तो यह उसपर मसाला ज्यादा चढ़ गया! यह पता नहीं कि पहले जन्ममें क्या थे, पर अब मनुष्य बन गये तो मसाला अधिक चढ़ गया कि मैं ऐसा हूँ, तुम समझते नहीं! इस तरह जब मसाला अधिक चढ़ जाता है, तब अभिमान हो जाता है। फिर मनुष्य किसीकी बात नहीं मानता!

४९. रात कैसी बीती?

एक बाबाजी घूमते-फिरते एक शहरमें पहुँचे। रात हो गयी थी। सरदीके दिन थे। शहरका दरवाजा बन्द हो गया था। बाबाजीको ठण्ड लगी। गरम कपड़ा पासमें था नहीं। बाबाजीने सोनेके लिये जगह देखी। एक भड़भूँजेकी भट्ठी थी। बाबाजीने देखा कि यह जगह बढ़िया है। भट्ठीके भीतर थोड़ी-थोड़ी गरमाहट थी। बाबाजी उसके भीतर जाकर सो गये।

सुबह हुई। बाबाजीकी नींद खुली। बगलमें ही राजाका महल था। उधर राजाकी नींद खुली। राजाने अपने साथियोंसे पूछा—'कहो भाई! रात कैसी बीती?' इधर बाबाजी भट्ठीके भीतरसे बोले—'कुछ तुम्हारे-जैसी, कुछ तुम्हारेसे अच्छी!' राजाको अनजानी आवाज सुनकर थोड़ा आश्चर्य हुआ। राजाने फिर पूछा—'रात कैसी बीती?' बाबाजीने फिर कहा—'कुछ तुम्हारे-जैसी, कुछ तुम्हारेसे अच्छी!' राजाने अपने आदमियोंको भेजा कि जाकर देखो, 'यह कौन बोल रहा है? उसको पकड़कर मेरे सामने लाओ।' राजपुरुषोंने बाहर जाकर चारों ओर देखा, पर उनको कोई दिखायी नहीं दिया। जब पुन: बाबाजीने वही बात कही, तब राजपुरुषोंने देखा कि भट्ठीके भीतर एक बाबाजी बैठे हैं, वही बोल रहे हैं! उन्होंने बाबाजीसे कहा कि चलो, आपको राजाने बुलाया है। बाबाजीने कहा कि मैंने कौन-सा अपराध किया है, जिसके कारण राजाने मेरेको बुलाया है? राजपुरुषोंने कहा कि आपके किसी अपराधके कारण राजाने नहीं बुलाया है, वे तो आपसे मिलकर कुछ बात करना चाहते हैं। बाबाजी भट्ठीसे बाहर निकले। उनके मुखपर और शरीरपर जगह-जगह भट्ठीकी राख लगी हुई थी। कहीं-कहीं कालिख लगी हुई थी! वे उसी अवस्थामें राजपुरुषोंके साथ चल पड़े।

राजपुरुषोंने बाबाजीको राजाके सामने लाकर खड़ा कर दिया। राजाने बाबाजीको प्रणाम किया और पूछा कि मेरे प्रश्नका उत्तर आपने दिया था? बाबाजी बोले—'मैंने प्रश्न सुना तो उत्तर दे दिया, मेरेको पता नहीं कि प्रश्न आपने किया था!' राजाने कहा—'मैंने पूछा कि रात कैसी बीती तो आपने उत्तर दिया कि कुछ तुम्हारे-जैसी, कुछ तुम्हारेसे अच्छी। अब आप बतायें कि रात मेरे-जैसी कैसी बीती? मैं तो महलमें सोया था और आप भट्ठीमें, फिर मेरे-जैसी कैसे हुई?' बाबाजी बोले—'जब मैं और आप सो गये, तब न तो मेरेको भट्ठी याद रही और न आपको महल याद रहा, तो हम दोनों बराबर हो गये न? आप नरम-नरम गद्दोंपर सोये, मैं नरम-नरम राखपर सोया!' राजा बोला—'और मेरेसे अच्छी कैसे हुई?' बाबाजी बोले—'नींद खुलते ही आपको अपनी और राज्यकी सैकड़ों चिन्ताएँ सताने लगीं, पर मेरेको कोई चिन्ता है ही नहीं! इसलिये मेरी रात आपसे भी अच्छी बीती!'

चाह गयी चिन्ता मिटी, मनुआँ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सो साहनके साह॥

५०. ससुरालकी रीति

एक लड़की विवाह करके ससुरालमें आयी। घरमें एक तो उसका पति था, एक सास थी और एक दादी सास थी। वहाँ आकर उस लड़कीने देखा कि दादी सासका बड़ा अपमान, तिरस्कार हो रहा है! छोटी सास उसको ठोकर मार देती, गाली दे देती। यह देखकर उस लड़कीको बड़ा बुरा लगा और दया भी आयी! उसने विचार किया कि अगर मैं साससे कहूँ कि आप अपनी सासका तिरस्कार मत किया करो तो वह कहेगी कि कलकी छोकरी आकर मेरेको उपदेश देती है, गुरु बनती है! अतः उसने अपनी साससे कुछ नहीं कहा। उसने एक उपाय सोचा। वह रोज काम-धंधा करके दादी सासके पास जाकर बैठ जाती और उसके पैर दबाती। जब वह वहाँ ज्यादा बैठने लगी तो यह सासको सुहाया नहीं। एक दिन सासने उससे पूछा कि 'बहू! वहाँ क्यों जा बैठी?' लड़कीने कहा कि 'बोलो, काम बताओ!' सास बोली कि 'काम क्या बतायें, तू वहाँ क्यों जा बैठी?' लड़की बोली कि 'मेरे पिताजीने कहा था कि जवान लड़कोंके साथ तो कभी बैठना ही नहीं, जवान लड़कियोंके साथ भी कभी मत बैठना; जो घरमें बड़े-बूढ़े हों, उनके पास बैठना, उनसे शिक्षा लेना। हमारे घरमें सबसे बूढ़ी ये ही हैं, और किसके पास बैठूँ? मेरे पिताजीने कहा था कि वहाँ हमारे घरकी रिवाज नहीं चलेगी, वहाँ तो तेरे ससुरालकी रिवाज चलेगी। मेरेको यहाँकी रिवाज सीखनी है, इसलिये मैं उनसे पूछती हूँ कि मेरी सास आपकी सेवा कैसे करती है?' सासने पूछा कि 'बुढ़ियाने क्या कहा?' वह बोली कि 'दादीजी कहती हैं कि यह मेरेको ठोकर नहीं मारे, गाली नहीं दे तो मैं सेवा ही मान लूँ!' सास बोली कि 'क्या तू भी ऐसा ही करेगी?' वह बोली कि 'मैं ऐसा नहीं कहती हूँ, मेरे पिताजीने कहा है कि बड़ोंसे ससुरालकी रीति सीखना!'

सास डरने लग गयी कि मैं अपनी सासके साथ जो बर्ताव करूँगी, वही बर्ताव मेरे साथ होने लग जायगा! एक जगह कोनेमें ठीकरी इकट्ठी पड़ी थीं। सासने पूछा—'बहू! ये ठीकरी क्यों इकट्ठी की हैं?'

लड़कीने कहा—'आप दादीजीको ठीकरीमें भोजन दिया करती हो, इसलिये मैंने पहले ही जमा कर ली।'

'तू मेरेको ठीकरीमें भोजन करायेगी क्या?'

'मेरे पिताजीने कहा है कि तेरे वहाँकी रीति चलेगी।'

'यह रीति थोड़े ही है!'

'तो फिर आप ठीकरीमें क्यों देती हो?'

'थाली कौन माँजे?'

'थाली तो मैं माँज दूँगी।'

'तो तू थालीमें दिया कर, ठीकरी उठाकर बाहर फेंक।'

अब बूढ़ी माँजीको थालीमें भोजन मिलने लगा। सबको भोजन देनेके बाद जो बाकी बचे, वह खिचड़ीकी खुरचन, कंकड़वाली दाल माँजीको दी जाती थी। लड़की उसको हाथमें लेकर देखने लगी। सासने पूछा—'बहू! क्या देखती हो?'

'मैं देखती हूँ कि बड़ोंको भोजन कैसा दिया जाय।'

'ऐसा भोजन देनेकी कोई रीति थोड़े ही है!'

'तो फिर आप ऐसा भोजन क्यों देती हो?'

'पहले भोजन कौन दे?'

'आप आज्ञा दो तो मैं दे दूँगी।'

'तो तू पहले भोजन दे दिया कर।'

'अच्छी बात है!'

अब बूढ़ी माँजीको बढ़िया भोजन मिलने लगा। रसोई बनते ही वह लड़की ताजी खिचड़ी, ताजा फुलका, दाल-साग ले जाकर माँजीको दे देती। माँजी तो मन-ही-मन आशीर्वाद देने लगी। माँजी दिनभर एक खटियामें पड़ी रहती। खटिया टूटी हुई थी। उसमेंसे बन्दनवारकी तरह मूँज नीचे लटकती थी।

लड़की उस खटियाको देख रही थी। सास बोली कि 'क्या देखती हो?'

'देखती हूँ कि बड़ोंको खाट कैसी दी जाय।'

'ऐसी खाट थोड़े ही दी जाती है! यह तो टूट जानेसे ऐसी हो गयी।'

'तो दूसरी क्यों नहीं बिछातीं?'

'तू बिछा दे दूसरी।'

'आप आज्ञा दो तो दूसरी खाट बिछा दूँ!'

अब माँजीके लिये निवारकी खाट लाकर बिछा दी गयी। एक दिन कपड़े धोते समय वह लड़की माँजीके कपड़े देखने लगी। कपड़े छलनी हो रखे थे। सासने पूछा कि 'क्या देखती हो?'

'देखती हूँ कि बूढ़ोंको कपड़ा कैसा दिया जाय।'

'फिर वही बात, कपड़ा ऐसा थोड़े ही दिया जाता है? यह तो पुराना होनेपर ऐसा हो जाता है।'

'फिर वही कपड़ा रहने दें क्या?'

'तू बदल दे।'

अब लड़कीने माँजीका कपड़ा, चादर, बिछौना आदि सब बदल दिया। उसकी चतुराईसे बूढ़ी माँजीका जीवन सुधर गया! अगर वह लड़की सासको कोरा उपदेश देती तो क्या वह उसकी बात मान लेती? बातोंका असर नहीं पड़ता, आचरणका असर पड़ता है। इसलिये लड़कियोंको चाहिये कि ऐसी बुद्धिमानीसे सेवा करें और सबको राजी रखें।

५१. अब छाछको सोच कहा कर है !

एक राजकुमार था। उसके साथ पाँच-सात मित्र घोड़ोंपर घूम रहे थे। वहाँ बहुत-सी गूजर-स्त्रियाँ दूध, छाछ, दही आदिकी बिक्री करनेको जा रही थीं। राजकुमारको भगवान् श्रीकृष्णकी याद आ गयी कि वे भी दूध-दही लूटा करते थे तो हम भी आज वैसा ही करें। एक तमाशा कर लें, फिर उनको दाम दे देंगे। राजकुमार और उसके साथियोंने उनके मटके फोड़ दिये। गूजरियाँ बेचारी रोने लगीं। उनमेंसे एक गूजरी ऐसी थी, जिसका मटका फूट गया, छाछ बिखर गयी, फिर भी वह हँस रही थी! राजकुमारने उससे पूछा कि तू रोयी नहीं, क्या बात है? उसने कहा कि महाराज! मेरी बात बहुत लम्बी है! मैं छाछ गिरनेका क्या शोक करूँ? राजकुमारने उससे कहा कि अपनी बात सुनाओ। वह कहने लगी—

मैं अमुक शहरके एक सेठकी पत्नी थी और मेरी गोदमें एक बालक था। वे सेठ कमानेके लिये दूसरे देशमें चले गये। वहाँके राजाकी नीयत खराब थी। मेरी छोटी अवस्था थी और सुन्दर रूप था। राजाने मेरेपर खराब दृष्टि कर ली और कहा कि अमुक दिन तेरेको आकर मिलना ही पड़ेगा, तुम कब आओगी, जवाब दो। मैंने कहा कि अभी ठहरो। मैंने अपने पतिको पत्र भेजा कि जल्दी आओ, मेरेपर ऐसी आफत आयी है। पति आ गया। उससे सारी बात कही और आपसमें सलाह की कि क्या किया जाय? सेठने कहा कि तुम राजाको समय दे दो। मैंने राजाके पास समाचार भेज दिया कि आप शहरके बाहर अमुक जगह रातमें आ जाओ, पर शर्त यह है कि उस स्थानके मीलभर नजदीकमें कोई अन्य व्यक्ति न रहे। राजाने स्वीकार कर लिया। हम दोनों पति-पत्नी घरसे निकल गये, कारण कि यहाँ टिक नहीं सकेंगे। मैं रात्रिमें वहाँ तलवार लेकर गयी। पतिको एक टूटे-फूटे मकान (खँडहर)-में छिपनेके लिये कह दिया। जब राजा आया तो मैंने तलवारसे उसको मार दिया और भागकर पतिके पास गयी। वहाँ जानेपर मैंने पतिको मरा हुआ पाया! उसको जहरीले साँपने काट लिया था। फिर तो मैं अकेली वहाँसे भागी कि अगर पकड़ी गयी तो लोग मेरेको मार देंगे। लड़का पीछे छूट गया।

आगे भागते हुए जंगल आ गया तो वहाँ डाकू मिल गये। उन लोगोंने मेरेको पकड़ लिया, मेरे सब

गहने छीन लिये और वेश्याके घर ले जाकर बिक्री कर दिया। अब मैं वहाँ रहने लगी। उधर दूसरा राजा बैठा तो उसने मेरे लड़केको पालकर बड़ा किया। मेरा लड़का वहीं राज्यमें नौकरी करने लगा। इधर वेश्याओंके संगके प्रभावसे मैं भी वेश्या हो गयी। एक बार वह लड़का मेरे यहाँ आया और रातभर रहा। मेरेको वहम हो गया कि यह कौन है? सुबह होते ही पूछा तो उसने अपना नाम-पता बताया, तब पता लगा कि अरे! यह तो मेरा ही बेटा है! मेरेको बड़ी ग्लानि, बड़ा भारी दु:ख हुआ कि मैं क्या थी और कुसंगके प्रभावसे क्या हो गयी! पण्डितोंसे पूछा कि ऐसा पाप किसीसे हो जाय तो क्या करे? उन्होंने बताया कि चिता जलाकर आगमें बैठ जाय। विचार आया कि चितामें बैठ जाऊँगी तो पीछे गंगाजीमें फूल कौन डालेगा? इसलिये गंगाके किनारे लकड़ियाँ इकट्ठी करके बैठ गयी और आग लगा दी। लकड़ियाँ जलने लगीं। इतनेमें पीछेसे बाढ़ आ गयी। मैं लकड़ियोंके साथ उसमें बह गयी। आग बुझ गयी और एक लकड़ीपर बैठे-बैठे एक गाँवके किनारे पहुँच गयी। उस गाँवमें गूजर बसते थे। अब वहाँ उनकी चीज बिक्री करके काम चलाती हूँ। आज छाछ लेकर आयी थी। छाछ गिर गयी तो अब इसकी चिन्ता क्या करूँ?

हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजंगदष्टं-
देशान्तरे विधिवशाद् गणिकां च याता।
पुत्रं प्रति समधिगम्य चितां प्रविष्टा
शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तक्रम्॥

नृप मार चली अपने पिव पै,
पिव भुजंग डस्यो जो गयो मर है।
मग चोर मिले उन लूट लई,
पुनि बेच दई गनिका घर है।
सुत सेज रमी, चिता पै चढ़ी,
जल खूब बह्यो सरिता तर है।
महाराज कुमार भई गुजरी,
अब छाछ को सोच कहा कर है॥

जीवनमें ऐसी कितनी घटनाएँ घटी हैं, क्या-क्या दशा हुई है, अब थोड़े-से नुकसानमें क्या चिन्ता करूँ? ऐसी बातें तो होती रहती हैं और बीतती रहती हैं। अब छाछ गिर गयी तो क्या हो गया! हमारे न जाने कितने जन्म हुए हैं और उनमें क्या-क्या दशा हुई है! उनमें कभी बेटा मर गया, कभी पति मर गया, कभी पत्नी मर गयी। कभी धन आया, कभी धन चला गया। ये सब कई बार मिले और कई बार बिछुड़े। हवा चलती है तो कहाँ-कहाँका फूस आकर इकट्ठा हो जाता है और दूसरे झोंकेमें अलग हो जाता है। इसमें नयी बात क्या हो गयी! संसारमें सब आने-जानेवाले हैं। इनके लिये क्या चिन्ता करें?

५२. वहम मिट गया

मुकुन्ददास नामक एक व्यक्ति किसी अच्छे सन्तका शिष्य था। वे सन्त जब भी उसको अपने पास आनेके लिये कहते, वह यही कहता कि मेरे बिना मेरे स्त्री-पुत्र रह नहीं सकेंगे। वे सब मेरे ही सहारे बैठे हुए हैं। मेरे बिना उनका निर्वाह कैसे होगा? सन्त कहते कि भाई! यह तुम्हारा वहम है, ऐसी बात है नहीं। एक दिन सन्तने मुकुन्ददाससे कहा कि तुम परीक्षा करके देख लो। वह परीक्षाके लिये मान गया। सन्तने उसको प्राणायामके द्वारा श्वास रोकना सिखा दिया।

एक दिन मुकुन्ददास अपने परिवारके साथ नदीमें नहानेके लिये गया। नहाते समय उसने डुबकी लगाकर अपना श्वास रोक लिया और नदीके भीतर-ही-भीतर दूर जंगलमें चला गया और बाहर निकलकर सन्तके पास पहुँच गया। इधर परिवारवालोंने नदीके भीतर उसकी बड़ी खोज की। वह नहीं मिला तो

उनको विश्वास हो गया कि वह तो नदीमें बह गया। सब जगह बड़ा हल्ला हुआ कि अमुक व्यक्ति डूबकर मर गया! उस सन्तके सत्संगियोंने आपसमें विचार किया कि मुकुन्ददास तो बेचारा मर गया, अब हमलोगोंको उसके स्त्री-बच्चोंके निर्वाहका प्रबन्ध करना चाहिये। सबने अपनी-अपनी तरफसे सहायता देनेकी बात कही। किसीने आटेका प्रबन्ध अपने जिम्मे लिया, किसीने दालका प्रबन्ध अपने जिम्मे लिया, किसीने चावलका प्रबन्ध करनेकी बात कही, आदि-आदि। धर्मशालामें एक कमरा लेकर उसमें आटा, दाल, घी आदि सब वस्तुएँ इकट्ठी कर दीं। दूध आदिके लिये स्त्रीको पैसे दे दिये। महीनेका खर्चा बाँध दिया। एक व्यक्तिने कहा कि मैं कुछ दे तो नहीं सकता, पर वस्तुओंको घर पहुँचानेकी व्यवस्था मैं कर दूँगा। इस प्रकार सन्तसे पूछे बिना उनके सत्संगियोंने सब प्रबन्ध कर दिया।

थोड़े दिनोंके बाद मुकुन्ददासकी स्त्री सन्तके पास गयी। सन्तने घरका समाचार पूछा कि कोई तकलीफ तो नहीं है? वह बोली कि जो व्यक्ति चला गया, उसकी पूर्ति तो हो नहीं सकती, पर हमारा जीवन-निर्वाह पहलेसे भी अच्छा हो रहा है! सन्तने पूछा—'पहलेसे भी अच्छा कैसे?' स्त्रीने कहा—'आपकी कृपासे सत्संगियोंने सब आवश्यक सामान रखवा दिया है। जब जिस वस्तुकी जरूरत पड़ती है, मिल जाती है।' मुकुन्ददास छिपकर उनकी बातें सुन रहा था।

कुछ समय बीत गया तो सन्तने मुकुन्ददाससे कहा कि तू अब घर जाकर देख। वह रातके समय अपने घर गया और बाहरसे किवाड़ खटखटाया। स्त्रीने पूछा—'कौन है?' मुकुन्ददास बोला—'मैं हूँ, किवाड़ खोल।' आवाज सुनकर स्त्री डर गयी कि वे तो मर गये, उनका भूत आ गया! स्त्री बोली—'मैं किवाड़ नहीं खोलती।' मुकुन्ददास बोला—'अरे, मैं मरा नहीं हूँ; किवाड़ खोल।' स्त्री बोली—'बच्चे देखेंगे तो डरके मारे उनके प्राण निकल जायँगे, आप चले जाओ।' मुकुन्ददास बोला—'अरे, मेरे बिना तुम्हारा काम कैसे चलेगा?' स्त्री बोली—'सन्तोंकी कृपासे पहलेसे भी बढ़िया काम चलता है, आप चिन्ता मत करो। आप कृपा करके यहाँसे चले जाओ।' मुकुन्ददास बोला—'तुम्हारेको कोई दुःख तो नहीं है?' स्त्री बोली—'दुःख यही है कि आप आ गये! आप न आयें तो कोई दुःख नहीं! आप आओ मत—यही कृपा करो!'

५३. विलक्षण अतिथि-सत्कार

विष्णुकांचीमें दामोदर नामक एक गरीब ब्राह्मण रहते थे। जब उनका विवाह हुआ, तब उन्होंने अपनी स्त्रीसे कह दिया कि देखो, अब मैं गृहस्थ बन गया हूँ। गृहस्थका खास काम है—अतिथि-सत्कार करना। मैं घरमें होऊँ या न होऊँ, कोई अतिथि आये तो भूखा मत जाने देना। ब्रह्मचारीका गुरु-आज्ञाका पालन करना, गृहस्थका अतिथि-सत्कार करना, वानप्रस्थका तप करना और संन्यासीका भगवच्चिन्तन-भजन करना खास धर्म है। उनकी स्त्रीने कहा कि अच्छी बात है। वे ब्राह्मण कांची नगरीमें फिरते और भिक्षामें जो कुछ मिल जाता, लाकर स्त्रीको दे देते। घरकी स्थिति बहुत साधारण थी। खानेके लिये अन्न भी नहीं था।

भगवान् बड़े लीला पुरुषोत्तम हैं। उनकी लीला बड़ी विचित्र है। एक दिन भगवान् बूढ़े संन्यासी बनकर आये और बाहर चबूतरेपर बैठकर बोले कि घरमें कोई दामोदर है? ब्राह्मणने सुना तो बाहर आकर प्रणाम किया। संन्यासी बोले कि आज मनमें आ गयी कि तुम्हारे यहाँ भोजन करूँ। ब्राह्मण बोला कि बड़ी अच्छी बात है, आनन्दकी बात है! वह बूढ़े संन्यासीको भीतर ले गया और उनको बैठाया। दैवयोगसे उस दिन ब्राह्मणको गाँवसे भिक्षा मिली ही

नहीं थी! उसने सोचा कि अब क्या करें? खुद तो भूखे भी रह जायँ, पर महाराजको भूखा कैसे रखें? घरमें कोई सम्पत्ति थी नहीं। केवल फटे-पुराने कपड़े और बर्तन, गोपीचन्दन, टूटी हुई चटाई—यह घरकी सामग्री थी! ब्राह्मणने अपनी स्त्रीसे कहा कि आज तो बड़ा गजब हो जायगा, अतिथि भूखा रह जायगा! स्त्री बोली कि आप घबराते क्यों हो, मैं बैठी हूँ न! ब्राह्मण बोला कि क्या तेरे पास कोई गहना है? वह बोली—'गहना कहाँ है? कपड़े भी फटे-पुराने हैं!' ब्राह्मण बोला—'तो फिर अतिथि-सत्कार कैसे करेंगे?' स्त्री बोली—'आप नाईके घरसे कतरनी (कैंची) ले आओ।' ब्राह्मण कतरनी ले आया। स्त्रीने अपने सिरके केश भीतर-भीतरसे कतर लिये और बाहरके केश बाँध लिये। कटे हुए केशोंकी रस्सी बनायी और ब्राह्मणको देकर बोली कि इसको बेच आओ। ब्राह्मण उसको लेकर बाजार गया और बेचनेपर जो थोड़े-से पैसे मिले, उनसे थोड़े चावल और दाल ले आया। स्त्रीने दाल-चावल बना दिये। संन्यासीको कहा कि महाराज! रसोई तैयार है, भोजन करो। महाराज बैठ गये। ब्राह्मण केलेका पत्ता ले आया और उसपर भोजन परोस दिया। महाराज पाने लग गये। उन्होंने पत्तलमें एक दाना भी नहीं छोड़ा। ब्राह्मणने कहा—महाराज, और लो। वे बोले—'हाँ, और ले आ।' ब्राह्मणने बचा हुआ सारा भोजन परोस दिया। महाराजने सब पा लिया और बोले कि बस, अब तृप्ति हो गयी। फिर बोले कि भाई, बूढ़ा शरीर है, कहाँ जायँगे? अभी तो हम यहाँ ही रहेंगे। ब्राह्मणने कहा कि हाँ महाराज, आप यहीं विराजें। महाराज दिनभर वहीं रहे। सायं हुई तो बोले कि बस, दाल-चावल बना लेना, ज्यादा वस्तुकी जरूरत नहीं। ब्राह्मण बोला कि ठीक है महाराज! ब्राह्मणकी स्त्रीने सिरके बाकी केश भी काट दिये और उनको बेचकर महाराजके लिये दाल-चावल बना दिये। महाराजने पूरे दाल-चावल खा लिये, उसमेंसे कुछ भी नहीं छोड़ा। फिर महाराज बोले कि रातको हम कहाँ जायँगे? हमारा कोई मकान तो है नहीं। बूढ़ा शरीर है। आज हम यहाँ ही रहेंगे। ब्राह्मण बोला कि हाँ महाराज! आप यहीं विराजें।

चटाईका एक टुकड़ा था, उसको ब्राह्मणने नीचे बिछा दिया। महाराज उसपर लेट गये। ब्राह्मण उनके चरण दबाने लगा। थोड़ी देरमें महाराजको नींद आ गयी। उनके चरणोंके एक तरफ ब्राह्मण सो गया और एक तरफ उसकी स्त्री सो गयी। जब वे दोनों सो गये, तब बाबाजी जाग बैठे! उन्होंने आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे केश ठीक हो जायँ, बढ़िया कपड़े हो जायँ, गहने हो जायँ, धन-धान्यसे भण्डार भर जाय, आदि-आदि। फिर वे अन्तर्धान हो गये। स्त्रीकी नींद खुली तो देखा कि हाथोंमें गहने हैं, सुन्दर वस्त्र हैं और सिरपर केश भी हैं! उसको बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह क्या कौतुक है! उसने पतिको जगाया। ब्राह्मणने उठकर देखा कि बाबाजी नहीं हैं तो बाहर भागा कि बाबाजी कहाँ गये? बूढ़ा शरीर है, कैसे गये होंगे! स्त्रीने कहा कि आप देखो तो सही! अपनी तरफ देखो, घरकी तरफ देखो! ब्राह्मणने देखा तो अब वे लगे रोने कि महाराज! हमने आपको पहचाना नहीं! हमारेसे आपकी सेवामें कितनी त्रुटि हो गयी! हम अनजान थे महाराज! हमें क्षमा करो! भगवान् प्रकट हो गये और दोनोंसे बोले कि तुम्हारे भोजनसे मैं बहुत तृप्त हुआ! अब तुम खूब अतिथि-सत्कार करो, फिर अन्तमें तुम दोनों मेरे धाममें आ जाओगे।

५४. एक शहरमें चार साधु

एक शहरमें चार साधु आये। एक साधु शहरके चौराहेमें जाकर बैठ गया, एक घण्टाघरमें जाकर बैठ गया, एक कचहरीमें जाकर बैठ गया और एक श्मशानमें जाकर बैठ गया।

चौराहेमें बैठे साधुसे लोगोंने पूछा कि बाबाजी! आप यहाँ आकर क्यों बैठे हो? क्या और कोई बढ़िया जगह नहीं मिली? साधुने कहा—'यहाँ चारों दिशाओंसे लोग आते हैं और चारों दिशाओंमें जाते हैं। किसी आदमीको रोको तो वह कहता है कि रुकनेका समय नहीं है, जरूरी कामपर जाना है। अब यह पता नहीं लगता कि जरूरी काम किस दिशामें है? सांसारिक कामोंमें भागते-भागते जीवन बीत जाता है, हाथ कुछ लगता नहीं! न तो सांसारिक काम पूरे होते हैं और न भगवान्‌का भजन ही होता है! इसलिये हमें यह जगह बैठनेके लिये बढ़िया दीखती है, जिससे सावधानी बनी रहे।'

घण्टाघरमें बैठे साधुसे लोगोंने पूछा कि बाबाजी! यहाँ क्यों बैठे हो? साधुने कहा—'घड़ीकी सुईयाँ दिनभर घूमती हैं, पर बारह बजते ही हाथ जोड़ देती हैं कि बस, हमारे पास इतना ही समय है, अधिक कहाँसे लायें? घण्टा बजता है तो वह बताता है कि तुम्हारी उम्रमेंसे एक घण्टा कम हो गया! जीवनका समय सीमित है। प्रतिक्षण आयु नष्ट हो रही है और मौत नजदीक आ रही है। अतः सावधान होकर अपना समय भगवान्‌के भजनमें और दूसरोंकी सेवामें लगाना चाहिये। इसलिये साधुके बैठनेकी यह जगह हमें बढ़िया दीखती है, जिससे सावधानी बनी रहे।'

कचहरीमें बैठे साधुसे लोगोंने पूछा कि बाबाजी! आप यहाँ क्यों बैठे हो? साधुने कहा—'यहाँ दिनभर अपराधी आते हैं और पुलिस उनको डण्डे मारती है। मनुष्य पाप तो अपनी मरजीसे करता है, पर दण्ड दूसरेकी मरजीसे भोगना पड़ता है। अगर वह पाप करे ही नहीं तो फिर दण्ड क्यों भोगना पड़े? इसलिये साधुके बैठनेकी यह जगह बढ़िया दीखती है, जिससे सावधानी बनी रहे।'

श्मशानमें बैठे साधुसे लोगोंने पूछा कि बाबाजी! आप यहाँ क्यों बैठे हो? साधुने कहा—'शहरमें कोई भी आदमी सदा नहीं रहता। सबको एक दिन यहाँ आना ही पड़ता है। यहाँ आनेके बाद फिर आदमी कहीं नहीं जाता। यहाँ आकर उसकी यात्रा समाप्त हो जाती है। कोई भी आदमी यहाँ आनेसे बच नहीं सकता। अतः जीवन रहते-रहते परम लाभकी प्राप्ति कर लेनी चाहिये, जिससे फिर संसारमें आकर दुःख न पाना पड़े। इसलिये मेरेको यह जगह बैठनेके लिये बढ़िया दीखती है, जिससे सावधानी बनी रहे।'

५५. चार आशीर्वाद

किसी जंगलमें एक शिकारी जा रहा था। रास्तेमें घोड़ेपर सवार एक राजकुमार उसको मिला। वह भी उसके साथ चल पड़ा। आगे उनको एक तपस्वी और एक साधु मिले। वे दोनों भी उनके साथ चल दिये। चारों आदमी जंगलमें जा रहे थे। आगे उनको एक कुटिया दिखायी दी। उसमें एक बूढ़े बाबाजी बैठे थे। चारों आदमी कुटियाके भीतर गये और बाबाजीको प्रणाम किया। बाबाजीने उन चारोंको चार आशीर्वाद दिये।

बाबाजीने राजकुमारसे कहा—'राजपुत्र! तुम चिरंजीव रहो।' तपस्वीसे कहा—'ऋषिपुत्र! तुम मत जीओ।' साधुसे कहा—'तुम चाहे जीओ, चाहे मरो, जैसी तुम्हारी मरजी!' शिकारीसे कहा—'तुम न जीओ, न मरो।' बाबाजी चारोंको आशीर्वाद देकर चुप हो गये।

चारों आदमियोंको बाबाजीका आशीर्वाद समझमें नहीं आया। उन्होंने प्रार्थना की कि कृपा करके अपने आशीर्वादका तात्पर्य समझायें।

बाबाजी बोले—'राजाको नरकोंमें जाना पड़ता है। मनुष्य पहले तप करता है, तपके प्रभावसे राजा बनता है और फिर मरकर नरकोंमें जाता है—'तपेश्वरी राजेश्वरी, राजेश्वरी नरकेश्वरी'! इसलिये मैंने राजकुमारको सदा जीते रहनेका आशीर्वाद दिया। जीता रहेगा तो सुख पायेगा। तपस्या करनेवाला जीता रहेगा तो तप करके शरीरको कष्ट देता रहेगा। वह मर जायगा तो तपस्याके प्रभावसे स्वर्गमें जायगा अथवा राजा बनेगा। इसलिये उसको मर जानेका आशीर्वाद दिया, जिससे वह सुख पाये। साधु जीता रहेगा तो भजन-स्मरण करेगा, दूसरोंका उपकार करेगा और मर जायगा तो भगवान्‌के धाममें जायगा। वह जीता रहे तो भी आनन्द है, मर जाय तो भी आनन्द है। इसलिये मैंने उसको आशीर्वाद दिया कि तुम जीओ, चाहे मरो, तुम्हारी मरजी। शिकारी दिनभर जीवोंको मारता है। वह जीयेगा तो जीवोंको मारेगा और मरेगा तो नरकोंमें जायगा। इसलिये मैंने कहा कि तुम न जीओ, न मरो।

राजपुत्र चिरंजीव मा जीव ऋषिपुत्रकः।
जीव वा मर वा साधु व्याध मा जीव मा मरः॥

मनुष्यको अपना जीवन ऐसा बनाना चाहिये कि जीते भी मौज रहे और मरनेपर भी मौज रहे! साधु बनना है, पर साधुका वेश धारण करनेकी जरूरत नहीं। गृहस्थमें रहते हुए भी मनुष्य साधु बन सकता है। भगवान्‌का भजन-स्मरण करे और दूसरोंकी सेवा करे तो यहाँ भी आनन्द है और वहाँ भी आनन्द है। दोनों हाथोंमें लड्डू हैं! कबीरजीने कहा है—

सब जग डरपे मरण से, मेरे मरण आनन्द।
कब मरिये कब भेटिये, पूरण परमानन्द॥

५६. आज्ञापालनकी महिमा

भगवान् श्रीकृष्णने सांदीपनि ऋषिसे विद्याध्ययन किया था। सांदीपनि उनके विद्यागुरु थे। वे सांदीपनि ऋषि जब बाल्यावस्थामें अपने गुरुके पास पढ़ते थे, तब उन्होंने गुरुकी बहुत सेवा की थी। सभी विद्यार्थियोंमें सांदीपनिकी गुरुभक्ति विशेष थी। एक बार गुरुके मनमें सांदीपनिकी परीक्षा लेनेकी आयी। एक दिन विद्यार्थी बाहर गये हुए थे। गुरुका एक बालक था, जो वहाँ खेल रहा था। जब गुरुने विद्यार्थियोंको आते हुए देखा, तब उन्होंने अपने बालककी ओर संकेत करते हुए सांदीपनिसे कहा कि इसको कुएँमें डाल दे। सांदीपनिने बालकको उठाकर कुएँमें डाल दिया! विद्यार्थियोंने देखा तो वे दौड़ते हुए आये कि अरे! इसने गुरुजीके बालकको कुएँमें डाल दिया। कुएँका जल नजदीक ही था। विद्यार्थी उसमें कूदे और बालकको उठाकर ले आये। अब विद्यार्थी सांदीपनिको मारने लगे। सांदीपनिने उनकी मार सह ली, पर यह नहीं बोले कि गुरुजीने कहा था। गुरुजीने विद्यार्थियोंको रोका कि इसको मारो मत, तुम्हारा गुरुभाई है।

एक दिनकी बात है, विद्यार्थी कहींसे आ रहे थे। उनको आते देखकर गुरुजीने सांदीपनिसे कहा कि इस छप्परको आग लगा दे। सांदीपनिने चट आग लगा दी! विद्यार्थियोंने दौड़कर आग बुझायी और सांदीपनिको मारने लगे कि गुरुजीके घरको जलाता है! सांदीपनि कुछ बोले नहीं, चुपचाप मार सहते रहे। गुरुजीने विद्यार्थियोंको रोका।

सांदीपनि बहुत विशेष बुद्धिमान् भी नहीं थे और जड़-बुद्धि भी नहीं थे, मध्यम बुद्धिके थे। परन्तु उनमें यह विशेषता थी कि गुरुजी जो आज्ञा देते थे, वे चट वह काम कर देते थे। श्रेष्ठ पुरुषोंकी सबसे बड़ी सेवा है—उनकी आज्ञाका पालन करना—***'अग्या सम न सुसाहिब सेवा'*** (मानस, अयोध्या० ३०१। २)।

आज्ञाका पालन करनेसे उनकी शक्ति हमारेमें आ जाती है। परन्तु वह शक्ति तब आती है, जब उनकी आज्ञाके अनुसार तत्काल काम कर दे। आज्ञा-पालनमें जितनी देर करेंगे, उतनी ही शक्ति कम होती जायगी। इसलिये सांदीपनि अपने गुरुकी आज्ञा (वचन)-को नीचे नहीं गिरने देते थे अर्थात् उसपर विचार किये बिना तत्काल वह काम कर देते थे— **'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया'** (रघु० १४। ४६)।

जब विद्याध्ययन समाप्त हुआ, तब विद्यार्थी अपने-अपने घर चले गये। उनमेंसे कई अच्छे पण्डित बन गये। सांदीपनि भी चले गये। पीछे एक दिन गुरु महाराज बहुत बीमार पड़ गये। उनकी बीमारीका समाचार सुनकर शिष्यलोग उनके दर्शनके लिये आये। गुरुजीके शरीर छोड़नेका समय आया तो उन्होंने अपने शिष्योंको वस्तुएँ दीं। उन्होंने किसीको पंचपात्र दे दिया, किसीको आचमनी दे दी, किसीको पवित्री दे दी, किसीको आसन दे दिया, किसीको माला दे दी, किसीको गोमुखी दे दी, आदि-आदि। शिष्योंने उन वस्तुओंको बड़े आदरसे लिया कि गुरु महाराजकी प्रसादी है! जब सांदीपनि गुरुके सामने आये तो गुरुजी चुप हो गये, फिर बोले कि बेटा! तेरेको क्या दूँ? तेरेको देनेयोग्य कोई वस्तु मेरे पास नहीं है! तेरी जो गुरुभक्ति है, उसके समान मेरे पास कुछ नहीं है! परन्तु मैं तेरेको आशीर्वाद देता हूँ कि त्रिलोकीनाथ भगवान् तेरे शिष्य बनेंगे! बादमें इन्हीं सांदीपनिके पास आकर भगवान् श्रीकृष्ण इनके शिष्य बने!

५७. विलक्षण साधना

शबरी भगवान्‌की परम भक्ता थी। पहले वह 'शबर' जातिकी एक भोली-भाली लड़की थी। शबर-जातिके लोग कुरूप होते थे। परन्तु शबरी इतनी कुरूप थी कि शबर-जातिके लोग भी उसको स्वीकार नहीं करते थे! माँ-बापको बड़ी चिन्ता होने लगी कि लड़कीका विवाह कहाँ करें! ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आखिर उनको शबर-जातिका एक लड़का मिल गया। माँ-बापने रातमें शबरीका विवाह करके उसको रातमें ही विदा कर दिया। लड़केको कह दिया कि भैया, तुम रात-रातमें ही अपनी स्त्रीको ले जाओ। लड़का उसको लेकर रवाना हो गया। आगे-आगे लड़का चल रहा था, पीछे-पीछे शबरी चल रही थी। चलते-चलते वे दण्डकवनमें आ पहुँचे। वहाँ सूर्योदय हो गया। लड़केके मनमें आया कि देखूँ तो सही, मेरी स्त्री कैसी है! उसने पीछे मुड़कर शबरीको देखा तो उसकी कुरूपता देखकर वह डरके मारे वहाँसे भाग गया कि यह तो कोई डाकण है, मेरेको खा जायगी! अब शबरी बेचारी दण्डकवनमें अकेली रह गयी। वह पीहरसे तो आ गयी और ससुरालका पता नहीं। अब वह कहाँ जाय!

दण्डकवनमें रहनेवाले ऋषि शबरीको अछूत मानकर उसका तिरस्कार करने लगे। वहाँ 'मतंग' नामके एक वृद्ध ऋषि रहते थे, उन्होंने शबरीको देखा तो उसपर दया आ गयी। उन्होंने कृपा करके उसको अपने आश्रममें शरण दे दी। दूसरे ऋषियोंने इसका बड़ा विरोध किया कि आपने अछूत जातिकी स्त्रीको अपने पास रख लिया! परन्तु मतंग ऋषिने उनकी बात मानी नहीं। उन्होंने बड़े स्नेहपूर्वक शबरीसे कहा कि बेटा! तुम डरो मत, घबराओ मत, मेरे पास रह जाओ। जैसे कोई माँ-बापके पास रहे, ऐसे शबरी खुशीसे वहाँ रहने लग गयी।

शबरीको सेवा करनेमें बड़ा आनन्द आता था। सब ऋषि-मुनि शबरीका तिरस्कार किया करते थे, इसलिये वह छिपकर, डरते-डरते उनकी सेवा किया करती थी। रातमें जब सब सो जाते, तब जिस रास्तेसे ऋषिलोग स्नानके लिये पम्पा सरोवर जाते थे, वह रास्ता बुहारकर साफ कर देती। जहाँ कंकड़ होते, वहाँ बालू बिछा देती। ऋषियोंके लिये ईंधन लाकर

रख देती। अगर कोई देख लेता तो वहाँसे भाग जाती। वह डरती थी कि अगर मेरी छाया ऋषियोंपर पड़ जायगी तो वे अशुद्ध हो जायँगे। इस प्रकार ऋषि-मुनियोंकी सेवामें उसका समय बीतता गया। आखिर एक दिन वह समय आ पहुँचा, जो सबके लिये अनिवार्य है! मतंग ऋषिका शरीर छूटनेका समय आ गया। जैसे माँ-बापके मरते समय बालक रोता है, ऐसे शबरी भी रोने लग गयी! रोनेके सिवाय वह और करे क्या! हाथकी बात थी नहीं! मतंग ऋषिने कहा कि बेटा! तुम चिन्ता मत करो। एक दिन तेरे पास भगवान् राम आयेंगे! मतंग ऋषि शरीर छोड़कर चले गये।

अब शबरी भगवान् रामके आनेकी प्रतीक्षा करने लगी। प्रतीक्षा बहुत ऊँची साधना है। इसमें भगवान्का विशेष चिन्तन होता है। भगवान्का भजन-ध्यान करते हैं तो वह इतना सजीव साधन नहीं होता, निर्जीव-सा होता है। परन्तु प्रतीक्षामें सजीव साधना होती है। रातमें किसी जानवरके चलनेसे पत्तोंकी खड़खड़ाहट भी होती तो शबरी बाहर आकर देखती कि कहीं राम तो नहीं आ गये! वह प्रतिदिन कुटियाके बाहर पुष्प बिछाती और तरह-तरहके फल लाकर रखती। फलोंमें भी चखकर बढ़िया-बढ़िया फल रामजीके लिये रखती। रामजी नहीं आते तो दूसरे दिन फिर ताजे फल लाकर रखती। उसके मनमें बड़ा उत्साह था कि रामजी आयेंगे तो उनको भोजन कराऊँगी।

प्रतीक्षा करते-करते एक दिन शबरीकी साधना पूर्ण हो गयी! मुनिके वचन सत्य हो गये! भगवान् राम शबरीकी कुटियामें पधारे—

सबरी देखि राम गृहँ आए।
मुनि के बचन समुझि जियँ भाए॥

(मानस, अरण्य० ३४। ३)

दूसरे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि प्रार्थना करते हैं कि महाराज! हमारी कुटियामें पधारो। पर भगवान् कहते हैं कि नहीं, हम तो शबरीकी कुटियामें जायँगे!

मोटा मोटा मुनिना आश्रम मुकीने,
सबरी ने घेर जाय छे रे,
वालो भगती तणे वश थाय छे रे।

जैसे शबरीके हृदयमें भगवान्से मिलनेकी उत्कण्ठा लगी है, ऐसे ही भगवान्के मनमें शबरीसे मिलनेकी उत्कण्ठा लगी है! भगवान्का स्वभाव है कि जो उनको जैसे भजता है, वे भी उसको वैसे ही भजते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)।

शबरीके आनन्दकी सीमा नहीं रही! वह भगवान्के चरणोंमें लिपट गयी। जल लाकर उसने भगवान्के चरण धोये। फिर आसन बिछाकर उनको बैठाया। फल लाकर भगवान्के सामने रखे और प्रेमपूर्वक उनको खिलाने लगी। शबरी पुराने जमानेकी लम्बी स्त्री थी। रामजी बालककी तरह छोटे थे। जैसे माँ बालकको भोजन कराये, ऐसे शबरी प्यारसे रामजीको फल खिलाने लगी और रामजी भी बड़े प्यारसे उनको खाने लगे—

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

(मानस, अरण्य० ३४)

५८. हल्ला मत करो

एक राजाको बोध (तत्त्वज्ञान) हो गया। उसने राजदरबारमें अपने मंत्रियोंसे पूछा कि किसीको कोई दुर्लभ वस्तु मिल जाय तो वह क्या करे? किसी मंत्रीने कहा कि उसको छिपाकर रखना चाहिये, किसीने कहा कि उसको सुरक्षित रखना चाहिये, किसीने कहा कि तिजोरीमें बन्द कर देना चाहिये, आदि-आदि। राजाको किसी मंत्रीके उत्तरपर सन्तोष नहीं हुआ। उसने अपने राज्यमें ढिंढोरा पिटवाया कि कोई जानता

हो तो मेरी इस बातका उत्तर दे। राज्यके अनेक व्यक्ति आये और उन्होंने अपनी-अपनी बात राजाके सामने रखी, पर राजाको सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। उसके राज्यमें एक बनिया रहता था। उसको भी बोध हो चुका था। उसने राजपुरुषोंके द्वारा राजाको कहलवाया कि किसीको कोई दुर्लभ वस्तु मिल जाय तो वह हल्ला नहीं करे, चुप रहे। राजाने यह बात सुनी तो उसको बड़ा सन्तोष हुआ कि बनिया बात ठीक कहता है! राजाने कहा कि हम खुद उससे मिलने जायँगे।

बनियेके पास समाचार पहुँचा कि अमुक समय राजा आपसे मिलनेके लिये पधार रहे हैं। नियत समयपर राजा उस बनियेके घर पहुँचा। साधारण-सा घर था। बनियेने राजाके बैठनेके लिये बोरा बिछा दिया। राजाने बनियेसे बातचीत की। फिर राजाने बनियेसे कहा कि तुम कुछ भी माँगो, मैं देनेको तैयार हूँ। बनियेने कहा—'अब आगेसे बिना बुलाये आप आना मत और मिलनेके लिये मेरेको बुलाना मत!' राजाने सोचा था कि अधिक-से-अधिक यह राज्य माँग लेगा, इससे अधिक और क्या माँगेगा। पर जब बनियेके मुखसे यह बात सुनी तो राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ। राजाने कहा कि आपकी बातका तात्पर्य मैं समझा नहीं! बनियेने कहा—'महाराज! मैंने आपको मेरेसे मिलने या मेरेको बुलानेके लिये मना किया है, पर मैं आपसे नहीं मिलूँगा—ऐसा नहीं कहा है। आपके लिये मना इसलिये किया कि लोगोंमें प्रचार हो जायगा कि इनकी राजासे जान-पहचान है। इसलिये लोग मेरेको तंग करेंगे। कोई कहेगा कि मेरा अमुक काम करवा दो, कोई कहेगा कि राजासे कहकर मेरी नौकरी लगवा दो, कोई कहेगा कि मेरी सजा माफ करवा दो, तो एक नई आफत पैदा हो जायगी! इसलिये आप न तो आयें, न मेरेको बुलायें, पर मैं जब चाहूँगा आपसे मिल लूँगा। मेरे मिलनेकी मैंने मनाही नहीं की है। वास्तवमें अब न आपको मेरेसे मिलनेकी जरूरत रही, न मेरेको आपसे मिलनेकी जरूरत रही!'

५९. जगत्‌की प्रीत

एक सन्तके पास एक व्यक्ति सत्संगके लिये आया करता था। उस व्यक्तिका विवाह हो गया तो उसका सत्संगमें आना कम हो गया। जब सन्तान हो गयी तो सत्संगमें आना बहुत कम हो गया। सन्तने उससे कहा कि तू कुछ दिनोंके लिये मेरे पास आ जा और सत्संग कर। वह बोला कि मेरी स्त्रीका मेरेसे बड़ा प्यार है, वह मेरे बिना रह नहीं सकती! मैं कैसे आऊँ? सन्त बोले कि यह तेरा वहम है, ऐसी बात है नहीं। वह व्यक्ति माना नहीं तो सन्तने कहा कि तेरेको मेरी बातपर विश्वास नहीं होता तो तू परीक्षा करके देख ले। वह व्यक्ति इसके लिये तैयार हो गया। सन्तने उसको प्राणायामके द्वारा श्वास रोकना सिखा दिया और सब बात समझा दी।

एक दिन सुबहके समय उस व्यक्तिने अपनी स्त्रीसे कहा कि आज खीर और लड्डू बनाओ। आज हम सब खीर और लड्डू खायेंगे। स्त्रीने बढ़िया खीर और लड्डू बना दिये। थोड़ी देरमें वह व्यक्ति बोला कि मेरे पेटमें पीड़ा हो रही है! स्त्रीने कहा कि आप लेट जाओ। वह पलंगपर लेट गया। थोड़ी देर लेटनेके बाद उसने प्राणायामके द्वारा अपने श्वास ऊपर चढ़ा लिये। स्त्रीने देखा कि पतिका तो शरीर शान्त हो गया! अब क्या करें! उसने विचार किया कि खीर और लड्डू बने पड़े हैं। लड्डू तो कई दिनतक रह जायँगे, पर खीर खराब हो जायगी। अगर मैं अभी रोना-चिल्लाना शुरू कर दूँगी तो पड़ोसी लोग इकट्ठे हो जायँगे। फिर खीर यों ही रह जायगी! उसने दरवाजा बन्द कर दिया और बच्चेको साथ लेकर जल्दी-जल्दी खीर खा ली। लड्डू डिब्बेमें बन्द करके

रख दिये। फिर उसने दरवाजा खोल दिया और पतिके पास बैठकर रोने लगी। रोते हुए वह बोली—

साँईं स्वर्ग पधार्‌या, कुछ मैनूँ वी आखो!

(पतिदेव स्वर्ग पधार गये, कुछ मेरेसे तो बोलो!)

इतनेमें वह व्यक्ति भी उठ बैठा और बोला—

खीर लबालब पा गयी, कुछ पिन्नी वी चक्खो!

(खीर तो लबालब पी ली, अब कुछ लड्डू भी चख लो!)

६०. सौ रुपयेकी एक बात

एक सेठ था। वह बहुत ईमानदार तथा धार्मिक प्रवृत्तिवाला था। एक दिन उसके यहाँ एक बूढ़े पण्डितजी आये। उनको देखकर सेठकी उनपर श्रद्धा हो गयी। सेठने आदरपूर्वक उनको बैठाया और प्रार्थना की कि मेरे लाभके लिये कोई बढ़िया बात बतायें। पण्डितजी बोले कि बात तो बहुत बढ़िया बताऊँगा, पर उसके दाम लगेंगे! एक बातके सौ रुपये लगेंगे! सेठने कहा कि आप बात बताओ, रुपये मैं दे दूँगा। पण्डितजी बोले—'छोटा आदमी यदि बड़ा हो जाय तो उसको बड़ा ही मानना चाहिये, छोटा नहीं मानना चाहिये।' सेठने मुनीमसे पण्डितजीको सौ रुपये देनेके लिये कहा। मुनीमने सौ रुपये दे दिये। सेठने कहा—और कोई बात बतायें। पण्डितजी बोले—'दूसरेके दोषको प्रकट नहीं करना चाहिये।' सेठके कहनेपर मुनीमने इस बातके भी सौ रुपये दे दिये। सेठ बोला—और कोई बात बतायें। पण्डितजी बोले—'जो काम नौकरसे हो जाय, उसको करनेमें अपना समय नहीं लगाना चाहिये।' मुनीमने इसके भी सौ रुपये दे दिये। सेठ बोला—'एक बात और बता दें।' पण्डितजी बोले—'जहाँ एक बार मन फट जाय, वहाँ फिर नहीं रहना चाहिये।' मुनीमने इस बातके भी सौ रुपये दे दिये। पण्डितजी चले गये। सेठने चारों बातें याद कर लीं और उनको घरमें तथा दूकानमें कई जगह लिखवा दिया।

कुछ समयके बाद सेठके व्यापारमें घाटा लगना शुरू हो गया। घाटा लगते-लगते ऐसी परिस्थिति आयी कि सेठको शहर छोड़कर दूसरी जगह जाना पड़ा। साथमें मुनीम भी था। चलते-चलते वे एक शहरके पास पहुँचे। सेठने मुनीमको शहरमें कुछ खाने-पीनेका सामान लानेके लिये भेजा। दैवयोगसे उस शहरके राजाकी मृत्यु हो गयी थी। उसकी कोई सन्तान नहीं थी। अत: लोगोंने यह फैसला किया था कि जो भी व्यक्ति शहरमें प्रवेश करेगा, उसको ही राजा बना दिया जायगा। उधर मुनीम शहरमें गया तो द्वारके भीतर प्रवेश करते ही लोग उसको हाथीपर बैठाकर धूमधामसे महलमें ले गये और राजसिंहासनपर बैठा दिया।

इधर सेठ मुनीमके लौटनेकी प्रतीक्षा कर रहा था। जब बहुत देर हो गयी, तब सेठ मुनीमका पता लगानेके लिये खुद शहरमें गया। शहरमें जानेपर सेठको पता लगा कि मुनीम तो यहाँका राजा बन गया है! सेठ महलमें जाकर उससे मिला। राजा बने हुए मुनीमने सारी कथा सेठको सुनायी। सेठको पण्डितजीकी बात याद आयी कि 'छोटा आदमी यदि बड़ा हो जाय तो उसको बड़ा ही मानना चाहिये, छोटा नहीं मानना चाहिये'। सेठने राजाको प्रणाम किया। राजाने उसको मन्त्री बनाकर अपने पास रख लिया।

राजाके घुड़सालका जो अध्यक्ष था, उसका रानीके साथ अनैतिक सम्बन्ध था। एक दिन संयोगसे सेठने रानीको उसके साथ शयन करते हुए देख लिया। दोनोंको नींद आयी हुई थी। सेठको पण्डितजीकी बात याद आयी कि 'दूसरेके दोषको प्रकट नहीं करना चाहिये'। सेठने रस्सीपर अपनी शाल डाल दी, जिससे दूसरा कोई उनको देख न सके। जब रानीकी नींद खुली, तब उसने सामने रस्सीपर शाल टँगी हुई देखी। उसने पता लगवाया कि यह शाल किसकी है।

पता लगा कि यह शाल मन्त्री (सेठ)-की है। उसके मनमें विचार आया कि यह मन्त्री राजाके सामने मेरी पोल खोल देगा; क्योंकि दोनोंमें बड़ी मित्रता है! अतः मेरेको पहले ही ऐसा काम करना चाहिये, जिससे यह खुद ही फँस जाय। रानी सेठकी शाल लेकर राजाके पास गयी और बोली कि आज रातमें आपका मन्त्री बुरी नीयतसे मेरे पास आया था। परन्तु मैंने उसकी कुचेष्टाको सफल नहीं होने दिया। मेरे चिल्लानेके डरसे वह भागने लगा तो मैंने उसकी शाल छीन ली। यह देखो उसकी शाल! राजाने देखा तो पहचान लिया कि जब वह मुनीम था, तब उसने ही यह शाल खरीदकर सेठको दी थी। रानीकी चिकनी-चुपड़ी बातोंसे राजाकी बुद्धि फिर गयी! उसने रानीकी सलाहसे सेठको खत्म करनेका विचार कर लिया!

दूसरे दिन राजाने सेठको कसाईसे मांस लानेके लिये कहा। उधर कसाईको पहले ही कह दिया कि कोई आदमी तेरे पास मांस लेनेके लिये आये तो उसको मार देना। सेठको बड़ा आश्चर्य हुआ कि मैं मांस छूतातक भी नहीं, फिर भी राजाने मेरेसे मांस लानेके लिये कह दिया! इसमें जरूर कुछ-न-कुछ हेतु है! सेठको पण्डितजीकी बात याद आयी कि 'जो काम नौकरसे हो जाय, उसको करनेमें अपना समय नहीं लगाना चाहिये'। सेठने मांस लानेके लिये अपने नौकरको भेज दिया। कसाईने नौकरको मार दिया। इधर राजाको गुप्तचरोंके द्वारा घुड़सालके अध्यक्षके साथ रानीके अनैतिक सम्बन्धका पता लग गया। राजाको बड़ा भारी पश्चात्ताप हुआ कि रानीकी बातोंमें आकर मैंने इतने ईमानदार सेठको मरवा दिया! बादमें पता लगा कि सेठ तो जीवित है! राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह एकान्तमें सेठके पास गया और अपनी भूलके लिये क्षमा माँगी। राजाने पूछा कि आपकी शाल रानीके पास कैसे आयी? सेठने कहा कि पण्डितजीकी कही हुई सौ-सौ रुपयोंवाली चार बातें तो आप जानते ही हैं, मैं उन्हींका पालन किया करता हूँ। रानी घुड़सालके अध्यक्षके पास लेटी थी और दोनोंको नींद आ गयी थी। मेरेको पण्डितजीकी कही हुई बात याद आ गयी कि दूसरेके दोषको प्रकट नहीं करना चाहिये। इसलिये मैंने उनका दोष ढकनेके लिये रस्सीपर शाल डाल दी। वही शाल रानीने उठा ली और आपके पास ले गयी। राजाने सेठसे प्रार्थना की कि अब आप पुनः अपना मन्त्री-पद सँभालें। सेठको पण्डितजीकी बात याद आ गयी कि 'जहाँ एक बार मन फट जाय, वहाँ फिर नहीं रहना चाहिये'। सेठ बोला कि अब मैं यहाँ नहीं रहूँगा, चला जाऊँगा। राजाने रुकनेके लिये बहुत प्रार्थना की, पर सेठ माना नहीं और वहाँसे चला गया।

६१. बोला तो मरा !

एक राजा था। उसकी कोई सन्तान नहीं थी। एक बार नगरमें एक अच्छे सन्त आये। राजा उनके पास गया और सन्तानके लिये प्रार्थना की। सन्तने कहा कि राजन्! तुम्हारे प्रारब्धमें सन्तान लिखी नहीं है। इस विषयमें मैं कुछ नहीं कर सकता। राजा उदास मनसे वहाँसे लौट पड़ा। रास्तेमें उन्हीं सन्तका एक शिष्य मिल गया। शिष्यने पूछ लिया कि महाराज! आप यहाँ कैसे आये? राजाने कहा कि मैं सन्तानकी कामनासे आया था, पर काम हुआ नहीं! शिष्यने कह दिया कि चिन्ता मत करो, आपकी सन्तान हो जायगी! राजा प्रसन्न होकर महलमें लौट आया। इधर गुरुजीको मालूम हुआ तो वे शिष्यपर बड़े नाराज हुए कि राजाके भाग्यमें सन्तानका योग नहीं था, तुमने सन्तान होनेकी बात क्यों कह दी? शिष्य बोला कि क्या करूँ, मुँहसे निकल गया! गुरुजीने कहा कि अपने वचनके कारण अब तुम्हें ही राजाके घर पुत्र बनकर जन्म लेना पड़ेगा।

समय पाकर राजाके घर एक पुत्रका जन्म हुआ।

पुत्र सब शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न था, पर उसमें एक दोष था कि वह मुँहसे कुछ बोलता नहीं था। राजाने अच्छे-अच्छे वैद्योंको दिखाया, पर कोई लाभ नहीं हुआ। राजाने घोषणा कर दी कि जो व्यक्ति राजकुमारसे बुलवायेगा, उसको एक लाख रुपये इनाममें दिये जायँगे। अनेक व्यक्ति आये, उन्होंने तरह-तरहके उपाय किये, पर कोई भी राजकुमारसे बुलवा नहीं सका।

समय बीतता गया। राजकुमार कुछ बड़ा हो गया। एक दिन राजाके आदमी राजकुमारको वनमें घुमाने ले गये। वहाँ एक शिकारी बैठा था और पक्षीको खोज रहा था कि कोई पक्षी दिखायी दे तो उसको मारूँ। इतनेमें एक पेड़पर बैठा पक्षी बोल पड़ा। शिकारीकी दृष्टि उस पक्षीकी तरफ गयी और उसने पक्षीको मार गिराया। यह देखते ही राजकुमारके मुँहसे निकल पड़ा—'बोला तो मरा!' यह सुनते ही राजकुमारके साथ आये आदमी बड़े हर्षित हो गये कि आज तो राजकुमार बोल गया! वे राजाके पास गये और उसको समाचार दिया कि आज वनमें राजकुमार बोल पड़ा। राजाने उनसे कहा कि मेरे सामने बुलवाओ, तब मैं मानूँगा। उन आदमियोंने बहुत प्रयत्न किया, पर राजकुमार कुछ बोला नहीं। राजाने कहा कि तुम झूठ बोलते हो, मैं तुम्हें फाँसी दूँगा। राजकुमार फिर बोल उठा—'बोला तो मरा!' राजाने बड़ा आश्चर्य किया। उसने राजकुमारसे प्रार्थना की कि साफ-साफ कहो, बात क्या है? अब राजकुमार बोला—'महाराज! मैं वही साधु हूँ, जिसने आपको सन्तान होनेका आशीर्वाद दिया था। आपके प्रारब्धमें सन्तान नहीं थी, पर मैं बोल गया, इसलिये मेरेको आपके घर जन्म लेना पड़ा! अगर मैं न बोलता तो मेरेको दोबारा जन्म न लेना पड़ता। पक्षी भी बोला तभी शिकारीके द्वारा मारा गया। इन आदमियोंने आपको मेरे बोलनेका समाचार दिया तो परिणाममें फाँसी लगने लगी। यह सब बोलनेका ही परिणाम है। इसीलिये मेरे मुँहसे निकला—'बोला तो मरा!' अब मैं भी जाता हूँ; क्योंकि मैं बोल गया! ऐसा कहकर राजकुमार मर गया।

सन्तोंने ठीक ही कहा है—

जनहरिया संसार में, बहु बोल्यां बहु दुक्ख।
चुप रहिये हरि सुमिरिये, जो जिव चाहे सुक्ख॥

६२. त्यागके आदर्श
(सच्ची घटनाएँ)

बद्रीनारायणमें एक साधुकी अँगुलीमें पीड़ा हो गयी। किसीने कहा कि यहाँ अस्पताल है, जहाँ मुफ्तमें इलाज होता है। आप वहाँ जाकर पट्टी बँधवा लें। उस साधुने उत्तर दिया कि अँगुलीकी पीड़ा तो मैं सह लूँगा, पर मैं किसीको पट्टी बाँधनेके लिये कहूँ—यह पीड़ा मेरेसे सही नहीं जाती!

× × × ×

एक साधु थे। उनसे किसीने पूछा कि 'आपके पास एक पैसा भी नहीं है, फिर आप भोजन कहाँ पाते हो?' साधुने कहा कि 'भिक्षा पा लेते हैं'। उसने फिर पूछा कि कभी भिक्षा न मिले तो? साधु बोला—'तो फिर भूखको ही पा लेते हैं!' भूखको पानेका तात्पर्य है कि आज हम भोजन नहीं करेंगे; क्योंकि भूखका ही भोजन कर लिया!

× × × ×

एक सज्जन साइकिलमें चढ़कर कहीं जा रहे थे। साइकिल सड़कके बीचमें थी। पीछेसे एक ट्रकवाला आया और ट्रक रोककर बोला कि 'अरे! बीचमें क्यों चलते हो? या इस तरफ चलो, या उस तरफ!' सज्जनको चेत हो गया कि जीवनमें भी मैं ऐसे ही

बीचमें चल रहा हूँ, अब एक तरफ हो जाना चाहिये। वे सब कुछ छोड़कर साधु बन गये!

× × × ×

एक साधु थे। वे किसीसे कुछ माँगते नहीं थे। माँगना तो दूर रहा, यदि कोई उनसे पूछता कि रोटी लोगे तो वे साफ 'ना' कह देते, भले ही वे दो-तीन दिनसे भूखे क्यों न हों! हाँ, उनके सामने कोई रोटी रख देता तो वे खा लेते थे।

× × × ×

ऋषिकेशकी बात है। एक साधु बाहर गये हुए थे। पीछेसे कोई उनकी कुटियामें ठण्डाईकी सामग्री रख गया। साधुने आकर उसे देखा तो वे कुटियाके भीतर नहीं गये, बाहर ही रहे। जबतक चींटियाँ उस सामग्रीको खा नहीं गयीं, तबतक वे साधु कुटियाके बाहर ही रहे!

× × × ×

ऋषिकेशके प्रसिद्ध सन्त श्रीस्वयंज्योतिजी महाराजकी फटी लँगोटी देखकर एक साधु सुई-धागा ले आया। महाराजजीने कहा कि सुई-धागा यहीं रख दो, मैं खुद लँगोटी सिल लूँगा। महाराजजीने अपने हाथोंसे लँगोटी सिल ली। दूसरे दिन वह साधु आया तो महाराजजीने उसको सुई-धागा लौटा दिया। वह साधु बोला कि इसकी फिर कभी भी जरूरत पड़ सकती है, इसलिये पासमें सुई-धागा रहना चाहिये। महाराजजीने कहा कि इस 'चाहिये' को मिटानेके लिये ही तो हम यहाँ जंगलमें आये हैं! इस सुई-धागेको यहाँसे ले जाओ। यह 'चाहिये' हमें नहीं चाहिये!

× × × ×

एक संन्यासी थे। एक बार मेलेमें उन्होंने अपनी स्त्रीको देखा तो पूछ बैठे कि तुम यहाँ कब आयी? स्त्रीने उत्तर दिया कि आपने संन्यास ले लिया, क्या अब भी मेरेको पहचानते हो? उत्तर सुनकर संन्यासीको इतनी लज्जा आयी कि उन्होंने अपना सिर झुका लिया। फिर उन्होंने जीवनभर सिर झुकाये रखा, कभी किसीको सिर उठाकर नहीं देखा।

× × × ×

काशीसे विद्या पढ़कर एक अच्छे विद्वान् ब्राह्मण नगरमें आये। उनका सत्संग करते-करते वहाँके राजाकी उनके साथ मित्रता हो गयी। राजाने उनको मकान बना दिया, उनका विवाह करा दिया और अन्तमें अपना आधा राज्य भी उनको दे दिया। एक दिन राजाने अपने ब्राह्मण मित्रसे कहा कि जो कुछ मेरे पास है, वह तुम्हारे पास भी है। बताओ, तुममें और मुझमें क्या फर्क है? ब्राह्मणने कहा कि कभी मौका पड़नेपर फर्क बताऊँगा। एक दिन दोनों घूमनेके लिये चार घोड़ोंकी बग्घीपर चढ़कर बाहर गये। ब्राह्मणने राजासे कहा कि तुम फर्क पूछते थे, मैं अभी जा रहा हूँ, तुम भी मेरे साथ आ जाओ! राजा देखता रह गया और वह ब्राह्मण चला गया, फिर कभी लौटकर नहीं आया। राजा फर्क समझ गया!

× × × ×

समुद्र-तटकी दीवारपर एक सज्जन बैठे थे। उन्होंने देखा कि एक जवान आदमी हाथमें धोती-लोटा लिये आया। उसने धोती-लोटा किनारेपर रख दिया और कपड़े उतारकर स्नानके लिये समुद्रमें घुस गया। इतनेमें समुद्रकी एक बड़ी लहर आयी और उसको अपने साथ ले गयी! धोती-लोटा किनारे पड़ा रह गया और वह आदमी फिर समुद्रसे बाहर नहीं आया। दीवारपर बैठे सज्जन यह सब देख रहे थे। उनको जीवनकी क्षणभंगुरताका साक्षात्कार हो गया था। वे भी दीवारसे उतरकर अज्ञात स्थानकी ओर चल दिये और भगवान्‌के भजनमें लग गये। फिर कभी लौटकर घर नहीं गये।

त्यागमें विचार कैसा? कोई मरता है तो क्या विचार करके मरता है?

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्रवचन-सार

ज्ञानके दीप जले

पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः॥
प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥
वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥
हरिः ॐ नमोऽस्तु परमात्मने नमः।
श्रीगोविन्दाय नमो नमः।
श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः।
महात्मभ्यो नमः।
सर्वेभ्यो नमो नमः।

× × × ×

हमारा सम्बन्ध ईश्वरके साथ है, संसारके साथ नहीं। जिसका सम्बन्ध हमारे साथ नहीं है, उसका त्याग करना है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२।१२)। जिसके साथ हमारा सम्बन्ध ही नहीं, उसका त्याग क्या करें? त्याग करना है—भूलका। सम्बन्ध भूलसे माना है। मैं शरीर हूँ और शरीर मेरा तथा मेरे लिये है—यह सम्बन्ध माना हुआ है, वास्तवमें है नहीं। शरीर निरन्तर हमसे अलग हो रहा है। बचपनमें जो शरीर था, वह अब नहीं है, पर मैं वही हूँ। शरीर बदल गया, पर स्वयं नहीं बदला। यह हमारा, सबका अनुभव है। इस अनुभवका आदर करो तो जीवन्मुक्त हो जाओगे।

× × × ×

जो अपना नहीं है, उसको अपना माननेसे विश्वासघात होगा, धोखा होगा! पहले बालकपनको अपना मानते थे, वह अब रहा क्या? शरीरका निरन्तर वियोग हो रहा है।

जीव भगवान्‌से विमुख हुआ है, अलग नहीं और संसारके सम्मुख हुआ है, साथ नहीं। संसारसे केवल सेवाके लिये ही सम्बन्ध माने। संसारको अपना और अपने लिये न माने। कोई भी काम अपने लिये न करके दूसरोंकी सेवा (हित)-के लिये करे। भजन-ध्यान आदि भी अपने लिये न करे।

आजकल बेटोंसे भी आशा मत रखो तो सुख पाओगे। उनकी सेवा करो, पर आशा मत रखो।

× × × ×

मैंपन हमारा स्वरूप नहीं है। 'मैं' (अहम्) अलग है, स्वरूप अलग है। 'मैं' के कारण 'हूँ' है। 'मैं' न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। 'मैं' जड़ है, 'हूँ' चेतन है। 'मैं हूँ'—यह चिज्जड़ग्रन्थि है। 'मैं' को छोड़नेसे ग्रन्थिभेद हो जाता है।

× × × ×

परमात्मा आनन्दरूप है। संसार सुख-दुःखरूप है। **दुःखके साथ जो सुख है, वह दुःखका कारण है।** सुखके भोगीको दुःख भोगना ही पड़ेगा। **सुखमात्र दुःखमें परिणत हो जाता है।** भोगी मनुष्य सुख-दुःख दोनोंको भोगता है। परन्तु योगी सुख-दुःखको नहीं भोगता। यह शरीर सुख-दुःख भोगनेके लिये नहीं है, प्रत्युत दोनोंसे ऊँचा उठकर आनन्द पानेके लिये है।

सुखदायी परिस्थिति सेवा करनेके लिये है। आपमें जो बड़प्पन है, वह दूसरोंका दिया हुआ है। **सुखको भोगना दुःखको निमन्त्रण देना है।** दुःखदायी परिस्थिति सुखकी चाहना मिटानेके लिये है।

दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेपर हमारा दुःख मिट जाता है। दूसरेके सुखसे सुखी होनेपर हम सुखी हो जाते हैं। **काम खुद करो, आराम दूसरोंको दो।**

× × × ×

मैं-तू, यह-वह चारों एक ज्ञानके अन्तर्गत हैं।

सत्ता, होनापन ज्यों-का-त्यों है। उससे यह सब प्रकाशित होता है। वह सत्ता बाहर-भीतर सब जगह परिपूर्ण है। उसमें संसारकी सृष्टि-प्रलय आदि अनेक क्रियाएँ होती हैं, पर उस सत्तामें, ज्ञानमें कोई फर्क नहीं पड़ता। वह सत्ता ही हमारा स्वरूप है। उसीको सच्चिदानन्द कहते हैं। वह स्वयं प्रकाश और सबका प्रकाशक है। वह तत्त्व सब समयमें सबको प्राप्त है। उस तत्त्वको जानने या न जाननेसे, मानने या न माननेसे उसमें कुछ फर्क नहीं पड़ता। उस तत्त्वमें कोई हलचल, आना-जाना नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया भी उसमें नहीं है। उसीके अन्तर्गत यह सब सृष्टि है। शाखाचन्द्रन्यायसे उसका लक्ष्य कराया जाता है। **उसका अनुभव करें या न करें, वह तो वैसा ही है; पर अनुभव करनेसे हम हलचलसे (आवागमनसे) रहित हो जाते हैं।** उसका अनुभव करनेमें ही मनुष्य-जीवनकी सफलता है।

× × × ×

दो बातका सबको अनुभव होता है कि शरीर बदलता है, स्वयं नहीं बदलता। बदलनेवालेमें मोह करना, उसके साथ मिलकर अपनेको भी बदलनेवाला मानना गलती है। जैसे नदी निरन्तर बहती है, पर शिला निरन्तर रहती है, ऐसे ही शरीर बदलता है, आप वही रहते हो। संसार बदलता है, परमात्मा वही रहते हैं। बदलनेवाली वस्तुएँ सेवा करनेके लिये हैं, अपने लिये नहीं। जो मिला है और बिछुड़नेवाला है, उससे सेवा करो। बदलने- वाले शरीर-संसार एक हैं, न बदलनेवाले आप (स्वयं) तथा भगवान् एक हैं। बदलनेवालेको बदलनेवालेकी सेवामें लगा दो।

× × × ×

हम जो कुछ भी व्यवहार करते हैं, उसमें 'सत्ता' और 'ज्ञान'—ये दो रहते हैं। व्यवहार (चलना, बोलना आदि) तो प्रत्यक्ष बदलता है, पर सत्ता और ज्ञानमें परिवर्तन नहीं होता। सुख, दु:ख आदिमें सत्ता और ज्ञान वैसे-के-वैसे ही रहते हैं। जन्म-मृत्युकी सत्तामें और ज्ञानमें क्या फर्क पड़ता है? सत्ता और ज्ञान एकरूप रहते हैं। सत्ता और ज्ञान ही परमात्मतत्त्व है। **सत्ता और ज्ञान ही आपका स्वरूप है।**

जो जा रहा है, उसको मत देखो। जो है, उसको देखो। नित्यप्राप्तकी प्राप्तिको देखो। नित्यनिवृत्तकी निवृत्तिको देखो। समको देखो, विषमको मत देखो—**'विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति'** (गीता १३। २७)।

× × × ×

भक्तिमार्ग श्रेष्ठ भी है और सुगम भी। परन्तु यह कठिन इसलिये हो गया कि किसीका कहना मानते नहीं! जो माता-पिताकी आज्ञा नहीं मानता, वह भगवान्‌की आज्ञा माननेकी बात कैसे समझेगा? अब मुश्किल यह हो गयी कि समझायें कैसे? सब उच्छृंखल हो रहे हैं, अब किसका उदाहरण देकर समझायें? उदाहरण समझमें आना कठिन हो गया! कोई पतिव्रता दीखती ही नहीं, फिर पतिव्रताका उदाहरण कौन समझे?

माता-पिता, पति, गुरुकी परतन्त्रतामें महान् स्वतन्त्रता है। आजकल उच्छृंखलताका नाम स्वतन्त्रता मान लिया है। गधेको यहाँ (सत्संगमें) लायें तो यहीं पेशाब कर देगा; क्योंकि वह स्वतन्त्र है कि चाहे जहाँ पेशाब करे!

जो भगवान्‌का हो गया, वह भगवत्-रूप ही हो जाता है।

× × × ×

भगवान्‌की ओरसे मनुष्यको बहुत विशेष अधिकार मिला है। इसमें भगवान्‌का पक्षपात प्रतीत होता है। भगवान्‌ने मनुष्यको दुनियामात्रके उद्धारका अधिकार दिया है। इस विषयमें दो बातें हैं—परमात्मामें तल्लीन होना और बुराईका सर्वथा त्याग करना। सबका सार परमात्मा हैं। जैसे वृक्षके मूलमें जल देनेसे पूरे वृक्षको तृप्ति पहुँचती है, ऐसे ही **परमात्मामें तल्लीन होनेसे दुनियामात्रका जितना हित होगा, उतना करनेसे नहीं।**

हमारे भीतरमें सबके हितका भाव रहे। अगर हमें

हिन्दुओंका मरना बुरा लगता है और मुसलमानोंका मरना अच्छा लगता है तो यह पहचान है कि अभी भीतरमें राग-द्वेष हैं। समता प्राप्त नहीं हुई। तत्त्वप्राप्तिकी परीक्षा है कि अन्त:करणमें समता आ जाय।

अगर बुराईसे सर्वथा छूट जायँ तो संसारमात्रकी सेवा हो जायगी। लोगोंकी दृष्टि विधिपर रहती है, त्यागपर नहीं। त्यागका जो माहात्म्य है, वह विधिका नहीं है। बुराईका त्याग करनेसे दुनियामात्रका हित होता है। जो किसीको भी बुरा नहीं मानता, किसीका भी बुरा नहीं चाहता और बुरा नहीं करता, वह सबकी सेवा करता है। किसीका बुरा होनेसे अथवा किसीकी मृत्युसे राजी नहीं होना चाहिये।

बलिवैश्वदेव करनेसे त्रिलोकीको भोजन देनेका माहात्म्य होता है। सूर्यको जल देनेसे त्रिलोकीको जल देनेका माहात्म्य होता है। प्रात:स्नानके बाद ताँबेके लोटेमें जल डालकर उसमें लाल पुष्प या कुंकुम डाल दे और '**श्रीसूर्याय नम:**' अथवा '**एहि सूर्य सहस्त्रांशो तेजोराशे जगत्पते। अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्यं दिवाकर॥**' कहते हुए सूर्यको (तीन अंजलि) जल दे।

× × × ×

मानवजीवन बहुत कीमती है। यह मोतियाबिन्दके आपरेशनके औजारकी तरह है, जिससे काठ नहीं चीरा जाता। मनुष्यका कर्तव्य है—सबकी सेवा करना। जो दूसरोंको कष्ट देते हैं, हिंसा करते हैं, मांस-सेवन करते हैं, वे राक्षस हैं, मनुष्य नहीं। किसीकी बुराई न करे, किसीको बुरा न समझे और किसीका बुरा न सोचे। **जो बुराई करता है, देखता है, सोचता है, वह खुद बुरा हो ही जायगा।**

× × × ×

शरीर बदलता है, पर मैं (स्वयं) नहीं बदलता—यह सबका अनुभव है। बदलनेको जाननेवाला बदलनेवाला नहीं होता। हम जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिको, बाल्यावस्था आदि अवस्थाओंको, प्रलयको तथा सृष्टिको जानते हैं। ब्रह्माजीकी आयुको जानते हैं। जाननेवाला अलग होता है और जाननेमें आनेवाला अलग होता है। जाननेवाला सत् है, जाननेमें आनेवाला असत् है। सत् है, असत् नहीं है—यह तत्त्व है।

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

जो आता है और चला जाता है, उसमें चिन्ता किस बातकी? रात-दिनकी तरह सुख-दु:ख आते-जाते हैं। बालक जन्मता है तो सब बातोंमें सन्देह रहता है, पर मरनेमें कोई सन्देह नहीं। जो नि:सन्देह बात है, उसे जान लो तो दु:ख नहीं होगा। सच्ची बातको जान ले तो किस बातका दु:ख है? संयोगका वियोग जरूर होगा। वियोग मुख्य है, संयोग मुख्य नहीं है।

× × × ×

मनुष्यशरीर सत्संगके लिये मिला है। यहाँ जैसे सत्संग करनेके लिये आये हैं, ऐसे ही मनुष्यजन्ममें सत्का संग करनेके लिये आये हैं, रहनेके लिये नहीं। शरीर प्रतिक्षण मर रहा है। हम जी रहे हैं—यह वहम है।

जैसे विवाह हुआ तो हो ही गया, उसमें सोचना नहीं पड़ता, ऐसे ही भगवान्‌के हो गये तो हो ही गये। आप जहाँ हैं, वहाँ रहते हुए ही यह निश्चय कर लो कि हम भगवान्‌के हो गये। भगवान्‌ने किसी भी जीवका त्याग नहीं किया। गलती हमसे ही हुई है। हम ही भगवान्‌से विमुख हुए हैं।

सेवा करनेके लिये हम सबके हैं, पर लेनेके लिये हम किसीके भी नहीं हैं। लेनेके लिये कोई हमारा नहीं है। सेवा करना और लेना कुछ नहीं—यही संसारके साथ सम्बन्ध रखो।

× × × ×

ज्ञानके बिना प्रेम आसक्ति है। प्रेमके बिना ज्ञान शून्य है। **प्रेमके बिना ज्ञान बिना मल्लाहकी नौका है।**

दूसरेके सुखके लिये प्रेम होता है, अपने सुखके लिये 'काम' होता है। माँका प्रेम भी मोहपूर्वक,

स्वार्थपूर्वक होता है। बिना स्वार्थके दूसरेका हित करना है।

स्त्री परपुरुषका और पुरुष परस्त्रीका स्पर्श न करे तो उनके तेज, शक्तिकी वृद्धि होगी। घरमें माँके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करे तथा अन्य स्त्रियोंको दूरसे प्रणाम करे। स्त्री पतिके चरण-स्पर्श करे, पर अन्य पुरुषोंको दूरसे प्रणाम करे।

× × × ×

एक निश्चयवाली बुद्धि होनी चाहिये। हरेक बातमें दृढ़ रहनेका स्वभाव बना लें। जैसा करनेका विचार कर लें, वैसा ही करनेकी आदत बना लें। विचार बदलते रहनेसे स्वभाव वैसा ही बन जाता है। **सांसारिक व्यवहारमें जैसी आदत होगी, वही आदत पारमार्थिक मार्गमें भी काम करेगी।**

खाना-पीना आदि सब क्रियाएँ निर्वाहबुद्धिसे करें, स्वाद-शौकीनीसे नहीं।

× × × ×

अपने बलसे निराश हो जाय, पर भगवत्प्राप्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये। भगवत्प्राप्ति भावके अधीन है, बलके अधीन नहीं। ***'हौं हार्‌यौ करि जतन बिबिध बिधि'***—अपने यत्नसे हार गये, पर तत्त्वप्राप्तिसे नहीं—***'जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥'*** (मानस, बाल० ८१।३)। हमें तत्त्वको प्राप्त करना ही है, चाहे प्राण चले जायँ। इस प्रकार अपने लक्ष्यपर अटल रहना साधकके लिये बहुत लाभदायक है। भोग और संग्रहमें आसक्ति होनेके कारण अटल निश्चय नहीं होता। साधकके मनमें न भोगोंकी गरज (कामना, आसक्ति, राग) हो, न संग्रहकी गरज हो।

मनके लगनेकी अपेक्षा बुद्धिका लगना श्रेष्ठ है। एक निश्चय होना ही बुद्धिका लगना है। मन लगनेसे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। **मनको लगाना कठिन है, पर बुद्धिको लगाना सुगम भी है और श्रेष्ठ भी।** मैं अमुकका शिष्य हो गया, मैं अमुक पतिकी हो गयी—यह बुद्धिका लगना है। दृढ़ विचार खुदको ही करना पड़ेगा।

कल्याण तब होगा, जब आपकी खुदकी लगन हो। **परमात्मा सब जगह मौजूद है, ग्राहक चाहिये। खम्भे कई हैं, पर प्रह्लाद चाहिये।** भोजन तो दूसरा दे देगा, पर भूख खुदकी चाहिये। सत्संग करते-करते भूख भी लग जायगी।

चाहना हमारी होनी चाहिये। बच्चेकी चाहना हो तो माँके स्तनोंमें दूध आ जाता है। हमारा विचार दृढ़ होगा तो सभी हमारे सहायक हो जायँगे।

× × × ×

हमारा विवेक हरदम जाग्रत् रहना चाहिये। नाशवान् तथा अविनाशीके विभागको भी जानना है, और कर्तव्य-अकर्तव्यके विभागको भी जानना है। अनुकूलता-प्रतिकूलता कल्याणके लिये आती है, सुख-दुःख भोगनेके लिये नहीं।

जैसे आप अपना दुःख दूर करनेके लिये पैसे खर्च करते हैं, ऐसे ही दूसरेका दुःख दूर करनेके लिये भी खर्च करें, तभी आपको पैसे रखनेका हक है।

× × × ×

अपनेको शुद्ध (अच्छा) बनाना चाहिये। अपनेको शुद्ध बनायें तो लोक-परलोक सब ठीक हो जायँगे। **'मामकाः'** और **'पाण्डवाः'—यह भेद ही नाश करनेवाला है।** अन्तमें विजय उसकी होती है, जो धर्मका ठीक पालन करता है। **धर्मका बल ही बल है।** न्याययुक्त मनुष्यके भीतर जो बल रहता है, वह अन्यायीके भीतर नहीं रहता।

× × × ×

जीवन्मुक्ति अभी हो सकती है; क्योंकि वह है। आदर और निरादर—दोनोंके समय आप वही रहते हो, तो फिर आपमें क्या फर्क पड़ा? हरा और पीला दोनों अलग-अलग हैं, पर उनको देखनेवाली आँखमें क्या फर्क पड़ा? राजी और नाराजीके समय आप एक हुए कि दो हुए? जब जाननेमें फर्क नहीं पड़ा तो फिर जाननेवालेमें क्या फर्क पड़ा? **मेरी बातकी**

तरफ ध्यान दो तो आप सब-के-सब अभी तत्काल जीवन्मुक्त हो सकते हो।

× × × ×

आजकल गुरु और शिष्य दोनोंका ही मिलना दुर्लभ है। **आजकल गुरुभक्ति तो है नहीं, गुरु बनाना केवल तमाशा है।**

संसारसे लाभ लेना चाहो तो यह नाशवान् है और सेवा करना चाहो तो यह **'वासुदेवः सर्वम्'** है। संसारसे सुख लेना चाहो तो यह दुःखालय है।

मैं यहाँ (गीताभवन, स्वर्गाश्रममें) संवत् १९८९ से आता हूँ, पर अभीतक मैंने नीलकण्ठ नहीं देखा; क्योंकि मैं वहाँ गया ही नहीं! ऐसे ही आप कहते हो कि इतने वर्ष सत्संग करते हो गये, लाभ नहीं दीखता तो आपने माना ही नहीं, फिर दीखे कैसे? जिससे पतन हो जाय, वह न भी दीखे, फिर भी आप उसे मान लेते हो, पर जिससे उद्धार हो जाय, उसे मानते ही नहीं! समझमें न आये तो भी मान लो कि सब कुछ परमात्मा ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'।** आपकी समझ ठीक है कि गीताकी? मनसे सबको परमात्माका स्वरूप देखो। शरीरसे सबका आदर करो। कम-से-कम किसीका अहित मत करो, किसीको दुःख मत दो। किसीका बुरा नहीं करोगे तो दुनियामात्रकी सेवा हो जायगी। **किसीकी मौतपर राजी होना उसको मारनेमें सहमत होना है।** किसीको दुःख न दें और किसीके दुःखमें राजी न हों।

× × × ×

संसारका वियोग ही सत्य है। संयोगका वियोग तो अवश्यम्भावी है, पर वियोगका संयोग अवश्यम्भावी नहीं है। परमात्माके साथ एकता 'योग' है। यह योग नित्य है। संसारका वियोग नित्य है। संसारका ज्ञान संसारके वियोगसे होगा और परमात्माका ज्ञान परमात्माके योगसे होगा। कारण कि संसार अलग है, परमात्मा अलग नहीं हैं।

जीना अनित्य है, मरना नित्य है। **जिसका वियोग अवश्यम्भावी है, उसकी सेवा करो। जिसका संयोग अवश्यम्भावी है, उससे प्रेम करो।** जो अवश्यम्भावी है, उसे पहलेसे ही स्वीकार कर लेना चाहिये।

× × × ×

हमारा जीवन ऐसा होना चाहिये कि किसीको भी हमारे द्वारा तकलीफ न हो। ऐसा हो जाय तो दुनियाका भला हो गया! किसीका बुरा न करना सबसे बड़ी सेवा है।

संसारका संयोग अनित्य और असत् है, पर संसारका वियोग नित्य और सत् है। परमात्माके साथ सबका नित्ययोग है। संसारके साथ सबका नित्यवियोग है। यह स्वीकार कर लो। जो आपको छोड़ रहा है, उसको छोड़ दो और जो कभी नहीं छोड़ता, उसको पकड़ लो, **जो हमारा नहीं है, उसकी सेवा कर दो। जो हमारा है, उसको अपना मान लो।**

× × × ×

निषेधात्मक साधन बहुत ऊँचा है। करनेकी अपेक्षा न करना श्रेष्ठ है। कारण कि संसारका नित्यवियोग है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि ऊँचे साधन नहीं हैं; ये विध्यात्मक साधन हैं। विध्यात्मक साधनमें प्रकृतिका सम्बन्ध रहेगा ही। संसारसे नित्यवियोग स्वीकार करते ही योगकी प्राप्ति हो जायगी। निषेधात्मक साधनमें स्वतः सिद्धि होती है। परमात्मामें विधि नहीं है, प्रत्युत सब चीजोंका निषेध है। **विहित कार्य सब नहीं कर सकते, पर निषिद्धका त्याग सब कर सकते हैं।** विहितको देखें तो सातों वारोंके व्रत कौन रख सकेगा?

× × × ×

आने-जानेवाली चीजोंसे समताका नाश नहीं होता। समता ज्यों-की-त्यों रहती है।

सुखी-दुःखी होनेमें मूर्खता कारण है, प्रारब्ध कारण नहीं है। बालकको कितनी ही अनुकूलता दे दो, फिर भी वह रो देगा; क्योंकि मूर्खता है। ऐसे ही जो रोते हैं, वे बालक हैं।

जो कर्म कामनाको लेकर किये जायँ, वे सब

अशुभ कर्म हैं। उनसे जन्म-मरण नहीं मिटेगा; ब्रह्मलोकतक जाकर भी पीछे लौटना पड़ेगा। कामनासे बन्धन है, निष्कामतासे मुक्ति है।

किसी भी योगसे चलो, निर्मम और निरहंकार होना ही पड़ेगा। शरीर आदिका त्याग 'त्याग' नहीं है, प्रत्युत मैं-मेरेका त्याग ही 'त्याग' है।

कर्तृत्वाभिमान और कामना न हो तो सब कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं अर्थात् कर्म जली हुई मूँजकी रस्सीकी तरह हो जाते हैं, बन्धनकारक नहीं होते। कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छा—इन दोसे कर्म बन्धनकारक होते हैं। फलेच्छा नहीं रहे तो कर्तृत्वाभिमान भी नहीं रहेगा। कर्मयोगमें फलेच्छाका और ज्ञानयोगमें कर्तृत्वाभिमानका त्याग मुख्य है। दोनोंमें एकका त्याग होनेपर दोनोंका त्याग हो जायगा। मेरा और दूसरोंका, अभी और परिणाममें सबका हित हो, वही कार्य करना चाहिये।

कामनाको मिटानेके लिये ऐसा विचार करना चाहिये कि कामनाकी पूर्ति होनेपर मिला क्या? जहाँ थे, वहीं लौटकर आ गये, फायदा क्या हुआ? सौ रुपयेकी कामना पूरी हो गयी तो हजार रुपयोंकी कामना हो गयी, फायदा क्या हुआ?

साधु, गृहस्थ, राजा, निर्धन आदि सभीके लिये वैराग्य बड़े कामकी चीज है। राग मूर्खताकी पहचान है—**'रागो लिङ्गमबोधस्य'।**

× × × ×

नाशवान्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है और जो इसको जाननेवाला है, उसका अभाव विद्यमान नहीं है। दोनोंका तत्त्व है—भावरूपसे रहनेवाला चेतन। जो है ही नहीं, उसको क्या जानना? शरीरके नाशसे अपना नाश मानना गलती है। शरीरका वियोग ही सत्य है और नित्य है। **अपनेको जानेवालेके साथ मानना बन्धन है और नित्य रहनेवालेके साथ मानना मुक्ति है।** शरीर और संसार अनित्य-विभागमें हैं। आत्मा और परमात्मा नित्य-विभागमें हैं।

× × × ×

संसारकी चीजोंपर तो हमारा थोड़ा-थोड़ा अधिकार है, पर भगवान्‌पर जीवमात्रका पूरा अधिकार है। माँकी गोदीमें जानेका सब बालकोंका पूरा अधिकार है।

संसारके साथ सम्बन्ध रखना है केवल सेवाके लिये। **सेवा करो और पिण्ड छुड़ाओ!** सेवा सबकी कर दो, पर लेनेकी आशा किसीसे भी मत रखो। भगवान्‌से भी लेनेकी आशा मत रखो। संसारकी आशा रखनेवाला कभी सुखी नहीं होता। एक सन्त बीमार हुए तो जिनसे सेवाकी आशा थी, उनमेंसे किसीने भी उनकी सेवा नहीं की। एक अपरिचित व्यक्तिने उनकी सेवा की और जब सन्त स्वस्थ हो गये तो उसने ब्राह्मणभोजन भी किया!

ठाकुरजीके प्रसादमें मीठा भी होता है और करेला भी होता है। दोनों ही प्रसाद हैं। ऐसे ही कड़वा-मीठा (सुख-दुःख) जो आये, सब भगवान्‌का प्रसाद है। **जो हम बुद्धिमें नहीं ला सकते, वह काम भी भगवान् कर देते हैं, फिर हम चिन्ता क्यों करें?**

जो जिस परिस्थितिका तिरस्कार करता है, उसको वह परिस्थिति पुनः मिलती नहीं। अतः जो मिले, उसका सदुपयोग करो।

ठीक-बेठीक हमारी दृष्टिमें होता है। भगवान्‌की दृष्टिमें सब ठीक-ही-ठीक होता है।

भगवान्‌ने कृपा करके हमें दुनियाभरमें सबसे बढ़िया जगह (इस सत्संगमें) पहुँचा दिया! नहीं तो ऐसी जगहकी हम खुद खोज नहीं कर सकते। विचार करें, हम कहाँ जन्मे, कहाँ पढ़े, कहाँ रहे और कहाँ पहुँच गये!

× × × ×

सुखी-दुःखी स्वयं ही होता है। **स्वयं सुखी-दुःखी नहीं होता—यह बात तो सुनी हुई और सीखी हुई है, पर हम स्वयं सुखी-दुःखी होते हैं—यह हमारा अनुभव है।**

दुःख मैं-मेरेपनसे होता है। जबतक मैं-मेरेकी मान्यता है, तबतक कितना ही सीख लो, दुःख नहीं

मिटेगा। जिस मकानको हम अपना मानते हैं, उसमें कोई कोयलेकी लकीर भी खींच दे तो दुःख होता है। उसी मकानको जब हम बेच देते हैं, तब उसके टूटनेका भी हमें दुःख नहीं होता। अतः जिनमें हमारा अपनापन नहीं है, उनसे हम मुक्त ही हैं। इस दृष्टिसे अधिक मुक्ति तो हो गयी है, थोड़ी-सी बाकी है! संसारमें कई मकान नष्ट होते हैं, कई मनुष्य मरते हैं, पर उनका हमारेपर असर नहीं पड़ता। जिसमें हमारा मैं-मेरापन होता है, उसीका असर पड़ता है।

जहाँ ममता नहीं होती, वहाँ व्यवहार बढ़िया होता है। जहाँ ममता होती है, वहाँ इलाज भी बढ़िया नहीं होता! डॉक्टरके घरमें कोई बीमार होता है तो वह दूसरे डॉक्टरको बुलाता है। **घरवालोंकी सेवा करनेका पुण्य नहीं होता; क्योंकि पुण्यको ममता खा जाती है।** अगर आप शरीरको मैं-मेरा नहीं मानो तो शरीरको अन्न देनेका भी पुण्य होगा। **मेरापन ही आपके पुण्यका, धर्मका नाश करनेवाला है।**

संसारसे सम्बन्ध जोड़ो तो दुःखोंका पार ही नहीं है, और भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ो तो सुखोंका पार ही नहीं है।

सेवा करनेके लिये दुनिया हमारी है और लेनेके लिये कोई हमारा नहीं है।

× × × ×

शरीर-संसार निरन्तर बदलते हैं, परमात्मा कभी नहीं बदलते। परमात्माकी प्राप्ति चाहनामात्रसे होती है। उसकी प्राप्तिमें संसारकी चाहना ही बाधक है। मनुष्य भोगोंमें कितना ही रच-पच जाय तो भी परमात्माकी चाहना मिटती नहीं, प्रत्युत दब जाती है; क्योंकि वह सत्य है।

× × × ×

जैसे आप हरेक बातमें यह सोचते हैं कि अधिक लाभ कैसे लें, ऐसे ही **मानवशरीर, सत्संग, गीता, संत-महात्मा आदि जो मिले, उससे अधिक लाभ कैसे लें—ऐसा विचार करें।** सत्संगमें जो-जो सुगम बातें दीखें, उन्हें चुन लो और अपने जीवनमें उतारो। फिर कठिन बातें भी सुगम हो जायँगी और परिणाममें परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। जो सन्त मिले हैं, उनसे पूरा लाभ ले लो तो आगे और मिल जायँगे। जो मिला है, उससे अधिक-से-अधिक लाभ उठा लो। मोटरके प्रकाशसे जितना मार्ग दीखता है, उतना तय कर लो तो आगे बढ़ जाओगे और ठीक लक्ष्यतक पहुँच जाओगे।

परमात्मप्राप्तिके लिये सामग्रीकी कमी नहीं है, केवल उसकी चाहना होनी चाहिये। पारमार्थिक मार्गमें भगवान् कमी रखते ही नहीं। बछड़ा तो एक थनसे दूध पीता है, पर भगवान् चारों थनोंसे दूध देते हैं! बालककी चिन्ता माँ करती है, बालक नहीं। भगवान् सदासे हमारी माँ हैं। ***'रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥'*** (मानस, बाल० २९।३)—ऐसा आदर करनेवाला संसारमें कोई नहीं है! ***'उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥'*** (मानस, किष्किन्धा० १२।१)।

× × × ×

परमात्माकी दो प्रकृतियाँ हैं—क्षर (जड़) और अक्षर (चेतन)। **क्षरकी साधना कर्मयोग है, अक्षरकी साधना ज्ञानयोग है और पुरुषोत्तम (परमात्मा)-की साधना भक्तियोग है।** कर्मयोग तथा ज्ञानयोग संसारसे असंग करते हैं और भक्तियोग भगवान्‌से अभिन्न करता है।

× × × ×

दोषदृष्टिसे रहित होना साधकके लिये बहुत आवश्यक है। श्रद्धा भी हो और दोषदृष्टि भी न हो—'**श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तः**' (गीता ३।३१), '**श्रद्धावाननसूयश्च**' (गीता १८।७१)। दोषदृष्टि होनेसे श्रद्धा कमजोर होती है। प्रेम भी नहीं होता। अगर कहीं दोष दीखे तो वहाँ अपनी कमी समझनी चाहिये। हमें अपनी कमी देखनेका अधिकार है।

अगर किसीमें ज्यादा दोष दीख ही जायँ तो उसका संग मत करो। जैसा संग, वैसा रंग! **ईश्वर,**

धर्म और परलोकको न माननेवाले नास्तिकका संग सबसे अधिक पतनकारक है। ऐसे ही मदिरा सबसे अधिक पतन करनेवाली है। वह मनुष्यके अन्तःकरणमें स्थित धार्मिक भावोंके परमाणुओंको, अंकुरोंको नष्ट कर देती है। **परस्त्रीगमन भी आस्तिकभावको नष्ट कर देता है।**

दूसरा आदमी खराब हो अथवा नहीं, पर 'वह खराब है'—यह वृत्ति तो खराब हो ही गयी! **दोषदृष्टि करनेसे मुफ्तमें पाप हो जाता है।** निन्दा करनेसे मुफ्तमें पाप लगता है। **सत्संगसे मुफ्तमें उद्धार होता है और कुसंगसे मुफ्तमें पतन होता है।** जैसे, पत्थर गंगाजीके प्रवाहमें पड़े-पड़े स्वतः गोल एवं सुन्दर हो जाते हैं।

सब भगवान्‌के हैं। जो ठीक नहीं हैं, वे भगवान्‌के लाड़ले बेटे हैं, जो लाड़से बिगड़ गये! **सत्संग करनेवाले भी ऐसी गलती करते हैं, कितनी बुरी बात है—यह न देखकर ऐसा देखो कि गलती करनेवाले भी सत्संग करते हैं, कितनी अच्छी बात है!**

× × × ×

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

—यह भाव हमारे भीतर हर समय रहे तो बड़े लाभकी बात है। जैसे हनुमान्‌जीके लिये कहा है—***'राम काज करिबे को आतुर'***, ऐसे ही हम सबके हितके लिये आतुर हो जायँ। सबके हितका स्वभाव बन जाय। ऐसी सावधानी रखें कि हमारे द्वारा किसीको दुःख न पहुँचे। सबका कल्याण हो, सब जीवन्मुक्त बनें—यह भाव बनानेकी आवश्यकता सभी साधकोंको है। **अपनेको ऊँचा बनानेका भाव राक्षसी, आसुरी भाव है। दूसरोंको ऊँचा बनानेका भाव दैवी भाव है।** सबका हित चाहनेवाले साधकका भगवान् और सन्त-महात्माओंसे तार मिल जाता है।

तत्त्व करणसे अतीत है। उसकी प्राप्ति करणसे नहीं होती। परन्तु मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको लगानेकी बात ही पढ़ाईमें ज्यादा आती है, स्वयंको लगानेकी बात नहीं। वास्तवमें स्वयंको ही लगाना है।

× × × ×

ज्ञान अटल है। ज्ञानके अन्तर्गत उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होते हैं, पर ज्ञानमें कोई फर्क नहीं पड़ता। वह ज्यों-का-त्यों रहता है। **अन्तःकरण शुद्ध हो या अशुद्ध, ज्ञानमें कोई बाधा नहीं लगती।** अन्तःकरण प्रकृतिका कार्य है, तत्त्व प्रकृतिसे अतीत है। **अन्तः-करण शुद्ध होनेसे क्रिया शुद्ध होगी, तत्त्वज्ञान कैसे हो जायगा?** ज्ञान अपार, असीम है। प्रकृति भी उसके आगे छोटी-सी है।

× × × ×

परमात्मा सर्वोपरि हैं। उनको जानने-पानेके बाद फिर कुछ भी करना-जानना-पाना बाकी नहीं रहता। उस तत्त्वकी प्राप्तिके सब अधिकारी हैं, कोई अनधिकारी, अयोग्य, निर्बल, असमर्थ नहीं है। कोई जानना चाहे तो उसके समान सुगम कोई वस्तु नहीं। परन्तु जानना चाहते ही नहीं—यह बड़े आश्चर्यकी बात है! उसकी प्राप्तिके लिये केवल चाहनाकी जरूरत है, योग्यताकी जरूरत नहीं। **वह सर्वोपरि है, इसलिये उसकी चाहना भी सर्वोपरि होनी चाहिये।**

निर्जीवकी अपेक्षा सजीव मुख्य है। उनमें भी स्थावरकी अपेक्षा जंगम मुख्य है। जंगममें गाय मुख्य है। उससे भी मनुष्य मुख्य है। मनुष्यमें विवेक मुख्य है। महिमा मनुष्यशरीरकी नहीं है, प्रत्युत विवेककी है। विवेकसे भी श्रेष्ठ सत्-तत्त्व है। विवेक अनादि है, कर्मोंका फल नहीं है। विवेक भगवान्‌ने दिया है। **विवेक देना ही भगवान्‌की विलक्षण कृपा है।** विवेककी अपेक्षा भी विवेकका सदुपयोग मुख्य है। विवेकका सदुपयोग किया जाय तो सब परिस्थिति कल्याणकारक हो जायगी। वह विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जायगा। जिससे अभी और परिणाममें, हमारा और दूसरोंका हित हो, वह काम करना विवेकका सदुपयोग है।

× × × ×

व्यवहार बिगड़ा है, परमार्थ नहीं बिगड़ा है।

जिसका स्वभाव सुधरा हुआ है, उसकी दुर्गति नहीं हो सकती। जिसका स्वभाव दयालु है, उसे भगवान् सिंह, सर्प आदि कैसे बनायेंगे? अपने स्वभावका सुधार करनेमें सब स्वतन्त्र और समर्थ हैं। स्वभाव त्यागसे शुद्ध होता है, भोग भोगनेसे नहीं। देवतालोग भोग भोगते हैं; अत: वहाँ स्वभाव-सुधार नहीं हो सकता। यह मनुष्यशरीरमें ही हो सकता है।

कामनासे भविष्यमें बन्धन होता है, भोग भोगनेसे वर्तमानमें बन्धन होता है।

हमारा और सब काम हो चुका है, केवल एक निश्चयकी कमी है कि अब हमें एक भगवान्‌को ही प्राप्त करना है। जो यहाँ आये हैं, वे सबसे अधिक पापी (**'पापकृत्तमः'** गीता ४।३६, **'सुदुराचारः'** गीता ९।३०) तो हैं नहीं, केवल एक निश्चयकी कमी है—**'सम्यग्व्यवसितो हि सः'** (गीता ९।३०)।

× × × ×

संसारके सब पदार्थ मेढककी तरह फुदकनेवाले हैं, टिकनेवाले नहीं हैं। रहनेवालेको आप लेते नहीं, न रहनेवालेको लेते हो तो शान्ति कैसे मिलेगी? परमात्मा नित्यप्राप्त हैं, उनके लिये परिश्रम कैसा? भीतरमें संसार भरा है, केवल उसीको निकालना है।

शास्त्रोंके अध्ययनसे जिज्ञासुको लाभ होता है, नहीं तो अभिमान आ जाता है। अभिमान पतन करनेवाला होता है।

नाशवान्‌से सुख मत चाहो तो अन्त:करण शुद्ध हो जायगा। **मल-विक्षेप-आवरण आदिकी बातें केवल सीखनेके लिये हैं, और यह लम्बा रास्ता है।**

× × × ×

अनुभवी पुरुषोंसे सुननेपर सहजावस्था तत्काल प्राप्त हो जाती है। शास्त्र-चिन्तनसे देरी लगती है; क्योंकि उसमें केवल हमारी बुद्धि काम करती है।

जो साधन हमें निर्विवाद और सुगम लगे, उसमें तत्परतापूर्वक लग जाना चाहिये।

सगुण-निर्गुण हमारी मान्यता है। परमात्मा सगुण-निर्गुणसे विलक्षण हैं। यदि हमने परमात्माको सगुण अथवा निर्गुण ही जान लिया तो फिर परमात्माकी प्राप्ति हो गयी! अब उपासना करनेकी क्या जरूरत? गजेन्द्रने कहा—**'यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्'** (श्रीमद्भा० ८।२।३३)। इसलिये **सबसे सीधा-सरल मार्ग यह है कि 'परमात्मा है और वह हमारा है'—ऐसा मान लो।** भगवान् भावग्राही हैं। वे हमारे भावको जानते ही हैं, हम चाहे उनको न जानें।

जैसे बालक माँ-माँ पुकारता है तो सभी माताएँ दौड़कर नहीं आतीं, प्रत्युत वह जिस माँका होकर पुकारता है, वही माँ दौड़कर आती है। ऐसे ही आप भगवान्‌के होकर भगवान्‌को पुकारो तो—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥

(दोहावली २२)

जो भगवान्‌के परायण हो जाते हैं, भगवान् उनके परायण हो जाते हैं! **हम संसारके लिये रोते हैं, तभी दुःखी रहते हैं। यदि हम भगवान्‌के लिये रोयें तो दुःखी नहीं रहेंगे।** भगवान् सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ और सर्वसुहृद् हैं, फिर देरी किस बातकी?

अर्जुन कहता है कि युद्ध करनेसे पाप लगेगा, पर भगवान् कहते हैं कि युद्ध न करनेसे पाप लगेगा! इसका तात्पर्य है कि **पाप राग-द्वेषमें भरे हैं, क्रियामें नहीं।**

× × × ×

साधककी प्राय: यह शिकायत रहती है कि हमारी वृत्ति एक समान नहीं रहती, क्या करें? वास्तवमें वृत्ति किसीकी भी एक समान नहीं रहती, ज्ञानीकी भी नहीं—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

(गीता १४।२२)

'हे पाण्डव! प्रकाश और प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो इनकी इच्छा नहीं करता।'

साधकका काम है—वृत्तिसे अपनेको अलग अनुभव करना। वह अपने स्वरूपकी तरफ खयाल रखे कि स्वरूप तो वही रहा। वह यह सावधानी रखे कि 'मैं साधक हूँ'। वह वृत्तियोंमें बहे नहीं—'**तयोर्न वशमागच्छेत्**' (गीता ३।३४)। वह राग-द्वेषको सामने रखकर कोई कार्य न करे।

भोगोंका राग मिटानेके लिये भोग भोगना है। उद्देश्य सुखके त्यागका हो, सुख लेनेका नहीं।

अपने सिद्धान्तमें प्रेम होना चाहिये, राग नहीं। जैसे, कोई सत्संगमें न जाने दे तो 'प्रेम' होनेपर रोना आयेगा और 'राग' होनेपर क्रोध आयेगा।

साधकका काम है—अपने मतका अनुसरण करना तथा दूसरेके मतका आदर करना।

× × × ×

सबसे पहले यह भाव होना चाहिये कि 'मैं साधक हूँ'। अतः साधनविरुद्ध काम मेरेको नहीं करना है। **'मैं साधक हूँ'—इसमें 'हूँ'-भागकी मुख्यता और 'मैं'-भागकी गौणता है।** 'मैं संसारी हूँ'—इसमें 'मैं'-भागकी मुख्यता और 'हूँ'-भागकी गौणता है।

कर्मयोगी 'सेवा' के द्वारा (परहितके लिये) त्याग करता है, जो सुगम पड़ता है। ज्ञानयोगी 'विचार' के द्वारा त्याग करता है, जो कठिन पड़ता है।

वैराग्यवान् मनुष्यको सुख-सुविधामें आराम नहीं मिलता। उसको स्वाभाविक ही बढ़िया चीज अच्छी नहीं लगती। ज्ञानयोगमें तेजीका वैराग्य होनेसे ही सिद्धि होती है। **तेजीका वैराग्य न हो तो सीखना हो जाता है, अनुभव नहीं होता।**

वृत्तियोंकी तरफ ध्यान न देकर वृत्तिवालेकी तरफ ध्यान देना चाहिये।

× × × ×

अनुकूलता-प्रतिकूलतासे राजी-नाराज होना गलती है। **अनुकूलता-प्रतिकूलता विचलित करनेके लिये नहीं आती, प्रत्युत अचल बनानेके लिये आती है।** अनुकूलता-प्रतिकूलतासे विचलित होते हैं—यहाँ पाप है। गीताका उपदेश समताका है। युद्ध-जैसी परिस्थितिमें भी समता रखना गीताका योग है। **जो राजी-नाराज होता है, वह साधु नहीं, स्वादु है!**

× × × ×

मैं साधक हूँ और मेरेको परमात्माकी तरफ चलना है—यह भाव साधकमें स्थायी होता है। साधन और असाधन, अच्छाई और बुराई तो सबमें रहती है, पर साधक वही होता है, जिसमें असाधन नहीं रहता। **जड़की तरफ जितना आकर्षण है, उतना ही असाधन है।** जितना असाधन है, उतनी ही साधनमें कमी है।

हमें योगी होना है, भोगी नहीं होना है। **जो भोग और आराममें लगे हैं, वे सत्संगी नहीं हैं।**

काम-क्रोधादि विकार पहलेकी अपेक्षा कम आयें, देरीसे आयें और थोड़ी देर ठहरें—यह अगर न हो तो समझो कि असली सत्संग नहीं मिला है।

कुसंगसे भीतरके दुर्भाव विकसित होते हैं और सत्संगसे भीतरके सद्भाव विकसित होते हैं।

× × × ×

लोग कहते हैं कि चाहना मिटती नहीं, पर वास्तवमें चाहना टिकती ही नहीं! चाहनाकी पूर्ति चाहनाके अधीन (आश्रित) नहीं है। **कुछ भी इच्छा न करें तो निर्वाहका प्रबन्ध परमात्माकी तरफसे है।** चिता मुरदेको जलाती है, चिन्ता जीवितको जलाती है। सब दुःख इच्छाके कारण हैं। इच्छा निकाल दो तो दुःख मिट जायगा। जैसे, घड़ीकी इच्छा हुई। घड़ी मिल गयी तो सुख हुआ। यह सुख घड़ीके मिलनेका नहीं है, प्रत्युत भीतरसे घड़ीके निकलनेका है। इच्छापूर्ति होनेपर हम पुनः उसी अवस्थामें आ गये, जिसमें पहले (इच्छा उत्पन्न होनेसे पूर्व) थे। इच्छा करनेसे केवल आफत ही मिली, नया कुछ नहीं मिला।

बच्चा कोई चाहना नहीं करता तो उसके लिये माँ चाहना करती है। **ऐसे ही भक्त कोई चाहना नहीं करता तो उसके लिये भगवान् चाहना**

करते हैं—

गिरह गाँठ नहिं बाँधते, जब देवे तब खाहिं।
गोबिन्द तिनके पाछे फिरें, मत भूखे रह जाहिं॥

हमारे लेनेकी इच्छासे उतना नहीं मिलेगा, जितना देनेवाले-की इच्छासे मिलेगा। देनेवालेकी इच्छा होती है न लेनेकी इच्छासे। पैसा रखनेसे निर्वाह नहीं होता। निर्वाह करनेकी शक्ति अलग है, उससे स्वत: निर्वाह होता है। **अपने-आप जो वस्तु प्राप्त होती है, वह विलक्षण तथा आवश्यक होती है। कुछ भी इच्छा न करें तो जीवन-निर्वाह बढ़िया होता है; जो मिलता है, पथ्य ही मिलता है, कुपथ्य मिलता ही नहीं!**

× × × ×

संसारमें जो स्थायीपना दीखता है, वह परमात्माका है। जो प्रतिक्षण बदलता है, वह स्थायी कैसे हो सकता है? संसारमें परमात्माकी ही सत्ता, आभा झलकती है। जिसको परिवर्तनका ज्ञान है, उसमें परिवर्तन नहीं है। अपरिवर्तनशीलमें स्थिति होनेसे ही परिवर्तनका ज्ञान होता है। वास्तवमें आपकी स्थिति अपरिवर्तनशीलमें है।

काम-क्रोधादिका वेग आ जाय तो '**आगमापायिनोऽनित्याः**' (गीता २।१४)-का जप शुरू कर दो, वह वेग टिकेगा नहीं।

समझदार वही है, जो सच्ची बातको पहलेसे स्वीकार कर ले।

× × × ×

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, तारे-नक्षत्र, वृक्ष, लता, जलचर-नभचर-थलचर, नदियाँ, समुद्र आदि सभी भगवान्‌के स्वरूप हैं। एक भगवान्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं। सब विराट्‌रूप भगवान्‌के ही रूप हैं। जिधर दृष्टि पड़े, वहाँ भगवान्‌को देखो। यह बहुत बढ़िया साधन है।

× × × ×

व्यवसायात्मिका बुद्धिकी बड़ी महिमा है। मनके लगनेसे भी श्रेष्ठ है बुद्धिका लगना। एक निश्चय करना ही बुद्धिका लगना है। पतिव्रताका मन नहीं लगता, प्रत्युत बुद्धि लगती है—***'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं'।*** व्यवसायात्मिका बुद्धिमें बड़ी ताकत है। पतिव्रताके बलका सामना करनेकी ताकत रावणमें भी नहीं थी!

सुदुराचारी मनुष्य अभी साधु बना नहीं है, पर भगवान्‌ने शाटीसूत्रन्यायसे उसे साधु माननेके लिये कह दिया; क्योंकि उसकी बुद्धि व्यवसायात्मिका हो गयी—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९।३०)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्य भक्त होकर मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।'

जो साधन किया जाता है, उसका आदि-अन्त होता है। जो साधन होता है, उसका आदि-अन्त नहीं होता।

× × × ×

सत्-चित्-आनन्दकी चाहना सबमें है। इसलिये सब चाहते हैं कि हम सदा रहें, कभी अनजान न रहें और सदा सुखी रहें। इससे सिद्ध होता है कि यह चाहना पूरी होनेवाली है, मिटनेवाली नहीं है। सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिसे पूर्णता नहीं होती। हमारेमें कमीका अनुभव होता है तो इससे सिद्ध होता है कि कोई पूर्ण चीज है। वह पूर्ण चीज परमात्मा है। उसको प्राप्त करनेपर कुछ करना, जानना तथा पाना बाकी नहीं रहता। हम भोग चाहते हैं तो उसकी जातिकी कोई चीज (जड़) हमारेमें है। हम मोक्ष चाहते हैं तो उसकी जातिकी कोई चीज (चेतन) हमारेमें है। हमारेमें दो चीजें हैं—जड़ और चेतन। इसको तादात्म्य अथवा चिज्जड़ग्रन्थि कहते हैं। अनित्यका आकर्षण ही नित्यकी प्राप्तिमें बाधक है।

× × × ×

यदि आप वैराग्य चाहते हो तो वैराग्यवान्‌का संग करो। **जिस गुणको आप अपनेमें लाना चाहते हैं, उस गुणवालेका संग करो।** यह बहुत बढ़िया उपाय है।

एकदेशीयपना, मैंपना जितना दृढ़ होगा, उतना ही पतन होगा।

भगवान्‌की कृपाकी पहचान है सत्संग मिलना— *'जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये।'* (विनय० १३६।१०)। सूर्य बाहरका अन्धकार दूर करता है, सत्संग भीतरका।

भक्तोंका अपराध करना 'भागवत-अपराध' कहलाता है। **भागवत-अपराध भगवान् भी क्षमा नहीं करते।** भक्तोंका अपराध करनेवालोंकी बड़ी दुर्दशा होती है।

× × × ×

अभी भगवत्प्राप्तिका बड़ा सुन्दर, दुर्लभ मौका मिला हुआ है! केवल एक बात याद रखो कि जो सामने आये, उसमें भगवद्भाव करके उसे नमस्कार करो। उससे अच्छे-से-अच्छा बर्ताव करो। बाहरसे सबको दण्डवत् करनेमें शर्म लगती हो तो मन-ही-मन प्रणाम करो। भगवान् हृदयकी बात जानते हैं।

कपटसे बड़ी हानि होती है। कपट अधिक समयतक छिप नहीं सकता। सीधा-सरल स्वभाव रखो। छिपाव करनेसे फजीती होगी। कपट कृत्रिम है, सरलता स्वतःसिद्ध है। **छिपानेसे पाप और पुण्य दोनों अधिक फल देनेवाले हो जाते हैं।**

× × × ×

सुषुप्तिमें अहम् अविद्यामें लीन हो जाता है, पर अपना होनापन रहता है—यह विशेष ध्यान देनेकी बात है। सुषुप्तिमें जैसा सुख होता है, वैसा सुख भोग और संग्रहसे नहीं होता। अतः भोग और संग्रहके बिना कैसे जीयेंगे—यह धारणा गलत है। सुषुप्तिमें आप हैं, पर पासमें कुछ नहीं है, फिर भी सुखपूर्वक हैं। अतः ममता-कामनाके बिना हम सुखसे रह सकते हैं। इस अनुभवका हम आदर करेंगे तो हम पराधीन नहीं रहेंगे, स्वाधीन हो जायँगे।

विचार करें, जिसमें हम ममता-कामना करते हैं, उसपर हमारा वश चलता है क्या? उसे सदा साथमें रख सकते हैं क्या? ममता-कामना रखनेवाला मनुष्य सुखपूर्वक नहीं रह सकता। परन्तु ममता-कामनाके बिना हम सुखपूर्वक रह सकते हैं। **ममता-कामनारहित सन्त खुद भी सुखी रहते हैं और दूसरोंको भी सुखी करते हैं।**

मेरा कुछ नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिये—यह हमारा (ममता-कामनारहित) स्वरूप है। सुषुप्तिका सुख तो परतन्त्रतापूर्वक होता है, पर जाग्रत्‌में हम ममता-कामनाका त्याग कर दें तो हमें स्वतन्त्रतापूर्वक तथा निरन्तर रहनेवाला सुख मिल जायगा।

मैंपन, ममता और कामना—ये तीनों दुःखके कारण हैं। इनसे रहित हो जाना 'ब्राह्मी स्थिति' है—**'एषा ब्राह्मी स्थितिः'** (गीता २।७२)।

× × × ×

धन, मान-बड़ाई, जमीन-मकान आदि हमारे क्या काम आयेंगे?

अरब खरब लौं द्रव्य है, उदय अस्त लौं राज।
तुलसी जो निज मरन है, तो आवहि किहि काज॥

अपनी चीज है, जिसपर अपना अधिकार चले। मिली हुई चीज भी अपनी नहीं है, फिर और मिलनेकी इच्छा क्यों करें? जो मिलेगी, वह अपने पास कैसे रह जायगी? संयोग अनित्य है, वियोग नित्य है। कम-से-कम अनित्यकी इच्छा छोड़ दें। **सच्ची बातको स्वीकार करना मनुष्यका धर्म है।**

× × × ×

गीताने कामनाके त्यागपर विशेष जोर दिया है। ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये—यह कामना है। शान्ति स्वतःसिद्ध है। अशान्ति कामनासे ही होती है। सन्तलोग कामना नहीं करते तो उनका निर्वाह दुनिया करती है। कामनाकी पूर्ति करना हाथकी बात नहीं है, पर कामनाका त्याग करना हाथकी बात है। कामनाके त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२।१२)।

करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहो।

× × × ×

सब कुछ परमात्माका स्वरूप है। बीजसे सब पैदा होते हैं, पर कोई भी वैज्ञानिक बीजको नहीं बना सकता। जो बीज बोया जाता है, उसीसे वृक्ष होकर अनेक बीज पैदा होते हैं। परमात्मा संसारमात्रके अव्यय और सनातन बीज हैं। जैसे हवाई जहाज, ट्रेन आदि तो दीखते हैं, पर उनके भीतर बैठे हुए आदमी नहीं दीखते, ऐसे ही सबके भीतर परमात्मा हैं। ***'प्रभुमय जग लखि नयन सफल कर'!*** समझदार मनुष्य सबमें भगवान्‌को ही देखते हैं। आप सब रूपोंमें परमात्माको देखने लग जाओ तो फिर वैसा ही अनुभव होने लग जायगा। 'है'-जैसा दीखने लग जाय—इसका नाम है 'ज्ञान'। परमात्मस्वरूप संसारकी सेवा करो, उससे सुख मत चाहो।

× × × ×

मुक्तिके सब साधनोंमें भक्ति सर्वश्रेष्ठ है—**'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी'** (विवेक० ३२)। भक्ति नाम भजनका है। भजन है—प्रेम। ***'पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन। यह बिचारि मुनि पुनि पुनि करत राम गुन गान॥'*** (मानस, अरण्य० १० में पाठभेद)। इसका तात्पर्य है कि भगवान्‌का गुणगान करनेसे प्रेम होता है।

नवधा भक्तिके तीन भाग हैं। श्रवण, कीर्तन और स्मरण—ये अपनेको भगवान्‌से दूर समझनेसे हैं। पादपूजन, अर्चन और वन्दन—ये भगवान्‌को नजदीक समझनेसे हैं। दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—ये सबसे अधिक भगवान्‌के नजदीक हैं।

भगवान् भक्तोंकी कथामें भी खिंच जाते हैं और अपनी कथामें भी खिंच जाते हैं!

× × × ×

जो हम मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे जानते हैं, वह मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका विषय है। परमात्मा मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका विषय नहीं है। परमात्माको स्वयंसे ही जाना जा सकता है। कारण कि स्वयं परमात्माका अंश है। स्वयंसे जानना हो तो पहले स्वयंको जानो कि स्वयं क्या है? अपने होनेपनका अनुभव सबको है। जैसे अपना होनापन है, ऐसे ही परमात्माका होनापन है। परमात्माके होनेपनके अन्तर्गत यह सब संसार है। शरीर तथा संसार एक हैं। 'हूँ' तथा 'है' एक हैं। अपनी सत्तासे ही समष्टि सत्ताको जाना जा सकता है।

जैसे सज्जन पुरुष दुष्टोंके साथ भी सज्जनता करता है, ऐसे ही सत् असत्‌को भी सत्ता देता है—***'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥'*** (मानस, बाल० ११७।४)। तात्पर्य है कि **सत् असत्‌का विरोधी नहीं है, प्रत्युत उसका प्रकाशक है। सत्‌की जिज्ञासा ही असत्‌की विरोधी है।** सत्‌की जिज्ञासा असत्‌को निवृत्त कर देती है।

× × × ×

परिवर्तनका नाम ही जन्म और मृत्यु है। **परिवर्तनके प्रवाहको ही साधारण लोग जीवन कहते हैं।** गर्भमें आते ही मरना शुरू हो जाता है। असत् अभावरूप है। **संसारमें अवगुण है ही नहीं, गुणोंकी कमी ही अवगुण-रूपसे दीखती है।** अवगुणकी सत्ता है ही नहीं। नित्यनिवृत्तकी ही निवृत्ति होती है। केवल उधर दृष्टि करनी है।

ज्ञान अज्ञानका नाशक नहीं है, प्रत्युत जिज्ञासापूर्वक जो ज्ञान है, वही अज्ञानका नाशक है। गायके शरीरमें रहनेवाले घीकी तरह ज्ञान तो सबमें रहता ही है। **गुरु उसी ज्ञानको जाग्रत् करता है, कोई नया ज्ञान नहीं देता। जिज्ञासाके बिना आपमें रहनेवाला ज्ञान आपके काम नहीं आता।**

× × × ×

सुख चाहनेवालेको कभी शान्ति नहीं मिलती। ***'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'*** (मानस, उत्तर० ३८।१)। दूसरेके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी होना—यह संसारमें रहनेका तरीका है। दुःख आनेपर सुखकी इच्छाका त्याग करो और सुख आनेपर सेवा करो। संसारका अंश संसारके अर्पित कर दो और

परमात्माका अंश परमात्माके अर्पित कर दो।

एक सन्त कहते थे कि **जितनी बढ़िया चीजें हैं, वे भगवान्ने अपने प्यारे भक्तोंके लिये ही बनायी हैं, पर बीचमें धनी, भोगी लोग उनको लूट लेते हैं, इसीलिये दुःख पाते हैं!**

× × × ×

जैसे स्त्रियाँ पतिके लिये 'वह' भी कहती हैं और 'यह' भी कहती हैं, ऐसे ही परमात्माको 'वह' (**तत्**) भी कहा जाता है और 'यह' (**अस्य**) भी कहा जाता है—'**अविनाशि तु तद्विद्धि**...... **विनाशमव्ययस्यास्य**' (गीता २। १७)। उस परमात्मामें सबकी स्थिति स्वत:सिद्ध है। निरन्तर बहते हुए संसारमें जो है-पना दीखता है, वह परमात्माका ही है। प्रकृतिके कार्यसे प्रकृति ही दीखती है।

× × × ×

चुप वहाँ होते हैं, जहाँ हल्ला हो। स्वरूपमें हल्ला है ही नहीं, फिर चुप क्या हों? चुप स्वत:सिद्ध है। **मन-बुद्धिका हल्ला हो रहा है, इसलिये स्वरूपका पता नहीं चलता।**

पहले सिद्धान्तसे यह बात मान लेनी चाहिये कि तत्त्व निष्क्रिय है। सुषुप्तिमें भी क्रिया है, समाधिकी निष्क्रियतामें भी क्रिया है, पर स्वरूपमें (सहजावस्थामें) क्रिया नहीं है। क्रिया आरम्भ और समाप्त होनेवाली होती है—यह नियम है। तत्त्व न उत्पन्न होता है, न नष्ट।

मेरा मन लग जाय—यह भाव होनेसे मन नहीं लगेगा; क्योंकि मन 'मेरा' होनेसे वह ठीक नहीं होगा। जैसे कुत्तेका मन मेरा नहीं है, ऐसे ही यह मन भी मेरा नहीं है।

× × × ×

स्वयं परमात्माका अंश है और शरीर संसारका। शरीरकी संसारके साथ एकता है। अत: शरीरको संसारका मानकर उसकी सेवामें लगा दो। **शरीरको लेकर आप कभी सुखी नहीं हो सकते।** शरीरके द्वारा दूसरोंको सुख दो, दूसरोंको मान-आदर दो। आप परमात्माके हो, संसारके हो ही नहीं। आपके पास जितनी सामग्री है, सब संसारके लिये है। सब संसार मिलकर भी असत् है। आप सत् हैं। असत्से सत्को क्या सहायता मिलेगी?

× × × ×

परमात्मप्राप्तिमें देरीकी धारणा आपने कर ली—यह महान् बाधक है। **तत्काल प्राप्त होनेवाला ज्ञान ही 'ज्ञान' है।** ज्ञानप्राप्तिके सब अधिकारी हैं। ज्ञान सबकी अपनी चीज है। अपनी चीजको प्राप्त करनेमें कौन अनधिकारी है? 'मैं हूँ'—इस अपने होनेपनमें किसीको सन्देह नहीं है। मैं नहीं हूँ अथवा मैं हूँ या नहीं—ये दोनों ही बातें नहीं हैं। यह अपने होनेपनका ज्ञान कभी लुप्त नहीं होता। यह अलुप्त ज्ञान है। महाप्रलयमें भी यह लुप्त नहीं होता—'**भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**' (गीता ८। १९)। **होनेपनके ज्ञानका नाम ही 'ज्ञान' है।** गलती यह होती है कि होनेपनके साथमें मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदिको मिला लेते हो। जो नहीं बदलता, वह मेरा स्वरूप है; जो बदलता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है—इतनी ही बात है! मैं पिता हूँ, माता हूँ, सास हूँ, ननद हूँ आदि ऊपरके चोले हैं, भीतरमें एक 'है' है!

× × × ×

जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ तर्क नहीं होता। श्वेतकेतुको केवल आज्ञापालनसे तत्त्वज्ञान हो गया—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २५)

'दूसरे मनुष्य इस प्रकार (ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग आदि साधनोंको) नहीं जानते, पर दूसरोंसे (जीवन्मुक्त महापुरुषोंसे) सुनकर ही उपासना करते हैं, ऐसे वे सुननेके अनुसार आचरण करनेवाले मनुष्य भी मृत्युको तर जाते हैं।'

जैसे कोई धनी आदमीका कहना करे तो उसे धन मिलेगा, ऐसे ही **तत्त्वज्ञानीका कहना करे तो तत्त्वज्ञान मिलेगा।** गुरु ज्ञानी न भी हो तो भी उनकी

आज्ञासे ज्ञान हो जायगा। जैसे, पतिके आज्ञापालनसे मन्दोदरीको वह ज्ञान हो गया, जो रावणको नहीं था। वास्तवमें वह पतिकी आज्ञाका पालन नहीं, प्रत्युत भगवान्‌की, शास्त्रकी आज्ञाका पालन है। तात्पर्य यह हुआ कि **साधककी निष्ठा ही कल्याण करनेवाली है।**

× × × ×

हमारे सभी व्याख्यान आधे श्लोकके अन्तर्गत हैं—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता २। १६)। वस्तुएँ पैदा होती और नष्ट होती हैं, पर परमात्मतत्त्व निरन्तर रहता है। हमारी दृष्टि हर समय उस 'है' पर ही रहनी चाहिये। शरीरादिको 'है' मानना बहुत बड़ी भूल है।

परमात्मा इन्द्रियाँ-अन्तःकरणसे सर्वथा अतीत होते हुए भी इन्द्रियों-अन्तःकरणके समक्ष प्रकट हो सकते हैं। वे सर्वसमर्थ हैं। हम परमात्माको पकड़ तो नहीं सकते, पर उनको स्वीकार कर सकते हैं।

जो सबका अपना है, वह परमात्मा है।

× × × ×

अपने हृदयसे किसीको बुरा न समझें, किसीका बुरा न चाहें और किसीका बुरा न करें। यह नियम ले लें तो आपकी सब बुराई मिट जायगी और बड़ा भारी लाभ होगा। सबके भीतर (जीवात्मा) ईश्वरका अंश है। **ईश्वरका अंश बुरा नहीं हो सकता। ऊपरके चोले शरीरमें अहंता-ममता करनेसे बुराई आती है।** बुराई पैदा और नष्ट होनेवाली है, आगन्तुक है। भलाई स्वतः है, स्वाभाविक है। सर्वथा बुरा कोई हो सकता ही नहीं। किसीमें सर्वथा सद्‌गुण-सदाचार तो हो सकते हैं, पर सर्वथा दुर्गुण-दुराचार नहीं हो सकते। मनुष्य सर्वथा सत्यवादी तो हो सकता है, पर सर्वथा मिथ्यावादी नहीं हो सकता।

नाशवान्‌की इच्छा ही पाप करवाती है। अविनाशीकी इच्छा पाप नहीं करवाती।

करनेसे पूरी भलाई नहीं होती। बुराई छोड़नेपर भलाई स्वतः होती है।

प्रारब्ध चिन्ता मिटानेके लिये है। प्रारब्धके भरोसे निकम्मा रहे—यह सिद्धान्त बिलकुल नहीं है।

न प्रकृति अशुद्ध है, न पुरुष अशुद्ध है। अशुद्धि सम्बन्ध जोड़नेसे, ममतासे आती है।

× × × ×

मनुष्यमें तीन शक्तियाँ हैं—करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। करनेकी शक्ति दूसरोंकी सेवामें लगानी चाहिये। जाननेकी शक्ति स्वरूपमें लगानी चाहिये। माननेकी शक्ति भगवान्‌में लगानी चाहिये। जानना चाहें तो स्वरूपका बोध बहुत सुगम है। सबका अनुभव है कि 'मैं हूँ'। 'मैं' प्रकृति है और 'हूँ' परमात्माका अंश है। 'मैं' एकदेशीय है। 'मैं' स्वरूप नहीं है। 'मैं' के कारण ही 'हूँ' है, अन्यथा 'है' ही है। **'हूँ' को 'है' के अर्पण कर दो—यह ज्ञानमें भक्ति है।**

× × × ×

भगवत्कृपा सबपर समान रूपसे बरस रही है, केवल उनके सम्मुख होनेकी जरूरत है। ***'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥'*** (मानस, सुन्दर० ४४। १)। **सम्मुख होना क्या है? भोग और संग्रहका उद्देश्य न होना ही सम्मुख होना है।**

निर्गुण (गुणरहित) कहो या सगुण (गुणसहित) कहो, तत्त्व तो एक ही है। श्रीस्वयंज्योतिजी महाराज कहते थे कि केवल निर्गुणको माननेवाले राक्षस होते हैं! इतिहासको देखें तो राक्षसलोग निर्गुणको तो मानते थे, पर सगुणके बैरी होते थे।

× × × ×

संसार प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। उसमें खिंचावका नाम ही बन्धन है। जैसे व्यापारी वस्तु खरीदे या बेचे, उसकी दृष्टि रुपयोंपर ही रहती है, ऐसे ही साधककी दृष्टि अविनाशी तत्त्वपर ही रहनी चाहिये। जो 'है' को देखते हैं, वे साधक होते हैं। जो 'नहीं' को देखते हैं, वे संसारी होते हैं। **सत्संगका प्रयोजन है—'नहीं' की तरफसे दृष्टि हटाकर 'है'**

की तरफ ले जाना।

संसारके सम्बन्धसे होनेवाला आनन्द दुःख पैदा करता है। नाशवान्‌में प्रियता करनेवालेको रोना पड़ेगा।

× × × ×

अपनेमें अपवित्रता (अशुद्धि) है—कामना और अभिमान।

'**यत्तदग्रे विषमिव**' (गीता १८। ३७)—सात्त्विक सुखके आरम्भमें जो दुःख होता है, वह राजस-तामस सुखके त्यागका दुःख है। जैसे—बीड़ी-सिगरेट आदि छुड़ाई जाय अथवा नींदसे जगाया जाय तो दुःख होता है।

दुर्गुण-दुराचार, व्यसन आदि दुष्ट व्यक्तिके समान हैं, जो जबर्दस्ती पकड़ते हैं। परन्तु सद्‌गुण-सदाचार सज्जन व्यक्तिके समान हैं, इसलिये वे जबर्दस्ती नहीं पकड़ते, छूट जाते हैं। जब सत्संगमें रस, आनन्द आने लग जाता है, तब सत्संग छूटता नहीं।

नामजप और सत्संग—दोनोंमें मैं सत्संगको अच्छा मानता हूँ। जप, कीर्तन, भजन-ध्यान, योगाभ्यास करना कमाकर धनी बनना है और सत्संग करना धनीकी गोद जाना है। **सत्संगमें बैठनेवाला स्वाभाविक शुद्ध हो जाता है;** जैसे—गंगाजीमें पड़ा हुआ पत्थर स्वाभाविक गोल, सुन्दर हो जाता है।

× × × ×

जिसमें राग-द्वेष हैं, उसने अभीतक 'वासुदेवः सर्वम्' को जाना ही नहीं।

भक्तोंका '**राम-राम**' है, योगियोंका '**सोऽहम्**' है और ज्ञानियोंका '**ॐ**' है।

साधकका जीवन ऐसा होना चाहिये कि उसे देखनेसे सब प्रसन्न हो जायँ। जैसे, भगवान्‌को देखनेसे सभी प्रसन्न हो जाते हैं।

सेठजीने कहा था कि मेरी बात आकाशमें रहेगी, आगे जो जिज्ञासु होगा, उसे मिल जायगी। बुरी बात भी स्थायी रहती है; परन्तु उसकी अधिक आयु नहीं होती। वह नाशवान् होती है। सच्ची बात सदा रहती है।

'हूँ'—यह सत्ता है। सत्ता परमात्माका स्वरूप है। गलती यह हुई कि 'मैं' को पकड़ लिया। 'मैं' को न पकड़ें तो 'हूँ' 'है' ही है। **'मैं' को मुख्य मानकर 'है' से विमुख होना ही प्रमाद है। प्रमाद ही मृत्यु है।** 'मैं' ने ही जगत्‌को धारण कर रखा है। हमारे साथ 'मैं' का सम्बन्ध नहीं है, तभी 'मैं' छूटता है। सुषुप्तिमें 'मैं' का भास नहीं होता—यह सबके अनुभवकी बात है।

जो दुनियाका गुरु बनता है, वह दुनियाका गुलाम हो जाता है। जो अपना गुरु बनता है, वह दुनियाका गुरु हो जाता है।

× × × ×

संसारके साथ सम्बन्धकी मान्यता है। वह मान्यता मिटते ही बोध हो जाता है। **बोध होनेपर 'मैं अज्ञानी था, अब ज्ञान हो गया'—ऐसा होता ही नहीं।** जैसा था, वैसा हो गया—इसका नाम स्मृति है। **परमात्मा बीज है, संसार खेती है। 'वासुदेवः सर्वम्'** दीखने लग जाय तो स्मृति हो गयी। पहले भी परमात्मा थे, पीछे भी परमात्मा रहेंगे, फिर बीचमें दूसरी चीज कहाँसे आ गयी? जाननेवालेके लिये सब परमात्मा हैं, न जाननेवालेके लिये संसार है। **गीताका शुद्ध ज्ञान 'वासुदेवः सर्वम्'** है।

× × × ×

प्रेमका रस ज्ञानके रससे बहुत विलक्षण है। ज्ञानका रस स्थिर, शान्त है, पर प्रेमका रस प्रतिक्षण वर्धमान है। भक्तिकी बड़ी विचित्र महिमा है! **भक्तिसे ज्ञान और वैराग्य बिना इच्छाके जबर्दस्ती आ जाते हैं।**

प्रेमकी प्राप्ति करनी हो तो सबसे प्रेम करो—'सर्वभूतहिते रताः' (गीता ५। २५, १२। ४)। **जबतक अपने मनकी बात पूरी करना चाहते हैं, तबतक न सगुणमें प्रेम होगा, न निर्गुणमें। किसीके साथ भी द्वेष होगा तो भगवान्‌में प्रेम नहीं होगा।**

कोई भी व्यक्ति हो, उसमें भगवान् हैं—ऐसा मानकर प्रणाम करो। **सबको नमस्कार करनेसे सब विकार नष्ट हो जायँगे।** घरमें सुबह-शाम सबको नमस्कार करो। इससे परस्पर प्रेम हो जायगा। दूसरी बात, सबका आदर करो। सबके प्रति सद्भाव रखो। सबकी सहायता करो। **सबके साथ किया हुआ प्रेम भगवान्‌की ओर जाता है—'आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्। सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति॥'**

× × × ×

अपने सुखका जितना त्याग किया जाय, उतने ही कर्मयोग और भक्तियोग तेज होते हैं। **जितना अपने सुखका भाव छोड़े, उतना ऊँचा दर्जा होता है। अपने सुखका त्याग करना ही वास्तवमें कल्याण करनेवाला है,** चाहे कर्ममार्ग हो, ज्ञानमार्ग हो या भक्तिमार्ग हो। अपने सुखका सर्वथा त्याग होनेपर ही 'योग' होगा। योगके बिना मुक्ति नहीं होती।

× × × ×

जड़ चीजोंको लेकर 'ममता' होती है और स्वयंको लेकर 'आत्मीयता' होती है। ज्ञानमार्गमें अभेद होता है और प्रेममार्गमें अभिन्नता होती है। प्रेमका अद्वैत बड़ा विलक्षण होता है। प्रेमका आनन्द प्रतिक्षण वर्धमान होता है। प्रेमके आनन्दमें उबाल आता है, हलचल होती है, जिसमें विशेष मिठास होती है। प्रेमके आँसू शीतल होते हैं और नासिकाके पास नेत्रकोणसे फुहारेकी तरह तेजीसे निकलते हैं।

प्रेममें स्वयंकी स्वीकृति होती है। '**वासुदेवः सर्वम्**'—यह ज्ञानसे होता है, पर यह ज्ञान भी भक्तिसे होता है। गोपिकाओंके प्रेममें ज्ञान भी है—'**न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।**' (श्रीमद्भा० १०।३१।४)। जैसे लाल रंगका चश्मा लगानेपर सब लाल-ही-लाल दीखता है, ऐसे ही गोपिकाओंको नेत्रोंसे सब जगह कृष्ण-ही-कृष्ण दीखते थे। कारण कि गोपिकाओंके नेत्रोंकी कनीनिकामें कृष्णकी मूर्त्ति छप गयी थी।

बोधाद्वैतमें एकता होती है, प्रेमाद्वैतमें अभिन्नता होती है।

× × × ×

अभी परमात्मप्राप्तिका बहुत बढ़िया मौका है! इसलिये जल्दी-से-जल्दी परमात्मप्राप्ति कर लेनी चाहिये। आगे कैसा भयंकर समय आयेगा—इसका पता नहीं। अभी तत्परतासे भगवान्‌में लग जाओ।

दो चीज खास हैं—भगवान्‌को याद करना और सेवा करना। दिनमें कई बार ठहरकर विचार करो कि क्या कर रहे हैं? क्या करना चाहिये?

× × × ×

संसारमें अपना कोई नहीं है। अपने भगवान् हैं। संसारमें मेरापन महान् पतन करनेवाला है।

जिनमें त्यागका अभिमान है, वे त्यागी नहीं हैं, प्रत्युत महाभोगी हैं। क्या मल-मूत्रके त्यागका अभिमान आता है? मैं धनी हूँ और मैं त्यागी हूँ—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है।

× × × ×

परिवार-नियोजनसे कितना अनर्थ हुआ है और कितना अनर्थ होगा, इसका कोई पारावार नहीं है। हिन्दू और गाय—इन दोको नष्ट करनेका विदेशियोंका षड्यन्त्र है। इससे केवल भारतका ही नहीं, विश्वमात्रका बड़ा अहित होगा! ऐसे ही आधुनिक वेदान्तसे बड़ी हानि हो रही है!

× × × ×

मनुष्यशरीरकी सफलता परमात्माकी प्राप्ति करनेसे ही है—यह एकदम पक्की बात है। **आप जहाँ हैं, जिस वर्ण-आश्रममें हैं, वहीं सीधे मुक्ति हो सकती है।** युद्धरूपी क्रियासे भी कल्याण हो जाय, फिर उससे सुगम क्या होगा? गीता व्यवहारमें परमार्थ, तत्त्वप्राप्तिकी कला सिखाती है।

× × × ×

तत्त्व अक्रिय है। उसका चिन्तन नहीं हो सकता—'**यन्मनसा न मनुते**' (केन० १।५)। वह सम्पूर्ण क्रियाओंका आधार है। वह 'है' रूपसे सर्वत्र परिपूर्ण

है। उसकी प्राप्तिका साधन है—आत्मीयता।

मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, राक्षस आदि सब बाहरकी चीजें हैं। भीतरमें एक ही तत्त्व है। सबकी स्थिति उस तत्त्वमें स्वत:सिद्ध है। उसमें 'चुप' हो जायँ। परिश्रम प्रकृतिके सम्बन्धसे होता है।

× × × ×

परमात्मप्राप्तिके लिये मन-बुद्धि लगाना करणसापेक्ष है। स्वयं लगना करणनिरपेक्ष है। शरणागति और कर्मयोग करणनिरपेक्ष साधन हैं।

संसारका निषेध होनेपर शून्य रह जाता है तो वह शून्य आपका स्वरूप नहीं है, प्रत्युत शून्यका ज्ञाता आपका स्वरूप है। आपने संसारकी सत्ता मानी थी, तभी संसारकी चीज—मन-बुद्धि न रहनेसे शून्य प्रतीत होता है। यदि 'परमात्मा है'—ऐसा मानें तो वह 'है' शून्य कैसे होगा? नहीं होगा।

अभ्यासमें दृढ़-अदृढ़ दो अवस्थाएँ होती हैं, पर विवेकमें दृढ़-अदृढ़ अवस्था नहीं होती।

'करना' करणसापेक्ष है, 'होना' करणनिरपेक्ष है और 'है' करणरहित है। अगर 'है' को चाहते हो तो 'करने' को 'होने' में और 'होने' को 'है' में बदल दो—'**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (गीता ५।८)।

जैसे किसी कारखानेका कोई मालिक न रहे तो उसका संचालन सरकार करती है। काममें फर्क नहीं पड़ता, केवल मालिक बदल जाता है। ऐसे ही **शरणागतके सब कार्य भगवान्से होते हैं।**

× × × ×

अपने-आपको सर्वथा निर्दोष मान लें तो दोष मिट जायँगे। काम, क्रोध आदिको अपनेमें नहीं मानें। मूलमें हम सब परमात्माके अंश हैं—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥'*** (मानस, उत्तर० ११७।१)। जब परमात्मामें दोष नहीं हैं, तो फिर उसके अंशमें दोष कैसे? परमात्मा और उसका अंश सर्वथा निर्दोष हैं।

वर्तमान निर्दोष है। भूतकालके दोषको लेकर वर्तमानमें अपनेको दोषी न मानें। **अपनेमें दोष स्वीकार करके हम दोषी बनते हैं।** मनुष्य चोर बनकर फिर चोरी करता है। यदि वह अपनेको चोर न माने तो चोरी नहीं कर सकता। अपनेको परमात्माका अंश स्वीकार करके दोषी न मानें। **निर्दोषता स्वीकार करनेसे निर्दोषता स्वतः प्रकट हो जायगी।** हमारा वास्तविक स्वरूप निर्दोष है। हम भगवान्के अंश हैं और हम साधक हैं, फिर हमारेमें दोष कैसे आ सकते हैं?

× × × ×

जितने भी दोष हैं, सब नष्ट होनेवाले हैं। काम-क्रोधादि सब दोष आगन्तुक हैं, स्थायी नहीं हैं। आप ही उन्हें सत्ता और महत्ता देते हैं। **दोष अपनेमें नहीं हैं—यह बात साधकोंके लिये बहुत कामकी है।** उनको हटानेका प्रयास करना उनकी सत्ताको दृढ़ करना है। अतः उन्हें हटानेका प्रयास न करके उनकी सत्ताको ही न मानें। **निर्दोषता स्वीकार करते ही तत्त्वकी प्राप्ति हो गयी!** सबका आत्मा निर्दोष है। निर्दोषता स्वत:सिद्ध है। अतः अपनेको और दूसरोंको दोषी मानना गलती है।

× × × ×

परमात्माके सौन्दर्य, औदार्य, गाम्भीर्य, माधुर्य आदि गुण नित्य-निरन्तर रहते हैं।

दोष अनित्य हैं। जो कभी आते हैं और कभी नहीं आते, वे कभी नहीं आते—यह सिद्धान्त है।

कभी मनमें खटपट हो तो बैठकर पन्द्रह-बीस मिनट राम-राम जप करो अथवा 'आगमापायिनोऽनित्याः' (गीता २।१४)- **का जप करो, खटपट मिट जायगी।**

× × × ×

परमात्मा ही संसार-रूपसे प्रकट हुए हैं। **सब साधनोंमें सबसे श्रेष्ठ साधन यही है कि सब परमात्मा ही हैं।** जैसे शरीरके सब अंग समान नहीं होते, पर हम सब अंगोंका सुख चाहते हैं, किसी भी अंगकी पीड़ा नहीं चाहते। ऐसे ही सब संसार

ईश्वररूप माननेसे भी दो बातें होंगी—सबको सुख हो और किसीको दुःख न हो। सबको सुख पहुँचानेवाला ही भगवान्‌का भक्त होता है। **किसीसे भी द्वेष हो तो समझे कि हमारी उपासना ठीक नहीं है।**

× × × ×

हम नित्य रहनेवालेको नहीं मानते और नित्य मौजूद न रहनेवालेको मानते हैं—यह बड़ी भारी भूल है! जैसे हमें पिछले जन्मकी सम्पत्ति, साथी अब यादतक नहीं हैं, ऐसे ही वर्तमानकी सम्पत्ति, साथी आदि भी यादतक नहीं रहेंगे।

× × × ×

परमात्माका अंश होनेसे जीव स्वतः शुद्ध, अमल है—***'चेतन अमल सहज सुख रासी'*** (मानस, उत्तर० ११७।१)। संसारमें निःस्वार्थभावसे हमारा हित करनेवाले दो ही हैं—भगवान् और उनके भक्त—***'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'*** (मानस, उत्तर० ४७।३)। दोनों ही कहते हैं कि जीव परमात्माका अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७), ***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'*** (मानस, उत्तर० ११७।१)। परमात्माका अंश होनेसे स्वरूपमें दोष नहीं है। इस बातको आप मान लें, फिर इसका अनुभव हो जायगा। कसाई-से-कसाईका स्वरूप भी शुद्ध है, फिर आपका स्वरूप अशुद्ध है क्या?

कोई भी दोष आपमें हरदम नहीं रहता। काम-क्रोधादि दोष स्वरूपमें नहीं आते, प्रत्युत मन-बुद्धिमें आते हैं। ये आगन्तुक हैं, अपनेमें नहीं हैं। अपनेमें दोष माननेसे वे कभी दूर नहीं होंगे। इनको अपनेमें मानकर हटानेका प्रयत्न करनेसे ये और दृढ़ होते हैं। **दोष आते हैं—शरीरको मैं-मेरा माननेसे। अगर इन दोषोंका आना न मिटे तो भगवान्‌से प्रार्थना करो, 'हे नाथ! हे नाथ!' कहकर पुकारो।**

× × × ×

लक्ष्मी उसको चाहती है, जो केवल भगवान्‌को चाहता है अथवा जो कुछ नहीं चाहता। जो अपने लिये कुछ नहीं चाहता, उसका प्रबन्ध लक्ष्मी करती है। लक्ष्मी तो माँ है। माँको बेटेकी चिन्ता रहती ही है—

गिरह गाँठ नहिं बाँधते, जब देवे तब खाहिं।
नारायन पाछे फिरें, मत भूखे रह जाहिं॥

जो पदार्थोंके दास होते हैं, वे भगवान्‌के भक्त नहीं हो सकते। जो कोई भी इच्छा नहीं रखते, उनके पास आनेके लिये लक्ष्मी लालायित रहती है।

× × × ×

मनुष्यशरीरकी महिमा तत्त्वप्राप्तिमें है। तत्त्वप्राप्ति नहीं की तो शरीरकी महिमा क्या? कोई वस्तु अच्छी या बुरी नहीं होती, उसका सदुपयोग अच्छा होता है, दुरुपयोग बुरा।

अपनेको शरीर मानना और शरीरको अपना मानना प्रमाद है। प्रमाद ही मृत्यु है। जानते हुए भी न मानना प्रमाद है।

× × × ×

तत्त्वबोधके बाद होनेवाला द्वैत अद्वैतसे भी सुन्दर है। **तत्त्वबोधके पहले साधन-भक्ति है और तत्त्वबोधके बाद साध्य-भक्ति है। वही साध्य-भक्ति आरम्भसे ही हो सकती है।** यदि साधकका भाव विशेष हो तो बोधसे पहले ही साध्य-भक्ति हो जाती है और भक्ति होनेपर फिर ज्ञान हो जाता है। भागवतमें ज्ञान और वैराग्यको भक्तिके बेटे कहा है। वह साध्य-भक्ति भगवान्‌से माँगनी चाहिये। **वह भक्ति भगवान्‌की कृपासे मिलती है—'भगवत्कृपालेशाद्वा'** (नारद० ३८)। भक्ति ज्ञानसे भी श्रेष्ठ है।

× × × ×

संसारके पहले भी परमात्मा थे, पीछे भी परमात्मा रहेंगे और बीचमें भी परमात्मा ही हैं। इस विषयमें साधकको केवल सावधान रहना है, अनुकूलता-प्रतिकूलताको देखकर राजी-नाराज नहीं होना है। भगवान् संसारमात्रके बीज हैं। जैसे मयूरीके अण्डेमें-से अनेक रंग प्रकट हो जाते हैं, ऐसे ही भगवान् विलक्षण बीज हैं, जिनसे अनेक प्रकारकी सृष्टि पैदा होती है।

गीता अर्जुनको दो बार भी नहीं मिली। दुबारा भगवान्‌ने 'अनुगीता' कही। परन्तु हम कलियुगी जीवोंको वह गीता बार-बार पढ़ने-सुननेको मिल रही है!!

आपके भीतर जाननेकी लगन पैदा हो जाय तो पेड़ोंसे, दीवारोंसे भी शिक्षा मिल जाय! लोग कहते हैं कि गुरु नहीं मिलता, मैं कहता हूँ कि चेले नहीं मिलते!

× × × ×

भूख व भोजन, प्यास व जलमें एकता है। भूखके बिना भोजनमें रस नहीं आता। **भूख भोजनकी सत्ताको और प्यास जलकी सत्ताको सिद्ध करती है।** भोजन न हो तो भूख लग ही नहीं सकती। जल न हो तो प्यास लग ही नहीं सकती। भूखकी पूर्ति भूखसे, अभावकी पूर्ति अभावसे कैसे होगी? सत्‌की चाहना असत्‌से कैसे पूरी होगी?

संसार अभावरूप है अर्थात् यह भावरूप परमात्माकी भूख है। भावरूपसे अर्थात् सत्तारूपसे एक परमात्मा ही हैं—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २।१६)। हमारे भीतर परमात्माकी भूख है। 'है'-रूप परमात्मामें स्थित होनेसे पूर्ति हो जाती है, सब अभाव मिट जाता है।

विचित्र बात है कि हमारी असली भूख खानेसे नहीं मिटेगी, प्रत्युत खिलानेसे अर्थात् सेवा करनेसे मिटेगी! **दूसरोंको सुख पहुँचानेसे विलक्षण सुख मिलता है।**

× × × ×

हमारा खास काम है—परमात्माको प्राप्त करना। और काम चाहे बिगड़ जायँ, पर यह काम नहीं बिगड़ना चाहिये।

जीव परमात्माका ही अंश है। स्वरूपसे हम निर्दोष हैं। निर्दोषमें दोष मानना ही गलती है। दोष आगन्तुक हैं, निर्दोषता स्वतः है। निर्दोषता निरन्तर रहती है। दोषके समय भी निर्दोषता ज्यों-की-त्यों रहती है।

दोषका ज्ञान निर्दोषको ही होता है। यह नियम है कि संसारका ज्ञान संसारसे अलग होनेपर ही होता है, और परमात्माका ज्ञान परमात्मासे अभिन्न होनेपर ही होता है।

× × × ×

जिसकी प्राप्तिके लिये कुछ करना है ही नहीं, उसमें कठिनता-सुगमता क्या? परमात्माकी प्राप्ति भी स्वतःसिद्ध है और संसारकी निवृत्ति भी स्वतःसिद्ध है। 'संसार है'—इसमें जो 'है'-पना है, वह संसारका नहीं है, प्रत्युत परमात्माका है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस, बाल० ११७।४)

संसार निरन्तर बह रहा है, परमात्मतत्त्व निरन्तर रह रहा है। ऐसे ही शरीर बह रहा है, आत्मतत्त्व रह रहा है। शरीर-संसार एक जातिके हैं। आत्मा-परमात्मा एक जातिके हैं अर्थात् उनका एक स्वरूप है।

भोग और संग्रहकी इच्छावाला मनुष्य कभी सेवा नहीं कर सकता। वह लेता अधिक है, देता कम है।

× × × ×

जो जीना हमें अच्छा लगता है, वह प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है। मौत प्रतिक्षण नजदीक आ रही है। संसारकी तरफ हमारी जैसी रुचि हो रही है, वैसी परमात्माकी तरफ नहीं हो रही है। भोग प्यारे लगते हैं। दशा क्या होगी?

मनुष्यशरीर तीनों गुणोंसे अतीत होनेके लिये मिला है। यह भोग भोगनेके लिये नहीं है। भोगोंमें, सुख-सुविधामें दृष्टि रहेगी तो गुणातीत कैसे होंगे?

× × × ×

हमारा प्रापणीय तत्त्व क्या है? यह विचार करें। जो सबको प्राप्त हो सकता है, वही हमारा प्रापणीय तत्त्व है। परमात्मा सबको मिल सकता है और सदाके लिये मिल सकता है। **जो सबको मिले और सदाके लिये मिले, वही तत्त्व हमारा है।**

त्याग (कर्मयोग), बोध (ज्ञानयोग) और प्रेम (भक्तियोग) सबको प्राप्त हो सकते हैं और सदाके लिये प्राप्त हो सकते हैं।

× × × ×

एक बड़ी भारी भूल होती है कि हम यहाँके लोगोंको, यहाँकी वस्तुओंको अपना मान लेते हैं। जैसे रोज थोड़े समयके लिये सत्संग मिलता है, ऐसे ही चौरासी लाख योनियोंमें भटकते जीवको थोड़े समयके लिये मनुष्यशरीर मिलता है। इस थोड़े समयमें भी बहुत बड़ा काम (मोक्ष) हो सकता है!

मनुष्यके लिये दो बातें खास हैं—भगवान्‌को याद करना और सेवा करना। लेनेसे चीज घटती है, देनेसे चीज बढ़ती है। सेवा करनेवालेको कमी नहीं रहती। सूर्यको चन्दन चढ़ाओगे तो आपके ऊपर चन्दन पड़ेगा, धूल फेंकोगे तो आपके ऊपर धूल पड़ेगी।

× × × ×

लोग ऐसी शंका करते हैं कि जो पाप करते हैं, वे तो सुख पाते हैं, पर जो धर्मपर चलते हैं, वे दुःख पाते हैं। ऐसी शंका द्रौपदीको भी हो गयी थी। युधिष्ठिरने द्रौपदीको बताया कि धर्मका पालन सुखके लिये नहीं किया जाता। धर्मका पालन करना तो मनुष्यमात्रका कर्तव्य है, मनुष्यपना है। **जो सुखके लिये धर्मका पालन करते हैं, वे धर्मके तत्त्वको नहीं जानते।** पूर्वकर्मोंके अनुसार सभी सुख भी पाते हैं और दुःख भी पाते हैं। जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है—**'धर्मो रक्षति रक्षितः'** (मनु० ८।१५, महा० वन० ३१३।१२८)।

वस्तु, परिस्थिति आदिमें सुख नहीं है, प्रत्युत उसके सदुपयोगमें सुख है।

सुखमें कम कृपा होती है, पर दुःखमें अधिक कृपा, शुद्ध कृपा होती है।

अन्याय करनेवाला मनुष्य तो अपने पुण्य काट रहा है और पशु अपने पाप काट रहा है।

× × × ×

संसारका वियोग नित्य है, संयोग अनित्य है। संयोगसे पहले भी वियोग था, पीछे भी वियोग रहेगा और वर्तमानमें (संयोगकालमें) भी प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। परमात्माका योग नित्य है। **संसारके संयोगमें राजी होना बहुत बड़ी गलती है; क्योंकि यह संयोग रहनेवाला नहीं है।** बालक जन्मके बाद क्या करेगा, क्या नहीं करेगा, सब बातोंमें सन्देह है, पर वह मरेगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

संसार स्वतः प्रकृतिमें जा रहा है और तत्त्वज्ञ, प्रेमी महापुरुष निरन्तर परमात्मामें जा रहे हैं। भोग और संग्रहको चाहने-वाले लोग पतंगोंकी तरह हैं, जो अग्निमें भस्म होनेके लिये जा रहे हैं—**'यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः'** (गीता ११।२९)।

× × × ×

सबसे पहले वह काम कर लेना चाहिये, जिसके लिये मानवशरीर मिला है। कबतक जीयेंगे—इसका पता नहीं। संसारके सब कामोंमें सन्देह है, पर मरनेमें सन्देह नहीं है। जन्मके बाद मरना अवश्यम्भावी है। वह मृत्यु प्रतिक्षण समीप आ रही है। इसलिये चेत करो, होशमें आओ।

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके सब अधिकारी हैं, कोई अनधिकारी नहीं है। पापी-से-पापी मनुष्यको भी ज्ञान, मोक्ष प्राप्त हो सकता है (गीता ४।३६-३७, ९।३०-३१)। जिसने परमात्माकी प्राप्ति कर ली, उसने सब काम कर लिया। जो भगवान्‌में लग गया, वह सबसे श्रेष्ठ है। सिवाय भगवान्‌के कहीं भी शान्ति नहीं है।

× × × ×

परमात्माकी प्राप्तिका स्थान हृदय है। ज्ञान हृदयमें विराजमान है। **गुरुसे जो ज्ञान मिलता है, वह वास्तवमें अपने ही भीतर है।** उस ज्ञानके द्वारा हम परमात्माको जान लेते हैं। **गुरु ज्ञान देते नहीं हैं, प्रत्युत सबके हृदयमें विराजमान ज्ञानरूप परमात्माकी जागृति करते हैं।**

भगवान् श्रीकृष्ण सबके गुरु हैं और उनका

मन्त्र अथवा उपदेश है गीता। कोई मनुष्य पंडिताईके जोरसे गीताका अर्थ नहीं समझ सकता। **भगवान्‌के शरण होनेसे ही गीताका अर्थ प्रकट होता है।** भगवान् गीतासे बहुत राजी होते हैं। **गीतापाठसे वे दर्शन भी दे सकते हैं।** गीता-रामायण-ग्रंथ जहाँ पड़े रहते हैं, वहाँ भूत-प्रेत-पिशाच नहीं आते। उन ग्रन्थोंको प्रणाम करनेसे बड़ी शक्ति मिलती है।

गीताका पठन-मनन करनेवाला प्रत्येक प्रश्नका उत्तर दे सकता है। प्रतिदिन गीताका पाठ, विचार करना शुरू कर दें। **गीताके अनुसार अपना व्यवहार करें, जीवन बनायें तो दुःख, सन्ताप, हलचल सब मिट जायगी।** एक भी आदमी ऐसा नहीं हुआ, जिसकी भोग तथा संग्रहसे तृप्ति हो गयी हो। अविनाशीकी भूख विनाशीसे कैसे मिटेगी?

भगवान्‌के श्वाससे वेद प्रकट हुए—'यस्य निश्वसितं वेदाः'। जब श्वासका इतना प्रभाव है तो फिर वाणी (गीता)-का कितना प्रभाव होगा!

× × × ×

मनुष्यशरीर केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये मिला है, सांसारिक कार्योंके लिये नहीं। परमात्मप्राप्तिका मौका मनुष्यशरीरमें ही है। मनुष्यशरीरमें भी सत्संगका मौका दुर्लभ है! **जैसे मनुष्यशरीर बार-बार नहीं मिलता, ऐसे ही सत्संग भी बार-बार नहीं मिलता।** यह भगवान्‌की विशेष कृपासे ही मिलता है। भगवान् अपनी तरफ खींचना चाहते हैं।

× × × ×

भक्ति सर्वश्रेष्ठ है—'**भक्तिरेव गरीयसी**' (नारदभक्ति० ८१)। प्रेमका नाम भक्ति है—***'पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन'***। प्रेम है—भगवान् और उनके गुण, लीला, चरित्र आदि अच्छे लगें। जैसे प्यास लगनेपर जलकी याद आती है, जल अच्छा लगता है, ऐसे भगवान् अच्छे लगें।

भक्तिसे भगवान् वशमें हो जाते हैं। मुक्ति तो पूतनाको भी मिल गयी! मुक्ति तो भगवान्‌की चरण-रजमें है। भक्ति बड़ी सुगम है। **भगवान् प्यारे लगें, मीठे लगें—यह भक्ति है।**

× × × ×

परमात्माकी प्राप्ति कठिन है तो सुगम क्या है? इसीके लिये तो मानवशरीर मिला है। **खास काम परमात्माकी प्राप्ति करना है। दूसरा काम करें तो वह नया काम शुरू किया है!** जो भी काम करें, भगवान्‌का ही काम समझकर करें—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

'हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ भोजन करता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।'

× × × ×

एक कामना होती है, एक आवश्यकता होती है। भूख लगने-पर अन्नकी आवश्यकता होती है। कामना शरीरकी आवश्यकता नहीं होती।

मिलनेवाली चीज तो अवश्य मिलेगी, पर अपने कर्तव्यका पालन न करनेका दण्ड होगा। प्रारब्धसे मिली चीजमें तो सन्तोष करो, पर नये कार्यमें सन्तोष मत करो। भगवत्सम्बन्धी बातोंमें सन्तोष मत करो; क्योंकि यह हमारी आवश्यकता है। सत्संग, भजन-ध्यान आदिकी आवश्यकता होती है, कामना नहीं।

पत्थर ढोनेवालेको जो मजदूरी मिलती है, वैसी ही सोना ढोनेवालेको भी मिलती है। तात्पर्य है कि सबको अपने प्रारब्धके अनुसार ही मिलता है।

कोई कार्य अवश्यम्भावी नहीं है, पर मरना अवश्यम्भावी है। जो कार्य अवश्यम्भावी है, उसकी तैयारी सबसे पहले करनी चाहिये।

× × × ×

जो करना चाहिये और कर सकते हैं, उसे न करना भूल है।

सन्तान पिण्ड-पानी देनेके लिये है। सम्पत्ति तो कोई भी सँभाल सकता है!

भगवान्‌का होकर भगवान्‌को पुकारो तो भगवान्‌पर असर पड़ेगा। संसारका होकर पुकारोगे तो असर नहीं पड़ेगा।

× × × ×

बहुत जन्मोंके बाद यह मनुष्यशरीर मिलता है। **कल्याणमें खुदकी लगन काम आती है। खुदकी लगन, विचार न हो तो गुरु क्या करेगा? उपदेश क्या करेगा?** जाननेका विचार ही नहीं हो तो शिक्षा क्या करेगी? साधु हो गये, फिर भी लगन नहीं है! मनमें कुछ भी लालसा हो तो उपाय किया जाय। इसलिये अपनी लालसा बढ़ाओ, भूख बढ़ाओ। भूख न हो तो बढ़िया भोजन किस कामका?

× × × ×

परमात्माकी प्राप्ति कठिन नहीं है, प्रत्युत उसकी प्राप्तिकी लालसा कठिन है। भोग तथा संग्रहकी इच्छाका त्याग न हो सके तो भी 'परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो!' यह इच्छा रहनी चाहिये। हमारी तीव्र लालसा न हो तो भी सत्संगसे लाभ होता है, पर अपनी लालसा न होनेसे उतना लाभ दीखता नहीं। **जिसको सत्संगका लाभ मालूम पड़ जाय, वह सत्संग छोड़ नहीं सकता।** सत्संग करनेसे विवेक जाग्रत् होता है, सत्-असत् तथा कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान होता है, फिर तदनुसार कर्म होते हैं। सत्संगसे बड़ी विलक्षणता आती है, जिसका बाहरसे पता नहीं लगता। अच्छे-अच्छे शास्त्रीय विद्वान् भी जो बात नहीं कहते, वह बात सत्संग करनेवाले कह देते हैं।

× × × ×

परमात्मामें अनन्त शक्तियाँ हैं। सगुण-निर्गुण उसके विशेषण हैं, स्वरूप नहीं। संसारको जाननेके लिये संसारसे अलग होना पड़ता है और परमात्माको जाननेके लिये परमात्मासे अभिन्न होना पड़ता है। संसारका किंचिन्मात्र भी आकर्षण रहेगा तो उसे नहीं जान सकते।

प्रकृतिको साथ लेकर मनुष्य भगवान्‌के शरण तो हो सकता है, पर तत्त्वबोध नहीं प्राप्त कर सकता।

× × × ×

संसारकी सत्ता और महत्ताको मानना ही भूल है। संसार न हमारे साथ रहनेवाला है, न हम संसारके साथ रहनेवाले हैं। जो चीज निरन्तर मिट रही है, उसे सत्ता और महत्ता देना कहाँतक उचित है? जिसको आप 'मेरी वस्तु' कहते हैं, वह क्या सदा आपके साथ रहेगी? क्या आप उसके साथ सदा रहेंगे? संसारका संयोग अनित्य है, वियोग नित्य है। अन्तमें वियोग ही बचेगा, संयोग नहीं। अतः संयोगमें ही वियोगका दर्शन कर लें।

अरब खरब लौं द्रव्य है, उदय अस्त लौं राज।
तुलसी जो निज मरन है, तो आवहि किहि काज॥

उम्र निरन्तर 'नहीं' में जा रही है। मृत्यु निरन्तर समीप आ रही है। यह सच्ची बात है। जो सच्ची बातका आदर नहीं करता, उसको दुःख पाना ही पड़ेगा। आप अच्छा काम करो या बुरा काम, उम्र तो प्रतिक्षण अपने धुनमें जा रही है। वास्तवमें सत्ता और महत्ता तो एकमात्र परमात्माकी ही है। वह बड़े-से-बड़े और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म सभी जीवोंका भरण-पोषण करता है, उनके कर्मोंका फल भुगताता है। उस परमात्माके समान कोई वक्ता, श्रोता, सन्त, धनवान् आदि नहीं है। **परमात्माकी शक्ति ही मनुष्यमें आती है।** परमात्माके वक्ता हुए बिना मनुष्य वक्ता कैसे हो सकता है? परमात्माके समान कोई वक्ता, श्रोता, सन्त, धनवान् आदि नहीं है। अगर रुपया बढ़िया चीज है तो फिर उसको खर्च क्यों करते हो?

× × × ×

भोगोंमें प्रियता, रुचि होनेका कारण 'रस' है। परमात्माके सच्चे रसके सामने यह झूठा रस निवृत्त हो जाता है। साधनमें भी एक रसबुद्धि होती है, जिससे समाधिमें विघ्न होता है। रसास्वादसे साधक अटक जाता है। आप स्वयं टिक जाओ तो मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ भी टिक जायँगे। **स्वयंका टिकना**

है—**रसबुद्धि निवृत्त होना।** आप सब छोड़कर सत्संगमें आते हो—यह पारमार्थिक रसका नमूना है।

प्रेमके रसमें समाधिका रस भी छूट जाता है। उस रसमें कभी हँसी आती है, कभी रोना—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करती-करती गद्गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंको याद करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बारंबार रोता रहता है, कभी-कभी हँसने लग जाता है, कभी लज्जा छोड़कर (मेरे प्रेममें मग्न हुआ पागलकी भाँति) ऊँचे स्वरसे गाने लगता है, तो कभी नाचने लग जाता है, ऐसा मेरा भक्त सारे संसारको पवित्र कर देता है।'

सांसारिक रस निवृत्त होनेसे पारमार्थिक रस मिलता है। प्रेममें ज्ञानियोंके '**अभेद**' से भी विलक्षण '**अभिन्नता**' होती है। प्रेममें एकदेशीयपना (मैं हूँ) मिट जाता है अर्थात् '**हूँ**' '**है**' में विलीन हो जाता है।

× × × ×

जैसे दर्पणमें विपरीत दीखता है, ऐसे ही मायारूप संसार भी विपरीत दीखता है। **संसारसे कुछ लेनेकी इच्छा रखनेसे नुकसान होता है और देनेकी इच्छा रखनेसे लाभ होता है।** दूसरोंका हित करनेसे हमारा हित होता है—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' (गीता १२। ४)। जैसे, बीज जमीनमें डाल दें तो खेती हो जाती है और खुद खा लें तो रेती हो जाती है! अपनी भूख मिटानेसे पहले दूसरोंकी भूख मिटाओ। **दूसरोंका हित कैसे हो—इसको सीखनेके लिये ही हम यहाँ एकत्र हुए हैं।** माँ हमें अच्छी क्यों लगती है? कि वह हमारा पालन करती है। जो दूसरेके दुःखसे दुःखी होता है, उसको अपने दुःखसे दुःखी नहीं होना पड़ता।

भगवान्‌को याद करना और सेवा करना—ये दो काम खास मनुष्योंके लिये हैं। इनके बिना मनुष्यपना नहीं है। जैसे नामजप आदिसे कल्याण होता है, ऐसे ही दूसरोंका हित करनेसे भी कल्याण होता है। यह कर्मयोग है।

× × × ×

रसबुद्धि किसमें है? रसबुद्धि भोक्तृत्वमें है और भोक्तृत्व होता है प्रकृतिमें स्थित होनेसे—'**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**' (गीता १३। २१)। परन्तु इससे भी विलक्षण बात है कि रसबुद्धि स्वयंमें है। सांसारिक रस तो भोक्तृत्वमें है, पर परमात्माका अंश होनेसे पारमार्थिक रस स्वयंमें है।

ज्ञानके अखण्डरसकी अपेक्षा प्रेमका अनन्तरस विलक्षण है।

× × × ×

खास आवश्यकता व्यवहारके सुधारकी है। परमात्माकी प्राप्तिके बिना जन्मना-मरना बन्द नहीं होगा। जन्म-मरणका चक्र चलता ही रहेगा। लम्बे रास्तेका अन्त आता है, गोल चक्रका अन्त कैसे आयेगा? परमात्माकी प्राप्तिके लिये अपना व्यवहार शुद्ध करना है। स्वार्थका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये चेष्टा करनी है। सबके हितकी भावनावाला सदा सुखी रहता है। जो किसीको भय नहीं देता, वह अभय हो जाता है।

गृहस्थमें स्वार्थका त्याग करके दूसरोंका हित करनेसे परस्पर प्रेम बढ़ेगा। **मोहका बन्धन संसारमें बाँध देता है। प्रेमका बन्धन मुक्त कर देता है।**

आजकलके जमानेमें दूसरेको दुःख न पहुँचाना भी बहुत बड़ा पुण्य है। **पहले भलाई करनेपर भलाई होती थी, आज बुराई न करनेसे भलाई हो जाती है!** गाड़ीमें चढ़ते समय कोई चढ़नेको अथवा बैठनेको मना न करे तो समझो कि भला आदमी है!

एक भारतीय संस्कृति ऐसी है, जो सबका हित चाहती है—*'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा'* (मानस २। १८३। ३), ***'काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥'*** (मानस ६। १७। ४)।

सबका हित मनुष्य ही कर सकता है।

× × × ×

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति॥

(लौगाक्षिस्मृति)

जैसे सभी देवताओंको किया गया नमस्कार भगवान्‌के पास पहुँचता है, ऐसे ही सबके साथ किया गया प्रेमका बर्ताव भी भगवान्‌के पास पहुँचता है। भगवान् सबके हृदयमें विराजमान हैं। अतः सबमें भगवान्‌को देखते हुए सबको नमस्कार करो, सबके साथ आदरका, प्रेमका बर्ताव करो। **सब सुखी हो जायँ—यह व्यापक भाव है, जो व्यापक परमात्माको प्रकट करनेवाला है।**

नमस्कार करनेसे लाभ-ही-लाभ है। रोजाना बड़ोंको नमस्कार करनेसे आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं। नमस्कार करनेसे मार्कण्डेयकी आयु बढ़ गयी, वे चिरंजीवी हो गये!

× × × ×

गृहस्थाश्रम सबका मूल है। गृहस्थाश्रममें बहनें-माताएँ मुख्य हैं; क्योंकि उनके कारणसे ही गृहस्थ कहलाता है। साधुओंके मठ, आश्रम, धाम आदिको कोई घर नहीं कहता। स्त्रीके कारण ही घर कहलाता है, चाहे वृक्षके नीचे ही क्यों न रहें! **'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते'** (महाभारत, शान्ति० १४४।६)। आज स्त्रियोंको केवल भोग-सामग्री बना दिया है! **स्त्रीको स्त्रीरूपसे देखना उसका निरादर है। उसको माँरूपसे देखना चाहिये।** माँका दर्जा बहुत ऊँचा है—**'सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते'** (मनु० २।१४५)।

बहनोंको चाहिये कि सूई बनें, कतरनी (कैंची) मत बनें। सूई दोको एक कर देती है, कतरनी एकको दो कर देती है। वे ऐसा कोई काम न करें, जिससे कलह पैदा हो। घरमें प्रेम रखें। बालकोंको भोजन करानेमें विषमता मत करें। सासको चाहिये कि बेटी और बहूमें लड़ाई हो तो बहूका पक्ष ले।

गरीब बच्चोंको मिठाई खिलाओ तो शोक-चिन्ता मिट जायँगे।

गृहस्थमें बड़ी सावधानीसे रहो। थोड़ी-सी गलतीसे भी बहुत बड़ा नुकसान हो सकता है। दूसरा कोई गलती भी कर दे तो उसको सह लो। गृहस्थ एक पाठशाला है, जिसमें प्रेमका पाठ पढ़ो।

× × × ×

मनुष्य भविष्यके लिये अन्न, धन आदिकी चिन्ता करता है। वास्तवमें मृत्युके बादकी चिन्ता करनी चाहिये। इस लोकमें तो अपने निर्वाहके लिये कर्जा भी ले लेंगे, पर परलोकमें क्या करेंगे?

शुद्ध स्वभाववाला नीच योनियोंमें जा ही नहीं सकता।

× × × ×

साधनका तात्पर्य असाधनका नाश करना है। फलकी इच्छा करेंगे तो उन्नति रुक जायगी। सबसे बड़ा फल यही है कि राग-द्वेष मिट जायँ। राग-द्वेष असाधन है। असाधनके नाशपर साधककी विशेष दृष्टि रहनी चाहिये। परिस्थितिको बदलनेपर उसकी दृष्टि नहीं रहनी चाहिये। **जो परिस्थितिके पराधीन है, वह साधन नहीं कर सकता।**

सुख-दुःख भोगते रहना असाधन है। असाधन मिटनेपर साधन स्वतः होगा। अनुकूल परिस्थितिकी इच्छा करना साधन नहीं है। साधन है—परिस्थितियोंका सदुपयोग करना। प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है।

× × × ×

संसारकी चीजें उद्योगसे मिलती हैं, इच्छामात्रसे नहीं। परन्तु परमात्माकी प्राप्तिमें केवल अभिलाषाकी, तीव्र इच्छाकी जरूरत है।

साधन वह होता है, जिसमें असाधन न हो। **भीतरमें दम्भ, पाखण्ड, दुर्गुण-दुराचार होंगे तो न अपनेको शान्ति मिलेगी, न दूसरोंको; न वर्तमानमें शान्ति मिलेगी, न परिणाममें।** दुर्गुण-दुराचार रहते हुए साधन किया जायगा तो साधन निरर्थक तो नहीं

जायगा, पर वर्तमानमें प्रत्यक्ष लाभ नहीं दीखेगा।

भगवान्‌के बिना रहा न जाय—यह असली भजन है। जैसे आज वस्तुएँ मँहगी हो गयीं और रुपये सस्ते हो गये, ऐसे ही आज भगवान् बहुत सस्ते हैं!

× × × ×

भगवान्‌ने हमें समय, समझ, सामग्री और सामर्थ्य पूरी दी है। अब उसका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करना हमारे हाथमें है। हम अपने विवेकसे वही काम करें, जिससे अपना और दूसरोंका, अभी और भविष्यमें हित हो। यह सावधानी रखनी है।

किया जानेवाला साधन नकली और अनित्य होता है। परन्तु होनेवाला साधन असली और नित्य होता है। असाधनका त्याग करनेपर साधन स्वत: होता है।

असत् वस्तुका त्याग करनेसे अभिमान नहीं होता। यदि अभिमान होता है तो समझना चाहिये कि उस वस्तुको असत् नहीं माना है। **त्याज्य वस्तुमें महत्त्वबुद्धि होनेसे ही अभिमान होता है।**

× × × ×

परमात्मप्राप्तिके साधनोंमें भक्तिकी बड़ी महिमा है। ज्ञानसे भी भक्तिकी अधिक महिमा है। ज्ञानके बाद प्रेमाभक्ति होती है। **भक्ति आरम्भमें भी सुगम है, अन्तमें भी श्रेष्ठ है।** सुगम इसलिये है कि अपने सम्बन्धका आभास मनुष्यमें स्वाभाविक है कि ये मेरे माँ-बाप हैं, ये मेरे पुत्र हैं, आदि। वास्तवमें भगवान् हमारे हैं—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'।*** मीराबाईने भगवान्‌को पति मान लिया। स्त्री हो या पुरुष, सबके पति भगवान् हैं। जो पालन करनेवाला और मालिक हो, उसे 'पति' कहते हैं।

संसारके सभी सम्बन्ध एक-दूसरेकी सेवा करनेके लिये हैं। हमारे पास जो कुछ है, सब सेवाके लिये है। आजकल सेवाका बहुत बढ़िया मौका है; क्योंकि सब सेवा लेना चाहते हैं। आप निष्कामभावसे सेवा करोगे तो दूसरेके मनमें भी सेवावृत्ति जाग्रत् हो जायगी।

कोई वस्तु नहीं मिले तो उसकी इच्छाका त्याग कर दे, और मिल जाय तो उसको दूसरोंकी सेवामें लगा दे।

× × × ×

भगवान्‌ने महान् आनन्दकी प्राप्तिके लिये यह मनुष्यशरीर दिया है। सदाके लिये दु:खोंका नाश हो जाय—इसके लिये मनुष्यशरीर दिया है। इसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये हम यहाँ सत्संगमें बैठे हैं। हमारा एक ही लक्ष्य बन जाय कि हमें परमात्माकी प्राप्ति करना है। इस लक्ष्यकी हर समय जागृति रहे। इस बातका खयाल रखें कि हम यहाँ निरन्तर रहनेवाले नहीं हैं। हर समय सावधानी रखें। यहाँ हरदम नहीं रहना है। यहाँ कमानेके लिये आये हैं। **जबसे आये हैं, तबसे पारमार्थिक उन्नति कितनी कर ली और कितनी बाकी है—इस विषयमें सावधान रहना चाहिये।**

× × × ×

जो साधन सुगम मालूम देता हो, उसीको शुरू कर दें। लोभ न करके जो मिल जाय, उसका सदुपयोग करें। ऐसे ही **साधनमें भी लोभ न करें कि यह भी कर लूँ, वह भी कर लूँ। एक साधनको पूरी तरह करें।** अन्य साधन उसमें सहायक हो सकते हैं। सुगम साधन शुरू करनेपर फिर जो कठिन दीखता है, वह भी सुगम दीखने लगेगा।

संयमसे शक्ति पैदा होती है। **झूठ बोलनेसे वाणीकी शक्ति नष्ट होती है।** सबके साथ मीठा बोलो, आदरसे बोलो। सब जगह अमृत फैलाओ, विष मत फैलाओ। जीभको वशमें रखो। भगवान्‌ने कान दो दिये हैं और जीभ एक दी है कि सुनो अधिक, बोलो कम।

जिस चीजको आप नहीं खाते अथवा काममें नहीं लेते, उस चीजको देनेका अधिकार नहीं है।

× × × ×

यदि आपका उद्देश्य चेतन-तत्त्वका है तो ध्यान, भजन, नामजप आदि करनेसे जड़का महत्त्व नहीं होगा। ध्येय परमात्माका होना चाहिये।

प्राप्ति चेतनकी करनी है। नामजप जड़ नहीं है। नाम और नामी (भगवान्)-की एकता है। **भगवान्‌का होकर भगवान्‌का भजन करो, फिर जड़ता कैसे आयेगी?** मीराबाईके शरीरकी भी जड़ता नष्ट हो गयी। उस शरीरकी जड़ता नष्ट हो गयी जो कि गन्दी वस्तु है, विष्ठा बनानेकी मशीन है!

मैं ज्ञानकी नहीं, ज्ञानके अभिमानकी निन्दा करता हूँ। ज्ञानका अभिमान नरकोंमें ले जानेवाला है।

× × × ×

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (२।१६) 'असत्‌की तो सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।' **संसारका जितना भी उपदेश है, वह सब इस श्लोकार्धमें आ जाता है!** देखनेवाला 'सत्' है, दीखने-वाला 'असत्' है। जाननेमें आनेवाली सब वस्तुएँ नाशवान् हैं—

देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं।
मोह मूल परमारथु नाहीं॥

(मानस, अयोध्या० ९२।४)

जहाँ हमारा लक्ष्य होगा, वहीं हम जायँगे। सांसारिक अथवा पारमार्थिक—दोनों क्रियाएँ तो जड़के द्वारा ही होंगी, पर लक्ष्य चेतन (परमात्मा) होना चाहिये। **परमात्माके लिये किया गया जड़ कार्य भी चेतनकी प्राप्ति करानेवाला हो जाता है।**

गीतामें आया है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा।'

—युद्धरूपी क्रियासे भी पाप नहीं लगेगा; क्योंकि जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख हमारा लक्ष्य नहीं है। **लक्ष्य परमात्मा है तो युद्धरूपी क्रिया भी परमात्मप्राप्तिका कारण हो जायगी। लक्ष्य चेतन होनेसे जड़ भी चिन्मय हो जायगा।**

× × × ×

क्रिया भले ही जड़ हो, पर उद्देश्य जड़ नहीं होना चाहिये। करना और न करना—दोनों ही जड़ हैं, तत्त्व दोनोंसे अतीत है—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'** (गीता ३।१८)। मुख्यता उद्देश्यकी है।

परमात्मतत्त्वमें जब कर्तृत्व ही नहीं है तो फिर करणकी शुद्धि-अशुद्धिका उसमें क्या मतलब? सब-के-सब कारक प्रकृतिके कार्य हैं। कारक क्रियाकी सिद्धिमें काम आता है, क्रियासे अतीतमें कैसे काम आयेगा?

परमात्मप्राप्तिमें अन्तःकरण-शुद्धिकी आवश्यकता नहीं है—ऐसा सुनकर जो निषिद्ध कार्य करता है अर्थात् इस बातका दुरुपयोग करता है, उसे कल्याण करना ही नहीं है, वह तो भोग भोगना चाहता है।

× × × ×

बुद्धि कर्मानुसारिणी है, विवेक नहीं। विवेक अनादि है और बुद्धिमें आता है। फिर वचनोंमें और विचारमें आता है, फिर व्यवहारमें आता है।

× × × ×

संसारका संयोग पान्थसंगम है। उनमें ममता करनेसे दुःख ही पाना पड़ेगा। संसारमें कई मरते हैं, पर उनके मरनेसे हमें दुःख नहीं होता। हमें उसीके मरनेसे दुःख होता है, जिसको हम 'मेरा' मानते हैं। दुःख मेरापनसे होता है। मेरापन माना हुआ है, वास्तविक नहीं है। मिलना अनित्य है, बिछुड़ना नित्य है। जैसा है, वैसा जाननेका नाम 'ज्ञान' है।

संसारका संयोग अनित्य है, वियोग नित्य है। परमात्माका योग नित्य है। वास्तवमें संसारका संयोग होता ही नहीं। संसारका वियोग ही मुख्य है—ऐसा जाननेसे दुःख नहीं होगा। सूर्यास्त होनेसे लोग रोते हैं क्या? हर कार्यमें सन्देह है, पर मरनेमें सन्देह नहीं है। जिसके होनेमें सन्देह नहीं है, जो अवश्यम्भावी

है, उसमें चिन्ता क्यों करें? यह मृत्युलोक है, इसमें सब मरने-ही-मरनेवाले रहते हैं। आनेवाला जानेवाला ही होता है—यह नियम है। संयोग होते ही वियोग शुरू हो जाता है। जिस क्षण धनवान् हुआ, उसी क्षण निर्धन होना शुरू हो गया।

शरीरमें साढ़े तीन करोड़ रोम हैं, नौ छिद्र हैं, उसमें पवन (प्राण) टिका हुआ है—इसमें आश्चर्य है; वह निकल जाय तो क्या आश्चर्य है!

× × × ×

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चारोंके अन्तर्गत मनुष्यकी सब इच्छाएँ आ जाती हैं। अर्थ और कामकी प्राप्तिमें 'प्रारब्ध' की आवश्यकता है। धर्म और मोक्षकी प्राप्तिमें 'पुरुषार्थ' की आवश्यकता है।

सत्संगसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और स्वभाव ठीक बनता है। **शास्त्र पढ़नेसे मनुष्य बहुत बातें जान जायगा, पर स्वभाव नहीं सुधरेगा। स्वभाव सुधरेगा परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेसे।** रावण बहुत विद्वान् था, कई विद्याओंका जानकार था, पर उसका स्वभाव राक्षसी था। वेदोंपर भाष्य लिखनेपर भी उसका स्वभाव सुधरा नहीं। कारण कि उसका उद्देश्य भोग और संग्रह था, परमात्मप्राप्ति नहीं। जैसा स्वभाव होता है, वैसा ही काम करनेकी प्रेरणा होती है।

सत्संग, सच्छास्त्र और सद्विचारसे बहुत लाभ होता है। मैं सत्संगको मुख्य मानता हूँ। सत्संगसे बड़ा लाभ होता है। **शास्त्रोंमें, सन्तवाणीमें सत्संग और नामजपकी बड़ी महिमा आती है। दोनोंमें सत्संगसे बहुत जल्दी लाभ होता है।** पुस्तकें पढ़नेसे उतना बोध नहीं होता, जितना सत्संगसे होता है।

साधनमें, अपनी स्थितिमें सन्तोष करना बड़ा घातक है।

× × × ×

संसार निरन्तर जा रहा है। उसको सत्ता-महत्ता देना गलती है। कोई भी चीज सदा साथ रहनेवाली नहीं है—यह सबका अनुभव है। कम-से-कम अपने अनुभवका तो आदर करना चाहिये। हर समय भगवान्‌को याद करो, नामजप करो। हरदम सावधान रहो, न जाने कब जाना पड़े! सावधान करनेके लिये ही यह सत्संग है।

× × × ×

ध्रुवजीके प्यारमें धक्का लगा तो उनमें लगन पैदा हुई। **जब आशा भंग होती है, तब एक जागृति होती है।** नारदजीने उनको जंगलका भय भी दिखाया और लोभ भी दिया, पर ध्रुवजी पक्के रहे। वे ऐसी तत्परतासे भगवान्‌में लगे कि माँकी भी याद नहीं आयी और छः मासमें भगवान् मिल गये! **ऊपरसे तो तपस्या दीखती थी, पर भीतरमें लगन थी।** वे भगवान्‌से कुछ कह न सके तो भगवान्‌ने शंख छुआ दिया और उनकी सोयी वाणी जाग्रत् हो गयी। कारण कि सब शक्ति भगवान्‌से ही आती है। मनुष्य भूलसे उसको अपनी समझ लेता है।

भगवान्‌के देनेका ढंग ऐसा है कि वे जिसको वस्तु देते हैं, उसको वह वस्तु अपनी ही मालूम देती है! भगवान् कृपा करके मनुष्यशरीर देते हैं, पर हमें शरीर अपना ही मालूम देता है। यह दाताकी विलक्षणता है! यदि शरीर आपका है तो फिर उसको बीमार क्यों होने देते हो? मरने क्यों देते हो? शरीरपर आपका अधिकार चलता है क्या? **एक अँगुली कट जाय तो दुबारा नहीं बना सकते, फिर इतना बड़ा शरीर दुबारा कैसे बनेगा?** अपनेको बुद्धिमान् मानते हो, पर लकवा मार जाय तो? आँख कमजोर होती है तो चश्मा क्यों लगाते हो? अपने बलका अभिमान करते हो, पर जब पेशाब बन्द हो जाता है, तब?

यह कायदा है कि जब मनुष्य खुद मालिक बन जाता है, तब वह अपने मालिकको भूल जाता है। सत्संगसे जो लाभ होता है, वह सब परमात्मासे ही आता है। **सत्संगका मौका भी भगवान् अपनी कृपासे देते हैं।**

× × × ×

शास्त्रोंमें भक्तिकी बड़ी महिमा है। भक्ति सुगम भी है। **'भगवान् अपने हैं'—इस प्रकार भगवान्‌के**

साथ अपना सम्बन्ध माननेमें 'दूसरे अपने नहीं हैं'—यह मानना आवश्यक है। अपनेपनसे भगवान् बँध जाते हैं। दूसरी बातोंसे भगवान् बँधते नहीं। अपनापन होनेसे माँ स्वतः अच्छी लगती है।

भगवान्‌की प्रतीक्षा, लगन बहुत जल्दी भगवान्‌को मिलाती है। कीर्तन करनेसे बहुत लाभ होता है। **कीर्तन करनेसे भगवान्‌में प्रेम होता है। कीर्तनमें आनन्द-रूपसे भगवान् प्रकट होते हैं।**

× × × ×

क्रिया और पदार्थसे ऊँचा उठनेपर ही तत्त्वकी प्राप्ति होगी। क्रिया और पदार्थका उपयोग केवल दूसरोंके लिये किया जाय, निष्कामभावसे किया जाय तो हम क्रिया और पदार्थसे ऊँचा उठ जायँगे। यह कर्मयोग है।

क्रिया और पदार्थ हमारे थे नहीं, हैं नहीं, होंगे नहीं, हो सकते नहीं। ये संसारके हैं। इनको अपना मानना बेईमानी है।

× × × ×

संसारकी प्राप्ति अप्राप्तकी प्राप्ति है। जो हमारे पासमें नहीं है, उसकी प्राप्ति है। परन्तु परमात्माके विषयमें यह बात नहीं है। वह सबको नित्य-निरन्तर प्राप्त है। तो फिर बाधा क्या है? उनकी प्राप्तिकी जोरदार इच्छा नहीं है। परमात्माके समान दूसरा कोई नहीं है; अतः उनकी चाहनाके समान भी दूसरी कोई चाहना न हो। अनन्यचेता मनुष्यके लिये भगवान् सुलभ हैं—'**अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः**........' (गीता ८।१४)। 'अनन्यचेता' का तात्पर्य है—एक परमात्माके सिवाय अन्य किसीका महत्त्व न हो।

कोई जन्म गया तो अध्याय शुरू हो गया, मर गया तो अध्याय पूरा हो गया। इसमें राजी-नाराज होनेसे क्या लाभ? गीताजीका अध्याय पूरा होनेपर दुःखी होते हैं क्या?

पहले विद्यार्थी पढ़ाईके लिये परीक्षा देते थे, आज परीक्षाके लिये पढ़ाई होती है!

आप छोटोंपर दया नहीं करते तो बड़ोंसे दया माँगनेका आपको अधिकार नहीं है।

जो सेवा करते नहीं, प्रत्युत सेवा लेते हैं, उनके लिये जमाना खराब आया है। सेवा करनेवालेके लिये तो बहुत बढ़िया जमाना आया है!

× × × ×

गीता और रामायण दोनों बड़े विलक्षण ग्रन्थ हैं। रामायण लिखते समय गोस्वामीजी (श्रीतुलसीदासजी)-ने पहले 'अयोध्याकाण्ड' लिखा था; क्योंकि वे अपने लिये भरतजीको आदर्श मानते थे। अयोध्याकाण्डके आरम्भमें गुरु-वन्दना है।

गोस्वामीजी बहुत सावधानीसे लिखते हैं। उन्होंने भरतजी और ब्रह्माजीके चरणोंके लिये कमलकी उपमा कहीं नहीं दी है। कारण कि भरतजीका मनरूपी भ्रमर रामजीके चरण-कमलोंकी तरफ जाता है, अपने चरण-कमलोंकी तरफ नहीं। अपने चरण ज्यादा नजदीक होते हैं। ब्रह्माजी कमलसे उत्पन्न हुए हैं; अतः उनके चरणोंकी भी उपमा कमलसे नहीं दी।

रामायणमें गोस्वामीजी प्रायः रामजीके साथ ही रहते हैं, इसलिये रामजीके लिये *'इहाँ'* और रावणके लिये *'उहाँ'* शब्दका प्रयोग करते हैं; जैसे—'*इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा०*' (लंका० ११।१), *'इहाँ प्रात जागे रघुराई०'* (१७।१), *'इहाँ राम अंगदहि बोलावा०'* (३८।२), *'उहाँ दसानन सचिव हँकारे०'* (४८।२), *'उहाँ दूत एक मरमु जनावा०'* (५६।१)। परन्तु जब भरतजीका प्रसंग आता है, तब वे भरतजीके साथ हो जाते हैं; जैसे—*'उहाँ रामु रजनी अवसेषा०'* (अयोध्या० २२६।२), *'इहाँ भरतु सब सहित सहाए०'* (२३३।२)। कारण कि भक्त भगवान्‌से भी बढ़कर है—*'राम ते अधिक राम कर दासा'* (उत्तर० १२०।८)।

रामायणका 'तापस-प्रकरण' बड़ी विलक्षण घटना है (अयोध्या० ११०।४ से १११।३)। रामजीने भरद्वाज मुनिसे आगेका मार्ग पूछा तो मुनिने पचास शिष्योंको बुलाया। अठारह पुराण, अठारह उपपुराण,

चार वेद, चार उपवेद और छः शास्त्र—ये एक-एक पढ़े हुए पचास विद्यार्थी थे। उनमेंसे वेद पढ़े हुए चार विद्यार्थियोंको रामजीके साथ मार्ग दिखाने भेजा। फिर रामजीने यमुनाको पार किया। यमुनापार राजापुर गाँव आया। तब गोस्वामीजीके भीतर भाव आया कि यदि मैं उस समय होता तो मैं भी रामजीके दर्शन करता! ऐसा भाव आते ही वे मग्न हो गये। ध्यानावस्थामें वे रामजीसे मिले। कलियुगमें होनेवाले गोस्वामीजी त्रेतायुगमें रामजीसे मिलते हैं—यह विलक्षण घटना है! जब उनका ध्यान टूटा तो उन्होंने चार चौपाई और एक दोहा लिखा हुआ पाया, जिसको हनुमान्‌जीने लिखा।

भक्त अपनेको सदा छोटा (लघु) ही मानता है, तभी लिखा—*'लघुबयस'* (अयोध्या० ११०।४)। इसकी पहचान विनयपत्रिकामें है। गोस्वामीजी सीताजीकी विनयमें कहते हैं—***'कबहुँक अंब, अवसर पाइ। मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ॥'*** **भक्तोंका भाव सदा लघु ही रहता है, भगवान्‌के दर्शन होनेपर भी वे अपनेको बालक ही मानते हैं।**

गोस्वामीजी सन्त थे, कवि नहीं।

× × × ×

सभी साधनोंमें संसारसे उपराम होना आवश्यक है। न राग रहे, न द्वेष—यह उपरामता है। न तो कर्म करनेसे कोई मतलब रहे और न कर्म न करनेसे ही कोई मतलब रहे—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'** (गीता ३।१८)। बाहर-भीतरसे उपराम हो जाय।

भीतरके त्यागको वैराग्य कहते हैं। बाहरसे त्याग करे या न करे, पर भीतरसे तो त्याग होना ही चाहिये। वैराग्य सबके कामकी चीज है। **वैराग्यसे उदारता आयेगी, जिससे व्यवहार भी उत्तम होगा। वैराग्यसे भी उपरामता श्रेष्ठ है।**

जिसका त्याग है, उसीका त्याग करना है। जो प्राप्त है, उसीको प्राप्त करना है। जो आपसे अलग है, उसीका वियोग होगा। जो चीज अपनी नहीं है, उसीसे उपराम होना है।

× × × ×

अपनेको शरीर माननेसे शरीरोंकी तरफ खिंचाव होता है। भीतरमें रुपयोंका महत्त्व हो तो रुपयोंकी तरफ मन खिंचता है। **मूल बात अपनेमें है।** कामीको स्त्री प्रिय लगती है। मोहीको परिवार अच्छा लगता है। लोभीको धन प्रिय लगता है। आपसमें स्वभाव मिलनेसे ही खिंचाव होता है—**'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'। खराबी हमारे चित्तकी है। अपने भीतरमें जो राग है, उसको हटायें। इसका बढ़िया उपाय है—सत्संग।**

जैसे अन्नकी भूख लगती है, ऐसे सुगन्धकी भूख नहीं लगती; उसके बिना हमारा काम चल सकता है। फिर भी सुगन्ध अच्छी लगती है तो हमारी वृत्ति बहुत नीची है!

जब वैराग्य हो जाता है, तब सिद्धियोंमें मन नहीं खिंचता। परमात्माके प्रेमके सामने ज्ञान भी फीका पड़ जाता है।

संसारका आकर्षण मिटानेका उपाय है—दूसरोंको सुख देना। दूसरोंको सुख देनेसे अपने सुखकी वृत्ति मिट जाती है।

× × × ×

वृत्तियोंके भाव और अभाव, आने और जाने—दोनोंको आप जानते हैं। आपमें न वृत्तिका भाव है, न अभाव है। नफा और नुकसानमें फर्क है, पर उसके ज्ञानमें क्या फर्क है? ज्ञान तो एक ही है। उस ज्ञानमें आप स्थित रहो तो तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। उपरति और वृत्तिमें फर्क है, पर उसके ज्ञानमें क्या फर्क है? आदमी आयें या चले जायँ, प्रकाशमें क्या फर्क पड़ता है?

× × × ×

निश्चय एक होना चाहिये। अनेक निश्चय होनेपर कोई भी काम सिद्ध नहीं होता और उम्र खत्म हो जाती है। कुछ भी करो, उम्र तो उतनी ही रहेगी। **भगवान्‌ने मानवशरीर उन्हींको दिया है, जिनको**

अपनी प्राप्ति (परमात्मप्राप्ति)-के योग्य समझा है। भोग तो प्रारब्धसे कुत्तेको भी मिल सकते हैं, पर भगवत्प्राप्तिरूप महान् लाभकी प्राप्ति मनुष्यशरीरमें ही हो सकती है।

जैसे यह पण्डाल सत्संगके लिये है, रहनेके लिये नहीं है, ऐसे ही यह मनुष्यशरीर रहनेकी जगह है ही नहीं। यहाँ रहनेकी रिवाज ही नहीं है।

× × × ×

खास बात है—अपने-आपको भगवान्‌का मान ले। अपने-आपको भगवान्‌का माननेसे मनुष्य सब काम भगवान्‌के लिये ही करेगा। **वह संसारका काम कर्तव्यरूपसे करेगा।** उसका व्यवहार भी परमार्थ हो जायगा। परन्तु **अपनेको संसारका माननेसे परमार्थका काम भी व्यवहारके लिये (सकामभावसे) होगा।**

× × × ×

भगवत्प्राप्ति चाहनेवालोंके लिये एक खास बात बतायी जाती है। सभी प्राणियोंके भीतर भगवान् विराजमान हैं—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९।४)। सब भगवान्‌के मन्दिर हैं, कोई दो खम्भोंवाला है, कोई चार खम्भोंवाला। '**मया ततमिदं सर्वम्**'—यह भगवान्‌ने अपना पता बताया है। अगर पता जान लें तो फिर भगवान् छिपते नहीं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६।३०)

'जो भक्त सबमें मुझे देखता है और मुझमें सबको देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

इसलिये सबमें भगवान्‌को देख-देखकर मस्त होते रहो! हिरण्यकशिपुने कहा कि भगवान् कहाँ हैं? प्रह्लादजीने कहा कि भगवान् कहाँ नहीं हैं? वाल्मीकिजीने भी कहा कि आप कहाँ नहीं हैं? स्याहीमें कौन-सी लिपि नहीं है? जनकजीने विश्वामित्रजीसे पूछा कि ये बालक कौन हैं? क्या ब्रह्म ही दो रूप धरकर आया है? तब भगवान् हँसे कि हमारी पोल मत खोल देना कि हाँ, ब्रह्म ही आया है! हँसी भगवान्‌की माया है। विश्वामित्रजी समझ गये; अतः बोले—***'रघुकुल मनि दसरथ के जाए। मम हित लागि नरेस पठाए॥'*** (मानस, बाल० २१६।४)।

× × × ×

परमात्मा स्वतःसिद्ध हैं। संसार बनावटी है। **करना भी अनित्य है और उससे प्राप्त होनेवाला फल भी अनित्य है।** स्वतःसिद्ध तत्त्वमें कुछ करना नहीं है। अपना होनापन स्वतःसिद्ध है। सहजावस्था स्वतःसिद्ध है। **स्वतःसिद्ध तत्त्वको प्राप्त करना ही मुक्ति है।**

भीतरकी लगनका नाम भजन है।

× × × ×

गीतामें सबसे बढ़िया बात है—'**मामेकं शरणं व्रज**' (१८।६६)। शरणागति गीताका सार है। **अगर आप अपना कल्याण चाहते हैं तो सच्चे हृदयसे भगवान्‌के शरण हो जायँ।** मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं—ऐसे शरण हो जायँ। सब चिन्ताएँ छोड़ दें। विवाह होनेपर कन्या चिन्ता नहीं करती कि रोटी-कपड़ा कौन देगा? पति तो मर भी सकता है, साधु-संन्यासी भी हो सकता है, त्याग भी कर सकता है, पर भगवान्‌में ये तीनों ही बातें नहीं हैं। भगवान्‌के साथ हमारा सदासे सम्बन्ध है।

× × × ×

प्रत्येक मनुष्य लाभ चाहता है, हानि नहीं चाहता। **पर वह अपने जीवनको देखे तो हानि ज्यादा होती है, लाभ कम। बाहरका लाभ दीखता है, पर भीतरकी हानि हो रही है।** बाहरकी चीज साथ चलेगी नहीं, भीतरकी चीज साथ चलेगी। धन कमानेमें झूठ, कपट, ठगी आदि करनेसे जितनी हानि होती है, उतने रुपये नहीं आते। जितने रुपये आते हैं, वे सब आपके काम नहीं आते।

नहिं असत्य सम पातक पुंजा।
गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥

(मानस, अयो० २८।३)

लाभ तिलकी तरह और पाप पहाड़की तरह होता है! **भजन-ध्यान, सत्संग आदि तल्लीन होकर नहीं करते, पर पाप तल्लीन होकर करते हैं, फिर लाभ कैसे हो?**

× × × ×

जहाँ लाभ होता न दीखे, वहाँ सच्चा साधक टिक नहीं सकता। काम, क्रोध, लोभ आदि दोष कम हुए हैं, अशान्ति कम हुई है तो समझे कि लाभ हुआ है। भोग और संग्रहमें ज्यादा मन लगता है तो समझे कि हानि हुई है।

रुपयोंके संग्रहसे कोई लाभ नहीं है। रुपये खुद काम नहीं आते, प्रत्युत खर्च करनेसे काम आते हैं। आपके काम खर्च आयेगा, रुपया नहीं। रुपया कामकी चीज नहीं है, खर्चा कामकी चीज है। रुपयोंसे रद्दी कोई चीज नहीं है। जीवनका निर्वाह चार चीजोंसे होता है—अन्न, जल, वस्त्र और मकान। रुपया खर्च करनेके लिये ही है, पर मनुष्य लोभके वशीभूत होकर रुपयोंका संग्रह करता है, खर्च नहीं। ज्यादा संग्रहसे केवल अभिमान ही बढ़ेगा—

संसृत मूल सूलप्रद नाना।
सकल सोक दायक अभिमाना॥

(मानस, उत्तर० ७४।३)

धनका अभिमानी आदमी सत्संगमें नहीं आ सकता। विचार करें, आपके खजानेमें दया, क्षमा, उदारता, त्याग आदि जमा हुए हैं कि नहीं? यह खजाना पूरा आपके साथ चलेगा। यह विचार करो कि लाभ किसमें है और हानि किसमें है?

× × × ×

एक परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य हो और 'परमात्मा हैं'—यह विश्वास हो। ज्ञानमें विवेक मुख्य है और भक्तिमें विश्वास मुख्य है—***'बिनु बिस्वास भगति नहिं'*** (मानस, उत्तर० ९० क)। विश्वाससे ही भक्ति होती है कि भगवान् हैं और वे मेरे हैं। दूसरेसे भय होता है—**'द्वितीयाद्वै भयं भवति'** (बृहदा० १।४।२)। भगवान् अपने हैं, दूसरे नहीं। अपनेसे भय नहीं होता। क्या माँसे किसीको भय होता है? केवल पालन करनेकी शक्तिका नाम भगवान् है।

भगवान् हैं, वे मिलते हैं और मेरेको मिलेंगे—यह विश्वास होना चाहिये।

× × × ×

गृहस्थाश्रम ब्रह्मविद्याकी, पारमार्थिक उन्नति करनेकी पाठशाला है। केवल अपना उद्देश्य बदल दें, भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य बना लें, फिर व्यवहार भी ठीक हो जायगा।

पारमार्थिक साधन करनेवालोंका व्यवहार भी बड़ा शुद्ध होता है। कारण कि स्वार्थ और अभिमानसे रहित होनेपर व्यवहार अच्छा हो जाता है।

रामराज्यकी सबसे अधिक प्रशंसा होती है; क्योंकि रामजीमें त्यागकी मुख्यता थी। उनमें राज्यका लोभ नहीं था।

× × × ×

समता स्वतः-स्वाभाविक है। राग-द्वेष कृतिसाध्य हैं। विषमता न करें तो समता स्वतःसिद्ध है।

भगवान्‌के साथ सम्बन्ध माननेका, प्रेम पानेका, तत्त्वज्ञान पानेका मौका मनुष्यशरीरमें ही है। अगर यह मौका खो दिया तो फिर कल्याण कहाँ करोगे? **उस मौकेमें भी सुन्दर मौका है—सत्संग।**

भगवान्‌ने अन्य योनियोंको तो कर्मफलभोगके लिये बनाया है, पर मनुष्यको केवल अपने लिये बनाया है। ऐसा विलक्षण शरीर पाकर भी भगवत्प्राप्ति नहीं कर रहे हैं—यह कितने पतनकी बात है!

कोई हिन्दू हो और उसको 'गीताप्रेस' का तथा मासिक पत्र 'कल्याण' का पता नहीं हो—यह आश्चर्यकी बात है!

× × × ×

धर्म आदिके प्रचारका काम भगवान्‌का नहीं है, प्रत्युत मनुष्यका (भक्तोंका) काम है। गीताप्रेसका इतना प्रचार इसलिये हुआ कि उसके पीछे एक महापुरुष (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)- का जीवन था। **एक भी व्यक्ति अपना जीवन दे तो बड़ा काम होता है।**

सुखदायी-दुःखदायी परिस्थिति सुखी-दुःखी करनेके लिये नहीं आती, प्रत्युत उन्नति करनेके लिये आती है। सुखी-दुःखी होना प्रारब्धका फल नहीं है, प्रत्युत मूर्खताका फल है। हमें दोनों परिस्थितियोंका सदुपयोग करना है, उन्हें साधन बनाना है। प्रतिकूल परिस्थितिमें ही जागृति आती है।

भोग-सामग्रीके रहते हुए जो वैराग्य होता है, वह असली और तेजीका वैराग्य होता है। मारसे वैराग्य तो कुत्तेमें भी होता है। लाठी मारनेसे वह भाग जाता है। यह असली वैराग्य नहीं है।

× × × ×

शरणागत होनेके बाद पूर्णता हो जाती है, कुछ करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता। शरण स्वयं होना है, मन-बुद्धिसे नहीं। स्वयंसे शरण होनेपर भूली नहीं होती। जैसे—'मैं ब्राह्मण हूँ'—यह स्वयंकी स्वीकृति होनेसे इसकी कभी भूली नहीं होती, ब्राह्मणपना निरन्तर रहता है।

भगवान्की कृपामें कभी कमी नहीं होती, कृपा माननेमें कमी होती है।

× × × ×

शरीरका निर्वाह प्रारब्धसे, पूर्व कर्मोंसे होता है। अर्थ (धन), धर्म, काम (भोग) और मोक्ष—इन चारोंमें अर्थ और कामकी प्राप्तिमें प्रारब्धकी मुख्यता है तथा धर्म और मोक्षमें पुरुषार्थकी मुख्यता है।

नीची जातियोंसे घृणा नहीं करनी है, प्रत्युत अपनी शुद्धि रखनी है। रजस्वला स्त्रीका स्पर्श नहीं करते तो यह शुद्धि है, घृणा नहीं।

आप धर्मकी रक्षा करो तो धर्म आपकी रक्षा करेगा। आप धर्मका नाश करोगे तो धर्म आपका नाश करेगा।

× × × ×

ममता भगवान्में होनी चाहिये—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'। 'दूसरो न कोई'*** **के बिना भगवान्में ममता (आत्मीयता) दृढ़ नहीं होती। संसारके साथ ममता तोड़नेका बहुत बढ़िया उपाय है—सेवा करना। सेवा करनेसे व्यवहार भी बढ़िया होगा और ममता भी टूट जायगी।** सभी सांसारिक सम्बन्ध सेवाके लिये ही हैं। माँ मेरी है तो सेवाके लिये है। उससे लेनेकी आशा न रखे। **सेवा लेना दोष नहीं है, लेनेकी आशा दोष है। आशा रखनेसे ममता बाँधती है।**

संसारका सम्बन्ध कच्चा है—थोड़े दिनोंसे है और थोड़े दिनोंतक रहेगा। कच्चे सम्बन्धवालेकी सेवा करो। स्वार्थका त्याग करके दूसरोंका हित करो। परहितके समान कोई धर्म नहीं है—***'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई'*** (मानस, उत्तर० ४१। १)। सेवाका भाव कल्याण करनेवाला है।

देनेके लिये ही लेना है और देनेके लिये ही देना है। लेनेका भाव पतन करनेवाला और देनेका भाव कल्याण करनेवाला है।

लोग कहते हैं कि साधु अच्छे नहीं हैं! साधु आकाशसे थोड़े ही आते हैं, वे आप गृहस्थोंसे ही आते हैं। घरमें जो निकम्मे होते हैं, वे साधु बन जाते हैं, फिर अच्छे साधु कहाँसे आयेंगे? **यदि अच्छे-अच्छे आदमी साधु हो जायँ तो साधु अच्छे हो जायँगे।**

× × × ×

बिना स्वार्थ महान् हित करनेवाले दो ही हैं—भगवान् और उनके भक्त। **जिसका स्वार्थका सम्बन्ध है, जो हमारेसे कुछ भी चाहता है, वह हमारा हित नहीं कर सकता।** निःस्वार्थभावसे सबका पालन-पोषण करना भगवान्का स्वभाव है। कोई भगवान्का कितना ही खण्डन करे, तो भी भगवान् उसपर कृपा करते ही हैं। भगवान् सब कुछ देते हैं, पर अपनेको जनाते नहीं। अपनेको छिपाकर देते हैं। हमें जो चीज मिलती है, उसे हम अपनी ही समझ लेते हैं—ये देनेवाले (भगवान्)-की विलक्षणता है। भगवान्ने हमें विवेक दिया है, जिससे हम दुनियाका उपकार कर सकते हैं, तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे सुहृद् भगवान्को आप अपना मान लें तो इतनेसे वे राजी हो जायँगे!

नामजपकी अपेक्षा भी भगवान्‌का हो जाना अधिक दामी है। पत्नी पतिका नाम नहीं लेती तो क्या वह पतिकी नहीं हुई?

नहीं रट्या तो क्या भया, घट्या न चाहिय हेत।
जैसे नार सुहागणी, पिय को नाम न लेत॥

× × × ×

समाधि भी कारणशरीरकी होनेसे 'लौकिक' है। समाधितक गुणातीत-अवस्था नहीं होती। मुक्तावस्थामें समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ नहीं होतीं। वह सहजावस्था है। सहजावस्थामें व्युत्थान नहीं होता। **मुक्त होनेके बाद विद्वत्संन्यास लेना पड़े—यह बात है नहीं।** जहाँतक अवस्था है, वहाँतक प्रकृति है। **भूमिका ज्ञानकी नहीं होती, प्रत्युत अज्ञानकी ही होती है।**

मुक्ति शरीरकी नहीं होती, नहीं तो मरनेवाले सब मुक्त हो जायँ। वर्ण और आश्रम शरीरके होते हैं। अतः वर्ण-आश्रमका अभिमान होगा तो मुक्ति कैसे होगी?

कुत्ते, गधे आदि भी स्वाभाविक ही अपने धर्ममें स्थित रहते हैं; क्योंकि उनके शास्त्र नहीं हैं। परन्तु मनुष्य अपने धर्मसे विचलित हो जाता है! मनुष्यको धर्मके बिना मर्यादामें कौन रखेगा? **माँ-बापकी आज्ञा मानो—यह धर्म सिखाता है, शासन नहीं।**

हमारे साथ शत्रुता रखनेवाला व्यक्ति यदि अधर्मका, झूठका आश्रय ले ले तो उससे डरना नहीं चाहिये। वह अपने-आप नष्ट हो जायगा।

गीतामें आया है—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(६। ९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और सम्बन्धियोंमें तथा साधु-आचरण करनेवालोंमें और पाप-आचरण करनेवालोंमें भी समबुद्धिवाला मनुष्य श्रेष्ठ है।'

जो स्वाभाविक हित करता ही रहे, वह 'सुहृद्' है। जो हितके बदले हित करे, वह 'मित्र' है। जो स्वाभाविक वैरी हैं (जैसे—बिल्ली-चूहा), वे 'अरि' हैं। जो किसी कारणसे वैरी हैं, वे 'शत्रु' हैं। शरीर सबके एक (पांचभौतिक) हैं और जीव भी सबमें एक है। पर समबुद्धिका तात्पर्य है कि सबमें परमात्मतत्त्व भी एक है—ऐसा देखना। सब जगह एक परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है—यह तात्त्विक समता ही वास्तवमें समता है। सबमें **परमात्मतत्त्वको देखना और हृदयमें राग-द्वेष न होना—यही सार बात है।**

व्यवहार विषम होनेपर भी तात्त्विक दृष्टि सम रहनी चाहिये। व्यवहारमें फर्क होनेपर भी हितका भाव एक रहे। साधुको अच्छी तरहसे भोजन कराओ और कसाईको उतना भोजन कराओ, जिससे वह जीता रहे, मरे नहीं—यह व्यवहार है।

गीताका सम्पूर्ण उपदेश समताका है।

× × × ×

करणनिरपेक्ष साधन बहुत ऊँचा, श्रेष्ठ साधन है। पर अभीतक मैं पूरा समझा नहीं सका हूँ। कोई भी कार्य करें तो करणकी सहायता लेनी पड़ती है। करणके बिना क्रियाकी सिद्धि नहीं होती। परमात्मा क्रियाका विषय नहीं है—यह खास बात है। साधन करणरहित नहीं है, प्रत्युत करणनिरपेक्ष है। परमात्माकी प्राप्तिमें न क्रिया है, न करण है, न कर्ता है। परमात्मा क्रिया और पदार्थसे अतीत है, फिर उसमें कारक कैसे होगा? वहाँ कर्तृत्व भी नहीं है, फिर करण वहाँ कैसे होगा? 'मैं हूँ'—इसमें करण अथवा कारक क्या करेगा? **'मैं हूँ'—यह आपकी सत्ता ही करणनिरपेक्ष साधन है।** अपनी सत्ता स्वतःसिद्ध है। स्वतःसिद्ध तत्त्वमें कोई कारक नहीं होता। परमात्मतत्त्व भी स्वतःसिद्ध है। वह कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित है।

परमात्माको क्रियाके द्वारा पकड़ नहीं सकते। पत्नीने स्वीकार कर लिया कि ये मेरे पति हैं—इसमें उसने क्या क्रिया की? केवल स्वीकार किया है। स्वीकृतिमें क्रिया नहीं होती। पति आदिकी स्वीकृति

तो अन्त:करणकी है, पर भगवान्‌की स्वीकृति स्वयंकी होती है। **'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं'—यह स्वीकृति करणनिरपेक्ष साधन है।** स्वीकृतिमें भूली नहीं होती। जैसे, मेरा विवाह हो गया—इसकी क्या एक भी माला फेरी है? कोई अभ्यास किया है? नींदसे भी उठाकर पूछो तो कहेंगे कि विवाह हो गया। **करणसापेक्ष साधनमें भूल होती है। करणनिरपेक्षमें भूल होती ही नहीं।** जहाँ करनेकी जरूरत होती है, वह सब करणसापेक्ष साधन है।

विवाहमें तो नया सम्बन्ध होता है, पर भगवान्‌का अंश सदासे है। भगवान्‌ने तो हमें स्वीकार कर रखा है, केवल हमें भगवान्‌को स्वीकार करना है। हमारा आधा विवाह तो हो रखा है, आधा बाकी है!

मैं पतिकी हूँ—इसमें कुछ करना नहीं है, पर उम्रभर पतिके घरका काम करना है। ऐसे ही हम भगवान्‌के हैं—इसमें कुछ करना नहीं है, पर उम्रभर भगवान्‌का काम करना है। पतिके सम्बन्धके बिना स्त्री बिन्दी भी नहीं लगाती! पति पासमें हो तो और तरहका, दूर चला जाय तो और तरहका, तथा मर जाय तो और तरहका शृंगार होता है। सब पतिके सम्बन्धसे ही है, उसके बिना नहीं।

ज्यों तिरिया पीहर रहै, पति को भूलै नाहिं।
ऐसे जन जग में रहै, हरि को भूलै नाहिं॥

करणनिरपेक्ष साधनसे अहंता शुद्ध होती है, अहंता मिटती है, अहंता बदलती है। कर्मयोगसे अहंता शुद्ध होती है, ज्ञानयोगसे अहंता मिटती है और भक्तियोगसे अहंता बदलती है।

× × × ×

अगर अपना भला चाहते हो तो कन्याका गर्भ कभी मत गिराओ। यह बड़ा भारी पाप है; क्योंकि कन्या मातृशक्ति है। कन्याको गर्भसे गिराना माताकी हत्या है, जिस माताके सिवाय संसारमें दूसरा कोई नहीं है। **रामजीने सीताकी रक्षा की तो स्त्रीकी नहीं, मातृशक्तिकी रक्षा की है।**

संसारमें पाँच धर्म मुख्य हैं—हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, पारसी और यहूदी। इन पाँचोंमें कल्याणप्राप्ति जितनी हिन्दूधर्ममें सुगम बतायी है, उतनी अन्य किसीमें नहीं।

दु:खमें जो लाभ होता है, वह सुखमें नहीं होता। दु:ख भगवान्‌के सम्मुख करता है, यदि न करे तो उसका नतीजा भी दु:ख ही होगा। एक दु:खका भोग होता है, एक दु:खका प्रभाव होता है। दु:खी होना दु:खका भोग है। **दु:खी न होनेसे दु:खका प्रभाव पड़ता है। प्रभाव पड़नेसे मनुष्य सन्त हो जाता है।** दु:ख आनेपर उसके कारणकी खोज करे—यह दु:खका प्रभाव है। दु:खी होते हैं मूर्खतासे, न कि परिस्थितिसे। सुख आया है दूसरोंको सुख देनेके लिये, न कि सुख भोगनेके लिये।

आज्ञा पालन करनेवाला पापका भागी नहीं होता, आज्ञा देनेवाला होता है। शास्त्रोंकी, गुरुजनोंकी **'परतन्त्रतामें भी स्वतन्त्रता'** है। उनकी बात न मानना, अपने मनके अनुसार काम करना **'स्वतन्त्रतामें परतन्त्रता'** है। राज्यकी, दुष्टोंकी **'परतन्त्रतामें भी परतन्त्रता'** है। तत्त्वज्ञ महापुरुषकी **'स्वतन्त्रतामें स्वतन्त्रता'** है। बड़ा तेलमें तला जाता है, छोटा मौज करता है!

× × × ×

सत्संग सुननेकी भी विद्या है। श्रोताको चाहिये कि वह वक्ताकी तरफ निरन्तर देखते हुए ध्यानसे सुने, इधर-उधर न देखे। नामजप स्वत: होता हो तो कोई बाधा नहीं है, पर जप भी करे और सत्संग भी सुने—ये दो बातें नहीं होंगी। या जप करो, या सत्संग सुनो। जैसे श्वास चलते हैं, आँखें खोलते-मीचते हैं तो उससे सत्संग सुननेमें कोई बाधा नहीं लगती, ऐसे ही स्वाभाविक जप होता हो तो बाधा नहीं लगती। **जो यहाँ सत्संगमें बैठे-बैठे राम-राम लिखते हैं, उन्हें घरमें समय नहीं मिलता, यहाँ निकम्मे बैठे हैं, इसलिये कापी भरते हैं। ऐसे लोग सत्संग नहीं सुन सकते।** जो काम करो, मन लगाकर करो। भोजन भी मन लगाकर करो। ऐसी आदत बन जायगी तो हरेक काममें बुद्धि काम करेगी।

एक माला जप मनसे ही करो और मनसे ही

उसकी गिनती करो। यह मन लगानेका अचूक उपाय है।

यदि किसीको सत्संग सुनना आ जाय तो वह बड़ा विद्वान् बन जाय! पढ़ा-लिखा उतना विद्वान् नहीं बन सकता। सत्संगसे सब तरहका ज्ञान होता है, जबकि ग्रन्थसे एक ही विषयका ज्ञान होता है। हाँ, **यदि कोई व्यक्ति गीताका ठीक तरहसे अध्ययन करेगा तो हरेक विषयमें उसकी बुद्धि प्रवेश करेगी।**

भगवान् और उनके भक्तोंका चरित्र पढ़नेसे अन्त:करण जितना शुद्ध होता है, उतना विवेकसे नहीं होता। कारण कि विवेकमें असत्‌की सत्ता रहती है, पर भगवान्‌के चरित्रमें केवल सत् रहता है।

अनुभवी पुरुषोंमें भी वक्ता कोई एक ही होता है। **तत्त्वज्ञ पुरुषके द्वारा जो तत्त्व मिलता है, वह अभ्याससे नहीं मिलता।** वक्ताके अनुभवमें और श्रोताके अनुभवमें बड़ा फर्क है। वक्ताका जो अनुभव है, वह उसकी बुद्धिमें पूरा नहीं आता। जितना बुद्धिमें आता है, उतना मनमें नहीं आता। जितना मनमें आता है, उतना वाणीमें नहीं आता। वाणीसे निकली हुई बातको श्रोता जितना सुनता है, उतना मनसे मनन नहीं करता। जितना मनन करता है, उतना बुद्धिसे निश्चय नहीं करता। जितना निश्चय करता है, उतना अनुभव नहीं करता।

सुननेमें सुनानेवालेकी बुद्धिकी प्रधानता रहती है, पुस्तक पढ़नेमें अपनी बुद्धिकी। अपनी माँके थनोंसे दूध पीनेसे बछड़ेकी जितनी पुष्टि होती है, उतनी केवल दूध पीनेसे नहीं होती।

तत्त्वज्ञान अन्त:करणसे नहीं होता। वहाँ करण भी नहीं रहता और कर्ता भी नहीं रहता। तत्त्वबोध करणरहित होता है। साधन करणनिरपेक्ष होता है। **तत्त्वज्ञानसे तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत अज्ञानका नाश होता है।** अज्ञानका नाश करके तत्त्वज्ञान स्वयं शान्त हो जाता है और स्वरूप (तत्त्व) शेष रह जाता है। **इस प्रकार जब तत्त्वज्ञान भी तत्त्वतक नहीं पहुँचता, फिर करण कैसे पहुँचेगा?**

ज्ञान स्वत:सिद्ध है। वह उत्पन्न नहीं होता। इसलिये ज्ञान होनेपर ऐसा नहीं होता कि पहले अज्ञान था, अब ज्ञान हो गया।

× × × ×

जिस परमात्माकी प्राप्ति चाहते हैं, वह मौजूद है। वह अभी है, अपनेमें है, अपना है। वह सबमें है, सब उसमें हैं। शरीर-संसार अपने नहीं हैं, उनकी सेवा करो। शास्त्र, संसारकी मर्यादाके अनुसार चलो। शरीर संसारका है, स्वयं परमात्माका है। **शरीर लग जाय सेवामें, आप लग जाओ भगवान्‌में।**

× × × ×

शास्त्रने स्त्रीके लिये गायत्री-मन्त्रका निषेध करके उसका तिरस्कार नहीं किया है, प्रत्युत उसकी आफत छुड़ाई है! राम-नामका जप गायत्री-मन्त्रसे कम नहीं है।

तत्त्वज्ञानसे निराश नहीं होना चाहिये। **तत्त्वज्ञान अज्ञानीको ही होता है, ज्ञानीको नहीं। मैं परमात्माको चाहता हूँ, संसारको नहीं—इतना होनेसे अन्त:करण शुद्ध हो गया!** अन्त:करणसे तत्त्वज्ञान नहीं होता। करणसे क्रियाकी सिद्धि होती है। जितने भी कारक हैं, सभी क्रियासिद्धिमें ही हेतु होते हैं। परमात्मतत्त्व क्रियासे अतीत है। इसलिये उसको अन्त:करणके द्वारा नहीं पकड़ सकते। **तत्त्वज्ञान अज्ञानका नाश करनेवाला है, स्वरूपको पैदा करनेवाला नहीं है।** अत: जब तत्त्वज्ञान भी परमात्मतत्त्वतक नहीं पहुँच सकता, फिर करण कैसे पहुँचेगा?

निष्कामभावसे किसीको एक गिलास पानी पिला दिया, रास्ता बता दिया तो यह थोड़ा-सा कर्म भी नष्ट नहीं होगा, कल्याण ही करेगा। **परन्तु लाखों रुपये लगाकर भी सकामभावसे यज्ञ आदि किया जाय तो वह फल देकर नष्ट हो जायगा।**

कल्याण चाहते हो तो निरन्तर नामजप करो और प्रार्थना करो कि 'हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं'। नामजपमें ऐसी शक्ति है कि जिज्ञासा भी जाग्रत् हो जायगी और उसकी पूर्ति भी हो जायगी। पर रात-

दिन लगातार जप करो।

खम्भेका अभाव नहीं है। अभाव प्रह्लादके भावका है। परमात्मा मैंपनसे भी नजदीक है। मैंपन प्रकृतिका है। **'मैं हूँ'—इसमें 'हूँ' में ही 'है' है!**

× × × ×

संसारमें आसक्त लोगोंके कल्याणके लिये कर्मयोग है—**'कर्मयोगस्तु कामिनाम्'** (श्रीमद्भा० ११।२०।७)। मनुष्यका कर्तव्य-कर्म करनेमें अधिकार है, फलमें नहीं—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** (गीता २।४७)। गृहस्थमें अपने-अपने कर्तव्यका पालन करें। दूसरे मेरी सेवा करें—इसकी इच्छा मत रखें। विवाह होनेपर जिम्मेवारी बढ़ जाती है; माँ-बाप तथा स्त्री-पुत्रोंके पालन-पोषणकी जिम्मेवारी आ जाती है। रामजीने सीताजीको छुड़ानेके लिये भरतजीसे सहायता नहीं माँगी। सुग्रीवसे भी तब सहायता ली, जब उसकी सहायता की। मुफ्तमें सहायता नहीं ली। उसका चार गुना उपकार किया, एक गुना लिया! उसको चार चीजें दीं—राज्य, खजाना, नगर और स्त्री—***'पावा राज कोस पुर नारी'*** (मानस, किष्कि० १८।२)।

भाईलोग सब काम रामजीको याद करके करें, बहनें सीताजीको याद करके करें।

× × × ×

एक क्रिया है, एक पदार्थ। क्रियासे कर्तव्यका पालन होता है। जो कर सकते हैं और जिसे करना चाहिये, वह 'कर्तव्य' है। कर्तव्यका पालन करना है, पर पदार्थकी चाह नहीं रखनी है। पदार्थोंकी चाहसे मनुष्यका पतन होता है। **यदि वह अपने कर्तव्यका पालन करे और पदार्थोंकी कामना न करे तो उसका कल्याण हो जायगा।**

क्रिया और पदार्थका राग ही बाँधनेवाला है। करने और पानेकी कामना, आसक्ति ही आवरण है। आवरण दूर होते ही मुक्ति स्वत:सिद्ध है।

× × × ×

परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं। जहाँ भक्त चाहे, वहीं वे प्रकट हो जाते हैं। प्रह्लादजीके लिये वे खम्भेसे प्रकट हो गये। केवल विश्वास कर लें कि भगवान् सब जगह परिपूर्ण हैं। **भगवान् प्रह्लादके लिये प्रकट हो गये तो क्या हमारे लिये प्रकट नहीं हो सकते? भगवान् सब जगह हैं तो यहाँ भी हैं, सब समय हैं तो अभी भी हैं, सबके हैं तो मेरे भी हैं—ऐसा दृढ़ विश्वास हो जाय तो भगवान् प्रकट हो जायँ!** जो सब जगह परिपूर्ण हैं, वे ही भगवान् प्रह्लादके इष्ट थे।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता २।१६)—इस आधे श्लोकमें सम्पूर्ण शास्त्रोंका भाव भरा पड़ा है। इसमें इतना भाव भरा है कि बुद्धि काम नहीं करती! मनुष्यमात्रका यह अनुभव है कि जो दीखता है, वह पहले था नहीं, पीछे रहेगा नहीं और अभी भी हरदम नहींमें जा रहा है। इसमें 'है'-रूपसे परमात्मा ही है। परमात्मा (है)-के बलसे ही संसार (नहीं) 'है' दीखता है—

जासु सत्यता तें जड़ माया।
भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस, बाल० ११७।४)

जैसे, चीनीके कारण ही बूँदी मीठी लगती है, अन्यथा चनेके आटेमें मिठास कहाँसे आयी? जैसे चीनीके कारण फीका चनेका आटा भी मीठा लगने लगता है, ऐसे ही 'है' के कारण 'नहीं' भी 'है' दीखने लगता है। **गुरु कहे कि 'है' और चेला मान ले कि हाँ, 'है' तो काम हो गया! चाहे विश्वास कर लो, चाहे अनुभव कर लो।**

हम भगवान्‌को नहीं देखते तो क्या भगवान् भी हमारेको नहीं देखते? क्या वे भी सूरदास हैं?

संसारको दु:खालय कहा गया है—**'दु:खालयमशाश्वतम्'** (गीता ८।१५)। दु:खालयमें सुख कैसे मिलेगा? पुस्तकालयमें भोजन कैसे मिलेगा? जो संसारसे सुख चाहता है, उसके लिये यह दु:खालय है और जो सेवा करता है, उसके लिये **'वासुदेवः सर्वम्'** है। संसारसे सुख चाहनेवाला

दु:खसे कभी बच सकता ही नहीं। सुखके भोगीको दु:ख भोगना ही पड़ेगा।

× × × ×

जो प्रतिक्षण मिट रहा है, उसे 'है' मान लेना अज्ञान है। जैसा है, वैसा जाननेका नाम ज्ञान है। **संसार प्रतिक्षण मिट रहा है—यह बात मनमें स्वत: रहनी चाहिये।** संसारका संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है। अनित्यको महत्त्व देनेसे नित्यकी प्राप्ति कैसे होगी? अनुकूलताकी आशा, कामना और भोग ही बन्धन है, असाधन है। सिद्धि साधनसे होती है, असाधनसे नहीं।

त्यागका सुख लेना भी भोग है, जो पतन करनेवाला है। त्यागका सुख अहम् भोगता है। अहम् (मैं-पन) ही संसार है, असत् है। अहम् संसारका, जन्म-मरणका मूल है। एकान्तका सुख भी अहम् भोगता है। **अत: त्यागका भी त्याग होना चाहिये।** 'मैं त्याग करता हूँ'—इसका भी त्याग करना है। अहम्का त्याग होनेपर व्यक्तित्व नहीं रहता।

× × × ×

दो चीजें हैं—बदलनेवाली और न बदलनेवाली। शरीर संसारमात्रका नमूना है। शरीर बदलनेवाला है, आप नहीं बदलनेवाले हैं। इन दोनों विभागोंको ठीक अलग कर लेना मुक्ति है, मिला लेना बन्धन है।

शरीर वह नहीं रहा, पर आप स्वयं वही हैं। स्वयंतक प्रकृति भी नहीं पहुँचती, फिर 'मैं रोगी हूँ'—यह कैसे? रोग स्वयंतक नहीं पहुँचता। **अगर उसका आपपर असर पड़ता है तो आप शरीरसे मिले हुए हो, ज्ञानकी बातें केवल सीख ली हैं।** सीखना नहीं है, अनुभव करना है। न तो शरीर रहता है, न आत्मा मरता है, फिर दोनोंकी एकता कैसे? **तत्त्वज्ञान होनेपर न शरीर बदलता है, न आत्मा, प्रत्युत स्वभाव बदलता है।**

तत्त्वज्ञानमें अभ्यास नहीं है। तत्त्वज्ञान विवेकसे होता है, अभ्याससे नहीं। मन लगानेमें, वृत्तियोंका निरोध करनेमें अभ्यास है। **जहाँ बोध है, वहाँ अभ्यास नहीं और जहाँ अभ्यास है, वहाँ बोध नहीं।** जहाँ छत है, वहाँ सीढ़ियाँ नहीं और जहाँ सीढ़ियाँ हैं, वहाँ छत नहीं।

मन सब जगह नहीं जाता। जैसे रेलगाड़ी वहीं जाती है, जहाँ पटरी बिछी है, ऐसे ही **मन वहीं जाता है, जहाँ हमने राग-द्वेषपूर्वक अपना सम्बन्ध जोड़ा है।**

× × × ×

अहम् (मैं-पन)-का भान होता है। जिसका भान होता है, वह अपना स्वरूप नहीं होता। जो अपना स्वरूप नहीं है, उसका त्याग हो सकता है। जाग्रत् और स्वप्नमें मैं-पन रहता है, पर सुषुप्तिमें मैं-पन नहीं रहता। सुषुप्तिमें मैं-पनके अभावका तथा अपने भावका अनुभव सबको होता है। मैं-पन और आप दो चीज हैं। दोनोंको मिलानेका नाम अज्ञान है।

× × × ×

प्राणिमात्र शान्ति चाहता है। जैसे भूख यह बात सिद्ध करती है कि खाद्य पदार्थ कोई है, प्यास यह सिद्ध करती है कि पेय पदार्थ कोई है, ऐसे ही शान्तिकी चाहना यह सिद्ध करती है कि शान्ति देनेवाली कोई वस्तु अवश्य है। अगर अन्न न होता तो भूख नहीं लगती। भूख-प्यास तो मिटकर पुन: लग जाती है, पर शान्ति एक बार मिलनेपर फिर कभी नहीं बिछुड़ती। भूख सबकी समान नहीं होती। मनुष्य अन्न चाहता है, पशु घास। परन्तु शान्तिकी भूख प्राणिमात्रमें समान है, चाहे वे जरायुज, अण्डज, स्वेदज अथवा उद्भिज्ज कोई प्राणी क्यों न हो। **सब प्राणियोंके भीतर एक अभाव, कमीका अनुभव होता है। इससे सिद्ध होता है कि कोई पूर्ण चीज अवश्य है।** वह पूर्ण चीज परमात्मा हैं—

पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

उस परमात्माकी भूख सबको है। **जिस वस्तुकी जितनी अधिक भूख (आवश्यकता) होती है, वह वस्तु उतनी ही अधिक व्यापक और सस्ती होती है।**

जैसे—अन्न, जल और वायु क्रमश: अधिक व्यापक और सस्ते हैं। मनुष्यको सबसे अधिक आवश्यकता परमात्माकी है, इसलिये **परमात्मा वायु और आकाशसे भी अधिक व्यापक और सस्ते हैं! उनकी तरफ दृष्टि चली जाय तो सब जगह वे-के-वे ही दीखेंगे—'वासुदेवः सर्वम्'**। उनपर सबका पूरा-का-पूरा अधिकार है।

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर किसी तरहकी किंचिन्मात्र भी अभावकी अनुभूति नहीं होती। दु:खका वहाँ स्पर्श ही नहीं है। उस तत्त्वकी प्राप्तिका खास उपाय है—उसकी लालसा, भूख, जिज्ञासा। एक व्यवसायात्मिका बुद्धि हो कि मेरेको परमात्मप्राप्ति ही करनी है। व्यवहार करते हुए यह भाव रखें कि दूसरोंको सुख कैसे हो? **मेरेको सुख कैसे हो—यह पतनकी बात है और दूसरेको सुख कैसे हो—यह उत्थानकी बात है। सब अपना सुख चाहेंगे तो एकको भी सुख नहीं मिलेगा, आपसमें लड़ाई हो जायगी।** रोटीके टुकड़ेके लिये कुत्ते आपसमें लड़ पड़ते हैं। **दूसरेको सुख हो—यह भाव सबके भीतर होगा तो सभी सुखी हो जायँगे।**

ज्यादा वस्तुएँ होनेसे ज्यादा सुख होगा—यह वहमकी बात है। उलटे दु:ख ज्यादा होगा।

देनेवाले सभी सज्जन होते हैं, लेनेवाले सभी सज्जन नहीं होते। खाऊँ-खाऊँ करनेवाले बुरी मौत मरेंगे! भागवतमें आया है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(७।१४।८)

'मनुष्यका अधिकार केवल उतने ही धनपर है, जितनेसे उसकी भूख मिट जाय। इससे अधिक सम्पत्तिको जो अपनी मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये।'

× × × ×

तीन चीज हैं—परमात्मा, संसार और जीव। जीवके एक तरफ संसार है, एक तरफ परमात्मा हैं। जीव स्वयं परमात्माका अंश है और शरीर संसारका अंश है। परमात्माके अंशको परमात्माके अर्पित कर दो और संसारके अंशको संसारके अर्पित कर दो। शरीर अपना नहीं है और अपने लिये नहीं है। शरीरसे साधन नहीं होता, प्रत्युत संसारका काम होता है।

ममताकी चीजसे तो वैराग्य हो सकता है, पर अहंताकी चीजसे वैराग्य नहीं होता। अत: 'मैं ब्रह्म हूँ'—इसमें अहंता साथमें रहनेसे जल्दी वैराग्य नहीं होगा। अहंतासे कैसे वैराग्य हो?

विवेककी अपेक्षा शरणागति श्रेष्ठ है।

× × × ×

हम संसारको ही चाहते हैं और परमात्माको भी चाहते हैं—यही बाधा है। **मनकी चंचलता ध्यानमें बाधक है, परमात्मप्राप्तिमें नहीं। परमात्मप्राप्तिमें अपनी चाहनाकी कमी बाधक है।** परमात्मप्राप्तिकी चाहना अन्त:करणकी नहीं है, प्रत्युत स्वयंकी है। अन्त:करणसे किये हुए साधनमें भूली होती है। चिन्मय-तत्त्वकी प्राप्ति जड़के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़के त्यागसे होती है।

'ऋतु आये फल होय'—यह बात संसारमें लागू होती है। परमात्मप्राप्तिकी ऋतु नहीं आती। केवल लालसाकी जरूरत है। **परमात्मप्राप्तिकी लगन नहीं है—यही बाधा है।** आपके मनसे नाशवान्‌का महत्त्व हट गया तो अन्त:करण शुद्ध हो गया।

अभ्याससे नयी अवस्था मिलेगी, तत्त्व नहीं मिलेगा। लगन हो तो तत्त्व दूर नहीं है। तत्त्वसे नजदीक कोई वस्तु आपके पास है ही नहीं। अहम् भी आपसे दूर है।

× × × ×

चित्तकी एकाग्रतापर जोर योगदर्शनने दिया है, वेदान्तने नहीं। सब दर्शनोंके अलग-अलग विषय हैं। गीताका विषय है—जीवका कल्याण कैसे हो? गीताने शरणागतिको मुख्य बताया है। शरणागति स्वत:सिद्ध है। भगवान्‌ने सबको अपनी शरणमें ले रखा है। इसलिये यह कोई नहीं कह सकता कि हमने

अपनी इच्छासे यह जन्म लिया है। किसका जन्म कहाँ करना है, किसको कहाँ भेजना है—यह निर्णय भगवान् लेते हैं।

'दूसरो न कोई'—यह माननेके लिये शरणागति है। **भगवान् परम स्वतन्त्र हैं, इसलिये उनको परवश होनेमें आनन्द आता है। जीव परतन्त्र है, इसलिये उसको स्वतन्त्र होनेमें आनन्द आता है।**

× × × ×

अपने उद्धारके विषयमें साधकको खुला रहना चाहिये, किसी एक मत, सम्प्रदाय, गुरु आदिमें बँधना नहीं चाहिये। वह गुरुमें निष्ठा तो रखे, पर बँधे नहीं। साधनकी निष्ठा तो रखे, पर बँधे नहीं। किसी एकमें बँधनेसे वह दूसरेकी बात नहीं सुनेगा, उसका तिरस्कार करेगा। सबमें सब तरहके आदमी होते हैं। अच्छे-बुरे सबमें होते हैं। अत: तत्त्ववादी बनें, मतवादी न बनें।

× × × ×

आराम, मान-बड़ाई भी चाहते रहें और तत्त्वप्राप्ति भी हो जाय—यह नहीं हो सकता। बातें सीख जाओगे, पर अनुभव नहीं होगा।

सुखके बाद दु:ख अवश्य आता है—यह नियम है। गीतामें आया है—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एव ते'** (गीता ५। २२) 'जो इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे पैदा होनेवाले भोग (सुख) हैं, वे दु:खके ही कारण हैं।' किसी वस्तु-व्यक्तिके मिलनेका जितना सुख होगा, उसके बिछुड़नेका उतना ही दु:ख होगा।

आप दूसरोंसे अपमान और निंदा नहीं चाहते, फिर दूसरेका अपमान और निंदा करनेका आपका क्या अधिकार है?

× × × ×

मैंपन राजा है। जो भाव मैंपनमें भर देते हैं, वह सबमें आ जाता है। मैंपनमें परिवर्तन करनेके लिये ही पहले लोग गुरु बनाते थे। **मैंपन ठीक हो जायगा तो सब क्रियाएँ ठीक हो जायँगी।** 'मैं साधक हूँ'—यह भाव निरन्तर रहेगा तो साधन भी ठीक होगा। सांसारिक काम करते हुए भी साधन होगा।

जैसी अहंता (मैंपन) होती है, वैसी ही क्रिया होती है। मनुष्य पहले चोर बनता है, फिर चोरी करता है। चोरी करनेसे चोरपना दृढ़ होता है। जीवन्मुक्त महापुरुषमें व्यष्टि अहंकार मिट जाता है, पर समष्टि अहंकार रहता है। व्यष्टि (चिज्जड़ग्रन्थि-रूप) अहंकारके मिटनेसे ही मुक्ति होती है।

× × × ×

मैं एक भिक्षा आपसे माँगता हूँ। इस भिक्षाको सभी दे सकते हैं। **हम यहाँ आये हुए हैं और जानेवाले हैं—इस भावको आप हर समय जाग्रत् रखें—यह भिक्षा माँगता हूँ!** ये दो बातें हर समय याद रहनी चाहिये। यह बातें सबके लिये हैं, चाहे किसी भी वर्ण, आश्रम आदिका कोई क्यों न हो। इनको याद रखना है, इनकी माला नहीं फेरनी है। यह पढ़ाईकी बात नहीं है, अनुभवकी बात है। आ तो गये, पर कब जायँगे, इसका पता नहीं है। जानेमें सन्देह नहीं है। हर बातमें सन्देह है, पर मरनेमें कोई सन्देह नहीं है।

× × × ×

मनुष्यमें तीन शक्तियाँ हैं—करना, जानना और मानना। इन तीनों शक्तियोंका सदुपयोग करना है। करनेकी शक्तिका सदुपयोग है—सेवा करना। जाननेकी शक्तिका सदुपयोग है—स्वरूपको जानना। माननेकी शक्तिका सदुपयोग है—भगवान्‌को मानना। भगवान्‌को मान ही सकते हैं, जान नहीं सकते। जाननेका विषय जीव और जगत् है। जिज्ञासा अधूरे ज्ञानमें होती है। जहाँ कुछ नहीं जानते अथवा पूरा जानते हैं, वहाँ जिज्ञासा नहीं होती।

विश्वास करनेयोग्य भगवान् हैं, संसार नहीं। संसार सेवा करनेयोग्य है। जो कुछ मिला है, संसारसे ही मिला है, इसलिये संसारकी सेवा करनी है। कुन्तीद्वारा सेवा करनेसे दुर्वासा-जैसे क्रोधी ऋषि भी प्रसन्न हो गये! **सन्त बढ़िया भोजनसे राजी नहीं**

होते, प्रत्युत भावसे राजी होते हैं।

× × × ×

साधनसे जो सुख मिले, उसका तिरस्कार नहीं करे, प्रत्युत उसमें सन्तोष न करे। इतनेसे क्या होगा, तत्त्वप्राप्ति होनी चाहिये—इस तरह सन्तोष न करनेसे साधक आगे बढ़ेगा।

मन तो सब समय भागता है, पर ध्यानके समय यह ज्ञान होता है कि मन भागता है तो समझे कि साधन शुरू हो गया। **चंचलता दीखने लग जाय तो समझे कि एकाग्रता शुरू हो गयी।**

× × × ×

संसारसे सम्बन्ध छूटनेपर जो सुख होता है, वह संसारके सम्बन्धसे नहीं होता—यह सबका अनुभव है। **सुषुप्तिमें अहंकारके न रहते जितनी शान्ति मिलती है, उतनी अहंकारके रहते मिल सकती ही नहीं।** सुषुप्तिमें जितनी शक्ति, नीरोगता, ताजगी आती है, उतनी जाग्रत्‌में आ सकती ही नहीं।

आप भगवान्‌को नहीं देख सकते, पर भगवान् आपके देखनेमें आ सकते हैं। भगवान्‌को मानना है, स्वयंको जानना है और सेवाको करना है। **अपनेको जाने बिना जाननेका अन्त नहीं आयेगा। सेवा किये बिना करनेसे पिण्ड नहीं छूटेगा। भगवान्‌को माने बिना निहाल नहीं हो सकेंगे।** कोई एक ठीक हो जाय तो तीनों ठीक हो जायँगे।

आपके माने बिना गुरु या ईश्वर आपका कल्याण कैसे करेंगे?

× × × ×

भोग और संग्रहमें इतने लग गये कि भोगोंको भी छोड़कर संग्रहमें ही लग गये! उत्तरोत्तर पतन ही हो रहा है। रुपयोंके लिये जमीनको भी बेच देते हैं। रुपयोंसे रद्दी चीज और कोई नहीं है। रुपया खुद किसी काम नहीं आता। हमारा रुपयोंमें जैसा आकर्षण होता है, वैसा आकर्षण भगवान्‌में होना चाहिये।

प्रेम ही राधा-तत्त्व है। भगवान् प्रेमके भूखे हैं। वे प्रेममें खिंचते हैं। प्रेममें केवल सुख देनेका भाव होता है। प्रेममें नित्ययोग है। मिलन और विरह—दोनों नित्ययोगमें ही हैं। प्रेममें जितना आनन्द है, उतना ज्ञानमें नहीं है। घड़ी मेरी है, मुझे मिल जाय—इस आकर्षणमें जो आनन्द है, वह आनन्द 'यह घड़ी है'—इस ज्ञानमें नहीं है। **प्रेममें ज्ञान फीका हो जाता है। श्रीजीका रागात्मिका प्रेम सभी प्राणियोंको प्राप्त हो सकता है।**

× × × ×

मनुष्यजीवनका समय बहुत कीमती है। इसकी कीमतका कोई पारावार नहीं है। इसलिये समयको व्यर्थ कार्योंमें खर्च न करें। जिस समयसे परमात्माकी प्राप्ति की जा सकती है, उस समयको नरकोंकी प्राप्तिके लिये खर्च न करें। अब जितना समय बचा है, उसे भगवान्‌में लगाओ।

सत्संगकी अन्तिम बात है कि 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह स्वीकार कर लो। भगवान्‌के तो हम हैं ही, पर आप स्वीकार करेंगे, तभी लाभ होगा। जैसे, घी गायके शरीरमें है ही, पर विधिपूर्वक निकाले बिना वह काम नहीं आयेगा। आप ये पाँच बातें मान लें—हम भगवान्‌के हैं। हम स्वर्ग, नरक आदि कहीं भी जायँ, भगवान्‌के ही घरमें रहते हैं। जो कुछ करते हैं, भगवान्‌का ही काम करते हैं। जो पाते हैं, भगवान्‌का ही प्रसाद पाते हैं। भगवान्‌के दिये प्रसादसे भगवान्‌के ही जनोंकी सेवा करते हैं।

शरीरको मालिकका घर मानकर उसकी सफाई करो, उसको अन्न-जल दो। हर समय प्रसन्न रहो। इसको गीताने मानसिक तप बताया है—'**मनःप्रसादः ………तपो मानसमुच्यते॥**' (१७। १६)।

× × × ×

भगवान्‌की शरणागति सर्वश्रेष्ठ साधन है। गीतामें सबसे अधिक शरणागतिकी महिमा है। गीताका सार शरण होनेमें है। शरण होनेमें कोई परिश्रम या कठिनता नहीं है। अपनेमें बड़प्पनका अभिमान शरणागतिमें बाधक है। भगवान्‌के शरण होनेपर भक्तका गोत्र बदल जाता है, वह 'अच्युतगोत्र' हो

जाता है—*'साह ही को गोतु गोतु होत है गुलामको'* (कविता० उत्तर० १०७)।

× × × ×

भगवत्सम्बन्धी बातोंमें किसीका भी कोई ठेका नहीं है। गुणोंको अपना मानना गलती है। **दूसरे हमारे गुण मानते हैं तो यह उनकी सज्जनता है, पर उन गुणोंको अपना मान लेना सज्जनोंकी सज्जनताका दुरुपयोग है।**

काम पैसोंसे नहीं होता, प्रत्युत व्यक्तियोंसे होता है। व्यक्ति अच्छे हों तो पैसोंकी कमी नहीं रहती।

सबमें भगवद्बुद्धि रखते हुए कीर्तन करें तो बड़ी शान्ति मिलती है। अपना सम्बन्ध हर समय भगवान्‌के साथ बनाये रखें। भगवान् मेरे हैं, मैं भगवान्‌का हूँ—इस तरह भगवान्‌में अपनापन रखें। संसारकी सेवाके लिये हम संसारके लिये हैं। सेवा करनेके लिये सभी हमारे हैं, पर लेनेके लिये कोई भी हमारा नहीं है।

भगवान्‌के यहाँ कोई छोटा-बड़ा नहीं होता—**'उदाराः सर्व एवैते'** (गीता ७।१८)। अर्थार्थी संसारकी दृष्टिमें तो 'मँगता' है, पर भगवान्‌की दृष्टिमें 'उदार' है!

× × × ×

अपने जीवनपर विचार करें कि जब-जब अपने बलका अभिमान किया और संसारपर विश्वास किया, तब-तब असफलता पायी। अपने जीवनको देखें कि मैं कहाँ था, कहाँ आ गया! कैसी-कैसी विपत्तियाँ आयीं और भगवान्‌ने किस तरह रक्षा की! किस तरह भगवान्‌ने सत्संगमें लगाया! **बिना चाहे उन्होंने कितनी कृपा की है! उस कृपाका भरोसा रखें।** उस कृपाको देखते रहें—**'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः'**। विचार करें कि किस-किस तरहसे भगवान्‌ने कृपा की है! हम भगवान्‌को दोष देते हैं, फिर भी वे कृपा करते हैं!

× × × ×

सीखी हुई बातसे कल्याण नहीं होता। रामायणमें आया है—

ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्र गुर घात॥

(उत्तर० ९९ क)

'मैं ब्रह्म हूँ'—यह सीखी हुई बात है। ब्रह्माकी उम्र बीत जायगी तो भी 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह अनुभव नहीं होगा। जब कभी अनुभव होगा, यही होगा कि मैं नहीं हूँ, ब्रह्म है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह उपासना है। **ज्ञानके आठ अन्तरंग साधनोंके बिना यह उपासना सिद्ध नहीं होती।** निदिध्यासनमें यह उपासना काम आती है। विधिपूर्वक किया गया काम ही सिद्ध होता है।

भगवान् पापी-पुण्यात्मा, अच्छे-बुरे सबमें हैं। परन्तु जैसे गायके पूरे शरीरमें घी रहता है, पर वह काम नहीं आता, ऐसे ही भगवान् सब जीवोंमें रहते हैं, पर वे पाप नहीं कराते। पाप कराता है काम अर्थात् कामना—**'काम एषः'** (गीता ३।३७)।

तत्परतापूर्वक, लगनसे नामजप करो तो कुछ वर्षोंमें, दस-बारह-पन्द्रह वर्षोंमें भगवत्प्राप्ति हो सकती है। पर कोरी माला फेरते रहोगे तो उम्रभर फेरते रहो, लाभ नहीं दीखेगा। **जबतक जड़ पदार्थोंमें रस लेते रहोगे, तबतक नामकी सिद्धि नहीं होगी। जबतक नाशवान् पदार्थोंकी इच्छा रहेगी, तबतक पाप छूटेगा नहीं, पाप होता रहेगा।**

× × × ×

सम्बन्धजन्य सब सुख दुःखके कारण हैं। सुख भोगनेवाला दुःखसे बच नहीं सकता। मनुष्य सुख भोगता है अपनी मरजीसे, दुःख भोगता है दूसरेकी मरजीसे। **सम्बन्धजन्य सुख चाहना मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग है।** सुखकी चाहना दुःखोंका घर है।

मूलमें इच्छा तो है परमात्माकी, पर इच्छा कर लेते हैं भोगोंकी और संग्रहकी। भोगेच्छाका ही त्याग करना है। हम बाहरी सुख चाहते हैं, इसीसे भीतरका सुख नहीं मिलता। **भूख है भीतर, पर संग्रह करते हैं बाहर, फिर भूख कैसे मिटेगी?** भूख है पेटमें,

हलुवा बाँधते हैं पीठपर!

× × × ×

भगवान्‌में अनन्त गुण, प्रभाव, तत्त्व आदि हैं। सृष्टिमें बहुत थोड़ी बात प्रकट हुई है, उसे जाननेवाले बहुत कम हैं। मनुष्य तो रुपयोंमें ही फँस गया! रुपये सबसे रद्दी चीज हैं। रुपयोंसे वस्तु अधिक कीमती है; क्योंकि रुपये खुद काम नहीं आते, जबकि वस्तुएँ खुद काम आती हैं। वस्तुओंसे स्थावर प्राणी श्रेष्ठ हैं। उनसे जंगम प्राणी श्रेष्ठ हैं। जंगम प्राणियोंमें गाय बहुत श्रेष्ठ है। आज रुपयोंके लिये गायको मार देते हैं! गायसे मनुष्य श्रेष्ठ है। आज रुपयोंके लिये मनुष्यका तिरस्कार कर देते हैं। दहेजके लिये स्त्रीको मार देते हैं! बुद्धि कितने पतनकी तरफ चली गयी! मनुष्यसे भी विवेक श्रेष्ठ है, और विवेकसे भी सत्-तत्त्व (परमात्मा) श्रेष्ठ है—**'त्वमेव सर्वं मम देवदेव'।**

जो नींद सबको शान्ति, सुख देती है, वही नींद भगवान्‌का भजन करनेवालेके लिये वैरिन हो जाती है! विघ्न हो जाती है! भजनकी कितनी विलक्षणता है!

जिस ब्रह्मविद्याका पात्र इन्द्र भी नहीं है, वही ब्रह्मविद्या मनुष्यमात्रको मिल सकती है! जिस प्रेमसे भगवान् भी वशमें हो जाते हैं, वह प्रेम हमें मिल सकता है! भगवान् प्रेमसे प्रकट होते हैं, प्रारब्धसे नहीं।

× × × ×

अपने होनेपनमें कोई क्रिया नहीं है। प्रकाशमें कोई क्रिया नहीं होती, वह तो ज्यों-का-त्यों रहता है। हमारे आने-जानेसे प्रकाशमें कोई फर्क नहीं पड़ता। ऐसे ही अपने होनेपनमें और ज्ञानमें कोई फर्क नहीं पड़ता। जाग्रत्‌में भावको और सुषुप्तिमें अभावको—दोनोंको आप जानते हैं। सब आ जायँ अथवा सब चले जायँ, प्रकाशमें क्या फर्क पड़ा? जन्मने और मरनेमें फर्क है, पर दोनोंके ज्ञानमें क्या फर्क है? इस बातको मान लो कि यह तो है ही ऐसी बात। फिर राग हो जाय तो अपनेमें क्या फर्क पड़ा? **कभी राग हुआ, कभी वैराग्य हुआ, पर स्वयंमें क्या फर्क पड़ा? यही तत्त्वज्ञान है। इसमें स्थित होना ही जीवन्मुक्ति है। भगवान्‌के दर्शन तो भगवान्‌के अधीन हैं, पर तत्त्वज्ञान हम सबके हाथकी बात है।** तभी कहा है—***'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।'*** (मानस, उत्तर० ७३ ख)। बालकपन और जवानी मर गयी तो क्या आप मर गये? ऐसे ही शरीर मर जाय तो क्या आप मर जायँगे?

चाहे दीवारको देखें, चाहे स्त्री या पुरुषको देखें, दृष्टिमें क्या फर्क पड़ा? देखनेमात्रसे लिप्तता नहीं होती। लिप्तता आसक्तिसे होती है।

प्रेम बहुत सुगम है। मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं—यह प्रेम है। इसमें क्या कठिनता है?

संसारसे सम्बन्ध तोड़ना 'ज्ञान' है और भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ना 'भक्ति' है।

× × × ×

विषयोंकी आसक्तिसे बचनेका बढ़िया उपाय है—इन्द्रियविजयी विरक्त महापुरुषका संग। उनके पास बैठनेमात्रसे लाभ होता है। जीवन्मुक्त, अनुभवी महापुरुष सदा कम होते हैं। पहले भी वे कम थे, आजकल तो कलियुग है!

कलियुगमें साधनसे जल्दी सिद्धि होती है। नामजप करे और प्रार्थना करे कि हे नाथ, बचाओ! इससे लाभ होता है। शास्त्रोंमें नामजप और सत्संगकी बहुत महिमा आती है। सत्संगसे जो लाभ होता है, वह साधनसे नहीं होता। साधकको चाहिये कि वह अकेला न रहे, बड़ोंके संगमें रहे। अपना पक्का विचार बहुत काम देता है। भक्तोंकी कथाएँ पढ़नेसे बड़ा लाभ होता है।

जब भगवान्‌में मन लग जायगा, तब भोग फीके हो जायँगे। स्तुति-प्रार्थना करते-करते भी मन लग जाता है। पद गानेसे भी मन लग जाता है। स्तुति या पदके जिस स्थलपर मन लग जाय, उसको बार-बार दुहराता रहे।

काम-धंधा करते हुए जिस समय अचानक

भगवान्‌की याद आ जाय, उस समय सब काम छोड़कर भजनमें लग जाय; क्योंकि उस समय भगवान्‌ने हमें याद किया है।

कामनाके वशीभूत मनुष्यको अच्छी बात भी उलटी जँचती है।

मनुष्य भगवान्‌की कृपासे ही भोगोंसे बच सकता है, अपनी शक्तिसे नहीं। अतः भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये।

× × × ×

अपने पास जो भी चीज है, वह मिली हुई है और बिछुड़ जायगी। उसपर हमारा आधिपत्य नहीं है। उसके सदुपयोगका अधिकार मिला है। जैसे धनवान्‌में धनके सिवाय कोई विशेषता नहीं है, ऐसे ही संसारमें नाशके सिवाय कोई विशेषता नहीं है। इसमें अपनापन छोड़ दें। 'मैं नहीं, मेरा नहीं, यह तन किसीका है दिया'—यह शरीर किसीका दिया हुआ है, अपना नहीं है। इसमें देनेवालेकी विलक्षणता है और लेनेवालेकी बेईमानी है! देनेवाला इस ढंगसे देता है कि लेनेवालेको वह चीज अपनी ही मालूम देती है—यह देनेवालेकी विलक्षणता है। मिली हुई चीजको अपनी ही मान लेना लेनेवालेकी बेईमानी है।

जानेवालेका संग करना कुसंग है।

× × × ×

मनुष्यमात्रका चरम लक्ष्य है—प्रेम। प्रेमकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌को अपना मान लो। भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध नित्य है। सांसारिक वस्तुओं-व्यक्तियोंको अपना मानना बड़ी भारी बाधा है। उनको अपना न मानकर उनकी सेवा करो। संसारके सभी काम अन्तमें 'कुछ नहीं किया' के खातेमें जायगा!

संसारसे सुख लिया है, संसारके ऋणी हैं, इसीलिये संसार याद आता है।

× × × ×

भगवान् हैं, वे मिलते हैं और मेरेको मिलेंगे—यह बात भीतर बैठ जाय तो भगवान्‌के दर्शन हो जायँगे। भक्तिमें विश्वास मुख्य है। विश्वासकी कमीके कारण भगवान् होते हुए भी दीखते नहीं। विश्वासकी कमीका कारण है—संसारपर विश्वास करना। संसार प्रतिक्षण जा रहा है, नष्ट हो रहा है, उसपर विश्वास करना भूल है। संसार इतनी तेजीसे बह रहा है कि उसका वर्णन नहीं कर सकते। **जिसका निरन्तर अभाव हो रहा है, उसपर विश्वास ही भगवान्‌पर विश्वास नहीं होने देता। *'बिनु बिस्वास भगति नहिं'*** (मानस, उत्तर० ९० क)।

संसारको स्थायी माने बिना न सुख भोग सकता है, न दुःख।

× × × ×

मनुष्यजन्मका ध्येय परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति है। ध्येय पहले बना है, मनुष्यजन्म पीछे हुआ है। हम भगवान्‌में लग जायँ—इसीका महत्त्व है, अन्य किसीका महत्त्व नहीं है। मानव-जीवन मोक्षका द्वार है। मनुष्यशरीरमें ही जन्म-मरण शुरू हुआ है और मनुष्य-शरीरमें ही समाप्त होगा। इसलिये हृदयमें विचार कर लें कि चाहे कुछ हो जाय, अब मुझे भगवान्‌की तरफ ही चलना है।

काम-वृत्ति छूटनी बड़ी कठिन है, पर विचार (निश्चय) कर ले कि हम इस मार्गपर नहीं जायँगे तो वह सुगमतासे छूट जायगी। विचार करनेमात्रसे फर्क पड़ जायगा। **पक्का विचार करना असली सत्संग है।** विचार करनेसे सत्‌का संग हो जाता है। विचार करके फिर उसको छोड़ो मत। विचार करके फिर उसे छोड़ देनेसे आदत बिगड़ जाती है।

जैसे डालीसे लगा हुआ फल अपने-आप पक जाता है, बालक माँकी गोदीमें पड़ा-पड़ा अपने-आप बड़ा हो जाता है, ऐसे ही **सत्संगमें लगा हुआ मनुष्य अपने-आप विलक्षण हो जाता है।**

× × × ×

संसारमें कई तरहके बल हैं; जैसे बुद्धिबल, विद्याबल, धनबल, तनबल आदि। सबसे बढ़कर बल परमात्माका है। दुर्योधनके पास कई बल थे, पर युधिष्ठिरके पास धर्मका बल था। उनके सौमेंसे एक

भी नहीं बचा, इनके पाँचमेंसे एक भी नहीं मरा। अतः आप भगवान्‌का आश्रय रखो।

× × × ×

बालकपनमें मैं जो था, वही मैं आज हूँ—यह अनुभव करो। माननेसे काम नहीं चलेगा। शरीर वही नहीं है, वह तो प्रतिक्षण बदल जाता है। शरीरमें परिवर्तन हुआ है, स्वरूपमें नहीं। इसका अनुभव करना है। बदलनेको जाननेवाला बदलनेसे अलग होता है। आप और परमात्मा एक हैं। शरीर और संसार एक हैं। जैसे शरीर संसारका अंश है, ऐसे जीव परमात्माका अंश नहीं है।

ज्ञानयोगमें 'जानना' और भक्तियोगमें 'मानना' होता है। ज्ञानमार्गमें जानकर मान लेते हैं और भक्तिमार्गमें मानकर जान लेते हैं।

× × × ×

हिन्दुओंको आपसमें एकता रखते हुए भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। सच्चे हृदयसे भगवान्‌के भक्त बनो और एकता रखो। **धर्मका पालन नहीं है और इष्टमें श्रद्धा नहीं है, इसीलिये आज अराजकता हो रही है, नहीं तो *'बाल न बाँका कर सके जो जग बैरी होय'!***

अन्याय होता नहीं है, प्रत्युत अन्याय करते हैं। जो होता है, वह न्याय ही होता है। करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहो।

× × × ×

हम कोई चीज देखें तो उसके पीछे कोई कर्ता, बनानेवाला होता है। ऐसे ही इस सृष्टिका कोई कर्ता है। आकाशके तारे अपने-अपने मार्गपर चलते हैं, आपसमें भिड़ते (टकराते) नहीं, सूर्य समयपर उदय-अस्त होता है तो उसका संचालन करनेवाला कोई है।

भगवान्‌ने मनुष्यको अपने समकक्ष बनाया है। जीव भगवान्‌का सखा है—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।' (मुण्डक० ३।१।१, श्वेता० ४।६)। परन्तु स्वयं चेतन होते हुए भी जीवने अपने-आपको जड़के अर्पण कर दिया! भगवान्‌के रहते हुए तुच्छ जड़ चीजोंके अधीन हो जाना बड़ी गलती है।

साधकको बनना कुछ नहीं है। जीवन्मुक्त भी नहीं बनना है। बनेगा तो थप्पड़ खायेगा! भगवान्‌के तो हम पहलेसे ही हैं, फिर बनना क्या है?

× × × ×

समग्र भगवान्‌की उपासना गीताकी विशेष उपासना है। भगवान्‌की दृष्टिमें सब कुछ वे (भगवान्) ही हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९।१९)। महात्माओंकी दृष्टिमें भी सब कुछ भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७।१९)। परन्तु जीवकी दृष्टिमें जगत् है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७।५)।

संसारके सम्बन्धसे थकावट होती है। संसारका सम्बन्ध छूटनेपर बड़ा सुख मिलता है। सुषुप्तिमें अहम्‌के लीन होनेपर बड़ा सुख मिलता है, थकावट मिटती है और ताजगी आती है—यह सबका अनुभव है। **अहम् नहीं रहनेसे संसार नहीं रहता और बड़ी शान्ति रहती है। सुखके लिये परिश्रम करते हैं तो थकावट होती है। उस थकावटको भूलसे तृप्ति मान लेते हैं।**

× × × ×

मान्यता करनेका अर्थ स्वीकार करना है, सीखना नहीं। सत्संगके समय जो भाव रहता है, वह अन्य समय नहीं रहता—यह धारणा होनेसे ही ऐसा होता है। अतः ऐसी धारणा नहीं रखनी चाहिये। असली सत्संगसे फर्क पड़े बिना रहता ही नहीं। बेपरवाह होकर सुनोगे तो थोड़ा लाभ होगा। जागृति रखोगे तो ज्यादा लाभ होगा। बेपरवाहसे सुननेपर भी असर पड़ता है। धारण करनेके उद्देश्यसे सुनना चाहिये। सुननेवाला जिज्ञासु हो और सुनानेवाला अनुभवी हो, तब विशेष लाभ होता है।

× × × ×

कम-से-कम इतनी बात तो याद रखनी ही चाहिये कि हम यहाँ आये हैं और यहाँसे हमें जाना है। जैसे, अभी सत्संगमें यहाँ आये हैं और जाना पड़ेगा।

सत्संगसे जानेका समय तो निश्चित है, पर संसारसे जानेका समय निश्चित नहीं है, न जाने कब जाना पड़ जाय! आप यहाँ रहनेवाले नहीं हो। यहाँ डेरा लगाकर बैठ गये, इसीलिये चिन्ता नहीं हो रही है।

अपना कल्याण चाहनेवाले, साधन करनेवाले सत्संगमें नहीं आते तो इस बातपर मेरेको बड़ा आश्चर्य आता है।

जितनी भी अच्छाई है, सब भगवान्‌की है। जितनी भी विशेषता है, सब भगवान्‌की है। भगवान्‌की नहीं हो तो आये कहाँसे?

'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—यह स्वीकार कर लो तो यह भगवान्‌के यहाँ बीमा हो गया! फिर हर समय भगवान्‌को याद करते रहो, नामजप करते रहो—यह उस बीमाकी किश्त भरना है।

मीराबाईने कहा है—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'।*** इसमें ***'दूसरो न कोई'*****—यह भगवान्‌की कमजोरी है, जहाँसे भगवान् दब जाते हैं!**

एक बानि करुनानिधान की।
सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस, अरण्य० १०।४)

× × × ×

देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिका ज्ञान होता है। जिनका ज्ञान होता है, वह सब बदलनेवाला है। बदलनेवालेके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। जो बदलता है, वह अपना स्वरूप नहीं है। बदलनेवालेको जाननेवाला नहीं बदलता। जो नहीं बदलता, वह हमारा स्वरूप है। बदलनेवालेको महत्त्व देना गलती है।

करनेमें सावधान रहें, होनेमें प्रसन्न रहें। करनेमें हमारा हाथ है, होनेमें भगवान्‌का हाथ है।

× × × ×

श्रोता—*'निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा'॥* (मानस, लंका० ६१।७)—सुमित्राके दो पुत्र थे—लक्ष्मण और शत्रुघ्न, फिर यहाँ भगवान् रामने एक ही पुत्र होनेकी बात क्यों कही है?

स्वामीजी—उपर्युक्त चौपाईका ऐसा अर्थ लें—अपनी माँ (कौसल्या)-का मैं एक ही पुत्र हूँ और उसके प्राणोंका आधार तुम (लक्ष्मण) हो। ऐसा अर्थ माननेसे शंका नहीं रहती। दूसरी बात, यह भगवान् रामका प्रलाप था। प्रलापमें कही बातका प्रमाण नहीं माना जाता। तीसरी बात, 'अपनी माँके तुम एक ही भक्त बेटे हो'; क्योंकि—***'पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई'॥*** (मानस, अयो० ७५।१)।

यह कलियुगका प्रभाव है कि झूठ-कपटसे धन आता हुआ दीखता है, जिससे मनुष्य झूठ-कपटमें लग जाय! सच्चाईका बड़ा प्रभाव होता है। आश्रय भगवान्‌का लो, धनका नहीं। ब्याजसे काम चलायेंगे—यह धनका आश्रय है।

आध्यात्मिक मार्गमें केवल लगनकी जरूरत है।

× × × ×

श्रोता—कामवृत्ति कैसे मिटे?

स्वामीजी—मनुष्यके लिये खास बाधक दोष है—कामना। ऐसा हो जाय, ऐसा न हो—यह कामना है। कामना आये या जाय, आप तटस्थ रहो। न इच्छा करो, न द्वेष। उसके साथ मत मिलो। कामवृत्ति बड़ी प्रबल होती है, पर वह आने-जानेवाली है। आप रहनेवाले हैं। अतः आप एक पक्का विचार कर लें कि मुझे कामके वशीभूत नहीं होना है। दूसरा उपाय है—भगवान्‌से प्रार्थना करो कि हे नाथ! मुझे बचाओ! तीसरा उपाय है—जिनके काम-क्रोधादि मिट गये हैं अथवा मिट रहे हैं, उनके पास रहो। इससे स्वाभाविक ही कामवृत्ति मिट सकती है। चौथा उपाय है—भक्तोंके चरित्र पढ़ो। पढ़ते-पढ़ते जहाँ गद्‌गद हो जायँ अथवा चुप, शान्त हो जायँ, वहाँ पढ़ना छोड़ दो। कुछ देर वैसा रहकर पुनः पीछेसे पढ़ना शुरू करो। कीर्तन आदिमें मन लग जाय तो उससे एक बल आयेगा। हर समय भगवान्‌में लगे रहो। एकान्तमें मत रहो। कामवृत्ति आये तो गीता-पाठ करने लग जाओ। अगर गीता कण्ठस्थ हो तो उलटा पाठ करो।

यह मत मानो कि कामवृत्ति आ रही है। वह तो जा रही है, निकल रही है—यह भाव दृढ़ हो जाय तो वह मिट जायगी। वृत्ति आ जाय तो सिर, अँगुली और जीभ हिलाकर 'ना' कहो। सत्संगसे बहुत लाभ होता है। दो-तीन बार फेल भी हो जाओ तो घबराओ नहीं। अन्तमें आपकी ही विजय होगी।

× × × ×

प्रश्न—गुरुसे लाभ कैसे लें?

उत्तर—जिससे लाभ लेना हो, उसीका हो जाय, उसके शरण हो जाय। जैसे, पत्नी पतिकी हो जाती है। उसका गोत्र भी बदल जाता है। वह उसी घरकी हो जाती है। ऐसे गुरुके शरण हो जाय। फिर गुरुकी कृपा अपने-आप होती है। जैसे, छोटा बालक केवल दूधके ही परायण रहता है तो बीमार पड़नेपर दवा माँको लेनी पड़ती है।

भागवतमें आया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(२।३।१०)

'जो बुद्धिमान् पुरुष है, वह चाहे निष्काम हो, समस्त कामनाओंसे युक्त हो अथवा मोक्षकी कामनावाला हो, उसे तो तीव्र भक्तियोगसे केवल पुरुषोत्तमभगवान्‌की ही आराधना करनी चाहिये।'

जैसे लोभीसे एक पैसेका भी नुकसान सहा नहीं जाता, ऐसे भक्तिमें किसी तरहका थोड़ा भी नुकसान न सह सकना 'तीव्र भक्तियोग' है। तीव्र भक्तियोगसे सब कामनाएँ मिट जाती हैं।

एक लक्ष्य बन जाय तो बहुत शान्ति मिलती है। एक भगवत्प्राप्ति ही करनी है, और कुछ करना है ही नहीं! कहीं जाना नहीं, कुछ लेना नहीं!

केवल भगवान्‌में ही प्रेम हो—यह सत्संग है।

× × × ×

दो विभाग हैं। एक उत्पन्न होनेवाली वस्तुका विभाग है और एक अनुत्पन्न तत्त्वका विभाग है। उत्पन्न होनेवाली वस्तुकी प्राप्तिके लिये क्रियाकी आवश्यकता है। अनुत्पन्न तत्त्वकी प्राप्तिके लिये जानने और माननेकी आवश्यकता है। स्वयंको जानना है और परमात्माको मानना है।

ज्ञानयोगमें विवेककी मुख्यता है। भक्तियोगमें विश्वासकी मुख्यता है। कर्मयोगमें निष्कामभावसे करनेकी मुख्यता है।

क्रियाकी प्रधानता संसारमें है। क्रियासे तत्त्वप्राप्तिमें देरी लगती है। **विवेक और भाव तेज हो तो तत्काल प्राप्ति होती है।** कारण कि जो पहलेसे विद्यमान है, उसकी प्राप्तिमें देरी क्या?

'है' के साथ 'नहीं' को मिलानेसे अर्थात् शरीरको मैं-मेरा माननेसे ही मरनेका भय लगता है। शरीरको लेकर ही जीनेकी इच्छा और मृत्युसे भय होता है। इच्छा और भयका त्याग हो तो मुक्त हो जायँ।

इच्छाके कारण ही संसारके साथ सम्बन्ध है। जड़की इच्छा है और परमात्माकी आवश्यकता है। इच्छाओंकी कभी पूर्ति नहीं होती। आवश्यकताकी पूर्ति होती है।

× × × ×

भक्ति होनेपर ज्ञान-वैराग्य अपने-आप आते हैं—*'राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं'॥* (मानस, उत्तर० ११९।२)। **भक्ति तपस्यासे प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत भगवान्‌में अपनापन करनेसे प्राप्त होती है—*'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'।*** भक्तिमें अनन्यताकी महिमा है—***'दूसरो न कोई'***।

भक्तिमार्गपर चलनेवालेको ज्ञान-वैराग्यके लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता। विषयोंसे और मान-बड़ाईसे स्वतः वैराग्य हो जायगा। शरीर तो मल-मूत्र पैदा करनेकी मशीन है, इसमें क्या राग हो सकता है? आकर्षण हो सकता है?

× × × ×

संसारमें जो 'है' दीखता है, वह परमात्माका स्वरूप है। वस्तुएँ अनेक हैं, पर 'है' एक है। **उस**

'है' के अन्तर्गत ही सब वस्तुएँ हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि एक 'है' के ही अन्तर्गत हैं। 'है' के अन्तर्गत ही उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय है। वह 'है' आपका स्वरूप है। शरीर आपका स्वरूप नहीं है।

सृष्टि निरन्तर प्रलयमें जा रही है। शरीर निरन्तर मौतमें जा रहा है। हम जी नहीं रहे हैं, मर रहे हैं। जानेवालेके साथ प्रेम करोगे तो रोना पड़ेगा। नाश होनेवालोंमें जो अविनाशीको देखता है, वही ठीक देखता है—'**विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति**' (गीता १३। २७)। नित्यका सहारा लो। नित्यसे प्रेम करो। नाशवान्‌को महत्त्व देना गलती है। जो है ही नहीं, उसमें बढ़िया क्या और घटिया क्या? **व्यक्तियोंकी सेवा करो और वस्तुओंका सदुपयोग करो।**

× × × ×

नवधा भक्तिसे प्रकट होनेवाली प्रेमलक्षणा भक्ति है। रागात्मिका भक्ति राधाजीकी और रागानुगा भक्ति जीवोंकी मानी जाती है, पर जीवोंकी भी रागात्मिका भक्ति हो सकती है।

ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग—दोनों ही आदरणीय हैं, कल्याण करनेवाले हैं।

कीर्तनमें जो आनन्द आता है, वह विषयोंसे होनेवाला नहीं है।

भगवान् जिस रूपमें आयें, उसी रूपके अनुसार उनकी पूजा करो। भीष्मजीने बाणोंसे भगवान्‌की पूजा की थी! जैसा देव, वैसी पूजा। भगवान् आततायी-रूपसे आ जायँ तो उनकी पूजा भी वैसी ही करो। इससे भगवान् बड़े प्रसन्न होंगे। हाँ, हृदयमें द्वेष, वैरभाव नहीं होना चाहिये। आततायीको मारनेका पाप नहीं लगता—ऐसा शास्त्रमें आया है। मारना उसको पापसे बचाना है। जैसे, फोड़ेको चीरकर या खराब अंगको काटकर डाक्टर रोगीको ठीक करता है।

× × × ×

जाग्रत्-अवस्थामें वृत्ति न बाहर हो, न भीतर तो वह 'जाग्रत् सुषुप्ति' है। जाग्रत् सुषुप्ति साधन है, जिससे संसारके साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। निरपेक्ष तत्त्वमें न जाग्रत् है, न सुषुप्ति है, प्रत्युत नित्यजागृति है। संसारको सत्ता और महत्ता देनेसे नित्यजागृतिका अनुभव नहीं होता।

परमात्माकी प्राप्ति नित्यप्राप्तकी प्राप्ति है। संसारकी निवृत्ति नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति है।

जैसे बर्फके घड़ेको पानीसे भरकर समुद्रमें छोड़ दें तो पानीके सिवाय कुछ नहीं है, ऐसे ही एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है। बाहर-भीतर सब जगह एक परमात्मा ही परिपूर्ण है—'**बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च**' (गीता १३। १५)। दही और मक्खन अलग-अलग होते हुए भी दीखते नहीं। परन्तु जब मक्खनको दहीसे अलग कर देते हैं, तब फिर वे मिलते नहीं।

× × × ×

शीघ्र भगवत्प्राप्ति चाहनेवालेको देरीसे प्राप्ति होती है और सुगमतासे भगवत्प्राप्ति चाहनेवालेको कठिनतासे प्राप्ति होती है।

भगवत्प्राप्ति किसी उपाय अथवा साधनसे नहीं होती। भगवान् किसी साधनके वशीभूत नहीं हैं। वस्तु जिस मूल्यसे मिलती है, उससे कम मूल्यकी होती है। भगवान्‌से अधिक मूल्यवाली कोई वस्तु है ही नहीं, जिससे भगवान् मिल सकें। **भगवान्‌के बिना रह न सकें, ऐसी व्याकुलतासे भगवान् मिलते हैं।** बालकके रोनेसे माँ आ जाती है तो माँ रोनेके वशमें नहीं है, प्रत्युत माँसे आये बिना रहा नहीं जाता! यह माँकी दया है। व्याकुलता तभी होगी, जब भगवान्‌के सिवाय किसी भी चीजकी कामना न हो। बालक केवल माँको ही चाहे, खिलौनेसे भी राजी न हो, तब माँ आती है।

भगवान् अत्यन्त नजदीक हैं। **छः महीनेके बाद ध्रुवजीका जो भाव हुआ, वह पहले होता तो पहले ही भगवान् मिल जाते!** भगवान् मैं-पनसे भी अधिक

नजदीक हैं। भगवान्‌से रहित कोई चीज है ही नहीं।

जिन वस्तुओंको आपने अपना मान रखा है, वही बाधक हैं। हमलोग मिश्रीके पहाड़पर बैठे हैं, पर मनमें नमक पकड़ रखा है!

× × × ×

ज्ञान और भक्तिकी चर्चा तो बहुत होती है, पर कर्मयोगकी नहीं होती। कर्मयोगको जाननेवाले बहुत कम हैं। यह केवल अभीकी बात नहीं है, पहले भी ऐसी बात थी—‘**स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप**’ (गीता ४। २)।

ज्ञानके बाद जो भक्ति होती है, वह बहुत विलक्षण होती है। ‘**मद्भक्तिं लभते पराम्**’ (गीता १८। ५४) ‘मेरी पराभक्तिको प्राप्त होता है’। नवधाभक्ति तो ‘अपरा’-भक्ति है, साधनभक्ति है। परन्तु पराभक्ति साध्यभक्ति है। यह प्रेमलक्षणा भक्ति है। पर इस तरफ ध्यान कम है। पराभक्तिकी प्राप्ति ज्ञान होनेपर भी होती है, पहले भी होती है। परन्तु **साधकको सन्तोष नहीं करना चाहिये, चाहे किसी मार्गसे चले। संसारमें असन्तोष नहीं करना चाहिये। अपनेको ज्ञानी या भक्त न मानकर साधक ही मानना चाहिये।** कहीं अटकना नहीं चाहिये। ज्ञान, भक्ति आदि किसी साधनको नीचा नहीं मानना चाहिये। दूसरोंकी निन्दा, तिरस्कार करनेवाला वास्तवमें अपने ही साधनमें बाधा लगाता है। **संसारकी भी निन्दा न करे, प्रत्युत उसका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) करे।**

× × × ×

मनुष्यमें तीन शक्तियाँ हैं—करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। इसलिये योग भी तीन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। तीनों योगमार्गोंसे कृतकृत्यता, ज्ञातज्ञातव्यता और प्राप्तप्राप्तव्यता हो जाती है। तीनों स्वतन्त्र साधन हैं।

स्वर्गमें भी दुःख मिलता है और नरकमें भी सुख मिलता है। स्वर्ग और नरकमें सब कर्म नहीं कटते, सब पाप-पुण्योंका क्षय नहीं होता।

रूपमें सुन्दरताकी और नाममें संख्याकी मुख्यता होती है। भगवान्‌का नाम और रूप दोनों ही विलक्षण हैं। इसलिये गोस्वामीजीने कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

(मानस, उत्तर० १३० ख)

परमात्मप्राप्तिके एक निश्चयमें बड़ी भारी शक्ति है—‘**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति**’ (गीता ९। ३१)। **निश्चय करनेमात्रसे बहुत पापोंका नाश हो जाता है।** परन्तु भोग और संग्रहमें आसक्ति होनेके कारण एक निश्चय नहीं होता।

पराभक्ति (प्रेमाभक्ति) होनेपर कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद है—इसका पता ही नहीं लगता।

× × × ×

खास ज्ञान है—विवेकज्ञान। यह विवेकज्ञान केवल तत्त्वप्राप्तिके लिये हो तो यह साधनज्ञान है। शरीर-संसार एक हैं और आत्मा- परमात्मा एक हैं। शरीरको संसारसे अलग मानना और संसारको शरीरसे अलग मानना अज्ञान है। संसारसे मिली वस्तुसे संसारकी सेवा करनी है। **पदार्थोंसे सेवा करनेसे ममता मिटती है और शरीरसे सेवा करनेसे अहंता मिटती है।**

विवेकज्ञान ‘साधनज्ञान’ है और तत्त्वबोध ‘साध्यज्ञान’ है। मोटरके प्रकाशकी तरह प्रत्येक कार्यमें विवेक आगे रहता है। यदि विवेकके अनुसार कार्य किया जाय तो वह विवेक तत्त्वबोधतक पहुँचा देता है। सत्संग और सच्छास्त्रसे विवेक बढ़ता है, पर उसके अनुसार आचरण करनेसे वह ठोस बढ़ता है। विवेक ही गुरु है। जिसके द्वारा विवेक मिलता है, वह भी गुरु हो जाता है।

अपनी जानकारी दूसरोंके काम तो आये, पर अपने काम न आये—यह गलती है।

× × × ×

वेदोंमें, शास्त्रोंमें गायकी बड़ी महिमा आयी है। उसका गोबर-गोमूत्र भी पवित्र है। गोबरमें लक्ष्मीका और गोमूत्रमें गंगाका निवास माना गया है। गोबर-

गोमूत्रसे ही शुद्धि की जाती है। जनेऊ-संस्कारके समय पंचगव्य काम आता है। आयुर्वेदमें कई दवाएँ भी गोमूत्र, छाछ आदिसे बनती हैं। गोमूत्रसे दमा आदि कई रोग शान्त होते हैं। दूध पीनेवाली बछड़ीका मूत्र लेना चाहिये। गोबर और मिट्टीमें जहर खींचनेकी शक्ति है।

भैंसेपर यमराज चढ़ते हैं और बैलपर शंकर चढ़ते हैं। गोधूलिका समय बड़ा मांगलिक होता है। विवाहका लग्न और न मिले तो गोधूलिके समय विवाह करते हैं। गोरक्षाके लिये अर्जुनने बारह वर्षका वनवास सह लिया!

× × × ×

मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं—इसके लिये कोई उपाय नहीं होता। **यह बात स्वयंसे माननेकी, स्वीकार करनेकी है।**

जो कभी योगी, कभी भोगी बनता है, वह भोगी ही रहता है। योगीकी खास बात है—सुखभोगका उद्देश्य न होना। पक्का निश्चय हो जाय कि मुझे परमात्माकी प्राप्ति ही करनी है तो वह योगी हो जाता है। जितनी दृढ़ता होगी, उतनी जल्दी योगी होगा।

अनुकूलता-प्रतिकूलतामें राजी-नाराज होना साधकके लिये खास बाधक है। राग-द्वेष ही हमारे असली शत्रु हैं—'**तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ**' (गीता ३। ३४)। राग ठण्डक है, द्वेष गरमी है, दोनोंसे ही खेती जल जाती है।

भोगी योगी नहीं होता, प्रत्युत रोगी होता है—'भोगे रोगभयम्'। जो हर समय सावधान रहता है, वही साधक होता है। गीताका योग सबसे श्रेष्ठ है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)।

× × × ×

'मेरे तो गिरधर गोपाल'*—यह शरणागतिका साधन है।** इसकी दृढ़ताके लिये ***'दूसरो न कोई' है। एक भगवान्‌की तरफ वृत्ति रहे—यह अनन्यता है। **भगवान्‌के किसी भी रूपका आश्रय भगवान्‌का ही आश्रय है, अन्यका आश्रय नहीं है। संसारका आश्रय ही अन्यका आश्रय है।** इस अन्यके आश्रयके त्यागकी आवश्यकता है।

ज्ञान होना दोषी नहीं है, उसमें आकर्षण होना दोषी है। अच्छे-बुरेका ज्ञान होना दोषी नहीं है, उसमें राग-द्वेष होना दोषी है। मनका लगाव दोषी है। '**न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्**' (गीता ५। २०)—यहाँ प्रिय-अप्रियका तात्पर्य ज्ञान होना है अर्थात् अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञानमात्र। अनुकूलता-प्रतिकूलतामें हर्षित और उद्विग्न होनेसे हम फँस जाते हैं।

× × × ×

गीतामें आया है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

(३। ६)

'जो कर्मेन्द्रियों (सम्पूर्ण इन्द्रियों)-को (हठपूर्वक) रोककर मनसे इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करते हुए बैठता है, वह मूढ़ बुद्धिवाला मनुष्य मिथ्याचारी (मिथ्या आचरण करनेवाला) कहा जाता है।'

मिथ्याचारीकी जो स्थिति है, वही स्थिति आरम्भमें साधककी भी होती है; परन्तु साधकका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका होनेसे वह मिथ्याचारी नहीं है। मिथ्याचारी तो विषयोंका चिन्तन करता है, पर साधकके द्वारा न चाहते हुए भी विषयोंका चिन्तन होता है। विषयोंका चिन्तन करना दोषी है, होना तो परवशता है। क्रिया एक दीखनेपर भी भावमें भेद है। एक चिन्तन करता है, एकका चिन्तन होता है। एकका उद्देश्य मान-बड़ाई आदिका है, एकका उद्देश्य भगवान्‌का है। भगवान् भाव देखते हैं। नीयत ठीक होनी चाहिये।

× × × ×

संन्यासीके लिये कनक-कामिनी (धन और स्त्री)-का त्याग मुख्य है। गृहस्थके लिये परधन-परस्त्रीका त्याग मुख्य है। **सब विकारोंके नाशका उपाय है—**

सबमें भगवद्भाव करना।

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धाऽसूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १५)

'जब भक्तका सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर मेरा ही भाव हो जाता है अर्थात् उनमें मुझे ही देखता है, तब शीघ्र ही उसके चित्तसे ईर्ष्या, दोषदृष्टि, तिरस्कार आदि दोष अहंकार-सहित सर्वथा दूर हो जाते हैं।'

विकारोंके नाशका दूसरा उपाय है—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥

(दोहावली २२)

श्रोता—जीवन्मुक्तमें भी दोष देखे जाते हैं—इसका खास कारण क्या है?

स्वामीजी—आपने उसको जीवन्मुक्त मान लिया—यही खास कारण है! दूसरा कैसा ही हो, आप अपने जीवनको निर्दोष बनायें।

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'—यह मीराबाईका बहुत बढ़िया मंत्र है! भगवान्‌का होकर भगवान्‌का भजन करो, संसारका होकर नहीं। भगवान् ही हमारे हैं। हमने अपनी मरजीसे जन्म नहीं लिया है, भगवान्‌ने जन्म दिया है।

आपके सामने छोटे भी चले गये, बड़े भी चले गये और समान अवस्थावाले भी चले गये। अतः आप तो मुफ्तमें ही जी रहे हो! वह जीना भगवान्‌के लिये कर दो।

जो चीज कम होती है, वह नष्ट होनेवाली होती है। सच्ची चीज कम नहीं होती। विकार कम होते हैं तो वे मिटनेवाले हैं।

कन्हैया तो बहुत चतुर है, पर किशोरीजी बहुत भोली हैं।

× × × ×

जो नित्य-निरन्तर प्राप्त है, उसीको प्राप्त करना है। जो निरन्तर जा रहा है, उसीका त्याग करना है। संसार निरन्तर अभावमें जा रहा है। उसका त्याग करनेका अर्थ है—उसकी इच्छा न रखना, उससे सुख न लेना। संसार नदीके प्रवाहकी तरह निरन्तर जा रहा है। जो निरन्तर जा रहा है, मिट रहा है, उससे हमारा क्या मतलब सिद्ध होगा? ***'देखो निरपक होय तमाशा'!***

सम्पूर्ण संसार जाननेके अन्तर्गत आ रहा है। वह ज्ञान संसारके भाव और अभाव—दोनोंका प्रकाशक है। उसमें हमारी स्वतःसिद्ध स्थिति है। 'नहीं' को 'है' माननेका नाम ही अज्ञान है। ज्ञानके अभावका नाम अज्ञान नहीं है। यह मिट रहा है—इस मिटनेको जो जानता है, वह टिक रहा है।

श्रोता—यह सब जानते हुए भी संसारका आकर्षण न मिटनेका क्या कारण है?

स्वामीजी—संसारका आकर्षण न मिटनेका कारण है—नाशवान्‌-से सुख लेना। इसके लिये खास उपाय है—दूसरोंको सुख देना।

× × × ×

बालकमें साढ़े तीन अंगुल (जीभ)-का ज्ञान होता है। इससे आगे साढ़े तीन हाथ (शरीर)-का ज्ञान होता है। इससे आगे तीन जन्मोंका ज्ञान होता है।

भगवान् सात्त्विक, राजस और तामस कर्म करते हुए भी निर्गुण ही रहते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शंकर अपना कार्य करते हुए भी निर्गुण हैं। जीवन्मुक्त महापुरुष भी निर्गुण रहता है—**'गुणातीतः स उच्यते'** (गीता १४। २५)।

मनुष्यमें विवेकशक्ति विलक्षण है। **जो मुक्ति काशीमें मरनेसे होती है, वह मुक्ति हरेक मनुष्य कहीं भी कर सकता है।** शंकर भी जिसको जपते हैं, वह रामनाम हम कलियुगी जीवोंको मिल गया—यह कितने आनन्दकी बात है! ***'अवध तहाँ जहँ राम निवासू'*** (मानस, अयो० ७४। २)—जैसे जहाँ राम हैं, वहीं अयोध्या है, ऐसे ही जहाँ कृष्ण हैं, वहीं वृन्दावन है।

तीर्थमें बड़ी सावधानीसे रहना चाहिये। यहाँ

पुण्य भी बहुत होता है और पाप भी भयंकर होता है। इसलिये पहले लोग तीर्थमें दुकान नहीं करते थे। दुकानदारकी हर समय यह भावना रहती है कि अनाज महँगा हो जाय!

× × × ×

दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे, ज्ञानसे और शरणागतिसे—तीनोंसे सब पाप सर्वथा नष्ट हो जाते हैं[१]**।**

सत्संग करनेसे, पुस्तकें पढ़नेसे नित्य नयी-नयी बातें मिलती हैं। जैसे रोजाना भोजन करते हैं, ऐसे ही सत्संग भी रोजाना करना चाहिये। पुस्तक पढ़नेकी अपेक्षा सुननेकी अधिक महिमा है। पुस्तक पढ़नेसे अपनी बुद्धि काम करती है, सुननेसे दूसरेकी बुद्धि काम करती है। आध्यात्मिक मार्गमें उन्नतिकी कोई सीमा नहीं है। सत्संगकी बातें सुननेवालेको भी लाभ होता है और सुनानेवालेको भी—'**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ**' (गीता ३। ११)।

सन्त-महात्मा, बड़े-बूढ़े और दीन-दुःखी—ये भगवान्‌के रहनेके स्थान हैं, इनकी सेवा करो।

× × × ×

हम कल्याण, मुक्ति, तत्त्वज्ञान, जीवन्मुक्ति आदि जो भी चाहते हैं, वह स्वतः प्राप्त है। उसे बनाना नहीं है। वह तत्त्व नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों है। **केवल संसारकी आसक्तिके कारण उसका अनुभव नहीं हो रहा है।** उसको हमने दूर, क्रियासाध्य और समयसाध्य मान लिया—यह मान्यता बाधक हो रही है।

शरीर प्रतिक्षण बदल रहा है—यह आपका प्रत्यक्ष अनुभव है। जो बदलनेवालेको जानता है, वह न बदलनेवाला होता है। उस 'है' में ही रहना 'चुप साधन' है।

सत्संगकी ये बातें किसी जन्ममें नहीं मिलीं, यदि मिलतीं तो यह दशा क्यों होती! करोड़ों रुपये देनेपर भी ये बातें नहीं मिलतीं।

× × × ×

सब जगह परमात्मा ही हैं—यह भगवद्भाव विश्वाससे ही होगा। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो विश्वास न करता हो, पर परहेज भगवान्‌के विश्वाससे है! संसारपर विश्वास करते हैं और धोखा खाते हैं। साधुओंपर भी विश्वास करते हैं और धोखा खाते हैं।

करने और होनेका विभाग अलग-अलग है। करनेमें सावधान, होनेमें प्रसन्न—यह बहुत बढ़िया मन्त्र है।

हरेक परिस्थितिमें भगवान्‌की कृपाको देखो, कृपाको ढूँढ़ो, खोज करो। कृपा न दीखे तो भी मान लो। विश्वास करनेसे कृपाका अनुभव हो जायगा।

पुरुषमात्रको कृष्ण और स्त्रीमात्रको राधा मानकर नमस्कार करो। जड़-चेतन सबको दण्डवत् प्रणाम करो, न करो तो हाथसे नमस्कार करो। स्त्री-पुरुष, गधा, कुत्ता, कंकड़-पत्थर, मकान, वृक्ष आदि जो दीखे, उसे नमस्कार करना शुरू कर दो।

× × × ×

जैसे मकानमें रहते हुए भी हम मकानसे अलग हैं, ऐसे ही हम शरीरमें रहते हुए भी शरीरसे अलग हैं। फर्क यह है कि मकानसे हम अलग होते हैं, पर शरीर हमारेसे अलग हो रहा है, प्रतिक्षण जा रहा है। **शरीर हमारेसे अलग है—यह जान लेनेपर भोगोंमें, रुपयोंमें आकर्षण नहीं होगा।**

भूख-प्यास प्राणोंकी, शोक-मोह मनका और जन्म-मरण शरीरका होता है, पर आप भूलसे इनको अपना मान लेते हो।[२] ये आते-जाते हैं, आप रहते हो। ये आपमें नहीं हैं। आदर-निरादर शरीरका और

१. (१) यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते। (गीता ४। २३)
(२) अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यःपापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ (गीता ४। ३६)
(३) सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (गीता १८। ६६)

२. क्षुधा पिपासा प्राणस्य मनसः शोकमोहकौ। जन्ममृत्यू शरीरस्य षड्‌र्मिरहितः स्वयम्॥

निन्दा-प्रशंसा नामकी होती है। आप इनसे अलग हैं।

असत्‌से असंग होनेपर सत्संग होता है। यदि असत्‌से असंग नहीं हुए तो कोरी बातें सीखी हैं।

जो परमात्माकी तरफ ले जाता है, वह 'प्रेम' होता है। जो संसारकी तरफ ले जाता है, वह 'मोह' होता है।

× × × ×

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें अन्तःकरणकी शुद्धि कारण नहीं है। करण शुद्ध होनेसे क्रिया शुद्ध होती है, कर्ता नहीं। क्रियासे अतीत विषयके लिये करणकी जरूरत नहीं है। सभी कारक क्रियामें हेतु होते हैं। **परमात्मप्राप्तिमें देरीका कारण जिज्ञासाकी कमी है, अन्तःकरणकी शुद्धि-अशुद्धि नहीं।**

संसार प्रतिक्षण जा रहा है—इसको जाननेमें अन्तःकरणकी शुद्धिकी क्या जरूरत है? शरीर बदल गया, पर मैं वही हूँ—यह विवेक है, क्रिया नहीं। विवेक सबको प्राप्त है।

मूर्ख और गधा—दोनों सुखी (निश्चिन्त) रहते हैं; क्योंकि उनको पता ही नहीं कि क्या होगा, क्या नहीं होगा?

× × × ×

हमारे मनके प्रतिकूल जो परिस्थिति आती है, उसमें भगवान्‌की कृपा रहती है। भगवान्‌का विधान हमारे लिये मंगलमय होता है, चाहे हम समझें या न समझें। माँकी प्रत्येक चेष्टा बालकके हितके लिये ही होती है।

भगवान्‌के शरणागतको अपने मनके अनुकूलकी इच्छा करनी ही नहीं चाहिये। भगवान्‌के शरण हो गये तो वे जो चाहें सो करें। उनसे हमारा बुरा नहीं हो सकता। संसारसे भी हमारा बुरा नहीं हो सकता। भगवान् और संसार दोनोंको खुली छूट दे दो। गीतामें आया है—

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥
(६।४०)

'हे प्यारे! कल्याणकारी काम करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको नहीं जाता।'

भक्त सुखभोगके लिये भगवान्‌के शरण नहीं होता। यदि सुख चाहता है तो वह शरीरके शरण है, भगवान्‌के नहीं। प्रारब्धके भोगसे प्रारब्ध नष्ट होता है और हमारा ऋण उतरता है। **यदि प्रतिकूलता, बुखार, निन्दा, अपमान आदिमें आनन्द आये, तब समझना चाहिये कि हम भगवान्‌के शरण हुए हैं।** अनुकूल परिस्थितिमें तो खतरा है, पर प्रतिकूल परिस्थितिमें कोई खतरा है ही नहीं। माँ लड्डू तो सब बच्चोंको देती है, पर थप्पड़ अपने बच्चेको ही लगाती है। **अपनेपनमें जितना सुख है, मारमें उतना दुःख नहीं है।** वैद्य उसीको जुलाब देता है, जो रोगी हो। वह चाहे जुलाब दे, चाहे हलवा दे, दोनोंमें उसकी दृष्टि हितकी है। ऐसे ही भगवान् सदा मंगल ही करते हैं। पर पात्रके अनुसार मंगल करनेका तरीका अलग-अलग होता है।

सुख चाहनेवालेके लिये संसार दुःखालय है और सेवा करनेवालेके लिये भगवत्स्वरूप है।

× × × ×

संसार प्रतिक्षण जा रहा है। 'गति' निरन्तर नहीं रहती, पर 'स्थिति' निरन्तर रह सकती है। संसारका परिवर्तन किसी स्थायी तत्त्वके अधीन है। स्थायी तत्त्व परिवर्तनके अधीन नहीं है। गति अनित्य है, स्थिति नित्य है। संसारका संयोग अनित्य है, वियोग नित्य है। **अन्तिम साधन है—गतिरहित होना अर्थात् कुछ नहीं करना।**

सम्पूर्ण परिवर्तन कालके अधीन है। **तत्त्वज्ञान होनेपर मौतकी भी मौत हो जाती है।** जो करने-न-करने, गति-स्थिति आदि सबको प्रकाशित करता है, वह तत्त्व स्वतःसिद्ध है। उसमें स्थिति ही मुक्ति है। वह सबका प्रकाशक है, पर उसका प्रकाशक कोई नहीं है—'**सा काष्ठा सा परा गतिः**' (कठ० १।३।११)। वह सबका आश्रय, आधार, अधिष्ठान और प्रकाशक है।

× × × ×

प्रत्येक विचारमें पक्का रहनेका स्वभाव बनाना चाहिये। छोटी-छोटी बातमें पक्का रहनेका स्वभाव बनाये तो यही स्वभाव पारमार्थिक उन्नतिमें भी काम आयेगा। भगवान् रामके लिये आया है कि वे दो बार नहीं बोलते अर्थात् दो तरहकी बात नहीं करते—**'रामो द्विर्नाभिभाषते'** (वाल्मीकि०, अयो० १८। ३०)।

पुरानी रीति मिटाना कलियुगका खास लक्षण है। अपने रीति-रिवाज बदलोगे तो वे बदलते-बदलते मिट जायँगे अर्थात् उनको बदलना उनको मिटाना है।

जो अपनी बातपर पक्का रहता है, उसकी स्वाभाविक बहुत उन्नति होती है—'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन' (गीता २। ४१), **'सम्यग्व्यवसितो हि सः'** (गीता ९। ३०)।

जबसे मनुष्यने मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग किया, तभीसे जन्म-मरण आरम्भ हुआ।

मनुष्य बुरा होकर ही बुराई करता है और बुराई करनेसे बुरा होना दृढ़ होता है।

× × × ×

संयोग अनित्य है, वियोग नित्य है। आपका-हमारा पहले वियोग था, अन्तमें भी वियोग ही होगा। परमात्माका योग नित्य है; क्योंकि वे सदा रहते हैं। परमात्माका वियोग सम्भव ही नहीं है। परमात्मा नित्यप्राप्त हैं और संसार नित्यनिवृत्त है। संसारके वियोगको वर्तमानमें ही स्वीकार कर लें—***'अंतहुँ तोहिं तजैंगे पामर! तू न तजै अबही ते'।***

संसारका नित्यवियोग अनुभवमें आता है। परमात्माके नित्ययोगकी बात सन्त और शास्त्र कहते हैं। संसारकी सेवा करो और परमात्मासे मित्रता करो—***'नारायन ब्रजराज-कुँवर सों बेगहि करि पहिचान'।*** परमात्मासे प्रार्थना करो कि हे नाथ! आप हमें अच्छे लगो, प्यारे लगो। जिसका वियोग हो रहा है, उसका संयोग चाहते हैं—यही संसारका आकर्षण है।

× × × ×

जैसे बालक माँकी गोदमें जाता है, ऐसे ही हमें भगवान्‌के शरण होना है। यह शरणागति अत्यन्त सुगम है। माँकी गोदमें जानेमें क्या कठिनता? मुख्य बात है—मालिकका स्वीकार करना। भगवान्‌ने तो हमें अपने शरणमें स्वीकार कर रखा है—***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६। २)। केवल अपनी तरफसे हमें 'हाँ' कहनी है। कारण कि भगवान्‌से विमुख हम ही हुए हैं। 'हे नाथ! मैं आपके शरण हूँ'—ऐसा कहकर शरण हो जायँ। शरण होनेमें जाति, वर्ण, आश्रम, गोत्र आदि नहीं देखा जाता। भक्त अच्युतगोत्र हो जाता है। भगवान्‌के साथ जीवमात्रका नित्य-सम्बन्ध है।

× × × ×

जिसको प्राप्त करना है, उसमें हमारी स्वतः स्थिति है। शरीर-संसारका त्याग स्वाभाविक हो रहा है। परमात्मतत्त्व नित्य-निरन्तर प्राप्त है। वह कभी अप्राप्त नहीं हो सकता। केवल उसकी अप्राप्तिका वहम मिटाना है। वहम मिटानेमें ही देरी लगती है। नित्यप्राप्तको अप्राप्त और अप्राप्तको प्राप्त मान लिया—यह वहम है।

× × × ×

जो शिष्यका उद्धार कर दे, वही गुरु होता है। धन लेनेवाले गुरु तो बहुत हैं, पर हृदयका ताप हरनेवाले गुरु दुर्लभ हैं। हमने देखा है कि गुरु बनानेवाले और गुरु नहीं बनानेवाले—दोनोंका व्यवहार एक-जैसा है, उनके मनके विकार एक-जैसे हैं, फर्क कोई नहीं! आजकल गुरुका सम्बन्ध पारिवारिक सम्बन्ध-जैसा ही है। गुरु-शिष्यका सम्बन्ध अंध-बधिरके सम्बन्ध-जैसा है—

गुर सिष बधिर अंध का लेखा।
एक न सुनइ एक नहिं देखा॥

(मानस, उत्तर० ९९। ३)

अच्छे महापुरुष किसीको शिष्य नहीं बनाते, अगर बनाते हैं तो उसका उद्धार करना पड़ता है; क्योंकि उसको अपने यहाँ रोक लिया, नहीं तो वह कहीं और शिष्य बनता। अतः जो शिष्यका उद्धार कर सके, उसीको शिष्य बनाना चाहिये, अन्यथा नहीं

बनाना चाहिये। जैसे बिना बेटेके बाप हो ही नहीं सकता, ऐसे ही उद्धार किये बिना गुरु हो ही नहीं सकता।

'पाणी पीजै छाणियो, गुरु कीजै जाणियो'—पानी छानकर पीना चाहिये और गुरु जानकर करना चाहिये। भगवान् सबके गुरु हैं—**'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'**—उनका मन्त्र है—गीता। गीता सुननेसे अर्जुनका मोह नष्ट हो गया। अर्जुन भगवत्कृपासे ही मोहनाश मानते हैं—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत'** (गीता १८।७३)। आप भगवान्‌को गुरु मान लो तो काम हो जायगा! गुरु तो किसी एक सम्प्रदायका होता है, पर भगवान्‌में आपको अपनी योग्यताके अनुसार सब कुछ मिल जायगा।

गुरु तत्त्व होता है, मनुष्य नहीं होता। इसलिये कहा गया है कि गुरुमें मनुष्यबुद्धि और मनुष्यमें गुरुबुद्धि करना अपराध है। **कल्याण गुरु नहीं करता, प्रत्युत गुरुभक्तिसे कल्याण होता है।** आप गुरुको नहीं मानोगे तो क्या वह कल्याण कर देगा? कल्याण शिष्यके अधीन है।

गुरु तो मुझे बहुत मिलते हैं, पर चेला कोई नहीं मिलता! **शिष्य दुर्लभ है, गुरु नहीं। जिज्ञासु दुर्लभ है, ज्ञान नहीं। भगवत्प्राप्ति चाहनेवाला दुर्लभ है, भगवान् नहीं।** जैसे फल पक जाय तो तोता स्वयं उसके पास आता है, ऐसे ही योग्य शिष्यके पास गुरु स्वतः आता है। स्वयंज्योतिजी महाराज कहते थे कि भगवान् भूखेको मिलते हैं।

जो कहते हैं कि चेला बन जाओ तो ज्ञान देंगे, उनके पास ज्ञान नहीं है। जिसके भीतर चेला बनानेकी चाह है, वह तो चेलादास है, वह गुरु कैसे बनेगा? गुरु वही होता है, जिसमें किंचिन्मात्र भी कोई चाह नहीं होती।

× × × ×

स्वतः एक शान्ति विद्यमान है। उसमें चुप हो जायँ तो स्वतः उसका अनुभव हो जायगा। भजन-कीर्तन आदिसे जो शान्ति मिलती है, वह सांसारिक पदार्थोंकी नहीं है, प्रत्युत संसारका सम्बन्ध छूटनेकी है। सुख वस्तुके मिलनेसे नहीं होता, प्रत्युत भीतरसे उस वस्तुकी इच्छा निकलनेसे होता है। **शान्ति स्वतःसिद्ध है, किसीके अधीन नहीं है।** वास्तवमें सुख संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे होता है, पर वहम हो गया कि संसारके सम्बन्धसे होता है! यदि सांसारिक वस्तुके मिलनेसे सुख होता है तो फिर वस्तुके रहते-रहते दुःख क्यों आ जाता है?

त्यागीके चेहरेपर जैसी प्रसन्नता देखी जाती है, वैसी धनीके चेहरेपर नहीं।

× × × ×

हम यहाँ नित्य रहनेके लिये नहीं आये हैं। यहाँसे जानेका कोई निश्चित समय नहीं है। अचानक जाना पड़ेगा। इस विषयमें निश्चिन्त रहना गलती है। यहाँ जिस कामके लिये आये हैं, वही काम करना है। यहाँ भोग भोगनेके लिये नहीं आये हैं, प्रत्युत भजन करनेके लिये आये हैं।

जब मनुष्यकी दृष्टि भगवान्‌पर हो जाती है, वह भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, भजनमें लग जाता है, तब वह साधारण मनुष्य नहीं रहता—*'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥'*

× × × ×

हम समयके बलपर जी रहे हैं। समय सीमित है। यह बढ़ता नहीं, केवल खर्च होता है। जीनेका समय कितना बाकी है, इसका पता नहीं। इसलिये इसको बड़ी सावधानीसे खर्च करें।

वस्तु, सामग्री तो रहेगी, हम पहले मरेंगे। कम पैसे छोड़कर मरें या ज्यादा छोड़कर मरें, फर्क क्या हुआ? **खर्च न करो तो रुपये और रद्दी कागजमें, सोने और पत्थरमें क्या फर्क है? पैसा होना बड़ी बात नहीं है, उसका खर्च बड़ी बात है।** पैसा तो यहीं रह जायगा, पर कंजूसी साथ चलेगी।

समय देनेसे रुपये मिलते हैं, पर रुपये देनेसे समय नहीं मिलता। समय देनेसे भगवान् मिल सकते हैं!

× × × ×

भगवान्‌की कृपा तो सबपर सामान्यरूपसे है ही, पर जो उनके सम्मुख होता है, उसपर विशेष कृपा होती है।

जिसके मनमें भगवान् हैं, वहीं अयोध्या है, वृन्दावन है। ***'अवध तहाँ जहँ राम निवासू'*** (मानस, अयो० ७४।२)—जहाँ राम हैं, वहीं अयोध्या है, शेष सब जंगल है। इसलिये रामायणमें आया है—

जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृहँ चरन बन परबस गईं।
दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं॥

(उत्तर० ६)

कौसल्या आदि माताएँ जंगलसे आयी हुई गायोंके समान हैं, जो रामरूपी बछड़ेसे मिलनेके लिये दौड़ीं। कारण कि रामके न होनेसे अयोध्या जंगल थी!

सन्त-महात्माओंके आनेसे सभा और तरहकी हो जाती है। इसलिये कहा है—**'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः'** अर्थात् वह सभा सभा नहीं है, यदि उसमें वृद्ध पुरुष न हों। वृद्ध कई हैं, पर ज्ञानवृद्ध सबसे बड़ा है।

भगवान्‌की कृपा सबपर समान है। जैसे, सूर्यकी किरणें सबपर समान पड़ती हैं, पर कोई आड़ लगा दे अथवा आतशी शीशा लगा दे तो? **भक्तोंका अन्तःकरण आतशी शीशेकी तरह विलक्षण होता है, जो भगवान्‌को खींचकर प्रकट कर देते हैं—** ***'प्रेम बदौं प्रहलादहिको, जिन पाहनतें परमेस्वरु काढ़े'*** (कवितावली ७।१२७)।

भगवान् कृपासाध्य और साधनसाध्य दोनों हैं। विचार करें, खेतमें काम करनेसे पैसे खेतसे मिलते हैं या मालिकसे मिलते हैं? पैसे मिलते हैं काम करनेसे, और काम करनेसे मिलते हैं मालिककी आज्ञाका पालन करनेसे। यदि केवल काम करनेसे ही पैसे मिलते तो जंगलमें जाकर काम करनेसे मिल जाते! इसलिये भगवान्‌ने कहा है—**'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'** (गीता ११।३३) 'हे सव्यसाचिन् अर्थात् दोनों हाथोंसे बाण चलानेवाले अर्जुन! तुम निमित्तमात्र बन जाओ।' भगवान् कामके अनुसार नहीं देते—***'जन चाले इक पाँवड़ो, हरि चाले सौ कोस'।*** उनके सम्मुख हो जायँ, इतना ही हमारा काम है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४।१)

× × × ×

भागवतमें धन देनेवालोंको सबसे बड़े दाता नहीं कहा है, प्रत्युत उनको पृथ्वीके सबसे बड़े दाता कहा है, जो दूसरोंको भगवान्‌में लगाते हैं—**'भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः'** (१०।३१।९)। **धनके द्वारा जो उपकार होता है, उससे भी अधिक उपकार दूसरोंको भगवान्‌की तरफ लगानेसे होता है।** अन्तःकरणमें जड़ताका महत्त्व होनेसे ही लौकिक उपकार बड़ा दीखता है। जिसका पैसा ही लक्ष्य है, वह पारमार्थिक बातको नहीं समझ सकता।

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य श्रेयो न स्पर्शनं नृणाम्॥

(महाभारत, वन० २।४९)

'जो मनुष्य धर्मके लिये धनकी इच्छा करता हो, उसके लिये (धनकी इच्छा त्यागकर) निरीह बने रहना ही उत्तम है; क्योंकि कीचड़ लगाकर धोनेकी अपेक्षा उसका स्पर्श न करना ही उत्तम है।'

विचार करें, पैसे संग्रह करनेसे काम आयेंगे या खर्च करनेसे? **रुपयोंके संग्रहसे उनका खर्च बढ़िया है और खर्चसे उनका त्याग बढ़िया है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२।१२)।

धनी आदमी सबका शिकार होता है; जैसे गुड़को सब जगह खाया जाता है!

लोभी आदमी धनका सदुपयोग नहीं कर सकता।

× × × ×

आठों पहर भगवान्‌में लगे रहो—यह 'अष्टयाम सेवा' है। इस तरह सारी उम्र बीत जाय! **गोपीभाव**

प्राप्त करनेके लिये त्यागकी जरूरत है। पति-पुत्रोंके साथ भी गोपियोंका राग नहीं था। **कुटुम्बका मोह छूटे बिना गोपीभाव प्राप्त नहीं होता।** कुटुम्बियोंके जीने-मरनेका अपनेपर असर नहीं पड़े। कन्या ससुरालमें जाती है तो उसका कुटुम्ब-मोह सर्वथा छूट जाता है। **भोग और संग्रहमें आसक्ति होनेसे धार्मिक प्रवृत्ति भी नहीं होती, फिर गोपीभाव तो धार्मिक प्रवृत्तिसे भी बहुत ऊँचा है!** उद्धवजी-जैसे ज्ञानी भक्त भी गोपियोंकी चरण-रज चाहते हैं।

मरनेके बाद जैसी वासना होती है, वैसी ही गति होती है। जैसे, यहाँ सत्संगसे उठनेके बाद सब कहाँ जाते हैं? सब एक ही जगह जाते हैं क्या?

दान-पुण्य करनेके लिये रुपये कमानेकी आवश्यकता नहीं है। जैसे, **कोई व्यक्ति टैक्स देनेके लिये नहीं कमाता। दान-पुण्य भी टैक्स है। पैसा है तो दान-पुण्यमें लगाओ।** पैसा है, पर दान-पुण्य नहीं करते तो दण्ड होगा।

× × × ×

परमात्मा सबको सहज ही प्राप्त हैं, पर उस तरफ हमारी दृष्टि नहीं है। जैसे हम हाथ देखते हैं तो हमारी दृष्टि हाथपर ही जाती है, प्रकाशपर नहीं, जबकि वास्तवमें प्रकाश पहले दीखता है, हाथ पीछे दीखते हैं। सब वस्तुएँ प्रकाशके अन्तर्गत दीखती हैं। वस्तुओंके आने-जानेका प्रकाशपर फर्क पड़ता ही नहीं। इसी तरह ज्ञान ज्यों-का-त्यों रहता है। जन्मने और मरनेमें फर्क है, खम्भे और मनुष्यमें फर्क है, पर इनके ज्ञानमें क्या फर्क है? हम वस्तुओंको ही महत्त्व देते हैं, इसलिये ज्ञानकी तरफ दृष्टि नहीं जाती।

रुपयोंका संग्रह और संख्या केवल अभिमान बढ़ाती है। खर्च करनेसे ही रुपये अपने और दूसरोंके काम आते हैं, अन्यथा संग्रह पड़ा रहता है और मर जाते हैं! समय और सिक्का—दोनोंका सदुपयोग करना चाहिये। **संग्रह करनेवाला सन्त नहीं होता।**

जब बड़ा समुद्री जहाज डूबता है, तब छोटी-छोटी नावोंमें माल पार कर देते हैं। ऐसे ही धनका संग्रह छोटी-छोटी नावोंमें दीन-दुःखियोंके यहाँ पहुँचा दो तो वह फिर आगे मिल जायगा, नहीं तो सब-का-सब डूब जायगा!

पानी बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥

× × × ×

विकारोंका नाश होनेपर भगवत्प्राप्ति हो जाती है और भगवत्प्राप्ति होनेपर विकार सर्वथा मिट जाते हैं—ये दोनों बातें गीतामें आती हैं; जैसे—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(२।६४)

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

(५।२६)

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(२।५९)

न तो रागपूर्वक ग्रहण करे और न द्वेषपूर्वक त्याग ही करे, प्रत्युत शास्त्रके आज्ञानुसार ग्रहण और त्याग करे। राग-द्वेषपूर्वक ग्रहण और त्याग करनेसे राग-द्वेष पुष्ट, बलवान् हो जाते हैं।

साधकको राग-द्वेष सुहायें नहीं, पर इनसे घबराये भी नहीं, भयभीत भी न हो। भगवान्‌को पुकारे और विश्वास रखे कि भगवान्‌की कृपासे सब कुछ हो सकता है—

हौं हार्‌यौ करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

(विनय० ८९)

भगवान् सब कुछ करनेमें समर्थ हैं—**'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः'।**

साधन करनेसे विकार उतनी तेजीसे नहीं आता, उतनी देरतक नहीं ठहरता और उतनी बार (जल्दी) नहीं आता—ये तीन बातें होती हैं। कम होनेवाली चीज नष्ट होनेवाली होती है।

अपने बलसे निर्बल होकर भगवान्‌को पुकारे। अपने बलका भरोसा छोड़कर भगवान्‌के बलका भरोसा रखे। हमारे बलसे तो नहीं होगा, पर कृपाके बलसे होगा।

सभी विकार सांसारिक सुखकी आसक्तिपर टिके हुए हैं।

वीतराग सन्तोंके संगसे बहुत लाभ होता है। उतना लाभ अपने बलसे नहीं होता।

× × × ×

धनमें जमीनके समान कोई धन नहीं है। जमीन असली धन, सम्पत्ति है। रुपये ज्यादा होनेसे आप बड़े नहीं होते। कभी भी राज्य बदलनेपर वह मिट सकता है, पर जमीनका मूल्य रहेगा। बलोंमें जनबल अधिक है। **जनबल कम होगा तो जमीन, सम्पत्ति भी कुछ नहीं कर सकेंगे। आप मजबूत तब होंगे, जब आपकी संख्या अधिक होगी।**

संसारमें हिन्दू-संस्कृतिका साहित्य सबसे श्रेष्ठ है। संस्कृत- साहित्य जितना गहरा है, उतना अन्य कोई भी नहीं है। हमारी वर्णमाला-जितनी श्रेष्ठ वर्णमाला भी किसीकी नहीं है। अड़तालीस अक्षर किसी भाषामें नहीं हैं। **हिन्दू-संस्कृतिकी एक-एक चीज विलक्षण है।**

× × × ×

श्रोता—सरकार अनुचित रूपसे टैक्स लेती है। यदि टैक्स न दें तो पाप लगेगा क्या?

स्वामीजी—सरकारको टैक्स न देनेसे पाप नहीं लगता, प्रत्युत (टैक्ससे बचनेके लिये) झूठ बोलनेसे पाप लगता है—*'नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥'* (मानस, अयोध्या० २८।३)। **कम-से-कम अन्न और वस्त्र तो शुद्ध कमाईका ही लेना चाहिये।**

मौनकी अपेक्षा भी सत्य बोलनेका अधिक माहात्म्य है। मौन रहनेवालेकी अपेक्षा सत्य बोलनेवाला श्रेष्ठ है।

× × × ×

जीव परमात्माका अंश है, ***'चेतन अमल सहज सुख रासी'*** है। इसको दुःख सुहाता नहीं। परन्तु **इसको यह वहम हो गया कि सुख दूसरेसे होता है। यह पराधीनता है।** अगर यह स्वयंमें स्थित हो जाय तो यह पराधीनता मिट जाय। अमुक वस्तु चाहिये—यह पराधीनता है। अनुकूलता-प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें राजी-नाराज होना पराधीनता है। मुक्ति स्वतःसिद्ध है। बन्धन पराधीनतासे है।

शरीर संसारकी जातिका है। मनुष्यका खास काम है—सेवा करना और प्रभुको याद करना। सुखी-दुःखी नहीं होना है। जड़का संग ही कुसंग है। हमें कुछ चाहिये ही नहीं—इस भावसे बड़ी मस्ती आती है।

× × × ×

यह संसार भगवान्‌का विराट् रूप है। भगवान्‌का एकान्तमें मन नहीं लगा तो वे प्रेमके लिये अनेक रूपोंमें प्रकट हो गये। जैसे गेहूँकी खेतीके आरम्भमें भी गेहूँ होता है और अन्तमें भी गेहूँ ही रहता है, ऐसे ही संसारके लीन होनेपर भी परमात्मा ही रहते हैं—**'शिष्यते शेषसंज्ञः'** (श्रीमद्भा० १०।३।२५)।

जड़-चेतन, स्थावर-जंगम सब एक ही हैं। शरीरसे केश, नख निकलते हैं, ऐसे ही चेतनसे जड़ पैदा होता है। केश और नखमें भी प्राण हैं, यदि प्राण न होते तो फिर बढ़ते कैसे?

सोनेका विष्णु बना हो अथवा सोनेका कुत्ता बना हो, सोनेकी दृष्टिसे देखें तो दोनोंका एक ही भाव है। इसी तरह तत्त्वसे एक ही परमात्मा अनेक रूपोंमें दीखता है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७।१९), **'अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे'**।

सब जग ईश्वर रूप है, भलो बुरो नहिं कोय।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय॥

—इस भावसे सबको नमस्कार करना चाहिये।

संसारी मनुष्य तो जन्म रहा है और मर रहा है। वह न जाने कितनी बार जन्मेगा और मरेगा! मरा तो मुक्त पुरुष है, जो फिर कभी जन्मता-मरता ही नहीं!

× × × ×

भगवान्‌ने उद्धारके लिये मनुष्यको विवेकशक्ति, क्रियाशक्ति और माननेकी शक्ति दी है। **विवेकशक्ति मनुष्यका गुरु है।** अपने-आपको जानना है, दूसरोंकी सेवा करना है और ईश्वरको मानना है। ये तीनों क्रमशः ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग हैं। साथमें योग (समता)-का होना आवश्यक है। जबतक समता नहीं आयेगी, तबतक पूर्णता नहीं होगी। तात्पर्य है कि योगके बिना करना, जानना और मानना पूरा नहीं होगा।

लेनेकी इच्छा पतन करनेवाली है। अतः निष्कामभावसे सेवा करनी है। जैसे माता-पिता, जाति, वर्ण, आश्रम आदिको मानना पड़ता है, ऐसे ही गुरु और ईश्वरको भी मानना पड़ता है। आप नहीं मानोगे, स्वीकार नहीं करोगे तो गुरु क्या करेगा? दत्तात्रेयजीने स्वयं ही चौबीस गुरुओंको स्वीकार किया और उनसे शिक्षा ली।

× × × ×

भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि तू सब समयमें मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च**' (गीता ८।७)। जब युद्ध-जैसी स्थितिमें भी स्मरण हो सकता है, जिसमें बड़ी सावधानीकी जरूरत रहती है, फिर अन्य काम करते हुए स्मरण क्यों नहीं हो सकता? तीन प्रकार हैं—(१) सेवा करते हुए स्मरण करना, (२) स्मरण करते हुए सेवा करना और (३) भगवान्‌का काम समझकर ही सेवा करना। विवाह आदि सब काम करते हुए क्या आप कन्याको भूल जाते हैं? बिना याद किये उसकी याद रहती है। ऐसे ही यह भाव रखें कि हम भगवान्‌की ही सेवा करते हैं। परमात्मा अनेक रूपोंमें हैं। गहना बनाते समय सोनेको कैसे भूल सकते हैं? सबमें परमात्मा ही परिपूर्ण हैं—ऐसा देखते हुए सेवा करें तो फिर विस्मृति नहीं होगी। बिना याद किये 'मैं ब्राह्मण हूँ'—यह याद रहता है। यह अहंताको बदलना है। मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान्‌का ही काम करता हूँ—ऐसा मानकर सेवा करें।

आरम्भमें ही अपने-आपको भगवान्‌का समझ लें। **मैं संसारका हूँ—ऐसा मानोगे तो संसारका काम दूर रहा, भगवान्‌का भजन करते हुए भी भगवान्‌को भूल जाओगे!** भगवान् कहते हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। गोस्वामीजी कहते हैं—*'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'* (मानस, उत्तर० ११७।१)। भगवान् और उनके भक्तोंकी बात नहीं मानोगे तो किसकी मानोगे? इनसे बढ़कर और कौन मिलेगा? *'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'* (मानस, उत्तर० ४७।३)। दोनोंकी बातसे सिद्ध होता है कि हम भगवान्‌के हैं। हमने **अपनेको भगवान्‌का नहीं माना—यह मूलमें ही भूल हो गयी, तभी हम भगवान्‌को भूल जाते हैं।** जैसे हम रसोई कुत्तेके लिये नहीं बनाते, पर उसे भी रोटी दे देते हैं, ऐसे ही भगवान्‌का भी कुछ काम कर दिया, माला फेर ली तो कल्याण कैसे होगा?

सत्संग भूल मिटानेके लिये है, नयी बात सिखानेके लिये नहीं।

× × × ×

जो वस्तु अभी सस्ती है, फिर महँगी होनेवाली है, उसे व्यापारी अधिक संग्रह कर लेता है। **ऐसे ही सद्‌गुण-सदाचार भी महँगे होनेवाले हैं, उनका अभीसे ही संग्रह कर लें।** आजकल जो रीत है, वह भोग और संग्रहमें लगानेवाली है। पैसे मिलते हों तो सत्संग छोड़ देंगे कि सत्संग तो फिर मिल जायगा, पर पैसे फिर नहीं मिलेंगे—यह कलियुगी बुद्धि है। **कलियुगके प्रभावसे सत्संगकी बातें, कथाएँ आदि कम होती चली जायँगी।** हमारे देखते-देखते कम हो गयीं। सत्संग, कथा आदिमें लोगोंकी रुचि कम हो रही है। आगे चलकर ये बातें मिलेंगी नहीं। अभी कलियुगका बड़ा भयंकर समय आ रहा है, सावधान हो जाओ! भजन-ध्यानमें विशेषतासे लगो और दूसरोंको भी लगाओ।

जैसे व्यापार वह बढ़िया होता है, जिसमें पैसे ज्यादा मिलें, ऐसे ही साधन वह बढ़िया होता है,

जिसमें मन भगवान्‌में ज्यादा लगे।

× × × ×

भगवान्‌के अमुक नामका जप करनेसे कल्याण होगा—यह बात है ही नहीं। नाम कोई भी जपो, मन भगवान्‌में तल्लीन होना चाहिये। प्रेमभावमें ताकत है—'**भावग्राही जनार्दनः।**' अलग-अलग सम्प्रदायवाले ही अलग-अलग नाम बताते हैं, पर उससे अधिक लाभ होता हो, अन्यसे लाभ न होता हो—यह बात है ही नहीं। **परमात्मतत्त्व अपने भावमें है।** शक्ति भावमें, आज्ञापालनमें है, क्रियामें नहीं।

× × × ×

संयोगजन्य सुखकी इच्छा खास बाधक है। दूसरोंको सुख कैसे हो? दूसरोंका मतलब कैसे सिद्ध हो?—यह बात हमारे हृदयमें बैठ जाय तो ठीक हो जायगा। अपने स्वार्थकी बात छोड़कर दूसरेका स्वार्थ (हित) सिद्ध करें तो अपना स्वार्थ मिट जायगा।

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(मानस, उत्तर० ४१।१)

खुद सुख लेंगे तो नाशवान् सुख मिलेगा और दूसरोंको सुख देंगे तो अविनाशी सुख मिलेगा। दूसरोंके सुखके लिये लौकिक सुखका त्याग करनेसे अलौकिक सुख मिलता है। **दानसे तो सहस्रगुना मिलता है, पर त्यागसे अनन्तगुना मिलता है!** असत्‌के त्यागसे सत्‌की प्राप्ति होती है। गीतामें वर्णित दान वास्तवमें 'त्याग' है।

ठण्डीके दिनोंमें दुकानदार सैकड़ों कम्बल बिक्री करता है, पर उसको पुण्य नहीं होता; क्योंकि उसमें उसका स्वार्थ (पैसे कमाना) है।

निर्वाहमात्र करनेमें दोष नहीं है, प्रत्युत संग्रह करनेमें दोष है। संग्रहमें मनुष्य दूसरोंका हक छीनता है।

ब्रह्माजीने देवता, मनुष्य और असुर—तीनोंकी रचना करके उनको 'द' अक्षरका उपदेश दिया। देवताओंने 'द' का अर्थ 'दम' समझा, मनुष्योंने 'दान' समझा और असुरोंने 'दया' समझा। वास्तवमें मनुष्यको दम, दान और दया—तीनों करने चाहिये।

भोगीके द्वारा दुनियाको दुःख मिलता है और योगीके द्वारा दुनियाको सुख मिलता है। देनेमें जो सुख है, वह लेनेमें नहीं है। पर देनेके सुखको लोग जानते नहीं।

× × × ×

धर्म है—अपने कर्तव्यका पालन करना। अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे मनुष्य पशुसे भी नीचा हो जाता है। वास्तवमें धर्मसे सर्वथा रहित कोई हो ही नहीं सकता। सब चाहते हैं कि दूसरा मेरी आज्ञाका पालन करे, तो धर्मको आप चाहते ही हो।

× × × ×

अनादिकालसे यह संस्कार पड़ा है कि संसार है। परन्तु यह नहीं रहेगा, जानेवाला है—इस ज्ञानका आदर नहीं करते। हम यहाँ रहनेवाले (यहाँके निवासी) नहीं हैं। जो आया है, उसको जाना पड़ेगा। इसका संयोग अनित्य है, वियोग नित्य है। संसारके संयोगमें भी वियोग है और वियोगमें भी वियोग है। परमात्माके साथ नित्ययोग है।

यह बना रहे—ऐसी इच्छाका त्याग कर दें। जो छूट जायगा, उसकी इच्छासे क्या लाभ? संसारके वियोगको स्वीकार कर लेनेका नाम 'योग' है।

यह पाठशाला (सत्संग) मोह मिटानेके लिये है। यदि मोह कम नहीं हुआ तो क्या सत्संग किया?

× × × ×

आधुनिक वेदान्तसे बड़ी हानि होती है। वेदान्तकी असली बातें जाननेवाले अनुभवी पुरुष बहुत कम हैं, मिलते नहीं। वेदान्तकी, कुण्डलिनी-जागरण आदिकी बातें साधकको नहीं सुननी चाहिये। वेदान्तकी बातें सीखकर 'मैं ज्ञानी हो गया'—यह वहम हो जाता है।

आजकल सम्प्रदायोंमें भी पार्टीबाजी हो रही है—इससे बड़ा नुकसान है! जो अपने सम्प्रदायमें आनेके लिये कहते हैं, वहाँ तत्त्व नहीं होता। वहाँ तो टोली बनती है। **अगर कोई साधन करना चाहे तो वह**

सम्प्रदायके झमेलेमें कभी मत पड़े। दूसरेकी निन्दा भी कभी न करे। पक्षी (पक्षपाती) नहीं बने, प्रत्युत मनुष्य बने। एक साधकको मैंने कहा कि अपने पास रखी वेदान्तकी पोथियोंको बाँधकर गंगाजीमें फेंक दो। उनको जलाओ नहीं; क्योंकि मैं तिरस्कार नहीं चाहता। **वेदान्तकी असली बात जाननी हो तो गीता पढ़ो। तीर्थोंमें घूमनेकी, वेदान्त-श्रवणकी जरूरत नहीं है।**

निरन्तर नाम-जप करते रहो और 'हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं'—ऐसे बारंबार प्रार्थना करते रहो। एकान्तमें भगवान्‌के आगे रोओ। इससे अन्तःकरण बहुत शुद्ध होता है।

मीराबाईका शरीर भी चिन्मय हो गया! यह विशेषता भक्तिमें ही है, ज्ञान और योगमें नहीं है।

जिसमें भगवान्‌में मन ज्यादा लगे, भगवान्‌में प्रेम हो जाय, वही साधन सबसे तेज है।

अपनी बात दूसरोंको मत सुनाओ, शेखी मत बघारो, इससे बड़ा नुकसान होता है।

× × × ×

शास्त्रों और सन्तोंपर विश्वास हो जाय तो उनके कहनेसे भगवान्‌पर विश्वास हो जायगा और भगवान्‌पर विश्वास होनेसे भक्ति हो जायगी। परन्तु आजकल लोगोंका विश्वास धनपर हो गया! न तो खुद विचार करते हैं, न दूसरोंकी मानते हैं—यह दशा आज हो रही है! गीतामें आया है—'**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति**' (४।४०) 'विवेकहीन और श्रद्धारहित संशयात्मा मनुष्यका पतन हो जाता है।'

जो केवल अपने काम आये, वह धन धन नहीं है। धन वह है, जो दूसरोंके काम आये।

× × × ×

भगवान् हमारे हैं, पर मिली हुई वस्तु हमारी नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की है। जो मिला हुआ है, वह सब बिछुड़ जायगा। जो पहले हमारे नहीं थे, पीछे हमारे नहीं रहेंगे, वे अभी हमारे कैसे हो गये? भगवान् सब समय हमारे हैं।

जितने वर्ष बीत गये हैं, उतना शरीर बिछुड़ गया। हम निरन्तर मर रहे हैं। परन्तु 'हम जी रहे हैं'—यह बात पकड़ी हुई होनेसे ही 'हम मर रहे हैं'—यह बात समझमें नहीं आती। मिला हुआ निरन्तर बिछुड़ रहा है। न जन्म दिया हुआ बच्चा साथ रहेगा, न गोद लिया हुआ—सब बिछुड़नेवाले हैं। घरसे, मकानसे, कुटुम्बसे, शरीरसे—सबसे वियोगका समय नजदीक आ रहा है। **सन्निपातमें, नशेमें अथवा पागलपनमें ही मनुष्य बोलता है कि यह मेरा है! बिछुड़नेवालेको अपना मानना पागलपनकी दशा है। जो किसी एकका होता है, वह सबका नहीं हो सकता। जो किसीका नहीं होता, वह सबका होता है।** अपना कोई नहीं है तो सभी अपने हैं, और सभी अपने हैं तो कोई अपना नहीं है।

× × × ×

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'—ऐसा मानकर निश्चिन्त, निर्भय, निःशोक और निःशंक हो जाय। मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं—ऐसे शरण हो जाय। मिला हुआ सब उसीका है और हम भी उसीके हैं। **उसीका हो जाना है और उसीका होकर रहना है।** सब कुछ मालिकका है, फिर हम चिन्ता क्यों करें?

चिन्ता दीनदयाल को, मो मन सदा आनन्द।
जायो सो प्रतिपालसी, रामदास गोबिन्द॥

× × × ×

किसी भी उपायसे मन भगवान्‌में लग जाय तो मनुष्य निहाल हो जायगा। **मनुष्यशरीर काम करनेके लिये नहीं मिला है, प्रत्युत भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेके लिये मिला है।**

अचानक भगवान्‌की याद आये तो समझो कि भगवान्‌ने याद किया है! उस समय सब काम छोड़कर भगवान्‌के स्मरणमें लग जाओ। अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित कर दो। अपना अलग मैंपन रहे ही नहीं।

जिस समय काम, क्रोध आदिकी खराब वृत्तियाँ

आ जायँ, उस समय होश नहीं रहता। अतः उस समय विवेक उतना काम नहीं देता, जितना 'हे नाथ! हे नाथ!!' पुकारनेसे लाभ होता है।

यह भगवान्‌की बड़ी विशेष कृपा है जो हमें भगवान्‌की बातें करनेका अवसर मिला है!

× × × ×

हम परमात्माके अंश हैं, संसारके नहीं। इसलिये संसारकी वस्तु (शरीर) संसारकी सेवामें लगा देनी चाहिये। संसारके साथ अपनी अभिन्नता और परमात्माके साथ भिन्नता मानी हुई है, वास्तविक नहीं है। मानी हुई चीज न माननेसे मिट जाती है। नाशवान् चीज संसारकी है, उसे संसारकी सेवामें लगा दो और अपने-आपको भगवान्‌में लगा दो कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।

जो वस्तु अपनी नहीं है और आपके पास आयी है, उसे संसारमें लगा दो—यह ईमानदारी है। **सेवाका, दानका फल है—बेईमानीसे बचना। दान देना बड़ी बात नहीं है, यह तो टैक्स है। बड़ी बात है—भगवान्‌में लगना।** जब कोई चीज अपनी नहीं है तो फिर उसकी चाह करना बेईमानी ही है।

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥

(मानस, किष्किं० ११। २)

यह शरीर पंचोंकी धर्मशाला है, इसपर अपना हक मत जमाओ।

× × × ×

हम यहाँ आये हैं, रहनेवाले नहीं हैं। यहाँ रहनेवाले मान लेते हैं, इसीसे अनर्थ होता है। हम आये हुए हैं और जानेवाले हैं—यह एक बात आप कृपा करके मान लें। जैसे यहाँ सत्संगमें आप आये हैं और चले जायँगे, ठीक इसी तरहसे घरमें रहते हुए मान लें कि हम आये हैं और चले जायँगे। कोई भी आदमी यहाँ रहनेवाला है क्या? हमें मनुष्यशरीरमें आकर दो काम करने हैं—सेवा करना और भगवान्‌को याद रखना।

शास्त्रमर्यादा, लोकमर्यादाको रखते हुए सेवा करो। भगवान्‌की याद न आये तो कम-से-कम, कम-से-कम भगवान्‌के नामका जप करो। कोई भी नाम लो, मेरा किसीका आग्रह नहीं है। प्रार्थना करते रहो कि हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं। मनुष्यशरीर सेवा करनेके लिये मिला है, भोग भोगने और संग्रह करनेके लिये नहीं।

जन्मनेके बाद मरनेके सिवाय कोई अनिवार्य कार्य नहीं है। मरनेसे भय लगता है जीनेकी इच्छासे।

× × × ×

आश्रय भगवान्‌का ही लेना चाहिये। नाशवान्‌का आश्रय लेनेसे धोखा ही होगा। वहम पड़ा है कि हम बड़े हो रहे हैं, जी रहे हैं, पर वास्तवमें हम छोटे हो रहे हैं, मर रहे हैं। प्रत्येक क्षण मौतके नजदीक जा रहे हैं। अतः वह असली कार्य कर लेना चाहिये, जो इस मनुष्यशरीरमें ही हो सकता है। मनुष्यशरीरमें दो विशेष कार्य हो सकते हैं—भगवान्‌को याद करना और दूसरोंकी सेवा करना। ये काम पशु-पक्षी नहीं कर सकते।

अगर ब्रह्मलोकतक जाकर वापिस आ गये तो मिला क्या? '**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८। १६)। गया समय फिर हाथ आयेगा नहीं। आप भजन करो या न करो, समय तो जा रहा है। अतः हर समय सावधान रहो कि भगवान्‌के भजनके बिना कोई समय निरर्थक न जाय—***'दिलमें जाग्रत रहियै बंदा'।*** बाहर जानेवाले श्वासका क्या भरोसा?

× × × ×

एक भी आदमीको परमात्माकी तरफ लगा दें तो इसके बराबर कोई पुण्य नहीं है, कोई दान नहीं है। किसी तरहसे उसे परमात्माके सम्मुख कर देना बड़ा भारी पुण्य है।

जबतक किसी महापुरुषका शरीर रहता है, तबतक उसका भाव भी कुछ संकुचित रहता है। शरीर छूटनेपर उसका भाव बहुत विस्तृत हो जाता है। गीताप्रेसके संस्थापक सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

निष्कामभावके आचार्य थे। उनके समय सत्संगका जैसा प्रचार था, उससे आज बहुत अधिक है।

× × × ×

ज्ञानसे भक्तिकी महिमा ज्यादा है। ज्ञानमें अखण्डरस और भक्तिमें अनन्तरस है। ज्ञान अज्ञानको मिटाता है। अज्ञानके मिटनेसे दुःख मिट जाता है। जैसे, पण्डालमें अँधेरेमें चलेंगे तो धीरेसे चलेंगे, पर प्रकाश होनेपर भाग सकते हैं। परन्तु भक्तिमें आकर्षण है, प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम है। भक्तिमें रस बढ़ता ही रहता है; जैसे—***'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'।*** प्रेममें एक विलक्षण आनन्द आता है। उसमें नित्यविरह और नित्यमिलन है। **ज्ञानमें आत्मस्वरूपका बोध होता है और प्रेममें भगवान्‌की तरफ खिंचाव होता है।** ज्ञानमें जन्म-मरणसे छुटकारा (मोक्ष) हो जाता है। प्रेममें नया रस मिलता है। ज्ञानमें प्रकृति और पुरुष दो हैं, पर भक्तिमें दो नहीं हैं, एक भगवान् ही हैं। **ज्ञानमें प्रकृति त्याज्य होती है, पर प्रेममें त्याज्य वस्तु कोई है ही नहीं—'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९।१९)। ज्ञानमें अखण्डरस है, पर प्रेममें आनन्दके हिलौरे आते हैं। **भगवान् प्रेमीके वशमें होते हैं, ज्ञानीके नहीं।**

× × × ×

सभी भाई-बहन भगवान्‌को हृदयसे प्रणाम करें। प्रणाम करनेवालेका पुनर्जन्म नहीं होता।

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

(महाभारत, शान्ति० ४७।९२)

'भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी प्रणाम किया जाय तो वह दस अश्वमेधयज्ञोंके अन्तमें किये गये स्नानके समान फल देनेवाला होता है। इसके सिवाय प्रणाममें एक विशेषता है—दस अश्वमेध करनेवाले मनुष्यका तो पुनः इस संसारमें जन्म होता है, पर श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाले मनुष्यका पुनर्जन्म नहीं होता।'

ज्ञानमें तो सब कर्मोंके त्यागकी बात आती है, पर भगवान् शरणागत भक्तके लिये कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८।५६)

'मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है।'

भगवान्‌के चरणोंका आश्रय बहुत सुगमतासे कल्याण कर देता है। सब कर्म करते हुए भी कल्याण कैसे होता है? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—**'मत्प्रसादात्'** 'मेरी कृपासे'। सब आश्रय नष्ट होनेवाले हैं, एक भगवान्‌का आश्रय ही रहनेवाला है। **आप सच्चे हृदयसे कहें कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ'।** एक बार 'मैं आपका हूँ' कह दिया तो अब दुबारा क्या कहना बाकी रहा? एक बार अपनेको दे दिया तो बस, दे ही दिया—***'बार बार चढ़त न त्रिया कौ सौ तेल है'*** (सुन्दर० २।१३)। शरणागत भक्तका अच्युत गोत्र हो जाता है! इस शरणागतिको भगवान्‌ने गीतामें 'सर्वगुह्यतम वचन' कहा है (१८।६४)।

भगवान्‌ने तो सभीको अपने शरण ले रखा है। **भाई हो या बहन, *'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'*—ऐसे भगवान्‌के शरण हो जाय तो वह साक्षात् मीराबाई हो गया!** मीराबाई भाव है, शरीर नहीं। शरीर तो बदलनेवाला है। 'मैं भगवान्‌का हूँ, और किसीका नहीं हूँ'—इसका तात्पर्य है कि **सेवा करनेके लिये तो मैं सबका हूँ, पर लेनेके लिये किसीका नहीं हूँ।** किसीसे कोई आशा नहीं रखनी है।

भगवान्‌ने अपनेको सुलभ बताया है—**'तस्याहं सुलभः'** (गीता ८।१४), पर महात्माको दुर्लभ बताया है—**'स महात्मा सुदुर्लभः'** (गीता ७।१९)। **भगवान्‌के दिये शरीरसे जीव नरकोंमें भी जा सकता है, पर महात्माकी दी चीजसे नरकोंमें नहीं जा सकता!**

× × × ×

संसार परिवर्तनशील है—यह सबके प्रत्यक्ष अनुभवकी बात (प्रत्यक्ष ज्ञान) है। बदलनेवालेको ही संसार कहते हैं। बदलते हुए संसार निरन्तर अभावमें, मौत जा रहा है। परिवर्तनशीलको जानने-वाला अपरिवर्तनशील होता है—यह खास बात है। मैं बचपनमें जो था, वही मैं आज हूँ—यह सबका अनुभव है। शरीर और संसार बदलते हैं। स्वयं (आत्मा) और परमात्मा कभी बदलते नहीं। शरीर और संसार एक हैं। स्वयं और परमात्मा एक हैं।

नहीं बदलनेवाला बदलनेवालेसे सुखकी चाहना करे—यह कितनी भूल है! **जो बदलनेवालेसे सुख लेता है, बदलनेवालेकी इच्छा करता है, वह भी बदलता अर्थात् जन्म-मरणमें जाता रहता है।** मनुष्यने बदलनेवालेका संग कर लिया, उसको सत्ता देकर फिर महत्ता दे दी और फँस गया!

× × × ×

शास्त्रोंने मनुष्यशरीरकी बड़ी महिमा गायी है। वह महिमा हाड़-मांसवाले शरीरकी नहीं है, प्रत्युत विवेककी है। शरीरकी तो निन्दा की गयी है—***'पंच रचित अति अधम सरीरा'*** (मानस, किष्किंधा० ११।२)। वास्तवमें मनुष्यता है विवेकशक्ति अर्थात् नित्य-अनित्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, सार-असार, ग्राह्य-त्याज्यका ज्ञान। यह विवेक एक प्रकाशकी तरह है, जिससे व्यावहारिक और पारमार्थिक सब कार्य ठीक होते हैं। **मनुष्यशरीरकी महिमा वास्तवमें इसी विवेकशक्तिके सदुपयोगकी महिमा है।** विवेकशक्तिके दुरुपयोगसे महान् पतन हो सकता है। बुद्धि विवेकशक्तिको प्रकट करनेका यन्त्र है। ऐसा यन्त्र अन्य योनियोंमें नहीं है। मनुष्यशरीरमें बुद्धिका स्थान ज्यादा है, जिसमें ज्ञानके तन्तु अधिक हैं। ग्रीवासे दस अंगुल नीचे और नाभिसे दस अंगुल ऊँचा हृदय है। **इस हृदयमें बुद्धि रहती है और उसका काम करनेका स्थान मस्तिष्क है।** विवेक बुद्धिमें आता है, बुद्धिका गुण नहीं है। बुद्धि तो जड़ प्रकृतिका कार्य है। बुद्धि आतशी शीशेकी तरह है। आतशी शीशा सूर्यकी किरणोंको केन्द्रित कर देता है। आतशी शीशा दाहिका शक्तिको और दर्पण प्रकाशिका शक्तिको केन्द्रित करता है। भोग और संग्रहकी आसक्ति ज्यादा होनेसे पारमार्थिक बातें सुननेपर भी मनुष्य परमात्माकी तरफ नहीं चल सकता।

चोरी, विश्वासघात आदि करना विवेकशक्तिका दुरुपयोग है। ***'नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी'*** (मानस, उत्तर० १२१।५)—यह शरीर स्वर्ग, नरक और मोक्षकी सीढ़ी है, और मोक्षका द्वार है—***'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा'*** (मानस, उत्तर० ४३।४)। इस शरीरमें आकर भगवत्प्रदत्त विवेकका दुरुपयोग करके हम नरकोंमें भी जा सकते हैं और विवेकका सदुपयोग करके मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं। परमाणु बम आदि बनाना विवेकशक्तिका महान् दुरुपयोग है। सूर्यके प्रकाशमें मनुष्य वेदोंका स्वाध्याय भी कर सकता है और शिकार भी।

जैसे भोगोंमें आसक्त धनीलोग प्रायः सत्संगमें नहीं आते, ऐसे ही देवता भी भोगोंमें आसक्त रहनेके कारण भगवान्‌में नहीं लगते। पर वे आयें तो मना नहीं है। अम्बरीष, जनक आदि राजा भी भगवान्‌के भक्त हुए हैं। पापी मनुष्य भी भगवान्‌के भक्त हुए हैं। कारण कि मूलमें सभी जीव परमात्माके अंश हैं। अतः परमात्माकी तरफ चलनेके लिये किसीको मना नहीं है।

मनुष्यशरीरमें तोलाभर भी शुद्ध चीज नहीं है। यह मल-मूत्र बनानेकी फैक्ट्री है। अतः मनुष्यशरीरकी महिमा नहीं है, प्रत्युत इसके सदुपयोगकी महिमा है।

जो परमात्माको प्राप्त हो गये हैं, वे जागते हैं। जो साधनमें लगे हैं, वे सोते हैं। जो भगवान्‌में नहीं लगे हैं, वे मुर्दा हैं। जो सोता है, वह तो जाग सकता है, पर मुर्दा कैसे जागेगा?

रुपये कमाना हाथकी बात नहीं है, पर उसमें रात-दिन लगे रहते हैं। भजन करना हाथकी बात है, पर उसे करते नहीं! उम्रभर काम करके लाख रुपये कमा लेना भी हाथकी बात नहीं है; परन्तु लाख-तीन

लाख भगवन्नाम रोजाना ले सकते हैं। जो चीज साथ चलनेवाली है, उसका संग्रह तो करते नहीं, पर जो चीज यहीं रह जायगी, उसीका संग्रह कर लिया!

न्यायपूर्वक कमाये गये धनसे ही परोपकार होता है। अन्यायपूर्वक कमाये गये धनसे बनाया कुआँ आदि किसीके काम नहीं आता; जैसे बीकानेरमें 'मोदीका कुआँ'।

× × × ×

संयोग-वियोगमें संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है। जो अनित्य है, उसकी इच्छा करेंगे तो रोना पड़ेगा। पहले भी वियोग था, पीछे भी वियोग होगा और अभी जो संयोग है, वह भी निरन्तर वियोगमें जा रहा है। यदि संयोग-अवस्थामें ही वियोगका अनुभव कर लें तो निहाल हो जायँ!

सुख देनेसे अविनाशी सुख मिलता है और सुख लेनेसे नाशवान् सुख मिलता है। **सुख दे दो तो वह अक्षय हो जायगा और सुख ले लो तो वह नष्ट हो जायगा।**

× × × ×

हम जी रहे हैं—यह धारणा सत्य नहीं है। सत्य तो यह है कि हम मर रहे हैं। जितने वर्ष चले गये, उतने हम मर गये। हम निरन्तर मर रहे हैं, जीवनसे दूर जा रहे हैं, पर वहम होता है कि हम जी रहे हैं।

यह संसार 'मृत्युसंसारसागर' है। इसमें हर चीज मर रही है। इसलिये सावधान हो जाओ। सिवाय भगवान्के कोई आपकी रक्षा करनेवाला नहीं है। जो सम्पूर्ण दोषोंका खजाना है, वह कलियुग बड़ी तेजीसे आ रहा है। **अतः निरन्तर नामजप करते रहें। यह नामरूपी धन आप निरन्तर संग्रह करते रहें।** जीवनका कोई भरोसा नहीं है। मरना निश्चित है। सब चीजें महँगी हो रही हैं। भगवान्का भजन भी महँगा हो रहा है! मृत्युका कोई समय निश्चित नहीं है, इसलिये हर समय भजन करते रहो—'**सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**' (गीता ८।७)। हर समय भजन करना बीमा है। बीमा कराकर निश्चिन्त हो जाओ। भगवान् शंकरके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं है, फिर भी वे माँगते हैं—

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

(मानस, उत्तर० १४ क)

× × × ×

जैसे वियोग नित्य है, ऐसे ही अक्रियता भी नित्य है। प्रत्येक साधनके अन्तमें अक्रिय-अवस्था आती है। भगवान्के चरणोंमें स्थित होकर कुछ भी चिन्तन न करें, निर्विकल्प हो जायँ तो ठेठ भगवान्के चरणोंमें पहुँच गये, कुछ करना शेष नहीं रहा! भगवान्के चरण कहाँ नहीं हैं? सब जगह भगवान्के चरण हैं—'**सर्वतः पाणिपादम्**' (गीता १३।१३)। स्याहीमें कौन-सी लिपि नहीं है? सोनेमें कौन-सा गहना नहीं है? पत्थरमें कौन-सी मूर्ति नहीं है? जहाँ निश्चय करो, वहीं भगवान् प्रकट हो जाते हैं। प्रह्लादजीके लिये वे खम्भेसे प्रकट हो गये! परमात्मा 'मैं'-पनसे भी नजदीक हैं। उनके शरण हो जायँ। जहाँ शरण हुए, वहीं भगवान् हैं।

× × × ×

नेत्रों (इन्द्रियों)-की दृष्टि सीमित है, उनसे बुद्धिकी दृष्टि तेज है और उससे भी विवेकदृष्टि तेज है। विवेकदृष्टिसे मनुष्य बहुत दूरतक देख सकता है।

कानोंसे लौकिक और पारमार्थिक सभी विषयोंका ज्ञान हो सकता है। इसलिये 'श्रवण' की मुख्यता है। शास्त्रों और सन्तोंसे सुनकर ही हम मानते हैं कि 'परमात्मा हैं'। परन्तु शास्त्रों और सन्तोंमें श्रद्धा होगी, तभी मानेंगे। परमात्मा माननेका विषय हैं। आजकल जिनसे पतन, बन्धन हो, उनको तो मानते हैं, पर जिनसे कल्याण हो, उनको नहीं मानते, उनसे परहेज करते हैं!

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंके भाव और अभावका अनुभव सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता—यह आध्यात्मिक विषय है। अपना होनापन निरन्तर

मौजूद है। इस आध्यात्मिक विषयको ठीक जान जायँ तो दु:ख, अभाव सब मिट जाते हैं। इस विषयको हम कानोंसे सुनकर जान सकते हैं। जो किसी इन्द्रियका विषय नहीं है, उस आत्माको कानोंसे सुनकर जान सकते हैं। इसलिये सत्संग सुननेकी बड़ी महिमा है। आत्मा जिसका अंश है, वह परमात्मा है।

अब परमात्मज्ञान कहते हैं। कोई ईश्वरको मानता है, कोई नहीं मानता। अगर मूलमें ईश्वर नहीं है तो ईश्वर माननेवाले झूठे हुए, पर उनका नुकसान क्या हुआ? अगर ईश्वर है तो ईश्वरको न माननेवाला रीता रह जायगा! अत: ईश्वरको न माननेवालेकी अपेक्षा माननेवाला लाभमें रहता है। ईश्वरको माननेवालेके हृदयमें हलचल नहीं रहती।

× × × ×

अपने लिये करनेसे मनुष्य कभी कृतकृत्य नहीं होता। निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये सब कर्म करनेसे वह कृतकृत्य हो जाता है। अपने-आपको जाननेसे वह ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है। परमात्माके मिलनेसे भी प्राप्त-प्राप्तव्यता बाकी रहती है; क्योंकि प्रेम बाकी रहा! **ज्ञान होनेसे तो अज्ञान निवृत्त होता है, नया कुछ नहीं मिलता, पर प्रेममें नयी चीज मिलती है।** वह प्रेम निरन्तर बढ़ता रहता है, उसका कभी अन्त नहीं आता। इस प्रेमके भूखे भगवान् भी हैं और भक्त भी।

ज्ञानमें तो दु:ख, सन्ताप आदि मिट गये, पर मिला क्या? परन्तु भक्तिमें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम मिलता है। प्रेममें 'और मिले, और मिले'—यह भूख निरन्तर बढ़ती ही रहती है। प्रेममें एक रस होता है, जिसकी कभी पूर्ति नहीं होती। जैसे, सत्संग करते-करते तृप्ति नहीं होती। सुननेमें एक रस, आनन्द आता है, जिसकी पूर्ति नहीं होती। अर्जुन कहते हैं कि आपके अमृतमय वचन सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है—'**भूय: कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्**' (गीता १०।१८)। परीक्षित् भी कहते हैं कि सुननेसे तृप्ति नहीं होती, भूख-प्यास भूल गया! तक्षकके काटनेकी बातकी तरफ भी खयाल नहीं है! महाराज पृथु भी सुननेके लिये हजार कान माँगते हैं। इसका नाम प्रेम है। न पेट भरता है, न वस्तु समाप्त होती है। राम-राम करना इतना प्रिय लगता है कि छूटता ही नहीं। प्रेमके विलक्षण रसका कोई पारावार नहीं है। रस, रुचि बढ़ती ही रहती है।

× × × ×

मनुष्यके पास एक बहुत विलक्षण धन है, जो सबको बराबर मिला हुआ है। यह धन है—मानवजीवनका समय। यह धन भगवान्की अहैतुकी कृपासे मिला है, अपने पुरुषार्थसे नहीं। इस धनसे हम बहुत चीजोंका, विद्याओंका, कलाओंका सम्पादन कर सकते हैं। **समयसे सब कुछ खरीदा जा सकता है।** समय खर्च करके मनुष्य बुद्धिमान्, बलवान् बन सकता है। देवलोकोंमें, ब्रह्मलोकमें जा सकता है। तत्त्वज्ञान, भक्ति प्राप्त कर सकता है। बात समयके सदुपयोग-दुरुपयोगकी है। नरकोंकी प्राप्तिके लिये भी समय खर्च करना पड़ता है—*'नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी'*। **बीमारीके सदुपयोगसे भी परमात्माकी प्राप्ति कर सकते हैं।** बीमारी भगवान्की दी हुई शुद्ध तपस्या है। उसमें एक आनन्द आता है। ऐसे तपसे बुद्धि भी विकसित होती है।

प्रत्येक परिस्थितिमें हमारी दृष्टि भगवान्पर रहनी चाहिये। विपरीत-से-विपरीत परिस्थितिमें भी भगवान्की कृपा रहती है। जो प्रतिकूल परिस्थितिमें रोते हैं, वे बालक हैं, बेसमझ हैं। माँ बालकको नहलाती है तो वह रोता है। परन्तु बालकके रोनेकी परवाह न करके माँ उसको नहलाकर, नये कपड़े पहनाकर गोदीमें ले लेती है। गोदीमें लेनेपर माँ और बालक—दोनोंको आनन्द होता है। कोई कष्ट आये तो युधिष्ठिरको, द्रौपदीको याद करो। भगवान् रामको, राजा नलको याद करो। उनपर भी कितना कष्ट आया, पर वे अपने धर्मसे विचलित नहीं हुए।

× × × ×

यह संसार पहले भी नहीं था, पीछे भी नहीं

रहेगा। सब शहर पहले भी जंगल थे, पीछे भी जंगल हो जायँगे। उत्पत्ति-विनाशका प्रवाह बह रहा है। 'है' की सत्तासे ही यह 'नहीं' भी 'है' की तरह दीखता है। है तो परमात्मा, पर दीखता है संसार। जैसे, रज्जु सर्पकी तरह और अभ्रक चाँदीकी तरह दीखता है।

भगवान्‌को याद करना और सेवा करना—इन दोके बिना मनुष्य नहीं है, पशु है।

× × × ×

मनुष्यशरीरको अधम भी बताया है और उत्तम भी—***'पंच रचित अति अधम सरीरा'*** (मानस, किष्किंधा० ११।२), ***'नर तन सम नहिं कवनिउ देही'*** (मानस, उत्तर० १२१।५)। मनुष्यशरीरकी विशेषता विवेकको लेकर है। विवेकके सदुपयोगकी महिमा है। विवेकका सदुपयोग है—अपने जाने हुए असत्‌का त्याग करना। **असत्‌को जानते हैं, पर उसका त्याग नहीं करते—यह बड़ा भारी अपराध है, गलती है।** त्यागका अर्थ है—असत्‌के आश्रय, भरोसा, विश्वासका त्याग। हमारा लक्ष्य असत् नहीं होना चाहिये। असत्‌का त्याग होनेपर ज्ञान, भक्ति आदि सबकी सिद्धि स्वतः हो जायगी।

नाशवान्‌का सदुपयोग करना है। न्याययुक्त धन कमाना है और यथोचित खर्चा करना है। काम वह करना है, जिससे अभी भी हित हो, परिणाममें भी हित हो। अपना भी हित हो, दूसरोंका भी हित हो।

चोर, डाकू, ठग आदि अपना जितना नाश करता है, उतना दूसरेका नहीं कर सकता। कारण कि पहले खुद चोर बने बिना कोई चोरी नहीं कर सकता। खुद हिंसक बने बिना कोई हिंसा नहीं कर सकता। दूसरेका धन तो प्रारब्धके अनुसार जाता है, पर चोरी करनेवाला नया कर्म (पाप) करता है।

दान-पुण्य करना वास्तवमें धनकी रक्षा करना है। तालाबके ऊपर भी जल निकलनेका रास्ता रहता है, जिससे तालाबकी सीमा बनी रहती है, वह समानरूपसे भरा रहता है।

साधु माँगकर रोटी नहीं खाते। वे माँगते नहीं, दूसरा दे या न दे, उसकी मरजी। **एक वैज्ञानिक बात है कि माँगनेसे वस्तु नहीं मिलती, प्रत्युत बिना माँगे अपने-आप वस्तु मिलती है।** माँगनेसे दूसरेके मनमें देनेकी इच्छा कम अथवा नष्ट हो जाती है। न माँगनेसे देनेकी इच्छा बढ़ती है। वस्तु तो सीमित होती है, पर देनेकी इच्छा असीम होती है। माँगनेकी इच्छा छोड़नेसे अपने-आप दूसरेके हृदयमें देनेकी प्रेरणा होती है। छोटा बच्चा कुछ माँगता नहीं, पर उसकी चिन्ता माँको होती है। बालक बड़ा हो जाता है, तब माँको उतनी चिन्ता नहीं होती। मनुष्य वस्तुओंकी गुलामी करता है। वास्तवमें वस्तुएँ मनुष्यकी गुलामी करती हैं। **सदुपयोग करनेसे वस्तु अपने-आप आती है।**

× × × ×

प्रत्येक कार्य विचार और विवेकपूर्वक करना चाहिये। पहले विचार करे, फिर विवेकसे काम करे। **विचार न करनेसे मूर्खता आती है।** जैसे, लोगोंने रुपयोंको महत्त्व दे रखा है। वास्तवमें रुपयोंसे वस्तु श्रेष्ठ है, वस्तुओंसे स्थावर श्रेष्ठ है, स्थावरसे जंगम श्रेष्ठ है। जंगममें गाय श्रेष्ठ है, गायसे मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्यमें भी विवेक श्रेष्ठ है और विवेकसे सत्-तत्त्व श्रेष्ठ है। उस सत्-तत्त्वकी तरफ खयाल न करके रुपयोंको श्रेष्ठ माननेसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।

मनुष्यकी असली इज्जत, महिमा विवेकसे है। वह विवेकका जितना आदर करेगा, उतना ऊँचा उठ जायगा।

× × × ×

भजन-ध्यान प्रारब्धसे नहीं होता, यह नया काम है। जो हम करते हैं, वह नया काम है और जो घटना घटती है, वह पुराने कर्मका फल है। प्रारब्ध और पुरुषार्थका विभाग अलग-अलग है। भजन, ध्यान, दान-पुण्य, तप, तीर्थ आदि नये कर्म हैं। धन, पुत्र, आदर-सत्कार, निरादर, निन्दा, प्रशंसा आदि प्रारब्धसे होनेवाले हैं। ***'हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु***

बिधि हाथ॥' (मानस, अयो० १७१)

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध। जैसे—अन्नका पुराना संग्रह पड़ा है—यह 'संचित' है। नया अन्न पैदा करना 'क्रियमाण' है। खानेके लिये निकाल लिया—यह 'प्रारब्ध' है। परिस्थिति प्रारब्ध-कर्मसे आती है। उस परिस्थितिका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करना नया कर्म है। **रुपये प्रारब्धसे मिलते हैं, पर उनको अच्छे या बुरे काममें लगाना नया कर्म है।** निषिद्ध वस्तुओंका व्यापार करना नया पाप-कर्म है, जिसका दण्ड भोगना पड़ेगा; क्योंकि उससे लोगोंका नुकसान होता है, वे व्यसनी बनते हैं। जो पुस्तकों आदिके द्वारा अच्छे भावोंका प्रचार करते हैं, उनको बड़ा भारी पुण्य होता है।

अभी हम अच्छे कर्म करते हैं, फिर भी बीमार हो जाते हैं तो बीमारी आना अच्छे कर्मोंका फल नहीं है। बीमारी पूर्वकृत कर्मोंका फल है, अच्छे कर्मोंका फल तो आगे मिलेगा। बीज पनपकर पीछे फल देता है। कई बीज जल्दी फल देते हैं, कई बहुत देरीसे। इसी तरह कई कर्मोंका फल जल्दी होता है, कई कर्मोंका देरीसे। अत्युग्र पाप-पुण्यका फल यहीं मिल जाता है।

व्यापार आदि कर्म करनेसे एक तो कर्म होता है और एक उसे करनेकी विद्या आती है, स्वभाव बनता है।

शुभ-कर्म करनेमें सन्त-महापुरुष, धर्म, शास्त्र, भगवान् सहायता करते हैं। अशुभ-कर्म करनेमें कुसंग सहायक होता है। अतः संग अच्छा करना चाहिये—**'सतां सङ्गो हि भेषजम्'** (मार्कण्डेयपुराण ३७। २३)।

पाप या पुण्य-कर्म तो फल देकर नष्ट हो जायँगे, पर पाप-पुण्य करनेका स्वभाव जल्दी नष्ट नहीं होगा। स्वभाव ही मनुष्यको ऊँच-नीच योनियोंमें ले जाता है। स्वभाव अच्छा हो तो मनुष्य किसी भी योनिमें जाय, सुख पायेगा।

आजकल बेकारी नहीं बढ़ी है, प्रत्युत बेकार आदमी बढ़े हैं। अपना काम करते नहीं—इसीसे बेकारी बढ़ती है। काम कम न करके खर्चा कम करना चाहिये, अन्यथा देश दरिद्र होगा। छुट्टियाँ अधिक होनेसे देशका पतन होता है। देशका पतन होनेसे प्राणियोंको दुःख होता है।

× × × ×

मनुष्य अपने जाने हुए असत्का त्याग कर दे तो वह मुक्त, भक्त आदि सब हो जायगा। कहते हैं कि मन नहीं लगता, विचार करें कि मन आपकी जातिका है क्या? मन प्रकृतिका अंश है—**'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि'** (गीता १५। ७)। आप परमात्माके अंश हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'।** प्रकृतिसे बनी चीज (मन) प्रकृतिसे अलग कैसे हो सकती है? मन अपरा प्रकृति है। वह संसारमें ही लगता है; क्योंकि वह परमात्माका अंश नहीं है। **आप परमात्माके अंश हैं, इसलिये आप स्वयं ही परमात्मामें लग सकते हैं।**

आप मन, बुद्धि, अहम् आदिके भाव और अभाव—दोनोंको जानते हैं, पर अपने या परमात्माके अभावको नहीं जानते। सुषुप्तिमें ये नहीं रहते, पर आप रहते हो। संसारका वियोग ही नित्य है, संयोग नहीं। अतः संसार साथ बना रहे—यह इच्छा छोड़ दो। जाने हुए असत्का त्याग नहीं कर सकते तो फिर क्या त्याग कर सकते हो? जिससे वियोग अवश्यम्भावी है, उसकी सेवा करो, उसको सुख-आराम पहुँचाओ, उसके साथ अच्छे-से-अच्छा बर्ताव करो।

× × × ×

जबतक अपनेमें कर्तृत्वाभिमान है, अपनेको कुछ करना, जानना और पाना बाकी है, तबतक 'जैसा भगवान् कराते हैं, वैसा हम करते हैं'—यह बात है ही नहीं! भगवान्‌ने मनुष्यको कर्तव्य-अकर्तव्यको पहचाननेकी शक्ति दी है। यदि सब काम भगवान् कराते तो शास्त्र, गुरु, शिक्षा, सत्संग आदि सब निरर्थक हो जायगा। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, पर फल भोगनेमें स्वतन्त्र नहीं है। कर्म करनेकी यह स्वतन्त्रता सीमित है। जैसे, भारतमें हम जैसे स्वतन्त्र हैं, वैसे अन्य देशोंमें नहीं। फल नाशवान् होता है। अतः फलकी इच्छाका त्याग करके कर्म

करना चाहिये।

एक कामना होती है, एक आवश्यकता होती है। उदरपूर्त्तिकी कामना 'आवश्यकता' है। इसमें अन्न, जल आदि शरीरकी आवश्यकता है, पर स्वाद-शौकीनीकी इच्छा 'कामना' है। सभी पाप कामनासे होते हैं। स्वयंको परमात्माकी आवश्यकता है। भोग और संग्रहकी कामना होती है। शरीर नाशवान् है। **नाशवान्‌की आवश्यकता भी वास्तवमें कामनामें ही भरती होती है।** आवश्यकता वास्तवमें परमात्माकी ही है, जिसकी पूर्त्ति एक बार और सदाके लिये होती है।

भोग तो रहते हैं, पर मनुष्य मर जाता है। अतः वास्तवमें मनुष्यने भोगोंको नहीं भोगा, प्रत्युत भोगोंने ही उसको भोग लिया—खत्म कर दिया! भोगोंकी इच्छावालोंको भगवान् भोगयोनि देते हैं। मनुष्य कर्म करता है स्वतन्त्रतासे, पर फल भोगता है परतन्त्रतासे।

मनुष्यकी आयु बढ़ भी सकती है और घट भी सकती है। आयु श्वासोंपर निर्भर है। आयु निश्चित है; क्योंकि श्वास भी निश्चित हैं। परन्तु पाप करनेसे श्वास तेजीसे चलते हैं, जिससे श्वास जल्दी खत्म हो जाते हैं।

× × × ×

सांसारिक वस्तुकी प्राप्तिके लिये कर्म (परिश्रम) कारण हैं, पर परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्म कारण नहीं हैं, प्रत्युत विवेक तथा विश्वास कारण हैं। विवेक और विश्वाससे करणनिरपेक्ष साधन होता है। परमात्माकी प्राप्ति क्रियाकी सिद्धि नहीं है। उसे जान लो या मान लो। ज्ञानमार्गमें जाननेकी और भक्तिमार्गमें माननेकी मुख्यता है। जो मौजूद है, उसीको प्राप्त करना है। **नित्यप्राप्तको प्राप्त करनेमें निराश नहीं होना चाहिये। वह है और हमारा है। केवल आपकी उत्कट अभिलाषा चाहिये। घरखर्चा इतना ही है!**

जैसे, आपने हरिद्वारको याद किया तो आपका मन ही जल, पत्थर, घण्टाघर, मनुष्य आदि सब कुछ बन गया। इसमें क्या परिश्रम पड़ा? ऐसे ही अकेले भगवान् ही सब कुछ बन गये, कोई परिश्रम नहीं पड़ा!

× × × ×

जो परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो चुके हैं, जिनमें किसी तरहकी इच्छा नहीं है, वे भी भगवान्‌के गुणोंका गान करते हैं। आत्माराम, मुक्त महापुरुष भी भगवत्प्रेम चाहते हैं, भगवत्कथा कहते-सुनते हैं, कीर्तन करते हैं।* **गोपियोंके लिये आया 'काम' शब्द प्रेमका वाचक है—'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम्'** (गौतमीय तन्त्र)। कामना तो संसारकी ही होती है।

'संघे शक्तिः कलौ युगे'— सामूहिक रामायण-पाठमें बड़ी शक्ति है। **गीता और रामायणके पाठको सुननेमात्रसे भी एक विलक्षण आनन्द मिलता है।** उनका श्रवण भी शान्ति देनेवाला होता है। काम करनेका अधिकार सबका समान नहीं है, पर भगवत्कथा आदिमें सबका समान अधिकार है। **कथा चारों वर्णोंका मानो भोजन है और इसके बाद जो कीर्तन होता है, वह मानो दक्षिणा है!** अतः सत्संगके बाद कीर्तन सुननेसे पहले नहीं उठना चाहिये। जो सत्संगके बीचमें उठ जाते हैं, वे 'सभा-बिगाड़' आदमी होते हैं। उनमें शान्ति नहीं होती। पढ़ाईमें भी कोई बीचमेंसे गुजर जाय तो 'अनध्याय' हो जाता है। पाठमें आसन, पुस्तक आदि अपनी रखनी चाहिये, दूसरेकी नहीं—'**स्थिरमासनमात्मनः**' (गीता ६। ११)।

पैसा दुर्लभ नहीं है, प्रत्युत काम करनेवाले पुरुष दुर्लभ हैं। काम करनेवाले हों तो पैसा अपने-आप आता है।

× × × ×

भगवत्प्राप्तिका अनुभव नहीं होता हो तो संसारकी अप्राप्तिका अनुभव करो। संसार बदल रहा है—यह सबका अनुभव है। इस अनुभवका आदर करो, इसको

* आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ (श्रीमद्भा० १।७।१०)

महत्त्व दो कि यह सब बदलनेवाला है, फिर राग-द्वेष क्यों करें? संसारको स्थायी माननेसे कोई लाभ नहीं होता, पर स्थायी न माननेसे लाभ-ही-लाभ है। बदलनेवालेको जाननेसे नहीं बदलनेवाला तत्त्व शेष रह जायगा। बदलनेवालेका ज्ञान न बदलनेवालेको ही हो सकता है। आप जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनोंसे अलग हैं, तभी तीनोंका ज्ञान होता है।

संसार बदल रहा है—इसको याद नहीं करना है, प्रत्युत इसकी जागृति रहनी चाहिये। संसार नाम ही बदलनेका है—'**सम्यग्रीत्या सरतीति संसारः**'। हरदम यह जागृति रखें कि संसार बदल रहा है। इसको स्थायी मानना इसको भूलना है। याद रखनेसे भूल होती है, जागृतिमें भूल नहीं होती। **जागृति अभ्यास या क्रिया नहीं है, प्रत्युत स्वीकृति है।**

का माँगूँ कुछ थिर न रहाई।
देखत नैंन चल्या जग जाई॥

संसारका ज्ञान होनेसे परमात्माका ज्ञान हो जायगा। आँखें संसारकी हैं, इसलिये इनसे संसार ही दीखता है, परमात्मा नहीं दीखते। क्या कानोंसे दीखता है? आँखोंसे सुनाई पड़ता है? कारण कि सजातीयता होनेसे ही दीखता है।

× × × ×

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४।७-८)

—यह भगवान्‌का नैमित्तिक अवतार है। सन्त-महात्माओंका नित्य अवतार होता है। **सन्त-महात्माओंका अवतार भी वास्तवमें भगवान्‌का ही है।** विनाश करनेका काम तो भगवान्‌का है, पर भक्तोंका काम शुद्ध भावोंका प्रचार करना है।

कीर्तन, रामायण-पाठ आदिका होना भी भगवान्‌का अवतार है। कीर्तन, पाठ आदिसे हृदयमें शान्ति मिलती है, आनन्द होता है—यह अवतार है। कीर्तन करते हैं तो प्रसन्नता होती है और मन करता है कि कीर्तन करते ही जायँ—यह भी भगवान्‌के प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमका अवतार है।

जब-जब ऐसा सत्संगका मौका मिलता है, तब-तब भगवान् प्रकट होते हैं। ऐसे अवसरका लाभ ले लेना चाहिये।

× × × ×

परमात्मप्राप्ति अपनी लगनसे होती है। लगन क्या है—

लगन लगन सब ही कहें, लगन कहावै सोय।
'नारायन' जा लगन में, तन मन दीजे खोय॥
'नारायन' हरि लगन में, यह पाँचों न सुहात।
बिषय-भोग, निद्रा, हँसी, जगत-प्रीति, बहु बात॥

परमात्मा अद्वितीय हैं तो उनकी इच्छा भी अद्वितीय होनी चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिमें कठिनता नहीं है। संसारका आकर्षण मिटानेमें कठिनता होती है। **'है' की प्राप्ति तो अभी भी है, पर 'नहीं' को 'है' मान लिया—यह बाधा लग रही है।**

जिस साधनमें मन लग जाय, वही साधन तेज हो जाता है।

× × × ×

यह सामूहिक रामायण-पाठका संयोग भगवान्‌की बड़ी कृपासे मिलता है। **इन्द्र आदि देवता भी अपने बलसे ऐसा संयोग प्राप्त नहीं कर सकते!** रामचरितमानसकी महिमा अपार है। **जैसे समुद्रपर पुल बनाया जाय तो छोटी-सी चींटी भी सुखपूर्वक समुद्रसे पार हो जाती है, ऐसे ही प्राणिमात्रको संसार-समुद्रसे पार करनेके लिये गोस्वामीजीने यह मानस-पुल बनाया है।** ऐसी रामचरितमानसके नवाह्नपारायणका अवसर भगवान्‌की बड़ी कृपासे मिला है। उनकी कृपाके बलसे ही हम पाठ कर रहे हैं। उनकी कृपाके सिवाय कोई बल नहीं है।

भगवत्सम्बन्धी कार्योंमें समय और धन खर्च करनेका मौका किसी विरलेको ही भगवत्कृपासे मिलता है। जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी सन्तोंकी कृपासे ही

यह मौका हमें मिला है। यह एक बहुत विलक्षण अनुष्ठान है। जैसे वर्षा सभी वृक्षोंपर समानरूपसे बरसती है, ऐसे ही भगवान्‌की कृपा सबपर समानरूपसे बरसती है। ऐसे भगवान्‌की कृपा अभी सभीपर हो रही है! वे हमारी योग्यता-अयोग्यताको नहीं देखते। **भगवान् तो अपनी तरफसे ही कृपा करते हैं, दूसरेको देखकर कृपा नहीं करते।**

त्यागकी बड़ी महिमा है। अतः खुद आगे बैठनेका आग्रह छोड़कर दूसरोंको आगे बैठायें। हरेक काममें दूसरोंको आदर देनेकी बहुत महिमा है।

× × × ×

'है' कभी 'नहीं' नहीं हो सकता और 'नहीं' कभी 'है' नहीं हो सकता। 'है' स्वयं ही अपनेको जानता है। वह सबका ज्ञाता है।

पदार्थोंका सदुपयोग करना है और व्यक्तियोंकी सेवा करनी है। **सबकी सेवा भगवान्‌की सेवा है, संसाररूप भगवान्‌की सेवा है, विराट्‌रूप भगवान्‌की सेवा है।** जहाँ रहो, वहाँ ही दूसरोंकी सेवा करो, सुख पहुँचाओ। सेवा करनेसे पुराना कर्जा उतर जाता है। सेवा करनेसे दूसरे निकम्मे बन जायँगे—यह विचार मत करो। अपना काम सेवा करनेका है। सेवा करो और भगवान्‌को याद करो। समय खाली मत जाने दो। **सच्चे हृदयसे सेवा करोगे तो दूसरेके मनमें भी सेवाका भाव जाग्रत् हो जायगा, यदि ऐसा न हो तो समझो कि आपकी सेवामें कुछ कमी (सकामभाव) है।**

यह कलियुग नामजपकी ऋतु है। ऋतुमें खेती की जाय तो बढ़िया होती है। अतः नामजप करो।

× × × ×

भगवान्‌को याद करनेसे नारदजीपर दक्षका जो शाप था, वह मिट गया और उनकी समाधि लग गयी। कामदेवने बहुत प्रयत्न किया, पर वह नारदजीको विचलित नहीं कर सका—

सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू।
बड़ रखवार रमापति जासू॥

(मानस, बाल० १२६।४)

विकारोंका नाश भगवत्कृपासे होता है। गुणोंको अपना मान लेनेसे अभिमान होता है। नारदजीने कामदेवपर विजयको अपना गुण मान लिया, जिससे उनमें अभिमान पैदा हो गया। शिवजीने यह बात भगवान् विष्णुको न बतानेकी सलाह दी तो नारदजीने उलटा समझ लिया कि शिवजी अकेले ही काम-विजयी रहना चाहते हैं! **जिसके भीतर अभिमान होता है, उसपर अच्छी शिक्षाका भी उलटा असर पड़ता है। वास्तवमें अच्छी बात भगवान्‌की कृपासे होती है, गलती हमारी होती है।**

आछी करै सो रामजी, कै सतगुरु कै संत।
भूंडी बणै सो आपकी, ऐसी उर धारंत॥

वास्तवमें नारदजी भगवान्‌की लीलाके लिये भूमिका तैयार करते हैं।

× × × ×

पारमार्थिक मार्गमें विवेक और भावकी आवश्यकता है। भाव है—भगवान्‌में अपनापन। प्रेम अपनेपनसे होता है, क्रियासे नहीं। ज्ञानयोगमें विवेककी आवश्यकता है। भक्तियोग भगवान्‌की कृपासे सिद्ध होता है।

त्याग उसीका करना है, जो स्वतः हमारा त्याग कर रहा है और प्राप्त उसीको करना है, जो नित्यप्राप्त है। **संसारको अपनी तरफसे छुट्टी दे दो, वह रहे तो मौज, जाय तो मौज!**

× × × ×

भगवान् राम परब्रह्म परमात्मा हैं और सीताजी साक्षात् भक्ति अथवा ब्रह्मविद्या हैं। **हमें प्रेम प्रदान करनेके लिये ही भगवान् विवाहकी लीला करते हैं।** हम आज उनके विवाहके प्रसंगका पाठ करते हैं। ऐसा मौका बार-बार नहीं मिलता।

रामचरितमानसमें तुलसीदासजी बार-बार भगवान्‌की याद दिलाते हैं। शृंगारका वर्णन करते समय गोस्वामीजी सीताजीके लिये 'जगज्जननी' नाम देते हैं।

× × × ×

करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहें। **करना तो अपना है, पर होना भगवान्‌की कृपासे है।**

अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनोंमें भगवान्‌की समान कृपा है।

हमारा जन्म-मरण मनुष्यजन्मसे शुरू हुआ है और यहीं उसकी समाप्ति होगी। मनुष्यको भगवान्‌ने स्वतन्त्रता दी है। **भगवान्‌ने उसे अपने समान (नर) बनाया, जिससे वह मेरेसे भी ऊँचा बन जाय!** पर वह उलटे नीचे चला गया! सुख लेनेकी इच्छासे अपार दुःखमें फँस गया! सुखकी इच्छाका नाम ही दुःख है। मनुष्यको सुखभोगके लिये नहीं बनाया गया है—***‘एहि तन कर फल बिषय न भाई’*** (मानस, उत्तर० ४४।१)। भगवान्‌ने मनुष्यको विवेकशक्ति दी है। उस विवेकशक्तिका दुरुपयोग करके वह ऊँच-नीच गतियोंमें चला गया। मनुष्यशरीर मानो भुसावलका स्टेशन है, जहाँसे मनुष्य कहीं भी जा सकता है। **वह नरकोंका कीड़ा भी बन सकता है और भगवान्‌का मुकुटमणि भी।** भागवतमें आया है—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय
विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

(११।९।२९)

‘अनेक जन्मोंके बाद इस परमपुरुषार्थके साधनरूप मनुष्यशरीरको, जो अनित्य होनेपर भी अत्यन्त दुर्लभ है, पाकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह शीघ्र-से-शीघ्र, मृत्यु आनेसे पहले ही अपने कल्याणके लिये प्रयत्न कर ले। विषयभोग तो सभी योनियोंमें प्राप्त हो सकते हैं, इसलिये उनके संग्रहमें इस अमूल्य जीवनको नहीं खोना चाहिये।’

अगर भगवान् स्वतन्त्रता न देते तो मनुष्यका कोई मूल्य नहीं होता, वह पशुकी तरह ही होता। स्वतन्त्रता कल्याणके लिये दी है, दुरुपयोगके लिये नहीं। एक मनुष्यशरीरमें किये हुए पाप चौरासी लाख योनियाँ भोगनेपर भी बाकी रहते हैं। भगवान्‌ने परमाणु बम आदि बनानेके लिये, तरह-तरहके पाप करनेके लिये बुद्धि नहीं दी थी। अतः सावधान रहना चाहिये। सावधानी ही साधना है।

× × × ×

अभी रामायणका पाठ कर रहे हैं तो सबका हृदय अयोध्या बन रहा है—*‘अवध तहाँ जहँ राम निवासू’* (मानस, अयोध्या० ७४।२)। ऐसा मौका बड़ी कृपासे मिलता है। **पाठ करते हुए सदा रामजीके साथ ही रहें, साथ ही चलें।** वनवास हो जायगा तो भी रामजीके साथ ही रहें। रामजीके साथ रहकर निषादराजका प्रेम देखें। इसी तरह आप हर समय भगवान्‌के साथ रहें—**‘ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति’** (गीता १८।६१)। सदा आनन्दित, मस्त रहें। यह मौका अपने बलसे, धनसे नहीं मिलता, प्रत्युत कृपासे मिलता है। यह नौ दिनका बड़ा पवित्र अनुष्ठान है। **इससे पाठकी पुस्तक, स्थान आदि ही नहीं, त्रिलोकी पवित्र होती है।** इसे सुनकर भगवान् भी आनन्दित हो रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी भी आनन्दित हो रहे हैं। भगवान्‌के भक्त भी नित्य रहते हैं।

यहाँ बहुत बड़ा तीर्थ है; क्योंकि यहाँ रामकथारूप गंगाजीकी धारा बह रही है। **जिस कथाको भगवान् शंकर, काकभुशुण्डि आदि कह रहे हैं, वह आज हम कलियुगी जीवोंको सुननेके लिये मिल रही है—यह भगवान्‌की कोई अलौकिक कृपा है!**

× × × ×

संसारमें जो इन्द्रियोंसे दीखता है, वह नाशवान् है और जो ‘है’-रूपसे अनुभवमें आता है, वह अविनाशी है। अविनाशी तत्त्व एक ही है, जो नाशवान्‌में व्याप्त है। **सब बदलनेवाला है—इसका ठीक अनुभव हो जाय तो तत्त्वज्ञान हो जायगा; क्योंकि विनाशीको अविनाशी ही देख सकता है।**

मैं समझ गया, मैं समझा नहीं और मैं कम समझा—बुद्धिकी इन तीनों अवस्थाओंको आप जानते हैं, बुद्धि नहीं जानती। **इस प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्‌से अपनेको अलग करके देखें तो तत्त्वज्ञान हो जायगा।**

हमें रुपयों आदिके पराधीन नहीं होना है, प्रत्युत स्वाधीन होना है। स्वाधीन होंगे—भजनसे।

× × × ×

आप गृहस्थाश्रममें भगवान् श्रीरामकी तरह रहें और यह देखें कि उन्होंने माता, पिता, भाई, पत्नी आदिके साथ कैसा बर्ताव किया है। रामजीने कभी किसीका अहित नहीं किया, सबका हित-ही-हित किया। **विवाहके समय पति और पत्नीने एक-दूसरेको जो वचन दिये थे, उनको याद रखो और उनका पालन करो।** आपसमें प्रेम रखो।

स्त्री-जातिको दुःख देना बड़ा भारी पाप है, अपराध है। भीष्मजीके हृदयमें स्त्रीके प्रति कितना आदर था कि उन्होंने मरना स्वीकार कर लिया, पर शिखण्डीपर बाण नहीं चलाया। वे कितनी मर्यादा रखते हैं! स्त्रीपर हाथ चलाना, उसका तिरस्कार करना घोर पाप है। स्त्रीको भी चाहिये कि वह पतिका तिरस्कार, अपमान न करे। पतिको अच्छी सलाह देनेका उसको अधिकार है। बहूके सामने उसके माता-पिताकी निन्दा कभी मत करो। कन्याका गर्भपात बड़ी भारी हत्या (महापाप) है। **कन्या वंशकी वृद्धि करनेवाली मातृशक्ति है।**

× × × ×

गीतामें आया है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (२। १६) 'असत्की तो सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है।' **सब शास्त्रोंका सार इस आधे श्लोकमें आ गया है। सब शास्त्र इसकी व्याख्या हैं।**

संसारमें नाशके सिवाय कुछ नहीं है। सृष्टिमात्रका प्रवाह प्रलयकी ओर जा रहा है। मनुष्यशरीर मृत्युकी ओर जा रहा है। इसका कोई भी क्षण स्थिर नहीं है। वहम हो रहा है कि हम जी रहे हैं, वास्तवमें निरन्तर मर रहे हैं। इसे याद नहीं रखना है, इसकी जागृति रखनी है। जैसे 'हम कलकत्तेमें हैं'—इसे याद नहीं करना पड़ता, प्रत्युत स्वतः इसकी जागृति रहती है।

हमें जो भी सामग्री मिली है, वह सेवाके लिये मिली है, सुख भोगनेके लिये नहीं। भोगोंकी इच्छा करनेवालेको भोगयोनि मिलेगी। **ईमानदारीका नाम है 'त्याग' और बेईमानीका नाम है 'संग्रह'।** रुपया निर्मल है। यह चलता रहता है और दूसरोंका काम कराता रहता है। उसे रोककर मैला मत बनाओ, उसको अशुद्ध मत करो। **पापीका, कंजूसका धन किसीके काम नहीं आता, व्यर्थ ही जाता है।**

× × × ×

जैसे गरमी अथवा सर्दी आती है तो उससे हम अपनी रक्षा करते हैं। ऐसे ही कलियुगका, विरोधका समय जोरसे आ रहा है। अतः घरमें प्रेम रखें। विरोधको घरमें न आने दें।

सत्संग तीर्थराज प्रयाग है। प्रयाग तो देरसे फल देता है, पर सत्संग तत्काल फल देता है। **यहाँ पुरुषोंको रामजीका और स्त्रियों-को माता सीताका रूप देखकर अपने नयन सफल करें।**

जैसे सर्दी-गर्मीसे अपनी रक्षा करते हैं, ऐसे ही कलहसे अपने घरकी रक्षा करें, लड़ाई-झगड़ेसे अपनी रक्षा करें। आज पति-पत्नीमें लड़ाई होती है, मानो दो हाथोंमें परस्पर लड़ाई हो रही है! पति-पत्नी दोनों मिलकर गृहस्थ हैं। अतः अपने-अपने घरोंमें सावधान हो जाओ। अपने-अपने कुटुम्बको सँभालो। मनुष्यशरीरमें बनी आदत ही अन्य योनियोंमें साथ जाती है। मनुष्यजन्म सेवा करनेके लिये है, लेनेके लिये नहीं। सेवा और भजन—ये दो खास मनुष्यताके लक्षण हैं।

अगर सभी अपनी-अपनी जगह तत्परतासे कार्य करें तो बेकारी मिट जायगी।

× × × ×

अभी आपके पास सब कुछ है, फिर भी भविष्यके लिये आप और धन चाहते हैं। **यदि आपको भविष्यका विचार करना ही है तो फिर अधूरा विचार क्यों करो? मरनेके बादका भी विचार करो। पूरा विचार करो।** मरनेके बाद क्या दशा होगी? वहाँ क्या प्रबन्ध होगा? भविष्यके हरेक

काममें सन्देह है, पर मरनेमें कोई सन्देह नहीं है। मृत्यु अनिवार्य है। इसलिये बुद्धिमान् व्यक्तिके लिये विचार करनेकी आवश्यकता है कि मरनेके बाद कहाँ जायँगे? जाना तो अनिवार्य है। अन्य काम हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता—इस तरह अन्य कार्योंमें दो पक्ष हैं, पर मरनेमें दो पक्ष नहीं हैं। **मरनेके बादका विचार अब नहीं करोगे तो कब करोगे? नहीं करोगे तो हानि किसकी होगी?**

शरीर अनित्य है, पर शरीरको धारण करनेवाला नित्य है। शरीरके मरनेपर हमारी सत्ता नहीं मिटेगी, नहीं तो श्राद्ध-तर्पण आदि क्यों करते हैं? मरनेपर हमारे साथ जानेवाली चीज क्या है—यह कभी सोचा है? कौन सहायता करेगा? दो आदमी एक साथ मर जायँ तो भी वे साथ नहीं रहेंगे। व्यक्ति अकेला ही जायगा। मरना कोई चाहता नहीं, पर मरना पड़ता है। मरनेपर हमारे साथ जाता है—स्वभाव, आदत। **अपना स्वभाव ऐसा बना लो, जिसमें पराधीनता न हो।** हरेक परिस्थितिमें अपना निर्वाह कर सके—ऐसा स्वभाव बना लो। सन्तोंका सब आदर इसलिये करते हैं कि उनका स्वभाव अच्छा है, वे सबका हित चाहते हैं। **अच्छे स्वभाववालेको सब चाहते हैं, पर खराब स्वभाववालेको उसके घरवाले भी नहीं चाहते।** बिगड़ा या सुधरा स्वभाव ही साथ चलेगा। इसलिये अपना स्वभाव शुद्ध बनाओ। धन एक कौड़ी साथ नहीं जायगा और भजन एक कौड़ी पीछे नहीं रहेगा।

आपका घर यहाँ नहीं है। आपका घर परमात्माका परमधाम है। यहाँ तो धर्मशाला है। **आप स्वयं अविनाशी हो, फिर नाशवान्‌के भरोसे कबतक बैठोगे?**

दो कामोंमें ही मनुष्यता है—सेवा करो और भगवान्‌को याद करो। ये दोनों बातें आपके स्वभावमें आ जायँ। **कम-से-कम बाईस हजार नामजप प्रतिदिन करना ही चाहिये।**

× × × ×

एक भगवान्‌का ही सहारा हो, दूसरा कोई सहारा न हो—‘***मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई***’। **संसारमें कई वस्तुओं और व्यक्तियोंका सहारा लेनेपर भी सब काम सिद्ध नहीं होते, पर एक भगवान्‌का सहारा लेनेसे सब काम सिद्ध हो जाते हैं।** रुपयोंसे सब काम सिद्ध नहीं होते, पर भगवान्‌की भक्तिसे सब काम सिद्ध हो जाते हैं। कारण कि सब कामनाओंकी पूर्ति भगवान् ही कर सकते हैं—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(श्रीमद्भा० २। ३। १०)

‘जो बुद्धिमान् मनुष्य है, वह चाहे सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो, चाहे सम्पूर्ण कामनाओंसे युक्त हो, चाहे मोक्षकी कामनावाला हो, उसे तो केवल तीव्र भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये।’

एक परमात्माकी प्राप्ति होनेपर फिर कुछ भी जानना, करना और पाना बाकी नहीं रहता। संसारके सुखका नमूना तो आपने देख ही लिया है, अब बाकी क्या रहा? अब एक भगवान्‌में लग जाओ। एक बार अपनेको उनके अर्पण कर दिया, अब दुबारा देनेको क्या बाकी रहा?

× × × ×

कलियुगमें विशेष सावधान रहनेकी जरूरत है—‘***कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा***’ (मानस, उत्तर० १०४। ३)। सर्दीमें अपने शरीरका ध्यान रखते-रखते सर्दी लग जाती है! अतः सावधान रहते हुए आपसमें विशेष प्रेम रखें। थोड़ी-थोड़ी बातसे ईर्ष्या न करें। सास बहुओंका आदर करें। बहुएँ सासका आदर करें। स्त्रीको विचार करना चाहिये कि पति और उनकी माँ (सास)-को राजी न कर सकी तो त्याग क्या किया? कैकेयीने वनवास दे दिया, फिर भी सीताजी और रामजीने उसकी निन्दा, तिरस्कार नहीं किया। उनमें कैकेयीके प्रति कोई दुर्भाव नहीं आया। रामायणका पाठ करते हो तो वैसी ही शिक्षा लो। घरमें सभी

परस्पर प्रेम रखें। **जहाँ प्रेम है, वहाँ सत्ययुग है। जहाँ कलह है, वहाँ कलियुग है।**

× × × ×

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता १३। २७)

'जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समरूपसे स्थित देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है।'

अविनाशी तत्त्व एक ही है। '**तिष्ठन्तम्**' पदका तात्पर्य है कि जाते हुए संसारमें वही एक रहनेवाला है। **नाशवान्, जाते हुए और विषम संसारमें अविनाशी, रहनेवाले और सम परमात्माको देखे।** घोर कर्म (युद्ध)-से भी परमात्माकी प्राप्ति होती है और सौम्य कर्मसे भी। तात्पर्य है कि समता रहे। **समता ही साधन है और समता ही साध्य है।** जिसमें समता आ गयी, वह सिद्ध हो गया। **घोर कर्ममें भी वही तत्त्व है और सौम्य कर्ममें भी वही तत्त्व है।** कर्म तो रहेगा नहीं, पर तत्त्व वही रहेगा। अनुकूलतामें भी वही तत्त्व है और प्रतिकूलतामें भी वही तत्त्व है।

'करेंगे'—यह कच्ची बात है और 'मरेंगे'—यह सच्ची बात है। पर लोग 'मरेंगे' को तो भूल गये, 'करेंगे' को पकड़ लिया। **शरीर तो प्रतिक्षण मुरदा हो रहा है।**

जैसे व्यापारी वस्तुको न देखकर रुपया देखता है और कोयले, लकड़ी आदिके व्यापारसे भी रुपया निकाल लेता है, ऐसे ही सबमें एक ही परमात्मतत्त्वको देखें।

× × × ×

जैसे चौरासी लाख योनियोंमें कभी मनुष्यजन्म मिलता है, ऐसे ही मनुष्यजन्ममें कभी सत्संगका मौका मिलता है। यह सत्संगका मौका बल, बुद्धि, विद्या, धन, चतुराई आदिसे नहीं मिलता, प्रत्युत केवल भगवत्कृपासे मिलता है। जब मौका मिलता है, तब उसका महत्त्व नहीं समझते, पर पीछे रोते हैं!

सब जग ईश्वर रूप है, भलो बुरो नहिं कोय।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय॥

जैसे कपड़े अलग-अलग होते हैं, पर शरीर वही रहता है। ऐसे ही शरीर बदलते हैं, पर भीतर एक ही तत्त्व है। सबको सुख पहुँचाओ। सबका उपकार करो। सबकी सेवा करो। मन-ही-मन सबको दण्डवत्-प्रणाम करो। घरोंमें परस्पर प्रेमका, आदरका बर्ताव करो। सबको ईश्वरका रूप समझो। **किसीको भी दुःख पहुँचता है तो वह भगवान्‌को पहुँचता है।** वस्तुओंको तो दूसरोंको दो, काम-धंधा खुद करो।

सत्संगमें स्नान करनेसे मन पवित्र होता है, भीतर प्रकाश होता है, मुफ्तमें आनन्द मिलता है।

× × × ×

जो कुछ करना है, वह 'न करने' के लिये है। सब साधनोंके अन्तमें 'न करना' है। करना, होना और 'है'—ये तीन होते हैं। हमें 'है' तक पहुँचना है। **अपने लिये करेंगे तो 'है' तक नहीं पहुँचेंगे। अपने लिये करनेसे उद्धार नहीं होता।** अपने लिये न करनेसे ही मनुष्य योगारूढ़ होता है*। अपने लिये करना आसुरी सम्पत्ति है। आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली होती है। अपने लिये करनेसे नित्यतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत जन्म-मरण होता है; क्योंकि 'करना' अनित्य है। अतः चाहे संसारके लिये करो, चाहे प्रकृतिको सौंप दो और चाहे भगवान्‌के लिये करो, पर अपने लिये मत करो। **अपने लिये करनेसे साधन नहीं होता, असाधन होता है। परहित करनेसे अपना हित होता है।**

संसारसे सुख न लेना ही संसारके विमुख होना है। अपने लिये करनेसे करनेका राग बढ़ता है। दूसरोंके लिये करनेसे करनेका राग मिटता है। **केवल दूसरोंके हितके लिये जीना है।**

सेवाका तात्पर्य न समझनेसे ही सेवा करनेसे अहम् बढ़ता है। सेवा करना तो मानो कर्जा उतारना

* यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते। सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ (गीता ६। ४)

है! संसारसे मिली वस्तु संसारके ही अर्पित कर दी, इसमें अहम् कैसा?

× × × ×

समय बड़ा विकट है! हरेक क्षेत्रमें पाखण्ड, नकलीपना आ गया है। अतः सावधान हो जायँ।

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥

(दोहावली २२)

भगवान्‌का होकर भगवान्‌का भजन करो और कुसंगका त्याग करो। धन, मान, बड़ाई आदिमें आसक्त पुरुषोंका संग मत करो। पाखण्डियोंसे सदा बचो। बहनोंको विशेष सावधान रहना चाहिये। ठगाईमें मत आओ। **जहाँ कनक-कामिनीकी इच्छा है, वहाँ सावधान हो जाओ। वहाँ भगवान्‌की प्राप्ति नहीं है, नहीं है, नहीं है!** कलियुगका ताण्डव नृत्य हो रहा है। अतः भगवान्‌को पुकारो। तत्परतासे भगवान्‌में लग जाओ। बार-बार प्रार्थना करते रहो कि 'हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं'। पाँच-पाँच मिनटमें प्रार्थना करते रहो। प्रातः उठनेसे लेकर रात्रि सोते समयतक भगवान्‌का नाम जपते हुए प्रार्थना करते रहो। **कलियुगमें भगवान्‌ने सभी साधनोंकी शक्तिको नाममें रख दिया है—**

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥

(शिक्षाष्टक २)

'भगवान्‌ने अपने बहुत प्रकारके नामोंका प्रचार किया है। उन नामोंमें भगवान्‌ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति भी अर्पित (स्थापित) कर दी है। उन नामोंके स्मरणके विषयमें समय-सम्बन्धी कोई नियम भी नहीं है। हे भगवन्! आपकी तो ऐसी कृपा है, पर मेरा ऐसा दुर्भाग्य है कि आपके ऐसे नाममें भी मेरा अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ!'

कोई कष्ट आये तो रोकर, सब तरफसे निराश होकर, एकान्तमें हृदयसे भगवान्‌को पुकारो और उनकी कृपाके भरोसे निश्चिन्त हो जाओ। भगवान्‌का नाम जपते हुए प्रार्थना करते रहो कि 'हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं'। भगवान्‌का स्मरण समस्त कष्टोंसे मुक्त कर देता है—**'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्'** (श्रीमद्भा० ८।१०।५५)।

× × × ×

गीताकी सार बात है—शरणागति। ग्वाल-बाल, अर्जुन प्रायः हर समय भगवान्‌के पास रहते थे, पर भगवान्‌ने उन्हें कभी उपदेश नहीं दिया, गीता नहीं सुनायी। जब आफत आनेपर अर्जुन शरणागत हुए, तब भगवान्‌ने उपदेश दिया। गीताका खास उपदेश शरणागतिका है।

शरणागतिका साधन सरल है और महान् है। सरल इतना है कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ।' **भगवान्‌के शरण होनेपर भक्त संसारका रहता ही नहीं। यदि संसारका रहता है तो असली शरणागति हुई ही नहीं। शरण होनेपर सभी योग स्वतः आ जाते हैं।** कारण कि भगवान्‌में सभी योग, मत, सिद्धान्त आदि आ जाते हैं। अतः **शरणागतिके अन्तर्गत सब साधन आ जाते हैं, लौकिक-पारलौकिक सब ज्ञान आ जाते हैं।**

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०।४२)

'अथवा हे अर्जुन! तुम्हें इस प्रकार बहुत-सी बातें जाननेकी क्या आवश्यकता है, जबकि मैं अपने किसी एक अंशसे इस सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करके स्थित हूँ अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्ड मेरे किसी एक अंशमें हैं।'

शरण होनेपर जानना, करना और पाना—तीनों पूर्ण हो जाते हैं। **शरण होनेपर बिना पढ़े-लिखे सब बातें भीतर आने लगती हैं।** शरणागति मुख्य होनेसे गीता विश्ववन्द्य है। **शरण होनेपर शरण्यकी सब ताकत आ जाती है।** अतः अपने-आपको बदल दो

कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ।' सत्संगका यह स्थान तीर्थ बन गया है। इस तीर्थस्नानमें हृदयसे मान लो कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ।' वास्तवमें हम भगवान्‌के ही हैं। अन्यके तो हम बने हैं। **बच्चा माँ-माँ करता है तो वह कोई साधन नहीं करता।** उसे 'माँ' नाम मीठा लगता है। वह माँको अपना मानता है।

अर्जुन कहता है कि मेरा मोह मेरे विचारसे, साधनसे दूर नहीं हुआ है, प्रत्युत आपकी कृपासे दूर हुआ है—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत**' (गीता १८।७३)। हमारेपर भी कृपा हुई है, तभी यह सत्संग हुआ है! भगवान्‌ने शरणागत होनेके लिये सब ढंग बैठाया है!

× × × ×

गीताकी महिमा अनन्त है। एक मनुष्यके भी भावोंका अन्त नहीं आता, फिर अनन्त परमात्माके भावोंका अन्त कैसे आ सकता है? वे भाव भी विशेषरूपसे अर्जुनके सामने प्रकट हुए।

भगवान्‌के भक्त भी नित्य हैं—'प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम्' (गीता १०।३०), फिर भगवान् नित्य हों—इसमें क्या आश्चर्य है? उनके भावोंका अन्त कैसे आ सकता है? कोई कहता है कि मैंने जल पी लिया, भोजन कर लिया तो क्या संसारमें जल, भोजन नहीं रहा? ऐसे ही जब हम कहते हैं कि मैंने गीताके अर्थको जान लिया, तो इसका तात्पर्य होता है कि हमारी बुद्धि तृप्त हो गयी, हमारी भूख मिट गयी। गीताके अर्थ अनन्त हैं।

× × × ×

जैसे बच्चा माँके दूधसे पलता है, तो वह माँके आगे ही रोता है, ऐसे ही मैं आपके अन्नसे पलता हूँ, आप अन्नदाता हैं; अतः अपनी बात आपसे नहीं कहूँगा तो किससे कहूँगा? आपको मेरी बात सुननी चाहिये। मैं बार-बार कहता हूँ कि गर्भपात-जैसे भयंकर पाप मत करो! आबादी तो विधर्मी लोगोंकी बढ़ रही है, पर परिवार-नियोजन कर रहे हैं हिन्दुओंका! यह कैसा न्याय है!

पाप बराबरके पुण्यसे नहीं कटता। एक छटाक कीचड़ कपड़ेमें लगा हो तो वह एक छटाक पानीसे नहीं धुलेगा। सेरों पानी लगानेपर भी तन्तुओंमें थोड़ा कीचड़ रह ही जायगा। आज पैरोंको ऊँचा और सिरको नीचा किया जा रहा है! प्रत्येक क्षेत्रमें, वर्णमें कलियुगका प्रवेश हो रहा है। कहा जाता है कि आज ब्राह्मण पहले-जैसे नहीं रहे, तो क्षत्रिय-वैश्य आदि कौन-से पहले-जैसे हैं! पतन हुआ है तो चारों वर्णोंका पतन हुआ है। कहते हैं कि साधु अच्छे नहीं हैं तो अच्छे-अच्छे आदमी साधु हो जाओ तो साधु अच्छे हो जायँगे। **हरेक भाई-बहन खुद सुधर जायँ तो समाज सुधर जायगा।** एक राजाने सब आदमियोंको कुण्डमें एक-एक लोटा दूध डालनेको कहा। हरेक आदमीने सोचा कि कुण्डमें हजारों लोटे दूधके पड़ेंगे, मैं एक लोटा पानीका डाल दूँ तो क्या पता लगेगा? ऐसा सबने सोचा तो कुण्ड पानीका भर गया! यह दशा आज हो रही है!

गोहत्याबन्दीके लिये जो सत्याग्रह हो रहा है, वह ऊपरी है, हृदयसे नहीं है। यदि हृदयकी सच्ची लगन होती तो गोहत्या बन्द हो गयी होती। सच्चे आदमी बहुत कम हैं। अधिकतर केवल नाम और पैसा कमानेके लिये हैं।

× × × ×

संसारकी प्राप्तिमें और परमात्माकी प्राप्तिमें बहुत फर्क है। परमात्मप्राप्ति स्वतःसिद्ध है। उनकी प्राप्तिमें क्रिया मुख्य नहीं है, प्रत्युत भाव और विवेक मुख्य हैं। संसारकी प्राप्तिमें लगन भी हो, प्रयत्न भी हो और प्रारब्ध भी हो। आप संसारकी वस्तुओंको चाहते हैं, पर वस्तुएँ आपको नहीं चाहतीं। परन्तु परमात्मा आपको चाहते हैं—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४।११)। भगवान्‌में दया है, पर धनादि पदार्थोंमें दया नहीं है; क्योंकि वे जड़ हैं।

परमात्मा अनन्य हैं; अतः उनकी इच्छा भी अनन्य होनी चाहिये। दूसरी कोई इच्छा साथमें न

रहे—*'दुविधामें दोनों गये, माया मिली न राम।'* परमात्मा एक हैं तो उनकी इच्छा भी एक चाहिये। अनन्यभावसे भगवान् सुलभ हो जाते हैं।[1]

संसार उत्पन्न-नष्ट होनेवाला है, पर परमात्मा मौजूद हैं। वे हरेक देश, काल, वस्तु आदिमें ज्यों-के-त्यों रहते हैं। केवल उनकी प्राप्तिकी लगन होनी चाहिये। केवल परमात्माकी तरफ दृष्टि करनी है, पर और तरफ दृष्टि नहीं रहनी चाहिये। **एकको चाहनेसे सब मिल जाता है, पर सब चाहनेसे कुछ नहीं मिलेगा।** भगवान्‌में हमसे मिलनेकी बहुत इच्छा है, पर हमारी भी इच्छा हो जाय तो चट काम हो जाय!

× × × ×

श्रोता—भागवतमें आया है कि भक्तपर कोई ऋण नहीं रहता, फिर कर्मयोगी और ज्ञानयोगीपर ऋण रहता होगा?[2]

स्वामीजी—भक्तिसे, तत्त्वज्ञान होनेसे और कर्मयोगसे—तीनोंसे मनुष्यपर कोई ऋण नहीं रहता। तीनों ऋणमुक्त हो जाते हैं।

श्रोता—आपके नाममें 'स्वामी' और 'दास'—दोनों परस्पर-विरुद्ध शब्द क्यों?

स्वामीजी—मेरे नाममें 'स्वामी' का अर्थ मैं मालिक नहीं मानता। 'स्वामी' तो एक जाति है। 'दास' इसलिये है कि मुझे दास्यभाव अच्छा लगता है। रामायणमें शंकरजीके लिये भी आया है—*'सेवक स्वामि सखा सिय पी के'* (बाल० १५।२)।

जो फलजनक होता है, वह 'कर्म' होता है और जो फलजनक नहीं होता, वह 'क्रिया' होती है। **कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छा—ये दो बाँधनेवाले हैं।** यदि ये दोनों न हों तो कर्म बाँधते नहीं—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८।१७)

'जिसका अहंकृतभाव ('मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह (युद्धमें) इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध। क्रियमाणसे संचित होते हैं, संचितसे प्रारब्ध बनता है और प्रारब्धसे जन्म, आयु और भोग—ये तीन होते हैं—**'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'** (योगदर्शन २।१३)।

मनुष्ययोनि भोगोंको भोगनेवालेके लिये भोगयोनि अथवा कर्मयोनि है। परन्तु **अपना कल्याण चाहनेवालोंके लिये यह साधनयोनि है।**

श्रोता—क्या मनुष्यकी आयु बढ़-घट भी सकती है?

स्वामीजी—मनुष्यकी आयु श्वासोंपर निर्भर है। श्वासोंकी संख्या निश्चित है, पर श्वास तेजीसे अथवा मन्दगतिसे चलनेपर आयु घटती-बढ़ती भी है।

मनुष्यशरीर जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेके लिये एक द्वार है। मनुष्यशरीरमें क्रियमाण कर्म बनते हैं, क्रियमाणसे संचित बनता है, संचितसे प्रारब्ध बनता है और प्रारब्धसे मनुष्यशरीर मिलता है—यह चक्र है। इस चक्रसे छुटकारा मनुष्यजन्ममें ही हो सकता है—*'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा'* (मानस, उत्तर० ४३।४)। सब-के-सब कर्म साधन हैं। प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है।

जन्म-मरणका आरम्भ भी मनुष्यशरीरसे हुआ है और अन्त भी मनुष्यशरीरमें ही होगा। शास्त्रमें जन्म-मरणका मूल कारण अज्ञान माना गया है—**'अज्ञानमेवास्य**

१-अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ (गीता ८।१४)

२-देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥ (श्रीमद्भा०११।५।४१)

'राजन्! जो सारे कार्योंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरणमें आ जाता है, वह देव, ऋषि, प्राणी, कुटुम्बीजन और पितृगण—इनमेंसे किसीका भी ऋणी और सेवक नहीं रहता।'

हि मूलकारणम्' (अध्यात्म०, उत्तर० ५।९)। ज्ञानके अभावका नाम 'अज्ञान' नहीं है। 'अज्ञान' नाम अधूरी जानकारीका है। अधूरा ज्ञान बड़ा खतरनाक होता है। **आजकल अधूरी जानकारीसे ही अपनेको ज्ञानी कहनेकी रिवाज हो गयी है—*'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥'*** (मानस, लंका० ७८।१)।

मनुष्यशरीर मिल गया तो मानो मुक्तिका अधिकार मिल गया। सभी योनियाँ मनुष्यशरीरसे किये कर्मोंसे ही मिलती हैं। मनुष्यशरीर सबसे दुर्लभ है। मनुष्यशरीरकी महिमा उसके सदुपयोगकी है। जिस वस्तुका दुरुपयोग करोगे, वह वस्तु पुनः नहीं मिलेगी—यह नियम है। यदि मनुष्यशरीरका दुरुपयोग करोगे तो यह दुबारा नहीं मिलेगा। **आपको जो स्वतन्त्रता मिली है, वह कल्याण करनेके लिये मिली है।** यदि मनुष्य साधनमें लग जाय तो साधनमें कमी रहनेसे पुनः मनुष्यजन्म मिलता है। उसे गीताने 'योगभ्रष्ट' कहा है (६।४०—४५)।

'प्रारब्ध' फल भुगताता है और 'स्वभाव' नये कर्म करवाता है।

× × × ×

भगवान् हैं, वे मिलते हैं और वे मेरेको मिलेंगे—ऐसा विश्वास हो जाय तो जल्दी कल्याण हो जाय।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इसकी अपेक्षा सब भगवान्‌के हैं, सबके मालिक भगवान् हैं—यह मानना सुगम है। मालिक होते हुए भी वह बर्फमें जलकी तरह सबमें परिपूर्ण है। केवल भगवान्-ही-भगवान् हैं—यह उनकी कृपासे ही जान सकते हैं। जब वे जनायेंगे, तभी जानेंगे—***'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई'*** (मानस, अयो० १२७।२)। **अपनी बुद्धिमानीसे, चतुराईसे उनको नहीं जान सकते।** जब अपनेमें कोई भी कामना न हो, एक भगवान्‌के सिवाय कोई चाह न हो, तब वे जनाते हैं। **जबतक दूसरी वस्तुओंकी इच्छा है, तबतक कमजोरी है। चाह होनेसे ही चिन्ता होती है। कोई चाह न हो तो चिन्ता आ नहीं सकती।** जीनेकी भी इच्छा न हो। **इच्छा होनेसे मनुष्य संसारका गुलाम होता है। जो संसारका गुलाम है, वह भगवान्‌का गुलाम कैसे होगा?**

संसारकी सेवा तो करें, पर उसको अपना न मानें। संसारसे केवल सेवाका सम्बन्ध रखें। संसार खुद तो टिकेगा नहीं, पर आपको परमात्मप्राप्तिसे वंचित कर देगा। मिलेगा कुछ नहीं। आपके बिना भोजन (संसार) बिगड़ जायगा, पर भोजनके बिना आप नहीं बिगड़ते। अतः संसारकी गुलामी मत करो, अपनेको उसके अधीन मत मानो।

जो सबसे दुर्लभ वस्तु है, वह सबके लिये सुलभ है। परमात्मा सबके लिये सुलभ हैं; क्योंकि वे सब जगह परिपूर्ण हैं। जैसे बूँदीमें जो मिठास है, वह चीनीकी है, ऐसे ही संसारमें जो सत्ता प्रतीत होती है, वह परमात्माकी ही है। यह परमात्माकी ही झलक है।

× × × ×

भक्ति चाहते हैं तो भगवान्‌में अपनापन करें। किसी क्रियासे भक्ति प्राप्त नहीं होती। शास्त्रोंमें भी क्रियाकी मुख्यता पायी जाती है। परन्तु सम्बन्ध जोड़नेके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता। **सम्बन्ध तत्काल होता है और जबतक छोड़ना न चाहें, छूटता नहीं।** भक्तिमें अपनापन है। अपनेपनसे प्रियता होती है—***'पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन'।*** जबतक सम्बन्ध (सगाई) नहीं होता, तभीतक लड़की कइयोंकी बातें सुनती है।

भक्ति करना चाहें तो भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ लें कि भगवान् ही अपने हैं। हम भगवान्‌के अंश हैं। शरीर प्रकृतिका अंश है। धन, सम्पत्ति, मकान आदिने आपको अपना नहीं माना है, प्रत्युत आपने ही उन्हें अपना माना है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५)। भगवान्‌का अंश होते हुए भी आपने भगवान्‌से विमुख होकर जगत्‌को धारण कर लिया अर्थात् अपना मान लिया। यह सम्बन्ध आपने किया है, अब इसको

दूसरा नहीं छुड़ा सकता। आपको ही छोड़ना पड़ेगा।

भक्तिकी खास बात है कि भगवान्‌को अपना मान लें। हम कैसे ही हों, भगवान्‌के ही हैं। सपूत हों या कपूत, पूत तो हैं ही! **अपनापन होनेसे अपने-आप भक्ति आ जायगी।**

दूर वही होता है, जो पहलेसे ही दूर है। शरीर दूर हो जायगा तो अभी भी शरीर आपसे दूर है। मन-बुद्धि भी दूर हैं, तभी उनको आप 'मेरा' कहते हैं। ये सब आपसे अलग हैं, पर आप भूलसे शरीरको 'मैं' मान लेते हैं। शृंगार करते हैं तो कहते हैं कि मैं सुन्दर हो गया! वास्तवमें सुन्दर आप नहीं हुए, शरीर (हाड़-मांस) सुन्दर हुआ है। **शरीर अभी भी मुर्दा है, तभी यह मुर्दा होता है।**

सम्बन्ध तत्काल सिद्ध होता है। इसमें अभ्यास नहीं करना पड़ता। जैसे बिजलीसे सम्बन्ध होते ही करेण्ट आ जाता है, ऐसे ही भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ते ही लाभ होता है। मैं भगवान्‌का हूँ—यह याद आना ही स्मृतिका प्राप्त होना है—'**स्मृतिर्लब्धा**' (गीता १८।७३)। 'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसा माननेसे अपने-आप सुधार हो जायगा; क्योंकि मैं भगवान्‌का हूँ तो फिर ऐसा विपरीत काम कैसे कर सकता हूँ!

भगवान् कैसे हैं—यह भगवान् भी नहीं जानते! यदि वे जान जायँ कि मैं ऐसा हूँ तो भगवान् सीमित हो जायँगे।

× × × ×

मनुष्यकी इच्छा ही बाँधनेवाली है। इच्छा और आवश्यकता—ये दो विभाग हैं। इच्छाकी निवृत्ति होती है तथा आवश्यकताकी पूर्ति होती है। भूख-प्यास लगनेपर शरीरको अन्न-जलकी आवश्यकता होती है तो उसकी पूर्ति होती है, पर इच्छाकी पूर्ति नहीं होती। **परमात्माकी आवश्यकता और संसारकी इच्छा होती है।** परमात्माकी आवश्यकता स्वयंकी भूख है। परमात्माकी आवश्यकता जिज्ञासामें अथवा प्रेम-पिपासामें बदल जाती है। इच्छा भोगोंकी होती है, जिसकी पूर्ति नहीं होती। ज्यों धन बढ़ता है, त्यों घाटा बढ़ता है, तृष्णा बढ़ती है। भोगोंकी प्राप्ति तो पशु आदिकी योनिमें भी हो जायगी, पर परमात्मप्राप्ति मनुष्यजन्ममें ही हो सकती है। परमात्मप्राप्तिके सब-के-सब अधिकारी हैं; जैसे—माँकी गोदीमें जानेका अधिकार सब बेटोंका है। अतः किसीको भी परमात्मप्राप्तिसे निराश नहीं होना चाहिये।

× × × ×

किसी वस्तुको देखनेपर उस वस्तुको बनानेवालेकी तरफ दृष्टि जाना बुद्धिमानी है। कुम्हारके बिना घड़ा, चित्रकारके बिना चित्र नहीं बनता। इसी तरह यह जो संसार दीखता है, इसे बनानेवाला भी कोई है। बीजसे वृक्ष बनता है तो बीजमें शक्ति कहाँसे आयी? हम अँग्रेजीको नहीं जानते तो क्या अँग्रेजी भाषा ही नहीं है? हाँ, यह कह सकते हैं कि हम अँग्रेजी जानते नहीं। ईश्वर नहीं है—ऐसा कहना मूर्खताकी बात है। ईश्वर नहीं है तो क्या आप सब कुछ जानते हो? बोलें तो विचारपूर्वक बोलना चाहिये। पुत्र-पिताकी परम्पराको देखें तो आखिरी पिता कौन है? सबसे आखिरी चीज भगवान् हैं। संसारको देखनेसे संसारके रचयिताका ज्ञान होता है। उस विलक्षण रचयिता (ईश्वर)-की प्राप्तिके बिना मनुष्य-जीवन सफल नहीं होता। **भगवान् परिश्रम, उद्योगसे नहीं मिलते, प्रत्युत भीतरकी असली लालसासे मिलते हैं।**

आजकलके स्कूल-कालेज मूर्खताके अड्डे हैं, जहाँ ठोस मूर्खता भरी जाती है।

× × × ×

मनुष्य अपना एक ध्येय, लक्ष्य बना ले तो उसका सम्पूर्ण जीवन उसमें सहायक हो जाता है। उदासीन तथा शत्रु भी उसमें सहायक हो जाते हैं। इस एक निश्चयवाली बुद्धिका बड़ा माहात्म्य है। जिसने परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय कर लिया है, उसकी सिद्धि हो जायगी। अगर दुराचारी व्यक्ति भी परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय कर लेता है तो उसे साधु मान लेना चाहिये—'**साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः**' (गीता ९।३०)। वह शीघ्र

धर्मात्मा हो जाता है और परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है—**'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति'** (गीता ९।३१)। अतः साधकको चाहिये कि वह एक निश्चय करे, दुविधा न रखे। कोई निन्दा करे या स्तुति, उससे विचलित नहीं हो।

भोग और संग्रहमें लगे हुए मनुष्योंका परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय हो ही नहीं सकता।* संग्रह नहीं बाँधता, प्रत्युत उसकी ममता-आसक्ति बाँधती है। मनुष्य अपनेको धनका मालिक मानता है, पर हो जाता है गुलाम! **जिसको हम सदा अपने पासमें नहीं रख सकते, उसकी इच्छा करनेसे क्या लाभ?** जो सदा हमारे साथ रह सकता ही नहीं, जिसका वियोग जरूर होनेवाला है, उसकी इच्छा करनेसे सिवाय दुःखके और क्या होगा? ***'अंतहुँ तोहिं तजैंगे पामर! तू न तजै अबही ते'*** (विनय० १९८)। हम चाहें कि धन, पद, बल, जवानी, सम्मान आदि बने रहें, पर जब वे चले जायँगे, तब बड़ा सन्ताप होगा। प्रत्येक संयोगका वियोग अवश्यम्भावी है। यदि पहलेसे ही उसका त्याग कर दें तो बड़ी शान्ति, बड़ा आनन्द होगा।

यह सत्संग हो नहीं रहा है, प्रत्युत बीत रहा है। ऐसे ही हम जी नहीं रहे हैं, प्रत्युत मर रहे हैं। वियोग निरन्तर हो रहा है। अतः अपनी शक्तिके अनुसार दूसरोंको सुख पहुँचाओ तो लोक-परलोक दोनों सुधर जायँगे। यह बात पक्की कर लें कि हमें यहाँ नहीं रहना है। जैसे यहाँ हम सत्संगके लिये आये हैं तो यह भाव रहता है कि हम यहाँ सदा नहीं रहेंगे, ठीक ऐसे ही घरमें रहते हुए भी भाव रहे। यह सच्ची बात है। सच्ची बातको स्वीकार कर लेनेका नाम 'ज्ञान' है।

यह होना चाहिये, यह नहीं होना चाहिये—इसे भगवान्‌पर छोड़ दो। सबके साथ जो वियोग अवश्य होनेवाला है, उस वियोगको अभी ही स्वीकार कर लो। संसारके साथ संयोग कभी रह नहीं सकता और परमात्माके साथ कभी वियोग हो नहीं सकता; क्योंकि भगवान् अपने हैं, संसार अपना नहीं है। संसारका वियोग नित्य है, संयोग अनित्य है। अनित्यकी इच्छा करोगे तो दुःख पाओगे। संसारकी इच्छासे मनुष्य संसारका गुलाम बन जाता है और भगवान्‌की इच्छासे भगवान्‌का मुकुटमणि बन जाता है।

× × × ×

शास्त्रोंमें मनुष्यशरीरकी जो महिमा गायी है, वह वास्तवमें विवेककी महिमा है, शरीरकी नहीं। विवेक कर्मोंका फल नहीं है। कर्मोंका फल है—जन्म, आयु और भोग। विवेकशक्ति भगवान्‌की दी हुई है। जन्म अन्तिम चिन्तनके अनुसार होता है और सुखदायी-दुःखदायी परिस्थिति कर्मोंका फल है।

हम सुख चाहते हैं—यह दोष है। सुख चाहनेसे सुख नहीं मिलता और दुःख न चाहनेसे दुःख नहीं मिटता। अतः **चाहनेसे केवल गुलामी होती है।** सुखदायी परिस्थितिमें पुण्य कटते हैं और दुःखदायी परिस्थितिमें पाप कटते हैं। आप पुण्य काटना चाहते हैं या पाप? सुख-दुःख, आदर-निरादर तो सबके जीवनमें आते-जाते रहते हैं, इसमें नयी बात क्या हो गयी?

सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं।
दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥

(मानस, अयोध्या० १५०।४)

दुःख मूर्खतासे होता है। मूर्खता मिटी तो दुःख मिटा! यह मूर्खता सत्संग और स्वाध्यायसे मिटती है। करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहो।

× × × ×

जीवमात्रमें किसी-न-किसीका सहारा लेनेकी आदत है। अंश अंशीके अधीन होता है, पर गलती यह होती है कि जीव अंशी (भगवान्)-का सहारा न लेकर नाशवान्‌का सहारा ले लेता है। **संसारका सहारा लेनेसे कइयोंका सहारा लेना पड़ता है, तो भी काम बनता नहीं। परन्तु एक भगवान्‌का सहारा लेनेसे फिर किसीका सहारा नहीं लेना पड़ता।**

* भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (गीता २।४४)

भगवान्‌के शरण होनेकी पहचान है—अपनी चिन्ता मिट जाय। जैसे कोई भूला-भटका आदमी अपने घर आ जाय तो सब आफत मिट जाती है, ऐसे ही भगवान्‌की शरण लेनेपर भय, चिन्ता, शंका, शोक आदि सब मिट जाते हैं। मीराबाईने न ससुरालका आश्रय लिया, न पीहरका आश्रय लिया, प्रत्युत केवल भगवान्‌का ही आश्रय लिया—***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'।*** जिसका आश्रय लिया जाता है, सब भार उसीपर आ जाता है—

जो जाको शरणो गहै, ताकहँ ताकी लाज।
उलटे जल मछली चलै, बह्यो जात गजराज॥

भगवान् तो शरण न होनेवालेका भी पालन-पोषण करते हैं, पर उनके शरण होनेपर चिन्ता नहीं रहती। भगवान्‌ने तो सबको अपनी शरणमें ले रखा है, पर हम अपनी भूलसे शरण नहीं होते तो चिन्ता रहती है। जबतक शरण नहीं होते, तबतक चिन्ता रहती है।

सिवाय भगवान्‌के कोई रक्षा, सहायता करनेवाला नहीं है। सब कुछ भगवान्‌का ही दिया हुआ है, पर इतना छिपकर दिया हुआ है कि वह हमें अपना ही मालूम देता है! यदि मिला हुआ अपना होता, तो उसपर हमारा वश चलता, हम शरीरको मरने नहीं देते।

× × × ×

कल्याण एकनिष्ठ होनेपर होता है। वह निष्ठा चाहे गुरुमें करें, चाहे नाममें करें, चाहे धाम, लीला आदिमें करें।

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(मानस, बाल० १८५।३)

आदि अन्त जन अनँत के, सारे कारज सोय।
जेहि जिव उर नहचो धरै, तेहि ढिग परगट होय॥

जैसे रोगोंका संक्रमण होता है, ऐसे ही पापोंका भी संक्रमण होता है। जहाँ श्मशान है, वहाँ बैठकर देखो और जहाँ सन्तोंकी समाधि है, वहाँ बैठकर देखो तो दोनोंमें फर्क दीखेगा। श्मशानमें मनमें हलचल होगी, समाधिमें शान्ति मिलेगी।

पहले मनुष्योंमें पशुता नहीं थी, अब पशुता आ गयी—यह नयी रोशनी आयी है!

गीतामें समदर्शनकी बात आयी है, समवर्तनकी नहीं। समवर्तन तो पशुओंमें होता है। भगवान् सबमें समान हैं, पर मर्यादा समान नहीं है। वर्ण, आश्रम आदिकी मर्यादा अलग-अलग है। **घी और शहद—दोनों अच्छे हैं, पर उन्हें समान मात्रामें करनेसे जहर हो जाता है।** प्रकृतिकी साम्यावस्थामें प्रलय होता है।

संसार दुःखालय है, पर हम उससे सुख चाहते हैं तो दुःखी होना ही पड़ेगा। संसार नाशवान् है, पर हम बने रहना चाहते हैं तो दुःख पाना ही पड़ेगा। यदि दुःख नहीं चाहते हो तो संसारकी सेवा करो। सुख चाहनेसे दुःख बढ़ता है और सेवा करनेसे सुख मिलता है।

कलकत्ता 'कलिकांता' है, मद्रास 'मद्यराशि' है और बम्बई 'मोहमयी' है। ये तीनों समुद्रके किनारे हैं। समुद्रसे विष निकला था, वह यहाँ है।

जिसके पास बहुत धन है अथवा जिसने बहुत शृंगार कर लिया है, क्या वह दुःखी नहीं होता? सुख तो त्यागसे मिलता है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२।१२)।

श्रोता—कलियुगमें पाप होनेकी बात शास्त्रोंमें आयी है, फिर जो लोग पाप करते हैं, उनका क्या दोष?

स्वामीजी—शास्त्रोंमें लिखा है कि कलियुगमें ऐसा होगा, यह नहीं लिखा है कि ऐसा करना चाहिये। शास्त्रोंका तात्पर्य है कि कलियुगमें ऐसा होगा; अतः सावधान हो जाओ। यदि समयके अनुसार चलना चाहिये तो सर्दियोंमें गर्म चीज क्यों लेते हो? गर्मीमें ठण्डा पानी क्यों पीते हो?

× × × ×

योगदर्शनमें चित्तवृत्तिके निरोधका नाम 'योग' है। गीतामें परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्धका अनुभव करनेका नाम 'योग' है। गीताका योग 'नित्ययोग' है। संसारके साथ संयोगका वियोग होते ही

नित्ययोगकी प्राप्ति हो जाती है। ब्रह्म सम है, उसके साथ अपने नित्य-सम्बन्धकी जागृति हो जाय, इसका नाम 'योग' है।

सम्पूर्ण कामनाओंका, अहंता-ममताका त्याग करनेसे अपना स्वरूप शेष रह जाता है। कामना, स्पृहा, शरीरादिमें ममता और अहंता भी मिट जाती है, तो जो 'है', वह रह जाता है। इसका नाम ब्राह्मी स्थिति है—**'एषा ब्राह्मी स्थितिः'** (गीता २। ७२)। ब्राह्मी स्थितिकी स्मृति हो जाय—यही नित्ययोग है। फिर करना, जानना, पाना कुछ बाकी नहीं रहता।

धनके कारण अपनेको बड़ा मानते हैं तो वास्तवमें अपनी इज्जत गिरी है। यह धनकी गुलामी है। **पदार्थोंको लेकर अपनेको बड़ा माननेसे अपने वास्तविक बड़प्पनका अनुभव नहीं होता।** वस्तु नहीं रहती, बदलती है, पर स्वयं वही रहता है। **मनुष्य वस्तुओंसे जितना सम्बन्ध मानता है, उतना ही वह तुच्छ होता है।** वह धनके कारण अपनेको बड़ा मानता है तो वास्तवमें धन ही बड़ा हुआ, खुद तो छोटा हो गया। वस्तुओंसे सम्बन्ध मान लिया, उनको सत्ता देकर महत्ता दे दी, इसीलिये नित्ययोग प्रकट नहीं होता। निरन्तर बदलनेवालेके साथ अपना सम्बन्ध मानकर मनुष्य मुफ्तमें दुःख पाता है!

जबसे जीव परमात्मासे विमुख हुआ, तबसे पाप होना प्रारम्भ हुआ। इसलिये भगवान् कहते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४। १)

× × × ×

यह संसार सुख चाहनेवालेके लिये दुःखालय है, सेवा करने-वालेके लिये नहीं।

आज श्रीकृष्णको भगवान् माननेवाले जितने ज्यादा हैं, उतने महाभारतके समय नहीं थे। भीष्मपितामह, विदुर, संजय और कुन्ती—ये भगवान् श्रीकृष्णको तत्त्वसे जानते थे। युद्धके समय भीष्मजी अपने बाणोंसे भगवान्का पूजन करते हैं—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** (गीता १८। ४६)। फिर भगवान्के उसी रूपका अन्तसमयमें ध्यान करते हैं—

शितविशिखहतो विशीर्णदंशः
क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं
स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः॥

(श्रीमद्भा० १। ९। ३८)

'मुझ आततायीने तीखे बाण मार-मारकर उनके शरीरका कवच तोड़ डाला था, जिससे सारा शरीर लहूलुहान हो रहा था, अर्जुनके रोकनेपर भी वे बलपूर्वक मुझे मारनेके लिये मेरी ओर दौड़े आ रहे थे। वे ही भगवान् श्रीकृष्ण, जो ऐसा करते हुए भी मेरे प्रति अनुग्रह और भक्तवत्सलतासे परिपूर्ण थे, मेरी एकमात्र गति (आश्रय) हों।'

गीता शरणागतिपर विशेष जोर देती है। अर्जुन भगवान्के शरण होता है, तब गीता आरम्भ होती है। गीताकी संस्कृत तो सरल है, पर भाव बड़े गहरे हैं। शरणागति गीताका सार है। शरणागति बड़ा सुगम और ऊँचा साधन है। **'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—ऐसा कहनेसे भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं; वे हमारे द्वारा ऐसा सुनना चाहते हैं!**

भगवान् प्रेमसे दिये पत्र-पुष्पको भी खा लेते हैं*! विदुरानीजीने केलेके छिलके दिये तो उनको भी भगवान् खा गये! भक्तको पता नहीं कि मैं क्या दे रहा हूँ और भगवान्को पता नहीं कि मैं क्या खा रहा हूँ—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)।

हे नाथ! मैं आपका हूँ—ऐसे भगवान्के शरण हो जाओ। शरणागति नींदकी तरह सुगम है। जैसे नींदके लिये कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, ऐसे ही शरणागत होनेके लिये कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। एक विशेष बात है कि वास्तवमें भगवान्ने सबको अपना स्वीकार कर रखा है, अपनी शरणमें ले रखा है। हम संसारमें लग जाते हैं—यह गलती करते हैं। झूठ, कपट आदिके शरण हो जाते हैं कि

* पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ (गीता ९। २६)

इनके बिना काम नहीं चलेगा। अतः पापका आश्रय मत रखो। सब काम भगवान्‌के शरण होकर ही करो—'**मामाश्रित्य यतन्ति ये**' (गीता ७। २९)।

भगवान् पापी-से-पापी व्यक्तिके लिये भी यह नहीं कह सकते कि यह मेरा नहीं है। भगवान्‌ने सबको अपना मान रखा है—'***सब मम प्रिय सब मम उपजाए***' (मानस, उत्तर० ८६। २)। भगवान्‌को अभिमान, छल-कपट नहीं भाता, चालाकी नहीं भाती। निर्मल, सीधे—सरल भक्त भगवान्‌को प्यारे लगते हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
(मानस, सुन्दर० ४४। ३)

काम-क्रोधादिसे भी अधिक दोषी हैं—जान-बूझकर कपट, चालाकी, छल करना।

किसीका जी नहीं दुःखाना, सत्य बोलना, नामजप करना और भगवान्‌के शरण होना—ये चार व्रत आप धारण कर लें।

जब भी आफत आये, तब 'हे नाथ! हे नाथ!' पुकारो। 'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—इससे काम-क्रोधादि भी सुगमतासे दूर हो जायँगे। नामजपकी अपेक्षा भी शरण होना, अपनी अहंता बदलना श्रेष्ठ है।

भगवान् श्रीकृष्ण हमारे गुरु हैं और गीता उनका मन्त्र है। और किसीको गुरु मत बनाओ।

पापका असली प्रायश्चित्त है—मैं अब पुनः पाप नहीं करूँगा।

× × × ×

जैसे कोई आदमी घरसे तो निकल पड़े, पर यह पता न हो कि कहाँ जाना है, ऐसे ही जबतक जीवनका उद्देश्य न हो, तबतक बड़ी दुर्दशा है! प्रायः भोग और संग्रहका ही उद्देश्य है। इसका परिणाम क्या होगा—इसका पता ही नहीं! धन तो तिजोरीमें या बैंकमें जमा होता है, पर पाप अन्तःकरणमें जमा होता है। मृत्युके समय भीतरका संग्रह कौड़ी एक पीछे रहेगा नहीं और बाहरका संग्रह कौड़ी एक साथ चलेगा नहीं!

जो हर समय भगवान्‌को याद रखता है, वह चाहे कभी मरे, वह भगवान्‌को ही प्राप्त होगा। उसका बीमा हो गया! इसलिये भगवान्‌ने कहा है—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च**' (गीता ८। ७) 'इसलिये तू सब समयमें मेरा स्मरण कर और युद्ध (कर्तव्य-कर्म) भी कर।'

सन्तोंका संकल्प बड़ा वजनदार होता है। इसका कल्याण हो जाय—इस संकल्पसे सन्तोंने अजामिलको कहा कि तुम अपने लड़केका नाम 'नारायण' रख दो।

× × × ×

धन, सम्पत्ति, जायदादसे भी विशेष मूल्यवान् पूँजी है—समय। समयसे हम सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं। **हम समयके बलपर ही जी रहे हैं, बल-बुद्धि आदिके बलपर नहीं।** वस्तु अच्छी-बुरी नहीं होती, उसका सदुपयोग-दुरुपयोग अच्छा-बुरा होता है। समयका सदुपयोग करें। समयसे सब कुछ मिलता है, पर सब कुछ देनेसे समय नहीं मिलता। सोनेमें समय जाता है—यह समयकी चोरी है और पाप करनेमें समय जाता है—यह डाका पड़ना है। धन कमानेमें कितना ही समय लगा दो, तब भी मिलेगा प्रारब्धके अनुसार ही। धनकी प्राप्तिमें इच्छा, उद्योग और प्रारब्ध—तीनोंकी जरूरत है, पर परमात्मप्राप्तिमें केवल उत्कट अभिलाषाकी जरूरत है।

स्वभाव साथ जानेवाला है, धन नहीं। परन्तु आप स्वभावको तो बिगाड़ रहे हैं और धनको इकट्ठा कर रहे हैं!

भोग और संग्रहकी इच्छासे ही सब पाप होते हैं।

× × × ×

एक कर्म होता है, एक क्रिया होती है। कर्म तो फलजनक होता है, पर क्रिया फलजनक नहीं होती। कर्मोंका फल है—अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति। उन परिस्थितियोंमें जो सुख-दुःख होता है, वह कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत अज्ञानका फल है।

नया कर्म क्रियमाण है, जिससे पाप-पुण्य होते हैं। क्रियमाणसे संचित बनता है। संचितसे प्रारब्ध

बनता है। कर्मोंके चक्रसे छूटनेकी जगह मनुष्यशरीर है। **चौरासीके चक्रसे निकलनेका दरवाजा मनुष्यशरीरमें ही है।** परन्तु भोग और संग्रहकी खुजली चलनेसे यह दरवाजा हाथसे निकल जाता है!

कर्मयोगी कर्तव्य-कर्मका त्यागी नहीं होता, प्रत्युत फलका त्यागी होता है।

सुखकी इच्छाके बिना दुःख हो ही नहीं सकता। सुखकी इच्छा दूसरोंको सुख देनेसे मिटती है।

× × × ×

मनुष्यके लिये खास सोचनेकी बात है कि 'मेरा कौन है'?

संसार, साथी सब स्वार्थके हैं,
पक्के विरोधी परमार्थके हैं।
देगा न कोई दुःखमें सहारा,
सुन तू किसीकी मत बात प्यारा॥

संसारमें अपना कोई नहीं है। आप संसारसे अपना मतलब सिद्ध करना चाहते हैं और संसार आपसे अपना मतलब सिद्ध करना चाहता है। संसारसे मुक्तिका उपाय है—संसारसे आशा न रखकर उसको सुख दो। आशा रखनेसे कल्याण नहीं होगा। आप अपनी सुख-सुविधा चाहेंगे तो भगवान्‌में मन नहीं लगेगा। जो खुद मान, आदर आदिके भूखे हैं, वे आपको क्या देंगे? उलटे धोखा ही होगा।

सुर नर मुनि सब कै यह रीती।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

(मानस, किष्कि० १२।१)

हमसे मान-आदर चाहनेवाला हमारा कल्याण नहीं कर सकता। हम सुख-सुविधा, मान-आदरके ग्राहक हैं तो परमात्मा कैसे मिलेंगे? सुख-सुविधा, आराम लेना नहीं है, देना है। जो दूसरोंकी सेवा नहीं करता और भगवान्‌को याद नहीं करता, वह मनुष्य कहलानेलायक नहीं है।

संसारकी चाहना और परमात्माकी चाहना—दोनों साथ-साथ नहीं रह सकतीं। **यदि हम परमात्माको चाहते हैं तो दुःखमें, निरादरमें, अपमानमें, बुखारमें, पीड़ामें आनन्द आना चाहिये। जो ईश्वरका ग्राहक होता है, उसे सांसारिक सुख-सुविधा, मान-बड़ाई अच्छी नहीं लगती। ज्ञान, विवेक संसारसे हटनेके लिये है और विश्वास परमात्मामें लगनेके लिये है।** संसारका विश्वास पतन करनेवाला है। परमात्माकी प्राप्ति चाहते हो तो संसारका सुख अच्छा नहीं लगना चाहिये। पहली सीढ़ी छोड़े बिना दूसरी सीढ़ी कैसे चढ़ोगे?

वास्तवमें हमारा आदर भगवान् ही करते हैं। दूसरा तो हमारे पास धन, पद आदि होनेसे हमारा आदर करता है। धनके कारण हमारा आदर करते हैं, किसी विशेषताके कारण हमारा आदर करते हैं, वे वास्तवमें धन आदिका ही आदर करते हैं, हमारा आदर नहीं करते।

सुख न परमात्मासे चाहना है, न संसारसे। वस्तुओंको तो संसारकी सेवामें लगाना है और अपने-आपको परमात्माके समर्पित करना है। **सेवा करनेकी ताकत केवल मनुष्यमें ही है।** देवता तो अपनी ड्यूटी बजाते हैं।

आपसे चाहनेवाला आपको अच्छा नहीं लगता। ऐसे ही आप भी दूसरोंसे कुछ चाहोगे तो दूसरोंको कैसे अच्छे लगोगे? **त्यागी सबको अच्छा लगता है।**

हमारा कल्याण वही कर सकता है, जो हमसे कुछ नहीं चाहता।

× × × ×

हम क्या चाहते हैं—यह विचार करें। धन (स्थावर तथा जंगम), धर्म, सुखभोग और मोक्ष—ये चार चाहनाएँ हमारी होती हैं। इन चारोंके अन्तर्गत सब चाहनाएँ आ जाती हैं। मान-आदर शरीरका होता है और बड़ाई नामकी होती है। ये भोगके अन्तर्गत आ गये।

चाहनाएँ चार हैं, पर उपाय दो हैं—प्रारब्ध और पुरुषार्थ। साधन दो हैं, साध्य चार हैं। **धन और भोगमें प्रारब्धकी प्रधानता है। धर्म और मोक्षमें पुरुषार्थकी प्रधानता है।** इस कारण हम प्रतिदिन इतना धन तो कमायेंगे ही अथवा इतना भोग तो

भोगेंगे ही—ऐसा नियम कोई नहीं लेता; क्योंकि यह हमारे हाथकी बात नहीं है। परन्तु धर्मके लिये आप नियम ले सकते हैं कि प्रतिदिन इतना दान आदि करेंगे ही। ऐसे ही मुक्तिके लिये आप नियम लेते हैं कि हम प्रतिदिन इतना जप, पाठ आदि करेंगे ही; क्योंकि यह हमारे हाथकी बात है। तात्पर्य है कि धन और भोगमें हम परतन्त्र हैं, पर धर्म और मोक्षमें हम सर्वथा स्वतन्त्र हैं।

जैसे लोटा चाहे कुण्डसे भरो, चाहे समुद्रसे भरो, पानी तो उतना ही आयेगा, ऐसे ही कितना ही उद्योग करो, मिलेगा तो प्रारब्धके अनुसार ही। एक मजदूर सोना ढोता है और एक कंकड़-पत्थर, पर वेतन उतना ही मिलता है। **धन अधिक होनेपर भोग ज्यादा भोगेंगे—यह हाथकी बात नहीं है।** जैसे, रोग हो जाय तो पासमें करोड़ों रुपये होनेपर भी वैद्यके मना करनेपर खा नहीं सकते!

× × × ×

वेशभूषा, भाषा, व्यवसाय, खान-पान और कन्यादान—ये पाँच चीजें सुरक्षित रहेंगी तो आपकी मर्यादा, संस्कृति, वर्ण सुरक्षित रहेंगे। बालकका प्रथम गुरु उसकी माँ है। माँ चाहे तो वह अपने पुत्रको महात्मा भी बना सकती है और दुष्ट भी।

सीताजीको शत्रुघ्न या भरत त्याग नहीं सके, पर लक्ष्मणजी त्याग सके और उन्हें छोड़ने वनमें गये। लक्ष्मणमें सीताजीको त्यागनेका बल क्यों आया? जब रामजी मारीचके पीछे गये थे, तब सीताजीने उन्हें कठोर वचन कहे थे—***'मरम बचन जब सीता बोला'*** (अरण्य० २८। ३)। उन्हीं वचनोंका लक्ष्मणके मनमें खटका था। अत: बहुत विचारपूर्वक बोलना चाहिये।

× × × ×

मनुष्यके पास अमूल्य धन 'समय' है। समयका आदर करना चाहिये। समय लगाकर हम भगवान्‌के दर्शन कर सकते हैं, भगवान्‌के भी मुकुटमणि हो सकते हैं।

समय काल है, जो सबको खा जाता है। परन्तु मनुष्य समयका सदुपयोग करके कालको भी खा सकता है—जीत सकता है!

ब्रह्म अगनि तन बीच में, मथकर काढ़े कोय।
उलट काल को खात है, हरिया गुरुगम होय॥

इसलिये एक-एक क्षण सोच-समझकर खर्च करना चाहिये। धन तो तिजोरीमें बन्द किया जा सकता है, पर समय बन्द नहीं किया जा सकता। जो समय चला गया, वह फिर पीछे नहीं आयेगा। उम्र खत्म हो रही है, घर जल रहा है और आप खुशी मना रहे हो! अत: हरदम सावधान रहो।

× × × ×

हम यहाँ रहनेवाले नहीं हैं—यह बात हरदम याद रहनी चाहिये। भगवान्‌को याद करने और दूसरोंकी सेवा करनेका काम मनुष्यका है। **यह जगह रहनेकी नहीं है। इस संसारमें हम रहनेके लिये नहीं आये हैं, प्रत्युत भजन और सेवा करनेके लिये आये हैं।**

सुबह-शाम गंगाजलका चरणामृत लो।

× × × ×

अर्थ न समझनेपर भी रामायणकी चौपाइयोंका गान करनेसे एक आनन्द आता है। रामायणमें बड़ी विचित्रता है; क्योंकि एक तो भगवान्‌की लीला है और एक भक्तकी वाणी!

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

निरभिमान भक्तोंकी वाणीका बड़ा असर पड़ता है। भक्त- शिरोमणि गोस्वामीजीको कवि कहना उनका तिरस्कार करना है।

× × × ×

उत्कट अभिलाषा हो जाय तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति बड़ी सुगम है। **अभिलाषा कमजोर रहनेसे ही प्राप्ति नहीं हो रही है।** परमात्मा अनन्य हैं तो उनकी प्राप्तिकी अभिलाषा भी अनन्य होनी चाहिये।

जो सब जगह है, उसे प्राप्त करनेमें क्या कठिनता? नाशवान्‌में प्रियता होनेके कारण हमारी दृष्टि नाशवान्‌से हटकर अविनाशीतक नहीं पहुँचती। केवल सत्तामात्र परमात्माकी तरफ लक्ष्य करना है। संसार तो

नदीकी तरह प्रवाहरूपसे निरन्तर अभावमें जा रहा है। परिवर्तनका ज्ञान अपरिवर्तनशीलको ही होता है।

× × × ×

भगवान्‌की कृपाके बलसे सम्पूर्ण पापोंका नाश होना बड़ी सुगम बात है। अपने उद्योगसे हम अपने कर्मोंका नाश नहीं कर सकते।

सन्तोंकी वाणीमें जो ताकत है, वह विद्वत्ता, योग्यता आदिमें नहीं है। यह भगवान्‌की बहुत विशेष कृपा है कि हमें यहाँ (रामेश्वरम्‌में) इतने दिन रहनेका और रामायण-पाठ करनेका मौका मिला है! यह एक ज्ञानयज्ञ है। सन्तकी वाणीमें और भगवान्‌के चरित्रमें बड़ी विलक्षणता है, अपार शक्ति है, एक विशेष आकर्षण है!

हमें जो कुछ मिला है, जो कुछ हमारेमें है, वह सब भगवान्‌की कृपासे मिला है। उसे अपना मानेंगे तो अभिमान आ जायगा। अभी रामायण-पाठ होगा तो ऐसा मानें कि भगवान्‌की कृपासे ही हो रहा है, हम तो निमित्तमात्र हैं। पाठ हम कर रहे हैं—ऐसा मत मानें। यह भगवान् रामके इष्टदेवकी भूमि है! यह मौका भगवान्‌की बड़ी कृपासे ही मिला है। बार-बार यह मौका नहीं मिलता।

गीता क्या है, क्या नहीं है—यह तो भगवान् जानें। यह तो हमारा अहोभाग्य है कि हमें गीता मिल गयी!

× × × ×

जैसे रामजीने रावणपर विजय पानेके लिये यहाँ (रामेश्वरम्‌में) पड़ाव डाला था, ऐसे ही हमने आसुरी-सम्पत्तिपर विजय पानेके लिये यहाँ पड़ाव डाला है। हमारा मन भी वानरकी तरह चंचल है।

जग के सब मरकट जुटे, तुम पे आय तमाम।
मेरा मन मरकट अटक रहा कवन बन राम॥

यह शंकरकी कृपा है। रामजीने भी शंकरकी कृपा चाही। शंकर रामजीके भी इष्टदेव हैं। यहाँ हम उन्हींकी कृपासे आये हैं, अपने पुरुषार्थसे नहीं।

वानरको न तो मकान चाहिये, न भोजन चाहिये, न वस्त्र चाहिये, न आयुध चाहिये। सेना इतनी बड़ी, पर खर्चा कुछ नहीं! क्योंकि वह राजा रामकी सेना नहीं थी, प्रत्युत वनवासी रामकी सेना थी।

रामजीकी कथासे जो लाभ है, वह रामजीके संगसे नहीं है। इसलिये हनुमान्‌जी भी यही वर माँगते हैं कि संसारमें जबतक कथा रहे, तबतक पृथ्वीपर ही रहूँ—

यावत् तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी॥
तावत् स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन्।

(वाल्मीकि० उत्तर० १०८। ३५-३६)

'भगवन्! संसारमें जबतक आपकी पावनी कथाका प्रचार रहेगा, तबतक आपके आदेशका पालन करता हुआ मैं इस पृथ्वीपर ही रहूँगा।'

'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा०' (बाल० ७७। १, अयोध्या० २१३। २)—यह चौपाई दो जगह आयी है। एक जगह विरक्त (त्यागी) शंकर हैं और एक जगह राजा भरत हैं। **तात्पर्य है कि भक्त और भगवान्‌की आज्ञा विरक्त और राजा सबपर बराबर लागू होती है।**

× × × ×

संसार निरन्तर मिट रहा है। बदलना ही इसका स्वरूप है। **अपने रागके कारण ही संसारकी सत्ता और महत्ता दीखती है।** शरीर-संसार एक ही हैं। जैसे संसार बदल रहा है, ऐसे ही शरीर भी बदल रहा है। संसारकी वस्तुओं (शरीरादि)-को संसारकी ही सेवामें लगा दो। संसार मेरे अनुकूल हो जाय—इस भावसे आप संसारको अपनी तरफ खींच नहीं सकते।

संसारमें जिनको आपने अपना मान लिया है, उन्हींके बनने-बिगड़नेका दुःख होता है। **अपना माना और दुःख शुरू हुआ!** जो पहले अपना नहीं था, पीछे अपना नहीं रहेगा, वह अभी अपना कैसे हुआ?

× × × ×

श्रीरामचरितमानसके पारायणका यह मौका विशेष कृपासे मिला है। यह अपने बलके कारण नहीं है, केवल भगवत्कृपाके कारण है। हमें केवल उस कृपाकी 'हाँ-में-हाँ' मिलाना है। सब सामग्री केवल शुद्ध भगवत्कृपासे मिली है। केवल उसके सम्मुख

होना है। महान् पवित्र भूमिमें ऐसा अनुष्ठानका मौका बड़ी भगवत्कृपासे मिला है। रामायण-पाठ और जगह भी होता है, पर यह पाठ बड़ा विलक्षण है!

राम और शिव—दोनों एक-दूसरेके स्वामी, सखा और सेवक हैं—***'सेवक स्वामि सखा सिय पी के'*** (मानस, बाल० १५।२)। दोनोंमें परस्पर इतना स्नेह है कि शंकरका चिन्तन करते-करते विष्णु श्यामवर्ण हो गये और विष्णुका चिन्तन करते-करते शंकर श्वेतवर्ण हो गये!

× × × ×

संसारका निर्माण होता है। परमात्माका निर्माण नहीं होता। उत्पन्न होनेवाली चीज लक्ष्य करनेसे प्राप्त नहीं होती। **परमात्माकी तरफ केवल खयाल करना है। खयाल करनेसे प्राप्ति हो जाती है।**

संसार प्रवाहरूपसे निरन्तर बह रहा है, अभावमें जा रहा है। हम जी रहे हैं—यह वहम है और मर रहे हैं—यह सच्ची बात है। 'संसार है'—इसमें 'संसार' विकारी है और 'है' निर्विकार है। संसारमें 'है' नहीं है, प्रत्युत 'है' में संसार है। मैं वही हूँ, जो बचपनमें था, पर शरीर वही नहीं है। मैं परमात्माका हूँ, शरीर संसारका है।

'है' को अलग करके देखें। 'है' जाननेवाला है, जाननेमें आनेवाला नहीं है। संसार अभीतक किसीको मिला नहीं है।

× × × ×

मनुष्यको जिस चीजकी जितनी अधिक आवश्यकता है, वह चीज उतनी ही सुलभ है, सस्ती है। प्राय: भक्तोंके मनमें आता है कि जब भगवान् (अवताररूपसे) थे, तब हम भी होते तो उनके चरित्र (लीलाएँ) देखते। परन्तु वास्तवमें भगवान्के चरित्र देखनेसे मोह होता है और सुननेसे मोहका नाश होता है। भगवान्का चरित्र देखनेसे गरुड़जीको मोह हो गया तो शंकरजीने उन्हें काकभुशुण्डिजीके पास भेजा। कौआ पक्षियोंमें सबसे नीच माना जाता है। गरुड़के मनमें यह अभिमान न हो जाय कि मेरा मोह शंकरजीने दूर किया; अत: उसे काकभुशुण्डिके पास भेजा, जिससे अभिमान न रहे। भीतरमें तो यह बात थी, पर बाहरसे कहा—***'समुझइ खग खगही कै भाषा'*** (उत्तर० ६२।५)।

'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी' (बाल० १२१।२)—यदि रामको सर्वज्ञ मानें तो सीताकी खोज क्यों की? और अल्पज्ञ मानें तो मुद्रिका हनुमान्को क्यों दी? तात्पर्य है कि तर्कसे रामको नहीं जान सकते, विश्वाससे जान सकते हैं।

भगवान्के चरित्रको सुननेसे मोह दूर होता है। वह चरित्र हम सबको सुननेके लिये सुलभ है! भगवान् दुर्लभ हैं, पर उनके चरित्र सुलभ हैं!

चरित्र सुनते समय रामजीके साथ रहें। साथ रहते हुए ही चरित्र सुनें और पढ़ें।

भगवान्में आकर्षण प्रेमसे होता है, ज्ञानसे नहीं। इसलिये भगवान् कृपा करके मुक्तिके आनन्दको भी फीका कर देते हैं, जिससे मुक्त पुरुष भी अनन्त आनन्दके लिये उत्कण्ठित हो उठता है!

× × × ×

भगवान् कहते हैं—**'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'** (गीता ८।७) 'इसलिये तू सब समयमें मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर।' वास्तवमें सभी समय अन्तकाल ही है; क्योंकि अन्तकाल किसी भी समय आ सकता है। युद्धका प्रसंग होनेसे **'युध्य च'** कहा। युद्ध सब समयमें नहीं होता, पर स्मरण सब समय होता है।

काम करते हुए भगवान्का स्मरण करनेसे कामकी मुख्यता और स्मरणकी गौणता रहेगी। अत: भगवान्का स्मरण करते हुए काम करना चाहिये। भगवत्प्राप्ति चाहनेवालेके लिये स्मरण करना आवश्यक है। तीसरी सबसे बड़ी बात यह है कि कामको भगवान्का ही समझे। जैसे, मैं पुरुष हूँ अथवा मैं स्त्री हूँ—यह बात याद नहीं रखनी पड़ती। मैं कुँआरा हूँ अथवा मैं विवाहित हूँ—यह याद नहीं रखना पड़ता। मैं ब्राह्मण हूँ—यह याद नहीं रखना पड़ता। जैसे अपनी जाति आदिसे अपना सम्बन्ध मान रखा है, ऐसे ही भगवान्से अपना सम्बन्ध माने। भगवान्के सिवाय

सब सम्बन्ध छूटनेवाले हैं। भगवान्‌से अपना सम्बन्ध मानना अभ्यास नहीं है, स्वीकृति है। इसकी कभी भूली नहीं होती। स्वीकृति सदा दृढ़ ही होती है, अदृढ़ होती ही नहीं। मैं-पनको बदलना तत्काल होता है और एक ही बार होता है। जैसे, विवाह होनेपर 'मैं पतिकी हूँ' यह तत्काल और एक ही बार होता है। इसमें कभी भूल नहीं होती। 'मैं भगवान्‌का हूँ'— यह उससे भी विलक्षण है। कारण कि जीव सदासे और स्वतः भगवान्‌का ही है। अतः आप आज ही स्वीकार कर लें कि 'मैं भगवान्‌का हूँ'। अब हमें भगवान्‌का होकर ही रहना है। भगवान्‌के होनेके बाद फिर निषिद्ध काम होंगे ही नहीं।

× × × ×

रामजन्म, रामविवाह और रामराज्याभिषेक—ये तीन बड़े उत्सव हैं। रामविवाहमें दो समाज इकट्ठे होते हैं। **जनक और कौसल्या 'ज्ञान' की मूर्ति हैं एवं दशरथ और सुनयना 'प्रेम' की मूर्ति हैं।** हम अपने माता-पिताका विवाह तो नहीं देख सकते, पर अपने परम माता-पिता सीतारामजीका विवाह देख रहे हैं!

जैसे रामजी चाहते हैं, वैसे भक्त बन जाते हैं और जैसे भक्त चाहते हैं, वैसे रामजी बन जाते हैं। यह प्रेम है। प्रेममें महान् त्याग है, मुक्तितकका त्याग है!

संसार अज्ञानसे दीखता है। 'मुक्ति' नाम संसारसे छूटनेका है और 'भक्ति' नाम भगवान्‌में प्रेम होनेका है।

भगवत्प्रेममें रोनेमें जो आनन्द है, वह संसारमें हँसनेमें नहीं है!

जैसे संसारके भोगोंके लिये मनुष्य रुपये खर्च कर देते हैं, ऐसे ही भक्त भगवत्प्रेमके लिये मुक्ति भी खर्च कर देते हैं! जो रस प्रेममें है, वह पूर्णतामें नहीं है।

सीता-रामका विवाह भक्ति और भगवान्‌का मिलन है, अंतरंग लीला है!

प्रेम तपसे नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌में अपनापन होनेसे होता है। काली-कलूटी माँ भी बालकको अच्छी लगती है—यह अपनापन है कि 'मेरी माँ है'!

चौदह वर्षोंतक राज्यरूपी फुटबालपर ठोकर मारी जाती रही, पर अन्तमें रामजीपर गोल हो गया! भरतजीकी विजय हो गयी!

× × × ×

संसारका सम्बन्ध माना हुआ है, है नहीं। संसारसे सम्बन्ध मानना अज्ञान है और सम्बन्ध न मानना ज्ञान है। संसारका संयोग अनित्य है, पर वियोग नित्य है। **अनित्यको स्वीकार करनेसे बन्धन है और नित्यको स्वीकार करनेसे मुक्ति है।** संयोगमें परतन्त्रता है। संयोगकी इच्छा करना बन्धन है।

संसारके वियोगको स्वीकार करनेका नाम 'सत्संग' है। संसारसे सुख लेनेवाला दुःखसे कभी बच सकता ही नहीं। **संसारका सम्बन्ध छोड़नेसे मुक्ति होती है, छूटनेसे नहीं।** परमात्मासे हमारा नित्ययोग है। परमात्मासे संयोगमें भी योग है और वियोगमें भी योग है।

× × × ×

गोस्वामीजीने सर्वप्रथम 'अयोध्याकाण्ड' की रचना की थी। इसका प्रमाण यह है कि इस काण्डके पहले तथा बालकाण्डके पहले गुरु-वन्दना है। अन्य काण्डोंमें ऐसा नहीं है। गुरु-वन्दना करके भरतजीका चरित्र लिखा।

रामायणमें मर्यादाका बड़े विचित्र ढंगसे वर्णन हुआ है। रामजीको युवराज-पदपर बैठानेके लिये दशरथजी सर्वप्रथम गुरुजीसे सलाह करते हैं, पीछे मंत्रियोंसे सलाह करते हैं।

शकुन मंगलकारक नहीं होते, प्रत्युत मंगलसूचक होते हैं।

यदि कैकेयी वरदान न माँगती तो भरतजीका प्रेम प्रकट नहीं होता।

'श्रद्धा' में आज्ञापालन मुख्य होता है और 'प्रेम' में संग मुख्य होता है। प्रेम वियोग नहीं सह सकता। लक्ष्मणमें प्रेमकी और भरतमें श्रद्धाकी मुख्यता थी। प्रेम और श्रद्धा साथमें रहते हुए भी एककी मुख्यता होती है। **प्रेमीजन भगवान्‌के प्रभावसे आकृष्ट नहीं होते, प्रत्युत अपनेपनसे आकृष्ट होते हैं।**

लक्ष्मणजी प्रेमी भक्त हैं; अतः वे रामजीका तिरस्कार सह नहीं सकते थे। वे प्रेमकी ध्वजा हैं। ध्वजा कभी नीची नहीं होती।

रामजीको आनेमें एक दिन रह गया, फिर भी भरतको दुःख क्यों हुआ? भरतजीने बहुत दूरतक घुड़सवार खड़े किये थे, जिससे जल्दी समाचार मिल जाय कि रामजी आ रहे हैं। परन्तु अभीतक इतनी दूरसे भी उनके आनेका समाचार नहीं आया, फिर वे पैदल कलतक कैसे पहुँचेंगे? परन्तु रामजी आ रहे थे पुष्पकविमानसे!

× × × ×

शास्त्रोंमें नामजप और सत्संगकी बहुत महिमा गायी है। शरीर-संसारको अपना मानना कुसंग है। **जो अपना नहीं है, उसे अपना स्वीकार न करना भी सत्संग है और जो अपना है, उसे अपना स्वीकार करना भी सत्संग है। जो अपना नहीं है, उसे अपना मानना भी कुसंग है और जो अपना है, उसे अपना न मानना भी कुसंग है।**

संसारका वियोग नित्य है, संयोग अनित्य है। संसारसे वियोगको स्वीकार करते ही परमात्माके योगका अनुभव हो जायगा।

× × × ×

जगत्‌को जानते ही हम जगत्‌से अलग हो जाते हैं और परमात्माको जानते ही परमात्मासे एक हो जाते हैं—*'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'* (मानस, अयोध्या० १२७।२)। **जो जगत्‌को नहीं जानते, वही जगत्‌में फँसते हैं और जो परमात्माको नहीं जानते, वही परमात्मामें नहीं लगते।**

भीतर कुछ-न-कुछ काम-क्रोध-लोभ दोष होता है, तभी मन संसारमें खिंचता है। प्रेम होनेसे मन भगवान्‌की ओर खिंचता है। वह प्रेम ज्ञानसे भी ऊँचा है।

'सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने' (अयोध्या० १२८।१)—रामजी मुसकराकर मानो वाल्मीकिजीसे कहते हैं कि मेरी पोल मत निकाल देना (कि मैं भगवान् हूँ)! यह हँसी भगवान्‌की माया है। वाल्मीकिजी उन्हें रहनेके लिये स्थान बताते हैं। वाल्मीकिजीने वास्तवमें भगवान्‌के रहनेकी चौदह जगह हमारे लिये बतायी। यहाँ भगवान्‌को रहना ही पड़ेगा; क्योंकि खुद भगवान्‌ने रहनेका स्थान पूछा तो जो भक्त कहेगा, वहाँ उन्हें रहना ही पड़ेगा। वाल्मीकिजीने चित्रकूट बताया तो भगवान्‌को वहीं रहना पड़ा।

वाल्मीकिजीने जो चौदह स्थान बताये हैं, उनमेंसे जो आपको सुगम लगे, वह स्थान चुन लो। **संसारके भोगोंमें स्नेह (प्रेम) बँट गया, तभी भगवान्‌में स्नेह नहीं हो रहा है।**

ज्ञानमें भगवान् बिकते नहीं, पर प्रेममें भगवान् बिक जाते हैं!

× × × ×

गीतामें आया है—**'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'** (४।३९) 'श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है'। श्रद्धाका अर्थ है—आदरसहित विश्वास। भगवान्, शास्त्र, परलोक आदि न दीखनेपर भी उनपर श्रद्धा काम करती है। श्रद्धाकी पहचान है—जैसा कहे, वैसा मान ले। **श्रद्धालु बातको टाल नहीं सकता, प्रेमी वियोगको सह नहीं सकता।** श्रद्धाकी कसौटी है—**'तत्परः'**, और तत्परताकी कसौटी है—**'संयतेन्द्रियः'**। तत्परताके बिना मन नहीं लगता।

मूलमें असत्‌को सत्ता देनेसे अशान्ति होती है। नाशवान्‌में अपनापन अशान्ति देनेवाला है। अविनाशीमें अपनापन भक्ति, प्रेम, ज्ञान, शान्ति देनेवाला है।

प्रकाशकी ज्योति नेत्र है। नेत्रकी ज्योति मन है। मनकी ज्योति बुद्धि है। बुद्धिकी ज्योति आप (स्वयं) हैं। आप सबके प्रकाशक हैं।

× × × ×

गीतामें निष्कामभावकी बड़ी महिमा है। वह निष्कामभाव है—**'सर्वे भवन्तु सुखिनः०'**। **संसारमें लोभ तो पतन करता है, पर पारमार्थिक मार्गमें लोभ बाधा देता है।** अतः दूसरोंका कल्याण हो—यह भाव रखें। सबको भोजन करानेवाला क्या स्वयं भूखा रहेगा? सबको भोजन करानेवाला तो बिना भोजन किये तृप्त हो जायगा! सम्पूर्ण नदियोंका जल समुद्रमें

मिलनेपर भी समुद्र नहीं बढ़ता, प्रत्युत वह चन्द्रको पूर्ण देखकर बढ़ता है।

हम रामजीके इष्टदेवके दरबार (रामेश्वरम्)-में आये हैं। हमलोग अभी सत्संग, रामायण-पाठ आदि कर रहे हैं तो अभी कलियुग कहाँ है?

सत्संगके बिना रामायण, भागवत आदिका अर्थ नहीं खुलता।

यह सिद्धान्त है कि यदि एकका कल्याण हो सकता है तो सभीका कल्याण हो सकता है! परन्तु मात्र जीवोंका कल्याण कर दे—ऐसा महात्मा अभीतक हुआ नहीं। यह कुरसी खाली पड़ी है! प्रमाण क्या है? कि हम बैठे हैं! यदि हमारा कल्याण हो गया होता तो अभी हम संसारमें क्यों बैठे होते?

× × × ×

समय रहते-रहते कार्य कर लेना चाहिये, नहीं तो पछताना पड़ेगा। इसके लिये उद्देश्य बनाना आवश्यक है। व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है—'**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन**' (गीता २।४१)।

संसारकी कामना करनेपर सिद्धि भी असिद्धि है और असिद्धि भी असिद्धि है। परमात्माकी तरफ चलनेपर असिद्धि भी सिद्धि है और सिद्धि भी सिद्धि है। नित्यकी प्राप्ति भी प्राप्ति है और अप्राप्ति भी प्राप्ति है; क्योंकि पारमार्थिक मार्गमें जितना काम हो गया, जितना मार्ग कट गया, उतना तो हो ही गया। संसारकी प्राप्ति भी अप्राप्ति है और अप्राप्ति भी अप्राप्ति है।

× × × ×

शास्त्रोंमें भगवान्के कई रूपोंका वर्णन आता है। भगवान्का वास्तविक स्वरूप क्या है—इस विषयमें गीता कहती है—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥
(७।२९-३०)

'वृद्धावस्था और मृत्युसे मुक्ति पानेके लिये जो मनुष्य मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जान जाते हैं। जो मनुष्य अधिभूत तथा अधिदैवके सहित और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझमें लगे हुए चित्तवाले मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।'

भगवान्का वास्तविक रूप है—समग्र। एक रूपकी उपासना करो, पर दूसरे रूपको छोटा मत मानो, उसकी निन्दा मत करो। कारण कि सब भगवान्का समग्ररूप है। इसमें भगवान् नहीं हैं—ऐसा निषेध मत करो। किसीका भी अहित मत सोचो। **दुष्ट भी भगवान्के हैं, पर ज्यादा लाड़-प्यारसे बिगड़े हुए हैं!** इसलिये कहा है—***'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'*** (मानस, उत्तर० ११२ ख)। अयोध्या, लंका, राम, रावण, विभीषण आदि सब मिलकर 'रामायण' है।

दुनियाका पालन भगवान् करते हैं, पर भगवान्का पालन भक्त करते हैं। भक्त भगवान्के भी माँ-बाप बन जाते हैं!

समयके अनुसार चलनेका तात्पर्य है कि अपनी रक्षा करो। जैसे, सर्दी आनेपर अपनी रक्षाके लिये गर्म कपड़े पहनते हैं। गर्मी आनेपर अपनी रक्षाके लिये ठण्डा पानी पीते हैं।

× × × ×

संसार है—ऐसा दीखता है और संसार बदलता है—ऐसा भी हम जानते हैं। शरीर ऐसा था, ऐसा नहीं रहेगा—यह प्रत्यक्ष है। संसारको मौजूद भी मानना और परिवर्तनशील भी मानना 'अज्ञान' है। अधूरे ज्ञानको 'अज्ञान' कहते हैं। संसार है—इसको आदर दिया है—यह गलती हुई है। दर्पणमें मुख दीखता है, पर है नहीं।

× × × ×

रामायणमें लक्ष्मण-परशुराम और अंगद-रावणका संवाद बड़ा विलक्षण है!

दूसरोंको सत्संगमें लगानेका बड़ा माहात्म्य है। खुद सत्संग करो और दूसरोंको लगाओ। भगवान्का

स्मरण करो और कराओ—‘**स्मरन्तः स्मारयन्तश्च**’ (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१)। भगवान्‌के नाम, गुण, लीला, महिमा, तत्त्व आदिका प्रचार करो, जो कि साधारण-से-साधारण मनुष्य भी कर सकता है। विद्यादानको महादान कहा गया है। विद्यादान तो विद्वान् कर सकता है, पर यह दान सभी कर सकते हैं।

भगवान्‌में मन लग जानेपर सब कुछ बदल जाता है, सारा जीवन चमक उठता है। गीताप्रेसकी पुस्तकोंका प्रचार करें। लोगोंको सत्संगमें लगायें। इससे लोगोंकी चिन्ता, शोक, कलह, अशान्ति मिटती है। मुफ्तमें पुस्तकें देना भी ठीक है, पर पुस्तकोंकी बिक्री करनी चाहिये। कारण कि आजकल लोगोंके भीतर पैसोंका बहुत महत्त्व है। जो दवा महँगी मिलती है, उसे लोग अच्छी दवा समझते हैं। जिस चीजमें ज्यादा पैसे लगते हैं, उसे अच्छी समझते हैं।

गीता और रामायणका प्रचार अपने जोरसे हुआ है, राज्य या धनके जोरसे नहीं। गीता पढ़नेसे बड़ी विलक्षणता आती है और भगवान्‌की कृपा होती है।

जो बालक स्कूलमें पढ़ते हैं, उनसे गीता-रामायण आदि ग्रन्थोंको सुनो तो उनके हृदयमें भी भक्तिके संस्कार बैठ जायँगे। यह एक उपाय है। **लड़के-लड़कियाँ आपकी असली सम्पत्ति हैं। उनका सुधार करो।** उनको भक्तोंके चरित्र पढ़ाओ।

× × × ×

अर्जुनने कहा—‘**धर्मसम्मूढचेताः**’ (गीता २। ७) तो भगवान्‌ने कहा—‘**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**’ (गीता १८। ६६)। भगवान्‌ने धर्मोंके आश्रयको त्यागनेकी बात कही है, तभी अर्जुनने युद्धरूपी धर्म (क्षात्रधर्म)-का पालन किया है। **भगवान्‌को दूसरेका आश्रय प्रिय नहीं है,** तभी कहा—‘**मामेकं शरणं व्रज**’।

एक बानि करुनानिधान की।
सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस, अरण्य० १०। ४)

शरणागति कोई नया काम नहीं है। हम सदासे ही भगवान्‌के हैं—‘**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**’ (गीता १८। ७३)। शरण होनेके बाद अपना कोई विचार, इच्छा आदि नहीं रहते—‘**करिष्ये वचनं तव**’।

मैं भगवान्‌का हूँ—यह सम्बन्धात्मक स्मरण है, जो करना नहीं पड़ता। स्मरण करना क्रियात्मक स्मरण है। तुम भगवान्‌के हो गये—यह गुरुकी खास दीक्षा है। गुरु कहता है और शिष्य उसे निःसन्देह स्वीकार कर लेता है। गुरु अहंताको बदलता है। अहंता बदलनेसे गुरुकी शक्ति शिष्यमें आ जाती है।

× × × ×

ज्ञानको लोगोंने बहुत कठिन मान रखा है। उसकी एक सीधी-सरल बात है। एक रहनेवाला है, एक जानेवाला है। परमात्मा रहनेवाला है, सब संसार जानेवाला है। शरीर बदल गया, पर आप वही हो—यह आप जानते हो। आप अवस्थाओंके भाव तथा अभावको भी जानते हो, संसारके भाव तथा अभावको भी जानते हो। संसार बदलता है, पर उसमें रहनेवाला परमात्मा कभी नहीं बदलता। शरीर बदलता है, पर उसमें रहनेवाला आत्मा नहीं बदलता। आप बदलनेवालेको जाननेवाले हो। यह ज्ञानकी बात है।

मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं। इसमें अनन्यता होनी चाहिये। एक भगवान्‌के सिवाय और कोई मेरा नहीं है। यह भक्तिकी बात है। हमारी भगवान्‌के साथ एकता है और शरीरकी संसारके साथ एकता है।

हमारे पास जो कुछ है, वह सब संसारका है और उसे संसारकी ही सेवामें खर्च करना है। यह कर्मयोगकी बात है।

जानना है स्वयंको, मानना है भगवान्‌को और करना है सेवा—यह पूरी बात हो गयी, कुछ बाकी नहीं रहा!

धनका संग्रह मत करो। संग्रह करोगे तो आफत आयेगी। पहले डाकू होते थे, अब सरकार डाकू हो गयी! पहले डाकू आते थे तो पुलिसको बुलाते थे, अब डाकू पुलिस साथ लेकर (छापा मारने) आते हैं! अतः धनको दूसरोंकी यथायोग्य सेवामें लगाओ। जैसे आप अपना निर्वाह करते हो, ऐसे दूसरेका भी निर्वाह

करो। जैसे आप लेते हो, ऐसे दूसरे भी अभावग्रस्तको अन्न, जल, वस्त्र दो। जैसा बर्ताव आप दूसरोंसे नहीं चाहते, वैसा दूसरोंके प्रति मत करो। **यदि आप अपनी सन्तानसे सुख चाहते हो तो अपने माता-पिताको सुख पहुँचाओ।** सबके साथ प्रेमका, हितका बर्ताव करो। आपके पास घड़ी है और कोई आपसे समय पूछे तो उसको समय बता दो—यह उपकार है। कोई रास्ता पूछे तो उसको रास्ता बता दो—यह उपकार है, सेवा है। केवल रोटी देना ही उपकार नहीं है।

सुख पाना चाहते हो तो दूसरोंको सुख दो। जैसा बीज डालोगे, वैसी खेती होगी।

नौकर अपने घरका भी काम करता है और आपके घरका भी, पर आप अपने घरका भी काम नहीं कर सकते, तो बड़ा कौन हुआ?

× × × ×

जैसे आकाशमें बादल रहते हैं और बादलोंमें आकाश रहता है, ऐसे ही सब संसार भगवान्‌में है और भगवान् संसारमें हैं। बादल तो उत्पन्न और नष्ट होते हैं, पर आकाश ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः वास्तवमें बादलोंमें आकाश नहीं और आकाशमें बादल नहीं। तात्पर्य है कि आकाशके सिवाय बादलोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ऐसे ही परमात्माके सिवाय संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

सब जगह परमात्माको देखें। परमात्मामें सबको देखें। परमात्मा ही संसाररूपसे प्रकट हुए हैं। तत्त्वसे देखें तो न गहने हैं, न पासा है, सोना-ही-सोना है। ऐसे ही तत्त्वको जाननेवालेकी दृष्टिमें सब कुछ परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। जैसे बर्फ और जल दो चीज नहीं हैं, एक ही हैं। जलसे ही बर्फ बनी है। वास्तवमें जल ही है। ऐसे जो केवल परमात्माको ही देखता है, वही सही देखता है।

× × × ×

केवल कीर्तन करना कोरा घी पीना है। अपने-अपने घरोंमें रोजाना कीर्तन करो। कोई आपको एक साथ सौ रुपये दे और कोई रोजाना एक रुपया दे तो क्या लोगे? रोजाना एक रुपया लोगे। ऐसे ही प्रतिदिन कीर्तन करना रोजाना एक रुपया लेना है और जैसे आज कीर्तन किया, यह एक साथ सौ रुपये लेना है। हमसे कोई पूछे तो हम सौ रुपये भी लेंगे और रोजाना एक रुपया भी लेंगे।

कम-से-कम, कम-से-कम रोटी-कपड़ा सच्ची कमाईका लो। सच्ची कमाईका पता कैसे लगे? यदि आप कहीं नौकरी करते तो जितनी तनखाह मिलती, उससे कुछ कम पैसे निकालो और काममें लो।

× × × ×

जबतक परमात्माकी प्राप्ति न हो, तबतक मनुष्यजन्मकी सफलता नहीं है। सांसारिक उन्नति वास्तविक उन्नति नहीं है, प्रत्युत पतन करनेवाली है।

परमात्मतत्त्व सबको प्राप्त है। जहाँ आप हैं, वहीं परमात्मा हैं। वे हमसे दूर नहीं हो सकते। उनके मिलनेमें देरीका कारण है—संसारको महत्त्व देना।

जिस कुटुम्बमें सबका आपसमें स्नेह होता है, वहाँ लक्ष्मी (सम्पत्ति) स्वतः आती है।

× × × ×

जीवमात्रका स्वभाव है कि वह किसी-न-किसीका सहारा लेता है। भगवान्‌के सिवाय दूसरेका सहारा लेता है—यह गलती होती है। इसलिये सब आश्रय छोड़कर भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेना है—यह खास बात है। भगवान्‌का आश्रय कभी छूटनेवाला नहीं है। अन्य सब आश्रय छूटनेवाले हैं—***'अंतहुँ तोहिं तजैंगे पामर! तू न तजै अबही ते'*** (विनय० १९८)। **आश्रय लेना ही हो तो बड़ेका लो। छोटेका सहारा लोगे तो रोना पड़ेगा।**

शरणागति गीताका सार है। शरण होनेके बाद फिर चिन्ता न करे—

चिन्ता दीनदयाल को, मो मन सदा अनन्द।
जायो सो प्रतिपालसी, रामदास गोबिन्द॥

भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेपर कोई भी बाधा देनेवाला नहीं हो सकता।

× × × ×

अधर्मको धर्म तथा धर्मको अधर्म मानना तामसी बुद्धि है। स्त्रियोंके लिये नौकरी करना परतन्त्रता है,

स्वतन्त्रता नहीं। पालन-पोषण करनेका काम स्त्रीका है। स्त्रीका हृदय कोमल होता है, तभी बालकका पालन-पोषण होता है। यदि पुरुष पालन-पोषणका काम करे तो एक दिनमें उकता जायगा।

माँका दर्जा ऊँचा है, भोग्याका नहीं। भोग्या तो वेश्या होती है। स्त्रीका ऊँचा दर्जा माँ बननेसे है, भोग्या बननेसे नहीं।

आबादी तो मुसलमानोंकी बढ़ रही है और परिवार-नियोजन करते हैं हिन्दुओंका! भूख है पेटमें, हलवा बाँधते हैं पीठपर! रुपये आपके इष्टदेवता हैं और मुसलमान सरकारके इष्टदेवता हैं। **आज हिन्दुओंकी और गायोंकी बहुत दुर्दशा हो रही है!** जन्म तो आपने बन्द कर दिया, पर मौत बन्द नहीं की, बन्द हो सकती ही नहीं, फिर क्या दशा होगी?

गर्भमें कन्या होनेपर भ्रूणहत्या करना महान् पाप है। **अगर बेटा होनेसे कल्याण होता हो, तो फिर साधुओंका कल्याण कैसे होगा?**

मनुष्य धर्मका पालन करनेसे स्वतन्त्र होता है। बच्चा परतन्त्र होकर पढ़ता है तो जीवनभर स्वतन्त्र रहता है!

न कुछ हम हँस के सीखे हैं,
न कुछ हम रो के सीखे हैं।
जो कुछ थोड़ा-सा सीखे हैं,
किसी के हो के सीखे हैं॥

× × × ×

वास्तवमें मूर्तिकी पूजा नहीं होती, प्रत्युत मूर्तिमें पूजा होती है अर्थात् मूर्तिमें भगवान्‌की पूजा होती है। **भगवान्‌की पूजा मूर्तिपूजा नहीं है, प्रत्युत अपने शरीर, मकान आदिका श्रृंगार करना मूर्तिपूजा है।** शुद्धि, मजबूती, उम्र आदिकी दृष्टिसे भी देखें तो मूर्ति श्रेष्ठ है।

आरती दर्शनके लिये और सत्कारके लिये है। आरतीसे भगवान्‌के अंगोंके दर्शन होते हैं और आदर होता है।

जीवका निर्माण नहीं हुआ है, यह अनादिकालसे है। **सृष्टि-रचनाका प्रयोजन है—जीवोंका उद्धार करना।**

× × × ×

कामनाके कारण जीव चेतन होते हुए भी जड़का दास हो जाता है। इस चाहनाको मिटानेके लिये पारमार्थिक चाहनाकी जरूरत है। परमात्माकी चाहना हो जाय तो संसारकी चाहना मिट जायगी और परमात्माकी चाहना पूरी हो जायगी। कामना इतना पतन करती है कि मनुष्य मनुष्यपनेसे गिर जाता है। जितनी कामना की, उतना तो परमात्मासे विमुख हो ही गये। दूसरोंकी न्याययुक्त आवश्यकता पूरी करनेसे, दूसरोंको सुख पहुँचानेसे अपनी कामना मिट जाती है।

मन, वाणी, शरीरसे किसीका भी अहित चाहना बड़े भारी पतनकी बात है।

× × × ×

परमात्माकी प्राप्ति करनेसे नहीं होती, प्रत्युत जानने और माननेसे होती है। स्वतःसिद्ध तत्त्वमें 'करना' काम नहीं आता। तत्त्वका कभी कहीं भी, किसीके लिये भी अभाव नहीं है—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २।१६)। केवल उधर दृष्टि नहीं है। हम सबके अभावको जानते हैं, पर अपने अभावको नहीं जानते। अपने अभावका ज्ञान किसीको भी नहीं होता। तत्त्व भावरूप है। अतः परमात्माके अभावका अनुभव भी किसीको नहीं होता। **परमात्मा कैसा है—इसका पता नहीं, पर वह है—इसमें सन्देह नहीं है।** परमात्मतत्त्व है—केवल इसको दृढ़तापूर्वक मान लें तो निहाल हो जाओगे।

जो अपार-असीम होता है, वह काला दीखता है।

परमात्माके होनेमें सन्त-महात्मा सबसे प्रबल प्रमाण हैं, वैसा प्रमाण और कोई नहीं है। यदि परमात्मा नहीं हैं तो उन सन्त-महात्माओंमें हमारेसे अधिक विलक्षणता कैसे आयी?

× × × ×

गायके समान कोई पवित्र नहीं है। गायोंके नाशसे देशकी बड़ी भारी हानि है। गायकी विशेष रक्षा करनी चाहिये। गोचरभूमिकी रक्षा करनी चाहिये। गायोंकी

रक्षाके लिये भगवान् स्वयं पैदल घूमे। गायोंके नाशसे संसारका नाश है। गाय विश्वकी माता है। गायका दूध सात्त्विक है।

लोग कहते हैं कि परिवार बढ़नेसे लोग भूखे मरेंगे, पर मैं कहता हूँ कि परिवार-नियोजन करनेसे लोग भूखे मरेंगे, उन्हें पीनेके लिये जल मिलना कठिन हो जायगा।

× × × ×

शरीर-संसारको परिवर्तनशील समझनेमात्रसे अपने स्वरूपमें स्थिति हो जायगी। संसारमें मेरा कुछ नहीं है और न मुझे कुछ लेना है। शरीर-संसारके साथ हमारा सम्बन्ध रह सकता ही नहीं। उनसे नित्य-निरन्तर वियोग हो रहा है। **उनको स्थायी मानकर ही सुखभोग और संग्रह होता है।**

× × × ×

भगवान्‌से सम्बन्ध रखनेवाली हरेक वस्तुका बड़ा माहात्म्य है। उनमें सबसे विलक्षण है—भगवान्‌का नाम। श्रीमद्भागवतके अजामिलोपाख्यानमें शुकदेवजीने नामकी बड़ी विलक्षण महिमा कही है। नाम सुननेसे बीमार व्यक्तिको भी बड़ी शान्ति मिलती है। नामकी महिमा अपार, असीम, अनन्त है।

× × × ×

प्रह्लादजीने भगवान्‌के किसी रूपका ध्यान नहीं किया था। भगवान् 'है' रूपसे विद्यमान हैं। हिरण्यकशिपुने पूछा कि तेरा भगवान् कहाँ है? तो वे बोले कि कहाँ नहीं हैं? भगवान् है—यह प्रह्लादजीने दृढ़तासे मान लिया। पिताने उनका त्याग कर दिया तो परमपिताने उन्हें ले लिया! भगवान्‌को 'है' मान लेनेपर दर्शन देनेकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर आ जाती है। वे सब जगह परिपूर्ण हैं। वे ही हमारे हैं। यह दीखनेवाला संसार हमारा नहीं है, प्रत्युत इसमें जो परिपूर्ण है, वही हमारा है।

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(मानस, बाल० १८५।३)

अत: साधक सत्तामात्रका ध्यान करे। **भगवान् कैसे हैं—इसको तो भगवान् खुद भी नहीं जानते, फिर हम कैसे जानेंगे?**

× × × ×

यह सबको अनुभव होना चाहिये कि मैं वही हूँ, शरीर वह नहीं है। इस बातका आदर करें तो तत्त्वज्ञान हो जायगा। मैं वही हूँ—यह नित्यताका बोधक है। शरीर वह नहीं है—यह अनित्यताका बोधक है। शरीर हरदम बदलता है, स्वरूप कभी नहीं बदलता। दोनोंको मिला लेना अज्ञान है और अलग-अलग अनुभव करना ज्ञान है। केवल बदलने-ही-बदलनेका नाम संसार है। संसार बहता है, स्वरूप रहता है—***'रहता रूप सही कर राखो, बहता संग न बहीजे'।***

मरनेपर जीवात्मा शरीरसे अलग होता है। अलग वही होता है, जो सदासे ही अलग है। जैसे मकानमें रहनेपर भी हम मकानसे अलग हैं, ऐसे ही शरीरमें रहनेपर भी हम शरीरसे अलग हैं—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३।३१)। अज्ञान नहीं है, तभी वह मिटता है।

नेत्र परमात्मातक नहीं पहुँच सकते, पर सर्वसमर्थ परमात्मा नेत्रोंमें आ सकते हैं।

× × × ×

जैसे राजा बलिने वामनभगवान्‌पर विश्वास रखा, ऐसे ही भगवान्‌पर विश्वास रखे। प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी विचलित न हो। बलि भी विचलित नहीं हुए। भगवान् कभी बेठीक करते ही नहीं। उनका प्रत्येक विधान सदा मंगलमय ही होता है।

भगवान्‌का आश्रय लेना बहुत बड़ा साधन है। दूसरेका सहारा लेनेवाला भगवान्‌को अच्छा नहीं लगता; क्योंकि वह भूलमें है। **दूसरेका आश्रय लेना बड़ी कमजोरी है।** जीव भगवान्‌का अंश होते हुए भी प्रकृतिके अंशका आश्रय ले लेता है। इसमें उसका बड़ा अहित है, इसलिये वह भगवान्‌को अच्छा नहीं लगता।

अपनेमें जो गुण, बल, विशेषता है, वह अपना

नहीं है। **उसको अपना मानना कमजोरी है।** अपना अभिमान न करनेसे भगवान्‌की शक्ति काम करती है।

'अहं ब्रह्मास्मि' में 'अहम्' बड़ी घातक चीज है। 'अहम्' से ही भेद पैदा होता है। **जहाँ अहम् है। वहाँ ब्रह्म नहीं है। जहाँ ब्रह्म है, वहाँ अहम् नहीं है।**

अपनेमें कुछ भी अभिमान होता है तो भक्ति नहीं होती। **अंशमें जो भी विशेषता है, वह अंशीकी ही है, अपनी नहीं।** भगवान् निरभिमान भक्तके अधीन हो जाते हैं।

× × × ×

भगवान् अवतार क्यों लेते हैं—यह तो भगवान् ही जानते हैं। सामान्य रीतिसे कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
(गीता ४। ७)

'हे भरतवंशी अर्जुन! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने-आपको (साकाररूपसे) प्रकट करता हूँ।'

—ये कार्य तो भगवान् अवतार लिये बिना भी करते रहते हैं। परन्तु **वास्तवमें भगवान्‌का अवतार भक्तोंके लिये होता है!**

भगवान्‌की हरेक लीला कल्याण करनेवाली है। भगवान् अनन्त हैं तो उनकी लीला, नाम, कथा, रूप आदि भी अनन्त हैं।

× × × ×

साधक काम-क्रोधादि दोष दूर न कर सके तो एक पीड़ा होती है। उस समय भगवान्‌की शरणागति सुगमतासे होती है। **शरण होनेपर दोषोंको दूर करनेकी जिम्मेवारी अपनेपर नहीं रहती।** भगवान् कहते हैं—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (गीता ९। २२)। गोस्वामीजी कहते हैं—

हौं हार्‌यौ करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥
(विनय० ८९)

जो अपना कुछ भी बल मानता है, वह शरण नहीं हो सकता। शरण होनेपर वह भगवान्‌का ही बल मानता है, अपना नहीं।

साधारण आदमी तो केवल दुःखसे दुःखी होता है, पर साधक दुःखसे भी दुःखी होता है, सुखसे भी दुःखी होता है! सुख-दुःख दोनों विकार हैं। साधक विकाररहित होता है।

जो हताश, निराश हो जाता है, वह भक्त नहीं बनता। **शरणागतिसे तत्काल लाभ होता है। लाभ न हो तो समझना चाहिये कि कोई-न-कोई अन्यका सहारा है।**

जैसा भक्त चाहते हैं, वैसी ही लीला भगवान् करते हैं।

× × × ×

दुःखी होना मनुष्यके लिये कलंककी, लज्जाकी बात है! मनुष्यको इस बातका ज्ञान है कि सब पदार्थ उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाले हैं। मैं रहता हूँ, ये बदलते हैं। हम रहनेवाले होकर भी न रहनेवाले नाशवान्‌को चाहते हैं—यह कितने पतनकी बात है! जो नहीं रहता, उससे सुख चाहना कितनी बड़ी भूल है! हम निरन्तर मर रहे हैं—यह बात और जगह मिलती नहीं। हमारी आवश्यकता नित्यकी है, पर अनित्यको चाहते हैं, कितने शर्मकी बात है!

× × × ×

सब शास्त्र और सन्त कहते हैं कि परमात्मा हैं। जीव उनका अंश है। मैं जो बालकपनमें था, वही हूँ, पर शरीर वैसा नहीं है—यह सबका अनुभव है। नेत्रोंसे प्रकृतिका कार्य दीखता है। प्रकृतिसे पैदा होनेवाली वस्तु प्रकृतिसे अतीत तत्त्वको नहीं जान सकती। शरीर-संसार निरन्तर बदल रहे हैं। बदलनेके सिवाय इनका कोई स्वरूप है ही नहीं। बदलनेवालेको जाननेवाला बदलनेवाला नहीं है। फिर आप बदलनेवाली चीजके परवश क्यों हो रहे हो? **जिसका बेटा ही नहीं है, उसका बेटा कैसे मरेगा? जिसका माथा ही नहीं है, उसका माथा कैसे दुःखेगा? जिसके पास पैसा ही नहीं है, उसको घाटा कैसे लगेगा?**

× × × ×

जो कुछ देखने, सुनने, सोचनेमें आता है, वह नहीं है, वह मिट रहा है—

देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं।
मोह मूल परमारथु नाहीं॥

(मानस, अयो० ९२।४)

अतः उसकी तरफ न देखकर, उसमें न फँसकर सत्यकी तरफ देखे—

जासु सत्यता तें जड़ माया।
भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस, बाल० ११७।४)

जिस ज्ञानके अन्तर्गत सब दीखता है, उस ज्ञानमें स्थित रहें। ज्ञानके अन्तर्गत दीखनेवालेको सत्ता देकर महत्ता दे देते हैं—यह गलती होती है।

शरीर, कपड़ा, मकान आदि सब एक मिट्टी ही है। उनको जला दो तो सब एक राख हो जायगा। अतः अभी भी यह एक ही है। ऐसे ही परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है। जो संसारसे पहले था, पीछे भी रहेगा, वही तो अभी है! परन्तु संयोगजन्य सुख भोगते हैं—यह बाधा होती है।

ज्ञानसे 'नहीं'-पना सिद्ध है और विश्वाससे 'है'-पना सिद्ध है।

× × × ×

जैसे चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्यशरीर दुर्लभ है, ऐसे ही मनुष्यजन्ममें अच्छा सत्संग मिलना दुर्लभ है।

लीलाश्रवणके अधिकारी सभी होते हैं, पर पारमार्थिक विवेचन-के अधिकारी साधक होते हैं। मेरी ऐसी धारणा है कि सभी मनुष्य साधक हो सकते हैं और पारमार्थिक बातोंको समझ सकते हैं।

× × × ×

संसार साक्षात् भगवत्स्वरूप है—'**वासुदेवः सर्वम्**'। **भगवान् ही संसाररूपसे प्रकट हुए हैं।** भला-बुरा दोनों भगवद्बुद्धिमें बाधक हैं—

सब जग ईश्वररूप है, भलो बुरो नहिं कोय।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय॥

जब सब कुछ ईश्वर ही है, तो फिर उसमें भला-बुरा, राग-द्वेष दो कैसे हुए? **प्रसादमें मीठा भी होता है और कड़ुआ करेला भी, पर दोनों ही प्रसाद हैं।**

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(मानस, उत्तर० ४१)

राग-द्वेष करना, ठीक-बेठीक मानना गलती है।

× × × ×

आपका सम्बन्ध वास्तवमें पारमार्थिक चीजोंके साथ ही है। भोगों, कुटुम्ब, मकान आदिके बिना भी आप सुखसे जी सकते हैं, जैसे नींदमें। नींदमें जितनी शान्ति, ताजगी मिलती है, उतनी किसीसे नहीं। आप उत्पन्न-नष्ट होनेवाली चीजके साथ रहनेवाले नहीं हो। आपका संसारके साथ केवल सेवाका सम्बन्ध है।

सत्संगसे जो बोध होता है, वह ग्रन्थोंसे नहीं होता।

× × × ×

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

जो 'है', वह इन्द्रियाँ-अन्तःकरणसे नहीं दीखता। जैसे, नेत्रोंसे शब्द नहीं सुनायी देता, कानोंसे रूप नहीं दीखता। 'नहीं' से 'नहीं' ही दीखता है। परमात्मतत्त्वको तो अपने-आपसे ही देखा जा सकता है। **'हूँ' से 'है' दीखेगा। सत्तासे ही सत्ताका ज्ञान होगा।** 'मैं हूँ'—इस प्रकार अपना होनापन स्वतःसिद्ध है, शास्त्र-प्रमाणसे सिद्ध नहीं है।

अन्तःकरण शुद्ध होनेसे परमात्मा कैसे मिलेगा? नेत्र निर्मल होनेसे साफ सुनायी कैसे देगा?

जहाँ भाव और अभाव दोनों हैं, वहाँ अभाव ही है!

× × × ×

दो विभाग हैं—एक देखते हैं और एक सुनते हैं। भगवान्‌की बात सुननेमें आती है। **भारतवर्षपर भगवान्‌की विशेष कृपा है। वे नर-नारायणरूपसे लोगोंका कल्याण करनेके लिये उत्तराखण्डमें तपस्या करते हैं।** वे भगवान् होते हुए भी सन्त-महात्मा हैं, और

सन्त-महात्मा होते हुए भी भगवान् हैं!

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७।३)

× × × ×

हम परमात्माको बाहर ढूँढ़ते हैं। उनको बाहरी क्रियाओंसे प्राप्त करना चाहते हैं। वास्तवमें बाहरी क्रियाएँ उनकी प्राप्तिका हेतु नहीं है। **प्राप्ति स्वयंको होती है, इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको नहीं।** अतः स्वयं ही परमात्माकी ओर चले।

अपने होनेपनका ज्ञान सबको है। 'मैं' के कारण 'हूँ' है। 'मैं' न रहे तो 'है' रह जाता है—'**निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति**' (गीता २।७१)। परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति ममता-अहंताके त्यागसे होती है।

× × × ×

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता २।१६)—असत्का भाव विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है—यह सब शास्त्रोंका सार है। संयोग रहनेवाला नहीं है, वियोग रहनेवाला है। संयोग असत् है, वियोग सत् है।

इन्द्रियाँ-अन्तःकरण अपनी जातिवाले संसारको ही देखते हैं। 'नहीं' से ही 'नहीं' का भान होता है। 'है' का ज्ञान 'है' से ही होता है। 'हूँ' से 'है' दीखता है। संसारका ज्ञान संसारसे अलग होनेपर होता है। स्वरूपका ज्ञान स्वरूपसे अभिन्न होनेपर होता है। जाननेका विषय संसार है। **जीव-ब्रह्मकी लक्ष्यार्थ एकता करनेसे कभी बोध नहीं होगा, केवल सीखना होगा।** वाच्यार्थकी एकता करनेसे बोध हो जायगा।

ब्रह्मज्ञान तो है। ब्रह्मज्ञान होता नहीं। जो होता है, वह ब्रह्मज्ञान नहीं है।

× × × ×

खास चीज 'सत्ता' है। सत्ता तीन तरहकी है—पारमार्थिक (जीवकी) सत्ता, व्यावहारिक (शरीरादिकी) सत्ता और प्रातिभासिक (रस्सीमें साँपकी) सत्ता। पारमार्थिक सत्ता वास्तविक है। व्यावहारिक सत्ता काममें आनेवाली है। प्रातिभासिक सत्ता केवल दीखती है। **वास्तवमें व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता है ही नहीं। सत्ता केवल परमात्माकी ही है। जो है ही नहीं, उसीमें सब समय बरबाद कर रहे हैं।** ब्रह्मलोकतक जाकर वापिस आ गये तो मिला क्या?

परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है—इसको भगवान्ने समग्ररूप कहा है। समग्रमें सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, द्विभुज, चतुर्भुज, सहस्रभुज आदि सब-के-सब आ जाते हैं। भूत, प्रेत, पिशाच, नरक आदि भी परमात्माके ही स्वरूप हैं। मनुष्य संसारको भोग्य मानकर उसमें फँस जाता है। अपना सुख भोगोगे तो यह दुःखालय है और सेवा करोगे तो यह भगवत्स्वरूप है। **सब खतरा सुखभोगमें ही है।**

संसारके सभी पदार्थ परमात्माके वाचक हैं। परमात्माके सिवाय न कुछ था, न कुछ होगा, न कुछ हो सकता है।

× × × ×

'अग्या सम न सुसाहिब सेवा' (मानस, अयो० ३०१।२)—आज्ञापालनके समान सन्तोंकी कोई सेवा नहीं है। **आज्ञापालनसे लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं। अगर मनुष्य सन्तोंका कहना नहीं मानेगा तो यमदूतोंका, राजपुरुषोंका, डाकुओंका कहना मानना पड़ेगा और मार अलग पड़ेगी!**

सत्यका बड़ा भारी माहात्म्य है। सत्यवादीके सामने झूठ बोलनेवाला टिक नहीं सकता। **जो झूठ बोले और कहना नहीं माने, उसका उद्धार कैसे होगा?** कहना माननेसे स्वतः शक्ति आती है।

गुरु-कृपासे, ईश्वर-कृपासे जो चीज मिलती है, वह अन्य किसी उपायसे नहीं मिलती। सत्य कह दे तो सभी दण्ड माफ हो जाते हैं! बड़ोंकी आज्ञा माननेसे शक्ति आती है, उनके गुण अपनेमें आ जाते हैं। रावण वह बात नहीं जानता था, जो मन्दोदरी जानती थी। इसका कारण था—आज्ञापालन।

× × × ×

किसी भी उपायसे मन भगवान्‌में लगना चाहिये— **'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्'** (श्रीमद्भा० ७।१।३१)। **जिस समय मन भगवान्‌में लगे, उस समय कोई काम बिगड़ता भी हो तो बिगड़ने दो! 'कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्'।** मन कभी-कभी ही भगवान्‌में, ध्यान-सत्संग आदिमें लगता है। यह हाथकी बात नहीं है।

× × × ×

गीताके अनुसार **'वासुदेवः सर्वम्'** सबसे श्रेष्ठ है। इसका अनुभव करनेवालेको सुदुर्लभ महात्मा बताया गया है—**'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'** (गीता ७।१९)। भक्तिमें **'वासुदेवः सर्वम्'** मुख्य है। अतः भक्ति सर्वश्रेष्ठ है।

'वासुदेवः सर्वम्' अन्तिम चीज है। इसका अनुभव होनेपर कुछ बाकी नहीं रहता।

× × × ×

परमात्मा एक हैं और सत्-चित्-आनन्द-घन हैं। 'घन' का अर्थ है—ठोस। परमात्मामें न क्रिया है, न पदार्थ है। परन्तु वह सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंका प्रकाशक है। **उसकी प्राप्तिके लिये हम क्रियारहित हो जायँ तो तत्काल उसकी प्राप्ति हो जायगी।** मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदिसे कोई क्रिया न हो—यह 'चुप साधन' है। न करनेका भाव भी नहीं रखना है—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'** (गीता ३।१८)। स्वतःसिद्ध स्वाभाविक जो स्थिर तत्त्व है, उसका लक्ष्य करना है। **उसमें स्थित होना नहीं है, स्थिति है।** उसकी प्राप्तिमें उद्योग कारण नहीं है।

'एक परमात्मा है'—ऐसा निश्चय करके चुप हो जाय, कुछ भी चिन्तन न करे—**'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'** (गीता ६।२५)। चिन्तन हो जाय तो उससे घुलेमिले नहीं। वह अपने-आप शान्त हो जायगा। **जो स्वाभाविक निष्क्रियता है, उसे अपना लें, स्वीकार कर लें।**

चुप साधनका न वर्णन कर सकते हैं, न इसको करा सकते हैं। कुछ न करना एक महान् उद्योग है। एक बार मुझसे किसीने प्रश्न पूछा कि कोई ऐसा साधन बताओ कि कुछ करना न पड़े! मैंने उत्तर दिया कि **कुछ भी मत करो तो तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी।** कुछ नहीं करोगे तो आपकी स्थिति 'है' में ही होगी। **निष्क्रिय होनेपर मूर्ख, विद्वान्, पशु, मनुष्य सब एक हो जाते हैं।**

खोया कहे सो बावरा, पाया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

× × × ×

भगवत्प्राप्तिमें क्रिया कारण नहीं है, प्रत्युत भाव, लगन कारण है। क्या टेपरिकार्डर राम-राम करता रहे तो भगवान् आ जायँगे? **प्रधानता भाव और बोधकी है।** द्रौपदी और गजेन्द्रने आर्तभावसे पुकारा तो भगवान् आ गये।

सत्संगके द्वारा बहुत लाभ होता है। **शास्त्रोंका अध्ययन करनेसे वे मार्मिक बातें नहीं मिलतीं, जो सत्संग करनेवालेसे मिलती हैं।** अनुभवी पुरुषकी वाणीमें विशेष ताकत होती है। सत्संगसे कमाया हुआ धन मिलता है। **सत्संग करनेसे साधन-भजनमें विलक्षणता आती है, जीवनी शक्ति आती है। अतः सभी साधनोंमें सत्संग सर्वश्रेष्ठ है।**

साधन करनेसे दोषदृष्टि कम हो जाती है। जो साधन नहीं करता, केवल शास्त्र पढ़ता है, बातें सीखता है, उसको दूसरोंमें दोष दीखने लगता है। जैसे, गाड़ी खड़ी कर दें और उसकी रोशनी तेज कर दें तो जगह-जगह गड्ढे दीखने लगते हैं, पर स्थिति वही रहती है।

× × × ×

परिवर्तनशीलको अपरिवर्तनशील ही देखता है। हमें सबका बदलना दीखता है, अहंभावका भी। अहम्‌में कभी अभिमान कम दीखता है, कभी अधिक दीखता है। सबको जाननेवाला नहीं बदलता। जो नहीं बदलता, वही हमारा स्वरूप है।

संसारमें परिवर्तनके सिवाय कुछ नहीं है। **यदि मनुष्य अपने जीवनकी घटनाओंपर विचार करे अथवा अपने विवेकसे विचार करे तो वैराग्य हो जायगा।**

गाय आँखें बन्द करके घास खाय तो भी लाठी तो पड़ेगी ही। ऐसे ही मनुष्य आँखें मीचकर भोग भोगते हैं, पर उसका दण्ड तो भोगना ही पड़ता है।

× × × ×

सभी सुख दुःखोंके कारण हैं—‘**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते**’ (गीता ५। २२)। सभी पाप कामनासे होते हैं—‘**काम एष क्रोध एषः**’ (गीता ३। ३७)। तात्पर्य है कि भोग और संग्रहकी इच्छासे ही पाप होते हैं और पापोंका फल दुःख होता है। सुखकी लोलुपतासे ही सभी अनर्थ होते हैं। भोग तो अपनी इच्छासे करते हैं, पर फल (दुःख) बिना इच्छाके भोगना पड़ता है। **सुख चाहनेवालेको वर्तमानमें पाप करना पड़ेगा और भविष्यमें भयंकर दुःख भोगना पड़ेगा।**

भोगी व्यक्तिको दूसरा आदमी भी सुहाता नहीं। नतीजा यह होगा कि जो सुखमें बाधक होंगे, उनको मार देंगे!

सुवरण को ढूँढ़त फिरत, कवि व्यभिचारी चोर।
चरण धरत धरकत हियो, नेक न भावत शोर॥

व्यभिचारी और चोरको दूसरा अच्छा आदमी भी सुहाता नहीं। नतीजा यह होगा कि संयम, त्यागकी शिक्षा देनेवालोंको भी मारेंगे। **यह नियम है कि दुःखी आदमी ही दूसरेको दुःख देता है।**

× × × ×

मनुष्य पारमार्थिक उन्नतिके लिये ही पैदा हुआ है। संसारके सुखभोगके लिये मनुष्य पैदा नहीं हुआ है। शब्दादि पाँच विषय, मान, बड़ाई और आराम—ये आठ भोग हैं। **भोगी योगी नहीं होता और योगी भोगी नहीं होता। भोगीका रूप तो मनुष्यका है, पर है पशु! पशुओंकी एक बीमारी है—भोग। मनुष्योंकी दो बीमारियाँ हैं—भोग और संग्रह। आजकलके साधुओंकी तीन बीमारियाँ हैं—भोग, संग्रह और आलस्य-प्रमाद।**

जबतक साधन और असाधन दोनों रहते हैं, तबतक असाधनकी ही मुख्यता रहती है। मान-आदर ‘शरीर’ का तथा बड़ाई ‘नाम’ की होती है। बड़ाई बड़ी भयंकर बीमारी है! मनुष्य मरनेके बाद भी बड़ाई चाहता है!

सावधानी ही साधना है। सत्संगति मनुष्यको सावधान करती रहती है। सावधानी आठों पहर रहनी चाहिये। **भजन मुख्य हो, सांसारिक काम गौण हो—यह सावधानी है।** सांसारिक काम करते हुए भी साधन नहीं छूटना चाहिये। साधन करते हुए संसार याद नहीं आना चाहिये।

उद्देश्य और अहंताको बदलना साधकके लिये खास बात है।

× × × ×

गीतामें शरणागतिकी मुख्यता है। **साधकको नामजप और प्रार्थना—इन दोनोंको नहीं छोड़ना चाहिये।** साधनमें कमी हो, साधन छूटता हो तो प्रार्थना करो। नामजप-साधन आरम्भसे अन्ततक चलता है। **नामजप सब साधनोंका पोषक है। भीतरकी पुकार सभी साधनोंमें काम आती है।**

भगवान्‌का आश्रय रखकर साधन करें—‘**मामाश्रित्य यतन्ति ये**’ (गीता ७। २९)। भक्ति घी-दूधकी तरह है, जो अकेले भी कल्याण करती है और सबके साथ मिलकर भी। **ईश्वरका सहारा लोक-परलोक सबमें काम आता है।**

× × × ×

परमात्माका अंश होनेसे जीवका स्वभाव आश्रय लेनेका है। अंश अंशीकी तरफ स्वतः खिंचता है। परन्तु भूलसे यह नाशवान्‌ की शरण ले लेता है। स्वयं चेतन होकर भी यह जड़का आश्रय ले लेता है। पर यह आश्रय टिकता नहीं। कोयला अग्निसे अलग होते ही काला हो जाता है, पर अग्निमें रखते ही चमक उठता है। **शरण लेनेपर शरण्यकी सब शक्ति शरणागतमें आ जाती है। कितनी शक्ति आती है, इसका कोई पार नहीं! गुरुकी शक्ति शिष्यमें आ जाती है।** लक्ष्मणजीने निषादराजको उपदेश दिया तो निषादराजमें लक्ष्मणजीके गुण आ गये! इसलिये उनको देखकर लोगोंको लक्ष्मणजीकी याद आती है—

निरखि निषादु नगर नर नारी।
भए सुखी जनु लखनु निहारी॥

(मानस, अयो० १९६।३)

× × × ×

मनुष्यशरीर मुक्तिका दरवाजा है—***'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा'*** (मानस, उत्तर० ४३।४)। **मनुष्यमें अनन्त जन्मोंके पापोंको नष्ट करनेकी शक्ति है!** प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है। मनुष्य केवल कल्याणके लिये है, भोग भोगनेके लिये नहीं—***'एहि तन कर फल बिषय न भाई'*** (मानस, उत्तर० ४४।१)। यह शरीर एक खेत है। खेत क्या आराम करनेके लिये होता है? खेतमें तो परिश्रम करते हैं।

सत्संग, साधन करनेसे जरूर फर्क पड़ता है। फर्क न पड़े तो सत्संग, साधन शुरू हुआ ही नहीं!

× × × ×

शंकराचार्यजीका अद्वैतवाद, रामानुजाचार्यजीका विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्यजीका द्वैतवाद, निम्बार्काचार्यजीका द्वैताद्वैतवाद, वल्लभाचार्यजीका शुद्धाद्वैतवाद और चैतन्यमहाप्रभुजीका अचिन्त्य भेदाभेदवाद—ये छः आचार्योंके छः मत हैं। **गीतामें इन छहों आचार्योंके मतोंसे भी विलक्षण बात आयी है।** सभी सम्प्रदायोंमें सीखे हुए तो कई मिल जाते हैं, पर अनुभव करनेवाले प्रायः मिलते नहीं। अनुभव करनेवालोंमें भी गीताका अनुभव करनेवाला मुझे विलक्षण मालूम देता है। सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)- से मैंने पूछा कि आप किसके मतको मानते हैं? वे बोले कि मैं वेदव्यासजीका मत मानता हूँ। **वेदव्यासजीके मतमें सभी मत आ जाते हैं।** गीता भी उसके अन्तर्गत है।

गीतामें भक्तिकी प्रधानता है। पर वह भक्ति भी विलक्षण है। गीतामें **'वासुदेवः सर्वम्'** 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह सिद्धान्त मुख्य है। गीताके मतमें ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग—ये तीनों स्वतन्त्र साधन हैं। मेरी भी यही मान्यता है।

सब कुछ भगवान् ही हैं; अतः सबके हितमें प्रीति होनी चाहिये—'सर्वभूतहिते रताः' (गीता ५।२५, १२।४)।

यदि मरणासन्न व्यक्ति बेहोश हो जाय तो भी उसको भगवन्नाम सुनाना चाहिये। प्राण होशमें जाते हैं, बेहोशीमें नहीं। जिस चिन्तनमें वह बेहोश होगा, उसी चिन्तनमें होश आयेगा।

× × × ×

अहंताको बदलनेसे सब बदल जाता है। हम अहंताको न बदलकर क्रियाओंको बदलते हैं, यह गलती होती है। यदि हम अपनी अहंताको बदल दें तो भाव और क्रियाएँ भी बदल जायँगी। मैं साधक हूँ—ऐसी अहंता होनेपर साधन स्वतः होगा और साधन-विरुद्ध क्रिया भी नहीं होगी। यक्षसे प्रश्नोत्तर करनेपर युधिष्ठिरने कहा कि मैं धर्मात्मा हूँ, फिर धर्मसे विरुद्ध काम कैसे करूँ?

परमात्मप्राप्तिमें देरी असह्य होनी चाहिये। **ज्यों देरी असह्य होगी, त्यों साधक परमात्माके नजदीक पहुँचेगा।**

उद्देश्य सिद्ध करनेके लिये साधक अपनी अहंताको बदले।

× × × ×

समस्त मनुष्य भगवान्‌के स्वरूप हैं और उनकी क्रियाएँ भगवान्‌की लीला हैं! अन्नकूटके प्रसादमें रसगुल्ला भी होता है और करेला भी होता है। **स्वादमें फर्क है, पर प्रसादमें क्या फर्क है?** स्वाद लेना तो प्रसादका तिरस्कार है! अगर स्वाद मुख्य है तो प्रसाद मुख्य नहीं है। अगर प्रसाद मुख्य है तो स्वाद मुख्य नहीं है। इसी तरह भगवान्‌की लीलाकी दृष्टिसे क्या अच्छा, क्या बुरा? क्या बड़ा, क्या छोटा? भगवान् चाहे मृत्युरूपसे आ जायँ, क्या फर्क पड़ा? संसारकी रचना भी भगवान्‌की लीला है और संहार भी भगवान्‌की लीला है।

× × × ×

भगवान्‌के शरण हो जाना श्रेष्ठ उपाय है। अंश स्वतः अंशीकी तरफ जाता है। आश्रय लेनेका जीवका स्वभाव है। जैसे माता-पिताके सामने बच्चा निश्चिन्त रहता है, ऐसे ही भगवान्‌के चरणोंकी शरण

लेकर निश्चिन्त हो जायँ।

शरणागतिमें खास बाधक है—मैं ऐसा कर सकता हूँ! 'करना' अच्छा है, पर करनेका अभिमान बाधक है। उद्योगका अभिमान शरण नहीं होने देता। हनुमान्‌जीमें न तो बलका अभिमान था, न भक्तिका। वे कहते हैं—

नाघि सिंधु हाटकपुर जारा।
निसिचर गन बधि बिपिन उजारा॥

(मानस, सुन्दर० ३३।४)

—यह निरभिमानकी भाषा है। शरणागतिमें करनेका अभिमान बाधक है। निरभिमान ही शरण होता है। अभिमानी शरण कैसे होगा? **अच्छाईका अभिमान बुराईकी जड़ है—यह सूत्र याद कर लो।**

सीधा-सरल होकर रहना भक्तिमें मुख्य है—*'मोहि कपट छल छिद्र न भावा'* (मानस, सुन्दर० ४४।३), ***'सरल सुभाव न मन कुटिलाई'*** (उत्तर० ४६।१)।

पाप करना प्रारब्धका फल नहीं है। कारण कि पापका फल पाप नहीं होता, प्रत्युत दण्ड (दुःख) होता है। पाप पाप नहीं कराता, पापका अभिमान पाप कराता है।

× × × ×

मानवशरीर बड़ा दुर्लभ है, पर प्राप्त होनेके कारण यह दुर्लभ दीखता नहीं। **दुर्लभ होनेपर भी यह कब बिछुड़ जाय, इसका कोई पता नहीं!** ऐसा कोई वर्ष, महीना, दिन, घण्टा, मिनट, सेकेण्ड नहीं है, जिसमें मृत्यु न होती है। यह प्रतिक्षण मर रहा है। बिना विचार किये ही ऐसा दीखता है कि हम जी रहे हैं।

सुख नाम थकावटका है। और भोग नहीं भोग सकते—इस असामर्थ्यका नाम सुख है।

भगवान्‌के भजनसे आप भी निहाल हो जाओगे और दूसरोंको भी निहाल करोगे। दादूजी आदि सन्तोंमें जो विलक्षणता थी, वह भजनके कारण थी। एक घरमें भजन हो तो पासके दूसरे घरोंमें भी पवित्रता आ जाती है! मीराबाईके पद गानेसे शान्ति मिलती है, पाप नष्ट होते हैं।

जैसे दूल्हेके बिना बरात किस कामकी? ऐसे ही **भजनके बिना मनुष्यशरीर किस कामका?** भगवान्‌का भजन नहीं किया तो शरीर किस कामका? जीवन किस कामका? **जैसे भोजन खुदको ही करना पड़ता है, ऐसे ही भजन भी खुदको ही करना पड़ेगा। यह काम ब्राह्मण या नौकर नहीं करेगा!**

× × × ×

दादूजीकी वाणीमें कोमलता, सरलता बहुत है। **सन्त-मत एक होनेपर भी अपने स्वभावके कारण वाणीमें फर्क रहता है।**

सत्‌की प्राप्ति असत्‌के त्यागसे होती है, असत्‌के द्वारा नहीं होती। तत्त्व करणनिरपेक्ष है। **अन्तःकरण असत् है, उसके द्वारा सत्‌का चिन्तन कैसे होगा?** असत्‌का त्याग करनेसे स्वरूपमें स्थिति स्वतः होती है। वास्तवमें स्वरूपमें स्थिति तथा असत्‌की निवृत्ति स्वतःसिद्ध है।

× × × ×

सच्चे हृदयसे भगवान्‌की तरफ लग जायँ। भगवान्‌के सम्मुख होनेपर लाभ-ही-लाभ है और विमुख होनेपर हानि-ही-हानि है।

शरीर अनन्त ब्रह्माण्डोंका एक नक्शा है। शरीरका निरन्तर परिवर्तन होता है, पर उसमें रहनेवाले परमात्माके अंशका कभी परिवर्तन नहीं होता। बदलनेवाले शरीरको सुख देनेके लिये दूसरोंको दुःख देनेका परिणाम बड़ा भयंकर होगा! अतः परमात्माको याद करो और दूसरोंको सुख पहुँचाओ।

अपनेको शुद्ध, निर्मल बनानेकी वृत्ति है—**'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥' बीज तो बोया जायगा विनाशी, पर खेती होगी अविनाशी!**

भगवान्‌के भजनमें लगनेवाला दुनियाको बड़ा लाभ पहुँचाता है। **आजकलके जमानेमें पाप न करना भी बड़ा भारी पुण्य है!**

श्रोता—सेवक (नौकर)-की सेवा कैसे करें?

स्वामीजी—उसे नामजप, भजन-सत्संगमें लगाना

एक नंबरकी सेवा है। शरीर-निर्वाहकी वस्तुएँ देना दो नंबरकी सेवा है।

× × × ×

जिस वस्तुकी सत्ता होती है, उसका कभी अभाव नहीं होता। यदि उसका कभी भी अभाव होता है तो वास्तवमें वह है ही नहीं। **जिसकी दृष्टि 'नहीं' पर रहती है, वह 'है' को नहीं जान सकता।** जैसे व्यापारीकी दृष्टि निरन्तर रुपयोंपर ही रहती है, ऐसे ही साधककी दृष्टि सत्य-तत्त्वपर रहे। संसारमें सच्चापन परमात्माका ही दीखता है। मुक्ति स्वत:सिद्ध है। बन्धनको सत्ता आपने दी है। असत्‌को सत्ता दे दी—यही हानि है।

वास्तवमें न गुरु है, न चेला है, एक परमात्मा ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'।**

× × × ×

भीतरके भावोंकी ही महत्ता है। बाहरी वस्तुओंकी महत्ता नहीं है। भीतरमें भगवान्‌की महत्ता होनी चाहिये। **बाहरमें कितना ही वैभव हो, पर भीतर भगवान् नहीं है तो वह खोखला है।** बाहरसे चाहे फूटी कौड़ी भी न हो, पर भीतरमें खजाना भरा हो! आने-जानेवाली वस्तुकी क्या कीमत है?

कंचन खान खुली घट माहीं।
रामदास के टोटो नाहीं॥

× × × ×

मनुष्यके सामने जो भी परिस्थिति आती है, वह सब केवल साधन-सामग्री है। उसे भोग-सामग्री बनाना गलती है। **सुखदायी परिस्थिति सेवा करनेके लिये और दु:खदायी परिस्थिति सुखकी इच्छाका त्याग करनेके लिये है।** सुखदायी परिस्थितिमें तो परिश्रम करना पड़ता है, पर दु:खदायी परिस्थितिमें कोई झंझट नहीं है, केवल सुखकी इच्छाका त्याग करना है।

जाहि बिधि राखे राम, ताहि बिधि रहिये,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये।

॥ श्रीहरिः ॥

अमूल्य बातें

(१) कन्याएँ प्रतिदिन सुबह-शाम सात-सात बार 'सीता माता' और 'कुन्ती माता' नामोंका उच्चारण करें तो वे पतिव्रता होती हैं।

(२) कोई व्यक्ति हमसे नाराज हो, हमारे प्रति उसका भाव अच्छा न हो तो प्रतिदिन सुबह-शाम मनसे उसकी परिक्रमा करके दण्डवत् प्रणाम करे। ऐसा करनेसे उसका भाव बदल जायगा। फिर वह व्यक्ति कभी मिलेगा तो उसके भावोंमें अन्तर दीखेगा। भजन-ध्यान करनेवाले साधकके मानसिक प्रणामका दूसरेपर ज्यादा असर पड़ता है।

(३) किसी व्यक्तिका स्वभाव खराब हो तो जब वह गहरी नींदमें सोया हो, तब उसके श्वासोंके सामने मुख करके धीरेसे कहें कि 'तुम बड़े अच्छे हो, तुम्हारा स्वभाव बड़ा सुन्दर है, तुम्हारेमें क्रोध नहीं है' आदि। कुछ दिन ऐसा करनेसे उसका स्वभाव सुधरने लगेगा।

(४) जो व्यक्ति रात्रि साढ़े ग्यारहसे साढ़े बारह बजेतक अथवा ग्यारहसे एक बजेतक जगकर भजन-स्मरण, नाम-जप करता है, उसको अन्त-समयमें मूर्च्छा नहीं आती और भगवान्की स्मृति बनी रहती है।

(५) गायको सहलानेसे, उसकी पीठ आदिपर हाथ फेरनेसे गाय प्रसन्न होती है। गायके प्रसन्न होनेपर साधारण रोगोंकी तो बात ही क्या है, बड़े-बड़े असाध्य रोग भी मिट सकते हैं। लगभग बारह महीनेतक करके देखना चाहिये।

बजरंगबाण-पाठका निषेध

कार्यसिद्धिके लिये अपने उपास्यदेवसे प्रार्थना करना तो ठीक है, पर उनपर दबाव डालना, उन्हें शपथ या दोहाई देकर कार्य करनेके लिये विवश करना, तंग करना सर्वथा अनुचित है। बजरंगबाणमें हनुमान्जीपर ऐसा ही अनुचित दबाव डाला गया है; जैसे—'**इन्हें मारु, तोहि सपथ राम की।**', '**सत्य होहु हरि सपथ पाइ कै।**', '**जनकसुता-हरि-दास कहावौ। ता की सपथ, बिलंब न लावौ॥**', '**उठ, उठ, चलु, तोहि राम-दोहाई।**' दबाव डालनेसे उपास्यदेव प्रसन्न नहीं होते, उलटे नाराज होते हैं। इसलिये मैं '**बजरंगबाण**' का पाठ करनेके लिये मना किया करता हूँ।

—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सत्संगके फूल

पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति । सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः ॥
प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये । ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् । देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥
हरिः ॐ नमोऽस्तु परमात्मने नमः ।
श्रीगोविन्दाय नमो नमः ।
श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।
महात्मभ्यो नमः ।
सर्वेभ्यो नमो नमः ।

× × × ×

सत्तामात्रका ध्यान बड़ा सुगम है—'**सन्मात्रं सुगमं नृणाम्**'। **परमात्मा है—यह जरूरी है, परमात्मा कैसा है—यह जरूरी नहीं है।** यह कह सकते हैं कि वह सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें परिपूर्ण है। जैसे हम मानते हैं कि हम श्रीरामधाम (सींथल)-में हैं, ऐसे ही मान लें कि हम हर समय परमात्मामें हैं। अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। जैसे मैं हूँ, ऐसे परमात्मा हैं। इस प्रकार सत्तामात्रका ध्यान बड़ा ऊँचा ध्यान है। यह वृत्तिका ध्यान नहीं है, प्रत्युत स्वीकृतिका ध्यान है। **चिन्तन मिट जाता है, पर स्वीकृति नहीं मिटती।** भूलनेपर भी स्वीकृति नहीं मिटती।

यह विश्वास हो कि भगवान् मेरे हैं। जैसे, माँ मेरी है—यह विश्वास है। भगवान् सबसे बड़ी माँ हैं। वे माँ भी हैं, पिता भी हैं, पितामह भी हैं! वे हमारे हैं—ऐसा माननेमें बहुत आनन्द है।

× × × ×

शरीर निरन्तर जा रहा है। मौत नजदीक आ रही है। अतः **अपना समय उसी काममें लगाना चाहिये, जिसे हम ही कर सकते हैं, दूसरे नहीं कर सकते।** अपना कल्याण हम ही कर सकते हैं। संसारके काम तो दूसरे भी कर लेंगे।

संसारकी सेवा करनी है और भगवान्से प्रेम करना है। भगवान् मेरे हैं—यह बहुत मार्मिक बात है! प्रेम अपनेपनसे होता है। अतः केवल भगवान्को ही अपना मान लें। शरीर अपना और अपने लिये है ही नहीं।

× × × ×

परमात्मप्राप्ति बहुत सुगम है। द्वन्द्व ही बन्धन करनेवाला है। द्वन्द्वरहित कैसे हों? **सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, राग-द्वेष, ठीक-बेठीक कोई भी रहनेवाला नहीं है।** सबका अभाव हो रहा है। सृष्टिमात्र अभावमें जा रही है। उसमें क्या ठीक, क्या बेठीक? मिटनेवालेमें लगाव कैसे होगा? जो रहनेवाला नहीं है, उससे क्या राग करें, क्या द्वेष करें? क्या राजी हों, क्या नाराज हों?

संसारका वियोग ही नित्य है, संयोग नित्य नहीं है। संयोगको कोई रख सकता ही नहीं। जिसका वियोग होता है, उसके संयोगकी इच्छा छोड़ दो। कोई भी ऐसा क्षण नहीं है, जिसमें संयोग टिकता हो, वियोग न होता हो। **केवल मौत-ही-मौत है, जीना है ही नहीं!** जीना चाहते हैं तो मरनेपर रोना पड़ेगा। जीना चाहते ही नहीं तो फिर रोना क्यों पड़ेगा? केवल संयोगकी इच्छाका त्याग करना है। रखना चाहते हैं, पर रहता नहीं, तभी दुःख होता है। **मुक्ति कठिन नहीं है, बन्धन कठिन है।**

हम यहाँ रहनेवाले नहीं हैं। हम यहाँ आये हैं और यहाँसे जाना है। **हम यहाँ पशु-पक्षियोंकी तरह अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये ही नहीं हैं, प्रत्युत अपना उद्धार करनेके लिये आये हैं।**

परमात्मा 'है', संसार 'नहीं' है। जो पहले नहीं था, पीछे नहीं रहेगा, वह वर्तमानमें भी नहीं है। सब वस्तुएँ 'नहीं' में जा रही हैं। संसारका 'नहीं'-पना ही सिद्ध होता है। **साधकका काम है—'नहीं' का त्याग कर देना और 'है' में स्थित होना।** त्याग तो स्वतः हो रहा है, 'यह बना रहे'—इस इच्छाका त्याग करना है। 'नहीं' स्वाभाविक नहीं है, 'है' स्वाभाविक है। **सत् तो अनुभवरूप ही है। अनुभव तो असत्‌का ही होता है, सत्‌का नहीं। आप 'नहीं' के द्वारा 'है' को देखना चाहते हैं—यह गलती है।**

मन लगनेका सबसे बढ़िया उपाय है—उपेक्षा, उदासीनता। न विरोध करें, न समर्थन करें। एकाग्रता करना चाहोगे तो मन एकाग्र नहीं होगा। पहले परमात्माका लक्ष्य करके फिर लक्ष्यको भी छोड़ दो, नहीं तो त्रिपुटी आ जायगी।

परमात्मा कैसा ही हो, वह अपना है। संसार कैसा ही हो, उसको छोड़ना है। जिसको छोड़ना हो, उसपर विचार क्या करें? जिसको ग्रहण करना हो, उसपर भी विचार क्या करें? माँ कैसी ही हो, हमारी है।

× × × ×

भगवान्‌ने बड़ी कृपा करके मनुष्यशरीर दिया है कि यह जीव सदाके लिये सुखी हो जाय। भोग और संग्रहके लिये मनुष्यशरीर नहीं दिया है। मनुष्यशरीरमें ही दूसरोंकी सेवा हो सकती है। मनुष्य भगवान्‌की भी सेवा कर सकता है। 'भावके भूखे हैं भगवान्'—यह भाव मनुष्यसे ही मिल सकता है। मनुष्य भगवान्‌की भी भूख मिटा सकता है!

उद्धारके लिये खास बात है—मैंपन बदलना। मैं साधक हूँ तो साधनसे विरुद्ध काम कैसे कर सकता हूँ? **दूसरोंकी तरफ देखनेवाला कभी कर्तव्यनिष्ठ हो ही नहीं सकता।** दूसरेका कर्तव्य देखना अकर्तव्य है, अनधिकार चेष्टा है।

साधन करना कोई काम-धंधा नहीं है, जिसमें छुट्टी होती है। यह तो जीवन है, श्वासकी तरह! इसलिये गीतामें आया है—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**' (८।७)।

× × × ×

परमात्मा हैं और वे अपने हैं। उनको छोड़कर शरीरको मुख्य मानना गलती है। भगवान्‌के अंशको तो भगवान्‌में ही स्थित होना चाहिये, पर इसने प्रकृतिके अंशको पकड़ लिया—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(गीता १५।७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा स्वयं मेरा ही सनातन अंश है। परन्तु वह प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षित करता है (अपना मान लेता है)।'

प्रकृतिका अंश तो प्रकृतिमें ही स्थित है—'**प्रकृतिस्थानि**'।

भगवान् आपको निरन्तर बुला रहे हैं, इसीलिये आप कहीं भी टिक नहीं सकते। आप जिस वस्तु, परिस्थिति, अवस्था आदिको पकड़ते हैं, वह छूट जाती है।

आप आज हृदयसे साथी और सामानको छोड़ दो तो आज ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी। वास्तवमें प्राप्ति तो है ही। भगवान्‌में भी यह ताकत नहीं है कि आपको अपनेसे अलग कर दें। **वह 'है' (परमात्मा) ही 'मैं' के कारण 'हूँ' हुआ है।**

'**अहं ब्रह्मास्मि**' वृत्ति है, उपासना है, तत्त्व नहीं है—'**सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा**' (मानस, उत्तर० ११८।१)। वृत्तिको विषयरूपी वायु बुझा सकती है—'***अंचल बात बुझावहिं दीपा***' (मानस, उत्तर० ११८।४), '***तबहिं दीप बिग्यान बुझाई***' (उत्तर० ११८।७)। तत्त्व (स्वयं)-को विषयरूपी वायु नहीं

बुझा सकती।

× × × ×

गीतामें शरणागतिकी बात मुख्य है। शरणागतिको '**सर्वगुह्यतम**' कहा गया है। जीव परमात्माका अंश है, इसलिये उसके लिये परमात्माकी शरणमें जाना बहुत सीधी-सरल बात है, जैसे बालकका अपनी माँकी गोदमें जाना! शरणमें जानेका काम जीवका है और सब पापोंसे मुक्त करनेका काम भगवान्‌का है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

भगवान्‌ने तो हमें शरणमें ले रखा है। केवल हमें संसारकी शरण नहीं रखनी है। शरणागत आरम्भमें ही मुक्त हो जाता है! शरणागत सिद्ध होकर साधक होता है, ज्ञानमार्गी साधक होकर सिद्ध होता है।

× × × ×

साधन शरीरनिरपेक्ष होता है। कारण कि साधनमें स्वयंकी जरूरत है, शरीरकी नहीं। ध्येय परमात्माका होनेपर भी जड़ शरीरका सहारा लेना गलती है। समाधितक जड़ शरीरका सहारा है! सबसे ऊँचा सहारा परमात्माका है। उद्योग तो करो, पर उद्योगका सहारा मत लो—'**मामाश्रित्य यतन्ति ये**' (गीता ७। २९)। औरका सहारा न ले, केवल भगवान्‌का सहारा ले, तब काम होगा।

एक बानि करुनानिधान की।
सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस, अरण्य० १०। ४)

× × × ×

पारमार्थिक मार्गपर चलनेके लिये विवेककी बड़ी आवश्यकता है। गीताका आरम्भ भी विवेकसे हुआ है। **जीनेकी इच्छा और मरनेका भय अविवेकीमें ही होता है, विवेकीमें नहीं।** जो चिन्ता करते हैं, वे भी अविवेकी हैं।

ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये—यह इच्छा कहलाती है। **प्राणशक्ति नष्ट होनेपर भी इच्छाशक्ति रहती है, तभी आगे जन्म होता है।** इच्छाशक्ति न रहे तो दुबारा जन्म नहीं होता।

मरनेवाला तो मरेगा ही और न मरनेवाला नहीं मरेगा। गंगाजीके प्रवाहको रोकना भी मूर्खता है और प्रवाहको धक्का देना भी मूर्खता है!

× × × ×

अपने-अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन करना चाहिये—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(गीता १८। ४५)

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

परमात्माका पूजन करनेसे संसारमें सबका पूजन हो जाता है—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

(श्रीमद्भा० ४। ३१। १४)

'जिस प्रकार वृक्षकी जड़ सींचनेसे उसके तने, शाखाएँ, उपशाखाएँ आदि सभीका पोषण हो जाता है, और जैसे भोजनद्वारा प्राणोंको तृप्त करनेसे सभी इन्द्रियाँ पुष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार भगवान्‌की पूजा ही सबकी पूजा है।'

कारण यह है कि परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके सनातन तथा अव्यय बीज हैं—'**बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्**' (गीता ७। १०), '**बीजमव्ययम्**' (गीता ९। १८)।

आत्मज्ञान न हो तो पढ़े-लिखे और अनपढ़—दोनों मनुष्य समान हैं—

पढ़े अपढ़े सारखे, जो आतम नहिं लक्ख।
शिल सादी चित्रित 'अखा', दो डूबण पक्ख॥

सभी आश्रमोंका लक्ष्य परमात्मप्राप्ति ही है। ब्रह्मचर्याश्रम सभी आश्रमोंकी नींव है। मकान दीखता है, पर नींव नहीं दीखती। अच्छे-अच्छे महात्माओंकी नींव (बालकपना) दीखती नहीं, छिपी रहती है।

× × × ×

हम यहाँ आये हैं और जानेवाले हैं—यह जागृति हर समय रहनी चाहिये। ऐसा भाव रहनेसे दुर्गुण-दुराचार नहीं होंगे, अन्याय नहीं होगा। **स्थायी रहनेका भाव ही अनर्थ करता है।**

जानेके समयका कोई पता नहीं है। रहनेका तो भरोसा नहीं और जानेकी तैयारी नहीं—यह बड़ी गलतीकी, आश्चर्यकी बात है!

× × × ×

वर्तमान समय बहुत बढ़िया भी है और बहुत घटिया भी! बढ़िया इसलिये है कि हमें गीताप्रेसकी पुस्तकें, गीता, रामायण आदि ग्रंथ पढ़ने-सुननेको मिल गये, सत्संग मिल गया। घटिया इसलिये है कि हमारी सरकार धर्मको अधर्म तथा अधर्मको धर्म मान रही है! सन्तति-निरोधको 'परिवार-कल्याण' और पशुओंके नाशको 'मांसका उत्पादन' कहा जाता है! सबसे दुर्लभ मनुष्यशरीरको उत्पन्न होनेसे ही रोक रहे हैं! **ऐसा दीख रहा है कि कोई भयंकर युद्ध होगा, महान् संहार होगा। उसीकी तैयारी (गर्भपात-जैसे महापाप) हो रही है।** इतना पाप, अन्याय ज्यादा चलेगा नहीं।

सभी भाई-बहन भगवान्‌के भजनमें लग जाओ। उनकी शक्तिसे ही काम होगा। और कोई उपाय नहीं है। रात-दिन भगवान्‌को पुकारो, नामजप करो, गीता-रामायणका पाठ करो, दूसरोंकी सेवा करो।

× × × ×

जो भी दीखे, उसमें परमात्मा है—यह सबसे सुगम ध्यान है। **मेरेको सुख मिल जाय—यह पापकी जड़ है।**

विदेशी गाय तो नाश करनेवाली है।

× × × ×

भोगों और रुपयोंमें लगे हुए मनुष्य परमात्मप्राप्तिका विचार भी नहीं कर सकते। रुपयोंके लोभसे आज बड़ा अनर्थ हो रहा है! सरकारका इष्टदेव मुसलमान हैं और लोगोंका इष्टदेव रुपये हैं। **अभी हिन्दू समाज और गायोंपर जितनी आफत है, उतनी अन्य किसीपर नहीं।**

ब्रह्मचर्याश्रम अपनी संस्कृतिकी रक्षा करनेवाली चीज है।

कामसे अधिक समय हो और खर्चेसे अधिक पैसे हों तो ऐसे मनुष्यका उद्धार होना कठिन है।

विद्या प्राप्त करनेका बढ़िया उपाय है—गुरुकी आज्ञाका पालन करना।

× × × ×

मनुष्यशरीर मल-मूत्र पैदा करनेकी फैक्ट्री है। परन्तु इसमें एक गुण है कि जीव अपना उद्धार कर सकता है। यह गुण देवताओंमें भी नहीं है, जबकि देवताओंका शरीर दिव्य होता है। उनको मनुष्यशरीरसे दुर्गन्धि आती है। गायका शरीर बहुत पवित्र है, उसका गोबर-गोमूत्र भी पवित्र है, पर उसमें भी कल्याण नहीं होता।

जो जिस वस्तुका दुरुपयोग करता है, उसे वह वस्तु पुनः नहीं मिलेगी। सदुपयोग करनेसे पुनः वह वस्तु मिलती है। यदि कोई मनुष्यशरीरका दुरुपयोग करेगा तो उसे मनुष्यशरीर नहीं मिलेगा। मनुष्यशरीर दुरुपयोग करनेके लिये नहीं मिला है। **परिवार-नियोजन मानवजीवनका महान् दुरुपयोग है! आप कहते हैं कि अन्न नहीं मिलेगा, मैं छाती ठोककर कहता हूँ कि इस पापके कारण अन्न तो दूर रहा, पानी भी नहीं मिलेगा!**

वास्तवमें अच्छाई सब भगवान्‌की है, बुराई हमलोगोंकी है। जैसे पानी नलमें दीखता है, पर वह वहाँसे नहीं आता, टंकीसे आता है, ऐसे ही अच्छी बात भगवान्‌की कृपासे आती है।

बीजको उबाल दिया जाय या भून दिया जाय तो फिर बीजसे कुछ पैदा नहीं होता। ऐसे ही मदिरा धर्मके अंकुरको जला देती है। मदिरा पीनेवाला तत्त्वचिन्तन नहीं कर सकता।

× × × ×

मनुष्यशरीर मिल गया, इसलिये इसकी दुर्लभताका पता नहीं लगता। अपना समय निरर्थक मत जाने दें।

भगवान्से प्रार्थना करो कि 'हे नाथ! आपको भूलूँ नहीं'। मेरे द्वारा किसीकी सेवा बन जाय—यह भाव रखो। जितनी सेवा आप कर सकते हैं, वही आपकी पूरी सेवा है और उतनी ही आशा दुनिया आपसे रखती है। जितना आप सुगमतासे कर सको, उतना उपकार करो और भगवान्को याद करो। भगवान् याद करनेमात्रसे प्रसन्न हो जाते हैं—'**अच्युतः स्मृतिमात्रेण**'। भाव सबके हितका रखो और याद भगवान्को करो। अपनी शक्तिका सदुपयोग करो तो मुक्ति हो जायगी। अपने कर्मोंसे भगवान्का पूजन करो—'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' (गीता १८।४६)।

यह नियम है कि असमर्थ मनुष्य ही दूसरेको असमर्थ बनाता है। कमजोर दूसरेको कमजोर बनाता है। समर्थ दूसरेको भी समर्थ बनाता है।

× × × ×

समय, समझ, सामग्री और सामर्थ्य—ये मिली हुईं और छूटनेवाली चीजें हैं। इनको यदि भगवान्के अर्पण कर दें तो भगवान्की प्राप्ति हो जाय। इनको भगवान्के अर्पण करना 'भक्तियोग' है। प्रकृतिके अर्पण करना 'ज्ञानयोग' है। संसारके अर्पण करना 'कर्मयोग' है। अपने अर्पण कर दें तो यह 'जन्ममरणयोग' हो गया! जिसकी चीज है, उसको दे दो तो मुक्ति हो जायगी।

मानवशरीर लेनेके लिये नहीं है, देनेके लिये है। हमपर सभी प्राणियोंका ऋण है; क्योंकि सभीसे हमारा उपकार होता है। इसलिये सबकी सेवा करो।

× × × ×

मानवशरीर भगवान्की कृपासे मिलता है। चौरासी लाख योनियोंमें भटकते हुए जीवको भगवान् बीचमें ही कृपा करके मानवशरीर देते हैं। यह अवकाश देते हैं। यह शरीर देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। शंकराचार्यजी लिखते हैं—

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

(विवेक चूडामणि ३)

'भगवत्कृपा ही जिनकी प्राप्तिका कारण है, वे मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुषोंका संग—ये तीनों ही दुर्लभ हैं।'

बिना हेतु प्राणिमात्रका हित करनेवाले दो ही हैं—भगवान् और उनके भक्त—

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस ७।४७।३)

भगवान्की वाणी गीता है, भक्तकी वाणी रामायण है। शिक्षा दो प्रकारसे दी जाती है—कहकर और करके। गीतामें कहकर शिक्षा दी गयी है और रामायणमें करके शिक्षा दी गयी है। भगवान्ने बड़ी कृपा की जो हमारा इस समयमें जन्म हो गया और गीताप्रेसकी पुस्तकें पढ़नेको मिलीं!

प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्की कृपा है। अनुकूल परिस्थितिमें भी दया है, प्रतिकूल परिस्थितिमें भी दया है। माँ लड्डू सब बालकोंको देती है, पर थप्पड़ अपने बालकको ही लगाती है। अपनेपनमें जो प्यार है, वह लड्डूमें नहीं है। भगवान्की कृपाकी तरफ ही देखते रहें—'**तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः**' (श्रीमद्भा० १०।१४।८)। दुःख (प्रतिकूल परिस्थिति) आनेपर पुराने पापोंका नाश होता है और नया विकास होता है।

भगवान्की कृपाको देखो, सुख-दुःखको मत देखो। माता कुन्तीने विपत्तिका वरदान माँगा था*। परिस्थितिको मत देखो, उसे भेजनेवाले (दाता)-को देखो।

संसारका वियोग नित्य है और भगवान्का योग नित्य है। सर्वसमर्थ भगवान्में यह ताकत नहीं कि वे

* विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो। भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥ (श्रीमद्भा० १।८।२५)
'हे जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें, जिससे हमें पुनः संसारकी प्राप्ति न करानेवाले आपके दुर्लभ दर्शन मिलते रहें।'

जीवसे अलग हो जायँ!

गीतामें '**वासुदेवः सर्वम्**' को सबसे ऊँचा ज्ञान बताया गया है। आप देखोगे तो दीखने लग जायगा। पहले भी भगवान् थे, पीछे भी भगवान् रहेंगे और बीचमें भी भगवान् ही हैं—ऐसा मान लो तो फिर कहाँ बन्धन है?

संसारसे सुख लेनेवाला कभी दुःखसे बच सकता ही नहीं। दूसरोंको सुख देनेवाले, सेवा करनेवालेके पास दुःख फटक सकता ही नहीं।

× × × ×

सत्का भाव-ही-भाव है और असत्का अभाव-ही-अभाव है। यह वास्तविकता है। जिसको छोड़ना है, वह नित्य-निरन्तर छूट रहा है। जिसको प्राप्त करना है वह नित्य-निरन्तर प्राप्त है। इसमें कोई परिश्रम, उद्योग नहीं है।

असत्से असत् ही दीखेगा, सत् कैसे दीखेगा?

× × × ×

जो प्राप्त है, उसीको प्राप्त करना है। जो निरन्तर अभावमें जा रहा है, उसीका त्याग करना है। नित्यप्राप्त परमात्माको ही प्राप्त करना है और नित्यनिवृत्त संसारकी ही निवृत्ति करनी है। जानेवालेको रहनेवाला ही देख सकता है। संसारका नित्यवियोग ही सत्य है। परमात्माका नित्ययोग ही सत्य है। **जानेवाली वस्तुओंका सदुपयोग करें—इतना ही काम है।**

'है' में सबकी स्वाभाविक स्थिति है। 'नहीं' से ही 'नहीं' दीखता है। 'है' से 'नहीं' दीखता नहीं। हमें सबके अभावका अनुभव होता है, पर अपने अभावका अनुभव किसीको नहीं होता—'**पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर**'!

× × × ×

केवल बदलनेका नाम संसार है। संग्रह और सुखकी इच्छा करनेसे अनित्य संसार भी नित्य दीखने लगता है। **वस्तु मिलनेपर चित्तमें प्रसन्नता होती है—यह सुखभोग है।** जड़ताके सुखकी आसक्ति बाँधनेवाली है।

हम शरीरको और उसकी अवस्थाओंको जानते हैं। अतः हम शरीर तथा अवस्था नहीं हैं। जब जाननेमें फर्क नहीं पड़ता तो फिर जाननेवालेमें कैसे फर्क पड़ेगा?

× × × ×

मनुष्य अपनी वास्तविकताकी ओर खयाल नहीं करता कि मैं किसलिये आया हूँ? इसे जाने बिना कर्तव्यपरायणता कैसे होगी? पहले उद्देश्य बनता है, पीछे यात्रा शुरू होती है। मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्तिके लिये, सदाके लिये सुखी होनेके लिये मिला है।

कर्मचारी चाहते हैं कि पैसे ज्यादा मिलें, काम कम करना पड़े। मालिक चाहते हैं कि काम ज्यादा हो, पैसे कम देने पड़ें। ऐसी स्थितिमें आपसमें प्रेम कैसे होगा? अपने कर्तव्यका पालन करनेके द्वारा दुनियाका बड़ा हित होता है। हरेक आदमी अपने-अपने कर्तव्यका पालन करे। दूसरेके कर्तव्यको देखना अकर्तव्य है। दूसरेका कर्तव्य देखनेके लिये आपको किसीने अधिकार दिया है क्या?

जब सब 'तू कर, तू कर' कहते हैं, तब काम अधिक हो जाता है। फिर नौकर रखते हैं। विचार करें, नौकर भी अपने घरके कामके लिये नौकर रखता है क्या? वह आपके घरका काम भी करता है, अपने घरका भी। आप अपने घरका काम भी नहीं कर सकते! फिर बड़ा कौन हुआ?

गीताप्रेसके कर्मचारी यदि तत्परतासे काम करें तो यहाँसे छपी पुस्तकको देखनेसे लोग कर्तव्यपरायण हो जायँ!

बेकारी नहीं बढ़ी है, बेकार आदमी बढ़े हैं।

कोई पूछे कि दुनिया कैसी है? तो इसका उत्तर है—आप जैसी! भले आदमीके लिये दुनिया भली है, बुरे आदमीके लिये बुरी।

× × × ×

अपने स्वभावका सुधार करना है। केवल स्वभाव ही बिगड़ा है। स्वभाव बिगड़नेमें कारण है—

असावधानी।

जो अपने अनुभवका आदर नहीं करता, वह शास्त्र, गुरु आदिके वचनोंका भी आदर नहीं कर सकता। 'मैं वही हूँ'—यह सबका अनुभव है। हम वही हैं, पर आदर देते हैं बदलनेवालेको—यही असावधानी है। धन, मान, आदर आदि कोई भी चीज ठहरनेवाली नहीं है। आप अपने ही द्वारा कमाये हुए रुपयोंके वशमें हो जाते हैं! अपने ही सामने आये हुए स्त्री-पुत्रोंके वशमें हो जाते हैं!

एक मार्मिक बात है कि आप अपनेमें ही स्थित (स्वस्थ) नहीं रह सकते, फिर और क्या कर सकते हैं?

संयोग-वियोगमें संयोग अनित्य है, वियोग नित्य है। सबका वियोग होगा—यह सन्देहरहित ज्ञान है। जो असम्भव बात है, उसकी इच्छा ही क्यों करें? आज ही यह विचार कर लें कि हम रोयेंगे नहीं। यह सत्संग-पण्डाल अभी भरा है, फिर खाली हो जायगा। संसारका वियोग नित्य है। नित्यको स्वीकार कर लें। परमात्माके साथ योग नित्य है, चाहे आप मानें या न मानें।

जो जानेवाला है, उसको छोड़ दो तो स्वभाव सुधर जायगा। 'मम' से बन्धन है, 'न मम' से मुक्ति है।

सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर दें—यह 'विश्वजित् याग' है।

× × × ×

भगवान्‌के बिना रहा न जाय—यह खास बात है। 'विषयभोग, निद्रा, हँसी, जगत्-प्रीति, बहु बात'—ये पाँचों सुहायें नहीं।

मनुष्यमें तीन इच्छाएँ रहती हैं—करनेकी इच्छा, जाननेकी इच्छा और पानेकी इच्छा। हम जीते रहें—यह जीवन पानेकी इच्छा है। हमें कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य होना है। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगसे ये तीनों पूरे हो जाते हैं। अपने लिये कुछ न करनेसे 'करना' पूरा हो जायगा। स्वरूपको जाननेसे 'जानना' पूरा हो जायगा। प्रभुको पानेसे 'पाना' पूरा हो जायगा। हम संसार, स्वरूप और परमात्मा—तीनोंके लिये उपयोगी हो जायँ।

यह सिद्धान्त है कि जो किसी समय नहीं मिलता, वह कभी नहीं मिलता।

कामनाके कारण ही कमी है। कामना न हो तो कुछ बाकी नहीं रहेगा। सुखकी इच्छा ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक है। सुखकी इच्छामें ही सम्पूर्ण दुःख हैं। सुखकी इच्छा छोड़ दें तो दुःख पासमें नहीं आयेगा। **संसारकी इच्छा करोगे तो नयी-नयी विपत्ति आयेगी।** इच्छा छोड़ दो तो संसारकी चीजें स्वतः आयेंगी। **चाहना छोड़ दें तो आवश्यक वस्तु स्वतः आ जायगी।** या तो केवल एक परमात्माकी इच्छा करो, या कोई भी इच्छा मत करो, न संसारकी, न परमात्माकी। कामना न छूटे तो व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारो, छूट जायगी। सन्तान सबको प्रिय होती है तो क्या हम भगवान्‌को प्रिय नहीं हैं? भगवान् कहते हैं—***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६।२)।

सत्संग अध्यात्मविद्याका विद्यालय है।

× × × ×

साधन स्वाभाविक होना चाहिये। करनेसे साधन बढ़िया नहीं होता। मैं साधक हूँ—ऐसे अहंता बदल लें तो साधन स्वाभाविक होगा। दूसरे साधक नहीं हैं—ऐसे देखेंगे तो अभिमान आ जायगा। हमें दूसरोंको न देखकर अपना साधन करना है। साधन वह होता है, जो निरन्तर हो।

जो व्यापारके नामसे चाहे कोई काम कर ले और औषधिके नामसे चाहे कुछ ले ले, वह साधक नहीं हो सकता।

× × × ×

संसारकी प्राप्ति है ही नहीं, उसकी प्राप्ति भूलसे मान लेते हैं। परमात्माकी अप्राप्ति कभी हुई नहीं, उसकी अप्राप्ति भूलसे मान लेते हैं। संसार कभी प्राप्त होता ही नहीं। संसारमात्र निरन्तर बहता हुआ मौतकी

तरफ जा रहा है। संसार बहता है, परमात्मतत्त्व रहता है। बालकपना आपने कब छोड़ा था?

संसारको स्थायी माननेसे ही भोग और संग्रहकी इच्छा होती है। गाय, गधा, चाण्डाल आदि तो नहीं हैं, पर उन सबमें 'है'-रूपसे एक ही परमात्मा हैं। भगवान् खम्भेमें थे, तभी तो खम्भेसे प्रकट हुए। प्राणिमात्रमें भगवद्भाव करो, फिर वे अन्त:करणसे दीखने लग जायँगे। आँखोंसे भले ही न दीखें, पर अन्त:करण (मन-बुद्धि)-से दीखेंगे।

× × × ×

'संसार है'—इसमें 'संसार' अलग है, 'है' अलग है। इनको अलग करना है—इतनी ही बात है। संसारको नाशवान् समझते हुए भी उसका आदर करते हैं, उसको महत्त्व देते हैं—यह गलती है, अपने ही सिद्धान्तका खण्डन है! हमारे बालकपनका संसार अलग था, वह अब कहाँ रहा?

काम करते-करते बीचमें थोड़ी देर ठहर जाओ कि 'एक परमात्मतत्त्व ही परिपूर्ण है'।

× × × ×

जीवमात्रमें किसीका सहारा लेनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है; क्योंकि अंशीकी तरफ अंशका आकर्षण स्वाभाविक होता है। परन्तु यह उलटे संसारमें फँस गया। वास्तविक चाहना तो परमात्माकी ही है, पर संसारमें लगा दी। जैसे अग्निसे अलग होनेपर कोयला काला हो जाता है, ऐसे ही परमात्मासे अलग होते ही यह दु:खी हो जाता है। सर्वसमर्थ भगवान्‌में भी शरणागत भक्तका त्याग करनेकी सामर्थ्य नहीं है। जीव भगवान्‌के सिवाय जिस-जिसको पकड़ता है, सहारा लेता है, उसको भगवान् टिकने नहीं देते।

आत्मज्ञान करना हो तो 'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' को छोड़ दो। 'मैं' नहीं रहेगा तो 'हूँ' मिट जायगा, 'है' रह जायगा—

ढूँढ़ा सब जहां में, पाया पता तेरा नहीं,
जब पता तेरा लगा तो अब पता मेरा नहीं।

आत्मा एक ही है। आप अपनेको अलग मानते हो, यही अलगपना है।

श्रोता—यदि सबके भीतर एक आत्मा है तो एकको पीड़ा होनेसे सबको पीड़ा क्यों नहीं होती?

स्वामीजी—शरीरमें आप एक हो, फिर एक अंगुलीमें पीड़ा होनेपर और जगह पीड़ा क्यों नहीं होती?

× × × ×

यह सारा संसार 'अहम्' पर टिका हुआ है। 'अहम्' अपरा प्रकृति है। **'वासुदेवः सर्वम्'—**यह तत्त्व है और संसार जीवकी कल्पना है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५)। कर्मयोग अहम्‌को शुद्ध करता है, ज्ञानयोग अहम्‌को मिटाता है और भक्तियोग अहम्‌को बदलता है। अहम्‌को बदलना सुगम है और सबको आता है। अत: भक्तियोग सुगम है। निर्गुणका 'रूप' सुगम है, भक्तिका 'मार्ग' सुगम है। निर्गुणका मार्ग कठिन है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
(मानस, उत्तर० ७३ ख)

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
(मानस, उत्तर० ४६।१)

ग्यान पंथ कृपान कै धारा।
(मानस, उत्तर० ११९।१)

भक्तिमें भगवान् अपने भक्तका अहम् मिटा देते हैं (गीता १०।१०-११)।

संसारमें ममता होती है, भगवान्‌में आत्मीयता होती है।

× × × ×

अगर अहंता बदल दी जाय तो सब काम ठीक हो जाय! **पूरा संसार एक 'मैंपन' (अहंता)-पर ही टिका हुआ है।** भक्तके लिये 'सब जग ईश्वररूप है'।

भगवान्‌का काम समझकर अपने कर्तव्यका पालन करो। परन्तु अपने कामकी बिक्री मत करो। अपने कर्तव्यका पालन समझकर मैं व्याख्यान देता हूँ और माताएँ अपना कर्तव्य समझकर रोटी देती हैं। यदि बिक्री करें तो मेरा व्याख्यान बिक्री हो जाय,

माताओंकी रोटी बिक्री हो जाय! बिक्री करनेसे क्या पुण्य होगा?

मनुष्य तकलीफ पाकर ऊँचा होता है, आराम पाकर नहीं। **जिस जीवनमें बाधाएँ नहीं आयीं, वह जीवन ही नहीं है!** जितना आराम दुर्योधनने भोगा, उतना युधिष्ठिरने भोगा क्या? परन्तु युधिष्ठिरका नाम लेनेसे धर्म बढ़ता है—'**धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन**'।

छुआछूत मिटाना हो तो हृदयकी छुआछूत मिटाओ।

क्रोध दो कारणोंसे होता है—कामना और अभिमान। यदि क्रोध आ जाय तो हृदयसे 'हे नाथ! हे नाथ!!' पुकारो।

× × × ×

भगवान्‌की विशेष कृपासे मनुष्यशरीर मिलता है। उसमें भी बहुत विशेष कृपा होनेसे भगवद्विषयक जिज्ञासा होती है। फिर और भी विशेष कृपा होनेपर सत्संग मिलता है। नाशवान्‌का आदर करनेसे मनुष्य नाशकी तरफ जाता है, पर स्वयं (आत्मा)-का नाश होता नहीं—यह आफत है!

निष्क्रियतासे ताकत आती है, पर क्रियासे ताकत नष्ट होती है। निष्क्रियतासे थकावट होती ही नहीं। यही सहजावस्था है। इसमें ऐसा विलक्षण पारमार्थिक आनन्द है, जिसमें कोई विकार नहीं है।

परमात्मप्राप्तिमें कठिनता नहीं है, प्रत्युत संसारका राग छोड़नेमें कठिनता है। व्यसनीको व्यसन छोड़ना कठिन होता है, पर आपको क्या कठिन है?

लोग समझते हैं कि पैसा होनेसे हम स्वतन्त्र हो जायँगे। **वास्तवमें पैसा होनेसे स्वतन्त्रता नहीं होती, प्रत्युत पैसोंकी गुलामी होती है।**

× × × ×

समाधिसे भी बड़ी एक चीज है। वह है—अपने-आपमें स्थित होना। चित्तवृत्तिनिरोधसे भी स्वरूपमें स्थिति होती है। 'मैं हूँ'—यह स्वतः-स्वाभाविक है। सबके भाव तथा अभावका अनुभव होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

जबतक जीव प्रकृतिमें स्थित होता है, तबतक अपने गुणातीत स्वरूपका अनुभव नहीं होता। गुणातीत होना नहीं है, स्वतः है। 'मैं हूँ'—ऐसा करके कुछ भी चिन्तन न करे। चिन्तनरहित होनेसे स्वस्थ है, गुणातीत है। होनापन हमारा स्वरूप है। प्रकृतिमें स्थित होनेपर भी स्वरूपमें स्थिति स्वतः है। यह जीवन्मुक्तकी स्थिति है। **जीवन्मुक्त स्वतः है।** 'मैं'-पनसे अलग होकर स्वयंमें स्थित होना है। जो स्वयंमें स्थित है, वही तत्त्वदर्शी है।

'मैं हूँ' में 'मैं' को छोड़ दे और 'हूँ' में स्थित हो जाय—यह हुआ अंश। इससे आगे अंशी है। उस अंशीकी शरण हो जाय।

× × × ×

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिके द्वारा पुण्य-पापोंका अपने-आप नाश हो रहा है। अनुकूलता-प्रतिकूलताकी सत्ता हो तो वह ठहरे, पर उसकी सत्ता है ही नहीं। गंगाजीकी तरह सब संसार निरन्तर बह रहा है। कोई भी चीज रहनेवाली नहीं है।

भक्तके लिये प्रतिकूलतामें विशेष भगवत्कृपा होती है। **यदि हम प्रतिकूलतामें दुःखी हो जाते हैं तो हमने कृपाको कहाँ माना?** प्रतिकूलतामें विशेष हित और अपनापन भरा हुआ है। **जो शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें राजी-नाराज होता है, वह हाड़-मांसका भक्त है, भगवान्‌का नहीं।** बाजारसे कोई वस्तु खरीदते हैं तो चखकर लेते हैं, पर वैद्यकी दवा चखकर नहीं लेते। वैद्य जो दवा दे, वही लेनी पड़ती है।

अपनी मनचाही तो किसीकी भी नहीं हुई। सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)-ने एक बार कहा कि मेरी सदा मनचाही ही होती है! पूछनेपर उन्होंने कहा कि मैंने भगवान्‌के मनमें अपना मन मिला लिया!

कर्मयोग-ज्ञानयोगमें समता है, भक्तिमें विशेषता है। भक्तिमें प्रतिक्षण वर्धमान रस है।

हरदम, हर रूपोंमें हमें भगवान् ही मिलते हैं!

× × × ×

बालकका माँकी तरफ स्वत: आकर्षण होता है। पत्थरका पृथ्वीकी तरफ स्वत: आकर्षण होता है। इसी तरह जीवका भी परमात्माकी तरफ स्वत: आकर्षण होता है। परन्तु संसारको महत्त्व देनेके कारण इसका आकर्षण जड़ताकी तरफ होने लगता है, पर यह स्वाभाविक आकर्षण नहीं है। अत: इसके परिणाममें जीव दु:ख ही पाता है। उसे सन्तोष नहीं होता। परन्तु परमात्माकी तरफ चलनेसे सन्तोष हो जाता है। शान्ति परमात्माकी तरफ चलनेसे अथवा संसारका त्याग करनेसे ही मिलेगी, तो फिर देरी क्यों?

परमात्माकी तरफ चलनेवाला मनुष्य प्रत्येकका मित्र बन जाता है, सबका आदरणीय हो जाता है। चोर-डाकू भी उसका आदर करते हैं!

× × × ×

ज्ञानमार्गमें द्वैत है और भक्तिमार्गमें अद्वैत है। कारण कि ज्ञानमार्गमें विवेक है, सत् और असत् दो हैं, पर भक्तिमें एक परमात्मा-ही-परमात्मा हैं—**'सदसच्चाहम्'** (गीता ९।१९)। शक्ति शक्तिमान्‌के अधीन है, पर शक्तिमान् शक्तिके अधीन नहीं है। **गीताका अन्तिम सिद्धान्त 'भक्ति' है।** ब्रह्म समग्र भगवान्‌का ही एक अंग है। प्रेम-तत्त्व ज्ञानसे विलक्षण है। ज्ञान केवल अज्ञान मिटाता है, प्रेममें आकर्षण होता है। ज्ञानका रस अखण्ड है, प्रेमका रस प्रतिक्षण वर्धमान है।

× × × ×

एक बदलनेवाला है, एक न बदलनेवाला है। यह सबके अनुभवकी बात है। बदलनेवालेको न बदलनेवाला ही जानता है। अवस्थाओंको जाननेवाला अवस्थाओंसे अलग होता है। मैं रहता हूँ, अवस्थाएँ बदलती हैं—यह विवेक है। विवेकको महत्त्व दें तो यह स्पष्ट हो जायगा।

अनुकूलता-प्रतिकूलता आती-जाती है, आप रहते हो। उनको लेकर सुखी-दु:खी होना मूर्खता है। संसारका वियोग नित्य है। वियोगको आदर दो तो निहाल हो जाओगे।

सत्संग अर्थात् सत्‌का संग तब होगा, जब अनुभव करेंगे। सीखी हुई बातें किस कामकी? श्रवण शास्त्रकी बातोंका करेंगे, मनन विषयोंका करेंगे, निदिध्यासन रुपयोंका करेंगे तो साक्षात्कार दु:खोंका होगा! **सीखनेके लिये सत्संग नहीं है।**

× × × ×

कर्मयोगसे शान्ति मिलती है; क्योंकि अशान्ति नाशवान् पदार्थोंके संगसे होती है। ज्ञानयोगसे स्वरूपमें स्थिति होती है। **भक्तियोगमें शान्ति और स्वरूपमें स्थिति—दोनों रहते हैं, पर साथ ही भगवान्‌की ओर विशेष आकर्षण रहता है।** भक्ति, विरक्ति तथा भगवत्प्रबोध—तीनों एक साथ चलते हैं। भक्तिमें ये तीनों बातें हो जाती हैं।

शरीरमें ममता रहेगी तो समता कैसी होगी? नहीं हो सकती—***'तुलसी ममता राम सों समता सब संसार'*** (दोहावली ९४)।

प्रेम ऐसी अग्नि है, जिसमें पड़नेवाला तो आनन्दमें रहता है, पर देखनेवाला जलता है!

जो सत्संगमें नहीं लगा है, वह सत्संगकी महिमा नहीं जानता।

प्रेमाभक्तिकी प्राप्तिके लिये 'करना' नहीं है, प्रत्युत 'रोना' है। तात्पर्य है कि प्रेमाभक्तिकी प्राप्ति उत्कट अभिलाषासे होती है। बालकके पास रोनेके सिवाय और क्या बल है? रोना है—निर्बलताकी आखिरी हद। ***'निर्बल के बल राम'।*** रोना कब आयेगा? रोना आयेगा संसारका रोना (कामना) छोड़नेसे।

भक्तोंके, सन्तोंके संगसे भक्ति मिलती है।

× × × ×

'चुप साधन' तो बहुत बढ़िया है, पर समझनेमें बड़ा कठिन है। तत्त्वकी प्राप्ति क्रियाके द्वारा नहीं होती। अप्राप्त वस्तुके लिये क्रिया होती है। **प्राप्त तत्त्वके लिये क्रिया करोगे तो तत्त्वसे दूर हो जाओगे।** संसार तो प्राप्त है, परमात्मा अप्राप्त है—यह हमसे भूल हो गयी है। परमात्मा कभी अप्राप्त

हो सकते ही नहीं। परमात्मासे रहित कोई हो सकता ही नहीं। बर्फमेंसे पानी निकालनेपर बर्फ कैसे रह जायगी? परमात्मा सबको समान रूपसे प्राप्त हैं, चाहे पापी हो या पुण्यात्मा। सुईकी नोक-जितनी जगह भी परमात्मासे खाली नहीं है अर्थात् जगह तो खाली है, पर परमात्मासे खाली नहीं है। जो मिट रहा है, उसे मिटानेकी चेष्टा करना भी गलती है और टिकानेकी चेष्टा करना भी गलती है।

कामना होती है संसारकी सत्ता माननेसे। संसार निरन्तर मिट रहा है, फिर कामना कैसे होगी? चुप साधनसे कामना मिट जाती है। कुछ दिन चुप साधन करनेसे एक बल आ जायगा, जिससे राग-द्वेष, अनुकूलता-प्रतिकूलताका असर कम पड़ेगा।

कामना करनेसे वस्तु मिलती है ही नहीं। मिलनेवाली वस्तु बिना कामनाके भी मिलेगी। हमें मिलनेवाली वस्तु कोई दूसरा नहीं ले सकता—**'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्'**। कामना मन-बुद्धिमें होती है, आपमें नहीं। आप उसे पकड़ लेते हो। स्वरूपमें कोई विकार नहीं है। जितने विकार हैं, सब अन्तःकरणमें आते हैं। आप सुख-दुःखके भोक्ता (भोगी) बनते हो, तभी ये विकार आते हैं।

चुप साधनमें शान्ति मिले तो उसकी भी उपेक्षा करो। उपेक्षा नहीं करोगे तो भोग होगा। चुप साधन करते हुए नींद आती हो तो आप चुप साधनके अधिकारी नहीं हो। उस समय नामजप आदि करो।

सत्संगमें तात्त्विक बातोंको समझनेसे जो लाभ होगा, वह क्रियासे नहीं होगा, बदरीनाथ आदि तीर्थोंमें जानेसे नहीं होगा।

जो हमारा कहना नहीं मानता, उसमें ममता, अपनापन छोड़ दो तो वह शुद्ध हो जायगा। अशुद्धि ममतासे आती है। **ममता छोड़नेसे आपको शान्ति मिलेगी और उसका सुधार होगा।**

त्याग उसीका होता है, जो अपना नहीं है। प्राप्ति उसीकी होती है, जो अपना है।

× × × ×

सारा संसार भगवान्‌का ही स्वरूप है—**'वासुदेवः सर्वम्'**। **संसारको भगवान्‌का स्वरूप देखनेमें किसी प्रयासकी अथवा विवेककी जरूरत नहीं है।** सीधे-सरलभावसे देखें। एक भगवान् ही सब रूपोंमें हुए हैं। परमात्मा ही आदिमें थे, वही अन्तमें रहेंगे, वही बीचमें भी रहते हैं। बादलोंमें आकाशकी तरह सबमें परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण हैं।

× × × ×

एक तत्त्वप्राप्तिका पक्का ध्येय बननेपर कामनाका त्याग बहुत सुगम हो जाता है। धन आदि पदार्थ कामनासे नहीं मिलते, प्रत्युत विधानसे मिलते हैं। पदार्थोंका सम्बन्ध कामनाके साथ नहीं है। कामना करनेसे वस्तु मिल ही जायगी—ऐसी बात नहीं है। यह नियम नहीं है। परमात्माकी प्राप्ति इच्छाके साथ सम्बन्ध रखती है, पदार्थोंकी प्राप्ति नहीं।

पारमार्थिक उन्नति भाव और विवेकसे होती है। सगुणकी प्राप्ति भावसे और निर्गुणकी प्राप्ति विवेकसे होती है।

श्रीशरणानन्दजी महाराज नये दार्शनिक थे। उनका दर्शन छहों दर्शनोंसे निराला है। उनकी बातको कोई काट नहीं सकता, जबकि अन्य दर्शनोंकी बातें एक-दूसरेको काटती हैं। परन्तु लोगोंने श्रीशरणानन्दजी महाराजकी बातोंको कितना आदर दिया? सच्ची जिज्ञासा नहीं है।

आप संसारकी स्थितिको बनाये रखना चाहते हैं—यह सर्वथा असम्भव बात है। यही बाधा है।

× × × ×

यह विचार करें कि हमारा खास काम क्या है? ऊँची-से-ऊँची स्थितिको प्राप्त करनेके लिये उद्योग करना चाहिये। केवल उसके लिये उत्कण्ठा जाग्रत् करनी है। मनुष्यको अपना उद्योग करनेकी जिम्मेवारी है, फल-प्राप्तिमें नहीं। असली तत्त्वकी प्राप्तिके लिये तत्परतासे लग जाना चाहिये। अपना समय, सामर्थ्य, सामग्री, समझ बचाकर न रखें। फिर पश्चात्ताप नहीं करना पड़ेगा। जो काम बढ़िया-से-बढ़िया दीखता

हो, उसीमें तत्परतासे लग जाना चाहिये। अपना उद्योग पूरा करनेपर फिर पश्चात्ताप नहीं होगा।

× × × ×

चुप साधनमें तो अहम् भी नहीं रहता, फिर मन और प्राणोंकी गतिका खयाल कैसे रहेगा? कुछ भी मत करो तो परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। 'करने' से ही प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होता है। कुछ भी करोगे तो अहम्‌के साथ सम्बन्ध रहेगा।

चुप साधनमें ध्यान बाधक है। किसी भी वस्तुका ध्यान न हो। इंग्लैण्ड जितना दूर है, उतने ही दूर मन-बुद्धि भी हैं। स्वरूपसे अलग कोई हो सकता ही नहीं, बोध भले ही न हो। चुप साधनमें नामजप छूट जाय तो कोई दोष नहीं है, छोड़ना दोष है। चुप साधनमें तो सब कुछ छूट जायगा।

मैं-पन चेतनके बिना नहीं रह सकता, पर चेतन मैं-पनके बिना रह सकता है।

जड़-चेतनके तादात्म्यमें कामना जड़-अंशमें है। ऐसे ही **सृष्टि-रचनाकी इच्छा प्रकृति-अंशमें ही होती है, शुद्ध तत्त्वमें नहीं।**

चौदह भुवन, मात्र संसार 'अहम्' पर टिका हुआ है। **जबतक संसारकी किंचिन्मात्र भी इच्छा है, तबतक अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ है।**

× × × ×

असत्यके समान कोई पाप नहीं है। मनुष्य केवल अपने कर्तव्यका पालन करे तो अन्य कोई साधन किये बिना कल्याण हो जायगा। निषेधात्मक साधन श्रेष्ठ है। असुरों, राक्षसोंमें भी विध्यात्मक साधन था, पर निषेधात्मक साधन नहीं था। निषेधका त्याग करनेपर विध्यात्मक साधन अपने-आप होता है। सत्यभाषणकी अपेक्षा असत्यका त्याग श्रेष्ठ है। संसारका निषेध करें तो परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों है। संसारसे अलग होनेपर संसारके दोष दीखने लगेंगे। परमात्मासे अभिन्न होनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी।

× × × ×

गीताकी आज्ञा है—'**न किञ्चिदपि चिन्तयेत्**' (६।२५) 'कुछ भी चिन्तन न करे'। अतः संकल्प-विकल्पके साथ सम्बन्ध मत रखो, उनकी उपेक्षा करो।

मेरी ऐसी धुन है, ऐसी खोजकी प्रवृत्ति है कि जल्दी-से-जल्दी, सुगमतापूर्वक सबको कैसे भगवत्प्राप्ति हो जाय! पारमार्थिक मार्गमें भगवान्, सन्त-महात्मा, शास्त्र आदि सबकी सहायता प्राप्त होती है। इस मार्गमें घाटा या नुकसान होता ही नहीं। भगवान्‌ने समय, समझ, सामग्री और सामर्थ्य बहुत ज्यादा दी है, जिसके थोड़े-से उपयोगसे तत्त्वप्राप्ति हो सकती है।

× × × ×

एक देखनेवाला है, एक दीखनेवाला है। दीखनेवाला तो दीखता है, पर देखनेवाला नहीं दीखता। **देखनेवाला 'अहम्' है, शेष सब दीखनेवाला है।** अहम्‌ने ही संसारको धारण कर रखा है। हमारा वास्तविक स्वरूप अहम् नहीं है। अहम्‌का भी भान होता है। तत्त्व ज्यों-का-त्यों है, उसमें द्रष्टापना नहीं है। वही हमारा स्वरूप है।

'**नासतो विद्यते भावः**'—यह दीखनेवाला है और '**नाभावो विद्यते सतः**'—यह देखनेवाला है।

× × × ×

सांसारिक किसी कार्यमें स्वतन्त्रता नहीं है और परमात्माकी प्राप्तिमें परतन्त्रता नहीं है। किसीके सहारेकी जरूरत नहीं है, केवल परमात्माके सहारेकी जरूरत है। सन्त, धर्म, शास्त्र आदि सभी हमसे सहमत हैं, हमारी मददके लिये तैयार हैं। परमात्माकी प्राप्ति हम अकेले कर सकते हैं। परन्तु सांसारिक (व्यापार आदि) कार्य हम अकेले नहीं कर सकते। 'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—इसमें किसकी जरूरत है?

हमें न जीनेसे मतलब है, न मरनेसे मतलब है। भगवान्‌को गरज होगी तो जीता रखेंगे—

गिरह गाँठ नहिं बाँधते, जब देवे तब खाहिं।
गोबिंद तिनके पाछे फिरें, मत भूखे रह जाहिं॥

हम भगवान्‌का चिन्तन करते हैं तो भगवान् हमारा चिन्तन करते हैं, इसमें बीचमें बाधा देनेवाला कौन है? भगवान्‌ने कहा है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)। **भगवान्‌को भक्तोंकी रक्षा, सहायता, पालन करनेमें बहुत आनन्द आता है।** वे स्मरण करनेमात्रसे प्रसन्न हो जाते हैं—**'अच्युतः स्मृतिमात्रेण'**। इसमें खर्चा क्या है?

ईश्वर 'स्व' है, 'पर' नहीं। अतः उसकी परतन्त्रता नहीं होती। भक्ति स्वतन्त्र साधन है—***'भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥'*** (मानस, उत्तर० ४५। ३)। सत्संग भी भगवान् देते हैं—***'जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये'*** (विनय० १३६। १०)।

× × × ×

सत्संगसे शान्ति मिलती है, तभी इतने लोग इकट्ठे होते हैं। सत्संगमें बहुत गहरी बातें मिलती हैं। यह नाटक, सिनेमाकी तरह नहीं है।

'वासुदेवः सर्वम्' सीखनेकी चीज नहीं है, प्रत्युत अनुभवकी चीज है।

'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' असत्य है और 'हूँ' सत्य है। 'मैं'-पनका तो सुषुप्तिमें अभाव होता है, पर अपनी सत्ताका अभाव नहीं होता—यह सबके अनुभवकी बात है। जो हरदम रहती है, वह सत्ता ही हमारा स्वरूप है। जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओंके भाव और अभावका अनुभव करनेवाला तो एक ही है।

× × × ×

परमात्मामें कोई विषमता है ही नहीं—***'सब पर मोहि बराबरि दाया'*** (मानस, उत्तर० ८७। ४)। वे समान रूपसे सर्वत्र व्यापक हैं। माँकी तरह वे सबके लिये पूरे-के-पूरे हैं। भगवान् मेरे हैं—इस बातसे बड़ा आनन्द आना चाहिये। संसारको अपना मान लिया तो यह अपनापन टिकेगा नहीं। प्रभुको अपना मानकर पुकारो। भगवान् तो सदासे ही हमारे हैं, पर इधर खयाल नहीं है।

जैसे भगवान्‌के लिये भक्त लालायित रहते हैं, ऐसे ही भक्तके लिये भगवान् लालायित रहते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)।

मीराबाईने कहा है—***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'***। वास्तवमें दूसरा कोई है ही नहीं!

× × × ×

जिसे भगवान्‌के होनेका विश्वास हो जाय, वह निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है। **भगवान् हैं, वे मिलते हैं और मेरेको भी मिल सकते हैं।** ऐसे ही तत्त्वज्ञान भी हमारेको हो सकता है। कारण कि भगवान् और बोध स्वतःसिद्ध हैं।

नित्यप्राप्तको प्राप्त करना है और नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति करनी है—यह बात साधकके लिये बड़े कामकी है।

× × × ×

मनुष्य किसी-न-किसीका सहारा लेता है, यह उसका स्वभाव है, आदत है। इससे सिद्ध होता है कि सहारा लेना आवश्यक है और सहारा लेनेयोग्य कोई है। परन्तु यह नाशवान्‌का सहारा लेता है, तभी दुःख पा रहा है। उसको इसका पता नहीं है कि किसका सहारा लेना है।

संसारका सम्बन्ध केवल कामनासे है। कामना न हो तो संसारका सम्बन्ध है ही नहीं।

मन लगानेवाला योगभ्रष्ट होता है—**'योगाच्चलितमानसः'** (गीता ६। ३७)। स्वयं योगभ्रष्ट होता ही नहीं।

× × × ×

परमात्मतत्त्वमें क्रिया और पदार्थ—दोनों ही नहीं हैं। 'करना' भी क्रिया है और 'न करना' भी क्रिया है। करना और न करना, पदार्थ और पदार्थका अभाव—दोनोंसे हमारा कोई मतलब न हो। परमात्माका भी चिन्तन न हो—**'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'** (गीता ६। २५)। गंगाजी हैं—इसका चिन्तन क्या करना? चिन्तनरहित होनेका सुख भी नहीं लेना है।

न करना है, न पाना है। **कुछ कर लें, कुछ मिल जाय—दोनोंसे उपराम होना है।**

× × × ×

यह सभी सन्तोंका अनुभव है कि सब कुछ भगवान् ही हैं। सब कुछ तू-ही-तू है। इसका ज्ञान कैसे हो? किसीको बुरा न समझें, किसीकी बुराई न करें और किसीका भी बुरा न चाहें।

कहीं बुराई दीखे तो समझें कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। जैसा स्वरूप, वैसी लीला। बर्ताव सावधानीसे करें; क्योंकि भगवान्‌की आज्ञा है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते**' (गीता २।४७)। परन्तु भीतरसे किसीको बुरा न समझें। जैसे स्नानके समय साबुन लगाये चेहरेको दर्पणमें देखते हैं तो भद्दा रूप दिखायी पड़ता है, पर मनमें अपना रूप वैसा नहीं समझते। ऐसे ही सबके भीतर साक्षात् परमात्मा हैं, पर ऊपरसे अनेक तरहके वेष हैं। तात्पर्य है कि **बाहरसे सावधानी रखो, पर भीतरसे बुरा न समझो।**

किसीकी बुराई न करें। **व्यवहार यथायोग्य करते हुए भी भीतरसे सबको भगवान् ही समझें।** भीष्मजी कृष्णको भगवान्-रूपसे जानते थे, पर युद्धके समय वे उनकी पूजा अपने बाणोंसे करते हैं! जैसा रूप, वैसी पूजा।

× × × ×

मनुष्यके भीतर किसीका सहारा (आश्रय) लेनेकी प्रवृत्ति भी होती है और स्वतन्त्र रहनेकी प्रवृत्ति भी होती है। सहारा लेनेकी प्रवृत्तिवालोंके लिये शरणागति सर्वश्रेष्ठ है। कारण कि जीव जिसका अंश है, उसीका आश्रय लेनेसे काम बनेगा। शरणागतिमें परतन्त्रता नहीं है, प्रत्युत महान् स्वतन्त्रता है।

ऊपरसे भरे हुए साधनसे लाभ नहीं होता। वास्तवमें हम क्या चाहते हैं—यह जानना चाहिये। इसको जाननेवाले बहुत कम हैं।

मैं, तू, यह तथा वह—सबमें एक परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है। **एक परमात्माके सिवाय कुछ हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं।**

× × × ×

शरीरको संसारसे अलग मानना गलती है। अपनेको सांसारिक वस्तुओंका मालिक मानते हैं, पर हो जाते हैं गुलाम। वस्तुओंको संसारकी सेवामें लगाना ईमानदारी है। अपने लिये जप, तप आदि करनेवालेका नाम हिरण्याक्षकी सूचीमें लिखा जायगा! कर्म संसारके लिये होगा और योग परमात्माके साथ होगा। कर्मयोग भी करणनिरपेक्ष साधन है।

संसारकी सब वस्तुएँ मिली हुई हैं और बिछुड़नेवाली हैं। उनको अपना और अपने लिये मानना बेईमानी है। बेईमानीको छोड़नेका नाम 'मुक्ति' है।

संसारके लिये उपयोगी होना 'कर्मयोग', अपने लिये उपयोगी होना 'ज्ञानयोग' और भगवान्‌के लिये उपयोगी होना 'भक्तियोग' है।

× × × ×

गीताने '**वासुदेवः सर्वम्**' को अधिक महत्त्व दिया है। मनुष्यजन्म ही बहुत जन्मोंका अन्तिम जन्म है—'**बहूनां जन्मनामन्ते**' (गीता ७।१९)। अब मनुष्य यहाँसे जहाँ जाना चाहे, वहाँ जा सकता है—'***नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी***' (मानस, उत्तर० १२१।५)। मनुष्यजन्मके बादके जन्मका निर्णय भगवान् नहीं करते। मनुष्य यहाँसे मुक्त भी हो सकता है, भक्त भी हो सकता है और चौरासी लाख योनियोंमें भी जा सकता है।

भगवान्‌ने मनुष्यजन्म दिया है तो साधन-सामग्री भी साथमें दी है। प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है। परंतु मनुष्य इस साधन-सामग्रीको भोग-सामग्री बना लेता है। **प्रतिकूल परिस्थिति एक नंबरकी साधन-सामग्री है; क्योंकि इसमें पापोंका नाश होता है और सावधानी आती है।**

सुखकी इच्छाका नाम दुःख है। संसारमें सुख भी दुःख है और दुःख भी दुःख है—'**दुःखमेव सर्वं विवेकिनः**' (योगदर्शन २।१५)। आज केवल सुखकी तरफ ही दृष्टि है। यह दृष्टि महान् दुःख देनेवाली है। **जहाँ सुख मिले, वहाँ समझे कि खतरा है!**

अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सुखी-दुःखी होना पाप है, तभी भगवान्‌ने कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार (युद्ध करनेसे) तू पापको प्राप्त नहीं होगा।'

× × × ×

आमके वृक्षमें हर जगह रस रहता है, पर उसके फलमें जो रस है, वह कहीं नहीं है। ऐसे ही परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं, पर उनके रूपमें (साकारमें) जो मिठास है, वह कहीं नहीं है। तभी कहा है—'**पिबत भागवतं रसमालयम्**' (श्रीमद्भा० १। १। ३)। फलका ज्ञान जितना तोतेको है, उतना अन्यको नहीं। तोता उसी फलमें चोंच लगाता है, जो मीठा होता है। भागवत शुकके मुखसे निकली है। इसमें न छिलका है, न गुठली है।

मुक्तिमें मनुष्य सांसारिक दुःखोंसे छूटता है। परंतु भक्तिमें विलक्षण रस है, जिससे कभी अरुचि होती ही नहीं। सांसारिक सुखसे अरुचि होती ही है—यह नियम है।

भगवान् आत्मारामगणाकर्षी हैं, वे मुक्त पुरुषोंको भी खींच लेते हैं। निर्गुण-निराकारके उपासक श्रीमधुसूदनाचार्यजी कहते हैं—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

'अद्वैत-मार्गके अनुयायियोंद्वारा पूज्य तथा स्वाराज्यरूपी सिंहासनपर प्रतिष्ठित होनेका अधिकार प्राप्त किये हुए हमें गोपियोंके पीछे-पीछे फिरनेवाले किसी धूर्तने हठपूर्वक अपने चरणोंका गुलाम बना लिया!'

प्रेमीकी बात प्रेमी ही समझता है, ज्ञानी नहीं। पागलकी भाषाको कौन समझे? गूँगेकी भाषाको कौन समझे?

× × × ×

'करना' उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुके लिये होता है। अनुत्पन्न परमात्मतत्त्वके लिये 'भाव' और 'विवेक' होता है। जैसे हम मकानसे अलग हैं, तभी हम मकानसे बाहर जाते हैं, ऐसे ही हम शरीरमें रहते हुए भी शरीरसे अलग हैं। शरीर भी हमारा नहीं है। यदि हमारा है तो फिर इसे बीमार क्यों होने देते हो? मरने क्यों देते हो? हम परमात्माके हैं, परमात्मा हमारे हैं। शरीर और संसार एक हैं। हम शरीरसे अलग हैं तो संसारमात्रसे अलग हैं।

हम संसारसे अलग होकर ही संसारको जान सकते हैं; क्योंकि हम संसारसे अलग हैं। परमात्मासे एक होकर ही परमात्माको जान सकते हैं; क्योंकि परमात्मासे एक हैं।

आजकल बुद्धिसे ही संसारको समझते हैं और बुद्धिसे ही ब्रह्मको समझते हैं। बुद्धि तो अपने कारण प्रकृतिको भी नहीं जान सकती। नमककी डली मुखमें रखकर कोई मिश्रीके स्वादको नहीं जान सकता। सबका प्रकाशक हमारा स्वरूप है। प्रकाश्य हमारा स्वरूप नहीं है। हमारा स्वरूप सूर्यकी तरह प्रकाशक भी है और प्रकाशस्वरूप भी है।

× × × ×

शास्त्रको जाननेवाले तो कई मिलेंगे, पर तत्त्वका अनुभव करनेवाले नहीं मिलेंगे। लगनवाले आदमी बहुत कम मिलते हैं। तभी भगवान्‌ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक सिद्धि (कल्याण)-के लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्धों (मुक्त पुरुषों)- में कोई एक ही मुझे यथार्थ रूपसे जानता है।'

स्वयंकी लगन होनेसे तो परमात्माके यथार्थ रूपको जान सकते हैं—'**यततामपि**', पर लगनके बिना केवल सुननेसे नहीं जान सकते—'**श्रुत्वाप्येनं**

वेद न चैव कश्चित्' (गीता २।२९)। सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) श्रद्धाकी कमी मानते थे, मैं लगनकी कमी मानता हूँ। अभी जो वेदान्तका प्रचार हो रहा है, इसे मैं बाधक मानता हूँ। वेदान्तके ग्रन्थ पढ़ोगे तो उलझन हो जायगी, पर सन्तोंकी वाणी पढ़ोगे तो कल्याण हो जायगा।

सच्ची जिज्ञासा हो तो सन्त-महात्मा अपने-आप खिंचे चले आते हैं। माँको बच्चेकी जितनी आवश्यकता है, उतनी बच्चेको माँकी नहीं है। बछड़ा एक मुँहसे दूध पीता है, पर गायके चार थन होते हैं!

× × × ×

परमात्माका अंश होनेसे जीवमात्रका स्वभाव आश्रय लेनेका है। परंतु शरीरको अपना स्वरूप मान लेनेके कारण वह शरीरकी ही जातिका आश्रय चाहता है। शरीर मैं नहीं, मेरा नहीं और मेरे लिये नहीं—यह हो जाय तो फिर वह नाशवान्का आश्रय नहीं चाहेगा। नाशवान्का आश्रय लोगे तो तरह-तरहकी आफतें आयेंगी।

× × × ×

जैसे अंकुर निकले बिना बीजका पता नहीं लगता, ऐसे ही वासना बीजरूपसे रहती है, उसका पता नहीं लगता। वासनासे कामना, आशा, तृष्णा आदि उत्पन्न होते हैं। **शुद्ध वासना भी तत्त्वबोधमें बाधक होती है।**

'मैं हूँ'—यह जड़-चेतनकी ग्रन्थि है। इसलिये संसारके भोग व संग्रहकी इच्छा भी होती है और परमात्मप्राप्तिकी इच्छा भी होती है। वासना अहम्के भीतर जड़-अंशमें रहती है। अहम् मिटनेपर वासनाका नाश हो जाता है।

× × × ×

संसारमें स्थायी रहनेकी प्रवृत्ति बहुत बाधक है। सत्संगसे बहुत लाभ, सुधार होता है, पर पूर्णता प्राप्त किये बिना उसमें सन्तोष नहीं करना चाहिये।

अभी जो परिस्थिति मिली है, उसीके सदुपयोगसे परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी।

भगवान्के समान अपना कोई नहीं है—

उमा राम सम हित जग माहीं।
गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥

(मानस, किष्किंधा० १२।१)

'अच्युतः स्मृतिमात्रेण'—भगवान्को याद करना ही उनकी सेवा करना है। **केवल याद करना है, पत्र-पुष्प-फलकी भी जरूरत नहीं!** द्रौपदीने केवल याद किया था।

इधर दशरथजी प्रेमी थे, कौसल्याजी ज्ञानी थीं। उधर जनकजी ज्ञानी थे, सुनयनाजी प्रेमी थीं।

विदुरानीजीको यह पता नहीं कि मैं गिरी खिला रही हूँ या छिलका, ऐसे ही ठाकुरजीको पता नहीं कि मैं गिरी खा रहा हूँ या छिलका—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४।११)।

× × × ×

हमें राग-द्वेषसे रहित होना है। अनुकूलतासे सुख हो तो इसका भी दुःख होना चाहिये, प्रतिकूलतासे दुःख हो तो इसका भी दुःख होना चाहिये। यह साधकमें सावधानी होनी चाहिये। न प्रवृत्तिकी इच्छा हो, न निवृत्तिकी इच्छा हो।

जबतक असर पड़ता है, तबतक साधक 'स्वस्थ' नहीं है, रोगी है।

× × × ×

सबमें परमात्मा परिपूर्ण है—इस बातको याद रखो और प्राणिमात्रमें भगवान्को देखो। कम-से-कम मनुष्योंमें तो भगवान्को देखो। जैसे मन्दिरमें भगवान्का पूजन मूर्त्तिमें करते हैं, ऐसे ही मनसे सबमें भगवान्को देखकर उनका पूजन करो। **मन-ही-मन सबको दण्डवत् प्रणाम करो कि उनको पता ही न लगे।** गुप्त दान, गुप्त साधन बड़ा तेज होता है। सबको किया गया प्रणाम भगवान्को प्राप्त होता है। यह बहुत ही उत्तम साधन है जो हरेक कर सकता है।

पशु, पक्षी आदिसे कभी खटपट, लड़ाई नहीं होती। मनुष्योंसे ही लड़ाई होती है। इसलिये मनुष्योंमें

भगवद्भाव करनेके लिये कहा है। कम-से-कम प्रत्येक मनुष्यको नमस्कार करो। **नमस्कार किये बिना कोई मनुष्य खाली न जाय।**

सबको किया गया नमस्कार भगवान्को प्राप्त होता है। यह बहुत ही उत्तम साधन है जो हरेक कर सकता है।

× × × ×

मुक्ति 'कर्म' से नहीं होती, प्रत्युत 'योग' (कर्मयोग)- से होती है। अपने लिये कुछ भी न करना 'कर्मयोग' है। समाधि भी अपने लिये न हो।

जो साधन कर सकते हैं, उसे करते नहीं और जो नहीं कर सकते, उसके लिये हिचकते हैं—यह बाधक है। **जो सुगमतासे कर सकते हैं, उसे करें तो आखिरतक पहुँच जायँगे।**

भक्तिमें अहंकारको बदला जाता है। अहंकार बदलना बहुत सुगम है। मैं साधक हूँ; अतः मुझे साधनसे विरुद्ध कार्य नहीं करना है—इतनी सावधानी रखो।

लड़का कहना न माने तो उसे अपना मत मानो। **उससे अपनापन छोड़ दोगे तो उसका सुधार हो जायगा—यह मार्मिक बात है।** मन मेरा है, तो फिर मन कभी शुद्ध नहीं होगा। अपनापन हटाते नहीं और शुद्ध कर सकते नहीं—यह गुत्थी है। मनको मेरा मत मानो तो वह शुद्ध हो जायगा। वास्तवमें वह भगवान्का है, आप अपना मानते हैं—यह गलती है। **मन एकाग्र हो या न हो, उसे छोड़ दो तो यह गीताका 'योग' है।**

जो साधन नहीं कर सकते, उसका लोभ मत करो। जो कर सकते हैं, वह करो। भगवान्की कृपासे जो काम होगा, वह आपके उद्योगसे नहीं होगा। इसलिये भगवान्को पुकारो। **पुकारसे जो काम होता है, वह विवेकसे नहीं होता।** पुकारसे बहुत जल्दी सिद्धि होती है।

विवाह होनेपर आपकी लड़की अपना अहंकार बदल लेती है, फिर आप नहीं बदल सकते? आप मीराबाई बन जाओ—***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'***।

जिस साधनमें आपकी योग्यता, विश्वास और तत्परता हो, वही साधन करो। **साधन अनेक हैं, उनमें समन्वय मत करो। समन्वय करना साधकका काम नहीं है।**

किसी ग्रन्थके खण्डन-अंशको मत मानो, मण्डन-अंशको मानो। गीता, रामायण और भागवतमें मेरी श्रद्धा है, अन्य ग्रन्थोंमें वैसी श्रद्धा नहीं है। पण्डिताईके ग्रन्थोंसे पण्डिताई आ जायगी, पर सिद्धि नहीं होगी।

× × × ×

परमात्मप्राप्ति सुगम है—यही मानना साधकके कामका है। लाभकी बातको ग्रहण करना है। वास्तवमें परमात्मप्राप्ति कठिन नहीं है, प्रत्युत संसारका त्याग कठिन है। लगनकी कमी होनेसे परमात्मप्राप्ति कठिन दीखती है। कठिन वह वस्तु होती है, जिसका निर्माण होता है। परमात्माका निर्माण नहीं होता, वे नित्यप्राप्त हैं। पारसके स्पर्शसे लोहेका सोना बनता है, पर परमात्मा बनते नहीं हैं। केवल उत्कण्ठाकी कमी है। **परमात्मप्राप्तिमें देरी असह्य हो तो फिर देरी नहीं होती।**

देहाभिमान और राग—ये दो बड़ी भयंकर बीमारी हैं। पढ़ाई करनेवाले ब्रह्म, प्रकृति और जीव सबको बुद्धिका विषय बनाते हैं। साधनको न देखकर साध्यको देखते हैं।

आप रुपयोंको चाहते हैं, रुपये आपको नहीं चाहते, फिर भी आप रुपये कमा लेते हैं। परन्तु परमात्मा तो आपको चाहते हैं, फिर उनकी प्राप्तिमें क्या कठिनता? रुपयोंकी प्राप्तिमें तो प्रारब्ध है, पर परमात्माकी प्राप्तिमें प्रारब्ध है ही नहीं। परमात्माकी प्राप्तिमें केवल भाव और बोधकी मुख्यता है। उत्कट अभिलाषा हो तो पापी-से-पापीको भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है और अभिलाषा न हो तो बड़े-बड़े पुण्यात्माको भी प्राप्ति नहीं हो सकती। परमात्मप्राप्ति पाप-पुण्य दोनोंसे ऊँचा उठनेपर होती है।

× × × ×

भगवान्‌के मिलनका रस बड़ा रसीला होता है। वैसा रस और कहीं नहीं है। वह अनिर्वचनीय है। मिलनमें जो रस है, विरहमें उससे कम रस नहीं है। योगमें वियोग है और वियोगमें योग है। 'योग' में तृप्ति नहीं होती और 'वियोग' में विस्मृति नहीं होती! यह अनिर्वचनीय स्थिति प्रेममें ही होती है, ज्ञानमें नहीं। ज्ञानमें अखण्ड आनन्द रहता है, पर प्रेममें अखण्ड आनन्द रहते हुए भी प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द है—'**दिने दिने नवं नवम्**'। प्यास जल-तत्त्वसे अलग नहीं है, पर प्यासमें जो आनन्द है, वह जलमें नहीं है। लौकिक (जलकी) प्यासमें तो दुःख होता है, पर भगवान्‌की प्यासमें विलक्षण आनन्द है। इसे प्रेमी भक्त ही जानते हैं, ज्ञानी नहीं जान सकते। सांसारिक वस्तु मिलनेपर अभिमान आता है, पर भगवान्‌से मिलन होनेपर अभिमान आता ही नहीं। हनुमान्‌जी कहते हैं—'*जानउँ नहिं कछु भजन उपाई*' (मानस, किष्किंधा० ३।२)।

परमात्मासे वियोगका दुःख सैकड़ों-हजारों सांसारिक सुखोंसे बढ़कर है। वह नित्यवियोग है। प्रेममें मुक्तिका रस भी फीका हो जाता है। मुक्तिमें तो संसार छूटता है, दुःख मिटता है, आफत छूटती है।

× × × ×

सहजावस्था स्वाभाविक है। जन्म-मरण, राग-द्वेष, दुःख-संताप आदि सब अस्वाभाविक हैं। जन्म-मरणका कारण गुणोंका संग है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३।२१)। परन्तु वास्तवमें स्वयं असंग है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४।३।१५)।

अभ्यास या क्रिया जड़के द्वारा होती है। तत्त्वकी प्राप्ति जड़के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़के त्यागसे होती है।

× × × ×

शरणागति करणनिरपेक्ष है। यह स्वयंकी स्वीकृति है, बुद्धिका निश्चय नहीं है। 'मैं हूँ'—यह क्या बुद्धिका निश्चय है? गीतामें '**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः**' (१२।१४) पदोंमें मन-बुद्धि जिसके हैं, वह स्वयं अर्पित है। मुख्यता स्वयंकी है, मन-बुद्धिकी नहीं। मन-बुद्धिकी अपेक्षा नहीं है, इसलिये मैं 'करणरहित' नहीं कहता हूँ, प्रत्युत 'करणनिरपेक्ष' कहता हूँ। स्वयंमें बैठी बातकी विस्मृति नहीं होती। स्वीकृति-अस्वीकृति शब्द मुझे बहुत विलक्षण दीखते हैं।

'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसा माननेके बाद यदि अपनेमें कोई विकार दीखे तो भगवान्‌को पुकारो! '***जायगी लाज तिहारी नाथ मेरो का बिगड़ैगो***'!

× × × ×

नित्यप्राप्तकी प्राप्ति और नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति करना है। परमात्मप्राप्ति सहज है, स्वाभाविक है। संसार निरन्तर बदलता है, पर उसमें रहनेवाला नहीं बदलता। तत्त्व कृतिसाध्य नहीं है। मान्यता तो संसारकी है, तत्त्वकी मान्यता नहीं है। तत्त्व स्वतःसिद्ध और सहज है—इतनी बात पहले स्वीकार कर लो, फिर उसकी प्राप्ति सुगम हो जायगी।

× × × ×

शराब पीना महापाप है। **अपने-आप मरी हुई गायके माँससे भी शराब अधिक खराब है।** शराबके बननेमें लाखों-करोड़ों जीवोंकी हत्या होती है। शराब पीनेसे लगनेवाला पाप और तरहका है! यह आस्तिकता, पुण्य, धर्मके बीजको ही नष्ट कर देता है। इसको पीनेसे आस्तिकताके अंकुर, धार्मिक भाव भूने जाते हैं।

बन्धन क्रियासे नहीं होता, प्रत्युत कामनासे होता है। अतः भगवान् कहते हैं—'**योगस्थः कुरु कर्माणि**' (गीता २।४८)। योग नाम समताका है। समताके बिना योग नहीं होता, केवल कर्म होते हैं। **कोई भी साधन करो, अन्तमें योग आना चाहिये;** जैसे—कोई सवाल करो तो अन्तमें टोटल सही आना चाहिये, नहीं तो सब गलत! अन्तःकरणमें समता आ

गयी तो आपकी स्थिति ब्रह्ममें हो गयी—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः**' (गीता ५। १९)।

परमात्मा 'है'। परन्तु देखनेमें 'नहीं' आता है; क्योंकि जिससे देखते हैं, वह 'नहीं' की जातिका है। 'नहीं' को 'है' माननेसे 'है' छिप जाता है।

× × × ×

अपना आचरण, भाव ठीक रखो, लोग चाहे जो कहें। कपड़ा लोक-सुहावता (लोक-मर्यादाके अनुसार) पहनो और रोटी शरीर-सुहावती खाओ। अपने आचरण, भावकी तरफ देखकर सन्तोष करो, लोगोंकी तरफ मत देखो। अपना आचरण बेठीक हो तो सुधार कर लो। मेरे दादागुरु कहा करते थे कि स्त्रियोंको सब कपड़े नये नहीं पहनने चाहिये, एक-दो पुराने कपड़े भी रखने चाहिये।

अपने भजनमें लगे रहो। संसारमें क्या हो रहा है और क्या होगा—इसकी चिन्ता मत करो—'***होइहि सोइ जो राम रचि राखा***' (मानस, बाल० ५२। ४)। भजनमें लग जाओ, निर्वाहकी चिन्ता मत करो। आज भजनमें लग जाओ और कल मृत्यु हो जाय तो आपका उम्रभर भजन हो गया।

पुरानी बात कही जाय तो समझे कि कुछ-न-कुछ घाटा पड़ गया है!

जैसे वैद्य जो दवा दे, वही बढ़िया है, ऐसे ही भगवान् जो विधान करें, वही बढ़िया है।

× × × ×

वस्तु, व्यक्ति, काल आदि सब उस परमात्माके अन्तर्गत हैं। परमात्मा इन सबसे अतीत भी है और इन सबमें परिपूर्ण भी है। जड़तासे ऊँचा उठाना विवेकशक्तिका खास काम है। विवेकको महत्व देना हमारा काम है। **जो अपने विवेकका आदर नहीं करेगा वह गुरु, शास्त्र, वेद आदिका भी आदर नहीं करेगा।** वह सीख तो लेगा, पर तत्त्वकी प्राप्ति नहीं कर सकेगा।

× × × ×

मनुष्यजन्मका अवसर मिलना बड़ा दुर्लभ है। जो इसका दुरुपयोग करता है, उसे फिर यह मौका नहीं मिलेगा। शास्त्रमें आया है—

अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः॥

'ऐसा कोई अक्षर नहीं है जो मन्त्र न हो। ऐसी कोई वनस्पति नहीं है जो औषधि न हो। ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो योग्य न हो। परन्तु इनका संयोजक दुर्लभ है।'

परमात्मप्राप्तिमें देरीका कारण लगनकी कमी है। जैसे फल तैयार होता है तो उसके पास तोता स्वयं आता है, ऐसे ही आप तैयार हो जायँगे तो सन्त-महात्मा स्वतः आयेंगे।

× × × ×

हमने शरीरको प्रधानता देकर 'मैं हूँ' माना है, चेतनको प्रधानता देकर नहीं। हमें चेतन ('है')-को प्रधानता देनी है। ज्ञान उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि ज्ञानका कभी अभाव नहीं होता। **'है' का अनुभव है, करना नहीं पड़ता।**

× × × ×

भगवान्की जगह संसारको मान लिया—इस गलतीको मिटाना है। यह असली बात है! संसार नहीं है और परमात्मा है। जो प्रत्येक क्षणमें बदलता है, वह सच्चा कहाँ है? **वृत्ति लगाने या हटानेसे तत्त्व कैसे मिलेगा? तत्त्व तो वृत्तियोंसे अतीत है।** कोई भी वृत्ति कभी स्थिर नहीं रहती। सबके अभावका अनुभव होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

सनकादिकोंने कहा कि मन संसारमें बस गया और संसार मनमें बस गया तो भगवान्ने कहा—'**मद्रूप उभयं त्यजेत्**' (श्रीमद्भा० ११। १३। २६) 'मेरे स्वरूपमें स्थित होकर दोनोंको छोड़ दो।' मनको अपना मानना ही दोष है। मन सबका एक है, फिर कुत्तेके मनकी चिन्ता क्यों नहीं होती? अतः 'स्व' में स्थित होकर चुप हो जाओ—'**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्**' (गीता ६। २५)।

कैसी परिस्थिति आये, 'स्व'में क्या फर्क पड़ता है? गंगाजीका जल कैसा ही आये, शिलामें क्या फर्क पड़ता है? **जबतक जड़का असर पड़ता है, तबतक हमारी स्थिति जड़में है।** जड़को हटानेकी चेष्टा करोगे तो उसकी सत्ता दृढ़ होगी। अत: उसकी उपेक्षा करो—'**शनैः शनैरुपरमेद्०**' (गीता ६। २५)।

× × × ×

पिता ही पुत्ररूपसे पैदा होता है। इसी तरह भगवान् ही संसाररूपसे प्रकट हुए हैं। जैसे ब्राह्मणका लड़का ब्राह्मण ही होता है, ऐसे ही भगवान्‌से उत्पन्न होनेवाले सब भगवान्‌के ही रूप हुए। **भगवान्‌का सबसे बढ़िया रूप कौन-सा है? सबसे बढ़िया रूप है—संसार।** सब कुछ भगवान्‌का स्वरूप है। इतनी बात मान लो तो आपकी यहाँकी यात्रा सफल हो गयी! इसके लिये श्रवण, मनन आदि कुछ नहीं करना है। भगवान् सुलभ हैं, पर महात्मा दुर्लभ हैं! सबमें भगवान्‌को देखो, फिर भगवान् छिप नहीं सकते। यह बात भी भगवान्‌की कृपासे मिलती है! क्योंकि न तो आपके मनमें थी, न मेरे मनमें थी। भगवान्‌के मनमें देनेकी है! यह खास भगवान्‌के हृदयकी बात है।

गीता भगवान्‌के द्वारा खुशीमें, राजी होकर गाया हुआ गीत है। उपनिषद् साथमें होनेसे 'भगवद्गीता' हो गया, अन्यथा यह 'भगवद्गीतम्' है।

× × × ×

वास्तवमें संसार नहीं है, परमात्मा है। केवल इधर खयाल करना है। संसार तो प्रतिक्षण बदल रहा है, वह है कहाँ! जो विद्यमान होता है, वह कभी बदलता नहीं। संसार अभीतक किसीको प्राप्त नहीं हुआ। प्राप्त हो सकता ही नहीं। हमने गलती यह की कि जो अप्राप्त है, उसको प्राप्त मान लिया और जो प्राप्त है, उसको अप्राप्त मान लिया। **परमात्माको अप्राप्त मान लिया, इसलिये उसे प्राप्त करना पड़ता है और संसारको प्राप्त मान लिया, इसलिये उसे हटाना पड़ता है।**

× × × ×

उधर दृष्टि न होनेसे भगवान् अप्राप्त मालूम देते हैं। वास्तवमें जहाँ दृष्टि जाय, वहीं भगवान् हैं। अर्जुन कहता है—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

(गीता ११। ४०)

'हे सर्वस्वरूप! आपको आगेसे भी नमस्कार हो और पीछेसे भी नमस्कार हो! आपको सब ओरसे (दसों दिशाओंसे) ही नमस्कार हो। हे अनन्तवीर्य! असीम पराक्रमवाले आपने सबको एक देशमें समेट रखा है; अतः सब कुछ आप ही हैं।'

जैसे कोई समुद्रमें डूब जाय तो चारों तरफ जल-ही-जल है। आकाशमें चला जाय तो चारों तरफ आकाश-ही-आकाश है। ऐसे ही चारों तरफ परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। उनके सिवाय और कुछ है ही नहीं। वे दूर नहीं हैं। हमने ही उनको दूर मान लिया, उनको अपने पास नहीं माना।

अपने इष्टकी हर चीज (नाम, रूप, लीला आदि) अच्छी लगती है। सब जगह हमारा इष्टदेव ही है, फिर कितना आनन्द है! जीते भी आनन्द, मरनेमें भी आनन्द! संसारमें अपनापन छोड़ दो, फिर आनन्द-ही-आनन्द है।

× × × ×

एक ध्येय बनाना है। ध्येय बनानेकी अपेक्षा पहचानना बढ़िया है। ध्येय बनाये बिना कल्याण कैसे होगा? भोग भोगना ध्येय होगा तो उन्नति कैसे होगी? चाहे सुख आये या दु:ख, एक ध्येय पक्का रखें कि हमें कल्याण करना है।

कामसे अधिक समय नहीं होना चाहिये और खर्चेसे अधिक धन नहीं होना चाहिये। न संग्रह होना चाहिये, न कर्जा होना चाहिये।

× × × ×

जो हरदम मौजूद है, उसे हम नहीं मानते और जो हरदम बदल रहा है, जा रहा है, उसे हम मानते हैं—यह कितने आश्चर्यकी बात है!

आकाश सब जगह है। पत्थर ठोस होता है, पर उसमें भी आकाश है, तभी उसमें सर्दी-गर्मी प्रवेश करती है। सर्दीमें वह ठण्डा हो जाता है, गर्मीमें गर्म हो जाता है। उस आकाशसे भी सूक्ष्म परमात्मा हैं।

जैसे हम भगवान्‌से वर माँगते हैं, ऐसे ही खम्भे, दीवार, वृक्ष आदिसे भी वरदान माँग सकते हैं; क्योंकि भगवान् सब जगह हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(गीता १३। १३)

'वे परमात्मा सब जगह हाथों और पैरोंवाले, सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखोंवाले तथा सब जगह कानोंवाले हैं। वे संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं।'

× × × ×

श्रोता—सत्संगसे क्या होता है?

स्वामीजी—सब कुछ होता है। सत्संगमें कमाया हुआ धन मिलता है। सत्संग करना गोद जाना है। नामजप और सत्संगकी बहुत महिमा गायी गयी है। **सत्-तत्त्वमें प्रेम होनेका नाम 'सत्संग' है।** सत्‌की तरफ आकर्षण होना चाहिये। श्रीस्वयंज्योतिजी महाराज कहते थे कि सन्त-महात्माओंमें प्रेम होनेका नाम सत्संग है। सत्संगसे मनुष्यको होश होता है। सत्संगसे विलक्षणता आ जाती है। सत्संगके प्रवाहमें पड़े-पड़े मनुष्य गंगाजीके पत्थरकी तरह गोल तथा सुन्दर हो जाता है।

× × × ×

संसार दीखता है, है नहीं। संसार कभी 'है' नहीं होगा और भगवान् कभी 'नहीं' नहीं होंगे। परमात्माका ही 'है'-पना संसारमें दीख रहा है।

भगवान्‌के द्वारा सम्पूर्ण संसार धारण किया हुआ है। अतः भगवान्‌ने हम सबको अपनी शरणमें ले रखा है। शरणमें लेकर हमें स्वतन्त्रता दी है। वह स्वतन्त्रता दी हुई है, अपनी नहीं है। **शरीरपर हमारा वश नहीं चलता, अपनी इच्छासे हम कुछ नहीं कर सकते, इससे सिद्ध होता है कि हम किसीके वशमें हैं।**

शरण होना नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌ने शरण ले रखा है—ऐसा मानें। केवल उधर दृष्टि करनी है।

'मैं'-पन भी भगवान्‌के अर्पित कर दें और 'मेरा'-पन भी।

× × × ×

भगवान्‌ने मनुष्यशरीर दिया है तो अपनी प्राप्तिकी पूरी सामग्री भी दी है। भगवान्‌ने हमें कर्म करनेकी सामर्थ्य दी है, अकर्तव्यका त्याग करनेके लिये विवेक दिया है और विश्वास-शक्ति दी है।

मनुष्य प्रारब्धके अनुसार पाप-पुण्य नहीं करता; क्योंकि कर्मका फल कर्म नहीं होता, भोग होता है।

गीताका अर्थ करनेका तात्पर्य है—अपनी बुद्धिका परिचय देना।

जो साधन सुगम दीखे, उसे करना शुरू कर दो तो जो कठिन है, वह सुगम हो जायगा और जो समझमें नहीं आता, वह समझमें आने लग जायगा।

आजकलका विज्ञान पत्तेसे चलकर मूलकी तरफ जाता है, पर हमारी संस्कृति मूलसे विचार करती है।

× × × ×

भगवान्‌को एक जगह भी देखे तो निहाल हो जाय, फिर सब जगह भगवान्‌को देखे तो कहना ही क्या है? संसार ज्यों-का-त्यों परमात्मा ही है। संसार भ्रान्ति नहीं है। संसाररूपसे भगवान् ही हैं। यही गीताको मान्य है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९), '**मया ततमिदं सर्वम्**' (९। ४), '**सदसच्चाहम्**' (९। १९)।

संसारका सुख दुःखका बीज (योनि) है, जिससे दुःख-ही-दुःख पैदा होगा। बिना दुःखके सुख होता नहीं और सुखके बाद दुःख होता ही है। लक्ष्मी माता है, उसको जो भोग्या मानते हैं, वे पाप करते हैं।

× × × ×

शिष्य दो तरहके होते हैं—पहला गुरुके परायण और दूसरा शिक्षा लेकर स्वयं उद्योग करनेवाला। जो

गुरुके परायण है, उसे अपने कल्याणके लिये कुछ करना नहीं पड़ता; जैसा कि अर्जुनने कहा है—**'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** (गीता २।७) 'मैं आपका शिष्य हूँ। आपके शरण हुए मुझे शिक्षा दीजिये।'

'वासुदेवः सर्वम्' का साधन बड़ा सुगम है। केवल अपना भाव बदलना है। **परमात्माकी जगह ही यह संसार दीख रहा है।** संसारमें 'नहीं' मुख्य है—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २।१६)। **परमात्मा ही हैं—ऐसा सरलतासे मान लेना है, जोर नहीं लगाना है। जोर लगानेसे संसारकी सत्ता दृढ़ होगी।** संसारको हटाना नहीं है। वह तो हटा हुआ (निवृत्त) ही है। मैं-तू-यह-वह कुछ नहीं है, केवल वासुदेव ही हैं।

× × × ×

प्रतिकूलतामें पुराने पाप नष्ट होते हैं और नयी शक्ति मिलती है। भगवान् कृपा करके प्रतिकूलता भेजते हैं।

करणकी सहायता भले ही हो, पर करणकी अपेक्षा न हो—यह 'करणनिरपेक्ष साधन' कहलाता है। स्वयंकी स्वीकृति करणनिरपेक्ष है। स्वयंकी स्वीकृति दृढ़ ही होती है, अदृढ़ नहीं। स्वयंसे भगवान्‌को सब जगह स्वीकार कर लें। ***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'***—यह स्वयंकी स्वीकृति है। विवाहिता स्त्री स्वप्नमें भी अपनेको सुहागिन ही देखती है; क्योंकि यह स्वयंकी स्वीकृति है।

भक्ति इतनी विलक्षण है कि इससे मनुष्य गुणातीत भी हो जाता है और प्रेम भी प्राप्त कर लेता है।

निर्वाहयोग्य भोग तो पहलेसे ही निश्चित है—**'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'** (योगदर्शन २।१३), अधिक भोग, मान-आदर आदि चाहते हैं—यह गलती है।

× × × ×

सांख्ययोगीको तो कर्मयोगकी जरूरत है, पर कर्मयोगीके लिये सांख्ययोगकी जरूरत नहीं है—**'कर्मयोगो विशिष्यते'** (गीता ५।२)।

गीताकी भक्ति 'अद्वैतभक्ति' है। अधिभूत आदि भी भगवान् हैं तो हमारे शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि अलग कैसे रहें? वे भी **'वासुदेवः सर्वम्'** के अन्तर्गत ही हैं। **'वासुदेवः सर्वम्'** में मैं-तू-यह-वह नहीं है। इसमें सब कुछ चिन्मय हो जाता है, जड़ चीज रहती ही नहीं। **छिपनेयोग्य कोई चीज है ही नहीं, फिर भगवान् कैसे छिपें? किसके पीछे छिपें?**

भगवान्‌का आश्रय लेकर साधन करना चाहिये—**'मामाश्रित्य यतन्ति ये'** (गीता ७।२९), **'मद्व्यपाश्रयः'** (गीता १८।५६)। **यदि भगवान्‌का आश्रय न लिया जाय तो अभिमान पिण्ड नहीं छोड़ेगा। भगवत्प्राप्ति कृपासे होती है, उद्योगसे नहीं।** भगवत्कृपासे भक्त विघ्नोंको भी तर जाता है और तत्त्वप्राप्ति भी कर लेता है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८।५८)

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८।५६)

× × × ×

संसारमें अभाव मुख्य है। जो कभी है, कभी नहीं है, वह कभी नहीं है। जो किसी जगह है, किसी जगह नहीं है, वह किसी भी जगह नहीं है। तात्पर्य है कि उसमें 'नहीं' ही मुख्य है। परमात्मामें 'है' ही मुख्य है।

जो किसी अवस्थामें नहीं है, वह किसी भी अवस्थामें नहीं है। भगवान् सब अवस्थाओंमें हैं। जो चीज हमें मिलनेवाली नहीं है, वह किसीको भी मिलनेवाली नहीं है। भगवान् सबके लिये समान हैं और सबको मिल सकते हैं। अतः **संसारकी आशा न रखें और भगवान्‌से निराश न हों।**

× × × ×

स्वार्थ और अभिमान—ये दो चीजें बड़ी घातक हैं। इनका त्याग करके दूसरेका हित करो।

दूसरेका हित कैसे हो—यह मनुष्यके ऊपर ही निर्भर है। पशु-पक्षी मनुष्यके लिये नहीं हैं, प्रत्युत मनुष्य उनके लिये है।

कर्मयोगकी प्रणाली है—दूसरेका हित करना। **अपना जीवन अपने लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरेके हितके लिये है।** 'बुरा न करना' सबके हाथकी बात है, पर दूसरेका भला करना अरबपतिके भी हाथकी बात नहीं है। **किसीका बुरा होनेसे आप राजी होते हैं तो आपके मनमें बुरा करनेका भाव है—यह कसौटी है।** किसीका भी बुरा न करना कर्मयोगकी नींव है। बुराई छोड़नेसे दो अवस्थाएँ होंगी—सबका भला ही करेंगे अथवा कुछ भी नहीं करेंगे। कुछ नहीं करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी।

दूसरेका हित करनेका तात्पर्य है—ऋण चुकाना। पापीकी मुक्ति (फल भोगकर) हो सकती है, पर ऋणीकी मुक्ति नहीं होती। ऋणीकी मुक्ति उसके अधीन है, जिसका ऋण है।

कर्तव्य वह होता है, जिसे कर सकते हैं और जिसे करना चाहिये। कर्तव्य है—दूसरेके अधिकारकी पूर्ति कर देना और अपना अधिकार छोड़ देना। अपने कर्तव्यका पालन करना और दूसरेके अधिकारकी रक्षा करना।

मशीन खराब हो तो हठ करनेसे अर्थात् धक्का देनेसे काम नहीं चलेगा—'**निग्रहः किं करिष्यति**' (गीता ३। ३३)। मशीनकी खराबी ठीक करो। खराबी है—राग-द्वेष। इसलिये आगे राग-द्वेषके वशमें न होनेकी बात कही है—'**तयोर्न वशमागच्छेत्**' (३। ३४)।

× × × ×

करनेकी शक्ति केवल सेवाके लिये है, और यह भगवान्‌से मिली है। भगवान्‌की चीज भगवान्‌के समर्पित कर देनी चाहिये। जो मिला है, वह साधन-सामग्री है। बीमारी भी साधन-सामग्री है और नीरोगता भी। इसी तरह निर्धनता-धनवत्ता, निर्बलता-सबलता आदि सब साधन-सामग्री है। बीमारी भगवान्‌की दी हुई तपस्या है। प्रतिकूलतामें विकास होता है, और अनुकूलतामें विनाश। मनुष्यशरीर साधनशरीर है। जो परिस्थिति आती है, वह केवल साधन-सामग्री है।

× × × ×

व्याख्यान सुनते समय यह भाव रहे कि यह मेरे लिये है। कर्मयोगीको कर्मयोगकी बात अपने लिये समझनी चाहिये। ऐसे ही ज्ञानयोगकी अथवा भक्तियोगकी बात भी साधकको अपने लिये समझनी चाहिये।

गीताके अनुसार 'धर्म' का अर्थ है—कर्तव्यका पालन। तभी गीतामें पहले स्वभावज कर्मोंका वर्णन करके फिर कहा—'**श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्**' (गीता १८। ४७)। **आज्ञा-पालन करना 'परमधर्म' है—**

सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा।
परम धरमु यह नाथ हमारा॥

(मानस, बाल० ७७। १, अयो० २१३। २)

उपर्युक्त बात एक बार शंकरजीने कही और एक बार भरतजीने कही। तात्पर्य यह हुआ कि विरक्त हो या राजा (गृहस्थ), भगवान् और भक्तकी आज्ञा सबको समानरूपसे पालन करनी चाहिये। परमधर्मके लिये धर्मके आश्रयका त्याग किया जा सकता है—'**सर्वधर्मान्परित्यज्य०**' (गीता १८। ६६)। '**एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते**' (गीता ९। २१) 'तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम धर्मका आश्रय लिये हुए भोगोंकी कामना करनेवाले मनुष्य आवागमनको प्राप्त होते हैं।' '**मामेकं शरणं व्रज**' (गीता १८। ६६)—भगवान्‌की यह आज्ञा परमधर्म है। इसका पालन करनेवाला आवागमनको प्राप्त नहीं होता।

वचनमात्रसे भगवान्‌के शरण होनेपर भगवान् पीछे पड़ जाते हैं और सर्वथा शरण कराकर ही छोड़ते हैं। अर्जुनने '**करिष्ये वचनं तव**' (गीता १८। ७३)—ऐसा कहा, तब भगवान्‌ने छोड़ा!

× × × ×

'**द्विषो जहि**' **(शत्रुओंका नाश करो)—यह**

कहना ठीक नहीं है। सन्तोंने कहा है कि हमारे शत्रु सदा जीते रहें; क्योंकि वे हमें सचेत करते हैं।

सबसे बढ़िया है—त्याग। सेवा तो करे, पर चाहे कुछ नहीं। दूसरोंकी सेवा करनेके लिये ही मानवजन्म है।

संसारकी थोड़ी भी वासना मुक्त नहीं होने देगी।

× × × ×

टीकाओंको देखनेके कारण गीताका असली अर्थ समझमें नहीं आता। गीताकी खास बात है—समता। किसी भी योग-मार्गसे चलो, अन्तमें समता आनी चाहिये।

भोग और संग्रहका त्याग किये बिना व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होगी। **गीतामें वेदोंकी निन्दा नहीं है, प्रत्युत सकामभाववाले व्यक्तियोंकी निन्दा है।**

प्रत्येक कार्य भगवान्‌के लिये करें। हमारी क्रियासे किसीको कष्ट न हो, दुःख न हो। अपना-अपना काम ठीक तरहसे करें। हरदम सावधानी रखें। सावधानी ही साधना है। **हरदम सावधान रहनेवाला ही साधक होता है।**

× × × ×

अन्तःकरणकी शुद्धि क्रियाकी सिद्धिमें काम आती है। परमात्मतत्त्व अन्तःकरणसे अतीत है। अतः परमात्मप्राप्ति अन्तःकरणके द्वारा नहीं होती, फिर उसमें अन्तःकरणकी शुद्धि-अशुद्धि क्या काम आयेगी? तत्त्वज्ञान जिज्ञासुको होता है। **अन्तःकरणकी शुद्धिसे तत्त्वज्ञान नहीं होता।** मनोनाशसे, मन एकाग्र करनेसे समाधि होगी, सिद्धियाँ आयेंगी। सिद्धियाँ परमात्मप्राप्तिमें विघ्न हैं।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २।७१)

किसी भी अप्राप्त वस्तुकी कामना न रहे। स्पृहा अर्थात् किसी वस्तुकी परवाह, आवश्यकता भी न रहे। पासमें जो वस्तु है, उसमें ममता भी न रहे। अहंकार अर्थात् मैं-पन भी न रहे। **निरहंकार होनेपर 'मैं निरहंकार हो गया'—यह अहम् भी नहीं रहता।** इसलिये इसे 'ब्राह्मी स्थिति' कहा गया है—'**एषा ब्राह्मी स्थितिः**' (गीता २।७२)। वास्तवमें उसकी कोई स्थिति नहीं होती। वह स्थितिसे अतीत होता है।

गंगा-स्नान पाप धोनेके लिये है, मैल धोनेके लिये नहीं।

× × × ×

इन्द्रियसे जिस विषयके भावका ज्ञान होता है, उस विषयके अभावका ज्ञान भी उसी इन्द्रियसे होता है। यह मीठा है और यह मीठा नहीं है—दोनोंका ज्ञान रसनेन्द्रियसे होता है। ऐसे ही अहम्‌के भाव और अभावका ज्ञान स्वयंको होता है। कारणशरीर 'अज्ञान' है—'**अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणम्**' (अध्यात्म०, उत्तर० ५।९)। अपने स्वभावका खास ज्ञान स्वयंको होता है। स्वयं अहंकारको जानता है—'**एतद्यो वेत्ति**' (गीता १३।१), अतः अहंकारके अभावको भी वह जानता है।

× × × ×

विवेक अनादि है। यह उत्पन्न नहीं होता। मनुष्य अहम्‌को अपना स्वरूप मानता है। वास्तवमें अहम् भी मिट्टीके ढेलेकी तरह 'इदम्' अथवा 'पर' है। मन करण है। मनको न लगाकर आप स्वयं लग जाओ। स्वयं लगनेसे भूल नहीं होगी; जैसे—'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं विवाहित हूँ' आदिमें भूल नहीं होती।

चाहे स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरकी सेवा करो अथवा स्थूल-सूक्ष्म-कारण सृष्टिकी सेवा करो—यह सब 'पर'की सेवा है। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये करना भी 'पर'के लिये करना है। चिन्तन करना, समाधि लगाना भी 'पर'के लिये करना है।

सिद्ध महापुरुषकी समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ नहीं होतीं। प्रकृतिका विभाग अलग है, स्वरूपका विभाग अलग है। स्वरूप प्रकृतिका अंश नहीं है। 'अहम्' हमारा स्वरूप नहीं है। अहम्‌तक सब विषय है। स्वरूप विषयी है। स्वरूप और अहम् अलग-अलग हैं—इसका ज्ञान सुषुप्तिमें सबको होता

है। प्रकृतिका कार्य ही प्रकृतिमें लीन होता है, स्वयं नहीं। सुषुप्तिमें अहम् लीन होता है, स्वयं नहीं। स्वयं किसी भी अवस्थामें लीन नहीं होता। विवाह स्वयंकी स्वीकृति है। स्वयंकी स्वीकृतिमें भूल नहीं होती और मन भी लगाना नहीं पड़ता।

अहंकार कभी घटता है, कभी बढ़ता है; अतः वह आपका स्वरूप कैसे हुआ? अहंकारके बिना आप रहते हैं, पर आपके बिना अहंकार नहीं रहता।

साधकका सम्बन्ध साधनोंसे नहीं है, प्रत्युत साध्यसे है। योगकी सब सिद्धियाँ ऐश्वर्य हैं। ऐश्वर्यमें फँसे व्यक्तिकी मुक्ति नहीं होती—'**भोगैश्वर्यप्रसक्तानां............समाधौ न विधीयते॥**' (गीता २।४४)।

× × × ×

साधकको विशेष सावधान रहना चाहिये। हरेक उम्रके व्यक्तिको भगवान्‌में लगना है। **जो बचपन और जवानीमें भजन नहीं करते, वे बुढ़ापेमें भजन नहीं कर सकते।**

साधक वह है, जो चौबीस घण्टे साधन करे। **चौबीस घण्टोंमें एक मिनट भी साधन न करे तो वह साधक नहीं है।** ऐसे अखण्ड साधनके लिये मैं-पन बदलनेकी जरूरत है। जैसे, सुहागिन एक मिनटके लिये भी दुहागिन नहीं होती। मैं-पन स्वीकृतिसे बदलता है। मैं भगवान्‌का हूँ—ऐसा स्वयंसे स्वीकार कर लें। स्वयंकी स्वीकृतिमें भूल नहीं होती। विवाहिता स्त्री एक बिंदी भी लगाती है तो पतिके सम्बन्धसे।

ज्ञानमार्गमें जो भी देखने, सुनने आदिमें आता है, वह सब माया है। भक्तिमार्गमें दसों दिशाओंमें जो कुछ भी दीखता है, वह भगवान् ही हैं। देखने, सुनने, सोचने आदिमें जो आता है, वह भगवान् ही हैं। **सब कुछ भगवान् हैं—यह 'अभेद भक्ति' है।** यह गीताकी सर्वोपरि बात है। हमारी समझमें न आये तो हमारी समझ कच्ची है, पर बात सच्ची है।

जबतक हमारी दृष्टिमें दूसरी सत्ता है, तबतक मन एकाग्र नहीं हो सकता। 'वासुदेवः सर्वम्' में दूसरी सत्ता ही नहीं है।

× × × ×

सुख भी व्यथा है, दुःख भी व्यथा है। न सुख रहनेवाला है, न दुःख रहनेवाला है, फिर राजी-नाराज क्यों होते हो? आप तो निरन्तर रहनेवाले हो। रबरकी गेंद बनो, मिट्टीका लौंदा नहीं! न राग करना है, न द्वेष, प्रत्युत उपराम होना है। संसारके साथ सम्बन्ध माननेसे ही द्वन्द्व होता है। अतः ***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'*—**ऐसा माननेसे स्वतः निर्द्वन्द्व हो जायगा।

जैसे चिन्तन करना दोष है, ऐसे ही चिन्तन न करना भी दोष है। अतः चिन्तन करने और न करनेको छोड़कर 'चुप' होना है। '**न योत्स्ये**' (युद्ध नहीं करूँगा) भी दोष है और '**योत्स्ये**' (युद्ध करूँगा) भी दोष है, इसलिये अर्जुनने कहा—'**करिष्ये वचनं तव**' (गीता १८।७३) 'आपकी आज्ञाका पालन करूँगा'।

× × × ×

नेत्रोंका (इन्द्रियोंका) ज्ञान बुद्धिके ज्ञानके आगे अज्ञान है। जैसे, हवाई जहाज नेत्रोंसे छोटा दीखता है, पर बुद्धिसे बड़ा दीखता है। परन्तु स्वयंके ज्ञानके आगे बुद्धिका ज्ञान भी रद्दी (महत्त्वहीन) हो जाता है।

जो भगवान्‌का भजन नहीं करते, उन्हें मनुष्य नहीं कहकर 'मल-मूत्र बनानेकी मशीन' कहना चाहिये।

नरकोंका दरवाजा लोभ है, पैसा नहीं। साधनमें भी लोभ नहीं करना चाहिये। जो साधन कर सकते हो, वह साधन करो। जो साधन नहीं कर सकते, वह साधन (चुप साधन आदि) मत करो, उसका लोभ मत करो।

समुद्र लहरोंका है या लहरें समुद्रकी हैं—इसकी तरफ न देखकर जल-तत्त्वको देखो। जल-तत्त्व एक है।

× × × ×

असत्‌की सत्ता ही नहीं है; अत: असत्‌का संग होता ही नहीं। जीव सकामभाव करता है, वह सकामभाव ही असत्‌का संग करता है, जीवको बाँधता है। जीव स्वयं असंग है।

कर्मयोग तथा ज्ञानयोग निर्गुणकी तरफ जाते हैं। उत्तरी भारतमें ज्ञानकी बात विशेष चलती है, दक्षिण भारतमें भक्तिकी।

प्रत्येक सम्प्रदायमें निन्दा-अंश त्याज्य है और विधि-अंश ग्राह्य है। साधकके लिये गीतोक्त समग्र ब्रह्मकी बात बढ़िया है।

भगवान्‌ने अपने कानूनमें ही दया भरी हुई है।

भगवान्‌में लगे मनुष्यके द्वारा दुनियाका जितना उपकार होता है, उतना लाखों-अरबों रुपये लगाकर भी उपकार नहीं हो सकता। गोस्वामी तुलसीदासजीने स्वान्त:सुखाय रामायण लिखी, उससे कितने लोगोंको शान्ति मिलती है, कितने लोगोंकी जीविका चलती है, कितने लोग भगवान्‌में लगते हैं!

× × × ×

अभ्याससे एक नयी अवस्था बनती है, तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। तत्त्वकी प्राप्ति उपराम होनेसे होती है। किसीसे भी न राग करे, न द्वेष करे। राग-द्वेष करनेसे उसको हमारा आधा बल मिल जाता है, सत्ता मिल जाती है। जैसे, बालिके सामने जो जाता था, उसका आधा बल बालिको मिल जाता था—ऐसा उसे वरदान प्राप्त था। इसलिये रामजीने उसको छिपकर मारा।

संसारका सुख लेनेके लिये पहले दु:ख चाहिये। सुखके बाद भी दु:ख होता है। सुख भी आदि-अन्तवाला होता है।

× × × ×

परमात्मतत्त्व सबको प्राप्त है। **'वासुदेव: सर्वम्'** स्वत:सिद्ध है, केवल दृष्टि बदलनी है। तत्त्वमें परिश्रम नहीं है। परिश्रममें थकावट होती है। तत्त्वप्राप्तिमें थकावट नहीं होती। तत्त्व स्वतन्त्र है। उसके लिये कुछ भी चिन्तन आदि करेंगे तो परतन्त्रता होगी।

भगवान्‌का नाम, रूप आदि प्यारा, मीठा लगने लगे—यह भक्तिका अंकुर है। भगवान्‌में प्रेम होना भक्ति है।

**** **** ****

हम शरीरको लेकर 'मैं हूँ' कहते हैं। परन्तु 'मैं वही हूँ जो बालकपनमें था'—इसमें स्वरूपकी तरफ लक्ष्य है। 'मैं नहीं हूँ'—ऐसे अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। स्वरूपके सिवाय सबके अभावका अनुभव होता है। **परमात्मतत्त्वके साथ हमारा एक कण और क्षण-जितना भी वियोग नहीं है।**

शरीर ब्रह्माण्डका नमूना है। जैसे ब्रह्माण्डमें परमात्मा हैं, ऐसे शरीरमें आत्मा है—***'सिंह नहिं दीखे, देख बिलाई। यम नहिं दीखे, देख जवाई॥'***

समाधि-अवस्थामें मस्तक सीधा रहता है, नींदमें आगे झुकता है, जड़तामें पीछे जाता है और विक्षेप या स्वप्नमें दायें-बायें झुकता है।

मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है, भोग व संग्रहके लिये नहीं। भोग व संग्रहमें लगनेसे पश्चात्ताप करना पड़ेगा। **जो करनेलायक काम न करे, उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है।**

एक उद्देश्य होनेपर अनुकूल-प्रतिकूल सब सहायक हो जाते हैं। त्यागीकी सेवा दुनिया करती है।

भगवान्‌की तरफ चलनेवालेसे पवित्रता-ही-पवित्रता आती है। उसके द्वारा संसारमात्रका भला होता है; जैसे—सूर्य जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ दिन हो जाता है।

× × × ×

सम्पूर्ण सृष्टिका कारण 'अहम्' है। अहम्‌में ही सम्पूर्ण सृष्टि भरी हुई है। जबतक अहम् है तबतक साधक-साधन-साध्यका भेद रहता है। अहम् न रहनेपर साधक साधन होकर साध्यमें लीन हो जाता है।

× × × ×

न बाहरसे कुछ करें, न भीतरसे। इससे बड़ी

शान्ति, विश्राम मिलता है। यह साधन हाथ लग जाय तो क्रिया भारी लगने लगेगी। सहजावस्था सबको प्राप्त है, पर क्रियाशीलतामें आसक्तिके कारण उसका अनुभव नहीं होता।

साथी और सामानके बिना विश्राम होता है। चिन्तन करनेसे प्रकृतिका संग होता है। जैसे घर पहुँचनेपर फिर चलना नहीं होता, ऐसे यह (तत्त्व) असली घर है, यहाँ चिन्तन आदि कुछ भी करना नहीं होता।

× × × ×

भगवान् विश्वासका विषय हैं, विचारका नहीं। भक्तिका मार्ग विश्वास-मार्ग है। चार बातें हैं—ग्रहण करनेका विषय, त्याग करनेका विषय, जाननेका विषय और माननेका विषय। भगवान् सत्-असत् सब कुछ हैं—यह माननेका विषय है। जानना ज्ञान (विवेक)-मार्गमें होता है। ग्रहण और त्याग शास्त्रके अनुसार होना चाहिये।

विष भी भगवान् हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं कि विष खा लें।

पूर्व युगोंके विधि-विधान कल्याणके लिये होते थे। परन्तु कलियुगमें वही विधि-विधान होते हैं; जिनसे नरकोंकी प्राप्ति हो जाय!

× × × ×

विचार करें, आपकी दृष्टिमें कोई चीज स्थिर रहनेवाली दीखती है क्या? जिसपर आप भरोसा करो, आश्रय लो, ऐसी कोई चीज स्थिर दीखती है क्या? किसके भरोसे निश्चिन्त बैठे हो? आप सदा रहना चाहते हो या मरना चाहते हो? रहना चाहते हो तो क्या शरीरसे रह जाओगे? मिटनेवालेका सहारा कबतक टिकेगा? कम-से-कम जो चीजें नाशवान् या बिछुड़नेवाली दीखती हैं, उनका भरोसा, विश्वास छोड़ दो। क्या हम सदा बोलते ही रहेंगे? क्या हमारी सुनने-सुनाने, चलने आदिकी सामर्थ्य सदा रहेगी? यह तो सब बन्द होगा! **जब यह विश्वास हो जायगा कि कोई सहारा रहनेवाला नहीं है, तब भगवान्का सहारा अपने-आप होगा!** नाम-जप अपने-आप होगा।

किसी तरहसे भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़ लो। नाम-जप करो तो जबानसे, पुस्तक पढ़ो तो नेत्रोंसे, चिन्तन करो तो मनसे भगवान्के साथ सम्बन्ध जुड़ गया।

× × × ×

मेरे विचारसे गीताका सर्वोपरि सिद्धान्त है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७।१९)। इसका अनुभव करनेवाले महात्माको भगवान्ने अत्यन्त दुर्लभ बताया है—'**स महात्मा सुदुर्लभः**' (गीता ७।१९) और अपनेको सुलभ बताया है—'**तस्याहं सुलभः**' (गीता ८।१४)। भगवान् प्रसन्न होते हैं तो मानवशरीर देते हैं, जिससे जीव नरकोंमें भी जा सकता है! पर महात्मा तो भगवान्की ही प्राप्ति कराते हैं। उस महात्माका स्वरूप बताया है—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

पेड़ोंमें चाहे आम न लगे हों तो भी उसे आमका बगीचा कहते हैं। खेतमें बाजरी न होनेपर भी उसे बाजरीकी खेती कहते हैं। इसी तरह भगवान्ने अपने-आपको सबका बीज बताया है—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
(गीता ७।१०)

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
(गीता ९।१८)

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
(गीता १०।३९)

भगवान्ने सृष्टि-रचना की तो कहींसे मसाला मँगवाया? वे खुद ही संसार बन गये—'**एकोऽहम् बहुः स्याम्**'। आदि और अन्तमें बीज रहता है। ऐसे ही सृष्टिके आदि और अन्तमें भगवान् ही है, तो फिर बीचमें दूसरा कहाँसे आया? एक ही जल भाप, कोहरा, वर्षा, ओले, बर्फ आदि अनेक रूपोंसे हो जाता है, ऐसे ही एक परमात्मा अनेक रूपोंसे हो रहे हैं। सोनेसे बने अनेक गहनोंमें सोनेके सिवाय क्या है? परमात्मासे बने संसारमें सब कुछ परमात्मा ही

हैं। सोनेसे बनी विष्णुकी मूर्ति हो या कुत्तेकी, सोनेमें क्या फर्क है? ऐसे ही संसारमें कोई महात्मा है, कोई दुष्ट, पर परमात्मतत्त्व सबमें एक ही है।

श्रोता—'वासुदेवः सर्वम्' होते हुए भी अविनाशी-विनाशीका भेद कहाँसे आया?

स्वामीजी—आपके यहाँसे आया! यह भेद मनुष्यने पैदा किया है और वही इसे मिटा सकता है।

× × × ×

करना हो तो सेवा करो। विचार करो कि सबका भला, सुख, हित कैसे हो? अपने सुख, स्वार्थके लिये तो पशु-पक्षी भी लगे हुए हैं, पर यह मनुष्यका काम नहीं है। सबसे दुर्लभ चीज—मनुष्यशरीर तो हमें मिल गया, अब और क्या चाहिये? अब केवल सेवा और भजन करो।

× × × ×

भगवान्‌की विशेष कृपासे मनुष्यशरीर मिलता है। मनुष्य- शरीर, मुमुक्षा और सत्संग—ये तीनों दुर्लभ हैं। सत्संग मिल जाय, भगवान्‌की याद आ जाय तो इसे भगवान्‌की विशेष कृपा समझनी चाहिये।

एक-दूसरेको भगवान्‌की याद कराते रहें, भगवान्‌की चर्चा करते रहें। दीपक तले अँधेरा रहता है, पर दो दीपक आमने-सामने रख दें तो अँधेरा नहीं रहता।

जो बीत गया है, उसे होनहार ही समझना चाहिये और जो नहीं आया है, उसपर विचार करना चाहिये—'हेयं दुःखमनागतम्' (योगदर्शन २।१६)।

× × × ×

शास्त्र और सन्तोंकी वाणीमें नामजप तथा सत्संगकी बड़ी महिमा आयी है। सत्संगका फल तत्काल दीखता है—***'मज्जन फल पेखिअ ततकाला'*** (मानस, बाल० ३।१)। **शास्त्रोंको पढ़नेसे उतना ज्ञान नहीं होता, जितना सत्संगसे होता है। शास्त्र पढ़नेवालेसे भूल हो सकती है, सत्संग करनेवालेसे नहीं।** सत्संग करनेसे शास्त्र और तरहके दीखने लगते हैं। सत्संग करनेके बाद रामायण, भागवत आदि ग्रन्थ विलक्षण दीखने लगते हैं। सत्संगसे गहरी बातोंका ज्ञान होता है और मुफ्तमें (बिना उद्योग किये) होता है। सत्संगमें कमाया हुआ धन मिलता है। सत्संगसे जल्दी और विशेष लाभ होता है। कारण कि **ज्यादा संसार कानोंके द्वारा (सुननेसे) भीतर प्रविष्ट हुआ है; अतः सत्संग सुननेसे ही संसार बाहर निकलेगा।**

× × × ×

मनुष्यशरीर तो प्राप्त हो गया, अब केवल 'मेरा कल्याण हो जाय'—यह इच्छा हो जाय। मुझे तो साधन ही करना है—यह भाव हर समय अटल रहना चाहिये। कोई भी काम साधन-विरुद्ध नहीं होना चाहिये। निषेधात्मक साधन तेज होता है। **साधककी खास बात है—बुराईका त्याग करना।** न बुरा चाहें, न बुरा चिन्तन करें, न बुरा कहें, न बुरा करें। हमारे द्वारा किसीका भी बुरा न हो। इस विषयमें सावधान रहनेकी बड़ी आवश्यकता है। भगवान्‌से भी प्रार्थना करो कि हे नाथ! मेरे द्वारा किसीका अहित न हो जाय। किसीका अहित न करनेसे हित करना शुरू हो गया! किसीका भी अहित न करना साधकमात्रका काम है।

निषेधात्मक साधनसे जल्दी कल्याण होता है। किसीमें बुराई दीखे तो विचार करें कि ये भगवान्‌के लाड़ले बेटे हैं, ज्यादा लाड़-प्यारसे बिगड़ गये हैं। अथवा यह विचार करें कि भगवान् जैसा रूप धारण करते हैं वैसा ही काम करते हैं। जैसे भगवान् नरसिंह प्रह्लादजीको चाटते हैं; क्योंकि पशु चाटते हैं। भगवान् कलियुगमें कलिकी लीला करते हैं। हम बुद्धको भगवान् मानते हैं, पर उनके सिद्धान्त थोड़े ही मानते हैं!

दूसरोंमें जो दोष दीखते हैं, वे आगन्तुक हैं। जैसे, चेहरेपर साबुन लगा हो तो उसे देखकर हमें दुःख नहीं होता—***'सब जग ईस्वररूप है, भलो बुरो नहिं कोय'।***

× × × ×

उत्कट अभिलाषा न होनेसे ही परमात्माकी प्राप्ति कठिन हो रही है। उत्कट अभिलाषा हो तो परमात्मप्राप्तिमें

देरीका कोई कारण नहीं है। हमारे सम्मुख होनेमें ही कमी है। इस कमीका कारण है—भोग और संग्रहकी इच्छा। परमात्मप्राप्तिमें देरी नहीं है, पर हमारी लगनकी कमीसे देरी हो रही है।

संसारकी प्राप्ति इच्छाके अधीन नहीं है, परमात्मप्राप्ति इच्छाके अधीन है। **उत्कट इच्छासे भी परमात्मा मिलते हैं और कोई भी इच्छा न रहनेसे भी परमात्मा मिलते हैं।**

× × × ×

शिष्यके धनका हरण करनेवाले गुरु तो बहुत हैं, पर उसके हृदयके तापका हरण करनेवाले गुरु दुर्लभ हैं—

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।
तमेकं दुर्लभं मन्ये शिष्यहृत्तापहारकम्॥

जो परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका ठीक मार्ग बता दें, वे गुरु हैं। **खास गुरु वह है, जिसके वचनोंसे हम संसार, जीव और परमात्मा—तीनोंको जान जायँ। इन तीनोंको न जानना ही अंधकार है। इस अंधकारको जो मिटा दे, वह गुरु है।** जगत् और जीवको तो जान सकते हैं, पर परमात्माको जान नहीं सकते, प्रत्युत मान ही सकते हैं।

सूर्य तो बाहरका अंधकार दूर करता है, पर गुरु वह होता है, जो हृदयका अंधकार दूर कर दे।

× × × ×

भगवान्‌के शरण हो जायँ। अपना सब कुछ प्रभुमें मिला दें, उसीमें तल्लीन हो जायँ। जैसे, गुरुभक्त गुरुमें ही तल्लीन हो जाता है। हम सदासे ही भगवान्‌के हैं। हम सदासे ही भगवान्‌के शरण हैं। इसकी पहचान है कि क्या हमने अपनी इच्छासे यह जन्म लिया है? शरणागतिमें परिश्रम नहीं करना पड़ता, यह नींद लेनेके समान सुगम है। पर इसमें अभिमान बाधक है।

× × × ×

एक दिन यह सब कुछ छोड़कर जाना पड़ेगा। संसारमें हरेक चीजकी आयु है। यहाँ कोई भी चीज रहनेवाली नहीं है। एक दिन सबका वियोग होगा। मिलना अनित्य है, पर बिछुड़ना नित्य है।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥

(वाल्मीकि० २। १०५। १६)

'समस्त संग्रहोंका अन्त विनाश है, लौकिक उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगोंका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है।'

अतः सबकी सेवा कर दें। थोड़े समयके लिये गड़बड़ी न करें। सेवा करनेसे वस्तु घटेगी नहीं। आशा छोड़ दें तो चीजें अपने-आप आयेंगी, व्यवहारमें आनेवाली चीजकी कमी नहीं रहेगी।

धनी आदमी ज्यादा रोगी होते हैं। वस्तुएँ तो रहेंगी, पर उनको भोगनेकी शक्ति नष्ट हो जायगी।

अपने मनकी होनेकी अपेक्षा भगवान्‌के मनकी होनेमें ही हमारा कल्याण है।

× × × ×

जो संसारका सुख चाहता है उसके लिये संसार दुःखरूप है और जो संसारकी सेवा करता है उसके लिये संसार भगवद्‌रूप है। सुखके भोगीको दुःख भोगना ही पड़ेगा। **यदि पहले दुःख न हो तो संसारका सुख हो ही नहीं सकता।** प्यासके बिना जलसे सुख नहीं होगा। धनके अभावका दुःख होनेसे ही धन सुख देता है। संसारका सुख दुःखके बिना हो ही नहीं सकता। सुखका परिणाम दुःख है ही।

× × × ×

सच्ची बातको मान लेनेका नाम 'श्रद्धा' है और सच्ची बातको जान लेनेका नाम 'ज्ञान' है। शरीरके साथ हमारा सम्बन्ध माना हुआ, पैदा किया हुआ और मिटनेवाला है—यह सच्ची और निःसन्देह बात है। संसारका सम्बन्ध सदासे नहीं है और सदा साथ नहीं रहेगा। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो जन्मा है, पर मरेगा नहीं। दूसरोंकी सेवा करो, पर दूसरे हमारी सेवा करें—यह आशा मत रखो।

× × × ×

भगवान्‌में अपने-आपको लगाना करणनिरपेक्ष है और मन-बुद्धिको लगाना करणसापेक्ष है। दूसरी सामग्रीसे काम न लेकर अपने-आप करना करणनिरपेक्ष होता है। स्वयंको बदलना करणनिरपेक्ष है। जहाँ स्वयं होता है, वहाँ करणकी जरूरत नहीं होती। करणसापेक्षमें अभ्यास होता है। अभ्याससे कल्याण नहीं होता। अभ्यास कभी करणरहित हो सकता ही नहीं। **अभ्यास करनेवाला ही योगभ्रष्ट होता है।**

× × × ×

यदि अपने कर्तव्यका दृढ़तासे पालन करें तो कल्याण हो जायगा, अलग साधन करनेकी जरूरत नहीं है। कर्तव्यपालनमें जितनी अधिक तत्परता होगी, उतनी जल्दी सिद्धि होगी। विधिकी अपेक्षा भी निषेधका ज्यादा आदर करना चाहिये। **विधिकी कमी तो माफ हो जायगी, पर निषेध माफ नहीं होगा।** इसलिये निषेधात्मक साधन तेज होता है।

× × × ×

मिली हुई वस्तु अपनी नहीं है और बिछुड़नेवाली है। **न जीनेकी इच्छा करे, न मरनेकी। इच्छा कोई न करे।** अनुकूलताकी इच्छा करनेसे अनुकूल परिस्थिति बनी रहेगी—यह कोई नियम नहीं है। **जितना सुख भोगेंगे, उतना ही स्वभाव बिगड़ेगा।**

सेवा और प्रेमकी भूख भगवान्‌को भी है।

× × × ×

वस्तुओंको भगवान्‌के अर्पण करनेका अर्थ है—मेरापन छोड़ देना अर्थात् उसे अपना न मानना। अर्पण करनेसे आपकी एक तोलाभर वस्तु घटेगी नहीं, पर निहाल हो जाओगे!

भक्तमें भाव (श्रद्धा-विश्वास)-की और ज्ञानीमें विचार (विवेक)-की प्रधानता होती है। एक राजाने महल बनाया। उसमें कारीगरीके लिये दो आदमी बुलाये गये। राजाने पूछा तो एकने कहा कि मैं चित्रकार हूँ, और दूसरेने कहा कि मैं विचित्रकार हूँ। राजाने दोनोंको दीवारपर चित्र बनानेके लिये कह दिया। दोनोंने कमरेके बीचमें परदा लगवा दिया। एक दीवारपर चित्रकारने रंग-बिरंगे चित्र बनाने शुरू कर दिये। उसके सामनेकी (परदेके पीछेकी) दीवारपर विचित्रकारने दीवारको साफ करना शुरू कर दिया। चित्रकारने तो दीवारको रंग-बिरंगे चित्रोंसे सजा दिया और विचित्रकारने दीवारको दर्पणकी तरह साफ कर दिया। जब बीचका परदा हटाया गया तो चित्रकारके बनाये चित्र सामनेकी दीवारपर प्रतिबिम्बित हो उठे! भक्त चित्रकार है, जो जगत्‌को भगवत्स्वरूप देखता है और ज्ञानी विचित्रकार है, जो जगत्‌का निषेध करके ब्रह्मको देखता है। जो संसारसे सुख चाहता है, वह न चित्रकार है, न विचित्रकार है। सुख चाहनेवालेके लिये यह संसार दुःखालय है और सेवा करनेवालेके लिये परमात्माका स्वरूप है।

× × × ×

सब संसार साक्षात् परमात्माका स्वरूप है। परन्तु जो लोग मायासे मोहित हैं, उन्हें इसमें गुण-दोष दीखते हैं। गुण-दोष न देखकर भगवान्‌को देखें तो भगवान् प्रकट हो जायँगे।

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(मानस ७।४१)

न गुण देखे, न दोष देखे, प्रत्युत परमात्माको देखे। कोई पाप-अन्याय करता दीखे तो समझे कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं अथवा भगवान्‌के लाड़ले हैं, ज्यादा लाड़से बिगड़े हुए हैं!

विवेकज्ञान आरम्भ है, स्वरूपज्ञान अन्त है। विवेकका फल वैराग्य बताया गया है। सत्-असत्‌को अलग-अलग जानना विवेक है। संसारका ज्ञान होनेसे संसारसे वैराग्य हो जाता है।

× × × ×

संसारका काम तो कोई भी कर लेगा, पर अपना कल्याण कौन करेगा? यह काम सबसे पहले करनेका है। इसीके लिये मानवशरीर मिला है। कुछ करना, जानना और पाना बाकी न रहे—इस पूर्णताके

लिये शरीर मिला है। यह काम कठिन नहीं है, सुगम है। इसके सब अधिकारी हैं। इसमें सावधान रहें। सावधानी ही साधना है।

× × × ×

अत्यन्त विरक्त ज्ञानयोगका, संसारमें फँसा कर्मयोगका और न विरक्त, न आसक्त भक्तियोगका अधिकारी है—ऐसा भागवतमें आया है। भक्तियोगमें भगवान्‌के शरण हो जाना मुख्य है। हृदयसे भगवान्‌का हो जाय। सब कर्म भगवान्‌के लिये ही करे। हम संसारके नहीं हैं; अतः मान-आदर, प्रशंसा-निन्दाका असर नहीं पड़ना चाहिये।

जैसे फैक्टरीमें काम करनेवाला व्यक्ति माँ-बापका होते हुए ही कर्मचारी है, ऐसे ही हम भगवान्‌के होते हुए ही ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि हैं। जैसे—भगवान् अजन्मा होते हुए ही अवतार लेते हैं—**'अजोऽपि सन्'** (गीता ४।६)। सब कार्य करते हुए भी उनका ईश्वरपना ज्यों-का-त्यों रहता है। पिताकी आज्ञा मानते हुए भी भगवान् श्रीरामका पितापर शासन ज्यों-का-त्यों रहता है। इसी तरह सब कार्य करते हुए भी हमारा भगवान्‌से अपनापना नहीं छूटता। सबसे पहले हम भगवान्‌के हैं। माता-पिताके होनेसे पहले भी हम भगवान्‌के हैं। **संसारके तो हम बने हैं, पर भगवान्‌के स्वतः हैं।**

× × × ×

जो जीवके कल्याणमें बाधा देता है, भगवान्‌की भक्तिमें बाधा देता है, उसे भगवान् क्षमा नहीं करते। जो भगवान्‌की तरफ जानेमें बाधा दे, वह भगवान्‌का वैरी होता है। भक्तके प्रति किया अपराध भगवान् माफ नहीं करते—

जो अपराधु भगत कर करई।
राम रोष पावक सो जरई॥

(मानस, अयोध्या० २१८।३)

जो दूसरेको भगवान्‌के नाम, कीर्तन, सत्संग आदिमें लगाता है, उससे भगवान् बहुत राजी होते हैं।

भगवान्‌को अपने बलका अभिमान अच्छा नहीं लगता, तभी कहा है—***'निरबल के बल राम'***।

जीवमात्रका स्वभाव है—किसी-न-किसीका आश्रय लेना। सबसे बढ़िया आश्रय भगवान्‌का है। अन्य कोई आश्रय टिकनेवाला नहीं है।

× × × ×

ज्ञानयोग विवेक-मार्ग है। ज्ञानयोग उनके लिये है जो अत्यन्त विरक्त हों, जो ब्रह्मलोकतकके सुखोंको न चाहें। भक्तियोग विश्वास-मार्ग है। सब कुछ भगवान् ही है—ऐसा विश्वास कर ले। भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है और सुगम भी है। ज्ञानी कहता है कि जो दीखता है, वह नाशवान् है। भक्त कहता है कि भगवान् ही अनेक रूपोंमें दीखते हैं। ज्ञानमार्गमें गुरु ज्ञान देता है, भक्तिमार्गमें भगवान् ज्ञान देते हैं।

× × × ×

प्रारब्ध भोगमें हेतु है, कर्ममें नहीं। सुखासक्तिका त्याग साधकके लिये बहुत आवश्यक है। सुखासक्ति बहुत बाधक है। भोग तथा संग्रहसे भी सूक्ष्म मान-बड़ाईका सुख है।

द्वैत-अद्वैत साधन हैं। तत्त्व न द्वैत है, न अद्वैत है।

सन्त-महापुरुषोंके संग (सत्संग)-से रसबुद्धि दूर हो जाती है।

शरीरमें मैं-मेरापन रहते हुए भक्ति शुरू हो सकती है, ज्ञान शुरू नहीं हो सकता।

× × × ×

अपने अनुभवकी तरफ ध्यान दें तो भगवान्‌में प्रेम और संसारसे वैराग्य स्वतः हो जायगा। हमारा अनुभव है कि शरीर-संसार प्रतिक्षण बदल रहे हैं, कभी एक समान नहीं रहते। इनके साथ हम कबतक रहेंगे? शरीर जी नहीं रहा है, हरदम मर रहा है। शरीर बना रहे—यह हमारे अनुभवसे विरुद्ध है। हमें उस चीजको लेना है जो सदा हमारे साथ रहे। जो रहनेवाला है उससे प्रेम करो, उसको अपना मानो। जो जानेवाला है उसकी सेवा करो, उसको सुख

पहुँचाओ, उससे अच्छे-से-अच्छा बर्ताव करो। सब संसार जानेवाला है। जानेवालेकी सेवा करो और रहनेवालेको याद करो। जानेवालेसे आशा मत रखो, नहीं तो रोना-पछताना पड़ेगा।

जो माता-पिताकी सेवा नहीं करता, वह भगवान्‌की सेवा क्या करेगा! सबकी सेवा करो, अपनी इज्जत मत खोओ। सबसे अच्छा बर्ताव करना अमृतका विस्तार करना है और बुरा बर्ताव करना विषका विस्तार करना है। बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करके उनकी प्रसन्नता लो। कुछ साथ नहीं जायगा, पर स्वभाव साथ जायगा। इसलिये स्वभावको शुद्ध बनाओ। **सन्त आता है तो सब लोग प्रसन्न हो जाते हैं, डाकू आता है तो सब दुःखी हो जाते हैं। केवल स्वभावका फर्क है!**

× × × ×

नामजप सभी प्रकारके योगियोंके लिये आवश्यक है। कलियुगमें नामजपका विशेष प्रभाव है; क्योंकि कलियुगमें दूसरे साधन ठीक तरहसे नहीं होते।

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू।
राम नाम अवलंबन एकू॥

(मानस, बाल० २७।४)

भगवान्‌ने सारी शक्ति नाममें रख दी है। चैतन्य महाप्रभुने भी कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥

(शिक्षाष्टक २)

'भगवान्‌ने अपने बहुत प्रकारके नामोंका प्रचार किया है। उन नामोंमें भगवान्‌ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति भी अर्पित (स्थापित) कर दी है। उन नामोंके स्मरणके विषयमें समय-सम्बन्धी कोई नियम भी नहीं है। हे भगवन्! आपकी तो ऐसी कृपा है, पर मेरा ऐसा दुर्भाग्य है कि आपके ऐसे नाममें भी मेरा अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ!'

नामजपके सभी अधिकारी हैं। अतः हर समय नामजप करते रहें और मनसे प्रार्थना भी करते रहें कि 'हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं।' नामजप बीमा है। नामजप करते रहें तो फिर कभी मरें, कल्याण हो जायगा।

कलियुगमें दानकी भी महिमा है। अपनी शक्तिके अनुसार सभी दान कर सकते हैं।

× × × ×

एक परमात्मा हैं और एक उनकी शक्ति है। जैसे स्वयं परमात्माका अंश है और मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ-शरीर उसकी शक्ति है। सांसारिक कार्यमें शक्ति काम आती है। भगवान् कहते हैं—'**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्**' (गीता ९।१०) 'प्रकृति मेरी अध्यक्षतामें चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌की रचना करती है।' उस शक्तिको परमात्मासे अलग भी नहीं कह सकते और अभिन्न भी नहीं कह सकते। जैसे, हमारी शक्ति कम-ज्यादा होती है, पर हम ज्यों-के-त्यों रहते हैं। हम शक्तिके बिना रह सकते हैं, पर शक्ति हमारे बिना नहीं रह सकती। इसलिये अपनी शक्तिको हम अपनेसे अलग करके नहीं दिखा सकते। शक्तिका स्वतन्त्र अस्तित्व सम्भव नहीं है।

सुषुप्तिमें 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'—यह अनुभव सबको होता है। कारण कि सुषुप्तिमें अहम् अविद्यामें डूब जाता है। अज्ञानी और ज्ञानीकी सुषुप्तिमें भेद होता है। अज्ञानी तो गुणोंका संग रहनेसे स्वयं अविद्यामें लीन होता है, पर ज्ञानी गुणातीत होनेसे स्वयं लीन नहीं होता।

'मैं हूँ'—इसमें 'हूँ' सत्ता है और 'मैं' एकदेशीय है, व्यक्तित्व है। अहम् इतना सूक्ष्म है कि जिसके साथ लगा दो, वैसा ही बन जाता है। ब्रह्मके साथ लगा दो तो '**अहं ब्रह्मास्मि**' (मैं ब्रह्म हूँ) हो जाता है। अहम्‌के कारण ही दार्शनिकोंमें मतभेद होता है। सब भेद अहम्‌के कारण हैं। अहम्‌के बाद स्वयं (चेतन तत्त्व) है। अहम् प्रकृतिका अंश है, स्वयं

परमात्माका। सुषुप्तिमें अहम्‌के बिना आप रहते हैं, पर आपके बिना अहम् नहीं रहता। स्वयं आटा है और शरीर (जड़ता) रेती है। आटेमें रेती मिलाओगे तो वह रोटीके काम नहीं आयेगा।

× × × ×

भगवान्‌की बड़ी कृपा होती है, तब सत्संग मिलता है। अभी भयंकर कलियुग आ रहा है; अतः शीघ्र लाभ उठा लेना चाहिये। भोगेच्छाका ताण्डव नृत्य शुरू हो रहा है। गर्भपात-जैसे महापाप हो रहे हैं। ऐसे समयमें जो भगवान्‌की तरफ रुचि रखते हैं, वे बड़भागी हैं, दर्शन करनेयोग्य हैं। ऐसी रुचिवालोंका अब अकाल पड़ रहा है।

भगवान् अन्धे होकर कृपा करते हैं। देखकर कृपा करें तो मुश्किल हो जाय!

× × × ×

सत्संगमें आये हैं, फिर चले जायँगे—यही भाव घरमें रहते हुए भी रखें। यहाँसे जानेका समय तो निश्चित है, पर घरसे कब जाना पड़े, इसका कोई पता नहीं। यह मृत्युलोक है। यहाँ हर समय मरना खुला है। हम यहाँ रहनेवाले नहीं हैं—इसकी हर समय जागृति रहे तो भोग और संग्रहकी रुचि मिट जायगी।

× × × ×

‘**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**’ (गीता २। ४७) ‘कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं’—यह कर्मयोगकी खास बात है। सामने जो कर्तव्य आ जाय, उसे तत्परतापूर्वक करें। फलेच्छाका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करें। शास्त्रविहित कर्म करना है। न अनुकूलताके आनेकी इच्छा करें, न प्रतिकूलताके जानेकी। संक्षेपमें कहें तो ‘करनेमें सावधान, होनेमें प्रसन्न’! जिससे किसीका अहित हो, वह कर्म कभी न करें।

सबका स्वरूप शुद्ध है। अन्तःकरण ही अशुद्ध होता है, स्वरूप कभी अशुद्ध होता ही नहीं। यदि स्वरूपमें अशुद्धि होती तो उसका कभी अभाव नहीं होता—‘**नाभावो विद्यते सतः**’। स्वयं (स्वरूप) तीनों शरीरोंसे अलग है। स्वयंको सभी अवस्थाओंके भाव और अभाव दोनोंका अनुभव होता है। अतः स्वयं तीनों शरीरोंसे तथा उनकी अवस्थाओंसे सर्वथा अलग है। स्वयंके अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। अपना अभाव हो जाय—ऐसी मुक्ति कौन चाहेगा?

× × × ×

मनुष्यजीवन इसलिये मिला है कि दुःख सदाके लिये मिट जाय और महान् आनन्दकी प्राप्ति हो जाय। अतः हरदम सावधान रहें। सावधानी ही साधना है। असावधानी अर्थात् प्रमाद ही मृत्यु है—‘**प्रमादं वै मृत्युः**’ (महा०, उद्योग० ४२। ४)। करनेलायक कामको न करना अक्रिय प्रमाद है। न करनेलायक कामको करना सक्रिय प्रमाद है। साधकका काम है—हरदम सावधान रहना। **विवेकी पुरुष जागता है। साधक सोता है। शेष सब मुर्दा हैं।** स्वरूपके प्रमादसे ही मृत्यु होती है। स्वरूपकी जागृति रहे तो कैसे मरेगा?

हृदयमें प्रेम रहे, बुद्धिमें विवेक रहे और शरीर उपकारमें लगा रहे।

× × × ×

न चेतनमें फर्क पड़ता है, न पदार्थोंमें, केवल स्वभावमें फर्क पड़ता है।

मूलमें भगवत्कृपासे सत्संग मिलता है। भगवान्‌की कृपामें विषमता नहीं है। जो उसके सम्मुख होता है, उसे विशेष लाभ होता है। ज्ञानीपर भी कृपा होती है, पर वह उधर कम देखता है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—***‘मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी’*** (मानस, अरण्य० ४३। ४)।

शरणागति सुगम भी है और सर्वोत्तम भी। **आजकल भक्तिके अधिकारी अधिक हैं। ज्ञानकी बातें करनेवाले तो बहुत हैं, पर अधिकारी कम हैं।** भोगासक्ति बढ़ रही है।

× × × ×

परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं—ऐसा मान लें। जैसे हम सत्संगके लिये ही यहाँ आये हैं, ऐसे ही मान लें कि हम भगवान्‌के लिये ही संसारमें आये हैं। **परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं, उनकी प्राप्तिके लिये ही हम यहाँ आये हैं, उनकी प्राप्तिके लिये ही बैठे हैं और उनके होकर ही रहना है—ये चार बातें मान लें।**

हम जहाँ भी रहें, भगवान्‌के होकर ही रहेंगे; जैसे—पत्नी सदा पतिकी होकर ही रहती है, चाहे पीहरमें क्यों न रहे। हमारा गोत्र 'अच्युतगोत्र' है।

× × × ×

वर्तमान समय बहुत भयंकर आया है। **मनुष्योंको पैदा न होने देना और पशुओंको मार देना—यह देशको नष्ट करनेका तरीका है।** अपने कल्याणमें तेजीसे लग जाना चाहिये। नाम-जप, कीर्तन, सत्संगमें लगे रहें। इससे धर्मका कुछ बचाव होगा।

× × × ×

भागवतमें आया है कि निर्वाहसे अधिक वस्तुको जो अपनी मानता है, वह चोर है*। निर्वाहसे अधिक चीज अपनी है ही नहीं। जितने-से निर्वाह हो जाय, उतनी ही चीज अपनी है। अधिक चीज दूसरोंकी है; अतः उसकी चोरीकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। दूसरी बात, हमारा धन जो ले गया, वह उसीका था, हमारा नहीं था। परन्तु वह दण्डका भागी होगा ही। यहाँसे बच जायगा तो परलोकमें दण्ड मिलेगा। कारण कि चीज तो उसीकी थी, पर उसने अन्यायपूर्वक (चोरी करके) ली। बेईमानीसे लिया गया धन रहेगा नहीं, जायगा ही। संग्रह करना पाप नहीं है। संग्रहकी इच्छा, लोभ बाधक है। चोरीका धन मोरीमें जाता है। धन तो यहीं रह जायगा, पर पाप साथ चलेगा।

जो चीज वास्तवमें अपनी है, उसे कोई ले जा सकता ही नहीं—'**यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्**'। ईमानदार आदमीकी चीज कोई खा सकता ही नहीं। अगर चोरी गये धनकी चिन्ता हो तो उस धनको हृदयसे भगवान्‌के अर्पण कर दो। दान की हुई चीजका दुःख नहीं होता। हमारा दुःख मिट जाय, इसीके लिये सत्संग करते हैं। प्रारब्ध तो मिटेगा नहीं, पर दुःख मिट जायगा। यह शरीर भी एक दिन चला जायगा, फिर धन जानेकी चिन्ता क्या करें!

मिली हुई वस्तुको अपना मानना बेईमानी है। दुःख बेईमानीका होता है। बेईमानी छोड़ दो, वस्तुको अपना मत मानो तो दुःख मिट जायगा।

बाहरकी परिस्थिति देखना सुख-दुःखकी कसौटी नहीं है। त्यागी सन्तके पास बाहरकी वस्तुएँ नहीं होतीं तो क्या वह दुःखी होता है? धनी व्यक्तिके पास लाखों-करोड़ों रुपये होते हैं, पर वह दुःखसे जलता रहता है। **आजकल धन पासमें होनेपर भी लोग सुखी नहीं हैं; क्योंकि बेईमानी आ गयी।** पहले लोग दूसरेके हककी कोई चीज नहीं लेते थे तो वे सुखी थे।

मनसे किसी भी वस्तुको अपना मत मानो। एक दिन वस्तु, साथी, सामान आदि सब छोड़ना पड़ेगा। अतः जो काम जरूरी हो, उसे पहले कर दो। जो जरूरी नहीं है, उसे छोड़ दो। सबसे सम्बन्ध छोड़कर जितनी देर बैठ सको, बैठ जाओ। **अन्तमें सबसे रहित होना है तो अभी सबसे रहित होकर चुप होकर बैठ जाओ।** फिर देखो विलक्षणता! अपने शरीरसे भी सम्बन्ध मत मानो। वस्तु, व्यक्ति और काम-धंधा—तीनोंसे रहित होकर चुप हो जाओ।

× × × ×

संसारमें रचे-पचे लोग परमात्माको नहीं जान सकते, संसारको भी नहीं जान सकते। संसारसे अलग होकर ही संसारको जान सकते हैं। परमात्मासे अभिन्न होकर ही परमात्माको जान सकते हैं।

---

*यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्। अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥ (श्रीमद्भा० ७।१४।८)

'मनुष्योंका अधिकार केवल उतने ही धनपर है, जितनेसे उनकी भूख मिट जाय। इससे अधिक सम्पत्तिको जो अपनी मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये।'

संसारसे अलग होनेसे वैराग्य होता है। वास्तवमें हम संसारसे अलग हैं और परमात्मासे अभिन्न हैं। शरीरके साथ सम्बन्ध मानते रहनेसे भक्ति तो हो सकती है, पर ज्ञान नहीं हो सकता। **ज्ञानमार्गमें विवेक और वैराग्य आवश्यक है, अन्यथा साधक बातें सीख जायगा।**

× × × ×

भगवान् और उनके भक्त बिना स्वार्थके सबका हित करनेवाले हैं। भगवान् इस रीतिसे देते हैं कि लेनेवालेको वह चीज अपनी ही मालूम देती है। भगवान्के दिये शरीरको मनुष्य 'मेरा' कहना दूर रहा, 'मैं' मान लेता है। सम्पूर्ण दोष, आसुरी-सम्पत्ति इस देहाभिमानसे ही आती है।

जबतक राग रहता है, तबतक शान्ति नहीं मिलती। जिसमें हमारा राग होता है, उसके हम पराधीन हो जाते हैं। **लेनेकी इच्छावाला दूसरोंका हित नहीं करता, प्रत्युत व्यापार करता है।** दूसरोंका हित चाहनेवालेमें भोग व संग्रहकी इच्छा नहीं होती। उसकी सब सम्पत्ति दूसरोंके हितके लिये होती है।

भगवत्प्राप्तिमें मनुष्यमात्र अधिकारी है। अनधिकारी वही है, जो भगवान्को नहीं चाहता।

बच्चा माँको किसी नामसे पुकारे, माँ तो उसको अपना बेटा ही मानती है और बच्चा उसको माँ ही मानता है। बच्चा माँको 'बाई' कहे तो माँ उसे भाई नहीं मानती! ऐसे ही भगवान्को किसी भी नामसे पुकार सकते हैं।

× × × ×

चित्तमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक न होना समता है। मनचाही होनेमें प्रसन्नता न हो और मनचाही न होनेमें दुःख न हो। इस सुख-दुःखको समान करना है। **विषमता ही संसार है।** समता परमात्माका स्वरूप है। बाहरकी विषमता हमारेतक न पहुँचे। कोई गाली दे तो उसे ले नहीं—यह समता है। प्रकृतिकी सम-अवस्थामें प्रलय होता है और विषम-अवस्थामें सृष्टि होती है।

सुखी-दुःखी होनेवाला भोगी है और सम रहनेवाला योगी है। परिस्थिति आदिका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत सुखी-दुःखी होना दोषी है। भोगी सदा सुखी नहीं रहता, पर समतावाला योगी सदा सुखी रहता है। **संसारको ठीक करना हाथकी बात नहीं है, पर अपनेको ठीक कर लो—यह हाथकी बात है।**

× × × ×

भगवान् दूर नहीं हैं। वे 'मैं हूँ' से भी नजदीक हैं! 'मैं' प्रकृतिका अंश है। 'मैं'को पकड़नेसे हम थोड़े-से दूर हैं। 'मैं'को छोड़ दें तो भगवान्के नजदीक हो जायँगे।

संसारके सम्बन्धसे कोई सुखी नहीं हो सकता। निर्मम-निरहंकार होनेसे ही शान्ति मिलेगी। **चाहे किसी मार्गसे चलो, कोई भी साधन करो, अहंता-ममता छोड़नी ही पड़ेगी।**

खेतीमें जैसा बीज बोयेंगे, वैसी ही खेती होगी। ऐसे ही जैसी चीज दानमें देंगे, वैसा ही मिलेगा। इसलिये दान करना हो तो बढ़िया चीज दें। कर्मयोगमें दूसरेकी सेवाके लिये बढ़िया चीजका त्याग होगा। **कल्याण करना हो तो त्याग करना पड़ेगा।** त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है। संसारमें उसी व्यक्तिका ज्यादा आदर होता है, जिसमें त्याग होता है। **स्वार्थ और अभिमानका त्याग किये बिना मनुष्य ऊँचा नहीं बन सकता।**

परमार्थतत्त्व नहीं बिगड़ा है, स्वभाव बिगड़ा है। अपना स्वभाव शुद्ध बनाओ। बिगड़े स्वभाववाला किसीको भी नहीं सुहाता, माँको भी नहीं!

× × × ×

परमात्मप्राप्तिको गीताने बहुत सुगम बताया है। खास बाधा यह है कि हम चाहते नहीं। हमें केवल परमात्मप्राप्ति अभीष्ट नहीं है। भविष्य संसारके लिये होता है, भगवान्के लिये नहीं। कहीं जानेसे, कुछ करनेसे परमात्मप्राप्ति नहीं होती। परमात्मा नित्यप्राप्त हैं। परन्तु हम परमात्माकी आवश्यकता नहीं मानते।

'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' संसारमें लगाना है, पर लगा दिया परमात्मामें! परमात्मप्राप्तिमें असिद्धि है ही नहीं। उसके लिये लगन चाहिये। **परमात्मप्राप्तिपर हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।**

× × × ×

अभी बड़ा भयंकर कलियुग आ रहा है। **भगवन्नामका जप और कीर्तन कलियुगसे रक्षा करनेवाले हैं।** जप और कीर्तनकी बड़ी महिमा है। दिनभर नामजप करते रहें। भगवच्चर्चा करते रहें। भगवच्चरणोंके शरण हो जायँ। बार-बार प्रार्थना करते रहें कि हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं। **कोई आफत आ जाय तो दस-पन्द्रह मिनट बैठकर नामजप करो और प्रार्थना करो तो रक्षा हो जायगी।** सच्चे हृदयसे की गयी प्रार्थनासे तत्काल लाभ होता है। जो भी चाहिये, भगवान्‌को पुकारो।

× × × ×

अपने अनुभवका आदर करें तो कल्याण हो जायगा। शरीर बदल रहा है—यह अपना अनुभव है। शरीर जी नहीं रहा है, प्रत्युत मर रहा है। जितने दिन जी गये, उतने दिन वास्तवमें मर गये, उतने दिन उम्र कम हो गयी। जब जन्मे थे, तब तो मौत दूर थी। अब मौत प्रतिक्षण नजदीक आ रही है। जिसको कोई भी नहीं चाहता, उस मौतकी तरफ हम निरन्तर जा रहे हैं। पर इच्छा यह करते हैं कि हम जीते रहें! जैसे पशुओंके विनाशको 'मांस-उत्पादन' कहते हैं, ऐसे ही हम मर रहे हैं—इसको जीना कहते हैं! **हम जी रहे हैं—यह असत्‌का संग है।** जो सच्ची बात है, उसको मानना सत्संग है।

बुरे स्वभाववाला मनुष्य जिस योनिमें जायगा, वहीं दुःख पायेगा। मरनेपर स्वभाव साथमें जाता है।

× × × ×

मानवशरीर बहुत दुर्लभ है; परन्तु जो चीज मिल जाती है, उसका महत्त्व समझमें नहीं आता। **मिली हुई चीजका आदर नहीं करते, पीछे रोते हैं!** अगर पहलेसे ही चेत कर लें तो कितना लाभ हो जाय। रुपये तो पैदा हो सकते हैं, पर समय पैदा नहीं होता, यह तो खर्च ही होता है।

भयंकर कलियुगसे बचनेका उपाय है—नामजप। ***'राम नाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल'*** (मानस, बाल० २७)। कलियुगसे अपनी रक्षा करें। रात-दिन नामजपमें लग जाओ। भगवन्नामके सिवाय कलियुगसे कोई रक्षा करनेवाला नहीं है।

बिगाड़ करना ही हो तो कम-से-कम उतना बिगाड़ करो, जिसका पीछे सुधार कर सको।

× × × ×

हरेकको अपनी निन्दा बुरी लगती है, प्रशंसा अच्छी। विचार करें, निन्दा करनेवाला दूसरा है, उसपर हमारा वश चलता नहीं, उसे रोक सकते नहीं। उससे द्वेष करनेमें, उसे बुरा समझनेमें हमारा लाभ नहीं है। निन्दा करनेवाला हमारे पापोंका नाश करता है।

जो किसीको दुःख नहीं देता, उसके द्वारा दूसरोंकी सेवा शुरू हो गयी। जो किसीको दुःख नहीं देता, उसको देखनेसे पुण्य होता है—

तन कर मन कर वचन कर, देत न काहू दुक्ख।
तुलसी पातक हरत है, देखत उनको मुक्ख॥

अन्न, जल और वस्त्र देनेमें सुपात्र-कुपात्रका विचार करोगे तो खुद कुपात्र बन जाओगे। पापीको उतना अन्न दो, जिससे वह जी जाय। धन, कन्या आदि देनेमें सुपात्र देखना चाहिये।

× × × ×

भगवान्‌से उत्पन्न होनेके कारण सम्पूर्ण संसार भगवत्स्वरूप है—**'वासुदेवः सर्वम्'। मैं वही बात कहता हूँ जो श्रुति, युक्ति और अनुभवसे सिद्ध हो।** युक्ति देकर बात कहना मेरे स्वभावमें है।

परमात्माको सुनते हैं, संसारको देखते हैं। किसी-किसीको परमात्माके दर्शन, अनुभव भी हो जाता है! परमात्मामें कभी परिवर्तन हुआ हो—ऐसा हमने नहीं सुना। संसारको देखते हैं, पर वह निरन्तर बदलता ही रहता है। संसार इतनी तेजीसे बदलता है कि उसे दो

बार नहीं देख सकते।

जीव 'अमल' है, मल इसने स्वीकार किया है। जीव 'सहज सुखराशि' है, दु:ख इसने स्वीकार किया है। जो बदलता है, उसे अस्वीकार करना हमारा काम है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ संसारके पाँच गवाह हैं। पाँचों अलग-अलग बात बताते हैं। आपसमें इनकी बात नहीं मिलती, फिर इनका क्या भरोसा? 'है'-पना परमात्मामें है, संसारमें नहीं। हम रहनेवालेसे मोह न करके जानेवालेसे मोह करते हैं—यही बन्धन है। सच्चाईको पकड़ो, झूठको मत पकड़ो। सच्ची चीज कभी बदलती नहीं।

रोटी, कपड़ा और मकान बाकी रहते हैं, हम पहले मरते हैं, और चिन्ता करते हैं निर्वाहकी! आश्चर्यकी बात है।

× × × ×

साधकको हरदम सावधान रहना चाहिये। सावधानी ही साधना है। सावधानी ही जागृति है, असावधानी ही निद्रा है। स्वरूप सत्तामात्र है। अहम् संसारका मूल है। अहम् न हो तो 'है' रहेगा। 'मैं' और 'हूँ' मिलनेका नाम बन्धन है। 'मैं' प्रकृति है और 'हूँ' सत्ता है। जैसे ब्राह्मण निरन्तर ब्राह्मणपनेमें स्थित रहता है, ऐसे ही निरन्तर 'है'में स्थित रहें। परमात्मा 'है'। उस 'है'के अन्तर्गत अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, पर वह 'है' ज्यों-का-त्यों है।

× × × ×

अनेक योनियाँ हैं। उन सबमें मनुष्ययोनि विलक्षण है। मनुष्यजीवन ब्रह्मचर्याश्रम है, जहाँ ब्रह्मविद्या सीखी जाती है। ब्रह्मविद्याको जाननेके बाद फिर कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता। **करने, जानने और माननेकी शक्ति परमात्माकी तरफ लग जाय तो इनका नाम 'योग' हो जाता है; जैसे—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।** परमात्माको मानना होता है और स्वरूपको जानना होता है। संसारको माननेवालेके लिये कर्मयोग है। करनेकी शक्तिका उपयोग सेवा है। 'करना' दूसरोंके लिये और 'जानना' अपने लिये है। अपने लिये करना राक्षसोंका काम है।

मनुष्यशरीरमें आकर अपना स्वभाव शुद्ध बनाना है—यह खास बात है। स्वभाव शुद्ध होते ही तत्त्वज्ञान हो जायगा। **अन्तःकरणकी शुद्धिकी पहचान है—नाशवान्‌में आकर्षण नहीं रहे।** जबतक संसारसे अलग नहीं होंगे, तबतक संसारका ज्ञान नहीं होगा, संसारके दोष नहीं दीखेंगे।

× × × ×

भगवान्‌ने केवल कल्याणके लिये मनुष्यशरीर दिया है। इसकी प्राप्तिके लिये तत्परतासे लग जाना चाहिये। संसारका काम तो चलता रहेगा, रुकेगा नहीं। विशेष चेत करना चाहिये। **परमात्मप्राप्ति वर्तमानका विषय है। इसमें समयका व्यवधान नहीं है।** जैसे अन्न, जल, औषध खुदको ही लेना पड़ता है, ऐसे ही कल्याण भी खुदको करना है। भगवत्प्राप्तिकी लगन लग जाय—

'नारायन' हरि लगनमें, यह पाँचों न सुहात।
बिषय-भोग, निद्रा, हँसी, जगत-प्रीति बहुबात॥

भगवान् संसारके दु:खकी परवाह नहीं करते, पर अपने कल्याणका दु:ख नहीं सह सकते।

साधनमें लगनेसे दोष स्वतः कम होते हैं। दोष कम नहीं हुए तो अभी साधनमें लगा ही नहीं!

× × × ×

हम यहाँ सत्संग कहने-सुननेके लिये इकट्ठे हुए हैं, स्थायी रहनेके लिये नहीं। ऐसे ही हम सब आये हुए हैं और जानेवाले हैं। कोई जन्मकर आया है, कोई विवाह करके। हम तत्त्वप्राप्तिके लिये आये हैं। सदाके लिये दु:खोंसे छूटनेके लिये आये हैं। यह स्थिति हम जीवित रहते-रहते प्राप्त कर सकते हैं। इस जन्ममें तत्त्वको प्राप्त नहीं करेंगे तो किस जन्ममें करेंगे? तत्त्वप्राप्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये।

जैसे साइकिल आगे ही चलती है, उलटी नहीं चलती, ऐसे सुदुराचारी भी भगवान्‌में लग जाय तो उसका उद्धार ही होता है, पतन नहीं होता।

संसारकी प्राप्ति संसारकी आशाके अधीन नहीं है। आशा मत करो। आशा ही दु:ख देनेवाली है। सबको छुट्टी दे दो तो आपको छुट्टी मिल जायगी। सेवा कर दो, पर आशा मत रखो। बाहरसे मत कहो कि 'मैं सेवा नहीं चाहता', पर भीतरसे आशा मत रखो। **लेना दोष नहीं है, आशा रखना दोष है।** दूसरा मेरा कहना माने—यह अपने हाथकी बात नहीं। जो अपने हाथकी बात नहीं, उसकी आशा क्यों रखें?

× × × ×

सदा सत्यभाषण करें। सत्य बोलनेसे शान्ति मिलती है। सत्यभाषणसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाय। असत्‌की सत्ता नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**'। असत् प्राप्त हो तो भी अप्राप्त ही है। आपने बालकपना छोड़ा नहीं, पर वह छूट गया। शरीर नित्य-निरन्तर छूटता चला जा रहा है। मौत निरन्तर नजदीक आ रही है। जिसका नाश होता है, वह असत् होता है। जैसे एक-एक कदममें रास्ता कटता है, ऐसे ही एक-एक श्वासमें उम्र कट रही है। श्वास पूरे होनेपर उसी क्षण जाना पड़ेगा। उस समय यह बुद्धिमानी, चतुराई, बल कुछ काम नहीं आयेगा।

जानेवाला विभाग (शरीर-संसार) अलग है, रहनेवाला विभाग अलग है। **जो जा रहा है, उसका नाम असत्य है और जो रह रहा है, उसका नाम सत्य है।** सत्यभाषणसे सत्यकी प्राप्ति होती है।

धन मेरा है—यह भेदभावका सम्बन्ध है। मैं धनी हूँ—यह अभेदभावका सम्बन्ध है। जिससे सम्बन्ध नहीं है वही छूटता है। जो अलग नहीं होता वह नहीं छूटता। 'मैं हूँ' से हमने अभेदभावका सम्बन्ध माना है। 'मैं' 'हूँ' से अलग है—यह मार्मिक बात है। 'मैं' प्रकृतिका अंश है और 'हूँ' परमात्माका अंश है। 'मैं'-पन छूटनेके बाद 'है'-पना ही रहेगा। **'मैं' से अपनेको अलग अनुभव करना तत्त्वज्ञान है। 'मैं' से अपनेको एक अनुभव करना अज्ञान है।**

सत्यकी प्राप्तिके लिये सत्यभाषणकी बड़ी आवश्यकता है।

× × × ×

विषमता स्वरूपमें नहीं आयी है, मनमें ही आयी है। इसलिये गीतामें आया है—'**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः**' (५।१९) 'जिनका अन्तःकरण समतामें स्थित है, उन्होंने इस जीवित-अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसारको जीत लिया है।' संसारकी निवृत्ति स्वत:सिद्ध है, परमात्माकी प्राप्ति स्वत:सिद्ध है। हम सबके भाव और अभावको जानते हैं, पर अपने अभावको नहीं जानते। जिसके भाव-अभावका अनुभव होता है, उसीसे असंग होना है और जिसके अभावका कभी अनुभव नहीं होता, उसीमें स्थित रहना है। जिसका अभाव होता है, वह विषम है। संसार विषम है। विषमताका त्याग करके समतामें स्थित होना तत्त्वज्ञान है।

संसार अबतक किसीको भी प्राप्त नहीं हुआ, न होगा। संसार किसीके साथ कभी रहा नहीं, रह सकता नहीं। परमात्मा हमारेसे कभी दूर हो सकते ही नहीं।

स्त्री ईश्वरकृत सृष्टि है, माँ, बहन, भौजाई आदि जीवकृत सृष्टि है। जीवकृत सृष्टिमें ही पक्षपात, राग-द्वेष, बन्धमोक्ष आदि होते हैं। 'मेरा' और 'तेरा' जीवका बनाया हुआ है। ईश्वरकी बनायी चीज तो प्रत्यक्ष दीखती है कि यह स्त्री-पुरुष, स्थावर-जंगम, जड़-चेतन आदि हैं। **सबसे सम्बन्ध न तोड़े, न जोड़े, प्रत्युत हाथ जोड़े—यह साधन है।** अपनी बनायी हुई सृष्टिका त्याग कर दोगे तो मुक्त हो जाओगे।

× × × ×

'मैं हूँ' का अनुभव सबको है, पशु-पक्षियोंको भी। ये दो विभाग हैं—'मैं' प्रकृतिका और 'हूँ' परमात्माका अंश है। 'मैं हूँ' में 'मैं' (शरीर)-की प्रधानता है। मैं-पन संसारका बीज है। इसीसे सब संसार पैदा हुआ है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७।५)। प्रकृतिका अंश तो प्रकृतिके साथ ही रहता है, पर परमात्माका अंश परमात्माके साथ न रहकर

प्रकृतिके अंशको पकड़ता है—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५।७)।

अहम्‌को पकड़नेसे परमात्माके साथ भेद हुआ है। अतः शरीरको मैं-मेरा न मानकर भगवान्‌को मेरा मान ले, संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाय तो निहाल हो जाय! **जिसने अहम्‌को पकड़ा है, उसीका जन्म-मरण होता है।**

× × × ×

अभ्याससे साध्यकी प्राप्ति होगी, उसमें समय लगेगा—यह मान्यता बाधा देनेवाली है। मूलमें कर्तृत्व नहीं है। यह हमारी मान्यता है—'**कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३।२७)। अपनेमें कर्तृत्व नहीं है, यदि होता तो कभी मिटता नहीं। सब कार्य प्रकृतिके द्वारा हो रहा है। जो अपनेको कर्ता मान लेता है, वह बँध जाता है। अतः कर्तृत्वको मिटाना नहीं है, प्रत्युत अपनेमें स्वीकार नहीं करना है। जो है नहीं, उसे मिटाना ही गलती है।

तत्त्वप्राप्तिके लिये मैं बहुत सुगम-से-सुगम बात बता दूँगा। परन्तु तोता-रटन मुझे पसन्द नहीं। इसलिये लोग कहते हैं कि स्वामीजी पढ़े-लिखे नहीं हैं। मेरी शैली दूसरी है। तोते-जैसे ग्रन्थोंकी बात कहना मुझे पसन्द नहीं।

मिटानेसे अहम् दृढ़ होता है। मैं कर्ता नहीं हूँ—इसमें 'मैं' भी गया और 'कर्ता' भी गया। कूड़ेके साथ झाड़ू भी फेंक दो।

खास बात है—तत्त्व नित्यप्राप्त है, केवल उधर लक्ष्य करना है। उसके लिये उद्योग नहीं करना है। हम सब कल्पवृक्षके नीचे हैं। कोई कहे कि राम-राम करनेसे कुछ नहीं होगा तो कुछ नहीं होगा! सब कुछ होगा तो सब कुछ हो जायगा!

'है'-पना भगवान्‌में ही है। सब वस्तुएँ, प्राणी अलग-अलग हैं, पर 'है' सबमें एक है। वह 'है' परमात्मा है। सबका अभाव होता है, पर 'है' ज्यों-का-त्यों रहता है। वह 'है' ही हमारा है। हम उसे इन्द्रियोंसे नहीं पकड़ सकते, पर वह हमारी इन्द्रियोंमें आ सकता है। परमात्मा शुद्ध-अशुद्ध, सुगन्ध-दुर्गन्ध, अमृत-मृत्यु, सत्-असत् सबमें है।

× × × ×

करनेमें सावधान रहो, होनेमें प्रसन्न रहो। प्रत्येक कार्य करनेमें सावधानी रखो, फलकी चिन्ता मत करो। छोटे-छोटे कार्यमें भी सावधानी रखो—'**सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम्**' (हितोपदेश, मित्र० २२) 'खूब सोचकर कही हुई बात और भलीभाँति विचारकर किया हुआ काम बहुत दिनोंतक नहीं बिगड़ता।' आदत सुधर जायगी तो सब काम सुधर जायगा। आदत बिगड़ जायगी तो फिर उसको सुधारना बड़ा कठिन है। व्यसन जल्दी छूटता नहीं। अतः आदतका सुधार करो। आज लोग अपना अधिकार तो मानते हैं, पर अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते। अधिकार तो कर्तव्यका दास है। अच्छे स्वभाववाला सबको सुहाता है। बुरे स्वभाववाला घरवालोंको भी नहीं सुहाता।

साधु तो मनुष्य अपने मनसे बनता है, पर विधवा भगवान्‌की इच्छासे बनती है। विधवा अपने धर्मका ठीक पालन करे तो वह नैष्ठिक ब्रह्मचारीकी गतिको प्राप्त होती है, भले ही पहले उसकी पाँच-सात सन्तानें हो गयी हों!

सत्संगसे जितना ज्ञान-प्रकाश मिलता है, उतना शास्त्रोंसे नहीं मिलता।

× × × ×

अपनेमें कर्तापन नहीं है—यह ऊँची बात नहीं है, प्रत्युत अपनी बात है। अपनी बात क्या ऊँची और क्या नीची! वास्तवमें स्वरूप अहम्‌से रहित है। अहम् माना हुआ है। इसका अनुभव कैसे हो? सुषुप्तिमें मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ तथा अहम् भी नहीं रहता। जागनेपर हम कहते हैं कि मेरेको कुछ भी पता नहीं था—यह सुषुप्तिकी स्मृति है। हमें अहम्‌के अभावका ज्ञान था। अतः स्वरूप अहम्‌से रहित है। स्वयंको अहम्‌के भाव और अभाव दोनोंका ज्ञान है। सत्ता अहंरहित है—इस बातको आदर दें। अहम्

अपरा (जड़) प्रकृति है।

मैं साथी और सामानसे रहित हूँ—ऐसा अनुभव करें। इससे अहंरहित स्वरूपका अनुभव हो जायगा। न चिन्तन करे, न निश्चय करे। कारण कि चिन्तन करनेसे मन आ जायगा, निश्चय करनेसे बुद्धि आ जायगी। मैं साथी और सामानसे रहित हूँ—यह अभ्यास नहीं है। बार-बार वृत्ति लगानेका नाम अभ्यास है। अतः विचार, चिन्तन नहीं करना है, अनुभव करना है। सुषुप्तिकी तरह जाग्रत्में भी अहंरहित अनुभव करें। 'है' ही अपना स्वरूप है।

× × × ×

नित्य वस्तुकी प्राप्तिमें समय नहीं लगता। उसमें हम स्वयं ही आड़ लगाते हैं। कल्पवृक्षके नीचे जैसी कल्पना करें, वैसा ही हो जाता है। **परमात्मप्राप्ति वर्तमानकी वस्तु है, भविष्यकी नहीं।** जो मौजूद है, जिसे बनाना नहीं, कहींसे लाना नहीं, उसकी प्राप्तिमें भविष्य कैसा?

आप अपनेको सबसे नजदीक मानते हैं कि नजदीक-से-नजदीक मैं हूँ। पर आपसे भी नजदीक परमात्मा हैं। परमात्मा जीवको भी प्रकाशित करनेवाला परम प्रकाशक है। वे सम्पूर्ण विषयोंको, इन्द्रियोंको, जीवोंको प्रकाशित करनेवाले हैं—

बिषय करन सुर जीव समेता।
सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई॥

(मानस, बाल० ११७।३)

भगवान् सब जगह पूरे-के-पूरे हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(गीता १३।१३)

'वे परमात्मा सब जगह हाथों और पैरोंवाले, सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखोंवाले तथा सब जगह कानोंवाले हैं। वे संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं।'

सोनेके पासेमें कौन-सा गहना नहीं है? स्याहीमें कौन-सी लिपि नहीं है?

वाल्मीकिजीने रामायण अर्थात् भगवान् श्रीरामका स्थान (अयन) बताया, इसीलिये भगवान्ने उनसे अपने रहनेका स्थान पूछा। स्थान बतानेवालेसे ही स्थान पूछा जाता है। वाल्मीकिजीने भगवान्को बताया कि आप सब जगह रहते हैं, विशेषरूपसे भक्तोंके हृदयमें रहते हैं, अभी आप चित्रकूटमें रहें।

भगवान्से रहित कोई खाली जगह है ही नहीं। उनकी प्राप्तिमें देरी आपके कारण हो रही है। **ऐसा करेंगे, तब प्राप्ति होगी—यह देरी है।** संसार कभी किसीको मिला नहीं। बदलनेवाली चीजसे न बदलनेवालेकी आड़ कैसे लग जायगी? **जबतक अनन्यता नहीं होगी, तबतक सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी।** नाशवान्की इच्छा ही बाधक है।

समझने, सीखनेमें वह चीज आती है, जो बुद्धिका विषय हो। जो बुद्धिका विषय नहीं है, उसमें बुद्धि लगाना व्याघात दोष है।

× × × ×

अगर अहम्पर विजय पा लें तो आप जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, प्रेमी, योगी सब हो जायँगे। अहम्से रहित होनेके लिये पहले दो बातें खास समझनेकी हैं—(१) भगवान् गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगोंमें निर्मम-निरहंकार होनेकी बात कहते हैं। संसारमात्रको जीवने धारण कर रखा है। अतः हम अहम्से रहित हैं—ऐसा अनुभव हो जाय और (२) भगवान् निर्मम-निरहंकार होनेके लिये कहते हैं; अतः हम निर्मम-निरहंकार हो सकते हैं। जो हम नहीं हो सकते, वह भगवान् नहीं कहेंगे।

अनुभव करें कि हम अहंकाररहित हैं। इसके लिये सुषुप्तिका उदाहरण अच्छा है। सुषुप्तिमें अहम् अविद्यामें लीन होता है, आप स्वयं अविद्यामें लीन नहीं होते। कारण कि प्रकृतिका अधिकार अहम्पर है। जो चीज कभी होती है, कभी नहीं होती, वह

कभी नहीं होती—यह नियम है। जो किंचित् समय भी नहीं है, वह सदाके लिये नहीं है।

× × × ×

वेदव्यासजी महाराजने जो बात नहीं लिखी हो, वह कोई कह दे या लिख दे—ऐसा मेरा विश्वास नहीं है। उनकी वाणीमें कहीं-न-कहीं वह बात मिल जायगी।

परमात्मा ही सबके प्रत्यक्ष हैं। संसार प्रत्यक्ष हो सकता ही नहीं। सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हमारी दृष्टिमें है। वास्तवमें भगवान् ही उत्पन्न करते और उत्पन्न होते हैं, रक्षा करते और रक्षित होते हैं, संहार करते और संहार होते हैं।* **भगवान्‌में छिपनेकी ताकत नहीं है। वे कहाँ छिपें? किससे छिपें? किसके लिये छिपें?** उनकी प्राप्तिमें कोई आड़ है ही नहीं। उनकी प्राप्तिसे निराश होना बड़ी भारी गलती है। आप आँखें बन्द करके कहते हैं कि हमें कुछ नहीं दीखता!

योग सदाके लिये हो सकता है, पर भोग सदाके लिये मनुष्य नहीं भोग सकता।

भगवान्‌की माया मनुष्यको नहीं फँसाती। **भगवान्‌की मायाको अपना मान लिया, तभी फँसता है। यदि भगवान्‌की मानता तो नहीं फँसता।**

× × × ×

मोह नष्ट होनेमें सन्तकृपा या भगवत्कृपा काम करती है, अपनी पण्डिताई नहीं—'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत' (गीता १८।७३)। कृपासे जो काम होता है, वह अपने पुरुषार्थ (साधन)-से नहीं होता। कृपासे जो शक्ति मिलती है, वह अपनी बुद्धिमानीसे नहीं। जैसे धोबी ज्यादा मैले कपड़ेको साफ करनेमें प्रसन्न होता है, ऐसे ही गुरुजन ज्यादा मैले व्यक्तिको शुद्ध बनाकर बड़े प्रसन्न होते हैं। ***'आछी करे सो रामजी कै सद्‌गुरु कै सन्त'।*** अतः कृपाका आश्रय लो।

अनुकूल-प्रतिकूल सब भगवान्‌का प्रसाद है। प्रसादमें रसगुल्ला भी होता है और करेला भी। भजन-ध्यान आदि सब कुछ करो, पर आश्रय कृपाका रखो।

× × × ×

कर्मयोग भौतिक साधना है। भौतिक वस्तुओंसे सबकी सेवा करना है और बदलेमें कुछ भी नहीं चाहना है। सबको छोड़कर अपने स्वरूपमें स्थित होना आध्यात्मिक साधना (ज्ञानयोग) है। अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देना आस्तिक साधना (भक्तियोग) है। लेनेकी इच्छा करना बन्धन है। तीनोंमें सबसे सुगम साधन भक्ति है। वस्तुओंको भी भगवान्‌के समर्पित कर दे और स्वयंको भी। वास्तवमें सब कुछ है ही भगवान्। भक्ति ज्ञानके अधीन नहीं है। ज्ञान और वैराग्य भक्तिके बेटे हैं। भक्ति उनकी माँ है। ***'भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी'*** (मानस, उत्तर० ४५।३)। इसका तात्पर्य ज्ञानको छोटा बतानेमें नहीं है, प्रत्युत यह बतानेमें है कि भक्ति करनेसे ज्ञान भी आ जायगा (गीता १०।१०-११), ***'अनइच्छित आवइ बरिआईं'*** (मानस, उत्तर० ११९।२)।

कुछ-न-कुछ चाहनेसे ही अशान्ति आती है। कुछ भी चाहना न हो तो अशान्ति आ ही नहीं सकती।

जिसके न होनेका दुःख हो, वह होने लग जायगा—यह सिद्धान्त है। भक्ति न होनेका दुःख हो जाय तो भक्ति हो जायगी। ऐसे ही जिसके होनेका दुःख हो जाय, वह मिट जायगा।

× × × ×

जो करना चाहिये, वह धर्म होता है। जो नहीं करना चाहिये, वह अधर्म होता है। आज अधर्मकी उन्नति हो रही है।

एक नंबरका काम भगवान्‌को याद करना है, दो नंबरका काम पुण्यकर्म करना है। जो भोगोंमें लगे हुए हैं, वे श्वास लेते हुए भी मुर्दा हैं! शुद्ध-

*आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः। त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥ (श्रीमद्भा० ११।२८।६)

अशुद्ध सभी अवस्थाओंमें भगवान्‌का नाम लेना चाहिये।

मनकी स्थिरता होगी तो सिद्धियोंकी प्राप्ति होगी, परमात्मा की नहीं। अतः बुद्धिकी स्थिरता होनी चाहिये।

श्रोता—घरका काम करते समय भगवान्‌को भूल जाते हैं, क्या करें?

स्वामीजी—यह निश्चय कर लो कि आजसे अपने घरका काम करना ही नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान्‌के घरका काम करना है।

× × × ×

यह बात हर समय जाग्रत् रहनी चाहिये कि शरीर स्वतः जा रहा है। शरीर जी रहा है या मर रहा है—इसमें आपको कौन-सी बात सच्ची दीखती है? शरीर निरन्तर जा रहा है—यह बात मनुष्यमात्रकी है, किसी एक सम्प्रदाय, जातिकी नहीं है। यह बात स्वाभाविक रहनी चाहिये। जो बात निःसन्देह है, उसे मान लेना हमारा खास काम है। सच्ची बातको जाननेका नाम ज्ञान है।

× × × ×

मनुष्य बालकपनसे ही भगवान्‌के मार्गमें लग जाय तो महात्मा बन सकता है। गीता ज्ञानका अथाह समुद्र है, जिसका कोई पार नहीं पा सकता। रामायण और गीता बड़े विलक्षण ग्रन्थ हैं। दूसरोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये—यह रामायणमें बताया गया है।

सुखकी आसक्तिके कारण जड़ और चेतन—ये दो विभाग दीखते हैं, अन्यथा सब साक्षात् परमात्माका स्वरूप है। **विवेकसे उतनी उन्नति नहीं होती, जितनी विश्वाससे होती है।** जबतक एक चेतन-तत्त्वके सिवाय कल्पनासे भी अन्य (जड़)-की सत्ता रहती है, तबतक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती।

साधकके लिये भोग और संग्रहकी आसक्ति बहुत ही घातक है। **जड़ता बुद्धिमें रहती है। बोध होनेपर जड़ता नहीं रहती।**

× × × ×

शरीर भी अपना नहीं है। मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुको अपना मानना खास भूल है। भगवान् आपको कभी नहीं छोड़ते। वे ही अपने हैं। **भगवान्‌को अपना कहनेवाला केवल मनुष्य ही है, और कोई नहीं।** मनुष्य ही भगवान्‌को अपना कह सकता है। मनुष्यकी आफत, दुःख मिटानेके लिये भगवान्‌के मनमें एक भूख है, लालसा है कि यह मुझे अपना कहे! सच्चे हृदयसे कह दे कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' तो भगवान् खुश हो जाते हैं!

× × × ×

संसार निरन्तर जा रहा है, इसमें जो 'है' दीखता है, वह परमात्माका है। संसार विद्यमान नहीं है। परमात्मा विद्यमान हैं। शरीर निरन्तर 'नहीं' में जा रहा है। परमात्मा निरन्तर रहते हैं। हमारी स्थिति केवल उस रहनेवालेमें ही है। 'है' नाम परमात्माका ही है। **जैसे मूर्तिमें भगवान्‌का पूजन करते हैं, ऐसे ही संसारमें परमात्माका पूजन करना है।** कुत्ता रोटी खा रहा है तो भगवान्‌को ही भोग लग रहा है! भगवान् ही सबके भोक्ता हैं।

विश्वासमें विवेककी जरूरत नहीं है। यदि विवेक लगायेंगे तो शालग्राम पत्थर दीखेगा! विश्वासमें विवेककी सहायता नहीं है, प्रत्युत विवेकका विरोध नहीं है।

सेवा करनेवालेके लिये संसार भगवत्स्वरूप है, पर सुख लेनेवालेके लिये संसार दुःखरूप है।

शरीर गायका शुद्ध है, मनुष्यका नहीं। जिसके गोबर-गोमूत्र भी पवित्र है, वह स्वयं कितनी पवित्र होगी! परन्तु गायमें विवेक नहीं है। मनुष्यमें विवेक है। जैसे अक्षरको सीखनेके लिये आँखें हैं, ऐसे ही परमात्माको जाननेके लिये मनुष्यशरीर (विवेक) है। मनुष्यशरीर नहीं रहेगा तो नहीं जान सकेंगे; क्योंकि जाननेकी सामग्री (विवेक) नहीं रहेगी। परमात्माको जान लिया तो फिर शरीरकी जरूरत नहीं है। असत्‌के द्वारा परमात्मप्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत असत्‌के सदुपयोगसे परमात्मप्राप्ति होती है। बुद्धिसे तत्त्वको जानोगे तो

प्राप्ति स्वयंको होगी, बुद्धिको नहीं। अक्षरको आँखसे समझ लो तो अक्षर साथ रहेगा, आँख साथ नहीं रहेगी। इसी तरह परमात्मा साथ रहेंगे, शरीर साथ नहीं रहेगा।

× × × ×

बड़े-से-बड़े परमात्मा हैं। उनमें अपार-अनन्त शक्ति है। सम्पूर्ण शक्तियाँ वहींसे आती हैं। जीवमात्रमें सहारा लेनेकी एक इच्छा है। किसीमें ज्यादा, किसीमें कम हो सकती है। मूलमें सहारा देनेवाले, सबकी रक्षा करनेवाले भगवान् ही हैं। उनसे कोई बात छिपी नहीं है। ऐसा होनेपर भी वे बड़े कृपालु हैं।

किसी भी आदमीको सर्वथा खराब नहीं मानना चाहिये। मनुष्य सर्वथा सद्गुणी तो हो सकता है, पर सर्वथा दुर्गुणी कोई नहीं हो सकता।

× × × ×

भगवान् सदाकी माँ हैं और उनमें अनन्त माताओंका स्नेह है। वे हरदम मात्र जीवोंपर कृपा कर रहे हैं। संसारमें कृपालु न्याय नहीं कर सकता और न्यायकारी कृपा नहीं कर सकता। परन्तु **भगवान्‌में न्याय और कृपा—दोनों पूरे-के-पूरे हैं।** वे कृपा करते ही रहते हैं। कृपा करना उनका स्वभाव है। वे कृपाको जनाते ही नहीं। वे जिसको जो चीज देते हैं, वह चीज उसे अपनी ही मालूम देती है। भगवान्‌ने मनुष्यशरीर दिया, पर यह हमें अपना ही मालूम देता है। **भगवान्‌की कृपासे ही मुझे विलक्षण-विलक्षण बातें प्राप्त होती हैं, वे मेरी अपनी नहीं हैं।** अगर शरीर आपका है तो उसे बीमार क्यों होने देते हो? यदि देखनेकी शक्ति आपकी है तो चश्मा क्यों लगाते हो? ऐसा सत्संग-समारोह भी भगवान्‌की कृपाशक्तिसे ही होता है, व्यक्तियों, प्रबंधकों आदिकी शक्तिसे नहीं।

संतोंका संग प्रारब्धसे नहीं होता। प्रारब्धसे तो भोग मिलता है। सत्संग भगवान् और सन्तोंकी कृपासे ही मिलता है। खास कारण है—भगवान्‌की कृपा। शरीर, बल, योग्यता आदि सब भगवान्‌के दिये हुए हैं। भगवान्‌की दी हुई चीजको भगवान्‌के ही अर्पण कर दें तो भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं।

× × × ×

पांचभौतिक दृष्टिसे सब एक हैं। जीवकी दृष्टिसे सभी परमात्माके अंश हैं। परमात्माकी दृष्टिसे सभी परमात्मस्वरूप हैं। भेद अपने राग-द्वेषसे पैदा किया हुआ है। **व्यवहारका भेद कर्तव्यपालन करनेके लिये, सेवा करनेके लिये है।** अपने कर्तव्य-कर्मके द्वारा चारों वर्ण दूसरोंकी सेवा करें। सेवा करते समय सबमें एक परमात्माको देखें, जैसे मूर्तिमें भगवान्‌को देखते हैं।

जबतक संस्कार न हो, तबतक सभीको अपनेको शूद्र ही मानना चाहिये। सभी वर्णोंका आदर करना चाहिये। **वर्ण आदिको लेकर अपनेमें अभिमान नहीं करना चाहिये—यह खास बात है। जो अपनेको छोटा मानता है, वही वास्तवमें बड़ा होता है।**

× × × ×

कलियुगमें नामकी महिमा अधिक है। कारण कि जब किसी तरहकी कोई योग्यता नहीं होती, तब पुकार होती है। नामजप एक पुकार है। सब तरहसे अयोग्य बालक पुकारता है।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—यह पुकार है। 'हरे' कहनेमें यह भाव रखें कि संसार हरा गया है, जा रहा है और 'राम' व 'कृष्ण' कहनेमें यह भाव रखें कि भगवान् रह रहे हैं। संसार बह रहा है, भगवान् रह रहे हैं। संसार नहीं है, भगवान् हैं।

रुपयोंको लेकर करोड़पति अपनेको बड़ा मानता है। अगर करोड़ रुपये चले जायँ तो क्या रहा? खुदकी फजीती ही हुई! संसारकी वस्तुको अपना मानना बेईमानी है। ***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'***—यह ईमानदारी है।

× × × ×

निर्गुणमें विवेक-विचार मुख्य है। सगुणमें श्रद्धा-

विश्वास मुख्य है। **ज्ञानका पंथ कठिन है, पर भक्तिका पंथ सुगम है। निर्गुणका रूप सुलभ है, पर सगुणका रूप कठिन है।** इसलिये गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।

(मानस, उत्तर० ७३ ख)

ग्यान पंथ कृपान कै धारा।

(मानस, उत्तर० ११९।१)

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।

(मानस, उत्तर० ४६।१)

तर्क निर्गुणमें चलता है, सगुणमें नहीं। **विश्वासमें कमी होनेसे ही भक्तिमें कठिनता आती है।** निर्गुणका स्वरूप है—सत्तामात्र, होनापन।

मेरे विचारमें कोई भी मार्ग कठिन नहीं है। अपनी रुचि, विश्वास और योग्यता होनी चाहिये। मैं न रूपको कठिन मानता हूँ, न मार्गको कठिन मानता हूँ। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है, अकर्ता है—ये कोरी बातें हैं। ये शास्त्रकी बातें हैं, साधनकी नहीं। बातोंसे कुछ होनेवाला नहीं है, कोरा अभिमान होगा।

विहित भोग भी बाधक है, फिर निषिद्ध भोग तो बहुत ही बाधक है। अत: ज्ञान या भक्ति जो भी चाहते हो, पाप करना छोड़ दो। उसमें भी सुगम बात यह है कि जिसको पाप जानते हो, वह छोड़ दो। सबसे पहले निषिद्ध कर्मोंका त्याग करो।

मदिरापानका पाप ब्रह्महत्यासे भी तेज है! मदिरापानमें हत्या नहीं दीखती, पर वह धर्म, आस्तिक भावके अंकुरोंको जला देता है।

× × × ×

मुख्य पाँच देवता ईश्वरकोटिके हैं—विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और देवी। इनको माननेवाले भी पाँच सम्प्रदाय हैं—वैष्णव, शैव, गाणपत्य, सौर और शाक्त। मुख्य देवताका मन्दिर मध्यमें होगा तो शेष चारों दिशाओंमें चार देवताओंके मन्दिर होंगे; जैसे—

ईशान	शिव		गणेश	आग्नेय
		विष्णु		
वायव्य	देवी		सूर्य	नैर्ऋत्य

विष्णु		सूर्य
	शिव	
देवी		गणेश

विष्णु		शिव
	गणेश	
देवी		सूर्य

शिव		गणेश
	सूर्य	
देवी		विष्णु

विष्णु		शिव
	देवी	
सूर्य		गणेश

गणेशजी बालरूप हैं। इसलिये वे मोदकप्रिय हैं। वे बुद्धिके अधिष्ठाता हैं। विद्यार्थी विद्यारंभके समय गणेशजी और सरस्वतीका स्मरण करते हैं।

× × × ×

मूल्यवान् वस्तु सुगम होती है। संसारकी कोई भी चीज सबके लिये नहीं है, सब जगह नहीं है, सब समयमें नहीं है। परन्तु परमात्मा सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिमें हैं और सबके लिये हैं। जो किसीके लिये हो और किसीके लिये न हो,

वह परमात्मा नहीं हो सकता। उसको प्राप्त करनेके अधिकार अलग-अलग हैं—'**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः**' (गीता १८।४५)। वर्ण, आश्रम, श्रद्धा, विश्वास, योग्यताको लेकर सबका कर्तव्य अलग-अलग होता है। दो व्यक्तियोंमें भी समान रुचि नहीं होती—'**रुचीनां वैचित्र्याः**'।

भगवान्की ओरसे सबको सुख पहुँचानेका अधिकार दिया हुआ है, पर मारनेका अधिकार किसीको नहीं दिया है।

छोटा प्यारका पात्र होता है, तिरस्कारका नहीं। जैसे घड़ीका प्रत्येक पुर्जा अपनी-अपनी जगह ही ठीक रहता है, ऐसे ही प्रत्येक वर्ण, जातिका मनुष्य अपनी जगह ही श्रेष्ठ है।

अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंकी सेवा करो—यह खास मंत्र है। भगवान् भी मनुष्यकी सेवाके भूखे हैं!

× × × ×

मनुष्ययोनि साधनयोनि है, भोगयोनि नहीं। **साधन तब होगा, जब अहंतामें यह बात बैठ जायगी कि मैं साधक हूँ, भोगी नहीं हूँ।** जैसा कर्ता होता है, वैसा ही कर्म होता है। कर्ता मुख्य है। कर्म निष्काम या सकाम नहीं होते, प्रत्युत कर्ता निष्काम या सकाम होता है।

सुख-दुःख साधन-सामग्री है, भोग-सामग्री नहीं। सुख-सामग्री है दूसरोंकी सेवा करनेके लिये और दुःख-सामग्री है सुखकी इच्छाका त्याग करनेके लिये।

भोजन, वस्त्र और मकान निर्वाहमात्रके होने चाहिये।

× × × ×

सांसारिक कामकी तरह भगवत्प्राप्ति धीरे-धीरे समय पाकर होती है—यह धारणा ठीक नहीं है। भगवत्प्राप्तिमें देश, काल, वस्तु आदिका व्यवधान नहीं है। केवल उत्कट अभिलाषाकी कमी है। भगवान् सब देश, काल, वस्तु आदिमें पूरे-के-पूरे मौजूद हैं। **ध्रुवजीको जिस दिन भगवान् मिले, वे ही पहले दिनमें भी मिल सकते हैं।** दिनमें क्या फर्क है? भगवान्में क्या फर्क है? प्रह्लादने कहा कि भगवान् खम्भेमें हैं तो भक्तकी वाणी सच्ची करनेके लिये भगवान् वहींसे प्रकट हो गये। '*जँहि जिव उर नहचो धरै, तँहि ढिग परगट होय*'। जीव जहाँ निश्चय करता है, वहीं भगवान् प्रगट हो जाते हैं।

शरीर बना रहे—यह इच्छा भगवत्प्राप्तिकी इच्छामें बाधक है।

जो दीखता है, वह आप नहीं हो। आप देखनेवाले हो।

× × × ×

जैसे जालेका उपादान और निमित्त कारण मकड़ी ही है, ऐसे ही सृष्टि बननेवाले भी परमात्मा हैं और बनानेवाले भी परमात्मा हैं। तत्त्वसे एक परमात्मा ही हैं।

जो सुगमतासे परमात्मप्राप्ति चाहता है, उसे परमात्मा कठिनतासे मिलते हैं। कारण कि सुगमताके बहाने वह शरीरका आराम चाहता है। परन्तु जो कठिनताके लिये तैयार रहता है, उसे परमात्मा सुगमतासे मिल जाते हैं।

मन में लागी चटपटी, कब निरखूँ घनस्याम।
'नारायन' भूल्यौ सभी, खान पान विश्राम॥

संसारका सुख लेना चाहते हैं—यही परमात्मप्राप्तिमें बाधा है। 'आराम'की जगह 'आ राम' कर दो।

× × × ×

साधक हर समय भगवान्की कृपाकी तरफ देखता रहे—'**तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः**' (श्रीमद्भा० १०।१४।८)। प्रत्येक भाई-बहन अपनेपर भगवान्की विशेष कृपा मानें। भगवान्की कृपा कृपा करनेसे कभी तृप्त नहीं होती—'*जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती*'(मानस, बाल० २८।२)। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिपर विशेष ध्यान न दें। परिस्थिति तो संसारका स्वरूप है। उनमें राजी-नाराज होना ही फँसावट है।

जैसे दर्जी कपड़े सिलकर पहना दे तो हम दर्जीके नहीं हो जाते, ऐसे ही माता-पिताने हमें शरीर पहना दिया। हम तो वास्तवमें भगवान्‌के ही हैं। शरीरसे माता-पिताकी सेवा करो।

× × × ×

परमात्मा निरपेक्ष तत्त्व है। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि सब सापेक्ष है। तत्त्व सापेक्ष नहीं है। वह 'है'-रूपसे है। **वास्तवमें वह 'है' और 'नहीं' दोनोंसे विलक्षण है।**

जो दीखता है, वह चेतनकी एक चमक है। असत् है ही नहीं, केवल सत्-ही-सत् है—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

× × × ×

भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान हूँ। उन प्राणियोंमें न तो कोई मेरा द्वेषी है और न कोई प्रिय है। परन्तु जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ।'

भगवान् सबमें समान हैं, पर भक्त उनमें पक्षपात पैदा कर देते हैं। कोई भगवान्‌से विरुद्ध-से-विरुद्ध चले तो भी भगवान्‌का उनसे द्वेष नहीं है। जैसे, माँका बच्चेसे द्वेष नहीं होता। उसकी मारमें भी कृपा होती है।

नशा डाकूकी तरह है, जो पकड़नेपर छोड़ता नहीं। साधुको भिक्षा न दें तो वह चला जाता है, पर डाकू नहीं जाता! नशा मनुष्यको परवश कर देता है। **सन्त और भगवान् कभी परवश नहीं करते।**

× × × ×

नित्यकर्म और साधनमें भेद होता है। नित्यकर्म (पूजा-पाठ) तो हरेक मनुष्यको करना चाहिये। अपने कल्याणके उद्देश्यवाला साधक होता है। साधन करनेवाले बहुत कम होते हैं। साधन तभी बढ़िया होता है, जब मनुष्य भीतरसे 'मैं साधक हूँ'—ऐसा मान लेता है। साधन करना सब मनुष्योंका खास काम है।

यदि साधु बनना हो तो फिर परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही साधु बने। साधु बननेपर फिर मकान, धन आदिकी जरूरत नहीं है। संन्यास तो वैराग्यसे ही होता है। परमात्मप्राप्तिमें भोग और संग्रहकी इच्छाका त्याग पहली चीज है। **संन्यासीके लिये तो स्वरूपसे भोग और संग्रहका त्याग है। सच्चे साधुकी चिन्ता गृहस्थोंको स्वतः रहती है!**

निषिद्ध रीतिसे भोग और संग्रह करनेवालेको वैराग्य कभी नहीं होगा।

× × × ×

सच्चे हृदयसे भगवान्‌को पुकारो। सिवाय भगवान्‌के कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। भगवान्‌की गोद सबके लिये तैयार है। वे सर्वसमर्थ हैं, परम दयालु हैं और सर्वज्ञ हैं। वे आपकी भीतरकी पीड़ाको, लगनको जानते हैं कि यह सच्ची है या नकली? जो भगवान्‌को नहीं मानता, उनका खण्डन करता है, उसकी भी भगवान् रक्षा करते हैं, पालन करते हैं।

याद करनेयोग्य केवल प्रभु ही हैं।

गीता, रामायण-जैसे ग्रन्थ रहते हुए, भगवान्‌का नाम रहते हुए हम दुःख पायें—यह आश्चर्यकी बात है!

× × × ×

वक्ता स्वतन्त्र नहीं होता, प्रत्युत श्रोताके अधीन होता है। श्रोताओंके कारणसे ही वक्ताके भीतर बातें पैदा होती हैं। **वक्ताको श्रोतासे अधिक लाभ होता है।**

संसार बहुत पतनकी तरफ जा रहा है। ऐसे समयमें सत्संग मिल जाय तो बड़ी भगवत्कृपा है! संसारका पद तो योग्यतासे मिलता है, पर भगवान्‌का आश्रय योग्यतासे नहीं मिलता। वे सबके लिये सुलभ हैं।

गीताकी सार बात है—शरणागति। ***'मेरे तो***

गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'—यह सार चीज है। भगवान् पूरे-के-पूरे आपके हैं। उनकी शरण हो जायँ।

× × × ×

खास बात है—भगवान्पर भरोसा रखें, उनपर निर्भर हो जायँ। समयके सदुपयोगका विशेष ध्यान रखें। हरदम सावधान रहें। साधक वही होता है, जो हरदम सावधान रहता है। संसारके काममें कितनी ही सावधानी रखें, उसमें कमी रहेगी ही। अतः हरदम भगवान्में लगे रहो, उनको पुकारते रहो कि 'हे नाथ! आपको भूलूँ नहीं' और उनके नामका जप करते रहो। आशा भगवान्की ही रखो। संसारकी आशा रखनेसे दुःख पाना ही पड़ेगा—'**आशा हि परमं दुःखम्**'। परमात्मा भविष्यकी चीज नहीं हैं। उनकी प्राप्ति वर्तमानकी वस्तु है। भविष्यकी आशा रखनेसे धोखा होगा। परमात्माकी प्राप्ति आपको (स्वयंको) होती है, अन्तःकरणको नहीं। करणके भरोसे मत रहो। आप भी वर्तमान हैं और परमात्मा भी वर्तमान हैं, फिर देरी क्यों? उसकी प्राप्ति करणके द्वारा नहीं होती। उसकी प्राप्ति करण (मन-बुद्धि-इन्द्रियों)-के त्यागसे होती है। प्राणायाम शरीरकी शुद्धिके लिये है। अभ्याससे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती।

जिससे जितना लोगे, उसके मरनेपर उतना ही दुःख होगा। अतः संसारसे लो मत, उसकी सेवा करो। किसीकी आशा मत रखो।

× × × ×

जहाँ वस्तुएँ अधिक होती हैं तथा अधिक वस्तुओंकी जरूरत होती है, वहीं दरिद्रता होती है।

बाहर संसारकी तरफ इतनी दृष्टि चली गयी कि भीतरका ज्ञान नष्ट हो गया! वास्तवमें आपका स्वरूप सुखरूप है—*'चेतन अमल सहज सुख रासी'*। परन्तु दृष्टि बाहर चली जानेसे दुःख पा रहे हैं।

जो दूसरोंका नाश करता है, उसका नाश ब्याजसहित होगा!

× × × ×

व्यक्तियाँ अलग-अलग हैं, पर प्रकाश एक है। ऐसे ही अनन्त ब्रह्माण्ड जिस प्रकाशमें दीखते हैं, वह प्रकाश एक है। उसमें प्रकाशकत्वका अभिमान नहीं है। ज्ञान अथवा सत्ता एक है। नफा-नुकसान, जन्म-मरणमें बड़ा अन्तर है, पर इनके ज्ञानमें क्या अन्तर है? उस ज्ञानमें स्थित रहना है। सब अवस्थाएँ बनने-बिगड़नेवाली हैं, पर अपने होनेपनका ज्ञान बनने-बिगड़नेवाला नहीं है। उस ज्ञानमें मैं-पन नहीं है।

× × × ×

कमानेकी धुनसे भी देनेकी धुन ज्यादा होनी चाहिये। देनेसे ही धनकी रक्षा होती है—स्वार्थ और परमार्थ दोनों सिद्ध होते हैं। दूसरोंको सुख देनेसे अपनेको प्रत्यक्षमें शान्ति मिलती है। एक-दूसरेका हित, सेवा करना हमारी वैदिक संस्कृति है—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(गीता ३। ११)

'एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

× × × ×

वास्तवमें सन्तों और भगवान्की वाणीमें विरोध नहीं आता। विरोध हमारी बेसमझीसे दीखता है।

विवेकशक्तिका नाम मानवशरीर है। विवेकशक्ति मनुष्यमें विशेष है। मनुष्य तो विवेकका अनादर कर देता है, पर पशु-पक्षी ऐसा नहीं करते। मनुष्य विवेकशक्तिका सदुपयोग-दुरुपयोग दोनों कर सकता है। मनुष्यको परमात्मप्राप्तिका जन्मजात अधिकार है। अपने उद्धारकी योग्यता और अधिकार—दोनों भगवान्ने मनुष्यको दिये हैं। मानवशरीर दुरुपयोगके लिये नहीं है, प्रत्युत सबकी सेवा करनेके लिये और भगवान्को याद रखनेके लिये है।

× × × ×

मनुष्यशरीर मिलना बहुत दुर्लभ है। जो वस्तु मिल जाती है, उसकी दुर्लभताका ज्ञान नहीं होता। जो विवेकशक्ति है, वही मनुष्यपना है। शरीरको तो अधम बताया गया है—

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥

(मानस, किष्किन्धा० ११।२)

देवता आदिमें भी विवेक है, पर वह भोगके लिये है। पशु–पक्षियोंका विवेक जीवन–निर्वाहके लिये है। मनुष्यका विवेक परमात्मप्राप्तिके लिये है। मनुष्यशरीर प्राप्त होनेपर परमात्मप्राप्तिके लिये निराश नहीं होना चाहिये। परमात्मा सभी मनुष्योंके लिये पूरे–के–पूरे हैं। उनपर सभीका पूरा हक लगता है।

जहाँ 'भोजनालय' का बोर्ड लगा हो, वहाँ वस्त्र कैसे मिलेगा? ऐसे ही संसारमें भगवान्‌ने बोर्ड लगा रखा है—**'दुःखालयम्'** (गीता ८।१५), फिर यहाँ सुख कैसे मिलेगा?

सहारा लेना जीवका स्वभाव है। अगर सहारा लेना ही हो तो बड़ेका लो, छोटेका क्यों लो? आप अपना सर्वस्व भगवान्‌को दे दो और भगवान्‌का सर्वस्व ले लो! **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११)। न रोकर जियो, न रोकर मरो। मौजसे जियो और मौजसे मरो। **आप परमात्माके अंश हो, मिट्टीके लौंदे (शरीर) नहीं हो।**

× × × ×

भगवान् अनन्त हैं और उनकी रची सृष्टि भी अनन्त है। चौरासी लाख योनियोंसे भी अतिरिक्त अनन्त योनियाँ हैं, जिनका हमें पता नहीं! पर इसको जाननेसे लाभ भी क्या? संसारकी, शास्त्रोंकी बातोंका अन्त नहीं है। उन्हें जाननेसे क्या लाभ? न जाननेसे क्या हानि? हाँ, एक जानकारीका अभिमान और हो जायगा! अभिमानको निकालना बड़ा कठिन है!

× × × ×

परमात्मप्राप्ति चाहनेवालेके लिये खास बात है—अपनी अहंताको बदलना कि 'मैं साधक हूँ'। अहंता बदल जायगी तो मन–बुद्धि आदि सब बदल जायँगे। व्यवहार बदल जायगा। साधन हरदम होगा। **पूरा संसार अहंता (मैं-पन)-में भरा हुआ है। अहंता बदलनेसे संसार बदल जाता है।**

× × × ×

जो वस्तु थोड़ी होती है, उसका मूल्य अधिक होता है। आज कलियुगमें भगवान्‌की भक्ति बहुत थोड़ी हो गयी है। अतः भगवान् सस्ते हो गये हैं, भक्त मँहगे! जो भगवान्‌के भजनमें लगे हैं, उनके लिये जमाना बड़ा अच्छा आया है। साधन करनेसे आज जैसा फर्क पड़ता है, वैसा पहले नहीं पड़ता था। साधन करनेवालोंका यह अनुभव है कि काम–क्रोधादि पहलेसे कम आते हैं, ज्यादा वेगसे नहीं आते और ज्यादा देर नहीं ठहरते।

× × × ×

कर्कोटकनाग, दमयन्ती, नल और राजर्षि ऋतुपर्णका नाम लेनेसे कलियुग असर नहीं करता*। इसी तरह भगवन्नामका जप–कीर्तन करनेसे कलियुग असर नहीं करता। **भगवन्नाम अशुद्ध अवस्थामें भी लेना चाहिये, नहीं तो मनुष्य बीमारीकी अवस्थामें अशुद्ध रहनेसे भगवन्नाम नहीं लेगा तो सद्‌गति कैसे होगी? अन्तकालमें भगवान्‌का चिन्तन कैसे होगा?**

भगवन्नाम लेनेसे कलियुग, पाप, प्रेत–पिशाच आदि सब भाग जाते हैं। नाममें अनन्त शक्ति है। नाम लेनेसे बड़े–बड़े रोग मिट जाते हैं।

भगवान् हमारे पासमें हैं—ऐसा विश्वास न होनेसे ही भय लगता है।

बड़ोंको यदि छोटोंको शिक्षा देनी हो तो वाणीसे न देकर आचरणसे दे।

× × × ×

सबसे सुगम साधन है—शरणागति। वास्तवमें शरणागत होना नहीं है, हम सदासे भगवान्‌के शरण हैं। परन्तु हमने संसारका आश्रय ले लिया—यह गलती की। मेंहदीके पत्तेमें लालीकी तरह परमात्मा सबमें रहते हुए भी देखनेमें नहीं आते। शरीर–संसार अनित्य हैं, जीव–परमात्मा नित्य हैं। शरीर–संसार

---

*कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्॥ (महा०, वन० ७९।१०)

एक हैं, पर गलतीसे दोनोंको अलग मान लिया। ऐसे ही जीव-परमात्मा एक हैं, पर गलतीसे दोनोंको अलग मान लिया। शरीरको संसारकी सेवामें अर्पित कर दें। **शरीर संसारके अर्पित होगा, संसार शरीरके अर्पित नहीं होगा। छोटा ही बड़ेके पास जाता है।**

× × × ×

मनुष्यमें करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और पानेकी इच्छा है। सेवा करनी है, स्वयंको जानना है और परमात्माको प्राप्त करना है। प्राप्त करनेके लिये परमात्माको मानना है। संसारसे मिली वस्तुको संसारके ही भेंट कर देना चाहिये।

सबमें परमात्माको देखना बड़ी भारी पूजा है। जैसे मूर्त्तिमें परमात्माका पूजन करते हैं, ऐसे ही सबमें भगवान्‌का पूजन करें।

पहले संसारसे जो लिया है, उसे चुकाये बिना और लोगे तो कर्जदार हो जाओगे। **कर्जदारकी मुक्ति नहीं होती।**

नित्यप्राप्तकी प्राप्तिके बिना कोई प्राप्तप्राप्तव्य नहीं हो सकता।

मनुष्ययोनि उन लोगोंके लिये 'कर्मयोनि' है, जिनको भटकना है। जिनको भटकना नहीं है, उनके लिये यह 'साधनयोनि' है। अनुकूल-प्रतिकूल दोनों परिस्थितियाँ साधन-सामग्री हैं।

वृक्ष लगाना धर्मशाला बनवानेसे भी उत्तम है। वृक्षसे पक्षियोंको रहनेकी जगह भी मिलती है और खानेकी सामग्री भी। धर्मशालासे तो बहुत जगह रुकती है, पर वृक्षसे ज्यादा जगह भी नहीं रुकती।

× × × ×

हमारे पास सबसे मूल्यवान् वस्तु है—समय। एक-एक क्षण समझ-समझकर खर्च करें। निरर्थक समय नष्ट न करें। समय देकर आप भगवान्‌की प्राप्ति कर सकते हैं, जीवन्मुक्त हो सकते हैं। मनुष्यजन्म दुर्लभ है, पर मिला हुआ होनेसे उसकी दुर्लभताका पता नहीं लगता। साठ वर्षोंमें कमाये हुए धनसे साठ मिनट भी नहीं मिल सकते। पिछले जन्मोंकी तरह इस जन्मके कुटुम्बी, मकान आदि यादतक नहीं रहेंगे। समयको व्यर्थ नष्ट करना बड़ी भारी हानि है। घड़ी तभीतक चलती है, जबतक चाबी भरी हुई है। धनप्राप्तिमें सब स्वतन्त्र नहीं हैं, पर भगवत्प्राप्तिमें सब स्वतन्त्र हैं।

भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहनेवालेके भगवान् वशमें हो जाते हैं।

भगवान्‌की स्मृति समस्त विपत्तियोंका नाश करनेवाली है—**'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्'** (श्रीमद्भा० ८।१०।५५)। अतः प्रत्येक कार्यके समय भगवान्‌का स्मरण करो।

× × × ×

जिन परमात्माको प्राप्त करना है, वह सबको नित्यप्राप्त है। जिस संसारसे हटना है, वह स्वतः ही हट रहा है। शरीर-संसारके साथ न आप रह सकते हैं, न वे आपके साथ रह सकते हैं। या तो संसारसे उपराम हो जायँ, या परमात्माके सम्मुख हो जायँ।

सभी अवस्थाएँ (जाग्रत् आदि) संसारकी हैं। जिन अंगोंसे हम संसारको देखते हैं, वे भी संसारके ही हैं।

घरमें स्वयं सुख न लेकर दूसरोंको सुख, आदर देना शुरू कर दें। आने-जानेवाली चीजोंसे अपनेको बड़ा मानना गलती है। **आप छोटोंकी रक्षा नहीं करते, तो फिर अपनेसे बड़ोंसे रक्षा चाहना गलती है।** लेनेकी इच्छा छोड़कर सबकी सेवा करें। देनेसे वस्तु बढ़ती है। दूसरोंको सुख देनेसे अपना सुख बढ़ता है।

× × × ×

गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों योगोंका वर्णन आया है। अपनी मान्यता और बुद्धिकी प्रधानता रहनेके कारण टीकाकारोंमें मतभेद रहता है। तत्त्वप्राप्तिमें सब एक हो जाते हैं। अतः साधनमार्गोंकी भिन्नता दोषी नहीं है। दूसरेका खण्डन करना दोषी है। दूसरेका खण्डन करनेवाला वास्तवमें अपना ही खण्डन करता है। सभीका प्रापणीय तत्त्व एक ही है।

भूख और तृप्ति सबकी एक होती है, पर रुचि दोकी भी समान नहीं होती।

हम अपनी बुद्धिसे गीताको नहीं समझ सकते। अतः गीताकी शरण हो जाना चाहिये। गीतामें भगवान्‌ने समग्ररूपका वर्णन विशेषतासे किया है। भगवान्‌के सभी रूप (निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार) समग्रके अन्तर्गत आ जाते हैं। आपने भगवान्‌का जैसा स्वरूप पढ़ा, सुना या समझा हो उसी रूपका ध्यान और नामजप करें। **भगवान् कैसे हैं—यह भगवान् भी नहीं जानते कि मैं कैसा हूँ! वहाँ कैसा-वैसा नहीं चलता। जैसा आप मानें, भगवान् वैसे ही हैं—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११)। बुद्धि प्रकृतिको भी नहीं पकड़ सकती, फिर भगवान्‌को कैसे पकड़ सकती है? पर भगवान् चाहें तो हमारी बुद्धिमें आ सकते हैं। हम भगवान्‌को जान तो नहीं सकते, पर उन्हें अपना मान सकते हैं। जैसे माँको अपना मानें तो माँ पूरी-की-पूरी अपनी है, ऐसे ही भगवान्‌को अपना मानें तो भगवान् पूरे-के-पूरे अपने हैं। **अपनेको भगवान्‌से अलग मान लेना और शरीरको संसारसे अलग मान लेना गलती है।**

भगवान्‌को अपना माननेकी जिम्मेवारी हमारी ही है। भगवान्‌ने तो हमें अपना मान ही रखा है।

× × × ×

राग-द्वेष स्थूल हैं, रसबुद्धि सूक्ष्म है। रसबुद्धिसे संसारकी चीज अच्छी लगती है। रागपूर्वक ग्रहण करना और द्वेषपूर्वक त्याग करना—दोनों ही बाँधनेवाले हैं। **'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्'** (गीता २।६४)-का तात्पर्य है—शास्त्रको सामने रखे, राग-द्वेषको सामने न रखे। **ग्रहण और त्यागका इतना दोष नहीं है, जितना रागपूर्वक ग्रहण और द्वेषपूर्वक त्यागका दोष है।**

वस्तुएँ दोषी नहीं हैं, उनमें महत्त्वबुद्धि दोषी है। मल-मूत्रका त्याग 'मैं' का त्याग है और धनका त्याग 'मेरा' का त्याग है। परन्तु मलके त्यागका अभिमान नहीं आता, धनके त्यागका अभिमान आता है। कारण कि धनमें महत्त्वबुद्धि है, मल-मूत्रमें निकृष्टबुद्धि है।

साधक या तो सुखसे भी सुखी हो जाय और दुःखसे भी सुखी हो जाय अथवा सुखसे भी दुःखी हो जाय और दुःखसे भी दुःखी हो जाय।

अगर आप जल्दी उद्धार चाहते हैं तो किसीके गुण-दोषोंको न देखकर, उसे वासुदेव समझकर मनसे दण्डवत् प्रणाम करो। स्वरूपसे सब निर्दोष हैं। गुण-दोष तो साबुनकी तरह ऊपरसे चिपकाये हुए हैं।

× × × ×

सबसे पहले ओंकारका उच्चारण हुआ है। उससे फिर त्रिपदा गायत्री हुई। जीव भी त्रिपाद है—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। तुरीयावस्था अमात्र है—मात्रासे अतीत है। अहम्‌से रहित स्वरूप अमात्र है। जिसके आधारपर सृष्टि रची जाती है, वह तुरीय (चौथी) अवस्था है। ध्यान-धारणा सूक्ष्मशरीरकी और समाधि कारणशरीरकी होती है। तुरीय सबका आधार और प्रकाशक है। उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही हम यहाँ इकट्ठे हुए हैं। उसकी प्राप्तिमें अहंता (मैं-पन) और ममता (मेरा-पन) बाधक हैं। अहंता-ममताके त्यागसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है। वह परमात्मतत्त्व अवस्थातीत, निरपेक्ष, गुणातीत तत्त्व है।

रावण और हिरण्यकशिपुके राज्यमें भी गर्भपात-जैसा महापाप नहीं हुआ था! आज यह महापाप घर-घर हो रहा है। माँ ही अपनी सन्तानका नाश कर दे तो फिर किससे रक्षाकी आशा करें? बड़े दुःखकी बात है कि ऋषियोंकी सन्तान होकर आज लोग राक्षसोंसे भी नीचे चले गये! अगर संयम रखें तो नसबंदी, गर्भपात आदि पाप क्यों करने पड़ें!

मेरा जनसंख्या बढ़ाने या घटानेका उद्देश्य नहीं है, प्रत्युत मुक्तिका उद्देश्य है।

× × × ×

राग ही जन्म-मरणका कारण है। राग मिटेगा

जीवनका एक उद्देश्य बननेसे। आजकल पढ़ाईका उद्देश्य क्या है—इसका भी मुझे अभीतक ठीक उत्तर मिला नहीं! **उद्देश्य बने बिना भटकना मिटेगा नहीं।** बचपनमें खेल-कूद अच्छा लगता था। बड़े होनेपर रुपयोंका उद्देश्य हो गया तो सब खेल-कूद छूट गये। ऐसे भगवान्‌का उद्देश्य हो जाय तो कितना लाभ है!

भगवान्‌को अपना मान लो तो सब काम ठीक हो जायगा। भगवान्‌के सिवाय अपना कोई था नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। **अन्य भावोंकी अपेक्षा मित्रभावमें विलक्षणता है कि अपनेसे छोटे, समान तथा बड़े सबसे मित्रता हो सकती है।** भगवान्‌ने सिद्ध (निषादराज), साधक (विभीषण) और संसारी (सुग्रीव)—तीनोंको अपना मित्र बनाया। निषादराजने पहले भगवान्‌से कहा कि हमारे घर पधारो, विभीषणने बादमें कहा और सुग्रीवने कहा ही नहीं! अतः **आप कैसे ही हों, भगवान्‌के मित्र बन सकते हैं।** परन्तु साधक बनकर मित्रता करो, संसारी (भोगी) बनकर नहीं। भगवान्‌में तो मित्र, माता, पिता, गुरु, बेटा आदि सबकी भूख है! भरतजीमें दास्यभाव भी था, मित्रभाव भी था। खास बात है—***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'।*** सबकी सेवा करो, पर किसीसे कुछ चाहो मत। **भगवान्‌से भी आशा मत रखो।**

× × × ×

परमात्माका ज्ञान परमात्मासे अभिन्न होनेपर ही होता है और संसारका ज्ञान संसारसे अलग होनेपर ही होता है—यह बात आप याद कर लें।

संसारको सत्ता-महत्ता देते हुए राग-द्वेष मिटेंगे नहीं और राग-द्वेष मिटे बिना **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव होगा नहीं। **जिसके भीतर राग नहीं है, वैराग्य है, वही 'वासुदेवः सर्वम्' को जान सकता है। वैराग्यकी आवश्यकता प्रत्येक साधकको है।**

'हमने रुपयोंका त्याग कर दिया है'—यह भाव भी रुपयोंका महत्त्व है। **त्याज्य वस्तुका महत्त्व होनेसे ही त्यागका अभिमान आता है।** अगर संसारके त्यागका अभिमान हो तो वास्तवमें संसारका तत्त्व जाना नहीं।

श्रोता—वैराग्य कैसे हो?

स्वामीजी—वैराग्य होता है—वैराग्यवान् सन्तका संग करनेसे अथवा उनकी बातें सुननेसे, उनकी पुस्तकें पढ़नेसे। भगवान्‌में प्रेम हो जाय तो संसारसे वैराग्य हो जायगा।

× × × ×

संसारकी कोई भी वस्तु सुखबुद्धिसे न लें। भोजन करें तो औषधरूपसे करें। किसीसे बात भी करें तो उसमें सुख न लें। **सुख लेनेसे परमात्मप्राप्तिकी लगन नहीं होती, संसारमें खर्च हो जाती है।** लगनवालेको भगवान्‌की ओरसे सब चीज मिलती है। अतः लगन बढ़ायें। नामजप और प्रार्थना करें। कोई काम सुखबुद्धिसे न करें।

× × × ×

जैसे आपके मनमें स्वतः-स्वाभाविक यह भाव है कि हम यहाँ स्थायी रहनेवाले नहीं हैं, सत्संगके लिये आये हैं और चले जायँगे। ऐसे ही घरमें रहते हुए यह मान लें कि हम यहाँ आये हैं और चले जायँगे। यहाँ कोई रहनेवाला नहीं है, सब जानेवाले हैं। जितना स्थायीभाव होता है, उतना ही अन्याय होता है।

नहीं सोचो तो शामकी भी मत सोचो, और सोचो तो जन्मके बादकी भी सोचो।

शरीरका पता नहीं, जो करना हो जल्दी कर लेना चाहिये।

× × × ×

जैसे शरीरमें हृदय-देश मुख्य है, ऐसे भारत भूमण्डलका हृदय-देश है। इसमें मनुष्य अपनी बहुत जल्दी उन्नति कर सकते हैं। कलियुगमें तो बहुत जल्दी अपना कल्याण कर सकते हैं। भारतमें भी गंगा-यमुनाके बीचका देश विशेष पुण्यकारक है। इसमें पुण्यका फल भी बढ़िया होता है और पापका फल भी!

× × × ×

मेरे मनकी हो जाय—इसका नाम कामना है। **हम सभीसे अपनी मनचाही चाहते हैं—यह बाधक है।** हमारा भाव यह होना चाहिये कि दूसरोंकी मनचाही हो जाय। यदि भगवान् और सन्तकी हाँ-में-हाँ मिला दें तो जीवन्मुक्त हो जायँ।

संसारका सम्बन्ध तो मनमें पड़ा है, पर समझते हैं बाहर!

भगवत्सम्बन्धी बातसे लाभ होता ही है, और संसार-सम्बन्धी बातसे नुकसान होता ही है।

किसीको बुरा समझना अपने लिये और उसके लिये—दोनोंके लिये हानिकारक है।

× × × ×

कल्याण गंगाजीमें नहीं पड़ा है, आपके भावमें पड़ा है—*'जेहि जिव उर नहचो धरै, तेहि ढिग परगट होय'* (जीव जहाँ निश्चय करता है, भगवान् वहीं प्रकट हो जाते हैं)। गंगास्नान, नामजप आदि करके निश्चिन्तता आ जानी चाहिये कि अब हमारा कल्याण होगा ही, इसमें कोई सन्देह नहीं। निश्चिन्तता असली होनी चाहिये, नकली नहीं। ***'सबै भूमि गोपाल की, तिसमें अटक कहा। जिसके मनमें अटक है, सोई अटक रहा॥'*** वास्तवमें कल्याण स्वत:सिद्ध है, पर जीवने अपनी मान्यतासे बन्धन कर रखा है। बन्धन, दु:ख, दरिद्रता आपकी बनायी हुई है।

हे नाथ! मैं आपका हूँ, अब कुछ करना-जानना-पाना नहीं, कोई भय-चिन्ता नहीं—यह इसी क्षण स्वीकार कर लें।

भगवान् किसी जीवसे अलग हो जायँ—यह भगवान्की सामर्थ्यके बाहरकी बात है। भगवान्के बिना नरककी भी सत्ता नहीं है। **भगवान् जैसे वैकुण्ठमें हैं, वैसे-के-वैसे ही नरकोंमें भी हैं। जो कहीं हो, कहीं न हो, वह भगवान् नहीं हो सकता। जो किसीका हो, किसीका न हो, वह भी भगवान् नहीं हो सकता।** भगवान्का कहीं भी अभाव कैसे हो सकता है? आप पाप करते हो तो भगवान् नरकमें उसकी सजा देते हैं। उस सजामें भी मजा है! उससे जीवके पाप कटते हैं और वह शुद्ध होता है। भगवान्के प्रसादमें करेला भी होता है, रसगुल्ला भी। शुद्ध-से-शुद्ध जगहमें और गन्दी-से-गन्दी जगहमें भी भगवान् वैसे-के-वैसे ही हैं। गन्दापना अनित्य है, भगवान् नित्य हैं। अच्छी-गन्दी आपकी भावना है। यह हमारी बनायी हुई है, भगवान् बनाये हुए नहीं हैं।

'जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं' (मानस, किष्किन्धा० १०। २)—**यह आपकी धारणाके कारण है। वास्तवमें भगवान् 'जतन' के अधीन नहीं हैं।** आप उन्हें स्वीकार कर लें तो वे आ जायँगे। भगवान् सब जगह हैं, पर आप उनको स्वीकार नहीं करते—यही बाधा है। यदि आपसे स्वीकार नहीं होता तो रोकर भगवान्से कहो। आपमें बेचैनी आनी चाहिये। व्याकुल हो जाओ तो समाधान हो जायगा। अगर व्याकुलता कम होती है तो देरी होगी, पर लाभ अवश्य होगा। आप देरी सहते हो, इसलिये देरी होती है। या तो मस्त, निर्भय, निश्चिन्त हो जाओ, या व्याकुल हो जाओ। कोई एक पूरी बात हो। अधूरापन नहीं रहना चाहिये। जैसा आपका स्वभाव हो, वैसा हो जाओ।

× × × ×

'मैं गृहस्थ हूँ'—यह अहंता रहेगी तो गृहस्थका काम तत्परतासे होगा, साधनका काम बारी निकालना होगा। अत: 'मैं साधक हूँ'—यह अहंता होनी बहुत आवश्यक है। ऐसी अहंता रहनेपर साधनविरुद्ध काम नहीं होगा। अहंता (मैं-पन) बदलनेपर जीवन बदल जाता है।

अच्छा साधक भूलमें भी साधन-विरुद्ध काम नहीं करता। वह शरीरकी भी परवाह नहीं करता। **शरीरका विशेष खयाल रखेगा तो साधन ठीक नहीं होगा—*'जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि'*** (मानस, अयोध्या० १४२। १), ***'राम भजनमें देह गले तो गालिये'।***

× × × ×

बेईमानीसे बन्धन है, ईमानदारीसे मुक्ति है। संसार-शरीरको अपना मानना बेईमानी है। विचार करें, शरीरपर अपना वश चलता है क्या? या तो इसपर अपना अधिकार जमा लो, या इसको अपना मानना छोड़ दो। शरीर किसी भी दृष्टिसे अपना नहीं है। शरीर संसारसे अलग नहीं हो सकता। शरीरको संसारकी सेवामें लगाना कर्मयोग है, प्रकृतिका मानना ज्ञानयोग है और भगवान्‌का मानना भक्तियोग है। शरीरको अपना मानना जन्ममरणयोग है!

जिसकी चीज है, उसीको दे दी तो मुक्ति हो गयी। अपना माननेमें जोर आता है, छोड़नेमें क्या जोर? प्रबन्ध करो, पर अपना मत मानो। जो चीज मिली है और बिछुड़नेवाली है, वह वस्तु अपनी नहीं होती। अपनी वस्तु 'शोकशंकु' (शोकरूपी काँटा) है—

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

(विष्णुपुराण १। १७। ६६)

'जीव अपने मनको प्रिय लगनेवाले जितने ही सम्बन्धोंको बढ़ाता जाता है, उतने ही उसके हृदयमें शोकरूपी काँटे गड़ते जाते हैं।'

श्रोता—निर्विकल्प बोध और उसकी प्राप्तिकी विधि क्या है?

स्वामीजी—बोध है—'है', और विधि है—'नहीं' का त्याग।

× × × ×

जैसे विवाह होनेके बाद व्यक्ति आजीवन विवाहित ही रहता है, कुँआरा नहीं होता, ऐसे ही आप एक बार भगवान्‌के शरण होनेके बाद सदा शरणमें ही रहें। सन्तुष्ट हो जायँ कि अब अपने घर आ गये! अब भजन-स्मरण ही करना है। संसारकी अनुकूलता और प्रतिकूलतासे हमें कोई मतलब नहीं। अब हम भगवान्‌के हो गये। जैसे, अब हम विद्यालयमें भरती हो गये, अब हमें पढ़ाई करना है। यह सावधानी रखें कि समय व्यर्थ न जाय। किसी समय भगवान्‌का चिन्तन न हो तो यह घाटा है, नुकसान है। **भगवत्प्राप्तिमें देरी आपके कारण हो रही है। आप देरीको सहन कर रहे हो।** भगवत्प्राप्ति, तत्त्वज्ञान अथवा संसारका त्याग तत्काल होता है, धीरे-धीरे नहीं। क्या विवाह होनेमें, दान देनेमें कई दिन लगते हैं?

किसी गुरुमें श्रद्धा न रहे तो उनके दिये नामकी एक माला रोज जप ले और उनकी निन्दा न करे।

× × × ×

व्यवहारमें तो संसार है—ऐसा दीखता है, पर विचार करें तो संसार निरन्तर अभावमें जा रहा है। संसारका अभाव ही सच्चा है, संसार सच्चा नहीं है। 'है' का विभाग परमात्मा हैं और 'नहीं' का विभाग संसार है। संसार बनावटी है। बनावटी चीज नकली होती है। जैसे मिट्टीके बरतन बनावटी हैं, मिट्टी ही सत्य है, ऐसे ही संसार बनावटी है, परमात्मा ही सत्य हैं। संसारसे परमात्माको, मिट्टीके बर्तनोंसे मिट्टीको निकाल दो तो क्या शेष रहेगा? संसाररूपसे परमात्मा ही बने हुए हैं। अतः भाव, क्रिया, पदार्थसे सबको सुख पहुँचायें, किसीको कष्ट न पहुँचायें तो यह **'वासुदेवः सर्वम्'** हो जायगा।

जो संसारसे कुछ चाहता है, वह घाटे-ही-घाटेमें रहता है।

× × × ×

जिसके भीतर भगवत्प्राप्तिकी भूख हो, उसके लिये **'वासुदेवः सर्वम्'** बहुत बढ़िया बात है। **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव करनेवाला दुर्लभ महात्मा बन जाता है। **सब जगह भगवान्‌को देखनेवालेसे भगवान् कभी छिप नहीं सकते—यह रहस्यकी बात है।** तू ही है—यह परमात्माकी उपासनाका एक तरीका है।

'वे' उसको कहते हैं, जो खास अपने हैं। 'वही', 'सोई' का भी यही तात्पर्य है—यह गुप्त बात है। रामायणमें कई जगह 'सोई' पद आया है।

सब जगह भगवान्‌को ही देखना उनको पकड़नेका उत्तम साधन है।

× × × ×

संसारका परिवर्तन कभी बन्द नहीं होता, निरन्तर चलता रहता है। **संग्रह और सुखभोगके समय यह परिवर्तनशील नहीं दीखता, आँखें मिच जाती हैं!** यदि साधककी दृष्टि संसारकी परिवर्तनशीलताकी तरफ निरन्तर बनी रहे तो भोग तथा संग्रहकी इच्छा नहीं रहेगी। भोग तथा संग्रहकी इच्छा मिटनेसे ही साधन बनता है, अन्यथा बेहोशी रहती है। शरीर-संसार जा रहे हैं—यह जागृति रहनी चाहिये। परिवर्तनशीलका ज्ञान होनेसे अपरिवर्तनशीलका ज्ञान स्वतः हो जाता है। संसारके परिवर्तनमें कभी विश्राम होता ही नहीं। संसारमें निरन्तर श्रम-ही-श्रम है। विश्राम केवल परमात्मामें ही है।

परिवर्तनको देखनेसे परिवर्तन मिट जायगा। अपरिवर्तनको देखनेसे अपरिवर्तनकी प्राप्ति हो जायगी। इन दोनोंका नाम योग है। संसारका सम्बन्ध विवेक-विरोधी है और परमात्माका सम्बन्ध विवेक-सम्मत है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर संसारका अभाव हो जायगा।

× × × ×

दूसरोंके साथ मैं-मेरेका सम्बन्ध न रखकर केवल सेवाका सम्बन्ध रखे। सेवाके लिये ही सम्बन्ध रखनेसे वह सम्बन्ध बन्धनकारक नहीं होगा। समय, समझ, सामग्री और सामर्थ्यको केवल सेवामें ही खर्च करना है।

अपने लिये कर्म करनेसे शरीरमें अहंता-ममता दृढ़ होते हैं और दूसरोंके लिये कर्म करनेसे अहंता-ममता शिथिल होते हैं। **दूसरोंके साथ केवल सेवाका सम्बन्ध रखनेका परिणाम है—सम्बन्ध-विच्छेद। चाहे मैं-मेराका सम्बन्ध न रखे, चाहे सेवाका सम्बन्ध रखे, दोनोंका परिणाम एक ही है—सम्बन्ध-विच्छेद।** दोनों ही साधन हैं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (गीता २। ४७)

'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं।'

तात्पर्य है कि हमारा दूसरोंकी सेवा करनेका अधिकार है, सेवा लेनेका नहीं। कर्तव्य अपना है, अधिकार दूसरेका। जैसे, माता-पिताकी सेवा करना पुत्रका कर्तव्य है और माता-पिताका अधिकार है।

× × × ×

जो कुछ करता है, केवल अपने लिये करता है, वह साधक नहीं होता, प्रत्युत संसारी होता है। चाहे संसारके लिये करो, चाहे प्रकृतिके लिये करो, चाहे भगवान्‌के लिये करो, पर अपने लिये मत करो। संसारके लिये करना भौतिक साधना (कर्मयोग) है, प्रकृतिके लिये करना आध्यात्मिक साधना (ज्ञानयोग) है और भगवान्‌के लिये करना आस्तिक साधना (भक्तियोग) है।

आपका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्ति हो तो आप संसारको सत्य मानो, असत्य मानो, अनिर्वचनीय मानो, साधन हो सकता है। **संसारकी सत्ता नहीं बाँधती, इसकी महत्ता, स्वार्थबुद्धि, लेनेकी इच्छा ही बाँधनेवाली है।** यदि संसारको सत्य मानो तो उसकी वस्तुओंसे संसारकी सेवा करें। कर्मसे सेवा तेज है, सेवासे पूजा तेज है। दूसरेकी सुख-सुविधाके लिये कर्म करनेसे कल्याण हो जाता है—यह भौतिक साधना है। सड़कपर काँटा पड़ा हो तो उसको एक तरफ कर देना भौतिक साधना है। सबको भगवत्स्वरूप मानकर पूजनबुद्धिसे उनकी सेवा करें तो '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जायगा। बन्धन लेनेसे होता है। त्यागनेसे बन्धन खुल जाता है।

सरोवरमें डुबकी लगाओ तो मनों जल ऊपर रहनेपर भी अपने ऊपर भार नहीं आयेगा। परन्तु अपना मानकर घड़ा कंधेपर लोगे तो भार हो जायगा। भार अपना माननेमें है।

कल्याण त्यागसे होता है, वेदान्त पढ़नेसे नहीं।

× × × ×

विचार करना चाहिये कि अबतक कितने वर्ष बीत गये, उसमें हमने क्या किया? यदि यही गति रही तो आगे कब काम पूरा होगा? यदि नहीं कर सकते तो गति बदलो। हम प्रतिक्षण मर रहे हैं। एक-एक श्वासको कीमती समझो।

× × × ×

परिवार-नियोजन भारतवर्षके लिये बड़ी घातक चीज है। भारतमें जितने तरहका अन्न, फल, जड़ी-बूटी आदि पैदा होती हैं, उतनी किसी देशमें नहीं। यहाँ सूर्यकी कई तरहकी किरणें पड़ती हैं। यहाँ छः ऋतुएँ होती हैं, जो अन्य जगह नहीं होतीं। शूरवीर, सती, ब्रह्मचारी, राजा, सन्त-महात्मा आदि जैसे इस देशमें हुए, उतने अन्य देशमें नहीं।

× × × ×

करनेसे ही बन्धन हुआ है। करना सर्वथा छोड़ दो तो तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। करनेसे प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होता है। भगवान् भी अवतारकालमें प्रकृतिकी सहायतासे ही क्रिया (लीला) करते हैं। जो सब देश-कालादिमें परिपूर्ण है, उस परमात्माकी प्राप्तिके लिये क्या करना? करनेसे तो हम उनसे दूर होते हैं! परमात्मा अप्राप्त नहीं हैं। करनेमें लगे रहनेसे उनका अनुभव नहीं होता। गीतामें भी **'एवं विदित्वा'** (२।२५) कहा है, **'एवं कृत्त्वा'** नहीं कहा।

श्रोता—परन्तु मनुष्य कर्म किये बिना रह सकता ही नहीं—**'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** (गीता ३।५)।

स्वामीजी—प्रकृतिके परवश होनेसे ही करना पड़ता है। कोई रेलपर चढ़ जायगा तो उसे जाना ही पड़ेगा। परन्तु प्रकाशमें क्या क्रिया होती है? अतः **शान्त, चुप हो जाओ तो तत्त्वका अनुभव स्वतः हो जायगा।**

× × × ×

सभी ग्रन्थोंमें गीताकी वाणी विलक्षण है; क्योंकि यह भगवान्‌की वाणी है! भगवान् अनादि हैं। उनका सिद्धान्त बहुत विलक्षण है। वह सिद्धान्त है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७।१९) 'सब कुछ वासुदेव ही है'। **मनका लगना और न लगना—ये दो अवस्थाएँ तभीतक हैं, जबतक एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ताकी मान्यता है। 'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव करनेके लिये मन-वाणी-शरीरसे सबका आदर करें, सबका सुख चाहें। किसीका भी बुरा न चाहें।

यदि त्रिलोकीकी सेवा करना चाहते हो तो बुराई न करो, न सोचो, न सुनो, न कहो। बुराई छोड़नेसे भलाई स्वतः होगी। स्वतः होनेवाली चीज ही सदा रहती है। सद्‌गुण-सदाचार नित्य हैं। आसुरी सम्पत्तिको हटानेसे दैवी सम्पत्ति स्वतः प्रकट होगी। भलाईमें जो कमी है, उसीका नाम बुराई है।

हमें संसार स्वतः-स्वाभाविक दीखता है। वास्तवमें परमात्मा स्वतः-स्वाभाविक हैं, संसार नहीं। संसार परतः है। परमात्मा प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत प्रमाण उससे सिद्ध होते हैं। परमात्मासे प्रकाशित होनेवाली वस्तु परमात्माको कैसे प्रकाशित करेगी?

जबतक त्यागी है, तबतक त्याग नहीं हुआ। त्याग होनेपर त्यागी नहीं रहता।

× × × ×

'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'—इसमें खास बात है ***'दूसरो न कोई'*** अर्थात् अनन्यभावसे भगवान्‌को अपना मानें। एक भगवान्‌के सिवाय किसीको भी अपना न मानें। केवल भगवान्‌को ही अपना माननेकी सामर्थ्य मनुष्यमें ही है, देवता आदिमें नहीं। गीतामें आया है कि देवता भी भगवान्‌के चतुर्भुज रूपको देखनेके लिये नित्य लालायित रहते हैं (११।५२), फिर भी वे देवता बने बैठे हैं! भगवान्‌की प्राप्तिमें अन्यका आश्रय ही बाधा है। देवताओंमें अनन्यता नहीं है। आपकी इच्छा भी देवताओंकी इच्छा-जैसी है। अनन्यता भी भगवान्‌से माँगो। भूख न लगे तो भूखकी भूख तो लगनी चाहिये कि भूख कैसे लगे? तभी वैद्यके पास जाते हैं। ऐसे ही अनन्यताकी भूख लगनी चाहिये कि अनन्यता

कैसे हो?

सन्त-महात्मा वही बात कहते हैं, जो हम कर सकते हैं। शास्त्र, धर्म, सन्त-महात्मा और भगवान्—ये कभी किसीके विमुख नहीं होते।

खोज करो तो गलती अपनी ही निकलेगी, भगवान्‌की नहीं। **जबतक दूसरेकी गलती दीखती है, तबतक हमारी बड़ी भारी गलती है।** दूसरोंकी तरफ देखे ही नहीं। भागवत, एकादश स्कन्धमें कदर्य ब्राह्मणकी कथा आती है। लोग उसपर पेशाब भी कर देते तो उसको लोगोंकी गलती न दीखकर अपनी ही गलती दीखती थी। जबतक दूसरेकी कमी दीखती है, तबतक अपनी बड़ी भारी कमी है।

× × × ×

ज्ञानकी पहली भूमिका 'शुभेच्छा' तो आपमें है। कमी दूसरी भूमिका 'विचारणा' की है। प्रत्येक कार्य विचारपूर्वक करो, सुचारुरूपसे करो। किसीको किंचिन्मात्र भी दु:ख न हो। किसीके मनके विरुद्ध काम न हो। **हृदयमें किसीका बुरा सोचना छोड़ दो। इससे आध्यात्मिक मार्गमें बड़ी उन्नति होगी।**

मीठा बोलण, निंब चलण, पर अवगुन ढक लैण।
पाँचों चंगा नानका, हरि भज, हाथां दैण॥

सत्संग सुननेवालोंसे लोग अच्छे बर्तावकी आशा रखते हैं। अमृतका प्रसार करो, विषका नहीं। **भला होनेके लिये बुराईका त्याग आवश्यक है।**

सबकी सेवा करें, आशा किसीसे न रखें। आशा पूरी होनेपर मोहमें फँस जायँगे और आशा पूरी न होनेपर क्रोधमें फँस जायँगे।

× × × ×

अनुकूल परिस्थिति मिले, प्रतिकूल न मिले—यह इच्छा कीट-पतंगसे लेकर ब्रह्माजीतक रहती है। परिस्थिति आने-जानेवाली है। वास्तविक तत्त्व सम है।

रुपयोंसे स्वाधीनता नहीं आती, प्रत्युत पराधीनता आती है। स्वाधीनता तब आती है, जब कोई इच्छा न रहे। मनचाही बात होनेपर राजी हो गये तो यह मनकी परतन्त्रता है। **सर्वथा इच्छारहित होना ही असली स्वतन्त्रता है।** राज्य, सम्पत्ति, योग्यता आदि सब 'पर' है। अपने जीनेकी इच्छा भी नहीं रहनी चाहिये। भगवान्‌की चाहमें अपनी चाह मिला दे। **मरनेकी इच्छा कोई नहीं करता, पर जीता कोई नहीं रहता!**

दूसरेके दु:खसे दु:खी होनेपर अपने दु:खसे दु:खी नहीं होना पड़ता। दूसरेके सुखसे सुखी होनेपर 'भोग'की इच्छा नहीं रहती, और दूसरेके दु:खसे दु:खी होनेपर 'संग्रह'की इच्छा नहीं रहती।

कामना मिटनेसे ममता और अहंता—दोनों मिट जाती हैं। **चाहरहित मनुष्यका हृदय कोमल होता है। चाहवालेका हृदय कठोर होता है।**

× × × ×

राजनीति नरकोंमें जानेके लिये है—तपेश्वरी, फिर राजेश्वरी, फिर नरकेश्वरी। नीतिशास्त्रसे धर्मशास्त्र और धर्मशास्त्रसे मोक्षशास्त्र श्रेष्ठ है। मोक्षशास्त्र कल्याणके लिये है।

अपने लिये कुछ नहीं करना है। सब कुछ दूसरोंके लिये ही करना है। पंचकोश कहनेका तात्पर्य यही है कि यह प्रकृतिका है, हमारा नहीं है। जप, तप, ध्यान, समाधि आदि भी अपने लिये नहीं हैं। तीनों शरीर मेरे लिये नहीं है, फिर उनसे किये गये जप, तप आदि मेरे लिये कैसे हुए?

श्रोता—भजन क्या है?

स्वामीजी—जैसे बच्चा माँके बिना, प्यासा पानीके बिना रह नहीं सकता, ऐसे ही भगवान्‌के बिना रह न सके—इसका नाम भजन है।

जैसे करोड़पतिका लड़का पितासे दस-पंद्रह हजार रुपये माँगता है तो वह अलग होना चाहता है, ऐसे ही **भगवान्‌से कुछ माँगना उनसे अलग होना है।**

भगवान् ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिको, साधु-संन्यासीको नहीं मिलते, प्रत्युत 'भक्त'को मिलते हैं। बालक माँपर अधिकार अपनेपनसे करता है, तपस्या, सामर्थ्य, योग्यतासे नहीं। **तपस्यासे प्रेम नहीं मिलता, शक्ति**

मिलती है।

वर्ण और आश्रम मर्यादा रखनेके लिये हैं, अभिमान करनेके लिये नहीं।

× × × ×

निष्काम होनेसे मनुष्य मुक्त, भक्त सब हो जाता है। भगवान्‌के साथ सम्बन्ध मानें तो कामना नहीं रहेगी। भगवान्‌से भी बढ़कर संसार हमें कुछ दे सकता है क्या?

जबतक संसारमें आसक्ति है, तबतक भगवान्‌में असली प्रेम नहीं है।

आप भगवान्‌के किसी मनचाहे रूपको मान लो और भगवान्‌के मनचाहे आप बन जाओ।

× × × ×

तत्त्वज्ञान होनेके बाद दास्य, सख्य आदि भाव होते हैं। ये भाव चिन्मयके साथ होते हैं, जड़के साथ नहीं। जड़में दास्य, सख्य आदि भाव होनेसे कल्याण नहीं होता।

संसारका ज्ञान होनेसे ही वैराग्य होगा। जैसे गायके शरीरमें रहनेवाला घी काम नहीं देता, ऐसे ही सीखा हुआ ज्ञान काम नहीं देता।

पहले विवेकका आदर करो, फिर ज्ञान, भक्ति सब हो जायँगे। अविवेकको दूर करनेका नाम विवेक है। अज्ञानको दूर करनेका नाम ज्ञान है। शरीर 'मैं' और 'मेरा' है—यह अविवेक है। शरीरके साथ मैं-मेरेका सम्बन्ध विवेक-विरोधी सम्बन्ध है। सम्बन्ध जोड़ना अथवा तोड़ना वर्तमानकी वस्तु है और इसमें कोई असमर्थ और पराधीन नहीं है।

× × × ×

आप कैसे ही हों, अभी इसी क्षण मान लें कि मैं भगवान्‌का हूँ। यह भक्ति है। इसमें जड़ता नहीं है। जबतक सुख-आराम, मान-बड़ाई आदिकी चाहना रहेगी, तबतक जड़ता रहेगी। अत: ***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'***—ऐसा मान लें तो जो भक्ति अंतमें है, वह अभी हो जायगी। सख्य, दास्य आदि भाव भी अभी हो सकते हैं।

गीतासे मेरा सर्वप्रथम परिचय सं० १९७२ में (बारह वर्षकी अवस्थामें) हुआ था। गीताके विषयमें कोई मुझे सिखा दे, ऐसा न कोई व्यक्ति मिला, न कोई गीताकी टीका मिली! गीताके विषयमें मैं अपनेको अनजान भी नहीं मानता और पूर्ण जानकार भी नहीं मानता; क्योंकि पूर्ण जानकार मान लेनेसे आगे उन्नति रुक जायगी। इसलिये मुझे अब भी गीतामें नयी-नयी बातें मिलती हैं।

जो थोड़ेमें ही सन्तोष कर लेते हैं और अपनेको पूर्ण मान लेते हैं, वे वास्तविक तत्त्वतक कैसे पहुँच सकते हैं? सन्तोष प्रारब्धमें करना चाहिये, नये कर्म अथवा साधनमें कभी नहीं। **अल्पमें सन्तोष मत करो। जीवन्मुक्त मत बनो।**

× × × ×

जिस विषयमें कुछ जानते हैं, वहाँ 'विवेक' लगता है। जिस विषयमें कुछ भी नहीं जानते, वहाँ 'श्रद्धा' लगती है। शरीर बदल गया, पर मैं वही हूँ—इसमें विवेक काम करेगा। शरीरके साथ सम्बन्ध मानना अविवेक है। अविवेकपूर्वक जोड़ा गया सम्बन्ध तत्काल मिटता है। **अविवेकको मिटाये बिना साधन शुरू ही नहीं होगा।** अविवेकको मिटानेसे तत्काल सिद्धि होती है। विवेकका आदर न करनेका नाम 'अविवेक' है। **विवेकका आदर करनेसे सभी साधन सुगम हो जायँगे।**

भगवान् मेरे हैं—यह श्रद्धा है। भक्ति श्रद्धाप्रधान है। तात्पर्य है कि भक्तिमें विवेक होते हुए भी श्रद्धाकी प्रधानता है। कोई भी साधन विवेकके बिना नहीं है। विवेक तत्काल होता है, इसका टुकड़ा नहीं होता।

भगवान्‌में श्रद्धा करो और संसारका त्याग करनेमें विवेक लगाओ।

× × × ×

परमात्मप्राप्तिकी अभिलाषा कम है, इसलिये यह कठिन दीख रही है। विचार करनेसे कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों सुगम दीखते हैं।

गीतामें कर्मयोग और भक्तियोगको ज्ञानयोगकी अपेक्षा सुगम बताया है। रामायणमें ज्ञानको समझना सुगम और भक्तिका मार्ग सुगम बताया है[1], तथा ज्ञानका मार्ग कठिन और भक्तिको समझना कठिन बताया है[2]।

शालिग्राम भगवान् हैं—यह समझना बड़ा कठिन है, पर श्रद्धा-विश्वास कर सकते हैं। अतः भक्तिमें समझना कठिन है, पर श्रद्धा-विश्वास करना सुगम है।

ज्ञानयोगमें पहले देहाभिमानका त्याग करना है। जीव, जगत् और ब्रह्मको बुद्धिका विषय बनायेंगे तो ज्ञानयोग कभी सिद्ध नहीं होगा।

प्रत्येक साधकके लिये खास बाधा है—सुख-लोलुपता। सुखासक्तिका त्याग किये बिना प्रत्येक साधन कठिन पड़ेगा।

कल्याण सुगमतासे, शीघ्र और हरेकका हो जाय—इसका मैं पक्षपाती हूँ, साधन चाहे कोई भी हो!

गीतामें सांख्ययोगसे कर्मयोगको श्रेष्ठ बताया है—'**तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते**' (गीता ५।२), और कर्मयोगसे भक्तियोगको श्रेष्ठ बताया है—'**श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः**' (गीता ६।४७)। ज्ञानयोग तथा कर्मयोग लौकिक हैं, भक्तियोग अलौकिक है। ज्ञान कठोर है, भक्ति बहुत कोमल है!

भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९।३०)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभक्त होकर मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।'

'**अनन्यभाक्**' का अर्थ है—अनन्य आश्रय। पतिव्रताकी तरह एकका ही आश्रय हो—***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'***।'**साधुरेव स मन्तव्यः**'—यह प्रभुसम्मत वाक्य है। अब एक परमात्माको ही प्राप्त करना है—यह '**सम्यग्व्यवसितो हि सः**' है।

× × × ×

श्रवण, मनन आदि 'पिपीलिका मार्ग' है और सत्संग 'विहंगम मार्ग' है। सत्संगसे तत्काल सिद्धि होती है। **जो एकान्तमें बैठकर भजन करनेकी बात कहते हैं, वे न सत्संगके तत्त्वको जानते हैं, न भजनके तत्त्वको। वे ऐसा कहकर दूसरेका बड़ा भारी अहित करते हैं।**

दूसरेको सुख देनेसे अपनी सुखलोलुपता मिटती है। अपने सुखके लिये कुछ भी करना आसुरी वृत्ति है। यह सुखलोलुपता बड़ी भारी बाधा है। जबतक यह है, तबतक कल्याण नहीं होगा। **सुखलोलुपताकी डोरी बँधी रहेगी तो रातभर नाव खेते रहो, भजन-ध्यान करते रहो, पर वहीं-के-वहीं रहोगे।** सुखलोलुपतासे नुकसान किसी तरहका बाकी नहीं, लाभ कोई नहीं।

× × × ×

जैसे दाहिका और प्रकाशिका—दोनों शक्तियाँ अग्निसे अलग नहीं रह सकतीं, ऐसे ही क्षर (अपरा) और अक्षर (परा)—दोनों शक्तियाँ परमात्मासे अलग नहीं रह सकतीं। शक्ति शक्तिमान्के बिना नहीं रह सकती, पर शक्तिके बिना शक्तिमान् रह सकता है। शक्ति स्वतन्त्र नहीं रह सकती। शक्तिमान्की स्वतन्त्र सत्ता है। शक्तियों (क्षर और अक्षर)- के बिना परमात्मा रह सकते हैं, इसलिये भगवान्ने अपनेको क्षर-अक्षर दोनोंसे अन्य बताया है—'**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः**' (गीता १५।१७)।

परमात्माके टुकड़े नहीं होते। प्रकृतिके अंशको

---

१. 'निर्गुन रूप सुलभ अति' (मानस, उत्तर० ७३ ख)
'कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।' (मानस, उत्तर० ४६।१)

२. 'ग्यान पंथ कृपान कै धारा।' (मानस, उत्तर० ११९।१)
'सगुन जान नहिं कोइ' (मानस, उत्तर० ७३ ख)

पकड़नेसे जीव अंश हुआ है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७)। जैसे धनी भी आदमी है, गरीब भी आदमी है। धनको स्वीकार करनेसे वह धनी कहलाता है, धनको स्वीकार न करे तो वह आदमी तो है ही। ऐसे ही **प्रकृतिके अंशको पकड़नेसे जीव है, न पकड़े तो साक्षात् ब्रह्म है।**

चेला बनानेवाले बड़ा अपराध करते हैं कि चेलेकी पूर्ति (कल्याण) तो कर सकते नहीं और चेलेको अटका देते हैं—कहीं जाने देते नहीं।

× × × ×

सबके अनुभवकी बात है कि संसारमें सन्तोष नहीं होता, तृप्ति नहीं होती। बड़े-से-बड़े धनी आदिको देख लो, कोई भी सन्तुष्ट नहीं है। **संसारमें जो मिला है, वह नमूना है। उसमें सन्तोष नहीं हुआ तो त्रिलोकीकी वस्तुएँ मिलनेपर भी सन्तोष होगा नहीं।** सब-के-सब व्यक्ति-पदार्थ मिलकर एक व्यक्तिको भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते। कारण कि **सब वस्तुएँ शरीरतक पहुँचती हैं, आपतक नहीं पहुँचतीं।** इसलिये इनसे ऊँचा उठना है। शान्ति प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें है।

हम भोगोंका त्याग तो कर सकते हैं, पर परमात्माका त्याग कर सकते ही नहीं। भर्तृहरिजीने भोगोंका त्याग कर दिया और फिर भगवान्‌में ही लग गये, उनको नहीं छोड़ा।

× × × ×

अनेक जगह सत्ता माननेसे मन एक जगह नहीं लग सकता। यदि मनमें अनेक सत्ताका भाव न होकर एक परमात्मसत्ता ही रह जाय तो फिर मन कहाँ जायगा? क्यों जायगा?

जैसे शरीर बदलता है, हम वही हैं, ऐसे ही संसार बदलता है, परमात्मा वही हैं। जो बदलता है, उसकी सत्ता विद्यमान नहीं है। बदलनेवालेसे ममता करनेवाला कभी सुखी नहीं हो सकता। **परिवर्तन यह कहता है कि मेरेपर विश्वास मत करो।** संसारमें परिवर्तन जरूरी है। परिवर्तन न हो तो संसार तस्वीर हो जायगा। जो हरदम नहीं रहता, वह आपका नहीं है। चाहे उसे कायम रख लो, चाहे अपना मत मानो।

× × × ×

मुक्तिमें भेद है, पर प्रेममें कोई मतभेद नहीं है। दार्शनिक एकता नहीं होती, प्रत्युत प्रेमकी एकता होती है। संसारमें ममता होती है, भगवान्‌में आत्मीयता होती है। प्रेममें सब एक हो जाते हैं, कोई मतभेद नहीं रहता।

वास्तवमें मतभेद दोषी नहीं है, राग-द्वेष दोषी हैं।

ज्ञानमें आप हमारा निरादर कर सकते हैं, पर प्रेममें निरादर नहीं कर सकते। प्रेममें खटपट नहीं होती।

× × × ×

संसारका आकर्षण भगवत्प्राप्तिमें बहुत बाधक है। भोग और संग्रह—ये दो खास बाधाएँ हैं। आरम्भसे ही प्रभु-कृपाका आश्रय लेकर साधन करो। परमात्माकी प्राप्ति परिश्रम, उद्योग करनेसे नहीं होती। परमात्मप्राप्तिमें क्रिया और पदार्थ हेतु नहीं हैं, प्रत्युत भाव, प्रेम और शरणागति हेतु है। परमात्माकी प्राप्ति किसी मूल्यसे नहीं होती, प्रत्युत समर्पणसे, विश्वाससे होती है। **भगवच्चरणोंकी शरण लें और पुकार करें तो प्राप्ति हो जायगी, अन्य किसी साधनकी जरूरत नहीं।** बच्चा केवल रोकर सबपर अधिकार कर लेता है। भीतरकी पुकार, लगन, उत्कण्ठा, आतुरता भगवान्‌को पकड़ लेती है। इसे पहले ही पैदा कर लो, अन्यथा प्राप्तिमें देरी लगेगी। पुकारसे भगवान् पिघल जाते हैं। आश्रय और लालसा—इन दो चीजोंकी जरूरत है। संयोगजन्य सुखकी आसक्ति खास बाधा है। इस रस्सीको खोले बिना नौका आगे बढ़ेगी नहीं।

भगवान् कल्पवृक्ष हैं। **जो शरीरको चाहता है, उसे भगवान् नया-नया शरीर देते रहते हैं।** परमात्माकी प्राप्ति चाहते हो तो भोगासक्तिको मिटाओ। न मिटा सको तो भगवान्‌को पुकारो।

× × × ×

अपनी सामर्थ्य, समय, समझ और सामग्री पूरी

लगा दो। **पूरा बल लगानेपर भी काम न बने, तब भगवान् सहायता करेंगे।** वस्तु अभावग्रस्तको दी जाती है। जिसके पास वस्तु है, उसे कौन देना चाहेगा? अपने बलसे कामादि दोष दूर न हों, तब भगवान्‌को पुकारो, उनके आगे रोओ। भगवान् निर्बलकी सहायता करते हैं—**'सुने री मैंने निरबलके बल राम'। अपनी शक्ति लगाये बिना भगवान् कैसे दया करेंगे?** आपका उद्देश्य काम-क्रोधादिको दूर करनेका होना चाहिये। काम-क्रोधादि दोष सुहाये नहीं। उनसे सुख लेते रहोगे तो वे दूर नहीं होंगे। आपसे दूर न हों, तब प्रार्थना करो और प्रार्थना करके चिन्ता छोड़ दो। फिर जब ये दोष आयें, तब भगवान्‌से कह दो कि 'यह देखो नाथ, काम आ गया!' शरणागतिकी कसौटी है—सब चिन्ताएँ मिट जायँ।

जो अपने लिये सब कर्म करता है, वह राक्षस होता है। उसकी भगवान् मदद कैसे करेंगे?

धन कमानेमें तो घाटा भी लग सकता है, पर भगवद्भजनमें घाटा लगता ही नहीं।

मन लगे चाहे न लगे, नामजपको मत छोड़ो। नाममें इतनी शक्ति है कि मन भी लगा देगा। कोई पूछे तो कह दो, आपको पूछना हो तो कह दो और बिना पूछे कुछ कहनेकी मनमें आये तो कह दो—इन तीनोंके सिवाय कुछ मत बोलो और नामजप करते रहो। यह **आप करो तो मैं यह मान लूँगा कि आपने मेरा आदर कर दिया, मेरी पूजा कर दी, मुझे भेंट दे दी!**

× × × ×

भगवान्‌ने कल्याणके लिये मनुष्यशरीर दिया है तो कल्याणके लिये योग्यता भी दी है। अत: **यहाँ कल्याणके लिये योग्यता सम्पादन करनेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत प्राप्त योग्यताका सदुपयोग करनेकी जरूरत है।** नया सीखनेकी इतनी जरूरत नहीं है। जो मिला है, उसका सदुपयोग करना है।

महिमा मनुष्यशरीरकी नहीं, प्रत्युत विवेककी है। रामायणमें आया है—

नर तन सम नहिं कवनिउ देही।
जीव चराचर जाचत तेही॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी।
ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥

(मानस, उत्तर० १२१।५)

विवेकका सदुपयोग करनेसे ज्ञान, वैराग्य, भक्ति—तीनों प्राप्त होते हैं। विवेकका दुरुपयोग करनेसे नरक प्राप्त होते हैं।

जो आप अपने लिये नहीं चाहते, वह दूसरोंके प्रति मत करो। यह बुद्धि भगवान्‌ने सबको दी है। **हम तो झूठ बोलें, पर दूसरा हमसे झूठ न बोले—यह विवेकका दुरुपयोग है।**

× × × ×

साधकोंके लिये सबसे पहले विवेककी आवश्यकता। शरीर और शरीरीको अलग-अलग जानना विवेक है। यह विवेक हमें है, पर हम इसका आदर नहीं करते। विवेक होता नहीं है, विवेक तो है। केवल उसकी तरफ लक्ष्य करना है, उसको महत्त्व देना है। गीताका आरम्भ भी शरीर-शरीरीके विवेकसे हुआ है। इसीको महत्त्व देना है, स्वीकार करना है, इसपर दृढ़ रहना है।

शरीरका सम्बन्ध अविवेकजन्य है। शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है—ऐसा अनुभव करना है। इसका ठीक अनुभव होनेको तत्त्वज्ञान कहते हैं। शरीरके साथ भूलसे माने हुए सम्बन्धको मिटाना ही सत्संग है। विवेकमें अभ्यास नहीं होता, प्रत्युत विचार होता है।

× × × ×

मेरी मान्यतामें गोस्वामी तुलसीदासजी एक स्मृतिकार 'ऋषि' थे। उनकी रचनाओंका प्रमाण माना जाता है। उनकी कवितामें बड़ी विलक्षणता है। **भगवान्‌का चरित्र और भक्तकी वाणी होनेसे रामायण बहुत विलक्षण ग्रन्थ है।** यह भगवान्‌की कृपासे निकली हुई वाणी है। भविष्यमें संस्कृत जाननेवाले बहुत कम रह जायँगे, इसलिये भगवान् शंकरने

हिन्दीमें रामायणकी रचना करनेकी आज्ञा दी।

गीता और रामायण दोनों ग्रन्थ मुझे बहुत प्रिय लगते हैं। दो ही मुख्य भाषाएँ हैं—संस्कृत और हिन्दी। दोकी ही वाणी मुख्य है—भगवान्‌की वाणी और भक्तकी वाणी। रामचरितमानसकी रचना मुझे बड़ी विलक्षण लगती है। इसे सुननेमें मेरी रुचि रहती है।

गोस्वामीजीने अयोध्याकाण्ड पहले लिखा है। अयोध्या-काण्डकी रचनामें वे नियमसे चले हैं; क्योंकि भरतजी भी नियम (मर्यादा)-से चलते हैं। वे सभी काण्ड दोहेसे शुरू करते हैं, पर सुन्दरकाण्ड चौपाईसे शुरू करते हैं; क्योंकि दोहा विश्राम होता है। हनुमान्‌जी विश्राम नहीं करते—***'राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम'*** (मानस, सुन्दर० १), इसलिये गोस्वामीजीने सोचा कि जब हनुमान्‌जी विश्राम नहीं करते तो मैं विश्राम क्यों करूँ?

रामायण गृहस्थोंके लिये विशेष कामकी है। किसको कैसा आचरण करना चाहिये—यह शिक्षा रामायणसे मिलती है। रामायणमें बहुत शिक्षाएँ भरी हुई हैं। रामायण सब रीतियोंसे विलक्षण है!

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना।
जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥
राम चरन पंकज मन जासू।
लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥

(मानस, बाल० १७।२)

भरतजीका मनरूपी भ्रमर रामजीके चरणकमलोंपर मँडराता है, इसलिये भरतजीके चरणोंको कमलकी उपमा नहीं दी। यदि भरतजीके चरणोंको कमलकी उपमा दें तो मनरूपी भ्रमर वहीं रहे, रामजीके चरणोंमें क्यों जाय? ऐसे ही ब्रह्माजीके चरणोंको भी कमलकी उपमा नहीं दी; क्योंकि वे कमलसे उत्पन्न हुए!

× × × ×

संसारसे मैं-मेरेका सम्बन्ध माना हुआ है। हमारा वास्तविक सम्बन्ध परमात्माके साथ है। ***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'***—इस प्रकार भगवान्‌के साथ अनन्य सम्बन्ध होनेपर ही असली भक्ति होती है। **दूसरा मेरा है—यही भक्तिमें बाधक है; क्योंकि यह अनन्यता नहीं होने देता।** भगवान् अनन्यभक्तके लिये सुलभ हैं—**'तस्याहं सुलभः पार्थ'** (गीता ८।१४)।

संसार मेरा है—यह भाव बाधक है। इसे कैसे छोड़ें? ये सब सेवा करनेके लिये मेरे हैं, लेनेके लिये कोई मेरा नहीं है—यह दृढ़तासे मान लें। सेवा लेनेसे ही आप बँधे हैं। सेवा करनेसे कर्जा उतर जायगा।

× × × ×

मनुष्यशरीर बहुत दुर्लभ है, पर मिल गया, इसलिये दुर्लभताका पता नहीं चलता। मनुष्यशरीर किसलिये मिला है? हमें क्या करना है? इस तरफ ध्यान देनेकी बड़ी आवश्यकता है। यह अन्य योनियोंकी तरह नहीं है। यह इसलिये मिला है कि हम सदाके लिये दुःखोंसे छूट जायँ। परम आनन्द प्राप्त करनेके लिये मानवशरीर मिला है। कुछ करना, जानना और पाना बाकी न रहे—इसके लिये मानवशरीर मिला है। **भारत एक विलक्षण देश है। भारतमें जन्म कल्याणके लिये ही होता है।**

× × × ×

हम यहाँ आये हैं और जानेवाले हैं—यह मान लें। यह बहुत दामी बात है। कोई जन्म करके आ गया, कोई ब्याह करके आ गयी! इस बातका जप नहीं करना है, इसे बार-बार याद नहीं करना है। यह स्वीकृति है। इस बातकी हर समय जागृति रहनी चाहिये।

किसीके मरनेका दुःख होता है तो वास्तवमें ऋणका ही दुःख होता है। **जिससे जितना सुख लिया है, उतना सुख दिया नहीं और जिससे सुखकी आशा है, उसके मरनेसे ही दुःख होता है।** सभी दुःख स्वार्थमें ही भरे हैं।

× × × ×

ईश्वर कर्म नहीं करवाता, प्रत्युत फल भुगवाता है। मनुष्य कर्म स्वतन्त्रतासे करता है, फल परतन्त्रतासे भोगता है। काम करते हैं अपनी मरजीसे, फल भोगते

हैं दूसरेकी मरजीसे। शुभकर्मका फल सब चाहते हैं, अशुभकर्मका फल कोई नहीं चाहता। इसलिये ईश्वर सबके हृदयमें रहकर फल भुगताते हैं—'**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥**' (गीता १८। ६१)। अगर ऐसा मानें कि भगवान् ही कर्म करवाते हैं तो फिर शास्त्र, गुरु और शिक्षा सब निरर्थक हो जायँगे। मनुष्यमें मनुष्यपना नहीं रहेगा, वह पशु-पक्षियोंकी तरह परतन्त्र हो जायगा। जैसे कानून अपनेसे विरुद्ध कर्म करनेकी आज्ञा नहीं देता, ऐसे भगवान् अपनेसे विरुद्ध कर्म कैसे करवायेंगे? क्या सरकार बैंकमें चोरी करनेवालेकी सहायता करती है? सरकार तो रुपया जमा करवानेवालेकी ही सहायता करती है।

× × × ×

परमात्मा भी वर्तमान हैं, आप भी वर्तमान हैं, केवल इच्छाकी कमी है! परमात्माकी तरफ चलनेवालेके पास बैठनेसे शान्ति मिलती है—यह परमात्माके होनेमें प्रत्यक्ष प्रमाण है।

जैसे भगवान् नित्य हैं, ऐसे उनकी कृपा, सुहृत्ता आदि गुण भी नित्य हैं। **भगवान्‌के बनाये हुए नियमों (न्याय)-में भी कृपा भरी हुई है।** गीतामें आया है—'**मामनुस्मर युध्य च**' (८। ७) 'मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर'। यहाँ शंका होती है कि मन भगवान्‌में लगायेंगे तो युद्ध कैसे होगा? युद्धमें तो बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है, नहीं तो गला कट जाय! युद्ध सब समय नहीं होता, पर स्मरण सब समय कर सकते हैं। अतः यहाँ स्मरण करनेका तात्पर्य है कि कामको अपना न मानकर भगवान्‌का मानकर करे। **भगवान्‌के लिये करनेसे प्रत्येक क्रिया 'पूजा' हो जायगी।** भगवान्‌का काम माननेसे काम करते समय विशेष सावधानी रहेगी।

भगवान्‌का प्रत्येक विधान कृपापूर्ण ही होता है। परम सुहृद् भगवान्‌के द्वारा हमारा अहित कैसे होगा? **भगवान्‌की कृपामें हित और प्यार दोनों होते हैं।**

× × × ×

मृत्यु सब जगह और सब समय खुली है। अतः जो काम आवश्यक हो, उसे जल्दी कर लो। परमात्माकी प्राप्ति आवश्यक काम है, जो खुद ही कर सकते हैं। यह काम भोजन करने और दवा लेनेकी तरह खुद ही कर सकते हैं, दूसरा नहीं। यह काम केवल बूढ़ोंके लिये ही नहीं है। यह बालकपनेसे ही करनेका काम है। **भजन, सत्संग करनेकी कोई अवस्था नहीं होती।**

× × × ×

परमात्मप्राप्ति, तत्त्वज्ञान, कल्याण जितना सुगम है, उतना संसारका काम भी सुगम नहीं है! परमात्मासे अलग किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**' (गीता ७। ७), '**मत्त एवेति तान्विद्धि**' (गीता ७। १२)। सब कुछ परमात्माका ही स्वरूप है। भगवान् ही चौरासी लाख रूपोंसे प्रकट हुए हैं। भगवान्‌के सिवाय दूसरा आये कहाँसे? **संसार नींदमें, बेहोशीमें दीखता है। आँख खुलते ही भगवान् दीखने लग जायँगे।** गहने बननेपर क्या सोना नहीं रहता? बर्तन बननेपर क्या मिट्टी नहीं रहती? भगवान् ही संसारमें अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। जब 'सब भगवान्‌के ही रूप हैं'—ऐसा देखेंगे तो कौन क्रोध करेगा? किसपर करेगा? कैसे करेगा? सब दोष मिट जायँगे।

× × × ×

गुरु बनानेसे उद्धार नहीं होता। अन्य सम्बन्धोंकी तरह यह भी एक सम्बन्ध है। श्रीशरणानन्दजी महाराजने कहा था कि जो मेरेसे अधिक जानता है, वह मेरा गुरु है और जो मेरेसे कम जानता है, वह मेरा चेला है! एकलव्यने गुरु बनाया नहीं, पर धनुर्विद्यामें अर्जुनसे भी तेज हो गया! **विद्या लेनेमें चेलेकी मुख्यता है, जायदाद लेनेमें गुरुकी मुख्यता है।**

वास्तवमें गुरु बनाया नहीं जाता, प्रत्युत गुरु बन जाता है। जिससे ज्ञान-प्रकाश मिले, वही गुरु है। दत्तात्रेयजीने चौबीस गुरु बनाये, पर उन गुरुओंको

मालूम ही नहीं कि हमारा कोई शिष्य है! पिंगलाके गुरु दत्तात्रेय बन गये और दत्तात्रेयकी गुरु पिंगला बन गयी, पर दोनोंको एक-दूसरेका पता ही नहीं! गुरु पराधीन होता है, चेला स्वाधीन!

भगवच्चरणोंके शरण होनेपर सब कुछ मिल जाता है। **'वासुदेवः सर्वम्' माननेवालेके लिये क्या गुरुकी आवश्यकता रहेगी?**

× × × ×

ज्ञानमार्गमें विवेक मुख्य है। विवेक हरेक साधनमें आवश्यक है। इसलिये भगवान्‌ने गीताका आरम्भ विवेकसे ही किया है। भगवान्‌ने विवेकी पुरुषको 'पण्डित' कहा है—'**नानुशोचन्ति पण्डिताः**' (गीता २। ११)। **जहाँ ममता होती है, वहाँ बुद्धि काम नहीं करती।** इसलिये डॉक्टरके घर कोई बीमार हो जाय तो दूसरे डॉक्टरको बुलाते हैं। काम-क्रोधादिसे भी बुद्धि नष्ट होती है। चिन्तासे भी बुद्धि नष्ट होती है—'**बुद्धिः शोकेन नश्यति**'। **सच्छास्त्र, सत्संग, सद्विचारसे विवेक बढ़ता है और शोक-चिन्ता मिटते हैं।**

माँको बालककी जितनी चिन्ता रहती है, उतनी बालकको नहीं। ऐसे ही असली गुरुको शिष्यकी जितनी चिन्ता रहती है, उतनी शिष्यको नहीं। अतः **गुरुकी चिन्ता मत करो, गुरु अपने-आप आयेगा।**

मनके अनुकूल परिस्थिति न होनेसे बाहरसे उच्चाटन होता है! काम-क्रोधादिसे भीतरसे उच्चाटन होता है।

पैसोंसे सत्संग नहीं होता, प्रत्युत कुसंग होता है।

× × × ×

जो जितने बड़े धनी हैं, वे उतने ही बड़े दरिद्र, मँगते हैं। धनियोंको लाखों-करोड़ों रुपयोंका घाटा होता है, पर गरीबको कभी घाटा होता ही नहीं।

रुपये काम नहीं आते, वस्तुएँ काम आती हैं। रुपयोंका खर्च बढ़िया है, रुपये नहीं। यदि खर्चा न करो तो रुपयोंमें और कंकड़-पत्थरोंमें क्या फर्क है? कम-से-कम एक जगह तो खुली रखो, जहाँ कृपणता न रखकर खुला खर्च करो।

लोभ दो काम करता है—अन्यायपूर्वक कमाना और खर्चमें कंजूसी करना, आवश्यक खर्च न करना। **लोभ नहीं हो तो रुपया सुख नहीं दे सकता।**

× × × ×

भगवान् हैं—इस बातको दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर लें। भगवान्‌का प्रह्लादजीके साथ जैसा सम्बन्ध था, वैसा ही हमारे साथ भी है। भगवान्‌को सदा अपने साथ मानें, फिर कोई भय नहीं—***'बाल न बाँका कर सके जो जग बैरी होय'।*** ऐसा भाव रखें कि भगवान् सब जगह होते हुए भी भगवान् विशेषतासे मेरे साथ हैं; क्योंकि मैं नाम जपता हूँ!

× × × ×

अपनी जगह स्त्री और पुरुष दोनों श्रेष्ठ हैं। जैसे, घड़ीका प्रत्येक पुर्जा अपनी जगह श्रेष्ठ है। दो जगह समान पहिये होनेसे रथ चलता है, पर पहिये अपनी जगह होने चाहिये। यदि दोनों पहिये एक जगह कर दें तो क्या रथ चलेगा? सेवा करनेकी ताकत जितनी स्त्रीमें होती है, उतनी पुरुषमें नहीं। स्त्रीमें पालन-पोषणकी विशेष शक्ति है। **जो भी अपने कर्तव्यका पालन करेगा, वह श्रेष्ठ हो जायगा।**

जो अपने कहनेमें न चले, उसे बेटा मत मानो। शरीरसे जूँ भी पैदा होती है, ऐसे ही वह भी पैदा हो गया! जूँको क्या बेटा मानते हो?

स्वभाव बिगड़ेगा तो कोई अपना नहीं होगा। स्वभाव सुधरेगा तो दुनिया अपनी हो जायगी।

खुद अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते और दूसरोंको कर्तव्य सिखाते हैं, फिर सीखेगा कौन? कर्तव्य अपना होता है, अधिकार दूसरेका।

× × × ×

रामायण-पाठका आनन्द भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है। सांसारिक सुख पारमार्थिक सुखकी बराबरी नहीं कर सकता। जिस जगह रामायण-पाठ होता है, वह जगह तीर्थ बन जाती है। आप अपने-अपने घरोंमें भी रामायणका नवाह अथवा मासिक

पाठ करें। कम-से-कम नौ दोहोंका पाठ अवश्य प्रतिदिन करें। नवरात्रके समय नवाह पाठ करें।

भगवान्‌की कृपा सबपर समान है, पर जो उनके सम्मुख हो जाता है, उसपर विशेष कृपा होती है। सामूहिक रामायण-पाठ जैसे उत्सव भगवान्‌की सम्मुखताके लिये ही होते हैं। यह 'अन्नप्राशन'-संस्कार है! इसमें भगवान् पारमार्थिक सुखका स्वाद चखाते हैं। यह सदाके लिये अमर बनानेवाला अमृत है।

× × × ×

हृदयसे ऐसा मान लें कि हम भगवान्‌के हैं। इस बातको आप दृढ़तासे पकड़ लें। ऐसा मानें कि अब हम अपने घरपर आ गये! अब भटकना समाप्त हो गया! हम शरीर, संसार, वर्ण, आश्रम, कुटुम्ब आदिके बने हुए हैं, उनके हैं नहीं। उनकी सेवा कर दो। हम तो भगवान्‌के ही हैं और भगवान् ही हमारे हैं। अब हम भगवानके हो गये, अपने घरमें आ गये। अब चिन्ता किस बातकी? *'अमरापुर म्हारो सासरो, पीहर सन्ता पास!'* हमारा घर भगवान् हैं। हम यहाँ रहनेवाले नहीं हैं। हमें तो अपने घर जाना है। यह सच्ची बात है। नयी बात नहीं है।

हर समय यह भाव रहे कि हम तो भगवान्‌के घरमें हैं। सब संसार भगवान्‌का है। हम भगवान्‌के हैं। वास्तवमें भगवान् ही संसाररूपसे प्रकट हुए हैं। **'सब जग ईस्वररूप है, भलो बुरो नहिं कोय'—ऐसा भाव हो जाय तो यह शिकायत मिट जायगी कि मन भगवान्‌में लगता नहीं!**

× × × ×

जो अपने सुखके लिये अनेक वस्तुओंकी इच्छा करता है, उसको वस्तुओंके अभावका दुःख भोगना ही पड़ेगा। उसका अभाव कभी मिटेगा नहीं।

जैसे भूखके बिना भोजनसे सुख नहीं मिलता, ऐसे ही दुःखी हुए बिना संसारका सुख भोग सकते ही नहीं। दुःखी व्यक्तिको ही सुख मिलता है और सुखभोगका परिणाम भी दुःख ही है। अतः संयोगजन्य भोगोंके आदिमें भी दुःख है और अन्तमें भी दुःख है। गीतामें आया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'हे कुन्तीनन्दन! जो इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे पैदा होनेवाले भोग (सुख) हैं, वे आदि-अन्तवाले और दुःखके ही कारण हैं। अतः विवेकशील मनुष्य उनमें रमण नहीं करता।'

× × × ×

अभी भगवान्‌के मनमें देनेकी आयी है! भगवान् विशेष कृपा कर रहे हैं! यदि इस समय हम उनके सम्मुख हो जायँ तो बहुत लाभ होगा। अतः तत्परतासे भगवान्‌में लग जायँ।

भगवान्‌का आश्रय लेनेसे समग्रका ज्ञान होता है। मुक्ति होनेपर भी दार्शनिकोंमें अलगाव रहता है। यह अलगावपना भी मिट जाय—ऐसी बात गीता कहती है।

अन्तिम लक्ष्य प्रेम है, ज्ञान नहीं। प्रेम अन्तिम तत्त्व है। ज्ञानमें अलगाव रहता है। एकता प्रेममें होती है। प्रेममें सब एक हो जाते हैं। जैसे शरीरके सभी अंग मिलकर शरीर है, ऐसे ही सब मिलकर परमात्मा हैं। अपने शरीरके सभी अंगोंमें प्रियता होती है। **ठीक-बेठीकका भेद ज्ञानमें रहता है।** प्रेममें *'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'?*

× × × ×

अभी भगवान् विशेष कृपा करके देना चाहते हैं। कारण कि अपने-आप नयी-नयी बातें भीतरमें पैदा होती हैं। इसमें अपना कोई बल, उद्योग नहीं है। कमजोर बालकका माँ विशेष ध्यान रखती है। इसी तरह हम भी कलियुगमें बहुत कमजोर हो गये हैं; अतः भगवान् हमारा विशेष ध्यान रखते हैं—*'निरबल के बल राम।'* ऐसे सत्संग-आयोजनोंमें भी निमित्त तो कई बन जाते हैं, पर वास्तवमें भगवान्‌की विशेष कृपा है। दुकानदार जब मालकी बिक्री करना

चाहता है, तब माल सस्ता और सुगमतासे मिल जाता है। इसी तरह भगवान् अभी माल लुटाना चाहते हैं!

यह शिकायत रहती है कि मन नहीं लगता। इस विषयमें तीन बातें याद रखें। पहली बात, संकल्पका सुख न लें। पुराना चिन्तन आये तो सुख लेनेसे पुराना विषय-चिन्तन नया हो जाता है। दूसरी बात, उसको मिटानेकी चेष्टा न करें। मिटानेकी चेष्टा करना भी उसको पुष्ट करना है। कारण कि पहले उसे कायम करते हैं, तभी तो मिटानेकी चेष्टा करते हैं। तीसरी बात, मूलमें संकल्प अपनेमें है ही नहीं। परन्तु ऐसा सीखनेसे वह मिटता नहीं। संकल्पको अपनेमें मिलाये नहीं। संकल्प तो आते-जाते हैं, पर मैं रहता हूँ, फिर ये मेरेमें कैसे?

विध्यात्मक साधनके साथ अहंकार रहता है। वृत्तियोंके साथ विरोध करनेसे उनमें बल आता है। अतः उनसे उपराम हो जायँ—'**शनैः शनैरुपरमेद्०**' (गीता ६। २५)। ऐसा मान लें कि उनसे हमारा मतलब नहीं है। हम ईश्वरके अंश, अविनाशी, चेतन, अमल, सहज सुखराशि हैं—यह बात हर समय याद रखें। पारमार्थिक मार्गमें कभी हार स्वीकार न करे; क्योंकि इस मार्गमें नफा ही होता है, नुकसान होता ही नहीं।

जो अपनी बात न माने, वह अपना कैसे?

× × × ×

साधकके लिये खास बात है—निर्दोषताका अनुभव करना। संसारमें जितने भी प्राणी हैं, सबका वर्तमान निर्दोष है। दोषोंकी उत्पत्ति और विनाश होता है। सभी विकार आदि-अन्तवाले हैं, पर हम आदि-अन्तवाले नहीं हैं। हम स्वयं सर्वथा निर्दोष हैं। **मेरेमें दोष नहीं हैं—इसका अभिमान करना भी भूल है और अपनेमें दोष मानना भी भूल है।**

जो निवृत्त है, उसीकी निवृत्ति होती है। जो प्राप्त है, उसीकी प्राप्ति होती है। अतः हमारी सत्ता सर्वथा निर्दोष है। दोष दीखनेपर भी अपनेको दोषी न मानें। '**तांस्तितिक्षस्व भारत**' (गीता २। १४)—इनको सहनेका तात्पर्य है कि इनको अपनेमें मत मानो।

दोष कर्तामें होता है, करणमें नहीं। कर्ताने ही दोषको पकड़ा है, उसे अपनेमें माना है। वास्तवमें दोष है नहीं। कुत्ता घरमें आ जाय तो वह घरका मालिक नहीं हो जाता। दोष आते-जाते हैं, हम रहते हैं। अतः भूतकालके दोषोंको लेकर अपनेको दोषी मानना बहुत बड़ी भूल है।

× × × ×

विकार हमारे साथी नहीं हैं, हम विकारोंके साथी नहीं हैं। इसका अनुभव करना चाहिये। परिवर्तनशीलकी सत्ता विद्यमान नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)। हम स्वयं अपरिवर्तनशील हैं। हम सबके भाव-अभाव दोनोंको जानते हैं, पर अपने अभावको नहीं जानते।

सत्संगसे इतना लाभ होता है, जिसका कोई ठिकाना नहीं है! सत्संगसे अपने-आप बेहोशी मिटती है और होश आता है।

सुखमें तो हमारी मरजी भी होती है, पर दुःखमें शुद्ध भगवान्‌की मरजी (कृपा) होती है। हमारी दृष्टि कड़वी या मीठी दवाकी तरफ न होकर वैद्यकी तरफ होनी चाहिये।

बच्चेकी दृष्टि तीन अंगुल (जीभ)-की होती है। जीभको अच्छी न लगे तो वह दवा थूक देता है। बड़े आदमीकी दृष्टि तीन हाथ (शरीर)-की होती है। साधककी दृष्टि तीन जन्मोंकी होती है। वह यह देखता है कि पिछले जन्ममें किये हुए कर्मोंका फल मैं इस जन्ममें भोग रहा हूँ और इस जन्ममें जो कर्म करूँगा, उनका फल अगले जन्ममें भोगना पड़ेगा। परन्तु सिद्ध महापुरुषकी दृष्टि असीम, व्यापक होती है—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

× × × ×

अपना उद्धार करना नया काम नहीं है। मुक्ति स्वतःसिद्ध तत्त्व है। जीव परमात्माका है—यह स्वतःसिद्ध है। हमें स्वाभाविकतातक पहुँचना है। **मुक्ति होनेपर फिर बन्धन नहीं होता; क्योंकि मुक्ति**

स्वतःसिद्ध है। परन्तु बन्धन होनेपर मुक्ति होती है। जन्म-मरण अपना बनाया हुआ है; जैसे—बीड़ी-सिगरेट पीनेकी आदत अपनी बनायी हुई है!

सदुपयोग करनेकी अपेक्षा भी दुरुपयोग न करनेकी बहुत महिमा है। अच्छा काम करनेवाले कई आदमी मिलेंगे, पर बुरा काम न करनेवाले कम मिलेंगे। वास्तवमें विहित करनेकी अपेक्षा निषिद्धका त्याग श्रेष्ठ है। त्यागकी बहुत महिमा है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२), '**त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः**' (कैवल्य० १। ३)।

× × × ×

मनुष्यमात्र मुक्तिका, परमात्मप्राप्तिका अधिकारी है। हरेक अवस्था, परिस्थितिमें रहनेवाला मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है। भगवान्‌की कृपा इतनी विलक्षण है कि उसकी महिमा कोई कह नहीं सकता। भगवान् जीवन्मुक्तपर भी कृपा करके उसे मुक्तिके आनन्दमें अटकने नहीं देते। उसे अपना प्रेम प्रदान करते हैं।

एक ही परमात्मा इतने रूपोंमें प्रकट हुए हैं कि उनकी गणना नहीं कर सकते। नौ लाख शक्तियाँ पैदा हुईं। प्रेमका रमण ही वास्तवमें रमण है—'**एकाकी न रमते**'। जैसे श्रीजी भगवान्‌से प्रकट हुईं, ऐसे ही आप-हम सब भगवान्‌से प्रकट हुए हैं। **खेलमें जो फुटबालको लेता है, वह हार जाता है और जो ठोकर मारता है, वह जीत जाता है। हमने सांसारिक वस्तुओंको ले लिया, इसलिये हार गये।**

आप रुपयोंको हाथका मैल भी कहते हो और ज्यादा रुपये (मैल) होनेपर मानते हो कि मैं बड़ा आदमी हो गया!

'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—यह सुननेके लिये भगवान् लालायित हैं! वे आपसे हृदयसे स्वीकृति चाहते हैं। भगवान्‌को 'मेरा' कहनेवाला मनुष्य ही हो सकता है। पशु, पक्षी, प्रेत, भूत-पिशाच, देवता आदि कौन भगवान्‌को अपना कहता है? मनुष्य भगवान्‌को अपना न कहे तो भगवान्‌को विचार आता है—'**मामप्राप्यैव**' (गीता १६। २०)। मनुष्य विश्वमात्रकी सेवा कर सकता है। वह भगवान्‌का भी आदरणीय हो सकता है!

गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनकी '**शाधि माम्**' (२। ७)—इस बातको तो पकड़ लिया, पर '**न योत्स्ये**' (२। ९)—इस बातको पकड़ा ही नहीं! भगवान् भक्तके बड़े लोभी हैं!

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।'

मनुष्यको अन्तकालमें कुत्तेका स्मरण होता है तो वह कुत्तेकी योनिको प्राप्त होता है, और भगवान्‌का स्मरण होता है तो वह भगवान्‌को प्राप्त होता है। जितने मूल्यमें कुत्तेकी योनि मिले, उतने ही मूल्यमें भगवान् मिल जायँ! कितने सस्ते हैं भगवान्!!

भगवान् प्रतीक्षा करते हैं कि कोई कहे 'मैं आपका हूँ'। अतः सच्चे हृदयसे कह दें कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' तो भगवान् राजी हो जायँ!

× × × ×

एक भगवान्‌के शरण हो जाना है और अन्तमें '**वासुदेवः सर्वम्**' में पहुँचना है। ऐसे शरण होनेवाले महात्माको भगवान्‌ने अत्यन्त दुर्लभ बताया है—'**स महात्मा सुदुर्लभः**' (गीता ७। १९)।

हमारे हृदयमें परमात्माके सिवाय दूसरी वस्तुओंकी महत्ता है, इसी कारण परमात्मप्राप्ति दुर्लभ हो रही है। परमात्मा सब जगह हैं, पर प्रकृतिजन्य पदार्थोंकी प्रियता हमें उनसे विमुख करती है।

× × × ×

पारमार्थिक तत्त्वकी तरफ चलनेके लिये पारमार्थिक चर्चा करते हैं, पर इससे भी आवश्यक है—व्यवहार

शुद्ध करना। कारण कि वास्तवमें परमार्थ नहीं बिगड़ा है, व्यवहार बिगड़ा है। परमात्मतत्त्वको बनाना नहीं है। स्वभावको शुद्ध बनाना है। सूर्यको नहीं बनाना है, प्रत्युत अपने नेत्रोंको शुद्ध, ठीक करना है।

परमात्मासे दूर रहकर परमात्माका असली स्वरूप नहीं जान सकते। कारण कि हम परमात्माके साक्षात् अंश हैं। संसारको महत्त्व देनेसे न परमात्माका ज्ञान होगा, न संसारका। हम परमात्मासे अलग नहीं हुए हैं, प्रत्युत विमुख हुए हैं। विमुख होनेका तात्पर्य विपरीत दिशामें मुख करना नहीं है।

× × × ×

इन्द्रियों और मनसे होनेवाले सुखको छोड़े बिना आप जी नहीं सकते। नींद न आये तो मनुष्य पागल हो जाय! **मन और इन्द्रियोंके सुखके बिना हम जी सकते हैं। सुख मन-इन्द्रियोंसे ही होता है—यह धारणा गलत है।** गाढ़ नींद (सुषुप्ति)-में मन-इन्द्रियोंके बिना भी सुख होता है—इसका अनुभव पशु, पक्षी, वृक्षको भी होता है। वास्तवमें मन-इन्द्रियोंके बिना जो सुख होता है, वह मन-इन्द्रियोंसे होता ही नहीं। कारण कि मन-इन्द्रियोंके सुखसे थकावट आती है। निद्रासे शरीर-मन-इन्द्रियोंमें ताजगी आ जाती है।

श्रोता—सुषुप्ति और समाधिमें क्या फर्क है?

स्वामीजी—सुषुप्तिमें मूर्च्छा होती है, समाधिमें जागृति होती है। सुषुप्तिमें सिर नीचे हो जायगा, समाधिमें नहीं। सुषुप्तिमें इतनी ताकत नहीं कि सिरका भार उठा सके। सुषुप्तिसे जगनेपर 'मैं सुखसे सोया' यह भाव रहता है, पर मूर्च्छासे जगनेपर 'कुछ पता नहीं था' यह भाव रहता है।

उपर्युक्त बातोंसे सिद्ध हुआ कि संसारके सुखकी अपेक्षा त्यागका सुख विशेष है। त्यागके सुखके बिना आप जी नहीं सकते। संसारको तो भगवान्‌ने दुःखालय कहा है—**'दुःखालयम्'** (गीता ८। १५)। मन-इन्द्रियोंका सुख ही सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। मन-इन्द्रियोंसे सुख लेनेवालेको दुःख भोगना ही पड़ेगा। संसारका सुख भोगते हुए दुःखसे बच सकते ही नहीं।

× × × ×

हरेक प्राणी सुख चाहता है। कई बातें ऐसी हैं, जिन्हें न जाननेसे दुःख भोगना पड़ता है। सुख-दुःखका भोक्ता मन नहीं है, प्रत्युत स्वयं है। मन तो करण है। **कर्ता-भोक्ता स्वयं है, मन नहीं।**

एक ही परिस्थिति सबके लिये सुखदायी या दुःखदायी नहीं होती। जैसे—वर्षा कुम्हारके लिये दुःखदायी है और किसानके लिये सुखदायी।

भीतरका सुख-दुःख परिस्थितिसे नहीं होता, प्रत्युत अज्ञानसे, मूर्खतासे, अविवेकसे होता है। विरक्त संतके पास स्त्री, पुत्र, मकान, रुपये, वस्त्र आदि नहीं होते, फिर भी वह सुखी रहता है। इतना ही नहीं, उसका संग करनेसे बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं।

जो मिल जाय, उसीसे काम चलाना है, नहीं मिले तो उसकी इच्छा ही नहीं करना है। किसी चीजकी इच्छा ही नहीं हो तो दुःख कैसे होगा? ***'जाही विधि राखे राम, ताही विधि रहिये'***—यह बहुत बढ़िया बात है! यदि इसे नहीं मानोगे तो रोनेके सिवाय क्या करोगे?

रुपयोंके द्वारा यदि आप बड़े हो गये तो यह आपकी बड़ाई नहीं है, प्रत्युत रुपयोंकी बड़ाई है। आप तो छोटे ही हुए।

वास्तवमें हम ही मोटरपर चढ़ते हैं। आप मोटरपर नहीं चढ़ते, प्रत्युत मोटर आपपर चढ़ती है। तात्पर्य है कि यदि आपको मोटरकी चिन्ता होती है, तो मोटर आपपर चढ़ गयी और मोटरकी चिन्ता नहीं होती तो आप मोटरपर चढ़ गये।

× × × ×

जैसे मनुष्य बढ़िया चीजकी बड़ी निगरानी रखता है, ऐसे ही मनुष्यशरीरकी भी निगरानी रखनी चाहिये। शरीर भगवान्‌का है; अतः उसकी भी सेवा करनी है। शरीरको भोगोंमें लगाना शरीरपर अत्याचार करना है। जीभ भोजनकी परीक्षा करनेके लिये है,

इसलिये नहीं है कि जो चाहे, वही खा ले। जीभ दरबानकी तरह है। दरबान रक्षाके लिये होता है कि हर कोई भीतर न जाय।

× × × ×

आजकल जो आत्महत्या आदि दुर्घटनाएँ हो रही हैं, इनका खास कारण है—अपनी संस्कृतिका त्याग। **भोग भोगनेकी वृत्ति अधिक होनेसे ही आत्महत्या होती है।** भोग और संग्रहकी वृत्ति बढ़नेका परिणाम यही होगा।

आजकलकी संस्कृतिको माननेवाले लोग मेरी बात सुननेके लिये तैयार नहीं हैं, जबकि मैं उनकी बात सुननेको तैयार हूँ। अपने विरोधीकी बात सुननेसे बड़ा लाभ होता है। विरोधीकी बात चाहे मानें या न मानें, पर कम-से-कम उसे सुनना तो अवश्य चाहिये। जो मेरा विचार है, वही ठीक है—ऐसा मानते हुए दूसरेकी बात न सुनें तो यह अपनी मूर्खताको सुरक्षित रखनेका उपाय है।

पुरुषोंमें तो धन-संग्रहकी अधिकता हो रही है और स्त्रियों तथा बच्चोंमें भोगोंकी अधिकता हो रही है। भोग न मिलें तो वे आत्महत्या कर लेंगे। भोगोंको शरीरसे भी अधिक कीमती मान लिया। परीक्षामें पास या फेल होना कामकी चीज है, शरीर कामकी चीज नहीं है—यह बुद्धि हो रही है! फेल होनेपर आत्महत्या कर लेंगे। ऐसे लोग धर्मको क्या जानें? विदेशोंमें आत्महत्या ज्यादा होती थी। अब वही संस्कृति यहाँ आनेसे वही घटनाएँ यहाँ होंगी।

परमार्थमें लगे मनुष्य तो दूसरेकी बात सुन लेते हैं, पर भोगोंमें लगे मनुष्य दूसरेकी बात सुन नहीं सकते।

मनके माध्यमसे ही भोग होता है—यह बात है ही नहीं। सुषुप्तिके सुखमें क्या मन रहता है? नहीं रहता।

यदि आप अपनेसे निर्बलकी रक्षा नहीं करते तो फिर भगवान्‌से अपनी रक्षा माँगना क्या न्याय है?

× × × ×

अपने साधनमें प्रेम, ममता अथवा पक्षपात होना बाधक नहीं है, प्रत्युत दूसरेकी निन्दा या खण्डन करना बाधक है—***‘भगति पच्छ हठ नहिं सठताई’*** (मानस, उत्तर० ४६।४)। **साधक तो स्वार्थके लिये अपने मतका मण्डन और दूसरेके मतका खण्डन करते हैं, पर आचार्य ऐसा करते हैं—अपने मतका प्रचार करनेके लिये।** साधकके लिये तो अपने मतका पालन करना ही ठीक है।

× × × ×

मनुष्यमात्र सबसे श्रेष्ठ, ऊँचा बनना चाहता है। श्रेष्ठ बननेके लिये नाशवान् शरीर-संसारसे ऊँचा उठना चाहिये। ऊँचे-से-ऊँचे परमात्मा हैं। उन परमात्माका आश्रय लेनेसे ही मनुष्य ऊँचा हो सकता है।

भगवान्‌ने उपदेश भी युद्धके समय, युद्धभूमिमें दिया है, जबकि उपदेश एकान्तमें, शान्तिके समय, पवित्र स्थानपर दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि युद्ध-जैसे मौकेपर भी उपदेश दिया जा सकता है और युद्ध-जैसी क्रिया करते हुए भी कल्याण किया जा सकता है।

× × × ×

संसारका ज्ञान संसारसे अलग होनेपर होता है—यह नियम है; क्योंकि वास्तवमें संसार अलग है। संसारके साथ रहते हुए संसारका ज्ञान नहीं कर सकते। संसारसे कुछ भी चाहना संसारके साथ रहना है।

भोग भोगनेसे श्वास अधिक खर्च होते हैं। आज आयु कम होनेका कारण है कि भोग बढ़ गये। परिवार-नियोजन कार्यक्रमसे आयु और कम होगी तथा रोग बढ़ेंगे। भोगोंके सिवाय भी सुख है—यह कोई समझ सकेगा ही नहीं। परिवार-नियोजनके कारण मनुष्य अब पशुओंसे भी नीचा हो गया है। कुत्ते, गधे आदि भी मर्यादामें रहते हैं, वर्षमें एक महीना ही बिगड़ते हैं, पर मनुष्य बारहों महीने बिगड़ता है! मूलमें भोगके सिवाय कुछ नहीं है। सारा जीवन भोगपर ही आधारित हो गया है।

× × × ×

गीता अलौकिक ग्रन्थ है। इसके समान भी कोई ग्रन्थ नहीं है। वेदोंका सार उपनिषद् हैं और उपनिषदोंका सार गीता है। इस प्रकार गीता परम्परासे तो श्रेष्ठ है ही, इसकी अपनी भी एक विशेष विलक्षणता है। गीता बहुत अगाध ग्रन्थ है। इसकी विलक्षणताका कोई पारावार नहीं है। यदि मनुष्य गीताके अनुसार कार्य करे तो उसके सब कार्य साधन हो जायँगे। गीताके अनुसार व्यवहार करते हुए परमार्थकी सिद्धि हो जाती है।

मेरेपर भगवान्‌की विशेष कृपा है कि पढ़ाईके आरम्भमें (वि०सं० १९७२ में) मुझे गीताका '**न तद्भासयते सूर्यः०**' (१५।६)—यह श्लोक ही सिखाया गया! वि०सं० १९८४ मुझे गीता कण्ठस्थ मिली। मैंने कण्ठस्थ की नहीं। 'कल्याण' में सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)-के लेख पढ़नेसे ऐसा असर पड़ा कि ये शास्त्रके पण्डित तो नहीं हैं, पर शास्त्रके मर्मको जाननेवाले हैं, अनुभवी, तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त महापुरुष हैं। **ये विद्याके जोरसे नहीं लिखते, प्रत्युत अनुभवके जोरसे लिखते हैं।**

अभी जो गीता समझमें आ रही है, वह तो सूर्यकी उस किरणके समान है, जो कमरेके भीतर आयी है, कमरेके बाहर सूर्यका कितना प्रकाश होगा!

'गीता-जयन्ती' के दिन गीताका अवतार हुआ था, जन्म नहीं—'**स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः**' (गीता ४।३)। दर्शनोंमें उतना गहरापन नहीं दीखता, जितना गीतामें दीखता है। मुक्त होनेके बाद भी दार्शनिकोंमें जो मतभेद रहता है, वह मतभेद गीता दूर करती है।

भगवान्‌से प्रार्थना करके हम जो प्राप्त कर सकते हैं, वही कपड़ेके एक टुकड़ेसे प्रार्थना करके भी प्राप्त कर सकते हैं—यही 'वासुदेवः सर्वम्' का तात्पर्य है। अधिभूत (अपने शरीरसहित सम्पूर्ण पांचभौतिक जगत्) भी भगवान्‌का ही स्वरूप है (गीता ७।३०)।

× × × ×

जैसे भगवान्‌से अधिक विलक्षणता भक्तोंमें दीखती है, ऐसे ही भक्तोंसे भी 'भक्तोंके भक्त' में अधिक विलक्षणता आती है—'***कारन तें कारजु कठिन***' (मानस, अयो० १७९)।

अन्यायपूर्वक भोग भोगना और परायी चीजोंपर दृष्टि रखना—ये पारमार्थिक मार्गमें बहुत बड़ी बाधाएँ हैं। सुख-भोग, ऐश-आरामकी तरफ दृष्टि बहुत घातक है। सुखासक्ति मिटेगी दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेपर। **दूसरेके दुःखसे दुःखी होना सबसे ऊँची सेवा है और गोपनीय सेवा है, सेवाका मूल है।** दूसरेके दुःखसे दुःखी हो जायँ तो आपके पास जो वस्तु है, वह दूसरेकी सेवामें लग जायगी। जैसे आपको प्यास लगे और पासमें जल हो तो आप उस जलको पी लेते हो, ऐसे ही दूसरा प्यासा हो तो क्या आपके पास जल पड़ा रह सकेगा? एक **मार्मिक बात है कि आपके पास कुछ नहीं हो और आप दूसरेके दुःखसे सच्चे हृदयसे दुःखी हो जायँ तो वह दुःख भगवान्‌का हो जायगा! उसके दुःख-नाशका उपाय भगवान् करेंगे।**

भगवान्‌को 'सर्वभाषाविद्' (सब भाषाओंको जाननेवाले) कहा गया है। इसमें एक मार्मिक बात है कि पहले मनमें भाव उठता है, पीछे मनुष्य उसे अपनी भाषामें व्यक्त करता है। **भगवान् तो मनमें उठनेवाले भावको ही जान लेते हैं, भाषा तो पीछे रही!** जहाँ भाव उठता है, वहीं भगवान् मौजूद हैं।

सच्चा दुःख भगवान् सह नहीं सकते। भगवान्‌की प्राप्तिके लिये, अपने कल्याणके लिये जो दुःख होता है, वह असली दुःख है, जिसे भगवान् सह नहीं सकते। संसारके लिये दुःखी होना तो दुःखके लिये दुःखी होना है, जिसे भगवान् सह लेते हैं। दयालु होते हुए भी भगवान्‌को उसपर दया नहीं आती, जो दुःखके लिये दुःखी होता है।

देशका असली नेता वही होता है, जो देशके दुःखसे दुःखी होता है। सन्तोंके हृदयमें दुःख होता है कि दूसरेका दुःख कैसे मिटे और वे अपनेमें असमर्थताका अनुभव करते हैं तो यह दुःख भगवान् सह नहीं सकते। इसलिये ऐसे सन्तोंके दर्शन, स्पर्श,

भाषणसे दूसरोंका दु:ख मिटता है।

× × × ×

हम संसारके साथ मिलते हैं, पर परमात्माके साथ तो मिले हुए ही हैं। भगवान् हैं—यह विश्वास है, ज्ञान नहीं। विचारके विषय जीव और जगत् हैं।

पहले भक्त होता है, फिर भक्ति होती है, फिर भगवान् रह जाते हैं। ज्ञानमार्गमें पहले जिज्ञासु होता है, फिर जिज्ञासा होती है, फिर ज्ञानमात्र रह जाता है। ऐसा सब साधनोंमें होता है।

भगवान्का विश्वास मुख्य है। बुद्धिकी तीक्ष्णता मुख्य नहीं है। बुद्धि शुद्ध नहीं होगी तो भगवान्के तरफ नहीं चल सकते। **बुद्धिकी शुद्धि काम आती है, तीक्ष्णता नहीं।** बुद्धिकी तीक्ष्णता जज-बैरिस्टर आदि बननेमें काम आ सकती है। बुद्धिकी शुद्धिमें भी विश्वास विशेष है। विश्वास तेज हो तो भगवत्प्राप्ति तत्काल हो जाती है। भगवान्पर विश्वास न होनेसे जगत् ईश्वररूप नहीं दीखता। पक्षपात, मतभेद करना बुद्धिकी अशुद्धि है। राग-द्वेषके कारण जगत् ईश्वररूप नहीं दीखता। जितनी भेदबुद्धि होगी, उतनी भगवत्प्राप्तिमें देरी होगी।

भक्त जगत्को भगवत्स्वरूप देखते हैं, और सन्तोंको भगवान्से भी अधिक देखते हैं—***'मोतें संत अधिक करि लेखा'*** (मानस, अरण्य० ३६। २)।

श्रोता—भगवान्पर विश्वास कैसे हो?

स्वामीजी—विश्वासकी कमी दूर होगी भगवान्की कृपासे। **प्रेम और विश्वास भगवान्से माँगनेकी चीज है।** विश्वास कैसे हो—यह लगन हो गयी तो यह भगवान्से माँगना हो गया, प्रार्थना हो गयी! **आपकी आवश्यकता ही भगवान्की प्रार्थना है।**

× × × ×

भगवान्की स्मृति और सेवाकी बड़ी भारी आवश्यकता है। सेवाकी भावना बन जाय। ऐसी भावना सत्संगी ही बना सकते हैं। बड़े-बूढ़ोंकी सेवा की जाय। गायोंकी सेवा की जाय। समय बहुत भयंकर आया है। आगे और अधिक भयंकर समय आनेकी सम्भावना है। इसलिये आपको अधिक सावधान हो जाना चाहिये।

× × × ×

वास्तवमें रुपये अच्छे नहीं हैं, पर लोभके कारण रुपये अच्छे (प्रिय) लगते हैं। ऐसे ही मोहके कारण संसार, कुटुम्बी अच्छे लगते हैं। प्रेमके कारण भगवान् अच्छे, मीठे लगते हैं। गोपियोंको, मीराबाईको भगवान् मीठे लगते थे। प्रेमके कारण ही मित्रसे मिलनेमें आनन्द आता है। गायके प्रेमके कारण बछड़ेको गायके दूधसे जो पुष्टि होती है, वह केवल दूधसे नहीं।

नाशवान्में 'मोह' होता है, अविनाशीमें 'प्रेम' होता है। मूलमें चीज (आकर्षण) एक है। मोहसे पतन होता है।

लेना-ही-लेना जड़ता है, देना-ही-देना चेतनता है। लेना और देना—दोनों चिज्जड़ग्रन्थि हैं।

× × × ×

लेनेकी इच्छावाला साधक नहीं होता। साधकके स्वभावमें देना-ही-देना होता है। त्याग और संग्रह सभीमें होता है, पर साधकमें त्याग-ही-त्याग होता है।

लेना-ही-लेना पशुमें होता है। लेना-देना साधारण मनुष्यमें होता है। देना-ही-देना साधक और सिद्धमें होता है। साधक अपने लिये कुछ नहीं करता।

स्वार्थ और अभिमानके त्यागसे ही साधक होता है, और साधकको ही सिद्धि होती है। सुख-सुविधा, आराम चाहनेवाला साधक नहीं हो सकता। साधककी दृष्टि सुख-सुविधामें नहीं रहती।

जबतक असत्का संग है, तबतक सत्संगी नहीं हैं। यदि भोग और संग्रहकी रुचि है तो वह साधकोंमें भरती नहीं हुआ। उसकी गिनती संसारीमें ही होगी। **साधक साधनके लिये जीता है, सुख-सुविधाके लिये नहीं।**

× × × ×

देखनेमें स्वार्थ अच्छा दीखता है, पर परिणाममें पतन ही होता है। **लड़ाईमें दोनों ही पक्षोंकी हार**

(अहित) है, और प्रेममें दोनों ही पक्षोंका उद्धार है।

सबकी मुक्ति चाहनेसे अपनी मुक्ति जल्दी होती है। केवल अपनी मुक्ति चाहनेसे देरी लगती है।

दूसरेके हितके लिये अपने सुखका त्याग कर दे। अपने सुखको रेतीमें मिला दे तो खेती हो जायगी।

संसारका सुख हम छोड़ते नहीं, और उसे छोड़े बिना पारमार्थिक (अक्षय) सुख मिलता नहीं।

दुःख, अशान्तिकी अवस्थामें 'काम' पैदा होता है।

ममता रखनेसे वस्तुओंका सदुपयोग नहीं होता। अपना न माननेसे ही वस्तुओंका सदुपयोग होता है। वस्तुओंको अपना न माननेसे और सबको अपना माननेसे उदारता आती है। **वस्तु अपनी माननेसे और सबको अपना न माननेसे उदारता नहीं आती।** वस्तुको चाहे संसारकी मानो, चाहे प्रकृतिकी मानो, चाहे भगवान्‌की मानो। उसे अपनी मानना बेईमानी है। **केवल 'तू' और 'तेरा' है, 'मैं' और 'मेरा' है ही नहीं।**

× × × ×

विचारसे विवेक होता है और चिन्तनसे स्थिति होती है। चिन्तन अभ्यास है। अभ्याससे विवेक तेज है। चिन्तन मनसे होता है। मन अपरा प्रकृति है। शरीरको संसारसे अलग मानना अविवेक है।

सत्संग सुनकर विचार नहीं करते। **'विचार करना' वैराग्यमें हेतु होता है और 'विचार उदय होना' तत्त्वप्राप्तिमें हेतु होता है।**

अपने लिये कोई अपना नहीं है, पर सेवाके लिये सभी अपने हैं। चाहे किसीको अपना मत मानो, चाहे संसारको अपना मानो—दोनोंका परिणाम एक होगा। अधूरी चीज ही बाधक होती है। अधूरा वैद्य रोगीको मार देता है! अतः या तो बिल्कुल न जाने, या पूरा जाने। **सुख लेनेके लिये शरीर भी अपना नहीं है और सेवा करनेके लिये पूरा संसार अपना है।**

× × × ×

अपनी गौणता और शरीरकी मुख्यता मान लेना गलती है। इस तादात्म्यसे साधन क्रियाप्रधान होता है और भाव व विवेकप्रधान साधनमें कठिनता पड़ती है। **शरीरको ही अपना स्वरूप माननेके कारण शास्त्रोंमें क्रियाप्रधान साधनकी मुख्यता बतायी गयी है।** ज्ञानके साधनमें भी श्रवण, मनन आदि साधन बताये गये हैं, जिनमें शरीरकी प्रधानता रहती है। यदि पहले ही तादात्म्य तोड़ दें तो बहुत जल्दी काम होता है। जबतक जड़के साथ सम्बन्ध माना हुआ है, तबतक चिन्मयताकी प्राप्ति कठिन है। अतः पहले तादात्म्य तोड़नेकी बड़ी जरूरत है।

विचार करें कि शरीर और मैं (स्वरूप) एक नहीं हैं। 'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' भाग शरीरका और 'हूँ' भाग चेतनका है। सुषुप्तिमें 'मैं' लीन होता है, 'हूँ' लीन नहीं होता।

× × × ×

शरीर 'मैं' नहीं और 'मेरा' नहीं—यही असली त्याग है। यह होनेसे सभी साधन बहुत सुगम हो जायँगे। **शरीरके साथ एकता माननेसे ही साधन कठिन मालूम देता है।** शरीरको मैं-मेरा न मानना वर्तमानकी चीज है। आज चाहो तो आज कर लो! शरीरको मैं-मेरा मानना ही अविद्या है, अज्ञान है।

× × × ×

जो आदि और अन्तमें नहीं है, वह वास्तवमें बीचमें भी है नहीं, पर दीखता है। वस्तु-व्यक्ति पहले भी नहीं थे, पीछे भी नहीं रहेंगे, फिर उनके जानेपर शोक कैसा? शोक-चिन्ता करना बेसमझी है, और बेसमझी मिटानेके लिये सत्संग है। संसारकी वस्तु कितनी ही मिल जाय तो भी अभाव रहेगा ही।

आप अपनेको अयोग्य मानकर भगवत्प्राप्तिका अनधिकारी मत मानें। सभी परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। योग्य-अयोग्य सभी भगवान्‌को अपना मान सकते हैं।

× × × ×

श्रोता—हमारेमें योग्यता आ जाय, विद्या आ जाय—ऐसी इच्छा क्यों होती है?

स्वामीजी—ऐसी इच्छा होती है मान-बड़ाईकी इच्छासे। **परमात्माकी प्राप्तिमें योग्यताकी जरूरत**

नहीं है। परमात्मप्राप्तिमें मोह भी बाधक है और विद्या भी—'**यदा ते मोहकलिलम्०**' '**श्रुतिविप्रतिपन्ना ते०**' (गीता २।५२-५३)। अभिमान होनेसे विद्या आदिका दुरुपयोग होता है। यह अभिमान बाधक होता है। धन, विद्या आदि हों, पर उनका अभिमान न हो—यह कठिन है।

भगवत्प्राप्तिमें अभिलाषा मुख्य है, योग्यता नहीं। धनकी प्राप्तिमें एक नंबरमें प्रारब्ध, दो नंबरमें पुरुषार्थ और तीन नंबरमें इच्छा है। परन्तु भगवत्प्राप्तिमें इच्छा (अभिलाषा) एक नंबरमें है।

यद्यपि योग्यता परमात्मप्राप्तिमें साधक नहीं है, पर अभिमान होनेसे वह बाधक हो जाती है। अभिमान अविवेकीको होता है, विवेकीको नहीं।

× × × ×

वस्तुएँ काममें लेनेके लिये हैं, ममता करनेके लिये नहीं। ममताके रहते कभी शान्ति नहीं मिल सकती। **वस्तु हमें छोड़ दे तो मौत है और हम उसे छोड़ दें तो त्याग है।** वस्तुओंके साथ हमारा सम्बन्ध कितने दिन रहनेवाला है—इसका अनुभव करें।

मनुष्ययोनि साधनयोनि है। सुख-दुःखका भोग करेंगे तो हमें भोगयोनि मिलेगी, साधनयोनि नहीं।

× × × ×

हमारा अनुभव, विचार आदि बदलनेवाले हैं। बचपनमें और अनुभव था, अभी और। अतः **शास्त्रों और संतोंके अनुभव, विचार आदिको महत्त्व देना चाहिये।**

कर्मयोग है—संसारमें रहनेकी बढ़िया रीति। कर्मयोगका स्वरूप है—निष्कामभावसे सेवा करना। सुख दें, पर लें नहीं। इससे हम संसारमें सुखपूर्वक, आदरपूर्वक रहेंगे। जो हमसे कुछ चाहे नहीं और सेवा करे, वह व्यक्ति सबको अच्छा लगता है।

× × × ×

विवेकमार्गमें द्वैत रहता है। अतः मुक्त होनेपर द्वैतका एक संस्कार रह जाता है, जिससे दार्शनिक मतभेद होते हैं। जले हुए मेण्टलकी तरह ज्ञानीका अहं जला हुआ रहता है, जिससे व्यवहार होता है। **आचार्योंमें जो सूक्ष्म अहं रहता है, वह दुनियाके कल्याणके लिये होता है।** आचार्यकोटिके सन्त लोकसंग्रहके लिये होते हैं। लड़ाई आचार्योंमें नहीं है, उनके अनुयायियोंमें है। साधकको मतभेदमें न पड़कर तत्परतासे अपने साधनका पालन करना चाहिये।

× × × ×

मनुष्यकी उन्नतिकी कोई सीमा नहीं है। कमी यह है कि आगे बढ़नेका उत्साह नहीं है। आध्यात्मिक विषयमें कभी सन्तोष करना ही नहीं चाहिये। प्रारब्धके अनुसार मिली परिस्थितिमें सन्तोष करना चाहिये।

साधन नित्यकर्मकी तरह नहीं होता, प्रत्युत निरन्तर होता है। साधक निरन्तर सावधान रहता है।

× × × ×

एक समग्र परमात्माके सिवाय कुछ भी नहीं है। सब कुछ वही है, फिर मनको कहाँसे हटायें और कहाँ लगायें? समुद्र और लहरें अलग-अलग हैं, पर जल-तत्त्वमें क्या फर्क है? समुद्रकी लहरें, उसकी सीमा ऊपरसे दीखती है, पर भीतरमें शान्त समुद्र है। इसी तरह ऊपरसे सृष्टि दीखती है, पर भीतर एक परमात्मतत्त्व है—'**समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्**' (गीता १३।२७)।

× × × ×

शास्त्रोंको इदंबुद्धिसे न पढ़कर अनुभव करनेके लिये पढ़े। उन्हें बुद्धिका विषय न बनाये।

जैसे संसार भगवत्स्वरूप है, वैसे शरीर भी भगवत्स्वरूप है। **शरीरको संसारसे अलग रखते हुए अनुभव नहीं होता।** अहम्‌तक सब परमात्मा ही हैं। शरीर संसारका अंश है, संसार शरीरका अंश नहीं। पर हम संसारसे सुख लेना चाहते हैं। सुख लेनेकी चाहना ही अनुभवमें खास बाधा है। **संसार मेरे नहीं, अपितु मैं संसारके काम आ जाऊँ—यह भाव रहना चाहिये।**

माँका ऋण उतार नहीं सकते। माँके चरणोंमें

प्रातः-सायं प्रणाम करें और उसके हाथका बना भोजन करें तो वह प्रसन्न हो जायगी। प्रसन्न होनेसे ऋण माफ हो जाता है।

× × × ×

बिना भूखके भोजन मिल गया, तभी लाभ नहीं होता! भूख जाग्रत् करनेका उपाय है—विचार। विचार करें कि सत्संग सुनते इतने वर्ष हो गये, अभीतक लाभ नहीं हुआ! शरीरका कोई भरोसा नहीं। यह परिस्थिति, यह भाव भी सदा रहेगा क्या? यह संयोग क्या सदा रहेगा? एक दिनमें एक बात भी पकड़ लो तो कितना काम हो जाय! श्रीशंकराचार्यजीने कहा है—'**किमौषधं तस्य विचार एव**' (प्रश्नोत्तरी ७) अर्थात् विचार ही भवरोगकी दवा है।

सत्संगके द्वारा जो विद्वत्ता आती है, वह पुस्तकें पढ़नेसे नहीं आती।

× × × ×

मैं ज्ञानी हूँ और मैं अज्ञानी हूँ—ये दोनों धारणाएँ अज्ञानियोंकी हैं। ज्ञान होनेपर ज्ञानी नहीं रहता। जबतक ज्ञानी रहता है, तबतक भोग है। जो ज्ञानका भोगी है, वह कभी अज्ञानका भी भोगी हो सकता है। तत्त्वज्ञान होनेपर 'मैं ज्ञानी हूँ, दूसरे सब अज्ञानी हैं'—यह नहीं होता। सबका स्वरूप शरीरसे अलग है, केवल बुद्धिमें फर्क पड़ता है। मैं जानता हूँ—ऐसे वह (तत्त्वज्ञानी) ज्ञानका मालिक नहीं बनता। उसे ज्ञानका अभिमान नहीं होता।

× × × ×

हम शरीर, वस्तुओं, अवस्थाओंके बिना रह सकते हैं और वे हमारे बिना रह सकती हैं। **जो वस्तु हमारे बिना रह सकती है, उसके बिना हम क्यों नहीं रह सकते? हम उसके गुलाम क्यों बनें?** हम परमात्माके अंश हैं। परमात्मा हमारे बिना नहीं रह सकते; क्योंकि वे सबमें परिपूर्ण हैं। अतः हम भी परमात्माके बिना नहीं रह सकते।

शरीरको आपकी आवश्यकता है, आपके बिना शरीर सड़ जायगा, पर आपको शरीरकी आवश्यकता नहीं है। आप शरीरके बिना रह सकते हैं। ऐसा जाननेसे आपमें स्वतन्त्रता आ जायगी। परतन्त्रता मानी हुई है, स्वतन्त्रता स्वतःसिद्ध है।

यदि आप काममें न लें तो सोने और पत्थरमें क्या फर्क हुआ? पहाड़में पड़ा पत्थर और खानमें पड़ा सोना—दोनों समान हैं। आप सोनेको काममें लेते हो, उसे बढ़िया मानते हो तो उसका महत्त्व हो जाता है।

× × × ×

विश्वासमार्गमें देह-देहीका विचार न करके भगवान्में लग जाओ, पर ऐसे लगो कि देह याद ही न रहे! अपनेको भगवान्का मानो। बार-बार प्रार्थना करो कि हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं। **ऐसा मानो कि भगवान् निरन्तर मुझे देख रहे हैं।**

× × × ×

आरम्भकालको देखना पशुता है। विवेकी मनुष्य परिणामको देखता है, इसलिये वह भोगोंमें रमण नहीं करता—'**न तेषु रमते बुधः**' (गीता ५। २२)। **अर्थका परिणाम अनर्थ है!** संयोगकालमें ही वियोगको देखना चाहिये। संसारका संयोग अनित्य है, वियोग नित्य है। जो अपने विवेकका आदर नहीं करता, वह शास्त्र और सन्तका आदर नहीं कर सकता।

जैसे चाहे दान करो, चाहे आवश्यक काममें खर्च करो, नहीं तो धनका नाश हो जायगा, ऐसे ही समयको चाहे अपने कल्याणमें लगाओ, चाहे दूसरोंकी सेवामें लगाओ, नहीं तो समय नष्ट हो जायगा। भगवान्के भजनके बिना समय जाना असह्य होना चाहिये।

भगवान्में प्रेम होनेसे भक्त निष्काम स्वतः हो जाता है। भगवान्को पुकारो। पुकारनेसे माँ गोदीमें ले लेती है।

× × × ×

पारमार्थिक उन्नति स्वयंकी और सांसारिक उन्नति 'पर' की है। सांसारिक पूँजी साथ नहीं रहती, पर साधन-पूँजी योगभ्रष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होती। पारमार्थिक सम्पत्तिको कोई छीन नहीं सकता। ब्रह्माजी

हंसको तो हटा सकते हैं, पर उसके नीर-क्षीर-विवेकको नहीं छीन सकते! सत्संग और साधनसे होनेवाली उन्नति मरनेपर भी मिटती नहीं, प्रत्युत ढकती है और समयपर प्रकट हो जाती है।

जिज्ञासा और कामना—दोनोंका स्थान एक है। शरीरकी प्रधानतासे सांसारिक इच्छा और स्वरूपकी प्रधानतासे पारमार्थिक इच्छा होती है। जड़ताके साथ तादात्म्य होनेसे ही दोनों इच्छाएँ पैदा हुई हैं।

सत्संगसे बिना परिश्रम एक गति होती है अर्थात् अनुभव बढ़ता है।

× × × ×

जैसे सूर्य और उसका प्रकाश एक है, ऐसे ही श्यामसुन्दर और उनका प्रकाश यह जगत् भी एक है। यह जगत् श्यामसुन्दरका स्वरूप है। परन्तु जैसे जगत्की अपेक्षा श्यामसुन्दरका रूप विशेष है, ऐसे ही सन्तका रूप भी विशेष है—

सातवँ सम मोहि मय जग देखा।
मोतें संत अधिक करि लेखा॥

(मानस, अरण्य० ३६।२)

× × × ×

सत्में असत् नहीं है, पर असत्में भी सत् है। सत् नित्य है, असत् अनित्य है। मुक्ति नित्य है, बन्धन अनित्य है। बन्धनके समय भी मुक्ति विद्यमान है। सत्की तरफ केवल दृष्टि डालनी है।

सत्का भाव और असत्का अभाव स्वीकार करके मन-बुद्धिसे चुप हो जायँ। चुप होनेसे असत्की स्वतः निवृत्ति हो जायगी। असत्को मिटानेका उद्योग करना उसको सत्ता देना है।

× × × ×

सेवा सबकी करे, पर किसीसे कुछ न चाहे। **सेवा करना 'कर्म' है और किसीसे कुछ न चाहना 'योग' है।** योग होनेसे साधक निरपेक्ष हो जाता है। '**सर्वे भवन्तु सुखिनः०**' (सब सुखी हो जायँ.........)—यह भाव रखें तो यह सेवा हो गयी। सबको भला समझें—यह भी सेवा है। सब सुखी हो जायँ—यह समता है, समदृष्टि है। सेवा करना और भगवान्को याद करना—यह मनुष्यता है।

'**परस्परं भावयन्तः**' (गीता ३।११)—इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आप हमारी सेवा करें, इसलिये हम आपकी सेवा करें। यह तो व्यापार है! अतः अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरेकी सेवा करें। लेनेकी आशा न रखें। सकामभाव रखेंगे तो कर्म होगा, कर्मयोग नहीं। सभी वर्ण अपने-अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा दूसरे वर्णवालोंकी सेवा करें।

× × × ×

संसारकी तरफसे खिंचाव हटकर भगवान्में खिंचाव हो जाय—यह काम मनुष्य ही कर सकता है। संसार (जड़)- में आकर्षण होनेसे पतन-ही-पतन होता है। भगवान्में आकर्षण उत्थानका मार्ग है। भगवान्को याद करना और सबकी सेवा करना मनुष्यका काम है। मनुष्यके लिये ही पाँच महायज्ञोंका विधान है*। मनुष्य सबका पालन कर सकता है। नीचेसे लेकर ठेठ भगवान्तकको सेवा कर सकता है!

× × × ×

सभी वस्तुओं और व्यक्तियोंका वियोग होगा—इस बातका अपनेपर प्रभाव हो जाय तो हम निहाल हो जायँ! संयोगका भोग करेंगे तो वियोगका दुःख भोगना ही पड़ेगा।

संसारमें लगे हुएका साथी कोई भी नहीं होता, पर भगवान्में लगे हुएके सब साथी हो जाते हैं! डाकू भी सन्तकी सेवा करते हैं! साधु होनेमात्रसे कितनी आफतें मिट जाती हैं! साधु, वृद्ध और विधवाके लिये भगवद्भजनके सिवाय क्या काम बाकी रहा? ये भजन न करें तो भगवान् नाराज होते हैं। जो

* अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ (मनुस्मृति ३।७०)
'वेदोंका अध्ययन-अध्यापन करना 'ब्रह्मयज्ञ' है, तर्पण करना 'पितृयज्ञ' है, हवन करना 'देवयज्ञ' है, बलिवैश्वदेव करना 'भूतयज्ञ' है और अतिथि-सत्कार करना 'मनुष्ययज्ञ' है।'

भगवद्भजनमें लग जाता है, उसके लोक-परलोक दोनों ठीक हो जाते हैं।

× × × ×

किसीके दोष या कमी देखनेका क्या हमें अधिकार मिला हुआ है? दोष दिखायी देता है तो यह अपना दोष है। अपने दोषसे ही दूसरेमें दोष दीखता है। **अपना अन्तःकरण जितना दोषी होगा, उतना ही दूसरोंमें दोष अधिक दीखेगा।** रेडियोकी तरह दोषी अन्तःकरण ही दूसरोंके दोषको पकड़ता है। झाड़ू देनेवाला बाजारमें जाकर कूड़ा-करकट ही एकत्र करके अपनी टोकरी भरता है। क्या बाजारमें कूड़े-करकटके सिवाय दूसरी वस्तुएँ नहीं थीं? आप किसीका दोष न देखें तो आपके द्वारा दुनियाकी सेवा हो जायगी। दोष देखेंगे तो '**वासुदेवः सर्वम्**' कैसे दीखेगा?

गुण सदा रह सकते हैं, पर दोष सदा नहीं रह सकते।

× × × ×

हमारे ऋषियों-मुनियोंने विचित्र खोज करके शास्त्रोंकी रचना की है। उनकी सबपर बहुत कृपा रही है। उन्होंने अपने स्वार्थके लिये शास्त्रोंकी रचना नहीं की है।

पहलेकी अपेक्षा आज धर्मकी महिमा ज्यादा है। आज भगवान् बहुत सस्ते हो गये हैं! इसलिये भगवान्‌को याद करो और दूसरोंकी सेवा करो। किसीकी बुराई न करें तो संसारकी सेवा हो गयी—

यह हमारि अति बडि सेवकाई।
लेहिं न बासन बसन चोराई॥

(मानस, अयो० २५१।२)

भलाई करनेमें बहादुरी नहीं है, प्रत्युत बुराई छोड़नेमें बहादुरी है। दैवी सम्पत्ति स्वतः है, उद्योगसाध्य नहीं। बुराई मत करो तो भलाई अपने-आप आयेगी।

क्या मृत्युके बाद नेत्रदान उचित है?

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

मेरी दृष्टिमें मृत्युके बाद नेत्रदान करना सर्वथा अनुचित है। जैसे अपनी सम्पत्ति देनेका अधिकार बालिग (वयस्क)-को होता है, नाबालिग (अवयस्क)-को नहीं, ऐसे शरीरके किसी अंगका दान करनेका अधिकार जीवन्मुक्त महापुरुषको ही है। जिसने अपना कल्याण कर लिया है, अपना मानव-जीवन सफल कर लिया है, वह बालिग है, शेष सब नाबालिग हैं। जीवन्मुक्त महापुरुष भी शरीरके रहते हुए ही नेत्रदान कर सकता है, शरीर छूटनेके बाद नहीं। दधीचि ऋषिने जीवितावस्थामें ही इन्द्रको वज्रनिर्माणके लिये अपना शरीर दिया था। राजा अलर्कने भी जीवितावस्थामें ही एक अन्धे ब्राह्मणको नेत्रदान दिया था।

शैब्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ । अलर्कश्चक्षुषी दत्त्वा जगाम गतिमुत्तमाम्॥

(वाल्मीकि०, अयो० १२।४३)

'राजा शैब्यने बाज और कबूतरके झगड़ेमें (कबूतरके प्राण बचानेकी प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके लिये) बाज पक्षीको अपने शरीरका मांस काटकर दे दिया था। इसी तरह राजा अलर्कने (एक अन्धे ब्राह्मणको) अपने दोनों नेत्रोंका दान करके परम उत्तम गति प्राप्त की थी।'

शवके साथ छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिये। शवका कोई अंग काटनेसे अगले जन्ममें वह अंग नहीं मिलता। अंग मिलता भी है तो उसमें कमी अथवा चिह्न रहता है। कुछ व्यक्तियोंमें पूर्वजन्मका चिह्न इस जन्ममें भी देखा गया है। बालकके मरनेपर माताएँ उसके किसी अंगपर लहसुन लगा देती हैं तो वह चिह्न अगले जन्ममें भी रहता है।

मृत्यूपरान्त नेत्रदानके औचित्यके विषयमें हमने वाराणसीकी 'श्रीगीर्वाणवाग्वर्धिनीसभा' से पूछा तो उन्होंने अपना यह निर्णय लिखकर भेजा—

'**पुरुषाहुतिर्ह्यस्य प्रियतमा**' इत्यादि वचनोंके अनुसार अग्निमें शवकी आहुति दी जाती है। '**सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतु**' आदि भी वाक्य हैं। हवनीय द्रव्य शवमें अग्निका अधिकार होनेसे उसे बुद्धिपूर्वक व्यङ्ग करनेका कोई औचित्य नहीं है। मूल शरीरके अभावमें पुत्तल बनाते समय कौड़ियोंसे नेत्रोंकी कल्पना बतायी गयी है। इससे सिद्ध होता है कि मूल शरीरमें नेत्रोंका अस्तित्व आवश्यक है। एवञ्च नेत्रदानके लिये शवके अंग-भंगका निषेध आर्थिक (अर्थप्राप्त) है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सागरके मोती

पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः॥
प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥
वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥
हरिः ॐ नमोऽस्तु परमात्मने नमः।
श्रीगोविन्दाय नमो नमः।
श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः।
महात्मभ्यो नमः।
सर्वेभ्यो नमो नमः।

××× ××× ××× ×××

किसीको भी बुरा समझे नहीं, बुरा चाहे नहीं और बुरा करे नहीं। किसीको बुरा समझनेसे वह भी बुरा बन जायगा और हमारेमें भी बुराई आ जायगी। किसीको बुरा समझना अपनेमें बुराईको निमन्त्रण देना है।

स्वरूपमें बुराई नहीं है। बुराई आगन्तुक है। बुराई स्थायी नहीं है, असत् है। बन्धन कृत्रिम है, मुक्ति स्वत:सिद्ध है। मनुष्य केवल (सर्वथा) भला तो हो सकता है, पर केवल बुरा कोई हो सकता ही नहीं।

बुराई देखनेसे बुराईके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। किसीको भी बुरा नहीं मानें तो संसारकी सेवा हो जायगी। बुरा देखोगे तो '**वासुदेवः सर्वम्**' कैसे मानोगे?

××× ××× ××× ×××

परमात्मप्राप्ति कठिन नहीं है, उसकी इच्छा कठिन है। हम परमात्माकी आवश्यकता नहीं मानते, तभी उनकी प्राप्ति कठिन दीखती है। सुखभोग तथा संग्रहकी इच्छाके कारण ही परमात्मप्राप्ति कठिन हो रही है। शरीरके आरामकी जितनी इच्छा है, उतनी परमात्माकी नहीं है। परमात्मप्राप्तिमें विश्वास और विवेककी जरूरत है, शरीरकी जरूरत नहीं है।

'कर्मयोग' कामना-त्यागसे आरम्भ होता है और कामना-त्यागमें ही समाप्त होता है। 'भक्तियोग' भगवत्प्रेमसे आरम्भ होता है और भगवत्प्रेममें ही समाप्त होता है। 'ज्ञानयोग' विवेकसे आरम्भ होता है और विवेकमें ही समाप्त होता है।

××× ××× ××× ×××

निषिद्ध कर्मोंका त्याग बहुत जरूरी है। संसारको भी चाहते हो और भगवान्‌को भी चाहते हो तो किया हुआ साधन व्यर्थ नहीं जायगा, पर वर्तमानमें लाभ नहीं होगा।

कोई भी कर्तव्य-कर्म दूसरोंके हितके लिये किया जाय तो वह भजन है, और अपने लिये किया जाय तो पाप है। समाधि भी अपने लिये नहीं करनी है। संसार या भगवान्‌के लिये करना है। अपने सुखके लिये कर्म करनेवाला राक्षसकी श्रेणीमें आता है। कर्म शरीरसे करना और फल स्वयं चाहना क्या उचित है? शरीर तो संसारका और संसारके लिये है। शरीरके द्वारा संसारकी सेवा होनी चाहिये।

जो अपने शरीरका पोषण नहीं करता, उसके शरीरका पोषण संसार करता है; जैसे माँ बालकका पोषण करती है। आप शरीरको अपना मत मानो तो शरीरको भोजन देनेका माहात्म्य हो जायगा! शरीरको संसारका मानो तो संसारकी सेवा हो जायगी, और भगवान्‌का मानो तो भगवान्‌की सेवा हो जायगी।

जिसकी सेवा करते हो, उससे अपनापन हटा लो अथवा जिसको अपना नहीं मानते, उसकी सेवा करो—दोनोंका फल बराबर है।

××× ××× ××× ×××

सत्संग मिलनेके समान कोई लाभ नहीं है। परन्तु असली सत्संग मिलना कठिन है। एकान्तमें भजन करनेकी अपेक्षा सत्संगसे, वास्तविक तत्त्वका विवेचन करनेवाली पुस्तकोंसे बहुत लाभ होता है। असली सत्संग है—भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका संग अथवा एक भगवान्‌में प्रियता। सत्संगसे तत्काल लाभ होता है। सत्संगकी महिमा मैं कह नहीं सकता। जैसे बालक कब बड़ा हो गया—इसका पता नहीं लगता, ऐसे ही सत्संगमें बैठे-बैठे कितना लाभ होता है—इसका पता नहीं लगता।

संसार प्रतीतिमात्र है, है नहीं। इसको 'है' मानना अनर्थकारक है, जिससे भोग तथा संग्रहकी रुचि पैदा होती है। 'नहीं' को स्थायी माननेसे 'है' दीखता नहीं। जो 'है', वही परमात्मा है। संसार है ही नहीं, केवल मृगतृष्णाकी तरह प्रतीति है।

××× ××× ××× ×××

संसार बाधक नहीं है, प्रत्युत उससे सुख लेनेकी इच्छा बाधक है। सुख चाहनेवाला दुःखसे कभी बच सकता ही नहीं। शरीर, रुपये, घर, कुटुम्बी आदि कुछ भी बाधक नहीं है। बाधक है 'मैं सुख ले लूँ'—यह भाव। यह राक्षसपना है। इच्छामात्र बाधक है, चाहे वह अच्छी हो या बुरी। सब कुछ परमात्मा ही हैं, पर वे भोग्य नहीं हैं। आप उन्हें भोग्य बनाकर सुख भोगना चाहोगे तो दुःख पाते रहोगे।

अप्राप्तकी इच्छा करनेसे बन्धन होता है और प्राप्तकी इच्छा करनेसे दूरी होती है।

कर्म करनेसे और चिन्तन करनेसे प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होता है। कुछ करे नहीं, चिन्तन करे नहीं तो स्वरूपमें स्थिति हो जायगी। न कुछ करो, न कुछ सोचो, न कुछ चाहो। कुछ भी चिन्तन करोगे, समाधि भी करोगे तो प्रकृतिके साथ सम्बन्ध हो जायगा।

यदि शरीर मैं हूँ तो संसार हमारा इष्ट, पूजनीय है। अंशके लिये अंशी पूज्य होता है। पूज्यमें द्वेषबुद्धि नहीं होती। अतः किसीका बुरा न करो, न चाहो तो कल्याण हो जायगा। इष्टको कोई बुरा मानता है? कोई उसका बुरा करता है? रामायण पूजनीय है तो उसमें अयोध्याकाण्ड भी है, लंकाकाण्ड भी है। उसे रामचरित कहते हैं, रावणचरित नहीं कहते। इसी तरह सब संसार पूजनीय है। इस प्रकार संसारको सत्य मानो, इष्ट मानो तो कल्याण हो जायगा।

परमात्मामें (सगुण-निर्गुण आदिका) भेद करना गलती है, और संसारमें एकता करना गलती है।

आरम्भसे ही भक्ति करना सर्वश्रेष्ठ है। गीता ज्ञानयोगसे कर्मयोगको और कर्मयोगसे भक्तियोगको श्रेष्ठ मानती है। भगवान्‌में प्रेम होनेका नाम 'भक्ति' है। प्रेमके समान कोई चीज है ही नहीं। प्रेमके बिना ज्ञान सूखा है। यदि प्रेम शरीरमें है तो भले ही ब्रह्मकी बातें कर लो, कुछ लाभ नहीं। जैसे रुपये लोभीकी दृष्टिमें कीमती हैं; अतः धन बड़ा नहीं, लोभ बड़ा है। ऐसे ही भगवान्‌का प्रेम बड़ा है, भगवान् नहीं।

××× ××× ××× ×××

बालकको माँके समान प्रिय कोई चीज नहीं लगती। हम सब भगवान्‌के बेटे हैं। जबतक हम भगवान्‌से विमुख रहते हैं, तबतक शान्ति नहीं मिलती। संसारसे विमुख होनेपर एक शान्ति मिलती है। परन्तु भगवान्‌के सम्मुख होनेपर प्रेमकी जो मस्ती आती है, वह ज्ञानसे नहीं आती। भगवत्प्रेममें जो विलक्षण रस है, वह ज्ञानमें नहीं है। यह मेरेपर बीती बात है! गोस्वामीजी कहते हैं—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

ज्ञानमें मतभेद रहता है, भक्तिमें नहीं। भक्तिमें जो अद्वैत है, वह ज्ञानमें नहीं है। ज्ञानमें जड़ताका त्याग करते हैं तो जड़ताका सूक्ष्म संस्कार रहता है। भक्तिमें **'वासुदेवः सर्वम्'** होनेसे त्याज्य वस्तु कोई होती ही नहीं।

××× ××× ××× ×××

जो आदि-अन्तमें होता है, वही मध्यमें होता है। स्वप्नसे पहले और बादमें हम रहते हैं तो स्वप्नके

समय भी हम रहते हैं। हम जाननेवाले हैं। जाननेवाला जाननेमें आनेवाली वस्तुसे अलग होता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि—इन पाँचों अवस्थाओंको हम जानते हैं; अतः हमारा स्वरूप इन पाँचों अवस्थाओंसे रहित है। अवस्थाओंका भाव और अभाव होता है, पर हमारा भाव और अभाव नहीं होता। अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। इस अवस्थाओंके अधीन नहीं हैं। अवस्थाएँ छूटती हैं, पर हम रहते हैं। विकार आते-जाते हैं, पर हम भोक्ता बनते हैं। जबतक आने-जानेवाली चीजोंका हमपर असर पड़ता है, तबतक हम स्वरूपमें स्थित नहीं हैं।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता २। १६) 'असत्का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है।' असत्की निरन्तर निवृत्ति हो रही है। सत्की प्राप्ति निरन्तर हो रही है। **'रहते' में रहो, 'बहते' के साथ मत बहो**। बहनेवालेमें भी दो विभाग हैं—दीखनेवाला और देखनेवाला (इन्द्रियाँ, अन्तःकरण)। 'नहीं' से 'है' कैसे दीखेगा? 'है' से 'नहीं' कैसे दीखेगा? 'नहीं' से 'नहीं' ही दीखेगा।

××× ××× ××× ×××

मनुष्य अपनेमें कमीका अनुभव करता है तो दूसरोंका सहारा लेता है। जबतक यह परमात्माका आश्रय नहीं लेगा, तबतक उसकी कमी दूर नहीं होगी और वह दुःख पाता ही रहेगा। जीव परमात्माका ही अंश है, इसलिये परमात्माका सहारा लेनेसे ही उसकी कमी दूर होगी। द्वैत, अद्वैत आदि सभी उसका सहारा लेनेके लिये ही हैं। अद्वैत केवल द्वैतका निषेध करनेके लिये है। सभी मार्गोंमें त्याग मुख्य है; क्योंकि संसारसे माना हुआ सम्बन्ध ही बाँधनेवाला है।

साधन दो हैं—संसारसे सम्बन्ध तोड़ना और परमात्मासे सम्बन्ध जोड़ना। भगवान्के शरण होनेपर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद भगवान् करा देते हैं और जल्दी करा देते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२।७)

'हे पार्थ! मुझमें आविष्ट चित्तवाले उन भक्तोंका मैं मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ।'

गुरु तो छोटा (चेला) बनाता है, पर भगवान् ऊँचा बनाते हैं। ऊँचे गुरु ऊँचा ही बनाते हैं। **इसलिये दास्यरति सख्यरतिमें बदल जाती है।** शरणमें जानेसे भगवान् अपने-आपको देते हैं। बालक माँका आश्रय लेता है तो माँ उसके वशमें हो जाती है। **'हे नाथ! मैं आपका हूँ, और किसीका नहीं'—इसके आगे भगवान् निर्बल हो जाते हैं***! परन्तु जीवकी निर्बलता है—अन्यका सहारा लेना। अनन्यभक्तके लिये भगवान् सुलभ हैं—**'तस्याहं सुलभः पार्थ'** (गीता ८। १४)। भजनका भी आश्रय न मानकर केवल भगवान्के आश्रित हो जाय। यह शरणागतिका मार्ग सबसे श्रेष्ठ और सुगम है। भगवान् भी शरणागत भक्तके शरण हो जाते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)।

दास्य, सख्य आदि भाव तत्त्वज्ञान होनेके बाद केवल चिन्मय तत्त्वमें ही होते हैं।

××× ××× ××× ×××

जीव स्वयं अविनाशी होकर नाशवान्को अपना मानता है—यह कितनी बड़ी भूल है! जाने हुए असत्का त्याग करना है। आप स्वयं बालक, जवान, रोगी, निर्धन आदि नहीं होते। आप तो इनको जाननेवाले हैं। जैसे मृत्युके समय एक आघात लगता है, जिससे आप पूर्वजन्मको भूल जाते हैं। ऐसा

*एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥ ४॥

(मानस., अरण्य. १०। ४)

आघात बालकपन जानेपर नहीं लगा, इसीलिये आप उसे भूले नहीं।

नया उद्योग कुछ नहीं करना है। जो निवृत्त है, उसीकी निवृत्ति करनी है और जो प्राप्त है, उसीकी प्राप्ति करनी है। भगवान्‌को अपना माननेमें अभ्यास नहीं है। विवाहके बाद नये घरको अपना माननेमें लड़कीको अभ्यास नहीं करना पड़ता। अभ्याससे नयी स्थिति बनती है, बोध नहीं होता।

हम भगवान्‌के हैं—इतनी बात मान लो तो बेड़ा पार है! अभी ऐसा मान लो कि हम भगवान्‌के हैं, फिर अपने-आप दीखने लग जायगा; क्योंकि यह सही बात है।

××× ××× ××× ×××

शरणागति सम्पूर्ण साधनोंमें श्रेष्ठ है। गीताके अन्तमें भी भगवान्‌ने शरणागतिकी बात कही है और इसे 'सर्वगुह्यतम' बताया है। भक्तका उद्धार करके भगवान्‌को बड़ी प्रसन्नता होती है। शरणमें जाना भक्तका काम है, उद्धार करना भगवान्‌का काम है, और प्रेम करना भक्त व भगवान्—दोनोंका काम है।

शरण लेनेका काम भगवान्‌का नहीं है। भगवान्‌ने अपने कल्याणके लिये जीवको स्वतन्त्रता दी है। शरण होकर जीव निश्चिन्त, नि:शोक, निर्भय और नि:शंक हो जाता है। शरण होना गीताका अन्तिम सिद्धान्त है। शरणागति गीताभरकी सार बात है।

जबतक अपने बल, बुद्धि, विद्या, धन आदिका आश्रय रहता है, तबतक असली शरणागति नहीं होती।

××× ××× ××× ×××

गुरुकी प्रसन्नतासे विद्या सफल होती है, और प्रसन्नता न होनेसे विद्या विफल होती है—ऐसे कई उदाहरण मैंने देखे-सुने हैं। अत: विद्यार्थीको चाहिये कि वह गुरुकी सेवा करे, उनकी आज्ञा माने और उनकी प्रसन्नता ले। गुरुकी आज्ञाका पालन करना एक नंबरकी सेवा है। **आज्ञापालनसे गुरुकी विशेष कृपा प्राप्त होती है।**

विद्यार्थियोंकी बुद्धि कमजोर हो—यह मैं नहीं मानता। वास्तविक बात यह है कि वे परिश्रम नहीं करते। वे परिश्रम करें तो गुरु भी प्रसन्न होंगे और माता-पिता भी।

विद्यार्थीको केवल बुद्धिबल ही नहीं, प्रत्युत मनोबल, शरीरबल आदि सभी बल बढ़ाने चाहिये। उसे व्रत-उपवाससे शरीरको कृश नहीं करना चाहिये।

विद्यार्थीको अपनी विद्याका अभिमान नहीं करना चाहिये। मैं जानकार हूँ—ऐसा अभिमान होनेसे जानना बन्द हो जायगा, और नहीं बढ़ेगा।

××× ××× ××× ×××

हमारे पास सबसे मूल्यवान् वस्तु है—मनुष्यजीवनका समय। महिमा वस्तुकी नहीं है, प्रत्युत वस्तुके उपयोगकी है। मनुष्यशरीरके सदुपयोगकी महिमा है। इसके सदुपयोगसे सर्वश्रेष्ठ परमप्रेमकी प्राप्ति हो सकती है, और दुरुपयोगसे नरकोंकी भी प्राप्ति हो सकती है! सदुपयोगसे भी ज्यादा महिमा है—दुरुपयोग न करे। विहित कर्म करनेकी अपेक्षा भी निषिद्ध कर्मोंका त्याग विशेष है। निषिद्ध आचरण रहते हुए विहित कर्म करनेपर भी विशेष लाभ नहीं होता, जैसा कि होना चाहिये। निषिद्ध कर्मोंके होनेमें कारण है—कामना! कामनाके कारण मनुष्य न चाहते हुए भी पाप कर बैठता है (गीता ३।३६-३७)। निषिद्ध आचरण करनेवाला 'साधक' नहीं कहलाता, प्रत्युत 'संसारी' कहलाता है।

प्रत्येक कार्य करते समय यह ध्यान रखें कि हमारा उद्देश्य क्या है? हम मुक्तिके लिये करते हैं या बन्धनके लिये? हम क्या चाहते हैं? अपनी चाहना मत रखो—

मेरी चाही मत करो, मैं मूरख अग्यान।
तेरी चाही में प्रभो, है मेरा कल्यान॥

कामनापूर्तिमें समय लगाना समयका दुरुपयोग है। अनुकूलताकी इच्छा पतन करनेवाली है। मिलनेवाली अनुकूलता तो मिलेगी ही। अनुकूलता आपकी इच्छाके अधीन नहीं है। आपकी इच्छाके अधीन तो पतन है!

××× ××× ××× ×××

मनुष्य वर्तमानको देखता है और भूत-भविष्यकी चिन्ता करता है। चिन्ता उसकी करता है, जो अभी

है नहीं। वर्तमानको ठीक बनाओ। वर्तमान ठीक होगा तो भूत भी ठीक हो जायगा, भविष्य भी; क्योंकि भविष्य भी वर्तमानमें आयेगा।

करनेयोग्य कर्म न करनेसे और न करनेयोग्य कर्म करनेसे दुःख होता है। अतः ऐसा कर्म करें, जिससे अभी भी हित हो और परिणाममें भी, हमारा भी हित हो और दूसरोंका भी। दूसरोंको दिया गया दुःख कई गुना होकर मिलेगा; क्योंकि यह मनुष्यशरीर खेत है। किसीके अहितकी भावना करना अपने अहितको निमन्त्रण देना है।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यशरीर अपने उद्धारके लिये मिला है। अतः जो देश, काल, परिस्थिति आदि मिली है, उसीमें परमात्मप्राप्ति हो सकती है। हरेक मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है, केवल अपनी इच्छा होनी चाहिये। सच्ची लगन हो तो भगवान् सहायता करते हैं। जैसे—कोई साधक किसी जगह अटका है, छोड़ना नहीं चाहता, उसको भगवान् वह जगह छुड़ा देते हैं। जहाँसे लाभ भी न हो और छोड़ना भी न चाहे, उसके सामने ऐसी परिस्थिति रखते हैं कि उसे छोड़ना ही पड़ता है।

भगवान्‌का मनुष्यशरीरसे पक्षपात है!

××× ××× ××× ×××

भगवद्भजनमें परतन्त्रता नहीं होती—यह सिद्धान्त है। सांसारिक प्रतिकूलता भजनमें बाधक नहीं होती। प्रतिकूलतामें मनुष्य संसारसे ऊँचा उठता है। भगवान्‌ने भागवतमें कहा है कि मैं कृपा करता हूँ तो धन हरण कर लेता हूँ अर्थात् प्रतिकूलता भेजता हूँ। भगवान् धन नहीं हटाते, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिकी बाधा हटाते हैं। जो भगवत्प्राप्ति चाहता है, उसकी बाधा हटाते हैं।

अपने सुख-दुःखका कारण दूसरेको मानना ही बाधा है। सुख या दुःखको देनेवाला दूसरा कोई नहीं है—**'सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता'** (अध्यात्म० २।६।६)। **मनुष्य वर्तमानके कर्मोंसे बँधता है, पूर्वके कर्मोंसे नहीं।** पूर्वकर्मोंके अनुसार तो परिस्थिति आती है। परिस्थिति दुःख नहीं देती, प्रत्युत अनुकूलताकी इच्छा दुःख देती है।

सांसारिक प्रतिकूलता पारमार्थिक मार्गमें बाधक नहीं है, प्रत्युत साधक है। वास्तवमें न बाधक है, न साधक, प्रत्युत भजनमें सभी स्वतन्त्र हैं। परन्तु मनुष्य अनुकूलतामें न तो भजन करता है, न पुण्य करता है। **अनुकूलताकी इच्छा मिटा दो और प्रतिकूलताका भय मिटा दो।** इनकी परवाह मत करो। अनुकूलताका भोग करोगे तो प्रतिकूलता आयेगी ही।

कोई हमारे प्रतिकूल हो या अनुकूल, हमारा काम है—स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरेका हित करना। दूसरा हमें सुख दे या दुःख, जिस तरहसे उसका हित हो, वैसा काम करो। क्रोध करनेसे उसका हित होता हो तो वैसा करो। दण्ड देना राजाका काम है। हमारा ध्येय हितका हो। आततायीसे रक्षा करना हमारा काम है, रक्षा करते हुए वह मर जाय तो पाप नहीं लगेगा। यद्यपि आततायीको मारनेका पाप नहीं लगता, तथापि हमारा उद्देश्य मारनेका नहीं होना चाहिये। अराजकताके समय सबका क्षात्रधर्म होता है।

सभी प्रश्नोंका उत्तर शास्त्रमें है, हम जानें चाहे न जानें।

परमात्मप्राप्तिमें अनुकूलता-प्रतिकूलता न साधक होती है, न बाधक। **प्रतिकूलतासे बाधा अपने सुखमें आती है, भजनमें नहीं।** प्रतिकूलता आनेपर विवेक काम न करे तो द्रौपदी, गजेन्द्रकी तरह भगवान्‌को पुकारो।

××× ××× ××× ×××

व्यवहार बिगड़ा है, परमार्थ नहीं। इसलिये व्यवहार-सुधारकी बड़ी भारी आवश्यकता है। कोई भी कर्म करते समय हम किस भाव, उद्देश्यसे कर्म कर रहे हैं—इसे जाननेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। प्रायः साधककी दृष्टि क्रियापर जाती है, भावपर बहुत कम। भावपर, उद्देश्यपर दृष्टि रखे तो बहुत जल्दी उन्नति हो सकती है। दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें कमी देखना अच्छा है, पर अपनेमें कमी मानना ठीक नहीं।

मनकी चंचलता मिटानेकी अपेक्षा बुद्धिकी चंचलता मिटाना आवश्यक है। आजकल मनकी

तरफ ध्यान देते हैं, बुद्धिकी तरफ नहीं। बुद्धि मनसे श्रेष्ठ है। भगवान्‌ने गीतामें मनकी स्थिरताकी अपेक्षा बुद्धिकी स्थिरताको महत्त्व दिया है। बुद्धि ठीक होनेसे मन भी ठीक हो जायगा। बुद्धिमें एक परमात्मप्राप्तिका ही निश्चय हो।

संसार मनुष्यशरीरसे ही आरम्भ हुआ है और मनुष्यशरीरमें ही समाप्त हो सकता है। अभी समाप्तिका मौका है!

'गंगा गये गंगादास, यमुना गये यमुनादास'— यह बुद्धिकी चंचलता है। परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय होना बुद्धिकी स्थिरता है। जबतक भोग और संग्रहकी आसक्ति है, तबतक बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं हो सकती।

××× ××× ××× ×××

सर्वभावसे भगवान्‌का भजन करनेका तात्पर्य है कि मैं-पन बिलकुल न रहे। जैसे कन्या सर्वभावसे पतिकी हो जाती है, उसका गोत्र भी नहीं रहता, ऐसे ही सर्वभावसे भगवान्‌के हो जायँ। अपना कोई भी भाव अलग न रहे।

धनके द्वारा दूसरोंका उपकार कभी हुआ नहीं, हो सकता नहीं। जिसके भीतर धनकी आसक्ति है, वह उपकार नहीं कर सकता। वह परमात्माकी तरफ भी नहीं लग सकता। उपकार उदारतासे होता है, धनसे नहीं। कल्याण उदारतासे होता है। रुपयोंका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत रुपयोंके खर्च (त्याग)-का महत्त्व है। रुपयोंका खर्च उदार ही कर सकता है।

महिमा और निन्दा परिस्थिति, वस्तु आदिकी नहीं है। **सदुपयोगकी महिमा है और दुरुपयोगकी निन्दा है—यह सार बात है।**

जबतक हृदयमें भोग और संग्रहका महत्त्व बैठा है, तबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसके भीतर नाशवान्‌का महत्त्व हो, वह अविनाशीको कैसे प्राप्त करेगा?

मूर्तिपूजा वास्तवमें भगवान्‌की पूजा है, मूर्तिकी पूजा नहीं। बढ़िया मकान बनाना, उसे सजाना पत्थरकी पूजा है। शरीरको सजाना हड्डीकी पूजा है!

कलियुग अच्छाईके चोलेमें बुराईका प्रचार करता है। अच्छाईके चोलेमें बुराई बहुत भयंकर होती है। उससे बचना बड़ा कठिन होता है।

मनुष्यके दो खास काम हैं—देखे हुए संसारकी सेवा करना और सुने हुए भगवान्‌को याद करना। आपने आजतक जो निश्चय किया है कि ईश्वर ऐसा है—उसे याद करते रहो, नामजप करते रहो तो असली भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी। दूसरेके द्वारा निश्चय किये गये रूपका, उसकी मान्यताका खण्डन मत करो। किसीकी निन्दा करोगे तो वह भगवान्‌की निन्दा होगी।

जीव और ईश्वर परस्पर सखा हैं—**'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'। प्रत्येक मनुष्य भगवान्‌का सखा है।** भगवान् कहते हैं—***'सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥'*** (मानस, किष्किन्धा० ७।५)। अतः आप चिन्ता छोड़ दें। चिन्ता हो जाय तो हे नाथ! हे नाथ! पुकारो।

××× ××× ××× ×××

चाहे जहाँ ममता नहीं है, उनकी सेवा कर दो; चाहे जिनकी सेवा करते हो, वहाँसे अपनी ममता हटा लो। ममता पुण्यको खा जाती है।

चाहे भगवान्‌के भजन, कीर्तन, ध्यान, जप, स्वाध्याय आदिमें लग जाओ, चाहे संसारका जो भी काम करो, भगवान्‌के लिये करो, स्वार्थका त्याग करके करो। किसी तरहसे भगवान्‌में लग जाओ।

स्वीकृति स्वयंमें होती है, चिन्तन मन-बुद्धिमें होता है। आप मानें या न मानें, स्वीकार करें या न करें, सब कुछ परमात्मा ही हैं।

'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—काम तो इतना ही है।

××× ××× ××× ×××

विचार करें तो यह बात समझमें आती है कि संसारमें अपना कोई नहीं है। शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि तथा मैं-पन भी अपना तथा अपने लिये नहीं है। इन्हें अपना और अपने लिये मानना ही बन्धन है। 'मैं' और 'मेरा' ही माया है। 'मैं' और 'मेरा' दोनों ही जगह भगवान् हैं। जीव स्वतः निर्मम और निरहंकार है। मैं-

मेरापन बदलता है। जो बदलता है, वह सच्चा नहीं होता। सुषुप्तिमें मैं-मेरेपनका भान नहीं होता, पर अपनी सत्ताका अनुभव होता है। आपकी सत्ता मैं-मेरेपनके अधीन नहीं है। मैं-मेरापन आपके अधीन है। वास्तवमें मैं और मेरा नहीं है, प्रत्युत तू और तेरा है!

भगवान्‌का होकर भगवान्‌को पुकारोगे तो माँकी तरह भगवान्‌को आना पड़ेगा। जैसे बालकको माँकी याद आती है, ऐसे भगवान्‌की याद आये। अपनेको शरीरसहित भगवान्‌का मान लो। वास्तवमें हम सदासे ही भगवान्‌के हैं। अतः भगवान्‌का होना नहीं है, केवल अपनी भूलका सुधार करना है कि मैं संसारका नहीं हूँ। आज ही विचार कर लो कि हम भगवान्‌के सिवाय किसीके नहीं हैं।

अपनेको भगवान्‌का मान लेनेके बाद परिवारसे आदरका, सेवाका, पूजाका बर्ताव होगा। परिवारमें ममता होनेसे बढ़िया बर्ताव नहीं होता।

कन्या पहले पतिकी न होते हुए भी पतिकी हो जाती है, आप भगवान्‌के होते हुए भगवान्‌के हो जाओ।

××× ××× ××× ×××

परमात्माकी प्राप्ति कठिन है ही नहीं। संसार तो निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है। कामनाका त्याग कठिन है तो क्या कामनाकी पूर्ति सुगम है? कामनाकी पूर्ति तो असम्भव है। सभी कामनाएँ आजतक किसीकी भी पूरी नहीं हुईं, पर कामनाओंका त्याग करके कई सन्त हो गये!

कामनाका त्याग करना है—यह विचार ही कामना छोड़नेमें कठिनता बताता है! वास्तवमें नित्यनिवृत्तकी ही निवृत्ति करनी है। संसारका त्याग करना नहीं पड़ता। संसार पहलेसे ही त्यक्त है, केवल इस वास्तविकताको स्वीकार करना है।

यदि कामनाकी पूर्ति कामनाके अधीन है तो फिर सभी कामनाओंकी पूर्ति होनी चाहिये! अतः पूर्ति कामनाके अधीन नहीं है, प्रत्युत किसी विधानके अधीन है। विधानकी पूर्ति बिना कामनाके भी होगी। इसलिये कामना करना केवल दुःख पाना हुआ। जिसको आप पकड़ना चाहते हो, वह छूट जाय तो आपकी फजीती ही होगी!

जो वस्तु समीप (प्राप्त) होती है, उसकी इच्छा बाधक (दूर करनेवाली) होती है। जो वस्तु दूर होती है, उसकी इच्छा साधक (समीप करनेवाली) होती है। अतः नित्यप्राप्त भगवान्‌की इच्छा भी बाधक है!

××× ××× ××× ×××

भयसे जिसका त्याग होता है, वह वास्तवमें छूटता नहीं है। वह छूटता है—विचार करनेसे। **भयसे होनेवाला सुधार वास्तवमें सुधार नहीं है। विचार करनेसे सुधार होता है। भीतरकी दुर्भावना भयसे नहीं मिटती, प्रत्युत विचारसे, सत्संगसे मिटती है।** विवेकका आदर करनेसे मनुष्य अपना सुधार कर सकता है। सत्संगके द्वारा बहुत जल्दी सुधार होता है—मेरा तो यही अनुभव है। सत्संगसे जीवन बदल जाता है, कायाकल्प हो जाता है।

जलचर थलचर नभचर नाना।
जे जड़ चेतन जीव जहाना॥
मति कीरति गति भूति भलाई।
जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ।
लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥

(मानस, बाल० ३।२-३)

भयसे तो मूर्खोंको ही थोड़ा लाभ होता है। मूर्खोंके सुधारके लिये दण्ड है, नरक हैं!

जो धन सदा साथ रहता है, वह कमाते नहीं और जो धन कमाते हैं, वह सदा साथ रहता नहीं। मैं प्रतिदिन इतने रुपये कमाऊँगा ही—यह नियम कोई नहीं ले सकता; क्योंकि यह प्रारब्धके अधीन है। परन्तु मैं प्रतिदिन इतना नामजप करूँगा—यह नियम सभी ले सकते हैं; क्योंकि यह हमारे अधीन है।

××× ××× ××× ×××

गीतामें खास शरणागतिकी बात है। जबतक अर्जुनने शरणागत होकर अपने कल्याणकी बात नहीं

पूछी, तबतक गीतोपदेश आरम्भ नहीं हुआ। अतः शरण होनेसे ही गीता समझमें आती है। सर्वथा शरण हो जायँ तो बिना पढ़े गीता समझमें आ जायगी। जैसे पतिव्रता पतिकी हो जाती है, ऐसे ही भगवान्‌के हो जायँ। हम भगवान्‌के हो जायँ—यही 'स्वधर्म' है।

गीता व्यवहारमें परमार्थ-सिद्धि बताती है। अपने लिये कुछ नहीं करना है—यह गीताकी शैली है। लौकिक-पारमार्थिक सभी कर्म दूसरोंके लिये करने हैं। समाधि भी अपने लिये न हो। अपने लिये कर्म करना ही बन्धनका कारण है। गीताके सिद्धान्तके अनुसार मैंने अभीतक यह समझा है कि कल्याण भी अपने लिये नहीं करना है। करनेसे नाशवान् वस्तु मिलती है। नाशवान् वस्तुमें आसक्ति होनेके कारण 'सहज सुखराशि' की अनुभूति नहीं होती। क्रियाके द्वारा संसारकी सेवा होगी, परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी।

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर परमात्मा शेष रह जायँगे।

समाधिसे व्युत्थान तभीतक होता है, जबतक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। तत्त्वकी प्राप्ति होनेपर सहज समाधि होती है।

जैसे कंजूस आदमी सोच-सोचकर पैसे खर्च करता है, ऐसे ही समय खर्च करनेमें कंजूस बन जाना चाहिये।

उन्नति धनसे नहीं होती, प्रत्युत स्वभाव शुद्ध बननेसे होती है।

××× ××× ××× ×××

भोगी व्यक्ति संसारसे वियोग (निद्रा) चाहते हैं, पर प्रेमी भक्त भगवान्‌से योग चाहते हैं।

एक सुगम उपाय है कि प्रतिदिन प्रातः सब गंगाजल लें। मृत्यु न जाने कब आ जाय! **गंगाजल लेनेवाला नरकोंमें नहीं जा सकता।** नामजपसे भी बहुत रक्षा होती है। गोरखपुरमें प्रति बारह वर्ष प्लेग आया करता था। भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)-ने एक वर्षतक नामजप कराया तो फिर प्लेग नहीं आया। यात्राके लिये जाते समय 'नारायण' नामका चार बार उच्चारण करना चाहिये। प्रतिदिन माताके चरणोंमें मस्तक टेककर प्रणाम करे। बड़ोंको नित्य नमस्कार करनेसे आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं*। प्रतिदिन कीर्तन करो, गीता-रामायणका पाठ करो।

××× ××× ××× ×××

जीवात्माके एक तरफ संसार है, एक तरफ परमात्मा हैं। संसार दीखता है, पर रहता नहीं। परमात्मा दीखते नहीं, पर रहते हैं। संसार हरदम बदलता है। इसमें बदलनेके सिवाय कुछ तथ्य नहीं है। **संसारको देखनेवाले संसारी होते हैं, परमात्माको देखनेवाले महात्मा होते हैं।** बदलनेवाले संसारसे मिलकर मुफ्तमें दुःख पाते हैं! यह मूर्खता सत्संगसे मिटती है।

आपके पास लाखों रुपये हैं, पर आप उन्हें खर्च नहीं करते और मेरे पास एक कौड़ी भी नहीं तो आपमें-मुझमें क्या फर्क हुआ? फर्क तो खर्च करनेमें है। सत्संगसे हम धनसे भी ऊँची चीज कमाते हैं, जिससे धन हमारा दास हो जाता है, हम मालिक!

××× ××× ××× ×××

किसीका नाश करनेके दो उपाय हैं—जीते हुएको मार देना और नये पैदा नहीं होने देना। वर्तमानमें गायोंका नाश कर रहे हैं और गौरक्षक हिन्दुओंके पैदा होनेमें (परिवार-नियोजनद्वारा) रोक लगा रहे हैं!

गायोंके रक्तादिसे बननेवाली दवाएँ खा-खाकर लोगोंके अन्तःकरण अशुद्ध हो गये हैं, इसलिये उन्हें गायोंपर दया नहीं आती। ब्राह्मण तो कुपात्र हो सकता है, पर गाय नहीं। **इस समय ब्राह्मणत्व और गायकी रक्षाकी बड़ी आवश्यकता है।**

××× ××× ××× ×××

परमशान्ति बहुत सुगमतासे प्राप्त हो सकती है।

---

* अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥ (मनु० २।१२१)

जैसे गोद जानेपर, साधु होनेपर, विवाह होनेपर पहला सम्बन्ध छोड़कर नया सम्बन्ध मान लेते हैं, ऐसे ही आप मान लें कि हम संसारके नहीं हैं, परमात्माके हैं। सब काम करें, पर न्याययुक्त करें और भगवान्‌का समझकर करें। इस 'पंचामृत' का पालन करें—

१-**हम भगवान्‌के ही हैं।**

२-**हम जहाँ भी रहते हैं, भगवान्‌के ही दरबारमें रहते हैं।**

३-**हम जो भी शुभ काम करते हैं, भगवान्‌का ही काम करते हैं।**

४-**शुद्ध-सात्त्विक जो भी पाते हैं, भगवान्‌का ही प्रसाद पाते हैं।**

५-**भगवान्‌के दिये प्रसादसे भगवान्‌के ही जनोंकी सेवा करते हैं।**

बच्चोंको भगवान्‌का ही मान लो तो उनका स्वभाव शुद्ध हो जायगा। मेरा मानते ही वस्तु अशुद्ध हो जाती है। ग्रहण करनेपर शुद्ध वस्तु भी अशुद्ध हो जाती है, और त्याग करनेपर अशुद्ध वस्तु भी शुद्ध हो जाती है। मिलने-बिछुड़नेवाली वस्तुको अपना मानना बेईमानी है। बेईमानी ही बन्धन है, ईमानदारी ही मुक्ति है।

××× ××× ××× ×××

शरीर माँ-बापसे मिला है। माँका हमपर जितना उपकार है, उतना अन्य किसीका नहीं है। माँ-बापका ऋण कोई उतार नहीं सकता। जो बहू पतिको सिखाकर माँके विरुद्ध कर देती है, वह बड़ा पाप करती है। **जो माँके चित्तकी प्रसन्नता लेता है, उसका लोक-परलोकमें कहीं अहित नहीं होता**। माँ-बाप सबसे बड़े तीर्थ हैं! माँके उपकारका बदला नहीं उतार सकते, पर उसे प्रसन्न करके कर्जा माफ करा सकते हैं।

बड़े-बूढ़ेके आनेपर उत्थान देना (खड़े हो जाना) चाहिये। कारण कि ऊँचे व्यक्ति आनेसे प्राण ऊँचे उठते हैं। यदि उनके आनेसे उठ जायँ तो प्राण ठीक जगह रहते हैं, न उठें तो प्राणशक्ति क्षीण होती है। परन्तु मैं अपने लिये उत्थान देनेको मना करता हूँ तो उत्थान न देनेपर आपकी प्राणशक्ति नष्ट नहीं होगी! वचनके आदरका अधिक महत्त्व है।

गरीब बच्चोंको मिठाई बाँटनेसे बड़ा लाभ होता है और शोक-चिन्ता मिटते हैं। **इसमें इतनी शक्ति है कि आपका भाग्य बदल सकता है**। कन्याओंको भोजन करानेसे शक्ति बहुत प्रसन्न होती है। शक्ति (देवी)-की उपासना करते समय पुरुषको स्त्रीपर कभी क्रोध नहीं करना चाहिये, नहीं तो स्त्रीका अनिष्ट हो जायगा!

बहनों-माताओंमें सेवाकी जो शक्ति है, वह पुरुषोंमें नहीं है।

भगवान्‌के मन्दिरमें किसीको भी प्रणाम करना अपराध माना गया है।

××× ××× ××× ×××

अपना सब कुछ भगवान्‌पर सौंप दे। अभिमानके कारण मनुष्य भारको अपने ऊपर ले लेता है। यदि भगवान्‌के समर्पित हो जाय, अन्यका सहारा न ले तो भगवान् योगक्षेम वहन करते हैं। **मुझे कुछ नहीं चाहिये—ऐसा भाव होनेपर भगवान् अपने-आप आवश्यकताकी पूर्ति करते हैं।** भगवान्‌के भरोसे जितना बढ़िया काम होगा, उतना अपनी बुद्धिके सहारे नहीं कर सकते। **सन्त भगवान्‌के भरोसे चिन्ता नहीं करते, और जो चिन्ता करते हैं, वे सन्त नहीं होते**। प्रारब्धका, भगवत्कृपाका तात्पर्य चिन्ता छुड़ानेमें है, काम छुड़ानेमें नहीं।

भगवान्‌की तरफ चलते ही शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि सब पवित्र हो जाते हैं।

श्रोता—घरका काम करते समय हम भगवान्‌को भूल जाते हैं!

स्वामीजी—आप घरका काम कभी करें ही नहीं, प्रत्युत भगवान्‌का काम करें! तात्पर्य है कि घरके कामको भगवान्‌का ही काम समझकर करें।

××× ××× ××× ×××

प्रकृतिमें स्थित न रहकर 'स्व' में स्थित रहे।

प्रकृतिमें स्थित होनेसे सुख-दुःखका भोक्ता हो जायगा। यदि 'स्व' में स्थित हो जाय तो सुख-दुःखमें सम हो जायगा। जब मनुष्य अपनेको कभी शरीरके साथ, कभी नामके साथ, कभी वर्ण-आश्रमके साथ मिला लेता है, तभी वह सुखी-दुःखी होता है। अब 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इतना मानते ही काम ठीक हो जायगा! यह मान लें शरीर-कुटुम्ब आदि मैं नहीं, और मेरे नहीं।

आप जन्मनेवाले (शरीर) बनेंगे तो मरनेवाले भी बनना पड़ेगा। आप जन्मने-मरनेवाले नहीं हो—**'न जायते म्रियते वा कदाचित्'** (गीता २।२०)। आप तो जन्मने-मरनेवालेको जाननेवाले हो। अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, आप निरन्तर रहनेवाले हो। आपका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। आप नाशवान्‌के सम्मुख हो गये—यही परमात्मासे विमुख होना है। आज ही स्वीकार कर लो कि 'मैं भगवान्‌का हूँ, मैं संसारका नहीं हूँ।' नाशवान् और अविनाशीका विभाग ही अलग है। **'मैं शरीर हूँ'—यह डोरी नहीं खोलोगे तो भले ही भजन-ध्यान करते रहो, रातभर नाव चलाते रहो, वहीं-के-वहीं रहोगे**। हम शरीर नहीं हैं। हम भावशरीर हैं। भाव कभी बदलता नहीं।

कर्मयोगीका इष्टदेव संसार, ज्ञानीका इष्टदेव ब्रह्म और भक्तका इष्टदेव ईश्वर होता है। केवल संसारको सत्य माननेवाला कर्मयोगी होकर अपना कल्याण कर सकता है। पर कम-से-कम आप कहीं तो टिक जाओ! लेना ही बन्धन है और त्याग करना ही मुक्ति है। **संसार, ब्रह्म, ईश्वर—किसी एकको सत्य मान लो तो तीनोंकी प्राप्ति हो जायगी**। तात्पर्य है कि साधक कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग—इन तीनोंमेंसे किसी एक योगमार्गपर चले तो एककी पूर्णता होनेपर तीनोंकी पूर्णता हो जायगी।

××× ××× ××× ×××

जैसा कर्ता होता है, वैसे ही कर्म होते हैं। कर्ता निष्काम होता है, कर्म नहीं। मनुष्य कर्मोंका सुधार करना चाहता है, पर कर्ता सुधरेगा तो कर्म स्वतः सुधर जायँगे। **मैं भोगी हूँ, मैं कामी हूँ, मैं क्रोधी हूँ—यह कर्ताकी अशुद्धि है**। यदि कर्तामें यह बात रहे कि मैं सत्संगी हूँ, मैं भक्त हूँ आदि, तो उसके द्वारा वैसे ही कर्म होने लगेंगे। यदि अहंता बदल जाय तो क्रियाएँ स्वतः बदल जायँगी। आपकी अहंतामें जो भाव है, वह भावशरीर है।

स्त्रीमें लज्जा स्वतः है। निर्लज्जता सिखायी जाती है। लज्जा स्त्रीका भूषण है। लज्जाहीना स्त्री नष्ट हो जाती है—**'सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः'**।

अगर किसी वस्तुकी हमें जरूरत है तो हम साधु क्या हुए!

जैसा हमारा भाव, स्वभाव, स्वरूप है, वैसी ही हमारी निष्ठा है। मनुष्यकी जैसी अहंता होगी, वह वैसा ही हो जायगा। अगर साधन करना चाहते हो तो भीतरका भाव बदल दो। मैं-पनको बदलनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है, पर क्रियाको बदलनेमें स्वतन्त्र नहीं है।

मैं कपटी हूँ, मैं दोषी हूँ तो भी 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह भाव मुख्य रहना चाहिये। आगन्तुक स्वभावको असली मत मानें।

पक्का विचार होनेपर मनुष्य विचलित नहीं होता। विचलित तभी होता है, जब विचार पक्का न हो।

××× ××× ××× ×××

भोगी व्यक्ति दूसरेको पारमार्थिक शिक्षा नहीं दे सकता। त्यागी व्यक्ति ही त्याग सिखा सकता है। आप दूसरेको पतनसे तब बचायेंगे, जब खुदका पतन न हो। जो अपना उत्थान नहीं चाहता, उसका उत्थान दूसरा कैसे करेगा? पहले अपना उद्धार करो—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** (गीता ६।५)। **धनियोंको खराब माननेवाले खुद धनी बनना चाहते हैं या निर्धन?** अपने कर्तव्यका पालन करो। हमारा कर्तव्य दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये है।

××× ××× ××× ×××

कर्मयोगकी दृष्टिसे संसार ही इष्टदेव है। भक्तिमें इष्टदेव भगवान् हैं। भक्ति बहुत सुगम एवं शीघ्र

सिद्धिदायक है। ज्ञानमें इष्टदेव ब्रह्म है। भक्तिमें '**वासुदेवः सर्वम्**' (सब कुछ भगवान् ही हैं) की सिद्धिमें खास बाधा है—किसीको भी बुरा मानना। किसी भी प्राणीको बुरा मानना और उसकी बुराई करना, देखना, सुनना एवं बोलना—यह खास बाधा है। **यह नियम ले लो कि 'किसीको भी बुरा नहीं समझेंगे' तो आप बुराईसे रहित हो जाओगे**। कारण कि जो बुराई दीखती है, वह आगन्तुक है। स्वरूपसे कोई बुरा नहीं है। मुँहपर साबुन लगानेसे चेहरा खराब दीखता है, पर वास्तवमें वैसा चेहरा है क्या? अतः वास्तवमें भीतरसे कोई बुरा नहीं है। दूसरी बात, कोई बुराई दीखे तो ऐसा समझे कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। वे जैसा अवतार लेते हैं, वैसी ही लीला करते हैं।

आपको परमात्माकी प्राप्ति करनी हो तो दूसरेमें बुराई मत देखो। किसीको बुरा समझना उसका भी बुरा (पतन) करना है, अपना भी। 'सब जग ईस्वररूप है', दोष आपकी भावनामें है। अपना कल्याण चाहते हो तो किसीको भी दोषी मत मानो। न अपने (स्वरूप)-को दोषी मानो, न दूसरेको। साधक निर्दोषताका आदर करता है, दोषोंका नहीं।

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, स्त्री, पुरुष आदि सब शरीर हैं। शरीरसे आगे हिन्दू, मुसलमान आदि कुछ नहीं है, प्रत्युत ईश्वरका अंश है। स्वयं ईश्वरका अंश है। स्वभाव कारणशरीरमें रहता है, स्वयंमें नहीं। बर्ताव शरीरके अनुसार करो, पर अपनेको शरीर न मानकर भगवान्‌का मानो। सत्संगी शरीर नहीं होता। शरीरको मत देखो, सत्संगीको देखो। मैं सत्संगी हूँ—यह भावशरीर है। भावशरीर मुख्य है, स्थूलशरीर गौण है। **टिकनेवालेको देखो, मिटनेवालेको मत देखो। मिटनेवाले (दोषों)-को देखोगे तो कल्याण कैसे होगा**?

संसार परमात्माका स्वरूप है और मैं सेवक हूँ—यह भाव दृढ़ कर लो—'**मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत**' (मानस, किष्किंधा० ३)। सेवाके सिवाय किसीसे कुछ मतलब नहीं। सेवा वही करनी है, जो शास्त्रविरुद्ध नहीं हो, न्याययुक्त हो, धर्मयुक्त हो, और जिसे हम कर सकते हों। अपनेमें योग्यता हो और सेव्य न्याययुक्त सेवा चाहे। तात्पर्य है कि सेवा विवेक और सामर्थ्यके अनुसार हो।

भीतरमें सेवाका भाव हो। भाव असीम होता है। किसीका बुरा न चाहना बड़ी भारी सेवा है। पहली सेवा है—किसीका बुरा न चाहना, और दूसरी सेवा है—दूसरेको सुख पहुँचाना। दूसरेके दुःखमें सहमत हो जाओ तो उसकी सेवा हो गयी!

सन्त किसीका भी बुरा नहीं चाहते। भगवान् रामने रावणको मार दिया, पर उसका बुरा नहीं किया—'**अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा**' (मानस, अयो० १८३। ३)।

आप ईश्वरके अंश हो; अतः दूसरेके प्रति जैसी भावना करोगे, वैसा ही दूसरा हो जायगा। भावनाका असर पड़ता है; जैसे—भोजनका भाव होनेसे मुखमें पानी आ जाता है!

××× ××× ××× ×××

भलाई स्वतःसिद्ध है, बुराई पकड़ी हुई है। साधकके भावका दूसरेपर असर पड़ता है। **जितना सदाचारी, सद्‌गुणी साधक होगा, उतना ही उसका संकल्प सत्य होगा**। असर उसपर पड़ेगा, जो अपनेको शरीर मानता है। कारण कि दोष शरीरमें आते हैं। **आप शरीरसे असंग हो जाओ तो दूसरेकी बुरी भावना आपपर असर नहीं करेगी**। आकर्षण सजातीयतामें होता है। आपमें दोष होगा तो दोषको पकड़ेगा। रामजी पर खर-दूषणादि कइयोंने बुरी भावना की, पर उनपर कोई असर पड़ा ही नहीं। अन्तःकरण अशुद्ध होगा तो अवगुणोंको जल्दी पकड़ेगा।

रुपया सबसे रद्दी चीज है। जो रुपयोंको बड़ा मानता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।

××× ××× ××× ×××

सदुपयोग किया जाय तो सभी वस्तुएँ श्रेष्ठ हो जाती हैं, दुरुपयोग किया जाय तो सभी वस्तुएँ निकृष्ट हो जाती हैं। रुपयोंसे स्वतन्त्रता नहीं होती,

प्रत्युत महान् परतन्त्रता होती है। कारण कि रुपये आपके अधीन हैं, आपके कमाये हुए हैं। रुपयोंसे आपकी प्रतिष्ठा नहीं है, प्रत्युत फजीती है। आपकी इज्जत जड़के अधीन नहीं है। आप लखपति-करोड़पति होनेमें अपनी इज्जत मानते हो तो यह इज्जत आपको निर्धनोंने दी है, धनवानोंने नहीं। किसी गाँवमें सभी लखपति हों, कोई निर्धन न हो तो क्या वहाँ लखपतिकी इज्जत होगी? इसी तरह मूर्खोंके कारण ही विद्वान्‌की इज्जत है। हाँ, फर्क यह है कि धनवान् तो दूसरोंको निर्धन बनाता है, पर विद्वान् दूसरोंको मूर्ख नहीं बनाता!

आजकल न भगवान्‌का, न प्रारब्धका और न पुरुषार्थका भरोसा है, प्रत्युत झूठ-कपटका भरोसा है कि झूठ-कपटके बिना व्यापार नहीं चलता। झूठ-कपट इष्ट हो गये!

किसी व्यक्तिमें दोष मत देखो। दोष स्वभावमें होता है, व्यक्तिमें नहीं।

××× ××× ××× ×××

एकान्त-सेवन घी-दूधकी तरह है, जो स्वास्थ्यको भी बढ़ाता है और रोगको भी! यदि आपका मन भजन करनेका है तो एकान्तमें भजन बढ़ेगा। यदि आरामका मन है तो नींद बढ़िया आयेगी, और सांसारिक चिन्तन भी बढ़िया होगा!

आप खुद बड़े मत बनो। बड़े बनोगे तो अपनेसे बड़ा (परमात्मा) दीखेगा नहीं। बड़े बननेसे ही माँका आदर नहीं करते। छोटे बने थे तो माँका आदर करते थे।

××× ××× ××× ×××

शरीरका होकर फिर अपनेको भगवान्‌का मानते हैं—यह गलती है। हम पहले भगवान्‌के हैं, शरीरके पीछे। शरीरसे पहले हम भगवान्‌के हैं। हम तो पहलेसे ही भगवान्‌के थे, हैं और रहेंगे। हम किसी भी योनिमें जायँ, भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध अखण्ड है। स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, साधु आदि स्वाँग तो पीछे धारण किये हैं। हम स्वाँगके नहीं हैं। हम भगवान्‌के हैं—यह नया सम्बन्ध नहीं जुड़ा है, प्रत्युत भूल मिटी है। दुर्गुण-दुराचार हमारे साथी नहीं हैं। कपूत भी पूत तो है ही!

भगवान्‌की सामर्थ्य नहीं कि आपको अपनेसे अलग कर सकें! अपने-आपको अपने-आपसे दूर कैसे करेंगे? हम भगवान्‌से कभी अलग थे नहीं, हैं नहीं, होंगे नहीं, हो सकते नहीं।

××× ××× ××× ×××

सभी शास्त्र अज्ञानियोंके लिये हैं। तत्त्वज्ञानीके लिये कोई शास्त्र नहीं है। तत्त्वज्ञान होनेपर ऐसा अनुभव नहीं होता कि मैं पहले अज्ञानी था, अब ज्ञानी हो गया। यदि ऐसा अनुभव होगा तो पुनः अज्ञान हो जायगा! गुरु नया ज्ञान नहीं देता, केवल भूल मिटाता है, मानो गायका घी ही गायको देता है।

असली गुरु चेला नहीं बनाते, गुरु ही बनाते हैं। अपने साधनका आग्रह होनेपर बाधा लगती है, प्रेम होनेपर बाधा नहीं लगती। **अपना आग्रह न हो तो भक्तिकी बात सुननेसे ज्ञानमार्गी गद्‌गद हो जायगा, और ज्ञानकी बात भक्तिमार्गी सुगमतासे समझ लेगा**। सत्संगका आग्रह होगा तो सत्संगमें बाधा देनेवालेके प्रति क्रोध, द्वेष होगा, और सत्संगका प्रेम होगा तो बाधा लगनेपर रोना आयेगा। अपने साधनमें प्रेमपूर्वक दृढ़ता होनी चाहिये, आग्रहपूर्वक दृढ़ता नहीं।

××× ××× ××× ×××

भगवत्प्राप्ति मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार है।

'वासुदेवः सर्वम्'—सब कुछ भगवान् ही हैं तो उपदेश किसको दें? चेला किसको बनायें? इसलिये उपदेश अपने लिये ही है, दूसरोंके लिये नहीं—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** (गीता ६।५)। हमें **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव करना है, कोरा सीखना नहीं है।

××× ××× ××× ×××

अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिये—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** (गीता ६।५)। गुरु हमारा उद्धार नहीं करेगा। गुरुको हम मानेंगे, तभी तो उसकी बात मानेंगे। क्या गुरुमें यह ताकत है कि

किसीको अपना चेला बना ले? चेला खुद ही बनेगा। '**आत्मैव रिपुरात्मनः**' (गीता ६।५) 'आप ही अपना शत्रु है'—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि कभी किसीको अपना शत्रु न माने। शत्रु-मित्र अपने ही बनाये हुए हैं। भगवान्‌के राज्यमें, भगवान्‌के रहते हुए दूसरा हमें दुःख दे दे, ऐसा हो ही नहीं सकता। कोई आपका कितना ही अनिष्ट करे, वह आपका शत्रु नहीं है। वह तो आपके पापोंका नाश करता है और आगे आपकी उन्नति करता है। वास्तवमें हमारा अहित करनेवाला दूसरा कोई नहीं है।

श्रोता—भगवान् सबका कल्याण क्यों नहीं कर देते?

स्वामीजी—जगत् भगवान्‌की दृष्टिमें भी नहीं है और महात्माकी दृष्टिमें भी नहीं है। फिर भगवान् किसका उद्धार करें, किसका पतन? भगवान्‌की दृष्टिमें उनके सिवाय कुछ नहीं है—'**मया ततमिदं सर्वम्**' (गीता ९।४)। अतः 'भगवान् सबका कल्याण क्यों नहीं करते?' यह प्रश्न बनता ही नहीं!

भगवान् कैसे हैं? उनका क्या स्वभाव है? यह हम जान नहीं सकते, केवल अपनी बुद्धिसे अटकल लगाते हैं। भगवान् हमारे-जैसे नहीं हैं। जीव खुद दुःख चाहता है, दुःख मोल लेता है, फिर भगवान् उसका उद्धार कैसे करें?

अपने सुखको रेतमें मिला दें तो आनन्दकी खेती होगी! सुखकी इच्छा छोड़ दें तो आनन्द मिलेगा। सुखकी इच्छा ही पतनका कारण है।

××× ××× ××× ×××

गीताको मूल देखनेसे जो अर्थ समझमें आता है, वह टीका देखनेपर नहीं आता। टीका अपनी दृष्टिसे, सम्प्रदायके अनुसार लिखी जाती है। गीता दर्पणकी तरह है। आप मूल गीतापर विचार करें, टीकापर नहीं। '**निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ**' (मानस, उत्तर० ७३ख)। सतीजी, नारद, गरुड़ आदिको भी भ्रम हो गया! सगुणपर विश्वास कठिन है; क्योंकि विश्वास नाशवान् वस्तुओंपर खर्च कर दिया! '**वासुदेवः सर्वम्**' कठिन नहीं है, विश्वास कठिन है। गोपियाँ, ग्वाल-बाल, खग, मृग, राक्षस आदि भी भक्त हो गये, पर ज्ञानी कितने हो गये? **ज्ञानमार्गको गीतामें जितना कठिन बताया है, उतना कठिन भी मैं नहीं मानता**।

क्या नाशवान् विश्वासके योग्य है? जो रहनेवाला नहीं है, वह क्या विश्वासके योग्य है? फिर भी उसपर विश्वास करते हैं—यही कठिनता है। नाशवान्‌पर विश्वास कर लिया, अब भगवान्‌पर विश्वास करे कौन? जैसे अंग्रेजी सीखनी हो तो शिक्षक जो कहे, उसकी हाँ-में-हाँ मिलानी पड़ेगी, ऐसे ही सगुणको जाननेके लिये हाँ-में-हाँ मिलानी पड़ेगी—विश्वास करना पड़ेगा। **भक्ति तर्कसे सिद्ध नहीं होती**। भक्ति होगी तो ज्ञान और वैराग्य—दोनों स्वतः आ जायँगे। भक्तिमें त्याग-वैराग्यकी जरूरत नहीं है, केवल मान लें कि भगवान् मेरे हैं तो प्राप्ति हो जायगी—'**बिनु बिस्वास भगति नहिं**' (मानस, उत्तर० ९० क)। विश्वासका उपाय है—विश्वासी सन्तोंका संग करो, उनकी वाणी पढ़ो।

××× ××× ××× ×××

कल्याण तो स्वाभाविक है, पर लोगोंने इसे हौआ बना दिया है! मुक्तिमें मनुष्यमात्रका जन्मसिद्ध अधिकार है। मनुष्यमात्र विवेकवान् है। मनुष्यमात्रमें जानने, करने और माननेकी शक्ति है।

स्वरूपका बोध होनेपर ब्रह्मका ज्ञान हो जायगा, पर ईश्वरका ज्ञान नहीं होगा। जो ईश्वरको नहीं जान सके, उन्होंने ईश्वरको कल्पित मान लिया! **तत्त्वज्ञान होनेपर भी प्रेम शेष रह जायगा। वह प्रेम ईश्वरकी कृपासे होगा**। बढ़ने-घटनेवाली चीज तो जड़ होती है, पर प्रेम तो बढ़ता-ही-बढ़ता रहता है!

संसार है ही नहीं—यही संसारको जानना है। बहनेका प्रवाह ही संसार है। जैसे गंगाजी कलकी जगह ही बह रही है, ऐसे ही शरीर अपनी जगह बह रहा है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, समाधिसे तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। तत्त्वकी प्राप्ति जड़के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़के त्यागसे होती है। श्रवण, मनन

आदि (अभ्यास)-में जड़की सहायता लेनी ही पड़ती है।

भगवान्‌की बात तत्त्वज्ञानसे विलक्षण है—**‘तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥’** (मानस, अयोध्या० १२७। २)। भगवान् मिलें तो भेड़-बकरी चरानेवालेको मिल जायँ, अन्यथा षट्‌शास्त्रोंके पण्डितको भी नहीं मिलें! विश्वास हो तो उनकी प्राप्ति बहुत सुगम है। नाशवान्‌में विश्वास होनेसे ही कठिनता है।

××× ××× ××× ×××

जो संसारसे डरे हुए हैं, उन्हें ‘अजातवाद’ कहना पड़ता है कि संसार है ही नहीं। परन्तु जो संसारसे डरे हुए नहीं हैं, उन्हें कहते हैं—**‘वासुदेवः सर्वम्’।** भयभीतको कहना पड़ता है कि साँप नहीं है, रस्सी है, अन्यथा यही कहते हैं कि रस्सी है।

वैराग्यके बिना ज्ञान नहीं होता, यदि हो जाय तो वह पागल हो जायगा! इसलिये ‘शक्तिपात’ पात्रमें किया जाता है।

××× ××× ××× ×××

मान्यता भक्तिमार्गमें चलती है। ज्ञानमार्गमें मान्यता नहीं चलती। **ज्ञानमार्गमें जानना होता है। माननेसे ज्ञानमार्गमें भ्रम हो जाता है और साधक अधूरे ज्ञानको ज्ञान मान लेता है।**

××× ××× ××× ×××

मनुष्यका सुधार होता है अपने प्रति न्याय करनेसे, न कि क्षमा करनेसे। सुधार अपना करना है। हमपर अपने सुधारका दायित्व है, दूसरेके सुधारका नहीं—**‘उद्धरेदात्मनात्मानम्’** (गीता ६। ५)।

अच्छा काम जल्दी कर लेना चाहिये, नहीं तो उसे काल खा जायगा। अवगुणका पता लगते ही उसे दूर करना चाहिये।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌की कृपासे अपने उद्धारका यह बड़ा सुन्दर अवसर आया है। अत: हिम्मत रखें कि हम सभीका कल्याण हो सकता है। कार्यके आरम्भमें, अन्तमें, सोते समय और जागते समय—इन चारों समय यह विचार करें कि मैंने ठीक किया या बेठीक किया? गलती की तो क्यों की? साधन करनेवालेसे कोई गलती होती है तो वह अधिक सावधान होता है। पक्का विचार कर लो कि अब यह गलती नहीं होगी। परमात्माका अंश भी सत्य-संकल्प है।

भगवान्‌के दरबारमें अनन्त बातें हैं। आपकी लगन होगी तो कहीं-न-कहींसे आपको बात मिल जायगी; पुस्तकसे मिल जायगी अथवा बालक आदिसे भी मिल जायगी। आप जिस मार्गके अधिकारी हैं, उसी मार्गका सिद्ध पुरुष आपको मिल जायगा।

××× ××× ××× ×××

तत्त्वज्ञान आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान होनेके बाद प्रेम (परमात्मज्ञान)-का अधिकारी होता है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(१। ७। १०)

‘ज्ञानके द्वारा जिनकी चिज्जड़ग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की हेतुरहित (निष्काम) भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।’

ब्रह्म भगवान्‌की ही आभा है। सबका पालन करनेकी शक्ति ईश्वरमें है, ब्रह्ममें नहीं। **ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर पूर्णता हो जायगी, पर परमप्रेमकी प्राप्ति नहीं होगी।**

सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) पहले ब्रह्मवादी थे। भगवान्‌ने उन्हें अपनी मरजीसे दर्शन दिये। सेठजी चूरूमें थे और ज्वर होनेके कारण चादर ओढ़े लेटे हुए थे। उस समय उन्हें चतुर्भुजभगवान्‌के दर्शन हुए। भगवान् प्रकट होते हैं तो उन्हें कोई आवरण, दीवार आदि ढक नहीं सकते। सेठजीको रोमांच, अश्रुपात हुआ। उनके भीतर यह भाव पैदा हुआ कि भगवान् यह कहना चाहते हैं कि निष्कामभावका प्रचार करो।

तब वे ब्रह्मवादीसे ईश्वरवादी बन गये। परन्तु वे युगल उपासनाका उपदेश नहीं करते थे। सत्यभाषणमें सेठजी बहुत प्रसिद्ध थे।

भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)-को भी भगवान्‌के दर्शन हुए थे। उन्हें जो बातें भगवान्‌ने कहीं, वे 'दिव्य सन्देश' नामसे छपीं। उन्हें नामजपके प्रचारका आदेश हुआ था। सेठजी और भाईजी परस्पर मौसेरे भाई थे (दोनोंकी माँ परस्पर बहनें थीं)।

भगवान्‌से भी कुछ लेना नहीं है, प्रत्युत देना है। रसके भोगी न बनकर रसके दाता होना है।

××× ××× ××× ×××

कर्मयोगमें मन नहीं लगाना पड़ता, प्रत्युत कामनाओंका त्याग होनेपर मनका भी त्याग हो जाता है। कर्मयोगीका इष्ट संसार होता है। यह भौतिक साधना है। कर्मयोगीका सब कुछ संसारकी सेवामें लग जाता है।

मन स्थिर होनेपर कामनाएँ नहीं मिटतीं।

कर्मयोगी और भक्त योगभ्रष्ट नहीं होते। योगभ्रष्ट होता है ध्यानयोगी। कारण कि श्रवण-मनन, ध्यान आदिमें मन साथमें रहता है। मन साथमें रहनेसे ही साधक योगभ्रष्ट होता है। कर्मयोगमें 'करण' कर्मके साथ है, योगके साथ नहीं। कर्मयोग करणनिरपेक्ष साधन है। संसारके हितमें लगनेसे कर्मयोगीको मन सम नहीं करना पड़ता, प्रत्युत मन अपने-आप सम (राग-द्वेषरहित) हो जाता है।

जो किसी वस्तु-व्यक्तिसे सुख चाहता है, उसको चाहे भोगी कह दो, चाहे पापी कह दो। जो केवल लेता है, वह जड़ है। जो देता है, वह चेतन है। जो लेता-देता है, वह चिज्जड़ग्रन्थि है।

××× ××× ××× ×××

जो भी होता है, वह भगवान्‌का विधान है। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई विधान कर सकता ही नहीं। भगवान्‌के विधानमें प्रसन्न रहे और भगवान्, शास्त्र तथा सन्तकी आज्ञाके विरुद्ध कार्य न करें। करनेमें सावधान तथा होनेमें प्रसन्न रहें। इससे मुक्ति, तत्त्वज्ञान सब कुछ हो जायगा। यह सार बात है।

जिस कामको ठीक नहीं जानते, वह काम मत करो। जाने हुए असत्‌का त्याग करना है। जाने हुए असत्‌का त्याग करनेसे पूरा त्याग हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

दूसरोंसे सुख पानेकी जितनी इच्छा है, उतनी ही जड़ता है। **वस्तु-व्यक्तिसे सुख लेना महान् जड़ता है, फिर चिन्मयता कैसे समझमें आयेगी**? यह वृत्ति स्वतः रहे कि दूसरोंको सुख कैसे मिले, तो चिन्मयताका अनुभव हो जायगा। हमें किसीसे सुख नहीं लेना है—यह बात जल्दी समझमें नहीं आती, पर दूसरोंको सुख कैसे हो—यह समझना सुगम है। इसमें भी ऊँची बात है कि मेरे द्वारा किसीको भी दुःख न हो। किसीको दुःख न पहुँचे—ऐसा भाव करनेमें न कोई खर्चा है, न परिश्रम। किसीका भी अनिष्ट नहीं चाहे—इसकी बड़ी भारी महिमा है! **भीतरमें यह भाव हो कि यह व्यक्ति पापसे बच जाय, बुरा आचरण न करे तो यह उसकी बड़ी भारी गुप्त सेवा हो गयी**! कारण कि इससे आप उसके हितैषी हो गये—'**सर्वभूतहिते रताः**' (गीता ५। २५; १२। ४)। इससे आपका भी हित होगा, उसका भी।

त्याग करनेसे आपकी उन्नति होती है और वस्तु शुद्ध हो जाती है। ग्रहण करनेसे आपका पतन होता है और वस्तु अशुद्ध हो जाती है।

जड़ वस्तुओंसे सुख चाहना, उनसे सुख लेना पाप है।

××× ××× ××× ×××

जैसे यहाँसे हम कहीं जायँ तो इस स्थानका त्याग हो जायगा, ऐसे ही भगवान्‌की तरफ चलनेपर यहाँके रागका त्याग हो जायगा। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगोंमें संसारकी आसक्ति छूट जायगी। भोग और संग्रहका त्याग करना ही पड़ेगा।

जबतक असत्‌की सत्ता मानी है और सत्ता देकर महत्ता मानी है, तबतक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी।

त्यागका अभिमान वास्तवमें त्याज्य वस्तुकी ही महत्ता है।

××× ××× ××× ×××

संसारमें जन्म-मरण कर्मफलके कारण ही है। कर्मोंका फल है—जन्म, आयु और भोग। कर्मफलसे रहित होनेपर जन्म-मरणका कारण ही नहीं रहेगा। यदि कर्मफलकी इच्छाका ही त्याग कर दें तो शान्तिके सिवाय और क्या मिलेगा? '**युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्**' (गीता ५।१२)।

जन्म-मरणसे रहित स्थिति (मुक्ति) क्रियासाध्य नहीं है—यह मूल बात है। मुक्ति पैदा नहीं होती, प्रत्युत स्वतःसिद्ध है। धन-सम्पत्तिकी तरह मुक्ति प्राप्त नहीं होती।

वास्तवमें अशान्ति है नहीं। संसारके सम्बन्धसे ही अशान्ति है।

पदार्थ और क्रिया प्रकृतिसे पैदा होते हैं। प्रकृतिसे अतीत न पदार्थ है, न क्रिया।

××× ××× ××× ×××

हम हृदयसे गंगा-स्नान करना चाहते हैं, पर प्रारब्धके अनुसार बुखार आनेसे हम स्नान नहीं कर सके तो बिना स्नान किये भी स्नानका माहात्म्य हो जायगा!

प्रारब्ध नया कर्म (पाप या पुण्य) नहीं कराता। प्रारब्ध और क्रियमाणमें परस्पर विरोध नहीं है। **दुःखी करना प्रारब्धका फल नहीं है, तभी जीवन्मुक्ति होनेपर प्रारब्ध तो रहता है, पर दुःख नहीं रहता।**

जबतक ब्रह्मज्ञान न हो, तबतक ब्राह्मणको अपनेको ब्राह्मण नहीं मानना चाहिये।

××× ××× ××× ×××

जो कुछ भी काम करें, भगवान्‌का पूजन मानकर करें और हरेक भाई-बहन अपनेको भगवान्‌का पुजारी समझे—'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' (गीता १८।४६)। जगत्‌को ईश्वररूप समझें तो किसीमें दोष-दर्शन न करें। अपने इष्टको बुरा न समझें। ऐसा भाव रखें कि भगवान् अभी कलियुगकी लीला करते हैं। वे जिस रूपमें आते हैं, उसी रूपके अनुसार लीला करते हैं; जैसे—नृसिंह रूपमें आकर वे प्रह्लादजीको चाटते हैं! दूसरी बात, सभी जीव भगवान्‌के अंश होनेसे निर्दोष हैं। मूलमें कोई बुरा है ही नहीं। बुराई ऊपरसे आयी हुई है। अतः किसीका बुरा न करना है, न चाहना है, न समझना है। किसीका बुरा न करना, न चाहना, न समझना भगवान्‌की पूजा है।

आप भलाईको पसन्द करोगे, बुराईको पसन्द नहीं करोगे तो आपकी बुराई मिट जायगी। बुराईका आरम्भ और अन्त होता है, पर भलाईका अन्त नहीं होता। बुराई आगन्तुक है, पर भलाई आगन्तुक नहीं है।

कोई गलती करता हुआ दीखे तो उसे भगवत्स्वरूप मानते हुए मन-ही-मन भगवान्‌से कहो कि 'हे नाथ! आप ऐसा न करते तो अच्छा था'। यह उसकी गुप्त सेवा हो गयी। इसका उसपर स्वतः असर पड़ेगा।

दोषदृष्टि करना खराब है, दोष दीखना खराब नहीं। हमें दोषदृष्टि न करके अपना कल्याण करना है। हमें तो भगवान्‌को देखना है। ऊपरकी चोली देखकर राग-द्वेष नहीं करना है। ऊपरी चोली देखना मनुष्यबुद्धि नहीं है, प्रत्युत पशुबुद्धि है—'**पशुबुद्धिमिमां जहि**' (श्रीमद्भा० १२।५।२)। बबूल (काँटेवाले वृक्ष) की छायामें काँटे नहीं होते! जैसे व्यापारीकी दृष्टि सदा पैसोंकी तरफ ही रहती है, ऐसे ही हमारी दृष्टि भी सदा भगवान्‌की तरफ रहनी चाहिये।

××× ××× ××× ×××

स्वभाव बिगड़ा है, तत्त्व नहीं। स्वरूप सभीका शुद्ध है। परा-अपरा दोनों भगवान्‌की प्रकृतियाँ हैं। जगत् केवल परा प्रकृतिने धारण कर रखा है। महात्मा और परमात्माकी दृष्टिमें जगत् नहीं है।

परिवर्तन 'मैं' में होता है, 'हूँ' (सत्ता)-में नहीं। जिसे हम 'मैं' कहते हैं, वह क्या रहेगा? 'मैं शरीर हूँ' तो क्या शरीर रहेगा? 'मैं' असत् है। उसकी सत्ता नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २।१६)। शरीर आपसे निरन्तर असंग हो रहा है, केवल आप इससे असंग हो जायँ। इसका साधन है—अनुकूलतामें राजी न हों और प्रतिकूलतामें नाराज न हों।

संसारके साथ जितना सम्बन्ध है, वह सब माना

हुआ है। माना हुआ सम्बन्ध न माननेसे मिटेगा, श्रवण-मनन-निदिध्यासन-समाधिसे नहीं मिटेगा। **शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे सब कुछ चाहिये, पर सम्बन्ध न जोड़ो तो क्या चाहिये**?

माता-पिता आदिकी सेवा करनेसे सम्बन्ध जुड़ता नहीं, प्रत्युत टूटता है। सम्बन्ध जुड़ता है—आशासे, उनसे कुछ चाहनेसे। सारी आफत लेनेकी इच्छासे आती है। इच्छा रखनेसे वस्तु कठिनतासे मिलती है, और इच्छा न रखनेसे वस्तु सुगमतासे मिलती है। जो लेना नहीं चाहता, उसे सब देना चाहते हैं।

××× ××× ××× ×××

कोई भी कारक तत्त्वज्ञानतक नहीं पहुँचता। कारक 'प्रकृति' है। जो प्रकृतिसे अतीत है, उसके बोधमें करण क्या करेगा? परमात्मतत्त्वके बोधमें करण, कर्ताका प्रयोग नहीं है।

प्राप्ति उसीकी होती है, जो सदासे प्राप्त है। त्याग उसीका होता है, जो सदासे अलग है।

आजकल वेदान्ती आवरणदोष दूर करनेकी जितनी चेष्टा करते हैं, उतनी मलदोष दूर करनेकी नहीं। वास्तवमें आपकी जिम्मेवारी मलदोष दूर करनेकी ही है। साधकको मलदोष ही दूर करना है। वेदान्तकी पढ़ाई इदंतासे होती है और गीताकी पढ़ाई अहंतासे होती है। वेदान्तसे पण्डिताई आती है।

जिसको आप खराब, बेठीक, अन्याय, पाप समझते हो, उसे करते हो—यही सबसे बड़ी बाधा है। जाने हुए असत्‌का त्याग कर दो तो तत्त्वज्ञान हो जायगा। त्यागका अर्थ है—उस वस्तुका महत्त्व न हो। जो आपको प्राप्त है, उसीसे निर्वाह करो तो बढ़िया निर्वाह हो जायगा और आपका जीवन पवित्र हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌ने गीतामें कामनाके त्यागपर जोर दिया है। भगवान् तथा सन्त-महापुरुष वही बात कहते हैं, जो हम कर सकते हैं। हमारी कोई कामना पूरी होती है, कोई पूरी नहीं होती। अतः कामना-पूर्तिका सम्बन्ध कामनाके साथ नहीं है, प्रत्युत प्रारब्धके साथ है। **जिस वस्तुकी कामना हो, उसकी पराधीनता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। कामनाके होते हुए हम सिद्धि-असिद्धिमें सम नहीं रह सकते**।

यदि शरीरको अपना न मानें तो कोई कामना नहीं होती। स्वरूपमें कामना नहीं है, क्योंकि वह 'सहज सुखराशि' है। कामना होती है शरीरको अपना माननेसे। शरीरपर हमारा आधिपत्य नहीं चलता, फिर वह हमारा कैसे हुआ? शरीर वही (पहले-जैसा) नहीं रहा, पर आप स्वयं वही हो। शरीर निरन्तर आपसे अलग हो रहा है। शरीरका संग अस्वीकार करनेसे छूटेगा, अभ्याससे नहीं।

कामना-ममताको रखना असम्भव है, छोड़ना कठिन है—ऐसा मानें तो भी असम्भवकी अपेक्षा कठिन सुगम ही हआ! यदि कामना-ममता करनेमें अथवा छोड़नेमें आप समर्थ, स्वतन्त्र न हों तो फिर कोई त्यागी, विरक्त, साधु हो सकता ही नहीं।

××× ××× ××× ×××

शरीर छोटा है, पर आप छोटे नहीं हैं। अनन्त ब्रह्माण्ड आपके अन्तर्गत हैं। परन्तु शरीरमें मैं-मेरा करनेके कारण आप अपनेको शरीरके भीतर मान लेते हैं। त्रिलोकीके सभी शरीर नाशवान् हैं—'**अन्तवन्त इमे देहाः**' (गीता २।१८), पर स्वरूप अविनाशी है—'**अविनाशि तु तद्विद्धि**' (गीता २।१७)। इस अविनाशी स्वरूपसे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है—'**येन सर्वमिदं ततम्**' (गीता २।१७)। परन्तु इस स्वरूपको आप एक शरीरके अन्तर्गत मानते हैं! पांचभौतिक सृष्टिमात्र छोटी है। **आपकी उस परमात्माके साथ एकता है, जिसके रोम-रोममें ब्रह्माण्ड हैं**! आप शरीरसे अपना सम्बन्ध मानते हो, इसलिये भगवान् उसी भाषासे बोलते हैं—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (गीता १५।७) 'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं) मेरा ही सनातन अंश है'। प्रकृतिके अंशको पकड़नेसे आप अंश हो गये। सुषुप्तिमें क्या आप अपनेको एक अंशमें देखते हो?

ब्रह्माण्ड भी एकदेशीय है, पर आप एकदेशीय नहीं हो, प्रत्युत अनन्त ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त हो—**'येन सर्वमिदं ततम्'**।

यदि चिन्ता-शोक होते हैं तो आपने बातें सीखी हैं, जानी नहीं हैं। शरीरमें होनेवाली हलचल, चिन्ता, शोकको आपने अपनेमें मान लिया। चिन्ता-शोक आते-जाते हैं, आप आते-जाते नहीं हैं। अतः चिन्ता-शोक आपमें नहीं हैं।

शरीर तो प्रतिक्षण आपका त्याग कर रहा है। आप ही उससे लिप्त होते हो।

××× ××× ××× ×××

कामनाका जन्म खुदसे होता है। वह कामना मनमें आती है—**'मनोगतान्'** (गीता २।५५)। कामना मनका धर्म नहीं है। काम स्वयं ('मैं हूँ')-में रहता है, वही मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें आता है।

जबतक बोध नहीं होगा, तबतक दर्द भी होगा, दुःख भी होगा। **परन्तु बोध होनेपर दर्दका ज्ञान तो होगा, पर दुःख नहीं होगा**।

दूसरेके दुःखसे दुःखी होना ज्ञानीके लक्षणोंमें नहीं है, प्रत्युत भक्तके लक्षणोंमें है—**'मैत्रः करुण एव च'** (गीता १२।१३)।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यशरीरको दुर्लभ बतानेका तात्पर्य यह नहीं है कि इसे अपना मानो, प्रत्युत इसमें है कि इससे लाभ उठा लो। शरीर मेरा है तो सेवा करनेके लिये मेरा है, लेनेके लिये मेरा नहीं है। लेनेसे ऋण चढ़ेगा। **ऋणी आदमीकी मुक्ति नहीं होती**।

××× ××× ××× ×××

आप क्षेत्र नहीं हो, प्रत्युत क्षेत्रको जाननेवाले 'क्षेत्रज्ञ' हो। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड 'इदम्' के अन्तर्गत हैं, और उसे जाननेवाला 'क्षेत्रज्ञ' है। जाननेवाला व्यापक होता है। 'अहम्' भी इदंताके अन्तर्गत है। 'अहम्' ('मैं') भी जाननेमें आता है, आपका स्वरूप नहीं है। 'अहम्' से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही तत्त्वज्ञान है।

××× ××× ××× ×××

सीखी हुई बातसे अनुभव नहीं होता। क्या ब्रह्ममें **'अहं ब्रह्मास्मि'** है? **मैं ब्रह्म हूँ—यह उपासना है, पर इससे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जायगी—ऐसा मैं नहीं मानता।**

गीताको मैं अपार-असीम-अनन्त मानता हूँ। गीतापर मैं जो बोलता हूँ, वह अपनी बुद्धिका परिचय देता हूँ। ***'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहें बिनु रहा न कोई॥'*** (मानस, बाल० १३।१), इसलिये मैं भी कह देता हूँ!

विहितमें कमी होनेसे बाधा नहीं लगेगी, पर निषिद्ध कर्म जबतक होंगे, तबतक साधन सिद्ध नहीं होगा, तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी।

साधन और असाधन—ये दोनों मनुष्यमात्रमें हैं। जबतक आपमें असाधन है, तबतक आप साधक कैसे हुए? साधकके द्वारा भूलसे भी असाधन नहीं होता।

साधनमें सन्तोष करना परमात्माकी प्राप्तिमें बहुत बड़ी बाधा है।

××× ××× ××× ×××

भगवान् जीवको दास नहीं बनाना चाहते, प्रत्युत दोस्त बनाना चाहते हैं! अपना पूजनीय बनाना चाहते हैं! भगवान् बड़े-से-बड़ेकी भी आखिरी हद हैं और छोटे-से-छोटेकी भी आखिरी हद हैं!

××× ××× ××× ×××

पारमार्थिक सिद्धि लौकिक सिद्धि-जैसी नहीं है; क्योंकि परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों मौजूद है। उसका निर्माण नहीं करना है। केवल उधर दृष्टि करनी है। इसमें कोई उद्योग या परिश्रम नहीं है। बलका प्रयोग निर्बलपर होता है, जबकि परमात्मतत्त्व सबसे प्रबल है। योग्यतासे अयोग्यपर अधिकार होता है। जिसे प्राप्त करना है, वह परमात्मतत्त्व एक क्षण भी अप्राप्त नहीं होता।

लोकालोक पर्वत जितना दूर है, उतना ही शरीर आपसे दूर है। परमात्मा नजदीक-से-नजदीक हैं। शरीर नजदीक दीखता है, परमात्मा दूर—यही अज्ञान है। संसारमात्र आपके किसी अंशमें हैं। आपका स्वरूप सत्तामात्र ('है') है। **अन्य शरीरोंमें सत्ता नहीं**

जाती, आपकी मान्यता जाती है।

मायाके किसी अंशमें सृष्टि है, और वह माया परमात्माके किसी अंशमें है।

××× ××× ××× ×××

शरीर मैं हूँ, मेरा है, मेरे लिये है—यह जबतक रहेगा, तबतक साधन शुरू नहीं होगा। **यह नियम है कि एक भी विकार होगा तो सभी विकार आ जायँगे**। जायँगे तो सभी विकार जायँगे। जबतक देहाभिमान रहता है, तबतक आसुरी सम्पत्ति रहती है। अतः देहाभिमानको मिटायें। देहके साथ सम्बन्ध अविवेकसे है। देहाभिमान विवेक-विरोधी सम्बन्ध है। जो वास्तवमें गुणातीत होता है, वही गुणातीत होता है।

आप शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदिके साथ न रहें, प्रत्युत 'अकेले' रहें। आपका स्वरूप सत्तामात्र है। इसका अनुभव करें, सीखे नहीं। अनुभव करनेसे शरीरके मान-अपमान, आदर-निरादर आदिका आपपर असर नहीं पड़ेगा। अपनेमें ***'चेतन अमल सहज सुख रासी'*** का भी आरोप मत करो। निषेधमुखसे अनुभव करो कि शरीर मैं नहीं हूँ। स्वयंके द्वारा ही स्वयंका अनुभव होगा। अनुभव होनेसे शुभ कर्ममें तो आसक्ति नहीं होगी और अशुभ कर्म होगा ही नहीं। न मानका असर होगा, न आदरका। अनुभव हुए बिना चैन नहीं पड़ना चाहिये। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्न-जल छोड़ दो। इसका तात्पर्य बेचैन होनेमें है, लगन होनेमें है। खास बात लगनकी है। लगनके बिना भूखे मर जाओ तो भी कुछ नहीं होगा।

××× ××× ××× ×××

मिलनेवाली वस्तु कामना न करनेसे भी मिलती है। ममता करनेसे वस्तु भी बँधती है, हम भी बँधते हैं। जो अवश्य छूटेगा, उसे मनसे छोड़ दें। वस्तुका संयोग होते ही वियोग शुरू हो जाता है। वस्तुको अपनी माननेसे हम फँसते हैं, पर भगवान्‌की माननेसे नहीं फँसते। भगवान्‌की माननेसे वह वस्तु प्रसाद हो जाती है! **यदि सब वस्तुओंको भगवान्‌की मान लें तो पाप टिक नहीं सकता**। वस्तुको भगवान्‌की माननेसे प्रसन्नता होगी, भगवान्‌को याद रखनेमें सहायता मिलेगी। ऐसी कौन-सी वस्तु है जो भगवान्‌की नहीं है?

'सभी भगवान् हैं'—इसकी अपेक्षा 'सभी भगवान्‌के हैं'—यह मानना सुगम है।

××× ××× ××× ×××

भगवत्प्राप्तिके ऐसे अनेक मार्ग हैं, जिनका अभीतक आविष्कार नहीं हुआ है। प्रत्येक भाई-बहनके भीतर यह बात जँची हुई है कि जो होगा, अभ्याससे होगा। अभ्याससे नयी स्थिति बनती है, जबकि परमात्मतत्त्व स्थितिगतिसे रहित है। समाधिमें भी कारणशरीरमें स्थिति होती है, जिसमें समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। परमात्मतत्त्वमें दो अवस्थाएँ नहीं होतीं।

स्थूलशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर क्रिया और पदार्थमें आसक्ति नहीं रहती। सूक्ष्मशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर चिन्तन तथा ध्यानमें, और कारणशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर स्थिरता तथा एकाग्रतामें आसक्ति नहीं होती। आप शरीरसे अतीत हैं। शरीर प्रकृतिका कार्य है, आप परमात्माके अंश हैं।

परमात्माकी शक्तिके साथ सम्बन्ध होनेसे साधन करणसापेक्ष होता है।

भगवान्‌को मानें या न मानें, उनकी कृपा सबपर समान है। उसमें भी न माननेवालेपर ज्यादा कृपा होती है; क्योंकि ***'नहिं जाके हरि होय'!***

जिसका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है, उसका त्याग कठिन नहीं है, प्रत्युत उसका राग कठिन है। त्यागमें परिश्रम नहीं है। परन्तु संयोगजन्य सुखकी लोलुपता त्याग नहीं करने देती।

अभ्याससे न राग मिटता है, न प्रेम होता है। अभ्यास केवल मनोनिग्रहके लिये है।

जो आपको छोड़ता है, उसे आप छोड़ दो तो निहाल हो जाओगे। **त्यागके समान कोई सुगम साधन है ही नहीं !**

××× ××× ××× ×××

करणनिरपेक्ष साधनकी सिद्धि तत्काल होती है,

जबकि करणसापेक्ष साधनकी सिद्धि समय पाकर होती है। शरीर मैं नहीं हूँ—इसके अनुभवमें बाधा यह है कि आप इसे बुद्धिसे पकड़ना चाहते हैं, बुद्धिसे जोर लगाते हैं, बुद्धिसे अनुभव करना चाहते हैं। स्वयंसे होनेवाले अनुभवका आदर करें। स्वीकृति-अस्वीकृति स्वयंकी होती है। स्वयंकी स्वीकृतिकी विस्मृति नहीं होती। 'मैं हूँ'—इसमें जो बात 'हूँ' के साथ लग जाती है, उसकी विस्मृति नहीं होती; जैसे—'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं विवाहित हूँ' आदि।

अपने विवेकका अनादर करनेके समान कोई पाप नहीं है। जो अपने विवेकका आदर नहीं करता, वह शास्त्र, गुरु, सन्तकी वाणीका भी आदर नहीं कर सकता। शरीर जानेवाला है—इस विवेकका अनादर ही जन्म-मरण देनेवाला है। विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग करें तो अभी मुक्ति है।

विवेकका आदर अभी करें तो अभी मुक्ति हो जाय। 'अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, अच्छे महात्मा नहीं मिले, हमारे कर्म ऐसे नहीं हैं, भगवान्ने कृपा नहीं की'—यह सब बहानाबाजी है। खास बीमारी यह है कि हम संयोगजन्य सुख लेना चाहते हैं। **यदि आप अपने विवेकका आदर न करें तो वर्षोंतक समाधि लगा लें, कल्याण नहीं होगा।** मैं शरीर नहीं हूँ—यह स्वीकृति है, अभ्यास नहीं। यह विवेक आप सभीको है, पर आप इसका आदर नहीं करते।

मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ-अहम् भी कर्ता नहीं हैं और स्वयं भी कर्ता नहीं है। तो फिर कर्ता कौन है? कर्ता वह है, जो भोक्ता होता है। भोक्ता आप बनते हैं। पर प्रकृतिस्थ पुरुष ही भोक्ता बनता है, स्वस्थ पुरुष नहीं। आपका स्वरूप सत्ता है। स्वरूप न कर्ता है, न भोक्ता—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। आप भोगके ज्ञाता हो, ज्ञानस्वरूप हो। सत्तामें भोक्ता नहीं है। वह सत्ता सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माके साथ एक है।

यदि आप अपनेको शरीरमें स्थित मानते हो तो आप ही कर्ता और भोक्ता हो, अन्यथा न 'नहीं' कर्ता है, न 'है' कर्ता है। अतः आप अपनेको 'नहीं' से भी हटा लो और 'है' से भी हटा लो। न जड़के साथ एकता रखो, न चेतनके साथ एकता रखो। यदि शून्यता दीखे तो आप शून्यताके ज्ञाता हो, शून्यता ज्ञेय है। शून्यताको जाननेवाला शून्य नहीं होता। **आप शून्यताके साक्षी, प्रकाशक, आधार, अधिष्ठान हो।**

××× ××× ××× ×××

अपनेको 'यह' से भी हटा लो और 'है' से भी हटा लो। फिर योग रहेगा, समता रहेगी। 'है' में व्यक्तित्व नहीं है। अतः योगी, ज्ञानी और प्रेमी नहीं रहेगा, प्रत्युत केवल योग, ज्ञान और प्रेम रहेगा। अहम् साथमें रहनेसे योगी, ज्ञानी और प्रेमी होता है। जबतक अहम् है, तबतक एकदेशीयपना रहेगा। वास्तवमें शरीरका कोई मालिक (अहम्) नहीं है।

मुक्ति होनेपर भी अपना एक मत रहता है, जिससे दार्शनिकोंमें परस्पर प्रेम नहीं होता। अतः अपने किसी मतका आग्रह न रहे, पर वह होगा '**वासुदेवः सर्वम्**' होनेपर। 'गति' स्वरूपकी तरफ होती है और उसमें कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। मतका आग्रह होनेसे वह गति रुक जाती है।

मुसलमानों, ईसाईयों आदिपर हम विश्वास भले ही न करें, पर हमारे प्रेममें कोई फर्क नहीं है।

किसी भी साधनका अभिमान हो, वह खटकता है, उसमें टक्कर लगती है, पर प्रेममें कोई टक्कर नहीं लगती।

××× ××× ××× ×××

कर्मयोगकी खास बात है—अपने अधिकारका त्याग तथा दूसरेके अधिकारकी रक्षा। अपने कर्तव्यका पालन तथा फलकी इच्छाका त्याग। इससे तत्त्वज्ञान, मोक्ष आदि जो चाहो, सो हो जायगा।

'नफा वस्तुमें नहीं, भावमें है'; अतः अपने भावको नीचे नहीं गिरने देना चाहिये। सब वस्तुएँ सब जगह हैं, केवल भावकी कमी है। भावसे ही वस्तु बनी है, संसार बना है। भावके कारण ही प्रह्लादजीको अग्नि जला नहीं सकी। सृष्टि भावसे ही पैदा होती है।

भगवान् किसी भी रूपमें आयें, उनको पहचान लो तो फिर वे प्रकट हो जायँगे।

××× ××× ××× ×××

चौबीस घण्टोंमें एक मिनट भी असाधन नहीं होना चाहिये, तभी हम साधक कहलानेयोग्य हैं। ऐसा तभी सम्भव है, जब अपनी सत्ताके साथ साधन होगा। अपनी सत्ताका अनुभव निरन्तर होता है। 'मैं हूँ'—इसमें कभी व्यवधान पड़ता है क्या? विवाहित स्त्री भले ही खराब आचरणवाली हो, पर 'मैं विवाहित हूँ'—इसे वह कभी भूलती नहीं। ऐसे ही स्वीकार कर लें कि मैं लोभी, क्रोधी, कामी, संसारी आदि नहीं हूँ, प्रत्युत 'मैं भगवान्‌का हूँ'।

भगवान् साधककी बहुत रक्षा करते हैं, पर अपनेको छिपाकर करते हैं। यह भगवान्‌के देनेकी रीति है!

क्रोधका स्वभाव अहित करनेका होता है। सामान्य व्यक्तियोंमें क्रोध आता है—बुरा करनेके लिये। बुरा किये बिना उन्हें सन्तोष नहीं होता। परन्तु सन्तोंमें क्रोध आता है—भला (हित) करनेके लिये।

××× ××× ××× ×××

संसाररूपसे भगवान्‌का सबसे पहला अवतार हुआ। हम सोचते हैं कि भगवान् रामके अवतारके समय हम भी होते और उनको देखते। परन्तु **संसाररूपसे भगवान्‌का अवतार हमारे सामने है!** उसके दर्शन करो। उसे नमस्कार करो। मूर्तिपूजासे भगवान् कई भक्तोंके सामने प्रकट हो गये। यह संसार भी भगवान्‌की मूर्ति है। यह सब भगवान्‌का विराट् रूप है, स्वयम्भू विग्रह है! अब इससे सुगम और क्या परमात्मप्राप्ति होगी!! जो कुछ कर्म करो, सब भगवान्‌का पूजन मानकर करो। यह निरन्तर साधन है।

आँखोंसे महात्मा नहीं दीखता, प्रत्युत मनुष्य दीखता है।

राग-द्वेष मिटाओगे तो देरी लगेगी। अत: राग आये तो परमात्माको देखो, द्वेष आये तो परमात्माको देखो। फिर राग-द्वेष रहेंगे नहीं। परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता मानते हैं, तभी राग-द्वेष होते हैं।

××× ××× ××× ×××

संसारका वियोग नित्य है और संयोग अनित्य है। यदि सुख-शान्ति चाहते हो तो नित्यको पकड़ो। **जो संयोगकालमें ही वियोगका अनुभव कर लेता है, वह दु:खी नहीं होता।** अनित्यकी इच्छा करके व्यर्थमें ही दु:ख पा रहे हो। यदि संयोग हो भी जाय तो भी अन्तमें वियोग ही नित्य रहेगा। अनित्य संयोगकी लालसा ही बाधक है। इच्छा न करनेपर भी होनेवाला होगा, न होनेवाला नहीं होगा।

संयोग ही अध्यस्त है। नित्ययोग अधिष्ठान है।

आप अपनेको कभी पापी न मानें। सब-के-सब निर्दोष हैं। निर्दोषता आपका स्वरूप है। आप परमात्माके अंश हैं—इस सच्ची बातको स्वीकार कर लें।

दु:खके सभी ऋणी हैं! दु:ख आकर सुखकी इच्छा छुड़ा देता है। सुखकी लालसा छूटते ही दु:ख चला जाता है। अब उसका ऋण कैसे चुकायें?

अनित्य वस्तुका सम्बन्ध कभी नित्य हो सकता ही नहीं।

××× ××× ××× ×××

यदि 'वासुदेवः सर्वम्' का अनुभव हो जाय तो सभी जड़ वस्तुएँ चिन्मय हो जायँगी।

वस्तुओंका दुरुपयोग न करें, संग्रह न करें, उनमें ममता न करें तो वस्तुएँ आनेको लालायित रहती हैं। ममता करनेसे वस्तुएँ भयभीत होती हैं।

मनुष्यजन्मकी सफलता है—दुनियाके लिये, अपने लिये और भगवान्‌के लिये उपयोगी होना।

कुछ मिल जाय—यह निर्बलता है। मनुष्य चाहके कारण ही निर्बल हो रहा है।

केवल इतनी लालसा लग जाय कि कब सम्पूर्ण जगत् ईश्वररूप दीखेगा! ऐसा दिन कब आयेगा! तो काम हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

विवेक जाग्रत् होनेका तात्पर्य है—'मैं शरीर नहीं हूँ' इसका अनुभव हो जाना। **शरीर मैं हूँ, शरीर मेरा**

है और शरीर मेरे लिये है—इसका खाता ही उठ जाना चाहिये।

निष्कामभावसे सामर्थ्य आती है। कामनासे पराधीनता आती है। 'योग' में सामर्थ्य, समाधि और नित्यसम्बन्ध—तीनों आ जाते हैं।

गीता और रामायण प्रासादिक ग्रन्थ हैं। जैसे सन्त किसीपर कृपा करते हैं, ऐसे ही ये ग्रन्थ भी कृपा करते हैं। इनका आश्रय लेनेसे नये-नये अर्थ प्रकट होते हैं। **गीताका अर्थ अब मुझे कुछ-कुछ समझमें आने लगा है।**

गीतासे अपनी प्यास बुझा सकते हैं, पर उसको पूरा ग्रहण नहीं कर सकते; क्योंकि गीता अनन्त है। **गीता अर्जुनको भी दुबारा सुननेको नहीं मिली, पर हमें प्रतिदिन सुनने-पढ़नेको मिल रही है**! यह भगवान्‌की हमपर कितनी कृपा है!

××× ××× ××× ×××

मृत्युका दुःख नहीं होता, प्रत्युत 'मैं जीता रहूँ और मरना पड़ता है'—इसका दुःख होता है। बालकसे जवान होनेका दुःख होता है क्या?

यदि अपने ज्ञानका आप स्वयं आदर करें तो आप जीवन्मुक्त हो जायँगे। जो जीते ही मर जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। जीते ही मरनेका अर्थ है—कामना छोड़ देना। मरा हुआ आदमी कोई कामना करता है क्या? **जो मरनेसे डरता नहीं और जीनेकी आशा नहीं रखता, वह जीवन्मुक्त हो जाता है**।

जीनेकी आशा न रखें तो मृत्युका दुःख नहीं होगा। ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यही अशान्तिका कारण है।

××× ××× ××× ×××

सेवा संसारकी करें, विश्वास भगवान्‌पर करें। संसारपर विश्वास विवेकविरोधी है, जो पतन करनेवाला है। विवेक कहता है कि सब संसार जानेवाला है। साधकको विवेकविरोधी सम्बन्ध, विश्वास और कर्म—तीनोंका त्याग करना है।

भगवान्‌पर विश्वास ही करना पड़ता है। विश्वासके बिना भगवत्ता सिद्ध नहीं होती। **विश्वासके पात्र भगवान् ही हैं**। विश्वासके बिना भगवान्‌को भगवान् सिद्ध कैसे करें? भगवान्‌में समझ (बुद्धि) नहीं लगती। जो चीज देखनेमें आती है, उसमें बुद्धि, विवेक, विचार लगाना चाहिये। विश्वास विवेकसमर्थित भले ही न हो, पर विवेकविरोधी नहीं होना चाहिये।

भगवान् यदि सब कुछ जानते थे तो उन्होंने सीताजीकी खोजके लिये वानरोंको चारों तरफ क्यों भेजा? और यदि नहीं जानते थे तो मुद्रिका हनुमान्‌जीको ही क्यों दी? भगवान्‌ने वानरोंको सीताजीकी खोजके लिये भेजा—अपनेको उनका ऋणी बनानेके लिये, उन्हें भरतसे भी अधिक प्यारे बनानेके लिये! ***'भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे'*** (मानस, उत्तर० ८।४)।

सतीजी और गरुड़जीने भगवान्‌को जाननेमें बुद्धि लगायी तो क्या दशा हुई! भगवान् जाननेके विषय हैं ही नहीं। भगवान्‌की लीलाको देखकर इन्द्र भ्रमित हो गया! ब्रह्माजी मोहित हो गये! भगवल्लीलाके दर्शनसे मोह होता है और लीला-कथा-श्रवणसे मोह-नाश होता है। **हमें लीला देखनेको नहीं मिली, पर कथा सुननेको मिल गयी, कितनी कृपा है!** हमें बढ़िया चीज मिली है। भगवान् रामसे राम-नाम बड़ा है, रामके भक्त बड़े हैं, उनकी कथा बड़ी है। ये सब हमें मिले हैं।

ज्ञानसे तो अज्ञान मिटता है, पर मिलता कुछ नहीं, परन्तु विश्वास भगवान्‌से मिलाता है। अतः विश्वास ज्ञानसे बड़ा है।

××× ××× ××× ×××

माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धन है। **शरीरके साथ सम्बन्ध तोड़ लें तो आज ही मुक्ति है। सम्बन्ध स्वीकार करनेके कारण मरे हुए सम्बन्धी भी याद आते हैं और सम्बन्ध स्वीकार न करनेके कारण जीते हुए भगवान् भी याद नहीं आते!**

माँ-बापके साथ शरीरका सम्बन्ध है। भगवान्‌के साथ स्वयंका सम्बन्ध है। अतः यह अनुभव कर लें कि मेरा सम्बन्ध शरीरके साथ नहीं है, प्रत्युत

भगवान्‌के साथ है। **संसार अध्यस्त नहीं है, प्रत्युत उसका सम्बन्ध अध्यस्त है।**

परमात्माको सगुण, निर्गुण आदि जो कुछ मानो, उसके बिना व्याकुल हो जाओ तो वह प्रकट हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

जो परमात्माको चाहते हैं, उनकी दृष्टि परमात्मामें ही रहनी चाहिये। जैसे व्यापारी पैसोंकी तरफ ही देखता है, ऐसे ही परमात्माकी तरफ ही देखते रहना चाहिये। इस व्यापारमें नफा-ही-नफा है, घाटा है ही नहीं।

आप संसारको पसन्द न करके भगवान्‌को पसन्द कर लो। अपनी तरफसे किसीको नाराज मत करो। सबकी प्रसन्नता लो। प्रत्येक काम इस भावसे करो कि भगवान्‌की सेवा कर रहा हूँ।

'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति' (गीता ६। ३०)—इस प्रकार 'सबमें भगवान् हैं' और 'सब भगवान्‌में हैं' इस भाँगको पीकर चुप हो जाओ!

सबमें परमात्माको देखनेसे संसार लुप्त हो जाता है; पता ही नहीं लगता कि संसार कहाँ गया! संसारका राग ही बाधक है। रागके कारण ही जड़ता है। आपकी दृष्टिमें मिट्टीका ढेला है, पर वास्तवमें वह साक्षात् परमात्मा है।

××× ××× ××× ×××

हमें जो मिलता है, भगवान् ही मिलते हैं। जब भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं, फिर मिले कैसे? अन्न, जल, वस्त्र आदि सभी रूपोंसे भगवान् ही मिलते हैं। सब कुछ भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'।** परन्तु इन्द्रिय-दृष्टिके प्रभावके कारण हमें भगवान् नहीं दीखते। बुद्धि-दृष्टिका प्रभाव पड़ेगा तो इन्द्रिय-दृष्टिका प्रभाव नहीं रहेगा। संसारको इन्द्रिय-दृष्टिसे देखनेपर आकर्षण होता है। इन्द्रियोंका ज्ञान वास्तवमें सावधानीके लिये है कि 'क्या अच्छा है, क्या बुरा'—यह जानकर मनुष्य निषिद्धका त्याग कर दे।

××× ××× ××× ×××

सत्संग प्रारब्धका फल नहीं है। यह भगवत्कृपासे मिलता है—***'जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये'*** (विनयपत्रिका १३६। १०)। प्रारब्धका फल है—भोग और संग्रह।

घरमें परस्पर प्रेम रखो तो यह प्रेम आपको भगवान्‌तक पहुँचा देगा। कारण कि प्रेमके भोक्ता भगवान् हैं। ज्ञान भगवान्‌तक नहीं पहुँचता, पर प्रेम भगवान्‌तक पहुँचता है।

××× ××× ××× ×××

मैं योगी हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भक्त हूँ—यह भावशरीर है। भावशरीर बननेसे साधन बड़ा सुगम हो जाता है। भावशरीरमें इष्टकी मुख्यता तथा अपनी गौणता रहती है। गौणता होते-होते अहम् इष्टमें लीन हो जाता है। आप जिस मार्गपर चलते हो, उस मार्गका भावशरीर बनाओ और साध्यकी तरफ चलते-चलते साध्यमें लीन हो जाओ।

श्रीजी, सीताजी, पार्वतीजी—ये सब 'प्रेम' का स्वरूप हैं। श्रीजी और कृष्ण, सीता और राम, पार्वती और शंकर—दोनोंमें कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद—इसका पता ही नहीं लगता!

प्रेम भगवान्‌का स्वभाव है और भक्तका जीवन है। गीताके अनुसार ज्ञानयोगसे कर्मयोग श्रेष्ठ है और कर्मयोगसे भक्तियोग श्रेष्ठ है। ज्ञानीमें सूक्ष्म अहंकार रहता है, प्रेमीमें नहीं रहता। प्रेमीकी दृष्टिमें एक प्रेमास्पदके सिवाय कुछ नहीं रहता।

ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग—तीनों योगोंमें साधककी जिसमें रुचि, विश्वास और योग्यता हो, वही उसके लिये सुगम है। वास्तवमें भक्तियोग सबसे सुगम है; क्योंकि ज्ञानयोगमें अहंताको मिटाने और कर्मयोगमें अहंताको शुद्ध करनेकी अपेक्षा भक्तियोगमें अहंताको बदलना सुगम है।

साधन भीतरसे पैदा होना चाहिये, ऊपरसे नहीं भरना चाहिये।

'करना' निरन्तर नहीं होता; क्योंकि क्रियामें

थकावट होती है। परन्तु 'होना' निरन्तर होता है।

×××　×××　×××　×××

अपनी गलतीको दोहराना नहीं चाहिये। अपनेको क्षमा नहीं करना चाहिये। क्षमा दूसरोंको करना चाहिये। दूसरेके द्वारा क्षमा माँगे बिना ही क्षमा कर देना चाहिये। क्षमा करना निर्बलका नहीं, बलवान्का काम है। क्षमाका अर्थ है कि दूसरेको कभी कहीं भी दण्ड न हो।

भगवान् ज्ञानीको मुक्त करके उऋण हो जाते हैं, पर भक्तके सदा ऋणी रहते हैं। **ज्ञानी भगवान्को कुछ दे नहीं सकता। पर भक्त भगवान्को प्रेम देता है। भगवान् प्रेमके भूखे हैं, ज्ञानके नहीं**। प्रेम ऐसी चीज है, जिससे कभी तृप्ति नहीं होती।

प्रेमके बिना ज्ञान कुछ नहीं है। ज्ञान बहुत बड़ी पूँजी है, पर प्रेम (आकर्षण)-के बिना वह पूँजी किस कामकी? कंकड़-पत्थर है! रुपयोंके आकर्षण (लोभ)-में जो रस है, वह रुपयोंके ज्ञानमें नहीं है।

जो सबके प्रेमी होते हैं, वही भगवान्के प्रेमी होते हैं। भक्त सबसे प्रेम करता है—***'मंद करत जो करइ भलाई'*** (मानस, सुन्दर० ४१।४)। भक्त सबको भगवत्स्वरूप समझते हैं। प्रेमी भक्त किसीको बुरा नहीं मानता, किसीका बुरा नहीं चाहता और किसीका बुरा नहीं करता। अत: हम भी किसीको बुरा न मानें, बुरा न चाहें और बुरा न करें तो हम प्रेमी हो जायँगे।

बुराई जीवकृत सृष्टिमें है, ईश्वरकृत सृष्टिमें नहीं। भागवतमें आया है कि आसुरी सम्पत्ति (जीवकृत सृष्टि) भगवान्की पीठसे पैदा हुई है*। इसका तात्पर्य है कि यह भगवान्की विमुखतासे पैदा हुई है, सम्मुखतासे नहीं।

जबतक दूसरी सत्ता मानेंगे, तबतक न मनोनाश होगा, न वासनाक्षय होगा, न तत्त्वज्ञान होगा।

साकार-निराकार एक ही हैं। सोनेका पतरा बना दो तो वह निराकार है और मूर्ति बना दो तो वह साकार है। दोनोंमें सोना एक ही है। पृथ्वी, जल, अग्नि आदि भी साकार-निराकार दोनों होते हैं तो क्या भगवान् इनसे भी कमजोर हैं कि वे साकार नहीं हो सकते?

तत्त्वज्ञान, मुक्ति, प्रेम आदि सब भगवान्की कृपासे ही प्राप्त होते हैं। जो भगवान्को मानता ही नहीं, उसको भी भगवान् मिलते हैं।

×××　×××　×××　×××

जो आध्यात्मिक ग्रन्थोंका, शास्त्रोंका, पुस्तकोंका आदर करता है, उसका भी आदर होता है। इनका निरादर करनेवालेका भी निरादर होता है।

मैं देह नहीं हूँ, देही हूँ—ऐसा ठीक समझमें आ जाय तो सभी साधन सुगम हो जायँगे। शरीरको जाननेवाला शरीरसे अलग है। शरीरकी एकता सृष्टिमात्रके साथ है और शरीरीकी एकता परमात्मतत्त्वके साथ है—**'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'** (गीता १३।२)। शरीरको संसारसे और अपनेको परमात्मासे अलग मानना गलती है।

शरीरकी तरफ दृष्टि होनेसे हम 'शरीरी' (शरीरको जाननेवाले) हैं। शरीरकी तरफ दृष्टि न रहे तो केवल 'है' (सत्तामात्र) हैं। आप 'मैं' को छोड़ दें और 'हूँ' की 'है' के साथ अभिन्नता कर लें। शरीरकी तरफ दृष्टि होनेसे ही 'हूँ' है। प्रकाश्यकी सत्तासे प्रकाशक है, अन्यथा प्रकाशस्वरूप है। आप प्रकाशक नहीं हैं, प्रकाशस्वरूप हैं। 'मैं' संसारकी तरफ है और 'हूँ' परमात्माकी तरफ है—इतनी ही बात है।

मोटर चलती है तो आपको पसीना आता है क्या? ऐसे ही शरीरको ज्वर आनेसे आपको ज्वर नहीं आता। परन्तु मुझे ज्वर आ गया—ऐसा आप मान लेते हैं। **शरीर मैं नहीं, मेरा नहीं, मेरे लिये नहीं—इसका अनुभव अभी करना है**। इसमें अभ्यासकी नहीं, विवेककी जरूरत है। **ज्ञान विवेकसे होता है, अभ्याससे नहीं।**

*पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिम:। (श्रीमद्भा० २।६।९)

जैसे मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ आदि भाव निरन्तर रहता है, ऐसे ही यह भाव निरन्तर रहे कि मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। ऐसा भाव करके चुप हो जायँ। यह अभ्यास नहीं है, प्रत्युत विवेकका आदर है।

'मैं ब्रह्म हूँ'—यह विचारमें आस्थाको मिलाना है। यह मेरी माँ क्यों है?—यह आस्थामें विचारको मिलाना है। ये दोनों नहीं होने चाहिये।

××× ××× ××× ×××

निरन्तर अपने स्वरूपमें स्थित रहो। काम-क्रोधादि वृत्तियाँ आती हैं और मिट जाती हैं, स्वरूपमें क्या फर्क पड़ा? न अच्छा ठहरता है, न बुरा ठहरता है। वास्तवमें शरीरके साथ सम्बन्ध माननेसे ही कामना पैदा होती है और निषिद्ध कर्म होते हैं।

शास्त्रोंमें गुरुकी जो महिमा कही गयी है, वह चेलेकी दृष्टिसे है, गुरुकी दृष्टिसे नहीं।

××× ××× ××× ×××

श्रोता—कल्याणकी उत्कण्ठा कैसे हो?

स्वामीजी—उत्कण्ठाकी उत्कण्ठा हो जाय! अर्थात् 'उत्कण्ठा कैसे हो?'—इसकी उत्कण्ठा हो जाय। दूसरी बात, सांसारिक प्राणि-पदार्थोंमें आसक्ति न रहे। 'मेरा उद्धार कैसे हो'—यह उत्कट अभिलाषा हो जाय तो पापी-से-पापीका भी उद्धार हो सकता है।

जैसे भूख भले ही न लगे, पर भूखकी भूख तो लगनी चाहिये, ऐसे ही उत्कण्ठाकी उत्कण्ठा तो होनी चाहिये। इसमें कोई असमर्थ नहीं है।

आज हमें जो सत्संगका मौका मिला है, यह कर्मोंका (प्रारब्धका) फल नहीं है। यह केवल भगवत्कृपाका फल है।

संसार आजतक कभी किसीको नहीं मिला। मिला है तो परमात्मा ही मिला है। यदि संसार मिला होता तो संसारकी इच्छा नहीं रहती। जो मिलता है, वह परमात्मा ही मिलता है।

चाहे मैं-ही-मैं हूँ, चाहे तू-ही-तू है, चाहे यह-ही-यह है, चाहे वह-ही-वह है—इनमेंसे कोई एक हो जाय तो काम हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

जब कभी कल्याण होगा, भगवान्‌की कृपासे ही होगा। हम अपने सब कर्मोंका फल भोगकर कल्याण कर लेंगे—यह सम्भव नहीं है। भगवान् माफ करते हैं, तभी कल्याण होता है।

असाधनका त्याग किये बिना साधनकी सिद्धि नहीं होती। **चौबीस घण्टोंमें एक मिनट भी असाधन न हो, तब साधन होता है**। आंशिक साधनसे सिद्धि नहीं होती।

तत्त्वज्ञानका अन्तःकरणके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। तत्त्वज्ञान प्रकृतिसे अतीत है, जबकि अन्तःकरण प्रकृतिका कार्य है। फिर अन्तःकरणकी शुद्धि-अशुद्धिका तत्त्वज्ञानसे क्या सम्बन्ध?

करणनिरपेक्षमें साक्षात् साधन होता है, पर करणसापेक्षमें परम्परासे साधन होता है।

××× ××× ××× ×××

जैसे तत्त्वसे सोना होते हुए भी गहनोंका उपयोग यथास्थान ही होगा, ऐसे ही 'वासुदेवः सर्वम्' होते हुए भी व्यवहार यथायोग्य (मर्यादाके अनुसार) होगा और बहुत बढ़िया होगा।

कर्मयोगमें सेवावृत्ति रहती है। ज्ञानयोगमें उदासीन वृत्ति तथा कुछ कठोरता रहती है। भक्तियोगमें करुणा, दयालुता तथा कोमलता रहती है।

दूसरेके सुखसे सुखी होनेसे कामवृत्ति, आसक्ति, लोभ, भोगेच्छा मिट जायगी। दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेसे संग्रहकी आसक्ति मिट जायगी। **मनुष्य अपने सुखसे अशुद्ध सुखी होता है और दूसरेके सुखसे शुद्ध सुखी होता है**। शुद्ध सुखकी आसक्तिसे मलिन सुखकी आसक्ति छूट जायगी।

भक्तिमें विरहके समान कोई चीज नहीं। दूसरेके दुःखसे द्रवित होनेपर उस द्रवित हृदयमें जिज्ञासा, विरह आदि स्वतः पैदा हो जायँगे।

××× ××× ××× ×××

जैसे औषधालयकी सब दवाएँ हमारे कामकी नहीं होतीं, ऐसे ही शास्त्रोंकी सब बातें सबके लिये

नहीं होतीं। जो बात अपने कामकी है, उसे ले लो। आपको अपनी प्यास मिटानी है।

समुद्रमेंसे कोई राई कैसे निकाल सकता है? नहीं निकाल सकता। पर **संसारभरके ग्रन्थोंमेंसे भगवान्ने 'गीता' निकालकर हमें दे दी—यह उनकी कितनी कृपा है**! फिर भी हम चेत न करें तो भगवान्का क्या दोष है?

आजकल विवेकमार्गी बहुत थोड़े हैं, ज्यादा विश्वासमार्गी ही हैं। जबतक जान नहीं जायँगे, तबतक नहीं मानेंगे—यह विवेकमार्ग है। विश्वासमार्गमें पहले मानकर फिर जानते हैं।

××× ××× ××× ×××

'वासुदेवः सर्वम्' में वाग्विवाद, मतभेद नहीं है। ज्ञानमें मतभेद होता है, प्रेममें मतभेद नहीं होता। **प्रेम मतभेदको खा जाता है**। मतमें भेद होता है, प्रेममें भेद नहीं होता। प्रेमाद्वैत बहुत विलक्षण चीज है।

जबतक संसारकी सत्ता रहेगी, तबतक भेद नहीं मिटेगा। जबतक संसार और परमात्मा, त्याज्य और ग्राह्य—ये दो रहेंगे, तबतक प्रेम नहीं हो सकता। **जबतक यह वृत्ति रहेगी कि मनको संसारसे हटायें और परमात्मामें लगायें, तबतक मनका सर्वथा निरोध नहीं होगा**। जबतक दोका विभाग रहेगा, तबतक मनका निरोध बड़ा कठिन है। पर जब दूसरा कोई है ही नहीं, तब मन कहाँ जायगा? जब एक प्रभुके सिवाय कुछ है ही नहीं, तो फिर मनको कहाँसे हटायेंगे और कहाँ लगायेंगे? दो चीजें नहीं रहेंगी तो निरन्तर भजन ही होगा, भजनके सिवाय क्या होगा? विवेकमार्गमें नित्य-अनित्य, सत्-असत्, जड़-चेतन दो चीजें रहेंगी।

वस्तु पासमें रखना दोष नहीं है, पर उसका सहारा नहीं होना चाहिये।

××× ××× ××× ×××

आप सब जीवन्मुक्त हैं तथा भगवान्को प्यारे हैं—***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६।२)। संसारका बन्धन आपका माना हुआ है, है नहीं, तभी वह कटता है। हमारा सम्बन्ध भगवान्के साथ है। भीतरसे स्वीकार कर लें कि हम भगवान्के हैं। यह सच्ची बात है। सच्ची बातको स्वीकार करना ही ज्ञान है, मुक्ति है, भक्ति है।

सत्यको स्वीकार करना हो तो दूसरेको सामने मत रखो, अपनेको सामने रखो। दूसरेको सामने रखोगे तो सत्य नहीं मिलेगा।

शरीरको आपने ही अपना मान रखा है और 'शरीर अपना नहीं है'—यह भी आपको ही मानना है। अबतक शरीरको अपना मानकर आपने क्या नफा उठाया?

××× ××× ××× ×××

भगवान्की ऐसी कृपा है कि वे पात्रको तो मिलते ही हैं, अपात्रको भी मिलते हैं, कुपात्रको भी मिलते हैं! आप अपनेको देखें कि भगवान्की कृपासे हमने कहाँ जन्म लिया, कहाँ चले गये! क्या चाहते थे, क्या हो गये! कैसे थे, पर कैसा सत्संग मिल गया!

भगवान् हमसे प्रेम करते हैं—इसकी पहचान यह है कि हमें सत्संग मिल गया! सत्संग हमारे पुरुषार्थसे नहीं मिलता, केवल भगवत्कृपासे मिलता है। एक मार्मिक बात है कि अचानक कभी भगवान्की याद आ जाय तो समझें कि भगवान् मुझे याद करते हैं। उस समय विशेषरूपसे, सब काम छोड़कर भगवान्में लग जाना चाहिये—**'कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्'**। नामजप, कीर्तन, सत्संग, पाठ आदि किसी भी तरहसे भगवान्में मन लगना चाहिये।

××× ××× ××× ×××

हमारा स्वभाव तब सुधरेगा, जब हम अपने प्रति न्याय करेंगे, अपनेको दण्ड देंगे और दूसरेको क्षमा करेंगे। पुत्र, शिष्य आदिपर भी पहले शासन न करके उन्हें प्रेमसे समझायें। प्रेमसे न समझें, तब उनपर शासन करें।

हमारे दुःखका कारण कोई दूसरा नहीं है। दुःख होता है तो वह हमारी भूलका फल है।

××× ××× ××× ×××

जो अपना कल्याण चाहता है, वह किसीके भी

प्रति बुरी भावना न करे। किसी भी प्राणीको बुरा न समझे। यह व्रत ले ले कि मैं किसीको भी बुरा नहीं समझूँगा, किसीका भी बुरा (नुकसान) नहीं करूँगा, और किसीका भी बुरा नहीं चाहूँगा। यह नियम ले लें; पक्का विचार कर लें।

आपको कोई आदमी बुरा करता हुआ दीखता है तो क्या वह अपनी पत्नी, पुत्र आदिका भी बुरा करता है? तात्पर्य है कि सर्वथा बुरा कोई हो ही नहीं सकता। पर सर्वथा भला हो सकता है। बुरा तो उसे ही कह सकते हैं, जो सर्वथा बुरा-ही-बुरा करता हो।

स्वरूपमें बुराई नहीं है—**'चेतन अमल सहज सुख रासी'**। सबका स्वरूप निर्दोष है। दूसरी बात, दूसरेको बुरा माननेका आपको क्या अधिकार है? क्या आपको दूसरोंकी बुराई देखनेका अधिकार मिला हुआ है? दूसरा आपके साथ बुराई कर रहा है तो क्या आपके द्वारा कभी किसीका बुरा नहीं होता? अपनी बुराईको आप क्षमा कर देते हैं। वास्तवमें क्षमा दूसरोंकी होती है।

किसीमें भी बुराईकी स्थापना मत करो, न दूसरोंमें, न अपनेमें। अपनेको बुरा मानोगे तो आप बुरे हो जाओगे; क्योंकि ईश्वरका अंश होनेसे आप सत्यसंकल्प हो। रावण बुरा था तो क्या सबके लिये बुरा था? बुरे-से-बुरे व्यक्तिमें भी भलाई होती है। रावणने वेदोंपर भाष्य लिखा था; 'रावण-संहिता' की रचना की थी।

दूसरेको बुरा माननेसे हमारा, दूसरेका और संसारका नुकसान है। दूसरेको बुरा मानना अपराध है। अपराध पापसे भी भयंकर होता है। अपराध दण्ड भोगनेपर भी नष्ट नहीं होता, प्रत्युत जिसका अपराध किया है, उसके क्षमा करनेपर ही नष्ट होता है।

किसीका बुरा करोगे तो उसका तो बुरा होनेवाला ही होगा, पर आपकी नयी बुराई हो जायगी।

××× ××× ××× ×××

अपना कर्तव्य ही अपना 'धर्म' है। जिसे कर सकते हैं और जिसे करना चाहिये, वह 'कर्तव्य' होता है। जिसे कर न सकें और जिसे करना नहीं चाहिये, वह कर्तव्य नहीं होता। कर्तव्य कभी कठिन नहीं होता। **वास्तविक धर्मात्माको किसीकी गरज नहीं होती, प्रत्युत दुनियाको ही उसकी गरज होती है**।

निषिद्ध कर्मका त्याग कर दें तो विहित कर्मका अनुष्ठान स्वतः होगा। हमें जो बर्ताव बुरा लगता हो, उसे दूसरोंके साथ भी मत करो। जो नहीं करना चाहिये, उसे करते हैं—यही बन्धन है।

जब आप किसीसे भी बुरा बर्ताव नहीं चाहते तो फिर दूसरेसे बुरा बर्ताव करनेका आपको क्या अधिकार है? जब आप चाहते हैं कि कोई मुझे बुरा न माने तो फिर आपको दूसरेको बुरा माननेका क्या अधिकार है? आप ऐसा करके अपने ही ज्ञानकी हत्या करते हैं।

शुद्धि स्वतः है, अशुद्धि बनावटी है। मुक्ति स्वतः है, बन्धन बनावटी है। भलाई स्वतः है, बुराई बनावटी है।

××× ××× ××× ×××

'मैं' बदल जाय तो क्रिया स्वतः बदल जायगी। विवाहित होनेपर मैं-पन बदल जाता है कि अब मैं कुँआरी नहीं हूँ, अब पतिका घर मेरा घर है। गोत्र, जाति, भाव आदि सब बदल जाते हैं। मैं-पन बदलनेसे सब क्रियाएँ बदल जाती हैं। ऐसे ही आपका मैं-पन बदल जाय कि मैं भगवान्‌का हूँ, संसारका नहीं हूँ। **अहंता बदलनेसे साधन बहुत सुगम हो जायगा। फिर यह शिकायत नहीं रहेगी कि क्या करें, निरन्तर साधन नहीं होता, मन नहीं लगता, भगवान्‌को भूल जाते हैं! फिर चौबीसों घण्टे साधन होगा। निरन्तर साधन हुए बिना इस जीवनके रहते सिद्धि (मुक्ति) नहीं होती**।

जैसे जल सब जगह रहता है, पर उसकी प्राप्ति कुएँसे होती है। ऐसे ही परमात्मा अच्छे-बुरे, विहित-निषिद्ध आदि सबमें समानरूपसे रहते हैं, पर उनकी प्राप्ति विहितसे ही होती है।

सूर्यकी किरणें सर्वत्र बराबर पड़ती हैं, पर लकड़ी छाया करती है, काँच छाया नहीं करता और आतशी शीशा जला देता है। ऐसे ही परमात्मा सर्वत्र समान

हैं, पर मनुष्य अपने भावके अनुसार लाभ उठाते हैं। भक्त आतशी शीशेकी तरह होता है, जो सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माको खींच लेता है। सब वस्तुएँ आतशी शीशा नहीं बन सकतीं, पर सब मनुष्य भक्त बन सकते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीने जो लिखा, वह कविकी रचना (कविता) नहीं है, प्रत्युत सन्तकी वाणी है।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌की रची हुई वस्तुएँ सबको सुख देनेवाली हैं। पृथ्वी सबको स्थान देती है। जल सबकी समानरूपसे प्यास शान्त करता है। सूर्य सबको बराबर प्रकाश देता है। वायु सबको समानरूपसे श्वास देती है। तात्पर्य है कि भगवान्‌की बनायी हुई सृष्टि सबको सुख-आराम देनेवाली है, बन्धन करनेवाली नहीं है। भगवान्‌की माया (सृष्टि)-को अपना मान लिया— यह बेईमानी है। इस बेईमानीसे बन्धन होता है।

××× ××× ××× ×××

साधक दो तरहके होते हैं। एकमें स्वाभाविक ही त्याग-वैराग्य रहता है और दूसरे सत्संग सुनकर, पुस्तकें पढ़कर भगवान्‌में लगते हैं। ऐसे (दूसरी तरहके) साधकोंकी सत्संगके समय जैसी वृत्ति रहती है, वैसी दूसरे समयमें नहीं रहती। सत्संगका असर धीरे-धीरे उतर जाता है और वे पुनः भोगोंमें लग जाते हैं। उनकी यह शिकायत रहती है कि सत्संगसे कोई लाभ नहीं हुआ। पर वास्तवमें ऐसी बात है नहीं। उनमें एक परिवर्तन जरूर होता है। काम-क्रोधादिका वेग पहले जितनी जोरसे आता था, उतनी जोरसे अब नहीं आता। पहले वे जितनी देर ठहरते थे, उतनी देर अब नहीं ठहरते। पहले वे जितनी जल्दी आते थे, उतनी जल्दी अब नहीं आते। सत्संग करनेसे इन तीनों बातोंमें फर्क पड़ता है। जैसे वर्षा होनेपर खेतीमें एक नयापन आ जाता है, हरियाली आ जाती है, ऐसे ही सत्संग मिलनेपर साधकके हृदयमें एक नयापन आ जाता है।

सत्संग करानेवाला (वक्ता) जितना अनुभवी होता है, उतना दूसरोंको अधिक लाभ होता है। अनुभवी पुरुषकी वाणी गोलीभरी बन्दूककी तरह है, जो चोट करती है। उसकी वाणीसे दूसरोंका जीवन बदल जाता है।

जादू-टोना, मलिन मन्त्र उसपर असर करते हैं, जो अपवित्र रहता है। कलियुगने अपवित्र अवस्थामें ही राजा नलमें प्रवेश किया था। भक्तोंकी कथा, पुराण आदिके श्रवण-पठनसे पवित्रता आती है। पवित्रता आनेसे जादू-टोना, भूत-प्रेतादिका असर नहीं पड़ता।

××× ××× ××× ×××

बन्द कमरेमें सूर्यकी जो किरण आती है, उससे अँधेरेमें प्रकाश हो जाता है। परन्तु कमरेसे बाहर देखें तो कितना प्रकाश है!! **ऐसे ही गीताका जो अर्थ अभी समझमें आया है, वह तो एक किरण है**। वास्तवमें गीता कितनी विलक्षण है!!

××× ××× ××× ×××

मनुष्य अपने-अपने कर्तव्यका पालन करें तो कल्याण स्वतःसिद्ध है। भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये मनुष्यशरीर दिया है तो प्राप्तिकी सामग्री भी दी है, स्वतन्त्रता भी दी है। मात्र मनुष्य अपना कल्याण कर सकते हैं और सुगमतासे कर सकते हैं, प्रत्येक परिस्थितिमें कर सकते हैं। परिस्थितिको मिटाना या बदलना अपने हाथकी बात नहीं है, उसका सदुपयोग करना हमारे हाथकी बात है। अनुकूल-प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियोंके सदुपयोगसे अपना कल्याण कर सकते हैं। परिस्थिति बदलनेकी जरूरत नहीं है। **कल्याणके लिये नयी परिस्थितिकी जरूरत नहीं है**।

केवल दूसरेके हितके लिये सब कर्म करें तो कल्याण हो जायगा। **स्त्री-पुरुष एक-दूसरेको परवश न करें और अपने-अपने कर्तव्यका पालन करें**।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यका एक निश्चय (व्यवसायात्मिका बुद्धि) होना चाहिये। वह एक निश्चय परमात्मप्राप्तिका ही हो सकता है; क्योंकि परमात्मा एक है। संसारका एक निश्चय नहीं हो सकता।

'भोग' और 'संग्रह' में प्रारब्धकी प्रधानता है, पुरुषार्थकी गौणता है। 'धर्म' और 'कल्याण' में

पुरुषार्थकी प्रधानता है, प्रारब्धकी गौणता है। धनके लिये कोई नियम नहीं लेता कि इतने रुपये तो हम रोज पैदा करेंगे ही। कारण कि यह प्रारब्धके अधीन है।

आजकल तीन आफतें हो गयीं—आवश्यकताएँ बढ़ गयीं, वस्तुएँ महँगी हो गयीं, रुपये कम हो गये!

××× ××× ××× ×××

कामनाके रहते हुए मनकी चंचलता मिटनी कठिन नहीं है, पर बुद्धिकी स्थिरता होनी कठिन है। कामनाके रहते हुए भी मन निश्चल हो सकता है, तभी योगदर्शनमें 'विभूतिपाद' आया है। **मनमें कामना रहते हुए चंचलता मिटती है तो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।**

स्वयंका विचार कल्याण करनेका होना चाहिये। स्वयंका ध्येय हो तो कामना रहते हुए मनकी चंचलता मिट सकती है। स्वयंमें रहनेवाली सूक्ष्म कामना परमात्मप्राप्ति होनेपर मिटती है—**'परं दृष्ट्वा निवर्तते'** (गीता २।५९)।

××× ××× ××× ×××

करने और होनेका विभाग अलग-अलग है। अतः इन दोनों (प्रारब्ध और पुरुषार्थ)-में बलाबलका विचार नहीं होता। बलाबलका विचार एकमें होता है। पाप और पुण्य—दोनोंका संग्रह अलग-अलग होता है। ये एक-दूसरेसे कटते नहीं। **पाप कटते हैं प्रायश्चित्त कर्मसे, पर इसमें बलाबलका विचार होता है।**

धनकी प्राप्तिमें क्रियाकी मुख्यता है। परमात्माकी प्राप्तिमें लालसाकी मुख्यता है।

××× ××× ××× ×××

कामना करनेसे वस्तु मिल जाती है क्या? क्या जीवनमें हमारी सभी कामनाएँ पूरी हुई हैं? सर्वथा मनचाहा किसीका भी नहीं होता। अगर सभी कामनाएँ पूरी होने लगें तो बड़ी मुश्किल हो जाय! कारण कि हम ढंगसे चाहना नहीं करते। कभी अच्छा चाहते हैं, कभी बुरा चाहते हैं। अतः भगवान् जो चाहें, वही होना ठीक है।

××× ××× ××× ×××

संसारके सभी साथी बिछुड़नेवाले हैं। इसमें ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो पहले आया है, वह पहले जायगा।

सत्संगमें आनेवाले जितने हमारे हैं, उतने घरमें रहनेवाले हमारे नहीं हैं। कारण कि सत्संगमें हमारा सम्बन्ध किसी व्यक्तिके साथ नहीं है। हमारा सम्बन्ध केवल परमात्माके साथ है, और सत्संगमें आनेवाले परमात्माकी तरफ चलनेवाले हैं। वास्तवमें परमात्माके नाते प्राणिमात्र हमारे साथ एक है, पर बाहरसे कोई अपना नहीं है।

लेनेसे पुनर्जन्म लेना पड़ता है। कारण कि लेनेवालेको देना पड़ता है, कर्जा उतारना पड़ता है।

दूसरेको दुःख दोगे तो भजनमें मन नहीं लगेगा, और सुख दोगे तो भजनमें मन लगेगा। दूसरेको दुःख देनेसे हृदय कठोर होता है, और सुख देनेसे हृदय पिघलता है। पिघले हुए हृदयमें पारमार्थिक बातें जम जाती हैं।

××× ××× ××× ×××

परमात्मासे विमुख होनेसे ही हम दुःखी हुए हैं। वह दुःख मिटेगा भगवान्‌की शरण होनेसे। अग्निसे वियुक्त होनेसे ही कोयला काला हुआ है। भोग और संग्रहसे सुख पानेकी चेष्टा करना मानो साबुन लगाकर कोयलेको साफ करना है! कोयला साफ होगा अग्निसे सम्बन्ध होनेपर। भोग और संग्रहसे आजतक एक भी व्यक्ति सुखी नहीं हुआ। **भोगी व्यक्ति नींदके बिना नहीं रह सकता, पर भजन करनेवालेको नींद बुरी लगती है।** नींदमें संसारको भूलनेसे सुख मिलता है, नीरोगता आती है, ताजगी आती है। अगर संसारको भीतरसे त्याग दें तो महान् आनन्द है!

संसारकी रुचि तो अरुचिमें बदलती ही है, पर भगवान्‌की रुचि अरुचिमें नहीं बदलती। भगवान्‌की रुचि तो बढ़ती ही रहती है। भगवान्‌के भजनमें नींद भी बाधक दीखती है। **भोगियोंके लिये नींद मित्र है, और भजन करनेवालोंके लिये नींद वैरी है। यह दोनोंमें प्रत्यक्ष अन्तर है।**

××× ××× ××× ×××

अपने लिये, संसारके लिये और भगवान्‌के लिये भी उपयोगी हो जाय—यह अधिकार केवल मनुष्यको ही मिला है। यह भगवान्‌का मनुष्यशरीरसे पक्षपात है! भगवान्‌ने इतनी समझ, सामग्री, समय तथा सामर्थ्य दी है कि मनुष्य एक जन्ममें कई बार अपना कल्याण कर ले!

××× ××× ××× ×××

आप घरमें रहें तो कोई बाधा नहीं आती। बाधा तब आती है, जब घर आपमें बसे। नाव पानीमें रहनी चाहिये। पानी नावमें रहे तो नाव डूब जायगी। पानीमें नाव खुद भी तरती है और दूसरोंको भी तारती है। संसारमें लेनेके लिये न रहें, देनेके लिये रहें। संसारमें ममता करनेवाला फँसता है, सेवा करनेवाला नहीं। ममता छूटना कठिन है, पर ममता रखना असम्भव है।

भोजन वह बढ़िया होता है, जिसमें खानेवालेकी अपेक्षा खिलानेवालेको ज्यादा आनन्द आता है। ज्यादा आनन्द उसको वस्तु देनेमें आता है, जो लेना नहीं चाहता। चोर-डाकूको वस्तु देनेमें आनन्द आता है क्या?

गृहस्थमें अगर यह भाव रहे कि मुझे सुख कैसे मिले तो सब दुःखी हो जायँगे, और यह भाव रहे कि दूसरेको सुख कैसे मिले तो सब सुखी हो जायँगे।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌में प्रेम होनेका मुख्य उपाय है—अपनापन। 'भगवान् मेरे हैं'—इसको पुष्ट करनेके लिये है—'दूसरा कोई मेरा नहीं है'। ***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'।*** दूसरे मेरे हैं केवल सेवा करनेके लिये। भगवान्‌के नाते सबकी सेवा करो तो भगवान्‌के प्रेममें बड़ी सहायता मिलेगी।

मैं और मेरा सब भगवान्‌का है। मेरेपर और मेरी वस्तुओंपर भगवान्‌का अधिकार है।

त्यागके बिना पारमार्थिक सिद्धि नहीं होती; न प्रेम होता है, न ज्ञान होता है।

वीररसका स्थायी भाव (आधार) क्रोध नहीं है, प्रत्युत उत्साह है। उत्साहके कारण वीरको अपने सिरका भी कोई मूल्य नहीं दीखता! सिर कटनेपर भी वह (कबन्ध) लड़ता रहता है।

××× ××× ××× ×××

साधन निरन्तर होना चाहिये। जबतक दो विभाग रहेंगे, तबतक सिद्धि नहीं होगी। साधन चौबीसों घण्टे होता है। संसारी लोगोंका जैसा खान-पान आदि व्यवहार होता है, वैसा साधकका नहीं होता। **साधकके व्यवहारमें भी साधन होता है। भजनका विभाग अलग हो और व्यवहारका विभाग अलग—ऐसा नहीं होता। यदि परमात्मतत्त्वको, तत्त्वज्ञानको प्राप्त करना चाहते हैं तो दो विभाग न करें।**

××× ××× ××× ×××

जो कुछ दीखता है, वह सब-का-सब निरन्तर मर रहा है। जैसे मृत्यु सबके लिये खुली (सुलभ) है, ऐसे ही मुक्ति भी सबके लिये खुली है। **भजन न करनेवालोंके लिये तो यह कलियुग है, पर भजन करनेवालोंके लिये यह बड़ा सुन्दर समय है।**

भगवन्नामके पीछे भगवान्‌को आना पड़ता है—यह नियम है। परन्तु भगवान्‌के पीछे नाम आ जाय—यह नियम नहीं है। भगवन्नाम सबके लिये खुला है और जीभ अपने मुखमें है—फिर बाधा किस बातकी!

××× ××× ××× ×××

भक्तिमें भगवत्कृपाका आश्रय मुख्य है। भक्तोंमें अपने साधनका अभिमान नहीं होता; क्योंकि वे अपना सम्बन्ध साधनसे नहीं, प्रत्युत भगवान्‌से रखते हैं। मेरे भजनसे, भगवदाज्ञा-पालनसे मेरा कल्याण होगा—यह उनमें नहीं होता। भजनके बिना उनसे रहा नहीं जाता। उनको भगवान्‌की याद स्वतः आती है, याद करनी नहीं पड़ती। **यदि भगवान्‌को याद करना पड़ता है तो समझें कि अभी भगवान्‌में अपनापन नहीं हुआ।**

भगवान्‌में प्रेम किसी क्रियासे नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌में अपनापन होनेसे होता है। भगवान् स्वतः अपने हैं। संसारको अपना मान लिया—यही गलती है।

××× ××× ××× ×××

अपनेमें कभी भी परमात्मप्राप्तिकी अयोग्यता नहीं माननी चाहिये। परमात्मप्राप्ति कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत कृपाका फल है।

करें व्यवहार और सिद्ध हो जाय परमार्थ—यह गीता सिखाती है। मनुष्य अपने कर्तव्यका ठीक पालन करे तो उसका कल्याण हो जाय। कर्मयोगीका इष्टदेव, पूज्य यह संसार है। कर्मयोग संसारकी, ज्ञानयोग स्वयंकी और भक्तियोग भगवान्‌की आवश्यकताकी पूर्ति करता है।

××× ××× ××× ×××

अपने लिये करनेवाला राक्षस होता है और दूसरोंके लिये करनेवाला मनुष्य होता है।

××× ××× ××× ×××

विचार करें, 'मैं' नाम किसका है? शरीर 'मैं' नहीं हूँ; क्योंकि शरीर बदलता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भी मेरा स्वरूप नहीं है, प्रत्युत यह तो केवल मान्यता है। अवस्था बदलती है। स्वरूप नहीं बदलता। 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह सीखी हुई बात है, अनुभव नहीं। **मैं जीव हूँ, मैं आत्मा हूँ—यह सीखी हुई बातें हैं, ज्ञान नहीं**। जिसको 'यह' कहते हैं, वह 'मैं' नहीं हूँ। 'यह मैं हूँ'—ऐसे इदंतासे कोई जान नहीं सकता। परन्तु 'मैं यह नहीं हूँ'—ऐसे जान सकते हैं। तात्पर्य है कि हम अपनेको निषेधरूपसे ही जान सकते हैं।

××× ××× ××× ×××

हमारी मनचाही हो जाय—यह कामना है। कामना आपमें पैदा होती है, फिर मनमें आती है। यदि आपमें खुदमें कामना न होती तो फिर उसकी पूर्ति-अपूर्तिसे आपको सुख-दुःख न होता। आप सुखी-दुःखी होते हैं अर्थात् स्वयं भोक्ता बनता है।

विचार करें, मनचाही होनेपर भी आप जीते हैं और मनचाही न होनेपर भी। मनचाही पूरी न होनेपर आप मर नहीं जाते। आपकी सत्तामें कोई फर्क नहीं पड़ता। परमात्माकी इच्छा 'स्व' की है और संसारकी इच्छा 'पर' की है। अतः संसारकी इच्छा ही पतन करनेवाली है, परमात्माकी इच्छा नहीं। संसारकी इच्छा करनेसे आप गुलाम हो जाओगे।

आप ज्यों-ज्यों शरीरकी चिन्ता छोड़ोगे, त्यों-त्यों शरीरकी चिन्ता संसारको लग जायगी।

××× ××× ××× ×××

आगेके जन्मका कारण अन्तिम चिन्तन है। 'शरीर' अन्तिम चिन्तनके अनुसार होता है और 'फलभोग' कर्मोंके अनुसार होता है। सब समय अन्तसमय ही है। अन्तसमय हरदम रहता है; क्योंकि ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिसमें मौत न आती हो। यदि अन्तसमयमें भगवान्‌को याद करना चाहते हो तो हर समय याद करो। जितना समय बीत गया, उसका अन्त (अन्तसमय) अभी ही है।

ब्रह्म, जीव, जड़, चेतन आदि कोई भी साधक नहीं होता। मनुष्य ही साधक होता है।

हम कुछ भी त्याग न करें—यह आपके वशकी बात है ही नहीं। शरीर, धन आदिका त्याग होगा ही। इनका अपने-आप त्याग होगा तो कल्याण नहीं होगा, पर आप त्याग कर दोगे तो कल्याण हो जायगा।

मेरी बातें आपको अच्छी लगती हैं, पर आपकी कल्याणकी चाहना न हो तो क्या लाभ? भोजन बढ़िया मिले, पर भूख न हो तो क्या लाभ?

××× ××× ××× ×××

लेना-ही-लेना जड़ता है और देना-ही-देना चेतनता है। देनेमें जड़ताका त्याग है। लेना-ही-लेना पशु, वृक्ष आदिमें है। इनसे कोई भले ही ले ले, पर ये देते नहीं। संसारसे भोग और संग्रह चाहना जड़ता है। देना-ही-देना प्रभुका स्वभाव है। लेना और देना—दोनों जिसमें है, वह जीव है, चिज्जड़ग्रन्थि है।

दो विभाग हैं—'यह' और 'वह'। कामना न 'यह' में है, न 'वह' में है, होनी सम्भव ही नहीं। कामना न मनमें होती है, न बुद्धिमें, प्रत्युत स्वयंमें (सुखके भोगीमें) होती है। भोगी न 'यह' है, न 'वह'; न शरीर है, न आत्मा। जो अनुकूलता चाहता है, प्रतिकूलता नहीं चाहता, वह 'भोगी' है। अतः अपनेको 'यह' से भी हटा ले और 'वह' ('है')-

से भी हटा ले। ऐसा करते ही 'भोगी' का नाश हो जायगा। भोगीका नाश होनेपर 'योग' रह जायगा।

आकृति पहले दीखती है तो यह जड़ता है। भाव पहले दीखता है तो यह चिन्मयता है। आकृतिमें लेनेकी इच्छा होती है।

××× ××× ××× ×××

आपको जो ज्ञान (विवेक) मिला हुआ है, उसका अनादर करोगे तो वह लुप्त हो जायगा। परन्तु उसका आदर करोगे तो वह इतना बढ़ेगा कि शास्त्र और गुरुके बिना भी परमात्मातक पहुँचा देगा। सत्संगसे वह ज्ञान जाग्रत् होता है। गुरु वही ज्ञान जाग्रत् करता है, जो हमारेमें पहलेसे विद्यमान है। जो हमारेमें विद्यमान नहीं है, ऐसा ज्ञान गुरु दे सकता ही नहीं। मैं आपका ही ज्ञान आपको दे रहा हूँ।

××× ××× ××× ×××

जिसमें लेनेकी इच्छा नहीं है, उसके द्वारा स्वाभाविक ही देना होता है। भगवान् और उनके भक्त लेते हैं तो देते हैं, देते हैं तो देते हैं। पर सांसारिक लोग देते हैं तो लेते हैं, लेते हैं तो लेते हैं। एक गुना दान करनेसे सौ गुना पुण्य मिलेगा—यह लेना ही है। जो निर्मम-निरहंकार होता है, वह देता-ही-देता है, लेता नहीं।

बन्धन न सत्‌में है, न असत्‌में, तभी मुक्ति होती है। **मेरी बात रह जाय—यह लेना है। जबतक 'मेरा' कुछ है, तबतक लेना पड़ेगा।** जब शरीर भी मेरा नहीं है तो फिर क्या चाहिये? विचार करें, शरीरसे अलग होकर हमें क्या चाहिये?

त्याग 'मैं' और 'मेरा'—दोनोंका ही होता है। मैं और मेरा—ये दोनों ही माने हुए हैं, वास्तवमें हैं नहीं। दोष न सत्‌में है, न असत्‌में। दोष 'मैं' और 'मेरा' में है। मनुष्य, देवता, पशु-पक्षी आदि सबमें मैं-मेरापन है।

जबतक शरीरमें मैं-मेरापन है, तबतक जो प्रेम होता है, वह प्रेमका भोग होता है।

××× ××× ××× ×××

अपना उद्धार करना है, दूसरेका ठेका नहीं लेना है। कोई हमारे अनुकूल चलता है, हमारी बात मानता है—यह हमारे लिये बन्धन है। कारण कि मनुष्य अनुकूलतामें ही फँसता है। बन्धन अनुकूलतामें होता है, प्रतिकूलतामें नहीं। मनुष्यका हित प्रतिकूलतामें है।

जो संतोंके, सज्जनोंके परवश नहीं होता, उसे दुष्टोंके परवश होना ही पड़ेगा। स्वतन्त्रतामें परतन्त्रता और परतन्त्रतामें स्वतन्त्रता भरी हुई है। **अच्छे लोग सत्पुरुषोंकी परतन्त्रता चाहते हैं।**

××× ××× ××× ×××

जबतक वस्तु और व्यक्तिसे सुख चाहते हैं, तबतक हम निरपेक्ष नहीं हो सकते। भोग व संग्रहकी कामना रखनेसे फायदा किसी भी तरहका नहीं और नुकसान किसी भी तरहका बाकी नहीं—ये दो बातें याद कर लो।

आप गरीबको एक रुपया देते हैं, वह आपको सौ रुपये देता है (एक गुना दान, सहस्र गुना पुण्य) तो फिर बड़े दाता आप हुए या वह?

××× ××× ××× ×××

आजकल सबको गुरु बननेका शौक है! अनेक गुरु बन गये, अनेक भगवान् बन गये! इससे बड़ी भारी हानि हुई है। साधकके लिये यह पता लगाना कठिन हो गया है कि किसकी बात मानूँ? किसका अनुसरण करूँ? क्या करूँ, क्या न करूँ?

कल्याणप्राप्तिके अनेक उपाय हैं, केवल साधकका उद्देश्य एक होना चाहिये। भोजन तरह-तरहके होते हैं, पर भूख और तृप्ति एक ही होती है। भोजनकी रुचि सबकी अलग-अलग होती है।

वोट-प्रणालीमें मूर्खताकी प्रधानता होती है। जहाँ मूर्ख अधिक होते हैं, वहीं वोट-प्रणाली होती है। वोट-प्रणालीमें भेड़ चरानेवालेका भी एक वोट है और गाँधीजीका भी एक वोट है! ***'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा'!*** आजकल यही दशा है।

××× ××× ××× ×××

घरवालोंकी सेवा करनेसे मोह हो ही नहीं सकता। मोह होता है कुछ-न-कुछ लेनेकी इच्छासे।

घरवालोंसे सेवा ली है, इसलिये उनकी सेवा करके कर्जा उतारना है।

भारत पृथ्वीका हृदय है। जैसे कोई भी भाव हृदयमें ही पैदा होता है, हाथ-पैर आदिमें नहीं, ऐसे ही भगवान् भारतमें ही अवतार लेते हैं।

भले ही शरीरसे कुछ न कर सकें, पर हृदयसे किसीका बुरा न चाहें तो सेवा शुरू हो गयी।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम् कुछ भी मेरा नहीं है—ऐसा मान लो तो इसी क्षण मुक्ति है।

××× ××× ××× ×××

साधन करनेवालोंकी भगवान्‌की ओर 'गति' होती है। संसारमें प्रवृत्ति (क्रिया) होती है।

जबतक संसारको महत्त्व देते रहोगे, तबतक शान्ति नहीं मिलेगी। ज्यों-ज्यों राग मिटेगा और संसारसे सम्बन्ध छूटेगा, त्यों-त्यों शान्ति मिलेगी। जबतक भोग व संग्रहकी रुचि प्रबल रहती है, तबतक शान्ति नहीं मिलती।

भक्ति कभी पूरी अथवा समाप्त नहीं होती। वह तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। भगवान्‌की तरफ खिंचावका नाम 'भक्ति' है।

××× ××× ××× ×××

संसारके साथ निषेधात्मक सम्बन्ध ही रखना चाहिये; क्योंकि संसारके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। अतः निषेधात्मक साधन बहुत ऊँचा है। **भगवान्‌का चिन्तन करेंगे तो संसारका चिन्तन जबर्दस्ती होगा। पर संसारका चिन्तन नहीं करेंगे तो भगवान्‌का चिन्तन स्वतः होगा**। चिन्तन करनेसे मनके साथ, देखनेसे आँखके साथ, निश्चयसे बुद्धिके साथ सम्बन्ध जुड़ेगा। कुछ भी चिन्तन न करें तो स्वरूपमें स्थिति स्वतः होगी। चिन्तन स्वरूपके द्वारा नहीं होता, प्रत्युत मन-बुद्धिके द्वारा होता है।

ज्ञान संसारका ही होता है, परमात्माका नहीं। परमात्माका ज्ञान तो है।

मुक्ति स्वाभाविक है, तभी मुक्ति होती है। बन्धन कृत्रिम है, तभी बन्धन मिटता है।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌ने अपनेमेंसे सृष्टिको प्रकट किया। उन्होंने अपने लिये मनुष्यकी रचना की और मनुष्यके लिये संसारकी। श्रीजी भी भगवान्‌से प्रकट हुईं। श्रीजी तो भगवान्‌के सम्मुख रहीं, पर जीव भगवान्‌से विमुख होकर खेल-सामग्री (संसार) के सम्मुख हो गया। उनमेंसे जिनकी दृष्टि भगवान्‌की तरफ चली गयी, वे भक्त हो गये, साधक हो गये।

हम भगवान्‌से अलग नहीं हुए हैं, प्रत्युत विमुख हुए हैं। हम भगवान्‌से विमुख हो गये—यह पहला बड़ा पाप हुआ। सांसारिक भोगोंमें सुख लेने लगे—यह दूसरा पाप हुआ।

भगवान्‌ने मनुष्यको अपने लिये उत्पन्न किया है। अतः हम भगवान्‌से कहें कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' तो वे राजी हो जाते हैं!

××× ××× ××× ×××

साधकोंके लिये बहुत सावधानीकी जरूरत है कि वह रागपूर्वक प्रवृत्ति न करे और द्वेषपूर्वक निवृत्ति न करे। पैसा कमानेवाला यह नहीं देखता कि यहाँ कोई आदर करता है या नहीं, सुविधा मिलती है या नहीं। वह तो अनादर सहकर, कष्ट सहकर भी पैसा कमाता है। इसी तरह साधक सब कुछ सहकर भी साधन, सत्संग करता रहे। अपनी दृष्टि सत्संग-लाभपर रखे।

जो वस्तुओं और व्यक्तियोंसे सुख भोगना चाहते हैं, वे भगवत्प्राप्ति नहीं कर सकते! सुखभोगकी इच्छा ही पाप है!

बुद्धिमें विवेककी प्रधानता (दृढ़ता) होनी चाहिये, जिससे वह मनको अपने वशमें रख सके।

संग्रहकी रुचिसे भी भोगकी रुचि प्रबल होती है।

ईमानदारीसे कमाये रुपयोंके दानसे ही शुद्धि आती है। अन्यायसे कमाये पूरे-के-पूरे रुपयोंका भी दान कर दो तो भी पाप नष्ट नहीं होंगे।

××× ××× ××× ×××

भगवत्प्रेमके लिये अपनेपनकी जरूरत है। दर्शनोंके लिये उत्कट अभिलाषाकी जरूरत है।

अपना कल्याण चाहनेवालेके लिये सबसे पहली बात है—संसारसे ऊँचा उठ जाय अर्थात् भोग और संग्रहकी इच्छाका त्याग कर दे। इससे भी पहली बात है कि संसारके सुख अच्छे ही न लगें।

सारा संसार 'मैं-पन' में भरा है! संसार माया नहीं है, प्रत्युत मैं-मेरा ही माया है—***'मैं अरु मोर तोर तैं माया'***(मानस, अरण्य० १५।१)। यह माया भगवान्‌की नहीं है, जीवकी है। जीवकृत सृष्टि ही बाँधती है। भगवान्‌की चीजपर कब्जा करनेसे भगवान् नाराज होते हैं। भगवान्‌की चीजको अच्छी तरहसे रखना है, उसका दुरुपयोग नहीं करना है।

कई स्त्रियाँ खड़ी हों तो आप बता नहीं सकते कि किस बालककी कौन-सी माँ है; क्योंकि मेरापन हमारा माना हुआ है।

××× ××× ××× ×××

जीवन्मुक्ति हुई कि नहीं हुई—यह पता लगाना नहीं पड़ता। सूर्य निकला कि नहीं निकला—इसके लिये टार्च लानेकी जरूरत नहीं पड़ती। भोजन करनेपर तृप्ति हुई कि नहीं हुई—इसकी कोई कसौटी नहीं लानी पड़ती।

××× ××× ××× ×××

जिसे तत्त्वज्ञान हो गया, उसे हम भगवान् नहीं मान सकते*। भगवान् समुद्र हैं, सन्त-महात्मा बादल हैं—***'राम सिंधु घन सज्जन धीरा'*** (मानस, उत्तर० १२०।९)। समुद्र समुद्र ही है। **सन्त-महात्माको भगवान् अथवा अवतार कहनेमें उनकी अधिक महिमा नहीं है, प्रत्युत सन्त-महात्मा कहनेमें ही महिमा है। मनुष्य होकर सन्त-महात्मा बन गये—इसमें महिमा है**।

हनुमान्‌जी द्रोणाचल पर्वतको उठा लाये, पर उनको कोई गिरधारी नहीं कहता। परन्तु उसी द्रोणाचल पर्वतके एक टुकड़े गोवर्धनको उठानेसे भगवान् गिरधारी कहलाने लगे! भगवान् कोई छोटा काम भी करें तो उनकी बड़ी महिमा होती है। कारण कि बड़ा आदमी छोटा काम करे तो उसकी बड़ी महिमा होती है।

त्यागसे अपनेमें बड़प्पन दीखता है तो यह त्याज्य वस्तुका बड़प्पन है, अपना नहीं! मलका त्याग करनेपर क्या त्यागका अभिमान आता है?

तेजीका वैराग्य होनेसे भी रसबुद्धि निवृत्त हो सकती है। परन्तु तत्त्वज्ञान होनेपर रसबुद्धि निवृत्त हो ही जाती है—**'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'** (गीता २।५९)। जहाँ धुआँ होता है, वहाँ अग्नि होती है—यह नियम है। परन्तु जहाँ अग्नि होती है, वहाँ धुआँ होता है—यह नियम नहीं है।

तत्त्वज्ञान होनेपर भी जल्दी सन्तोष नहीं होता। जैसे, तत्त्वज्ञान होनेपर भी शुकदेवजीको सन्तोष नहीं हुआ तो व्यासजीने उनको जनकजीके पास भेजा। वहाँ जानेपर उनका वहम मिट गया।

श्रोता—तत्त्व क्या है?

स्वामीजी—तत्त्व है—'है'। 'है' के सिवाय कुछ तत्त्व नहीं। मैं-तू-यह-वह नहीं रहता, पर 'है' रहता है। **'है' का ध्यान सबसे सुगम है और सबसे श्रेष्ठ है।** 'है' के ध्यानकी बहुत महिमा है। हरदम इस 'है' को याद रखो। संसार नहीं है, 'है' ही है।

प्रेममें भगवान्‌को खींचनेकी ताकत है—***'प्रेम बदौं प्रहलादहि को, जिन पाहन तें परमेस्वरु काढ़े'***। भगवान्‌के वशमें प्रेम नहीं है, पर प्रेमके वशमें भगवान् हैं। प्रेम भगवान्‌से भी विलक्षण है।

××× ××× ××× ×××

जो होता है, वह असली भजन होता है। जो करते हैं, वह नकली भजन होता है। आप भगवान्‌के हो जायँ तो भगवान्‌का असली भजन होगा। अभी तो साधककी यह दशा है कि भगवान्‌को याद करते हैं, संसारका चिन्तन होता है।

शरणागति सबसे श्रेष्ठ है। गीताका सार शरणागति है। आज ही यह स्वीकार कर लें कि हम भगवान्‌के

* 'जगद्व्यापारवर्जम्' (ब्रह्मसूत्र ४।४।१७)

हैं। **अपवित्रता इसीलिये है कि हमने अपनेको भगवान्‌का नहीं माना।**

××× ××× ××× ×××

एक तरफ संसार है और एक तरफ परमात्मा। जीव जिसे पसन्द करता है, भगवान् उसे वह वस्तु दे देते हैं। यदि वह भगवान्‌को पसन्द कर ले तो उसका कल्याण हो जाय। परन्तु वह संसारको पसन्द करता है और बँध जाता है—***'सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥'*** (मानस, उत्तर० ११७। २)। पढ़े-लिखे लोग तोतेकी तरह बँधते हैं और अपढ़ लोग बन्दरकी तरह! पाँच विषय, मान, बड़ाई और आराम—इन आठोंको पसन्द करके ही मनुष्य बँधता है। यदि मनुष्य इनको पसन्द न करे तो बन्धन नहीं होगा।

भगवान् परम दयालु हैं। उनकी माया कभी किसीको नहीं फँसाती। उनकी मायाको अपनी मानकर हम ही फँस जाते हैं। जिन वस्तुओंको हम अपनी मान लेते हैं, उन्हींसे बन्धन होता है। बन्धन जीवकृत सृष्टिसे होता है, ईश्वरकृत सृष्टिसे नहीं। जीवकृत सृष्टि है—'मैं' और 'मेरा'।

संसारमें रबड़की गेंदकी तरह रहो, मिट्टीका लौंदा मत बनो। जो चिपकता है, वही फँसता है। गेंद किसीसे नहीं चिपकती। सेवा सबकी करो, पर कहीं चिपको मत।

××× ××× ××× ×××

किसीकी भी निन्दा न करके अपनी उपासना ठीक तरहसे करो। साधनका भेद भले ही हो, पर प्रीतिका भेद न हो। सबके साथ प्रेमका बर्ताव हो। सबके कल्याणका समान भाव हो।

जब हम सबकी बात नहीं मानते, फिर दूसरा हमारी बात न माने तो हम नाराज क्यों हों?

जैसे भिक्षा लेते समय किसी मुसलमानका घर आ जाय तो उसे हम छोड़ देते हैं, ऐसे ही जो बात समझमें न आये, उसे छोड़ दो और जो समझमें आये, उसे करना शुरू कर दो। परीक्षा देते समय भी विद्यार्थी यही करता है कि जो उत्तर उसे आता है, उसे पहले लिखना शुरू कर देता है। जो उत्तर नहीं आये, उसे लेकर बैठा रहेगा तो फेल हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

सन्तोंकी पहचान कोई कर नहीं सकता। जिनके संगसे हमें लाभ हो, दैवी सम्पत्ति आये, भगवान्‌की याद आये, जीवन निर्मल हो जाय, बिना पूछे प्रश्नोंका उत्तर मिल जाय, शंकाओंका समाधान हो जाय, मनमें शान्ति हो जाय तो हमारे लिये वही सन्त हैं। हम सन्तोंकी परीक्षा नहीं कर सकते, पर अपनी परीक्षा कर सकते हैं कि हमारेपर क्या असर पड़ा? **जो हमसे कुछ भी चाहता है, वह हमारा गुरु कैसे हो सकता है?**

××× ××× ××× ×××

जिन्होंने अपना काम ठीक नहीं किया है, वही मरनेसे डरते हैं। जैसे, जिन्होंने अपना काम ठीक नहीं किया, वही विद्यार्थी परीक्षामें मुँह छिपाते हैं!

किसीका भी बुरा सोचना, समझना और करना मनुष्यकी अनधिकार चेष्टा है। मनुष्य भलाई करके भला नहीं बनता, प्रत्युत बुराई छोड़नेसे स्वतः भला बन जाता है। भलाई करना कठिन है, पर बुराई न करनेमें क्या कठिनता है? इसमें किस बल, योग्यता आदिकी आवश्यकता? किसीका बुरा न सोचें, न समझें, न करें तो क्या बाधा लगती है? इसमें क्या जोर आता है?

सबको दण्डवत् प्रणाम करनेकी अपेक्षा भी बढ़िया है—किसीका बुरा न सोचें, न समझें, न करें। कोई बुरा करता दीखे तो समझो कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। ऊपरसे बुराई दीखती है, भीतरसे वही परमात्मा हैं। **बुराई आगन्तुक दोष है। कुत्ता घरमें आ जाय तो क्या वह घरका मालिक बन गया**?

××× ××× ××× ×××

मनुष्यशरीर अन्तिम जन्म है। अब जैसा चाहोगे, वैसी गति हो जायगी। यह स्वतन्त्रता मनुष्यशरीरमें ही है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८।६)

'हे कुन्तीपुत्र! मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।'

××× ××× ××× ×××

कामना स्वाभाविक नहीं है। जैसे व्यसनका त्याग कठिन हो जाता है, ऐसे ही कामनाका त्याग कठिन हो रहा है। हमें व्यसनोंकी तरह कामना, ममता, तादात्म्यकी आदत पड़ी हुई है।

शरीरकी जरूरतका नाम 'कामना' है और शरीरीकी जरूरतका नाम 'आवश्यकता' है। कामना पूरी होनेवाली नहीं होती, प्रत्युत मिटनेवाली होती है। कामना मिटते ही आवश्यकता पूरी हो जाती है।

जड़ता कामनापर टिकी हुई है। कामनाका त्याग होते ही जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

हमारे यहाँ 'शुद्धि' देखी जाती है, अँग्रेजोंके यहाँ 'सफाई' देखी जाती है!

यदि हम किसीकी बुराई कहना, सुनना, समझना त्याग दें तो हम अपने-आप भले हो जायँगे।

संसारकी प्राप्ति और परमात्माकी अप्राप्ति—ये दोनों आपकी दृष्टिमें हैं।

बुराई न करना—यह निषेधात्मक साधन है। दवा लेनेकी अपेक्षा कुपथ्यका त्याग करना सुगम पड़ता है।

××× ××× ××× ×××

माँकी कृपा सबकी कृपासे विलक्षण होती है। भोजन हम करें और माँ प्रसन्न हो जाय! ऐसे ही सन्तोंकी कृपा भी विलक्षण होती है। उद्धार हमारा हो और सन्त प्रसन्न हो जायँ! उन्नति हमारी होती है, राजी वे होते हैं! माल हमें मिलता है, राजी माँ होती है!

पासमें धनके रहते हुए मनुष्य सन्त बन सकता है, पर जिसके भीतर धनकी लालसा है, वह सन्त नहीं बन सकता। अम्बरीष आदि राजा भी भक्त हुए हैं।

जो सब जगह व्याप्त हैं, वे परमात्मा ही हमारे हैं। जो दीखता है, वह (संसार) हमारा नहीं है। उत्पन्न और नष्ट होनेवालेकी तरफ हमारा मन खिंच गया—यह बड़ा दोष है, बड़ी हानि है!

××× ××× ××× ×××

सुखी-दुःखी होना कर्मोंका फल नहीं है। कर्मोंका फल परिस्थिति है, जो जीवन्मुक्तके सामने भी आती है। यदि सुख-दुःख कर्मोंके फल होते तो जीवन्मुक्तको भी सुख-दुःख होते।

जो सुख चाहता है, उसीको दुःख मिलता है। सुखकी आशा, कामना और भोग करनेवालेको दुःख भोगना ही पड़ेगा। दुःख क्या है? सुख चाहना ही दुःख है।

पहले प्रक्रिया-ग्रन्थ पढ़कर फिर गीताको पढ़ोगे तो गीता समझनेमें बाधा लग जायगी। आपकी जैसी धारणा होगी, वही गीतामें दीखने लग जायगी।

कैदीका लक्षण क्या है? काम करे अपनी मर्जीसे और उसका फल (दुःख) भोगे दूसरेकी मर्जीसे। जबतक तत्त्वज्ञान न हो, तबतक सब मनुष्य कैदी हैं।

वास्तवमें जाति-धर्म ही धर्मकी जड़ है। कलियुगका सर्वप्रथम लक्षण बताया है—

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी।
श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥

(मानस, उत्तर० ९८।१)

शास्त्रोंकी बातें जल्दी समझमें नहीं आतीं। जो जाति-व्यवस्था नहीं मानते, उनमें शास्त्रोंको समझनेकी अक्ल नहीं है।

××× ××× ××× ×××

संसारका उद्देश्य रहेगा तो कभी शान्ति नहीं मिलेगी। सुख-सुविधाका ख्याल रहेगा तो शान्ति नहीं मिलेगी। **परमात्मासे विमुख होनेपर इतने दोष पैदा होंगे, जिसका कोई ठिकाना नहीं**! इतने अनर्थ होंगे, इतनी आफतें आयेंगी, जिसको सोच भी नहीं सकते!

भीतरमें लोभ नहीं होगा तो आवश्यक वस्तु अपने-आप आयेगी। यदि लोभ होगा तो आवश्यक वस्तु भी नहीं मिलेगी। जिसके भीतर 'खाऊँ-खाऊँ' लगी रहती है, उसके पास आनेसे वस्तु भी डरती है!

भोगेच्छा अधिक होगी तो पहले जो राक्षस सुने गये हैं, उनसे भी तेज राक्षस हो जायगा! पहलेके राक्षस ब्रह्माजी, शिवजी आदिपर, मन्त्र-जप, तपस्या आदिपर श्रद्धा रखते थे, पर आजकल उतनी भी श्रद्धा नहीं रखते।

××× ××× ××× ×××

मनुष्य घरमें रहते हुए, घरका काम करते हुए सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त नहीं कर सकता—यह वहम गीताने मिटा दिया है। गीता व्यवहारमें परमार्थकी कला बताती है।

मुझे सुख-आराम मिले—यह जड़ता है। दूसरेको सुख-आराम मिले—यह चिन्मयता है।

बड़ा वह है, जो दूसरोंको बड़ा बनाता है। जो दूसरोंको छोटा बनाता है, वह गुलाम है।

गायको सुई लगाकर दूध लेना उसका रक्त लेनेकी तरह है। आजकल गर्भपात-जैसे भयंकर महापाप हो रहे हैं। ये बातें सुननेकी अपेक्षा तो मर जाना अच्छा है!

××× ××× ××× ×××

सत्संग करनेसे संसारका काम बढ़िया होता है। बाहरसे साधु बननेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् भावग्राही हैं। स्वार्थका, लेनेका भाव ही पतन करनेवाली चीज है। चाहे साधु हो या गृहस्थ, लेनेकी इच्छा ही पतन करनेवाली है। भोग तथा संग्रहकी इच्छा ही बाधक है। यदि बाहरसे वस्तु-व्यक्तियोंके त्यागसे कल्याण होता हो तो मरनेवाले सबका कल्याण होना चाहिये।

लेना-ही-लेना पशुओंका, देना-ही-देना भगवान्का और लेना-देना मनुष्योंका होता है। जो लेना बन्द करके देना शुरू कर दे, वह साधक होता है।

समर्थ वह है, जो दूसरोंकी असमर्थता दूर करके उन्हें समर्थ बनाये। दूसरोंको असमर्थ बनानेवाला समर्थ नहीं होता।

सन्तोष काम, क्रोध और लोभ—तीनोंको नष्ट करता है।

××× ××× ××× ×××

क्रिया और पदार्थसे सम्बन्ध-रहित होना ही मुक्ति है। संसार 'मैं' से पैदा होता है। 'मैं' प्रकृतिका है और 'हूँ' परमात्माका है। 'मैं' परा प्रकृति है और 'हूँ' अपरा प्रकृति है। मैं-मेरा ही माया है, जो जीवकृत है। इस जीवकृत सृष्टिसे ही बन्धन होता है। 'मैं' न रहे तो 'है'-तत्त्व रहेगा, 'हूँ' नहीं रहेगा। संसारमें 'है' नहीं है, प्रत्युत 'है' में संसार है। इस 'है' में स्थित हो जायँ। 'है' में स्थिति ही मुक्ति है।

वस्तुके बाद 'है' नहीं है, प्रत्युत 'है' के बाद वस्तु है।

श्रोता—सुषुप्ति और समाधिमें क्या फर्क है?

स्वामीजी—सुषुप्तिमें वृत्तियाँ लीन होती हैं, पर समाधिमें वृत्तियोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है।

××× ××× ××× ×××

संसारमात्रमें जड़ और चेतन—ये दो विभाग हैं। जड़के साथ चेतन है, पर चेतनके साथ जड़ नहीं है; क्योंकि जड़की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

सम्पूर्ण सृष्टि स्वाभाविक एक-दूसरेके लिये है। इसे केवल अपने लिये मान लेना खास गलती है। सभीका जीवन दूसरेके लिये है, अपने लिये नहीं। साधु गृहस्थके लिये है, गृहस्थ साधुके लिये है। ऐसे ही वर्णोंमें भी सब वर्ण एक-दूसरेकी पूर्तिके लिये हैं, अपने सुखभोगके लिये नहीं। मनुष्यजीवन दूसरोंको सुख देनेके लिये है। दूसरोंको सुख देनेसे आपको आनन्द मिलेगा। **दूसरेके जीवनको अपने लिये न मानें, प्रत्युत अपना जीवन दूसरेके लिये मानें**। माता-पिता बालकके लिये हैं। बालक माता-पिताके लिये है। इस भावसे व्यवहार भी बढ़िया होगा और कल्याण भी हो जायगा। हम असंग हो जायँगे।

साधक वह होता है, जो लेनेकी इच्छाका त्याग

करता है। केवल व्याख्यान देनेसे कल्याण नहीं होता, हमारा जीवन वैसा होना चाहिये।

अभी जो समय मिला है, वह भजन करनेके लिये है। फिर न जाने क्या हो जाय! अभीसे भगवान्‌में लग जाना चाहिये। एक अँगुली कट जाय तो पुनः नहीं मिलती तो क्या मानवशरीर पुनः मिल जायगा? उसमें भी सत्संगका मौका मिलना बहुत दुर्लभ है।

भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११); परन्तु रुपये ऐसा नहीं कहते। ऐसा होनेपर भी आप रुपये कमा लेते हो तो क्या भगवान्‌को प्राप्त नहीं कर सकते?

××× ××× ××× ×××

परमात्मप्राप्ति प्रारब्धके अधीन नहीं है। परमात्मप्राप्तिकी चाहना तब पूरी होगी, जब संसारकी कोई कामना नहीं रहेगी।

जिसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते, ऐसा विलक्षण आनन्द इसी जन्ममें प्राप्त हो सकता है। परमात्मप्राप्ति ही मनुष्यजन्मका वास्तविक फल है। इसके सिवाय धन आदि कुछ काम नहीं आयेंगे। वे दुर्गति करने, विपत्ति देने, दुःख देनेमें ही काम आयेंगे, कल्याणके काम नहीं आयेंगे।

××× ××× ××× ×××

जैसे हम शरीरके किसी भी अंगकी पीड़ा नहीं चाहते, सभी अंगोंमें आराम चाहते हैं, ऐसे ही संसारके प्रति भी भाव हो। अथवा जैसे संसारके सुख-दुःखकी परवाह नहीं होती, ऐसे ही अपने शरीरकी भी परवाह न हो। कारण यह है कि संसार और शरीर एक तत्त्व हैं। शरीर और संसारको अलग-अलग मानना अज्ञान है, भूल है।

अपने शरीरकी अपेक्षा भी संसारकी ज्यादा परवाह करें, तब समता आ जायगी। यदि शरीर तथा संसारकी समान परवाह करोगे तो शरीरका पक्षपात आ जायगा; क्योंकि पहलेसे ही ऐसी आदत पड़ी हुई है।

वैद्य सबको एक ही दवा नहीं देता, प्रत्युत यथायोग्य दवा देता है तो यह उसकी विषमता नहीं मानी जाती। सबके प्रति हितबुद्धि होनी चाहिये।

××× ××× ××× ×××

गीताने भगवान्‌का समग्र-रूप बताया है। अपना वर्णन करनेमें स्वयं भगवान् भी असमर्थ हैं; क्योंकि वे अनन्त, अपार, असीम हैं। वे लौकिक-अलौकिक सब कुछ हैं। भगवान् गोपाल छोटे-से होनेपर भी कितने बड़े हैं—इसका पता नहीं लगा सकते। उनके छोटे-से मुखोंमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं।

हम भगवान्‌को जैसा सगुण या निर्गुण मानते हैं, वे वैसे सगुण या निर्गुण नहीं हैं। यदि वे वैसे ही होते तो यह मानना पड़ता कि हमें उनका ज्ञान हो गया! जो कि सर्वथा असम्भव है।

भगवान्‌को कोई 'नराकार' कहता है, कोई 'निराकार' कहता है और कोई 'नीराकार' (गंगा-रूप) कहता है! भगवान् सब कुछ हैं।

जब अग्नि, जल आदि भी साकार और निराकार दोनों हो सकते हैं तो क्या भगवान् उनसे भी कमजोर हैं कि साकार नहीं हो सकते?

मिश्री मीठी है, पर कैसी मीठी है—यह वर्णन नहीं कर सकते, फिर परमात्माका वर्णन कैसे कर सकते हैं? **परमात्माको जान नहीं सकते, पर मान करके प्राप्त कर सकते हैं।** अपने मानवजीवनको पूर्ण कर सकते हैं। जीवन्मुक्त हो सकते हैं।

××× ××× ××× ×××

अपने लिये करना राक्षसी स्वभाव है। मनुष्यशरीर केवल दूसरोंके लिये है। सृष्टिकी रचना इसी ढंगसे हुई है। भगवान् भी नर-नारायणरूपसे सबके हितके लिये तप करते हैं। सब वर्ण, आश्रम आदि केवल दूसरोंके हितके लिये हैं। मुक्ति भी अपने लिये नहीं है, दूसरोंके लिये है। खाना-पीना भी अपने लिये नहीं है। शरीरकी क्रियाएँ भी शरीरके हितके लिये हैं, अपने लिये नहीं।

अपना जीवन इस तरह बनाओ कि प्रत्येक क्रिया

दूसरोंके हितके लिये हो। इससे प्रेमकी वृद्धि होगी। यह भारतीय संस्कृति है—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।

(गीता ३। ११)

'तुमलोग एक-दूसरेको उन्नत करते हुए परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

भगवान् श्रीरामने अंगदको रावणके पास भेजते समय कहा—

काजु हमार तासु हित होई।
रिपु सन करेहु बतकही सोई॥

(मानस, लंका० १७। ४)

अपना-अपना सुख चाहेंगे तो सभी दुःखी हो जायँगे। छोटी-से-छोटी क्रियामें भी दूसरेके हितका भाव हो। सबके हितके लिये कर्म करनेवालेका अहित हो ही नहीं सकता। सबके हितका भाव होनेसे स्वतः त्याग होगा।

घरमें 'मैं करूँ, मैं करूँ'—यह भाव हो जाय तो काम कम और व्यक्ति ज्यादा हो जायँ! यदि 'तू कर, तू कर'—यह भाव हो जाय तो काम ज्यादा और व्यक्ति कम हो जायँ, फिर नौकर रखना पड़े!

××× ××× ××× ×××

अपने लिये कुछ करनेकी जरूरत नहीं है। जो कुछ करे, दूसरोंके लिये करे। यह मनुष्यलोक दूसरोंकी सेवाके लिये ही है। **यह मनुष्यलोक मध्यमें है, जिससे यह स्वर्ग-पातालके सब जीवोंकी सेवा कर सके**। अपना सुख चाहनेसे सुख नहीं होता। अपना हित चाहनेसे हित नहीं होता। यह सृष्टि-रचनाकी एक विलक्षणता है, जो भारतवर्ष ही जानता है। औरोंको इसका पता नहीं है!

अपने पास जो कुछ है, वह अपने लिये नहीं है—**'इदं ब्रह्मणे न मम'**। अपने लिये सुख चाहना राक्षसी प्रवृत्ति है—**'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'** (गीता ३। १३)। **बिना कारण सिर काटनेवाले इन्द्रको भी दधीचिने अपनी हड्डियाँ दे दीं! यह भारतीय संस्कृति है!**

धनी व्यक्ति धर्मका ज्यादा पालन नहीं कर सकता। गरीब जितना दान कर सकता है, उतना धनी नहीं कर सकता। चींटीमें जितना बल होता है, उतना हाथीमें नहीं होता।

साधुको धनीके पास जानेकी क्या जरूरत है? कोई जरूरत नहीं है। हमें धनियोंसे भिक्षा मिलती है तो हमारा भाग्य फूटा है! धनके मदसे अन्धे क्या दान-पुण्य करेंगे?

××× ××× ××× ×××

'संसार है'—यह 'नहीं' में 'है'-बुद्धि है। वस्तुतः 'है' में संसार है। सजातीय इन्द्रियाँ-अन्तःकरणसे ही संसार दीखता है। स्वयंसे 'है' दीखेगा।

निर्जीव वस्तुका भी निरादर, अपमान, तिरस्कार मत करो। निरादर करनेसे निर्जीव वस्तु भी नष्ट, खराब हो जाती है। किसीका भी अपमान करोगे तो भगवान् राजी नहीं होंगे; क्योंकि सब भगवान्‌का ही विराट्‌रूप है।

निर्दोषता नित्य है। निर्दोषताके बिना दोष दीखता ही नहीं। जिससे दोष दीखता है, वह निर्दोष है। जो हमसे दूर है, वही दीखता है। सत्‌से ही असत् दीखता है।

××× ××× ××× ×××

भारतवर्षमें पैदा होकर भी मनुष्य भगवान्‌में नहीं लगते—इसका मुझे बड़ा आश्चर्य होता है! ऋषि-मुनियोंकी सन्तान होनेसे यहाँके मनुष्योंकी बुद्धि बहुत विचित्र है, पर आज वे रुपयोंमें लग गये! भारतमें इतनी जड़ी-बूटियाँ मिलती है, जिससे वह संसारमात्रको नीरोग कर सकता है।

××× ××× ××× ×××

सुखकी इच्छा ही सम्पूर्ण पापोंका आधार है। सुखकी इच्छा होनेसे होश नहीं रहता और मनुष्य पाप कर बैठता है। सुखकी इच्छासे व्यवहार और परमार्थ—दोनों बिगड़ते हैं। ऐसा कोई दोष, अवगुण नहीं है, जो इससे पैदा न होता हो।

यदि वस्तु अपनी है तो क्या सदा साथ रहेगी?

वह अपने लिये है तो क्या उसके मिलनेसे हमारी तृप्ति हो गयी? यदि अपनी असली वस्तु मिल जायगी तो फिर अन्य किसीकी इच्छा नहीं रहेगी। यदि इच्छा रहती है तो हमारी वस्तु हमें मिली नहीं। हमारी असली भूख परमात्मतत्त्वकी है। उसीकी प्राप्तिके लिये यह सत्संग है।

भोगी खुद बनना चाहते हैं और त्यागी दूसरोंको देखना चाहते हैं—यह गलती है। आप उसे वस्तु देना चाहते हैं, जो त्यागी हो, तो फिर आप त्यागी क्यों नहीं हो जाते?

××× ××× ××× ×××

ज्ञान किसीके अधीन नहीं है। यदि ज्ञान किसी व्यक्ति, ग्रन्थ आदिके अधीन होता तो 'मनुष्यमात्रका कल्याण हो सकता है'—यह बात कैसे सिद्ध होती? जो चाहे, उसीको ज्ञान हो सकता है। पापी-से-पापीको भी ज्ञान हो सकता है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥

(गीता ४।३६)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'

जो शरीर, वर्ण-आश्रमको लेकर अपनेको ऊँचा मानता है, उसे तत्त्वज्ञान कैसे हो सकता है? तत्त्वज्ञान जड़ताके द्वारा नहीं होता, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होता है। साधु-संन्यासी, गृहस्थ, ब्रह्मचारी आदिको ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत जिज्ञासुको ज्ञान होता है। **तत्त्वज्ञानमें बाधक है—अभिमान और कामना।**

जिसे धनकी चाहना है, वह धनसे नीचा है। जो धन, विद्या, बल, बुद्धि, योग्यता आदिको लेकर अपनेको बड़ा मानता है, वह नीचा होता है। जिसकी हमें गरज होती है, उससे हम नीचे होते हैं। **जो भगवान्‌की गरज या चाहना करता है, वह भगवान्‌से नीचा होता है, और जो भगवान्‌से नीचा होता है, वह संसारसे ऊँचा होता है।**

भगवान् किसीको भी अपनेसे नीचा नहीं बनाते—**'यहि दरबार दीनको आदर, रीति सदा चलि आई।'** (विनय० १६५।५)। जो भगवान्‌की गरज करता है, उसे भगवान् अपनेसे ऊँचा बनाते हैं!

संसारकी इच्छा रहनेसे ही परमात्माकी इच्छा करनी पड़ती है। संसारकी इच्छासे न संसार मिलता है, न परमात्मा। संसारकी इच्छा मिटनेपर परमात्माकी प्राप्ति स्वतः है। संसार और परमात्मा—दोनोंकी इच्छाएँ जड़ताकी इच्छापर अवलम्बित हैं। हृदयसे नाशवान्‌का महत्त्व निकला कि परमात्माकी प्राप्ति हुई!

जो निरन्तर आपसे अलग हो रहा है, उसीसे अलग होना है। जो सदा प्राप्त है, उसीकी प्राप्ति करनी है।

संसारकी जिस चीजको आप बड़ी मानते हैं, उसका बड़प्पन यही है कि आपको परमात्मप्राप्ति नहीं होने देगी और खुद रहेगी नहीं!

परमात्मा जितने सस्ते हैं, उतनी मौत भी सस्ती नहीं है!

जो रहेगा नहीं, उसके रहनेकी इच्छा छोड़ दो। नाशवान्‌की इच्छासे जितना नुकसान होता है, उसका कोई पार नहीं पा सकता। फायदा कुछ भी नहीं, नुकसान कुछ भी बाकी नहीं!

अपनी धारणासे ही हम परमात्मप्राप्तिसे वंचित हैं। यहाँसे मिली चीज यहाँ ही वितीर्ण करनेके लिये है।

विचार करें। रुपये मिल जायँ—इस इच्छासे क्या रुपये मिल जायँगे? रुपये बने रहें—इस इच्छासे क्या रुपये बने रहेंगे?

उद्देश्य बननेसे साधन स्वतः होता है। जैसे, इनकम-टैक्ससे बचनेका उद्देश्य होता है तो तरह-तरहकी चोरी करना स्वतः सीख जाते हैं।

××× ××× ××× ×××

अपने इष्टको सर्वोपरि समझना चाहिये और तत्त्वसे सबको एक समझना चाहिये। भगवान्‌को किसी नाम-रूपसे मानें, भगवान् एक ही हैं। संसारमात्रका

उपास्य-तत्त्व एक ही परमात्मा हैं।

भगवान् साक्षात् प्रकट हों या स्वप्नमें अथवा ध्यानमें प्रकट हों, वे एक ही हैं। अवस्था हमारेमें है, भगवान्में नहीं। भगवान् सभी अवस्थाओंमें हैं। अवस्थाएँ हमारी दृष्टिमें हैं।

यदि 'है'-रूपसे परमात्माको ही मानें तो कौन-सा रूप बाकी रहा? संसारमें भी 'है' रूपसे परमात्मा ही हैं। सत्तारूपसे केवल परमात्मा ही हैं। वही परमात्मा अनेक रूपसे हैं। **अनेक रूपोंमें भगवान् तथा उनका लोक (साकेत, गोलोक आदि) एक ही है**। भक्तकी निष्ठा, रुचिसे भेद होता है।

साधक यही खयाल रखे कि नाशवान्का चिन्तन न हो। मनमें जो भी ध्यान आये, उसे भगवान्का ही रूप माने। ऐसा मान ले कि मनमें जो भी रूप आयेगा, वह भगवान्का ही रूप होगा और मन जहाँ भी जायगा, भगवान्में ही जायगा।

सबमें एक परमात्माको देखनेवाला 'समदर्शी' है। वह समरूपसे परमात्माको देखता है। वह सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करता है, पर निरादर किसीका भी नहीं करता। उसे पूरे शरीरका आराम सह्य है, पर पीड़ा किसी भी अंगकी सह्य नहीं है।

गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान् श्रीरामको बड़ा कहा, पर छोटा किसीको नहीं कहा। बड़ा कहनेमें दोष नहीं है, दूसरेको छोटा कहनेमें दोष है।

××× ××× ××× ×××

अपने उद्धार और पतनमें मनुष्य खुद ही कारण है, इसीलिये भगवान् कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(गीता ६।५)

'अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे; क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

यदि अपने उद्धार और पतनमें दूसरा कारण होगा तो उद्धार कभी हो सकेगा नहीं। वास्तवमें दूसरा सुख-दुःख दे सकता ही नहीं। अपने ही किये हुए कर्मोंके फलसे परिस्थिति आती है। दूसरेको सुखदायी-दुःखदायी मान लेना गलती है।

आपके माने बिना गुरु उद्धार कैसे करेगा? आप गुरुको स्वीकार करोगे, तभी उद्धार होगा। अनादिकालसे सन्त होते आये हैं, भगवान्के अवतार भी अनेक हुए हैं, फिर आपका उद्धार क्यों नहीं हुआ? क्योंकि आप उनके सम्मुख नहीं हुए, आपने उन्हें स्वीकार नहीं किया।

सत्संग कर्मका फल नहीं है। यह कृपासे अथवा अपने उद्योगसे मिला है। आपका अपना विचार न हो तो सुबह उठकर कौन सत्संगमें आये?

मनचाही किसीकी नहीं होती। यदि चोर-डाकूकी मनचाही हो जाय तो क्या वे किसीके पास धन रहने देंगे? जो वस्तु हमारी है, उसे कोई दूसरा नहीं ले सकता।

जन्म-मरणका कारण गुणोंका संग है, वह आप ही करते हो। पाप-पुण्य भी आप करते हो। विधाता पाप-पुण्यका फल देता है तो कृपापूर्वक ही देता है।

संग्रह करनेकी इच्छासे संग्रह नहीं होता, फिर संग्रहकी इच्छा करें ही क्यों? इच्छा न करनेपर भी आनेवाली वस्तु आयेगी ही।

××× ××× ××× ×××

सुननेवालोंकी श्रद्धा-भक्तिसे कहनेवालेको शक्ति मिलती है।

हिन्दूधर्म एक वैज्ञानिक संस्कृति है। भगवान्ने भी इसको उत्पन्न नहीं किया है। वे इसके रक्षक हैं। ऋषि भी मन्त्रोंके द्रष्टा थे, रचयिता नहीं। वर्णाश्रमकी व्यवस्था वैज्ञानिक है। हिन्दू-संस्कृतिके मूलमें कोई व्यक्ति नहीं है। यह स्वाभाविक धर्म है, सनातन धर्म है, अनादि धर्म है।

जो स्वतःसिद्ध वास्तविक ज्ञान है, उसका नाम 'वेद' है। वह ज्ञान पैदा नहीं होता। हम गणित, व्याकरण, संगीत आदि सीखते हैं तो उस विषयमें हमारा ज्ञान जाग्रत् होता है, पैदा नहीं होता।

गुरु शिष्यको ज्ञान नहीं देता, प्रत्युत शिष्यके भीतर विद्यमान ज्ञानको ही जाग्रत् करता है।

जो विचारके द्वारा न मिटा सकें, उसे करके मिटा दें, इसलिये गृहस्थमें जाते हैं।

नेता, गुरु और शासक—तीनों अलग-अलग होते हैं। नेता शासक नहीं बन सकता।

जो बूढ़े होकर, साधु होकर भजन नहीं करते, उनपर भगवान्‌को बड़ा क्रोध आता है। बेटा-बेटीका विवाह हो जाय तो भजनमें लग जाना चाहिये।

××× ××× ××× ×××

कुछ 'करने' से उद्धार होगा—यह बात सच्ची नहीं है। उद्धार स्वतः है, जन्म-मरण (बन्धन) आगन्तुक है। मुक्ति स्वाभाविक है। अस्वाभाविकताको मिटाना है। काम-क्रोधादि हमारेमें हैं—यह मत मानो, इतनी ही बात है! यदि ये हमारेमें होते तो हरदम रहते। जबतक हम रहते, तबतक मिटते नहीं। दोष हमारेमें नहीं हैं। ये हमारेमें नहीं हैं, तभी मिटते हैं।

हमारेमें दोष नहीं हैं—इतना माननेसे उनकी जड़ कट गयी। कोई भी दुर्गुण-दुराचार सबमें सदा नहीं रहता और सबके लिये नहीं रहता। हमारेमें दोष नहीं है—यह सच्ची बात है। **सच्ची बातको स्वीकार कर लो—यह सत्संग हो गया।** गीतामें आया है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २।५९)

'निराहारी (इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेवाले) मनुष्यके भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रस निवृत्त नहीं होता। परन्तु परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेसे इस स्थितप्रज्ञ मनुष्यका रस भी निवृत्त हो जाता है अर्थात् उसकी संसारमें रसबुद्धि नहीं रहती।'

विषय निवृत्त हो जाते हैं, पर रस निवृत्त नहीं होता—यह तत्त्व नहीं है, प्रत्युत साधककी अवस्था है। जो स्वयंमें होता है, वह कभी निवृत्त नहीं होता। मिटता वही है, जो नहीं है। यदि रस हमारेमें होता तो कभी निवृत्त नहीं होता। परन्तु स्वयं तो रहता है, पर रस निवृत्त हो जाता है—**'परं दृष्ट्वा निवर्तते'।**

सबका अनुभव है कि काम-क्रोध कम होते हैं, पर आप कम होते हैं क्या? जो कम होता है, वही मिटता है। त्याग आगन्तुकका ही होता है। मेरेमें दोष नहीं हैं—यह स्वीकार करनेकी आपमें पूरी सामर्थ्य है।

श्रोता—अपनेमें असमर्थता दीखती है!

स्वामीजी—जो चीज दीखती है, वह आपसे दूर होती है। वह न आपमें है, न आपके नजदीक है। जो चीज अपनेमें होती है, वह दीखती नहीं—**'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** (बृहदा० २।४।१४) 'सबके विज्ञाताको किसके द्वारा जाना जाय?'।

हनुमान्‌जीकी तरह आप अपने सामर्थ्यको भूले हुए हैं! आपकी अपने सामर्थ्यकी तरफ दृष्टि नहीं है। हनुमान्‌जीको एक ही बात याद थी कि मैं रामजीका सेवक हूँ, इसलिये ***'राम काज लगि तव अवतारा'*** सुनते ही जागृति हो गयी।

राग-द्वेष अवस्था है। आप किसी अवस्थामें नहीं रहते, कोई अवस्था आपमें नहीं रहती। आप मायाके, काम-क्रोधके बेटे नहीं हो, प्रत्युत परमात्माके बेटे हो। परमात्माके बेटेको क्या काम-क्रोध दबा सकते हैं?

××× ××× ××× ×××

चेला बनानेका अधिकार उस गुरुको है, जो उसका कल्याण कर सके, अन्यथा उसे दण्ड होगा। सन्तकी चरण-रजका असर नहीं पड़ता, भावका असर पड़ता है।

साधकका काम है—असत्‌को सत्ता देकर महत्ता न दे। महत्ता बाँधनेवाली है। महत्ता मिटनेपर बन्धन नहीं रहेगा, चिन्मयता रह जायगी।

असत् सिनेमाकी तरह है। उसमें संसार तो चित्रकी तरह है और परमात्मतत्त्व परदेकी तरह। सब व्यवहार दीखता है और मिट जाता है, पर परदा ज्यों-का-त्यों रहता है।

संसारकी महत्ता दोषजनित है। अपनेमें दोषके कारण ही महत्ता दीखती है। अपनेमें काम-रूप दोष होता है तो स्त्री अच्छी दीखती है, लोभ-रूप दोष

होता है तो रुपये अच्छे दीखते हैं। भूखके कारण ही भोजन अच्छा लगता है। संसारको महत्ता देनेसे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं।

लेना-ही-लेना जड़ता है। देना-ही-देना चिन्मयता है। भगवान् और उनके भक्त देते-ही-देते हैं। जो लेता और देता है, वह मनुष्य है। जो लेना बन्द करके देना शुरू कर दे, वह साधक हो जाता है।

××× ××× ××× ×××

गीता भगवान्के द्वारा योगमें स्थित होकर कही गयी है। युक्तयोगी होनेपर भी भगवान्ने गीता विशेषतासे कही है। गीताकी पुष्पिकामें 'उपनिषत्सु' बहुवचन देनेका तात्पर्य है कि सभी उपनिषदोंमें गीता एक है। गीता अनादि है—**'इमं विवस्वते योगम्'**, यह अव्यय है—**'प्रोक्तवानहमव्ययम्'** (गीता ४।१)। **कोई सच्ची, तत्त्वकी बात जानना चाहे तो वह उसे गीतामें मिलेगी**। गीता-माताकी गोद सबके लिये खुली है। गीताके अनुसार मनुष्यमात्र भगवान्की प्राप्ति कर सकता है।

हमारी संस्कृति सब कार्य धर्मके अनुसार करनेकी है। इसीलिये हम हरेक काममें ब्राह्मणसे पूछते हैं। आप जो-जो काम करते हैं, उसमें यह भाव बना लें कि मैं भगवान्की पूजा करता हूँ। यह आज नियम ले लें। शौच-स्नान आदि भी भगवान्का पूजन समझकर करें। यह शरीर भगवान्का है, इसलिये इसको साफ करना भी भगवान्का ही पूजन है।

गीता और रामायणमें शरणागतिकी बात विशेष आयी है। शरणागतकी रक्षा करना क्षत्रियोंका मुख्य कर्तव्य है। भगवान्के शरण होना और सबकी सेवा करना—ये दो खास बातें मान लें। **अपने लिये कुछ नहीं करना है और भगवान्से सम्बन्ध जोड़नेके लिये भी कुछ नहीं करना है**।

××× ××× ××× ×××

गीतामें भक्तिकी विशेषता है। भक्तिमें भगवान् भक्तके विशेष संरक्षक होते हैं, उसका विशेष खयाल रखते हैं।

यदि साधक कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इनमें किसीका पक्षपात न रखे तो एक साधनकी सिद्धिसे तीनोंकी सिद्धि हो जाती है। भक्तिके साथ ज्ञान और वैराग्य भी आ जाते हैं। अपने सुखसे सुखी कोई भी योगी नहीं होता।

××× ××× ××× ×××

ज्ञात अथवा अज्ञात सभी पापोंका सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त है—नामजप। इससे भी श्रेष्ठ उपाय है—सत्संग।

मनुष्यशरीर अपना कल्याण करनेके लिये ही मिला है। उस मनुष्यजन्मको पापोंमें नष्ट करना बड़ी भारी हानि है। उस हानिका मुझे बड़ा दुःख होता है, इसीलिये मैं परिवार-नियोजनका विरोध करता हूँ। **कल्याणका सुगम उपाय जितना हिन्दूधर्ममें बताया गया है, उतना अन्य किसी भी धर्ममें नहीं**। उस हिन्दूधर्मका ह्रास होनेसे मानवजातिकी कितनी बड़ी हानि होगी! मेरे मनमें बड़ी पीड़ा होती है, उस पीड़ाको दूर करनेके लिये मैं कहता हूँ। परिवार-नियोजन केवल अर्थशास्त्रका एक अंश है, जो धर्मसे विरुद्ध है। यह मोक्षशास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्रकी भी बात नहीं है। इससे जनताका हित तो होगा नहीं, सरकारका भी हित नहीं होगा। धर्मसे विरुद्ध अर्थशास्त्र हमारे कामका नहीं है।

संग्रहकी इच्छासे भी भोगकी इच्छा ज्यादा खराब है। पशु बिना किसी शिक्षाके अपने धर्म, मर्यादाके अनुसार चलते हैं। मनुष्यको स्वतन्त्रता दी गयी है अपने कल्याणके लिये, पर उसने लगा दिया पापोंमें!

भले ही रूखी-सूखी रोटी खाकर निर्वाह कर लो, पर कर्जा कभी मत लो।

××× ××× ××× ×××

जो चीज स्वतः होती है, वह स्वाभाविक होती है। आगन्तुक चीज अस्वाभाविक होती है। स्वाभाविक रहनेवाली चीज आपकी स्थिति है। आपका स्वरूप स्वाभाविक है। गलती है—स्वाभाविकताका निरादर और अस्वाभाविकताका आदर। अस्वाभाविक चीजकी उपेक्षा करें।

निर्विकारता हरदम रहती है। निर्विकार तत्त्वसे ही विकार दीखते हैं। विकारोंको महत्त्व देना गलती है। विकार आने-जानेवाले हैं। विकारके समय भी आप निर्विकार रहते हैं। निर्विकारता कभी नष्ट नहीं होती। अपने स्वरूपमें रहो, बहनेवालेके साथ मत बहो—***'रहता रूप सही कर राखो, बहता संग न बहीजे।'*** जैसे लहरें समुद्रके ऊपर हैं, भीतर नहीं, ऐसे ही काम-क्रोधादि विकार आपके भीतर नहीं हैं। स्वाभाविकताकी ओर दृष्टि सत्संगके समय जाती है।

विकार आये तो उसकी उपेक्षा करो। विरोध करनेसे उसकी सत्ता दृढ़ होगी।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यशरीरमें आकर परमात्माकी प्राप्ति कर लेना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। मनुष्यशरीर उन्हें मिला है, जो अपना कल्याण कर सकते हैं। अतः परमात्मप्राप्तिसे निराश होना और संसारकी आशा करना गलती है। हमारी रचना भगवान्‌ने उद्धारके लिये की है। भगवान्‌ने कल्याणकी सामग्री भी पूरी दी है। अविनाशी परमात्मा भाग्यसे नहीं मिलते, प्रत्युत हमारी लगनसे मिलते हैं।

हमारे मनकी बात पूरी होने अथवा न होनेको ही सुख-दुःख कहते हैं।

गीताभरमें ज्ञानी, भक्त आदिके जितने लक्षण बताये गये हैं, उनमें सार चीज है—समता।

लगनका अभाव है, परमात्माका अभाव नहीं है। कच्ची चीजकी लगन भी कच्ची होती है। सच्ची वस्तुके लिये लगन भी सच्ची होनी चाहिये।

××× ××× ××× ×××

संसारमें जितने भी श्रेष्ठ भाव हैं, आचरण हैं, उनके मूलमें कोई-न-कोई सन्त ही है। भगवान्‌के अवतारके भी मूलमें सन्त ही हैं। सन्त-रूपसे साधु भी होते हैं, गृहस्थ भी। सन्त वेश नहीं होता, भाव होता है। ऋषि-मुनि प्रायः गृहस्थ ही थे। उनमें त्याग, तप, भगवद्विश्वास और तात्त्विक अनुभव था। सब जातियोंमें, वर्णोंमें, आश्रमोंमें सन्त-महात्मा हुए हैं। सभी सम्प्रदायोंमें सन्त-महात्मा हुए हैं। उनमें पक्षपात नहीं था। सन्त अवधूत-कोटिके भी होते हैं और आचार्य-कोटिके भी।

सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) पर सन्त श्रीमंगलनाथजी महाराजका असर पड़ा था। वे उनको भावसे गुरु मानते थे। सेठजी अपना भजन गुप्त रखते थे। वे कहते थे कि प्रह्लादजीने अपना भजन प्रकट कर दिया, तभी उनपर इतने विघ्न आये।

××× ××× ××× ×××

नित्यप्राप्तकी प्राप्ति स्वतः है। नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति स्वतः है। अतः चुप हो जायँ। किसीका भी चिन्तन न करें। चिन्तन हो जाय तो उसको न अच्छा समझें, न बुरा समझें, न अपनेमें समझें। **चुप होनेसे सीधे अपने-आपमें स्थिति होती है।**

भगवान्‌को अपने द्वारा स्वीकार करना है, मन-बुद्धिके द्वारा नहीं। अपने द्वारा स्वीकार करनेसे विस्मृति नहीं होती। जैसे, विवाह करनेपर फिर उसे याद नहीं करना पड़ता और विस्मृति भी नहीं होती।

संसार 'मैं' से शुरू होता है। 'मैं' से विमुख होते ही तत्त्व प्राप्त हो जाता है।

××× ××× ××× ×××

मृत्यु होनेपर गीताको उसके सिरहाने रखें। पीछे उसे गंगाजीमें बहा दें, जलायें नहीं।

विवेक और वैराग्यकी आवश्यकता सभी साधनोंमें है। ऐसे ही विश्वासकी आवश्यकता भी सब जगह है। माता-पिता आदिको विश्वाससे ही मानते हैं। ज्ञानमार्गमें विवेककी और भक्तिमार्गमें विश्वासकी प्रधानता है।

धनके बलसे धनके गुलामको बुला सकते हैं, महात्माको नहीं। धनसे जो चीज मिलती है, वह धनसे कम कीमती होती है। यदि किसी मूल्यके बदले सत्संग खरीदा जा सके तो सत्संग उस मूल्यसे छोटा सिद्ध होगा।

नामजपसे प्रारब्ध बदल जाता है, अच्छे सन्त-महापुरुष मिल जाते हैं, भगवान् मिल जाते हैं! 'राम-नामकी लूट है, लूट सके तो लूट!' राम-नामकी लूट

अपने ही धनकी लूट है, पराये धनकी नहीं। उसपर हमारा पूरा अधिकार है। लूटका अर्थ है—मुफ्तमें चाहे जितना ले लो। यह किसी गुरुके अधीन नहीं है।

××× ××× ××× ×××

पारमार्थिक कार्य तत्परतासे सिद्ध होता है। सांसारिक कार्य भी पारमार्थिक सिद्धिके लिये करने चाहिये। एकको मुख्यता, परायणता होनेसे ही काम सिद्ध होगा। सांसारिक कार्य तो अपने-आप होगा, पर पारमार्थिक कार्य अपने-आप नहीं होगा।

पाप कर लें, पीछे प्रायश्चित्त कर लेंगे—इस तरह जान-बूझकर किये पापका प्रायश्चित्त नहीं होता।

मनुष्य अच्छा काम करे तो देवताओंसे भी ऊँचा उठ जाता है और बुरा काम करे तो पशुओंसे भी नीचा गिर जाता है।

××× ××× ××× ×××

माता-पिताकी सेवा करना पुत्रका कर्तव्य है और माता-पिताका अधिकार है। साधकको अपने कर्तव्यका पालन और अपने अधिकारका त्याग करना है। दूसरे मेरे अनुकूल हो जायँ, मेरी मनचाही हो जाय—इसका त्याग करना 'अधिकारका त्याग' है। करनेका अधिकार है, पानेका अधिकार नहीं। आजकल अधिकार तो चाहते हैं, पर कर्तव्य करते नहीं। वास्तवमें कर्तव्यके पीछे अधिकार दौड़ता है, पर आज अधिकारके पीछे दौड़ते हैं। अधिकार कर्तव्यका दास है, पर आज अधिकारके दास हो रहे हैं! पास होना चाहते हैं, पर पढ़ना नहीं चाहते! समाजमें हरेक व्यक्ति अधिकार चाहेगा तो लड़ाई होगी।

दूसरेका कर्तव्य देखते ही मनुष्य अपने कर्तव्यसे गिर जाता है। अपनेको ऊँचा दिखाना, जिससे दूसरे हमें अच्छा समझें—यह अधिकारकी इच्छा है। दूसरा कुछ कहे, अपना काम ठीक तरहसे करो तो संसार सुधर जायगा।

दूसरेको निर्दोष देखनेकी इच्छा दोषदृष्टि नहीं है। माँ-बाप बच्चेमें दोष देखते हैं, अध्यापक विद्यार्थियोंमें दोष देखता है, गुरु अपने शिष्योंमें दोष देखता है तो यह दोषदृष्टि नहीं है, प्रत्युत उनको निर्दोष देखनेकी इच्छा है। **दोषोंको न तो अपनेमें कायम करना चाहिये, न दूसरोंमें—यह मार्मिक बात है**। वर्तमान सबका निर्दोष है।

भगवान्‌के वियोगमें तपस्या अपने-आप हो जाती है, पर तपस्याके बलसे भगवत्प्राप्ति नहीं होती।

××× ××× ××× ×××

भगवान्‌की सृष्टि और गीताका उपदेश—दोनों ही बहुत विलक्षण हैं तथा कल्याण करनेवाले हैं। सभी कर्म दूसरोंके उपकारके लिये हैं। सभी मन्त्र दूसरोंके उपकारके लिये हैं। गायत्री-मन्त्रमें स्तुति, ध्यान और प्रार्थना—तीनों हैं। उनमें बहुवचन आया है, जिसका तात्पर्य है कि जप तो मैं करता हूँ, पर कल्याण सबका हो—'**धियो यो नः प्रचोदयात्**'। **यज्ञ, तप और दानमें भी अपने स्वार्थ तथा अभिमानका त्याग है।**

××× ××× ××× ×××

नामका जप उपांशु तथा मानस भी होता है। साधारण (वाचिक) जपसे उपांशु जप श्रेष्ठ है। उपांशु जपसे मानस जप श्रेष्ठ है। मानस जपको 'नाम-स्मरण' (सुमिरन) भी कहते हैं। स्मरणका अर्थ है—याद रखना। एक मन्त्र-जप होता है, एक नाम-जप। जप है—पुकार, सम्बोधन। 'राम' कहनेका अर्थ है—'हे राम!'। पुकार सबसे श्रेष्ठ है।

श्रोता—चैतन्य महाप्रभु आदि सन्तोंने ***'हरे राम०'*** मन्त्रको उलटा क्यों कर दिया? वे मन्त्रका आरम्भ ***'हरे कृष्ण०'*** से क्यों करते हैं?

स्वामीजी—'**हरे राम०**' मन्त्र वैदिक होनेसे इसे केवल यज्ञोपवीतधारी जप सकते हैं। इसे हरेक मनुष्य जप सके, इसलिये इसका मन्त्रपना निकालनेके लिये उन सन्तोंने इसे उलटा कर दिया।

'हे मेरे नाथ!'—ऐसे हृदयकी पुकार भगवान्‌को द्रवित कर देती है। पुकार भगवान्‌तक जल्दी पहुँचती है।

प्रेम और आदरपूर्वक दिया गया दान ही दूसरोंके काम आता है।

××× ××× ××× ×××

अपने स्वभावका सुधार करें। बिगड़ा स्वभाव किसीको नहीं सुहाता। स्वभाव-सुधार तब होगा, जब अपना ध्येय परमात्माकी प्राप्ति हो जाय। दूसरे मुझे क्या समझें—यह कसौटी ठीक नहीं है। जो भोग और संग्रहमें लगे हैं, उनका स्वभाव ठीक नहीं रहता। सब दोष देहाभिमान (मैं-मेरे) से आते हैं; अतः मैं-मेरेका त्याग कर दें। छोटा बच्चा सबको अच्छा लगता है; क्योंकि उसमें राग-द्वेष नहीं होते।

हम जितने भले होते हैं, लोग हमें उससे अधिक भला मानते हैं। हम जितने बुरे होते हैं, लोग हमें उससे कम बुरा मानते हैं। लोग बड़े उदार हैं! अतः अपने भीतरके बुरे भावोंको मिटा दो।

करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहें। करनेमें सावधान नहीं रहते और होनेमें चिन्ता करते हैं—यह गलती है। जो हरदम सावधान रहता है, वही साधक होता है।

अन्तमें अकेला ही जाना पड़ेगा, अतः पहलेसे ही अकेला हो जाय!

××× ××× ××× ×××

दो ही सबका हित करनेवाले हैं—भगवान् और उनके भक्त। इन्हें किसीसे कुछ लेना नहीं है, किसीसे कुछ चाहना नहीं है। श्रीरामचरितमानस भगवान्‌का चरित्र है और भक्तकी वाणी है; अतः इसके पाठका मौका बड़े भाग्यसे मिलता है। यह भगवत्कृपासे मिलता है, अपने बलसे नहीं।

सत्संग कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान्‌की कृपा है। इस कृपाका आदर करो।

भक्ति बहुत कोमल है। किसीका निरादर करनेसे भक्तिका रस नहीं मिलता।

××× ××× ××× ×××

एक 'करना' होता है, एक 'होना' होता है। करनेमें हमारा अधिकार है और होना भगवान्‌के अधीन है। व्यापार करते हैं और नफा-नुकसान होता है। दवा लेना हमारे हाथमें है और रोग ठीक होना या न होना भगवान्‌के अथवा प्रारब्धके हाथमें है।

मनुष्य कर्मयोनि है; अतः मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते**' (गीता २।४७)। यदि सब कुछ भगवान् ही करते या कराते हैं तो फिर मनुष्यता क्या रही? सब भगवान् ही कराते हैं—यह अपना ही अज्ञान भगवान्‌पर आरोपित करना है—***'निज अग्यान राम पर धरहीं'*** (मानस, उत्तर० ७३।५)। मनुष्य स्वयं कर्म करता है, तभी स्वयं दण्ड भोगता है। दुर्घटना होनेपर दण्ड उसे मिलता है, जो मोटर चलाता है।

ईश्वरकी इच्छाके बिना पत्ता नहीं हिलता—ऐसा कहा जाता है, पत्ता हिलाता नहीं—ऐसा नहीं कहा है। कर्म करनेका अधिकार होनेसे ही मनुष्यपना है। करनेका अधिकार न हो तो मनुष्यपना है ही नहीं। मनुष्य ही कर्मयोनि है। 'करना' मनुष्यकी इच्छापर है और 'होना' भगवान्‌की इच्छापर है—

'होइहि सोइ जो राम रचि राखा'

(मानस, बाल० ५२।४)

'जो जस करइ सो तस फलु चाखा'

(मानस, अयोध्या० २१९।२)

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' *(गीता ५।१४)*

'परमात्मा मनुष्योंके कर्तापन तथा कर्मोंकी रचना नहीं करते।'

सूर्यके प्रकाशमें सब अच्छी-बुरी क्रियाएँ होती हैं, पर सूर्य उनका कर्ता नहीं होता।

जन्मकुण्डलीमें आता है कि यह ऐसा-ऐसा काम करेगा तो वह पूर्वजन्मके संस्कारका फल है—'**दैवं चैवात्र पञ्चमम्**' (गीता १८।१४)। परन्तु मनुष्य उस स्वभावको बदल सकता है। **मनुष्यपर अपने स्वभावका सुधार करनेका दायित्व है**। स्वभाव सुधरनेसे ही मुक्ति होती है। स्वभाव बदलनेसे ही मनुष्य साधु होता है।

यद्यपि करनेकी सामर्थ्य भगवान्‌से मिली हुई है, तथापि उसका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करनेमें

मनुष्य स्वतन्त्र है।

सत्संग, सच्छास्त्र और सद्विचार—इन तीनोंसे स्वभावमें सुधार होता है।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यशरीरकी महिमा बहुत है, पर वह शरीरको लेकर नहीं, उसके सदुपयोगको लेकर है। मनुष्यकी उन्नतिकी आखिरी हद यह है कि वह भगवान्‌का भी इष्ट बन जाय!

भगवान्‌की अत्यधिक कृपासे मानवशरीर सफल करनेका यह मौका हमें मिला है!

××× ××× ××× ×××

खास बात है—वर्तमानको शुद्ध बनाना। **वर्तमानकालको शुद्ध बना लें तो भूत भी शुद्ध हो जायगा और भविष्य भी**। भूत और भविष्यका चिन्तन ही 'व्यर्थ चिन्तन' है, जिससे कुछ लाभ नहीं। सबका वर्तमान शुद्ध है—यह एक मार्मिक बात है। वर्तमान दोषी नहीं है। ***'चेतन अमल सहज सुख रासी'***—यह वर्तमान है। यह तीनों कालोंमें वर्तमान है। वर्तमान-तत्त्व सदा शुद्ध ही रहता है, कभी मैला नहीं होता।

भविष्यकी चिन्ता न करके विचार करे, पर भूतको बिलकुल छोड़ दे।

तत्त्व सदा वर्तमान रहता है। हम सिनेमामें भूत-भविष्य-वर्तमानको अपनी दृष्टिसे देखते हैं, पर फिल्ममें क्या ये तीन काल हैं? उसमें तो सब कुछ वर्तमान है। जैसे सिनेमा अँधेरेमें दीखता है, प्रकाशमें नहीं, ऐसे ही संसार अज्ञानरूपी अन्धकारमें दीखता है, ज्ञानरूपी प्रकाशमें नहीं। ज्ञानमें भूत-भविष्य-वर्तमान हैं ही नहीं। जैसे सिनेमामें परदा ज्यों-का-त्यों रहता है, उसमें कोई फर्क पड़ता ही नहीं, ऐसे ही तत्त्व ज्यों-का-त्यों रहता है।

××× ××× ××× ×××

श्रोता—कभी-कभी भगवान्‌में भाव पैदा होता है, गला गद्‌गद होता है, अश्रुपात होता है, पर वैसा भाव सदा क्यों नहीं रहता?

स्वामीजी—उसमें सुख लेनेसे, उसमें दिखावटीपन आनेसे, उसे लोगोंमें कहनेसे, उसमें सन्तोष करनेसे वह सदा नहीं रहता। उसे अपने उद्योगसे न मानकर कृपासे मानें। मान-बड़ाईकी इच्छा रहनेसे साधन तेजीसे नहीं बढ़ता। परमात्माकी प्राप्तिमें कठिनता नहीं है, सांसारिक सुख छोड़नेमें कठिनता है।

व्यवहारमें 'कनक' बाधक है और भावमें 'कामिनी' बाधक है। कामिनीकी आसक्ति भीतर बहुत गहरी बैठी हुई होती है।

संसारसे शरीरको अलग मानना गलती है। उससे भी बड़ी गलती है—शरीरसे सुख लेना। शरीरको सुख-आराम देना उसके साथ शत्रुता है।

जो होता है, वह ठीक ही होता है, बेठीक होता ही नहीं।

संसार आपसे नहीं चिपकता। संसार तो भागता है, आप ही उससे चिपकते हो, उसमें ममता-आसक्ति करते हो।

जो निरन्तर रहता है, उसीके साथ हमें रहना है। मैं-मेरेका त्याग कर दें। **अपनी स्थिति मैं-मेरेमें न रखें, प्रत्युत 'है' में रखें**। सब कुछ बदल गया, पर आप वही हैं। आप वहीं हैं—इसीमें रहें। जो रहनेवाला नहीं है, उसमें मैं-मेरा करके ही आप दुःख पा रहे हैं। शरीर और संसार एक हैं, पर मैं-मेरा करके आप शरीरको संसारसे अलग कर लेते हैं।

'नहीं' की प्रीति छोड़नेसे 'है' में प्रीति हो जायगी। 'नहीं' की प्रीति छूटेगी—सेवा करनेसे, त्याग करनेसे अथवा भगवान्‌का माननेसे।

ज्ञान असत्‌का ही होता है। सत्‌का ज्ञान होता ही नहीं। मैं हूँ—यह ज्ञान तो कुत्तेको भी है। गलती है—अपनेको असत्‌के साथ मिलाना।

××× ××× ××× ×××

संसार स्वतः ही हमसे हट रहा है। हमें उससे हटना नहीं पड़ेगा। परमात्मतत्त्व स्वाभाविक ही प्राप्त है। वह कभी अप्राप्त हो सकता ही नहीं। अतः कुछ भी चिन्तन न करके चुप हो जायँ। चिन्तन आ जाय

तो चला जायगा। उसको न अच्छा मानें, न बुरा मानें, न अपनेमें मानें। परमात्माका भी चिन्तन करोगे तो जड़का आश्रय लेना पड़ेगा। चुप होनेमें नींद, आलस्य, प्रमाद, असावधानी नहीं है। यदि नींद आती हो तो चुप-साधन न करके नामजप या कीर्तन करो।

परमात्मा निरन्तर प्राप्त हैं—यह स्वीकृति करनी है। यह स्वीकृति नामजप आदिसे भी तेज है।

'है' में चुप हो जाओ। चुप होना समाधिका फल है।

नाम-जप करते-करते चुप हो जाओ; जैसे—पक्षी पहले पर हिलाते हुए आकाशमें ऊँचा उड़ता है, फिर पर फैला देता है।

××× ××× ××× ×××

अपना उद्धार न करनेवाला आत्मघाती है। मनुष्यशरीर मिल गया, कलियुगका समय मिल गया, गीता-रामायणसे परिचय हो गया, सत्संग मिल गया, अब अपना उद्धार नहीं करोगे तो फिर कब करोगे?

'ग्रहण' करनेका सर्वोपरि एक ही नियम है—भगवान्‌को याद रखना। 'त्याग' करनेका सर्वोपरि एक ही नियम है—कामनाका त्याग करना।

××× ××× ××× ×××

'करने' से उसकी प्राप्ति होती है, जो उत्पत्ति-विनाशशील तथा दूर है। 'है' स्वत:प्राप्त है। उसकी प्राप्ति स्वीकृतिसे होती है, 'करने' से नहीं। संसार 'नहीं' है। संसारमें जो 'है'-पना दीखता है, वह 'है'-पना परमात्माका है। 'है' नाम परमात्माका ही है; क्योंकि 'है' एक ही हो सकता है। वह परमात्मा हमारा है। जैसे पुत्र माता-पिताको, पत्नी पतिको स्वीकार कर लेते हैं, ऐसे ही परमात्माको स्वीकार कर लें।

परमात्माको 'है' माननेपर संसारका 'नहीं'-पना सिद्ध हो जाता है। आत्माको 'है' माननेपर शरीरका 'नहीं'-पना सिद्ध हो जाता है। मनमें संसारकी सत्ता मान रखी है—यही बाधा है! इसमें कारण है—सुखकी आशा, कामना और भोग।

'नहीं' को 'है' माननेसे जो वास्तवमें 'है', वह लुप्त हो गया। केवल स्वीकार करनेसे उस परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। परन्तु **'नहीं' को नहीं माने बिना 'है' को मान सकोगे नहीं**! सूर्य और अमावस्या एक साथ नहीं रह सकते।

××× ××× ××× ×××

जब मनुष्य परमात्माके सम्मुख होता है, तब उसमें सब सद्गुण आ जाते हैं और संसारके सम्मुख होता है, तब सब दुर्गुण आ जाते हैं। परमात्माके सम्मुख होते ही जन्म-मरण सब मिट जाते हैं।

संसारमें रहते हुए मनुष्य संसारकी बातें भी सीख सकता है और परमात्माकी बातें भी, पर संसारको भी नहीं जान सकता और परमात्माको भी! संसारको जाननेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और परमात्माको जाननेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

संसारका दु:ख और सुख—दोनों ही दु:ख हैं—**'दु:खमेव सर्वं विवेकिन:'** (योगदर्शन २।१५)। दोनों ही दादकी बीमारीकी तरह हैं। दादमें खुजली करनेसे जो सुख मिलता है, वह भी रोग ही है।

जबतक मनुष्य संसारसे सुख लेता रहता है, तबतक वह संसारमें ही है, चाहे वह साधु, गृहस्थ आदि कोई क्यों न हो! जबतक संसार प्रिय, अच्छा लगता है, तबतक वह संसारमें ही फँसा हुआ है, चाहे साधु क्यों न हो! यदि संसारमें मन ललचाता है, मान-बड़ाई अच्छी लगती है तो संसार जीत गया, आप हार गये! संसारमें फँसा हुआ मनुष्य परमात्माके सुखको नहीं जान सकता।

यदि परमात्मामें लगन लग जाय तो वह सुख मिल जायगा, जो बड़े-बड़े विद्वानोंको भी नहीं मिलता।

यदि आप दु:ख नहीं चाहते हो तो संसारका सुख मत भोगो।

न संसारके मोहमें फँसो, न शास्त्रोंके मोहमें फँसो, फिर सुगमतासे तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी।

अपने लिये कुछ भी करना फँसना है! जप, तप, ध्यान आदि भी अपने लिये नहीं करने हैं।

बालक मैला हो तो भी माँकी गोदमें चला जाता है। तब माँ गोदमें लेनेके लिये उसे स्नान कराती है, पर बालक स्नान करते समय मूर्खतासे रोता है। ऐसे ही संसारकी आसक्ति मैल है, जिसे उतारकर भगवान् अपनी गोदमें लेते हैं।

××× ××× ××× ×××

हर समय यह जागृति रहनी चाहिये कि हम यहाँके रहनेवाले नहीं हैं। इसे याद नहीं करना है, प्रत्युत इसकी जागृति रखनी है, इसे स्वीकार करना है। जैसे यह जागृति रहती है कि हम यहाँ पण्डालमें सत्संगके लिये आये हैं और फिर यहाँसे जाना है, ऐसे ही यह जागृति रहे कि हम संसारमें आये हैं और फिर यहाँसे जाना है। यह आवश्यक नियम है। यह यहाँकी रिवाज है। भगवान् भी अवतार लेते हैं तो इस रिवाजको मिटाते नहीं, आते हैं और चले जाते हैं।

मनुष्य संसारमें जितना स्थायी निवास मानता है, उतना ही उससे अन्याय होता है। यह मृत्युलोक है। इसमें मरने-ही-मरनेवाले बैठे हैं। हमें यहाँसे जाना है—यह जागृति रहेगी तो फिर अन्याय नहीं होगा।

परमात्मतत्त्वको प्राप्त करके आप दुनियाका जो उपकार कर सकते हैं, उतना लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करके भी नहीं कर सकते। **भगवद्भजन करनेवालेके द्वारा दुनियाका स्वतः उपकार होता है।** भगवान् कहते हैं—

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः॥

(अध्यात्म० उत्तर० ५।६१)

'चाहे मेरे निर्गुण-स्वरूपका चित्तसे उपासना करनेवाला हो अथवा मायिक गुणोंसे अतीत मेरे सगुण-स्वरूपकी सेवा-अर्चना करनेवाला हो, वह भक्त मेरा ही स्वरूप है। वह सूर्यकी तरह विचरण करता हुआ अपनी चरण-रजके स्पर्शसे तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है।'

××× ××× ××× ×××

जैसा है, वैसा जान लेनेका नाम 'ज्ञान' है। उलटे ज्ञानका नाम 'अज्ञान' है। ज्ञानके अभावका नाम 'अज्ञान' नहीं है। यदि ऐसा होता तो भगवान् यह नहीं कहते—'**अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्**' (गीता ५।१५) 'अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है।' अतः उलटे ज्ञानका नाम ही 'अज्ञान' है, जो सुलटा होनेपर मिट जाता है। शरीर 'मैं' और 'मेरा' है—यह उलटा ज्ञान है।

शरीरमें अहंता-ममता (मैं-मेरापन)-का त्याग होनेपर शान्ति मिल जाती है; क्योंकि यथार्थ बात हो गयी! जबतक अहंता-ममताका त्याग नहीं हुआ, तबतक वास्तविक त्याग नहीं हुआ। ऐसा मान लें कि 'मैं' भी भगवान्का हूँ और 'मेरा' सब कुछ भी भगवान्का है।

जो नहीं है, उसे ही मिटाना है। जो है, उसे ही प्राप्त करना है। **मिले हुएको अपना मत मानो तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है।** वस्तुको मैं-मेरा माननेसे ही मलिनता आती है। भगवान्के अर्पित करते ही वस्तु पवित्र हो जाती है।

त्याग उसीका करना है, जो आपका नहीं है। वस्तु 'अपने लिये' भी नहीं है, अन्यथा और कुछ पानेकी इच्छा नहीं रहती। हमारी वस्तु हमें मिल जाय तो फिर कुछ पाना बाकी नहीं रहेगा, सदाके लिये भूख मिट जायगी, सन्तोष मिल जायगा। भगवान्को अपना नहीं मानते, इसीलिये दुःख पा रहे हैं।

छोड़नेमें मौज है, छूटनेमें मौत! शरीरमें मैं-मेराका त्याग करना ही उसे छोड़ना है। मौत आनेपर शरीर छोड़ते नहीं, प्रत्युत छूट जाता है। छोड़नेसे मुक्ति होती है, छूटनेसे नहीं।

××× ××× ××× ×××

अब झूठ, कपट, पापका समय आ रहा है। इससे बचना चाहिये। जैसे शीतकाल आनेपर उससे बचनेका प्रयत्न करते हैं, ऐसे ही वर्तमान समयसे बचो। समयके अनुसार मत चलो, प्रत्युत समयसे अपना बचाव करो।

भगवान्ने कहा है—'**परित्राणाय साधूनां०**' (गीता

४।८) अर्थात् मैं साधुओंकी रक्षा करनेके लिये अवतार लेता हूँ। साधुओंके भजनमें जो बाधा आती है, उस बाधाको दूर करना ही उनकी रक्षा है; क्योंकि साधु भजन चाहते हैं, धन-सम्पत्ति आदि नहीं चाहते।

सत्संग करनेसे उन निषिद्ध बातोंसे भी अरुचि हो जाती है, जिनका निषेध सत्संगमें नहीं किया गया। सभी व्यसनोंसे स्वतः अरुचि हो जाती है।

संसारकी बुराई छोड़नेसे ही वह बुराई-रूपसे दीखती है।

××× ××× ××× ×××

वस्तुकी महिमा नहीं है, भावकी महिमा है। भाव हो तो पुस्तकें पड़ी-पड़ी भी लाभ करती हैं।

भगवान्‌में अपनापन करना असली भक्ति प्राप्त करनेका उपाय है। 'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—इसे मनुष्यके सिवाय और कौन कह सकता है? अपनेको भगवान्‌का मान लो तो आप ठीक ठिकाने आ गये! भगवान्‌को अपना नहीं मानोगे तो कइयोंका दास बनना पड़ेगा और परिणाममें नरकोंमें जाना पड़ेगा!

××× ××× ××× ×××

संसारमें हम सब आये हैं, रहनेवाले नहीं हैं। यहाँकी कोई चीज 'मैं', 'मेरी' और 'मेरे लिये' नहीं है। **अन्न, जल, कपड़ा, मकान, कार्य करना, सोना—इनको भी केवल दूसरोंकी सेवा करनेके लिये स्वीकार करना है, अपने सुखके लिये नहीं।** अकेले, बिना संगठनके आप कोई भी काम नहीं कर सकते। यह शरीर आपका नहीं है, दूसरोंका है। **शरीरको अपना मान लिया तो यह मूलमें भूल हो गयी, अब आगेका सब हिसाब (गणित) रद्दी हो जायगा।** जोड़के आरम्भमें एक अंककी भी भूल कर दी तो आगेका जोड़ कितना ही सही लगा लो, सब-का-सब रद्दी हो जायगा।

हमें किसीसे कुछ लेना है ही नहीं। जीवन-निर्वाह भी केवल दूसरोंकी सेवाके लिये होना चाहिये। मनुष्य सबके लिये है। सब मनुष्यके लिये हैं—यह मूल भूल है।

जाति जन्मसे मानी जाती है, कर्मसे नहीं। यदि कर्मसे जाति मानें तो क्या कोई मेहतर बनना चाहेगा? सभी मनुष्य ब्राह्मण बनना चाहेंगे। जो ऊँचा बनना चाहता है, वह वास्तवमें नीचा है—

नीच नीच सब तर गये, राम भजन लवलीन।
जातिके अभिमानसे, डूबे सभी कुलीन॥

जो ऊँचा बनना चाहते हैं, वे केवल अपना अहंकार बढ़ाना चाहते हैं।

××× ××× ××× ×××

गुरु वह है, जो दूसरोंको भी गुरु बना दे। समर्थ वह है, जो असमर्थको भी समर्थ बना दे।

श्रोता—हनुमान्‌जीको इष्ट मानें तो उनके साथ क्या सम्बन्ध मानें?

स्वामीजी—उनको अपना गुरु मानो। हनुमान्‌जीने विभीषणको भगवान्‌पर विश्वास करा दिया। जो भगवान्‌पर विश्वास करा दे, वह गुरु होता है।

श्रोता—अनजानमें गर्भपात करा लिया हो तो क्या प्रायश्चित्त करें?

स्वामीजी—प्रतिदिन सवा लाख नाम-जप करें। भगवन्नाममें सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेकी शक्ति है।

××× ××× ××× ×××

सच्चे सन्त धनवानोंके पीछे नहीं फिरते, प्रत्युत धनवान् उनके पीछे फिरते हैं।

मनुष्यको सदा अच्छे-से-अच्छे काममें लगे रहना चाहिये, चाहे वह सिद्ध हो या न हो—'**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा**' (गीता २।४८)। भगवान् सन्धिका प्रस्ताव लेकर कौरवोंके पास गये, पर उनका कार्य सिद्ध नहीं हुआ। कार्य सिद्ध न होनेपर भी उन्हें अठारह अक्षौहिणी सेनाकी रक्षा करनेका पुण्य प्राप्त हुआ! भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः।
प्राप्तो भवति तत् पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः॥

(महा० उद्योग० ९३।६)

'मनुष्य यदि अपनी शक्तिभर किसी धर्मकार्यको करनेका प्रयत्न करते हुए भी उसमें सफलता न प्राप्त कर सके तो भी उसे उसका पुण्य तो अवश्य ही प्राप्त

हो जाता है। इस विषयमें मुझे सन्देह नहीं है।'

××× ××× ××× ×××

दहेज माँगनेवाले कन्याके गर्भपातरूपी महान् पापके भागी होंगे; क्योंकि दहेज-प्रथाके कारण लोग कन्याका गर्भपात करा देते हैं—कन्या-भ्रूणकी हत्या कर देते हैं।

निर्वाहकी चीजें महँगी हो गयीं, पैदा (आमदनी) कम हो गयी और शौकीनी बढ़ गयी—ये तीन आफतें वर्तमानमें आयी हैं! स्वाद-शौकीनी महान् पतन करनेवाली चीज है।

प्रत्येक समाजमें देनेवाले (त्यागी) की महिमा होती है, लेनेवालेकी नहीं।

समाज-सुधारका मूल मन्त्र है—सन्तोष।

××× ××× ××× ×××

एक बात सन्त-महात्मा कहते हैं और एक बात संसारमें उलझे आदमी कहते हैं—दोनोंमें बड़ा भारी फर्क है। जो नियम, कानून बनाते हैं, वे किस दृष्टिसे कहते हैं—यह विचार करना चाहिये। जीवका कल्याण कैसे होगा? वह सदाके लिये सुखी कैसे होगा? यह बात सामने रखनी चाहिये। सांसारिक सुख भोगना मानव-जीवनका उद्देश्य नहीं है। **अपने सुखकी बुद्धि पशुबुद्धिसे भी नीची राक्षस-बुद्धि है**। हिरण्यकशिपुका ध्येय था कि मैं मरूँ नहीं, सुख भोगता रहूँ। यह ध्येय राक्षसोंका है, मनुष्योंका नहीं।

धर्मका पालन करनेवाले मनुष्य वास्तवमें दुःखी नहीं होते और भोगी मनुष्य सुखी नहीं होते। भोग और संग्रहकी इच्छावाले मनुष्य पतनमें जा रहे हैं। **आजकल हरेक बात सुखभोगको दृष्टिमें रखकर कही जाती है—यह दृष्टि राक्षसोंकी है**। सुखभोगकी दृष्टिसे ही परिवार-नियोजन, विधवा-विवाह आदिकी बात कही जाती है।

गीध बहुत ऊँचा उड़ता है, उसकी दृष्टि बड़ी तेज होती है, पर जमीनपर सड़ा-गला मांस देखते ही उसकी उड़ान बन्द हो जाती है और वह वहीं गिर जाता है! ऐसे ही लोग शास्त्रोंकी बातें जानते हैं, व्याख्यानमें बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं, पर कनक-कामिनी (रुपये और स्त्री) देखते ही वहीं गिर जाते हैं!

××× ××× ××× ×××

आकाशका सम्बन्ध सबके साथ है। चाहे जहाँ जाओ, आकाशसे कभी वियोग नहीं होता। वह आकाश भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है। परन्तु आकाशकी तरह सर्वव्यापी परमात्मा नित्य रहनेवाले हैं। हमारा उनके साथ नित्य-सम्बन्ध है। गीताके तेरहवें अध्यायका खास श्लोक है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

(गीता १३।१५)

'वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं और चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं एवं दूर-से-दूर तथा नजदीक-से-नजदीक भी वे ही हैं और वे अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे जाननेमें नहीं आते।'

सीखी हुई बात याद नहीं रहती और जानी हुई बात मिटती नहीं। 'मैं हूँ'—यह जानी हुई बात है। हम सबको भूल सकते हैं, पर अपनेको कभी भूल नहीं सकते। अपने होनेपनमें शंका भी नहीं होती कि मैं हूँ कि नहीं हूँ! इस अपने होनेपनकी परमात्माके साथ एकता है।

××× ××× ××× ×××

मुझमें और आपमें कोई फर्क नहीं है! आप सुनते हैं, इसलिये नीचे बैठ गये। मैं बोलता हूँ, इसलिये ऊँचे बैठ गया। यह मर्यादा है। आप और हम सबका शरीर-संसारसे निरन्तर वियोग है और परमात्मासे निरन्तर योग है।

जो एक दिन आपसे बिछुड़ जायँगे, उनकी सेवा, आदर-सत्कार करो—

समय पधारे कूबजी, साध पावणा मेह।
अनआदर कीजै नहीं, कीजै घणो सनेह॥

गुरु शिष्यके लिये होता है, शिष्य गुरुके लिये नहीं। राजा प्रजाके लिये होता है, प्रजा राजाके लिये

नहीं। धनवान् गरीबोंके लिये है; क्योंकि गरीब ही दूसरेको धनवान् बनाते हैं। धनवान् तो दूसरोंको गरीब बनाते हैं।

जो कुछ चाहता है, वह छोटा हो जाता है और देनेवाला बड़ा हो जाता है। लेनेके लिये छोटा बनना ही पड़ेगा। भगवान् भी लेनेके कारण 'वामन' बन गये!

श्रोताके बिना कोई वक्ता नहीं बन सकता। रोगीके बिना कोई डॉक्टर नहीं बन सकता। निर्धनके बिना कोई धनवान् नहीं बन सकता।

एकने व्रत किया और एकको अन्न नहीं मिला—दोनोंमें फर्क है। व्रत रखनेवाला प्रसन्न रहता है और जिसे अन्न नहीं मिला, वह हाय-हाय करता है! त्यागसे शान्ति मिलती है, वियोगसे रोना पड़ता है!

पचपन-साठ वर्ष पहलेकी बात है। एकने मेरेसे कम्बल माँगा, पर मैंने दिया नहीं तो वह भूल अबतक मेरेको खटकती है! आप ऐसी भूल न कर बैठें! सावधान रहें, मिले अवसरका सदुपयोग करें।

जैसे यात्रा करते समय हम ट्रेनको 'हमारी ट्रेन' कहते हैं, पर यात्राके बाद क्या यह सोचते हैं कि हमारी ट्रेन कैसी है? कहाँ है? आदि। ऐसे ही ये सब वस्तुएँ काममें लेनेके लिये हमारी हैं, अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं।

××× ××× ××× ×××

संसारकी महत्ता ही हमारा पतन कर रही है। जो एक क्षण भी ठहरता नहीं, उसकी महत्ता कैसे? संसार सदा अप्राप्त है। वह आजतक किसीको मिला नहीं, मिल सकता नहीं। जो एक क्षण भी टिकता नहीं, वह मिलेगा कैसे? संसारका अभाव ही नित्य है। **मनुष्य रोता है कि धन चला गया, स्त्री चली गयी, बेटा चला गया, पर वह खुद भी चला जायगा! टिकेगा कोई नहीं।**

××× ××× ××× ×××

आज्ञा-पालनके समान और कोई सेवा नहीं है—**'अग्या सम न सुसाहिब सेवा'** (मानस, अयोध्या० ३०१।२)। 'यह सिद्धान्त है'—ऐसा कहना संतकी एक नम्बरकी आज्ञा है। ऐसा करना चाहिये, ऐसा नहीं करना चाहिये—ऐसा कहना दो नम्बरकी आज्ञा है। ऐसा करो, ऐसा मत करो—ऐसा कहना तीन नम्बरकी आज्ञा है। सन्तके सिद्धान्तके अनुसार अपना जीवन बना लेना चाहिये।

बोलना श्रोताओंकी दृष्टिसे ही होता है। श्रोता जिस श्रेणीका हो, उसी श्रेणीमें सन्त-महात्मा बोलते हैं।

वेदोंमें भूल हो सकती है, पर श्रेष्ठ पुरुषोंमें भूल नहीं हो सकती। सन्तके वचनोंसे भी लाभ होता है, पर वचनोंके पीछे उनकी कृपा हो तो विशेष लाभ होता है।

नम्र होनेसे ही वस्तु मिलती है। लेनेवालेको छोटा होना ही पड़ता है।

आज्ञा-पालनसे सब प्रकारका लाभ होता है। आज्ञा देनेवाले (बड़े)-पर भार रहता है। सर्वथा दूधके आश्रित दूधमुँहे बच्चेको दवा नहीं लेनी पड़ती, माँको लेनी पड़ती है। ऐसे ही शिष्य गुरुके सर्वथा शरण हो जाय तो उद्धार गुरुको करना पड़ता है।

शरणागतके मनमें स्वतः तत्त्वकी बात पैदा हो जाती है। एकलव्यने शरणागत होकर मूर्तिसे शिक्षा ली, पर वह अर्जुनसे भी तेज हो गया! तात्पर्य है कि हमारी निष्ठा ऊँची होगी तो उसका फल भगवान् देंगे। पतिव्रतामें भगवान्‌की कृपासे शक्ति आती है।

××× ××× ××× ×××

अपरा प्रकृति हमारा स्वरूप नहीं है। हम शरीरसे अपनेको घुला-मिला मानते हैं—यह अज्ञान है। जीवकी परमात्माके साथ एकता है, पर वह परमात्मासे अपनेको अलग मानता है; और शरीरकी संसारके साथ एकता है, पर वह शरीरसे अपनी एकता मानता है—यह अज्ञान है।

डेढ़ पुण्य हैं और डेढ़ पाप हैं। भगवान्‌के सम्मुख होना पूरा पुण्य है और सद्गुण-सदाचारोंमें लगना आधा पुण्य है। भगवान्‌के विमुख होना पूरा पाप है

और दुर्गुण-दुराचारोंमें लगना आधा पाप है।

मिली हुई वस्तुसे दूसरेका हित करें, किसीका भी अहित न करें तो शरीरसे अलगावका अनुभव हो जायगा। किसीका बुरा करेंगे नहीं, किसीको बुरा मानेंगे नहीं और किसीका बुरा चाहेंगे नहीं—यह नियम ले लें तो अज्ञान मिट जायगा, और आप अजातशत्रु हो जायँगे।

किसीकी बुराई न करें तो सेवा अपने-आप होगी, करनी नहीं पड़ेगी। अपने-आप होनेवाली सेवाका अभिमान भी नहीं होगा और फलकी इच्छा भी नहीं होगी। संसारकी चीज संसारको दे दें तो स्वतः स्वरूपका बोध हो जायगा।

दूसरेका सुधार नहीं, सेवा करनी है! बुराई उपदेशसे नहीं मिटती, आचरण (सेवा)-से मिटती है।

बादल सूर्यसे ही पैदा होता है, सूर्यके ही आश्रित रहता है, सूर्यको ही ढकता है और सूर्यसे ही मिट जाता है। ऐसे ही अज्ञान ज्ञानसे ही पैदा होता है, ज्ञानके ही आश्रित रहता है, ज्ञानको ही ढकता है और ज्ञानसे ही मिट जाता है।

श्रोता—अज्ञान ज्ञानके आश्रित कैसे रहता है?

स्वामीजी—यह अज्ञान है—ऐसा हम जानते हैं तो अज्ञान ज्ञानके आश्रित ही हुआ।

हमारा अवगुण ही संसारमें दीखता है—

सब जग ईस्वर-रूप है, भलो बुरो नहिं कोय।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय॥

दूसरेमें बुराई दीखती है तो वह आगन्तुक है। वह स्वयं बुरा नहीं है। दूसरेको बुरा समझकर उसे रोकोगे तो उसकी बुराई नहीं छूटेगी, उलटे वह लड़ाई करेगा। कोई आदमी बैलोंको मार रहा है तो दया बैलोंपर न आकर उस आदमीपर आनी चाहिये; क्योंकि वह नया पाप कर रहा है। बैल तो अपने पुराने कर्मोंका फल भोगकर शुद्ध हो रहे हैं।

××× ××× ××× ×××

अनुकूलता-प्रतिकूलता ही संसार है। इसमें सुख-दुःख अपना बनाया हुआ है। **संसारकी रचना भगवान्‌ने प्राणिमात्रके हितके लिये की है**। वे अकारण कृपा करनेवाले हैं। उनका विधान हमारे हितके लिये होता है। अतः अनुकूलता और प्रतिकूलता—दोनों ही हमारे हितके लिये हैं।

साधकका खास काम है—सावधान रहना। सावधान रहनेका तात्पर्य है—किसीसे कुछ न चाहना। किसीसे कुछ चाहनेके समान कोई पीड़ा नहीं! एक सन्तकी बात सुनी कि मैं चोटकी पीड़ा तो सह लूँगा, पर मरहम-पट्टीके लिये किसीसे कहूँ—यह पीड़ा नहीं सह सकता!

श्रोता—क्या साधुको भिक्षा नहीं माँगनी चाहिये?

स्वामीजी—साधु भिक्षा माँगते नहीं हैं। जो कहते हैं कि साधु भिक्षा (रोटी) माँगते हैं, वे साधुको जानते ही नहीं! साधु भिक्षाके लिये जाते हैं तो कहते हैं कि 'बस्ती जगाने जाते हैं'। श्रीशरणानन्दजी महाराज कहते थे कि हम तुम्हें देना सिखानेके लिये आये हैं।

युधिष्ठिरका कीर्तन करनेसे धर्म बढ़ता है—'**धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन**' (पाण्डवगीता २)। परन्तु उनमें जूआ खेलनेका व्यसन था! जैसे बच्चेके मुखपर एक काली बिंदी लगाते हैं कि नजर न लग जाय, ऐसे ही सन्तोंमें भी एक-न-एक काला टीका होता है!

××× ××× ××× ×××

ज्ञानके अभावका नाम अज्ञान नहीं है। अज्ञान नाम है विपरीत ज्ञान अथवा अधूरे ज्ञानका। 'मैं हूँ'—यह ज्ञान अभ्रान्त है, पर 'मैं शरीर हूँ'—यह विपरीत ज्ञान है। ज्यों-ज्यों सत्संग करोगे, त्यों-त्यों विपरीत ज्ञान हटता जायगा। शरीर मेरे एक देशमें है—यह ज्ञान है। **शरीरको अपना मानना केवल दुःख भोगनेके लिये है**।

शरीर हम नहीं, हमारा नहीं, हमारे लिये नहीं। यदि शरीर हमारे लिये होता तो फिर और पानेकी इच्छा मिट जाती। यदि यह हमारा होता तो इसपर हमारा आधिपत्य चलता। शरीर हमारा नहीं तो हम कैसे हुआ? इसे चाहे संसारको सौंप दो, चाहे प्रकृतिको

सौंप दो, चाहे भगवान्‌को सौंप दो। भगवान् मालिक हैं, प्रकृति कारण है, संसार कार्य है। संसारको सौंपना 'कर्मयोग' है, प्रकृतिको सौंपना 'ज्ञानयोग' है और भगवान्‌को सौंपना 'भक्तियोग' है।

××× ××× ××× ×××

अपना स्वरूप सत्ता है। यह सत्ता सर्वव्यापी है, शरीरमें सीमित नहीं है। सत्ता नित्य है, शरीर अनित्य है। सत्ता पहले है, शरीर पीछे है। अतः 'शरीर है'—ऐसा न मानकर 'है शरीर'—ऐसा मानना चाहिये। सत्ता ज्ञानस्वरूप है।

'अहम्' भी ज्ञानके अन्तर्गत है; क्योंकि वह जाननेमें आता है। ज्ञान करणनिरपेक्ष है। एक ही ज्ञानमें सब दीखते हैं। नफा-नुकसानमें फर्क है, पर उन दोनोंके ज्ञानमें कोई फर्क नहीं है। जैसे दृश्यमें फर्क होनेसे आँखमें फर्क नहीं पड़ता, ऐसे ही संसारमें फर्क होनेसे उसके ज्ञानमें फर्क नहीं पड़ता।

आप बुद्धिसे अलग और बुद्धिसे बड़े हैं; क्योंकि आप बुद्धि नहीं हैं और बुद्धिके भी नहीं हैं। बुद्धि आपकी है।

मनुष्यकी महिमा मनुष्यतासे है। मनुष्यता है—सबको सुख पहुँचाना और भगवान्‌को याद करना। ये दोनों काम मनुष्य ही कर सकता है, पशु नहीं। मैं ले लूँ—यह राक्षसपना है, मनुष्यपना नहीं। सबको सुखी करना हाथकी बात नहीं है, पर नीयत सुख देनेकी होनी चाहिये।

अपने शरीरको सुख देनेसे राक्षसपना आ जायगा। अपने शरीरकी भी सेवा करनी है। उसको उतना देना है, जिससे वह सेवा करनेयोग्य बना रहे। स्वाद-शौकीनी नहीं करनी है। शरीरका निर्वाहमात्र करना है। उसे भोगोंमें नहीं लगाना है। सेवा करते-करते सेवक भी न रहे।

अपना स्वभाव 'देने' का बनाना है, 'लेने' का नहीं। शरीरका निर्वाहमात्र करना भी उसे 'देना' है। दाता दानमें और दान देयमें बदल जाय।

स्वार्थ और अभिमानका त्याग करनेपर ही मनुष्य साधक होता है।

××× ××× ××× ×××

संसार अध्यस्त (असत्य) हो चाहे न हो, पर संसारके साथ हमारा सम्बन्ध अवश्य अध्यस्त है। यह सम्बन्ध टूटेगा स्वयंकी स्वीकृतिसे, सीखनेसे नहीं। संसारके साथ सम्बन्ध झूठा है—यह बहुत मार्मिक बात है।

जैसे उबला या भूना हुआ बीज खानेके काम तो आता है, पर अंकुर नहीं देता, ऐसे ही ज्ञान होनेपर अन्तःकरण विशेष प्रकाश तो देता है, पर पुनः जन्म-मरण नहीं देता। ज्ञान होनेपर शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि तो रहते हैं, पर सम्बन्ध नहीं रहता। असली बात है—सम्बन्ध-विच्छेद, मैं-मेरापन मिटना। मैं-मेरापन मिटनेका नाम ही 'मुक्ति' है।

आजकल अनुभव करनेकी प्रवृत्ति कम हो रही है, सीखनेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है।

अहम्‌के साथ जितना घनिष्ठ सम्बन्ध होगा, उतना ही मान-अपमानका असर पड़ेगा।

सांसारिक सुखका भी दुःख हो और दुःखका भी दुःख हो तो संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

परमात्माकी प्राप्तिमें क्रियाकी प्रधानता नहीं है। केवल उधर दृष्टि डालनेकी जरूरत है। कारण कि वह सब देश-कालादिमें परिपूर्ण है। उसकी प्राप्तिमें भाव और विश्वास मुख्य हैं। जब हिरण्यकशिपुने पूछा कि भगवान् कहाँ हैं? तो प्रह्लादजी बोले कि भगवान् कहाँ नहीं हैं? केवल विश्वास कर लो कि भगवान् सब जगह परिपूर्ण हैं। भक्तिमें विश्वास मुख्य है और ज्ञानमें विवेक।

भगवान् कण-कणमें ठोस परिपूर्ण हैं। कोई जगह उनके बिना खाली नहीं है। जैसे नट पृथ्वीसे अलग होकर नाच नहीं सकता, ऐसे भगवान्‌से अलग आप कुछ नहीं कर सकते। भगवान्‌को छोड़कर जाओगे कहाँ?

××× ××× ××× ×××

सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिमें क्रिया तथा पदार्थकी मुख्यता है, और भगवान्‌की प्राप्तिमें भाव तथा विवेककी मुख्यता है। परन्तु क्रिया तथा पदार्थसे हम तभी ऊँचे उठेंगे, जब उन्हें भगवान्‌में लगायेंगे, उनका सदुपयोग करेंगे। सदुपयोग-दुरुपयोग खास चीज है। भगवान्‌ने खेलनेके लिये जीवोंकी रचना की; क्योंकि '**एकाकी न रमते**', पर खेलका दुरुपयोग करके जीव संसारमें बँध गया। अब सदुपयोगसे ही मुक्ति होगी। सदुपयोगसे कल्याण है, दुरुपयोगसे बन्धन है।

सृष्टिमें अनेकता है, पर परमात्मामें अनेकता नहीं है। मान्यताएँ अलग-अलग होनेपर भी विकाररहित होना सबमें एक है। **एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकता हिन्दूधर्मकी विशेषता है।**

××× ××× ××× ×××

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुकी सत्ता और महत्ता ही बाधक है। 'नहीं' को महत्ता देनेसे 'है' कैसे दीखेगा? विचार करें, जब पहलेवाली अवस्था नहीं रही, तो फिर अभीकी अवस्था कैसे रहेगी? इस ज्ञानका आदर करें। जानते हैं कि नहीं रहेगा, फिर उसको चाहना मूर्खता है। जब यह अवस्था नहीं रहेगी, फिर इसमें बँधे क्यों रहें? इससे ऊँचा उठना चाहिये। **जो रहेगा नहीं, उसके भरोसे कैसे बैठे हो**? यह शरीर, अवस्था, मान-आदर, धन, कुटुम्ब आदि नहीं रहेंगे—यह पक्की बात है, सबके अनुभवकी बात है, केवल शास्त्रोंमें लिखी बात नहीं!

'नहीं' रहनेवालेका ज्ञान 'है' को ही होता है। 'नहीं' से ऊँचे उठनेपर ही 'है' में प्रियता होगी।

बिना आधारके 'मैं'-पन टिक नहीं सकता। अत: विचार करें कि यह किसपर टिका हुआ है? 'मैं जीता रहूँ'—इसपर मैं-पन टिका हुआ है।

जब असत्‌में महत्त्वबुद्धि है, तो फिर सत्‌में आकर्षण कैसे हो?

शरीर छूटनेका भय क्यों होता है? 'है' तो कभी मिटेगा नहीं, फिर डर किस बातका है? 'है' आपका स्वरूप है।

विचार करें, जीनेकी आशा रखनेसे क्या लाभ है और छोड़नेसे क्या हानि है?

विचार करें, अभी प्राण चले जायँ तो हमारा कौन साथी है? कौन सहारा है?

××× ××× ××× ×××

संसारपर विश्वास करना जड़ता है। परमात्मापर विश्वास करना चेतनता है। लेनेकी इच्छा जड़ता है। देनेकी इच्छा चेतनता है। देनेकी इच्छा होनेसे जड़ता दूर हो जायगी, चिन्मयता रह जायगी। लेनेकी मुख्यता न होकर देनेकी मुख्यता होनेपर मनुष्य साधक हो जाता है।

शरीरको भोगोंमें न लगाकर सेवामें लगाना स्थूलशरीरकी सेवा है। सबके हितका चिन्तन करना, भगवान्‌का चिन्तन करना सूक्ष्मशरीरकी सेवा है। दूसरोंके हितके लिये स्थिरता, समाधि होना कारणशरीरकी सेवा है। सब कुछ दूसरोंकी सेवामें लगानेसे चिन्मयता शेष रह जायगी।

ज्यादा पुण्य करनेके लिये ज्यादा धन चाहना गलती है। कीचड़ लगाकर धोनेकी अपेक्षा कीचड़ न लगाना ही बढ़िया है। दान-पुण्य करना एक टैक्स है, जो धनी लोगोंपर ही लागू होता है। टैक्स देनेके लिये धन कौन चाहता है?

सबके सुखकी इच्छा बहुत बड़ा दान है। निर्धनता धन आनेसे नहीं मिटती, प्रत्युत धनकी इच्छा छोड़नेसे मिटती है।

सेवासे जड़ता मिटती है और चिन्मयता आती है।

××× ××× ××× ×××

सृष्टिकी दृष्टिसे देखें तो सब मनुकी सन्तान होनेसे 'मानव' हैं। पंचमहाभूतोंकी, शरीरकी, आत्माकी, परमात्माकी दृष्टिसे देखें तो सब एक हैं। इस एकतामें भी अनेकता है। सब एक होते हुए भी अनेक हैं और अनेक होते हुए भी एक हैं। एकता माननेसे राग-द्वेष नहीं होंगे; क्योंकि अपनेसे कोई द्वेष नहीं करता, अपनेका कोई बुरा नहीं चाहता। जैसे शरीर एक है तो हम किसी भी अंगकी पीड़ा नहीं चाहते। सब

अंगोंका आराम चाहते हैं। ऐसे ही संसारमें सबको सुख पहुँचाना है, किसीको भी दुःख नहीं पहुँचाना है। यह भारतीय संस्कृतिकी एकता है।

यदि दूसरेके हितका भाव नहीं होगा तो परस्पर एकता कभी नहीं होगी। सब संसार अपना है, पराया नहीं। **कोई और नहीं है, कोई गैर नहीं है—इस भावसे सभी सुखी हो जायँगे**। इसको अपने घरसे ही शुरू करो। आपके आचरणका दूसरोंपर बड़ा असर पड़ेगा। आचरण न करके केवल उपदेश देना बिना कारतूसकी बन्दूकके समान है, जो आवाज तो करती है, पर मार नहीं करती।

एकमें अनेक और अनेकमें एक है। अन्तमें तत्त्व एक ही है। एक ही परमात्मा अनेक रूपसे हैं। अनेक होते हुए भी एकता नहीं मिटती। समुद्रमें बर्फके अनेक टुकड़े डाल दें तो तत्त्वसे एक जलके सिवाय कुछ नहीं है। ऐसा भाव हो जायगा तो फिर मन कहीं भी जाय, परमात्मामें ही जायगा। मनके द्वारा परमात्माका ही चिन्तन होगा।

प्रकृतिकी साम्यावस्था (एकता)-में प्रलय होता है। परमात्माकी साम्यावस्थामें मुक्ति होती है। **प्रकृतिकी एकतामें महान् दुःख है, परमात्माकी एकतामें महान् आनन्द है**। एकता भावसे होनी चाहिये, बाहर (व्यवहार)-से नहीं।

××× ××× ××× ×××

संसारकी जितनी जानकारी (साक्षरता) बढ़ेगी, उतने राग-द्वेष, अशान्ति, संघर्ष बढ़ेंगे। संसारकी जानकारी कामकी नहीं है। उससे ज्यादा आफत होगी। भगवान्‌की जानकारी बढ़ेगी तो शान्ति होगी।

हरदम सावधान रहो; क्योंकि मानवशरीरका लाभ सावधान रहकर ही ले सकते हैं। मरना अवश्यम्भावी है और अन्तकालीन चिन्तन पुनर्जन्ममें कारण है। अतः हरदम सावधान रहें, भजन व भगवच्चिन्तन होता रहे तो फिर जोखिम नहीं है। मनुष्यशरीर अभी हाथमें है। अपना कल्याण करनेमें हम स्वतन्त्र हैं। मनुष्यमें मनुष्यता है—सबका हित कैसे हो और अपना कल्याण कैसे हो? **अपना कल्याण करनेसे सबका हित हो जाता है और सबका हित होनेसे अपना हित हो जाता है**। जो योग्यता, पद, अधिकार आदि मिला है, उससे दूसरोंकी सेवा करें। मनुष्यशरीर साधनयोनि है। अपने उद्धारका मौका मनुष्यजीवनमें ही है।

सेवा करना मनुष्यका खास काम है। अन्य योनियाँ सेवा नहीं कर सकतीं, उनसे सेवा होती है। देवतालोग केवल ड्यूटी बजाते हैं।

भोग और संग्रहकी कामनासे ही सब पाप होते हैं। मनुष्यजन्ममें किये हुए पाप ही चौरासी लाख योनियोंमें भोगे जाते हैं।

××× ××× ××× ×××

साधकके लिये सुखेच्छा बहुत बाधक है। बड़े-बड़े भयंकर पाप सुखेच्छासे ही होते हैं। **सुखकी इच्छा ही माया है, बन्धन है।** सांसारिक सुख पारमार्थिक मार्गमें खास बाधा है।

भाग्यमें जितना लिखा है, उतना ही आयेगा। लोटेको चाहे समुद्रमें एक मील नीचे डुबो दो, पर बाहर निकलेगा तो पानी उतना ही रहेगा।

इच्छासे दुःख-ही-दुःख होगा। एकादशीव्रतमें एकने अन्न नहीं लिया और एकको अन्न नहीं मिला। जिसने अन्न नहीं लिया, उसे तो सुख मिलता है, पर जिसे अन्न नहीं मिला, उसे अन्नकी इच्छासे दुःख मिलता है।

इच्छामात्रसे सांसारिक वस्तु नहीं मिलती, पर परमात्मा मिलते हैं।

××× ××× ××× ×××

हमारी सृष्टि अहम्‌से ही रची हुई है। अहम् (मैं) मिट जायगा तो हमारे लिये संसार मिट जायगा। जबतक अहंकार है, तबतक संसार है। अहंकारके कारण ही मनुष्य अपनेको एकदेशीय देखता है, अन्यथा वह सर्वव्यापी है—‘**नित्यः सर्वगतः**’ (गीता २। २४)।

आँख इतनी बड़ी है कि उससे कितना ही देख लें, वह कभी भरती नहीं। आँखसे भी मन बड़ा है,

मनसे बुद्धि बड़ी है, बुद्धिसे अहम् बड़ा है और अहम्‌से भी आप स्वयं बड़े हैं। आपके एक अंशमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हैं। आप अहम्‌के आश्रय, आधार, प्रकाशक और अधिष्ठान हैं। आप अहम्‌के आश्रित नहीं हैं। आपके एक देशमें अहम् है। आपकी एकता परमात्मासे है। आप अहम्‌से रहित हैं। गाढ़ नींदमें अहम् नहीं रहता, पर आप रहते हैं। आपके भीतर अनन्त ब्रह्माण्ड हैं।

मुक्ति होती नहीं। मुक्ति स्वत:सिद्ध है। आप स्वत:मुक्त हैं। संसार स्वत: आपसे अलग है। ज्ञान और प्रेम स्वत: आपमें हैं। जैसे पहेलीका पता चलता है, ऐसे स्मृति जाग्रत् होती है।

××× ××× ××× ×××

शरीर-संसारसे हमारा निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। हमारा काम इतना ही है कि जिससे सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद स्वीकार कर लें। परमात्माके साथ स्वाभाविक सम्बन्धको स्वीकार कर लें। **संसारसे हमने सम्बन्ध माना है, इसलिये कहते हैं कि सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। वास्तवमें संसारसे सम्बन्ध है ही नहीं**। हम परमात्मामें हैं, परमात्मा हमारेमें हैं। संसार तो अलग बह रहा है।

शरीरके साथ सम्बन्ध स्वत: नहीं है। केवल हमने व्यसनकी तरह शरीरके सम्बन्धको पकड़ा हुआ है।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यके एक तरफ संसार है, एक तरफ परमात्मा हैं। सांसारिक पदार्थोंकी इच्छा जड़ता है, परमात्माकी इच्छा चिन्मयता है। दोनोंकी इच्छा होनेसे जीव होता है। **संसारकी इच्छा मुख्य होनेसे वह संसारी हो जाता है, परमात्माकी इच्छा मुख्य होनेसे वह साधक हो जाता है।** साधन करना मनुष्यका काम है, संसार या परमात्माका काम नहीं। साधनका अधिकारी मनुष्य है।

भगवान्‌का चिन्तन, भजन संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये है। संसारके सम्बन्धसे अनेक पाप होते हैं। परमात्माके सम्मुख होनेसे उन्नति-ही-उन्नति होगी, संसारके सम्मुख होनेसे पतन-ही-पतन होगा। शरीर संसारका है, उसे संसारकी सेवामें लगा दें। हम परमात्माके हैं, हम परमात्मामें लग जायँ। संसारसे सम्बन्ध हमने जोड़ा है; अत: इसे तोड़नेकी जिम्मेवारी भी हमारेपर है।

जीव भगवान्‌को भूला है। भगवान् जीवको नहीं भूले हैं। जैसे माँका बालकपर स्वत: स्नेह, अपनापन होता है, ऐसे ही भगवान्‌का जीवपर स्वत: स्नेह, प्यार, अपनापन है।

परमात्माकी तरफ चलनेवालेका सभी साथ देते हैं। जैसे, गंगोत्रीसे गंगाकी छोटी-सी धारा समुद्रकी तरफ चलती है तो सभी नदी, नद, झरने आदि उसमें मिलते जाते हैं। परन्तु पानीकी बड़ी धारा भी खेतोंमें जाती है तो उसका कोई सहायक नहीं होता और वह खेतोंमें ही विलीन हो जाती है। ऐसे ही संसारकी तरफ चलनेवाला संसारमें ही रह जाता है अर्थात् जन्मता-मरता रहता है।

संसारकी चाहना पतनका कारण है, भगवान्‌की चाहना उद्धारका कारण है।

××× ××× ××× ×××

सबका वर्तमान निर्दोष है। दोष आगन्तुक हैं। आगन्तुक दोषोंको अपनेमें न मानें। आप स्वरूपसे निर्दोष हैं। दोषोंको अपनेमें स्थापन न करें। दोषोंका ज्ञान दोषोंको होता है या निर्दोषको? काला टीका सफेदमें दीखता है, न कि कालेमें। दोष अनित्य हैं। निर्दोषता नित्य है। जबतक आप दोषोंको सत्ता और महत्ता देंगे, तबतक वे आयेंगे। दोष विद्यमान नहीं हैं—**'नासतो विद्यते भाव:'** (गीता २। १६)। निर्दोषता आपका स्वरूप है—**'चेतन अमल सहज सुख रासी'**।

मेरेमें दोष हैं—इस भावनासे अपनेमें दोष आते हैं। मैं निर्दोष हूँ—यह अनुभव है, भावना नहीं।

अपनी निर्दोषताका ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है, जीवन्मुक्ति है।

××× ××× ××× ×××

तत्त्वको जाननेवालेका अनुभव ही वास्तविक

होता है। **तत्त्वको जाननेवाले दो हैं—भगवान् और उनके भक्त।** दोनोंकी ही दृष्टिमें संसार नहीं है, केवल परमात्मा ही हैं। संसार जीवकी दृष्टिमें है।

संसारकी सत्ता मानकर साधन करनेसे संसारकी सत्ता दूरतक साथ रहती है। अत: पहलेसे ही सन्तोंकी बात मान लें कि सब कुछ परमात्मा ही हैं। हमारेको अनुभव हो चाहे न हो, हैं तो सब परमात्मा ही।

संसारको सत्य मानकर उससे सम्बन्ध रखते हुए कितना ही साधन करो, वर्तमानमें सिद्धि नहीं मिलेगी।

गुण हर समय रहता है, पर दोष आता-जाता है। दोषके समयमें भी गुण है। गुण ही दोषको सत्ता देता है।

××× ××× ××× ×××

निषेधात्मक साधनमें न परिश्रम होता है, न खर्च। अत: किसीका भी अहित न करना सुगम है। परमात्मतत्त्व स्वत:सिद्ध है। केवल आवरणका निषेध करना है। निषिद्धका त्याग करनेपर विहित स्वत:स्वाभाविक होता है। पारमार्थिक मार्गमें न करनेयोग्य कार्य न करनेसे सिद्धि होती है। अन्तमें ज्ञान स्वरूपका नहीं होता, प्रत्युत असत्का ज्ञान होता है।

त्यागसे तत्काल शान्ति होती है। जाने हुए असत्का त्याग कर दें, फिर न जाने हुए असत्का त्याग सुगम हो जायगा। **विहित ग्रहण करनेकी अपेक्षा निषिद्धके त्यागकी महिमा ज्यादा है।**

××× ××× ××× ×××

एक 'यह' है, एक 'मैं' है और एक 'है' है। **'यह' भौतिक दर्शन है, 'मैं' आध्यात्मिक दर्शन है और 'है' आस्तिक दर्शन है।** 'मैं' के दो भाग हैं—'मैं' और 'हूँ'। 'मैं' अपरा है और 'हूँ' परा। 'हूँ' में प्रकृति और परमात्मा दोनोंका अंश है।

उपार्जित वस्तु बड़ी नहीं होती, प्रत्युत उपार्जन करनेवाला बड़ा होता है। धन उपार्जित वस्तु है।

हम 'पर' का जितना संग करते हैं, उतना ही पतनमें जाते हैं, उतने ही पराधीन हो जाते हैं।

धन और भोगकी आसक्ति महान् पतन करनेवाली है। भगवान्की तरफ चलनेवाला जीते-जी संसारसे मुक्त हो जाता है।

××× ××× ××× ×××

देवताओंका शरीर बहुत दिव्य है। उन्हें मनुष्यशरीरसे दुर्गन्ध आती है। ऐसा होनेपर भी वे मनुष्य-जन्म चाहते हैं तो इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्यशरीर 'मनुष्यता' का नाम है। शरीर मुख्य नहीं है, मनुष्यता मुख्य है। मनुष्य उस महान् आनन्दको प्राप्त कर सकता है, जिसमें दु:खका लेश भी नहीं है।

मनुष्यशरीरमें विवेकशक्तिकी महिमा है। उसमें भी विवेकशक्तिके सदुपयोगकी महिमा है। परमात्माकी प्राप्ति कर लेना ही सच्ची मनुष्यता है।

क्रोधका कारण है—कामना और अभिमान। क्रोधसे बचना चाहते हो तो कामना और अभिमानका त्याग कर दो। क्रोधका सुख लेनेसे क्रोध भीतर बैठा हुआ है। उसका सुख मत लो।

××× ××× ××× ×××

भगवान्ने किसी भी जीवका त्याग नहीं किया है, जीव ही भगवान्से विमुख हुआ है।

किसी भी वस्तुको आप सदा अपने साथ नहीं रख सकते, पर उसे 'मेरी' माननेसे आप बँध जाते हैं और वह वस्तु भी अशुद्ध हो जाती है। उसे 'मेरी' न मानकर भगवान्का माननेसे वह वस्तु शुद्ध हो जाती है, प्रसाद बन जाती है। **यदि आप सच्चे हृदयसे पुत्रसे ममता हटा लो और उसे भगवान्को सौंप दो तो उसका स्वभाव सुधर जायगा!**

भगवान्का हो जानेके बाद कोई दु:ख भी आता है तो उसमें बड़ा आनन्द आता है।

'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—यह सर्वश्रेष्ठ बात है, जो मुझे इन वर्षोंमें मिली!

शरीर मुख्य नहीं है, आप स्वयं मुख्य हो।

××× ××× ××× ×××

मनुष्यजन्ममें हम पूर्ण उन्नति कर सकते हैं। दु:ख तो रहे नहीं और महान् शान्ति, आनन्द मिल जाय—यह स्थिति हम इस शरीरमें प्राप्त कर सकते हैं। इसमें

मनुष्यमात्रका अधिकार है।

विवेककी महिमा सदुपयोग करनेमें है। उस विवेकके सदुपयोगके कारण ही मनुष्यशरीरकी महिमा है।

जो वस्तु अपनेसे अलग होती है, वह अपनी नहीं होती।

घड़ी बन्द होनेपर फिर चाबी भर सकते हैं, पर श्वास बन्द होनेपर फिर चाबी (श्वास) नहीं भर सकते।

साधन करते रहनेपर भी सुख लोलुपताके कारण साधनकी सिद्धि नहीं होती। सुखेच्छाके रहते हुए शुद्ध साधन नहीं होता। सुखकी कामना ही दु:खोंकी, पापोंकी जड़ है। सुखकी इच्छा उन्नति नहीं होने देगी। आरामकी इच्छा मुख्य रहेगी तो भजन गौण रहेगा।

बिना सत्संग किये केवल पुस्तकोंसे प्रकाश नहीं मिलता। सत्संग करके फिर पुस्तकें पढें, तब बात खुलती है।

पैसा कमानेके लिये तो अनुकूलताका त्याग कर देते हैं, पर भजनके लिये अनुकूलताका त्याग नहीं करते—यह बाधा है। रुपयोंकी, जीते रहनेकी जितनी इच्छा है, उतनी भगवान्‌की इच्छा है क्या?

विचार करें, लोग हमें अच्छा कहेंगे तो क्या हम अच्छे हो जायँगे? क्या भगवान् हमें अच्छा मान लेंगे?

सुखकी इच्छासे सुख नहीं मिलता—यह नियम है। सुखकी आशा पारमार्थिक मार्गमें महान् बाधक है। **यदि पारमार्थिक उन्नति चाहते हो तो संसारका सुख छोड़ना पड़ेगा।**

बेटा सपूत होगा तो धन कमा लेगा और कपूत होगा तो धन उड़ा देगा, फिर क्यों मेहनत करते हो? ज्यादा धन होगा तो बेटोंका पतन होगा, वे आलसी-प्रमादी बनेंगे।

असली 'बनिया' वह है, जो बन जाय! बिगड़ जाय तो बनिया क्या?

जबतक एक भी प्राणी बन्धनमें है, तबतक हम सन्तोष कैसे करें?

××× ××× ××× ×××

जबतक आपके भीतर दूसरेके अहितकी बात रहेगी, तबतक उन्नति नहीं हो सकती। दूसरेके लिये कभी बाधक मत बनो। दूसरेको तकलीफ न हो—इस बातकी तरफ विशेष खयाल रखो। आज ही यह शिक्षा ले लो कि हमारे द्वारा किसीको भी तकलीफ न पहुँचे। यह परमात्माकी प्राप्तिका साधन है। कम-से-कम इस बातका ध्यान रखो कि हमारे द्वारा किसीको भी तकलीफ न हो।

परमात्मामें प्रेम होनेका नाम 'सत्संग' है। सत्संग होनेपर सद्भाव, सत्कर्म और सच्चर्चा स्वत: होंगे। **किसीको भी तकलीफ न हो—यह विचार हो गया तो सत्संग हो गया**। किसीको तकलीफ दी तो दु:खका बीज बोया गया।

किसीको बुरा न समझना भी सत्संग है। प्रत्येक मनुष्य भीतरसे परमात्माका अंश है। हमें परमात्माकी तरफ देखना है, बुराईकी तरफ नहीं। दूसरी बात, कोई भी मनुष्य सर्वांशमें बुरा नहीं होता, सबके लिये बुरा नहीं होता और सब समय बुरा नहीं होता।

किसीका बुरा न चाहना, किसीको बुरा न मानना और किसीका बुरा न करना—इन तीन बातोंको जो मान लेगा, वह सन्त हो जायगा।

××× ××× ××× ×××

हर समय भगवान्‌का स्मरण करो, न जाने कब अन्तकाल आ जाय! जो चिन्तन 'करते' हैं, वह नकली है और जो चिन्तन 'होता' है, वह असली है। चिन्तन करते हुए कार्य करना—इसमें 'चिन्तन' मुख्य है। कार्य करते हुए चिन्तन करना—इसमें 'चिन्तन' गौण है। उत्तम साधक वह है, जो चिन्तन करते हुए कार्य करता है। सांसारिक कार्य तो बिगड़ेगा ही, सुधर जायगा तो भी अन्तमें बिगड़ेगा।

जिससे सम्बन्ध जोड़ते हैं, जिसमें आकर्षण होता है, उसका चिन्तन स्वत: होता है। 'मैं ब्राह्मण हूँ'—यह चिन्तन हर समय नहीं होता, पर इसमें भूल नहीं होती। मैं-पनको बदलनेसे भूल नहीं होती। 'मैं

भगवान्‌का हूँ'—इस प्रकार मैं-पनको बदल दें। मैं भगवान्‌का हूँ—यह सच्ची बात है, जो कभी मिटती नहीं।

रोगी व्यक्तिको भगवान्‌का स्मरण कराना सबसे बड़ी और सच्ची सेवा है।

सत्संगके द्वारा अपने मैं-पनको बदल लें कि आजसे मैं भगवान्‌का हूँ। विवाहमें एक ब्राह्मणके कहनेसे आप अपनेको पतिका मान लेती हैं, अब एक साधुके कहनेसे मान लो कि हम भगवान्‌के हैं! वास्तवमें आप सदासे स्वतः भगवान्‌के हैं। स्त्री-पुरुषका शरीर तो बाहरका चोला है। मैं केवल आपको याद दिलाता हूँ कि आप भगवान्‌के हैं। अर्जुनने भी गीताके अन्तमें कहा था—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**' (गीता १८। ७३) 'मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है।'

××× ××× ××× ×××

संसार सुख लेनेके लिये नहीं है, प्रत्युत सुख देनेके लिये है।

भगवान्‌की तरफ चलनेसे निर्मलता स्वतः आती है।

सन्त-महात्माओंकी बातें सुननेके बाद ये बातें पुस्तकोंमें, शास्त्रोंमें भी मिल जाती हैं और समझमें आ जाती हैं, जबकि पहले पुस्तकें पढ़नेपर भी वे ठीक समझमें नहीं आतीं।

जैसे काँटा निकालते समय दर्द तो होता है, पर दुःख नहीं होता, प्रत्युत काँटा निकल रहा है—इसका सुख होता है। ऐसे ही ज्ञान होनेपर पीड़ाका अनुभव तो होगा, पर दुःख नहीं होगा। व्रत-उपवास करनेपर अन्न न मिलनेका दुःख नहीं होता। परन्तु बिना व्रतके अन्न न मिले तो दुःख होता है कि आज न जाने प्रातः किसका मुख देखा जो अन्न नहीं मिला! दवाई कड़वी लगती है, पर उससे रोग कटता है। प्रतिकूलतामें हमारा कर्जा उतरता है, पाप फल भुगताकर नष्ट होता है।

××× ××× ××× ×××

विवेकको लेकर ही मनुष्यशरीरकी महिमा है। भगवान्‌ने संसारमात्रके कल्याणके लिये विवेक दिया है। यह विवेक मनुष्यमें स्वतः है। विवेकका आदर करना, उसको महत्त्व देना साधकका काम है।

शरीरको मैं-मेरा मानना असत्‌का संग है। शरीरको मैं-मेरा न मानना सत्‌का संग है। शरीरका सदुपयोग है—संसारकी सेवा करना और भगवान्‌को याद करना। व्यवहार यथायोग्य करते हुए भी भीतरसे शरीरको मैं-मेरा न मानें।

जो चीज सबकी है, वही हमारी हो सकती है। जो सबकी नहीं है, वह हमारी नहीं हो सकती। परमात्मा सबके हैं। परमात्माके सिवाय कोई भी चीज ऐसी नहीं है, जो सबकी हो। अतः एकमात्र परमात्मा ही हमारे हैं।

संसारका अंश संसारको दे दो और परमात्माका अंश परमात्माको दे दो—इसका नाम 'मुक्ति' है।

××× ××× ××× ×××

धर्मके लिये भी धन लेना तो दूर रहा, धन कमाना भी ठीक नहीं है। शास्त्रमें आया है—

यस्य धर्मार्थमर्थेहा तस्यानीहा गरीयसी॥
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्।

(पद्मपुराण, सृष्टि० १९। २५१-२५२)

'जिसकी धर्मके लिये धन-संग्रहकी इच्छा होती है, उसके लिये उस इच्छाका त्याग ही श्रेष्ठ है; क्योंकि कीचड़को लगाकर धोनेकी अपेक्षा उसका स्पर्श न करना ही उत्तम है।'

कपड़ेमें कीचड़ लग जाय तो पानीसे धोनेपर भी वह पूरा नहीं छूटता। धर्म धनके अधीन नहीं है। **धर्मके लिये भी धन लेनेपर धनका महत्त्व ही बढ़ता है।** बम्बईमें मेरे सामने गायोंके लिये धन इकट्ठा करनेके उद्देश्यसे सत्संग-स्थलपर पेटियाँ रखनेकी बात कही गयी तो मैंने कहा कि मैं यहाँ धर्मका महत्त्व बढ़ाने आया हूँ, धनका महत्त्व बढ़ाने नहीं आया हूँ।

भगवान्‌के यहाँ रुपयोंकी संख्या नहीं देखी जाती, प्रत्युत शक्ति देखी जाती है। जिसके पास सौ

रुपये हैं, वह एक रुपया दान कर देता है। ऐसे ही करोड़पतिने एक लाख रुपया दान किया तो वास्तवमें उसने एक रुपया ही दिया, पर देखनेमें वह बड़ा दानी दीखता है। **जिसके हृदयमें रुपयोंका महत्त्व है, वह दान नहीं कर सकता**। शुभ कार्यमें पैसा लगाना बड़ा कठिन है। रुपये कमानेमें तो सब साथ देंगे, पर दान करनेमें सब साथ नहीं देंगे।

संसारकी एक वस्तुको लेनेसे उसके साथ अनेक आफतें पैदा हो जाती हैं। एक मोटर लेते हैं तो आफतोंकी लाइन लग जाती है कि ड्राईवर चाहिये, पेट्रोल चाहिये, लाइसेंस चाहिये आदि। कोई सम्बन्धी या पड़ोसी मोटर माँग लेता है तो आफत! मोटर दे तो मोटर खराब, और मोटर न दे तो मन खराब! आप समझते हैं कि हम मोटरपर चढ़ते हैं, पर वास्तवमें मोटर आपपर (हृदयपर) चढ़ती है! मैं पैसा पासमें नहीं रखता तो वास्तवमें मोटरपर मैं ही चढ़ता हूँ! पेट्रोल समाप्त हो जाय तो चिन्ता नहीं, मोटर खराब हो जाय तो चिन्ता नहीं!

पुण्य रुपयोंसे नहीं होता, प्रत्युत त्यागसे होता है। त्यागका जो असर पड़ता है, वह रुपयोंका नहीं पड़ता।

सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) किसी अभावग्रस्तको रुपया देते थे तो कहते थे कि न तो मैंने दान दिया है और न कर्जा ही दिया है। मैंने तो रुपया अपने घरखर्चेमें लिख दिया। अब तुम्हें ग्लानि हो तो दे देना, नहीं तो मत देना। वे दूसरेको पैसा देकर उसपर अहसानका भार नहीं डालते थे।

कल्याण रुपयोंसे नहीं होता, उदारभावसे होता है। उदारता साथमें चलेगी।

अच्छे काममें देरी मत करो; क्योंकि काल सबको खा जाता है। अच्छे कामकी मनमें आये तो तुरन्त कर दो और बुरेकी मनमें आये तो देरी कर दो।

××× ××× ××× ×××

परमात्मा कण-कणमें परिपूर्ण हैं। वे कभी किसीको अप्राप्त नहीं हो सकते और कभी किसीसे दूर नहीं हो सकते। ऐसा कोई कण नहीं, जिसमें परमात्मा परिपूर्ण न हों, और ऐसा कोई कण नहीं, जिसका वियोग न हो रहा हो। संसार स्वतः ही अलग हो रहा है। संसार अभीतक किसीको नहीं मिला।

परमात्माको प्राप्त करना है और संसारका त्याग करना है—इन दोनों धारणाओंका हमें त्याग करना है।

संसार जा रहा है, पर यह कहना कि 'संसार रह रहा है'—यह पागलपना है। जो नहीं है, उसे 'है' मानना और जो है, उसे 'नहीं' मानना—यह उलटी बुद्धि है। इस विपरीत धारणाको मिटाना ही मुक्ति है।

'नहीं' में 'है'-बुद्धि ही परमात्माकी प्राप्तिमें बाधा है।

××× ××× ××× ×××

रामायणमें उर्मिलाका सतीत्व बहुत विलक्षण है। लक्ष्मणजी सेवाके लिये रामजीके साथ वनमें गये थे। अतः लक्ष्मणजीकी सेवामें बाधा न पड़े, इस विचारसे उर्मिला लक्ष्मणजीके साथ नहीं गयीं। रामजीने सीताको साथमें इसलिये नहीं लिया कि आराम देगी, प्रत्युत इसलिये लिया कि मेरे वियोगमें यह मर जायगी। कारण कि सीताजीने कह दिया था कि यदि आपको विश्वास है कि मैं आपके बिना जी जाऊँगी तो साथमें मत ले जाओ। दूसरी बात, सीताजी इसलिये साथ गयीं कि उनके बिना लीला पूरी नहीं होती।

श्रोता—अशुद्ध अवस्थामें भगवान्‌का नाम लेना चाहिये या नहीं?

स्वामीजी—जरूर लेना चाहिये। अशुद्ध अवस्थामें भगवान्‌का नाम नहीं लेना—यह भाव रहेगा तो बड़ी हानि हो जायगी। कारण यह है कि अन्तकालमें रोग आदिके कारण प्रायः अशुद्धि रहती है, फिर नाम लिये बिना मर गये तो क्या दशा होगी? नामजप तो श्वाससे भी अधिक मूल्यवान् है। क्या अशुद्ध अवस्थामें श्वास नहीं लेते?

अधिक बीमार व्यक्तिको सांसारिक लाभ-हानिकी बातें मत सुनाओ। छोटे बच्चोंको उसके पास मत ले जाओ; क्योंकि बच्चोंमें स्नेह अधिक होता है; अतः वृत्ति उधर चली जायगी।

अशुद्ध अवस्थामें (मासिकधर्मके समय) माताएँ तुलसीकी मालामें जप न करके काठकी मालामें जप करें। गंगाजीकी धारामें स्नान न करके गंगाजल मँगाकर घरमें स्नान करें। तुलसीकी कण्ठी पहन सकती हैं; क्योंकि कण्ठी हर समय रहनी चाहिये।

स्त्रीको गायत्री-मन्त्रका जप नहीं करना चाहिये। आजकल गायत्री-मंत्रका जप वे स्त्रियाँ करती हैं, जिनके भीतर अभिमान है कि हम छोटे क्यों रहें? अपना कल्याण चाहनेवाली स्त्री गायत्री-जप नहीं करेगी। जिसके भीतर अभिमान है, वह पण्डित भी हो तो नरकोंमें जायगा। भगवन्नामका जप गायत्री-जपसे कम नहीं है। भगवन्नाम-जपमें सभीका समान अधिकार है। पर जिसने यज्ञोपवीत धारण न किया हो, ऐसे ब्राह्मणको भी गायत्री-जपका अधिकार नहीं है*।

××× ××× ××× ×××

जैसे पुत्रका पितापर हक लगता है, ऐसे ही भगवान्‌पर हमारा हक लगता है। पर संसारपर अपना हक जमानेसे हमें उस हककी भूली हो गयी। जो चीज अपनी नहीं है, उसे अपना मान लिया—इस बेईमानीसे ही सब दु:ख हुए हैं।

धन-सम्पत्ति, परिवार आदिको कितना ही पकड़ लो, पर वह तो छूटेगा ही। छूटेगा तो रोओगे, छोड़ दो तो आनन्द हो जायगा!

संसारके सब काम तो दूसरे ही कर देंगे, पर रोना आपकी ही पाँतीमें आयेगा!

××× ××× ××× ×××

व्याकरणमें 'नाश' का अर्थ अभाव नहीं है, प्रत्युत अदर्शन (लोप) है। शरीर नाशवान् है अथवा परिवर्तनशील है—इसमें अनेक मतभेद हैं। हमारा निर्णय यह है कि शरीर-संसार हमारे कामके नहीं हैं। हमारे कामके भगवान् हैं।

मुझे कोरी दार्शनिक बातें अच्छी नहीं लगतीं। दार्शनिक विचारसे कोई लाभ नहीं! मुझे वह बात अच्छी लगती है, जो अनुभवमें आ जाय।

जैसे आकाशका अन्त नहीं आता, ऐसे ही ज्ञानका भी अन्त नहीं आता। मुझे अभी भी नयी-नयी बातें मिलती हैं। मेरे मनमें यही बात आती है कि जीवका कल्याण कैसे हो?

संसारका कोई भी विषय निरन्तर प्यारा लग सकता ही नहीं। उससे अरुचि होती ही है।

सभी दर्शन 'इदंता' से शुरू हुए हैं, पर गीताकी विलक्षणता है कि यह 'अहंता' से शुरू हुई है। गीताकी जैसी शुरुआत है, वैसी किसी दर्शनकी नहीं है। **दर्शन बातें सिखाते हैं, पर गीता अनुभव कराती है।** गीता आपके खुदके अनुभवसे शुरू होती है। गीता भगवान्‌का वचन है, आचार्योंका वचन नहीं। भगवान् सिखाते नहीं हैं, प्रत्युत आपके शोक-चिन्ता मिटाते हैं।

बचपनमें रंगीन काँचके टुकड़े बड़े मूल्यवान् दीखते थे, पर आज उनका कोई मूल्य नहीं है। ऐसे ही वैराग्य होनेपर रुपये, सोने-चाँदी आदिका कोई मूल्य नहीं रहता।

अनजानमें कोई पाप बन गया हो तो आर्तभावसे रोकर भगवान्‌को पुकारो। उनसे प्रार्थना करो। भगवान्‌के समान कोई दयालु नहीं है। आगेसे पाप मत करो।

कामना मिटाना चाहते हैं, पर मिटती नहीं तो भगवान्‌को पुकारो।

××× ××× ××× ×××

उत्पन्न-नष्ट होनेकी परम्परा हमारे देखनेमें आती

---

* सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति,.........सावित्रीं लक्ष्मीं यजु: प्रणवं यदि जानीयात्स्त्रीशूद्र: स मृतोऽधो गच्छति तस्मात्सर्वदा नाचष्टे यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव मृतोऽधोगच्छति॥ (नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् १। ३)

'गायत्री, प्रणव तथा यजु:स्वरूप महालक्ष्मी मन्त्रका उपदेश ज्ञानिजन स्त्रियों और शूद्रोंको नहीं देना चाहते।.............गायत्री, प्रणव और यजुर्वेदमय महालक्ष्मी मन्त्रको यदि स्त्री और शूद्र जान लें तो वे मरनेपर अधोगतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् नरकों और नीची योनियोंमें गिरते हैं। इसलिये सदा ही सावधान रहकर उनको इन मन्त्रोंका उपदेश न दे। यदि कोई उन्हें उपदेश देता है तो वह आचार्य भी उन्हींके साथ मरनेपर अधोगतिको प्राप्त होता है।'

है। वास्तवमें उत्पत्ति-विनाशमें विनाश ही मुख्य है। संयोग-वियोगमें वियोग ही मुख्य है। स्थिति-प्रलयमें प्रलय ही मुख्य है। परमात्माके साथ नित्ययोग है। उससे विमुखता हमारी की हुई है। जबतक संसारकी प्राप्तिकी लालसा है, तबतक परमात्माकी नित्यप्राप्तिका अनुभव नहीं होता। संसारको चाहे कैसा ही मानें, उसका वियोग नित्य है।

परमात्मासे विमुख होनेपर संसार पक्का दीखता है। परमात्माके सम्मुख होनेपर संसार कच्चा हो जाता है। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर संसार मिट जाता है। मार्मिक बात यह है कि संसारके साथ हमारा सम्बन्ध असत्य है।

××× ××× ××× ×××

प्रतीक्षामें भगवान्‌का चिन्तन विशेषतासे होता है। शबरी प्रतीक्षामें थी। भगवान् ऋषियोंके आश्रम छोड़कर उसकी कुटियामें पधारे। अधिक प्रेममें जैसे भक्त अपने-आपको भूल जाता है, ऐसे भगवान् भी प्रेममें अपने-आपको भूल जाते हैं। विदुरानी केलेके छिलके खिलाती है तो भगवान् वही प्रेमसे खाते हैं। विदुरानीको पता नहीं है कि मैं छिलका दे रही हूँ और भगवान्‌को भी पता नहीं है कि मैं छिलका खा रहा हूँ! बढ़िया भोजन वही होता है, जिसमें खिलानेवालेको ज्यादा आनन्द आता है।

जिसके हृदयमें जड़ चीजोंका आदर होता है, उसका हृदय अशुद्ध होता है। वह भगवान्‌को नहीं जान सकता। धृतराष्ट्रके हृदयमें पक्षपात (**'मामकाः'** व **'पाण्डवाः'**) था, इसलिये वे भगवान्‌को नहीं जानते थे। कुन्ती, विदुर, संजय और भीष्म—ये भगवान्‌को विशेष जानते थे।

'मानउँ एक भगति कर नाता' (मानस, अरण्य० ३५। २)—भगवान् भक्तिका नाता मानते हैं, ब्राह्मण-शूद्रादिका नाता नहीं। भगवान्‌की भक्तिमें वर्ण-आश्रम आदिका विचार नहीं होता। विधि, व्यवहारमें ब्राह्मणादिका विचार होता है। वर्ण-आश्रम शरीरके धर्म हैं। **भक्त स्वयं होता है, शरीर नहीं।** स्वयं भगवान्‌का अंश है, शरीर चाहे जैसा हो। सेवामें नीचा-से-नीचा काम भी ऊँचा होता है। भक्ति और तत्त्वज्ञान स्वयंके हैं, शरीरके नहीं। **जहाँ जातिका अभिमान होता है, वहाँ भक्ति होनी बड़ी कठिन है।** अभिमानी व्यक्ति भक्त नहीं हो सकता।

जातिका विचार विधि-विधानमें, रोटी-बेटीके व्यवहारमें होता है। भक्तिमें जातिका विचार नहीं होता।

××× ××× ××× ×××

जो संसार दीखता है, वह स्थिर रहता है क्या? संसार निरन्तर अभावमें जा रहा है। उसमें जो 'है'-पना दीखता है, वह परमात्माका है। जैसे बादल, वर्षा, ओले, बिजली आदि सब आकाशमें ही उत्पन्न होते हैं और आकाशमें ही लीन होते हैं, पर आकाश ज्यों-का-त्यों रहता है। ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थ परमात्मामें ही उत्पन्न होते हैं और परमात्मामें ही लीन होते हैं, पर परमात्मा 'है'-रूपसे ज्यों-के-त्यों रहते हैं। परमात्मामें कुछ फर्क पड़ता ही नहीं।

परमात्माको हृदयसे माननेपर उनकी प्राप्तिकी इच्छा होती है।

सत्संग-कीर्तन अन्नप्राशन संस्कार है। अन्नप्राशन संस्कारमें बालकको खीर खिलाते हैं तो उसे कुछ-कुछ मिठास आने लगती है, जिससे वह अन्न खाना सीख जाता है। ऐसे ही सत्संग-कीर्तनसे साधकको कुछ-कुछ रस आने लगता है, जिससे वह परमात्मामें लग जाता है।

××× ××× ××× ×××

मोह खास बाधक है—***'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला'*** (मानस, उत्तर० १२१। १५)। अर्जुनने गीताके अन्तमें कहा—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत'** (१८। ७३)। भगवान्‌ने गीताके आरम्भमें कहा था—**'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं०'**; परन्तु अन्तमें भगवान्‌ने यह नहीं पूछा कि तेरा शोक नष्ट हुआ कि नहीं, प्रत्युत यह पूछा कि तेरा मोह नष्ट हुआ कि नहीं—**'कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय'**

(१८।७२)। अर्जुनने कहा कि आपकी कृपासे मोह नष्ट हुआ। कृपासे जो लाभ होता है, वह श्रवण-शास्त्राध्ययन आदिसे नहीं होता। कारण कि कृपासे जो वचन निकलते हैं, वे बड़ा असर करते हैं। गीता कृपासे ही समझमें आती है, विद्वत्तासे नहीं।

भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५।२९)। अतः कोई भी प्राणी कैसा ही हो, भगवान्‌के सम्मुख हो सकता है। सभी उनकी शरण हो सकते हैं। जो अपना कुछ भी बल मानता है, वह शरण नहीं हो सकता। किसी भी चीजका अभिमान न हो। कंगला भी करोड़पतिकी गोदमें बैठकर बिना कुछ किये करोड़पति हो सकता है।

अभिमान सबसे भयंकर दोष है। इससे सावधान रहो। अभिमान काम-क्रोध-लोभका मूल है। **भगवान्‌की कृपाको न माननेसे अभिमान आता है।** मोह नष्ट होनेपर फिर अभिमान नहीं रहता।

साधन बहुत हैं, पर सबसे श्रेष्ठ साधन है—शरणागति। इसे भगवान्‌ने 'सर्वगुह्यतम' कहा है। केवल एक ही बात है कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ।'

शरणागत होनेके बाद अपनेमें कोई कमी दीखे तो समझो कि कमी आयी नहीं, जा रही है। उसे आया हुआ मत मानो। शरणागतिको मत छोड़ो, नहीं तो ये चोर-डाकू (काम-क्रोधादि) तंग करेंगे। कमी दीखे तो 'हे नाथ! हे नाथ!' पुकारो। रक्षा करना भगवान्‌का काम है। गोस्वामीजी महाराज भगवान्‌से कहते हैं—

मम हृदय भवन प्रभु तोरा।
तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा।
मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥

(विनय० १२५।२-३)

××× ××× ××× ×××

अभिमान छोड़कर भगवान्‌की शरण हो जायँ। अलग अपना कुछ न रखें। अन्य किसीका आश्रय न रखें। शरणागति नींद लेनेकी तरह बहुत सुगम है, पर अभिमानवालेके लिये कठिन है। जीव स्वतः परमात्माका है, अतः आश्रय लेना इसका स्वभाव है।

भक्तोंपर भगवान्‌का विशेष प्रेम है। भक्तको भगवान्‌की सेवामें आनन्द आता है और भगवान्‌को भक्तकी सेवामें आनन्द आता है।

भगवान् हमारेसे दूर नहीं रह सकते। **वे सदा हमारे साथ हैं और सदा हमारे साथ रहेंगे—यह बात आप आज ही स्वीकार कर लें।** भगवान् हमारे भीतर हैं—यह हमारे पास सबसे बड़ा गुप्त खजाना है! हमारे कण-कणमें भगवान् विराजमान हैं। यदि इस बातको आप भूल जाते हैं तो इसे भगवान्‌के कोशमें जमा कर दो कि 'हे नाथ! मैं इस बातको भूल जाऊँ तो आप याद करा देना!'

कोई काम करना हो तो मनसे भगवान्‌को देखो। भगवान् प्रसन्न दीखें तो वह काम करो और प्रसन्न न दीखें तो वह काम मत करो। यह एक गुप्त साधन है। एक-दो दिन करोगे तो पता चलने लगेगा।

××× ××× ××× ×××

परमात्माकी प्राप्तिके बिना मनुष्यशरीर किसी कामका नहीं है।

मनुष्यशरीरकी उम्र श्वासोंपर निर्भर है, वर्षोंपर नहीं। जैसे, घड़ी चाबीपर निर्भर होती है। श्वासोंकी गिनती पूरी होते ही मरना पड़ेगा। भोग भोगते समय श्वास तेजीसे चलते हैं, जिससे आयु जल्दी समाप्त हो जाती है। भोग भोगनेसे शरीर जल्दी मरता है। एक दिनमें २१,६०० श्वास नष्ट हो रहे हैं, रोज कितना घाटा लग रहा है! पर इस घाटेकी पूर्ति नहीं हो सकती। वास्तवमें हम जी नहीं रहे हैं, प्रत्युत मर रहे हैं। जिस मौतसे सभी डरते हैं, वह मौत प्रतिक्षण समीप आ रही है। कहते हैं कि रुपयोंसे सब कुछ मिलता है, पर उम्र भी मिलती है क्या?

कल्याण करनेवाली तात्त्विक बातें मुझे पुस्तकोंसे नहीं मिली हैं, सन्तोंसे मिली हैं। सन्तोंसे मिलनेके बाद फिर पुस्तकोंसे मिली हैं।

इस समय पापोंकी लहर चली है! पतनका मौका आया है! अतः सावधान रहकर इससे बचो।

××× ××× ××× ×××

कोई भी परिस्थिति रहनेवाली नहीं है। अभी जो है, वह क्या ठहरेगी? इसपर स्वयं विचार करो। जबतक परमात्मा नहीं मिले, तबतक क्या हो गया? गुरु बना लिया, चेला बन गये तो क्या हो गया? क्या आप कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य, प्राप्तप्राप्तव्य हो गये?

बाहरसे यथायोग्य सब काम करते हुए भी भीतरमें आनन्द रहे, चिन्ता न रहे। बाहर चाहे जैसी परिस्थिति आये, भीतरका आनन्द कम नहीं होना चाहिये।

अन्न-जल सब जगह नहीं मिलते। उनको लेनेके लिये कहीं जाना पड़ता है। परन्तु श्वास लेनेके लिये कहीं जाना पड़ता है? कोई उद्योग करना पड़ता है? **परमात्मा इन श्वासोंसे भी सस्ते हैं!**

पारमार्थिक मार्गमें याद करना नहीं पड़ता, पर भूल होती नहीं। तृप्ति होती नहीं, पर भूख रहती नहीं!

××× ××× ××× ×××

ज्ञानरूपी प्रकाशमें अनन्त संसार दीखता है अर्थात् हमारे जाननेमें आता है; परन्तु प्रकाशमें कोई बाधा नहीं लगती। प्रकाश ज्यों-का-त्यों रहता है। आधिभौतिक प्रकाश तो बाहर प्रकाश करता है, पर आधिदैविक प्रकाश बाहर-भीतर दोनों जगह प्रकाश करता है। आध्यात्मिक प्रकाश उससे भी ऊँचा है।

परमात्मप्राप्तिकी विद्या है—परमात्मासे मित्रता कर लो और संसारसे मित्रता तोड़ दो।

स्त्री-पुरुष, मनुष्य-पशु, यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत आदि सबके चोले (शरीर) अलग-अलग हैं, पर उनमें भगवान्‌का अंश एक ही है। सृष्टिकी दृष्टिसे भी हम सब एक (पांचभौतिक) हैं, आत्माकी दृष्टिसे भी एक हैं और परमात्माकी दृष्टिसे भी एक हैं। व्यवहारमें अनेकता लाभदायक है। **तत्त्वमें एक होना आवश्यक है और संसार (व्यवहार)-में अनेक होना आवश्यक है।**

एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकता सृष्टिकी विलक्षणता है। हाथकी अँगुलियाँ एक होनेपर भी अनेक और अनेक होनेपर भी एक हैं।

दूसरोंकी सेवा करनेसे आपकी भक्ति, आपका भजन बढ़ेगा।

××× ××× ××× ×××

गीतामें कामना-त्यागकी बात विशेषरूपसे आयी है। कामना ही सम्पूर्ण पापोंकी जड़ है। कामनासे लाभ किंचित् भी नहीं है और नुकसान कोई बाकी नहीं है!

गरीब घरकी कन्या लेनेके समान कोई पुण्य नहीं है! यह पुण्य आपका कल्याण करेगा।

××× ××× ××× ×××

परमात्मप्राप्तिमें बोध और लगनकी जरूरत है। संसारकी प्राप्तिमें क्रिया और पदार्थकी मुख्यता है। परमात्माकी प्राप्ति नित्यप्राप्तकी प्राप्ति है और संसारकी प्राप्ति अप्राप्तकी प्राप्ति है।

लगनसे बहुत जल्दी परमात्मप्राप्ति होती है। **लगन न होनेसे साधन करना पड़ता है, जिसमें क्रियाकी मुख्यता रहती है। परन्तु लगन होनेपर साधन स्वतः होता है, करना नहीं पड़ता।** परमात्मप्राप्ति वास्तवमें सुगम है, पर लगन न होनेसे कठिन है। परमात्मा सदा मौजूद हैं। केवल लगनकी ही कमी है, और कोई कमी नहीं। वर्तमानमें पापोंकी लगन होनेसे भगवान्‌से बहुत ज्यादा विमुखता हो गयी है।

परमात्माको चाहनेसे वस्तुएँ आपकी गरज करेंगी। परमात्माकी तरफ चलनेवालेके लिये सब सहायक हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों आप परमात्माको चाहोगे, त्यों-त्यों वस्तुएँ आपके पास आयेंगी।

वास्तविक तत्त्व त्यागसे मिलता है।

××× ××× ××× ×××

अगर रुपया ही बढ़िया है तो फिर रुपयोंसे वस्तु क्यों खरीदते हो? **रुपयोंको बढ़िया माननेसे ही बुद्धि भ्रष्ट हुई है।** जैसे मूलमें परमात्मा हैं, ऐसे ही आपने मूलमें रुपयेको मान लिया है। काम वस्तुओंसे चलता है, रुपयोंसे नहीं। भोग और रुपये महान् पतन करनेवाली चीज है।

कुटुम्बसे सुख चाहते हो, इसलिये उसका मोह छूटता नहीं। मोहके रहते हुए बढ़िया सेवा नहीं होती।

बालक माँकी अपेक्षा पिताके पास, पिताकी अपेक्षा गुरुके पास और गुरुकी अपेक्षा सन्तके पास रहकर ज्यादा सुधरता है, श्रेष्ठ बनता है। कारण कि माँका बालकमें अधिक मोह होता है। माँकी अपेक्षा पितामें और पिताकी अपेक्षा गुरुमें मोह कम होता है। सन्तमें मोह होता ही नहीं। **जितना-जितना मोह कम होता है, उतनी-उतनी बालककी उन्नति होती है।**

जहाँ स्वार्थ होता है, वहाँ सत्संग नहीं होता, प्रत्युत कुसंग होता है।

लेनेकी इच्छासे ताले लग जाते हैं, लेनेकी इच्छा छोड़नेसे ताले खुल जाते हैं।

कोई भगवान्‌को पुकारता है तो भगवान् नहीं देखते कि यह कैसा है?

ऐसा कोई काम नहीं, जो भगवान् भक्तके लिये न कर सकें! मनुष्य भक्त बनता है तो भगवान् भी उसके भक्त बन जाते हैं—**'भगवान् भक्तभक्तिमान्'** (श्रीमद्भा० १०।८६।५९)।

××× ××× ××× ×××

दूसरोंका कल्याण करनेमें जिसकी प्रवृत्ति होती है, वह भगवान्‌को विशेष प्रिय होता है। गीताका प्रचार करनेवाला भगवान्‌को विशेष प्रिय है। इसी तरह झूठ, कपट, दुर्गुण-दुराचारका प्रचार करनेवालेका महान् पतन होता है। जो स्वयं जैसा आचरण करता है, उसका वैसा प्रचार अधिक होता है।

दुर्गुण-दुराचारसे उतना नुकसान नहीं होता, जितना नुकसान दुर्गुणी-दुराचारी व्यक्तिके कुसंगसे होता है। पापकी अपेक्षा पापीका, पैसोंकी अपेक्षा लोभीका, स्त्रीकी अपेक्षा कामीका असर ज्यादा पड़ता है।

सत्संगके द्वारा कुसंगके भाव नष्ट हो जाते हैं और कुसंगके द्वारा सत्संगके भाव दब जाते हैं।

असत्यका आश्रय लेनेवाला हमारा नुकसान नहीं कर सकता।

प्रतिकूलता आनेपर भगवान्‌के अपनेपनको देखो। उनके अपनेपनमें जितना लाभ है, उतना प्रतिकूलतामें नुकसान नहीं है।

जिनके भीतर राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि भरे हैं, उन वक्ताओंके द्वारा अच्छा प्रचार नहीं होता, प्रत्युत उनके द्वारा समाजमें गन्दगी फैलती है। जैसे, विष्ठासे भरा झाड़ू कूड़ा तो साफ कर देता है, पर गन्दगी और फैला देता है!

××× ××× ××× ×××

संसारकी इच्छा 'कामना' है और परमात्माकी इच्छा 'आवश्यकता' है। संसारका सुख भोगूँ और परमात्माकी प्राप्ति हो जाय—ये दोनों इच्छाएँ (कामना और आवश्यकता) मनुष्यके भीतर रहती हैं। प्रकृतिका अंश प्रकृतिको और परमात्माका अंश परमात्माको चाहता है। कामना कभी पूरी होती ही नहीं, पर आवश्यकता जरूर पूरी होती है।

असत्-जड़-दुःखरूप होते हुए भी संसार सत्-चित्-आनन्दरूप दीखता है; क्योंकि उसके पीछे परमात्मा हैं—

जासु सत्यता तें जड़ माया।
भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस, बाल० ११७।४)

आप भीतरसे संसारसे अलग हो जायँ।

××× ××× ××× ×××

व्यवहारमें ही परमार्थकी सिद्धि हमारी संस्कृतिकी विलक्षणता है। भारतके लोगोंकी बुद्धि बड़ी विलक्षण है।

संसारका सम्बन्ध केवल सेवाके लिये है। सदा हमारे साथ न वस्तुएँ रहेंगी, न व्यक्ति रहेंगे।

संसारमें भगवान्‌की भक्तिके समान मूल्यवान् कोई चीज नहीं है।

जैसे भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं रहता, ऐसे ही उत्तम पतिव्रताकी दृष्टिमें एक पतिके सिवाय कोई पुरुष नहीं रहता—**'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं'** (मानस, अरण्य० ५।६)।

भोग भोगनेवाला रोगी होगा ही—यह नियम है।

पाप करनेवालेकी अपेक्षा ज्यादा पाप उसको लगता है, जो पापका प्रचार करता है, पापकी प्रेरणा

करता है।

××× ××× ××× ×××

अलग वही होता है, जो पहलेसे ही अलग है। मैं शरीर नहीं हूँ और शरीर मेरा तथा मेरे लिये नहीं है—यह अनुभव हो जाय तो हम अभी विदेह हो जायँगे। विदेह वही होता है, जो पहलेसे ही विदेह है।

अपनेको शरीरके साथ न मानकर परमात्माके साथ मानें। शरीरके साथ अपनेको मानना गलती है। शरीर संसारके साथ है, हम परमात्माके साथ हैं। ऐसा मान लें तो फिर मरनेका दुःख नहीं होगा। **जो पीछे मुर्दा होगा, वही शरीर आज है।**

××× ××× ××× ×××

अगर अपने कर्तव्यका पालन करना चाहते हो तो सुखभोगका त्याग करो। संसारके सुखको मिट्टीमें मिला दिया जाय तो दूसरी जातिका सुख—महान् आनन्द मिलता है!

यदि सांसारिक सुख आपका और आपके लिये होता तो फिर सदा रहता, जाता नहीं।

कन्या एक अपरिचित व्यक्तिको अपना पति बना लेती है। पति तो दुःख भी दे सकता है, त्याग भी सकता है, साधु भी बन सकता है और मर भी सकता है, पर भगवान्‌में ये चारों ही बातें नहीं हैं। इस प्रकार जब एक मनुष्यके भरोसे आप निश्चिन्त हो सकते हैं तो क्या भगवान्‌के भरोसे निश्चिन्त नहीं हो सकते?

'मन मेरा है' तो फिर वह कभी शुद्ध नहीं होगा; क्योंकि मनमें 'मेरा'-रूप मल लगा लिया!

रामजीकी सेवाके लिये ही सीताजी रामजीके साथ वनमें गयीं, और रामजीकी सेवाके लिये ही उर्मिला घरपर रही। लक्ष्मणजी सेवाके लिये गये थे। यदि उर्मिला भी जाती तो सेवामें बाधा लगती। यदि सीताजी न जातीं तो रावण-वध आदि लीलाएँ न होतीं।

वह उलटा काम कभी मत करो, जिसे सुलटा न कर सको। परशुरामजीने माता आदिको मार दिया तो उन्हें पुनः जिला भी दिया।

××× ××× ××× ×××

संसार नाशवान् है—यह ज्ञान होना चाहिये। सीखनेसे काम नहीं चलेगा। कोई परिस्थिति सदा नहीं रहती—यह सबका अनुभव है, फिर उसकी इच्छा क्यों करें? इच्छा पूरी होगी नहीं, पूरी होगी तो टिकेगी नहीं। आजतक कोई स्थिति नहीं रही, फिर अभी जो स्थिति है, वह सदा रहेगी क्या? इसका आप स्वयं अनुभव करो। प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करो, दूसरोंकी सेवा करो।

जो होता है, वह आपकी इच्छासे नहीं होता, प्रत्युत होनहारसे होता है। होनेमें प्रसन्न रहो। करनेमें सावधान रहो। होनेमें सुख आये या दुःख आये, प्रसन्न रहो। प्रसन्न नहीं रहोगे तो क्या दुःख मिट जायगा? चिन्ता मत करो, उसका उपाय करो। करनेमें यह सावधानी रखो कि मेरे द्वारा किसीको दुःख न पहुँचे।

हम जी रहे हैं—यह बात झूठी है। हम मर रहे हैं—यह बात सच्ची है। जितनी उम्र बीत गयी, उतने तो हम मर ही गये! **मकान यहाँ बना रहे हो, सजावट यहाँ कर रहे हो, पर खुद भागे जा रहे हो मृत्युकी तरफ!** मरनेपर जहाँ जाना है, उसको ठीक करो। जो कर सकते हो, वह करते नहीं और जो नहीं कर सकते, उसके लिये चेष्टा कर रहे हो।

किसीको सुख दें तो इसके लिये परिश्रम करना पड़ेगा, पर किसीको दुःख न दें तो इसमें क्या परिश्रम है? किसीकी बुराई न चाहनेसे, न करनेसे और न सोचनेसे सबकी सेवा हो जायगी।

अच्छाई करनेसे सीमित अच्छाई होगी, पर बुराई छोड़नेसे असीम अच्छाई होगी।

भगवान्‌के जीते-जी किसीकी ताकत है कि हमारा बुरा कर दे? हमारा बुरा होनेवाला होगा, तभी होगा।

सत्संगसे हर हालमें खुश रहनेकी विद्या आ जाती है।

जो अपने हाथकी बात नहीं है, उस विषयमें चिन्ता क्यों करें? जैसे सिनेमामें जो बीत गया, वह भी मशीनमें है; जो चल रहा है, वह भी मशीनमें है; जो नहीं आया, वह भी मशीनमें है। ऐसे ही तीनों काल

भगवान्‌रूपी मशीनमें हैं, फिर हम चिन्ता क्यों करें?

होइहि सोइ जो राम रचि राखा।
को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

(मानस, बाल० ५२।४)

भगवान् बिना माँगे सहायता करते हैं, उपाय देते हैं, संग देते हैं। **जो थोड़ा भी भगवान्‌पर भरोसा रखता है, उसकी भगवान् इतनी रक्षा करते हैं, इतना ध्यान करते हैं कि कह नहीं सकते!**

××× ××× ××× ×××

शरणागति सबसे सुगम एवं सर्वश्रेष्ठ साधन है; परन्तु अभिमानी व्यक्ति शरण नहीं हो पाता। 'मैं गृहस्थ हूँ'—ऐसा माननेसे सब क्रियाएँ वैसी होंगी, जैसी गृहस्थको करनी चाहिये। परन्तु 'मैं साधक हूँ'—ऐसा माननेसे सब क्रियाएँ वैसी होंगी, जैसी साधकको करनी चाहिये। इसलिये सबसे पहले अहंताको बदलनेकी बहुत आवश्यकता है। अहंता ही संसारकी जड़ है। 'मैं साधक हूँ'—ऐसा माननेसे साधनकी मुख्यता रहेगी। राग-द्वेषरहित क्रियाएँ होनेसे गृहस्थ भी सुधर जायगा। **'मैं साधक हूँ'—यह अहंता होगी तो सत्संगकी बातोंको चट पकड़ लेगा। यदि 'मैं गृहस्थ हूँ'—यह अहंता होगी तो सत्संगकी बातें कैसे पकड़ेगा?**

जिस साधनमें आपका मन लग जायगा, वह साधन तेज हो जायगा। जिससे भगवान्‌में ज्यादा तल्लीनता हो, भगवान्‌से ज्यादा सम्बन्ध जुड़े, वह साधन तेज हो जाता है।

साधन वही सिद्ध होता है, जो निरन्तर होता है। रसोई वही तैयार होती है, जो निरन्तर बनती है। जैसे श्वास हरदम लेनेके हैं, ऐसे ही साधन हरदम करनेका है।

जैसे रोजाना रोटी खाते हैं तो उसमें नित्य नया रस मिलता है, ऐसे ही रोजाना सत्संग करनेसे नित्य नया रस मिलता है। **आप सत्संग करते हैं; अतः दुनिया आपसे अच्छे बर्तावकी आशा रखती है।** आप अच्छा बर्ताव नहीं करेंगे तो लोगोंको धक्का लगेगा!

धनसे भी अधिक मूल्य धर्म तथा ईश्वरका समझना चाहिये। धर्म पालन करनेयोग्य और ईश्वर प्राप्त करनेयोग्य है।

परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजके मुख्य सिद्धान्त—

१- मनुष्यमात्रको परमात्मप्राप्तिका जन्मसिद्ध अधिकार है।
२- मनुष्य जिस वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय, वेश-भूषा, देश आदिमें है, वहीं रहते हुए वह अपना कल्याण कर सकता है।
३- मनुष्यमात्र प्रत्येक परिस्थितिमें परमात्माको प्राप्त कर सकता है। इसके लिये उसे परिस्थिति बदलनेकी जरूरत नहीं है।
४- सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति तो कर्म करनेसे होती है, पर परमात्माकी प्राप्ति कुछ भी न करनेसे होती है।
५- परमात्माकी प्राप्ति जड़ता (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि)-के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होती है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्रश्नोत्तर

प्रश्नोत्तरमणिमाला

अर्पण

प्रश्न—अर्पण करनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—अपनापन छोड़ देना॥ १ ॥

प्रश्न—भगवान्‌को सर्वस्व अर्पण करनेके बाद क्या पूर्व संस्कारवश निषिद्ध कर्म हो सकता है?

उत्तर—नहीं हो सकता॥ २ ॥

प्रश्न—क्या भूलवश ऐसा अहंकार हो सकता है कि हमने प्रभुको सर्वस्व अर्पण कर दिया?

उत्तर—नहीं हो सकता। यदि अभिमान होता है तो वास्तवमें पूर्ण समर्पण हुआ ही नहीं। पदार्थोंको भूलसे अपना माना था, वह भूल मिट गयी तो अभिमान कैसा?॥ ३ ॥

प्रश्न—सर्वस्व अर्पण करनेसे गुणोंके साथ-साथ दोष भी समर्पित हो जायँगे, जैसे मकान बेचनेपर उसमें रहनेवाले साँप-बिच्छू भी उसके साथ चले जाते हैं?

उत्तर—अग्निमें जो भी डाला जाय, वह जलकर अग्निरूप ही हो जाता है। इसीलिये गीतामें आया है—'**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः**' (९। २८) 'इस प्रकार मेरे अर्पण करनेसे तू कर्मबन्धनसे और शुभ (विहित) और अशुभ (निषिद्ध) सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे तू मुक्त हो जायगा।' '**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि**' (१८। ६६) 'मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा'॥ ४ ॥

अवतार

प्रश्न—अंशावतार क्या होता है?

उत्तर—भगवान्‌की शक्ति अनन्त है। उस अनन्त शक्तिका एक अंश आनेसे अंशावतार होता है॥ ५ ॥

प्रश्न—भिन्न-भिन्न कल्पोंमें भगवान्‌की अवतार-लीलामें वही प्राणी रहते हैं या बदल जाते हैं?

उत्तर—भगवान् आवश्यकता पड़नेपर ही पुनः अवतार लेते हैं, पर उनकी लीलाके प्राणी (पात्र) बदलते रहते हैं। जैसे, रामलीलामें सदा एक ही पात्र काम नहीं करते, बदलते रहते हैं॥ ६ ॥

प्रश्न—कृष्णावतार सब अवतारोंसे विलक्षण क्यों है?

उत्तर—कृष्णावतारमें प्रेमकी मुख्यता है। अन्य अवतारोंमें भी प्रेमका अभाव नहीं है, पर उनमें प्रेम प्रकट नहीं है॥ ७ ॥

प्रश्न—एक तो भगवान् अवतार लेकर लीला करते हैं और दूसरा, संसारमें जो हो रहा है, वह सब भगवान्‌की लीला है—दोनोंमें क्या फर्क है?

उत्तर—अवतारकी लीला एकदेशीय होती है और उसमें भगवान्‌के भावकी मुख्यता है। होनेवाली लीला सर्वदेशीय होती है और उसमें भक्तके भावकी मुख्यता है॥ ८ ॥

प्रश्न—भगवान् तो युक्तयोगी हैं, फिर अवतारकालमें यह बात क्यों नहीं दीखती? अवतारकालमें वे युंजान योगी क्यों दीखते हैं?*

उत्तर—इसका कारण यह है कि अवतारकालमें भगवान् मनुष्यों-जैसी लीला करते हैं। वे कभी माधुर्यकी लीला करते हैं, कभी ऐश्वर्यकी॥ ९ ॥

---

* जो साधना करके सिद्ध होते हैं, ऐसे महापुरुष 'युंजान योगी' कहलाते हैं। साधनामें अभ्यास करते-करते उनकी वृत्ति इतनी तेज हो जाती है कि वे जहाँ वृत्ति लगाते हैं, वहींका ज्ञान उनको हो जाता है। परन्तु भगवान् 'युक्त योगी' कहलाते हैं। वे साधना किये बिना स्वतःसिद्ध, नित्य योगी हैं। जाननेके लिये उन्हें वृत्ति नहीं लगानी पड़ती, प्रत्युत उनमें सबका ज्ञान स्वतः-स्वाभाविक सदा बना रहता है। वे बिना अभ्यासके सदा सब कुछ जाननेवाले हैं।

अहम्

प्रश्न—अहम्‌को करण भी कहा है और कर्ता भी कहा है। करण कर्ता कैसे हो सकता है?

उत्तर—वास्तवमें अहम् करण है, कर्ता तो हम मान लेते हैं—'**कर्ताहमिति मन्यते**'

(गीता ३। २७) ॥ १० ॥

प्रश्न—मैंपन भूलसे माना हुआ है तो यह भूल किसमें है?

उत्तर—माननेवालेमें है। जिसने एकदेशीयताको स्वीकार किया है, उसमें है। यह भूल अनादि है, पर इसका अन्त होता है॥ ११ ॥

प्रश्न—मन, बुद्धि और अहम्‌के संस्कार कैसे दूर हों?

उत्तर—मन-बुद्धि-अहम्‌को छेड़ो मत। उनको मत देखो, एक 'है' को देखो। एकदेशीयपना मिट जाय—यह भी मत देखो। कुछ भी मत देखो, चुप हो जाओ, फिर सब स्वतः ठीक हो जायगा। समुद्रमें बर्फके ढेले तैरते हों तो उनको न गलाना है, न रखना है। इसीको सहजावस्था कहते हैं॥ १२ ॥

प्रश्न—अहम्‌रूपी अणु टूटना कठिन क्यों दीखता है?

उत्तर—संयोगजन्य सुखकी इच्छाके कारण ही अहंता मिटनी कठिन दीखती है। जीते रहें और सुख-सुविधासे रहें—इसपर अहंता टिकी हुई है॥ १३ ॥

प्रश्न—'मैं ज्ञानी हूँ' और 'मैं भक्त हूँ'—दोनोंमें अहंभाव समान है, फिर फर्क क्या हुआ?

उत्तर—फर्क यह है कि भक्तिमें तो भगवान्‌का सहारा है, पर ज्ञानमें किसका सहारा है? भगवान्‌का सहारा रहनेके कारण भक्तमें कुछ कमी भी रह जाय, तो भी उसका पतन नहीं होता[1]॥ १४ ॥

प्रश्न—बिना अहंकारके निषिद्ध कर्म हो जाय और अहंकारपूर्वक शुभ कर्म हो जाय तो दोनोंमें क्या ठीक है?

उत्तर—अहंकाररहित होनेपर तो कोई भी कर्म लागू नहीं होता[2], पर अहंकारके रहते हुए शुभकर्म भी बन्धनकारक हो जाता है॥ १५ ॥

आनन्द

प्रश्न—सात्त्विक सुख, शान्ति और आनन्दमें क्या फर्क है?

उत्तर—चिन्मयताके सम्बन्धसे (कीर्तन आदिमें) 'सात्त्विक सुख' मिलता है। सात्त्विक सुखका भोग न करनेसे 'शान्ति' मिलती है। शान्तिका भी उपभोग न करनेसे 'आनन्द' मिलता है।

सात्त्विक सुखमें गुण है, शान्ति और आनन्द गुणातीत हैं।

संसारके त्यागसे शान्ति और परमात्माकी प्राप्तिसे आनन्द मिलता है॥ १६ ॥

---

१. बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः। प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥ (श्रीमद्भा० ११। १४। १८)

'उद्धवजी! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय उसे बार-बार बाधा पहुँचाते रहते हैं, अपनी ओर खींचते रहते हैं, वह भी प्रतिक्षण बढ़नेवाली मेरी भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंसे पराजित नहीं होता।'

२. यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ (गीता १८। १७)

'जिसका अहंकृतभाव ('मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह युद्धमें इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

प्रश्न—सांसारिक सुख और पारमार्थिक आनन्दमें क्या अन्तर है?

उत्तर—सांसारिक सुख दुःखकी अपेक्षासे है अर्थात् सांसारिक सुखके साथ दुःख भी है। परन्तु आनन्द निरपेक्ष है, उसके साथ दुःखका मिश्रण नहीं है। सांसारिक सुखमें विकार है, पर आनन्द निर्विकार है। सांसारिक सुख विषयेन्द्रिय-संयोगजन्य है, पर आनन्द संयोगजन्य नहीं है। अतः सांसारिक सुखमें तो भभका है, पर आनन्दमें भभका नहीं है, प्रत्युत वह सम, एकरस, शान्त, निर्विकार है। तात्पर्य है कि विकार, दुःख, परिवर्तन, कमी, हलचल, विक्षेप, विषमता, पक्षपात आदिका न होना ही 'आनन्द' है।

आनन्द दो प्रकारका होता है, अखण्ड आनन्द (निजानन्द) और अनन्त आनन्द (परमानन्द)। मुक्तिका आनन्द 'अखण्ड आनन्द' और प्रेमका आनन्द 'अनन्त आनन्द' है। अखण्ड आनन्द सम, शान्त, एकरस रहता है और अनन्त आनन्द प्रतिक्षण वर्धमान होता है। अतः प्रेमका आनन्द मुक्तिके आनन्दसे बहुत विलक्षण है। मुक्तिमें तो केवल सांसारिक दुःख मिटता है और स्वयं वैसा-का-वैसा रहता है, पर प्रेममें स्वयंका अपने अंशी परमात्माकी ओर खिंचाव होता है।

यदि साधक अपना आग्रह न रखे तो शान्तरस अखण्डरसमें और अखण्डरस अनन्तरसमें स्वतः लीन होता है॥ १७॥

प्रश्न—'सत्'(अपनी सत्ता)- का अनुभव तो सबको होता है, पर 'चित्' और 'आनन्द' का अनुभव सबको नहीं होता, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—सत्से चित् स्थूल है और चित्से आनन्द स्थूल है। सत् जितना व्यापक है, उतना चित् नहीं और चित् जितना व्यापक है, उतना आनन्द नहीं। इसलिये जैसा सत्का अनुभव होता है, वैसा चित्का नहीं होता और जैसा चित्का अनुभव होता है, वैसा आनन्दका नहीं होता। चित् और आनन्दमें लौकिक चित् और आनन्द भी आ जाता है, इसलिये साधारण लोग क्रियाशील वस्तुको चेतन तथा लौकिक सुखको आनन्द मान लेते हैं।

सत् सब जगह प्रकट है, चित् जीवोंमें प्रकट है और आनन्द तत्त्वज्ञानीमें प्रकट है॥ १८॥

कर्तव्य-कर्म

प्रश्न—कर्मका उपयोग कहाँ है?

उत्तर—संसारसे ऊँचा उठनेके लिये निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता है; क्योंकि सकामभावसे अपने लिये कर्म करनेसे ही मनुष्य संसारमें फँसा है। अतः करनेका वेग और वर्तमान रागकी निवृत्तिके लिये कर्म करनेका उपयोग है—'**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते**' (गीता ६। ३)॥ १९॥

प्रश्न—कर्तव्यका पालन कठिन क्यों दीखता है?

उत्तर—कर्तव्य कहते ही उसे हैं, जिसे किया जा सके और जिसे करना चाहिये। जिसे नहीं कर सकते, वह कर्तव्य नहीं होता। अतः कर्तव्यका पालन सबसे सुगम है। अकर्तव्यकी आसक्तिके कारण ही कर्तव्य-पालन कठिन दीखता है॥ २०॥

प्रश्न—कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान न होनेमें क्या कारण है?

उत्तर—पक्षपात, विषमता, ममता, आसक्ति, अभिमान—इनके रहनेसे ही कर्तव्य-अकर्तव्यका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता॥ २१॥

प्रश्न—निष्कामभावसे भोजन करें तो तृप्तिरूप फल होगा ही, फिर निष्कामभावसे किये कर्मका फल नहीं होता—यह बात कैसे?

उत्तर—निष्कामभावसे किये कर्म भुने हुए बीजके

समान हो जाते हैं। भुने हुए बीज खेतीके काम तो नहीं आते, पर खानेके काम तो आते ही हैं। अतः निष्कामभावसे किये कर्मका फल तो होता है, पर वह बन्धनकारक नहीं होता। सकामभावसे किये कर्मका फल ही बन्धनकारक होता है—'**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५।१२)॥ २२॥

प्रश्न—भक्तिमार्गमें कर्म दिव्य कैसे होते हैं?

उत्तर—भगवान्‌में ज्यादा तल्लीन होनेसे भक्तके कर्म दिव्य हो जाते हैं। मीराबाईका तो शरीर भी दिव्य होकर भगवान्‌के श्रीविग्रहमें लीन हो गया था॥ २३॥

प्रश्न—गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि मेरा स्मरण कर और युद्ध अर्थात् कर्तव्य-कर्म भी कर—'मामनुस्मर युध्य च' (८।७)। यदि भगवान्‌का स्मरण करेंगे तो कर्तव्य-कर्म ठीक नहीं होगा और कर्तव्य-कर्ममें मन लगायेंगे तो भगवान्‌का स्मरण नहीं होगा; अतः दोनों एक साथ कैसे करें?

उत्तर—प्रत्येक कार्य मन लगाकर करना चाहिये, पर उद्देश्य भगवान्‌का होना चाहिये। प्रत्येक कार्यको भगवान्‌का ही कार्य मानकर करना चाहिये। गहने बनाते समय सुनारके भीतर 'यह सोना है'—यह बात बैठी रहती है। इसी तरह सब कार्य करते समय साधकके भीतर 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह बात बैठी रहनी चाहिये॥ २४॥

प्रश्न—क्रिया, कर्म, उपासना और विवेक—इन चारोंमें क्या फर्क है?

उत्तर—'क्रिया' फलजनक नहीं होती अर्थात् किसी परिस्थितिके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ती। 'कर्म' फलजनक होता है अर्थात् सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिके साथ सम्बन्ध जोड़ता है। 'उपासना' भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ती है। 'विवेक' जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करता है।

कर्म और उपासनामें जो क्रिया है, वह कल्याण नहीं करती। कर्ममें निष्कामभाव कल्याण करता है और उपासनामें भगवान्‌का सम्बन्ध कल्याण करता है॥ २५॥

कलियुग

प्रश्न—भगवान्‌ने कलियुग क्यों बनाया?

उत्तर—भगवान्‌ने कलियुग इस उद्देश्यसे बनाया कि जीवका जल्दी कल्याण हो जाय! उसके द्वारा किये गये थोड़े पुण्यकर्मका भी महान् फल हो जाय*! मनुष्यको भगवान्‌के इस उद्देश्यका सदुपयोग करना है, दुरुपयोग नहीं॥ २६॥

प्रश्न—कलियुग कहाँतक अपना प्रभाव डालता है?

उत्तर—कलियुगका प्रभाव इतना ही है कि सत्ययुग आदिमें धर्मका पालन सुगमतासे होता है और कलियुगमें कठिनतासे होता है। कलियुगमें धर्मका पालन कठिनतासे होनेपर भी थोड़े अनुष्ठानका अधिक पुण्य होता है॥ २७॥

प्रश्न—युगोंका ह्रास जिस क्रमसे होता है, उस क्रमसे उत्थान क्यों नहीं होता? कलियुगके बाद द्वापर न आकर सीधे सत्ययुग क्यों आता है?

उत्तर—प्रकृतिका कार्य स्वतः पतनकी ओर जाता है, पर उत्थान भगवत्कृपासे होता है; जैसे—किसी

* कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥ (मानस, उत्तर० १०३ क)
यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥ (विष्णुपुराण ६।२।१५)
'जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य, जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है।'

बातको स्वतः भूल जाते हैं, पर याद करना पड़ता है। अतः भगवान् ही कृपा करके कलियुगके बाद सत्ययुग लाते हैं॥ २८॥

प्रश्न—'कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा॥' (मानस, उत्तर० १०३। ४)—इसका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—यह भगवान्ने कलियुगमें छूट दी है। मनमें पुण्य-कर्म करनेकी इच्छा हुई, पर किसी कारणसे कर नहीं सके तो भी उसका पुण्य लगेगा। किसी कारणसे मनमें पाप-कर्म करनेकी इच्छा हुई, पर कर सके नहीं और उसका पश्चात्ताप हुआ तो उसका पाप नहीं लगेगा। तात्पर्य है कि मनमें आनेसे पाप नहीं होता, प्रत्युत करनेसे पाप होता है।

जिसकी इच्छा (नीयत) पाप करनेकी है, उसको तो पाप लगेगा ही; क्योंकि इच्छा पापका मूल है, जिससे पाप पैदा होता है*। हाँ, पाप करनेकी नीयत न होनेपर भी किसी कारणसे, पुराने संस्कारोंसे, कलियुगके प्रभावसे मनमें पापकी वासना आ जाय तो उसका दोष नहीं लगेगा॥ २९॥

प्रश्न—आजकल पाखण्डी साधुओंका अधिक प्रचार क्यों होता है?

उत्तर—इसमें कलियुग सहायता करता है। यदि पाखण्डी साधुओंका प्रचार नहीं होगा तो कलियुग कैसे कहलायेगा? वास्तवमें पाखण्डी साधुओंका प्रचार केवल भभका होता है, जो स्थायी नहीं होता। असली, त्यागी साधुका प्रचार स्थायी होता है। उसके द्वारा लोगोंका स्थायी और असली हित होता है। जिसके भीतर थोड़ी भी भोगवासना होती है, उसके द्वारा लोगोंका असली हित नहीं होता॥ ३०॥

प्रश्न—स्वर्णमें कलियुगका निवास बताया गया है; अतः स्त्रियोंको सोनेके गहने पहनने चाहिये या नहीं?

उत्तर—गहना पहननेमें दोष नहीं दीखता। स्वर्णको पवित्र माना गया है। स्वर्णके अभिमानमें कलियुगका निवास है॥ ३१॥

कामना

प्रश्न—सुखभोगकी इच्छा क्यों होती है?

उत्तर—शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे अर्थात् शरीरको मैं, मेरा और मेरे लिये माननेसे ही सुखभोगकी इच्छा होती है॥ ३२॥

प्रश्न—कामना और ममता मुझमें हैं या नहीं—इसका पता कैसे चले?

उत्तर—अगर हृदयमें कभी अशान्ति या हलचल होती है तो समझना चाहिये कि भीतरमें कामना है। अपने और परायेका भेद ममताके कारण होता है। जिसमें ममता होती है, उसीका अपनेपर असर पड़ता है॥ ३३॥

प्रश्न—सुखकी कामना और आशामें क्या अन्तर है?

उत्तर—सुख मिलनेकी तथा दुःख न मिलनेकी 'कामना' होती है और सुख मिलनेकी सम्भावना होनेसे 'आशा' होती है॥ ३४॥

प्रश्न—हमारा दुःख मिट जाय—यह कामना करनी चाहिये या नहीं?

उत्तर—कोई भी कामना नहीं करनी चाहिये। दुःख मिट जाय—यह कामना करेंगे तो सुखका भोग

---

* काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गीता ३। ३७)
'रजोगुणसे उत्पन्न यह काम अर्थात् कामना ही पापका कारण है। यह काम ही क्रोधमें परिणत होता है। यह बहुत खानेवाला और महापापी है। इस विषयमें तू इसको ही वैरी जान।'

होगा। बन्धन मिट जाय—यह कामना करेंगे तो मुक्तिका भोग होगा। जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद भी अपने लिये नहीं हो, नहीं तो सूक्ष्म अहम् रह जायगा। तात्पर्य है कि हमें कुछ लेना है ही नहीं।

साधक जितना ही भगवान्पर निर्भर होता है, उतना ही वह आगे बढ़ता चला जाता है। वह अपनी कोई इच्छा न रखे, सब भगवान्पर छोड़ दे तो बड़ी विलक्षणता आ जाती है और समग्रकी प्राप्ति हो जाती है। अतः अपनी मुक्तिकी भी इच्छा न रखे—यह बढ़िया है। जैसे, नरसीजीको भगवान् शंकरके दर्शन हुए तो उन्होंने कुछ भी माँगा नहीं, प्रत्युत यही कहा कि जो आपको अच्छा लगे, वही दो। मनुष्य उतनी ही इच्छा करता है, जितना उसको अपनी दृष्टिसे दीखता है। परन्तु आगे तत्त्व अनन्त है। आगे बहुत विलक्षण ऐश्वर्य है। साधक अपना आग्रह न रखे, सन्तोष न करे तो वह स्वतः आगे बढ़ेगा॥ ३५॥

प्रश्न—भगवान् कल्पवृक्ष हैं और मनुष्यमात्र उसकी छायामें रहता है, फिर मनुष्यकी सब इच्छाएँ पूरी क्यों नहीं होतीं?

उत्तर—कल्पवृक्षसे तो जो माँगो, वही देता है, भले ही उसमें हमारा हित न हो, पर भगवान् वही देते हैं, जिसमें हमारा हित हो। लोग तो वह इच्छा करते हैं, जिससे परिणाममें दुःख पाना पड़े! इसलिये भगवान् उनकी इच्छा पूरी नहीं करते कि बस, इतना ही दुःख काफी है, और दुःख क्यों चाहते हो! कल्पवृक्ष और देवता तो दुकानदारके समान हैं, पर भगवान् पिताके समान हैं॥ ३६॥

प्रश्न—परन्तु भगवान् सत्-विषयक इच्छा भी कहाँ पूरी करते हैं! साधक उनको चाहते हैं तो क्या वे सबको मिल जाते हैं?

उत्तर—सत्-विषयक इच्छा इसलिये पूरी नहीं होती कि साथमें असत्की इच्छा भी मिली हुई रहती है॥ ३७॥

प्रश्न—एक पुस्तकमें आया है कि मनुष्य जो भी कामना करता है, उसकी पूर्ति होना आवश्यक है; क्या यह ठीक है?

उत्तर—ऐसा होना असम्भव है। कामनाएँ अनन्त हैं; अतः सभी कामनाएँ कभी पूरी नहीं होंगी और मुक्ति भी नहीं होगी! जिस कामनाको लेकर जप-तप आदि किया जाय, उसी कामनाकी पूर्ति होती है। जैसे, ध्रुवजीने राज्य-प्राप्तिकी कामनाको लेकर तपस्या की तो वह कामना पीछे न रहनेपर भी भगवान्ने पूरी की। इसी तरह भगवान्के पास जाते समय विभीषणके मनमें राज्यकी कामना रही, जिसको भगवान्ने पूरा किया। तात्पर्य है कि भगवान्के सामने जाते समय जो कामना रहती है, वही कामना बाधक होती है, जिसको भगवान् पूरी करते हैं॥ ३८॥

प्रश्न—जो किसी कामनाको लेकर भगवान्का भजन करता है, उसको भगवान्की प्राप्ति हो सकती है क्या?

उत्तर—भगवत्प्राप्ति तो दूर रही, उसका कल्याण भी नहीं हो सकता!॥ ३९॥

प्रश्न—परन्तु भगवान्ने धनकी कामनावाले अर्थार्थी भक्तको भी उदार कहा है—'उदाराः सर्व एवैते' (गीता ७। १८)?

उत्तर—अर्थार्थी भक्तके हृदयमें भगवान् मुख्य हैं, धन गौण है। इसलिये भगवान्ने कहा है—'**चतुर्विधा भजन्ते माम्**' (गीता ७। १६)। वह भगवान्के सिवाय और किसीसे धन नहीं चाहता। परन्तु जो भक्त नहीं है, वह केवल कामनाकी पूर्तिके लिये भगवान्का भजन करता है, उसका कल्याण नहीं हो सकता। कारण कि उसने भगवान्को भगवान् (साध्य) नहीं माना है, प्रत्युत कामनापूर्तिका एक साधन माना है। उसका साध्य तो रुपये हैं और भगवान् रुपये छापनेकी मशीनकी तरह साधन हैं। ऐसा व्यक्ति कामना पूरी न होनेपर भगवान्को छोड़ देता है। एक स्त्रीका पति बीमार हुआ। किसीने सलाह दी कि ठाकुरजीकी पूजा करो तो पति ठीक हो जायगा। उसने वैसा ही किया। पति ठीक हो गया। दुबारा फिर पति बीमार हुआ तो उस स्त्रीने फिर ठाकुरजीकी पूजा

की। पति मर गया। उसने ठाकुरजीको उठाकर बाहर पटक दिया। इस प्रकार भगवान्‌की पूजा करनेवालेका कल्याण नहीं होता॥ ४० ॥

प्रश्न—भगवान् हमारे हैं और हमारे लिये हैं, फिर उनसे कुछ माँगनेमें क्या दोष है?

उत्तर—प्रभु मेरे हैं और मेरे लिये हैं—ऐसा कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि हमें प्रभुसे कुछ लेना है। वे मेरे लिये हैं, इसलिये अपनेको उन्हें देना है, उनके समर्पित होना है। कुछ चाहनेसे हम उनसे अलग हो जायँगे और अपनेको देनेसे उनसे अभिन्न हो जायँगे। उनसे जिस वस्तुको माँगेंगे, उस वस्तुका महत्त्व हो जायगा। जो वस्तु अपनी और अपने लिये नहीं है, उसकी कामना करनेका हमें अधिकार ही नहीं है॥ ४१ ॥

गीता

प्रश्न—भगवान्‌ने गीता युद्धके समय ही क्यों सुनायी?

उत्तर—यह बतानेके लिये कि युद्ध-जैसा घोर कर्म करते हुए भी मनुष्य कल्याणको प्राप्त हो सकता है! तात्पर्य है कि साधन किसी परिस्थिति-विशेषकी अपेक्षा नहीं रखता। वह प्रत्येक परिस्थिति, अवस्थामें हो सकता है। कारण कि परमात्मा प्रत्येक परिस्थितिमें ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। अतः वह प्रत्येक परिस्थितिमें प्राप्त किया जा सकता है॥ ४२ ॥

प्रश्न—गीताका सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ क्यों माना गया है?

उत्तर—कारण कि वह सिद्धान्त स्वयं भगवान्‌का है, ऋषि-मुनियोंका नहीं! भगवान् ऋषि-मुनियोंके भी आदि हैं—'**अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः**' (गीता १०। २)। वास्तवमें भगवान्‌का सिद्धान्त ही 'सिद्धान्त' कहनेलायक है। अन्य दार्शनिकोंका सिद्धान्त वास्तवमें 'सिद्धान्त' नहीं है, प्रत्युत 'मत' है॥ ४३ ॥

प्रश्न—भगवान्‌ने रामायणमें कहा है—'*मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥*'(अरण्य० ३६। ५) अर्जुनने तो भगवान्‌के विश्वरूप, चतुर्भुजरूप और द्विभुजरूप—तीनोंके दर्शन कर लिये थे, फिर उनका मोह दूर क्यों नहीं हुआ?

उत्तर—दर्शन देनेके बाद मोह दूर करनेकी जिम्मेवारी भगवान्‌की होती है। अर्जुनका मोह आगे चलकर नष्ट हो ही गया था—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**' (गीता १८। ७३)। इससे सिद्ध हुआ कि दर्शनके बाद मोह नष्ट होता ही है। परन्तु अर्जुनने मोह नष्ट होनेमें न तो गीताश्रवणको और न दर्शनको ही कारण माना है, प्रत्युत भगवान्‌की कृपाको ही कारण माना है—'**त्वत्प्रसादान्मयाच्युत**'॥ ४४ ॥

प्रश्न—गीतामें श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणकी मुख्यता बतायी है—'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' (३। २१) और भागवतमें वचनकी मुख्यता बतायी है—'ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्' (१०। ३३। ३२)। दोनोंमें कौन-सी बात मानें?

उत्तर—गीतामें तो संसारकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बतायी है कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, वैसा ही अन्य लोग भी करते हैं। परन्तु वास्तवमें कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें वचनको प्रमाण मानना श्रेष्ठ है। इसलिये इतिहासकी अपेक्षा विधिको और विधिकी अपेक्षा निषेधको प्रबल माना गया है।

श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणका स्वाभाविक ही दूसरेपर असर पड़ता है, चाहे हम देखें या न देखें। परन्तु जहाँ उनके आचरण और वचनोंमें विरोध दीखे, वहाँ उनके आचरण न देखकर उनके वचनोंका ही पालन करना चाहिये। कारण कि उन्होंने किस परिस्थितिमें क्या किया—इसका पता लगता नहीं॥ ४५ ॥

प्रश्न—असत्‌की सत्ता ही नहीं है—'नासतो

विद्यते भावः' (गीता २। १६), फिर प्रकृतिको अनादि क्यों कहा है—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' (गीता १३। १९)? अनादि कहनेसे यह भाव निकलता है कि प्रकृतिकी सत्ता है?

उत्तर—अज्ञानीको समझानेके लिये अज्ञानीकी ही भाषा बोलनी पड़ती है। हम प्रकृतिकी सत्ता मानते हैं, इसलिये शास्त्र हमारी भाषामें ही कहते हैं। वास्तवमें प्रकृतिकी सत्ता है ही नहीं। परन्तु जिनकी दृष्टिमें प्रकृतिकी सत्ता है, उनके लिये प्रकृतिको अनादि कहा गया है। प्रकृति अनादि होते हुए भी अनन्त नहीं है, प्रत्युत सान्त (अन्तवाली) है।

दृष्टिभेदसे दर्शन अनेक हैं, तत्त्व एक है। जहाँ द्रष्टा,दृष्टि और दृश्य नहीं है, वहाँ भेद नहीं है। द्रष्टा, ज्ञाता, दार्शनिक, दर्शन जबतक हैं, तबतक भेद है। इनसे आगे तत्त्वमें भेद नहीं है॥ ४६॥

प्रश्न—गीताने प्रकृतिको अनादि तो कहा है, अनन्त या सान्त नहीं कहा है, ऐसा क्यों?

उत्तर—अगर प्रकृतिको अनन्त (नित्य) कहें तो ज्ञानका खण्डन होता है; क्योंकि ज्ञानकी दृष्टिसे प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं है—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २। १६)। अगर प्रकृतिको सान्त (अनित्य) कहें तो भक्तिका खण्डन होता है; क्योंकि भक्तिकी दृष्टिसे प्रकृति भगवान्‌की शक्ति होनेसे भगवान्‌से अभिन्न है—**'सदसच्चाहम्'** (गीता ९। १९)। अतः भगवान्‌ने ज्ञान और भक्ति —दोनोंकी बात रखनेके लिये ही प्रकृतिको न अनन्त कहा है और न सान्त कहा है, प्रत्युत अनादि कहा है॥ ४७॥

प्रश्न—भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि अगर मैं कर्तव्यका पालन नहीं करूँगा तो लोग भी कर्तव्यसे विमुख हो जायँगे, इसलिये मैं भी कर्तव्यका पालन करता हूँ (३। २२—२४)। फिर आजकल लोग अपने कर्तव्यका पालन क्यों नहीं करते?

उत्तर—भगवान्‌की बात उन लोगोंके लिये है, जो भगवान्‌को माननेवाले (आस्तिक) हैं। कारण कि भगवान्‌के कर्तव्य-पालनका असर उन्हीं लोगोंपर पड़ेगा, जो भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास रखते हैं। जो भगवान्‌को नहीं मानते, उनपर भगवान्‌के कर्तव्य-पालनका असर नहीं पड़ेगा। जिनकी विपरीत बुद्धि हो रही है, वे भगवान्‌की कृपाको क्या समझें॥ ४८॥

प्रश्न—गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च' (१०। ४)। 'अभय' दैवी सम्पत्ति है और 'भय' आसुरी सम्पत्ति, फिर दोनों भगवान्‌के स्वरूप कैसे हुए?

उत्तर—दैवी सम्पत्ति भी भगवान्‌का स्वरूप है और आसुरी सम्पत्ति भी भगवान्‌का स्वरूप है। अभय भी भगवान्‌का स्वरूप है और भय भी भगवान्‌का स्वरूप है। वास्तवमें तत्त्व एक ही है, पर हमारी कामना (भोगेच्छा)-के कारण दो विभाग हो जाते हैं।

भगवान्‌के विराट्‌रूपमें भयभीत भी दीखते हैं—**'रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति'** (गीता ११। ३६), **'केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति'** (गीता ११। २१)। भयभीत भी विराट्‌रूपका ही अंग है। तात्पर्य है कि भयभीत होनेवाले भी भगवान् हैं और जिनसे भयभीत हो रहे हैं, वे भी भगवान् हैं।

मनुष्य सुख चाहता है, दुःख नहीं चाहता, तभी दो विभाग हुए हैं और शास्त्रोंने भी दो विभागों (दैवी-आसुरी,शुभ-अशुभ, विहित-निषिद्ध आदि)-का वर्णन किया है। भेदके मूलमें भोगेच्छा ही है। सम्पूर्ण दुःख, सन्ताप, अनिष्ट आदि भोगेच्छाके कारण ही हैं। भोगेच्छा सर्वथा मिटनेपर मोक्ष ही है॥ ४९॥

प्रश्न—भगवान्‌में मन लगाना करणसापेक्ष साधन है, जिसमें योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। फिर गीतामें भक्तके द्वारा मन लगानेकी बात क्यों आयी है—'मन्मना भव' (९। ३४,१८। ६५)?

उत्तर—वास्तवमें भक्त स्वयं लगता है, मन नहीं लगाता। मन लगाकर स्वयं लगना करणसापेक्ष है, पर स्वयं लगकर मन स्वतः लग जाना करणनिरपेक्ष है। भक्त मन लगाकर स्वयं नहीं लगता। वह स्वयं लगता है **(मद्भक्तः)**, फिर उसके मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ भी अपने-आप लग जाते हैं॥ ५०॥

प्रश्न—गीताने संसारको असत् तो कहा है, पर रज्जुमें सर्पकी तरह अध्यस्त नहीं कहा है, इसका क्या कारण है?

उत्तर—रस्सीमें सर्प तो बोध होनेके बाद नहीं दीखता, पर संसार बोध होनेके बाद भी दीखता है। आसक्ति (दोष) कर्तामें है, पर दीखती है संसारमें। अपने रागके कारण ही रुपयोंमें आकर्षण (लोभ) होता है। राग न रहनेपर रुपये तो वैसे ही दीखते हैं, पर आकर्षण नहीं रहता। इसी तरह भोगोंकी आसक्ति न रहनेपर संसार तो दीखता है, पर उसमें आकर्षण नहीं होता।

वास्तवमें संसार अध्यस्त नहीं है, प्रत्युत उसका सम्बन्ध अध्यस्त है। संसार आसक्तको भी दीखता है और विरक्त को भी, पर आसक्तको ठोस दीखता है, विरक्तको पोला। जो है नहीं, पर दीखता है, वह अध्यस्त होता है। परन्तु संसार जैसा है, वैसा ही दीखता है, पर उसका सम्बन्ध(राग)नहीं रहता। ज्ञानी महापुरुषको सोनेकी मुहर मुहररूपसे ही दीखती है, पत्थररूपसे नहीं दीखती, पर उसमें उसका राग नहीं होता। तात्पर्य है कि संसारकी सत्ता बाधक नहीं है, प्रत्युत रागपूर्वक जोड़ा गया सम्बन्ध बाधक है। वैराग्य वस्तुकी सत्ताका नाश नहीं करता, प्रत्युत रागका नाश करता है। रागपूर्वक सम्बन्ध बाँधनेवाला है। संसार दुःखदायी नहीं है, उसका सम्बन्ध दुःखदायी है॥ ५१ ॥

प्रश्न—रज्जुमें सर्प दीखना 'निरुपाधिक भ्रम' है और दर्पणमें मुख दीखना 'सोपाधिक भ्रम' है। क्या संसारके दीखनेको 'सोपाधिक भ्रम' मान सकते हैं; क्योंकि भ्रम मिटनेपर भी दर्पणमें मुख तो दीखता ही है?

उत्तर—सोपाधिक भ्रम भी नहीं मान सकते; क्योंकि दर्पणमें मुख दीखता तो है, पर वह काम नहीं आता अर्थात् उससे व्यवहार नहीं होता। परन्तु संसारमें राग मिटनेपर भी व्यवहार तो होता ही है॥ ५२ ॥

प्रश्न—गीतामें आया है कि योगभ्रष्ट पुरुष शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है अथवा योगियोंके कुलमें जन्म लेता है (गीता ६। ४१-४२)। परन्तु जड़भरतने हरिणयोनिमें जन्म लिया। अतः वे कौन-से योगभ्रष्ट थे?

उत्तर—उनको योगभ्रष्ट नहीं कह सकते। कारण कि योगभ्रष्ट अपना साधन पूरा करनेके लिये शुद्ध श्रीमान्के घरमें अथवा योगीके घरमें जन्म लेता है और वहाँ पहले किये हुए साधनमें पुनः लगता है। परन्तु जड़भरतने न तो श्रीमान्के घरमें जन्म लिया और न योगीके कुलमें ही जन्म लिया, प्रत्युत हरिणयोनिमें जन्म लिया। उन्होंने हरिणयोनिमें कोई साधन भी नहीं किया। अतः वे योगभ्रष्ट नहीं थे, पर अन्तसमयमें हरिणकी तरफ वृत्ति जानेसे उनको पुनः जन्म लेना पड़ा॥ ५३ ॥

प्रश्न—भगवान्ने गीतामें कर्मयोग (साधन)-को अव्यय कहा है—'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्' (४। १)। अव्यय अर्थात् नित्य तो साध्य है, साधन नित्य कैसे?

उत्तर—साधक ही साधन होकर साध्यमें लीन होता है। अतः साधक, साधन और साध्य—तीनों ही तत्त्वसे नित्य हैं। साधक, साधन और साध्य—तीनों एक ही हैं, पर मोहके कारण अलग-अलग दीखते हैं। तीनों नित्य हैं, पर मोह अनित्य है—**'नष्टो मोहः'** (गीता १८। ७३)॥ ५४॥

प्रश्न—भगवान्ने गीतामें स्वयं (आत्मा)-को 'शरीरी' (शरीरवाला) और 'देही' (देहवाला) कहा है, इससे सिद्ध हुआ कि स्वयंका शरीरके साथ सम्बन्ध है?

उत्तर—स्वयंका शरीरके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न कभी था, न है, न होगा और न होना सम्भव ही है। परन्तु भगवान्ने साधकोंको समझानेकी दृष्टिसे स्वयंको 'शरीरी' अथवा 'देही' नामसे कहा है। 'शरीरी' कहनेका तात्पर्य यही बताना है कि तुम शरीर नहीं हो। स्वयं परमात्माका अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'**(गीता १५। ७)और शरीर प्रकृतिका अंश है—**'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि'**(गीता १५।

७)। शरीर प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला और असत् है। ऐसे असत् शरीरको लेकर स्वयं शरीरी (शरीरवाला) कैसे हो सकता है? अत: साधक स्वयं शरीर भी नहीं है और शरीरी भी नहीं है॥ ५५॥

चुप-साधन

प्रश्न—चुप-साधन सुगमतापूर्वक कैसे होता है?

उत्तर—मेरेको बैठना है, चुप-साधन करना है—ऐसा संकल्प रहनेसे चुप-साधन बढ़िया नहीं होता; क्योंकि वृत्तिमें गर्भ रहता है। मेरेको कुछ नहीं करना है—यह भी 'करना' ही है। चुप-साधन बढ़िया तब होता है, जब कुछ करनेकी रुचि न रहे। जो देखना था, देख लिया; सुनना था, सुन लिया; बोलना था, बोल लिया। इस प्रकार कुछ भी देखने, सुनने, बोलने आदिकी रुचि न रहे। रुचि रहनेसे चुप-साधन बढ़िया नहीं होता॥ ५६॥

प्रश्न—कुछ करनेकी रुचि न रहे तो सिद्धि हो गयी, फिर साधन कैसे होगा?

उत्तर—सिद्धि होनेपर रुचि नहीं रहती—इतनी ही बात नहीं है, प्रत्युत असत्‌की सत्ता ही उठ जाती है! न करनेकी रुचि रहती है, न नहीं करनेकी रुचि रहती है—'**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन**' (गीता ३। १८)। अत: रुचि न रहनेसे ही सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत असत्‌की सत्ता न रहनेसे सिद्धि होती है। सर्वथा रुचि न मिटनेपर भी चुप-साधन हो सकता है॥ ५७॥

प्रश्न—चुप-साधनमें बाधक क्या है?

उत्तर—पदार्थ और क्रियाका आकर्षण अर्थात् पदार्थकी आसक्ति और करनेका वेग चुप-साधनमें बाधक है॥ ५८॥

प्रश्न—चुप-साधन और समाधिमें क्या अन्तर है?

उत्तर—चुप-साधन समाधिसे श्रेष्ठ है; क्योंकि इससे समाधिकी अपेक्षा शीघ्र तत्त्वप्राप्ति होती है। चुप-साधन स्वत: है, कृतिसाध्य नहीं है, पर समाधि कृतिसाध्य है। चुप होनेमें सब एक हो जाते हैं, पर समाधिमें सब एक नहीं होते। समाधिमें समय पाकर स्वत: व्युत्थान होता है, पर चुप-साधनमें व्युत्थान नहीं होता। चुप-साधनमें वृत्तिसे सम्बन्ध-विच्छेद है, पर समाधिमें वृत्तिकी सहायता है॥ ५९॥

प्रश्न—चुप-साधनमें चिन्तनकी उपेक्षा कौन करता है?

उत्तर—उपेक्षा स्वयं करता है, जो कर्ता है अर्थात् जिसमें कर्तृत्व है। सिद्ध होनेपर वह स्वभाव बन जाता है, उसका कर्तृत्व नहीं रहता॥ ६०॥

प्रश्न—उपेक्षा अथवा साक्षीका भाव रहेगा तो बुद्धिमें ही?

उत्तर—भाव तो बुद्धिमें रहेगा, पर उसका परिणाम स्वयं (स्वरूप)-में होगा; जैसे—युद्ध तो सेना करती है, पर विजय राजाकी होती है। उपेक्षासे, उदासीनतासे स्वयंका जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है॥ ६१॥

प्रश्न—जाग्रत्-सुषुप्तिके क्या लक्षण हैं?

उत्तर—जब न तो स्थूलशरीरकी 'क्रिया' हो, न सूक्ष्म-शरीरका 'चिन्तन' हो और न कारणशरीरकी 'निद्रा' तथा 'बेहोशी' हो, तब जाग्रत्-सुषुप्ति होती है। जाग्रत्-सुषुप्ति और चुप-साधन एक ही हैं।

समाधिमें तो लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद—ये चार दोष (विघ्न) रहते हैं, पर जाग्रत्-सुषुप्तिमें ये दोष नहीं रहते। ध्येय परमात्माका होनेसे जब साधककी वृत्तियाँ परमात्मामें लग जाती हैं, तब जाग्रत्-सुषुप्ति होती है। इसमें सुषुप्तिकी तरह बाह्य ज्ञान नहीं रहता, पर भीतरमें ज्ञानका विशेष प्रकाश(स्वरूपकी जागृति) रहता है॥ ६२॥

जीवन्मुक्त (तत्त्वज्ञ)

प्रश्न—ज्ञानी महापुरुषके द्वारा जो क्रियाएँ होती हैं, उनका कर्ता कोई नहीं होता, फिर (अहम्‌के बिना) वे क्रियाएँ कैसी होती हैं?

उत्तर—जीवन्मुक्तकी क्रियाएँ अभिमानशून्य अहम्‌से होती हैं,जिसको 'अहंवृत्ति' (वृत्तिरूप समष्टि अहंकार) भी कहते हैं। जब उसका कहलानेवाला शरीर नहीं रहता, तब यह अभिमानशून्य अहम् परमात्मतत्त्वमें विलीन हो जाता है।

जबतक प्रारब्धका वेग रहता है, तबतक जीवन्मुक्तके द्वारा अपने तथा दूसरेके प्रारब्धके अनुसार क्रिया होती है। परन्तु वह क्रिया बिना कर्ताके होती है; जैसे—रेलगाड़ी चल रही हो और ड्राइवर उसमेंसे बाहर कूद जाय तो बिना ड्राइवरके भी वह गाड़ी चलती रहती है अथवा आदमी ठेलेको धक्का देकर फिर स्वयं उसपर चढ़ जाता है तो बिना चालकके भी ठेला (जबतक वेग है, तबतक) चलता जाता है।

मुक्तपुरुषका पहले (साधनावस्थामें) जैसा स्वभाव, संग, शिक्षा, साधना आदि रहे हैं, उसके अनुसार उसके द्वारा सब क्रियाएँ होती हैं। अहंभाव न रहनेसे वे क्रियाएँ फलजनक नहीं होतीं।

दूसरे व्यक्तिके सद्भावके अनुसार जीवन्मुक्त महापुरुषके द्वारा विशेष क्रिया हो सकती है, उसके उद्धारका भाव पैदा हो सकता है। अत: उनपर सद्भाव करके मनुष्य बहुत विशेष लाभ ले सकता है॥ ६३ ॥

प्रश्न—क्या ज्ञानी महापुरुषके द्वारा व्यवहारमें भूल हो सकती है?

उत्तर—हाँ, हो सकती है, तभी उपनिषद्‌के दीक्षान्त उपदेशमें आया है—

यान्यस्माकँ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। (तैत्तिरीय० १। ११)

'हमारे जो-जो अच्छे आचरण हैं, उनका ही तुम्हें सेवन करना चाहिये, दूसरोंका कभी नहीं।'

यदि व्यवहारमें भूल नहीं होती तो वे ऐसा क्यों कहते? दूसरी बात, उनके सब आचरणोंको हम समझ सकते ही नहीं कि किस समय उन्होंने क्या किया और क्यों किया। अपनी श्रद्धा हो तो उनकी भूलसे भी लाभ ही होता है, नुकसान नहीं। कारण कि श्रद्धालु आदमी अपनी समझकी कमी स्वीकार करता है कि ये तो ठीक करते हैं, पर मैं समझा नहीं। अपनी कमी न माननेसे, अपनी बुद्धिमानीका अभिमान होनेसे ही मनुष्य तत्त्वज्ञ महापुरुषमें दोषारोपण करता है—'**निज अग्यान राम पर धरहीं**' (मानस, उत्तर० ७३। ५)॥ ६४॥

प्रश्न—क्या ज्ञानी महापुरुषके द्वारा निषिद्ध क्रिया भी हो सकती है?

उत्तर—निषिद्ध क्रिया कामनासे होती है[1]। ज्ञान होनेपर कामनाका सर्वथा नाश हो जाता है—'**परं दृष्ट्वा निवर्तते**' (गीता २। ५९), '**कामक्रोधवियुक्तानाम्**' (गीता ५। २६)। अत: ज्ञानीके द्वारा निषिद्ध क्रिया होना सम्भव ही नहीं है। परन्तु मनके अनुकूल न होनेसे दूसरेको ज्ञानीकी कोई क्रिया निषिद्ध दीख सकती है। कारण कि दूसरेकी कोई क्रिया हमारे मनके प्रतिकूल होगी तो वह हमें बुरी लगेगी ही, भले ही वह क्रिया अच्छी क्यों न हो![2] दूसरेने कौन-सी क्रिया किस भावसे की, किस परिस्थितिमें की—इसका निर्णय करना कठिन होता है।

१-काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गीता ३। ३७)

२-द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः। प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह॥ (महाभारत, उद्योग० ३९। ४)

'जिससे द्वेष हो जाता है, वह न तो साधु, न विद्वान् और न बुद्धिमान् ही जान पड़ता है। प्रियके सभी कर्म शुभ प्रतीत होते हैं और द्वेष्यके सभी कर्म पाप।'

भगवान् और महात्माके द्वारा कभी किसीका अहित नहीं होता—

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

नारदजीने नलकूबर और मणिग्रीवको वृक्ष बननेका शाप दिया तो वह शाप भी भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला हो गया*!॥ ६५॥

प्रश्न—क्या जीवन्मुक्त महापुरुषपर लोकसंग्रहकी जिम्मेवारी रहती है?

उत्तर—जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुषपर लोकसंग्रहकी अथवा प्राणिमात्रका हित करनेकी जिम्मेवारी नहीं रहती। उनका खुदका किंचिन्मात्र भी कोई प्रयोजन नहीं रहता—'**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन**' (गीता ३।१८)। उनपर किसीका भी ऋण नहीं रहता। उनके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। परन्तु साधनावस्थामें प्राणिमात्रके हितका स्वभाव होनेसे सिद्धावस्थामें भी उनका वह स्वभाव बना रहता है—'**स्वभावस्तु प्रवर्तते**' (गीता ५। १४)। अतः वे लोकसंग्रह करते नहीं, प्रत्युत उनके द्वारा स्वतः लोकसंग्रह होता है॥ ६६॥

प्रश्न—जीवन्मुक्तमहापुरुषको शारीरिक पीड़ाका अनुभव होता है या नहीं?

उत्तर—उसको पीड़ाका ज्ञान तो होता है, पर दुःख नहीं होता॥ ६७॥

प्रश्न—जब उसका शरीरसे सम्बन्ध रहा ही नहीं तो फिर उसको शरीरकी पीड़ाका ज्ञान क्यों होता है?

उत्तर—जीवन्मुक्त होनेपर चेतन सर्वव्यापी होता है, प्राण सर्वव्यापी नहीं होते। वह शरीरसे निरपेक्ष होता है, शरीरसे रहित नहीं होता। उसका शरीरसे ज्ञानपूर्वक सम्बन्ध होता है, अज्ञानपूर्वक नहीं। साधनावस्थासे ही उसका शरीरके साथ सम्बन्ध रहा है, इस कारण उसको शरीरकी पीड़ाका ज्ञान तो होता है, पर उसका असर नहीं पड़ता अर्थात् दुःखरूप विकार नहीं होता। जैसे बचपनमें काँचके टुकड़ोंका भी असर पड़ता था, वे बड़े अच्छे दीखते थे; परन्तु अब हमें काँचके टुकड़ोंका ज्ञान तो है, पर उनका असर नहीं पड़ता।

यदि पीड़ाका ज्ञान न हो तो जीवन्मुक्ति सिद्ध हो ही नहीं सकती। जीवन्मुक्त अर्थात् जीवन (शरीर)-के रहते हुए मुक्त हो गया—ऐसा कहनेका यही अर्थ है कि शरीरकी पीड़ा आदिका असर (सुख-दुःख) नहीं होता। मुक्ति सुख-दुःखसे होती है। सुख-दुःख विकार हैं, ज्ञान विकार नहीं है। ज्ञान तो हो, पर विकार न हो—यह महत्त्वकी बात है। ज्ञान न होना महत्त्वकी बात नहीं है। ज्ञान तो मूर्च्छित व्यक्तिको भी नहीं होता। जो साधारण (बद्ध) मनुष्य है, उसकी वृत्ति अगर दूसरी जगह लगी हो तो उसको भी पीड़ाका ज्ञान नहीं होता। सती होनेवाली स्त्रीको भी पीड़ाका ज्ञान नहीं होता। अत्यन्त वीर पुरुषको भी युद्धमें पीड़ाका ज्ञान नहीं होता। अतः पीड़ाका ज्ञान न होना तत्त्वज्ञानका अथवा प्रेमका लक्षण नहीं है॥ ६८॥

प्रश्न—जीवन्मुक्त महापुरुष यदि व्यवहारमें उतरे तो क्या अहंकार अनिवार्य है?

उत्तर—नहीं। उसके द्वारा अहंकाररहित 'क्रिया' होती है, अहंकारयुक्त 'कर्म' नहीं होता—'**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे**' (मुण्डक० २। २। ८)॥ ६९॥

प्रश्न—जीवन्मुक्तके द्वारा शौच-स्नान आदि व्यवहार कैसे होता है?

उत्तर—जैसे कुम्हार एक बार चक्केको चलाकर छोड़ देता है, फिर चक्का स्वतः चलता रहता है, ऐसे ही पूर्वसंस्कारोंके वेगसे जीवन्मुक्तका शरीर चलता

* साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्। दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा॥ (श्रीमद्भा० १०।१०।४१)
'जिनकी बुद्धि समदर्शिनी है और हृदय पूर्णरूपसे मेरे प्रति समर्पित है, उन साधु पुरुषोंके दर्शनसे बन्धन होना ठीक वैसे ही सम्भव नहीं है, जैसे सूर्योदय होनेपर मनुष्यके नेत्रोंके सामने अन्धकारका होना।'

रहता है, उसका व्यवहार होता रहता है। तात्पर्य है कि उसके द्वारा वैसा ही व्यवहार होता है, जैसा पहले होता था। परन्तु ज्ञान होनेपर उसमें निर्लिप्तता आती है और कोई फर्क नहीं पड़ता। सामान्य लोग जैसे संसारको नित्य मानते हुए व्यवहार करते हैं, ऐसे ही तत्त्वज्ञानीके द्वारा संसारको अनित्य मानते हुए व्यवहार होता है। उसके अनुभवमें अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण संसारका सर्वथा अभाव होता है।

जीवन्मुक्तका व्यवहार तीन कारणोंसे होता है—

१-प्रारब्धसे प्राप्त परिस्थितिके अनुसार।

२-स्वभावके अनुसार*।

३-सामने आये हुए व्यक्ति या समुदायकी भावनाके अनुसार।

यथायोग्य व्यवहार होनेपर भी जीवन्मुक्त महापुरुषकी असंगता ज्यों-की-त्यों रहती है। उनके द्वारा होनेवाली चेष्टाएँ राग-द्वेषरहित होती हैं॥ ७० ॥

प्रश्न—जीवन्मुक्त महापुरुषमें हर्ष-शोक होना, राजी-नाराज होना भी देखा जाता है, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—वह केवल दूसरोंके हितके लिये किया गया नाटक है! जैसे, माता-पिता अपने बालकपर क्रोध करते हैं तो केवल उसका हित करनेके लिये करते हैं, अनिष्ट करनेके लिये नहीं। परन्तु जीवन्मुक्तको ऐसा नाटक भी करना नहीं पड़ता, प्रत्युत उनके द्वारा स्वतः दूसरोंके हितकी चेष्टा होती है॥ ७१ ॥

प्रश्न—क्या मुक्त होनेपर महापुरुष अपने मतका मण्डन तथा दूसरे मतका खण्डन करते हैं?

उत्तर—हाँ, करते हैं; परन्तु उनकी नीयत शुद्ध रहती है। लोग उत्पथगामी (कुमार्गी) न हो जायँ, उनका उद्धार हो जाय, इसके लिये वे अपने अनुभव किये हुए मत (साधन-प्रणाली)-का, जिसमें वे निःसन्देह हैं, प्रचार करते हैं। वे राग-द्वेषपूर्वक खण्डन-मण्डन नहीं करते। वे साधकोंकी दुविधा मिटानेके लिये खण्डन-मण्डन करते हैं; क्योंकि साधकमें दुविधा रहेगी तो वह एक साधनमें पूरी तरह लगेगा नहीं॥ ७२ ॥

प्रश्न—मुक्तहोनेपर भी जो सूक्ष्म अहम् रहता है, उसका स्वरूप क्या है?

उत्तर—एक आग्रह (राग) होता है और एक प्रेम। अगर साधन, सत्संग आदिमें आग्रह होगा तो उसमें (साधन आदिमें) बाधा लगनेपर क्रोध आयेगा और प्रेम होगा तो उसमें बाधा लगनेपर रोना आयेगा—यह आग्रह और प्रेमकी पहचान है। बद्ध पुरुषमें तो अपने मतका आग्रह होता है, पर मुक्त पुरुषमें अपने मतका प्रेम होता है। जिस साधनसे मुक्ति प्राप्त की है; उस साधनके प्रति जो प्रेम है, कृतज्ञताका भाव है, वही सूक्ष्म अहम् अथवा अहम्का संस्कार है। यह सूक्ष्म अहम् कोई विकार पैदा करनेवाला तो नहीं होता, पर मतभेद पैदा करनेवाला होता है। जैसे जले हुए कागजपर अक्षर दीखते हैं, ऐसे ही मुक्त पुरुषमें अभिमानशून्य अहम् दीखता है। इस सूक्ष्म अहम्के कारण ही मुक्त महापुरुषोंमें द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत आदि अनेक मतभेद पैदा हुए हैं।॥ ७३ ॥

प्रश्न—आचार्योंमें रहनेवाला मतभेद क्या उनकी मुक्तिमें बाधक नहीं होता?

उत्तर—आचार्योंमें रहनेवाला मतभेद मुक्तिमें तो बाधक नहीं होता, पर आपसमें मिलन नहीं होने देता।

आचार्योंमें अपने मतके पालनकी बात विशेष होती है, दूसरेके खण्डनकी बात विशेष नहीं होती, इसलिये उनकी मुक्तिमें वह मतभेद बाधक नहीं होता। परन्तु उनके अनुयायियोंमें दूसरेके खण्डनकी बात विशेष होती है, अपने मतके पालनकी बात विशेष नहीं होती, इसलिये वह मतभेद उनकी मुक्तिमें बाधक होता है। आचार्योंमें दूसरेके हितका भाव

* सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ (गीता ३। ३३)

'सम्पूर्ण प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं। ज्ञानी महापुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा?'

विशेष होता है।॥ ७४॥

प्रश्न—मुक्त होनेपर भी जो सूक्ष्म अहम् रह जाता है, वह क्या पुनः पतन कर सकता है?

उत्तर—सूक्ष्म अहम् रहनेसे उनका पुनः जन्म तो हो सकता है, पर पुनः पतन (बन्धन) नहीं हो सकता। जैसे, जड़भरतको अन्तकालमें हरिणका चिन्तन होनेसे हरिणका शरीर मिला तो भी उनका पतन नहीं हुआ। हरिणके जन्ममें भी सूखे पत्ते खाकर संयमसे रहते थे। शरीरका मिलना (पुनर्जन्म होना) पतन नहीं है, प्रत्युत भीतरी स्थितिसे नीचे गिरना पतन है। अन्तकालमें किसी विशेष श्रद्धालुकी तरफ वृत्ति जानेसे मुक्तमहापुरुषका भी पुनर्जन्म हो सकता है, पर पतन नहीं हो सकता॥ ७५ ॥

प्रश्न—मुक्तिके बाद रहनेवाला यह सूक्ष्म अहम् कब मिटता है?

उत्तर—परमप्रेम (पराभक्ति)-की प्राप्ति होनेपर यह सूक्ष्म अहम् सर्वथा मिट जाता है। इसीलिये कहा गया है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)॥ ७६॥

प्रश्न—चैतन्य महाप्रभु तो प्रेमी भक्त थे, फिर उनमें मतभेद (अचिन्त्यभेदाभेद) क्यों पाया जाता है?

उत्तर—चैतन्य महाप्रभुने केवल एक ही मत 'प्रेम'-को स्वीकार किया और उसमें भी केवल 'विप्रलम्भ' (वियोग)-को मुख्यता दी—यह उनमें मतभेद था। वियोगका आग्रह होनेसे उनमें मतभेद हो गया।

जिसमें मतभेद नहीं होता, वह कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्ति- योग—तीनों योगोंकी बात कहता है। वह परमात्माके समग्ररूपको मानता है, जिसके अन्तर्गत सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि सब रूप और सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि सब भाव आ जाते हैं॥ ७७॥

प्रश्न—भक्तोंमें अपने मतका आग्रह भी पाया जाता है; जैसे—घण्टाकर्ण भगवान् शङ्करके सिवाय अन्य कोई नाम सुनना ही नहीं चाहता था। इसका क्या कारण है?

उत्तर—वास्तवमें भक्तका अपना कोई आग्रह नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌का ही आग्रह होता है—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(मानस,अरण्य० ११। ११)

भगवान्‌का ही आश्रय होनेसे भगवान् भक्तके आग्रहको मिटा देते हैं॥ ७८॥

प्रश्न—क्या जीवन्मुक्त होनेके बाद भी अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार गति होती है?

उत्तर—नहीं। जबतक अहम् है, तभीतक अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार गति होती है? हाँ, मुक्त होनेपर भी जो सूक्ष्म अहम् रह जाता है, उससे अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार जन्म तो हो सकता है, पर पतन नहीं हो सकता। जैसे, जड़भरतको अन्तकालमें हरिणका चिन्तन होनेसे हरिणकी योनिमें जाना पड़ा। परन्तु हरिणका शरीर मिलनेपर भी उनका पतन नहीं हुआ। जैसे नदीका प्रवाह स्वतः समुद्रकी ओर जाता है, ऐसे ही भगवान्‌की तरफ स्वतः प्रवाह होनेके कारण हरिणका शरीर मिलनेपर भी वह प्रवाह बना रहा। वास्तवमें पशु-पक्षी आदिका शरीर मिलना पतन नहीं है, प्रत्युत भीतरी स्थितिसे नीचे गिरना पतन है। अतः अन्तकालमें ज्यादा श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले किसी विशेष प्रियजनकी तरफ वृत्ति जानेसे महात्माका भी पुनर्जन्म हो सकता है, पर पतन नहीं हो सकता॥ ७९॥

प्रश्न—क्या तत्त्वज्ञानीको संसार स्वप्नकी तरह मिथ्या दीखता है?

उत्तर—विवेकी साधकको संसार स्वप्नकी तरह दीखता है। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें तो संसार है ही नहीं! उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)॥ ८०॥

प्रश्न—क्या मुक्त पुरुषको 'मैं सर्वगत हूँ'

ऐसा अनुभव होता है?

उत्तर—मैं सर्वगत(सर्वव्यापी) हूँ—ऐसा अनुभव ऊँचे साधकको होता है। मुक्त होनेपर तो मैं-पन मिट जाता है और एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं रहता। कारण कि जब 'सर्व' की सत्ता ही नहीं है तो फिर सर्वगतका अनुभव कैसे?॥ ८१॥

प्रश्न—क्या जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञानी महापुरुष सर्वज्ञ होते हैं?

उत्तर—जो करणसापेक्ष शैलीसे (योगाभ्यास करके) सिद्ध हुए हैं, वे सर्वज्ञ हो सकते हैं; क्योंकि वे प्रकृतिको साथ लेकर चले हैं। परन्तु जिन्होंने करणनिरपेक्ष शैलीसे (सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक) साधना की है, वे सर्वज्ञ नहीं होते। वे सर्वज्ञ होनेको महत्त्व ही नहीं देते।

स्वयंमें 'सर्व' की अर्थात् प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं हैं। सर्वज्ञता प्रकृतिमें है। महापुरुषकी दृष्टिमें 'सर्व' है ही नहीं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें एक परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्यकी सत्ता ही नहीं रहती। प्रकृतिमें स्थित होनेपर ही वह सर्वज्ञ, त्रिकालज्ञ होता है।

महापुरुष सर्वज्ञ तो नहीं होता, पर दूसरे व्यक्तिकी प्रबल जिज्ञासाके कारण उसके हृदयमें भविष्यकी कोई बात स्वतः पैदा हो सकती है॥ ८२॥

प्रश्न—तत्त्वज्ञ महात्माकी दृष्टिमें संसार है ही नहीं, फिर लोगोंको दुःखी देखकर उन्हें दुःख क्यों होता है?

उत्तर—दुःख नहीं होता, प्रत्युत व्यवहारमात्र होता है। लोगोंकी दृष्टिसे उनमें दुःख दीखता है, पर वास्तवमें उनके भीतर दुःख नहीं है। परन्तु व्यवहारमें उनके द्वारा दूसरोंका दुःख मिटानेकी चेष्टा वैसी ही होती है। तात्पर्य है कि वे दुःखी नहीं होते, पर दुःख दूर करनेकी चेष्टा वैसे ही करते हैं, जैसे साधारण मनुष्य करता है।

दूसरेके सुख-दुःखसे सुखी-दुःखी होना भोग है, योग नहीं। महात्माओंमें भोग नहीं होता, प्रत्युत योग होता है। वे दर्पणकी तरह सुख-दुःखको पकड़ते नहीं। योगमें स्वयं सुखी-दुःखी नहीं होता, पर चेष्टा वैसी होती है। यह चेष्टा कर्मयोगी और भक्तियोगीमें विशेष होती है। ज्ञानयोगी तटस्थ रहता है, उसमें समता (निर्लिप्तता) रहती है॥ ८३॥

प्रश्न—जीवन्मुक्त होनेके बाद भी क्या उसका धर्मी रहता है? क्या वह अपना अलग अस्तित्व बनाये रखता है?

उत्तर—हाँ, अलग अस्तित्व रखता है। उसमें 'मैं जीवन्मुक्त हो गया, दूसरे नहीं हुए'—यह भेद रहता है। अगर उसकी दृष्टिमें 'सब जीवन्मुक्त हैं' ऐसा मानें तो भी 'दूसरोंको बन्धनका वहम है, मेरा वहम नहीं है'—यह भेद रहता ही है। इसलिये गीताने जीवन्मुक्तके लिये भी '**स सर्वविद्भजति**' (१५। १९) पदोंसे भजन करनेकी बात कही है।

जीवन्मुक्तिके बाद बहुत दूरतक धर्मी रहता है। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर फिर धर्मी नहीं रहता। धर्मी न रहनेपर भी स्वभाव-भेद रहता ही है—'**सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि**' (गीता ३। ३३)। तलवारको पारससे छुआ दिया जाय तो उसकी मार, धार और आकार नहीं बदलते, प्रत्युत धातु बदलती है। इसीलिये भगवान्ने सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंको पाँच भागोंमें विभक्त किया है (गीता १२। १३-१४,१५,१६,१७ और १८-१९)। भगवान्ने '**प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम्**' (गीता १०। ३०) 'दैत्योंमें प्रह्लाद मैं हूँ'—इन पदोंमें वर्तमानकालका प्रयोग किया है। इससे भक्तोंका अलग अस्तित्व सिद्ध होता है। '**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**' (गीता १४। २) 'ज्ञानी महापुरुष महासर्गमें भी पैदा नहीं होते और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते'—इन पदोंसे भी ज्ञानी महापुरुषोंका अलग अस्तित्व सिद्ध होता है।

तत्त्वज्ञान होनेपर अपनी सत्ताका नाश नहीं होता, प्रत्युत अपनी परिच्छिन्नताका, जड़-चेतनकी ग्रन्थिका नाश होता है।

जिसकी पहले प्राणिमात्रके हितमें रति रही है, उस मुक्त महापुरुषको भगवान् कारक पुरुषके रूपमें भेजते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि मुक्त होनेपर उसकी

अलग सत्ता मिटी नहीं।

भगवान्‌में लीन होनेका यह अर्थ नहीं है कि भक्त की सत्ता ही नहीं रही। एक मूर्ख आदमी विद्वान् बन जाता है तो क्या उसकी सत्ता मिट जाती है? भगवान्‌में लीन होनेका अर्थ है—भगवान्‌के रूपमें अवतार लेना। जैसे, भगवान् कच्छप,वराह आदि रूपोंमें अवतार लेते हैं तो उनकी सत्ता मिट नहीं जाती। भगवान्‌में लीन होनेपर जैसा होता है, वैसा अभी भी है। भगवान्‌में लीन होना अथवा उनके लोकमें निवास करना—दोनों नित्य हैं और भक्तके भावके अनुसार होते हैं। वास्तविक बातका पता अनुभव होनेपर ही लगता है॥ ८४॥

प्रश्न—कारक पुरुष कौन होते हैं?

उत्तर—जो मुक्त हो गये हैं, भगवान्‌को प्राप्त हो गये हैं, उन्हीं जीवोंमेंसे स्वभावके अनुसार भगवान् उनको कारक पुरुष, यमराज अथवा ब्रह्मा बनाते हैं। 'कारक' का अर्थ है—कल्याण करनेवाला। जिनका स्वभाव पहले प्राणिमात्रका हित करनेका रहा है, उनको भगवान् कारक पुरुष बनाकर पृथ्वीपर भेजते हैं। कारक पुरुषका जन्म भगवान्‌के अवतारकी तरह कर्मोंके अधीन नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌की इच्छाके अधीन होता है। उनके शरीरमें कोई रोग भी नहीं होता। श्रीवेदव्यासजी महाराज ऐसे ही कारक पुरुष थे॥ ८५॥

प्रश्न—क्या जीवन्मुक्त महापुरुषके द्वारा मृत्युसे बचनेकी चेष्टा होती है?

उत्तर—जैसे दूसरे व्यक्तिको बचानेकी चेष्टा होती है, ऐसे ही उनके द्वारा अपनेको बचानेकी चेष्टा होती है, पर जी जाय या मर जाय—इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। कारण कि उनमें न तो जीनेकी इच्छा होती है और न मृत्युका भय ही होता है। उनके द्वारा बिना इच्छा और भयके, स्वतः-स्वभाविक चेष्टा होती है; जैसे—नींदमें मच्छर काटे तो हाथ स्वतः वहाँ जाता है, सर्दी लगे तो हाथ स्वतः कम्बलपर पड़ता है॥ ८६॥

प्रश्न—कोई व्यक्ति जीवन्मुक्त महापुरुषके दर्शन कर ले तो क्या उसका कल्याण हो जायगा?

उत्तर—भक्त, जीवन्मुक्त अथवा भगवान्‌के दर्शनसे ही कल्याण हो जाय—यह बात जँचती नहीं। दुर्योधन भगवान् श्रीकृष्णको एक चालाक आदमी समझता था तो उसको चालाक आदमीके दर्शन हुए,भगवान्‌के दर्शन कहाँ हुए! तात्पर्य है कि कल्याण होनेमें भावकी मुख्यता है। अपनी भावना (श्रद्धा-प्रेम) विशेष हो तो कल्याण हो सकता है॥ ८७॥

प्रश्न—भीष्मपितामह जीवन्मुक्त थे, फिर दुर्योधनका अन्न खानेसे उनकी बुद्धि अशुद्ध कैसे हो गयी?

उत्तर—मनुष्य जीवन्मुक्त होता है तो उसका शरीर संसारसे अलग नहीं होता, प्रत्युत वह स्वयं शरीरसे अलग हो जाता है। अतः अशुद्ध अन्न खानेसे जीवन्मुक्तकी वृत्तियाँ भी अशुद्ध हो सकती हैं, पर वह वृत्ति तात्कालिक होती है, स्थायी नहीं। भीष्मपितामहके जीवनसे यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्यको खराब अन्न नहीं लेना चाहिये॥ ८८॥

तत्त्वज्ञान

प्रश्न—तत्त्वज्ञान होनेपर किसमें फर्क पड़ता है?

उत्तर—तत्त्वज्ञान होनेपर न तो स्वयं (आत्मा)-में फर्क पड़ता है और न अन्तःकरण (मन-बुद्धि)-में ही फर्क पड़ता है, प्रत्युत अपनी मान्यतामें फर्क पड़ता है, जो बुद्धिमें दीखती है।

बन्धन और मुक्ति दोनों कर्तामें ही हैं अर्थात् बन्धन और मुक्तिकी मान्यता स्वयंमें है। स्वयंमें इस मान्यताकी स्वीकृति है॥ ८९॥

प्रश्न—तत्त्वज्ञान और तत्त्वनिष्ठामें क्या भेद है?

उत्तर—तत्त्वज्ञान होनेके बाद तत्त्वनिष्ठा होनेमें

समय लगता है, पर मुक्तिमें सन्देह नहीं रहता। तत्त्वज्ञमें कुछ कोमलता रहती है, पर तत्त्वनिष्ठमें स्वतः-स्वाभाविक दृढ़ता रहती है। जैसे नींद खुलनेपर कुछ देरतक आँखोंमें भारीपन रहता है, आँखोंको प्रकाश सहन नहीं होता, ऐसे ही तत्त्वज्ञान होनेपर पहलेका कुछ संस्कार रहता है। पर तत्त्वनिष्ठा होनेपर यह संस्कार नहीं रहता।

तत्त्वज्ञका व्यवहार जलमें लकीरके समान और तत्त्वनिष्ठका व्यवहार आकाशमें लकीरके समान होता है। गीतामें **'ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः'** (५। २०) पदोंमें आये **'ब्रह्मविद्'** पदसे तत्त्वज्ञान होनेकी और **'ब्रह्मणि स्थितः'** पदोंसे तत्त्वनिष्ठा होनेकी बात आयी है॥ ९० ॥

प्रश्न—तत्त्वबोध होनेपर निष्ठा स्वतः होती है या उसके लिये कुछ करना पड़ता है?

उत्तर—निष्ठा स्वतः होती है। अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तत्त्वनिष्ठा होनेमें कम या अधिक समय लगता है। जैसे, शरीरकी प्रकृति अलग होनेसे किसीको जुकाम लगता है तो बहुत जल्दी ठीक हो जाता है और किसीको जल्दी ठीक नहीं होता। साधक असत्‌को जितनी महत्ता देता है, उतनी ही देरी लगती है और जितनी बेपरवाह करता है, उतनी ही जल्दी निष्ठा होती है॥ ९१ ॥

प्रश्न—राजा जनकको घोड़ेकी रकाबपर पैर रखते ही तत्त्वज्ञान हो गया तो ऐसे तत्काल तत्त्वज्ञान होनेमें क्या कारण है?

उत्तर—तीव्र जिज्ञासा हो, वर्तमान स्थितिमें सन्तोष न हो, अपनेमें कमीका अनुभव हो तथा वह कमी सह्य न हो तो बहुत जल्दी काम होता है। अत्यन्त श्रद्धा हो तो भी जल्दी काम होता है; जैसे—सन्त कह दें कि अमुक पदार्थ सोनेका है तो वह वैसा ही (सोनेका) दीखने लग जाय॥ ९२ ॥

प्रश्न—क्या तत्त्वज्ञान होनेपर स्वयंकी सम्पूर्ण शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं?

उत्तर—स्वयंमें अनन्त शक्तियाँ हैं। परन्तु तत्त्वज्ञान होनेपर वे सब शक्तियाँ प्रकट नहीं होतीं। तत्त्वज्ञानी महापुरुष 'युञ्जान योगी' होता है। अतः वह जहाँ वृत्ति लगाता है, वही शक्ति प्रकट होती है॥ ९३ ॥

प्रश्न—सात्त्विक ज्ञान और तत्त्वज्ञानमें क्या अन्तर है?

उत्तर—सात्त्विक ज्ञानमें संग है—**'सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ'** (गीता १४। ६), पर तत्त्वज्ञान सर्वथा असंग है। सात्त्विक ज्ञानमें द्रष्टा(देखनेवाला) रहता है, पर तत्त्वज्ञानमें द्रष्टा नहीं रहता। सात्त्विक ज्ञानमें 'मैं ज्ञानी हूँ'—इस प्रकार अपनेमें विशेषताका भान होता है, पर तत्त्वज्ञानमें (ज्ञानी अर्थात् अहंभाव न रहनेसे) अपनेमें विशेषता नहीं दीखती॥ ९४ ॥

प्रश्न—क्या तपस्यासे ब्रह्मज्ञान हो सकता है?

उत्तर—तपस्यासे ब्रह्मज्ञान परम्परासे हो सकता है, साक्षात् नहीं। वेदान्तमें ज्ञानप्राप्तिके आठ अंतरंग साधन बताये हैं—विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत्त्वपदार्थसंशोधन। तपस्या ज्ञानप्राप्तिका अन्तरंग साधन नहीं है, प्रत्युत बहिरंग साधन है।

गीतामें ज्ञानको भी तप माना गया है—**'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः'** (४। १०)। शारीरिक तप साधनमें सहायक तो हो सकता है, पर उससे ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। शारीरिक तपसे अभिमान भी पैदा हो सकता है॥ ९५ ॥

प्रश्न—ज्ञान तो अनन्त है, फिर 'तत्त्वज्ञान होनेपर जानना बाकी नहीं रहता'—यह कहनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—वास्तवमें ज्ञान अनन्त है। अतः'तत्त्वज्ञान होनेपर जानना बाकी नहीं रहता'—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि हमारी जिज्ञासा पूरी हो गयी। जैसे, हम कहते हैं कि मैंने पानी पी लिया तो इसका यह अर्थ नहीं है कि संसारमें पानी नहीं रहा, प्रत्युत यह अर्थ है कि हमारी प्यास बुझ गयी॥ ९६ ॥

प्रश्न—क्या तत्त्वज्ञान होनेके बाद भी ज्ञान

बढ़ता रहता है?

उत्तर—तत्त्वज्ञान होनेपर बोधमें तो कोई फर्क नहीं पड़ता, पर जबतक तत्त्वज्ञ महापुरुषका शरीर रहता है, तबतक पहलेके अभ्यास अथवा स्वभावके कारण उसका विवेक (व्यवहारमें) बढ़ता रहता है। विवेक बढ़नेसे उसका विवेचन भी स्पष्ट तथा बढ़िया होता है और उसमें नये-नये दृष्टान्त, युक्तियाँ आती हैं। जैसे गैसबत्तीका मेण्टल जलनेके बाद विशेष प्रकाश देता है, ऐसे ही तत्त्वबोध होनेके बाद उस महापुरुषका विवेक विशेष प्रकाशित होता है। यह विशेषता चेतन (स्वरूप)-में नहीं आती, प्रत्युत जड़ (व्यवहार)-में आती है। कारण कि तत्त्वबोध होनेपर जड़-चेतनका सर्वथा विभाग हो जाता है अर्थात् जड़-चेतनकी ग्रन्थि टूट जाती है॥ ९७॥

दान

प्रश्न—क्या मृत्युके बाद नेत्रदान करना उचित है?

उत्तर—सर्वथा अनुचित है। जैसे सम्पत्ति देनेका अधिकार बालिग (वयस्क)-को होता है, नाबालिग(अवयस्क)-को नहीं होता, ऐसे ही शरीरके किसी अंगका दान करनेका अधिकार जीवन्मुक्त महापुरुषको ही है। जिसने अपनी मुक्ति (कल्याण) कर लिया है, अपना मनुष्य-जन्म सफल बना लिया है, वह बालिग है, शेष सब नाबालिग हैं। जीवन्मुक्त महापुरुष भी शरीरके रहते हुए ही नेत्रदान कर सकता है, शरीर छूटनेके बाद नहीं।

शवके साथ छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिये। शवका कोई अंग काटनेसे अगले जन्ममें वह अंग नहीं मिलता। अंग मिलता भी है तो उसमें कमी अथवा चिह्न रहता है। कुछ व्यक्तियोंमें पूर्वजन्मका चिह्न इस जन्ममें भी देखा गया है। बालकके मरनेपर माताएँ उसके किसी अंगपर लहसुन लगा देती हैं तो वह चिह्न अगले जन्ममें भी रहता है॥ ९८॥

प्रश्न—दान अपनी वस्तुका ही होता है—'स्वस्वत्वपरित्यागपूर्वकं परसत्त्वोत्पादनं दानम्', फिर कर्मयोगी किसी भी वस्तुको अपनी न मानकर दूसरोंकी सेवा करता है—यह बात कैसे?

उत्तर—वस्तु अपनी माननेसे कामना होती है। उसीकी वस्तु उसीको दे दी तो फिर कामना कैसे? कामना करना बेईमानी है। वास्तवमें अपना कुछ नहीं है। जो भी वस्तु हमारे पास है, वह मिली है और बिछुड़नेवाली है। अत: जो मिला है, वह दूसरोंकी सेवाके लिये ही है।

जो वस्तु वास्तवमें अपनी है, उसका त्याग कभी होता ही नहीं। क्या स्वरूपका त्याग हो सकता है? क्या सूर्य अपनी किरणोंका त्याग कर सकता है? नहीं कर सकता। त्याग उसीका होता है, जो अपना नहीं है, पर भूलसे अपना मान लिया है। अत: अपनी मानकर वस्तु देना राजस-तामस त्याग है, जिससे मुक्ति नहीं होती॥ ९९॥

प्रश्न—पति दान करनसे मना करता हो तो क्या पत्नी छिपकर दान कर सकती है?

उत्तर—दान करना दोष नहीं है, पर छिपकर दान करना दोष है। स्त्रीको चाहिये कि वह पतिसे मासिक ले और उसमेंसे अर्थात् अपने हकके रुपयोंमेंसे दान करे। अपने हिस्सेकी वस्तुमें तो उसका अधिकार है ही।

पति आदिसे छिपकर दान करना 'गुप्त दान' नहीं है, प्रत्युत चोरी है। गुप्त दान वह है, जिसमें लेनेवालेको पता ही न लगे कि किसने दिया॥ १००॥

प्रश्न—कुछ लोग अपने घरके बाल-बच्चोंको, पत्नीको वस्तु न देकर दूसरोंको देते हैं, उनकी सेवा करते हैं—यह उचित है क्या?

उत्तर—ऐसे लोग वास्तवमें अपना कल्याण नहीं चाहते, प्रत्युत मान-बड़ाई चाहते हैं। वस्तुओंपर अपने

परिवारवालोंका पहला हक है। जो हमसे जितना नजदीक होता है, उतना ही उसका अधिक हक होता है, उतना ही वह सेवाका अधिकारी होता है। परिवारवालोंका हमपर ऋण है। ऋण पहले उतारना चाहिये, दान-पुण्य पीछे करना चाहिये॥ १०१ ॥

प्रश्न—अपनेपर कर्जा हो तो क्या दान-पुण्य कर सकते हैं?

उत्तर—कर्जदार व्यक्तिको दान-पुण्य करनेका अधिकार नहीं है। इसलिये पहले कर्जा चुकाना चाहिये। हाँ, यदि दान-पुण्य करना ही हो तो अपने रोटी-कपड़ेके खर्चेमेंसे निकालकर करना चाहिये॥ १०२ ॥

प्रश्न—मृतात्माके निमित्त ब्राह्मणको शय्या, वस्त्र आदिका दान करते हैं तो ब्राह्मण उन्हें बेच देते हैं और रुपये इकट्ठे कर लेते हैं, यह ठीक है क्या?

उत्तर—ब्राह्मणको दानमें मिली वस्तु बेचनी नहीं चाहिये, प्रत्युत उसको अपने काममें लेनी चाहिये। यदि वह उस वस्तुको बेचता है तो उसको पाप लगता है और जो उसको खरीदता है,वह उस मृतात्माका कर्जदार होता है।

यदि विधिकर्ता ब्राह्मणको शय्या आदि वस्तुओंकी आवश्यकता न हो तो यजमानको चाहिये कि वह उस ब्राह्मणसे विधि (संकल्प) करवा ले और उन वस्तुओंको दूसरे गरीब, अभावग्रस्त ब्राह्मणको दे दे। यदि विधिकर्ता ब्राह्मण ऐसा करनेमें राजी न हो तो उसको वस्तुएँ दे दे, फिर उन वस्तुओंको पैसे देकर वापिस खरीद ले और उन्हें दूसरे गरीब ब्राह्मणको दे दे। ऐसा करनेसे विधिकर्ता ब्राह्मणको तो रुपये मिल जायँगे और गरीब ब्राह्मणको वस्तुएँ मिल जायँगी। तात्पर्य है कि वस्तुएँ उसी ब्राह्मणको देनी चाहिये, जो उनको खुद काममें ले॥ १०३ ॥

प्रश्न—पैसा देकर वस्तु खरीदनेपर तो दोष नहीं लगता, फिर ब्राह्मणसे शय्या आदि खरीदनेवाला दोषी (मृतात्माका कर्जदार) क्यों होता है?

उत्तर—वह सस्तेमें वस्तुएँ खरीदता है, इसीलिये उसको दोष लगता है। यदि सवाया-ड्योढ़ा अधिक मूल्य देकर खरीदे तो दोष नहीं लगेगा॥ १०४ ॥

दोष (काम-क्रोधादि)

प्रश्न—जैसे द्रवित मोममें जो रंग डाला जाय, वही उसमें बैठ जाता है, ऐसे ही द्रवित चित्तमें जो कामादि दोष बैठ गये हैं। उनको कैसे निकालें?

उत्तर—द्रवित चित्तमें काले श्यामसुन्दरको बैठा दें। काले रंगमें सब रंग समा जाते हैं॥ १०५ ॥

प्रश्न—दोष आने-जानेवाले हैं, पर दीखता ऐसा है कि दोष कहींसे आते नहीं, प्रत्युत अपने भीतर ही रहते हैं और समयपर जाग्रत् हो जाते हैं?

उत्तर—दोष अन्त:करणमें आदतरूपसे, संस्काररूपसे रहते हैं और अन्त: करणमें ही जाग्रत् होते हैं। परन्तु अन्त:करणके साथ तादात्म्य होनेसे उन दोषोंको हम अपनेमें मान लेते हैं। अत: साधकमें यह सावधानी रहनी चाहिये कि वह दोषोंको अपनेमें न माने। कारण कि वास्तवमें दोष अपनेमें होते नहीं। स्वरूप निर्दोष है॥ १०६ ॥

प्रश्न—एक बात यह कही जाती है कि स्वरूप निर्दोष है और एक बात कही जाती है कि 'मो सम कौन कुटिल खल कामी'—दोनोंमें कौन-सी बात ठीक है?

उत्तर—दोनों ही बातें ठीक हैं; क्योंकि दोनोंका परिणाम एक ही है और वह है—निर्दोष होना। पहली बात ज्ञानकी दृष्टिसे कही गयी है और दूसरी बात भक्तिकी दृष्टिसे। अपने स्वरूपको देखें तो वह निर्दोष है। भक्त भगवान्‌के सामने अपने दोषोंको कहता है तो उसका उद्देश्य दोषोंको रखनेका नहीं है, प्रत्युत मिटानेका है। भगवान्‌के सामने कोई दोष टिक सकता है क्या?

'मो सम कौन कुटिल खल कामी'—ऐसा कहना

अपनेमें दोषोंकी स्थापना करना नहीं है, प्रत्युत अपने दोषोंको भगवान्‌के सामने रखना है, उनको आगमें डालकर भस्म करना है।

जो साधक होता है, उसको अपनेमें थोड़ा भी दोष बहुत बड़ा दीखता है। वह चक्षुगोलकके समान होता है—**'अक्षिपात्रकल्पं योगिनम्'** (योगदर्शन २। १६ का व्यासभाष्य)। जैसे, पीठपर तिनका पड़ा हो तो कोई पीड़ा नहीं होती, पर आँखमें पड़ा छोटे-से-छोटा तिनका भी पीड़ा देता है॥ १०७॥

प्रश्न—सर्वथा निर्दोष जीवन कैसे मिलेगा?

उत्तर—सर्वथा निर्दोष जीवन मिलेगा निर्मम-निरहंकार होनेसे! कारण कि अहंता-ममता ही सम्पूर्ण दोषोंका घर है॥ १०८॥

प्रश्न—जो वस्तुएँ विजातीय हैं, उनमें ममता, कामना, आसक्ति कैसे होती है?

उत्तर—विजातीय शरीरको अपना स्वरूप ('मैं') मानकर हम सजातीय हो गये, इसलिये ममता, कामना, आसक्ति होती है॥ १०९॥

प्रश्न—क्रोध आनेपर क्या करना चाहिये?

उत्तर—चुप हो जाना चाहिये। बोलनेसे क्रोध बढ़ता है, चुप होनेसे क्रोध शान्त होता है। यदि बोले बिना रहा न जाय तो मुखमें ठण्डा जल भर ले और उसको कुछ देरतक मुखमें ही रखकर फिर धीरे-धीरे पी जाय। जलसे क्रोधरूपी अग्नि शान्त होती है।

मूलमें क्रोध अहंकार और कामनासे पैदा होता है— **'कामात्क्रोधोऽभिजायते'** (गीता २। ६२)। जब अभिमानरूपी फोड़ेमें ठेस लगती है अथवा मनके विरुद्ध कोई बात होती है, तब क्रोध आता है। इसलिये अहंकार और कामनाका त्याग करना चाहिये।

शरीर संसारका है और मैं भगवान्‌का हूँ। मैं शरीरसे सर्वथा अलग हूँ। इस प्रकार विवेककी प्रधानता होनेसे क्रोध नहीं आता।

बड़ोंपर क्रोध आये तो उनके चरणोंमें गिर जाना चाहिये कि मुझे क्रोध आ गया!

सत्संग करनेसे स्वभाव सुधरता है और काम-क्रोधादि दोष कम होते हैं॥ ११०॥

प्रश्न—कामवृत्तिका नाश कैसे हो?

उत्तर—शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही काम-वृत्ति पैदा होती है। हमारा स्वरूप सत्तामात्र है। सत्तामात्रकी तरफ वृत्ति रहनेसे कामवृत्तिका नाश हो जाता है। कारण कि सत्तामें विकार नहीं है और विकारमें सत्ता नहीं है।

विचार करनेसे अथवा भगवान्‌से प्रार्थना करनेसे भी 'काम' से बचा जा सकता है। दृढ़ निश्चयसे भी 'काम' दूर हो जाता है; जैसे—पहले जमानेमें राजालोग ही नहीं, डाकू भी स्त्रियोंसे दुर्व्यवहार नहीं करते थे तो यह उनका दृढ़ निश्चय था।

'काम' नीरसतासे पैदा होता है। जैसे कुत्तेको मांस नहीं मिलता तो वह सूखी हड्डी ही चबाता है, जिससे उसके मुखसे खून निकलता है और वह उसीसे राजी हो जाता है! ऐसे ही नीरसतामें मनुष्य देखता है कि कोई भी भोग मिल जाय तो थोड़ा सुख ले लें! यदि भगवान्‌में प्रियता हो जाय तो नीरसता दूर हो जायगी और नीरसता दूर होनेसे 'काम' भी नहीं रहेगा॥ १११॥

प्रश्न—सब कुछ भगवान् ही हैं; अत:'काम' भी भगवान्‌का स्वरूप हुआ, फिर उसका निषेध क्यों?

उत्तर—मृत्यु भी भगवान्‌का स्वरूप है—**'मृत्यु: सर्वहरश्चाहम्'** (गीता १०। ३४) तो क्या कोई जान-बूझकर मरना चाहेगा? नरक भी भगवान्‌का स्वरूप है तो क्या कोई नरकोंमें जाना चाहेगा? परन्तु मनुष्यका उद्देश्य सदा अपने कल्याणका, आनन्दका ही होता है, दु:खका नहीं। अत: निषिद्ध क्रिया कभी नहीं करनी चाहिये॥ ११२॥

प्रश्न—ममता मिटानेका उपाय क्या है?

उत्तर—ममता-कामना मिटानेके लिये किसी श्रमसाध्य साधनकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत विचारकी आवश्यकता है। मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तु अपनी नहीं होती—यह विचार करना

चाहिये॥ ११३॥

प्रश्न—किसीमें बुराई दीखे तो क्या करना चाहिये? उसका सुधार करें, उपेक्षा करें या प्रभुकी लीला मानें?

उत्तर—उसके सुधारकी चेष्टा करें और यदि वह न माने तो प्रभुकी लीला समझकर उपेक्षा कर दें॥ ११४॥

प्रश्न—कोई भी व्यक्ति बुरा नहीं है, कैसे?

उत्तर—सम्पूर्ण जीव परमात्माके अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७) और परमात्माका अंश कभी बुरा नहीं होता। बुराई तो आगन्तुक है अर्थात् संसारके सम्बन्धसे बुराई आयी है, मूलमें है नहीं। बुराईकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, प्रत्युत भलाईकी कमीका नाम ही बुराई है॥ ११५॥

प्रश्न—अगर किसीकी भी बुराई देखना दोष है तो फिर बुराई देखे बिना गुरु शिष्यका, पिता पुत्रका सुधार कैसे करेगा?

उत्तर—दूसरेको निर्दोष बनानेकी नीयतसे बुराई देखना दोष नहीं है। दोष है—बुराई देखकर राजी होना। गुरु शिष्यकी और पिता पुत्रकी बुराई देखकर राजी नहीं होता, प्रत्युत दु:खी होता है और उसको निर्दोष देखना चाहता है।॥ ११६॥

धर्म

प्रश्न—धर्मका मूल क्या है?

उत्तर—स्वार्थका त्याग तथा दूसरोंका हित॥ ११७॥

प्रश्न—धर्मका प्रचार कैसे करें?

उत्तर—धर्मके अनुसार खुद चलें—इसके समान धर्मका प्रचार कोई नहीं है॥ ११८॥

प्रश्न—विजय धर्मकी ही होती है, पर आजकल कहीं-कहीं अधर्मकी विजय और धर्मकी हार होती हुई क्यों दीखती है?

उत्तर—जब मनुष्य सुखासक्तिके कारण असत्‌को महत्त्व देता है, तब हार होती है। वास्तवमें हार होती नहीं, पर दीखता ऐसा है कि हार हो गयी!॥ ११९॥

नामजप

प्रश्न—पाप तो बहुत पुराने हैं और नामजप अभी करते हैं। नये नामजपसे पुराने पाप कैसे कटते हैं।

उत्तर—इसमें यह बलाबल नहीं देखा जाता कि नया है या पुराना, कम है या ज्यादा। नया पुरानेके लिये ही होता है। गुफामें सैकड़ों वर्षोंका अँधेरा प्रकाश करते ही तत्काल दूर हो जाता है। मनोंभर रूई एक दियासलाईसे जल जाती है। जिस वस्तुका आजतक परिचय (ज्ञान)नहीं हुआ, उससे तुरन्त परिचय हो जाता है॥ १२०॥

प्रश्न—क्या चौबीस घण्टे लगातार नापजप करनेसे भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं?

उत्तर—नामजप करते-करते दर्शनकी लगन लग जाय तो दर्शन हो सकते हैं। वास्तवमें लगनसे दर्शन होते हैं, क्रियासे नहीं। लगन होती है संसारसे विमुख होनेसे॥ १२१॥

प्रश्न—कितना जप करनेसे भगवान्‌के दर्शन हो जाते हैं?

उत्तर—कलिसन्तरणोपनिषद्‌में आया है कि '**हरे राम०**' का साढ़े तीन करोड़ जप करनेसे भगवान्‌के दर्शन हो जाते हैं। परन्तु यह नियम नहीं है। साढ़े तीन करोड़से भी अधिक जप करनेवाले व्यक्ति हमें मिले हैं, पर उनको भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए। कारण यह है कि भगवान्‌का दर्शन होनेमें क्रियाकी प्रधानता नहीं

है, प्रत्युत भावकी, प्रेमकी, लगनकी प्रधानता है। अतः प्रेम कम हो तो साढ़े तीन करोड़ जप करनेसे भी दर्शन नहीं होते और प्रेम अधिक हो तो इससे कम जप करनेसे भी दर्शन हो जाते हैं। संख्या इसलिये बतायी जाती है कि आलस्य-प्रमाद न हो।

यदि उद्देश्य तेज हो और अपने बलका सहारा न हो तो एक नामसे ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है—**'निरबल ह्वै बलराम पुकार्‌यो आये आधे नाम'**। संख्या (क्रिया)-की तरफ वृत्ति रहनेसे निर्जीव-(निष्प्राण) जप होता है और भगवान्‌की तरफ वृत्ति रहनेसे सजीव-(सप्राण) जप होता है। अतः नामीमें प्रेम होना चाहिये और 'हमारे प्यारेका नाम है'—इसको लेकर नाम-जप करना चाहिये॥ १२२॥

प्रश्न—भगवान्‌के नाम अनन्त हैं तो क्या अन्तसमयमें किसी भी नामसे कल्याण हो जायगा?

उत्तर—वृत्ति भगवान्‌में होगी तो कल्याण होगा। यह नाम भगवान्‌का है—ऐसी वृत्ति होनी चाहिये। नाममें भी कल्याण करनेकी शक्ति है, पर उसमें हमारी वृत्ति कारण है; जैसे-सरदी लगनेपर गरम कपड़ा ओढ़ते हैं तो हमारे शरीरकी गरमी ही कपड़ेमें आती है और हमारी ठण्डी दूर करती है। अन्तकालमें भगवन्नाम इसलिये सुनाते हैं कि उसमें भगवान्‌में वृत्ति करानेकी शक्ति है॥ १२३॥

प्रश्न—मरनेवाला तो संसारका चिन्तन कर रहा है, पर दूसरा व्यक्ति उसको भगवन्नाम सुना रहा है तो क्या उसका कल्याण हो जायगा?

उत्तर—भगवान्‌ने मनुष्यको अन्तकालमें विशेष छूट दी है। अतः अन्तकालमें भगवन्नाम सुनानेसे वहाँ यमदूत नहीं आयेंगे। दूसरी बात, नाम सुनानेवालेका उद्देश्य कल्याण करनेका है तो नाम सुनानेसे उसका कल्याण हो जायगा। तीसरी बात, नाम सुननेसे मरनेवाले व्यक्तिको अन्तकालमें भगवान्‌की याद आ जायगी तो उसका कल्याण हो जायगा॥ १२४॥

प्रश्न—कोई भगवन्नाम न सुनाकर कीर्तनकी टेप लगा दे तो?

उत्तर—उसमें भी टेप लगानेवालेका उद्देश्य काम करेगा॥ १२५॥

प्रश्न—कोई भगवन्नाम न सुनाकर मनसे नामजप करे तो?

उत्तर—उसका उद्देश्य काम करेगा॥ १२६॥

परहित

प्रश्न—परहितका भाव होनेमें बाधा क्या है?

उत्तर—व्यक्तिगत स्वार्थ ही बाधक है। वास्तवमें व्यक्तिगत स्वार्थका भाव रखनेसे स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, पर सबके हितका भाव रखनेसे (व्यक्तिगत स्वार्थ छोड़नेसे) व्यक्तिगत स्वार्थ भी सिद्ध हो जाता है! सबके हितका भाव रखनेवालेकी सेवा पशु भी करते हैं॥ १२७॥

प्रश्न—भजन-ध्यान आदि साधन सबके हितके लिये करने चाहिये—यह बात यदि सत्य है तो यह मानना पड़ेगा कि अभीतक किसीका साधन सिद्ध नहीं हुआ; क्योंकि अभीतक सबका हित नहीं हुआ?

उत्तर—इसमें सबके हितका तात्पर्य नहीं है, प्रत्युत अपने स्वार्थके त्यागका तात्पर्य है। सबके हितकी बात तो दूर रही, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिका भी हित (कल्याण) नहीं कर सकता, पर अपने स्वार्थका त्याग कर सकता है। सबके हितका भाव साधन है, साध्य नहीं॥ १२८॥

प्रश्न—अपना हित न सोचकर दूसरेका हित क्यों सोचें?

उत्तर—हमारा हित हो—यह स्वार्थवृत्ति ही हमारे हितमें बाधक है। जितना दूसरेके हितके लिये करेंगे, उतना ही अपना स्वार्थ मिटेगा। जितना स्वार्थ मिटेगा, उतना हमारा हित होगा॥ १२९॥

प्रश्न—दुःखी व्यक्तिको देखकर दुःख होगा तो

उससे सम्बन्ध जुड़ जायगा, फिर बन्धन कैसे छूटेगा?

उत्तर—यह सम्बन्ध बाँधनेवाला नहीं है। दु:खीको देखकर दु:ख होता है तो इससे सिद्ध हुआ कि उसके अधिकारवाली कोई वस्तु हमारे पास है। वह वस्तु उसकी सेवामें लगा दो॥ १३०॥

पाप-पुण्य

प्रश्न—पाप-पुण्यरूप कर्मोंका संग्रह कहाँ होता है?

उत्तर—अन्त:करणमें होता है। जैसे, बिजली कितनी खर्च हुई—इसका पता मीटरसे लग जाता है। कोई व्यक्ति कभी भी, किसी भी समय बिजली खर्च करे और कितना ही छिपकर बिजली खर्च करे,पर मीटरमें सब अंकित हो जाता है। ऐसे ही पाप-पुण्यको अंकित करनेवाला विलक्षण मीटर अन्त:करणमें है॥ १३१॥

प्रश्न—क्या अपनी अथवा दूसरेकी रक्षाके लिये दुष्ट व्यक्तिको मारनेसे पाप लगता है?

उत्तर—यद्यपि यह कार्य क्षत्रियका है, तथापि जब देशमें अराजकता फैल जाय,राजा (शासक) हमारी पुकार न सुने, हम न्यायपूर्वक चलते हों तो भी हमपर अन्यायपूर्वक आक्रमण होते हों तो ऐसी स्थितिमें चारों वर्णोंका क्षात्रधर्म हो जाता है अर्थात् स्त्री,गाय, सम्पत्ति, प्राण आदिकी रक्षाके लिये चारों वर्ण शस्त्र धारण कर सकते हैं*। परन्तु उद्देश्य केवल अपनी तथा स्त्री आदिकी रक्षाका ही होना चाहिये, दूसरेको मारनेका नहीं। रक्षा करते हुए वह दुष्ट व्यक्ति मर भी जाय तो पाप नहीं लगता। उसके मरनेसे दुनियाका भी भला होगा और उसका भी भला होगा; क्योंकि वह और नये पाप करनेसे बच जायगा।

वास्तवमें हिंसा भावसे होती है, क्रियासे नहीं। डॉक्टर आपरेशन करते समय रोगीका अंग काट देता है, सैनिक सीमापर शत्रुको मार देता है तो यह हिंसा नहीं मानी जाती; क्योंकि डॉक्टर और सैनिकका भाव लोगोंके हितका है॥ १३२॥

प्रश्न—क्या पुण्यकर्म करनेसे पाप कट जाते हैं?

उत्तर—पापकर्म 'फौजदारी' की तरह हैं और पुण्यकर्म 'दीवानी' की तरह हैं। दोनोंका विभाग अलग-अलग है। पापोंका और पुण्योंका अलग-अलग संग्रह होता है। इसलिये स्वाभाविक रूपसे ये दोनों एक-दूसरेसे कटते नहीं अर्थात् पापोंसे पुण्य नहीं कटते और पुण्योंसे पाप नहीं कटते। परन्तु मनुष्य पाप काटनेके उद्देश्यसे प्रायश्चित्त-कर्म करे तो उससे पाप कट सकते हैं; जैसे—जुर्माना देकर मनुष्य कैदसे छूट सकता है॥ १३३॥

प्रश्न—जब पाप-पुण्य एक-दूसरेसे नहीं कटते तो फिर ऋषियोंकी तपस्या कैसे भंग हुई?

उत्तर—तपस्या भंग नहीं होती, प्रत्युत उसमें बाधा लग जाती है। जितनी तपस्या हो गयी, वह नष्ट नहीं होती। खुद विचलित होनेसे ही तपस्यामें बाधा लगती है। खुद विचलित न हो तो उसको कोई विचलित नहीं कर सकता—'**कामी बचन सती मनु जैसें**' (मानस, बाल० २५१। १)॥ १३४॥

प्रश्न—वर्तमानमें उग्र पाप और उग्र पुण्यका फल तत्काल देखनेमें नहीं आता, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—इसमें कलियुग कारण है; क्योंकि कलियुग अधर्मका मित्र है—'**कलिनाधर्ममित्रेण**' (पद्मपुराण, उत्तर० १९३। ३१)। हाँ, जमा होते-होते बादमें इसका भयंकर फल अवश्य मिलता है; जैसे—फोड़ा धीरे-धीरे बढ़ता है और पककर फूटता है!॥ १३५॥

प्रश्न—कुछ व्यक्तियोंके किये पापका फल पूरे

* गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा वर्णानां वाऽपि सङ्करे। गृह्णीयातां विप्रविशौ शस्त्रं धर्मव्यपेक्षया॥ (बोधायनस्मृति २। २। ८०)

समाजको क्यों भोगना पड़ता है?

उत्तर—सृष्टि एक इकाई है। अत: व्यक्तिके पाप या पुण्यका प्रभाव सृष्टिमात्रपर पड़ता है। परन्तु उसके फलभोगमें अन्तर रहेगा ही अर्थात् पापात्मापर जैसी आफत आयेगी, वैसी आफत पुण्यात्मापर नहीं आयेगी। पुण्यात्मा पुरुष भी पहले किये अपने पापका ही फल भोगते हैं। कभी आफत आनेपर वे बच भी जाते हैं; जैसे—दुर्घटना होनेपर एक ही गाड़ीमें बैठे आदमियोंमेंसे कोई मर जाता है, कोई बच जाता है॥ १३६॥

प्रार्थना

प्रश्न—प्रार्थनामें खास बात क्या है?

उत्तर—अपनी निर्बलताका और भगवान्‌की सबलता (प्रभाव, सामर्थ्य)-का अनुभव करना ॥ १३७॥

प्रश्न—क्या प्रार्थना किये बिना भगवान् रक्षा नहीं करते?

उत्तर—रक्षा और पालन करनेकी शक्तिका नाम ही परमात्मा है। इसलिये वे तो बिना प्रार्थना किये भी सबकी रक्षा करते रहते हैं। परन्तु जैसे भगवान्‌की कृपा सबपर होती है, पर जो उस कृपाको स्वीकार करता है, उसपर वह कृपा ज्यादा फलीभूत होती है, ऐसे ही जो (द्रौपदी, गजराज आदिकी तरह) आर्तभावसे रक्षाके लिये प्रार्थना करता है, उसपर भगवत्कृपा ज्यादा फलीभूत होती है॥ १३८॥

प्रश्न—कभी-कभी प्रार्थना करनेपर भी भगवान् कष्टसे रक्षा नहीं करते, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—आर्तभावमें कमी रहनेसे प्रार्थना सफल नहीं होती। इसलिये प्रार्थना आर्तभावसे और निर्बल होकर करनी चाहिये—***'निरबल ह्वै बलराम पुकार्‌यो आये आधे नाम'*** ॥ १३९॥

प्रश्न—प्रार्थना करनेपर भी रक्षा न होनेपर कई मनुष्योंमें नास्तिकता आ जाती है, ऐसा क्यों?

उत्तर—भीतरमें पहलेसे नास्तिकता होती है, तभी आती है! नास्तिक वही बनता है, जो पहलेसे नास्तिक होता है। जो आस्तिक होता है, वह प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी आस्तिक ही रहता है, कभी नास्तिक नहीं होता। भगवान् कितनी ही विरुद्ध परिस्थिति भेजें तो भी भक्तमें नास्तिकता नहीं आती; क्योंकि वह प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌की कृपाको ही देखता है॥ १४०॥

प्रश्न—क्या दूसरेका दु:ख दूर करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना कर सकते हैं?

उत्तर—कर सकते हैं। इसमें कोई दोष नहीं है। केवल एक दोष आता है कि क्या हम ज्यादा दयालु हैं? भगवान्‌में दया नहीं है क्या?॥ १४१॥

प्राण

प्रश्न—प्राणशक्ति और चेतनाशक्ति क्या है?

उत्तर—प्राणशक्ति क्रियात्मक होनेसे 'राजसी' है और चेतनाशक्ति विवेकात्मक होनेसे 'सात्त्विकी' है। शरीरका हिलना-डुलना प्राणशक्ति से होता है। छिपकलीकी पूँछ कटनेपर भी प्राणशक्तिके कारण हिलती रहती है और प्राणशक्ति धीरे-धीरे समष्टि प्राणमें लीन हो जाती है। चेतनाशक्ति अन्त:करणकी वृत्ति है। एक आदमी सोया हुआ है और एक आदमी मरा हुआ है। प्राणशक्ति काम न करनेसे दोनोंके शरीर अचल हैं। परन्तु दोनोंका चेहरा देखें तो उसमें अन्तर दीखता है। यह अन्तर सोये हुए आदमीमें चेतनाशक्ति होनेके कारण दीखता है॥ १४२॥

प्रश्न—मरनेपर प्राण (सूक्ष्मशरीर) निकल जाता है, फिर छिपकलीकी कटी पूँछ क्यों हिलती रहती है?

उत्तर—उसमें प्राण रहता है, तभी वह हिलती है। प्राण धीरे-धीरे निकलते हैं। इसलिये किसीके मरनेके बाद भी उसका तुरन्त अग्नि-संस्कार न करके लगभग आधा घण्टातक भगवन्नाम-कीर्तन करते रहना चाहिये।

प्राण (वायु)-के बिना कोई क्रिया हो ही नहीं सकती। शरीरकी सभी क्रियाएँ प्राणोंसे ही होती हैं। प्राणोंसे ही गमनागमन होता है। बल भी वायुका ही होता है। वायुपुत्र होनेके कारण ही हनुमान्‌जी और भीम बड़े बलवान् हैं। कोई भारी वस्तु उठाते हैं तो श्वास (वायु) रोककर ही उठाते हैं। श्वास लेते हुए भारी वस्तु नहीं उठा सकते॥ १४३॥

प्रारब्ध

प्रश्न—मनुष्यकी जन्म-कुण्डलीमें जो लिखा रहता है, वही होता है तो फिर मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र कैसे हुआ?

उत्तर—एक 'करने' का विभाग है और एक 'होने' का। जन्म-कुण्डलीमें 'होने' की बात लिखी रहती है, 'करने' की नहीं। पारमार्थिक उन्नतिकी बात जन्म-कुण्डलीमें न होनेपर भी मनुष्य पारमार्थिक उन्नति कर सकता है। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। अगर जन्म-कुण्डलीके अनुसार ही सब कार्य हों तो गुरु, शास्त्र, सत्संग, शिक्षा आदि सब व्यर्थ हो जायँगे॥ १४४॥

प्रश्न—जन्म-कुण्डलीमें यह निर्देश रहता है कि बालक दुराचारी होगा या सदाचारी; अतः मनुष्य कर्मोंके अधीन हुआ?

उत्तर—जन्मके समय प्रारब्धके अनुसार जैसे ग्रह-नक्षत्र होते हैं, वैसे लिख दिया जाता है। परन्तु भविष्यमें मनुष्य जैसा चाहे, वैसा बननेमें स्वतन्त्र है।

ग्रह-नक्षत्र आदिकी एक सीमा होती है। मनुष्यके अन्तःकरणमें ग्रहोंके अनुसार समय-समयपर अच्छी या बुरी वृत्तियाँ तो पैदा हो सकती हैं, पर उनके अनुसार क्रिया करनेमें वह परवश नहीं है। वह चाहे तो अपने विवेकका उपयोग करके निषिद्ध क्रियाका त्याग कर सकता है। जैसे, हमें प्रारब्धके अनुसार धन मिलनेवाला है तो समयपर धन मिल जायगा, पर उस धनको ग्रहण करनेमें अथवा उसका त्याग करनेमें तथा सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करनेमें हम स्वतन्त्र हैं॥ १४५॥

प्रश्न—भृगुसंहिता आदिसे मालूम हो जाता है कि यह मनुष्य अमुक-अमुक कार्य करेगा, फिर मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र कैसे?

उत्तर—ज्योतिषमें करनेकी बात उतनी ही आती है, जितनेसे फलभोग हो सके। जैसे, व्यापारमें नफा या नुकसान होनेवाला हो तो मनुष्यसे ऐसी क्रिया हो जायगी, जिससे फलका भोग (नफा या नुकसान) हो सके। सब क्रियाएँ जन्म-कुण्डली (प्रारब्ध)-के अनुसार हो ही नहीं सकतीं। केवल एक दिनमें ही मनुष्य इतनी क्रियाएँ करता है कि उनको लिखनेसे पुस्तक बन जाय!॥ १४६॥

प्रश्न—फल भुगतानेके लिये प्रारब्ध जो कर्म करवाता है, उसका पता कैसे चले कि यह कर्म प्रारब्धसे है या क्रियमाणसे?

उत्तर—इसका निर्णय, विश्लेषण करना बड़ा कठिन है! हाँ, इस विषयमें यह बात समझनेकी है कि फलभोगके लिये प्रारब्ध जो कर्म करवाता है, वह शास्त्रनिषिद्ध नहीं होता। शास्त्रनिषिद्ध कर्म प्रारब्धसे नहीं होता, प्रत्युत कामनासे होता है—'**काम एषः**' (गीता ३। ३७) अतः प्रारब्धके अनुसार कर्म करनेकी वृत्ति तो हो जायगी, पर निषिद्ध आचरण नहीं होगा; क्योंकि फलभोगके लिये निषिद्ध आचरणकी जरूरत है ही नहीं। निषिद्ध आचरण तो नया कर्म होता है॥ १४७॥

प्रश्न—वाल्मीकिजीने पहले ही रामायण लिख दी, फिर उसके अनुसार ही सब क्रियाएँ हुईं, फिर मनुष्य स्वतन्त्र कैसे?

उत्तर—भगवान्‌की बात न्यारी है; क्योंकि वे कर्मोंके अधीन नहीं हैं। उनकी लीलामें सहायक अन्य पात्र (मन्थरा, कैकयी आदि) भी विलक्षण होते हैं, साधारण नहीं। रामायणमें भी खास-खास बातें ही लिखी गयी थीं। भगवान् राम तथा अन्य पात्रोंके द्वारा प्रतिदिन अनेक क्रियाएँ होती थीं, पर वे सब क्रियाएँ रामायणमें कहाँ लिखी हैं?॥ १४८॥

प्रश्न—मनुष्यको जितनी आवश्यकता है, उतनी ही वस्तु मिलती है या अधिक भी मिल सकती है?

उत्तर—सदा आवश्यकतासे अधिक ही वस्तु मिला करती है। मानव-जीवनका समय इतना अधिक मिला है कि मनुष्य कई बार अपना कल्याण कर ले!* वीर्यमें लाखों शुक्राणु रहते हैं, पर जीव एक ही शुक्राणुसे बनता है। संसारमें भी देखते हैं कि मोटरमें चार-पाँच आदमियोंके बैठनेकी जगह बनायी जाती है, पर आठ-नौ आदमी भी बैठ जाते हैं। आवश्यकताके अनुसार वस्तु तो काममें आ जाती है, पर आवश्यकतासे अधिक वस्तुका संग्रह ही होता है॥ १४९॥

प्रश्न—शास्त्रमें आया है कि पिताके किये कर्मका फल पुत्र-पौत्रोंको भी भोगना पड़ता है। ऐसा देखा भी जाता है कि पिताको कोई रोग हो तो वह पुत्र-पौत्रोंको भी हो जाता है। ऐसा क्यों?

उत्तर—जैसे रेडियो-स्टेशनसे ध्वनिका प्रसारण किया जाता है और रेडियोकी सुई घुमानेसे वही नम्बर मिल जाता है अर्थात् उससे सजातीय-सम्बन्ध हो जाता है तो वह ध्वनि पकड़ी जाती है। ऐसे ही जीव उसीके यहाँ जन्म लेता है, जिसके साथ उसका कोई कर्म-सम्बन्ध (ऋणानुबन्ध) होता है। अतः पुत्र-पौत्र एक प्रकारसे अपने ही कर्मोंका भोग करते हैं अर्थात् उनको वंश-परम्परासे वही रोग मिलता है, जिसका भोग उनके प्रारब्धमें है॥ १५०॥

प्रश्न—जब धन प्रारब्धके अनुसार ही मिलेगा तो फिर उद्योग क्यों करें?

उत्तर—उद्योग करना हमारा कर्तव्य है—ऐसा मानकर करना चाहिये। मनुष्यको अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये। भगवान्‌की आज्ञा भी है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता २। ४७)'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं।' अगर मनुष्य कर्तव्य-कर्म नहीं करेगा तो उसको दण्ड होगा। कर्तव्य-कर्म करनेसे तत्काल शान्ति मिलती है और न करनेसे तत्काल अशान्ति॥ १५१॥

प्रश्न—धन तो प्रारब्धके अनुसार मिलेगा, पर उसको खर्च करना नया कर्म है या प्रारब्ध?

उत्तर—धनको खर्च करना, कंजूस होना अथवा उदार होना नया कर्म है, प्रारब्ध नहीं॥ १५२॥

प्रश्न—जब प्रारब्धके अनुसार दुःख भोगना ही पड़ता है तो फिर दान, मन्त्र, अनुष्ठान आदिका क्या उपयोग हुआ?

उत्तर—जैसे किसी व्यक्तिको कैद होती है तो वह जुर्माना (रुपये) देकर कैदकी अवधि कम करा सकता है अथवा कैदसे छूट भी सकता है, ऐसे ही मनुष्य मन्त्र आदि उपाय करके प्रारब्धके भोगको क्षीण कर सकता है॥ १५३॥

प्रश्न—क्या भगवत्कृपासे प्रारब्धका नाश हो सकता है?

उत्तर—हाँ, हो सकता है। इसलिये आर्तभावसे प्रार्थना करनेपर परिस्थिति बदल जाती है, कष्ट दूर हो जाता है॥ १५४॥

प्रश्न—भोजन किया तो भूख मिटना फल हुआ। फिर शौच गये तो यह 'कर्मका फल भी कर्म' हुआ। अतः मनुष्य जो कुछ करता है, प्रारब्धके अनुसार ही करता है। पुरुषार्थसे कुछ नहीं होता, सब प्रारब्धसे ही होता है। क्या यह ठीक है?

उत्तर—कर्मका फल कभी कर्म होता ही नहीं,

* वास्तवमें कल्याण, मुक्ति, तत्त्वज्ञान, भगवत्प्राप्ति एक ही बार होती है और सदाके लिये होती है—'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्' (गीता ४। ३५)

प्रत्युत भोग होता है। शौच जाना कर्म नहीं है; क्योंकि इसमें कर्तृत्व नहीं है। क्रियमाण कर्मके फल-अंशके दो भेद होते हैं—दृष्ट और अदृष्ट। इनमें दृष्टके भी दो भेद होते हैं—तात्कालिक और कालान्तरिक। भोजन करते समय तृप्ति होना 'तात्कालिक फल' है और परिणाममें शौच होना 'कालान्तरिक फल' है।

प्रारब्धका फल भोग है, कर्म नहीं। अगर कर्मका फल भी कर्म होगा तो कर्मोंका अन्त कभी आयेगा ही नहीं, कर्म-बन्धनसे मुक्ति होगी ही नहीं, जो 'अनवस्था दोष' है। पुरुषार्थसे प्रारब्ध बनता है, पर प्रारब्धसे पुरुषार्थ नहीं बनता। यदि सब कर्म प्रारब्धसे होंगे तो फिर प्रारब्ध कहाँसे होगा? प्रारब्ध क्रियमाण-कर्मका अंश है, फिर वह क्रियमाण कर्म कैसे करायेगा? जो प्रारब्धके अनुसार ही सब कर्म मानते हैं, उनके लिये एक ही प्रश्न पर्याप्त है कि 'त्याग' क्या काम आयेगा, कहाँ काम आयेगा?

पुरुषार्थ छोड़नेसे जो काम होता है, वह भगवान्‌की कृपासे होता है। उसको प्रारब्ध मानना भूल है। अपना पुरुषार्थ सर्वथा छोड़ना शरणागति है। शरणागतका काम भगवान्‌की कृपासे होता है॥ १५५॥

प्रश्न—त्याग करनेसे जो वस्तु प्रारब्धमें नहीं है, वह कैसे मिल जाती है?

उत्तर—रागका त्याग करनेसे किसी भी वस्तुके साथ सम्बन्ध नहीं रहता। किसी भी वस्तुके साथ सम्बन्ध न रहनेसे सब वस्तुओंके साथ सम्बन्ध हो जाता है। सब वस्तुओंके साथ सम्बन्ध होनेसे आवश्यक वस्तुएँ स्वतः मिलती हैं। पुण्यकर्मसे जो प्रारब्ध बनता है, उससे भी बढ़िया प्रारब्ध त्यागसे बनता है॥ १५६॥

प्रश्न—एक साथ सैकड़ों मनुष्य मर जाते हैं तो सबका प्रारब्ध एक साथ कैसे?

उत्तर—जिन्होंने एक साथ पाप किया है, वे एक साथ ही मरते हैं। जैसे, लोकसभामें गौहत्या आदिका प्रस्ताव पास हुआ तो वे किसी जन्ममें मरेंगे तो एक साथ ही मरेंगे। जितनी अधिक सम्मति होगी, उतना अधिक कष्ट होगा। थोड़ी सम्मतिवाले घायल हो जायँगे॥ १५७॥

प्रश्न—भगवान्‌की मरजीके बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता, फिर मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र कैसे?

उत्तर—'होने' का विभाग अलग है और 'करने' का विभाग अलग है। भगवान्‌की मरजीके बिना पत्ता हिलता नहीं, पर हिला सकते हैं! हिलता नहीं—यह कहा है, हिलाता नहीं—यह नहीं कहा है। हम व्यापार, खेती आदि 'करते' हैं और नफा-नुकसान आदि 'होता' है। तात्पर्य है कि 'करना' हमारे हाथमें है और 'होना' भगवान्‌के अथवा प्रारब्धके हाथमें है॥ १५८॥

प्रेम

प्रश्न—जीवका तो भगवान्‌में आकर्षण (प्रेम) है, पर भगवान्‌का जीवमें आकर्षण कैसे है?

उत्तर—आकर्षण तो भगवान् और जीव—दोनोंमें है, पर भूल जीवमें है, भगवान्‌में नहीं। जैसे बच्चेको माँका प्रेम नहीं दीखता, ऐसे ही संसारमें आकर्षण होनेके कारण मनुष्यको भगवान्‌का प्रेम (आकर्षण) नहीं दीखता। यदि भगवान्‌का प्रेम दीखे (पहचानमें आये) तो उसका संसारमें आकर्षण हो ही नहीं।

भगवान् कहते हैं—'**सब मम प्रिय सब मम उपजाए**' (मानस, उत्तर० ८६। २)। भगवान्‌का प्रेम ही जीवको खींचता है, जिससे कोई भी परिस्थिति निरन्तर नहीं रहती॥ १५९॥

प्रश्न—क्या परम प्रेमकी प्राप्तिसे पहले मुक्त होना आवश्यक है?

उत्तर—ज्ञानमार्गमें मुक्तिके बाद प्रेम प्राप्त होता है और भक्तिमार्गमें प्रेम-प्राप्तिके बाद मुक्ति होती है।

प्रेम तो जीवमात्रमें पहलेसे ही विद्यमान है, पर संसारमें राग होनेके कारण वह प्रेम प्रकट नहीं होता।

सत्संगसे जितना राग मिटता है, उतना ही प्रेम प्रकट होता है और जितना प्रेम प्रकट होता है, उतना ही राग मिटता है।

वास्तवमें प्रेमके अधिकारी मुक्त महापुरुष ही होते हैं। मुक्तिसे पहले भी प्रेम हो सकता है, पर वह असली नहीं होता। हाँ, साधकके लिये वह बहुत सहायक होता है। असली प्रेम मुक्तिके बाद ही होता है। मुक्तिसे पहले 'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसी मान्यता रहती है, पर मुक्तिके बाद मान्यता नहीं रहती, प्रत्युत अनुभव होता है॥ १६० ॥

प्रश्न—भगवान्‌ने प्रेमलीलाके लिये स्त्री-पुरुष (राधा-कृष्ण)-का रूप क्यों धारण किया? दो मित्रोंमें भी तो प्रेम हो सकता है!

उत्तर—संसारमें सबसे अधिक आकर्षण स्त्री-पुरुषके बीच ही होता है। इसलिये आकर्षण तो स्त्री-पुरुषकी तरह हो, पर अपनी सुखबुद्धि किंचिन्मात्र भी न हो—यह बात संसारी लोगोंको समझानेके लिये ही भगवान्‌ने राधा-कृष्णका रूप धारण किया। जिसकी दृष्टिमें स्त्री-पुरुषका भेद हो, वह राधा-कृष्णकी प्रेम-लीलाको नहीं समझ सकता। इसको ठीक समझनेके लिये साधकको चाहिये कि वह स्त्री-पुरुषका भाव न रखे। अपनेमें सुखबुद्धि होनेके कारण इसको समझनेमें कठिनता पड़ती है। जिसके भीतर किंचिन्मात्र भी अपने सुखकी आसक्ति है, वह प्रेम-तत्त्वको नहीं समझ सकता। इसलिये जीवन्मुक्त ही इस भावको ठीक समझ सकता है॥ १६१ ॥

प्रश्न—क्या श्रीजीकी रागात्मिका भक्ति जीवको प्राप्त हो सकती है?

उत्तर—हाँ, हो सकती है। कारण कि भगवान्‌ने श्रीजीको भी अपनेमेंसे प्रकट किया है और जीवोंको भी। अत: श्रीजी और जीवमें कोई अन्तर नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जीवने मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग किया, पर श्रीजीने दुरुपयोग नहीं किया। अत: श्रीजीकी रागात्मिका भक्ति (प्रेम) सब जीवोंको प्राप्त हो सकती है॥ १६२ ॥

प्रश्न—प्रेममें एकसे दो होनेपर दोनों समान रहते हैं, फिर दास्यभाव (एक स्वामी, एक सेवक) कैसे होता है?

उत्तर—दास्य आदि कोई भाव हो, प्रेममें अपनी अलग सत्ता नहीं है; क्योंकि प्रेममें एक होकर दो हुए हैं। इसलिये कभी सेवक स्वामी हो जाता है, कभी स्वामी सेवक हो जाता है। कभी राधा कृष्ण बन जाती हैं, कभी कृष्ण राधा बन जाते हैं। शंकरजीके लिये कहा भी है—'**सेवक स्वामि सखा सिय पी के**' (मानस,बाल० १५। २)! दक्षिणके एक मन्दिरमें शंकरजीने नन्दीको उठा रखा है! कभी नन्दी शंकरजीको उठाता है, कभी शंकरजी नन्दीको उठाते हैं! कभी भगवान् कृष्ण इष्ट हैं, कभी अर्जुन इष्ट हैं—'**इष्टोऽसि मे दृढमिति**' (गीता १८। ६४)। इसलिये प्रेमको प्रतिक्षण वर्धमान कहा है॥ १६३ ॥

प्रश्न—जब साधक भगवान्‌में अपनापन करता है, तब उसको प्रेम प्राप्त होता है, पर सिद्ध (जीवन्मुक्त)-को प्रेम कैसे प्राप्त होता है?

उत्तर—साधकके लिये अपनापन है और मुक्तके लिये असन्तोष है। तात्पर्य है कि जब भगवान्‌की कृपा मुक्तिके रसको भी फीका कर देती है, तब उसको मुक्तिसे असन्तोष हो जाता है कि 'आप' (स्वयं) तो मिल गया, पर 'अपना' (स्वकीय) नहीं मिला! मुक्तिसे असन्तोष होनेपर उसको परम प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है॥ १६४॥

प्रश्न—भगवान् मीठे कैसे लगें?

उत्तर—भगवान् मीठे लगेंगे संसार खारा लगनेसे!॥ १६५ ॥

प्रश्न—मुक्तिमें तो सूक्ष्म अहंकार रहता है, पर प्रेममें वह नहीं रहता, इसका क्या कारण है?

उत्तर—कारण यह है कि जीव परमात्माका अंश है। अत: यह परमात्मासे ज्यों-ज्यों दूर जाता है, त्यों-त्यों अहंकार दृढ़ होता जाता है और ज्यों-ज्यों परमात्माकी तरफ जाता है, त्यों-त्यों अहंकार मिटता जाता है। इसलिये स्वरूपमें स्थित होनेपर भी सूक्ष्म अहंकार रहता है और प्रेममें भगवान्‌के साथ अभिन्न

होनेपर अहंकार सर्वथा मिट जाता है॥ १६६ ॥

प्रश्न—भगवान्‌में प्रेम कैसे बढ़े?

उत्तर—हम केवल भगवान्‌के ही अंश हैं; अत: वे ही अपने हैं। उनके सिवाय और कोई भी अपना नहीं है। इस प्रकार भगवान्‌में अपनापन होनेसे प्रेम स्वत: बढ़ेगा। इसके सिवाय भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे नाथ! आप मीठे लगो, प्यारे लगो!' भगवान्‌का गुणगान करनेसे, उनका चरित्र पढ़नेसे, उनके नामका कीर्तन करनेसे उनमें प्रेम हो जाता है। भगवान्‌के चरित्रसे भी भक्त-चरित्र पढ़नेका अधिक माहात्म्य है॥ १६७ ॥

प्रश्न—प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान कैसे होता है?

उत्तर—प्रेममें योग और वियोग, मिलन और विरह दोनों होते हैं। जब भक्तकी वृत्ति भगवान्‌की तरफ जाती है, तब 'नित्ययोग' होता है और जब अपनी तरफ जाती है, तब 'नित्यवियोग' होता है। भगवान्‌की तरफ वृत्ति जानेपर एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं दीखता और अपनी तरफ वृत्ति जानेपर स्वयं अलग दीखता है। 'भगवान् ही हैं'—यह नित्ययोग है और 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह नित्यवियोग है। नित्ययोगमें प्रेमका आस्वादन होता है और नित्यवियोगमें प्रेमकी वृद्धि होती है॥ १६८ ॥

प्रश्न—यदि हम निष्कामभावसे किसी व्यक्तिसे प्रेम करें तो उसका क्या परिणाम होगा?

उत्तर—कामनाके कारण ही संसार है। कामना न हो तो सब कुछ परमात्मा ही हैं, संसार है ही नहीं। निष्काम प्रेम होनेपर संसार नहीं रहेगा। कामना गयी तो संसार गया! इसलिये निष्कामभावसे किसीके साथ भी प्रेम करें तो वह भगवान्‌में ही हो जायगा॥ १६९ ॥

प्रश्न—भगवान्‌में प्रेमकी भूख क्यों है?

उत्तर—भगवान्‌में अपार प्रेम है, इसलिये उनमें प्रेमकी भूख है। जैसे, मनुष्यके पास जितना ज्यादा धन होता है, उतनी ही ज्यादा धनकी भूख होती है। भगवान्‌में प्रेमकी कमी नहीं है, पर भूख है॥ १७० ॥

प्रश्न—प्रेमसे रोना और मोह (शोक)-से रोना—दोनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—प्रेमके आँसू ठण्डे और मोहके आँसू गरम होते हैं। मोहके आँसू तो नेत्रोंके बीचसे निकलते हैं, पर प्रेमके आँसू नेत्रके भीतरी (नासिकाकी तरफ) कोनेसे निकलते हैं। अधिक प्रेम होनेपर आँसू पिचकारीकी तरह तेजीसे निकलते हैं॥ १७१ ॥

भक्त

प्रश्न—मनुष्य भक्त कब होता है?

उत्तर—अपनी निर्बलताका अनुभव और भगवान्‌के महान् प्रभावपर विश्वास होते ही मनुष्य भक्त हो जाता है। कारण कि निर्बलका बलवान्‌के साथ, भूखेका अन्नके साथ, प्यासेका जलके साथ, रोगीका वैद्यके साथ सम्बन्ध स्वत: हो जाता है।

भगवान् सर्वज्ञ, परम सुहृद् और सर्वसमर्थ हैं—यह भगवान्‌का प्रभाव है। अपनेमें कुछ बल, योग्यता, विशेषता देखनेसे और अपनी निर्बलताका दु:ख न होनेसे अर्थात् उसको दूर करनेकी आवश्यकताका अनुभव न होनेसे भगवान्‌के प्रभावपर विश्वास नहीं होता॥ १७२ ॥

प्रश्न—क्या प्रेमी भक्तको ज्ञानकी आवश्यकता रहती है?

उत्तर—प्रेमी भक्तको ज्ञानकी आवश्यकता रहती ही नहीं; क्योंकि प्रेममें कोरा ज्ञान-ही-ज्ञान है! एक प्रेमास्पद (परमात्मा)-के सिवाय और कुछ है ही नहीं—यही वास्तविक ज्ञान है॥ १७३ ॥

प्रश्न—एक ही भगवान् प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी लीलाके लिये कृष्ण और श्रीजी (राधा)—दो रूपोंमें होते हैं, फिर अन्य प्रेमी भक्तोंका क्या होता है?

उत्तर—अन्य प्रेमी भक्त श्रीजीमें लीन हो जाते हैं॥ १७४॥

प्रश्न—भगवान् अपने भक्तोंके ऋणको कैसे माफ करते हैं?

उत्तर—शरणागत भक्तका अपना कुछ है ही नहीं। जो कुछ है, वह भगवान्‌का है। अत: भक्तोंका ऋण भगवान्‌पर आ जाता है। जैसे, कोई व्यक्ति मर जाय तो उसकी सम्पत्ति सरकारके अधीन हो जाती है।

संसारमें कुछ भी अपना माननेसे ही ऋण होता है। जो कुछ भी अपना नहीं मानता और कुछ भी नहीं चाहता, उसपर ऋण कैसे?॥ १७५॥

प्रश्न—भक्त अपना सुख न चाहकर भगवान्‌को सुख देता है, कैसे?

उत्तर—भक्त भगवान्‌के '**एकाकी न रमते**'—इस अभावकी पूर्ति करता है। कारण कि भगवान्‌ने संसारको भक्तके लिये बनाया है और भक्तको अपने लिये बनाया है। इसलिये भक्तका अस्तित्व केवल भगवान्‌के सुखके लिये है। वास्तवमें सुखके भोक्ता भगवान् ही हैं, जीव नहीं। जैसे बच्चा माँके लिये होता है, ऐसे ही भक्त भगवान्‌के लिये है। भगवान्‌के सिवाय भक्तका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है॥ १७६॥

प्रश्न—क्या भक्त संसारमात्रका कल्याण कर सकता है? यदि कर सकता है तो फिर करता क्यों नहीं?

उत्तर—भक्त यदि चाहे तो संसारमात्रका कल्याण कर सकता है। परन्तु दूसरेके कल्याणकी सामर्थ्य होते हुए भी उसमें सामर्थ्यका अभिमान नहीं होता। उसको शर्म आती है कि भगवान्‌के रहते हुए क्या कल्याण करूँ! उसके भीतर यह भाव ही नहीं होता कि मैं कल्याण कर सकता हूँ। उसकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं—'**वासुदेवः सर्वम्**', फिर वह किसका कल्याण करे?॥ १७७॥

प्रश्न—श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने कहा है कि मैं भक्तोंके पीछे यह सोचकर घूमता हूँ कि उनकी चरण-रज मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ* तो यह पवित्र होना क्या है?

उत्तर—पापी-पुण्यात्मा, पवित्र-अपवित्र सब कुछ भगवान्‌के अन्तर्गत ही है। सम्पूर्ण पापी भगवान्‌में ही हैं, इसलिये उनकी अपवित्रता भगवान्‌की ही अपवित्रता है और उनकी शुद्धि भगवान्‌की ही शुद्धि है। तात्पर्य है कि भक्तोंकी चरण-रजसे (भगवान्‌के अन्तर्गत रहनेवाले) पापी भी पवित्र हो जाते हैं।॥ १७८॥

प्रश्न—भक्तके साधन और साध्य—दोनों भगवान् होते हैं, तो साधन भगवान् कैसे?

उत्तर—उसके द्वारा जो साधन होता है, उसमें वह भगवान्‌की कृपाको ही हेतु मानता है। उसके साधनमें भी भगवान्‌का ही आश्रय रहता है। वह साधननिष्ठ न होकर भगवन्निष्ठ होता है॥ १७९॥

प्रश्न—भक्त और भगवान्‌के चरित्रमें क्या फर्क है?

उत्तर—दोनोंका चरित्र एक ही है। फर्क इतना है कि भक्तमें पहले जड़ता थी, पर भगवान्‌में कभी जड़ता आयी ही नहीं। दोनोंका चरित्र सुननेसे कल्याण हो जाता है। भगवान्‌का चरित्र सुननेके भक्त अधिकारी हैं और भक्तका चरित्र सुननेके भगवान् अधिकारी हैं॥ १८०॥

प्रश्न—भक्त-चरित्रमें आयी कुछ घटनाओंकी सत्यतामें सन्देह हो जाय तो क्या करना चाहिये?

उत्तर—सन्देह होनेपर यह विचार करे कि घटना भले ही झूठी हो, पर ऐसी घटना हो तो सकती है, सिद्धान्तसे यह ठीक तो है। हमें तो सिद्धान्तसे मतलब है, घटना चाहे हो या न हो। यदि कोई घटना असम्भव दीखे तो उसको छोड़ दे॥ १८१॥

प्रश्न—भक्त अपनेको भगवान्‌का मानता है तो शरीरसहित अपनेको मानता है या शरीररहित?

उत्तर—स्वयंको भगवान्‌का माननेसे शरीर भी साथमें हो जाता है। परन्तु शरीरको मुख्य माननेसे

* निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्। अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥ (श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

स्वयं साथमें नहीं होगा; क्योंकि स्वतन्त्र सत्ता स्वयंकी है, शरीरकी नहीं। भक्तिमें सत्‌के साथ असत् भी हो जाता है, पर सांसारिक भोग भोगनेमें असत्‌के साथ सत् भी हो जाता है अर्थात् भोक्ता, भोग और भोग्य—तीनों ही असत् हो जाते हैं॥ १८२॥

प्रश्न—भगवान्‌के प्रति भक्तका भाव कैसा होता है?

उत्तर—उसका भगवान्‌के प्रति अनन्यभाव होता है। उसका खिंचाव केवल भगवान्‌की तरफ ही होता है। भगवान्‌के सिवाय वह कुछ भी अपना नहीं मानता। उसका एकमात्र भगवान्‌में ही गाढ़ अपनापन होता है। उसका भाव भगवान्‌को सुख पहुँचानेका होता है—'**तत्सुखसुखित्वम्**'। भगवान्‌के सुखके लिये वह अपने सुखका त्याग कर देता है। भगवान् कैसे हैं, कैसे नहीं हैं—यह विवेक न लगाकर वह अपनी दृष्टिसे यही चेष्टा करता है कि किसी तरह भगवान्‌को सुख मिले॥ १८३॥

प्रश्न—भक्त क्या जानता है और क्या मानता है?

उत्तर—अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश-जितनी वस्तु भी हमारी नहीं है—यह भक्त 'जानता' है और केवल प्रभु ही हमारे हैं—यह भक्त 'मानता' है॥ १८४॥

भक्ति

प्रश्न—भक्ति कैसे प्राप्त होती है?

उत्तर—भगवान्‌के भक्तोंका संग करनेसे, उनके द्वारा भगवान्‌की महिमा सुननेसे, भक्तोंका चरित्र पढ़नेसे और भगवान्‌से प्रार्थना करनेसे भक्ति प्राप्त होती है। भगवान् और उनके भक्तोंकी विशेष कृपासे भी भक्ति प्राप्त होती है—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा।

(नारदभक्ति० ३८)

'भक्ति मुख्यरूपसे भगवत्प्रेमी महापुरुषोंकी कृपासे अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे प्राप्त होती है।'

भगति तात अनुपम सुखमूला।
मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥

(मानस, अरण्य० १६। २)॥ १८५॥

प्रश्न—भक्ति और भक्तियोगमें क्या अन्तर है?

उत्तर—सकामभाव होनेपर 'भक्ति' होती है और निष्कामभाव होनेपर 'भक्तियोग' होता है। 'योग' निष्कामभाव होनेपर ही होता है। केवल 'कर्म' और केवल 'ज्ञान' से लाभ नहीं होता, पर केवल 'भक्ति' से लाभ होता है; क्योंकि भक्तिमें भगवान्‌का सम्बन्ध रहता है। इसलिये भगवान्‌ने सकामभाववाले (आर्त और अर्थार्थी) भक्तोंको भी उदार कहा है—'**उदाराः सर्व एवैते**' (गीता ७। १८)॥ १८६॥

प्रश्न—भक्ति और शरणागतिमें क्या अन्तर है?

उत्तर—भक्ति व्यापक है और शरणागति उसके अन्तर्गत है। जहाँ नवधा भक्तिका वर्णन आया है, वहाँ आत्मनिवेदन (शरणागति)-को उसका एक अंग बताया है; जैसे—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)॥ १८७॥

प्रश्न—भक्ति सभी साधनोंके अन्तमें तो है, पर आरम्भमें कैसे है?

उत्तर—मनुष्यका जब सांसारिक आकर्षण छूटता है और परमात्मामें आकर्षण होता है, तभी वह साधनमें लगता है। परमात्मामें आकर्षण हुए बिना साधन होगा ही कैसे? यह आकर्षण ही भक्ति है। अतः भक्ति सभी साधनोंके आरम्भमें पारमार्थिक आकर्षणके रूपसे रहती है॥ १८८॥

प्रश्न—रामायणमें काकभुशुण्डिजी भक्तिको सर्वोपरि मानते हैं और योगवासिष्ठमें वे ज्ञानको सर्वोपरि मानते हैं, हम किसको ठीक मानें?

उत्तर—गहरा विचार करें तो तत्त्व एक ही है।

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद (मुक्ति) करनेमें ज्ञान और भक्ति—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है, केवल दृष्टिकोण (साधन-दृष्टि)-का फर्क है—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

(मानस, उत्तर० ११५। ७)

प्रेमके बिना ज्ञान शून्यतामें चला जाता है और ज्ञानके बिना प्रेम आसक्तिमें चला जाता है। ज्ञानकी अपेक्षा भक्ति सुगम भी है और श्रेष्ठ भी। भगवान्‌की कृपाका आश्रय होनेसे यह सुगम है और प्रेम होनेसे श्रेष्ठ है॥ १८९॥

प्रश्न—मुक्ति होनेके बाद जो दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव होते हैं, वे किस आधारपर होते हैं?

उत्तर—पहलेके (साधनावस्थाके) संस्कारको लेकर होते हैं॥ १९०॥

प्रश्न—भगवान् विरह क्यों देते हैं?

उत्तर—भगवान् विरह इसलिये देते हैं कि भक्त अपनेमें प्रेमकी कमी अनुभव करे और कमी अनुभव करनेसे प्रेम बढ़े; क्योंकि विरहके बिना प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान नहीं होता। भगवान् भक्तको उस आनन्दका अनुभव कराना चाहते हैं, जो उनके भीतर है॥ १९१॥

प्रश्न—शरीर चिन्मय कैसे होता है? जैसे—मीराबाईका शरीर चिन्मय होकर भगवान्‌के श्रीविग्रहमें लीन हो गया?

उत्तर—जब भगवान्‌के प्रति भक्तकी आत्मीयता अधिक प्रगाढ़ हो जाती है, तब उसका शरीर भी चिन्मय हो जाता है। उसके भीतरका भाव इतना दृढ़ हो जाता है कि वह मन-बुद्धि-शरीरमें उतर आता है। शरीर चिन्मय होनेपर वह भगवान्‌के अवतारी शरीरकी तरह हो जाता है। उसमें कोई रोग नहीं आता॥ १९२॥

प्रश्न—शरीरनिर्वाहके लिये तो संसारपर निर्भर होना ही पड़ता है, फिर भगवान्‌पर पूर्ण निर्भरता कैसे हो?

उत्तर—जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, पर उसकी निर्भरता माँपर ही होती है, ऐसे ही व्यवहारमें अन्यकी निर्भरता होनेपर भी अपनी पूर्ण निर्भरता भगवान्‌पर ही होनी चाहिये। वास्तवमें शरीरका निर्वाह संसारपर निर्भर होनेसे नहीं होता, प्रत्युत प्रारब्धके अनुसार होता है॥ १९३॥

भगवान्

प्रश्न—भगवान्‌की आवश्यकता क्यों है?

उत्तर—अपनेमें कमी मानते हैं, इसलिये है। हमें कोई ऐसा साथी चाहिये, जो हमसे प्रेम करे, हमें आश्रय दे और कभी हमसे बिछुड़े नहीं, सदा साथ रहे। ऐसा साथी ईश्वर ही हो सकता है। तात्पर्य है कि हमें प्रेमके लिये ईश्वरकी आवश्यकता है। इस आवश्यकताकी पूर्ति न स्वयंसे हो सकती है, न संसारसे। इसकी पूर्ति ईश्वरसे ही हो सकती है॥ १९४॥

प्रश्न—ईश्वरकी आवश्यकता कैसे जाग्रत् हो?

उत्तर—प्रेमका उद्‌देश्य होनेसे और संसारकी ममता-आसक्ति छूटनेसे ईश्वरकी आवश्यकता जाग्रत् होगी॥ १९५॥

प्रश्न—शास्त्र और सन्त परमात्माका अलग-अलग वर्णन करते हैं। कोई क्या कहता है, कोई क्या, फिर किसकी बात मानें?

उत्तर—परमात्मा क्या हैं—इसको कोई नहीं जानता। वे सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब कुछ हैं। उनके विषयमें जो कुछ कहा गया है, वह अपनी समझके लिये है और प्रक्रिया-भेदसे है।

अभीतक परमात्माका जितना वर्णन हुआ है, वह सब-का-सब मिलकर भी परमात्माका पूरा वर्णन नहीं है। यदि पूरा वर्णन हो जाय तो परमात्मा असीम नहीं रहेंगे, सीमित हो जायँगे! सभी लोग अपने-अपने मत एवं सम्प्रदायके अनुसार परमात्माका वर्णन करते

हैं। परमात्माका दया भरा कानून भी है कि उनके किसी भी अंग (नाम,रूप,गुण, लीला, धाम)-को पकड़नेसे उनकी प्राप्ति हो जाती है।

साधकको केवल इतनी ही बात मान लेनी चाहिये कि 'परमात्मा हैं'। वे कैसे हैं? किस रूपवाले हैं? कहाँ रहते हैं? क्या करते हैं? आदि बातोंपर साधक बुद्धि लगायेगा तो झगड़ा पैदा होगा, एक नयी आफत पैदा होगी। परन्तु 'परमात्मा हैं' ऐसा मान लेनेसे सबके साथ समन्वय हो जायगा। प्रह्लादजीने नरसिंहरूपका चिन्तन-ध्यान नहीं किया था, उनको इष्ट नहीं माना था। उन्होंने दृढ़तासे यही मान लिया था कि 'भगवान् हैं और वही मेरे अपने हैं'। इसी तरह गजेन्द्रने भी भगवान्‌को यही मानकर पुकारा कि 'कोई एक ईश्वर है'॥ १९६ ॥

प्रश्न—जब परमात्माका वर्णन कोई कर सकता ही नहीं तो फिर शास्त्रोंमें, सन्तवाणीमें परमात्माका जो वर्णन आया है, उसकी सार्थकता क्या हुई?

उत्तर—जैसा वर्णन हुआ है, वैसा मानकर साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, इसलिये वह वर्णन उपयोगी है॥ १९७॥

प्रश्न—भगवान्‌पर विश्वास कैसे दृढ़ हो?

उत्तर—विवेकविरोधी विश्वासका त्याग करनेसे भगवान्‌का विश्वास दृढ़ हो जाता है। विश्वास, सम्बन्ध और कर्म—ये तीनों ही विवेक-विरोधी नहीं होने चाहिये। संसारपर विश्वास करना विवेकविरोधी 'विश्वास' है। संसारको अपना मानना विवेकविरोधी 'सम्बन्ध' है। शास्त्रनिषिद्ध तथा सकामभावसे कर्म करना विवेकविरोधी 'कर्म' है।

विश्वास विवेकसमर्थित नहीं होता। जहाँ विवेककी मुख्यता है, वहाँ विश्वास नहीं होता और जहाँ विश्वासकी मुख्यता है, वहाँ विवेक नहीं होता। भगवान्‌से भी विश्वास ही माँगना चाहिये। विश्वासके सिवाय और कुछ भी माँगनेकी जरूरत नहीं है। विश्वास प्रेमका साधन है। 'भगवान् हैं और वही मेरे अपने हैं'—इस विश्वाससे प्रेम हो जाता है॥ १९८॥

प्रश्न—भगवान् दयालु हैं या न्यायकारी?

उत्तर—भगवान् संसारकी दृष्टिसे 'न्यायकारी' हैं, ज्ञानकी दृष्टिसे 'उदासीन' हैं और भक्तिकी दृष्टिसे 'दयालु' हैं। भगवान् तीनों हैं और तीनोंसे रहित भी हैं; फर्क हमारी दृष्टिमें है।

भगवान्‌में परस्परविरोधी सब भाव रहते हैं[1]। वे दयालु भी हैं, उदासीन भी हैं, पक्षपाती भी हैं, सब कुछ हैं। उनको हम अपनी बुद्धिसे समझ सकते ही नहीं! भक्तोंके भावसे भगवान्‌का भी भाव बदल जाता है। भगवान्‌के भावोंको कोई कह नहीं सकता। कहना दूर रहा, सोच भी नहीं सकता! वे सब तरहसे अनन्त, अपार, असीम हैं!

किसी वस्तुके विषयमें 'वह कैसी है, कैसी नहीं है'—यह विचार तब किया जाता है, जब हम उसका त्याग करनेमें समर्थ हों। परमात्माका त्याग कोई कर ही नहीं सकता; फिर वे कैसे हैं, कैसे नहीं हैं—ऐसा विचार करनेकी क्या जरूरत! वे कैसे भी हों, पर वे हमारे हैं॥[2] १९९ ॥

प्रश्न—एक मन्दिरमें चोर मूर्ति चुराने आये तो वहाँके पुजारीने कहा कि मैं जीते-जी मूर्ति नहीं ले जाने दूँगा। संघर्ष हुआ तो पुजारी मारा गया।

१-ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ (गीता ७। १२)

'जितने भी सात्त्विक भाव हैं और जितने भी राजस तथा तामस भाव हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं—ऐसा उनको समझो। परन्तु मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं।'

२-असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

'मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण असुन्दर हों या सुन्दर-शिरोमणि हों, गुणहीन हों या गुणियोंमें श्रेष्ठ हों, मेरे प्रति द्वेष रखते हों या करुणासिन्धु-रूपसे कृपा करते हों, वे चाहे जैसे हों, मेरी तो वे ही एकमात्र गति हैं।'

भगवान्‌ने पुजारीकी रक्षा क्यों नहीं की?

उत्तर—यह पुजारीका हठ था, प्रेम नहीं। भगवान् हठसे प्रकट नहीं होते, प्रत्युत प्रेमसे प्रकट होते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(मानस, बाल० १८५। ३)

पुजारी मारा गया तो भगवान्‌ने पापोंसे उसकी रक्षा की अर्थात् उसके पाप नष्ट हो गये। प्राय: घटना सुननेको और मिलती है तथा वास्तवमें और होती है। वास्तवमें क्या बात हुई—इसका क्या पता?

किसी घटनामें भगवान्‌का क्या हित भरा है—इसको हमारी बुद्धि नहीं पकड़ सकती। अगर हम अपनी बुद्धिसे भगवान्‌की परीक्षा करेंगे तो भगवान् फेल हो जायँगे! इसलिये अपनी बुद्धिसे पकड़नेकी चेष्टा न करे, प्रत्युत अपनी बुद्धिको उनके अर्पित कर दे कि भगवान् जो कुछ करते हैं, उसमें उनकी कृपा और सबका हित भरा होता है॥ २००॥

प्रश्न—ऐसी घटनाएँ पढ़ने-सुननेमें आती हैं कि कभी तो भगवान् संकटसे रक्षा कर देते हैं, कभी रक्षा नहीं करते, इसका क्या कारण है?

उत्तर—भगवान् प्रारब्धका भोग करवाते हैं। प्रारब्ध होता है तो भगवान् रक्षा कर देते हैं और प्रारब्ध नहीं होता तो रक्षा नहीं करते। प्रारब्धभोगका विधान भगवान् करते हैं।

भक्तिकी दृष्टिसे देखें तो जैसे माँ कभी प्यार करती है, कभी थप्पड़ लगाती है तो दोनोंमें माँकी समान कृपा है, ऐसे ही भगवान् रक्षा करें अथवा रक्षा न करें, दोनोंमें उनकी समान कृपा है॥ २०१॥

प्रश्न—जब भगवान् सबकी रक्षा करनेवाले हैं तो फिर संसारमें हिंसा क्यों होती है?

उत्तर—भगवान् तो हिंसा करनेवालोंके हृदयमें दूसरेकी रक्षाकी प्रेरणा करते हैं, पर कामना तेज होनेके कारण वे भगवान्‌की आवाज नहीं सुन पाते॥ २०२॥

प्रश्न—जब भगवान् सबका पालन-पोषण करते हैं तो फिर मनुष्य भूखे क्यों मरते हैं?

उत्तर—यह उनका प्रारब्ध है। भगवान् उनके लिये अन्नकी आवश्यकता नहीं समझते। जैसे, वैद्य रोगीके लिये अन्न ग्रहण करना मना कर देता है तो उसका उद्देश्य रोगीको नीरोग बनाना है। तात्पर्य हुआ कि भूखसे वे ही मनुष्य मरते हैं, जिनका जीना भगवान् आवश्यक नहीं समझते। वास्तवमें आवश्यक वस्तु केवल परमात्मा ही हैं। भूखसे मरना भी एक साधन है, जिससे पुराने पापोंका प्रायश्चित्त होता है।

हम अपनी दृष्टिसे देखते हैं कि भगवान्‌को ऐसा करना चाहिये। ऐसा नहीं, पर भगवान् हमसे ज्यादा जानते हैं, हमसे ज्यादा दयालु हैं और हमसे ज्यादा समर्थ हैं॥ २०३॥

प्रश्न—परम उदार भगवान्‌के रहते हुए लोग अभावग्रस्त क्यों हैं?

उत्तर—लोग नाशवान् पदार्थोंको नहीं छोड़ते तो भगवान्‌की उदारता क्या करे? कोई गंगाजीके पास जाय ही नहीं, जल पीये ही नहीं तो ठण्डक कैसे मिले? जबतक नाशवान्‌का खिंचाव नहीं मिटता, तबतक मनुष्य भगवान्‌की उदारताको नहीं पकड़ सकता॥ २०४॥

प्रश्न—भगवान् कहते हैं कि सब इन्द्रियोंसे मैं ही ग्रहण किया जाता हूँ*। इन्द्रियोंसे तो विषय (जड़) ही ग्रहण होगा, परमात्मा (चेतन) कैसे ग्रहण होगा?

उत्तर—ऐसा भगवान् साधकके भीतर जड़ताकी मान्यता हटानेके लिये कहते हैं। भगवान्‌के कथनका तात्पर्य है कि जड़ नहीं है, मैं ही हूँ। साधक मेरे

* मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः। अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥ (श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्दादि विषय) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अत: मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार करके अनुभव कर लें।'

सिवाय अन्य किसीको सत्ता न दे॥ २०५॥

प्रश्न—सन्त कहते हैं कि हमें प्यास लगती है तो जलरूपसे, भूख लगती है तो अन्नरूपसे भगवान् आते हैं, पर जल, अन्न आदि तो जड़ तथा परिवर्तनशील हैं?

उत्तर—हम अपनेको शरीर मानकर वस्तु चाहते हैं तो भगवान् भी वैसे ही बनकर आते हैं। हम असत्‌में स्थित होकर देखते हैं तो भगवान् भी असत्-रूपसे ही दीखते हैं। हम जैसा देखना चाहते हैं, भगवान् वैसा ही दीखते हैं; क्योंकि भगवान्‌का स्वभाव है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)'जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ।'॥ २०६॥

प्रश्न—भगवान् तो सुखके सागर हैं, फिर उनको सुख देनेका, उनकी सेवा करनेका भाव क्यों रखें?

उत्तर—माताएँ सन्तोंकी सेवा करती हैं, उनको भिक्षा देती हैं तो इस भावसे नहीं देतीं कि उनके पास खानेको कुछ नहीं है, प्रत्युत इस भावसे देती हैं कि हमारे द्वारा भी महाराजकी कुछ सेवा बन जाय! हमारी वस्तु भी महाराजकी सेवामें लग जाय! इसी तरह भक्तमें भी स्वाभाविक ही भगवान्‌की सेवा करनेका, उनको सुख देनेका भाव रहता है; क्योंकि वह स्वयं भी भगवान्‌का है और उसके शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि भी भगवान्‌के हैं॥ २०७॥

प्रश्न—जिसने वस्तुतः कर्म नहीं किया, केवल भूलसे अपनेको कर्ता मान लिया, उसको जब अल्पज्ञ न्यायाधीश भी दण्डादि फल नहीं देता तो फिर सर्वज्ञ ईश्वर क्यों देता है?

उत्तर—ईश्वर दण्ड नहीं देता। जो कर्ता बनता है, वही भोक्ता बनता है। वह अपनी भूलका ही फल भोगता है॥ २०८॥

प्रश्न—हम भगवान्‌से विमुख होकर संसारके सम्मुख हो जाते हैं तो भगवान् हमारी संसारकी सम्मुखता छुड़ा क्यों नहीं देते?

उत्तर—कारण कि भगवान्‌ने हमें स्वतन्त्रता दी हुई है। यदि वे स्वतन्त्रता न देते तो हम पशु-पक्षी आदिकी तरह ही होते। उस स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके हमने संसारको अपना मान लिया॥ २०९॥

प्रश्न—हम मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करते हैं तो भगवान् वह स्वतन्त्रता वापिस क्यों नहीं ले लेते?

उत्तर—जबतक हम स्वतन्त्रता चाहते हैं, तबतक भगवान् उसको लेंगे नहीं। दी हुई वस्तुको वापिस लेनेका अधिकार नहीं है। यह कार्य सज्जनोंका नहीं है, प्रत्युत डाकुओंका है। हाँ, अगर हम अपनी स्वतन्त्रता उनको दे दें अर्थात् अपने-आपको उनके अर्पित कर दें, उनके शरणागत हो जायँ तो वे उसको ले लेंगे अर्थात् हमें मुक्त करके भक्त बना लेंगे॥ २१०॥

प्रश्न—भगवान् सब कुछ देते हैं, पर अपनेको छिपाकर देते हैं—ऐसा क्यों?

उत्तर—व्यवहारमें ऐसा देखा जाता है कि देनेवाला अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करता है और लेनेवाला छोटेपनका। भगवान् अपनेमें बड़प्पन और लेनेवालेमें छोटापन नहीं आने देते, इसीलिये अपनेको छिपाकर देते हैं। भगवान् जीवको तत्त्वज्ञान, मुक्ति देकर अपने समान बना लेते हैं, फिर भी अपनेको छिपाकर रखते हैं।॥ २११॥

प्रश्न—सन्त कहते हैं कि देनेवाले भी भगवान् हैं और लेनेवाले भी भगवान् हैं। लेनेवाले भगवान् कैसे?

उत्तर—भगवान्‌ने जीवमात्रको अपनेमेंसे ही प्रकट किया है, इसलिये लेनेवाले भी वे ही हैं। वास्तवमें एक भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)॥ २१२॥

प्रश्न—कण-कणमें भगवान् हैं और कण-कण भगवान् ही हैं—दोनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—कण-कणमें भगवान् हैं—यह मान्यता है और कण-कण भगवान् ही हैं—यह वास्तविकता है॥ २१३॥

प्रश्न—नारदभक्तिसूत्रमें आया है कि ईश्वरका भी अभिमानसे द्वेष है—ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद्' (२७)। ईश्वरमें द्वेषभाव कैसे?

उत्तर—भगवान्‌का अभिमानसे द्वेष है, अभिमानीसे नहीं। 'द्वेष' होनेका तात्पर्य है कि उनको अभिमान सुहाता नहीं; क्योंकि अभिमानसे भक्तका महान् अनिष्ट होता है। भगवान्‌में भक्तका हित करनेवाली दया है, राग-द्वेषवाला द्वेष नहीं है—'**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः**' (गीता ९। २९)॥ २१४॥

प्रश्न—संसार अपना नहीं है, पर भगवान् अपने हैं—ऐसा माननेसे भगवान्‌से कुछ आशा, अपेक्षा रह सकती है। यदि ऐसा मानें कि न संसार अपना है, न भगवान् अपने हैं तो?

उत्तर—भगवान् अपने हैं, पर लेनेके लिये अपने नहीं हैं। केवल भगवान् ही अपने हैं—ऐसा माननेसे दूसरी सत्ता नहीं रहेगी और दूसरी सत्ता न रहनेसे कोई भी चाह नहीं रहेगी। भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता रहनेसे ही इच्छा होती है। जब भगवान् ही मेरे हैं तो फिर इच्छा कैसे रहेगी?

कोई भी अपना नहीं है, न संसार, न परमात्मा—ऐसा माननेसे साधक ज्ञानमार्गमें चला जायगा। अतः उसकी मुक्ति तो हो जायगी, पर प्रेमकी प्राप्ति नहीं होगी॥ २१५॥

प्रश्न—भगवान् अपने लिये हैं—ऐसा कहनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—भगवान् कुछ लेनेके लिये अपने नहीं हैं, प्रत्युत देनेके लिये अपने हैं। इसलिये भगवान्‌से कुछ नहीं चाहना है, प्रत्युत भगवान्‌को ही चाहना है। तात्पर्य है कि भगवान् अपने लिये हैं—खुदको देनेके लिये और भगवान्‌को लेनेके लिये। अपनी कमीकी पूर्ति भगवान्‌के सिवाय और किसीसे नहीं हो सकती, इसलिये भगवान् अपने लिये हैं।॥ २१६॥

प्रश्न—जो जैसा व्यवहार करे, उसके साथ वैसा व्यवहार करनेको सन्तोंने निकृष्ट बताया है, फिर भगवान्‌के कहे 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४। ११)—इन वचनोंका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—भगवान्‌के ये वचन (यथा-तथा) क्रियाके विषयमें हैं, भावके विषयमें नहीं। भावमें तो भगवान्‌का सबके प्रति समान प्रेमभाव है। मनुष्योंके यथा-तथामें तो स्वार्थभाव रहता है, पर भगवान्‌के यथा-तथामें स्वार्थभाव नहीं है, प्रत्युत यह भगवान्‌की महत्ता है कि कहाँ जीव और कहाँ भगवान्, फिर भी वे जीवको अपने बराबर (मित्र)बनाते हैं! तात्पर्य है कि भगवान्‌में बड़प्पनका भाव (अभिमान) नहीं है॥ २१७॥

प्रश्न—जगन्नाथके रहते हुए भी अपनेमें अनाथपनेका अनुभव क्यों होता है?

उत्तर—कारण कि खुद नाथ (मालिक) बन गये! जैसे बालक माँके बिना नहीं रह सकता, पर विवाह होनेके बाद जब वह खुद मालिक बन जाता है, तब वह अपनी माँके बिना भी रहने लगता है। ऐसे ही जब मनुष्य भगवान्‌के सिवाय अन्य वस्तु या व्यक्तिको अपना मानकर खुद मालिक बन जाता है, तब वह अपने मालिक (भगवान्)-को भूल जाता है और मुफ्तमें दुःख पाता है। केवल भगवान् ही अपने हैं, और कोई भी अपना नहीं है—ऐसा माननेसे हमारा अनाथपना दूर हो जायगा और हम सनाथ हो जायँगे॥ २१८॥

प्रश्न—क्या भगवान् प्राणिमात्रका कल्याण चाहते हैं?

उत्तर—जैसे साधक भक्त प्राणिमात्रका कल्याण चाहता है, ऐसे भगवान् सबका कल्याण नहीं चाहते। भगवान्‌में प्राणिमात्रके कल्याणकी सामान्य इच्छा होती है, विशेष नहीं। अगर उनमें विशेष इच्छा हो जाय तो सबका कल्याण हो ही जाय! भगवान् स्वाभाविक ही किसीका अहित नहीं चाहते। किसीका अहित न चाहना ही उनका कल्याण चाहना है। तात्पर्य है कि भगवान्‌में शुभ इच्छा होती है, अशुभ इच्छा होती ही नहीं। जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी महापुरुषमें

भी यही बात है। उनमें भी सबके कल्याणकी सामान्य इच्छा रहती है। परन्तु उनमें किसी विशेष परिस्थितिमें सामनेवाले व्यक्तिके कल्याणकी विशेष इच्छा हो सकती है। जैसे, चैतन्य महाप्रभुमें जगाई-मधाईके कल्याणकी विशेष इच्छा हो गयी तो उनका कल्याण हो गया॥ २१९॥

भगवत्कृपा

प्रश्न—जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उसमें प्रारब्ध कारण है या भगवत्कृपा? कर्मका फल भगवान् देते हैं तो उनकी कृपा क्या काम आयी?

उत्तर—अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति कर्मोंका फल है, पर उसका विधान करनेवाले भगवान् हैं। जैसे कोई मनुष्य जंगलमें जाकर दिनभर परिश्रम करे तो उसको पैसे कौन देगा? पर वह किसी मालिकके आदेशपर परिश्रम करे तो उसको मालिक पैसे देगा। ऐसे ही कर्मोंके अनुसार फल मिलता है, पर उस फलको देनेवाले भगवान् हैं; क्योंकि जड़ होनेके कारण कर्म खुद फल देनेमें असमर्थ हैं।

भगवान् कृपाकी मूर्ति हैं। उनके प्रत्येक विधानमें कृपा भरी रहती है। परन्तु केवल प्रारब्धकी तरफ दृष्टि रहनेसे और कृपाकी तरफ दृष्टि न रहनेसे मनुष्य उस कृपासे लाभ नहीं उठा सकता। जैसे बछड़ा माँके दूधसे जैसा पुष्ट होता है, वैसा दूसरे दूधसे पुष्ट नहीं होता, ऐसे ही कृपाकी तरफ दृष्टि रहनेसे जैसा लाभ होता है, वैसा प्रारब्धकी तरफ दृष्टि रहनेसे लाभ नहीं होता।

प्रारब्ध (कर्मोंका फल) तो नाशवान् है, पर कृपा अविनाशी है। जैसे रेतमें चीनी मिली हुई हो तो चीनीको रेतसे अलग नहीं कर सकते। परन्तु जैसे चींटी रेतसे चीनीको अलग कर लेती है, ऐसे ही भक्त प्रारब्धमें भी कृपाको पहचान लेता है।

परिस्थितिको कर्मोंका फल मानेंगे तो अनुकूलतामें सुख होगा और प्रतिकूलतामें दुःख होगा। परन्तु भगवान्‌की कृपा मानेंगे तो दोनों परिस्थितियोंमें आनन्द होगा! अतः कृपा माननेमें विशेष लाभ है।

मनुष्य प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके अपना कल्याण कर सकता है—यह भगवत्कृपा है। अगर मनुष्य रोकर, आर्तभावसे प्रार्थना करे तो भगवान् अशुभ कर्मका फल (प्रतिकूलता) माफ भी कर देते हैं और अचानक विवेक भी दे देते हैं—यह उनकी कृपा है॥ २२०॥

प्रश्न—भगवान् हमारी आवश्यकताकी पूर्ति प्रारब्धके अनुसार करते हैं या प्रारब्धके बिना अपनी कृपासे भी करते हैं?

उत्तर—भक्तोंकी आवश्यकता भगवान् अपनी कृपासे भी पूर्ण कर देते हैं। सन्त-महात्मा भी अपनी कृपासे दूसरेकी आवश्यकता पूरी कर सकते हैं; जैसे—पेड़की कलम भी फल-फूल दे देती है॥ २२१॥

प्रश्न—धनादि सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति भगवान्‌की कृपासे होती है या प्रारब्धसे?

उत्तर—नाशवान् वस्तुओंकी प्राप्तिमें कृपाको लगाना गलती है। कृपा तो चिन्मयताकी प्राप्तिमें ही है। जड़ताकी प्राप्तिमें तो पतन है। अनुकूलताकी प्राप्ति होना और प्रतिकूलताका नाश होना कृपा नहीं है, प्रत्युत कर्मफल (प्रारब्ध) है। भगवान्‌की कृपा है—जड़तासे वृत्ति हटकर चिन्मयतामें हो जाय, साधनमें लग जाय, सत्संगमें लग जाय॥ २२२॥

प्रश्न—भगवान्‌की कृपा तो सबपर समानरूपसे है, फिर सबको उससे समान लाभ क्यों नहीं होता?

उत्तर—लाभ होता है भगवत्कृपाके सम्मुख होनेपर—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४। १)

जैसे गंगाके पास रहकर भी कोई उसमें स्नान करे ही नहीं, उसका जल पीये ही नहीं तो उसको गंगासे लाभ कैसे होगा? ऐसे ही भगवान्‌की सबपर समान कृपा होते हुए भी कोई उसके सम्मुख न हो तो उसको लाभ कैसे होगा?॥ २२३॥

प्रश्न—भगवत्कृपाके सम्मुख होना क्या है?

उत्तर—कृपाके सम्मुख होना है—कृपाको स्वीकार करना, अपनेपर भगवान्‌की कृपा मानना, प्रत्येक परिस्थितिमें उनकी कृपाको देखते रहना॥ २२४॥

प्रश्न—भगवत्कृपा और सन्तकृपामें क्या फर्क है?

उत्तर—भगवान्‌में तो यथा-तथा है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११), पर सन्तोंमें यथा-तथा नहीं है। इसलिये भगवान् तो सम्मुख होनेपर कृपा करते हैं, पर सन्त सबपर कृपा करते हैं। कोई प्रेम रखनेवाला हो, द्वेष रखनेवाला हो, उदासीन हो, विरुद्ध चलनेवाला हो, दुःख देनेवाला हो, कैसा ही प्राणी क्यों न हो, सन्तोंकी सबपर समान कृपा रहती है।

भगवान् पिताकी तरह कृपा करते हैं और सन्त माताकी तरह। पिताकी कृपामें न्याय रहता है और माताकी कृपामें मोह रहता है। मोहके कारण माता न्याय नहीं देखती। सन्तोंमें मोह तो नहीं रहता,पर प्रेम रहता है। कारण कि सन्त भुक्तभोगी होते हैं अर्थात् उन्होंने सांसारिक दुःखोंका अनुभव कर लिया होता है। इसलिये वे देखते हैं कि पहले हम भी ऐसे ही दुःखी थे; अतः दूसरेका दुःख मिटानेके लिये वे विशेष कृपा करते हैं॥ २२५॥

प्रश्न—साधकपर भगवान्‌की कृपा स्वतः होती है या प्रार्थना करनेपर?

उत्तर—अपने भीतरकी लालसा ही प्रार्थना है। साधक अपने भीतर आवश्यकताका अनुभव करता है और अपनी स्थितिमें सन्तोष नहीं करता तो स्वतः कृपासे काम होता है। भीतरमें भूख हो तो किसी-न-किसी उपायसे भगवान् पूर्ति कर देते हैं॥ २२६॥

प्रश्न—भगवान्‌की सबपर समान कृपा है तो वे सबको सत्संगका मौका क्यों नहीं देते?

उत्तर—सबको देते हैं, पर लाभ उठाना तो हमारे हाथकी बात है। वे सत्संग न भी दें, पर सत्प्रेरणा सबके हृदयमें करते हैं, सबको चेत कराते हैं, पर मनुष्य ध्यान नहीं देता॥ २२७॥

प्रश्न—भगवान्‌की सबपर समान कृपा है, फिर कृपा दीखती क्यों नहीं?

उत्तर—भोजन सबको बराबर मिलनेपर भी व्यक्ति अपनी भूखके अनुसार ही भोजन करता है। भूख सबकी समान नहीं होती। इसी तरह भगवान्‌की कृपा सबपर समान होनेपर भी भगवान्‌पर जितनी ज्यादा निर्भरता होती है, उतनी ही ज्यादा कृपा पकड़में आती है॥ २२८॥

भगवद्दर्शन

प्रश्न—भगवान्‌के दर्शन कब होते हैं?

उत्तर—इसमें तीन बातें हैं—(१) कभी व्याकुलता हो और कभी निश्चिन्तता हो तो ऐसा होते-होते कभी दर्शन हो जाते हैं (२) कुछ भी इच्छा न हो, न संसारकी,न परमात्माकी, तब दर्शन हो जाते हैं और (३) केवल व्याकुलता हो जाय तो दर्शन हो जाते हैं।

भगवान्‌को हमसे कोई काम लेना हो तो वे अपनी इच्छासे भी दर्शन दे देते हैं। भगवान् दर्शन दें—यह हमारे हाथकी बात नहीं है, पर 'हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं'—यह मानना हमारे हाथकी बात है। जो हाथकी बात है, उसको मान लें तो फिर किसीकी जरूरत नहीं!॥ २२९॥

प्रश्न—भगवान्‌के दर्शनसे क्या होता है?

उत्तर—भक्त मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि जो चाहता है, वे सब दर्शन करनेसे मिल जाता है। यदि भक्त अपनी मान्यताका आग्रह न रखे तो दर्शन होनेपर उसको तत्त्वज्ञान हो जायगा*। भगवान्‌का स्वभाव है कि वे किसीकी मान्यताको नहीं तोड़ते।

दर्शन होनेपर तत्त्वज्ञान हो अथवा न हो, भक्तमें कोई कमी नहीं रहती। अगर भक्त भगवान्‌के परायण रहता है तो उसको तत्त्वज्ञान करानेकी, उसकी कमी दूर करनेकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर होती है। भक्तमें तो भगवान्‌को जाननेकी जिज्ञासा ही नहीं होती॥ २३० ॥

प्रश्न—ऐसे कई सन्त हुए हैं, जिन्होंने भगवान्‌के दर्शनको महत्त्व नहीं दिया, इसका क्या कारण है?

उत्तर—अधिक प्रेम होनेपर दर्शनकी इच्छा ही नहीं होती। कारण कि प्रेममें एक रस, मादकता होती है, भक्त उसीमें मस्त रहता है।

प्रेमकी अपेक्षा दर्शन अनित्य होता है। प्रेम तो नित्य-निरन्तर रहता है, पर दर्शन नित्य नहीं होता। इसलिये चतुर भक्त प्रेम ही चाहते हैं। असली रस प्रेममें ही है, मिलने या न मिलनेमें नहीं। जबतक प्रेमास्पदसे मिलनेकी इच्छा है, तबतक असली प्रेम जाग्रत् नहीं हुआ। असली प्रेम जाग्रत् होनेपर प्रेमास्पद मिले या न मिले, कोई इच्छा नहीं रहती॥ २३१ ॥

प्रश्न—शूर्पणखा, दुर्योधन, शकुनि आदिने भगवान्‌के साकार रूप (श्रीराम और श्रीकृष्ण)-के दर्शन किये थे, फिर उनमें काम-क्रोधादि दोष नष्ट क्यों नहीं हुए?

उत्तर—वास्तवमें उन्होंने भगवान्‌के दर्शन किये ही नहीं थे। वे भगवान् राम और कृष्णको ईश्वररूपसे न मानकर मनुष्यरूपसे ही देखते थे, फिर ईश्वर-दर्शन कैसा? उनके भीतर ईश्वरभाव अथवा भक्तिभाव था ही नहीं। अतः उनको ईश्वररूपसे ईश्वर नहीं मिला। सम्पूर्ण जगत् भी ईश्वररूप ही है, पर मनुष्य मानते कहाँ हैं!॥ २३२ ॥

प्रश्न—परमात्मप्राप्तिमें कोई कारक या कर्ता नहीं चलता; परन्तु सन्तोंके द्वारा दूसरेको भगवान्‌के दर्शन करवानेकी बात भी आती है, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—यह बात लोगोंकी दृष्टिसे कही गयी है, वास्तविक नहीं है। भगवान्‌के दर्शन करना और करवाना हाथकी बात नहीं है। भगवान् कृपापूर्वक अपनी मरजीसे ही दर्शन देते हैं—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन।
जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(मानस, अयोध्या० १२७। २)

कर्ता तो स्वतन्त्र होता है—'**स्वतन्त्रःकर्ता**' (पाणि०अ० १।४।५४), जबकि भगवद्दर्शन करवानेवाला स्वतन्त्र नहीं होता। भगवान्‌से प्रार्थना हो सकती है, पर उनके ऊपर शासन नहीं हो सकता। अगर खुदकी इच्छा हो तो सन्तोंकी कृपा भगवद्दर्शनमें सहायक हो सकती है॥ २३३ ॥

प्रश्न—भगवान्‌के दर्शन हों और वे कहें कि वर माँगो, पर कुछ माँगे नहीं तो क्या फल होगा?

उत्तर—माँगनेसे वस्तुके साथ सम्बन्ध होता है और कुछ न माँगनेसे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होता है। अतः जो कुछ नहीं माँगता, उसको भगवान् अपने-आपको दे देते हैं अर्थात् उसके अधीन हो जाते हैं!॥ २३४ ॥

प्रश्न—भगवान्‌के दर्शन होनेपर भक्त स्तुति करता है या स्तुति होती है?

उत्तर—स्तुति करता नहीं, प्रत्युत स्तुति होती है॥ २३५ ॥

---

* मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥ (मानस, अरण्य० ३६। ५)

भगवत्प्राप्ति

प्रश्न—जब भगवत्प्राप्तिके लिये ही मनुष्यशरीर मिला है तो फिर भगवत्प्राप्ति कठिन क्यों दीखती है?

उत्तर—भोगोंमें आसक्ति रहनेके कारण! भगवत्प्राप्ति कठिन नहीं है, भोगोंकी आसक्तिका त्याग कठिन है॥ २३६॥

प्रश्न—भगवत्प्राप्ति कठिन कहें अथवा भोगासक्तिका त्याग कठिन कहें, बात तो एक ही हुई?

उत्तर—नहीं, बहुत बड़ा अन्तर है। भगवत्प्राप्तिको कठिन माननेसे साधक श्रवण, मनन, जप, स्वाध्याय आदिमें ही तेजीसे लगेगा और भोगासक्तिके त्यागकी तरफ ध्यान नहीं देगा। वास्तवमें भगवान् तो प्राप्त ही हैं, केवल संसारके सम्बन्धका त्याग करना है॥ २३७॥

प्रश्न—संसारके सम्बन्धका त्याग कैसे होगा?

उत्तर—जोरदार जिज्ञासा हो अथवा आर्तभावसे रोकर प्रार्थना की जाय तो संसारका सम्बन्ध छूट जायगा। भगवान्‌की कृपासे कभी अचानक विवेक जाग्रत् हो जायगा और संसारकी आसक्ति छूट जायगी॥ २३८॥

प्रश्न—भगवत्प्राप्ति सुगम कैसे है?

उत्तर—भगवान् नित्यप्राप्त हैं। वे प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति और घटनामें परिपूर्ण हैं। उनकी प्राप्ति जड़ता (शरीर-संसार)-के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होती है। परन्तु नाशवान् संसारकी तरफ दृष्टि रहनेसे, नाशवान् सुखकी आसक्ति रहनेसे नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव नहीं होता। यह जानते हैं कि शरीर-संसार नाशवान् है, फिर भी इस जानकारीको आदर नहीं देते! वास्तवमें 'शरीर-संसार नाशवान् हैं'—इसको सीख लिया है, जाना नहीं है। इसलिये नाशवान् जानते हुए भी सुख-लोलुपताके कारण उसमें फँसे रहते हैं। वास्तवमें नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति करनी है और नित्यप्राप्तकी प्राप्ति करनी है॥ २३९॥

प्रश्न—नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति और नित्यप्राप्तकी प्राप्ति करना क्या है?

उत्तर—नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति करनेका तात्पर्य है—जो नित्यनिवृत्त है, उस शरीर-संसारको रखनेकी भावना छोड़ना अर्थात् वह बना रहे—इस इच्छाका त्याग करना। नित्यप्राप्तकी प्राप्ति करनेका तात्पर्य है—जो नित्यप्राप्त है, उस परमात्मतत्त्वको श्रद्धा-विश्वासपूर्वक स्वीकार करना।

जो कभी भी अलग होगा, वह अब भी अलग है और जो कभी भी मिलेगा, वह अब भी मिला हुआ है। शरीर, वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य 'नित्यनिवृत्त' अर्थात् सदा ही हमसे अलग हैं और परमात्मा 'नित्यप्राप्त' अर्थात् सदा ही हमें प्राप्त हैं। जो तत्त्व सब जगह ठोस रूपसे विद्यमान है, वह हमसे दूर हो सकता ही नहीं। परमात्मा कभी हमसे अलग हुए नहीं, हैं नहीं, होंगे नहीं और हो सकते नहीं; क्योंकि उसीकी सत्तासे हम सत्तावान् हैं॥ २४०॥

प्रश्न—परमात्मप्राप्ति बहुत सुगम है तो फिर उसमें बाधा क्या लग रही है?

उत्तर—अनेक बाधाएँ हैं; जैसे—

(१) भोग भोगने और संग्रह करनेमें आसक्ति है।

(२) परमात्मप्राप्तिकी जोरदार जिज्ञासा (भूख) नहीं है।

(३) अपनी वर्तमान स्थितिमें सन्तोष कर रखा है।

(४) परमात्मप्राप्तिको सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिकी तरह मान रखा है। इस मान्यताके कारण क्रिया करनेको अधिक महत्त्व देते हैं, विवेक और भावको महत्त्व नहीं देते।

(५) तत्त्वको ठीक तरहसे जाननेवाले महात्मा नहीं मिलते।

(६) थोड़ी-सी बातें जानकर, थोड़ा-सा साधन करके अभिमान कर लेते हैं।

(७) कुछ करनेसे प्राप्ति होगी, गुरु नहीं मिला, समय ऐसा ही है, प्रारब्ध ऐसा ही है, हम योग्य नहीं हैं, हम अधिकारी नहीं हैं—ऐसे जो संस्कार भीतर बैठे हैं, वे बाधा देते हैं॥ २४१॥

प्रश्न—कई साधक भगवान्‌के लिये रोते हैं, व्याकुल होते हैं, फिर भी उनको भगवान् क्यों नहीं मिलते?

उत्तर—उनके भीतर भगवान्‌के सिवाय अन्य (सुख-आराम, मान-बड़ाई आदि)-की चाहना रहती है, अन्य वस्तु-व्यक्तिकी महत्ता और प्रियता रहती है। अतः भगवान्‌के लिये रोना तो तात्कालिक होता है, फिर वहीं-की-वहीं स्थिति हो जाती है।

चाहना एक भगवान्‌की ही होनी चाहिये—

एक बानि करुनानिधान की।
सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस, अरण्य० १०। ४)

वे साधनमें लगे रहें तो अन्य चाहना मिटकर, एक चाहना प्रबल होनेपर भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है॥ २४२॥

प्रश्न—विकार अन्तःकरणमें होते हैं; अतः परमात्मप्राप्तिमें कोई विकार बाधक नहीं है। परन्तु परमात्मप्राप्तिमें भोगासक्तिको बाधक भी बताया जाता है। दोनोंमें कौन-सी बात सही है?

उत्तर—अन्तःकरणके साथ मिलकर उन विकारोंको अपनेमें मान लेते हैं तो वे विकार बाधक होते हैं। यदि अन्तःकरणके साथ अपना सम्बन्ध न मानें तो उसमें होनेवाले विकार बाधक नहीं होते॥ २४३॥

प्रश्न—कोई भी कारक भगवान्‌तक नहीं पहुँच सकता तो क्या सम्प्रदान और अपादान कारक भी नहीं पहुँच सकते? भगवान्‌को अपने-आपको देना सम्प्रदान हुआ और संसारका त्याग करना अपादान हुआ!

उत्तर—भगवान्‌के अर्पित होना और संसारका त्याग करना क्रियावाला सम्प्रदान-अपादान नहीं है। ये दोनों कियाएँ नहीं हैं, प्रत्युत अपनी गलत मान्यताओंका त्याग हैं; क्योंकि वास्तवमें हम भगवान्‌के हैं और संसारके नहीं हैं।

गाँवसे व्यक्ति आया—इसमें गाँव अपादान है और उसने दान दिया—इसमें दाता सम्प्रदान है। अपादानमें आनेकी क्रिया है और सम्प्रदानमें देनेकी क्रिया है—ये दोनों ही क्रियाएँ परमात्मातक नहीं पहुँच सकतीं। हाँ, सत्-क्रिया निरर्थक नहीं होती, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिमें सहायक होती है। सत्-अंश कल्याणकारी होता है, क्रिया-अंश नहीं।

खास बात है कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये जड़ता (क्रिया और पदार्थ अथवा शरीर-संसार)-की सहायता लेनेकी जरूरत ही नहीं है। उसकी प्राप्ति जड़ताके त्यागसे होती है। क्रिया और पदार्थ—दोनों ही जड़ हैं। क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है, पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश होता है। यह नित्य रहनेवाली चीज ही नहीं है॥ २४४॥

प्रश्न—शरीरकी सहायताके बिना हम साधन कैसे करेंगे?

उत्तर—साधन करनेमें क्रियाकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत विवेक और भावकी मुख्यता है। इसलिये शरीरकी सहायताके बिना हम कामनारहित हो सकते हैं, ममतारहित हो सकते हैं, अहंकाररहित हो सकते हैं, भगवान्‌को अपना मान सकते हैं और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनके शरणागत हो सकते हैं। ऐसा होनेके लिये शरीरकी जरूरत ही नहीं है।

सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति तो शरीरके द्वारा होती है, पर परमात्माकी प्राप्ति शरीरके त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद)-से होती है। परमात्मप्राप्तिमें शरीर लेशमात्र भी सहायक अथवा बाधक नहीं है। परमात्मतत्त्वमें क्रिया नहीं है, इसलिये क्रियारहित होनेसे ही उसकी प्राप्ति होगी॥ २४५॥

प्रश्न—परमात्मप्राप्ति भावसे होती है, क्रियासे नहीं। परन्तु भाव भी तो मन-बुद्धिमें पैदा होता है?

उत्तर—भाव अनेक प्रकारके होते हैं। मन-बुद्धिमें राग-द्वेष आदि भाव पैदा होते हैं। परन्तु 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं'—यह सम्बन्धात्मक भाव स्वयंमें रहता है॥ २४६॥

प्रश्न—संसारको और परमात्माको प्राप्त करनेकी प्रक्रिया एक नहीं है—इसका तात्पर्य?

उत्तर—संसारकी प्राप्ति अप्राप्तकी प्राप्ति है और परमात्माकी प्राप्ति नित्यप्राप्तकी प्राप्ति है। संसारकी प्राप्तिमें 'करना' मुख्य है और परमात्माकी प्राप्तिमें 'न करना' मुख्य है। सांसारिक वस्तुका निर्माण करना पड़ता है, कहींसे लाना पड़ता है, पर परमात्माको बनाना या कहींसे लाना नहीं पड़ता; क्योंकि परमात्मा सब देश, काल,वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, परिस्थिति, घटना और अवस्थामें समानरूपसे सदा परिपूर्ण हैं। जो तत्त्व सब देश, काल आदिमें परिपूर्ण है, वह क्रियासे कैसे मिलेगा? क्रिया करनेसे तो उलटे वह हमसे दूर होगा॥ २४७॥

प्रश्न—न दीखनेवाला तत्त्व कैसे दीखे?

उत्तर—दीखनेवालेको सत्ता और महत्ता न दें तो न दीखनेवाला दीखने लग जायगा॥ २४८॥

प्रश्न—जब भगवान्‌ने मनुष्यजन्म दे दिया, सत्संग दे दिया तो फिर उनकी प्राप्तिमें देरी क्यों?

उत्तर—भगवान्‌से जो मिला है, उसका सदुपयोग न करनेसे ही देरी लग रही है। जितना समय,समझ, सामर्थ्य और सामग्री मिली है, उसका सदुपयोग करना है। भगवान्‌से मिली वस्तुको व्यक्तिगत माननेसे ही अपनेमें निर्बलता आती है, जिससे हम उसका सदुपयोग नहीं कर पाते। बलका अभाव बाधक नहीं है, प्रत्युत बलका दुरुपयोग बाधक है। 'कर नहीं सकते'—यह निर्बलता बाधक नहीं है, प्रत्युत 'कर सकते हैं, पर करते नहीं'—यह निर्बलता बाधक है॥ २४९॥

प्रश्न—उपनिषद्‌में आया है कि बलहीन मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मुण्डक० ३।२।४)—इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—यहाँ 'बल' शब्दका अर्थ है—उत्साह, हिम्मत। जिसका उत्साह भंग हो गया है, जो हिम्मत हार चुका है, वह मनुष्य 'बलहीन' है।

निर्बलता दो तरहकी होती है—(१) करनेमें असमर्थ होना और (२) करनेमें समर्थ होते हुए भी न करना। जानते हैं और कर सकते हैं,फिर भी वैसा करते नहीं—यह निर्बलता होनेपर मनुष्य परमात्मप्राप्ति नहीं कर सकता। इसलिये सन्तोंने कहा है—

हिम्मत मत छाँड़ो नराँ, मुख ते कहताँ राम।
'हरिया' हिम्मत से किया, ध्रुवका अट्टल धाम॥ २५०॥

प्रश्न—क्या तीव्र व्याकुलता हुए बिना भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है?

उत्तर—भगवत्प्राप्ति तीन कारणोंसे होती है—(१) निर्बलतासे, (२) निर्भरतासे और (३) कभी निर्बलता तथा कभी निर्भरता होनेसे। तात्पर्य है कि अगर तेजीसे व्याकुलता हो जाय तो प्राप्ति हो जायगी अथवा भगवान्‌की कृपापर पूरी निर्भरता हो जाय कि जो होगा, उनकी कृपासे होगा तो प्राप्ति हो जायगी। कभी निर्बलता (व्याकुलता) और कभी निर्भरता हो तो दोनोंमेंसे कभी एक पूरी होनेसे भगवत्प्राप्ति हो जायगी॥ २५१॥

प्रश्न—कभी निर्बलता और कभी निर्भरता तो प्रायः सभी साधकोंमें रहती है, फिर वह पूरी क्यों नहीं होती?

उत्तर—साधनमें कुछ-न-कुछ अपना बल, अपनी योग्यता मिला लेनेसे न निर्बलता पूरी होती है, न निर्भरता। अतः यह आशा ही टूट जानी चाहिये कि हम अपने बलसे प्राप्त कर लेंगे। परन्तु प्राप्तिकी उत्कण्ठा पूरी होनी चाहिये; क्योंकि जब भगवान्‌के बलसे, उनकी कृपासे प्राप्ति होगी तो फिर हम निराश हों ही क्यों?॥ २५२॥

प्रश्न—अन्तःकरण शुद्ध न होनेसे परमात्मामें रुचि नहीं होगी और रुचि न होनेसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी; अतः परमात्मप्राप्तिमें अन्तःकरणकी शुद्धि कारण हुई?

उत्तर—परमात्मप्राप्तिमें अन्तःकरणकी शुद्धि कारण नहीं है; क्योंकि परमात्मप्राप्ति करणके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत करणके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। अन्तःकरण अशुद्ध होनेसे परमात्माकी तरफ रुचि नहीं होगी—यह नियम नहीं है। कोई बड़ी आफत आनेपर, किसी सन्तकी कृपा होनेपर अथवा अन्य किसी कारणसे अशुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य भी परमात्मामें लग सकता है,क्योंकि मूलमें वह परमात्माका ही अंश है। इसीलिये गीतामें आया है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥

(४। ३६)

‘अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।’

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(९। ३०)

‘अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभक्त होकर मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है’॥ २५३॥

प्रश्न—जो हमारा है, वह हमें मिलता क्यों नहीं ?

उत्तर—जो हमारा नहीं है, उसको अपना न मानें तो वह मिला हुआ ही है। हमें केवल अपनी भूल मिटानी है। सुखकी कामना, आशा और भोगके कारण ही ‘संसार हमारा नहीं है’—इसका अनुभव नहीं होता॥ २५४॥

मनुष्यजन्म

प्रश्न—मनुष्यजन्म प्रारब्धसे मिलता है या भगवत्कृपासे ?

उत्तर—भगवत्कृपासे मिलता है। यदि प्रारब्धसे मनुष्यशरीर मिलता तो क्रमसे चौरासी लाख योनियोंसे होता हुआ मिलता। परन्तु भगवान् कर्मोंका फल पूरा भोगनेसे पहले, बीचमें ही अपनी कृपासे मनुष्यशरीर दे देते हैं। तात्पर्य है कि मनुष्यशरीर मिलता तो कर्मोंसे ही है, पर भगवान् अपना कल्याण करनेके लिये बीचमें ही मनुष्यशरीर दे देते हैं—यह भगवान्‌की कृपा है*॥ २५५॥

प्रश्न—मनुष्यजन्म मिलनेमें यदि भगवत्कृपा कारण है तो फिर कई बालक जन्मके बाद ही मर जाते हैं अथवा उनका मस्तिष्क जन्मसे ही विकृत होता है, फिर उनका कल्याण कैसे होगा ?

उत्तर—उनकी आकृति तो मनुष्यकी है, पर वास्तवमें वह भोगयोनि ही है। भोग भोगनेसे उनकी शुद्धि होगी ही। वास्तवमें आकृतिका नाम मनुष्य नहीं है, प्रत्युत विवेकशक्तिका नाम मनुष्य है। विवेकके बिना वह केवल मनुष्यका ढाँचा है, मनुष्य नहीं। सन्तकृपासे उनका कल्याण हो सकता है।

पशुमें भी जितने अंशमें विवेक है, उतने अंशमें वह मनुष्य है! मनुष्यमें भी यदि अविवेक है तो वह पशु ही है—‘**मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति**’। विवेक विकसित होनेसे ही वह मनुष्य बनता है॥ २५६॥

प्रश्न—विवेक तो अनादि है और अन्य योनियोंको भी प्राप्त है, फिर मनुष्ययोनिकी क्या महिमा हुई ?

उत्तर—मनुष्यदेहका मस्तिष्क विशेष प्रकारका बना हुआ है, जिसमें विवेक विशेषरूपसे जाग्रत् हो सकता है। अन्य योनियोंमें वैसा मस्तिष्क नहीं है; अतः उनका विवेक जीवन-निर्वाहतक सीमित रहता है। कर्तव्य और अकर्तव्य, सत् और असत्‌का विवेक मनुष्यशरीरमें ही जाग्रत् हो सकता है, जिसको महत्त्व देकर मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है॥ २५७॥

प्रश्न—सन्त कहते हैं कि शरीर अपने काम

* कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ (मानस०, उत्तर० ४४। ३)

आता ही नहीं, यह कैसे?

उत्तर—वास्तवमें शरीर अपने काम नहीं आता, प्रत्युत विवेक अपने काम आता है। यह विवेक अन्य योनियोंमें नहीं है। मनुष्यशरीरमें विवेकको महत्त्व देनेसे शरीरका त्याग ही अपने काम आता है। शरीर-त्यागसे अपने लिये और सेवासे दूसरेके लिये उपयोगी होता है॥ २५८॥

प्रश्न—त्याग तो अपने लिये हुआ?

उत्तर—त्याग भी अपने लिये नहीं है, प्रत्युत त्यागका फल (शान्ति) अपने लिये है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)। त्याज्य वस्तु दूसरोंके काम आती है और त्यागका फल हमारे काम आता है। त्यागके फल (शान्ति)-का भी सुख लेंगे तो वह भी बन्धनकारक हो जायगा॥ २५९॥

प्रश्न—जन्म लेते ही बालकको वैष्णवी माया घेर लेती है—इसका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—वैष्णवी माया वह है, जिससे सब संसारकी रचना होती है। बाहरी मायाका असर तब होता है, जब अपने भीतर माया होती है। हमारे भीतर कुसंस्कार (कुसंगका संस्कार) होता है, तभी बाहरी कुसंगका असर पड़ता है। भीतरका कुसंस्कार है—असत्‌की सत्ता और महत्ता मानकर उससे सम्बन्ध जोड़ना॥ २६०॥

प्रश्न—मनुष्यके पतनका कारण क्या है?

उत्तर—भोगोंकी इच्छा और संग्रहकी इच्छा—इन दो इच्छाओंसे मनुष्यका पतन होता है। तात्पर्य है कि संसारसे कुछ भी लेनेकी इच्छा ही पतन करनेवाली है॥ २६१॥

मुक्ति (कल्याण)

प्रश्न—मुक्त होनेपर अपनेमें क्या विशेषता आती है?

उत्तर—मुक्त होनेपर कोई विशेषता नहीं आती, प्रत्युत अपनेमें जो कुछ विशेषता दीखती है, वह मिट जाती है! तात्पर्य है कि मुक्त होनेपर विशेषता देखनेवाला (व्यक्तित्व) नहीं रहता। एकदेशीयता मिट जाती है। किसी भी जगह अपना अभाव नहीं दीखता।

मुक्त होनेपर 'मैं एक शरीरमें हूँ'—यह भी नहीं होता और 'मैं सब जगह हूँ'—यह भी नहीं होता, प्रत्युत 'मैं' ही नहीं रहता। विशेषता प्रेमसे आती है*। ज्ञानमें तो विशेषता मिटती है और एक समता रहती है॥ २६२॥

प्रश्न—मुक्त होनेपर फिर बन्धन क्यों नहीं होता?

उत्तर—कारण कि बन्धन वास्तवमें है नहीं, प्रत्युत हमारा बनाया हुआ है। बन्धन कृत्रिम (बनावटी) है, मुक्ति स्वत:सिद्ध है॥ २६३॥

प्रश्न—वेदान्तमें चार प्रतिबन्धक माने गये हैं—संशय (प्रमाणगत और प्रमेयगत), विपरीत भावना, असम्भावना और विषयासक्ति। इन प्रतिबन्धकोंके रहते हुए कोई जीवन्मुक्त हो सकता है क्या?

उत्तर—हाँ, हो सकता है। तीव्र जिज्ञासा होनेपर प्रतिबन्धक मिट जाते हैं॥ २६४॥

प्रश्न—परमात्मा कर्ता-निरपेक्ष है, पर मुक्तिकी इच्छा तो कर्तामें ही होती है, फिर मुक्ति कैसे होगी?

उत्तर—यद्यपि साधकके लिये मुक्तिकी इच्छा करना अच्छा है, तथापि वास्तवमें बात यह है कि मुक्तिकी इच्छा करनेसे क्रियाके साथ सम्बन्ध हो जाता है, जिससे साधन करण-सापेक्ष हो जाता है। तात्पर्य है कि दूसरी इच्छाएँ मिटानेके लिये साधक मुक्तिकी इच्छा करे। दूसरी कोई इच्छा न रहे तो फिर मुक्तिकी भी इच्छा न करे। कारण कि मुक्ति नित्य तथा स्वत:सिद्ध है। सब कुछ बदलता है, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। इसलिये मुक्ति होती नहीं है,

* मुक्तिमें तो छूटना है, पर प्रेममें प्राप्ति है।

प्रत्युत मुक्ति है। केवल बन्धनकी मान्यता मिटती है। अगर मुक्ति होती है—ऐसा मानें तो पुनः बन्धन भी हो सकता है॥ २६५ ॥

प्रश्न—अधिक धनी, अधिक विद्वान्, अधिक दरिद्र और अधिक रोगी—इनका कल्याण होना कठिन क्यों है?

उत्तर—अधिक धनीमें धनकी अधिक आसक्ति रहती है, अधिक विद्वान्में विद्याकी अधिक आसक्ति रहती है, अधिक दरिद्रमें धनकी अधिक आसक्ति रहती है और अधिक रोगीमें शरीरकी अधिक आसक्ति रहती है। यह आसक्ति ही उनके कल्याणमें बाधक होती है। आसक्ति अधिक होनेके कारण ये जल्दी भगवान्में नहीं लगते। यदि आसक्ति न रहे तो इनका भी कल्याण हो सकता है॥ २६६ ॥

प्रश्न—भीष्मपितामह जीवन्मुक्त महापुरुष थे, फिर शरीर छोड़कर वे आजानदेवताओंके लोक (वसुलोक) क्यों गये?

उत्तर—वे पहले आजानदेवता (वसु) ही थे और शापके कारण पृथ्वीपर आये थे। इसलिये शरीर छोड़कर वे वहीं गये, जहाँसे वे आये थे। हाँ, आजानदेवताकी अवधि पूरी होनेपर वे मुक्त हो जायँगे॥ २६७ ॥

प्रश्न—निर्गुणको माननेवालोंकी 'मुक्ति' और सगुणको माननेवालोंको 'सायुज्य' की प्राप्ति—दोनोंमें अन्तर क्या है?

उत्तर—सायुज्यमें समग्रकी अर्थात् ऐश्वर्यसहित सगुण परमात्माकी प्राप्ति है। मुक्तिमें निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति है, जो समग्रका ऐश्वर्य है!॥ २६८ ॥

प्रश्न—क्या भक्त सालोक्यके बाद क्रमशः सार्ष्टि, सामीप्य और सारूप्यको प्राप्त होते हुए अन्तमें सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त होता है?

उत्तर—यह भक्तके भावपर निर्भर है। भक्तका भाव हो तो वह अनन्तकालतक सालोक्यमें रह सकता है। वहाँ सन्तोष न हो तो भगवान् उसे बदल देते हैं।

गीताके अनुसार सालोक्यादि पाँचों प्रकारकी मुक्तियाँ 'साधर्म्य'केअन्तर्गत हैं—'**मम साधर्म्यमागताः**' (१४। २)। यद्यपि साधर्म्यकी बात भक्तिमें कहनी चाहिये, तथापि भगवान्ने इसको ज्ञानमें कहा है। इसका तात्पर्य है कि परमात्मतत्त्व एक ही है। केवल प्रेमके लिये वह एकसे दो होता है॥ २६९ ॥

प्रश्न—मोक्षशास्त्रको धर्मशास्त्रसे श्रेष्ठ क्यों माना गया है? क्या धर्मशास्त्रसे कल्याण नहीं होता?

उत्तर—निष्कामभाव होनेके कारण मोक्षशास्त्रको धर्मशास्त्रसे श्रेष्ठ माना गया है। धर्मसे कल्याण तभी होता है, जब उसका पालन निष्कामभावसे किया जाय। तात्पर्य है कि कल्याण धर्मसे नहीं होता, प्रत्युत निष्कामभावसे होता है॥ २७० ॥

प्रश्न—कुछ व्यक्ति मुक्तिकी निन्दा करते हैं और राधा-कृष्णके नित्यविहारमें प्रवेश करनेको ही मानव-जीवनकी पूर्णता मानते हैं, यह ठीक है क्या?

उत्तर—वे मुक्तिको समझते ही नहीं कि मुक्ति क्या होती है! मुक्ति किसी जानवरका नाम थोड़े ही है! जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेको ही मुक्ति कहते हैं। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही राधाकृष्णके नित्यविहारमें प्रवेश, गोपीभावकी प्राप्ति अथवा परमप्रेमकी प्राप्ति होती है॥ २७१ ॥

प्रश्न—क्या सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त होनेके बाद भी जीवको संसारमें वापिस आना पड़ता है?

उत्तर—सालोक्य, सामीप्य आदिकी प्राप्ति होनेपर जीवका पुनरागमन नहीं होता, इसीलिये उनकी 'मुक्ति' संज्ञा है। सालोक्यादिकी प्राप्तिमें पूर्णता है। अगर कोई जीव वहाँसे वापिस आता है तो वह कर्मोंके परवश होकर नहीं आता, प्रत्युत भगवान्की इच्छासे कारक पुरुषके रूपमें अवतार लेता है॥ २७२ ॥

मृत्यु

प्रश्न—जैसे मृत्युका समय निश्चित है, ऐसे ही मृत्युके समय होनेवाला कष्ट भी क्या निश्चित है?

उत्तर—नहीं। सब अपने पाप-पुण्यका फल भोगते हैं। किसीको पापका फल भोगना हो तो उसको अधिक कष्ट होता है। परन्तु दु:ख उसीको होता है, जिसके भीतर जीनेकी इच्छा है॥ २७३॥

प्रश्न—जीवनमें जो पुण्यात्मा रहे, साधन-भजन करनेवाले रहे, वे भी अन्तसमयमें कष्ट पायें तो क्या कारण है?

उत्तर—भगवान् उनके पूर्वजन्मोंके सब पापोंको नष्ट करके शुद्ध करना चाहते हैं, जिससे उनका कल्याण हो जाय॥ २७४॥

प्रश्न—शास्त्रमें आया है कि मृत्युके समय मनुष्यको हजारों बिच्छू काटनेके समान कष्ट होता है, पर सन्तोंकी वाणीमें आया है कि मृत्युसे कष्ट नहीं होता, प्रत्युत जीनेकी इच्छासे कष्ट होता है। वास्तवमें क्या बात है?

उत्तर—जैसे बालकसे जवान और जवानसे बूढ़ा होनेमें कोई कष्ट नहीं होता, ऐसे ही मृत्युके समय भी वास्तवमें कोई कष्ट नहीं होता[1]। कष्ट उसीको होता है, जिसमें यह इच्छा है कि मैं जीता रहूँ। तात्पर्य है कि जिसका शरीरमें मोह है, उसीको मृत्युके समय हजारों बिच्छू एक साथ काटनेके समान कष्ट होता है। शरीरमें जितना मोह, आसक्ति, ममता होगी तथा जीनेकी इच्छा जितनी अधिक होगी, उतना ही शरीर छूटनेपर अधिक दु:ख होगा॥ २७५॥

प्रश्न—किसीकी मृत्युका शोक जितना यहाँ किया जाता है, उतना विदेशोंमें नहीं किया जाता तो क्या यहाँके लोगोंमें मोह ज्यादा है?

उत्तर—यह बात नहीं है। जहाँ व्यक्तिगत मोह ज्यादा होता है, वहाँ शोक कम होता है। व्यक्तिगत मोहमें अज्ञता, मूढ़ता ज्यादा होती है। व्यक्तिगत मोह पशुता है। बँदरीका अपने बच्चेमें इतना मोह होता है कि मरे हुए बच्चेको भी साथ लिये घूमती है, पर खाते समय यदि बच्चा पासमें आ जाय तो ऐसे घुड़की देती है कि वह चीं-चीं करते हुए भाग जाता है!

दूसरेकी मृत्युपर शोक न होनेका कारण है कि मोह बहुत संकुचित और पतन करनेवाला हो गया। व्यापक मोह तो मिट सकता है, पर संकुचित (व्यक्तिगत) मोह जल्दी नहीं मिटता। व्यक्तिगत मोह दृढ़ होता है—***'जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि'*** (मानस, अयोध्या० १४२।१)। ज्यों-ज्यों मोह छूटता है, त्यों-त्यों मनुष्यकी स्थिति व्यापक होती है[2]। तात्पर्य है कि मोह जितना व्यापक होता है, उतना ही वह घटता है। जैसे, पहले अपने शरीरमें मोह होता है, फिर कुटुम्बमें मोह होता है, फिर जातिमें मोह होता है, फिर मोहल्लेमें मोह होता है, फिर गाँवमें मोह होता है, फिर प्रान्तमें मोह होता है, फिर देशमें मोह होता है, फिर मनुष्यमात्रमें मोह होता है, फिर जीवमात्रमें मोह होता है। अन्तमें किसीमें भी मोह नहीं रहता। यह सिद्धान्त है कि किसीमें मोह नहीं होता तो सबमें

१- देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ (गीता २।१३)

'देहधारीके इस मनुष्यशरीरमें जैसे बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है। उस विषयमें धीर मनुष्य मोहित नहीं होता।'

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग। सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

(मानस, किष्किं० १०)

२-अयं निज: परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥(पंचतंत्र, अपरीक्षित.३८)

'यह अपना है और पराया—इस प्रकारका विचार संकुचित भावनाके व्यक्ति करते हैं। उदार-भाववाले व्यक्तियोंके लिये तो सम्पूर्ण विश्व ही अपने कुटुम्बके समान है।'

मोह होता है और सबमें मोह होता है तो किसीमें मोह नहीं होता। व्यापक मोह वास्तवमें मोह नहीं है, प्रत्युत आत्मीयता है॥ २७६ ॥

प्रश्न—शास्त्रमें आया है कि धर्मराजके पास जानेमें मृतात्माको एक वर्षका समय लगता है। क्या यह सबके लिये है?

उत्तर—यह सबके लिये नहीं है, प्रत्युत उनके लिये है, जो अत्यन्त पापी हैं। उनके लिये धर्मराजके पास जानेका मार्ग भी बड़ा कष्टदायक होता है। मृत्युके बाद अपने-अपने कर्मोंके अनुसार गति होती है। भगवान्‌के भक्त धर्मराजके पास नहीं जाते॥ २७७॥

प्रश्न—अन्तकालमें न भगवान्‌का चिन्तन हो, न संसारका तो क्या गति होगी?

उत्तर—ऐसा सम्भव नहीं है। कुछ-न-कुछ चिन्तन तो होगा ही—'**न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्**' (गीता ३। ५)॥ २७८॥

प्रश्न—अन्तसमयमें भगवान्‌की याद आये—इसके लिये क्या करें?

उत्तर—हर समय भगवान्‌का स्मरण करें; क्योंकि हर समय ही अन्तकाल है। मृत्यु कब आ जाय, इसका क्या पता! इसलिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च**' (८। ७) 'इसलिये तू सब समयमें मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर'॥ २७९॥

प्रश्न—मनुष्य जिस-जिसका चिन्तन करते हुए शरीर छोड़ता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है—यह नियम क्या आत्महत्या करनेवालेपर भी लागू होता है?

उत्तर—हाँ, लागू होता है। परन्तु उसके द्वारा भगवान्‌का चिन्तन (शुभ चिन्तन) होना बहुत कठिन है। कारण कि वह दुःखी होकर आत्महत्या करता है और उसका उद्देश्य सुखका रहता है। दूसरी बात, प्राण निकलते समय उसको अपने कियेपर बड़ा पश्चात्ताप होता है, पर वह कुछ कर सकता नहीं! तीसरी बात, प्राण निकलते समय उसको भयंकर कष्ट होता है। चौथी बात, अगर उसका भाव शुद्ध हो, भगवान्‌पर विश्वास हो, वह भगवान्‌का चिन्तन करना चाहता हो तो वह आत्महत्या-रूप महापाप करेगा ही क्यों? बुद्धि अशुद्ध होनेपर ही मनुष्य आत्महत्या करता है। इसलिये आत्महत्या करनेवालेकी दुर्गति होती है*॥ २८०॥

वासुदेवः सर्वम्

प्रश्न—गोपिकाओंको सब जगह कृष्ण-ही-कृष्ण किस प्रकारसे दीखते थे? क्या यही गीताका 'वासुदेवः सर्वम्' है?

उत्तर—गीताके '**वासुदेवः सर्वम्**' में सब जगह भगवान्‌को तत्त्वसे देखना है और गोपिकाओंका सब जगह भगवान्‌को देखना दृष्टिसे देखना है। गोपिकाओंकी आँखकी कनीनिकामें भगवान् कृष्णका चित्र अंकित हो गया था, इसलिये उनको सब जगह कृष्ण ही दीखते थे। जैसे कोई लाल रंगका चश्मा लगा ले तो उसको सब जगह लाल-ही-लाल दीखता है, ऐसे ही गोपिकाओंको सब जगह कृष्ण-ही-कृष्ण दीखते थे॥ २८१॥

---

* अन्धं तमो विशेयुस्ते ये चैवात्महनो जनाः। भुक्त्वा निरयसाहस्रं ते च स्युर्ग्रामसूकराः॥
आत्मघातो न कर्तव्यस्तस्मात् क्वापि विपश्चिता। इहापि च परत्रापि न शुभान्यात्मघातिनाम्॥
(स्कन्दपुराण, काशी० १२। १२-१३)

'आत्महत्यारे लोग घोर नरकोंमें जाते हैं और हजारों नरकयातनाएँ भोगकर फिर देहाती सूअरोंकी योनिमें जन्म लेते हैं। इसलिये समझदार मनुष्यको कभी भूलकर भी आत्महत्या नहीं करनी चाहिये। आत्मघातियोंका न इस लोकमें और न परलोकमें ही कल्याण होता है।'

प्रश्न—जब सब कुछ परमात्मा ही हैं—'वासुदेवः सर्वम्' तो फिर जड़ता किसमें है?

उत्तर—जड़ता जीवकी दृष्टिमें है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। जड़ताका कारण है—अज्ञान॥ २८२॥

प्रश्न—राग छोड़नेसे 'वासुदेवः सर्वम्' का अनुभव होगा या अनुभव होनेपर राग छूटेगा?

उत्तर—राग छोड़ना भी साधन है और सबमें परमात्माको देखना भी साधन है। कर्मयोगी रागका त्याग करता है और भक्तियोगी सबमें परमात्माको देखता है। एककी सिद्धि होनेसे दोनोंकी सिद्धि हो जाती है॥ २८३॥

प्रश्न—रागके कारण प्राणी-पदार्थ भगवत्स्वरूप नहीं दीखते तो फिर जिन प्राणी-पदार्थोंमें हमारी आसक्ति नहीं है, वे भगवत्स्वरूप क्यों नहीं दीखते?

उत्तर—जबतक भीतरमें आसक्ति है, राग-द्वेष हैं, तबतक संसार ही दीखेगा। जब भीतरमें समता आ जायगी, तब '**वासुदेवः सर्वम्**' दीखेगा।

राग मूलमें अपनेमें है, प्राणी-पदार्थोंमें नहीं। गीताने रागके रहनेके पाँच स्थान बताये है—पदार्थ (३। ३४), इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि (३। ४०) और अहम् (२। ५९)। वास्तवमें राग खुद (अहम्)-में ही है, पर वह पाँच स्थानोंमें दीखता है। खुदमें होनेसे ही राग प्राणी-पदार्थोंमें दीखता है। जब खुदमें राग नहीं रहेगा, तब सब जगह भगवान् ही दीखेंगे॥ २८४॥

प्रश्न—संसार विकृति है या भगवान्का स्वरूप है?

उत्तर—राग-द्वेषके कारण संसार विकृति है। यदि राग-द्वेष न हों तो यह भगवत्स्वरूप ही है। राग हटानेके लिये ही संसारको विकृति कहा गया है॥ २८५॥

प्रश्न—जड़ता बुद्धिमें है, अन्यथा सब संसार चिन्मय है—यदि ऐसी बात है तो फिर भगवान्के धाममें और संसारमें क्या फर्क रहा?

उत्तर—जैसे रामायणमें भगवान्ने कहा है—'**सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥**' (अरण्य० ३६। २)। ऐसे ही संसार चिन्मय है, पर भगवान् उससे भी विलक्षण अर्थात् चिन्मयताके भी सार हैं। इसलिये उनको 'आनन्दकन्द' भी कहा जाता है॥ २८६॥

प्रश्न—'वासुदेवः सर्वम्' के विषयमें दो प्रकारकी बातें सुनी जाती हैं—एक तो भगवान् हमारे सामने जिस रूपमें आयें, उसी रूपके अनुसार उनसे व्यवहार करना और दूसरी, भगवान् किसी भी रूपमें आयें, उनसे साक्षात् भगवान्की तरह ही व्यवहार करना; जैसे मीराबाईने सिंहकी आरती उतारी, नामदेवजी कुत्तेके पीछे घी लेकर भागे, आदि। हम किस बातको मानें?

उत्तर—मीरा, नामदेव आदिकी तरह व्यवहार करना सिद्धावस्थाकी बात है। साधकको तो मर्यादाके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। साधकको चाहिये कि बाहरसे यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी हृदयसे किसीको बुरा न समझे, किसीका अपमान-तिरस्कार न करे॥ २८७॥

प्रश्न—संसारमें तो निरन्तर परिवर्तन होता है, फिर वह परमात्माका स्वरूप कैसे?

उत्तर—जैसे गिरगिट कई रंग बदलता है, पर रंग बदलनेपर भी गिरगिट वही रहता है और वे रंग गिरगिटके ही होते हैं। रंगोंको गिरगिटसे अलग नहीं कर सकते। ऐसे ही प्रकृति भगवान्की ही शक्ति है और शक्तिको शक्तिमान्से अलग नहीं कर सकते।

जैसे समुद्रके ऊपर लहरें चलती दीखती हैं, पर भीतरमें एक सम, शान्त समुद्र है। समुद्रके भीतर कोई लहर नहीं है। ऐसे ही संसार भी उस परमात्माकी लहरें हैं। अतः परिवर्तन भी परमात्माका स्वरूप है और अपरिवर्तन भी—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)॥ २८८॥

प्रश्न—शक्ति (प्रकृति) तो शक्तिमान् (भगवान्)-के अधीन होती है, फिर उसका स्वरूप कैसे हुई?

उत्तर—शक्ति शक्तिमान्‌से अलग नहीं होती; जैसे—नख, केश आदि निष्प्राण चीजें भी हमारेसे अलग नहीं होतीं, प्रत्युत हमारा ही स्वरूप होती हैं। अतः परमात्मासे अलग प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है॥ २८९ ॥

प्रश्न—जब सब संसार भगवत्स्वरूप ही है तो फिर दूसरेको उपदेश क्यों दिया जाता है?

उत्तर—दूसरेको उपदेश भी अपना मानकर ही दिया जाता है कि जैसे अपनेमें भूल है, वैसे ही दूसरेमें भी है। जैसे अपनेमें कमी दीखनेपर उसका सुधार करते हैं, ऐसे ही दूसरेकी कमीको भी अपनी ही कमी मानकर उसका सुधार करते हैं। अतः वास्तवमें उपदेश अपनेको ही दिया जाता है—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** (गीता ६। ५)। दूसरेको उपदेश उसकी दृष्टिसे दिया जाता है; क्योंकि वह हमसे उपदेश चाहता है।

राग दो प्रकारसे मिटाया जाता है—विचारके द्वारा मिटाना अथवा करके मिटाना। अगर हमारी वासना उपदेश देनेकी, व्याख्यान देनेकी है तो उस वासनाको मिटानेके लिये भगवान् हमारे सामने अज्ञानी बनकर, श्रोता बनकर आते हैं। राजा बनकर शासन करनेकी वासना है तो भगवान् प्रजा बनकर आते हैं॥ २९० ॥

प्रश्न—समता और 'वासुदेवः सर्वम्'—दोनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—समतामें अपने मतका संस्कार (सूक्ष्म अहम्) रहता है, पर **'वासुदेवः सर्वम्'** में कोई मतभेद नहीं रहता; क्योंकि इसमें सब मत-मतान्तर भी वासुदेव ही हैं। समतामें तो स्वरूपकी मुख्यता है,पर **'वासुदेवः सर्वम्'** में भगवान्‌की मुख्यता है॥ २९१ ॥

प्रश्न—एक बात यह कही जाती है कि संसार (जड़) भी परमात्माका ही स्वरूप है और एक बात यह कही जाती है कि संसार तो हमारी दृष्टिमें है, वास्तवमें संसार है ही नहीं, प्रत्युत सत्तारूपसे एक परमात्मा ही हैं। दोनोंमें कौन-सी बात मानें?

उत्तर—जबतक हमारी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, तबतक यह मानना चाहिये कि संसार परमात्माका ही स्वरूप है। अगर हम संसारकी सत्ता न मानें तो एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है।

संसाररूपसे भी वही है और सत्तारूपसे भी वही है; क्योंकि वास्तवमें संसार है नहीं। सत्‌से ही असत्‌का भान होता है। सत्‌के बिना असत्‌का भान ही नहीं होता। ज्ञानी और परमात्माकी दृष्टिमें संसार है ही नहीं। संसार तो जीवकी दृष्टिमें है। कारण कि संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं॥ २९२ ॥

प्रश्न—संसार (जड़) न दीखकर केवल परमात्मा कैसे दीखें?

उत्तर—संसार दीखता है तो दीखता रहे, हर्ज क्या है? देखना सीमित होता है, तत्त्व असीम है। सूर्य थालीकी तरह दीखता है तो क्या वह ऐसा ही है? दीखना व्यक्तिगत है। जो व्यक्तिगत होता है, वह सिद्धान्त नहीं होता। दीखनेवाला और देखनेवाला—सबका अभाव हो जायगा और परमात्मतत्त्व शेष रह जायगा। दीखना और देखना उसी तत्त्वके अन्तर्गत है। अतः दीखने-देखनेका आग्रह नहीं रखना चाहिये॥ २९३ ॥

प्रश्न—संसारको भगवान्‌का आदि अवतार कहा गया है—'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य' (श्रीमद्भा० २। ६। ४१), फिर संसार असत्य कैसे हुआ?

उत्तर—भगवान्‌का अवतार सत्य है, संसार सत्य नहीं है॥ २९४॥

प्रश्न—क्या सभी भक्तोंको अन्तमें 'वासुदेवः सर्वम्' (सब कुछ भगवान् ही हैं)-का अनुभव हो जाता है?

उत्तर—सबको नहीं होता, प्रत्युत उसको होता है, जिसमें अपने मत (भक्ति)-का आग्रह नहीं है, अपनी मान्यतामें सन्तोष नहीं है। अगर वह ज्ञानको हीन दृष्टिसे देखता है तो उसको **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव नहीं होता॥ २९५ ॥

प्रश्न—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३। १४। १) और 'वासुदेवः सर्वम् (गीता ७। १९)—

दोनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' में निर्गुणकी मुख्यता है तथा इसमें असत्‌का निषेध है। परन्तु '**वासुदेवः सर्वम्**' में सगुणकी मुख्यता है तथा इसमें असत्‌का निषेध नहीं है।

सगुणमें तो निर्गुण आ सकता है, पर निर्गुणमें सगुण नहीं आ सकता। निर्गुणमें गुणोंका निषेध ही कर दिया, फिर गुण कैसे आयें? सगुण सब गुणोंका आश्रय है, पर वह किसी गुणके आश्रित, गुणसे आबद्ध नहीं है। भगवान्‌ने भी सगुणको 'समग्र' कहा है—'**असंशयं समग्रं माम्**' (गीता ७। १)। समग्रमें सगुण-निर्गुण,साकार-निराकार और जड़-चेतन, सत्-असत् आदि सब कुछ आ जाता है॥ २९६॥

प्रश्न—एक बात है कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं' और एक बात है कि 'हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं'—दोनोंमें हम किस बातको मानें?

उत्तर—पहले यह मानो कि 'हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं'। इस बातको माननेसे ही यह अनुभव हो जायगा कि 'मैं नहीं हूँ, भगवान् ही हैं'॥ २९७॥

प्रश्न—अनेकता 'है' में है या 'नहीं' में?

उत्तर—एकमें ही अनेकता है अर्थात् 'है' में ही अनेकता है। 'है' के सिवाय किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। 'है' में सब एक हैं। 'है' में अनेकताका निषेध नहीं है, प्रत्युत अन्य सत्ताका निषेध है॥ २९८॥

विवेक

प्रश्न—विवेक किस उपायसे बढ़ता है?

उत्तर—अगर मनुष्य विवेकका आदर करे अर्थात् विवेक-विरुद्ध कार्य न करे तो उसका विवेक गुरु आदिकी सहायताके बिना स्वतः बढ़ जाता है। अगर वह जान-बूझकर न करनेलायक काम करेगा तो विवेक नहीं बढ़ेगा। विवेक-विरुद्ध कार्य करनेसे विवेकका बढ़ना रुक जाता है॥ २९९॥

प्रश्न—विवेककी आवश्यकता कहाँतक है?

उत्तर—जड़ पदार्थोंके संयोगसे होनेवाले सुखके त्यागतक। तात्पर्य है कि विवेककी आवश्यकता जड़का आकर्षण (राग,आसक्ति) मिटानेमें है। इसलिये विवेकसे वैराग्य होता है। विवेकका आदर इतना होना चाहिये कि जड़ताका आकर्षण सर्वथा मिट जाय॥ ३००॥

प्रश्न—विचार और विवेकमें क्या अन्तर है?

उत्तर—विचारमें ऊहापोह होता है कि यह नित्य कैसे है, यह अनित्य कैसे है, आदि। परन्तु विवेकमें नित्य और अनित्य आदि दो वस्तुओंका विश्लेषण होता है। जबतक विवेक पुष्ट नहीं होता, तबतक उसके साथ विचार रहता है। विवेक पुष्ट होनेपर विचार नहीं रहता, प्रत्युत केवल विवेक रहता है॥ ३०१॥

संकल्प

प्रश्न—संकल्प किये बिना कोई भी कार्य कैसे किया जायगा?

उत्तर—वास्तवमें कर्म करनेकी स्फुरणा अथवा विचार होता है, संकल्प नहीं होता। संकल्प वह होता है, जिसमें अपनी आसक्ति, ममता और आग्रह रहता है। कार्य करनेकी स्फुरणा अथवा विचार बाँधनेवाला नहीं होता, पर संकल्प बाँधनेवाला होता है॥ ३०२॥

प्रश्न—भगवान् भी जब संकल्प करते हैं, तभी सृष्टि पैदा होती है तो क्या यह संकल्प बाँधनेवाला नहीं होता?

उत्तर—भगवान्‌के संकल्पमें न आसक्ति है, न आग्रह है, न अपने लिये कुछ पानेकी इच्छा है। अत: वास्तवमें यह संकल्प नहीं है, प्रत्युत स्फुरणा है। स्फुरणामात्रको ही संकल्प नामसे कहा गया है॥ ३०३॥

प्रश्न—क्रियामात्र प्रकृतिमें होती है, पर कुछ क्रियाएँ हम संकल्पपूर्वक करते हैं; जैसे—भोजन स्वत: पचता है, पर हम भोजन करनेका संकल्प करते हैं, तब भोजन करते हैं। यह संकल्प अपनेमें हुआ?

उत्तर—वास्तवमें संकल्प भी प्रकृतिमें ही होता है, स्वयंमें नहीं। संकल्पका आधार है—अज्ञान, अविवेक। विवेक स्पष्ट न होनेसे मनुष्य अपनेमें संकल्प मानता है, अपनेको कर्ता मानता है। संकल्पसे फिर कामना पैदा होती है। मन-बुद्धिके साथ अपनी एकता माननेसे ही संकल्प-विकल्प अपनेमें दीखते हैं।

भूख प्राणोंका धर्म है, स्वयंका नहीं। प्राणोंके साथ तादात्म्य होनेसे ऐसा मालूम होता है कि भूख मेरेको लगी है और 'मैं भोजन करूँ'—ऐसा संकल्प होता है। भोजन प्राणोंके पोषणके लिये होता है, स्वयंके पोषणके लिये नहीं। यदि प्राणोंके साथ तादात्म्य न करें तो स्फुरणा होगी, संकल्प नहीं होगा॥ ३०४॥

प्रश्न—सन्तोंकी वाणीमें आता है कि भगवान् सत्य संकल्पको पूरा करते हैं, इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—सत्य-तत्त्व (परमात्मा)-की प्राप्तिका संकल्प ही सत्य संकल्प है, जिसको भगवान् पूरा करते हैं। असत् (संसार)-का संकल्प पूरा होने अथवा न होनेमें प्रारब्ध कारण है॥ ३०५॥

सन्त-महात्मा (दे० जीवन्मुक्त)

प्रश्न—साधु, सन्त और महात्मा—तीनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—जो साधनमें तत्पर है, वह 'साधु' है। जिसने साधन करके अनुभव कर लिया है और जिसकी वाणी, आचरण आदि सबमें सत्-तत्त्व उद्भासित होता है, वह 'सन्त' है। जिसकी दृष्टिमें मैं-मेरे, तू-तेरेका भेद नहीं रहा, जिसका सब प्राणियोंके प्रति समान भाव हो गया, वह 'महात्मा' है।

गृहस्थ, संन्यासी आदि सभी वर्ण, आश्रम, देश, वेश आदिके व्यक्ति साधु, सन्त या महात्मा हो सकते हैं। गेरुआ वस्त्रधारियोंके वेशमें ज्यादा साधु, सन्त, महात्मा हो चुके हैं, इसलिये इस वेशको लेकर भी लोग साधु, सन्त, महात्मा कह देते हैं॥ ३०६॥

प्रश्न—महात्मा शरीर छूटनेपर सर्वव्यापी होता है या पहले?

उत्तर—वह सर्वव्यापी तो मुक्त होते ही हो जाता है। केवल लोगोंकी दृष्टिमें देहका आवरण दीखता है॥ ३०७॥

प्रश्न—फिर शरीर छूटनेके बाद उनका प्रचार अधिक क्यों होता है?

उत्तर—शरीरके रहते हुए उनका मत एक व्यक्तिका दीखता है। परन्तु शरीर छूटनेके बाद व्यक्तिका मत न दीखकर केवल सिद्धान्त दीखता है। मतकी अपेक्षा सिद्धान्तका लोगोंमें अधिक प्रचार होता है। व्यक्तिको लेकर मत होता है और तत्त्वको लेकर सिद्धान्त होता है॥ ३०८॥

प्रश्न—सन्त-महात्माको कोई आदेश देना हो तो स्वप्नमें क्यों देते हैं?

उत्तर—जाग्रत्‌में वे आज्ञा दें और वह उसको न माने तो पाप लगेगा, इसलिये वे स्वप्नमें आज्ञा देते हैं। स्वप्नमें दी गयी आज्ञा अगर न माने तो पाप नहीं लगेगा और माने तो लाभ होगा॥ ३०९॥

प्रश्न—भगवान्‌की लीलाको देखनेसे जो मोह होता है, वह तो लीलाके श्रवणसे दूर हो

जाता है। परन्तु सन्तोंकी लीला (आचरण) देखनेसे जो मोह होता है, वह किस उपायसे दूर होता है?

उत्तर—सन्तोंकी लीला देखनेसे जो मोह होता है, उसके नाशका उपाय है—उनकी तात्त्विक बातोंकी तरफ ध्यान दे, उनके आचरणोंकी तरफ नहीं। कारण कि उनके आचरण देश, काल, परिस्थिति आदिके अनुसार तथा सामनेवाले व्यक्तिके भावके अनुसार होते हैं, जिनको हम पूरा नहीं समझ सकते॥ ३१०॥

प्रश्न—तेज बुखारमें भी सन्तोंको आनन्द क्यों होता है?

उत्तर—कारण कि उनकी दृष्टि लाभपर रहती है कि हमारे पाप कट रहे हैं! जैसे, काँटा निकालते समय पीड़ा होती है तो वह बुरी नहीं लगती। स्त्री प्रसवकी पीड़ाको भी प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेती है कि पुत्र हुआ है!॥ ३११॥

प्रश्न—सन्तोंको राजनीतिमें आना चाहिये या नहीं?

उत्तर—यदि शासकलोग अपने पदका दुरुपयोग करते हों तो सन्तोंको राजनीतिमें आना ही चाहिये। अगर स्वार्थभाव न हो और केवल परहितका भाव हो तो राजनीति बाधक नहीं है॥ ३१२॥

प्रश्न—सन्तोंमें परस्पर संगठन कैसे हो?

उत्तर—सन्तोंमें संगठन तभी होगा, जब सबका उद्देश्य एक ही हो। यदि उनमें बाहरसे एकता करना चाहें तो वह नहीं हो सकती; क्योंकि बाहरसे सब अलग-अलग विधियोंका पालन करते हैं। अत: सन्तोंको चाहिये कि वे अपने सिद्धान्तपर, अपने उद्देश्यपर दृढ़ रहें॥ ३१३॥

प्रश्न—सन्त-महात्मा उपदेश देते हैं तो उनकी क्या दृष्टि रहती है?

उत्तर—वे लोगोंकी दृष्टिमें उनको उपदेश देते हैं, उनको भगवान्‌में लगाते हैं। परन्तु उनकी अपनी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं—'**वासुदेवः सर्वम्**'। जिस स्थितिमें सामान्य लोग हैं, उसी स्थितिमें उतरकर वे उपदेश देते हैं॥ ३१४॥

प्रश्न—एक बात आती है कि सन्त दूसरोंके दु:खसे दु:खी होते हैं और एक बात आती है कि सन्त वास्तवमें न अपने दु:खसे दु:खी होते हैं, न दूसरोंके दु:खसे—इसका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—जैसे समुद्रके ऊपर लहरें उठती हैं, पर समुद्रके भीतर लहरें नहीं हैं, ऐसे ही सन्त व्यवहारमें सुखी-दु:खी होते दीखते हैं, पर भीतर (तत्त्व)-से वे न सुखी होते हैं, न दु:खी। वे दूसरोंके दु:खसे दु:खी नहीं होते, प्रत्युत उनका दु:ख दूर करनेकी चेष्टा करते हैं॥ ३१५॥

प्रश्न—किसी सन्तसे उनके अनुभवकी बात पूछनी चाहिये या नहीं?

उत्तर—पारमार्थिक विषयमें अनुभवकी बात पूछना और अनुभवकी बात कहना—दोनों ही उचित नहीं हैं। लौकिक विषयमें भी यह पूछना कि 'तुम्हारे पास कुल कितने रुपये हैं' असभ्य माना जाता है। मेरे पास बैंकमें इतने रुपये हैं—यह भी कोई नहीं बताता। यह पूछने-कहनेकी बात ही नहीं है। क्या भगवान् रुपयेसे भी रद्दी हैं?

दूसरी बात, जो अनुभवकी बात पूछता है, उसमें उस सन्तके प्रति अश्रद्धा रहती है। अगर कुछ अश्रद्धा, अविश्वास,सन्देह न हो तो वह पूछता ही क्यों? सन्त उत्तर दे कि हाँ, मेरेको परमात्मतत्त्वका अनुभव हुआ है तो उससे पूछनेवालेके मनमें अश्रद्धा ही पैदा होगी कि ये आत्मश्लाघा करते हैं। अगर सन्त कहे कि अनुभव नहीं हुआ तो भी अश्रद्धा ही होगी।* अत: अनुभवकी बात पूछनेसे पूछनेवालेकी

* उपनिषद्‌में शिष्य अपने गुरुके प्रति कहता है—
नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥ (केन० २। २)

हानि (अश्रद्धा) ही होती है, लाभ नहीं होता।

तीसरी बात, अनुभवी महापुरुषकी दृष्टिमें कोई भी व्यक्ति अज्ञानी नहीं होता। उनकी दृष्टिमें ज्ञानी-अज्ञानीका भेद होता ही नहीं। उनकी दृष्टिमें ज्ञान सबमें है,पर बेचारे समझते नहीं। मैं हूँ—ऐसे अपनी सत्ताको सभी मानते हैं, पर भूलसे शरीरको लेकर सत्ता मानते हैं। वास्तवमें ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत अज्ञानका नाश होता है। ज्ञान तो स्वतः- सिद्ध है। इसलिये अनुभव होनेपर ऐसा नहीं दीखता कि पहले नहीं था, अब अनुभव हुआ है, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक दीखता है कि यह तो पहलेसे ही है, नया क्या हुआ?

पूछनेवाला तो अनुभवकी बात पूछ लेता है, पर अनुभवी सन्त इसका उत्तर कैसे दे? अगर वह कहे कि मेरेको अनुभव हो गया तो असत्यका दोष लगेगा; क्योंकि वह ऐसा मानता ही नहीं कि मेरेको अनुभव हुआ है, दूसरोंको नहीं। उपनिषद्‌में आया है कि जब राजा जनकने कहा कि ये एक हजार गायें हैं, जो ब्रह्मज्ञानी हो, वह इनको ले जाय, तब याज्ञवल्क्यजी खड़े हो गये और अपने शिष्यसे बोले कि इन गायोंको ले चलो। राजा जनकके होता अश्वलने पूछा कि क्या सबमें तुम ही ब्रह्मज्ञानी हो? तब याज्ञवल्क्यजीने कहा कि ब्रह्मज्ञानीको तो हम नमस्कार करते हैं, हमें तो गायोंकी जरूरत है, इसलिये उनको ले जाता हूँ, अगर तुम्हें कोई शंका हो तो प्रश्न करो॥ ३१६॥

प्रश्न—सच्चा सन्त कौन है?

उत्तर—जो अपना उद्धार कर चुका है और दूसरेका उद्धार करनेके सिवाय जिसमें दूसरी कोई इच्छा नहीं है। जिसमें स्वार्थकी गंध भी नहीं है। जिसको सिवाय उद्धारके संसारसे और कोई मतलब नहीं, कुछ लेना नहीं॥ ३१७॥

संसार (दे० सुखासक्ति)

प्रश्न—सूक्ष्म जगत् और कारण जगत् क्या है?

उत्तर—प्राणिमात्रके (समष्टि) सूक्ष्मशरीर मिलकर सूक्ष्म जगत् और कारणशरीर मिलकर कारण जगत् कहलाता है॥ ३१८॥

प्रश्न—संसारका असर न पड़े—इसके लिये क्या करें?

उत्तर—संसारका असर मन-बुद्धि-इन्द्रियोंपर पड़ता है, अपनेपर नहीं—इस तरफ खयाल रखें। संसारका असर सदा रहेगा नहीं, मिट जायगा, इसलिये इसकी परवाह न करें। मैं उससे अलग हूँ—इस तरफ दृष्टि रखें तो उसकी जड़ कट जायगी।

हम परमात्माके अंश हैं, इसलिये हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है। संसारमें कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है। शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि प्रकृतिके अंश हैं, इसलिये उनका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है, हमारे साथ नहीं॥ ३१९॥

प्रश्न—नाशवान्‌में आकर्षण होनेका कारण क्या है?

उत्तर—इसका कारण है—अज्ञान, मूर्खता। अज्ञान यह है कि संसारके सम्बन्धसे होनेवाले दुःखको संसारके सम्बन्धसे ही मिटाना चाहते हैं॥ ३२०॥

प्रश्न—सांसारिक रुचिका नाश कैसे हो?

उत्तर—जितना सुख लिया है, उससे कुछ अधिक दुःख हो जाय तो रुचि नष्ट हो जायगी। यह दुःख होगा विचारसे अथवा सत्संगसे। इनसे भी न हो तो भगवान्‌से प्रार्थना करे। विचारसे यह रुचि उतनी

'मैं तत्त्वको भलीभाँति जान गया हूँ—ऐसा मैं नहीं मानता और न ऐसा ही मानता हूँ कि मैं तत्त्वको नहीं जानता; क्योंकि जानता भी हूँ। मैं तत्त्वको जानता हूँ अथवा नहीं जानता हूँ—ऐसा सन्देह भी नहीं है। हममेंसे जो कोई भी उस तत्त्वको जानता है, वही मेरे उक्त वचनके तात्पर्यको जानता है।'

जल्दी नहीं छूटती, जितनी जल्दी दूसरोंको सुख देनेसे अथवा भगवान्‌के शरण होकर उनको पुकारनेसे छूटती है। जिनकी भगवान्‌में रुचि है, भोगोंमें रुचि नहीं है, उनके पास बैठनेसे भी रुचि मिटती है॥ ३२१॥

प्रश्न—भगवान् सांसारिक रुचि क्यों नहीं छुड़ाते?

उत्तर—भगवान् अपनी तरफसे किसीके सुखको नहीं छुड़ाते। यह काम चोर-डाकुओंका है!॥ ३२२॥

प्रश्न—हम रुचि छोड़ना चाहते ही हैं, फिर भगवान् क्यों नहीं छुड़ाते?

उत्तर—सांसारिक रुचि तो अधिक है, पर उसको छोड़नेकी चाहना कमजोर है, तभी भगवान् नहीं छुड़ाते॥ ३२३॥

प्रश्न—संसारका खिंचाव मिटानेका बढ़िया उपाय क्या है?

उत्तर—विषयोंका सेवन रागपूर्वक न करे, पर भजन रागपूर्वक (प्रेमपूर्वक) करे। विषयोंका सेवन करते समय, भोग भोगते समय हृदयको कठोर रखे अर्थात् भोगोंमें रस न ले, उनसे निर्लिप्त रहे। कारण कि जैसे पिघले हुए मोममें रंग डालनेसे रंग उसके भीतर बैठ जाता है, ऐसे ही हृदय द्रवित होनेपर वे विषय भीतर बैठ जाते हैं॥ ३२४॥

प्रश्न—जो प्रत्यक्ष दीख रहा है, उस संसारका सर्वथा अभाव कैसे मानें?

उत्तर—जो दीखता है, उसकी सत्ता होती है—यह आवश्यक नहीं है। मृगतृष्णाका जल दीखता है, दर्पणमें मुख दीखता है, रस्सीमें साँप दीखता है तो क्या उसकी सत्ता है?

विचारपूर्वक देखें तो संसारका पहले भी अभाव था, पीछे भी अभाव हो जायगा और वर्तमानमें भी इसका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है। जो प्रतिक्षण बदल रहा है, उसकी सत्ता कैसे स्वीकार करें? उत्पत्ति-विनाशका प्रवाह ही वर्तमानमें स्थिति रूपसे दीख रहा है। जैसे पहले कभी महाभारतकी घटनाएँ वर्तमानमें थीं और बड़ी ठोस दीखती थीं, पर आज वे हैं क्या? आज केवल उनकी कथा शेष रह गयी है। ऐसे ही अभी जो वर्तमानमें दीखता है, यह भी नहीं रहेगा।

बीजसे अंकुर बनता है, अंकुरसे पौधा बनता है, पौधेसे वृक्ष बनता है, फिर उसमें पुष्प और फल लगते हैं—इस प्रकार संसारमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। अंकुर बना जो बीज नहीं रहा, पौधा बना तो अंकुर नहीं रहा, वृक्ष बना तो पौधा नहीं रहा! तात्पर्य है कि संसारमें स्थिति नामकी कोई चीज है ही नहीं।

संसारका तो अभाव ही है, वह दीखे तो क्या और न दीखे तो क्या! दर्पणमें मुख दीखे तो क्या और न दीखे तो क्या!॥ ३२५॥

प्रश्न—संसारकी सत्ताका अभाव करें अथवा उससे अपना सम्बन्ध न मानें?

उत्तर—एक ही बात है। सत्ताका अभाव करनेकी अपेक्षा अपना सम्बन्ध न मानना सुगम और श्रेष्ठ है। संसार सत् हो या असत्, उससे हमारा कोई मतलब नहीं। जैसे, स्वप्नकी सृष्टि है तो ठीक, नहीं है तो ठीक, उससे अपना क्या मतलब? एक-दो नहीं, चौरासी लाख योनियाँ बीत गयीं, पर हम वही एक रहे। जब चौरासी लाख योनियोंसे हमारा सम्बन्ध नहीं रहा तो फिर इस एक शरीरसे सम्बन्ध कैसे रहेगा? सम्बन्ध रहना सम्भव ही नहीं है॥ ३२६॥

प्रश्न—हमारा स्वरूप सत्तामात्र है, सत्तामात्रमें ही हमारी स्थिति है—ऐसा जानते हुए भी संसारमें आकर्षण हो जाय तो साधक क्या करे?

उत्तर—संसारमें आकर्षण हो गया—यह नुकसान नहीं हुआ, प्रत्युत उस आकर्षणको सच्चा मान लिया—यह नुकसान हुआ है! आकर्षण तो मिट जायगा, पर सत्ता रह जायगी। वास्तवमें आकर्षण होना भी मिटनेका नाम है और आकर्षण न होना भी मिटनेका नाम है। आकर्षणको महत्त्व दे दिया—यही बीमारी है!

प्रत्येक सांसारिक भोगमें रुचि भी होती है और अरुचि भी होती है। रुचिको स्थायी रखना और अरुचिको स्थायी न रखना भूल है। इस भूलका कारण है—मूर्खता॥ ३२७॥

प्रश्न—संसारसे माना हुआ सम्बन्ध किसपर

टिका हुआ है?

उत्तर—सुख-लोलुपतापर॥ ३२८॥

प्रश्न—संसारके साथ माना हुआ सम्बन्ध झूठा होते हुए भी दृढ़ कैसे हो गया?

उत्तर—संयोगजन्य सुखकी लोलुपताके कारण झूठी मान्यता भी दृढ़ हो गयी। कारण कि सांसारिक सुख आरम्भमें अमृतकी तरह दीखता है—**'विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्'** (गीता १८। ३८), इसलिये मनुष्य उसमें फँस जाता है, उसकी विचारशक्ति नष्ट हो जाती है, वह अन्धा हो जाता है!॥ ३२९॥

प्रश्न—इस सुखलोलुपताको छोड़नेका उपाय क्या है?

उत्तर—उपाय है—सत्संग॥ ३३०॥

प्रश्न—संसारका आश्रय छोड़नेमें निर्बलता क्यों मालूम देती है।

उत्तर—क्योंकि संसारसे सुख लेते हैं॥ ३३१॥

प्रश्न—सुख छोड़नेमें भी निर्बलता मालूम देती है, क्या करें?

उत्तर—यह निर्बलता दूसरोंको सुख देनेसे छूटेगी। मनुष्यशरीर सुख भोगनेके लिये है ही नहीं—**'एहि तन कर फल बिषय न भाई'** (मानस, उत्तर० ४४। १)॥ ३३२॥

प्रश्न—असत्‌की सत्ता ही नहीं है—ऐसा जानते हुए भी उसका त्याग कठिन क्यों हो रहा है?

उत्तर—हम विचारके समय तो संसारको असत् मानते हैं, पर अन्य समय असत्‌के संगका सुख भोगते हैं। इस सुखासक्तिके कारण ही असत्‌के त्यागमें कठिनता मालूम देती है। असत्‌में स्थायीपना है नहीं, पर सुखलोलुपता उसको स्थायी दिखाती है॥ ३३३॥

प्रश्न—संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अथवा संसारकी सत्ता ही नहीं है?

उत्तर—दूसरी सत्ताको मानें तो संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और दूसरी सत्ताको न मानें तो संसारकी सत्ता है ही नहीं। संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—यह साधककी बात है। संसारकी सत्ता ही नहीं है—यह सिद्धकी बात है॥ ३३४॥

प्रश्न—जो जाननेमें आता है, वह सब जड़ संसार है; क्योंकि उसमें त्रिपुटी है। भगवान् या स्वयं (आत्मा) जाननेमें आते हैं तो वे भी जड़ हुए?

उत्तर—भगवान् जाननेमें नहीं आते, प्रत्युत माननेमें आते हैं। माननेमें श्रद्धा-विश्वास मुख्य हैं, त्रिपुटी मुख्य नहीं है। स्वयं (अपना होनापन) भी जाननेमें नहीं आता, प्रत्युत अनुभवमें आता है। अनुभवमें त्रिपुटी नहीं होती॥ ३३५॥

प्रश्न—संसारसे माना हुआ सम्बन्ध कब छूटेगा?

उत्तर—जब हम अचाह और अप्रयत्न हो जायँगे, तब छूटेगा। कारण कि संसारका स्वरूप है—पदार्थ और क्रिया। अचाह होनेसे पदार्थका सम्बन्ध छूट जायगा और अप्रयत्न होनेसे क्रियाका सम्बन्ध छूट जायगा। हम अचाह और अप्रयत्न तब होंगे, जब हम इस सत्यको स्वीकार कर लेंगे कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें मेरा कुछ भी नहीं है॥ ३३६॥

प्रश्न—परिवर्तनकी आसक्ति कैसे मिटे?

उत्तर—उसको मिटाना नहीं है, प्रत्युत वह तो स्वतः मिट रही है। बढ़िया उपाय है—उसकी उपेक्षा कर दें, उसको पकड़ें नहीं। उसको सत्ता और महत्ता देकर मिटानेकी चेष्टा करना ही गलती है॥ ३३७॥

प्रश्न—संसार अच्छा नहीं लगता, फिर भी भोगोंमें फँस जाते हैं! क्या करें?

उत्तर—वास्तवमें संसार ही अच्छा लगता है। यदि संसार बुरा लगे तो भोगोंमें फँस सकते ही नहीं॥ ३३८॥

सत्संग

प्रश्न—सन्तोंका संग प्रारब्धसे मिलता है या भगवत्कृपासे?

उत्तर—सन्त प्रारब्धसे भी मिलते हैं—‘**पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता**’ (मानस, उत्तर० ४५। ३), भगवत्कृपासे भी मिलते हैं—‘**जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये**’ (विनय० १३६। १०) और अपनी लगनसे भी मिलते हैं—‘**जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥**’ (मानस, बाल० २५९। ३)। परन्तु उनसे लाभ उठानेमें हमारी सच्ची लगन (उत्कट अभिलाषा) ही मुख्य है अर्थात् उनसे लाभ उठाना हमारे हाथकी बात है॥ ३३९ ॥

प्रश्न—सत्संगका स्वरूप क्या है?

उत्तर—सत्-तत्त्व (परमात्मा)-में निष्काम प्रेम होना भी सत्संग है और जीवन्मुक्त सन्तके साथ निष्काम प्रेम भी सत्संग है। जीवन्मुक्त सन्तके पास बैठना भी सत्संग है। संसारसे विमुख होना भी सत्संग है। तात्पर्य है कि हम किसी भी प्रकारसे भगवान्के सम्मुख हो जायँ तो यह सत्संग है॥ ३४० ॥

प्रश्न—‘तुलसी संगत साधु की, कटै कोटि अपराध’—साधुकी संगत क्या है?

उत्तर—साधुकी असली संगत है—साधुके साथ अभिन्न हो जाना। अभिन्न होनेका तात्पर्य है—उनकी बातको तत्परतासे सुनकर उसी क्षण उसमें स्थित हो जाय। उनकी बातको भविष्यके लिये, अभ्यासपर मत छोड़े। अगर उनकी बातमें कोई विकल्प, सन्देह हो तो उसी समय पूछ ले अथवा एकान्तमें विचार करके उसको दृढ़ कर ले॥ ३४१ ॥

प्रश्न—संसारी व्यक्ति भी सत्संगमें चले जाते हैं और साधक भी सत्संगमें नहीं जाते, प्रत्युत घरमें रहकर भजन करते हैं, इसका क्या कारण है?

उत्तर—संसारी व्यक्तिको भी सत्संग मिलता है तो यह भगवान्की कृपा है और साधक भी सत्संग नहीं करता तो यह उसकी लगनकी कमी है। परन्तु सत्संग मिलनेपर भी संसारी व्यक्ति सत्संगसे विशेष लाभ नहीं उठा सकता और साधक यदि सत्संग करे तो विशेष लाभ उठा सकता है। कारण कि साधन करना खुद कमाकर धनी बनना है और सत्संग करना धनीकी गोद जाना है। गोद जानेसे कमाया हुआ धन मिलता है!॥ ३४२ ॥

प्रश्न—सत्संग करनेसे किसीका तो जीवन बदल जाता है, किसीका नहीं बदलता, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—एक सुदुराचारी होता है और एक दुर्दुराचारी होता है। सुदुराचारीपर तो सत्संगका असर पड़ता है, पर दुर्दुराचारीपर सत्संगका असर नहीं पड़ता—‘**पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥**’ (मानस, सुन्दर० ४४। २)।

ये चार लक्षण जिसमें हों, उसपर सत्संगका असर नहीं पड़ता—(१) अभिमान, (२)दूसरेकी बात न सह सकना, (३) अज्ञता और (४) कुतर्क। ऐसे व्यक्तिके सुधारका एक ही उपाय है—आफत! जब आफत आयेगी, तभी उसको चेत होगा—‘**मूर्खाणां औषधं दण्डः**’॥ ३४३ ॥

प्रश्न—सत्संगकी महिमा वैकुण्ठकी प्राप्तिसे भी अधिक क्यों कही गयी है?

उत्तर—सत्संग वैकुण्ठकी प्राप्ति करानेवाला है। प्राप्य वस्तुकी अपेक्षा प्रापककी विशेष महिमा होती है। सत्संगमें उनको भी लाभ मिलता है, जो वैकुण्ठमें नहीं गये। वैकुण्ठकी प्राप्ति होनेसे सत्संग (सन्त-समागम) मिल जाय—यह नियम नहीं है, पर सत्संग मिलनेसे वैकुण्ठकी प्राप्ति हो ही जाती है॥ ३४४ ॥

प्रश्न—कुछ व्यक्ति सत्संग करते-करते उसे छोड़ देते हैं तो इसमें क्या प्रारब्ध कारण है?

उत्तर—प्रारब्ध कारण नहीं है। इसमें दो कारण हैं—जिसका सत्संग करते हैं, उसमें अवगुण देखना और कुसंग करना। अपने भीतर कमी (कुसंस्कार)

होती है, तभी कुसंगका असर पड़ता है। जैसे, जिसके भीतर स्त्रीकी आसक्ति है, उसीपर स्त्रीके संगका असर पड़ता है। जिसके भीतर धनकी आसक्ति है, उसीपर धन और धनीका असर पड़ता है।

जिसका सत्संग करते हैं, उसमें अवगुण देखनेपर भी लोक-लाजके भयसे सम्बन्ध बनाये रखना ठीक नहीं है। इससे लाभ नहीं होता। अत: ऐसी अवस्थामें उनकी निन्दा न करके चुपचाप अलग हो जाना चाहिये। फिर किसीसे सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये॥ ३४५॥

प्रश्न—मनुष्यपर प्राय: सत्संगका असर तो कम पड़ता है, पर कुसंगका असर ज्यादा पड़ता है, इसका क्या कारण है?

उत्तर—जिसके भीतर कुसंगके संस्कार हैं, उसपर कुसंगका असर ज्यादा पड़ता है और जिसके भीतर सत्संगके संस्कार हैं, उसपर सत्संगका असर ज्यादा पड़ता है। कारण कि सजातीयता (समान जाति)-में ही खिंचाव होता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि सत्संग, सत्-शास्त्र आदिके द्वारा अपने भीतर अच्छे संस्कारोंको भरे॥ ३४६॥

प्रश्न—सत्संग कैसे सुनें कि फिर उसे भूलें नहीं?

उत्तर—(१) वक्ता क्या सुनाता है और क्या सुनाना चाहता है—इसपर गहरा विचार करें (२) सुननेके साथ-साथ उसपर मनन करते जाना चाहिये, जिससे बादमें हम दूसरोंको भी सुना सकें (३) जो सुना है, उसको काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये (४)सत्संग सुननेवालोंको आपसमें बैठकर सुने हुए सत्संगकी चर्चा करनी चाहिये॥ ३४७॥

साधक

प्रश्न—साधकका कर्तव्य क्या है?

उत्तर—साधकका कर्तव्य है—साध्यसे प्रेम करना और असाधनका त्याग करना। चाह-रहित होना साधन है और किसीसे कुछ भी चाहना असाधन है॥ ३४८॥

प्रश्न—साधक अपनी लगन (भूख) कैसे बढ़ाये?

उत्तर—लगन विचारसे बढ़ती है। विचार करना चाहिये कि नाशवान् पदार्थोंके साथ हम कबतक रहेंगे? ये वस्तुएँ और व्यक्ति हमारे साथ कबतक रहेंगे? इसी चालसे साधन चलेगा तो सिद्धि कब होगी? अबतक जितने समयमें जितना लाभ हुआ है, उसी गतिसे साधन करनेपर और कितना समय लगेगा? आगे जीवनका क्या भरोसा है? आदि-आदि॥ ३४९॥

प्रश्न—साधकको विशेष ध्यान किसपर देना चाहिये, असाधनको हटानेपर अथवा जप, ध्यान आदि साधन करनेपर?

उत्तर—असाधनको हटानेपर विशेष ध्यान देना चाहिये। असाधन है—नाशवान्‌का सम्बन्ध। जप,ध्यान आदि साधन करनेसे साधक सन्तोष कर लेता है कि मैंने इतना जप कर लिया, इतना ध्यान कर लिया, आदि। यह सन्तोष साधकके लिये बाधक होता है॥ ३५०॥

प्रश्न—सज्जन और साधकमें क्या अन्तर है?

उत्तर—जिसमें दैवी-सम्पत्तिके गुण हैं, जिसके आचरण और विचार अच्छे हैं, वह 'सज्जन' है। जिसमें कल्याणकी तीव्र उत्कण्ठा है, जिसका परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य है, वह 'साधक' है। साधक तो सज्जन होता ही है, पर सज्जन साधक नहीं होता।

सज्जन लौकिक अहंकारवाला होता है और साधक पारमार्थिक अहंकारवाला होता है। जो दूसरे मत, सम्प्रदाय आदिकी निन्दा या खण्डन करता है, वह सज्जन तो हो सकता है, पर साधक नहीं हो सकता॥ ३५१॥

प्रश्न—ज्ञानमार्गी योगभ्रष्ट होता है कि नहीं?

उत्तर—जिस प्रणालीमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन,

ध्यान आदि है, उस प्रणालीसे चलनेवाले ज्ञानयोगीके योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। परन्तु विवेककी प्रधानतासे चलनेवाले ज्ञानयोगीके योगभ्रष्ट होनेकी कम सम्भावना रहती है॥ ३५२॥

प्रश्न—क्या साधक द्रष्टा-भावसे भी रहित हो सकता है?

उत्तर—हाँ, हो सकता है। यदि न हो सके तो द्रष्टा-भाव स्वतः नष्ट हो जायगा। भागवतमें आया है—'**परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः**' (११। २९। १८) 'सब प्रकारसे संशयरहित होकर सर्वत्र परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय'। उपराम होनेसे द्रष्टा नहीं रहेगा, प्रत्युत केवल परमात्मा रह जायँगे। परमात्मामें द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—यह त्रिपुटी नहीं है। दृश्य होनेसे द्रष्टा होता है, दृश्य नहीं तो द्रष्टा कैसे?॥ ३५३॥

प्रश्न—पारमार्थिक मार्गपर चलनेवालेपर अधिक दुःख क्यों आता है?

उत्तर—ऐसा नियम नहीं है। वास्तवमें उनपर अधिक दुःख नहीं आता, पर सुखकी तरफ वृत्ति होनेसे लोगोंको ज्यादा दुःख दीखता है। साधकपर दुःखका असर नहीं पड़ता अर्थात् वह दुःखी नहीं होता। इसलिये दुःखदायी परिस्थिति आनेपर भी वह पारमार्थिक मार्गको छोड़ता नहीं।

एक सन्तसे किसीने कहा कि रामजीने सीताका त्याग करके उनको बहुत दुःख दिया, तो वे सन्त बोले कि यह बात सीताजीसे पूछो तो पता लगे! सीताजी दुःख मानती ही नहीं! उनकी रामजीपर दोषदृष्टि होती ही नहीं॥ ३५४॥

साधन

प्रश्न—मनुष्यजीवनमें साधनका आरम्भ कबसे होता है?

उत्तर—जब मनुष्य संसारसे संतप्त हो जाता है और विचार करता है, तब साधन आरम्भ होता है। तात्पर्य है कि जब मनुष्यको संसारसे सुख नहीं मिलता, शान्ति नहीं मिलती, तब वह संसारसे निराश हो जाता है। उसके भीतर उथल-पुथल मचती है और यह विचार होता है कि मुझे वह सुख चाहिये, जिसमें दुःख न हो। वह जीवन चाहिये, जिसमें मृत्यु न हो। वह पद चाहिये, जिसमें पतन न हो। मैं नित्य सुखके बिना नहीं रह सकता। ऐसा विचार होनेपर वह साधनमें लग जाता है॥ ३५५॥

प्रश्न—हमारा साधन आगे बढ़ रहा है या नहीं, इसकी पहचान कैसे करें?

उत्तर—जितना संसारमें आकर्षण कम हुआ है और भगवान्‌में आकर्षण अधिक हुआ है, उतना ही हम साधनमें आगे बढ़े हैं। साधनमें आगे बढ़नेपर व्यवहारमें राग-द्वेष कम होते हैं। चित्तमें शान्ति, प्रसन्नता रहती है। सांसारिक लाभ-हानिमें हर्ष-शोक कम होते हैं॥ ३५६॥

प्रश्न—कुछ लोग कहते हैं कि भजन, सत्संग आदि तो वे करें, जो पाप करते हैं। हम पाप करते ही नहीं, फिर भजन क्यों करें? मन साफ होना चाहिये—'मन चंगा तो कठौती में गंगा', पाठ-पूजा करनेसे क्या लाभ?

उत्तर—उनको यह कहना चाहिये कि सम्पूर्ण पापोंका मूल 'कामना' तो आपके भीतर है ही—'**काम एष क्रोध एषः**' (गीता ३। ३७), फिर आप पापोंसे रहित कैसे हुए? भोग भोगना और संग्रह करना असली पाप है। इन दोनोंके सिवाय आप क्या करते हो? सिवाय कामनाके और मनमें क्या है? कामना मनमें है तो फिर मन चंगा कैसे? जो पाठ-पूजन, सन्ध्या-वन्दन आदि कुछ नहीं करता, उसमें और पशुओंमें फर्क क्या हुआ? पशु मुँह भी नहीं धोते!

अशुद्धि रोज आती है। इसलिये रोज शौच-स्नान

करना पड़ता है। रोज बर्तन माँजने पड़ते हैं। मनुष्य प्रतिदिन जो क्रियाएँ करता है, उनसे दोष आता ही है—'**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः**' (गीता १८। ४८)। इस दोषकी शुद्धिके लिये प्रतिदिन पाठ-पूजा, भजन-ध्यान आदि करना आवश्यक है।

मन साफ होना चाहिये, पूजा-पाठ करनेसे क्या लाभ—ऐसी बातें तभी पैदा होती हैं, जब मन मैला होता है। अगर मन साफ हो तो शास्त्रविरुद्ध कार्य हो ही नहीं सकता। अगर मनमें शास्त्रविरुद्ध बात पैदा होती है तो यह मनकी मलिनताका प्रमाण है॥ ३५७॥

प्रश्न—जप, ध्यान आदि साधन स्वयंतक तो पहुँचते नहीं,फिर उनको करनेकी सार्थकता क्या है?

उत्तर—जप, ध्यान आदिसे विवेकका विकास होता है, भगवान्‌की सम्मुखता होती है, अन्तःकरणमें पारमार्थिक रुचि पैदा होती है और संसारका महत्त्व कम होता है। ऐसा होनेपर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और भगवान्‌में प्रेम हो जाता है।॥ ३५८॥

प्रश्न—भजन करना क्या है?

उत्तर—भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे जो जप, चिन्तन, स्वाध्याय, विचार आदि किया जाय—यह 'भजन' है। भगवान्‌में प्रियता होना, भगवान्‌के सम्मुख होना भी भजन है और संसारसे विमुख होना भी भजन है। केवल क्रियासे भजन नहीं होता, प्रत्युत उसमें भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे भजन होता है॥ ३५९॥

प्रश्न—साधनका स्वरूप क्या है?

उत्तर—साधनका स्वरूप है—परमात्माकी प्राप्तिमें तत्परता॥ ३६०॥

प्रश्न—असाधन क्या है?

उत्तर—जो मिला है और बिछुड़ जायगा, उसको अपना मानना और जो मिलने-बिछुड़नेवाला नहीं है, उसको अपना न मानना असाधन है॥ ३६१॥

प्रश्न—साधनजन्य सात्त्विक सुखका भोग करना क्या है?,

उत्तर—उसमें सन्तोष करना। पारमार्थिक उन्नति तो सहायक है,पर उस उन्नतिमें सन्तोष करना बाधक है। सन्तोष करनेसे साधन आगे नहीं बढ़ता, उसमें रुकावट आ जाती है॥ ३६२॥

प्रश्न—चेतनने भूलसे जड़के साथ तादात्म्य किया है तो इस भूलको मिटानेकी जो साधना होगी, वह भी चेतनको ही करनी पड़ेगी। जब चेतन साधन करेगा तो फिर वह अकर्ता कैसे माना जायगा?

उत्तर—भूल (अज्ञान)अनादि है, चेतनने भूल की नहीं है। साधनका कर्ता वही है, जो 'अहंकारविमूढात्मा' है* अर्थात् जिसने शरीरसे तादात्म्य कर रखा है। वास्तवमें भूल किसी साधनसे नहीं मिटती। मानी हुई भूल न माननेसे मिट जाती है॥ ३६३॥

प्रश्न—कई जगह ऐसा देखा जाता है कि कोई व्यक्ति पहले तो खूब भजन, नामजप आदि करता था, पर बादमें उसने सब छोड़ दिया—इसका क्या कारण है?

उत्तर—इसका कारण है—कामना। जैसा चाहते हैं, वैसा होता नहीं, तब भजन करना छोड़ देते हैं। कारण कि कामनावाले व्यक्तिके लिये भगवान् साध्य नहीं हैं, प्रत्युत केवल कामनापूर्तिका साधन हैं। इसलिये गीताने कामनाके त्यागपर विशेष जोर दिया है। ऐसे व्यक्तिको भक्तोंकी कथाएँ सुनानी चाहिये॥ ३६४॥

प्रश्न—कोई मनुष्य यह निर्णय न कर सके कि मैं किसको इष्ट मानूँ, कौन-सा साधन करूँ, तो वह क्या करे?

उत्तर—अपना आग्रह छोड़कर रात-दिन नामजप करना शुरू कर दे। इसमें कुछ देरी तो लगेगी, पर मार्ग मिल जायगा॥ ३६५॥

प्रश्न—लोगोंकी प्रायः यह दुविधा रहती है कि महिमा सुन-सुनकर वे अनेक देवी-देवताओंकी उपासना शुरू कर देते हैं, पर बादमें उसको छोड़ना चाहते हुए भी इस डरसे नहीं छोड़ पाते कि कोई

* अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (गीता ३। २७)

देवता नाराज न हो जाय, कोई नुकसान न हो जाय! ऐसी स्थितिमें उन्हें क्या करना चाहिये?

उत्तर—उपासना छोड़नेसे देवी-देवता नाराज नहीं होते; क्योंकि उनमें हमारी तरह राग-द्वेष नहीं होते। इसका कारण यह है कि मूलमें उपास्य-तत्त्व एक ही है। जैसे शरीरके अंग अनेक होनेपर भी शरीर एक है, ऐसे ही अनेक देवी-देवता होनेपर भी तत्त्व एक ही है।

साधकका उपास्य-देव एक ही होना चाहिये। अनेक उपास्य-देव होनेसे एक निष्ठा नहीं होगी और एक निष्ठा न होनेसे सिद्धि नहीं मिलेगी॥ ३६६॥

प्रश्न—सन्तोंसे दो प्रकारकी बात सुननेको मिलती है—पहली, अपने कल्याणका उद्देश्य रखकर साधनमें लग जाय और दूसरी, सब साधन दूसरेके कल्याणके लिये ही करे। दोनों बातोंका सामञ्जस्य कैसे बैठेगा?

उत्तर—ये दो भेद साधकके स्वभावके अनुसार हैं। खास बात है—कल्याणके उद्देश्यसे खुद भी लगे और दूसरोंको भी लगाये—'**स्मरन्तः स्मारयन्तश्च**' (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१)॥ ३६७॥

प्रश्न—विवाह आदि होनेपर जैसे सांसारिक सम्बन्धकी स्वीकृति सुगमतासे हो जाती है, ऐसे भगवत्सम्बन्धकी स्वीकृति सुगमतासे क्यों नहीं होती?

उत्तर—इसका कारण है कि हमने अपनेको शरीर मान रखा है। यदि अपनेको शरीर नहीं मानते तो भगवत्सम्बन्धकी स्वीकृति भी सुगमतासे हो जाती॥ ३६८॥

प्रश्न—हम साधन करते हैं, फिर जल्दी सफलता क्यों नहीं मिल रही है?

उत्तर—जल्दी सफलता चाहना भी भोग है। हमें तो बस, साधन करते रहना है। जल्दी सफलता मिल जाय—इस तरफ ध्यान ही नहीं देना है। जल्दी सिद्धि प्राप्त करके पीछे करेंगे क्या? काम तो यही करेंगे॥ ३६९॥

सुख-दुःख

प्रश्न—सुख-दुःखका अनुभव स्वयं करता है। दुःखका कारण अज्ञान है। तो फिर यह अज्ञान स्वयंमें है या कारणशरीरमें?

उत्तर—स्वयं सुख-दुःखका अनुभव नहीं करता, प्रत्युत सुखी-दुःखी हो जाता है। अज्ञान कारणशरीरमें है, पर स्वयं उससे तादात्म्य कर लेता है, घुल-मिल जाता है और सुखी-दुःखी हो जाता है।

शरीरके साथ एकता मान ली—यही अज्ञान है। इस अज्ञानके कारण ही शरीरमें होनेवाले परिवर्तनको अपनेमें मान लेते हैं अर्थात् अनुकूलतासे एक होकर सुखी और प्रतिकूलतासे एक होकर दुःखी हो जाते हैं। वास्तवमें स्वयं सुखी-दुःखी भी होता नहीं, प्रत्युत सुखी-दुःखी मान लेता है।

सुख-दुःख आते-जाते हैं, पर स्वयं आता-जाता नहीं। सुख-दुःख नहीं रहते,पर स्वयं रहता है। अतः स्वयं सुख-दुःखसे अलग है। सुख-दुःखके आने-जानेका और स्वयंके रहनेका अनुभव सबको है॥ ३७०॥

प्रश्न—फिर हम सुख-दुःखसे मिल क्यों जाते हैं?

उत्तर—मैं अलग हूँ और सुख-दुःख अलग हैं—इसका हम आदर नहीं करते, इसको महत्त्व नहीं देते। हम सुख-दुःखके आनेको, उनके स्वरूपको और उनके जानेको जानते हैं—यह विवेक है। इस विवेकपर हम कायम नहीं रहते—यह गलती है॥ ३७१॥

प्रश्न—विवेकपर कायम रहनेमें असमर्थता क्यों प्रतीत होती है?

उत्तर—हमने सुखके भोगको और दुःखके भयको पकड़ लिया, इसलिये असमर्थता दीखती है। परन्तु सुखका भोग और दुःखका भय रहनेवाला नहीं है, जबकि हम रहनेवाले हैं—इस अनुभवको महत्त्व देना

चाहिये। सुखके लालच और दु:खके भयको महत्त्व नहीं देना चाहिये, प्रत्युत उनकी उपेक्षा करनी चाहिये, उनसे तटस्थ रहना चाहिये, उनसे घुलना-मिलना नहीं चाहिये। फिर असमर्थता नहीं रहेगी॥ ३७२॥

प्रश्न—सुख-दु:खका रहना सिद्ध नहीं होता—यह तो ठीक है, पर आना कैसे सिद्ध नहीं होता; क्योंकि वह आता हुआ दीखता है?

उत्तर—वह तो बहता है, आना हमने मान लिया! वह बहता है—यह कहना भी तभी है, जब हम उसकी सत्ता मानते हैं। सत्ता न मानें तो वह है ही नहीं! उसके आने-जानेकी मान्यता स्वयंने की है। इस मान्यताका कारण है—विवेककी कमी, अज्ञान, बेसमझी, मूर्खता॥ ३७३॥

प्रश्न—एक बात है कि सुखके भोगीको दु:ख भोगना ही पड़ता है और दूसरी बात है कि दु:खका कारण भोग नहीं है, प्रत्युत भोगकी इच्छा है—दोनों बातोंका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—सुखभोगके संस्कार सुखभोगकी इच्छा पैदा करते हैं। रागपूर्वक भोग भोगनेसे भोगोंका प्रबल संस्कार पड़ता है, जो अन्त:करणमें भोगोंका महत्त्व अंकित करता है और पुन:भोगोंमें प्रवृत्त करता है। भोगोंका महत्त्व अंकित होनेसे 'सुखका कारण भोग है'—ऐसा भाव पैदा होता है, जिससे हम सुखभोगके बिना नहीं रह पाते।

भोग दुर्गतिका कारण है और भोगोंकी इच्छा दु:खका कारण है॥ ३७४॥

प्रश्न—सुख मिलेगा, तभी दु:ख मिटेगा। सुख मिले बिना दु:ख कैसे मिटेगा?

उत्तर—दु:खसे बचनेका उपाय सुख नहीं है, प्रत्युत त्याग है। इसी तरह रुपयोंका अभाव भी कभी रुपयोंसे नहीं मिट सकता—यह नियम है। रुपयोंके अभावको हम रुपयोंसे मिटा लेंगे—इसके समान कोई मूर्खता नहीं है। ज्यों-ज्यों रुपये मिलते हैं, त्यों-त्यों अभाव बढ़ता है—'**जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई**'॥ ३७५॥

प्रश्न—कई व्यक्ति तो दु:ख आनेपर अधिक भजन करते हैं, पर कई दु:ख आनेपर भजन छोड़ देते हैं, इसका कारण?

उत्तर—जो भजनके लिये भजन करता है, उसका भजन दु:ख आनेपर भी नहीं छूटता। परन्तु जो सुखकी कामनासे (सकामभावसे) भजन करता है, उसका भजन दु:ख आनेपर छूट जाता है। तात्पर्य है कि 'भजन करनेसे सुख मिलेगा'—यह प्रलोभन ज्यादा होनेसे दु:ख आनेपर भजन छूट जाता है। इसीलिये कामना-त्यागकी बात कही जाती है॥ ३७६॥

प्रश्न—दु:खका असर न पड़े, इसके लिये क्या करें?

उत्तर—दु:खका असर अपनेमें पड़ता ही नहीं; क्योंकि दु:ख तो आता-जाता है, पर हम ज्यों-के-त्यों रहते हैं। हम जबर्दस्ती दु:खके असरको स्वीकार कर लेते हैं॥ ३७७॥

सुखासक्ति

प्रश्न—सुखासक्तिका त्याग कैसे करें?

उत्तर—मनुष्यशरीर सुख भोगनेके लिये नहीं है, प्रत्युत सुख पहुँचानेके लिये है। स्वार्थभावका त्याग करके दूसरोंको सुख पहुँचानेसे अपनी सुखासक्तिका त्याग हो जाता है। अपने विवेकका आदर करनेसे भी सुखासक्तिका त्याग हो जाता है। अगर रोकर भगवान्‌से प्रार्थना करें, '**हे मेरे नाथ! हे मेरे प्रभो!**' कहकर भगवान्‌को पुकारें तो भगवान्‌की कृपासे सुखासक्तिका नाश हो जाता है। परन्तु ये उपाय तब काम आयेंगे, जब हम सच्चे हृदयसे सुखलोलुपताको छोड़ना

चाहेंगे॥ ३७८॥

प्रश्न—आसक्तिका नाश करनेके लिये 'नासतो विद्यते भावः' (असत्‌की सत्ता ही नहीं है) भाव बढ़िया है या 'वासुदेवः सर्वम्' (सब कुछ भगवान् ही हैं) भाव बढ़िया है?

उत्तर—जिसकी संसारमें अधिक आसक्ति है, उसके लिये '**नासतो विद्यते भावः**'—यह भाव ठीक बैठेगा, और जिसकी कम आसक्ति है, उसके लिये '**वासुदेवः सर्वम्**'—यह भाव ठीक बैठेगा। वास्तवमें दोनों भाव एक ही हैं। दोनोंमें कोई एक होनेपर दोनों सिद्ध हो जायँगे।

जिसके भीतर साँपका भय अधिक है, उसके लिये कहना पड़ता है कि 'साँप नहीं है, रस्सी है'। परन्तु जिसमें भय नहीं है, उसके लिये 'रस्सी है'—यह कहना ही पर्याप्त है। तात्पर्य है कि ज्यादा आसक्ति- वालेके लिये निषेध मुख्य है॥ ३७९॥

प्रश्न—महान् सुख मिले बिना अल्प सुखकी आसक्तिका त्याग कैसे होगा?

उत्तर—इसका उपाय है कि पारमार्थिक विषयमें थोड़ा भी सुख मिले तो उसका आदर करे, उसपर विश्वास करे। जैसे सत्संग, कथा-कीर्तन आदिमें एक सुख मिलता है, जबकि वहाँ कोई भोग-पदार्थ नहीं होता, पर हम उसका आदर नहीं करते। अगर पारमार्थिक विषयमें थोड़ा भी सुख मिले और उसपर हम विश्वास करते रहें तथा सांसारिक सुखका विश्वास छोड़ते जायँ तो महान् सुखका अनुभव हो जायगा।

वास्तवमें हमें न अल्प सुख लेना है, न महान् सुख लेना है! लेना कुछ है ही नहीं!॥ ३८०॥

प्रश्न—यह नियम है कि सुखका भोगी दुःखसे नहीं बच सकता। किसीने मिठाई खायी और उसको स्वादका, सुखका अनुभव हुआ तो अब उसको दुःख क्या होगा?

उत्तर—स्वाद आना और सुख लेना—दोनों अलग-अलग चीजें हैं। स्वाद आना उतना दोष नहीं; जितना सुख लेना दोष है। सुख लेनेका तात्पर्य है कि उस वस्तुका महत्त्व हृदयमें अंकित हो जाय। महत्त्व अंकित होनेसे उस वस्तुमें राग, आसक्ति हो जाती है। फिर जब वह वस्तु नहीं मिलेगी या छिन जायगी, तब दुःख होगा। अतः स्वादका, सुखका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत राग होना दोषी है॥ ३८१॥

प्रश्न—जब चेतन (स्वयं)-का संसारसे सम्बन्ध है ही नहीं तो फिर सम्बन्धजन्य सुख कैसे होता है?

उत्तर—सम्बन्धजन्य सुख वास्तवमें सुख नहीं है, प्रत्युत मान्यताका सुख है। जैसे रुपये बैंकमें पड़े हैं, पर उनसे सम्बन्ध जोड़नेसे एक सुख होता है कि मैं धनी हूँ तो यह सुख केवल माना हुआ है॥ ३८२॥

प्रश्न—भोजनमें किसी पदार्थकी रुचि होना अथवा अरुचि होना दोषी है या नहीं?

उत्तर—भोजनमें रुचि अथवा अरुचि शरीरकी स्वाभाविक आवश्यकताको लेकर भी होती है और सुखबुद्धिको लेकर भी होती है। परन्तु दोनोंका विश्लेषण करना बड़ा कठिन है। पदार्थमें रुचि है अथवा सुखबुद्धि है—इसका विश्लेषण वीतराग महापुरुष ही कर सकता है। कारण कि संसारका ज्ञान संसारसे अलग होनेपर ही होता है। भोगबुद्धि न हो तो रुचि अथवा अरुचिका होना दोषी नहीं है॥ ३८३॥

प्रश्न—भोगोंके पुराने संस्कार पुनः भोगोंमें लगाते हैं, ऐसी स्थितिमें साधक क्या करे?

उत्तर—पुराने संस्कार इतने बाधक नहीं हैं, जितनी सुखलोलुपता बाधक है। सुखलोलुपता होनेसे ही संस्कार बाधक होते हैं। हम पुराने संस्कारोंसे सुख तो लेते हैं और चाहते हैं कि संस्कार न आयें, तभी संस्कार हमें बाध्य करते हैं। अगर उनसे सुख न लें तो संस्कार मिट जायँगे, बाध्य नहीं करेंगे। कारण कि वास्तवमें संस्कारकी सत्ता ही नहीं है। उसको हम ही सत्ता देते हैं—भोगके समय भी हम ही भोगको सत्ता देते हैं। भोगोंसे सुख लेते हैं—इसीपर भोग टिके हैं। सुख न लें तो भोग हो ही नहीं सकता। सुख न लें तो बिना मिटाये भोगका संस्कार स्वतः कमजोर पड़ जायगा। सुख लेनेसे पुराना संस्कार (नया भोग

भोगनेके समान) नया होता रहता है।

पुराने संस्कार आयें तो साधक उनकी उपेक्षा कर दे, न विरोध करे, न अनुमोदन करे। असत्‌का संस्कार भी असत् ही होता है। असत्‌की सत्ता है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)॥ ३८४॥

प्रश्न—निषिद्ध भोगकी आसक्तिसे कैसे छूटा जाय?

उत्तर—निषिद्ध भोगकी आसक्ति खराब स्वभावके कारण होती है। स्वभाव सुधरता है—सत्संग, सद्विचार, सच्छास्त्रके द्वारा विवेक जाग्रत् होनेपर अथवा भगवान्‌के शरणागत होनेपर।

याद करनेसे पुराना भोग नया होता रहता है। याद करनेसे नया भोग भोगनेकी तरह ही अनर्थ होता है। कोई भोग भोगे साठ वर्ष हो गये, पर आज उसको याद किया तो आज नया भोग हो गया! मनुष्य पुराने भोगको याद करके उसको नया करता रहता है, इसीलिये उसकी आसक्ति मिटती नहीं। इसलिये अगर पुराना भोग याद आ जाय तो उसमें रस (सुख) न ले। रस लेनेसे वह नया हो जाता है, उसको सत्ता मिल जाती है॥ ३८५॥

सेवा

प्रश्न—सेवाका मूल क्या है?

उत्तर—किसीको भी दुःख न पहुँचाना, किसीका भी अहित न करना॥ ३८६॥

प्रश्न—देशकी सेवा बड़ी है या माता-पिताकी सेवा?

उत्तर—माता-पिताकी सेवा एक नम्बरमें है और देशकी सेवा दो नम्बरमें। कारण कि हमें माता-पिताने शरीर दिया है, उसका पालन पोषण किया है, पढ़ा-लिखाकर योग्य बनाया है, इसलिये उनका हमारेपर ऋण है। पहले ऋण चुकाना चाहिये, फिर देशसेवा, दान आदि करना चाहिये। ऋण चुकाये बिना दान आदि करनेका अधिकार ही नहीं है॥ ३८७॥

प्रश्न—जैसे हमें जो कुछ मिलता है, वह प्रारब्धके अधीन होता है, ऐसे ही दूसरे व्यक्तिको भी जो कुछ मिलेगा, वह भी प्रारब्धके अधीन होगा, फिर हम दूसरेकी सेवा क्यों करें?

उत्तर—यह बात ठीक है कि दूसरे व्यक्तिको वही मिलेगा, जो उसके प्रारब्धमें होगा। परन्तु हमें उसकी तरफ न देखकर अपने कर्तव्यका पालन करना है। कर्तव्यका विभाग अलग है। कर्तव्यका त्याग करनेसे दोष लगता है। अतः हमें अपने कर्तव्यका पालन (सेवा) कर देना है, चाहे उसको प्रारब्धके अनुसार मिले या न मिले। बालक बीमार होता है और माता उसकी बीमारी ठीक नहीं कर सकती तो क्या वह उसकी सेवा करना छोड़ देती है? ऐसे ही जो सज्जन पुरुष होते हैं, वे माँकी तरह कृपापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करते हैं। इससे कर्तव्यपरायणता, हितैषिता और दयालुता पैदा होती है, जो दैवी-सम्पत्तिका गुण है। दैवी-सम्पत्ति मुक्तिके लिये होती है—'**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**' (गीता १६। ५)॥ ३८८॥

प्रश्न—दूसरेपर प्रतिकूल परिस्थिति आयी है तो वह भगवान्‌के विधानसे आयी है। अतः उसकी सहायता या सेवा करना क्या भगवान्‌के विधानसे विरुद्ध कार्य करना नहीं है?

उत्तर—भगवान् पिताके समान हैं और भक्त माताके समान। अतः भगवान्‌में 'न्याय' मुख्य है और भक्तोंमें 'दया' मुख्य है, जबकि यह दया भी भगवान्‌से ही आयी है। अतः हमारा कर्तव्य उसकी सेवा करना है। जो दूसरेके दुःखसे दुःखी नहीं होता, वह स्वार्थी और अभिमानी होता है। उसका अन्तःकरण कठोर होता है। वह सात्त्विक न होकर राजसी-तामसी होता है।

एक बार चमारोंकी बस्तीमें आग लग गयी और उनके घर जलकर नष्ट हो गये। सेठजी (श्रीजयदयालजी

गोयन्दका)-ने उनके नये घर बनवा दिये। दुबारा आग लग गयी और वे घर पुनः नष्ट हो गये। सेठजीने पुनः घर बनानेके लिये कहा। लोगोंने कहा कि दुबारा आग लगनेसे मालूम होता है कि भगवान्‌की मरजी नहीं है, वे घर जलाना चाहते हैं। सेठजीने उत्तर दिया कि भगवान्‌का काम जलानेका है और हमारा काम बनानेका है। सेठजीने पुनः उनके घर बनवाये॥ ३८९॥

प्रश्न—सेवाधर्मको कठोर क्यों कहा गया है—'सब तें सेवक धरमु कठोरा' (मानस, अयोध्या० २०३। ४)?

उत्तर—सुख-आराममें आसक्ति होनेसे ही सेवा कठिन दीखती है—**'सेवक सुख चह मान भिखारी'** (मानस, अरण्य० १७।८)। अपने सुख-आरामका त्याग करें तो सेवा कठिन नहीं है; क्योंकि सेवा करनेकी सब सामग्री संसारकी ही है, अपनी नहीं। उस सामग्रीको अपने सुखमें लगानेसे सेवा नहीं होती॥ ३९०॥

प्रश्न—दुःखीको देखकर करुणित होना उसकी सेवा है, कैसे?

उत्तर—करुणित होनेसे भगवान् उसपर कृपा करते हैं और अपना अन्तःकरण भी निर्मल होता है। सुखीको देखकर प्रसन्न होना भी सेवा है, जिससे अपना अन्तःकरण शुद्ध होता है। दूसरेके सुख-दुःखका असर न पड़नेसे अन्तःकरण अशुद्ध एवं कठोर होता है॥ ३९१॥

प्रश्न—जड़को जड़की सेवामें लगा देनेसे जड़का प्रवाह जड़की ओर हो जायगा और चेतन असंग होकर मुक्त हो जायगा—यह कर्मयोगकी बात समझमें नहीं आयी; क्योंकि वास्तवमें जड़की सेवा नहीं होती, प्रत्युत चेतनकी सेवा होती है। जैसे, सचेतन शरीरके मुखमें अन्न-जल डालनेसे उसकी सेवा होती है, पर अचेतन मुर्देके मुखमें अन्न-जल डालनेसे उसकी सेवा नहीं होती!

उत्तर—वास्तवमें सेवा जड़के द्वारा ही होती है और जड़तक ही पहुँचती है। कारण कि क्रिया और उसका फल (पदार्थ)—दोनों ही आदि-अन्तवाले होनेसे जड़में ही रहते हैं, चेतनतक पहुँचते ही नहीं। परन्तु चेतनने शरीर (जड़)-से तादात्म्य किया है, उससे अपना सम्बन्ध माना है, इसलिये शरीरकी सेवा चेतन (शरीरके मालिक)-की मानी जाती है। ज्ञानयोगमें भी जड़ मन-बुद्धिके द्वारा ही जड़का त्याग किया जाता है—**'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** (गीता ३। २८)॥ ३९२॥

प्रश्न—धनादि पदार्थोंसे लेकर बुद्धिपर्यन्त सब जड़ पदार्थ सेवाके करण (साधन) हैं। इन करणोंसे सेवा करनेवाला चेतन ही हो सकता है, जड़ कैसे होगा?

उत्तर—जिसने शरीरसे अपना सम्बन्ध माना है, वही कर्ता होता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)। तात्पर्य है कि अहंकारविमूढात्मा ही कर्ता होता है, वही सेवा करता है॥ ३९३॥

प्रश्न—सेवक सेवा होकर सेव्यमें लीन हो जाता है—इसमें 'सेवा' होना क्या है?

उत्तर—सेवाका अभिमान अर्थात् सेवकपना न रहना ही 'सेवा' होना है॥ ३९४॥

प्रश्न—सेवा करनेपर अभिमान न आये, इसका क्या उपाय है?

उत्तर—किसीकी भी सेवा करें, चाहे कुत्ते और गधेकी ही क्यों न करें, उसको अपनेसे ऊँचा मानकर, भगवान् मानकर सेवा करें। फिर अभिमान नहीं आयेगा॥ ३९५॥

सृष्टि-रचना

प्रश्न—परमात्मा चेतन हैं, उनसे जड़ संसार कैसे पैदा होता है?

उत्तर—जैसे प्राणीसे नख, केश आदि निष्प्राण वस्तुएँ भी पैदा होती हैं, ऐसे ही चेतन परमात्मतत्त्वसे जड़ संसार पैदा होता है॥ ३९६॥

प्रश्न—अक्रिय तत्त्वसे क्रियाएँ कैसे पैदा होती हैं?

उत्तर—जैसे हिमालयसे नदियाँ निकलती हैं, ऐसे ही अक्रिय परमात्मतत्त्वसे सम्पूर्ण क्रियाएँ पैदा होती हैं। जैसे हिमालयमें द्रवता है, ऐसे ही निर्गुण तत्त्वमें भी एक शक्ति है, जो जगत्की सृष्टि-स्थिति-प्रलय करती है। यदि तत्त्वमें कोई शक्ति न होती तो सृष्टिकी रचना कैसे होती? उसी शक्तिसे सम्पूर्ण क्रियाएँ पैदा होती हैं। जैसे चुम्बककी शक्तिसे लोहा घूमता है, ऐसे ही सत्ताके द्वारा सब क्रियाएँ होती हैं॥ ३९७॥

प्रश्न—रज-वीर्यका संयोग होनेपर ही शरीरका निर्माण होता है, फिर अगस्त्य आदिकी उत्पत्ति केवल वीर्यसे (रजके संयोगके बिना) कैसे हुई?

उत्तर—वास्तवमें जीवकी उत्पत्तिमें वीर्य ही मुख्य है। रज तो खेत है, पर वीर्य बीज है। समर्थ पुरुषके वीर्यमें इतनी शक्ति होती है कि वह रजके बिना भी जीवको उत्पन्न कर सकता है। जैसे, कोई भी बीज जमीन (मिट्टी)-में डालनेसे ही अंकुरित होता है, पर चने केवल जलमें भिगोनेसे ही अंकुरित हो जाते हैं। समर्थ पुरुष तो अपने संकल्पमात्रसे ही सृष्टि पैदा कर सकते हैं॥ ३९८॥

प्रश्न—सृष्टि-रचनाका कार्य भगवान्के अधीन है, सन्त-महापुरुषके अधीन नहीं है—'जगद्व्यापारवर्जम्' (ब्रह्मसूत्र ४। ४। १७), फिर विश्वामित्रजीने सृष्टिकी रचना कैसे की?

उत्तर—विश्वामित्रजीने अपने तपोबलसे सृष्टिकी रचना की। तपोबलसे जो कार्य किया जाता है, वह सीमित होता है। इसलिये विश्वामित्रजीकी सृष्टि भी सीमित रही। विश्वामित्रजीका बल तपसे पैदा किया हुआ है, पर भगवान्का बल पैदा किया हुआ नहीं है, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक है। भगवान् तो युक्त योगी हैं, पर विश्वामित्रजी युञ्जानयोगी हैं॥ ३९९॥

प्रश्न—शास्त्रोंमें अनेक प्रकारसे सृष्टि-रचनाका वर्णन आता है, इसका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—इसका तात्पर्य है कि वास्तवमें संसार नहीं है, केवल परमात्मा ही हैं—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। यदि संसार सत्य होता तो एक तरहका ही वर्णन होता। तरह-तरहका वर्णन होनेसे ही यह सिद्ध होता है कि संसार है नहीं। वास्तवमें परमात्मा ही हैं, जो और तरहके होते ही नहीं। सृष्टि परमात्मासे पैदा हुई अर्थात् सबके मूलमें एक परमात्मा ही हैं—यह बात सबमें एक ही है॥ ४००॥

प्रश्न—भगवान्ने संसार क्यों बनाया?

उत्तर—जीव भोगोंको चाहता है, इसलिये भगवान्ने उसके लिये संसारको बनाया। जैसे, पिता रुपये खर्च करके भी बालकको मिट्टीका खिलौना लाकर देता है; क्योंकि बालक वही चाहता है! वास्तवमें मनुष्य-शरीर भोग भोगनेके लिये है ही नहीं—'**एहि तन कर फल बिषय न भाई**' (मानस, उत्तर० ४४। १)। भगवान्ने वस्तुएँ दी हैं दूसरोंकी सेवाके लिये, जिससे दूसरोंकी सेवा करके जीव निर्मम-निरहंकार होकर मुक्त हो जाय। भगवान् चाहते हैं कि यह संसारकी सेवा करे और मेरेसे प्रेम करे। परन्तु जीवने मिली हुई वस्तुको तो अपना मान लिया, पर देनेवाले (भगवान्)-को अपना नहीं माना,इसीलिये मिले हुए प्राणी-पदार्थोंमें ही उलझ गया!

तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्ने जीवके उद्धारके लिये ही संसार बनाया है॥ ४०१॥

प्रश्न—जगत्को ईश्वरने बनाया है या जीवने?

उत्तर—भगवान्से पैदा हुई सृष्टि वास्तवमें भगवद्रूप

ही है, पर जगद्रूपसे सृष्टि जीवकृत है। जीवने ही जगत्‌को जगद्रूप दिया है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। इसलिये जगत् न तो परमात्माकी दृष्टिमें है, न महात्माकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टिमें है। स्वार्थबुद्धिसे देखें तो जगत् है और परमार्थबुद्धिसे देखें तो परमात्मा हैं। जीवभाव अर्थात् अहम्‌के मिटनेपर जगत् नहीं मिटता, प्रत्युत जगत् भगवद्रूप हो जाता है॥ ४०२॥

स्वरूप (स्वयं)

प्रश्न—स्वरूपका बोध तत्काल कैसे हो?

उत्तर—वास्तवमें स्वरूपका बोध सबको तत्काल ही हो रहा है! जैसे—सबको यह अनुभव होता है कि 'मैं हूँ'। इसमें यदि 'मैं' को छोड़कर 'हूँ' में रहें तो स्वरूपका बोध हो जायगा; क्योंकि 'मैं' के हटते ही 'हूँ' 'है' हो जायगा। खास बाधा 'मैं' की ही है॥ ४०३॥

प्रश्न—कुछ भी करें, 'मैं' आ ही जाता है?

उत्तर—वास्तवमें 'मैं' है ही नहीं। 'मैं' आ जाता है—इस धारणासे ही 'मैं' आता है!॥ ४०४॥

प्रश्न—दूधमें घीकी तरह शरीरसे मिले हुए आत्माका अलग अनुभव कैसे हो?

उत्तर—दृष्टान्त केवल एक अंशमें घटता है, सर्वथा नहीं घटता। वास्तवमें दूध, घीकी तरह शरीरसे आत्मा मिला हुआ नहीं है*; मिल सकता ही नहीं, केवल हमने मिला हुआ मान लिया है—'**कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)। शरीर और आत्माका तादात्म्य हुआ नहीं है, प्रत्युत माना हुआ है। कुछ-न-कुछ क्रिया करनेसे ही शरीरके साथ सम्बन्ध दीखता है। कुछ भी न करें तो शरीरका क्या सम्बन्ध?

जैसे सूर्य और अंधकारका मिलन नहीं हो सकता, ऐसे ही आत्मा और शरीरका मिलन नहीं हो सकता। चेतन जड़से, सत् असत्‌से, अविनाशी नाशवान्‌से कैसे मिल सकता है? परन्तु अनादिकालके संस्कारके कारण झूठी मान्यता भी सत्यकी तरह दीखती है। यह मान्यता उद्योगसे, अभ्याससे नहीं मिटती, प्रत्युत विवेक-विचारसे मिटती है॥ ४०५॥

प्रश्न—सत्ता सर्वव्यापक है, फिर अपनेमें एकदेशीयताका अनुभव क्यों होता है?

उत्तर—एकदेशीयताका अनुभव वास्तवमें अहंकारका अनुभव है। परमात्माकी अनन्त सत्ता ही अहंकारके कारण एकदेशीय दीखती है। तात्पर्य है कि सर्वव्यापक सत्ताको मन-बुद्धिसे पकड़नेपर अथवा मन, बुद्धि और अहम्‌के संस्कार होनेसे ही एकदेशीयता दीखती है। बुद्धिका भी जो प्रकाशक है, वह अहम्‌के अधीन नहीं है। वही हमारा स्वरूप है। हमारा होनापन और परमात्माका होनापन एक ही है। वही उत्पत्तिका आधार और प्रतीतिका प्रकाशक है। प्रतीतिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। व्यवहारके समय तो मन, बुद्धि और अहम्‌की प्रतीति होती है, पर व्यवहाररहित अवस्थामें न मन है, न बुद्धि है, न अहम् है। चाहे व्यवहारकी अवस्था हो, चाहे व्यवहाररहित अवस्था हो, 'है' में क्या फर्क पड़ता है!॥ ४०६॥

प्रश्न—मन, बुद्धि और अहम्‌के संस्कार कैसे दूर हों?

उत्तर—मन, बुद्धि और अहम्‌को छेड़ो मत। उनको मत देखो, प्रत्युत एक 'है' को देखो। एकदेशीयपना मिट जाय—यह भी मत देखो। कुछ भी मत देखो, चुप हो जाओ, फिर सब स्वत: ठीक

---

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्यय: ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ (गीता १३। ३१)

'हे कुन्तीनन्दन! यह पुरुष स्वयं अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

हो जायगा। समुद्रमें बर्फके ढेले तैरते हों तो उनको न गलाना है, न रखना है। इसीको सहजावस्था कहते हैं॥ ४०७॥

प्रश्न—अपनी सत्तामें जो एकदेशीयपना दीखता है, वह कैसे छूटे?

उत्तर—एकदेशीयपना छोड़नेके लिये 'है' को पकड़ना चाहिये। वस्तुएँ अलग-अलग और एकदेशीय होती हैं, पर उन सबमें 'है' एक ही होता है। कल्पित वस्तुएँ मिट जाती हैं और 'है' रह जाता है। उस 'है' के ऊपर सब वस्तुएँ दीखती हैं; जैसे—है मनुष्य, है वस्तु आदि परन्तु वस्तुओंके ऊपर 'है' माननेसे 'है' समझमें नहीं आता; जैसे—मनुष्य है, वस्तु है आदि।

सत्ता एक ही है। वही एक सत्ता एकदेशीय होनेसे हमारा स्वरूप है और सर्वदेशीय होनेसे परमात्मा है। शरीरके सम्बन्धसे अपनी सत्ता दीखती है और संसारके सम्बन्धसे परमात्माकी सत्ता दीखती है। शरीर-संसारका सम्बन्ध न रहे तो एक ही चिन्मय सत्ता रह जाती है और शरीर-संसारकी सत्ता लुप्त हो जाती है। कारण कि शरीर-संसार असत् हैं।

स्वयं परमात्माका ही अंश है। अतः जैसे पानीका लोटा समुद्रमें मिला दें, ऐसे ही स्वयंको परमात्माके अर्पित करके चुप हो जायँ तो वह एकदेशीयता अपने-आप मिट जायगी॥ ४०८॥

प्रश्न—हमारा स्वरूप 'सहज सुखराशि' है— 'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥' (मानस,उत्तर० ११७। १)। यह सहज सुख लुप्त कैसे हुआ?

उत्तर—इसका मुख्य कारण है—अपनेको शरीर मानना। अपनेको शरीर मानना अपने विवेकका अनादर है। विवेकका आदर करनेके लिये ही भगवान्ने गीताके आरम्भमें शरीर-शरीरीका विवेचन किया है॥ ४०९॥

प्रश्न—'मैं हूँ'—इस अपने होनेपन (स्वरूप)-का अनुभव तो सबको होता है, फिर तत्त्वज्ञानीको अपने होनेपनका अनुभव कैसे होता है?

उत्तर—सबको अपने होनेपनका जो अनुभव होता है, उसमें जड़ (बुद्धि या अहम्) साथमें मिला हुआ रहता है। अतः वह वास्तवमें 'असत्का अनुभव' है। परन्तु तत्त्वज्ञानीको शुद्ध स्वरूपका अनुभव होता है, जिसके साथ जड़ मिला हुआ नहीं है॥ ४१०॥

प्रश्न—संसारपर विश्वास करना तो महान् घातक है, पर कोई अपने-आपपर विश्वास करे तो?

उत्तर—वह अपने-आपको क्या मानता है—यह देखना होगा। अगर वह अपनेको 'शरीर' मानता है तो उसका वही फल होगा, जो संसारपर विश्वास करनेका होता है। अगर वह अपनेको 'चिन्मय सत्ता' मानता है तो उसका वही फल होगा जो (ज्ञानमार्गमें) परमात्मतत्त्वपर विश्वास करनेका होता है। कारण कि शरीर तथा संसार एक हैं और स्वरूप तथा परमात्मा एक हैं॥ ४११॥

प्रश्न—हरेक व्यक्तिमें कोई-न-कोई विशेषता रहती ही है। फिर दूसरेकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता देखनेसे बन्धन कैसे?

उत्तर—विशेषता व्यक्तियोंमें है, अपनेमें अर्थात् स्वरूपमें नहीं। व्यक्ति-भेद तो रहेगा ही, पर स्वरूपभेद होता ही नहीं। व्यक्तित्व रहनेसे अर्थात् जड़, नाशवान् शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे ही अपनेमें विशेषता दीखती है। अपनेमें विशेषता देखनेसे व्यक्तित्व पुष्ट होता है। अतः जबतक अपनेमें दूसरेकी अपेक्षा विशेषता दीखती है, तबतक बन्धन है॥ ४१२॥

प्रश्न—स्वरूपमें भी विशेषता तो है ही, फिर स्वरूपमें विशेषता नहीं—ऐसा कहनेका तात्पर्य?

उत्तर—स्वरूपकी विशेषता निरपेक्ष है, सापेक्ष नहीं। यह विशेषता स्वतन्त्र है। स्वरूपकी विशेषता व्यक्तिमें नहीं आ सकती और व्यक्तिकी विशेषता स्वरूपमें नहीं आ सकती। विशेषता देखते ही प्रकृतिकी सत्ता आती है; क्योंकि प्रकृतिके बिना विशेषता आ नहीं सकती। अतः वास्तवमें स्वरूपमें विशेषता नहीं है, प्रत्युत स्वरूप ही विशेष है! सूर्यमें प्रकाश नहीं है, प्रत्युत सूर्य प्रकाशस्वरूप ही है॥ ४१३॥

समाज-सुधार

प्रश्न—समाज-सुधारका उपाय क्या है?

उत्तर—अपने सुधारसे स्वतः समाज-सुधार होता है; क्योंकि व्यक्ति भी समाजका ही अंग है। व्यक्तिगत जीवन तो ठीक न हो, पर बातें बढ़िया कहें तो न अपना सुधार होगा, न समाजका। वेश्या यदि पातिव्रत्यका उपदेश दे तो वह कैसे लगेगा? अतः बातें बढ़िया नहीं, अपना जीवन बढ़िया होना चाहिये। समाज-सुधारकी चेष्टा न करके अपने सुधारकी चेष्टा करनी चाहिये। अपना सुधार होगा—स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरेका हित करनेसे॥ ४१४॥

प्रश्न—सरकारके द्वारा अपराधीको मृत्युदण्ड देना उचित है या अनुचित?

उत्तर—मृत्युदण्ड देना उचित है। यह सर्वथा पाप-रहित करनेका दण्ड है। मृत्युदण्डसे पापी व्यक्तिकी शुद्धि होती है और लोगोंमें पाप न करनेकी वृत्ति होती है॥ ४१५॥

प्रश्न—'दयाकी मृत्यु' उचित है या अनुचित?

उत्तर—यह दया नहीं है, प्रत्युत बेसमझी है। डॉक्टरका कर्तव्य यही है कि वह रोगीको यथाशक्ति जीवित रखनेका प्रयत्न करे; क्योंकि कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता। जो रोगी वर्षोंसे बेहोश है,वह कभी होशमें भी आ सकता है। ऐसी घटना मेरी देखी हुई है॥ ४१६॥

प्रश्न—चारों वर्णों और आश्रमोंमें कौन-सा वर्ण और आश्रम श्रेष्ठ है?

उत्तर—वही वर्ण और आश्रम श्रेष्ठ है, जो अपने कर्तव्यका पालन करता है। जो अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह छोटा हो जाता है॥ ४१७॥

प्रश्न—समाजमें तरह-तरहके रीति-रिवाज प्रचलित हैं। उनमें कौन-सा ठीक है, कौन-सा बेठीक—इसका निर्णय कैसे करें?

उत्तर—जिसमें अपने स्वार्थका त्याग और दूसरेका हित हो, वही ठीक है॥ ४१८॥

प्रकीर्ण

प्रश्न—एक तरफ कहा जाता है कि आशा मत रखो—'आशा हि परमं दुःखम्' और दूसरी तरफ कहा जाता है कि आशावादी बनो। क्या करना चाहिये?

उत्तर—दोनों बातें ठीक हैं। आशा न रखनेका तात्पर्य है—संसारकी आशा मत रखो और आशावादी बननेका तात्पर्य है—अपनी उन्नतिसे अथवा भगवत्प्राप्तिसे निराश मत होओ। सत्की आशा रखो, असत्की आशा मत रखो॥ ४१९॥

प्रश्न—अविद्या और विपर्ययमें क्या फर्क है?

उत्तर—अनित्य, अशुचि, अनात्मा और दुःखमें विपरीत (नित्य, शुचि, आत्मा और सुख) बुद्धि होनेका नाम 'अविद्या' (अज्ञान)है। रस्सीमें साँप दीखना, सज्जनको दुर्जन समझना आदि वृत्ति 'विपर्यय' है। अविद्या खुदमें रहती है और विपर्यय-वृत्ति अन्तःकरणमें रहती है। जीवन्मुक्त महापुरुषमें अविद्या-दोष तो नहीं रहता, पर विपर्यय-दोष रह सकता है। इसलिये उनमें व्यवहारकी भूल तो हो सकती है, पर स्वयंकी भूल नहीं होती॥ ४२०॥

प्रश्न—आत्मदृष्टि और परमात्मदृष्टिमें क्या अन्तर है?

उत्तर—आत्मदृष्टिसे ब्रह्मज्ञान होता है और परमात्मदृष्टिसे प्रेम होता है। आत्मदृष्टिसे 'सत्' तथा 'चित्' का अनुभव होता है और परमात्मदृष्टिसे 'आनन्द' का अनुभव होता है। यद्यपि परमात्मदृष्टिसे भी 'सत्' तथा 'चित्' का अनुभव होता है, पर

मुख्यता आनन्दकी रहती है। ऐसे ही आत्मदृष्टिसे भी 'आनन्द' का अनुभव होता है, पर मुख्यता सत् तथा चित्‌की रहती है॥ ४२१॥

प्रश्न—आस्तिक और नास्तिक किसे कहते हैं?

उत्तर—जो बिना देखे-सुने भी परमात्माकी सत्ता मानते हैं, वे 'आस्तिक' हैं। जो परमात्माकी सत्ता न मानकर जगत् और जीव (आत्मा)-की सत्ता मानते हैं, वे 'नास्तिक' हैं॥ ४२२॥

प्रश्न—चेतन और चिन्मयमें क्या अन्तर है?

उत्तर—'चेतन' सापेक्ष है अर्थात् जड़की अपेक्षा चेतन है, पर 'चिन्मय' निरपेक्ष है। चिन्मयका अर्थ है—केवल (शुद्ध) चेतन॥ ४२३॥

प्रश्न—स्मार्त और वैष्णवमें क्या अन्तर है?

उत्तर—जो वेदोंको, स्मृतियोंको, पुराणोंको, शास्त्रोंको मानते हैं कि जो वे कहेंगे, वही ठीक है, वे 'स्मार्त' कहलाते हैं। परन्तु जो केवल भगवान्‌को ही मानते हैं, वे 'वैष्णव' कहलाते हैं। स्मार्तमें कर्मकाण्डकी मुख्यता रहती है और वैष्णवमें भगवान्‌की मुख्यता रहती है। स्मार्त लौकिक हैं और वैष्णव अलौकिक हैं*॥ ४२४॥

प्रश्न—दरिद्र और धनीकी पहचान क्या है?

उत्तर—जिसको प्राप्त वस्तु आदिमें सन्तोष नहीं है और अप्राप्तकी इच्छा होती है, वह 'दरिद्र है। उसके पास धन न हो तो भी दरिद्र है, धन हो तो भी दरिद्र है। जिसको प्राप्तमें सन्तोष है और अप्राप्तकी इच्छा नहीं है, वह 'धनी' है। उसके पास धन न हो तो भी धनी है, धन हो तो भी धनी है॥ ४२५॥

प्रश्न—भगवान्‌ने कहा है—'मोहि कपट छल छिद्र न भावा' (मानस, सुन्दर० ४४। ३) तो कपट और छलमें क्या अन्तर है?

उत्तर—'कपट' तो अपने भीतर होता है, पर 'छल' में दूसरेको ठगता है। दूसरोंमें दोष देखना 'छिद्र' है॥ ४२६॥

प्रश्न—गुरु, शासक और नेता—तीनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—गुरु ज्ञानरूपी प्रकाश देकर मनुष्यको सही मार्गपर लाता है। शासक दण्ड देकर सही मार्गपर लाता है। नेता समझाकर सही मार्गपर लाता है। गुरु सौम्य (दयालु) शासक है, राजा क्रूर शासक है और नेता सामान्य (न सौम्य, न क्रूर) शासक है॥ ४२७॥

प्रश्न—दु:ख और करुणामें क्या अन्तर है?

उत्तर—अपने दु:खसे दु:खी होना 'दु:ख' है और दूसरेके दु:खसे दु:खी होना 'करुणा' है। दु:खी होना भोग है और करुणित होना त्याग है। दु:खमें अपनी तरफ दृष्टि रहती है और करुणामें दूसरेकी तरफ॥ ४२८॥

प्रश्न—देहात्मा, गौणात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—इनमें क्या भेद है?

उत्तर—शरीरको 'देहात्मा' कहते हैं। पुत्रको 'गौणात्मा' कहते हैं। जिसका देहके साथ सम्बन्ध है, उस अन्तर्यामीको 'अन्तरात्मा' कहते हैं—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५। १५), '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' (गीता १८। ६१)। जिसका देहके साथ सम्बन्ध नहीं है, उसको 'परमात्मा' कहते हैं॥ ४२९॥

प्रश्न—निर्विकल्प स्थिति और निर्विकल्प बोधमें क्या अन्तर है?

उत्तर—निर्विकल्प स्थिति कारणशरीरमें होती है और निर्विकल्प बोध स्वयंमें होता है। निर्विकल्प स्थिति सविकल्पमें बदल जाती है, पर निर्विकल्प बोध सविकल्पमें नहीं बदलता। स्थिति बदलती है, बोध नहीं बदलता—'**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न**

---

* जगत् (क्षर) तथा जीव (अक्षर)—दोनों लौकिक हैं—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' और भगवान् इन दोनोंसे विलक्षण अर्थात् अलौकिक हैं—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' (गीता १५। १७)। कर्मयोग और ज्ञानयोग भी लौकिक हैं—'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा' (गीता ३। ३)। क्षरको लेकर कर्मयोग और अक्षरको लेकर ज्ञानयोग चलता है, पर भक्तियोग अलौकिक है, जो भगवान्‌को लेकर चलता है।

व्यथन्ति च' (गीता १४। २)। निर्विकल्प बोध अखण्ड, नित्य, स्वतः-स्वाभाविक और निरपेक्ष होता है॥ ४३०॥

प्रश्न—सफाई और शुद्धिमें क्या अन्तर है?

उत्तर—सफाई और शुद्धि (पवित्रता)-में बहुत अन्तर है। हड्डीको साफ कर सकते हैं, पर शुद्ध नहीं कर सकते। कौन-सी वस्तु शुद्ध है—इसको शास्त्र-प्रमाणसे ही जान सकते हैं। जैसे, अन्य जलोंकी अपेक्षा गंगाजल पवित्र है। गायके गोबर-गोमूत्र भी पवित्र हैं॥ ४३१॥

प्रश्न—कारणशरीरकी स्थिरता और स्वरूपकी स्थिरतामें क्या अन्तर है?

उत्तर—कारणशरीरकी स्थिरता सापेक्ष है अर्थात् चंचलताकी अपेक्षा स्थिरता है। परन्तु स्वयंकी स्थिरता निरपेक्ष है। स्वयं कारणशरीरकी स्थिरताका भी प्रकाशक, साक्षी है॥ ४३२॥

प्रश्न—रामायणमें आया है—'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई' (बाल० ३। ५) और 'मूरुख हृदयँ च चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सम' (लंका० १६ ख) तो 'शठ' और 'मूर्ख' में क्या अन्तर है?

उत्तर—प्रत्येक कवि या लेखकके शब्दोंमें उनका अपना एक विशेष अर्थ होता है। यहाँ 'शठ' वह है, जो जानता नहीं और 'मूर्ख वह है जो जानता तो है, पर मानता नहीं।'॥ ४३३॥

प्रश्न—मुक्त और प्रेमी—दोनोंके व्यवहारमें क्या फर्क होता है?

उत्तर—मुक्तका व्यवहार समताका, उदासीनताका होता है, पर प्रेमीका व्यवहार प्रेमपूर्ण होता है; क्योंकि भगवान् प्यारे लगते हैं तो उनकी हर चीज प्यारी लगती है॥ ४३४॥

प्रश्न—सीखा हुआ और जाना हुआ—दोनोंमें क्या फर्क है?

उत्तर—सीखा हुआ बुद्धिका विषय होता है और जाना हुआ बुद्धिका प्रकाशक होता है। बुद्धिके अन्तर्गत सीखा हुआ है और जाने हुएके अन्तर्गत बुद्धि है। सीखा हुआ तो दृढ़-अदृढ़ दोनों होता है, पर जाना हुआ अदृढ़ होता ही नहीं॥ ४३५॥

प्रश्न—सीखना, समझना और अनुभव करना—तीनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—इसको इस उदाहरणसे समझना चाहिये—छोटी बच्ची 'सीख' लेती है कि यह मेरी माँ है। वह माँ क्यों हैं, कैसे है—यह वह नहीं जानती। जब वह कुछ बड़ी होती है, तब वह 'समझती' है कि उसने मेरेको जन्म दिया है, इसलिये वह मेरी माँ है। विवाहके बाद जब वह खुद माँ बनती है, बालकको जन्म देती है, तब उसको 'अनुभव' होता है कि इस तरह माँने मेरेको जन्म दिया था॥ ४३६॥

प्रश्न—सिद्धान्त और नियममें क्या अन्तर है?

उत्तर—सिद्धान्त माननेका और नियम पालन करनेका होता है॥ ४३७॥

प्रश्न—स्वाभिमान और अभिमानमें क्या अन्तर है?

उत्तर—स्वाभिमान सात्त्विक होता है और अभिमान तामसी। मैं साधक हूँ तो साधनसे विरुद्ध कार्य कैसे कर सकता हूँ? मैं चोरी कैसे कर सकता हूँ—यह 'स्वाभिमान' है। मैं साधक हूँ, दूसरे असाधक हैं—इस प्रकार दूसरेकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता देखना अभिमान' है। अभिमान होनेसे मनुष्य साधन-विरुद्ध कार्य कर बैठेगा और स्वाभिमान होनेसे उसको साधन-विरुद्ध कार्य करनेमें लज्जा होगी॥ ४३८॥

प्रश्न—मुमुक्षा और जिज्ञासामें क्या अन्तर है?

उत्तर—मुमुक्षामें साधक अपनी मुक्ति चाहता है, इसलिये उसमें व्यक्तित्व रहता है। मुमुक्षासे भी तत्त्वकी जिज्ञासा अच्छी है और उससे भी प्रेमकी पिपासा अच्छी है॥ ४३९॥

प्रश्न—जिज्ञासा स्वयंमें होती है अथवा बुद्धि या अहम्‌में?

उत्तर—जिज्ञासा स्वयंमें होती है। भावरूप स्वयंमें ही अभावका अनुभव होता है, तभी जिज्ञासा होती है। यदि ऐसा मानें कि जिज्ञासा अहम्‌में होती है तो

अहम्‌का मालिक कौन है? अहम्‌के साथ किसने सम्बन्ध जोड़ा है? मैं वही हूँ—यह प्रत्यभिज्ञा किसमें होती है? मानना पड़ेगा कि स्वयं (चेतन) ही अहम्‌का मालिक है, वही अहम्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ता है और उसीमें प्रत्यभिज्ञा होती है। स्वयंने जितने अंशमें अहम्‌से सम्बन्ध माना है, अहम्‌को स्वीकार किया है, उतने अंशमें अज्ञान है। जगत्‌की सत्ता स्वयंने ही मानी है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। अतः स्वयंमें ही जिज्ञासा होती है और स्वयंको ही बोध होता है। बोध होनेपर स्वयं फर्क पड़ता है। स्वयं फर्क पड़नेपर मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें भी फर्क पड़ता है॥ ४४० ॥

प्रश्न—सावधान रहना बढ़िया है या उदासीन रहना?

उत्तर—कर्तव्यका पालन करनेमें सावधान रहे, पर भीतरसे उदासीन रहे। उदासीन रहनेका अर्थ है—राग-द्वेष न रखे, पक्षपात न करे, तटस्थ रहे॥ ४४१ ॥

प्रश्न—पहले लोग अन्यायको नहीं सहते थे, पर आजकल अन्यायको सहते हैं। क्या अन्यायको सहना उचित है?

उत्तर—अन्यायको सहना उचित नहीं है। अन्यायी आदमी ही अन्यायको सहता है—**'चोर चोर मौसेरे भाई'?**॥ ४४२ ॥

प्रश्न—जब आवश्यक वस्तु स्वतः प्राप्त होती है तो फिर अनेक लोग शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंका अभाव क्यों भोगते हैं?

उत्तर—उन्होंने पूर्वजन्ममें अन्न, जल आदि शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंका दुरुपयोग किया था, तभी उनकी तंगी भोगनी पड़ती है। इसलिये अब तंगी भोगना ही उनके लिये आवश्यक है। तात्पर्य है कि जैसे शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंकी आवश्यकता है, ऐसे ही पहले किये गये कर्मोंका फल भोगनेकी भी आवश्यकता है। अतः मनुष्यको शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये, उनको निरर्थक नष्ट नहीं करना चाहिये॥ ४४३ ॥

प्रश्न—अखण्ड स्मृति क्या है?

उत्तर—'मैं हूँ'—इस प्रकार अपने होनेपनका हम निरन्तर अनुभव करते हैं—यही अखण्ड स्मृति है। 'मैं हूँ'—यह ज्ञानकी अखण्ड स्मृति है और 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह भक्तिकी अखण्ड स्मृति है। ज्ञान होनेपर 'मैं' नहीं रहता और 'हूँ' 'है' में बदल जाता है॥ ४४४ ॥

प्रश्न—दूसरोंको अपना मानें या उनकी उपेक्षा करें, दोनोंमें कौन-सा बढ़िया है?

उत्तर—अपने शरीरकी उपेक्षा होनी चाहिये और दूसरोंके शरीरमें अपनापन होना चाहिये अर्थात् जैसे अपने शरीरका दुःख दूर करनेकी चेष्टा होती है, ऐसे ही दूसरेके शरीरका दुःख दूर करनेकी चेष्टा होनी चाहिये। तात्पर्य है कि जैसे अपने शरीरमें अपनापन है, ऐसे दूसरे शरीरोंमें अपनापन होना चाहिये और जैसे संसारकी उपेक्षा है, ऐसे अपने शरीरकी उपेक्षा होनी चाहिये। दूसरोंके हितकी दृष्टिसे व्यवहार चाहे जैसा (यथायोग्य) करें, पर अपनेपनमें फर्क नहीं आना चाहिये।

ज्ञानमार्गमें उदासीनता बढ़िया होती है और कर्मयोग तथा भक्तियोगमें दयालुता बढ़िया होती है॥ ४४५ ॥

प्रश्न—रामायण, महाभारत आदिकी कथाओंका रूपक बनाना, उन्हें ज्ञानमें घटाना (जैसे—रावण नाम अहंकारका है आदि) क्या उचित है?

उत्तर—इतिहासकी कथाओंका रूपक बनाना ठीक नहीं है। शास्त्रोंमें ज्ञानकी बातोंकी कमी तो है नहीं, फिर रूपक क्यों बनायें? रूपक बनानेसे इतिहासका नाश होता है, भगवान्‌के चरित्रपर आघात होता है॥ ४४६ ॥

प्रश्न—कीर्तनमें जो सुख मिलता है, वह कौन-सा है?

उत्तर—कीर्तनमें मिलनेवाला सुख सात्त्विक है, जो भगवान्‌की तरफ ले जानेवाला होता है॥ ४४७ ॥

प्रश्न—एक बात तो यह आती है कि प्रकृति कर्ता है और एक बात यह आती है कि न पुरुष

कर्ता है, न प्रकृति कर्ता है, कर्ता कोई नही है, केवल मान्यता है—दोनोंमें कौन-सी बात ठीक है?

उत्तर—वास्तवमें कर्ता कोई नहीं है, न पुरुष,न प्रकृति। पर यदि कोई कर्ता मानना ही चाहे तो यही कहेंगे कि कर्तापन प्रकृति (जड़)- में है, पुरुष (चेतन)-में नहीं। तात्पर्य हुआ कि अगर कर्ता माना जाय तो वह प्रकृतिमें है, अन्यथा कोई कर्ता नहीं है॥ ४४८॥

प्रश्न—क्रियाका वेग किसमें है?

उत्तर—क्रियाका वेग प्रकृतिमें है, पर माना है अपनेमें। शरीरमें मैं-पन करनेके कारण क्रियाका वेग अपनेमें दीखता है॥ ४४९॥

प्रश्न—गंगाजीका पूजन करनेसे क्या लाभ?

उत्तर—पूजन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध, निर्मल होता है। दूसरी बात, जिसका हृदयमें आदर होता है, उसका पूजन अपने-आप होता है॥ ४५०॥

प्रश्न—जीव अनन्त हैं, फिर चौरासी लाखकी ही गणना क्यों?

उत्तर—ऋषियोंने चौरासी लाख जीवोंकी जातियोंकी गणना कर ली थी, इसलिये उन्होंने चौरासी लाख जीव बता दिये। चौरासी लाख जातियोंमें एक-एक जातिमें लाखों-करोड़ों जीव हैं। भूत, प्रेत, पिशाच, देवता, पितर, गन्धर्व आदि जातियोंको गणनामें नहीं लिया; क्योंकि ये सब देवयोनियाँ हैं, जो सामान्य रूपसे सबको नहीं दीखतीं॥ ४५१॥

प्रश्न—सृष्टिके आरम्भसे ही देव और असुर—ये दो विभाग कैसे हो गये?

उत्तर—प्रकृति और पुरुष-दोनों अनादि हैं—'**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि**' (गीता १३। १९)। प्रकृतिकी प्रधानतासे असुर हो गये और पुरुषकी प्रधानतासे देव हो गये।

वास्तवमें सत्ता एक ही है। परन्तु अपने राग-द्वेषके कारण दो सत्ता दीखती है। अपने राग-द्वेषके कारण ही असुर और देवताका विभाग दीखता है। अपना राग-द्वेष न हो तो असुर और देवतामें क्या फर्क है—'**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। राग-द्वेष न हो तो केवल भगवान्‌की लीला है, खेल है!॥ ४५२॥

प्रश्न—पर भगवान्‌की यह परस्पर विरोधी बातोंवाली लीला समझमें नहीं आयी!

उत्तर—लीलाको समझ नहीं सकते, मान सकते हैं। अगर लीला हमारी समझमें आ जाय तो समझ बड़ी हो जायगी और भगवान् छोटे हो जायँगे!॥ ४५३॥

प्रश्न—आजकल प्रायः यह सुननेमें आता है कि अमुक स्त्री या पुरुषके भीतर अमुक देवी या देवता आता है और बातें बताता है, क्या यह सत्य है?

उत्तर—आजकल पाखण्ड बहुत है। यदि देवी-देवताका शरीरमें प्रवेश हो जाय तो शरीर उनका तेज सह ही नहीं सकेगा। मनुष्यशरीरमें भूत-प्रेतका प्रवेश हो सकता है। भूत-प्रेतोंमें ऊँच-नीच अनेक जातियाँ होती हैं। भूत-प्रेत भी देवयोनिमें आते हैं। अमरकोषमें आया है—

विद्याधरोऽप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥
(१। १। ११)

प्रश्न—धार्मिक सिनेमा देखना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—नहीं देखना चाहिये। धार्मिक सिनेमा देखनेमें भी हानि है; क्योंकि फिल्म-निर्माताकी दृष्टि पैसोंकी तरफ तथा साधारण लोगोंकी रुचिकी तरफ रहती है, सत्यकी तरफ नहीं। वे शास्त्रमें लिखी बातोंको तत्त्वसे नहीं समझते। शास्त्रमें जो आया है और सिनेमामें जो दिखाते हैं—दोनोंमें फर्क होनेके कारण धार्मिक सिनेमा देखनेसे नास्तिकता आती है॥ ४५५॥

प्रश्न—कभी-कभी ऐसी परिस्थिति आती है, जब निर्णय लेना कठिन हो जाता है, हम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं, उस समय क्या करना चाहिये?

उत्तर—चुप, शान्त होकर भगवान्‌को याद करना चाहिये। समाधान मिल जायगा। अपने स्वार्थका त्याग और दूसरेका हित हो—ऐसा काम करना

चाहिये॥ ४५६॥

प्रश्न—पितृलोक क्या है?

उत्तर—स्वर्गकी तरह यह भी एक लोक है, जहाँ पितर रहते हैं। जो उस लोकके अधिकारी होते हैं, वे वहाँ जाते हैं—'**पितॄन्यान्ति पितृव्रताः**' (गीता ९। २५)।

हमारे पितर (पिता, दादा आदि) जिस लोकमें अथवा जिस योनिमें हैं, वह भी पितृलोक है। पितर यदि पशुयोनिमें हैं तो वही पितृलोक है। जिनकी घरमें, परिवारमें ज्यादा आसक्ति होती है, वे पितर बनकर घरमें रहते हैं। उनका कमाया धन हमने लिया है; अतः उनकी सेवा करना हमारा कर्तव्य है॥ ४५७॥

प्रश्न—एकनाथ आदि सन्तोंने श्राद्ध-भोजनके लिये पितरोंका आवाहन किया तो पितर स्वयं कैसे आ गये?

उत्तर—पितर जिस योनिमें हैं, आवाहन करनेपर उनको वहाँ मूर्च्छा आ जाती है और (परकायाप्रवेशकी तरह) वे वहाँ आ जाते हैं। परन्तु यह कोई सामान्य बात नहीं है॥ ४५८॥

प्रश्न—प्रेत किसीको दुःख देता है तो उसको कोई दोष (पाप) लगता है कि नहीं?

उत्तर—उसको कोई दोष नहीं लगता; क्योंकि वह भोगयोनि है और मनुष्यके प्रारब्धके अनुसार ही उसको दुःख देता है। जो सात्त्विक प्रेत होते हैं, वे दुःख नहीं देते। राजस-तामस प्रेत ही दुःख देते हैं। यह नियम है कि दुःखी व्यक्ति ही दूसरोंको दुःख देता है। अतः जो प्रेत खुद दुःखी होते हैं, वे ही दूसरोंको दुःख देते हैं॥ ४५९॥

प्रश्न—हमने कोई गलत कार्य नहीं किया, फिर भी दुष्ट व्यक्तिसे भय क्यों लगता है?

उत्तर—अपनी निर्दोषतापर दृढ़ विश्वास न होनेसे ही भय लगता है। भय तीन कारणोंसे लगता है—अपना आचरण ठीक न होनेसे, अपनी निर्दोषतापर विश्वास न करनेसे और किसी भी वस्तु (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि)-को अपना माननेसे॥ ४६०॥

प्रश्न—मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये और मुझे कुछ नहीं करना है—इन तीनोंके मूलमें क्या है?

उत्तर—मूलमें है—मैं कुछ नहीं हूँ और परमात्मा है॥ ४६१॥

प्रश्न—वेद अनादि हैं और याज्ञवल्क्य आदि ऋषि बादमें हुए हैं, फिर वेदोंमें उन ऋषियोंका वर्णन कैसे आया?

उत्तर—वेद सर्वज्ञ हैं। भगवान्ने भी कहा है—'**वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन**' (गीता ७। २६)। अतः उन ऋषियोंकी महत्ता प्रकट करनेके लिये, ब्रह्मविद्याकी महिमा बतानेके लिये वेदोंने पहलेसे ही उनका वर्णन कर दिया। महर्षि वाल्मीकिजीने भी भगवान् रामका अवतार होनेसे पहले ही रामायणकी रचना कर दी थी! वाल्मीकिजीने कहा है—

भविष्यज्ज्ञानयोगाच्च कृतं रामायणं शुभम्॥

(पद्मपुराण, पाताल० ६६। १७)

'भविष्यज्ज्ञानकी शक्ति होनेके कारण इस रामायणको मैंने पहलेसे बना रखा था'॥ ४६२॥

प्रश्न—विद्याको केवल सीखे नहीं, प्रत्युत उसका अनुभव करे—इस कथनका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—विद्याको अपने और दूसरोंके काममें लाना चाहिये। जिसके पास उस विद्याका अभाव है, उसको वह विद्या देनी चाहिये। केवल जानकारीके लिये विद्याका संग्रह करनेसे अभिमान आता है॥ ४६३॥

प्रश्न—स्त्रीके लिये व्रतका निषेध आया है, पर वह पतिके लिये व्रत रख सकती है क्या?

उत्तर—वह पतिके लिये व्रत रख सकती है और पतिकी आज्ञासे भी व्रत रख सकती है। सती सावित्रीने भी पतिके जीवनके लिये व्रत रखा था॥ ४६४॥

प्रश्न—आजकल सैकड़ों वक्ता हो गये हैं और लाखों लोग उनकी बात सुनते हैं, फिर भी लोगोंके आचरणोंमें सुधार क्यों नहीं हो रहा है?

उत्तर—कारण यह है कि वक्ता खुद वैसा

आचरण नहीं करते। खुद वैसा आचरण करनेसे ही वचनोंका असर पड़ता है। श्रोतामें जिज्ञासा नहीं है। जिज्ञासासे लाभ होता है, केवल सुननेसे नहीं।॥ ४६५ ॥

प्रश्न—शास्त्रमें भगवत्कथाके वक्ता और श्रोता—दोनोंको ही दुर्लभ बताया है, पर आजकल दोनों ही बड़े सुलभ दीख रहे हैं, इसका कारण?

उत्तर—कारण कि दोनों ही नकली हैं!॥ ४६६ ॥

प्रश्न—शुकदेवजी बारह वर्षतक गर्भमें कैसे रहे?

उत्तर—गर्भमें जितना आकार होता है, उतने ही आकारका उनका शरीर रहा, पर बुद्धि(अन्तःकरण) विकसित हो गयी। जन्मके बाद फिर उनका शरीर धीरे-धीरे अपने स्वाभाविक आकारमें आ गया॥ ४६७ ॥

प्रश्न—श्रद्धा अन्धी होती है, पर उसमें धोखा हो जाय तो?

उत्तर—सच्ची श्रद्धावालेके साथ धोखा नहीं हो सकता। उसको दुःख हो सकता है, पर उसकी हानि नहीं हो सकती। सीताजीने साधुरूपधारी रावणपर और हनुमान्‌जीने कालनेमिपर श्रद्धा की तो उनकी क्या हानि हुई? हानि तो रावण और कालनेमिकी ही हुई॥ ४६८ ॥

प्रश्न—श्राद्धका अन्न ग्रहण करना चाहिये या नहीं?

उत्तर—घरके लोग श्राद्धका अन्न खायें तो कोई दोष नहीं है; क्योंकि मरनेवाला अपना ही स्वजन है। परन्तु दूसरोंको कभी नहीं खाना चाहिये। अन्न बच जाय तो ब्राह्मणोंसे पूछकर जैसा वे कहें, वैसा उसका उपयोग कर दे। मृत्युके बाद तीसरे और बारहवें दिनका अन्न बहुत अशुद्ध होता है; अतः बचे हुए अन्नको पृथ्वीमें गाड़ देना चाहिये। वार्षिक पितृपक्षमें होनेवाले श्राद्धका अन्न भी दूसरेको नहीं खाना चाहिये। श्राद्धका भोजन ब्राह्मणको ही खिलानेका विधान है, गरीबों आदिको नहीं॥ ४६९ ॥

प्रश्न—प्राप्त वस्तुका सदुपयोग क्या है?

उत्तर—वस्तुको अपनी न मानना और जहाँ आवश्यकता दीखे, वहाँ उस वस्तुको दूसरोंकी सेवामें लगाना॥ ४७० ॥

प्रश्न—किसीमें बचपनसे खराब स्वभाव पड़ा हुआ हो तो वह कैसे मिट सकता है?

उत्तर—पहले ऐसा मान ले कि स्वभाव असत् है और मिटनेवाला है। फिर सद्विचार करे, सच्छास्त्र पढ़े और सत्संग करे। सद्विचार, सच्छास्त्र और सत्संगसे स्वभाव मिट सकता है, शुद्ध हो सकता है॥ ४७१ ॥

प्रश्न—माता सीताने मृगचर्मके लिये स्वर्णमृगको मारनेके लिये क्यों कहा?

उत्तर—मृगको मारनेके लिये माता सीताने नहीं कहा, प्रत्युत छाया सीताने कहा! सीता भी छायाकी थी और मृग भी छायाका था। छाया सीताने स्वर्णका लोभ किया तो भगवान्‌ने उसको स्वर्णकी नगरी लंकामें ले जाकर बैठा दिया। माता सीतामें तो सतीत्वका इतना तेज था कि बुरी नीयतसे स्पर्श करनेमात्रसे रावण भस्म हो जाता!॥ ४७२ ॥

प्रश्न—कोई बात तो बचपनकी भी याद रहती है और कोई बात दो दिन पहलेकी भी याद नहीं रहती, इसका क्या कारण है?

उत्तर—काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि भावोंसे चित्त पिघल जाता है*। उस पिघले हुए चित्तमें बैठी बात नहीं भूलती। जिस बातमें चित्त नहीं पिघलता, वह बात भूल जाती है॥ ४७३ ॥

प्रश्न—वर्तमानमें हिन्दूलोग मुसलमानों तथा ईसाइयोंकी अपेक्षा पिछड़े हुए क्यों दीख रहे हैं?

उत्तर—अपने घरकी पोल तो हम जानते हैं, पर मुसलमानों-ईसाइयोंके घरकी पोल नहीं जानते, इसलिये ऐसा दीखता है। वास्तवमें नैतिक पतन सब धर्मवालोंका हुआ है। उन धर्मवालोंके बड़े-बूढ़ोंसे पूछकर देखो कि उनकी नयी पीढ़ीके युवक कैसे हैं? दूसरी बात,

---

*कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयाऽऽदयः ।
तापकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनं तु तत्॥ (भक्तिरसायन १। ५)

हिन्दूधर्म कलियुगके विपरीत पड़ता है, जबकि उनका धर्म कलियुगके कुछ अनुकूल पड़ता है। अतः उनको कलियुगसे सहायता मिल रही है। इन बातोंके सिवाय सरकारी कानून भी हमारे धर्मकी उन्नतिमें बाधक है।

कलियुगमें धर्म सामूहिक न होकर व्यक्तिगत होता है। जैसे, सभी ब्राह्मण अपने धर्मका पालन करें—ऐसा नहीं होता। पर कोई भी ब्राह्मण अपने धर्मका पालन नहीं करे—ऐसा भी नहीं होता । इसलिये सन्तोंने कहा है—

तेरे भावै जो करौ, भलो बुरो संसार।
'नारायन' तू बैठ के, अपनो भवन बुहार॥

प्रश्न—विष्णुका ध्यान करते हुए यदि शंकर ध्यानमें आ जायँ तो क्या करना चाहिये?

उत्तर—विष्णु ही अपनी मरजीसे शङ्कररूपसे आये हैं—ऐसा मानकर प्रसन्न हो जाय। इतना ही नहीं, यदि कोई सांसारिक वस्तु या व्यक्ति भी ध्यानमें आ जाय तो ऐसा माने कि भगवान् ही इस रूपमें आये हैं। तात्पर्य है कि ध्यानमें चाहे जो भी आये, उसको अपने इष्टका ही रूप मानना चाहिये—'**वासुदेवः सर्वम्**॥ ४७५ ॥

प्रश्न—भक्त भी भगवान्‌का ध्यान करता है और ध्यानयोगी भी, फिर ध्यानयोगी 'चलितमना' (योगभ्रष्ट) कैसे होता है?

उत्तर—ध्यानयोगीके साध्य तो भगवान् हैं, पर उसका साधन वृत्ति लगाना है, जबकि भक्तका साधन भी भगवान् हैं और साध्य भी भगवान् हैं॥ ४७६ ॥

प्रश्न—जब प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं है, तो फिर शास्त्रोंमें प्रकृतिको अनादि क्यों कहा गया है?

उत्तर—हम प्रकृतिकी सत्ता मानते हैं, इसलिये शास्त्र हमारी भाषामें ही कहते हैं। दृष्टिभेदसे दर्शन अनेक हैं, तत्त्व एक है। जहाँ द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य नहीं हैं, वहाँ भेद नहीं है। द्रष्टा, ज्ञाता,दार्शनिक, दर्शन जबतक हैं, तबतक भेद है। इनसे आगे तत्त्वमें भेद नहीं है॥ ४७७ ॥

प्रश्न—परमात्मा भी अनन्त हैं और प्रकृति भी अनन्त है—ये दो बातें कैसे? प्रकृति तो परमात्माके एक अंशमें है!

उत्तर—दोनोंकी अनन्ततामें फर्क है। परमात्मा अपार-असीम हैं, इसलिये अनन्त हैं। प्रकृति नष्ट नहीं होती, इसलिये अनन्त है—'**कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्**' (योगदर्शन २। २२)॥ ४७८॥

प्रश्न—मनका निवास कहाँ है?

उत्तर—मनका निवास जाग्रत्-अवस्थामें नेत्रोंमें, स्वप्न-अवस्थामें 'हिता' नाड़ीमें और सुषुप्ति-अवस्थामें 'पुरीतती' नाड़ीमें होता है। जाग्रत्-अवस्थामें सब वस्तुओंका ज्ञान नेत्रोंसे ही होता है और नेत्रोंसे ही मनकी बात प्रकट होती है। अन्धे व्यक्तिकी नेत्रशक्ति कानोंमें चली जाती है॥ ४७९ ॥

प्रश्न—क्या मन ही मनुष्यके बन्धनका कारण है?

उत्तर—मनुष्यके बन्धन या मुक्तिका कारण मन नहीं है। खुदमें ही बन्धन है और खुदकी ही मुक्ति होती है। मनमें दोष कभी था नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। कारण कि मन तो एक करण है। करण कभी स्वतन्त्र नहीं होता, प्रत्युत कर्ताके अधीन होता है। दोष कर्तामें होता है, करणका क्या दोष? लेखकमें दोष होता है, कलमका क्या दोष? कर्ताका दोष ही करणमें आता है। कर्तामें दोष न हो तो करणमें दोष आ सकता ही नहीं। अतः अपना दोष ही मनमें दीखता है। मन तो दर्पण है। असत्‌की मान्यता खुदमें ही है॥ ४८० ॥

प्रश्न—धूम्रपान आदि व्यसनोंमें लगे हुए कई व्यक्तियोंको रोग तुरन्त पकड़ लेता है और कई व्यक्तियोंको रोग नहीं पकड़ता, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—शरीरकी प्रकृति अलग-अलग होनेसे किसीको रोग जल्दी पकड़ता है, किसीको नहीं पकड़ता। परन्तु कैसा ही व्यसन हो, उसमें पराधीनता तो है ही! पराधीनतासे कोई बच नहीं सकता॥ ४८१ ॥

प्रश्न—चिकित्सासे केवल रोग नष्ट होता है या

आयु भी बढ़ती है?

उत्तर—चिकित्सासे केवल रोग नष्ट होता है, आयु नहीं बढ़ती। मनुष्य आयु पूरी होनेपर ही मरता है, पहले नहीं। बड़े-से-बड़ा रोग आनेपर भी यदि प्रारब्धमें आयु शेष होगी तो कोई-न-कोई उपाय मिल जायगा, जिससे रोग मिट जायगा अथवा रोग रहते हुए भी वह जीता रहेगा। चिकित्सासे कुपथ्यजन्य रोग मिटते हैं, प्रारब्धजन्य रोग नहीं मिटते॥ ४८२॥

प्रश्न—न चाहते हुए भी अनुकूलता-प्रतिकूलताका असर पड़ जाय तो क्या करें?

उत्तर—उसकी परवाह मत करो। यह देखो कि वह असर सदा और एक समान रहता है क्या? वास्तवमें असर मन-बुद्धिपर पड़ता है, पर मन-बुद्धिको अपना माननेके कारण अविवेककी प्रधानतासे हम उस असरको अपनेमें मान लेते हैं॥ ४८३॥

प्रश्न—हमारी संस्कृतिपर विदेशी प्रभाव अधिक क्यों पड़ता है?

उत्तर—हिन्दू संस्कृति सफेद कपड़ेकी तरह स्वच्छ है, इसलिये इसपर दूसरा रंग बहुत जल्दी चढ़ता है अर्थात् दूसरेकी बातोंको यह बहुत जल्दी ग्रहण कर लेती है॥ ४८४॥

प्रश्न—क्या पशु-पक्षीको अपनी जूठन दे सकते हैं?

उत्तर—हाँ, दे सकते हैं। पर गायको जूठन नहीं देनी चाहिये॥ ४८५॥

प्रश्न—पानीकी टोंटीमें सब जगह चमड़ेका वाशर लगाया जाता है; अतः पानी कैसे काममें लें?

उत्तर—जहाँ परवशता हो, बचनेका कोई उपाय न हो, वहाँ निर्वाहमात्रका दोष नहीं लगता—'**शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्**' (गीता ४। २१)॥ ४८६॥

प्रश्न—शिवनिर्माल्यको त्याज्य माना गया है। शिवनिर्माल्य क्या है?

उत्तर—शिवलिंगपर चढ़ा हुआ पदार्थ शिवनिर्माल्य है। जो पदार्थ शिवलिंगपर नहीं चढ़ा, वह शिवनिर्माल्य नहीं है। द्वादश ज्योतिर्लिंगोंमें शिवलिंगपर चढ़ा पदार्थ भी शिवनिर्माल्य नहीं माना जाता॥ ४८७॥

प्रश्न—अन्न कैसे शुद्ध होता है?

उत्तर—भोजनके पदार्थ सात्त्विक हों, शुद्ध कमाईके हों, पवित्रतापूर्वक बनाये जायँ और भगवान्‌के अर्पण करके खाया जाय॥ ४८८॥

प्रश्न—क्या भूत-प्रेतोंको निकालनेका काम करनेवालेकी दुर्गति होती है?

उत्तर—दुर्गति तब होती है, जब भूत-प्रेतोंको कष्ट दिया जाय; जैसे—उनको कीलित करना, बोतलमें बन्द करना आदि। अतः गयाश्राद्ध आदि करवाकर उनकी सद्‌गति करानी चाहिये, जिससे उनका भी हित हो और उस व्यक्तिका भी हित हो, जिसे प्रेतने पकड़ा है। इस प्रकार उनके हितकी दृष्टि होनेसे दुर्गति नहीं होती॥ ४८९॥

प्रश्न—सत्यनारायणकी कथा क्या है?

उत्तर—केवल कहानीको ही कथा नहीं कहते, प्रत्युत शास्त्रार्थ, वाक्य-प्रबन्ध आदिको भी कथा कहते हैं। सत्यनारायणभगवान्‌का व्रत, पूजन एवं उसके विधि-विधानका वर्णन 'कथा' कहलाता है। आरम्भमें जिसने सत्यनारायणका व्रत-पूजन किया, उसके चरित्रको आगेके व्यक्ति भी कहने लग गये॥ ४९०॥

प्रश्न—क्या घरमें महाभारत और गरुड़पुराण रख सकते हैं?

उत्तर—जरूर रख सकते हैं। घरमें महाभारत और गरुड़पुराण रखनेमें तथा पढ़नेमें कोई दोष नहीं है॥ ४९१॥

प्रश्न—शाप-वरदानसे होनेवाला काम ही होता है अथवा नया काम भी होता है?

उत्तर—शाप-वरदानमें विशेष शक्ति (तपोबल) होती है। उससे वह भी हो सकता है, जो नहीं होनेवाला है। ऐसा शाप-वरदान ऋषि-मुनियोंका ही नहीं, साधारण मनुष्योंका भी लग सकता है; क्योंकि

उनके शाप-वरदानके पीछे विशेष दुःख या विशेष प्रसन्नता होती है। परन्तु अमुक घटना शाप-वरदानसे घटी अथवा वैसा ही होनेवाला था—इसका पूरा पता लगता नहीं।

शाप-वरदान देनेसे स्वभाव बिगड़ता है और पारमार्थिक पुण्यकी हानि होती है। अतः दूसरेको शाप या वरदान नहीं देना चाहिये॥ ४९२॥

प्रश्न—शान्ति कैसे मिलती है?

उत्तर—शान्ति कामनाके त्यागसे मिलती है। अतः जैसा मैं चाहूँ, वैसा हो जाय और जिसको चाहूँ, वह मिल जाय—इस कामनाका त्याग करना चाहिये॥ ४९३॥

प्रश्न—त्याग करनेसे शान्ति मिलती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२। १२), क्या त्यागसे पहले भी शान्ति मिल सकती है?

उत्तर—हाँ, उद्देश्य बननेमात्रसे शान्ति मिलती है। हमें केवल भजन करना है, और कुछ करना है ही नहीं—ऐसा निश्चय होनेमात्रसे दुविधा मिट जाती है और शान्ति मिल जाती है॥ ४९४॥

प्रश्न—प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग कैसे करें?

उत्तर—अनुकूल परिस्थितिमें दूसरोंकी सेवा करना और प्रतिकूल परिस्थितिमें सुखकी इच्छाका त्याग करना परिस्थितिका सदुपयोग है। खास बात है कि प्राप्त परिस्थितिको भगवान्‌की मरजी माने। वह परिस्थिति अगर अपने कर्मोंका फल है तो भी भगवान्‌की मरजी है। अगर संसारसे मिली है तो भी भगवान्‌की मरजी है। अगर भगवान्‌का विधान है तो भी भगवान्‌की मरजी है॥ ४९५॥

प्रश्न—हम भजन-ध्यान कर रहे हैं और पासमें हल्ला होने लगे तो इस परिस्थितिका सदुपयोग कैसे करें?

उत्तर—इसको भगवान्‌की मरजी माननी चाहिये और उसे सुनकर राजी होना चाहिये। अगर ऐसी परिस्थितिमें भजन-ध्यान न कर सकें तो उसकी हमपर जिम्मेवारी ही नहीं। जिम्मेवारी उतनी ही होती है, जितना कर सकें॥ ४९६॥

प्रश्न—सर्वश्रेष्ठ मनुष्य कौन है?

उत्तर—जिसका अहम् सर्वथा मिट गया है अर्थात् जिसको **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव हो गया है॥ ४९७॥

प्रश्न—सर्वोत्कृष्ट अनुभव क्या है?

उत्तर—केवल भगवान् ही मेरे हैं; सिवाय भगवान्‌के मेरा कोई नहीं है—यह अनुभव॥ ४९८॥

प्रश्न—वास्तवमें अपनी वस्तु क्या है?

उत्तर—अपनी वस्तु वह है, जो सदा साथ रहे, कभी बिछुड़े नहीं। जो वस्तु मिली है और बिछुड़नेवाली है, वह कभी अपनी तथा अपने लिये नहीं हो सकती। शरीर, वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य हमें मिले हैं तथा बिछुड़नेवाले हैं, इसलिये ये अपने और अपने लिये नहीं हैं। भगवान् सदा साथ रहते हैं तथा कभी बिछुड़ते नहीं, इसलिये वे अपने तथा अपने लिये हैं॥ ४९९॥

प्रश्न—अन्तिम बात क्या है?

उत्तर—एक चिन्मय सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है॥ ५००॥

तात्त्विक प्रश्नोत्तर

(एक महात्माके प्रश्न और उनके उत्तर)

प्रश्न—भीतर यह बात बैठी हुई है कि पुरुषार्थसे कुछ नहीं होता। जो होता है, प्रारब्धसे ही होता है। क्या यह ठीक है?

स्वामीजी—अपने पुरुषार्थसे कुछ नहीं होता। पुरुषार्थ छोड़ते ही प्रभु-कृपासे काम होता है। उसको प्रभु-कृपा न मानकर पुरुषार्थ मानना भूल है! अपना पुरुषार्थ सर्वथा छोड़ना 'शरणागति' है।

ज्ञानकी दृष्टिसे 'कुछ न करना' ही सबसे बड़ा

पुरुषार्थ है। 'करने' से प्रकृतिमें स्थिति होती है और 'न करने' से परमात्मतत्त्वमें स्थिति होती है। 'करने' से परमात्मतत्त्व मिलेगा—यह भाव देहाभिमान पुष्ट करनेवाला है। आदि-अन्तवाले कर्मोंका फल अनन्त कैसे हो सकता है?

प्रारब्धका फल भोग है, कर्म नहीं। यदि कर्मका फल भी कर्म होगा तो कर्मोंका अन्त कभी आयेगा ही नहीं, कर्म-बन्धनसे मुक्ति होगी ही नहीं—यह 'अनवस्था दोष' आयेगा। पुरुषार्थसे प्रारब्ध बनता है, पर प्रारब्धसे पुरुषार्थ नहीं बनता। हमारा प्रश्न है कि यदि सब कर्म प्रारब्धसे होते हैं तो प्रारब्ध कहाँसे होता है? प्रारब्ध तो क्रियमाण-कर्मका अंश है, फिर वह क्रियमाण-कर्म कैसे करेगा?

प्रश्न—भोजन किया तो भूख मिटना फल हुआ। फिर शौच गये तो यह 'कर्मका फल भी कर्म' हुआ?

स्वामीजी—शौच जाना कर्म नहीं है; क्योंकि इसमें कर्तृत्व नहीं है। भोजनके पचनेकी तरह शौच जाना एक चेष्टा है, कर्म नहीं। कर्मका फल कभी कर्म होता ही नहीं, प्रत्युत भोग होता है।

क्रियमाण-कर्मके फल-अंशके दो भेद हैं—दृष्ट और अदृष्ट। इनमेंसे दृष्टके भी दो भेद होते हैं—तात्कालिक और कालान्तरिक। भोजन करते समय तृप्ति होना 'तात्कालिक' फल है और परिणाममें शौच होना, बल बढ़ना आदि 'कालान्तरिक' फल हैं।

प्रश्न—प्रतिबन्धक*के रहते हुए कोई जीवन्मुक्त हो सकता है क्या?

स्वामीजी—तीव्र जिज्ञासा होनेपर प्रतिबन्धक मिट जाते हैं।

प्रश्न—क्या पुण्यकर्मों (प्रारब्ध)-के बिना भी सन्त मिल सकते हैं?

स्वामीजी—मिल सकते हैं। सन्त प्रारब्धसे भी मिलते हैं—'**पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता**', भगवत्कृपासे भी मिलते हैं—'**जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइये**' और उत्कट अभिलाषासे भी मिलते हैं—'**जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥**' इनमें उत्कट अभिलाषा मुख्य है।

प्रश्न—चुप साधनमें उपेक्षा कौन करेगा?

स्वामीजी—उपेक्षा स्वयं करेगा, जो कर्ता है अर्थात् जिसमें कर्तृत्व है। सिद्ध होनेपर वह स्वभाव बन जायगा, उसका आग्रह नहीं रहेगा।

प्रश्न—उपेक्षा अथवा साक्षीका भाव रहेगा तो बुद्धिमें ही?

स्वामीजी—भाव तो बुद्धिमें रहेगा, पर उसका परिणाम स्वयं (स्वरूप)-में होगा; जैसे—युद्ध सेना करती है, पर विजय राजाकी होती है। उपेक्षा एवं उदासीनतासे जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होता है।

प्रश्न—उपयुक्त वस्त्र रहते हुए भी ठण्ड सहनेका अभ्यास करनेसे अहंकार आयेगा कि नहीं?

स्वामीजी—'मैं ठण्ड सह सकता हूँ'—इस तरह अपनी सामर्थ्यका अभिमान आ सकता है। तपस्यासे अभिमान आता है, कल्याण नहीं होता। तपस्या शक्ति पैदा करती है, कल्याण नहीं करती। अभ्यास भी अवस्था पैदा करता है, कल्याण नहीं करता।

प्रश्न—कभी सर्वात्मभाव, कभी साक्षीभाव, कभी सृष्टिके मिथ्या होनेका भाव स्वतः आता है, प्रयास नहीं करते। गलती कहाँ है?

स्वामीजी—पहलेके अभ्याससे ये संस्कार आते हैं। जब इनसे राग या द्वेष करते हैं, तब इनसे सम्बन्ध जुड़ जाता है—यही गलती होती है।

प्रश्न—आश्रम होनेसे विचार करना पड़ता है, पर चिन्ता या वासना नहीं व्यापती। गलती कहाँ है?

स्वामीजी—आश्रमकी व्यवस्थाका विचार करना तो स्वाँग है। अपना स्वाँग ठीक रीतिसे करना चाहिये।

---

* वेदान्तमें ज्ञानके चार प्रतिबन्धक बताये गये हैं—(१) संशय (प्रमाणगत और प्रमेयगत), (२) विपरीत भावना, (३) असम्भावना और (४) विषयासक्ति।

प्रश्न—पूर्णरूपेण प्रभुको सर्वस्व अर्पण करनेके बाद संस्कारवश निषिद्ध कर्म हो सकता है क्या?

स्वामीजी—नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्या भूलवश ऐसा अहंकार हो सकता है कि हमने प्रभुको सर्वस्व अर्पण कर दिया है?

स्वामीजी—नहीं हो सकता। यदि अहंकार होता है तो वास्तवमें पूर्ण समर्पण हुआ ही नहीं। वस्तुओंको भूलसे अपना माना था, वह भूल मिट गयी (अर्पण कर दिया) तो अभिमान कैसा?

प्रश्न—शास्त्रमें विधि-निषेधरूप धर्म बताया है। पूर्ण समर्पण करनेवालेको धर्म त्यागना पड़ेगा और धर्म त्यागते हैं तो शास्त्र छूट जायगा?

स्वामीजी—छूटेगा ही नहीं, प्रत्युत पूर्ण समर्पण करनेके बाद उससे नया शास्त्र बनेगा। शास्त्र छोड़नेमें दोष है, छूटनेमें कोई दोष नहीं। शास्त्र (शासन) साधकके लिये है, महापुरुषके लिये नहीं—'**आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते**' (गीता ३। १७)। ऐसे महापुरुषके लिये शास्त्र निवृत्त हो जाते हैं।

प्रश्न—जैसे किसीको मकान बेचनेपर उस घरमें रहनेवाले साँप, बिच्छू, छिपकली आदि भी उसके पास जायँगे, ऐसे ही सर्वस्व अर्पण करनेवालेके गुण-दोष भी अर्पित हो जायँगे?

स्वामीजी—अग्निमें जो भी डाला जाय, सब अग्निरूप हो जाता है। तभी गीतामें आया है—'**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः**' (९। २८)। भगवान्‌ने भी कहा है—'**सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि**' (गीता १८। ६६)। पापोंसे मुक्त कर दूँगा, न कि पुण्योंसे?

प्रश्न—बिना अहंकारके निषिद्ध कर्म हो जाय और अहंकारसे शुभ कर्म हो जाय तो दोनोंमें क्या ठीक है?

स्वामीजी—अहंकाररहित होनेपर कोई कर्म लागू नहीं होता—'**यस्य नाहङ्कृतो भावो०**' (गीता १८। १७)। अहंकारके रहते हुए शुभ कर्म भी बन्धनकारक होता है।

प्रश्न—करनेमें पूरी सावधानी रखनेसे अहंकार नहीं आयेगा क्या?

स्वामीजी—अहंकार गया ही कहाँ, जो आ जायगा? करनेमें सावधान रहनेसे अहंकार मिटेगा। कर्मयोगमें अहंकार शुद्ध होता है, ज्ञानयोगमें अहंकार मिटता है और भक्तियोगमें अहंकार बदलता है—तीनोंका परिणाम एक ही होगा कि अहंकार नहीं रहेगा।

अहंकार आये तो 'मैं सावधानी रखता हूँ'—इसका भी आ जायगा! 'मैं त्यागी हूँ'—इसका भी अहंकार आ जायगा!

प्रश्न—गीतामें आया है—'सदसच्चाहम्' (९। १९), 'न सत्तन्नासदुच्यते' (१३। १२) आदि। पूर्ण सत्य क्या है?

स्वामीजी—भक्तिकी दृष्टिसे कहा है—'**सदसच्चाहम्**' (सत् भी मैं हूँ और असत् भी मैं हूँ)। ज्ञानकी दृष्टिसे कहा है—'**न सत्तन्नासदुच्यते**' (उसे न सत् कहा जा सकता है, न असत्)। सभी बातें ठीक हैं। सबका तात्पर्य यही है कि एक परमात्मा ही हैं, असत् है ही नहीं।

प्रश्न—नामकी शक्ति तो सभी युगोंमें है, फिर चैतन्य महाप्रभुके इस कथनका क्या तात्पर्य है कि भगवान्‌ने कलियुगमें अपने नाममें सब शक्ति भर दी?

स्वामीजी—उनके कथनका तात्पर्य है कि कलियुगमें केवल नाम-जपसे ही सब हो जायगा।

प्रश्न—रामायणके काकभुशुण्डिजी भक्तिको सर्वोपरि कहते हैं और योगवासिष्ठके काकभुशुण्डिजी ज्ञानको सर्वोपरि कहते हैं, हम किसको मानें?

स्वामीजी—गहरा विचार करें तो तत्त्व एक ही है। दोनोंमें कोई फर्क नहीं है, केवल दृष्टिकोण (साधन-दृष्टि)-का भेद है—'**भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥**' (मानस, उत्तर० ११५। ७)

'**प्रेम भगति जल बिनु रघुराई०**'—प्रेमके बिना

ज्ञान रूखा, कठोर होता है। प्रेमके बिना ज्ञान शून्यतामें चला जाता है और ज्ञानके बिना प्रेम आसक्तिमें चला जाता है।

प्रश्न—जीवन्मुक्त यदि व्यवहारमें उतरे तो क्या अहंकार अनिवार्य है?

स्वामीजी—नहीं। उसके द्वारा अहंकाररहित 'क्रिया' होती है, अहंकारयुक्त 'कर्म' नहीं होता—'**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे**' (मुण्डक० २। २। ८)।

प्रश्न—भगवान्‌के अवतारी शरीरको 'मायाकृत' कहा गया है; अतः अवतारी शरीर प्राकृत हुआ?

स्वामीजी—वह माया है—भगवान्‌की इच्छा—'**निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार**' (मानस, बाल० १९२), '**अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः**' (श्रीमद्भा० ११। ११। २८)।

अवतारी शरीर प्राकृत (पांचभौतिक) नहीं है—'**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया**' (गीता ४। ६), '**जन्म कर्म च मे दिव्यम्**' (गीता ४। ९), '**चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥**' (मानस, अयोध्या० १२७। ३)

प्रश्न—सगुण तो गुणोंमें है। त्रिगुणातीत केवल निर्गुण-निराकार है?

स्वामीजी—ऐसा नहीं है। श्रीमद्भागवतमें सगुणको भी 'निर्गुण' कहा गया है (११। २५। २५, २७)। सगुण उसे नहीं कहते, जिसमें सत्त्व-रज-तम गुण हैं, प्रत्युत उसे कहते हैं, जिसमें ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि दिव्य गुण हैं। गुणोंके अनुसार क्रिया होती है, पर भगवान् गुणोंसे निर्लिप्त रहते हैं। इसलिये गीतामें गुणातीत महापुरुषके लिये भी यही बात कही है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

'हे पाण्डव! प्रकाश और प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो इनकी इच्छा नहीं करता।'

सगुणमें अपरा नहीं है; किन्तु क्रिया अपराकी होती है।

प्रश्न—सगुण-साकार और सगुण-निराकार मायासे पार जानेमें ही सहायक हैं?

स्वामीजी—ठीक है, पर हम सगुण-साकार, सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकार—तीनोंमें भेद नहीं मानते। एक ही तत्त्व इन तीन रूपोंमें है।

प्रश्न—शाण्डिल्यका भक्तिसूत्र वेदोंसे विशेष है या विरुद्ध?

स्वामीजी—भक्तिसूत्र वेदोंसे विरुद्ध नहीं है, प्रत्युत वेदोंसे विशेषता प्रकट करनेवाला है।

प्रश्न—लोकसंग्रह करें कि नहीं?

स्वामीजी—यदि आपको ज्यादा लोग जानते हैं, श्रेष्ठ मानते हैं तो लोकसंग्रह आपके लिये आवश्यक हो जाता है—'**लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि**' (गीता ३। २०)। हाँ, यदि ज्यादा लोग आपको न जानते हों तो अवधूत होकर रह सकते हैं।

वास्तवमें बोधवान्‌के लिये कोई विधि है ही नहीं। विधि साधकोंके लिये है। कई महात्मा लोगोंमें प्रसिद्ध होनेपर भी अवधूत होकर रहते हैं तो यह स्वभाव-भेदसे है।

प्रश्न—क्या 'वासुदेव' निर्गुण ब्रह्म है?

स्वामीजी—'वासुदेव' का अर्थ है—वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण, जो सगुण-साकार हैं और जो गीतामें कहते हैं—'**मया ततमिदं सर्वम्**' (९। ४) आदि।

प्रश्न—तैत्तिरीयमें तपसे ब्रह्मको जाननेकी बात आयी है, फिर तपसे शक्ति पैदा होती है, कल्याण नहीं होता—इसका तात्पर्य?

स्वामीजी—तपसे तत्त्वज्ञान परम्परासे हो सकता है, साक्षात् नहीं। वेदान्तमें ज्ञानप्राप्तिके आठ अंतरंग साधन बताये हैं—विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत्त्वपदार्थसंशोधन। तप अंतरंग साधन नहीं है, प्रत्युत बहिरंग साधन है।

'ज्ञान' को भी तप माना गया है, जिससे तत्त्वप्राप्ति होती है—'**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः**' (गीता ४। १०)। शरीरकी तपस्यासे तत्त्वप्राप्ति नहीं होती।

प्रश्न—वेदोंमें, शास्त्रोंमें जगह-जगह विविधता, विपरीतता दीखती है, जिससे गलत धारणा बन सकती है?

स्वामीजी—गइराईसे विचार करना चाहिये कि कहाँ क्या कहा गया है और क्यों कहा गया है। शास्त्रोंका सिद्धान्त समझना मामूली बात नहीं है। गहराईसे विचार करें तो अनेकतामें एकता और एकतामें अनेकता दीखती है। गीतामें इस शास्त्रीय जालको साधकके लिये बाधक बताया गया है—'**श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला**' (२। ५३)।

प्रश्न—आपने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगको स्वतन्त्र साधन भी कहा है और यह भी कहा है कि कर्मयोग और ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है—यह भेद किस दृष्टिसे है?

स्वामीजी—दोनों ही बातें ठीक हैं। यह साधककी इच्छापर है कि वह किसको माने। गहरा विचार करनेपर कर्मयोग और ज्ञानयोग (लौकिक निष्ठा) साधन सिद्ध होते हैं। गीता और भागवतमें भी ऐसा ही आया है।

प्रश्न—ज्ञानीको शाप-वरदान लगते हैं क्या?

स्वामीजी—शाप-वरदान अज्ञान होनेपर लगते हैं। बोध होनेपर जीवन्मुक्तको शाप-वरदान नहीं लगते। जैसे, नारदजीने भगवान्‌को शाप दिया तो भगवान्‌ने कहा—'**मम इच्छा कह दीनदयाला**' (मानस, बाल० १३८। २)। भगवान् श्रीकृष्णने उत्तंक ऋषिसे कहा कि तुम मुझे शाप दोगे तो मुझे तो शाप लगेगा नहीं, पर तुम्हारी तपस्या क्षीण हो जायगी (महा०, आश्व० ५३। २४—२६)।

प्रश्न—तत्-त्वम्‌का शोध करते हुए आचार्योंने ईश्वरकी उपाधि मानी है। जीवकी अविद्या उपाधि है। दोनों उपाधियाँ मिथ्या हैं। उपाधि मिटते ही न ईश्वर रहता है, न जीव, केवल ब्रह्म रह जाता है। फिर ब्रह्म समग्रके अन्तर्गत कैसे?

स्वामीजी—यह एक मतकी बात है। गीता इसे नहीं मानती। गीता जीवको ईश्वरका अंश मानती है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (१५। ७)। अपने अद्वैत सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिये ही दूसरे सिद्धान्तको, ईश्वरको कल्पित कहा गया है। वास्तवमें ईश्वर कल्पित नहीं है।

प्रश्न—समग्र क्या है? समग्र तो मिथ्या है, फिर उसके अन्तर्गत ब्रह्म कैसे?

स्वामीजी—अपनी बात लोगोंको समझानेके लिये शब्दोंका सहारा लेना ही पड़ता है! हमें गीतासे 'समग्र' शब्द मिला। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'**असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु**' (७। १) अर्थात् तू मेरे समग्ररूपको निःसन्देह जिस प्रकारसे जानेगा, उसको सुन। ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ (गीता ७। २९-३०)। इसी समग्ररूपके अन्तर्गत ब्रह्म है।

सगुण-साकार, सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकारमें भेद नहीं है—यही समग्ररूप है। 'ब्रह्म' केवल निर्गुण-निराकार होता है, इसलिये उसके अन्तर्गत सगुण-साकार नहीं आ सकता। परन्तु समग्रके अन्तर्गत तीनों आ जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), परमात्मा (सगुण-निराकार) और भगवान् (सगुण-साकार)—तीनोंको एक बताया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(१। २। ११)

समग्र मिथ्या है—यह बात साधकके लिये है; क्योंकि जगत्‌को जीव ही धारण करता है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। जगत् जीव अथवा साधककी दृष्टिमें है, महात्मा या भगवान्‌की दृष्टिमें नहीं। मिथ्या इसलिये कहा है कि साधककी दृष्टि उधर न जाय। वास्तवमें एक चिन्मय तत्त्व ही है।

लोगोंको उसी भाषामें समझाया जाता है, जहाँ वे स्थित हैं। लोगोंकी दृष्टिमें '**सर्वम्**' की सत्ता है, तभी कहना पड़ता है—'**वासुदेवः सर्वम्**', अन्यथा केवल '**वासुदेव**' ही है, '**सर्वम्**' है ही नहीं। '**वासुदेव**' सच्चा है, '**सर्वम्**' मिथ्या है। इसी तरह लोगोंकी बुद्धिमें 'समग्र' बैठा हुआ है, तभी हम कहते हैं कि परमात्मा समग्र हैं। असली तत्त्वमें शब्द नहीं है, प्रश्न और उत्तर भी नहीं है, प्रत्युत मौन है!

समग्र मिथ्या है—यह भी साधन है और समग्र परमात्मा है—यह भी साधन है। परन्तु समग्र (सब कुछ) परमात्मा है—यह साधन सब साधनोंसे तेज है।

द्वैतवाद, अद्वैतवाद, अजातवाद आदि सब साधन हैं, सिद्धान्त नहीं हैं। सिद्धान्त है—'**वासुदेवः सर्वम्।**' सिद्धान्तको न माननेसे ही आपसमें मतभेद होते हैं, खटपट होती है।

एक साधन-तत्त्व होता है, एक साध्य होता है। सब साधन मिलकर साधन-तत्त्व होता है। साध्य 'समग्र' है, जिसमें मतभेद नहीं है।

वेदान्तके ग्रन्थ ज्ञानयोगको मुख्य मानते हैं और कर्मयोग एवं भक्तियोगको सहायक साधन (मल-विक्षेप दोष दूर करनेवाले) मानते हैं। परन्तु गीता कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंको स्वतन्त्र साधन मानती है।

प्रश्न—जीव (अध्यात्म) मिथ्या है?

स्वामीजी—अद्वैत वेदान्त भी जीवको मिथ्या नहीं मानता, प्रत्युत जीवकी उपाधि (जीवपना)-को मिथ्या मानता है। यदि जीव मिथ्या है तो ब्रह्मानन्दका सुख कौन भोगेगा? मुक्ति किसकी होगी? मुक्ति होनेपर यदि जीव मिट जाय तो मुक्ति अर्थात् अपना विनाश कौन चाहेगा? अतः जीवपना मिथ्या है, जीव नहीं। जीव तो भगवान्‌का अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)।

प्रश्न—आपने पुस्तकमें लिखा है कि परमात्माके सिवाय सृष्टिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है?

स्वामीजी—ठीक बात है। इसमें शंका क्या है? पुनः उसे पढ़कर समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये। बात मूलमें एक ही है, पर समझानेके अलग-अलग ढंग हैं।

उदाहरणके लिये—रस्सीमें साँप दीखनेसे जो लोग भयभीत हो जाते हैं, उनके लिये कहते हैं कि 'साँप नहीं है, रस्सी है।' परन्तु जो लोग भयभीत नहीं होते, उनके लिये केवल इतना ही कहते हैं कि 'रस्सी है'। दोनों बातोंमें कोई फर्क नहीं है। इसी तरह जिनकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, उन रागयुक्त साधकोंके लिये कहते हैं कि 'संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, परमात्माकी ही सत्ता है'। परन्तु जिनकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता नहीं है, उन वीतराग साधकोंके लिये 'केवल परमात्मा हैं' इतना ही कहना पड़ता है।

पहले भी कहा था, पुनः कहते हैं कि संसार मिथ्या है—यह साधककी धारणासे है; क्योंकि जड़ता (मिथ्यापना) हमारी ही बुद्धिमें है, वास्तवमें है नहीं। जगत् जीवकी दृष्टिमें है। साधककी दृष्टिमें '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**' है, पर सिद्धकी दृष्टिमें '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' है।

प्रश्न—अध्यारोप-अपवादको नहीं मानें, शुद्ध अजातवाद मानें?

स्वामीजी—संसार पहलेसे ही अध्यारोपित है, केवल अपवाद ही करना है। अतः अध्यारोप करना ही गलत है। अजातवादको मैं साधन मानता हूँ। यह केवल संसारकी आसक्ति मिटानेके काम आता है, यह सिद्धान्त नहीं है।

साधकोपयोगी प्रश्नोत्तर
(अहंता-ममताका त्याग)

प्रश्न—क्या अहंता-ममता सर्वथा मिट सकती हैं?

स्वामीजी—हाँ मिट सकती हैं। अगर अहंता-ममता नहीं मिटतीं अथवा मिटनेवाली नहीं होतीं तो भगवान् गीतामें अहंता-ममतासे रहित होनेकी बात क्यों कहते? भगवान् कहते हैं—'**निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति**' (गीता २।७१), '**निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी**' (गीता १२।१३), '**अहङ्कारं.........विमुच्य निर्ममः**' (गीता १८।५३)। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य अहंता-ममतासे रहित हो सकता है।

वास्तवमें देखा जाय तो त्याग उसी वस्तुका होता है, जो पहलेसे ही अपनी नहीं होती, प्रत्युत केवल अपनी मानी हुई होती है। अतः झूठी मान्यताका ही त्याग होता है। जो वस्तु वास्तवमें अपनी होती है, उसका त्याग नहीं होता।

स्वरूपमें अहंता-ममता नहीं हैं। प्रकृतिके कार्य शरीरादिके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही अहंता-ममता पैदा होती हैं।

प्रश्न—अहंता-ममता तो अन्तःकरणके धर्म हैं; अतः इनको कैसे मिटाया जा सकता है?

स्वामीजी—अहंता-ममता अन्तःकरणके धर्म नहीं हैं, प्रत्युत अन्तःकरणके (अज्ञानजनित) विकार हैं। जो धर्म होता है, वह धर्मीके रहते हुए कभी मिटाया नहीं जा सकता। वह धर्मीमें एकरूप रहता है। यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है कि किसीमें कम अभिमान होता है और किसीमें अधिक अभिमान होता है अर्थात् अहंता-ममता कम-ज्यादा होते हैं; परन्तु अन्तःकरण कम-ज्यादा नहीं होता। अतः अहंता-ममता अन्तःकरणके धर्म कैसे? अहंता-ममता आगन्तुक हैं; अतः ये कभी बढ़ जाते हैं, कभी घट जाते हैं। आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्योंके अभिमान आदि बहुत बढ़ जाते हैं और दैवी सम्पत्तिवाले मनुष्योंके अभिमान आदि बहुत कम हो जाते हैं। तात्पर्य है कि अहंता-ममता अन्तःकरणके विकार हैं और इनको मिटाया जा सकता है।

प्रश्न—अहंता-ममताके बिना व्यवहार कैसे होगा?

स्वामीजी—व्यवहारमें अहंता-ममता कारण नहीं हैं, प्रत्युत नीति, धर्म, मर्यादा आदि कारण हैं। अहंता-ममता ज्यादा होनेसे व्यवहार बिगड़ जाता है। अहंता-ममताके बिना व्यवहार शुद्ध होता है। अहंता-ममतारहित व्यक्तिके द्वारा आदर्श व्यवहार होता है। जो अहंता-ममताके वशीभूत होते हैं, उनके आचरण मर्यादायुक्त, धर्मयुक्त नहीं होते।

प्रश्न—यदि माता-पिता बालकोंमें ममता नहीं रखेंगे तो फिर उनका सुधार कैसे कर पायेंगे?

स्वामीजी—यह बात बिलकुल गलत है। बालकमें ममता होनेसे उसमें मोह हो जाता है और मोहपूर्वक पालन करनेसे न बालकका हित (सुधार) होता है, न अपना, प्रत्युत मोह ही बढ़ता है। मोहसे आसुरी सम्पत्ति बढ़ती है।

एक बालक माँके पास रहता है, एक बालक पिताके पास रहता है, एक बालक अध्यापकके पास रहता है और एक बालक महात्माके पास रहता है। विचारपूर्वक देखें तो महात्माके पास रहनेवाला बालक जितना सुधरेगा, उतना अध्यापकके पास रहनेवाला नहीं। अध्यापकके पास रहनेवाला बालक जितना सुधरेगा, उतना पिताके पास रहनेवाला नहीं। पिताके पास रहनेवाला बालक जितना सुधरेगा, उतना माँके पास रहनेवाला नहीं। कारण यह है कि माँमें मोह ज्यादा होता है, माँकी अपेक्षा पितामें मोह कम होता है, पिताकी अपेक्षा अध्यापकमें मोह कम होता है और महात्मामें मोह होता ही नहीं। अतः ममता

रखकर पालन करनेसे बालकका सुधार होता है—यह बात बिलकुल झूठी है।

जो वैद्य या डॉक्टर सब लोगोंका इलाज करते हैं, वे अपने स्त्री-बच्चोंका इलाज करनेके लिये दूसरे वैद्य या डॉक्टरको बुलाते हैं। कारण कि अपने स्त्री-बच्चोंमें मोह-ममता ज्यादा होनेसे वे खुद उनका इलाज नहीं कर सकते। जहाँ मोह-ममता ज्यादा होती है, वहाँ बुद्धिका विकास कम होता है। अतः दूसरे वैद्य औषधि, पथ्य आदिका जितना विचार कर सकते हैं, उतना विचार ममतावाले नहीं कर सकते। तात्पर्य है कि ममतारहित वैद्य-डॉक्टर ही अपने स्त्री-बच्चोंका इलाज कर सकते हैं।

धृतराष्ट्रकी दुर्योधनमें बहुत ममता थी। महात्मा विदुरजीने धृतराष्ट्रको बहुत समझाया, पर ममताके कारण वे दुर्योधनका सुधार नहीं कर सके, जिससे कुलका ही विनाश हो गया। तात्पर्य है कि ममतासे पतन ही होता है, सुधार नहीं।

प्रश्न—गृहस्थमें रहते हुए अहंता-ममताका त्याग कैसे होगा?

स्वामीजी—अहंता-ममता न छूटनेमें गृहस्थ या साधु अथवा घर या सन्न्यास कारण नहीं है। बन्धन भीतरके भावसे, नीयतसे होता है। कुटुम्बके साथ सम्बन्ध होनेसे गृहस्थका व्यवहार ज्यादा होता है और निवृत्तिपूर्वक साधु बननेसे व्यवहार कम होता है—इस प्रकार व्यवहारमें तो फर्क पड़ता है, पर मुक्तिमें कोई फर्क नहीं पड़ता।

अपने सुखकी इच्छा छोड़नेसे ममता छूट जाती है। जैसे, माँ बालकका पालन करनेके लिये ही बालकको अपना माने, परिवारमें एक-दूसरेकी सेवा करनेके लिये ही परिवारको अपना माने तो ममता छूट जायगी। अगर माँ बालकसे सुखकी आशा रखे कि यह बड़ा होगा तो इसका विवाह करूँगी, बहू आयेगी, फिर दोनों मेरी सेवा करेंगे आदि, तो उसकी ममता नहीं छूटेगी। ऐसे ही परिवारसे अपनी सुख-सुविधाकी इच्छा रखें तो ममता नहीं छूटेगी।

सत्कार्य (शुभ कार्य) वही है, जिसमें अपनी सुख-सुविधाकी, लोक-परलोक सुधरनेकी कुछ भी इच्छा न हो। जिसमें अपनी सुख-सुविधा, आराम आदिकी इच्छा होती है, वह कर्म असत्, अशुभ हो जाता है और बन्धनका कारण बन जाता है। जैसे, सेवा-समितिवाले मेलेमें केवल दूसरोंकी सुख-सुविधाके लिये ही जाते हैं तो वे किसीसे बँधते नहीं। परन्तु उनमें भी अगर मान-बड़ाई आदिकी इच्छा होगी तो वे बँध जायँगे।

जैसे, कोई सज्जन पथिक रात्रिमें किसीके घरपर ठहरता है तो वह घरवालोंको बिना कोई बाधा दिये ही भोजन, शयन इत्यादि करके अपना निर्वाह करता है। परन्तु रात्रिमें चोर-डाकू आ जायँ, घरमें आग लग जाय तो रक्षा करनेके लिये वह सबसे पहले तैयार होता है, दौड़-धूप करता है। कारण कि वह समझता है कि मैंने इनके घरका अन्न-जल लिया है; अतः किसी भी प्रकारसे इनकी सेवा बन जाय तो मैं इनके ऋणसे मुक्त हो जाऊँ। ऐसे ही परिवारमें रहते हुए प्रत्येक सदस्य यही सोचे कि इस परिवारमें मेरा जन्म हुआ है, पालन-पोषण हुआ है, मैं शिक्षित हुआ हूँ; अतः मेरे तन-मन-धनसे इनकी सेवा बन जाय, जिससे मैं इनका ऋणी न रहूँ। ऐसे भावसे घर-परिवारमें रहे तो पथिककी तरह घरमें ममता नहीं रहेगी। जैसे पथिक सुबह होते ही वहाँसे चल देता है, फिर उसको वह घर याद नहीं आता; क्योंकि उसकी उस घरमें ममता नहीं होती। ऐसे ही घरमें पथिककी तरह ईमानदारीसे रहते हुए तत्परता एवं उत्साहपूर्वक सबकी सेवा करनेसे ममता टूट जाती है—'**यः सर्वत्रानभिस्नेहः**' (गीता २।५७), '**असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु**' (गीता १३।९)। तात्पर्य है कि परिवारमें रहते हुए सबकी सेवा करें, पर बदलेमें सेवाकी इच्छा न रखें। शरीरसे परिश्रम करके सेवा करनेसे 'अहंता' नहीं रहेगी और उदारतापूर्वक वस्तुएँ सेवामें खर्च करनेसे 'ममता' नहीं रहेगी।

घरमें रहते हुए सेवा न लें—इसमें कठिनता जरूर है; क्योंकि सेवा लेनेकी आदत पड़ी हुई है। अत: कभी सेवा लेनी भी पड़े तो केवल दूसरेकी प्रसन्नताके लिये ही सेवा लें। दूसरेकी प्रसन्नताके लिये सेवा लेना भी वास्तवमें देना ही है! जैसे, पत्नी भोजन बनाये तो उसकी प्रसन्नताके लिये भोजन करे, अपने आराम, बलवृद्धि आदिके लिये नहीं। वास्तवमें देखा जाय तो संसार केवल ममता रखनेसे राजी नहीं होता, प्रत्युत सेवा करनेसे अथवा वस्तु देनेसे राजी होता है।

अपने स्त्री-पुत्र, परिवारमें ममता रखकर सेवा करेंगे तो उस सेवाकी मिट्टी हो जायगी; क्योंकि ममता व स्वार्थबुद्धि होनेसे वह सेवा खत्म हो जाती है। अपने बच्चोंका ममतापूर्वक पालन तो कुतिया भी करती है, पर उसका महत्त्व थोड़े ही है! अत: चाहे ममतारहित होकर घरवालोंकी सेवा करें, चाहे जिनमें ममता नहीं है, उनकी सेवा करें, दोनोंका नतीजा एक ही होगा। तात्पर्य है कि बन्धनका कारण ममता ही है। घरमें रहना बन्धनका कारण नहीं है।

जैसे, सद्वैद्य केवल सेवा करनेके लिये ही रोगीको अपना मानता है तो यह अपनापन (ममता) केवल उसको नीरोग करनेके लिये ही है। इसकी परीक्षा तब होती है, जब रोगी नीरोग होकर वैद्यकी विरोधी पार्टीमें शामिल हो जाय और वैद्यके विरुद्ध कार्य करे, फिर भी वैद्य ऐसा समझे कि मेरा उद्योग तो केवल उसको ठीक करनेका ही था, अब उसका उद्योग मेरेको दु:ख देनेका है तो अच्छी बात है। मैंने तो अपने कर्तव्यका पालन कर दिया। मैंने उसकी जो सेवा की है, वह उसको अपने अधीन बनानेके लिये थोड़े ही की है। वह सब कुछ करनेमें स्वतन्त्र है।

प्रश्न—अहंता-ममताके बिना तो मनुष्य जड़ हो जायगा?

स्वामीजी—यह बात नहीं है। अहंता-ममताके बिना मनुष्य पत्थरकी तरह जड़ नहीं हो जायगा, प्रत्युत सावधान, सजग हो जायगा कि ये वस्तु-व्यक्ति पहले भी मेरे नहीं थे, बादमें भी मेरे नहीं रहेंगे और वर्तमानमें भी मेरे नहीं हैं; क्योंकि ये प्रतिक्षण मेरेसे अलग हो रहे हैं। हाँ, इनकी सेवा, सदुपयोग करके मैं अपना कल्याण कर सकता हूँ। वास्तवमें अपना कल्याण होनेमें धनादि पदार्थ कारण नहीं हैं, प्रत्युत उन पदार्थोंमें अपनी ममताका त्याग ही कारण है।

प्रश्न—अहम्‌का अर्थात् अपनी सत्ताका नाश हो जाय—ऐसी मुक्ति कौन चाहेगा?

स्वामीजी—अहंता-ममता मिटनेसे अपनी सत्ताका नाश नहीं होता, प्रत्युत तुच्छताका नाश होता है और अपनी महत्ता प्रकट हो जाती है, जो वास्तवमें है—'**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः**' (गीता २। २४)।

प्रश्न—'मैं साधक हूँ'—ऐसी अहंताके बिना साधन कैसे होगा?

स्वामीजी—'मैं साधक हूँ'—इसमें दो भाव होते हैं—१. मैं साधक हूँ, दूसरे साधक नहीं हैं और २. मैं साधक हूँ; अत: मुझे साधनसे विरुद्ध काम नहीं करना है।

मैं साधक हूँ, दूसरे साधक नहीं हैं—ऐसा भाव होनेसे अभिमान आता है। यह अभिमान आसुरी सम्पत्ति है (गीता १६। १४-१५), जो बन्धनका कारण है—'**निबन्धायासुरी मता**' (गीता १६। ५)। परन्तु मैं साधक हूँ; अत: मैं साधनसे विरुद्ध काम कैसे कर सकता हूँ?—ऐसा भाव होनेसे अभिमान नहीं आता, प्रत्युत साधनमें तत्परता आती है, जिससे साधनकी सिद्धि होती है।

प्रश्न—अपनापन (ममता)-के बिना दान कैसे दिया जायगा? कारण कि अपनी वस्तुका ही दान होता है।

स्वामीजी—वस्तुमें अपनापन वास्तवमें नहीं है, प्रत्युत माना हुआ है। वह माना हुआ अपनापन भी केवल कर्तव्य-पालनके लिये ही है। अत: मनुष्य दान-पुण्य कर सकता है, धन आदिसे निर्लिप्त रह सकता है। परन्तु ममता करनेवाला दान-पुण्य कर ही नहीं सकता; क्योंकि वह कृपण हो जाता है। वह

अन्यायपूर्वक कमाता है, पर न्यायपूर्वक जहाँ खर्च करना चाहिये, वहाँ खर्च नहीं करता। वह दूसरोंका धन हड़पनेके लिये उद्योग करता है और मौका लगनेपर हड़प भी लेता है। अत: ऐसा व्यक्ति क्या दान-पुण्य करेगा? वह दान-पुण्य कर ही नहीं सकता। एक कहावत है कि 'दाताका धन अपना नहीं और शूरवीरका सिर अपना नहीं'। अपना माननेवाला न तो दाता हो सकता है और न शूरवीर ही हो सकता है।

प्रश्न—'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसा माननेसे 'मैं'-पना रह जायगा न? और श्रुति भी कहती है—'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (बृहदारण्यक० १। ४। २) अर्थात् दूसरेसे भय होता है। अत: इससे साधन कैसे होगा? इससे तो द्वैतपना ही दृढ़ होगा।

स्वामीजी—ऐसी बात नहीं है। भगवान् द्वितीय (दूसरे) नहीं हैं, प्रत्युत आत्मीय हैं। आत्मीयसे भय नहीं होता, प्रत्युत निर्भयता होती है। भय तो दूसरेसे होता है; जैसे—बालकको कुत्ते, कौए आदिसे भय होता है, पर माँसे भय नहीं होता। बालक माँकी गोदमें निर्भय रहता है। माँ तो एक जन्मकी होती है, पर भगवान् सदाकी माँ हैं। भगवान् सदासे अपने हैं, दूसरे हैं ही नहीं। उनमें दूसरेपनकी सम्भावना ही नहीं है। फिर अपने प्रभुसे भय कैसे होगा? वास्तवमें भगवान्‌से अलग होनेपर, अपनेको भगवान्‌से अलग माननेपर ही भय होता है अर्थात् भगवान्‌से अलग होकर संसारको अपना माननेसे ही भय होता है।

भक्तिमें ऐसा आया है—'**अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥**' (मानस, अरण्य० ११। ११) अर्थात् वास्तवमें यह अभिमान निरभिमानता है; क्योंकि 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इसमें अहंता-ममता नहीं है। यह तो वास्तविकता है। भगवान्‌ने भी कहा है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:**' (गीता १५। ७) 'यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।'

वस्तुओंको अपना माननेसे जड़ता और भगवान्‌को अपना माननेसे चिन्मयता आती है। ममतासे वस्तुओंकी गुलामी आती है।

प्रश्न—अभिमान और स्वाभिमानमें क्या अन्तर है?

स्वामीजी—अपनेमें बड़प्पनका भाव होनेसे 'अभिमान' होता है और अपने कर्तव्यका 'स्वाभिमान' होता है कि मैं ऐसा काम कैसे कर सकता हूँ? जैसे, यक्षने युधिष्ठिरसे कहा कि मैं तुम्हारे एक भाईको जीवित कर सकता हूँ, तुम बताओ, किसको जीवित करूँ? युधिष्ठिरने कहा कि हे यक्ष! नकुल जी उठे। इसपर यक्षने कहा कि यदि भीम या अर्जुन जी जाते तो तेरा गया हुआ राज्य दिला देते, नकुल जीकर क्या करेगा? युधिष्ठिर बोले—माता कुन्तीका पुत्र तो मैं हूँ ही, पर मेरी छोटी माता माद्रीका भी एक पुत्र रहना चाहिये। मैं अपने सहोदर भाईको कैसे जिला सकता हूँ; क्योंकि लोग मुझे धर्मात्मा कहते हैं—

धर्मशील: सदा राजा इति मां मानवा विदु:।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु॥

(महा०, वन० ३१३। १३०)

'यक्ष! लोग मेरे विषयमें ऐसा समझते हैं कि राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं; अत: मैं अपने धर्मसे विचलित नहीं होऊँगा। मेरा भाई नकुल जीवित हो जाय।'—यह युधिष्ठिरका स्वाभिमान है।

तात्पर्य है कि अपने कर्तव्यपर डटे रहना, अपनी भलाईका कभी त्याग न करना स्वाभिमान कहलाता है।

प्रश्न—जीवन्मुक्त महापुरुषमें अहंता-ममता नहीं रहती तो फिर उसके द्वारा व्यवहार कैसे होता है?

स्वामीजी—अहंता-ममता मिटनेसे शरीर नहीं मिटता, प्रत्युत शरीरके साथ तादात्म्य मिटता है। अत: जीवन्मुक्त महापुरुषका व्यवहार पूर्वके प्रवाहसे ज्यों-का-त्यों चलता रहता है, पर उसके व्यवहारमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार नहीं रहते। उसका व्यवहार निर्लिप्ततासे होता है अर्थात् शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे जो विकार होते थे, वे विकार नहीं

होते। उसमें चिज्जड़ग्रन्थि- रूप अहंकार नहीं रहता, प्रत्युत वृत्तिरूप (कारणरूप) अहंकार रहता है, जिससे व्यवहार होता है। जैसे मूँजकी रस्सी जलनेपर भी उसकी ऐंठन (बट) दीखती है, पर हाथ लगाते ही वह बिखर जाती है, बीजोंको भूनने अथवा उबालनेपर वे बीज खानेके काम तो आते हैं, पर उनसे अंकुर पैदा नहीं होता, ऐसे ही अहंता-ममता न रहनेपर व्यवहार तो ज्यों-का-त्यों चलता रहता है, पर उससे जन्म-मरणरूप अंकुर पैदा नहीं होता।

जबतक प्रारब्धका वेग रहता है, तबतक जीवन्मुक्त महापुरुषके द्वारा सुचारुरूपसे व्यवहार होता रहता है। वह व्यवहार दूसरोंके लिये आदर्श होता है। उसके व्यवहारसे शास्त्र बनते हैं। उस महापुरुषके व्यवहारका, आचरणोंका, अवस्थाका वर्णन करनेमें लेखन-प्रमादके कारण शास्त्रोंमें भूल हो सकती है, पर उसके आचरणोंमें भूल नहीं हो सकती।

भूलके दो रूप हैं—तादात्म्यरूप भूल और विस्मृतिरूप भूल। जीवन्मुक्त महापुरुषमें तादात्म्यरूप भूल तो रहती ही नहीं, पर व्यवहारमें विस्मृतिरूप भूल हो सकती है। जैसे, उसे रस्सीमें साँप दीख सकता है, पर मोह नहीं हो सकता। जिस धातुकी इन्द्रियाँ, अन्त:करण आदि हैं, उसी धातुका संसार है। अत: उसे इन्द्रियोंसे संसार दीख सकता है, पर मोह नहीं हो सकता।

प्रश्न—लोमशजी अहंता-ममतारहित महात्मा थे, फिर उनको क्रोध कैसे आ गया?

स्वामीजी—महात्माके द्वारा चार प्रकारसे व्यवहार होता है—१. खुदके प्रारब्धसे २. सामनेवाले व्यक्तिके प्रारब्धसे ३. अपनी साधनाके अनुसार और ४. सामनेवाले व्यक्तिके भावके अनुसार।

१. जिस प्रारब्धसे महात्माका शरीर बना है, उसके अनुसार महात्माके द्वारा व्यवहार होता रहता है।

२. सामनेवाले व्यक्तिके प्रारब्धसे कभी-कभी महापुरुषोंमें शाप अथवा अनुग्रहकी वृत्ति हो जाती है। शापकी वृत्ति होनेपर भी उससे बन्धन नहीं होता। अनुग्रहमें सामनेवाले व्यक्तिका अधिक पूज्यभाव, श्रद्धाभाव, आदरभाव, सेवाभाव कारण होता है। शापमें सामनेवाले व्यक्तिका पाप और महात्माका अपमान, तिरस्कार, खण्डन आदि कारण होते हैं। परन्तु महापुरुषोंके शापसे किसीका अहित नहीं होता—'**साधु ते होइ न कारज हानी**' (मानस, सुन्दर० ६। २)। इसलिये अहल्याने ऋषि-शापको भी परम अनुग्रह माना—'**मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना**' (मानस, बाल० २११। ३)। नारदजीने नल-कूबरको वृक्ष होनेका शाप दिया, पर अन्तमें नलकूबरको भगवान्‌के दर्शन हो गये, जो कि अनन्यभक्तिसे होते हैं*। लोमशजीने काकभुशुण्डिजीको शाप दिया तो उससे उनमें विशेषता ही आयी। स्वयं काकभुशुण्डिजीने कहा है—

भगति पच्छ हठ करि रहेउँ दीन्हि महारिषि साप।
मुनि दुर्लभ बर पायउँ देखहु भजन प्रताप॥

(मानस, उत्तर० ११४ ख)

३. महापुरुष जिस साधनासे तत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं, उसके अनुसार (सिद्धावस्थामें भी) उनका व्यवहार होता है। जो महापुरुष ज्ञानयोगसे सिद्धिको प्राप्त हुआ है, उसमें उदासीनता, तटस्थता, निरपेक्षता मुख्य रहती है। कर्मयोगसे सिद्धिको प्राप्त हुए महापुरुषमें कर्मप्रवणता (कर्म करनेका प्रवाह) मुख्य रहती है। भक्तियोगसे भगवान्‌को प्राप्त हुए महापुरुषमें करुणा, दया, भगवच्चर्चा आदि मुख्य रहते हैं। तात्पर्य है कि साधनावस्थामें उनका जैसा स्वभाव रहा

---

* भगवान् कहते हैं—

साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्। दर्शनान्नो भवेद् बन्ध: पुंसोऽक्ष्णो: सवितुर्यथा॥ (श्रीमद्भा० १०। १०। ४१)

'जिनकी बुद्धि समदर्शिनी है और हृदय पूर्णरूपसे मेरे प्रति समर्पित है, उन साधु पुरुषोंके दर्शनसे बन्धन होना ठीक वैसे ही सम्भव नहीं है, जैसे सूर्योदय होनेपर मनुष्यके नेत्रोंके सामने अन्धकारका होना।'

है, वही स्वभाव सिद्धावस्थामें भी रहता है।

४. सामनेवाले व्यक्तिका महात्मामें पूज्य, आदरका भाव होता है तो महात्माके द्वारा स्वतः ही ज्ञानकी चर्चा विशेषतासे होती है। परन्तु सामनेवाले व्यक्तिका विशेष आदरभाव न होनेसे महात्माके द्वारा उसके साथ सामान्य बर्ताव होता है। कोई तर्कबुद्धिसे सामने आता है तो उसके साथ उसीके भावके अनुसार उत्तर-प्रत्युत्तर होता है। परन्तु खुद महापुरुषमें कोई विकार नहीं होता।

प्रश्न—दुर्वासा तत्त्वज्ञ महापुरुष थे, फिर वे इतना क्रोध क्यों करते थे?

स्वामीजी—दुर्वासा तपस्वी माने जाते हैं। शाप देना, अनुग्रह करना आदि बातें ऊँचे तपस्वियोंमें ज्यादा होती हैं। उनमें तपोबलका एक अभिमान होता है, जबकि बोधका अभिमान नहीं होता।

तपस्या एक बल है, पूँजी है। उस बलसे शाप और अनुग्रह—दोनों हो सकते हैं। उसका सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी, परन्तु अहंता-ममतारहित, गुणातीत महापुरुषोंके द्वारा प्रायः ऐसा व्यवहार नहीं होता। कभी साधनावस्थाकी वृत्तिका उदय होनेसे अथवा सामनेवालेके प्रारब्धसे उनके द्वारा शाप अथवा अनुग्रहका व्यवहार हो सकता है। परन्तु यह व्यवहार राग-द्वेषपूर्वक हुआ है अथवा निर्विकारतापूर्वक—इस भेदको स्वयं ही जाना जा सकता है। दूसरे व्यक्ति इसे नहीं समझ सकते; क्योंकि उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है।

कल्याणकारी प्रश्नोत्तर

प्रश्न—त्याग करनेका उपाय क्या है?

स्वामीजी—त्याग करनेका उपाय है—दूसरोंकी सेवा करें, उनको सुख पहुँचायें, पर बदलेमें उनसे कुछ भी न चाहें। सुख आ जाय तो भगवान्‌को पुकारें कि हे नाथ, बचाओ!

अगर हम माँ-बापसे भी सुख चाहते हैं, बहन-भाईसे भी सुख चाहते हैं, स्त्री-पुत्रसे भी सुख चाहते हैं तो बन्धन कभी मिटेगा नहीं। हम कितना ही पढ़ लें, कितने ही बड़े पण्डित बन जायँ, कितने ही बड़े व्याख्यानदाता बन जायँ, कितने ही बड़े लेखक बन जायँ, पर जबतक हम दूसरोंसे सुख चाहते रहेंगे, तबतक तत्त्वज्ञान नहीं होगा। हम साधु हो गये, पर दूसरोंसे सुख चाहते हैं, आराम चाहते हैं, मान-बड़ाई-आदर चाहते हैं, रोटी-कपड़ा चाहते हैं, मकान चाहते हैं, पुस्तक चाहते हैं, गाड़ीका किराया चाहते हैं तो मुक्तिसे हाथ धोनेके सिवाय कुछ मिलेगा नहीं। कोई कहे कि रोटी नहीं मिलेगी तो मर जायँगे। क्या रोटी खाते-खाते नहीं मरेंगे? मरना तो है ही, नयी बात क्या हो गयी? दृढ़ता इतनी होनी चाहिये कि मर भले ही जायँ, पर संसारकी गुलामी स्वीकार नहीं करेंगे। मरनेमें लाभ ही होगा, पर अहंकारके रहते जीनेमें लाभ नहीं होगा। जबतक अहंकार है, तबतक जीना-मरना चलता रहेगा। संसारकी गुलामी करते हुए जीयेंगे तो चिज्जड़ग्रन्थि ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। सच्ची बात तो यह है कि जिस दिन हमारा मरना लिखा है, उसी दिन मरेंगे। उससे एक क्षण भी पहले नहीं मर सकते और न कोई मार ही सकता है!

प्रश्न—संसारकी कामना होनेमें क्या कारण है?

स्वामीजी—इसमें कारण है—असत् (नाशवान् पदार्थों)-की सत्ता और महत्ता। हम ही असत्‌को सत्ता देते हैं और सत्ता देकर उसमें महत्त्वबुद्धि कर लेते हैं। यह महत्त्वबुद्धि ही हमारे लिये खास बाधक है। हमने शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको महत्ता दे दी, भोगोंको महत्ता दे दी, मान-आदरको महत्ता दे दी, आरामको महत्ता दे दी, रुपयोंको महत्ता दे दी और इस प्रकार खुद ही उसमें फँस गये।

प्रश्न—असत्‌की सत्ता और महत्ता मिटानेका उपाय क्या है?

स्वामीजी— तीन उपाय हैं—योगमार्ग, विवेकमार्ग और विश्वासमार्ग। निष्कामभावपूर्वक दूसरोंकी सेवा करना, उनको सुख पहुँचाना 'योगमार्ग' (कर्मयोग) है। अपने विवेकको महत्त्व देना 'विवेकमार्ग' (ज्ञानयोग) है और भगवान्, शास्त्र, गुरु और सन्तोंपर तथा उनके वचनोंपर विश्वास करना 'विश्वासमार्ग' (भक्तियोग) है। सबसे सरल उपाय है—असत्‌की सत्ता और महत्ता सही न जाय। उत्कट अभिलाषामें जो ताकत है, वह किसी साधनमें नहीं है। असली भूख होनेपर जो भोजन मिलता है, उससे ताकत मिलती है, परन्तु बिना भूखके बढ़िया-से-बढ़िया माल खा लें तो उलटे हानि करेगा, पेट खराब हो जायगा।

समझाना तो गुरु, सन्त, शास्त्र आदिकी जिम्मेवारी है, पर समझी हुई बातको धारण करना, स्वीकार करना हमारी जिम्मेवारी है। जितने भी समझवाले व्यक्ति हैं, वे सब नासमझ व्यक्तियोंके ऋणी हैं। अन्नवाले भूखोंके ऋणी हैं। ज्ञानी अज्ञानियोंके ऋणी हैं। उनको 'ज्ञानी' की पदवी अज्ञानियोंसे ही मिली है। अगर अज्ञानी न हों तो उनको ज्ञानी कौन कहेगा? ऐसे ही धनी निर्धनोंके ऋणी हैं। उनको धनीकी पदवी निर्धनोंके कारण ही मिली है। अगर सब-के-सब धनी हों तो उनको धनी कौन कहेगा? अत: उनको निर्धनोंकी सेवा करके उऋण हो जाना चाहिये। अगर वे अपना ऋण नहीं उतारेंगे तो उनको दु:ख पाना पड़ेगा।

दो आदमी सदा ऋणी रहते हैं—एक बेईमान और दूसरा अभावग्रस्त। बेईमान आदमी देना चाहता ही नहीं और अभावग्रस्त आदमीके पास देनेके लिये है ही नहीं। परन्तु भगवान् और सन्त-महात्मा कभी किंचिन्मात्र भी किसीके ऋणी नहीं रहते। हाँ, अगर उनकी बातोंको कोई सुने ही नहीं, स्वीकार करे ही नहीं तो वे क्या करें?

प्रश्न—परमात्माकी असली भूख कैसे लगे?

स्वामीजी— हमें भोग और संग्रह मिल जाय, मान-बड़ाई मिल जाय, आदर मिल जाय, वाहवाही मिल जाय—यह भूख जबतक है, तबतक परमात्माकी भूख कैसे लग सकती है? नहीं लग सकती। हम भले ही आज मर जायँ, भले ही हमारी निन्दा हो जाय, तिरस्कार हो जाय, कोई हमें सभाके बीचमें जूते मारकर निकाल दे तो यह हमें स्वीकार है, पर हमें परमात्माको प्राप्त करना ही है—ऐसी लगन हो जायगी तो परमात्माकी प्राप्ति अवश्य हो जायगी। परन्तु भोगोंकी इच्छा रहेगी तो न इच्छा पूरी होगी, न परमात्मतत्त्व मिलेगा, प्रत्युत जन्म-जन्मान्तरतक दु:ख पाते रहेंगे।

संसारमें कितने ही भोग, रुपये, मान-आदर आदि मिल जायँ, पर उनमें राजी न हों और परमात्मप्राप्तिके लिये व्याकुल हो जायँ तो बिना गुरुके, बिना उपदेशके अपने-आप परमात्मतत्त्व मिल जायगा। अपनी वर्तमान स्थितिमें सन्तोष करना महान् बाधक है।

पाँच सात साखी कही, पद गायो दस दोय।
दरिया कारज ना सरै, पेट भराई होय॥

थोड़ा-बहुत सीख लिया, दूसरोंको सुना दिया तो इससे पेट-भराई हो जायगी, भिक्षा मिल जायगी, लोग समझेंगे कि महाराज बड़े अच्छे हैं, पर इससे परमात्मतत्त्व नहीं मिलेगा।

नचिकेताने यमराजसे आत्मविषयक प्रश्न किया तो यमराजने उसको कई भोगोंका लालच दिया कि तुम सैंकड़ों वर्षोंकी आयुवाले पुत्र-पौत्रोंको माँग लो, भूमण्डलका राज्य माँग लो, इच्छित मृत्युको माँग लो, मनुष्यलोक तथा स्वर्गलोकके सम्पूर्ण भोगोंको माँग लो, जो चाहे सो माँग लो, पर आत्मविषयक प्रश्न मत करो। परन्तु नचिकेताने दृढ़तासे कहा कि ये सब वस्तुएँ आपके पास ही रहें, मुझे तो आपसे आत्मविषयक प्रश्नका उत्तर ही चाहिये। इसके सिवाय दूसरी कोई भी वस्तु मुझे नहीं चाहिये—'**नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते**' (कठोपनिषद् १। १। २९)। इस प्रकार उत्कट अभिलाषा होनेसे ही परमात्मतत्त्व मिलता है।

परमात्मतत्त्व इतना सस्ता है कि उत्कट इच्छामात्रसे मिल जाता है, पर संसारकी वस्तु इच्छामात्रसे नहीं मिलती। कारण कि सांसारिक वस्तुएँ जन्य (पैदा होनेवाली) हैं; जब निर्मित होंगी, तब मिलेंगी, पर परमात्मा जन्य नहीं हैं। इच्छा भी करें, उद्योग भी करें और प्रारब्ध भी साथ हो, तब सांसारिक वस्तु मिलती है। परन्तु परमात्माकी प्राप्तिमें न उद्योगकी जरूरत है, न प्रारब्धकी जरूरत है, केवल उत्कट इच्छामात्रकी जरूरत है। कारण कि परमात्मतत्त्व प्रकृतिसे अतीत है, फिर वह प्राकृत क्रिया और पदार्थसे कैसे मिल जायगा? उत्कट अभिलाषा स्वयंमें होती है अर्थात् यह स्वयंकी भूख है और यह भूख जाग्रत् होती है असत्‌को महत्त्व न देनेसे।

संसारकी इच्छा न करनेपर वस्तुओंकी कमी नहीं होगी, जीनेकी कमी नहीं होगी, धनकी कमी नहीं होगी, प्रत्युत जो हमें मिलनेवाला है, वह अवश्य मिलेगा—‘**यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्**’ (गरुडपुराण, आचार० ११३। ३२) ‘जो हमारा है, वह दूसरोंका नहीं हो सकता।’ हमारे भाग्यकी चीज दूसरेको कैसे मिल जायगी? हमें आनेवाला बुखार दूसरेको कैसे आ जायगा? संसारकी वस्तु यदि मिलनेवाली है तो बिना इच्छाके भी मिलेगी और नहीं मिलनेवाली है तो कितनी ही इच्छा करें, नहीं मिलेगी। परन्तु परमात्मतत्त्वकी उत्कट अभिलाषा होगी तो वह अवश्यमेव मिलेगा।

प्रश्न—अगर परमात्मतत्त्वका बोध हो जाय तो फिर क्या करना चाहिये?

स्वामीजी—परमात्मतत्त्वका बोध होनेपर कुछ करना, जानना और पाना बाकी रहता ही नहीं! अतः बोध होनेपर क्या करे—यह प्रश्न ही पैदा नहीं होता। फिर भी यह कहा जा सकता है कि बोध होनेपर चुप रहना चाहिये। इस विषयमें एक कहानी है। एक राजाको तत्त्वबोध हो गया। राज्यमें दूसरा कोई जाननेवाला है कि नहीं—यह पता लगानेके लिये उसने अपने आदमियोंको आज्ञा दी कि तुमलोग अच्छे-अच्छे सन्त-महात्मा, विद्वान् आदिसे पूछकर इस प्रश्नका उत्तर लिखकर लाओ कि किसीको बहुत बढ़िया चीज मिल जाय तो वह क्या करे? राजाके आदमियोंने कइयोंके पास जाकर इस प्रश्नका उत्तर पूछा। किसीने कहा कि उस चीजको तिजोरीमें सँभालकर रख दो, किसीने कहा कि किसीपर भी विश्वास करके वह चीज उसे न दे, आदि-आदि। उस राज्यमें एक धान बेचनेवाला बनिया था। उससे पूछा तो उसने कहा कि बढ़िया चीज मिल जाय तो हल्ला क्यों करे? यह बात राजाके पास पहुँची तो उसने समझ लिया कि यह बनिया ठीक जाननेवाला है। राजा उससे मिलनेके लिये उसके घर गया। बनियेने राजाको आदरपूर्वक बैठाया और हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। राजाने कहा कि तुम जो चाहो सो माँग लो। राजाका विचार था कि यह अधिक-से-अधिक राज्य माँग सकता है तो ऐसे आदमीको देनेमें राज्यका भला ही है। बनियेने कहा कि पहले वचन दो कि जो माँगूँगा, वह आप देंगे। राजाने वचन दे दिया कि हाँ, जो माँगोगे, वह मैं जरूर दूँगा। बनियेने कहा कि आगेसे आप तो यहाँ आना मत और मुझे बुलाना मत। आप आओगे या मुझे बुलाओगे तो लोग मेरे पीछे पड़ जायँगे कि तुम राजासे कहकर मेरा यह काम करवा दो, वह काम करवा दो। राजाने आश्चर्य किया कि इसने यह क्या माँगा। बनियेने कहा कि जो मेरे मनमें आया, वह माँग लिया। मैंने आपके आनेके लिये और मेरेको बुलानेके लिये ही मना किया है, मेरे आनेके लिये तो मना किया नहीं है। जब मुझे जरूरत होगी, तब मैं आपके पास आकर आपसे मिल लूँगा। अतः तत्त्वबोध होनेपर चुप रहना चाहिये, हल्ला नहीं करना चाहिये।

॥ श्रीहरिः ॥

अमृत-बिन्दु

(शिक्षासाहस्त्री)

अविनाशी सुख

अपने लिये सुख चाहनेसे नाशवान् सुख मिलता है और दूसरोंको सुख पहुँचानेसे अविनाशी सुख मिलता है॥ १॥

× × ×

सुख भोगनेके लिये स्वर्ग है तथा दुःख भोगनेके लिये नरक है और सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचे उठकर महान् आनन्द प्राप्त करनेके लिये यह मनुष्यलोक है॥ २॥

× × ×

संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे जो सुख मिलता है, वह संसारके सम्बन्धसे कभी मिल सकता ही नहीं॥ ३॥

× × ×

जबतक नाशवान्का सुख लेते रहेंगे, तबतक अविनाशी सुखकी प्राप्ति नहीं होगी॥ ४॥

× × ×

भोगोंका नाशवान् सुख तो नीरसतामें बदल जाता है और उसका अन्त हो जाता है, पर परमात्माका अविनाशी सुख सदा सरस रहता है और बढ़ता ही रहता है॥ ५॥

अभिमान

अच्छाईका अभिमान बुराईकी जड़ है॥ ६॥

× × ×

स्वार्थ और अभिमानका त्याग करनेसे साधुता आती है॥ ७॥

× × ×

अपनी बुद्धिका अभिमान ही शास्त्रोंकी, सन्तोंकी बातोंको अन्तःकरणमें टिकने नहीं देता॥ ८॥

× × ×

वर्ण, आश्रम आदिकी जो विशेषता है, वह दूसरोंकी सेवा करनेके लिये है, अभिमान करनेके लिये नहीं॥ ९॥

× × ×

आप अपनी अच्छाईका जितना अभिमान करोगे, उतनी ही बुराई पैदा होगी। इसलिये अच्छे बनो, पर अच्छाईका अभिमान मत करो॥ १०॥

× × ×

ज्ञान मुक्त करता है, पर ज्ञानका अभिमान नरकोंमें ले जाता है॥ ११॥

× × ×

सांसारिक वस्तुके मिलनेपर तो अभिमान आ सकता है, पर भगवान्के मिलनेपर अभिमान आ सकता ही नहीं, प्रत्युत अभिमानका सर्वथा नाश हो जाता है॥ १२॥

× × ×

स्वार्थ और अभिमानका त्याग किये बिना मनुष्य श्रेष्ठ नहीं बन सकता॥ १३॥

× × ×

जहाँ जातिका अभिमान होता है, वहाँ भक्ति होनी बड़ी कठिन है; क्योंकि भक्ति स्वयंसे होती है, शरीरसे नहीं। परन्तु जाति शरीरकी होती है, स्वयंकी नहीं॥ १४॥

× × ×

जबतक स्वार्थ और अभिमान हैं, तबतक किसीके भी साथ प्रेम नहीं हो सकता॥ १५॥

× × ×

अभिमानी आदमीसे सेवा तो कम होती है, पर उसको पता लगता है कि मैंने ज्यादा सेवा की। परन्तु निरभिमानी आदमीको पता तो कम लगता है, पर सेवा ज्यादा होती है॥ १६॥

× × ×

बुद्धिमानीका अभिमान मूर्खतासे पैदा होता है॥ १७॥

× × ×

जो चीज अपनी है, उसका अभिमान नहीं होता और जो चीज अपनी नहीं है, उसका भी अभिमान नहीं होता। अभिमान उस चीजका होता है, जो अपनी नहीं है, पर उसको अपनी मान लिया॥ १८॥

× × ×

जितना जानते हैं, उसीको पूरा मानकर जानकारीका अभिमान करनेसे मनुष्य 'नास्तिक' बन जाता है। जितना जानते हैं, उसमें सन्तोष न करनेसे तथा जानकारीका अभाव खटकनेसे मनुष्य 'जिज्ञासु' बन जाता है॥ १९॥

× × ×

जिन सम्प्रदाय, मत, सिद्धान्त, ग्रन्थ, व्यक्ति आदिमें अपने स्वार्थ और अभिमानके त्यागकी मुख्यता रहती है, वे महान् श्रेष्ठ होते हैं। परन्तु जिनमें अपने स्वार्थ और अभिमानकी मुख्यता रहती है, वे महान् निकृष्ट होते हैं॥ २०॥

अहंता (मैं-पन)

मैं-पन ही मात्र संसारका बीज है॥ २१॥

× × ×

शरीरको मैं-मेरा माननेसे तरह-तरहके और अनन्त दु:ख आते हैं॥ २२॥

× × ×

एक अहम्‌के त्यागसे अनन्त सृष्टिका त्याग हो जाता है; क्योंकि अहम्‌ने ही सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रखा है॥ २३॥

× × ×

'मैं बन्धनमें हूँ'—इसमें जो 'मैं' है, वही 'मैं मुक्त हूँ' अथवा 'मैं ब्रह्म हूँ'—इसमें भी है! इस 'मैं' (अहम्)-का मिटना ही वास्तवमें मुक्ति है॥ २४॥

× × ×

जगत्, जीव और परमात्मा—ये तीनों एक ही हैं, पर अहंताके कारण ये तीन दीखते हैं॥ २५॥

× × ×

वास्तवमें असंगता शरीरसे ही होनी चाहिये। समाजसे असंगता होनेपर अहंता (व्यक्तित्व) मिटती नहीं, प्रत्युत दृढ़ होती है॥ २६॥

× × ×

हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है और उसमें अहम् नहीं है—यह बात यदि समझमें आ जाय तो इसी क्षण जीवन्मुक्ति है॥ २७॥

× × ×

संघर्ष जाति या धर्मको लेकर नहीं होता, प्रत्युत अहंकारसे पैदा होनेवाले स्वार्थ और अभिमानको लेकर होता है॥ २८॥

× × ×

अपनेमें विशेषता देखना अहंताको, परिच्छिन्नताको, देहाभिमानको पुष्ट करता है॥ २९॥

× × ×

भगवान्‌से उत्पन्न हुई सृष्टि भगवद्‌रूप ही है, पर जीव अहंता, आसक्ति, रागके कारण उसको जगद्‌रूप बना लेता है॥ ३०॥

उद्देश्य

जिसके लिये मनुष्यजन्म मिला है, उस परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य हो जानेपर मनुष्यको सांसारिक सिद्धि-असिद्धि बाधा नहीं दे सकती॥ ३१॥

× × ×

जैसे रोगीका उद्देश्य नीरोग होना है, ऐसे ही मनुष्यका उद्देश्य अपना कल्याण करना है। सांसारिक सिद्धि-असिद्धिको महत्त्व न देनेसे अर्थात् उनमें सम रहनेसे ही उद्देश्यकी सिद्धि होती है॥ ३२॥

× × ×

जब साधकका एकमात्र उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका हो जाता है, तब उसके पास जो भी सामग्री (वस्तु, परिस्थिति आदि) होती है, वह सब साधनरूप (साधन-सामग्री) हो जाती है॥ ३३॥

× × ×

एक परमात्मप्राप्तिका दृढ़ उद्देश्य होनेसे अन्तःकरणकी जितनी शीघ्र और जैसी शुद्धि होती है, उतनी शीघ्र और वैसी शुद्धि अन्य किसी अनुष्ठानसे नहीं होती॥ ३४॥

× × ×

इन्द्रियोंके द्वारा भोग तो पशु भी भोगते हैं, पर उन भोगोंको भोगना मनुष्य-जीवनका उद्देश्य नहीं है। मनुष्य-जीवनका उद्देश्य तो सुख-दुःखसे रहित तत्त्वको प्राप्त करना है॥ ३५॥

× × ×

कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि सभी साधनोंमें एक दृढ़ निश्चय या उद्देश्यकी बड़ी आवश्यकता है। यदि अपने कल्याणका उद्देश्य ही दृढ़ नहीं होगा तो साधनसे सिद्धि कैसे मिलेगी?॥ ३६॥

× × ×

एक परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेपर कोई भी साधन छोटा-बड़ा नहीं होता॥ ३७॥

× × ×

वास्तवमें परमात्मप्राप्तिके सिवाय मनुष्य-जीवनका अन्य कोई प्रयोजन है ही नहीं। आवश्यकता केवल इस प्रयोजन या उद्देश्यको पहचानकर इसे पूरा करनेकी है॥ ३८॥

× × ×

उद्देश्य मनुष्यकी प्रतिष्ठा है। जिसका कोई उद्देश्य नहीं है, वह वास्तवमें मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है॥ ३९॥

उन्नति

जो वस्तु, परिस्थिति आदि अभी नहीं है, उसको प्राप्त करनेमें अपनी उन्नति, सफलता या चतुराई मानना महान् भूल है। जो वस्तु अभी नहीं है, वह मिलनेके बाद भी सदा नहीं रहेगी—यह नियम है। जो सदासे है और सदा रहेगी, ऐसी वस्तु (परमात्मतत्त्व)-को प्राप्त करनेमें ही वास्तविक उन्नति, सफलता या चतुराई है॥ ४०॥

× × ×

पारमार्थिक उन्नति करनेवालेकी लौकिक उन्नति स्वतः होती है॥ ४१॥

× × ×

विचार करो—हम अपनी जानकारीका खुद ही निरादर करेंगे तो फिर हमारी उन्नति कैसे होगी?॥ ४२॥

× × ×

वास्तविक उन्नति है—स्वभाव शुद्ध होना॥ ४३॥

× × ×

सांसारिक उन्नति वर्तमानकी वस्तु नहीं है और पारमार्थिक उन्नति भविष्यकी वस्तु नहीं है॥ ४४॥

× × ×

जो आराम चाहता है, वह अपनी वास्तविक

उन्नति नहीं कर सकता॥ ४५॥

× × ×

जिस प्रकार आकाशमें वृक्ष कितना ही ऊँचा उठे, उसकी कोई सीमा नहीं है, इसी प्रकार मनुष्यकी उन्नतिकी भी कोई सीमा नहीं है॥ ४६॥

× × ×

पारमार्थिक उन्नतिमें संयोगजन्य सुखकी लोलुपता ही खास बाधक है॥ ४७॥

× × ×

मनुष्यका उत्थान और पतन भावसे होता है, वस्तु, परिस्थिति आदिसे नहीं॥ ४८॥

× × ×

बुद्धिके अनुसार मन और मनके अनुसार इन्द्रियाँ होनेसे उत्थान होता है। परन्तु इन्द्रियोंके अनुसार मन और मनके अनुसार बुद्धि बनानेसे पतन होता है॥ ४९॥

एकान्त

शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे अपना सम्बन्ध न रखना ही सच्चा एकान्त है॥ ५०॥

× × ×

एकान्त मिले या समुदाय मिले, साधकको अपना साधन किसी परिस्थितिके अधीन नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत प्राप्त परिस्थितिके अनुसार अपना साधन बनाना चाहिये॥ ५१॥

× × ×

एकान्तकी इच्छा करनेवाला परिस्थितिके अधीन होता है। जो परिस्थितिके अधीन होता है, वह भोगी होता है, योगी नहीं॥ ५२॥

× × ×

साधकका न तो जन-समुदायमें राग होना चाहिये, न एकान्तमें। कल्याण परिस्थितिसे नहीं होता, प्रत्युत रागरहित होनेसे होता है॥ ५३॥

× × ×

निर्जन-स्थानमें चले जानेको अथवा अकेले पड़े रहनेको एकान्त मान लेना भूल है; क्योंकि सम्पूर्ण संसारका बीज यह शरीर तो साथमें है ही। जबतक शरीरके साथ सम्बन्ध है, तबतक सम्पूर्ण संसारके साथ सम्बन्ध बना हुआ है॥ ५४॥

× × ×

शरीर भी संसारका ही एक अंग है। अत: शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होना अर्थात् उसमें अहंता-ममता न रहना ही वास्तविक एकान्त है॥ ५५॥

× × ×

साधकमें एकान्त-सेवनकी रुचि होनी तो बढ़िया है, पर उसका आग्रह (राग) होना बढ़िया नहीं है। आग्रह होनेसे एकान्त न मिलनेपर अन्त:करणमें हलचल होगी, जिससे संसारकी महत्ता दृढ़ होगी॥ ५६॥

कर्तव्य

मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें अपने कर्तव्यका पालन कर सकता है। कर्तव्यका यथार्थ स्वरूप है—सेवा अर्थात् संसारसे मिले हुए शरीरादि पदार्थोंको संसारके हितमें लगाना॥ ५७॥

× × ×

अपने कर्तव्यका पालन करनेवाले मनुष्यके चित्तमें स्वाभाविक प्रसन्नता रहती है। इसके विपरीत अपने कर्तव्यका पालन न करनेवाले मनुष्यके चित्तमें स्वाभाविक खिन्नता रहती है॥ ५८॥

× × ×

साधक आसक्तिरहित तभी हो सकता है, जब वह शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको 'मेरी' अथवा 'मेरे लिये'

न मानकर, केवल संसारकी और संसारके लिये ही मानकर संसारके हितके लिये तत्परतापूर्वक कर्तव्य-कर्मका आचरण करनेमें लग जाय॥ ५९॥

× × ×

वर्तमान समयमें घरोंमें, समाजमें जो अशान्ति, कलह, संघर्ष देखनेमें आ रहा है, उसमें मूल कारण यही है कि लोग अपने अधिकारकी माँग तो करते हैं, पर अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते॥ ६०॥

× × ×

कोई भी कर्तव्य-कर्म छोटा या बड़ा नहीं होता। छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा कर्म कर्तव्यमात्र समझकर (सेवाभावसे) करनेपर समान ही है॥ ६१॥

× × ×

जिससे दूसरोंका हित होता है, वही कर्तव्य होता है। जिससे किसीका भी अहित होता है, वह अकर्तव्य होता है॥ ६२॥

× × ×

राग-द्वेषके कारण ही मनुष्यको कर्तव्य-पालनमें परिश्रम या कठिनाई प्रतीत होती है॥ ६३॥

× × ×

जिसे करना चाहिये और जिसे कर सकते हैं, उसका नाम 'कर्तव्य' है। कर्तव्यका पालन न करना प्रमाद है, प्रमाद तमोगुण है और तमोगुण नरक है—**'नरकस्तमउन्नाहः'** (श्रीमद्भा० ११। १९। ४३)॥ ६४॥

× × ×

अपने सुखके लिये किये गये कर्म 'असत्' और दूसरेके हितके लिये किये गये कर्म 'सत्' होते हैं। असत्-कर्मका परिणाम जन्म-मरणकी प्राप्ति और सत्-कर्मका परिणाम परमात्माकी प्राप्ति है॥ ६५॥

× × ×

अच्छे-से-अच्छा कार्य करो, पर संसारको स्थायी मानकर मत करो॥ ६६॥

× × ×

जो निष्काम होता है, वही तत्परतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन कर सकता है॥ ६७॥

× × ×

दूसरोंकी तरफ देखनेवाला कभी कर्तव्यनिष्ठ हो ही नहीं सकता, क्योंकि दूसरोंका कर्तव्य देखना ही अकर्तव्य है॥ ६८॥

× × ×

गृहस्थ हो अथवा साधु हो, जो अपने कर्तव्यका ठीक पालन करता है, वही श्रेष्ठ है॥ ६९॥

× × ×

अपने लिये कर्म करनेसे अकर्तव्यकी उत्पत्ति होती है॥ ७०॥

× × ×

अपने कर्तव्य (धर्म)-का ठीक पालन करनेसे वैराग्य हो जाता है—**'धर्म तें बिरति'** (मानस ३। १६। १)। यदि वैराग्य न हो तो समझना चाहिये कि हमने अपने कर्तव्यका ठीक पालन नहीं किया॥ ७१॥

× × ×

अपने कर्तव्यका ज्ञान हमारेमें मौजूद है। परन्तु कामना और ममता होनेके कारण हम अपने कर्तव्यका निर्णय नहीं कर पाते॥ ७२॥

× × ×

चारों वर्णों और आश्रमोंमें श्रेष्ठ व्यक्ति वही है, जो अपने कर्तव्यका पालन करता है। जो कर्तव्यच्युत होता है, वह छोटा हो जाता है॥ ७३॥

× × ×

संसारके सभी सम्बन्ध अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये ही हैं, न कि अधिकार जमानेके लिये। सुख देनेके लिये हैं, न कि सुख लेनेके लिये॥ ७४॥

× × ×

एकमात्र अपने कल्याणका उद्देश्य होगा तो शास्त्र पढ़े बिना भी अपने कर्तव्यका ज्ञान हो जायगा। परन्तु अपने कल्याणका उद्देश्य न हो तो शास्त्र पढ़नेपर भी कर्तव्यका ज्ञान नहीं होगा, उलटे अज्ञान बढ़ेगा कि हम जानते हैं!॥ ७५॥

कल्याण

मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये और मुझे अपने लिये कुछ नहीं करना है—ये तीन बातें शीघ्र उद्धार करनेवाली हैं॥ ७६ ॥

× × ×

भगवान्‌का संकल्प हमारे कल्याणके लिये है। अगर हम अपना कोई संकल्प न रखें तो भगवान्‌के संकल्पके अनुसार अपने-आप हमारा कल्याण हो जायगा॥ ७७ ॥

× × ×

संसारमें ऐसी कोई भी परिस्थिति नहीं है, जिसमें मनुष्यका कल्याण न हो सकता हो। कारण कि परमात्मा प्रत्येक परिस्थितिमें समानरूपसे विद्यमान हैं॥ ७८ ॥

× × ×

कल्याणकी प्राप्ति बहुत सुगम है, पर कल्याणकी इच्छा ही नहीं हो तो वह सुगमता किस कामकी ?॥ ७९ ॥

× × ×

संसारका काम तो और कोई भी कर लेगा, पर अपने कल्याणका काम तो खुदको ही करना पड़ेगा; जैसे—भोजन और दवाई खुदको ही लेनी पड़ती है॥ ८० ॥

× × ×

अपने कल्याणके लिये किसी नयी परिस्थितिकी जरूरत नहीं है। प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगसे ही कल्याण हो सकता है॥ ८१ ॥

× × ×

कल्याण क्रियासे नहीं होता, प्रत्युत भाव और विवेकसे होता है॥ ८२ ॥

× × ×

घरमें रहनेवाले सभी लोग अपनेको सेवक और दूसरोंको सेव्य समझें तो सबकी सेवा हो जायगी और सबका कल्याण हो जायगा॥ ८३ ॥

× × ×

भोगोंकी प्रियता जन्म-मरण देनेवाली और भगवान्‌की प्रियता कल्याण करनेवाली है॥ ८४ ॥

× × ×

अपना कल्याण चाहनेवाला सच्चे हृदयसे प्रार्थना करे तो भगवान्‌के दरबारमें उसकी सुनवायी जल्दी होती है॥ ८५ ॥

× × ×

किसीका भी कल्याण होता है तो उसके मूलमें किसी सन्तकी अथवा भगवान्‌की कृपा होती है॥ ८६ ॥

× × ×

संसारमें सन्त-महात्माओंकी, उपदेश देनेवालोंकी कमी नहीं है। परन्तु अपना कल्याण करनेमें खुदकी लगन, लालसा, मान्यता, श्रद्धा ही काम आती है॥ ८७ ॥

कामना

जबतक साधकमें अपने सुख, आराम, मान, बड़ाई आदिकी कामना है, तबतक उसका व्यक्तित्व नहीं मिटता और व्यक्तित्व मिटे बिना तत्त्वसे अभिन्नता नहीं होती॥ ८८ ॥

× × ×

जब हमारे अन्त:करणमें किसी प्रकारकी कामना नहीं रहेगी, तब हमें भगवत्प्राप्तिकी भी इच्छा नहीं करनी पड़ेगी, प्रत्युत भगवान् स्वत: प्राप्त हो जायँगे॥ ८९ ॥

× × ×

संसारकी कामनासे पशुताका और भगवान्‌की कामनासे मनुष्यताका आरम्भ होता है॥ ९० ॥

× × ×

'मेरे मनकी हो जाय'—इसीको कामना कहते

हैं। यह कामना ही दुःखका कारण है। इसका त्याग किये बिना कोई सुखी नहीं हो सकता॥ ९१॥

× × ×

मुझे सुख कैसे मिले—केवल इसी चाहनाके कारण मनुष्य कर्तव्यच्युत और पतित हो जाता है॥ ९२॥

× × ×

कामना उत्पन्न होते ही मनुष्य अपने कर्तव्यसे, अपने स्वरूपसे और अपने इष्ट (भगवान्)-से विमुख हो जाता है और नाशवान् संसारके सम्मुख हो जाता है॥ ९३॥

× × ×

साधकको न तो लौकिक इच्छाओंकी पूर्तिकी आशा रखनी चाहिये और न पारमार्थिक इच्छाकी पूर्तिसे निराश ही होना चाहिये॥ ९४॥

× × ×

कामनाओंके त्यागमें सब स्वतन्त्र, अधिकारी, योग्य और समर्थ हैं। परन्तु कामनाओंकी पूर्तिमें कोई भी स्वतन्त्र, अधिकारी, योग्य और समर्थ नहीं है॥ ९५॥

× × ×

ज्यों-ज्यों कामनाएँ नष्ट होती हैं, त्यों-त्यों साधुता आती है और ज्यों-ज्यों कामनाएँ बढ़ती हैं, त्यों-त्यों साधुता लुप्त होती है। कारण कि असाधुताका मूल हेतु कामना ही है॥ ९६॥

× × ×

कामनामात्रसे कोई भी पदार्थ नहीं मिलता, अगर मिलता भी है तो सदा साथ नहीं रहता—ऐसी बात प्रत्यक्ष होनेपर भी पदार्थोंकी कामना रखना प्रमाद ही है॥ ९७॥

× × ×

जीवन तभी कष्टमय होता है, जब संयोगजन्य सुखकी इच्छा करते हैं और मृत्यु तभी कष्टमयी होती है, जब जीनेकी इच्छा करते हैं॥ ९८॥

× × ×

यदि वस्तुकी इच्छा पूरी होती हो तो उसे पूरी करनेका प्रयत्न करते और यदि जीनेकी इच्छा पूरी होती हो तो मृत्युसे बचनेका प्रयत्न करते। परन्तु इच्छाके अनुसार न तो सब वस्तुएँ मिलती हैं और न मृत्युसे बचाव ही होता है॥ ९९॥

× × ×

इच्छाका त्याग करनेमें सब स्वतन्त्र हैं, कोई पराधीन नहीं है और इच्छाकी पूर्ति करनेमें सब पराधीन हैं, कोई स्वतन्त्र नहीं है॥ १००॥

× × ×

सुखकी इच्छा, आशा और भोग—ये तीनों सम्पूर्ण दुःखोंके कारण हैं॥ १०१॥

× × ×

नाशवान्‌की चाहना छोड़नेसे अविनाशी तत्त्वकी प्राप्ति होती है॥ १०२॥

× × ×

ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये—इसीमें सब दुःख भरे हुए हैं॥ १०३॥

× × ×

हमारा सम्मान हो—इस चाहनाने ही हमारा अपमान किया है॥ १०४॥

× × ×

मनमें किसी वस्तुकी चाह रखना ही दरिद्रता है। लेनेकी इच्छावाला सदा दरिद्र ही रहता है॥ १०५॥

× × ×

नाशवान्‌की इच्छा ही अन्तःकरणकी अशुद्धि है॥ १०६॥

× × ×

मनुष्यको कर्मोंका त्याग नहीं करना है, प्रत्युत कामनाका त्याग करना है॥ १०७॥

× × ×

मनुष्यको वस्तु गुलाम नहीं बनाती, उसकी इच्छा गुलाम बनाती है॥ १०८॥

× × ×

यदि शान्ति चाहते हो तो कामनाका त्याग

करो॥ १०९॥

× × ×

कुछ भी लेनेकी इच्छा भयंकर दु:ख देनेवाली है॥ ११०॥

× × ×

जिसके भीतर इच्छा है, उसको किसी-न-किसीके पराधीन होना ही पड़ेगा॥ १११॥

× × ×

अपने लिये सुख चाहना आसुरी, राक्षसी वृत्ति है॥ ११२॥

× × ×

जैसे बिना चाहे सांसारिक दु:ख मिलता है, ऐसे ही बिना चाहे सुख भी मिलता है। अत: साधक सांसारिक सुखकी इच्छा कभी न करे॥ ११३॥

× × ×

भोग और संग्रहकी इच्छा सिवाय पाप करानेके और कुछ काम नहीं आती। अत: इस इच्छाका त्याग कर देना चाहिये॥ ११४॥

× × ×

अपने लिये भोग और संग्रहकी इच्छा करनेसे मनुष्य पशुओंसे भी नीचे गिर जाता है तथा इसकी इच्छाका त्याग करनेसे देवताओंसे भी ऊँचे उठ जाता है॥ ११५॥

× × ×

जो वस्तु हमारी है, वह हमें मिलेगी ही; उसको कोई दूसरा नहीं ले सकता। अत: कामना न करके अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये॥ ११६॥

× × ×

जैसा मैं चाहूँ, वैसा हो जाय—यह इच्छा जबतक रहेगी, तबतक शान्ति नहीं मिल सकती॥ ११७॥

× × ×

मनुष्य समझदार होकर भी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंको चाहता है—यह आश्चर्यकी बात है!॥ ११८॥

× × ×

शरीरमें अपनी स्थिति माननेसे ही नाशवान्‌की इच्छा होती है और इच्छा होनेसे ही शरीरमें अपनी स्थिति दृढ़ होती है॥ ११९॥

× × ×

कुछ चाहनेसे कुछ मिलता है और कुछ नहीं मिलता; परन्तु कुछ न चाहनेसे सब कुछ मिलता है॥ १२०॥

× × ×

निन्दा इसलिये बुरी लगती है कि हम प्रशंसा चाहते हैं। हम प्रशंसा चाहते हैं तो वास्तवमें हम प्रशंसाके योग्य नहीं हैं; क्योंकि जो प्रशंसाके योग्य होता है, उसमें प्रशंसाकी चाहना नहीं रहती॥ १२१॥

× × ×

दूसरोंसे अच्छा कहलानेकी इच्छा बहुत बड़ी निर्बलता है। इसलिये अच्छे बनो, अच्छे कहलाओ मत॥ १२२॥

× × ×

सांसारिक सुखकी इच्छाका त्याग कभी-न-कभी तो करना ही पड़ेगा तो फिर देरी क्यों?॥ १२३॥

× × ×

जहाँतक बने, दूसरोंकी आशापूर्तिका उद्योग करो, पर दूसरोंसे आशा मत रखो॥ १२४॥

× × ×

विचार करो, जिससे आप सुख चाहते हैं, क्या वह सर्वथा सुखी है? क्या वह दु:खी नहीं है? दु:खी व्यक्ति आपको सुखी कैसे बना देगा?॥ १२५॥

× × ×

कामना छूटनेसे जो सुख होता है, वह सुख कामनाकी पूर्तिसे कभी नहीं होता॥ १२६॥

× × ×

परमात्माकी उत्कट अभिलाषा चाहते हो तो संसारकी अभिलाषाको छोड़ो॥ १२७॥

× × ×

जो बदलनेवाले (संसार)-की इच्छा करता है, उससे सुख लेता है, वह भी बदलता रहता है अर्थात् अनेक योनियोंमें जन्मता-मरता रहता है॥ १२८॥

× × ×

जिसको हम सदाके लिये अपने पास नहीं रख सकते, उसकी इच्छा करनेसे और उसको पानेसे भी क्या लाभ?॥ १२९ ॥

× × ×

कामनाके कारण ही कमी है। कामनासे रहित होनेपर कोई कमी बाकी नहीं रहेगी॥ १३० ॥

× × ×

कामनाका सर्वथा त्याग कर दें तो आवश्यक वस्तुएँ स्वतः प्राप्त होंगी; क्योंकि वस्तुएँ निष्काम पुरुषके पास आनेके लिये लालायित रहती हैं॥ १३१ ॥

× × ×

जो अपने सुखके लिये वस्तुओंकी इच्छा करता है, उसको वस्तुओंके अभावका दुःख भोगना ही पड़ेगा॥ १३२ ॥

× × ×

जिसके भीतर कोई भी इच्छा नहीं होती, उसकी आवश्यकताओंकी पूर्ति प्रकृति स्वतः करती है॥ १३३ ॥

× × ×

जो सदा हमारे साथ नहीं रहेगा और हम सदा जिसके साथ नहीं रहेंगे, उसको प्राप्त करनेकी इच्छा करना अथवा उससे सुख लेना मूर्खता है, पतनका कारण है॥ १३४॥

× × ×

सुखकी इच्छासे सुख नहीं मिलता—यह नियम है॥ १३५ ॥

× × ×

चाहे साधु बनो, चाहे गृहस्थ बनो, जबतक कामना (कुछ पानेकी इच्छा) रहेगी, तबतक शान्ति नहीं मिल सकती॥ १३६ ॥

× × ×

अगर शान्ति चाहते हो तो 'यों होना चाहिये, यों नहीं होना चाहिये'—इसको छोड़ दो और 'जो भगवान् चाहें, वही होना चाहिये'—इसको स्वीकार कर लो॥ १३७ ॥

× × ×

कामनापूर्वक किया गया सब कार्य असत् है, उसका फल नाशवान् होगा॥ १३८ ॥

× × ×

कुछ भी चाहना गुलामी है और कुछ नहीं चाहना आजादी है॥ १३९ ॥

× × ×

वस्तुके न मिलनेसे हम अभागे नहीं हैं, प्रत्युत भगवान्‌के अंश होकर भी हम नाशवान् वस्तुकी इच्छा करते हैं—यही हमारा अभागापन है॥ १४० ॥

× × ×

सुखकी इच्छासे ही द्वैत होता है। सुखकी इच्छा न हो तो द्वैत है ही नहीं॥ १४१ ॥

× × ×

जबतक शरीरको अपना मानते रहेंगे, तबतक हमारी कामना नहीं मिट सकती॥ १४२ ॥

× × ×

विचार करें, कामनाकी पूर्ति होनेपर भी हम वही रहते हैं और अपूर्ति होनेपर भी हम वही रहते हैं, फिर कामनाकी पूर्तिसे हमें क्या मिला और अपूर्तिसे हमारी क्या हानि हुई? हमारेमें क्या फर्क पड़ा?॥ १४३ ॥

गुरु और शिष्य

जो दुनियाका गुरु बनता है, वह दुनियाका गुलाम हो जाता है और जो अपने-आपका गुरु बनता है, वह दुनियाका गुरु हो जाता है॥ १४४॥

× × ×

कल्याण-प्राप्तिमें खुदकी लगन काम आती है। खुदकी लगन न हो तो गुरु क्या करेगा? शास्त्र क्या करेगा?॥ १४५॥

× × ×

जो हमसे कुछ भी चाहता है, वह हमारा गुरु कैसे हो सकता है?॥ १४६॥

× × ×

पुत्र और शिष्यको अपनेसे श्रेष्ठ बनानेका विधान तो है, पर अपना गुलाम बनानेका विधान नहीं है॥ १४७॥

× × ×

गुरुमें मनुष्यबुद्धि करना और मनुष्यमें गुरुबुद्धि करना अपराध है; क्योंकि गुरु तत्त्व है, शरीरका नाम गुरु नहीं है॥ १४८॥

× × ×

शिष्य दुर्लभ है, गुरु नहीं। सेवक दुर्लभ है, सेव्य नहीं। जिज्ञासु दुर्लभ है, ज्ञान नहीं। भक्त दुर्लभ है, भगवान् नहीं॥ १४९॥

× × ×

जो हमारेसे धन-सम्पत्ति, सुख-सुविधा, मान-आदर, पूजा-सत्कार आदि कुछ भी चाहता है, वह हमारा कल्याण नहीं कर सकता॥ १५०॥

× × ×

जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंको न जानना अन्धकार है। जो इस अन्धकारको मिटा दे, वह गुरु है॥ १५१॥

× × ×

गुरु शिष्यके लिये होता है, शिष्य गुरुके लिये नहीं होता। राजा प्रजाके लिये होता है, प्रजा राजाके लिये नहीं होती॥ १५२॥

× × ×

भगवान् जगद्गुरु होते हुए भी मनुष्यको कभी चेला नहीं बनाते, प्रत्युत सखा ही बनाते हैं॥ १५३॥

× × ×

गुरु शिष्यको कोई नया ज्ञान नहीं देता, प्रत्युत उसके भीतर पहलेसे विद्यमान जो ज्ञान है, उसको ही जाग्रत् करता है॥ १५४॥

× × ×

सच्चा गुरु दूसरेको गुरु ही बनाता है, चेला नहीं बनाता। जो चेला बनाना चाहता है, वह चेलादास होता है॥ १५५॥

× × ×

हमारा वास्तविक गुरु हमारे भीतर है, वह है—विवेक। यह विवेक भगवान्ने दिया है। भगवान्ने अपने कल्याणके लिये मनुष्यशरीर दे दिया, सब साधन-सामग्री दे दी तो क्या गुरुको बाकी छोड़ दिया!॥ १५६॥

चिन्ता

शरीर-निर्वाहके लिये तो चिन्ता (विचार) करनेकी जरूरत ही नहीं है, पर शरीर छूटनेके बाद क्या होगा—इसके लिये चिन्ता करनेकी बहुत जरूरत है॥ १५७॥

× × ×

जो होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी नहीं होगा, फिर चिन्ता किस बातकी?॥ १५८॥

× × ×

हमें अपने लिये कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि स्वरूपमें अभाव नहीं है और शरीरको जो चाहिये, वह प्रारब्धके अनुसार पहलेसे ही निश्चित है, फिर चिन्ता किस बातकी?॥ १५९ ॥

× × ×

भगवान्‌की ओरसे हमारे निर्वाहका प्रबन्ध तो है, पर भोगका प्रबन्ध नहीं है। इसलिये निर्वाहकी चिन्ता और भोगकी इच्छा नहीं करनी चाहिये॥ १६० ॥

× × ×

भगवान् जो कुछ करते हैं और करेंगे, उसीमें मेरा हित है—ऐसा विश्वास करके हर परिस्थितिकी प्राप्तिमें निश्चिन्त रहना चाहिये॥ १६१ ॥

× × ×

दुःख-चिन्ताका कारण वस्तुओंका अभाव नहीं है, प्रत्युत मूर्खता है। यह मूर्खता सत्संगसे मिटती है॥ १६२ ॥

× × ×

मनुष्य ज्यों-ज्यों अपने शरीरकी चिन्ता छोड़ता है, त्यों-त्यों उसके शरीरकी चिन्ता संसार करने लगता है॥ १६३ ॥

× × ×

भगवान्‌के भरोसे रहनेपर किसी प्रकारकी चिन्ता टिक ही नहीं सकती॥ १६४ ॥

× × ×

जिसे नहीं करना चाहिये, उसे करनेसे और जिसे करना चाहिये, उसे नहीं करनेसे ही चिन्ता और भय होते हैं॥ १६५ ॥

× × ×

भगवान् हमसे ज्यादा जानते हैं, हमसे ज्यादा समर्थ हैं और हमसे ज्यादा दयालु हैं, फिर हम चिन्ता क्यों करें?॥ १६६ ॥

चेतावनी

मृत्युकालकी सब सामग्री तैयार है। कफन भी तैयार है, नया नहीं बनाना पड़ेगा। उठानेवाले आदमी भी तैयार हैं, नये नहीं जन्मेंगे। जलानेकी जगह भी तैयार है, नयी नहीं लेनी पड़ेगी। जलानेके लिये लकड़ी भी तैयार है, नये वृक्ष नहीं लगाने पड़ेंगे। केवल श्वास बन्द होनेकी देर है। श्वास बन्द होते ही यह सब सामग्री जुट जायगी। फिर निश्चिन्त कैसे बैठे हो?॥ १६७ ॥

× × ×

चेत करो! यह संसार सदा रहनेके लिये नहीं है। यहाँ केवल मरने-ही-मरनेवाले रहते हैं। फिर पैर फैलाये कैसे बैठे हो?॥ १६८ ॥

× × ×

विचार करो, क्या ये दिन सदा ऐसे ही रहेंगे?॥ १६९ ॥

× × ×

मकान यहाँ बना रहे हो, सजावट यहाँ कर रहे हो, संग्रह यहाँ कर रहे हो, पर खुद मौतकी तरफ भागे चले जा रहे हो! जहाँ जाना है, पहले उसको ठीक करो!॥ १७० ॥

× × ×

निश्चित समयपर चलनेवाली गाड़ीके लिये भी जब पहलेसे सावधानी रहती है, फिर जिस मौतरूपी गाड़ीका कोई समय निश्चित नहीं, उसके लिये तो हरदम सावधानी रहनी चाहिये॥ १७१ ॥

× × ×

'करेंगे'—यह निश्चित नहीं है, पर 'मरेंगे'—यह निश्चित है॥ १७२ ॥

× × ×

आप भगवान्‌को नहीं देखते, पर भगवान् आपको निरन्तर देख रहे हैं॥ १७३ ॥

× × ×

आनेवाला जानेवाला होता है—यह नियम है॥ १७४॥

× × ×

कालरूप अग्निमें सब कुछ निरन्तर जल रहा है, फिर किसका भरोसा करें? किसकी इच्छा करें?॥ १७५॥

× × ×

विचार करो कि अपना कौन है? अगर अभी मौत आ जाय तो कोई हमारी सहायता कर सकता है क्या?॥ १७६॥

× × ×

जन्मदिन आनेपर बड़ा आनन्द मनाते हैं कि हम इतने वर्षकेहो गये! वास्तवमें इतने वर्षके हो नहीं गये, प्रत्युत इतने वर्ष मर गये अर्थात् हमारी उम्रमेंसे इतने वर्ष कम हो गये और मौत नजदीक आ गयी!॥ १७७॥

× × ×

बालक जन्मता है तो वह बड़ा होगा कि नहीं, पढ़ेगा कि नहीं, उसका विवाह होगा कि नहीं, उसके बाल-बच्चे होंगे कि नहीं, उसके पास धन होगा कि नहीं आदि सब बातोंमें सन्देह है, पर वह मरेगा कि नहीं—इसमें कोई सन्देह नहीं है!॥ १७८॥

तत्त्वज्ञान

परमात्मतत्त्वका ज्ञान करण-निरपेक्ष है। इसलिये उसका अनुभव अपने-आपसे ही हो सकता है, इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि करणोंसे नहीं॥ १७९॥

× × ×

जबतक नाशवान् वस्तुओंमें सत्यता दीखेगी, तबतक बोध नहीं होगा॥ १८०॥

× × ×

बोध होनेपर अपनेमें दोष तो रहते नहीं और गुण (विशेषता) दीखते नहीं॥ १८१॥

× × ×

जो हमारा स्वरूप नहीं है, उसका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) कर दिया जाय तो जो हमारा स्वरूप है, उसका बोध हो जायगा॥ १८२॥

× × ×

साधकमें कोई भी आग्रह नहीं रहना चाहिये, न द्वैतका, न अद्वैतका। आग्रह रहनेसे बोध नहीं होता॥ १८३॥

× × ×

जबतक अहम् है, तबतक तत्त्वज्ञानका अभिमान तो हो सकता है, पर वास्तविक तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता॥ १८४॥

× × ×

जबतक अपनेमें राग-द्वेष हैं, तबतक तत्त्वबोध नहीं हुआ है, केवल बातें सीखी हैं॥ १८५॥

× × ×

तत्त्वज्ञान होनेमें कई जन्म नहीं लगते, उत्कट अभिलाषा हो तो मिनटोंमें हो सकता है; क्योंकि तत्त्व सदा-सर्वदा विद्यमान है॥ १८६॥

× × ×

तत्त्वज्ञान अभ्याससे नहीं होता, प्रत्युत अपने विवेकको महत्त्व देनेसे होता है। अभ्याससे एक नयी अवस्था बनती है, तत्त्व नहीं मिलता॥ १८७॥

× × ×

जबतक तत्त्वज्ञान नहीं हो जाता, तबतक सब प्राणी कैदी हैं। कैदीका लक्षण है—पापकर्म करे अपनी मरजीसे और दुःख भोगे दूसरेकी मरजीसे॥ १८८॥

× × ×

'मैं ब्रह्म हूँ'—यह अनुभव नहीं है, प्रत्युत अहंग्रह-उपासना है। इसलिये तत्त्वज्ञान होनेपर 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह अनुभव नहीं होता॥ १८९॥

× × ×

तत्त्वज्ञान होनेपर काम-क्रोधादि विकारोंका अत्यन्त

अभाव हो जाता है॥ १९०॥

× × ×

जबतक हमारी दृष्टिमें असत्‌की सत्ता है, तबतक विवेक है। असत्‌की सत्ता मिटनेपर विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है॥ १९१॥

× × ×

अपनेमें और दूसरोंमें निर्दोषताका अनुभव होना तत्त्वज्ञान है, जीवन्मुक्ति है॥ १९२॥

× × ×

तत्त्वज्ञान होनेपर ज्ञानी पुरुष परिस्थितिसे रहित नहीं होता, प्रत्युत सुख-दुःखसे रहित होता है॥ १९३॥

× × ×

तत्त्वज्ञान शरीरका नाश नहीं करता, प्रत्युत शरीरके सम्बन्धका अर्थात् अहंता-ममताका नाश करता है॥ १९४॥

× × ×

तत्त्वज्ञान अर्थात् अज्ञानका नाश एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है॥ १९५॥

× × ×

जैसा है, वैसा अनुभव कर लेनेका नाम ही 'ज्ञान' है। जैसा है नहीं, वैसा मान लेनेका नाम 'अज्ञान' है॥ १९६॥

त्याग

पूर्ण त्याग तभी होता है, जब त्यागका किंचित् भी अभिमान न आये। अभिमान तभी आता है, जब अन्तःकरणमें त्याज्य वस्तुका महत्त्व अंकित हो। अतः वस्तुके त्यागकी अपेक्षा वस्तुके महत्त्वका त्याग श्रेष्ठ है॥ १९७॥

× × ×

जबतक किसीसे कोई भी प्रयोजन रहता है, तबतक वास्तविक त्याग नहीं होता॥ १९८॥

× × ×

काम-क्रोध, अहंता-ममता आदिको जब हम पकड़ना जानते हैं, तो उनको छोड़ना भी हम जानते ही हैं। परन्तु हम उनको छोड़ना चाहते नहीं, इसीलिये उनके त्यागमें असमर्थता प्रतीत हो रही है॥ १९९॥

× × ×

मुक्ति इच्छाके त्यागसे होती है, वस्तुके त्यागसे नहीं॥ २००॥

× × ×

शरीर कभी भी हमारे काम नहीं आता, प्रत्युत शरीरमें मैं-मेरेपनका त्याग ही हमारे काम आता है॥ २०१॥

× × ×

शरीर-संसार अपने-आप छूट रहे हैं, पर इससे कल्याण नहीं होगा। छूटनेवाली चीजको आप छोड़ दें, उससे मैं-मेरापन हटा लें, तब कल्याण होगा॥ २०२॥

× × ×

अन्तःकरणमें रुपयोंका महत्त्व होनेसे ही रुपयोंके त्यागमें विशेषता दीखती है और उनके त्यागका अभिमान आता है। अतः त्यागके अभिमानमें रुपयोंका ही महत्त्व है॥ २०३॥

× × ×

त्याग करनेसे अपनी उन्नति होती है तथा वस्तु शुद्ध हो जाती है और भोग करनेसे अपना पतन होता है तथा वस्तुका नाश हो जाता है॥ २०४॥

× × ×

मनुष्य खुद तो भोगी बनता है, पर दूसरोंको त्यागी देखना चाहता है—यह अन्याय है। यदि उसे त्यागी अच्छा लगता है तो वह खुद त्यागी क्यों नहीं बनता?॥ २०५॥

× × ×

वास्तविक त्याग वह है, जिसमें त्याग-वृत्तिका भी त्याग हो जाय॥ २०६॥

दोष (विकार)

सर्वथा निर्दोष जीवन तो सबका हो सकता है, पर सर्वथा दोषी जीवन कभी किसीका हो ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्‌का अंश होनेसे जीव स्वयं निर्दोष है। दोष आगन्तुक हैं और नाशवान्‌के संगसे आते हैं॥ २०७॥

× × ×

साधक जब अपने दोषोंको दोषरूपसे देखकर उनके दुःखसे दुःखी हो जाता है, उनका रहना उसे असह्य हो जाता है, तो फिर उसके दोष ठहर नहीं सकते। भगवान्‌की कृपा उन दोषोंका शीघ्र ही नाश कर देती है॥ २०८॥

× × ×

जितने भी विकार हैं, वे सब नाशवान् वस्तुको महत्त्व देनेसे ही पैदा होते हैं॥ २०९॥

× × ×

ठगनेमें दोष है, ठगे जानेमें दोष नहीं है॥ २१०॥

× × ×

सबमें भगवद्भाव करनेसे सम्पूर्ण विकारोंका नाश हो जाता है॥ २११॥

× × ×

सन्तोषसे काम, क्रोध और लोभ—तीनों नष्ट हो जाते हैं॥ २१२॥

× × ×

दोषोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। गुणोंकी कमीका नाम ही दोष है और वह कमी असत्‌को सत्ता और महत्ता देनेसे ही आती है॥ २१३॥

× × ×

सभी विकार विकारी (शरीर)-में ही होते हैं, निर्विकार (स्वरूप)-में कोई विकार नहीं होता॥ २१४॥

× × ×

मूल दोष एक ही है, जिससे सम्पूर्ण दोष उत्पन्न होते हैं, वह है—संसारका सम्बन्ध। इसी तरह मूल गुण भी एक ही है, जिससे सम्पूर्ण गुण प्रकट होते हैं, वह है—भगवान्‌का सम्बन्ध॥ २१५॥

× × ×

लोभके कारण आवश्यक वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती और प्राप्त वस्तुका सदुपयोग नहीं होता॥ २१६॥

दोषदृष्टि

अपनेमें गुणोंका अभिमान होनेसे ही दूसरोंमें दोष दीखते हैं और दूसरोंमें दोष देखनेसे अपना अभिमान पुष्ट होता है॥ २१७॥

× × ×

जो साधक अपने दोषोंको मिटाना चाहता है, उसे दूसरेके दोषोंकी ओर नहीं देखना चाहिये। दूसरोंके दोष देखनेसे अपने दोष पुष्ट होते हैं और दोषोंके साथ सम्बन्ध हो जानेसे नये-नये दोष उत्पन्न होते हैं॥ २१८॥

× × ×

दूसरोंके दोष देखनेसे न हमारा भला होता है, न दूसरोंका॥ २१९॥

× × ×

मनुष्यका अन्तःकरण जितना दोषी (मलिन) होता है, उतना ही उसको दूसरोंमें दोष दीखता है। रेडियोकी तरह मलिन अन्तःकरण ही दोषको पकड़ता है॥ २२०॥

× × ×

यदि आप चाहते हैं कि कोई भी मुझे बुरा न समझे तो दूसरेको बुरा समझनेका आपको कोई अधिकार नहीं है॥ २२१॥

× × ×

किसीको भी बुरा न समझनेसे भलाई भीतरसे प्रकट होती है। भीतरसे प्रकट हुई भलाई ठोस और व्यापक होती है॥ २२२॥

× × ×

यदि आप अपनी निर्दोषताको सुरक्षित रखना चाहते हैं तो किसीमें भी दोष न देखें; न अपनेमें, न दूसरेमें॥ २२३॥

× × ×

दूसरेको निर्दोष बनानेकी नीयतसे उसके दोष देखनेमें बुराई नहीं है। बुराई है—दूसरेके दोष दीखनेपर प्रसन्न होना॥ २२४॥

× × ×

सबका स्वरूप स्वतः निर्दोष है। अतः पुत्र, शिष्य आदिको स्वरूपसे निर्दोष मानकर और उनमें दीखनेवाले दोषको आगन्तुक मानकर ही उनको शिक्षा देनी चाहिये, उनके आगन्तुक दोषको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये॥ २२५॥

× × ×

अगर हम दूसरेमें दोष मानेंगे तो उसमें वे दोष आ जायँगे; क्योंकि उसमें दोष देखनेसे हमारा त्याग, तप, बल आदि भी उस दोषको पैदा करनेमें स्वाभाविक सहायक बन जायँगे, जिससे वह व्यक्ति दोषी हो जायगा और हमारा भी नुकसान होगा॥ २२६॥

धन

रुपयोंको सबसे बढ़िया मानना बुद्धि भ्रष्ट होनेका लक्षण है॥ २२७॥

× × ×

धर्मके लिये धन नहीं चाहिये, मन चाहिये॥ २२८॥

× × ×

धन किसीको भी अपना गुलाम नहीं बनाता। मनुष्य खुद ही धनका गुलाम बनकर अपना पतन कर लेता है॥ २२९॥

× × ×

रुपयोंके कारण कोई सेठ नहीं बनता, प्रत्युत कँगला बनता है! वास्तवमें सेठ वही है, जो श्रेष्ठ है अर्थात् जिसको कभी कुछ नहीं चाहिये॥ २३०॥

× × ×

अभी जो धन मिल रहा है, वह वर्तमान कर्मका फल नहीं है, प्रत्युत प्रारब्धका फल है। वर्तमानमें धन-प्राप्तिके लिये जो झूठ, कपट, बेईमानी, चोरी आदि करते हैं, उसका फल (दण्ड) तो आगे मिलेगा!॥ २३१॥

× × ×

अन्यायपूर्वक कमाया हुआ धन हमारे काम आ जाय—यह नियम नहीं है; परन्तु उसका दण्ड भोगना पड़ेगा—यह नियम है॥ २३२॥

× × ×

जहाँ रुपयोंकी जरूरत होती है, वहाँ परमार्थ नहीं होता, प्रत्युत रुपयोंकी गुलामी होती है॥ २३३॥

× × ×

जैसे अपना दुःख दूर करनेके लिये रुपये खर्च करते हैं, ऐसे ही दूसरेका दुःख दूर करनेके लिये भी खर्च करें, तभी हमें रुपये रखनेका हक है॥ २३४॥

× × ×

धनके लिये झूठ, कपट, बेईमानी आदि करनेसे जितनी हानि होती है, उतना लाभ होता ही नहीं अर्थात् उतना धन आता ही नहीं और जितना धन आता है, उतना पूरा-का-पूरा काम आता ही नहीं। अतः थोड़ेसे लाभके लिये इतनी अधिक हानि करना कहाँकी बुद्धिमानी है?॥ २३५॥

× × ×

मरनेपर स्वभाव साथ जायगा, धन साथ नहीं जायगा। परन्तु मनुष्य स्वभावको तो बिगाड़ रहा है और धनको इकट्ठा कर रहा है। बुद्धिकी बलिहारी

है!॥ २३६॥

× × ×

रुपये मिलनेसे मनुष्य स्वाधीन नहीं होता, प्रत्युत रुपयोंके पराधीन होता है; क्योंकि रुपये 'पर' हैं॥ २३७॥

× × ×

धनके रहते हुए तो मनुष्य सन्त बन सकता है, पर धनकी लालसा रहते हुए मनुष्य सन्त नहीं बन सकता॥ २३८॥

× × ×

दरिद्रता धन मिलनेसे नहीं मिटती, प्रत्युत धनकी इच्छा छोड़नेसे मिटती है॥ २३९॥

× × ×

मनुष्यकी इज्जत धन बढ़नेसे नहीं है, प्रत्युत धर्म बढ़नेसे है॥ २४०॥

× × ×

धनसे वस्तु श्रेष्ठ है, वस्तुसे मनुष्य श्रेष्ठ है, मनुष्यसे विवेक श्रेष्ठ है और विवेकसे भी सत्-तत्त्व (परमात्मा) श्रेष्ठ है। मनुष्य-जन्म उस सत्-तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये ही है॥ २४१॥

नामजप

साधकको समझमें चाहे कुछ न आता हो, उसको भगवान्‌की शरण लेकर भगवन्नाम-जप तो आरम्भ कर ही देना चाहिये॥ २४२॥

× × ×

भगवन्नामका जप और कीर्तन—दोनों कलियुगसे रक्षा करके उद्धार करनेवाले हैं॥ २४३॥

× × ×

नामजपमें प्रगति होनेकी पहचान यह है कि नामजप छूटे नहीं॥ २४४॥

× × ×

नामजपमें रुचि नामजप करनेसे ही होती है॥ २४५॥

× × ×

नामजप अभ्यास नहीं है, प्रत्युत पुकार है। अभ्यासमें शरीर-इन्द्रियाँ-मनकी और पुकारमें स्वयंकी प्रधानता रहती है॥ २४६॥

× × ×

नामजप सभी साधनोंका पोषक है॥ २४७॥

× × ×

भगवन्नाम सबके लिये खुला है और जीभ अपने मुखमें है, फिर भी नरकोंमें जाते हैं—यह बड़े आश्चर्यकी बात है!॥ २४८॥

× × ×

भगवान्‌का होकर नाम लेनेका जो माहात्म्य है, वह केवल नाम लेनेका नहीं है। कारण कि नामजपमें नामी (भगवान्)-का प्रेम मुख्य है, उच्चारण (क्रिया) मुख्य नहीं है॥ २४९॥

× × ×

संख्या (क्रिया)-की तरफ वृत्ति रहनेसे निर्जीव जप होता है और भगवान्‌की तरफ वृत्ति रहनेसे सजीव जप होता है। इसलिये जप और कीर्तनमें क्रियाकी मुख्यता न होकर प्रेमभावकी मुख्यता होनी चाहिये कि हम अपने प्यारेका नाम लेते हैं!॥ २५०॥

× × ×

भगवान्‌का कौन-सा नाम और रूप बढ़िया है—यह परीक्षा न करके साधकको अपनी परीक्षा करनी चाहिये कि मुझे कौन-सा नाम और रूप अधिक प्रिय है॥ २५१॥

पाप और पुण्य

कोई हमारा अपकार करता है तो उससे वस्तुतः हमारा उपकार ही होता है; क्योंकि उसके अपकारसे हमारे पाप कटते हैं॥ २५२॥

× × ×

दूसरोंकी बुराई करनेसे तो पाप लगता ही है, बुराई सुनने और कहनेसे भी पाप लगता है॥ २५३॥

× × ×

अपने कल्याणकी तीव्र इच्छा होनेपर साधकके पाप नष्ट हो जाते हैं॥ २५४॥

× × ×

भगवान्‌से विमुख होकर संसारके सम्मुख होनेके समान कोई पाप नहीं है॥ २५५॥

× × ×

अब मैं पुनः पाप नहीं करूँगा—यह पापका असली प्रायश्चित्त है॥ २५६॥

× × ×

मनुष्यजन्ममें किये हुए पाप नरकों एवं चौरासी लाख योनियोंमें भोगनेपर भी समाप्त नहीं होते, प्रत्युत शेष रह जाते हैं और जन्म-मरणका कारण बनते हैं॥ २५७॥

× × ×

जहाँ मनुष्य अनुकूलतासे सुखी और प्रतिकूलतासे दुःखी होता है, वहाँ ही वह पाप-पुण्यसे बँधता है॥ २५८॥

× × ×

नाशवान्‌को महत्त्व देना ही बन्धन है। इसीसे सब पाप पैदा होते हैं॥ २५९॥

× × ×

अगर सुखकी इच्छा है तो पाप करना न चाहते हुए भी पाप होगा। सुखकी इच्छा ही पाप करना सिखाती है। अतः पापोंसे छूटना हो तो सुखकी इच्छाका त्याग करो॥ २६०॥

× × ×

जहाँ दूसरोंको दुःख देनेकी और अपना मतलब सिद्ध करनेकी नीयत होती है, वहीं पाप लगता है और बन्धन होता है॥ २६१॥

× × ×

छिपानेसे पाप और पुण्य—दोनों विशेष फल देनेवाले हो जाते हैं। इसलिये अपने पाप तो प्रकट कर देने चाहिये, पर पुण्य प्रकट नहीं करने चाहिये—**छीजहिं निसिचर दिनु अरु राती। निज मुख कहें सुकृत जेहि भाँती॥** (मानस, लंका० ७२। २)॥ २६२॥

× × ×

किसी व्यक्तिको भगवान्‌की तरफ लगानेके समान कोई पुण्य नहीं है, कोई दान नहीं है॥ २६३॥

× × ×

मुझे सुख मिल जाय—यह सब पापोंकी जड़ है॥ २६४॥

× × ×

पहले पाप कर लें, पीछे प्रायश्चित्त कर लेंगे—इस प्रकार जान-बूझकर किये गये पाप प्रायश्चित्तसे नष्ट नहीं होते॥ २६५॥

पारमार्थिक मार्ग

प्रत्येक मनुष्यको भगवान्‌की तरफ चलना ही पड़ेगा, चाहे आज चले या अनेक जन्मोंके बाद तो फिर देरी क्यों?॥ २६६॥

× × ×

सच्चे हृदयसे भगवान्‌में लग जानेपर साधकको भूत, भविष्य और वर्तमानके सभी सन्तोंकी प्रसन्नता, कृपा प्राप्त होती है॥ २६७॥

× × ×

जब साधक स्वयं भगवान्‌में लग जाता है, तब उसके मन-बुद्धि भगवान्‌में स्वत: लग जाते हैं, उनको लगाना नहीं पड़ता॥ २६८॥

× × ×

पारमार्थिक मार्गमें साधकको सांसारिक अनुकूलता (धन, मान, बड़ाई, आराम आदि) तभीतक बाधक प्रतीत होती है, जबतक उसमें सांसारिक सुखकी कुछ इच्छा या रुचि विद्यमान है॥ २६९॥

× × ×

सांसारिक सिद्धि-असिद्धिमें राजी-नाराज होनेवाला मनुष्य पारमार्थिक मार्गमें तत्परतासे नहीं चल सकता॥ २७०॥

× × ×

पारमार्थिक मार्गमें राग-द्वेष ही साधककी साधन-सम्पत्तिको लूटनेवाले मुख्य शत्रु हैं॥ २७१॥

× × ×

किसी तरहसे भगवान्‌में लग जाओ, फिर भगवान् अपने-आप सँभालेंगे॥ २७२॥

× × ×

परमात्माकी तरफ चलनेसे संसारका कार्य (व्यवहार) भी ठीक चलता है, पर संसारकी तरफ चलनेसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती॥ २७३॥

× × ×

अपनेको परमात्मामें चाहे भेदभावसे लगाओ, चाहे अभेदभावसे लगाओ, परिणाम एक ही होगा॥ २७४॥

× × ×

संसारके काममें तो नफा और नुकसान दोनों होते हैं, पर भगवान्‌के काममें नफा-ही-नफा होता है, नुकसान होता ही नहीं॥ २७५॥

× × ×

संसारकी तरफ चलनेवालेका कोई भी साथी नहीं होता, पर भगवान्‌की तरफ चलनेवालेके सब साथी हो जाते हैं॥ २७६॥

× × ×

स्वार्थी आदमी पारमार्थिक मार्गमें भी अपना स्वार्थ ही सिद्ध करता है और पारमार्थिक साधक सांसारिक व्यवहारमें भी अपना परमार्थ ही सिद्ध करता है॥ २७७॥

× × ×

सांसारिक इच्छा उत्पन्न होते ही पारमार्थिक मार्गमें धुआँ हो जाता है। यदि इस अवस्थामें सावधानी नहीं हुई तो इच्छा और अधिक बढ़ जाती है। इच्छा बढ़नेपर तो पारमार्थिक मार्गमें अँधेरा ही हो जाता है!॥ २७८॥

× × ×

जिस दिन सांसारिक रुचि मिटेगी, उसी दिन पारमार्थिक रुचि पूरी हो जायगी॥ २७९॥

× × ×

सांसारिक विषयमें असन्तोष करनेसे पतन होता है और पारमार्थिक विषयमें असन्तोष करनेसे उत्थान होता है॥ २८०॥

× × ×

संसारमें तो 'करने' से उन्नति होती है, पर पारमार्थिक मार्गमें 'न करने' से उन्नति होती है॥ २८१॥

× × ×

संसारमें लगनेसे पतन भी बाकी रहता है, उत्थान भी बाकी रहता है। परन्तु भगवान्‌में लगनेसे पतन तो होता नहीं, उत्थान बाकी रहता नहीं॥ २८२॥

प्रारब्ध

प्रारब्ध चिन्ता मिटानेके लिये है, निकम्मा बनानेके लिये नहीं॥ २८३॥

× × ×

मनुष्य प्रारब्धके अनुसार पाप-पुण्य नहीं करता; क्योंकि कर्मका फल कर्म नहीं होता, प्रत्युत भोग होता है॥ २८४॥

× × ×

प्रारब्धका काम तो केवल सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिको उत्पन्न कर देना है, पर उसमें सुखी-दुःखी होने अथवा न होनेमें मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है॥ २८५॥

× × ×

यह सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वसमर्थ प्रभुका विधान है कि अपने पापसे अधिक दण्ड कोई नहीं भोगता और जो दण्ड मिलता है, वह अपने किसी-न-किसी पापका ही फल होता है॥ २८६॥

× × ×

जो होता है, वह ठीक ही होता है, बेठीक होता ही नहीं। इसलिये करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहना चाहिये॥ २८७॥

× × ×

शास्त्रनिषिद्ध आचरण प्रारब्धसे नहीं होते, प्रत्युत कामनासे होते हैं॥ २८८॥

× × ×

एक 'करना' होता है और एक 'होना' होता है, दोनोंका विभाग अलग-अलग है। 'करना' पुरुषार्थके अधीन है और 'होना' प्रारब्धके अधीन है। इसलिये मनुष्य करने (कर्तव्य)-में स्वाधीन है और होने (फलप्राप्ति)-में पराधीन है॥ २८९॥

प्रेम

संसारसे सर्वथा राग हटते ही भगवान्‌में अनुराग (प्रेम) हो जाता है॥ २९०॥

× × ×

जो चीज अपनी होती है, वह सदा अपनेको प्यारी लगती है। अतः एकमात्र भगवान्‌को अपना मान लेनेपर भगवान्‌में प्रेम प्रकट हो जाता है॥ २९१॥

× × ×

कितने आश्चर्यकी बात है कि जो नित्य-निरन्तर विद्यमान रहता है, वह (परमात्मा) तो प्रिय नहीं लगता, पर जो नित्य-निरन्तर बदल रहा है, वह (संसार) प्रिय लगता है॥ २९२॥

× × ×

जबतक संसारमें आसक्ति है, तबतक भगवान्‌में असली प्रेम नहीं है॥ २९३॥

× × ×

संसारकी सुखासक्ति ही भगवत्प्रेममें खास बाधक है। अगर सुखासक्तिका त्याग कर दिया जाय तो भगवान्‌में प्रेम स्वतः जाग्रत् हो जायगा॥ २९४॥

× × ×

जबतक नाशवान्‌की तरफ खिंचाव रहेगा, तबतक साधन करते हुए भी अविनाशीकी तरफ खिंचाव (प्रेम) और उसका अनुभव नहीं होगा॥ २९५॥

× × ×

भगवान्‌में अनन्यप्रेमका नाम राधातत्त्व है। जबतक संसारमें आकर्षण रहता है, तबतक राधातत्त्व अनुभवमें नहीं आता॥ २९६॥

× × ×

भगवान्‌में प्रेम होनेके समान कोई भजन नहीं है॥ २९७॥

× × ×

जबतक साधक अपने मनकी बात पूरी करना चाहेगा, तबतक उसका न सगुणमें प्रेम होगा, न निर्गुणमें॥ २९८॥

× × ×

भगवत्प्रेम यज्ञ, तप, दान, व्रत, तीर्थ आदिसे नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत भगवान्‌में दृढ़ अपनेपनसे प्राप्त होता है॥ २९९॥

× × ×

तपस्यासे प्रेम नहीं मिलता, प्रत्युत शक्ति मिलती है। प्रेम भगवान्‌में अपनापन होनेसे मिलता है॥ ३००॥

× × ×

भगवत्प्रेममें जो विलक्षण रस है, वह ज्ञानमें नहीं है। ज्ञानमें तो अखण्ड आनन्द है, पर प्रेममें अनन्त आनन्द है॥ ३०१॥

× × ×

भेद मतमें होता है, प्रेममें नहीं। प्रेम सम्पूर्ण मतवादोंको खा जाता है॥ ३०२॥

× × ×

भगवान्‌की तरफ खिंचाव होनेका नाम भक्ति है। भक्ति कभी पूर्ण नहीं होती, प्रत्युत उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है॥ ३०३॥

× × ×

भगवान्‌के प्रेमके लिये उनमें दृढ़ अपनापनकी जरूरत है और उनके दर्शनके लिये उत्कट अभिलाषाकी जरूरत है॥ ३०४॥

× × ×

संसारको जानोगे तो उससे वैराग्य हो जायगा और परमात्माको जानोगे तो उनमें प्रेम हो जायगा॥ ३०५॥

× × ×

जिसका मिलना अवश्यम्भावी है, उस परमात्मासे प्रेम करो और जिसका बिछुड़ना अवश्यम्भावी है, उस संसारकी सेवा करो॥ ३०६॥

× × ×

प्रेम वहीं होता है, जहाँ अपने सुख और स्वार्थकी गन्ध भी नहीं होती॥ ३०७॥

× × ×

प्रेम मुक्तिसे भी आगेकी चीज है। मुक्तितक तो जीव रसका अनुभव करनेवाला होता है, पर प्रेममें वह रसका दाता बन जाता है॥ ३०८॥

× × ×

ज्ञानमार्गमें दुःख, बन्धन मिट जाता है, और स्वरूपमें स्थिति हो जाती है, पर मिलता कुछ नहीं। परन्तु भक्तिमार्गमें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम मिलता है॥ ३०९॥

× × ×

ज्ञानके बिना प्रेम मोहमें चला जाता है और प्रेमके बिना ज्ञान शून्यतामें चला जाता है॥ ३१०॥

× × ×

जिसके भीतर भक्तिके संस्कार हैं और कृपाका आश्रय है, उसको मुक्तिमें सन्तोष नहीं होता। भगवान्‌की कृपा उसकी मुक्तिके रसको फीका करके प्रेमका अनन्तरस प्रदान कर देती है॥ ३११॥

× × ×

अपने मतका आग्रह और दूसरे मतकी उपेक्षा, खण्डन, अनादर न करनेसे मुक्तिके बाद भक्ति (प्रेम)-की प्राप्ति स्वतः होती है॥ ३१२॥

× × ×

भोगेच्छाका अन्त होता है और मुमुक्षा अथवा जिज्ञासाकी पूर्ति होती है, पर प्रेम-पिपासाका न तो अन्त होता है और न पूर्ति ही होती है, प्रत्युत वह प्रतिक्षण बढ़ती ही रहती है॥ ३१३॥

× × ×

संसारमें तो आकर्षण और विकर्षण (रुचि-अरुचि) दोनों होते हैं, पर परमात्मामें आकर्षण-ही-आकर्षण होता है, विकर्षण होता ही नहीं, यदि होता है तो वास्तवमें आकर्षण हुआ ही नहीं॥ ३१४॥

× × ×

जैसे सांसारिक दृष्टिसे लोभरूप आकर्षणके बिना धनका विशेष महत्त्व नहीं है, ऐसे ही प्रेमके बिना ज्ञानका विशेष महत्त्व नहीं है, उसमें शून्यवाद आ सकता है॥ ३१५॥

बड़प्पन

उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुको लेकर अपनेको बड़ा अथवा छोटा मानना बहुत बड़ी भूल है, तुच्छता है॥ ३१६॥

× × ×

अपनेको छोटा और दूसरेको बड़ा मानना असली बड़प्पन है। अपनेको बड़ा और दूसरेको छोटा मानना असली नीचपना है॥ ३१७॥

× × ×

बड़ा वास्तवमें वही है, जो दूसरोंको बड़ा बनाता है। जो दूसरोंको छोटा बनाता है, वह खुद छोटा है, गुलाम है॥ ३१८॥

× × ×

धन, जमीन, मकान आदि जड़ चीजोंके सम्बन्धसे अपनेको बड़ा मानना बुद्धि भ्रष्ट होनेका लक्षण है॥ ३१९॥

× × ×

सांसारिक पदार्थोंको लेकर जो अपनेको बड़ा मानता है, उसको ये सांसारिक पदार्थ तुच्छ बना देते हैं॥ ३२०॥

× × ×

पहले हम बड़े थे, फिर हमने धन पैदा किया। अब उस धनके कारण अपनेको बड़ा मानने लग गये तो वास्तवमें धन बड़ा हो गया, हम छोटे हो गये! धनकी इज्जत हो गयी, हमारी फजीती हो गयी!॥ ३२१॥

बन्धन और मुक्ति

शरीरादि सांसारिक पदार्थोंको अपना मानना ही बन्धन है और अपना न मानना ही मुक्ति है। अपना मानने अथवा न माननेमें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं॥ ३२२॥

× × ×

संसारके सब सम्बन्ध मुक्त करनेवाले भी हैं और बाँधनेवाले भी। केवल परमार्थ (सेवा) करनेके लिये माना हुआ सम्बन्ध मुक्त करनेवाला और स्वार्थके लिये माना हुआ सम्बन्ध बाँधनेवाला होता है॥ ३२३॥

× × ×

मानवशरीरका दुरुपयोग करनेसे जीव बँध जाता है और सदुपयोग करनेसे मुक्त हो जाता है। अपने स्वार्थके लिये दूसरोंका अहित करना मानव-शरीरका दुरुपयोग है और अपने स्वार्थका त्याग करके दूसरोंका हित करना उसका सदुपयोग है॥ ३२४॥

× × ×

नाशवान्‌को महत्त्व देना ही बन्धन है॥ ३२५॥

× × ×

मिले हुएको अपना मत मानो तो मुक्ति स्वत:सिद्ध है॥ ३२६॥

× × ×

अनुकूलता-प्रतिकूलता ही संसार है। अनुकूलता-प्रतिकूलतामें राजी-नाराज होनेसे मनुष्य बँध जाता है और राजी-नाराज न होनेसे मुक्त हो जाता है॥ ३२७॥

× × ×

शरीर संसारका अंश है और हम (स्वयं) परमात्माके अंश हैं। अत: शरीरको संसारके अर्पित कर दे अर्थात् संसारकी सेवामें लगा दे और स्वयंको परमात्माके अर्पित कर दे। फिर आज ही मुक्ति है!॥ ३२८॥

× × ×

मुक्तिकी इच्छा रहनेसे शरीरके रहनेकी इच्छा नहीं होती, अगर होती है तो मुक्तिकी इच्छा है ही नहीं॥ ३२९॥

× × ×

निष्कामभावपूर्वक (दूसरोंके लिये) कर्म करनेसे

मुक्ति होती है और सकामभावपूर्वक (अपने लिये) कर्म करनेसे बन्धन होता है। अत: मनुष्यको निष्कामभावपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये॥ ३३०॥

× × ×

संसार-बन्धनसे मुक्त होना हो तो प्राप्त वस्तुओंमें ममताका और अप्राप्त वस्तुओंकी कामनाका त्याग कर दो॥ ३३१॥

× × ×

भगवान्‌की बनायी हुई सृष्टि कभी बाँधती नहीं, दु:ख नहीं देती। जीवकी बनायी हुई सृष्टि (अहंता-ममता) ही बाँधती और दु:ख देती है॥ ३३२॥

× × ×

जिसको नहीं करना चाहिये, उसको करना और जिसको नहीं कर सकते, उसका चिन्तन करना—ये दो खास बन्धन हैं॥ ३३३॥

× × ×

वस्तुका मिलना अथवा न मिलना बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत वस्तुसे माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनकारक है॥ ३३४॥

× × ×

संसारको अपनी सेवाके लिये मानना बन्धनका हेतु है और अपनेको संसारकी सेवाके लिये मानना मुक्तिका हेतु है॥ ३३५॥

× × ×

बन्धन क्रियासे नहीं होता, प्रत्युत कामनासे होता है॥ ३३६॥

× × ×

अप्राप्त वस्तुकी इच्छा और प्राप्त वस्तुकी ममता ही बन्धन है, परतन्त्रता है॥ ३३७॥

× × ×

भोगोंकी इच्छाका त्याग करनेके लिये मुक्तिकी इच्छा करना आवश्यक है। परन्तु मुक्ति पानेके लिये मुक्तिकी इच्छा करना बाधक है॥ ३३८॥

× × ×

मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता, प्रत्युत कर्मोंमें वह जो आसक्ति और स्वार्थभाव रखता है, उनसे ही बँधता है॥ ३३९॥

× × ×

किसी भी कर्मके साथ स्वार्थका सम्बन्ध जोड़ लेनेसे वह कर्म तुच्छ और बन्धनकारक हो जाता है॥ ३४०॥

× × ×

यह सिद्धान्त है कि जबतक मनुष्य अपने लिये कर्म करता है, तबतक उसके कर्मकी समाप्ति नहीं होती और वह कर्मोंसे बँधता ही जाता है॥ ३४१॥

× × ×

जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक कर्म करना अथवा न करना—दोनों ही बन्धनकारक 'कर्म' हैं॥ ३४२॥

× × ×

मुक्ति स्वयंकी होती है, शरीरकी नहीं। अत: मुक्त होनेपर शरीर संसारसे अलग नहीं होता, प्रत्युत स्वयं शरीर-संसारसे अलग होता है॥ ३४३॥

× × ×

मुक्ति बाहरके त्यागसे नहीं होती, प्रत्युत भीतरके वैराग्यसे होती है॥ ३४४॥

× × ×

मुझे कुछ लेना है ही नहीं—केवल इतनी बातसे मुक्ति हो जायगी॥ ३४५॥

× × ×

मुक्ति सहज-स्वाभाविक है, बन्धन कृतिसाध्य है॥ ३४६॥

× × ×

वास्तवमें मुक्त ही मुक्त होता है, बद्ध मुक्त नहीं होता॥ ३४७॥

बुराईका त्याग

साधकको चाहिये कि वह किसीको बुरा न समझे, किसीकी बुराई न करे, किसीकी बुराई न सोचे, किसीमें बुराई न देखे, किसीकी बुराई न सुने और किसीकी बुराई न कहे। इन छः बातोंका दृढ़तापूर्वक पालन करनेसे साधक बुराई-रहित हो जायगा॥ ३४८॥

× × ×

कोई बुरा करे तो बदलेमें उसका बुरा न चाहकर यह समझो कि अपने ही दाँतोंसे अपनी जीभ कट गयी!॥ ३४९॥

× × ×

भलाई करनेकी उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी बुराईका त्याग करनेकी आवश्यकता है। बुराईका त्याग करनेसे भलाई अपने-आप होगी, करनी नहीं पड़ेगी॥ ३५०॥

× × ×

जिसको हम अच्छा समझते हैं, उसका पूरा-का-पूरा पालन करनेकी जिम्मेवारी हमारेपर नहीं है। परन्तु जिसको हम बुरा समझते हैं, उसका पूरा-का-पूरा त्याग करनेकी जिम्मेवारी हमारेपर है और उसके त्यागका बल, योग्यता, ज्ञान, सामर्थ्य भी भगवान्‌ने हमें दिया है॥ ३५१॥

× × ×

वीरता भलाई करनेमें नहीं है, प्रत्युत किसीकी भी बुराई न करनेमें है॥ ३५२॥

× × ×

जो अपना कल्याण चाहता है, उसे किसीके भी प्रति बुरी भावना नहीं करनी चाहिये॥ ३५३॥

× × ×

दूसरोंके प्रति हमारी बुरी भावना होनेसे उनका बुरा होगा या नहीं होगा—यह तो निश्चित नहीं है, पर हमारा अन्तःकरण तो मैला हो ही जायगा॥ ३५४॥

× × ×

याद रखो, किसीका भी बुरा करोगे तो उसका बुरा होनेवाला ही होगा, पर आपका नया पाप हो ही जायगा॥ ३५५॥

× × ×

भलाई करनेसे सीमित भलाई होती है, पर बुराई छोड़नेसे असीम भलाई होती है॥ ३५६॥

× × ×

भला बननेके लिये हमें कुछ करनेकी जरूरत नहीं है। केवल बुराई सर्वथा छोड़ दें तो हम भले हो जायँगे॥ ३५७॥

भक्त

भगवद्भक्तके द्वारा कर्म नहीं होते, प्रत्युत उसके द्वारा प्रतिक्षण पूजा होती है; क्योंकि प्रत्येक कर्ममें उसका भाव पूजाका रहता है॥ ३५८॥

× × ×

जिसका मन भगवान्‌में लगा रहता है, उसे सामान्य मनुष्य नहीं समझना चाहिये; क्योंकि वह भगवान्‌के दरबारका सदस्य है॥ ३५९॥

× × ×

जैसे लोभी आदमीकी दृष्टि धनपर ही रहती है, ऐसे ही भक्तकी दृष्टि भगवान्‌पर ही रहनी चाहिये॥ ३६०॥

× × ×

देवतालोग अपने उपासकोंको (उनकी उपासना सांगोपांग होनेपर) उनके हित-अहितका विचार किये बिना उनकी इच्छित वस्तुएँ दे देते हैं। परन्तु परमपिता भगवान् अपने भक्तोंको अपनी इच्छासे वे ही वस्तुएँ

देते हैं, जिसमें उनका परमहित हो॥ ३६१॥

× × ×

आप भगवान्‌के दास बन जाओ तो भगवान् आपको मालिक बना देंगे॥ ३६२॥

× × ×

भगवान्‌का भक्त कितनी ही नीची जातिका क्यों न हो, वह भक्तिहीन विद्वान् ब्राह्मणसे भी श्रेष्ठ है॥ ३६३॥

× × ×

भगवान्‌के हृदयमें भक्तका जितना आदर है, उतना आदर करनेवाला संसारमें दूसरा कोई नहीं है॥ ३६४॥

× × ×

जिस भक्तको अपनेमें कुछ भी विशेषता नहीं दीखती, अपनेमें किसी बातका अभिमान नहीं होता, उस भक्तमें भगवान्‌की विलक्षणता उतर आती है॥ ३६५॥

× × ×

शरणागत भक्तको भजन करना नहीं पड़ता, प्रत्युत उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक भजन होता है॥ ३६६॥

× × ×

भक्त भगवान्‌को जिस रूपमें देखना चाहता है, भगवान् उसके भावके अनुसार वैसे ही बन जाते हैं॥ ३६७॥

× × ×

भगवद्भक्तको देवता कहना उसकी निन्दा है; क्योंकि उसका दर्जा देवताओंसे भी बहुत ऊँचा होता है॥ ३६८॥

× × ×

प्रेमी भक्त भगवान्‌के प्रभावसे आकृष्ट नहीं होते, प्रत्युत भगवान्‌के अपनेपनसे आकृष्ट होते हैं॥ ३६९॥

× × ×

प्रेमीकी बात प्रेमी ही समझ सकता है, ज्ञानी नहीं। फिर अज्ञानी तो समझ ही कैसे सकता है!॥ ३७०॥

× × ×

भक्तको भगवान्‌की सेवामें आनन्द आता है और भगवान्‌को भक्तकी सेवामें आनन्द आता है॥ ३७१॥

भगवान्

एक भगवत्तत्त्व अथवा परमात्मतत्त्व ही वास्तविक तत्त्व है। उसके सिवाय सब अतत्त्व हैं॥ ३७२॥

× × ×

जबतक अन्तःकरणमें संसारका महत्त्व है, तबतक भगवान्‌का महत्त्व समझमें नहीं आ सकता॥ ३७३॥

× × ×

भगवान्‌को मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे नहीं, प्रत्युत स्वयंसे ही जाना जा सकता है॥ ३७४॥

× × ×

हम दूर-से-दूर जिस वस्तुको मानते हैं, शरीर उससे भी अधिक दूर है और नजदीक-से-नजदीक जिस वस्तुको मानते हैं, परमात्मा उससे भी अधिक नजदीक हैं॥ ३७५॥

× × ×

मिलनेवाली प्रत्येक वस्तु बिछुड़नेवाली होती है, पर जो नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्व है, वह कभी किसी अवस्थामें भी नहीं बिछुड़ता, चाहे हमें उसका अनुभव हो अथवा न हो॥ ३७६॥

× × ×

संसार अभावरूप ही है। भावरूपसे केवल एक अक्रिय-तत्त्व परमात्मा ही है, जिसकी सत्तासे अभावरूप संसार भी सत्तावान् प्रतीत हो रहा है॥ ३७७॥

× × ×

हम 'है'-पन (सत्ता)-को परमात्माका न मानकर संसारका मान लेते हैं—यही गलती है॥ ३७८॥

× × ×

संसारमें कोई भी नौकरको अपना मालिक नहीं बनाता; परन्तु भगवान् शरणागत भक्तको अपना मालिक बना लेते हैं! ऐसी उदारता केवल प्रभुमें ही है॥ ३७९ ॥

× × ×

एक भगवान्‌के सिवाय ऐसी कोई चीज है ही नहीं, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें॥ ३८० ॥

× × ×

प्रतिक्षण बदलनेवाले संसारपर विश्वास ही भगवान्‌पर विश्वास नहीं होने देता॥ ३८१ ॥

× × ×

जैसे सूर्य प्रकट होता है, पैदा नहीं होता, ऐसे ही अवतारके समय भगवान् प्रकट होते हैं, हमारी तरह पैदा नहीं होते॥ ३८२ ॥

× × ×

परमात्मा हैं—इतना मान लेना पर्याप्त है। परमात्मा कैसे हैं—यह जाननेकी जरूरत नहीं है॥ ३८३ ॥

× × ×

भगवान् सर्वसमर्थ होते हुए भी हमारेसे दूर होनेमें असमर्थ हैं॥ ३८४ ॥

× × ×

भगवान् कहाँ हैं? भगवान् वहाँ हैं, जहाँ 'कहाँ-यहाँ-वहाँ' नहीं हैं अर्थात् भगवान् देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिसे सर्वथा अतीत हैं॥ ३८५ ॥

× × ×

भगवान् सब जगह मौजूद हैं, पर ग्राहक चाहिये। खम्भे कई हैं, पर प्रह्लाद चाहिये॥ ३८६ ॥

× × ×

भगवान्‌का कहीं भी अभाव नहीं है। केवल उनको देखनेवालेका अभाव है॥ ३८७ ॥

× × ×

जिसकी दृष्टि संसारपर रहती है, वह कहता है कि 'भगवान् कहाँ हैं?' और जिसकी दृष्टि भगवान्‌पर रहती है, वह कहता है कि 'भगवान् कहाँ नहीं हैं?'॥ ३८८ ॥

× × ×

जैसे सूर्य बादलोंसे नहीं ढकता, प्रत्युत हमारे नेत्र ही बादलोंसे ढके जाते हैं, ऐसे ही परमात्मा आवृत नहीं होते, हमारी बुद्धि ही आवृत होती है॥ ३८९ ॥

× × ×

भगवान् जीवको अपना दास (गुलाम) नहीं बनाना चाहते, प्रत्युत सखा (अपने समान) बनाना चाहते हैं॥ ३९० ॥

× × ×

सत् असत्‌का विरोधी नहीं है, प्रत्युत उसको सत्ता देनेवाला है। सत्‌की जिज्ञासा ही असत्‌की विरोधी है॥ ३९१ ॥

× × ×

सत्‌के बिना असत्‌को देख नहीं सकते और असत्‌के बिना सत्‌का वर्णन नहीं कर सकते॥ ३९२ ॥

× × ×

परमात्मतत्त्वका वर्णन नहीं होता, प्रत्युत अनुभव होता है॥ ३९३ ॥

× × ×

परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्यकी जितनी भी स्वीकृति है, उतना ही अज्ञान है॥ ३९४ ॥

× × ×

जगन्नाथ भगवान्‌के रहते हुए अपनेको अनाथ मानना भूल है॥ ३९५ ॥

× × ×

मनुष्यको ईश्वरमें केवल विश्वास ही करना चाहिये। अगर वह संसारमें विश्वास और ईश्वरमें विवेक लगायेगा तो नास्तिक हो जायगा॥ ३९६ ॥

× × ×

साधकको पहले भगवान् दूर दीखते हैं, फिर नजदीक दीखते हैं, फिर अपनेमें दीखते हैं, फिर केवल भगवान् ही दीखते हैं॥ ३९७॥

× × ×

परमात्मामें जीव है और जीवमें जगत् है। अतः परमात्माकी तो स्वतन्त्र सत्ता है, पर जीव और जगत्की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है॥ ३९८॥

× × ×

सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिका अभाव होनेपर भी जो शेष रहता है, वही परमात्मतत्त्व है॥ ३९९॥

भगवत्कृपा

जैसे गायका दूध गायके लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरोंके लिये ही है, ऐसे ही भगवान्की कृपा भगवान्के लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरों (हम सभी)-के लिये ही है॥ ४००॥

× × ×

अगर भगवान्की दया चाहते हो तो अपनेसे छोटोंपर दया करो, तब भगवान् दया करेंगे। दया चाहते हो, पर करते नहीं—यह अन्याय है, अपने ज्ञानका तिरस्कार है॥ ४०१॥

× × ×

जो गीता अर्जुनको भी दुबारा सुननेको नहीं मिली, वह हमें प्रतिदिन पढ़ने-सुननेको मिल रही है—यह भगवान्की कितनी विलक्षण कृपा है॥ ४०२॥

× × ×

आजतक जितने भी महात्मा हुए हैं, वे भगवत्कृपासे ही जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ तथा भगवत्प्रेमी हुए हैं, अपने उद्योगसे नहीं॥ ४०३॥

× × ×

स्वतःसिद्ध परमपदकी प्राप्ति अपने कर्मोंसे, अपने पुरुषार्थसे अथवा अपने साधनसे नहीं होती। यह तो केवल भगवत्कृपासे ही होती है॥ ४०४॥

भगवत्प्राप्ति

सच्चे हृदयसे भगवान्को चाहनेवाला मनुष्य किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, परिस्थिति आदिमें क्यों न हो और कितना ही पापी, दुराचारी क्यों न हो, वह भगवत्प्राप्तिका पूर्ण अधिकारी है॥ ४०५॥

× × ×

साधक संसारसे कभी आशा न रखे; क्योंकि वह सदा नहीं रहता और परमात्मासे कभी निराश न हो; क्योंकि उनका कभी अभाव नहीं होता॥ ४०६॥

× × ×

भगवान्के विषयमें सन्तोष करना और संसारके विषयमें असन्तोष करना महान् हानिकारक है॥ ४०७॥

× × ×

जैसे मछली जलके बिना व्याकुल हो जाती है, ऐसे ही हम यदि भगवान्के बिना व्याकुल हो जायँ तो भगवान्के मिलनेमें देर नहीं लगेगी॥ ४०८॥

× × ×

भगवान्की प्राप्ति होनेपर फिर कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। इसीमें मनुष्यजीवनकी पूर्णता, सफलता है॥ ४०९॥

× × ×

साधकको विचार करना चाहिये कि भगवान् सब देशमें हैं, इसलिये यहाँ भी हैं; सब कालमें हैं, इसलिये अब भी हैं; सबमें हैं, इसलिये अपनेमें भी हैं; सबके हैं, इसलिये मेरे भी हैं॥ ४१०॥

× × ×

भगवत्प्राप्तिमें व्याकुलतासे जितना जल्दी लाभ होता है, उतना जल्दी लाभ विचारपूर्वक किये गये साधनसे नहीं होता॥ ४११ ॥

× × ×

स्वयंमें तीव्र उत्कण्ठा न होनेके कारण ही भगवत्प्राप्तिमें देर हो रही है॥ ४१२ ॥

× × ×

खेलमें छिपे हुए बालकको दूसरा बालक देख ले तो वह सामने आ जाता है कि अब तो इसने मुझे देख लिया, अब क्या छिपना! ऐसे ही भगवान् सब जगह छिपे हुए हैं। अगर साधक सब जगह भगवान्‌को देखे तो फिर भगवान् उससे छिपे नहीं रहेंगे, सामने आ जायँगे॥ ४१३ ॥

× × ×

सब ओरसे विमुख होनेपर साधक अपनेमें ही अपने प्रियतम भगवान्‌को पा लेता है॥ ४१४ ॥

× × ×

भगवत्प्राप्तिका सरल उपाय क्रिया नहीं है, प्रत्युत लगन है॥ ४१५ ॥

× × ×

अपनी प्राप्तिके लिये भगवान्‌ने यदि जीवको मनुष्यशरीर दिया है तो उसके लिये पूरी योग्यता और सामग्री भी साथ ही दी है। इतनी योग्यता और सामग्री दी है कि मनुष्य अपने जीवनमें कई बार भगवत्प्राप्ति कर ले!॥ ४१६ ॥

× × ×

उत्कट अभिलाषाकी कमीसे ही परमात्मप्राप्तिमें देरी लगती है, उद्योगकी कमीसे नहीं॥ ४१७ ॥

× × ×

परमात्माके साथ हरेक वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिका समानरूपसे सम्बन्ध है। इसलिये जो जहाँ है, वहीं परमात्माको पा सकता है॥ ४१८ ॥

× × ×

असत्‌का आश्रय लेकर असत्‌के द्वारा सत्‌को प्राप्त करनेकी चेष्टा करना महान् भूल है॥ ४१९ ॥

× × ×

जिसके लिये मनुष्यशरीर मिला है, उसकी प्राप्ति कठिन है तो सुगम क्या है?॥ ४२० ॥

× × ×

भगवान्‌के दर्शनके लिये क्या करें ? भगवान्‌के नामका जप करें और भगवान्‌से प्रार्थना करें कि 'हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं' तो इससे भगवान्‌में प्रेम हो जायगा और प्रेम होनेसे भगवान् प्रकट हो जायँगे॥ ४२१ ॥

× × ×

जबतक अपने लिये कुछ भी 'करने' और 'पाने' की इच्छा रहती है, तबतक नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं हो सकता॥ ४२२ ॥

× × ×

भगवत्प्राप्ति केवल उत्कट अभिलाषासे होती है। उत्कट अभिलाषा जाग्रत् न होनेमें मुख्य कारण सांसारिक भोगोंकी कामना ही है॥ ४२३ ॥

× × ×

सत्ययुग आदिमें बड़े-बड़े ऋषियोंको जो भगवान् प्राप्त हुए थे, वे ही आज कलियुगमें भी सबको प्राप्त हो सकते हैं॥ ४२४ ॥

× × ×

भोगोंकी प्राप्ति सदाके लिये नहीं होती और सबके लिये नहीं होती। परन्तु भगवान्‌की प्राप्ति सदाके लिये होती है और सबके लिये होती है॥ ४२५ ॥

× × ×

परमात्माकी प्राप्तिमें भावकी प्रधानता है, क्रियाकी नहीं॥ ४२६ ॥

× × ×

भगवान् हठसे नहीं मिलते, प्रत्युत सच्ची लगनसे मिलते हैं॥ ४२७ ॥

× × ×

परमात्माकी प्राप्तिमें मनुष्यके पारमार्थिक भाव, आचरण आदिकी मुख्यता है, जाति या वर्णकी

मुख्यता नहीं॥ ४२८॥

× × ×

परमात्मप्राप्तिमें विवेक, भाव और वैराग्य (रागका त्याग) जितना मूल्यवान् है, उतनी क्रिया मूल्यवान् नहीं है॥ ४२९॥

× × ×

जब प्रत्येक क्रियाका आदि-अन्त होता है तो फिर उसका फल कैसे अनन्त होगा? अतः अनन्त तत्त्व (परमात्मा) क्रियासाध्य नहीं है॥ ४३०॥

× × ×

परमात्मप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा होनेसे एक विरहाग्नि उत्पन्न होती है, जो अनन्त जन्मोंके पापोंका नाश करके परमात्मप्राप्ति करा देती है॥ ४३१॥

× × ×

परमात्मप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा न होनेमें खास कारण है—सांसारिक सुखकी इच्छा, आशा और भोग॥ ४३२॥

× × ×

कोई चीज समानरूपसे सबको मिल सकती है तो वह परमात्मा ही है। परमात्माके सिवाय कोई भी चीज समानरूपसे सबको नहीं मिल सकती॥ ४३३॥

× × ×

हम परमात्माके सिवाय और कुछ प्राप्त कर ही नहीं सकते, जो प्राप्त करेंगे, वह सब 'नहीं' में चला जायगा॥ ४३४॥

× × ×

परमात्मतत्त्वका अनुभव तभी होगा, जब '**विषयभोग निद्रा हँसी जगतप्रीत बहु बात**'—ये पाँचों सुहायेंगे नहीं॥ ४३५॥

× × ×

साधकको भगवत्प्राप्तिमें देरी होनेका कारण यही है कि वह भगवान्के वियोगको सहन कर रहा है। यदि उसको भगवान्का वियोग असह्य हो जाय तो भगवान्के मिलनेमें देरी नहीं होगी॥ ४३६॥

× × ×

जबतक असत्की कामना, आश्रय, भरोसा है, तबतक सत्का अनुभव नहीं हो सकता॥ ४३७॥

× × ×

परमात्मप्राप्ति वास्तवमें सुगम है, पर लगन न होनेके कारण कठिन है॥ ४३८॥

× × ×

भगवान् क्रियाग्राही नहीं हैं, प्रत्युत भावग्राही हैं—'**भावग्राही जनार्दनः**'। अतः भगवान् भाव (अनन्यभक्ति)-से ही दर्शन देते हैं, क्रियासे नहीं॥ ४३९॥

× × ×

अनित्य वस्तुसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर नित्य-तत्त्व स्वतः अनुभवमें आ जाता है॥ ४४०॥

× × ×

मनुष्यमात्र भगवत्प्राप्तिका अधिकारी है और वह प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्को प्राप्त कर सकता है॥ ४४१॥

× × ×

परमात्माकी प्राप्तिमें देरी नहीं लगती। देरी लगती है—सम्बन्धजन्य सुखकी इच्छाका त्याग करनेमें॥ ४४२॥

× × ×

केवल भगवान्की इच्छा हो तो भगवान् प्रकट हो जायँगे अथवा कोई भी इच्छा न हो तो भगवान् प्रकट हो जायँगे। अधूरापन नहीं होना चाहिये॥ ४४३॥

× × ×

सत्को जानो चाहे मत जानो, पर जिसको असत् जानते हो, उसका त्याग कर दो तो सत्की प्राप्ति हो जायगी॥ ४४४॥

× × ×

परमात्मप्राप्तिमें मनुष्य जितना स्वतन्त्र है, उतना और किसी कार्यमें स्वतन्त्र नहीं है॥ ४४५॥

× × ×

परमात्मप्राप्तिके लिये उपायोंकी उतनी जरूरत नहीं है, जितनी भीतरकी लगनकी जरूरत है॥ ४४६॥

× × ×

भगवान् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी,

गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी आदिको नहीं मिलते, प्रत्युत 'भक्त' को मिलते हैं॥ ४४७॥

× × ×

धनकी प्राप्तिमें तो क्रियाकी मुख्यता है, पर परमात्माकी प्राप्तिमें लालसाकी मुख्यता है॥ ४४८॥

× × ×

भगवत्प्राप्ति कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत कृपाका फल है। परन्तु चाहना खुदकी होनी चाहिये॥ ४४९॥

× × ×

संसार अधूरा है, इसलिये अधूरा ही मिलता है और परमात्मा पूरे हैं, इसलिये पूरे ही मिलते हैं॥ ४५०॥

× × ×

जिसने भगवान्‌को प्राप्त नहीं किया, उसने कुछ नहीं किया, कुछ नहीं किया, कुछ नहीं किया!॥ ४५१॥

× × ×

भगवत्प्राप्तिमें सबसे बड़ी बाधा है—भोग और संग्रहकी रुचि। दूसरोंके सुखसे सुखी होनेपर 'भोग' की रुचि और दूसरोंके दुःखसे दुःखी होनेपर 'संग्रह' की रुचि मिट जाती है॥ ४५२॥

× × ×

जो निरन्तर बदल रहा है, उस संसारपर विश्वास करना, उसको सच्चा मानना ही भगवत्प्राप्तिमें मुख्य बाधा है॥ ४५३॥

× × ×

संयोगजन्य सुखकी लोलुपता ही नित्यप्राप्त भगवान्‌के अनुभवमें प्रधान बाधक है॥ ४५४॥

× × ×

भगवत्प्राप्तिमें आड़ वस्तुओंने नहीं, प्रत्युत वस्तुओंके महत्त्वने लगायी है॥ ४५५॥

× × ×

अपने लिये कर्म करनेसे एवं जड़ता (शरीरादि)-के साथ अपना सम्बन्ध माननेसे सर्वव्यापी परमात्माकी प्राप्तिमें बाधा (आड़) लग जाती है॥ ४५६॥

× × ×

परमात्मा सब देश, काल आदिमें परिपूर्ण हैं। संसारकी सत्यता माननेसे ही मनुष्य परमात्मासे दूरीका अनुभव करता है॥ ४५७॥

× × ×

कोई भी परिस्थिति परमात्माकी प्राप्तिका कारण नहीं है और कोई भी परिस्थिति परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक नहीं है; क्योंकि परमात्मा सम्पूर्ण परिस्थितियोंसे अतीत हैं॥ ४५८॥

× × ×

परमात्मा दूर नहीं हैं, केवल उनको पानेकी लगनकी कमी है॥ ४५९॥

× × ×

संसार है, अभी है और अपना है—ऐसा माननेसे ही परमात्मा है, अभी है और अपना है—इसका अनुभव नहीं होता॥ ४६०॥

× × ×

साधक 'परमात्मा है' यह तो मान लेता है, पर 'संसार नहीं है' यह नहीं मानता, इसीसे परमात्मप्राप्तिमें बाधा लग रही है॥ ४६१॥

× × ×

किसी एक मार्गका आग्रह रखनेसे तथा दूसरे मार्गोंका विरोध करनेसे पूर्णताकी प्राप्तिमें बड़ी बाधा लगती है॥ ४६२॥

× × ×

हमारे हृदयमें परमात्माके सिवाय दूसरेकी महत्ता है—यही परमात्मप्राप्तिमें बाधक है॥ ४६३॥

× × ×

भगवान्‌का विश्वास भगवान्‌से भी बड़ा है; क्योंकि जो भगवान् सदा सब जगह रहते हुए भी नहीं मिलते, वे विश्वाससे मिल जाते हैं॥ ४६४॥

× × ×

परमात्मतत्त्व अनुभवस्वरूप है। केवल हमारी दृष्टि उधर नहीं है॥ ४६५॥

× × ×

कुछ करेंगे, तभी तत्त्व मिलेगा—यह भाव देहाभिमानको पुष्ट करनेवाला है। करनेसे जो मिलेगा,

वह अनित्य होगा॥ ४६६ ॥

× × ×

संसारके त्यागमें 'विवेक' काम आता है और भगवान्‌की प्राप्तिमें 'विश्वास' काम आता है॥ ४६७ ॥

× × ×

वास्तवमें भगवान् भी विद्यमान हैं, गुरु भी विद्यमान है, तत्त्वज्ञान भी विद्यमान है और अपनेमें योग्यता, सामर्थ्य भी विद्यमान है। केवल नाशवान् सुखकी आसक्तिसे ही उनके प्रकट होनेमें बाधा लग रही है!॥ ४६८ ॥

× × ×

शरीरसे संसारका काम (व्यवहार) अथवा सेवा तो हो सकती है, पर परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परमात्माकी प्राप्ति तो शरीरसे असंग होनेपर अपने-आपसे ही होती है और अपने-आपको ही होती है॥ ४६९ ॥

भगवान्‌से विमुखता

भगवान्‌से विमुख होनेपर ही मनुष्यको करने, जानने और पानेकी कमीका अनुभव होता है॥ ४७० ॥

× × ×

परमात्मतत्त्वसे विमुख हुए बिना कोई सांसारिक भोग भोगा ही नहीं जा सकता और रागपूर्वक सांसारिक भोग भोगनेसे मनुष्य परमात्मासे विमुख हो ही जाता है॥ ४७१ ॥

× × ×

भगवान्‌से विमुख होते ही जीव अनाथ हो जाता है॥ ४७२ ॥

× × ×

जो जगत्‌को नहीं जानते, वही जगत्‌में फँसते हैं और जो परमात्माको नहीं जानते, वही परमात्मासे विमुख होते हैं॥ ४७३ ॥

× × ×

संसारसे कुछ लेनेकी इच्छा करते ही हम भगवान्‌से विमुख हो जाते हैं॥ ४७४ ॥

भगवान्‌से सम्बन्ध (अपनापन)

मनुष्य सांसारिक वस्तु-व्यक्ति आदिसे जितना अपना सम्बन्ध मानता है, उतना ही वह पराधीन हो जाता है। अगर वह केवल भगवान्‌से अपना सम्बन्ध माने तो सदाके लिये स्वाधीन हो जाय॥ ४७५ ॥

× × ×

साधक अपनेको भगवान्‌का समझकर संसारका काम करे तो संसारका भी काम ठीक होगा और भगवान्‌का भी। परन्तु अपनेको संसारका समझकर संसारका काम करे तो संसारका काम भी ठीक नहीं होगा और भगवान्‌का काम (भजन) तो होगा ही नहीं!॥ ४७६ ॥

× × ×

प्रभु अपने हैं, पर अपने लिये नहीं हैं, प्रत्युत हम प्रभुके लिये हैं। तात्पर्य है कि हमें प्रभुसे कुछ लेना नहीं है, प्रत्युत अपने-आपको उन्हें देना है और विपरीत-से-विपरीत परिस्थिति आनेपर भी उसको प्रभुका भेजा प्रसाद समझकर प्रसन्न रहना है॥ ४७७ ॥

× × ×

सदुपयोग करनेके लिये ही वस्तु अपनी है और अपने-आपको देनेके लिये ही भगवान् अपने हैं। इसलिये वस्तुको संसारमें लगा दे और अपने-आपको भगवान्‌में लगा दे॥ ४७८ ॥

× × ×

पति मर सकता है, स्त्रीको छोड़ भी सकता है, फिर भी नये घर जाते समय लड़कीको चिन्ता नहीं होती। परन्तु भगवान् न तो कभी मरते हैं और न कभी छोड़ते ही हैं, फिर भगवान्से सम्बन्ध जोड़नेपर किस बातकी चिन्ता? भगवान्को पकड़ना तो आता है, पर छोड़ना आता ही नहीं!॥ ४७९ ॥

× × ×

'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस अपनेपनके समान कोई भी योग्यता, पात्रता, अधिकारिता आदि नहीं है॥ ४८० ॥

× × ×

भक्तको अपनी योग्यता आदिकी तरफ न देखकर केवल भगवान्के अपनेपनकी तरफ ही देखते रहना चाहिये॥ ४८१ ॥

× × ×

भगवान्में अपनापन सबसे सुगम और श्रेष्ठ साधन है॥ ४८२ ॥

× × ×

भगवान्के सिवाय कोई मेरा नहीं है—यह असली भक्ति है॥ ४८३ ॥

× × ×

भगवान् सर्वसमर्थ होते हुए भी हमारेसे दूर होनेमें असमर्थ हैं॥ ४८४ ॥

× × ×

भगवान् हमारे हैं, पर मिली हुई वस्तु हमारी नहीं है, प्रत्युत भगवान्की है॥ ४८५ ॥

× × ×

मनुष्य पदार्थों और क्रियाओंको अपनी मानता है तो सर्वथा परतन्त्र हो जाता है और भगवान्को अपना मानता है तथा उनके अनन्य शरण होता है तो सर्वथा स्वतन्त्र हो जाता है॥ ४८६ ॥

× × ×

भगवान्के साथ हमारा सम्बन्ध स्वतः-स्वाभाविक है। इस सम्बन्धके लिये किसी बल, योग्यता, दूसरेकी सहायता आदिकी जरूरत नहीं है॥ ४८७ ॥

× × ×

अभी जैसे संसारका सम्बन्ध माना है कि वह प्राप्त है, नजदीक है, वैसे ही परमात्माका सम्बन्ध मान लें और जैसे परमात्माका सम्बन्ध माना है कि वह अप्राप्त है, दूर है, वैसे ही संसारका सम्बन्ध मान लें॥ ४८८ ॥

× × ×

ऐसा मान लो कि मैं भगवान्का हूँ। अगर 'मैं संसारका हूँ' ऐसा मानोगे तो संसारका काम दूर रहा, भगवान्का भजन करते हुए भी भगवान्को भूल जाओगे॥ ४८९ ॥

× × ×

आप कैसे ही हों, अभी इसी क्षण मान लें कि 'मैं भगवान्का हूँ।'॥ ४९० ॥

× × ×

भगवान्का ध्यान करनेकी अपेक्षा उनमें अपनापन करना श्रेष्ठ है। अपनापन होनेसे ध्यान अपने-आप होता है। अपने-आप होनेवाला साधन श्रेष्ठ होता है॥ ४९१ ॥

× × ×

भगवान्को अपनापन जितना प्रिय है, उतने त्याग, तपस्या आदि प्रिय नहीं हैं॥ ४९२ ॥

× × ×

परमात्माके सम्मुख होनेका उपाय है—संसारसे सर्वथा विमुख होना॥ ४९३ ॥

× × ×

भगवान्के साथ दृढ़ अपनापन सम्पूर्ण दोषोंको खा जाता है॥ ४९४ ॥

× × ×

जबतक भगवान्का सम्बन्ध नहीं होता, तबतक सब लौकिक ही होता है। भगवान्का सम्बन्ध होनेसे सब अलौकिक हो जाता है॥ ४९५ ॥

× × ×

हम भगवान्से कोई वस्तु माँगते हैं तो हमारा सम्बन्ध उस वस्तुके साथ होता है, भगवान्के साथ

नहीं॥ ४९६ ॥

× × ×

जो अपना है, वह अपनेमें निरन्तर मौजूद है, केवल उसकी स्वीकृति करनी है। जो अपना नहीं है, वह अपनेसे निरन्तर अलग हो रहा है, केवल उसकी अस्वीकृति करनी है॥ ४९७॥

× × ×

मनुष्यमात्रका भगवान्‌के साथ साक्षात् (सीधा) सम्बन्ध है, उसमें किसी दलाल या माध्यमकी जरूरत नहीं है॥ ४९८॥

मन

मनको भगवान्‌में लगाना उतना जरूरी नहीं है, जितना जरूरी भगवान्‌में खुद लगना है। खुद भगवान्‌में लग जायँ तो मन अपने-आप भगवान्‌में लग जायगा॥ ४९९ ॥

× × ×

मनकी एकाग्रता योग-मार्गमें जितनी आवश्यक है, उतनी भक्तिमें नहीं। भक्तिमें तो भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ता होनी चाहिये॥ ५०० ॥

× × ×

शान्ति त्यागसे मिलती है, मनकी एकाग्रतासे नहीं॥ ५०१ ॥

× × ×

मनको स्थिर करना मूल्यवान् नहीं है, प्रत्युत स्वरूपकी स्वत:सिद्ध निरपेक्ष स्थिरताका अनुभव करना मूल्यवान् है॥ ५०२ ॥

× × ×

मनमें संसारका जो राग है, उसे मिटानेकी जितनी जरूरत है, उतनी मनकी चंचलताको मिटानेकी जरूरत नहीं है॥ ५०३ ॥

× × ×

जबतक मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगानेकी वृत्ति रहेगी, तबतक मनका सर्वथा निरोध नहीं हो सकेगा। मनका सर्वथा निरोध तब होगा, जब एक परमात्माके सिवाय अन्य सत्ताकी मान्यता नहीं रहेगी॥ ५०४॥

× × ×

निष्कामभावसे बुद्धि स्थिर होती है और अभ्याससे मन स्थिर होता है। कल्याण बुद्धिकी स्थिरतासे होता है, मनकी स्थिरतासे नहीं। मनकी स्थिरतासे सिद्धियाँ होती हैं॥ ५०५॥

× × ×

मनकी एकता परमात्माके साथ नहीं है, प्रत्युत प्रकृतिके साथ है। इसलिये मन परमात्मामें लीन तो हो सकता है, पर लग नहीं सकता॥ ५०६॥

मनुष्य

सुख भोगनेके लिये स्वर्ग है, दु:ख भोगनेके लिये नरक है और सुख-दु:ख दोनोंसे ऊँचा उठकर अपना कल्याण करनेके लिये मनुष्यशरीर है॥ ५०७॥

× × ×

वास्तवमें मनुष्यजन्म ही सब जन्मोंका आदि तथा अन्तिम जन्म है। यदि मनुष्य परमात्मप्राप्ति कर ले तो अन्तिम जन्म भी यही है और परमात्मप्राप्ति न करे तो अनन्त जन्मोंका आदि जन्म भी यही है॥ ५०८॥

× × ×

अपना उद्धार करना अथवा परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना मनुष्यमात्रका स्वधर्म है; क्योंकि मनुष्यशरीर केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है॥ ५०९॥

× × ×

शरीरसे अपना सम्बन्ध मानकर भोग और संग्रहमें

लगना मनुष्यमात्रका पर धर्म है॥ ५१०॥

× × ×

आकृतिमात्रसे कोई मनुष्य नहीं होता। मनुष्य वही है, जो अपने विवेकको महत्त्व देता है॥ ५११॥

× × ×

मनुष्यमें अगर मनुष्यता नहीं है तो मनुष्य पशुसे भी नीचा है। कारण कि पशु तो अपने पूर्वकृत पापकर्मोंका फल भोगकर मनुष्यताकी तैयारी कर रहा है, पर मनुष्य नये पाप-कर्म करके नरकोंकी, पशुताकी तैयारी कर रहा है॥ ५१२॥

× × ×

ऊँची-से-ऊँची जीवन्मुक्त अवस्था मनुष्यमात्रमें स्वाभाविक है॥ ५१३॥

× × ×

शरीरका सदुपयोग केवल संसारकी सेवामें ही है॥ ५१४॥

× × ×

भगवान्‌को याद रखना और सेवा करना—इन दो बातोंसे ही मनुष्यता सिद्ध होती है॥ ५१५॥

× × ×

मनुष्यशरीर मिल गया, पर परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई तो यह बड़े शोककी, दुःखकी बात है!॥ ५१६॥

× × ×

मनुष्यशरीर केवल सुनने-सीखनेके लिये नहीं है, प्रत्युत तत्त्वका अनुभव करनेके लिये है। सुनना-सीखना तो पशु-पक्षियोंमें भी होता है, जिससे वे सर्कसमें काम करते हैं॥ ५१७॥

× × ×

जो दूसरोंकी सेवा नहीं करता और भगवान्‌को याद नहीं करता, वह मनुष्य कहलानेका अधिकारी ही नहीं है॥ ५१८॥

× × ×

किसी भी सुखभोगके आरम्भकालको देखना पशुता है और उसके परिणामको देखना मनुष्यता है॥ ५१९॥

× × ×

सृष्टिकी रचना ही इस ढंगसे हुई है कि मनुष्योंका जीवन दूसरोंके लिये है, अपने लिये नहीं॥ ५२०॥

× × ×

परमात्माकी प्राप्तिके बिना मनुष्यशरीर किसी कामका नहीं है॥ ५२१॥

× × ×

जिनकी भगवान्‌की तरफ रुचि हो गयी है, वे ही भाग्यशाली हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं और वे ही मनुष्य कहलानेयोग्य हैं॥ ५२२॥

× × ×

मनुष्यजन्मकी सफलताके लिये हरदम सावधान रहनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है॥ ५२३॥

× × ×

मनुष्यशरीरकी महिमा विवेकको लेकर है, क्रियाको लेकर नहीं॥ ५२४॥

× × ×

वास्तवमें मनुष्य कर्मयोनि नहीं है, प्रत्युत साधनयोनि है। जो साधक नहीं है, वह देवता या असुर तो हो सकता है, पर मनुष्य नहीं हो सकता॥ ५२५॥

× × ×

'मनुष्य' नाम उसीका है, जो परमात्मप्राप्तिका जन्मजात अधिकारी हो॥ ५२६॥

ममता

जबतक मनुष्यकी स्त्री, पुत्र आदिमें ममता रहेगी, तबतक उसके द्वारा स्त्री, पुत्र आदिका सुधार होना असम्भव है; क्योंकि ममता ही मूल अशुद्धि है॥ ५२७॥

× × ×

मनुष्य अपने पास ममतापूर्वक जितनी सामग्री रखता है, उतना ही असत्‌का संग है। जितना असत्‌का संग होता है, उतना ही मनुष्यका पतन होता है॥ ५२८॥

× × ×

जिन-जिन वस्तुओंको हम अपनी मानते हैं, उन-उन वस्तुओंके हम पराधीन हो जाते हैं। पराधीन व्यक्तिको स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलता—'**पराधीन सपनेहु सुखु नाहीं।**'॥ ५२९॥

× × ×

संसारमात्र परमात्माका है, पर जीव भूलसे परमात्माकी वस्तुको अपनी मान लेता है और इसीलिये बन्धनमें पड़ जाता है॥ ५३०॥

× × ×

शरीर, इन्द्रियाँ आदि कभी नहीं कहते कि हम तुम्हारे हैं और तुम हमारे हो। हम ही उनको अपना मान लेते हैं। उनको अपना मानना ही अशुद्धि है—'**ममता मल जरि जाइ।**'॥ ५३१॥

× × ×

हम घरमें रहनेसे नहीं फँसते, प्रत्युत घरको अपना माननेसे फँसते हैं॥ ५३२॥

× × ×

मनुष्य संसारमें जितनी चीजोंको अपनी और अपने लिये मानता है, उतना ही वह फँसता है॥ ५३३॥

× × ×

मनुष्य संसारमें जितनी वस्तुओंको अपनी मानता है, उतना ही वह उनके पराधीन हो जाता है। परन्तु परमात्माको अपना माननेसे वह स्वाधीन हो जाता है॥ ५३४॥

× × ×

शरीरादिको 'अपना' और 'अपने लिये' मानना बहुत बड़ी भूल है। इस भूलको मिटा दें तो कल्याण होनेमें कोई सन्देह नहीं है॥ ५३५॥

× × ×

जिसके साथ हम सदा न रह सकें और जो हमारे साथ सदा न रह सके, उसको अपना माननेसे परिणाममें रोनेके सिवाय और कुछ नहीं मिलेगा। अत: उसको अपना न मानकर उसकी सेवा करे॥ ५३६॥

× × ×

मिली हुई वस्तुको अपनी माननेवाला न संसारके कामका है, न अपने कामका है और न भगवान्‌के कामका है॥ ५३७॥

× × ×

ममतारहित पुरुष दुनियाका जितना भला कर सकता है, उतना ममतावाला कर ही नहीं सकता॥ ५३८॥

× × ×

न तो किसी वस्तुको अपनी और अपने लिये मानना चाहिये तथा न किसी वस्तुकी कामना करनी चाहिये; क्योंकि वस्तुको अपनी माननेसे अशुद्धि आती है और कामना करनेसे अशान्ति आती है॥ ५३९॥

× × ×

संसार प्रतिक्षण जा रहा है। जानेवालेके साथ ममता करोगे तो रोना ही पड़ेगा, पर रहनेवाले भगवान्‌से आत्मीयता करोगे तो सदाके लिये निहाल हो जाओगे॥ ५४०॥

× × ×

मेरी कहलानेवाली कोई भी वस्तु सदा हमारे साथ नहीं रह सकती, फिर उसकी ममताके त्यागमें क्या कठिनता?॥ ५४१॥

× × ×

शरीरको अपना मानना केवल दु:ख पानेके लिये

है और संसारका मानना मुक्ति पानेके लिये है॥ ५४२॥

× × ×

जो वस्तु अपनेसे अलग होती है, वह अपनी नहीं होती। अलग वही वस्तु होती है, जो वास्तवमें अपनेसे अलग है॥ ५४३॥

× × ×

शरीरको अपना मानना असत्‌का संग है और शरीरको अपना न मानना सत्‌का संग है॥ ५४४॥

× × ×

हम शरीरको अपना मानेंगे तो शरीरमें होनेवाली चीज अपनेमें दीखेगी और शरीरतक पहुँचनेवाली चीज अपनेतक पहुँचती दीखेगी॥ ५४५॥

मृत्यु और अमरता

शरीर-संसारके सम्बन्धसे मृत्युका और भगवान्‌के सम्बन्धसे अमरताका अनुभव होता है॥ ५४६॥

× × ×

अपने लिये कर्म करनेसे पहले कर्मके साथ और फिर फलके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। कर्म और फल—दोनों ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, पर अन्त:करणमें जो आसक्ति रह जाती है, वह बार-बार जन्म-मरण देती है॥ ५४७॥

× × ×

शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मानना प्रमाद है; प्रमाद ही मृत्यु है॥ ५४८॥

× × ×

किसी भी कामका होना या न होना अनिश्चित है, पर मरना बिलकुल निश्चित है॥ ५४९॥

× × ×

जैसे शरीरके लिये मृत्यु सुलभ है, ऐसे ही अपने लिये अमरता सुलभ है॥ ५५०॥

योग और भोग

सुखदायी परिस्थिति आनेपर सुखी तथा दु:खदायी परिस्थिति आनेपर दु:खी होनेवाला मनुष्य भोगी है,योगी नहीं। योगी तो सुख और दु:ख दोनोंमें समान रहता है॥ ५५१॥

× × ×

भोगी व्यक्ति रोगी होता है, दु:खी होता है और दुर्गतिमें जाता है॥ ५५२॥

× × ×

अपने सुखसे सुखी होनेवाला कोई भी मनुष्य योगी नहीं होता॥ ५५३॥

× × ×

भोगी योगी नहीं होता, प्रत्युत रोगी होता है—'**भोगे रोगभयम्**'॥ ५५४॥

× × ×

भोग दो वस्तुओं आदिके संयोगसे होता है और योग (परमात्मासे नित्य-सम्बन्ध) अकेला, स्वत:सिद्ध होता है। जबतक भोग है, तबतक योगका अनुभव नहीं होता। भोगका सर्वथा त्याग होनेपर ही योगका अनुभव होता है और योगका अनुभव होनेपर भोगकी इच्छा सर्वथा मिट जाती है॥ ५५५॥

× × ×

परमात्माके संगसे योग और संसारके संगसे भोग होता है॥ ५५६॥

× × ×

एकान्तका सुख लेना, मन लगनेका सुख लेना भोग है, योग नहीं॥ ५५७॥

× × ×

संसारसे सम्बन्ध जोड़नेका नाम 'भोग' है और

सम्बन्ध तोड़नेका नाम 'योग' है॥ ५५८॥

× × ×

किसी भी अवस्थामें राजी होना भोग है। भोगसे व्यक्तित्व नहीं मिटता। अत: साधकको किसी भी अवस्थामें राजी नहीं होना चाहिये॥ ५५९॥

× × ×

संसारका वियोग भी स्वत:सिद्ध है और परमात्माका योग भी स्वत:सिद्ध है॥ ५६०॥

× × ×

जिसका स्वत: वियोग हो रहा है, उसके संयोगकी इच्छाका त्याग कर दें—इसका नाम 'योग' है॥ ५६१॥

× × ×

जो कभी योगी और कभी भोगी होता है, वह वास्तवमें भोगी ही होता है॥ ५६२॥

× × ×

योगीके द्वारा सबको सुख मिलता है और भोगीके द्वारा सबको दु:ख मिलता है॥ ५६३॥

× × ×

मेरेको मिल जाय—यह भोग है, और दूसरोंको मिल जाय—यह योग है॥ ५६४॥

× × ×

अपनी सुख-सुविधाको देखनेवाला भोगी होता है, योगी नहीं होता॥ ५६५॥

× × ×

जो सदाके लिये और सबके लिये है, उसकी प्राप्ति 'योग' है। जो सदाके लिये और सबके लिये नहीं है, उसकी प्राप्ति 'भोग' है॥ ५६६॥

× × ×

भगवान्‌को अपना मानना योग है और भगवान्‌से कुछ चाहना भोग है॥ ५६७॥

× × ×

'योग' वियोगसे होता है और 'भोग' संयोगसे होता है॥ ५६८॥

× × ×

भोगी व्यक्ति तो कइयोंका ऋणी होता है, पर योगी किसीका भी ऋणी नहीं होता॥ ५६९॥

राग और द्वेष

राग-द्वेष अन्त:करणके आगन्तुक विकार हैं, धर्म नहीं। धर्म स्थायी रहता है और विकार अस्थायी अर्थात् आने-जानेवाले होते हैं। राग-द्वेष अन्त:करणमें आने-जानेवाले हैं। अत: इनको मिटाया जा सकता है॥ ५७०॥

× × ×

साधककी प्रवृत्ति और निवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक नहीं होनी चाहिये, प्रत्युत शास्त्रके अनुसार होनी चाहिये॥ ५७१॥

× × ×

राग-द्वेषपूर्वक किये गये कामका परिणाम अच्छा नहीं होता॥ ५७२॥

× × ×

दूसरे साधकके प्रति द्वेषवृत्ति अपने साधनकी सिद्धिमें महान् बाधक होती है॥ ५७३॥

× × ×

विवेक अनादि है, राग अपना बनाया हुआ है। संसारमें राग होनेसे विवेक दब जाता है और विवेक जाग्रत् होनेसे राग मिट जाता है॥ ५७४॥

× × ×

निरन्तर परिवर्तनशील संसारको स्थिर माननेसे ही राग-द्वेषादि द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं॥ ५७५॥

× × ×

जिसमें राग हो जाता है, उसमें दोष नहीं दीखते और जिसमें द्वेष हो जाता है, उसमें गुण नहीं दीखते। राग-द्वेषसे रहित होनेपर ही वस्तु अपने वास्तविक रूपसे दीखती है॥ ५७६॥

× × ×

वास्तवमें सब कुछ चिन्मय ही है, पर राग-द्वेषके कारण वह जड़ दीखता है। राग-द्वेष न हों तो एक चिन्मय तत्त्व (परमात्मा)- के सिवाय और कुछ है ही नहीं॥ ५७७॥

लेना और देना

सुख लेनेसे अन्त:करण अशुद्ध होता है और सुख देनेसे अन्त:-करण शुद्ध होता है॥ ५७८॥

× × ×

इस संसार-समुद्रसे जो लेना चाहता है, वह डूब जाता है और जो देना चाहता है, वह तर जाता है॥ ५७९॥

× × ×

'देने' के भावसे समाजमें एकता, प्रेम उत्पन्न होता है और 'लेने' के भावसे संघर्ष उत्पन्न होता है॥ ५८०॥

× × ×

'देने' का भाव उद्धार करनेवाला और 'लेने' का भाव पतन करनेवाला होता है॥ ५८१॥

× × ×

शरीरको 'मैं', 'मेरा' अथवा 'मेरे लिये' माननेसे ही 'लेने' का भाव उत्पन्न होता है॥ ५८२॥

× × ×

केवल सेवा करनेके लिये ही दूसरोंसे सम्बन्ध रखो। लेनेके लिये सम्बन्ध रखोगे तो दु:ख पाना पड़ेगा॥ ५८३॥

× × ×

लेकर दान देनेकी अपेक्षा न लेना ही बढ़िया है॥ ५८४॥

× × ×

लेकर देनेकी अपेक्षा न लेनेका बड़ा भारी पुण्य है। पर इस बातको समझनेवाले बहुत कम हैं!॥ ५८५॥

× × ×

संसारसे कुछ भी लेना पाप है और देना पुण्य है॥ ५८६॥

× × ×

सुख लेनेके लिये शरीर भी अपना नहीं है और सुख देने (सेवा करने)-के लिये पूरा संसार अपना है॥ ५८७॥

× × ×

लेनेकी इच्छासे मनुष्य दास हो जाता है और केवल देनेकी इच्छासे मालिक हो जाता है॥ ५८८॥

× × ×

लेनेके भावसे भोग होता है और देनेके भावसे योग होता है॥ ५८९॥

× × ×

शरीरको आवश्यकतानुसार अन्न-जल-वस्त्र तो देना है, पर शरीरसे सम्बन्ध जोड़कर अन्न-जल-वस्त्र लेनेवाला नहीं बनना है। लेना बन्धन है और देना मुक्ति है॥ ५९०॥

शरणागति

संसारका आश्रय लेनेसे पराधीनता और भगवान्‌का आश्रय लेनेसे स्वाधीनता प्राप्त होती है॥ ५९१॥

× × ×

भगवान्‌का आश्रय लिये बिना भगवान्‌को जानना असम्भव है॥ ५९२॥

× × ×

एक भगवान्‌के सिवाय और किसीका आश्रय न लेना ही 'अनन्यता' है॥ ५९३॥

× × ×

संसारका आश्रय ही भगवान्‌की शरणागतिमें

बाधक है॥ ५९४॥

× × ×

भय दूसरेसे होता है, अपनेसे नहीं। भगवान् अपने हैं, इसलिये उनके शरण होनेपर मनुष्य सदाके लिये निर्भय हो जाता है॥ ५९५॥

× × ×

भगवान्‌की शरणागति स्वीकार कर लेनेपर फिर भक्तको किसी प्रकार सन्देह, परीक्षा, विपरीत भावना और कसौटी नहीं लगानी चाहिये॥ ५९६॥

× × ×

भगवान्‌के साथ अपने नित्य-सम्बन्धको पहचानना ही भगवान्‌की शरण होना है। शरण होनेपर भक्त निश्चिन्त, निर्भय, नि:शोक और नि:शंक हो जाता है॥ ५९७॥

× × ×

भगवान्‌के लिये अपनी मनचाही छोड़ देना ही शरणागति है॥ ५९८॥

× × ×

शरणागति मन-बुद्धिसे नहीं होती, प्रत्युत स्वयंसे होती है॥ ५९९॥

× × ×

परमात्माके आश्रयसे बढ़कर दूसरा कोई आश्रय नहीं है॥ ६००॥

× × ×

शरणागति और प्रारब्ध—इन दोनोंका तात्पर्य चिन्ताको छोड़नेमें है, पुरुषार्थ (शास्त्रोक्त कर्तव्य कर्म)-को छोड़नेमें नहीं॥ ६०१॥

× × ×

जीवमात्र साक्षात् परमात्माका अंश है। अत: जबतक यह जीव अपने अंशी परमात्माका आश्रय नहीं लेगा, तबतक यह दूसरोंका आश्रय लेकर पराधीन होता ही रहेगा, दु:ख पाता ही रहेगा॥ ६०२॥

× × ×

जबतक मनुष्य भगवान्‌का सहारा नहीं लेगा, तबतक कोई भी सहारा टिकेगा नहीं और वह दु:ख पाता ही रहेगा॥ ६०३॥

× × ×

जिसमें अपने साधनका अभिमान नहीं है और जिसे अपने कल्याणका और कोई उपाय नहीं दीखता, वही भगवान्‌की शरणागतिका अधिकारी है॥ ६०४॥

× × ×

आश्रय उसीका लेना चाहिये, जो हमारेसे अलग, दूर, विमुख और भिन्न न हो सके तथा हम उससे अलग, दूर, विमुख और भिन्न न हो सकें॥ ६०५॥

× × ×

अपनेमें कुछ भी विशेषता दीखती है तो यह शरणागतिमें बाधक है॥ ६०६॥

× × ×

वेदोंका सार उपनिषद् हैं, उपनिषदोंका सार गीता है और गीताका सार भगवान्‌की शरणागति है॥ ६०७॥

× × ×

जबतक अपने बलका अभिमान रहता है, तबतक शरणागति नहीं होती॥ ६०८॥

× × ×

शरणागति बहुत सुगम है, पर अभिमानी व्यक्तिके लिये बहुत कठिन है। मैं कुछ कर सकता हूँ—यह अभिमान जबतक रहेगा, तबतक शरण होना कठिन है॥ ६०९॥

× × ×

भगवान्‌के शरण होनेसे जो तत्त्व मिलता है, वह अपने उद्योगसे नहीं मिलता॥ ६१०॥

× × ×

सब प्रकारसे एक भगवान्‌के शरण होनेसे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है॥ ६११॥

सन्त-महात्मा

सन्त-महापुरुषोंके उपदेशके अनुसार अपना जीवन बनाना ही उनकी सच्ची सेवा है॥ ६१२॥

× × ×

जैसे सूर्यके द्वारा सबको समानरूपसे प्रकाश मिलता है, ऐसे ही सन्त-महात्माओंके द्वारा सबका समानरूपसे हित होता है॥ ६१३॥

× × ×

बाहरका प्रकाश तो सूर्य करता है और भीतरका प्रकाश संत-महात्मा करते हैं॥ ६१४॥

× × ×

सन्त-महापुरुषकी सबसे बड़ी सेवा है—उनके सिद्धान्तोंके अनुसार अपना जीवन बनाना। कारण कि उन्हें सिद्धान्त जितने प्रिय होते हैं, उतने अपने प्राण भी प्रिय नहीं होते॥ ६१५॥

× × ×

भगवान्, सन्त-महात्मा, धर्म और शास्त्र—ये कभी किसीसे विमुख नहीं होते। केवल जीव ही इनसे विमुख होता है॥ ६१६॥

× × ×

समुद्रमेंसे कोई राई नहीं निकाल सकता। परन्तु सन्तोंने संसारभरके ग्रन्थोंमेंसे 'गीता' निकालकर हमें दे दी, यह उनकी कितनी विलक्षण कृपा है!॥ ६१७॥

× × ×

भगवान्‌से लाभ उठानेकी पाँच बातें हैं—नामजप, ध्यान, सेवा, आज्ञापालन और संग। परन्तु संतोंसे लाभ उठानेमें तीन ही बातें उपयुक्त हैं—सेवा, आज्ञापालन और संग॥ ६१८॥

× × ×

धनीलोग तो दूसरेको नौकर बनाते हैं, पर सन्तलोग दूसरेको भी सन्त ही बनाते हैं॥ ६१९॥

× × ×

भगवान्, सन्त, सच्छास्त्र और सद्विचार—ये चारों साधकको कभी निराश नहीं करते, प्रत्युत उसकी उन्नति करते हैं॥ ६२०॥

× × ×

समाजका सबसे अधिक सुधार वीतराग सन्तके द्वारा ही होता है॥ ६२१॥

× × ×

सन्त-महात्मा संसारमें लोगोंको अपनी तरफ लगानेके लिये नहीं आते, प्रत्युत भगवान्‌की तरफ लगानेके लिये आते हैं। जो लोगोंको अपनी तरफ (अपने ध्यान, पूजन आदिमें) लगाता है, वह भगवद्द्रोही और नरकोंमें ले जानेवाला होता है॥ ६२२॥

संसार

संसारका मात्र संयोग निरन्तर वियोगरूपी अग्निमें जल रहा है। जिससे संयोग होता है, उससे वियोग होना निश्चित है। भूल यह होती है कि उस संयोगको हम नित्य मान लेते हैं॥ ६२३॥

× × ×

संसारके संयोगका वियोग तो अवश्यम्भावी है, पर वियोगका संयोग अवश्यम्भावी नहीं है। अतः संसारका वियोग ही सत्य है॥ ६२४॥

× × ×

नाशवान् भौतिक पदार्थोंके सम्बन्धसे किसीका शोक कभी दूर हो ही नहीं सकता॥ ६२५॥

× × ×

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंके वशमें न होना अर्थात् उनका आश्रय न लेना ही मनुष्यकी वास्तविक

विजय है॥ ६२६ ॥

× × ×

जबतक संसार-शरीरका आश्रय सर्वथा नहीं मिट जाता, तबतक जीनेकी आशा, मरनेका भय, करनेका राग और पानेका लालच—ये चारों नहीं मिट सकते॥ ६२७ ॥

× × ×

मनुष्य ही आसक्तिपूर्वक संसारसे सम्बन्ध जोड़ता है, संसार कभी सम्बन्ध नहीं जोड़ता॥ ६२८ ॥

× × ×

संसारके साथ मिलनेसे संसारका ज्ञान नहीं होता और परमात्मासे अलग रहनेपर परमात्माका ज्ञान नहीं होता—यह नियम है॥ ६२९ ॥

× × ×

संसारके साथ एकता और परमात्मासे भिन्नता भूलसे मानी हुई है॥ ६३० ॥

× × ×

विनाशीसे अपना सम्बन्ध माननेसे अन्त:करण, कर्म और पदार्थ—तीनों ही मलिन हो जाते हैं और विनाशीसे माना हुआ सम्बन्ध छूट जानेसे ये तीनों ही स्वत: पवित्र हो जाते हैं॥ ६३१ ॥

× × ×

जबतक संसारसे संयोग बना रहता है, तबतक भोग होता है, योग नहीं। संसारके संयोगका मनसे सर्वथा वियोग होनेपर योग सिद्ध हो जाता है अर्थात् परमात्मासे अपने स्वत:सिद्ध नित्ययोगका अनुभव हो जाता है॥ ६३२ ॥

× × ×

संसारसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद करनेके लिये या तो मिले हुए (शरीरादि) पदार्थोंको संसारका ही समझकर उनको संसारकी सेवामें लगा दे या जड़ता (शरीरादि)-से सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय या फिर इन (शरीरादि)-के सहित भगवान्के शरण हो जाय॥ ६३३ ॥

× × ×

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका आश्रय लेकर, उनसे सम्बन्ध जोड़कर सुख चाहनेवाला मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता—यह नियम है॥ ६३४ ॥

× × ×

नाशवान्की दासता ही अविनाशीके सम्मुख नहीं होने देती॥ ६३५ ॥

× × ×

संसारकी सामग्री संसारके कामकी है, अपने कामकी नहीं॥ ६३६ ॥

× × ×

संसार विश्वास करनेयोग्य नहीं है, प्रत्युत सेवा करनेयोग्य है॥ ६३७ ॥

× × ×

नाशवान्में अपनापन अशान्ति और बन्धन देनेवाला है॥ ६३८ ॥

× × ×

असत्को असत् जाननेपर भी जबतक असत्का आकर्षण नहीं मिट जाता, तबतक सत्की प्राप्ति नहीं होती (जैसे, सिनेमाको असत्य जाननेपर भी उसका आकर्षण रहता है)॥ ६३९ ॥

× × ×

जैसे भगवान्का आश्रय कल्याण करनेवाला है, ऐसे ही रुपये आदि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका आश्रय पतन करनेवाला है॥ ६४० ॥

× × ×

प्राकृत पदार्थमात्रको महत्त्व देना अनर्थका मूल है॥ ६४१ ॥

× × ×

विश्वास भगवान्पर ही करना चाहिये। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंपर विश्वास करनेसे धोखा ही होगा, दु:ख ही पाना पड़ेगा॥ ६४२ ॥

× × ×

भगवान्के साथ हमारा वियोग और संसारके साथ हमारा संयोग कभी हो ही नहीं सकता॥ ६४३ ॥

× × ×

हम संसारके साथ कभी रह ही नहीं सकते और परमात्मासे अलग कभी हो ही नहीं सकते॥ ६४४॥

× × ×

असत्‌के संगसे ही सम्पूर्ण दोषों और विषमताओंकी उत्पत्ति होती है॥ ६४५॥

× × ×

शरीर-संसारका निरन्तर परिवर्तन हमें यह क्रियात्मक उपदेश दे रहा है कि तुम्हारा सम्बन्ध अपरिवर्तनशील तत्त्व (परमात्मा)-के साथ है, हमारे साथ नहीं; हम तुम्हारे साथ और तुम हमारे साथ नहीं रह सकते॥ ६४६॥

× × ×

अभी जो वस्तुएँ, व्यक्ति आदि हमारे पास हैं, उनका साथ कबतक रहेगा—इसपर हरेकको विचार करनेकी जरूरत है॥ ६४७॥

× × ×

हम शरीरको रखना चाहते हैं, सुख-आराम चाहते हैं, अपने मनकी बात पूरी करना चाहते हैं—यह सब असत्‌का आश्रय है॥ ६४८॥

× × ×

जो किसी समय है और किसी समय नहीं है, कहीं है और कहीं नहीं है, किसीमें है और किसीमें नहीं है, किसीका है और किसीका नहीं है, वह वास्तवमें है ही नहीं॥ ६४९॥

× × ×

वस्तु और व्यक्ति तो नहीं रहते, पर उनसे माना हुआ सम्बन्ध बना रहता है। यह माना हुआ सम्बन्ध ही जन्म-मरणका कारण होता है॥ ६५०॥

× × ×

सब संसार अपनी धुनमें जा रहा है। हम ही उसको (जाते हुएको) पकड़ते हैं और फिर उसके छूटनेपर रोते हैं॥ ६५१॥

× × ×

जो संसारकी गरज नहीं करता, उसकी गरज संसार करता है। परन्तु जो संसारकी गरज करता है, उसको संसार चूसकर फेंक देता है!॥ ६५२॥

× × ×

मनुष्य जबतक सांसारिक पदार्थोंका सम्बन्ध रखेगा और उनकी आवश्यकता समझेगा, तबतक वह कभी सुखी नहीं होगा॥ ६५३॥

× × ×

संसारको सत्ता देनेसे संयोग-वियोग होते हैं और महत्ता देनेसे सुख-दुःख होते हैं॥ ६५४॥

× × ×

संसारकी सत्ता बाधक नहीं है, प्रत्युत उसकी महत्ताका असर बाधक है। महत्ताका असर होनेसे गुलामी आ जाती है॥ ६५५॥

× × ×

संसारका संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है। नित्यको स्वीकार करना मनुष्यका कर्तव्य है॥ ६५६॥

× × ×

संसारकी जिन वस्तुओंको हम बड़ा महत्त्व देते हैं, उनका काम यही है कि वे हमें परमात्मप्राप्ति नहीं होने देंगी और खुद भी नहीं रहेंगी!॥ ६५७॥

× × ×

संसार असत्य हो अथवा सत्य हो, पर उसके साथ हमारा सम्बन्ध असत्य है—यह निःसन्देह बात है॥ ६५८॥

× × ×

यह संसार मेंहदीके पत्तेकी तरह ऊपरसे हरा दीखता है, पर इसके भीतर परमात्मरूप लाली परिपूर्ण है॥ ६५९॥

× × ×

हम स्वयं चेतन तथा अविनाशी हैं और सांसारिक वस्तुएँ जड़ तथा विनाशी हैं। दोनोंकी जाति अलग-अलग है। फिर दूसरी जातिकी वस्तु हमें कैसे मिल सकती है?॥ ६६०॥

× × ×

जैसे उदय होनेके बाद सूर्य निरन्तर अस्तकी ओर ही जाता है, ऐसे ही उत्पन्न होनेके बाद मात्र संसार

निरन्तर अभावकी ओर ही जा रहा है॥ ६६१ ॥

× × ×

संसार विजातीय है और विजातीय वस्तुसे सम्बन्ध होता ही नहीं, केवल सम्बन्धकी मान्यता होती है। सम्बन्धकी मान्यता ही अनर्थका हेतु है, जिसके मिटते ही मुक्ति स्वतःसिद्ध है॥ ६६२ ॥

× × ×

सांसारिक पदार्थ, मान, बड़ाई, प्रशंसा, आराम, सत्कार आदिका प्रिय लगना पतनका कारण है॥ ६६३ ॥

× × ×

जो नहीं है, उसकी सत्ता मानकर उसको पानेकी अथवा मिटानेकी इच्छा करना असत्‌का संग है॥ ६६४॥

× × ×

वस्तु, व्यक्ति और क्रियाका सम्बन्ध मनुष्यको पराधीन बनानेवाला है। इनसे असंग होनेपर ही मनुष्य स्वाधीन हो सकता है॥ ६६५ ॥

× × ×

जबतक अपनेपर जड़ (संसार)-का असर पड़े, तबतक अपनी स्थिति जड़में ही समझनी चाहिये, चिन्मय तत्त्वमें नहीं॥ ६६६ ॥

× × ×

शरीर-संसारको भूल जानेसे (निद्रामें) विश्राम मिलता है, पर उनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय तो परम विश्राम मिलता है॥ ६६७ ॥

× × ×

शरीर-संसारसे असंग होनेके लिये विचारकी आवश्यकता है, अभ्यासकी नहीं॥ ६६८ ॥

× × ×

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें कोई भी वस्तु हमारी और हमारे लिये नहीं है॥ ६६९ ॥

× × ×

जिसका किसी भी देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें अभाव है, उसका कहीं भी भाव नहीं है अर्थात् उसका सदा ही अभाव है और वह असत् है—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २। १६)॥ ६७० ॥

सद्‌गुण और दुर्गुण

जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे सब मनुष्यके बनाये हुए हैं, भगवान्‌के बनाये हुए नहीं। भगवान् 'सत्' हैं और दुर्गुण-दुराचार 'असत्' हैं। सत्‌से असत्‌की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?॥ ६७१ ॥

× × ×

संसारसे विमुख होनेपर बिना प्रयत्न किये स्वतः सद्‌गुण आते हैं॥ ६७२ ॥

× × ×

जब जीव परमात्माके सम्मुख होता है, तब सब सद्‌गुण आ जाते हैं और जब संसारके सम्मुख होता है, तब सब अवगुण आ जाते हैं॥ ६७३ ॥

× × ×

अपनी निर्बलताका दुःख हो और भगवान्‌की कृपापर विश्वास हो तो जिस दुर्गुणको हटाना चाहते हैं, वह हट जायगा और जिस सद्‌गुणको लाना चाहते हैं, वह आ जायगा॥ ६७४ ॥

× × ×

सद्‌गुण-सदाचारको अपनेमें माननेसे अभिमान आता है और दुर्गुण-दुराचारको अपनेमें माननेसे वे स्थायी हो जाते हैं॥ ६७५ ॥

सत्संग और कुसंग

सत्संगसे जितना लाभ होता है, उतना एकान्तमें रहकर साधन करनेसे नहीं होता॥ ६७६ ॥

× × ×

सत्संगमें बिना कुछ किये उन्नति होती है और कुसंगमें बिना कुछ किये पतन होता है॥ ६७७ ॥

× × ×

असत्‌का संग छोड़े बिना सत्संगका प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता॥ ६७८ ॥

× × ×

केवल सुननेसे सत्संग नहीं होता। सत्संग होता है—सत्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेसे, सत्‌को महत्त्व देनेसे॥ ६७९ ॥

× × ×

सबमें परिपूर्ण एक परमात्मतत्त्वको देखना सत्संग (सत्‌का संग) है॥ ६८० ॥

× × ×

भगवान्‌में प्रेम होना भी सत्संग है और नाशवान्‌का प्रेम (मोह) छूटना भी सत्संग है॥ ६८१ ॥

× × ×

जैसे शरीरके लिये भोजन आवश्यक है, ऐसे ही पारमार्थिक जीवनके लिये सत्संग आवश्यक है॥ ६८२ ॥

× × ×

जैसे मनुष्यशरीर बार-बार नहीं मिलता, ऐसे ही मनुष्यशरीर मिलनेपर भी सत्संग बार-बार नहीं मिलता॥ ६८३ ॥

× × ×

सत्संग हमारे पुरुषार्थसे नहीं मिलता, प्रत्युत केवल भगवत्कृपासे मिलता है॥ ६८४ ॥

× × ×

जहाँ स्वार्थ होता है, वहाँ सत्संग नहीं होता, प्रत्युत कुसंग होता है॥ ६८५ ॥

× × ×

हर हालमें खुश रहनेकी विद्या सत्संगसे ही मिलती है॥ ६८६ ॥

× × ×

सच्ची बातको मान लें—यह सत्संग है॥ ६८७ ॥

× × ×

जैसे भीतर अग्नि कमजोर हो तो भोजन पचता नहीं, ऐसे ही भीतर लगन न हो तो सत्संगकी बातें पचती नहीं॥ ६८८ ॥

× × ×

भगवान्‌की विशेष कृपाकी पहचान है—सत्संग प्राप्त होना॥ ६८९ ॥

× × ×

व्यापारमें तो लाभ और नुकसान दोनों होते हैं, पर सत्संगमें लाभ-ही-लाभ होता है, नुकसान होता ही नहीं॥ ६९० ॥

× × ×

सत्संगकी बातोंको महत्त्व देनेसे वृत्तियोंमें बहुत फर्क पड़ता है और विकार अपने-आप नष्ट होते हैं॥ ६९१ ॥

× × ×

भोगोंमें जितनी आसक्ति होती है, उतनी ही बुद्धिमें जड़ता आती है, जिससे सत्संगकी तात्त्विक बातें पढ़-सुनकर भी समझमें नहीं आतीं॥ ६९२ ॥

× × ×

संसारसे कुछ लेनेकी इच्छा होते ही कुसंग शुरू हो जाता है॥ ६९३ ॥

× × ×

शरीर-संसारसे अपना सम्बन्ध मानना कुसंग है॥ ६९४ ॥

× × ×

कुसंगसे हानि नहीं होती, प्रत्युत कुसंगको स्वीकार करनेसे हानि होती है॥ ६९५ ॥

× × ×

ईश्वर, परलोक और धर्मको न माननेवाले नास्तिकका

संग सबसे अधिक पतन करनेवाला है॥ ६९६॥

× × ×

अपने भीतर कमी (दोष) होती है, तभी बाहरी कुसंगका असर पड़ता है। कारण कि आकर्षण सजातीयतामें होता है, विजातीयतामें नहीं॥ ६९७॥

× × ×

सत्संग, सद्विचार, सच्छास्त्र और दुःख—ये चारों विवेकीके लिये संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करानेवाले हैं॥ ६९८॥

× × ×

कई वर्षोंसे साधन करनेपर जो तत्त्व नहीं मिलता, वह सत्संगसे तत्काल मिल सकता है॥ ६९९॥

× × ×

साधन करना खुद धनको कमाना है और सत्संग करना धनी आदमीके गोद जाना है। जैसे गोद जानेवालेको कमाया हुआ धन मिलता है, ऐसे ही सत्संगमें जानेसे बिना साधन किये साधन होता है॥ ७००॥

समय

गया हुआ धन पुनः प्राप्त हो सकता है, पर गया हुआ समय पुनः प्राप्त नहीं होता। धनकी तरह समयको तिजोरीमें बन्द करके भी नहीं रख सकते। अतः हर समय सावधान रहकर समयका सदुपयोग करना चाहिये॥ ७०१॥

× × ×

पैसोंको तो तिजोरीमें बन्द करके रखा जा सकता है, पर समयको बन्द करके नहीं रखा जा सकता। अतः अपने अमूल्य समयको व्यर्थके कामोंमें खर्च नहीं करना चाहिये॥ ७०२॥

× × ×

समयका सदुपयोग न करनेवाला व्यक्ति किसी भी क्षेत्रमें सफल नहीं हो सकता॥ ७०३॥

× × ×

देखनेमें तो ऐसा दिखता है कि समय जा रहा है, पर वास्तवमें शरीर जा रहा है!॥ ७०४॥

× × ×

विचार करें कि जो समय चला गया, उस समयके सदुपयोगसे हम परमात्मप्राप्तिके मार्गपर कितना आगे बढ़े हैं?॥ ७०५॥

साधक

निषिद्ध कर्मोंको करते हुए कोई व्यक्ति साधक नहीं बन सकता॥ ७०६॥

× × ×

साधक चाहे तो असत्से विमुख हो जाय, चाहे सत्के सम्मुख हो जाय। दोनोंमें कोई एक काम तो करना ही पड़ेगा, तभी आफत मिटेगी॥ ७०७॥

× × ×

साधकके लिये 'मेरेको केवल परमात्मप्राप्ति ही करनी है'—इस निश्चयकी तथा इसपर दृढ़ अटल रहनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है॥ ७०८॥

× × ×

साधकको चाहिये कि वह अपनेको कभी भोगी या संसारी व्यक्ति न समझे। उसमें सदा यह जागृति रहनी चाहिये कि 'मैं साधक हूँ'॥ ७०९॥

× × ×

जड़तासे जितना सम्बन्ध-विच्छेद होता जाता है, उतनी ही साधकमें विलक्षणता आती जाती है॥ ७१०॥

× × ×

साधक उसीको कहते हैं, जो निरन्तर सावधान रहता है॥ ७११ ॥

× × ×

साधकको अपनी स्थिति स्वाभाविक रूपसे परमात्मामें ही माननी चाहिये, जो वास्तवमें है। संसारमें अपनी स्थिति माननेवाला साधक साधनासे गिर जाता है॥ ७१२ ॥

× × ×

साधकको विचार करना चाहिये कि अगर मेरे द्वारा किसीको लाभ नहीं हुआ, किसीका हित नहीं हुआ, किसीकी सेवा नहीं हुई तो मैं साधक क्या हुआ ?॥ ७१३ ॥

× × ×

साधकमें साधन और सिद्धिके विषयमें चिन्ता तो नहीं होनी चाहिये, पर भगवत्प्राप्तिके लिये व्याकुलता अवश्य होनी चाहिये। कारण कि चिन्ता भगवान्‌से दूर करनेवाली है और व्याकुलता भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाली है॥ ७१४ ॥

× × ×

जबतक अपने व्यक्तित्वका भान हो, तबतक साधकको सन्तोष नहीं करना चाहिये॥ ७१५ ॥

× × ×

आपसमें मतभेद होना और अपने मतके अनुसार साधन करके जीवन बनाना दोष नहीं है, प्रत्युत दूसरोंका मत बुरा लगना, उनके मतका खण्डन करना, उनके मतसे घृणा करना ही दोष है॥ ७१६ ॥

× × ×

जबतक साधकको अपनी स्थितिपर असन्तोष नहीं होता, तबतक उसकी उन्नति नहीं होती॥ ७१७ ॥

× × ×

साधकको केवल इतनी सावधानी रखनी है कि उसको जो चीज नाशवान् दीखे, उसके मोहमें न फँसे, उसको महत्त्व न दे। नाशवान् चीजको काममें ले, पर उसकी दासता स्वीकार न करे॥ ७१८ ॥

× × ×

साधकको मतवादी न बनकर तत्त्ववादी बनना चाहिये॥ ७१९ ॥

× × ×

भोगी व्यक्तिको तो नींद मित्रके समान प्रिय लगती है, पर साधन-भजन करनेवालेको नींद वैरीके समान बुरी लगती है॥ ७२० ॥

× × ×

भजन न करनेवालोंके लिये तो यह कलियुगका समय है; पर भजन करनेवालोंके लिये यह बहुत उत्तम समय है॥ ७२१ ॥

× × ×

साधकको हर समय सावधान रहना चाहिये। सावधान रहनेका तात्पर्य है—किसीसे कभी कुछ न चाहना॥ ७२२ ॥

× × ×

साधक वह होता है, जो चौबीसों घण्टे साधन करता है॥ ७२३ ॥

× × ×

छोटे-से-छोटा तथा बड़े-से-बड़ा जो भी कर्म किया जाय, उसमें साधकको सावधान रहना चाहिये कि कहीं किसी स्वार्थकी भावनासे तो कर्म नहीं हो रहा है!॥ ७२४ ॥

× × ×

मेरी किसी भी क्रियासे दूसरेको दुःख न पहुँचे—ऐसी सावधानी साधकको हर समय रखनी चाहिये। दूसरेको दुःख देनेसे वर्षोंतक साधन करनेपर भी शान्ति नहीं मिलती॥ ७२५ ॥

× × ×

साधक जितना जानता है, उतना मानकर उसका पालन करना आरम्भ कर दे तो आगेकी आवश्यक जानकारी उसको स्वतः प्राप्त हो जाती है॥ ७२६ ॥

× × ×

शरीर संसारमें स्थित है और स्वयं परमात्मामें स्थित है। अतः साधक अपनेको संसारमें स्थित न मानकर परमात्मामें ही अपनी स्थितिका अनुभव करे॥ ७२७ ॥

× × ×

साधकको चाहिये कि वह 'क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये'—इसको शास्त्रपर रखे तथा 'क्या होना चाहिये और क्या नहीं होना चाहिये'—इसको भगवान्‌पर छोड़ दे॥ ७२८॥

× × ×

अपनेको कभी सिद्ध नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत सदा साधक ही मानना चाहिये। सिद्ध माननेसे धोखा ही होता है॥ ७२९॥

× × ×

साधकका काम शासन करना नहीं है, प्रत्युत तत्त्वज्ञ और हितैषीके शासनमें रहना है॥ ७३०॥

× × ×

साधकको यह विचार करना चाहिये कि मुझे वह सुख नहीं लेना है, जो सदा न रहे और जिसके साथ दु:ख भी हो॥ ७३१॥

× × ×

साधनजन्य सुखका भोग साधकके लिये विशेष बाधक है॥ ७३२॥

× × ×

साधकका उद्देश्य बातें सीखनेका नहीं होना चाहिये, प्रत्युत अनुभव करनेका होना चाहिये। सीखे हुए ज्ञानसे वह विद्वान्, वक्ता, लेखक तो हो सकता है, पर तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी नहीं हो सकता॥ ७३३॥

× × ×

जो आरम्भको देखता है, वह असाधक होता है और जो परिणामको देखता है, वह साधक होता है॥ ७३४॥

× × ×

'मैं साधक हूँ'—यह यदि अभिमानको लेकर है तो बाधक है और यदि स्वाभिमान (कर्तव्य)-को लेकर है तो सहायक है। मैं साधक हूँ, दूसरा असाधक है—यह अभिमान है, और मैं साधन-विरुद्ध कार्य कैसे कर सकता हूँ—यह स्वाभिमान है॥ ७३५॥

× × ×

साधकको सत्य-तत्त्वका अनुयायी होना चाहिये, किसी व्यक्ति, सम्प्रदाय आदिका अनुयायी नहीं॥ ७३६॥

साधन

केवल नाम-जप करना ही भजन नहीं है, प्रत्युत भगवदनुकूल जिस किसी भी क्रिया, भावसे भगवान्‌की ओर आकर्षण बढ़े, वह सब भजन ही है॥ ७३७॥

× × ×

एकमात्र भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य होनेपर सब क्रियाएँ साधन बन जाती हैं॥ ७३८॥

× × ×

संसारका कार्य तो निर्लिप्त होकर, कर्तव्यमात्र समझकर करना चाहिये, पर भगवान्‌का कार्य (जप, ध्यान आदि) तल्लीन होकर, अपनी खास वस्तु समझकर करना चाहिये॥ ७३९॥

× × ×

साधक हृदयसे यह मान ले कि 'मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं' फिर उससे स्वत:-स्वाभाविक साधन होगा॥ ७४०॥

× × ×

रात-दिन भगवान्‌के भजन-ध्यानमें तल्लीन रहनेवाले व्यक्तिसे संसारका जो हित होता है, वह रात-दिन कर्म करनेवालोंसे नहीं होता॥ ७४१॥

× × ×

मुझे केवल परमात्माकी ओर ही चलना है—ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि सम्पूर्ण साधनोंका मूल है। परन्तु संसारको स्थिर माननेसे ऐसी बुद्धि पैदा नहीं होती॥ ७४२॥

× × ×

अपने साधनके बलका अभिमान होनेसे ही अपनेमें कमीकी चिन्ता होती है॥ ७४३॥

× × ×

किसी भी साधनकी पूर्णता होनेपर जीनेकी इच्छा, मरनेका भय, पानेका लालच और करनेका राग—ये चारों सर्वथा मिट जाते हैं॥ ७४४॥

× × ×

जड़ पदार्थोंके साथ जीवका जो रागयुक्त सम्बन्ध है, उसको मिटानेमें ही सम्पूर्ण साधनोंकी सार्थकता है॥ ७४५॥

× × ×

अभ्यासका नाम भजन नहीं है, प्रत्युत भगवान्की स्मृति और प्रियताका नाम भजन है। भगवान्को अपना माने बिना स्मृति और प्रियता जाग्रत् नहीं होती॥ ७४६॥

× × ×

साधन स्वयंसे होता है, मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे नहीं॥ ७४७॥

× × ×

परमात्मप्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सब साधनोंको परमात्माकी प्राप्तिसे भी बढ़कर आदर देना चाहिये॥ ७४८॥

× × ×

साधनमें विशेष आदरबुद्धि होनेसे साधन तेज होता है। साधनको जितना आदर देना चाहिये, उतना आदर न देनेसे ही साधनमें शिथिलता आती है और सफलता भी प्राप्त नहीं होती॥ ७४९॥

× × ×

भगवान्की ओर ले जानेवाले सब साधन 'स्वधर्म' हैं और संसारकी ओर ले जानेवाले सब कर्म 'परधर्म' हैं॥ ७५०॥

× × ×

जो दूसरेको दुःख देता है, उसका भजनमें मन नहीं लगता॥ ७५१॥

× × ×

जैसी परिस्थिति आये, उसीमें साधन करना है। अनुकूलता देखोगे तो साधन नहीं होगा॥ ७५२॥

× × ×

सम्पूर्ण साधनोंकी सार बात है—संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करना और भगवान्से अपना सम्बन्ध पहचानना॥ ७५३॥

× × ×

संसारसे उपरति और भगवान्में प्रेम होनेके लिये ही सब साधन हैं॥ ७५४॥

× × ×

कितनी ही ऊँची अवस्था हो जाय, पर अपने साधनमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये॥ ७५५॥

× × ×

जो परिस्थिति सामने आ जाय, उसीमें प्रसन्न रहना 'भजन' है॥ ७५६॥

× × ×

भगवान्का भजन करते समय संसारको याद नहीं करना चाहिये और संसारका काम करते समय भगवान्को भूलना नहीं चाहिये॥ ७५७॥

× × ×

अपने लिये जप, तप, ध्यान आदि करना असुरपना है और दूसरोंके हितके लिये जप, तप, ध्यान आदि करना मनुष्यपना है॥ ७५८॥

× × ×

जैसे व्यापार वह बढ़िया होता है, जिसमें ज्यादा पैसे मिलें, ऐसे ही साधन वह बढ़िया होता है, जिसमें मन ज्यादा भगवान्में लगे॥ ७५९॥

× × ×

जो साधन सुगम दीखे, उसको करना शुरू कर दें तो जो कठिन दीखता है, वह सुगम हो जायगा और जो समझमें नहीं आता, वह समझमें आने लग जायगा॥ ७६०॥

× × ×

करणकी सहायता भले ही हो, पर करणकी अपेक्षा न हो—यह करणनिरपेक्ष साधन है॥ ७६१॥

× × ×

जो बचपन और जवानीमें भजन-साधन नहीं

करते, वे प्राय: बुढ़ापेमें भी भजन-साधन नहीं कर सकते॥ ७६२ ॥

× × ×

साधन नित्यकर्मकी तरह किसी एक निश्चित समयमें नहीं होता, प्रत्युत निरन्तर होता है॥ ७६३ ॥

× × ×

मैं शरीर नहीं हूँ, प्रत्युत शरीरी (शरीरवाला) हूँ—ऐसा ठीक समझमें आ जाय तो सभी साधन सुगम हो जायँगे॥ ७६४ ॥

× × ×

असली साधन वह होता है जो निरन्तर (प्रत्येक घण्टे, प्रत्येक मिनट) होता है। निरन्तर साधन हुए बिना इस जन्ममें सिद्धि नहीं हो सकती॥ ७६५ ॥

× × ×

यदि भगवान्‌की याद स्वत: नहीं आती, उनको याद करना पड़ता है तो समझें कि अभी साधन शुरू हुआ ही नहीं!॥ ७६६ ॥

× × ×

संसारसे सम्बन्ध रखते हुए कितना ही साधन करें, वर्तमानमें सिद्धि नहीं होगी॥ ७६७ ॥

× × ×

लगन होनेपर साधन स्वत: होता है और लगन न होनेपर साधन करना पड़ता है। जो स्वत: होता है, वह असली होता है और जो करना पड़ता है, वह नकली होता है॥ ७६८ ॥

× × ×

काम-धन्धा करते समय भगवान्‌का विस्मरण तभी होता है, जब साधक काम-धन्धेको अपना तथा अपने लिये मान लेता है॥ ७६९ ॥

× × ×

वास्तवमें साधन क्रिया नहीं है। क्रिया और पदार्थ तो असाधनमें मुख्य होते हैं। साधनमें भाव और विवेक मुख्य हैं॥ ७७० ॥

× × ×

सभी साधन कल्याण करनेवाले हैं, पर जिस साधनमें हमारी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यता हो, वही साधन हमारे लिये श्रेष्ठ है॥ ७७१ ॥

सुखभोग और संग्रह

लोगोंकी सांसारिक भोग और संग्रहमें ज्यों-ज्यों आसक्ति बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों समाजमें अधर्म बढ़ता है और ज्यों-ज्यों अधर्म बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों समाजमें पापाचरण, कलह, विद्रोह आदि दोष बढ़ते हैं॥ ७७२ ॥

× × ×

किसी भी भोगको भोगें, अन्तमें उस भोगसे अरुचि अवश्य होती है—यह नियम है। परन्तु मनुष्य भूल यह करता है कि वह उस अरुचिको महत्त्व देकर उसको स्थायी नहीं बनाता॥ ७७३ ॥

× × ×

भोगी व्यक्ति दु:खोंसे नहीं बच सकता; क्योंकि भोग जड़ताके सम्बन्धसे होता है और जड़ताका सम्बन्ध ही जन्म-मरणरूप महान् दु:खका कारण है॥ ७७४ ॥

× × ×

साधारण मनुष्यको जिन भोगोंमें सुख प्रतीत होता है, उन भोगोंको विवेकशील पुरुष दु:खरूप ही समझता है। इसलिये वह उन भोगोंमें रमण नहीं करता, उनके अधीन नहीं होता॥ ७७५ ॥

× × ×

जबतक सांसारिक सुख लेनेकी वृत्ति नहीं मिटेगी, तबतक कितना ही पढ़-लिख लें, कितने ही चतुर और समझदार बन जायँ, कितनी ही योग्यताका सम्पादन कर लें, कितने ही व्याख्यानदाता बन जायँ, कितनी ही पुस्तकें लिख लें, पर परमशान्ति नहीं मिलेगी॥ ७७६ ॥

× × ×

सांसारिक पदार्थोंके संयोगसे होनेवाला सुख हमारा नहीं है तथा हमारे लिये भी नहीं है; क्योंकि हम तो सदा रहनेवाले हैं और सुख मिटनेवाला है ॥ ७७७ ॥

× × ×

लोगोंमें भोग और संग्रहकी वृत्ति अधिक होनेसे ही अकाल पड़ता है ॥ ७७८ ॥

× × ×

हमारे पास जो भी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि है, वह सब समाजकी ही है, अपनी नहीं। हमसे भूल यह होती है कि उस वस्तु आदिको अपनी मानकर उससे सुख भोगने लगते हैं। इससे हमें विवश होकर दु:ख भोगना पड़ता है ॥ ७७९ ॥

× × ×

जहाँ लौकिक सुख मिलता हुआ दीखे, वहाँ समझ लो कि कोई खतरा है! ॥ ७८० ॥

× × ×

वस्तु, व्यक्तिसे सुख लेना महान् जड़ता है ॥ ७८१ ॥

× × ×

सांसारिक भोगोंका सुख आरम्भमें तो मीठा लगता है, पर परिणाममें वह विषके समान सर्वथा अनर्थकारी होता है ॥ ७८२ ॥

× × ×

मनुष्य मिली हुई वस्तुओंका भोग भी कर सकता है और उनसे दूसरोंकी सेवा भी कर सकता है। भोग करनेसे पतन होता है और सेवा करनेसे उत्थान होता है ॥ ७८३ ॥

× × ×

अपनी इच्छासे सुख भोगनेवालेको अपनी इच्छाके विरुद्ध दु:ख भोगना ही पड़ेगा ॥ ७८४ ॥

× × ×

वस्तुको दूसरेके हितमें लगाना उसका सदुपयोग है और अपने भोगमें लगाना उसका दुरुपयोग है ॥ ७८५ ॥

× × ×

जो सुखबुद्धिसे किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदिका भोग करता है, उसमें भगवत्प्राप्तिकी व्याकुलता जाग्रत् नहीं होती ॥ ७८६ ॥

× × ×

जबतक मनुष्य संसारसे सुख लेता रहता है, तबतक वह दु:खसे नहीं छूट सकता, चाहे वह साधु, गृहस्थ आदि कोई क्यों न हो! ॥ ७८७ ॥

× × ×

सांसारिक सुख मिले अथवा न मिले, जिसकी सांसारिक सुखमें रुचि है, वह पतनकी तरफ जायगा ही ॥ ७८८ ॥

× × ×

मनुष्य जितना सुख भोगेगा, उतना ही वह सुखका दास बनेगा और जितना सुखका दास बनेगा, उतना ही वह दु:ख भोगेगा। इसलिये सुख-भोगका त्याग अत्यन्त आवश्यक है ॥ ७८९ ॥

× × ×

जिसकी बुद्धिमें जड़ता (सांसारिक भोग और संग्रह)-का ही महत्त्व है, ऐसा मनुष्य कितना ही विद्वान् क्यों न हो, उसका पतन अवश्यम्भावी है। परन्तु जिसकी बुद्धिमें जड़ताका महत्त्व नहीं है और भगवत्प्राप्ति ही जिसका उद्देश्य है, ऐसा मनुष्य विद्वान् न भी हो तो भी उसका उत्थान अवश्यम्भावी है ॥ ७९० ॥

× × ×

हम जिससे सुख लेगें, उसका दास होना ही पड़ेगा। सुखका भोगी कभी स्वाधीन नहीं हो सकता ॥ ७९१ ॥

× × ×

हमें सुखका भोगी नहीं बनना है, प्रत्युत सुखका दाता बनना है ॥ ७९२ ॥

× × ×

चाहे योग हो, चाहे भोग हो, जिससे भी मनुष्य सुख लेना चाहता है, वहीं फँस जाता है ॥ ७९३ ॥

सुख और दुःख

सांसारिक वस्तुओंके लिये होनेवाले दुःखकी परवाह भगवान् नहीं करते और भगवान्‌के लिये होनेवाले (सच्चे) दुःखको भगवान् सह नहीं सकते॥ ७९४॥

× × ×

भगवान्‌के मंगलमय विधानसे जो अनुकूल (सुखदायी)या प्रतिकूल (दुःखदायी) परिस्थिति आती है, वह हमारे हितके लिये ही होती है॥ ७९५॥

× × ×

सुखी-दुःखी होना प्रारब्धका फल नहीं है, प्रत्युत मूर्खताका फल है। वह मूर्खता सत्संगसे मिटती है॥ ७९६॥

× × ×

साधकको सदा लोभी व्यक्तिकी तरह दूसरेके सुखके लिये लालायित रहना चाहिये। ऐसा होनेसे वह सुख-दुःखसे ऊँचा उठ जायगा॥ ७९७॥

× × ×

अपने सुखके लिये उद्योग करना दुःखको निमन्त्रण देना है और दूसरोंके सुखके लिये उद्योग करना आनन्दको निमन्त्रण देना है॥ ७९८॥

× × ×

सुखदायी और दुःखदायी परिस्थिति आना तो कर्मोंका फल है, पर उससे सुखी-दुःखी होना अपनी अज्ञता, मूर्खताका फल है। कर्मोंका फल मिटाना तो हाथकी बात नहीं है, पर मूर्खता मिटाना बिलकुल हाथकी बात है॥ ७९९॥

× × ×

जो सुखदायी परिस्थितिमें दूसरोंकी सेवा करता है तथा दुःख-दायी परिस्थितिमें दुःखी नहीं होता अर्थात् सुखकी इच्छा नहीं करता, वह संसार-बन्धनसे सुगमतापूर्वक मुक्त हो जाता है॥ ८००॥

× × ×

प्रकृतिजन्य सुखकी आसक्ति होनेपर सुख-दुःखकी परम्पराका कोई अन्त नहीं आता॥ ८०१॥

× × ×

वास्तवमें अनुकूलतासे सुखी होना ही प्रतिकूलतामें दुःखी होनेका कारण है; क्योंकि परिस्थितिजन्य सुख भोगनेवाला कभी दुःखसे बच ही नहीं सकता॥ ८०२॥

× × ×

सुखकी इच्छाका त्याग करानेके लिये ही दुःख आता है॥ ८०३॥

× × ×

जो दूसरोंसे (अपने लिये) सुख चाहता है, उसको भयंकर दुःख भोगना ही पड़ेगा॥ ८०४॥

× × ×

दुःखका कारण हम खुद ही होते हैं, दूसरा कोई नहीं। जबतक हम दूसरेको दुःखका कारण मानेंगे, तबतक हमारा दुःख मिटेगा नहीं॥ ८०५॥

× × ×

अपने सुखसे सुखी होनेवालेको दुःखी होना ही पड़ेगा और दूसरेके सुखसे सुखी होनेवालेका दुःख सदाके लिये मिट जायगा॥ ८०६॥

× × ×

शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मानना ही सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है॥ ८०७॥

× × ×

जबतक संसारका सुख लेते रहेंगे, तबतक प्रकृतिका सम्बन्ध छूटेगा नहीं॥ ८०८॥

× × ×

वस्तुके अभावसे दुःख नहीं होता, प्रत्युत वस्तु मिल जाय—इस इच्छासे दुःख होता है॥ ८०९॥

× × ×

वस्तुओंसे दुःख नहीं मिटता; क्योंकि दुःख विचारके अभावसे पैदा होता है, वस्तुके अभावसे नहीं। इसलिये विचारसे दुःख मिट जाता है॥ ८१०॥

× × ×

सुख निर्विकल्पतामें है, भोगोंमें नहीं॥ ८११॥

× × ×

जहाँ भी संसारका सुख दीखे, वहाँ विवेक-विचारपूर्वक देखें तो वहीं दुःख दीखने लग जायगा; क्योंकि संसार दुःखरूप ही है—**'दुःखालयम्'** (गीता ८।१५)॥ ८१२॥

× × ×

सुनना चाहते हैं, इसीलिये न सुननेका दुःख होता है। देखना चाहते हैं, इसीलिये न दीखनेका दुःख होता है। बल चाहते हैं; इसीलिये निर्बलताका दुःख होता है। जवानी चाहते हैं, इसीलिये वृद्धावस्थाका दुःख होता है। तात्पर्य है कि वस्तुके अभावसे दुःख नहीं होता, प्रत्युत उसकी चाहनासे, उसके अभावका अनुभव करनेसे दुःख होता है॥ ८१३॥

× × ×

संसारसे सम्बन्ध जोड़ें तो दुःखोंका अन्त नहीं है और भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ें तो सुखोंका (आनन्दका) अन्त नहीं है॥ ८१४॥

× × ×

सुख पाना चाहते हो तो दूसरोंको सुख दो। जैसा बीज बोओगे, वैसी ही खेती होगी॥ ८१५॥

× × ×

जहाँ लौकिक सुख मिलता हुआ दीखे, वहाँ समझ लें कि कोई खतरा है!॥ ८१६॥

× × ×

सब कुछ परमात्मा ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**, पर वे भोग्य नहीं हैं। जो उन्हें भोग्य मानकर सुख लेना चाहता है, वह दुःख पाता रहता है॥ ८१७॥

× × ×

गृहस्थमें अगर सबका यह भाव रहे कि मेरेको सुख कैसे मिले तो सब दुःखी हो जायँगे और यह भाव रहे कि दूसरेको सुख कैसे मिले तो सब सुखी हो जायँगे॥ ८१८॥

× × ×

अगर दुःख नहीं चाहते हो तो सांसारिक सुख मत चाहो॥ ८१९॥

× × ×

दूसरे सुखी हो जायँ—यह भाव रहेगा तो सभी सुखी हो जायँगे और खुद भी सुखी हो जायगा। मैं सुखी हो जाऊँ—यह भाव रहेगा तो सभी दुःखी हो जायँगे और खुद भी दुःखी हो जायगा॥ ८२०॥

× × ×

सांसारिक सुख क्यों नहीं टिकता? क्योंकि वह हमारा और हमारे लिये है ही नहीं॥ ८२१॥

× × ×

सुख अच्छा लगता है, पर उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। दुःख बुरा लगता है, पर उसका परिणाम अच्छा होता है॥ ८२२॥

× × ×

दुःखदायी परिस्थिति भगवान्‌के विधानसे हमारे कल्याणके लिये आती है। अतः उसको मिटानेकी चेष्टा न करके शान्तिपूर्वक सह लेना चाहिये॥ ८२३॥

× × ×

जो दूसरोंका अनिष्ट करता है, वह वास्तवमें अपना ही महान् अनिष्ट करता है और जो दूसरोंको सुख पहुँचाता है, वह वास्तवमें अपनेको ही सुखी बनाता है॥ ८२४॥

× × ×

दुःख आनेपर प्रसन्न होना बहुत ऊँचा साधन है॥ ८२५॥

× × ×

परिस्थितिसे रहित होनेमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, पर उसका भोग न करनेमें अर्थात् सुखी-दुःखी न होनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र, समर्थ और सबल है॥ ८२६॥

× × ×

जबतक अनुकूलता-प्रतिकूलताका असर पड़ता है, तबतक कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि कोई भी योग सिद्ध नहीं हुआ॥ ८२७॥

× × ×

संसार कभी किसीको दु:ख नहीं देता, प्रत्युत उससे माना हुआ सम्बन्ध ही दु:ख देता है॥ ८२८॥

× × ×

सांसारिक सुखसे कभी सांसारिक दु:ख नहीं मिट सकता—यह नियम है॥ ८२९॥

× × ×

संसारकी प्राप्ति होनेपर तृष्णा बढ़ती है और दु:ख होता है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति होनेपर प्रेम बढ़ता है और आनन्द होता है॥ ८३०॥

× × ×

दु:ख भोगनेवाला तो आगे सुखी हो सकता है, पर दु:ख देनेवाला कभी सुखी नहीं हो सकता॥ ८३१॥

× × ×

जो सुख लेनेकी इच्छासे किसीके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ता,वह जीता है तो आनन्दसे जीता है और मरता है तो आनन्दसे मरता है। परन्तु लेनेकी इच्छासे सम्बन्ध जोड़नेवाला जीते हुए भी दु:ख पाता है और मरते हुए भी दु:ख पाता है॥ ८३२॥

× × ×

जैसे मनुष्यको जलकी प्यास दु:ख देती है, जल दु:ख नहीं देता, ऐसे ही संसारकी सुखासक्ति ही दु:ख देती है, संसार दु:ख नहीं देता॥ ८३३॥

सेवा (परहित)

दूसरोंका अहित करनेसे अपना अहित और दूसरोंका हित करनेसे अपना हित होता है—यह नियम है॥ ८३४॥

× × ×

संसारका सम्बन्ध 'ऋणानुबन्ध' है। इस ऋणानुबन्धसे मुक्त होनेका उपाय है—सबकी सेवा करना और किसीसे कुछ न चाहना॥ ८३५॥

× × ×

साधक परमात्माके सगुण या निर्गुण किसी भी रूपकी प्राप्ति चाहता हो, उसे सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत होना अत्यन्त आवश्यक है॥ ८३६॥

× × ×

साधकको संसारकी सेवाके लिये ही संसारमें रहना है, अपने सुखके लिये नहीं॥ ८३७॥

× × ×

सच्चे हृदयसे भगवान्‌की सेवामें लगे हुए साधकके द्वारा प्राणिमात्रकी सेवा होती है; क्योंकि सबके मूल भगवान् ही हैं॥ ८३८॥

× × ×

साधकको अपने ऊपर आये बड़े-से-बड़े दु:खको भी सह लेना चाहिये और दूसरेपर आये छोटे-से-छोटे दु:खको भी सहन नहीं करना चाहिये॥ ८३९॥

× × ×

दूसरोंको सुख पहुँचानेकी इच्छासे अपनी सुखेच्छा मिटती है॥ ८४०॥

× × ×

किसीको किंचिन्मात्र भी दु:ख न हो—यह भाव महान् भजन है॥ ८४१॥

× × ×

जैसे मनुष्य आफिस जाता है तो वहाँ केवल आफिसका ही काम करता है, ऐसे ही इस संसारमें आकर केवल संसारके लिये ही काम करना है, अपने लिये नहीं। फिर सुगमतापूर्वक संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जायगा॥ ८४२॥

× × ×

समय, समझ, सामग्री और सामर्थ्य—इन चारोंको अपने लिये मानना इनका दुरुपयोग है और दूसरोंके हितमें लगाना इनका सदुपयोग है॥ ८४३॥

× × ×

संयोगजन्य सुखके मिलनेसे जो प्रसन्नता होती है, वही प्रसन्नता अगर दूसरोंको सुख पहुँचानेमें होने लग

जाय तो फिर कल्याणमें सन्देह नहीं है॥ ८४४॥

× × ×

हमें जो सुख-सुविधा मिली है, वह संसारकी सेवा करनेके लिये ही मिली है॥ ८४५॥

× × ×

मनुष्यशरीर अपने सुख-भोगके लिये नहीं मिला है, प्रत्युत सेवा करनेके लिये, दूसरोंको सुख देनेके लिये मिला है॥ ८४६॥

× × ×

मनुष्यको भगवान्ने इतना बड़ा अधिकार दिया है कि वह जीव-जन्तुओंकी, मनुष्योंकी, ऋषि-मुनियोंकी, सन्त-महात्माओंकी, देवताओंकी, पितरोंकी, भूत-प्रेतोंकी, सबकी सेवा कर सकता है। और तो क्या, वह साक्षात् भगवान्की भी सेवा कर सकता है!॥ ८४७॥

× × ×

संसारकी सेवा किये बिना कर्म करनेका राग निवृत्त नहीं होता॥ ८४८॥

× × ×

जैसे किसी कम्पनीका काम अच्छा करनेसे उसका मालिक प्रसन्न हो जाता है, ऐसे ही संसारकी सेवा करनेसे उसके मालिक भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं॥ ८४९॥

× × ×

जैसे माँका दूध उसके अपने लिये न होकर बच्चेके लिये ही है, ऐसे ही मनुष्यके पास जो भी सामग्री है, वह उसके अपने लिये न होकर दूसरोंके लिये ही है॥ ८५०॥

× × ×

जैसे भोगी पुरुषकी भोगोंमें, मोही पुरुषकी कुटुम्बमें और लोभी पुरुषकी धनमें रति होती है, ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुषकी प्राणिमात्रके हितमें रति होती है॥ ८५१॥

× × ×

व्यक्तियोंकी सेवा करनी है और वस्तुओंका सदुपयोग करना है॥ ८५२॥

× × ×

केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारकी ओर हो जाता है और साधक कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है॥ ८५३॥

× × ×

जो सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्वके साथ अभिन्नताका अनुभव करना चाहते हैं, उनके लिये प्राणिमात्रके हितमें प्रीति होनी आवश्यक है॥ ८५४॥

× × ×

स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे किये जानेवाले तीर्थ, व्रत, दान, तप, चिन्तन, ध्यान, समाधि आदि समस्त शुभ कर्म सकामभावसे अर्थात् अपने लिये करनेपर 'परधर्म' हो जाते हैं और निष्कामभावसे अर्थात् दूसरोंके लिये करनेपर 'स्वधर्म' हो जाते हैं॥ ८५५॥

× × ×

वस्तुका सबसे बढ़िया उपयोग है—उसको दूसरेके हितमें लगाना॥ ८५६॥

× × ×

श्रेष्ठ पुरुष वही है, जो दूसरोंके हितमें लगा हुआ है॥ ८५७॥

× × ×

अपना जीवन अपने लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरोंके हितके लिये है॥ ८५८॥

× × ×

दूसरेके दुःखसे दुःखी होना सेवाका मूल है॥ ८५९॥

× × ×

भलाई करनेसे समाजकी सेवा होती है। बुराई-रहित होनेसे विश्वमात्रकी सेवा होती है। कामना-रहित होनेसे अपनी सेवा होती है। भगवान्से प्रेम (अपनापन) करनेसे भगवान्की सेवा होती है॥ ८६०॥

× × ×

जो सच्चे हृदयसे भगवान्की तरफ चलता है, उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक दूसरोंका हित होता है॥ ८६१॥

× × ×

संसारसे मिली हुई वस्तु केवल संसारकी सेवा करनेके लिये है और किसी कामकी नहीं॥ ८६२॥

× × ×

कोई वस्तु हमें अच्छी लगती है तो वह भोगनेके लिये नहीं है, प्रत्युत सेवा करनेके लिये है॥ ८६३॥

× × ×

मनुष्यको वह काम करना चाहिये, जिससे उसका भी हित हो और दुनियाका भी हित हो, अभी भी हित हो और परिणाममें भी हित हो॥ ८६४॥

× × ×

शरीरकी सेवा करोगे तो संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ जायगा और (भगवान्के लिये) संसारकी सेवा करोगे तो भगवान्के साथ सम्बन्ध जुड़ जायगा॥ ८६५॥

× × ×

जिसके हृदयमें सबके हितका भाव रहता है, वह भगवान्के हृदयमें स्थान पाता है॥ ८६६॥

× × ×

परमार्थ नहीं बिगड़ा है, प्रत्युत व्यवहार बिगड़ा है; अतः व्यवहारको ठीक करना है। व्यवहार ठीक होगा—स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंकी सेवा करनेसे॥ ८६७॥

× × ×

दूसरोंके हितका भाव रखनेवाला जहाँ भी रहेगा, वहीं भगवान्को प्राप्त कर लेगा॥ ८६८॥

× × ×

भगवान्के सम्मुख होनेके लिये संसारसे विमुख होना है और संसारसे विमुख होनेके लिये निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करनी है॥ ८६९॥

× × ×

सेवाके लिये वस्तुकी कामना करना गलती है। जो वस्तु मिली हुई है, उसीसे सेवा करनेका अधिकार है॥ ८७०॥

× × ×

संसारमें दूसरोंके लिये जैसा करोगे, परिणाममें वैसा ही अपने लिये हो जायगा। इसलिये दूसरोंके लिये सदा अच्छा ही करो॥ ८७१॥

× × ×

जो अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके केवल दूसरोंके हितमें लगा है, उसका जीना ही वास्तवमें जीना है॥ ८७२॥

× × ×

जो सेवा लेना चाहते हैं, उनके लिये तो वर्तमान समय बहुत खराब है, पर जो सेवा करना चाहते हैं, उनके लिये वर्तमान समय बहुत बढ़िया है॥ ८७३॥

× × ×

हमारी किसी भी क्रियासे किसीको किंचिन्मात्र भी दुःख न हो—यह भाव 'सेवा' है॥ ८७४॥

× × ×

निःस्वार्थभावसे दूसरोंकी सेवा करनेसे व्यवहार भी बढ़िया होता है और ममता भी टूट जाती है॥ ८७५॥

× × ×

घरवालोंकी सेवा करनेसे मोह होता ही नहीं। मोह होता है कुछ-न-कुछ लेनेकी इच्छासे॥ ८७६॥

× × ×

भगवान्को प्राप्त करके मनुष्य संसारका जितना उपकार कर सकता है, उतना किसी दान-पुण्यसे नहीं कर सकता॥ ८७७॥

× × ×

जो हमसे द्वेष रखता है, उसकी सेवा करनेसे अधिक लाभ होता है; क्योंकि वहाँ सेवाका सुखभोग नहीं होता॥ ८७८॥

× × ×

कभी सेवाका मौका मिल जाय तो आनन्द मनाना चाहिये कि भाग्य खुल गया!॥ ८७९॥

× × ×

सम्पूर्ण प्राणियोंके हितसे अलग अपना हित माननेसे अहम् बना रहता है, जो साधकके लिये आगे चलकर बाधक होता है। अतः साधकको प्रत्येक क्रिया संसारके हितके लिये ही करनी चाहिये॥ ८८०॥

स्वभाव

स्वार्थ और अभिमान—इन दो चीजोंसे स्वभाव बिगड़ता है। अतः साधकको स्वार्थ और अभिमानका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये॥ ८८१ ॥

× × ×

भजन, ध्यान आदि साधन करनेपर भी वर्तमानमें प्रत्यक्ष लाभ न दीखनेका कारण है—स्वभावका शुद्ध न होना। इसलिये प्रत्येक साधकको अपने स्वभावका सुधार करनेपर विशेष ध्यान देना चाहिये॥ ८८२ ॥

× × ×

अपने स्वभावको शुद्ध बनानेके समान कोई उन्नति नहीं है॥ ८८३ ॥

× × ×

जिसका स्वभाव सुधर जायगा, उसके लिये दुनिया सुधर जायगी॥ ८८४ ॥

× × ×

जिसका स्वभाव दूसरोंको दुःख देनेका है, वह दूसरोंको भी दुःख देगा और स्वयं भी दुःख पायेगा। परन्तु जिसका स्वभाव दूसरोंको सुख देनेका है, वह दूसरोंको भी सुख देगा और स्वयं भी सुख पायेगा॥ ८८५ ॥

× × ×

अपने स्वभावका सुधार मनुष्य खुद ही कर सकता है। दूसरा केवल उसको उपाय बता सकता है, उसकी सहायता कर सकता है॥ ८८६ ॥

× × ×

हमारा स्वभाव तब सुधरेगा, जब हम अपने प्रति न्याय करेंगे अर्थात् अपनेपर शासन करेंगे और दूसरेको क्षमा करेंगे॥ ८८७ ॥

× × ×

सत्संग, सच्छास्त्र और सद्विचार—इन तीनोंसे स्वभावमें सुधार होता है॥ ८८८ ॥

× × ×

जिसका स्वभाव शुद्ध बन जाता है, वह अधोगतिमें नहीं जा सकता॥ ८८९ ॥

× × ×

'फिर करेंगे'—यह महान् पतन करनेवाली बात है। ऐसे स्वभाववाले व्यक्तिका कल्याण होना कठिन है॥ ८९० ॥

स्वरूप

साधकको चाहिये कि वह बदलनेवाली अवस्थाओंको न देखे, प्रत्युत कभी न बदलनेवाले स्वरूप (स्वयं)-को देखे॥ ८९१ ॥

× × ×

स्वरूप निष्काम है। सकामभाव प्रकृतिके सम्बन्धसे आता है॥ ८९२ ॥

× × ×

शरीरादि सब पदार्थ बदल रहे हैं—ऐसा जिसको अनुभव है, वह स्वयं कभी नहीं बदलता। इसलिये स्वयंके बदलनेका अनुभव कभी किसीको नहीं होता॥ ८९३ ॥

× × ×

जीव स्वरूपसे अकर्ता तथा सुख-दुःखसे रहित है। केवल अपने प्रमादके कारण वह कर्ता बन जाता है और कर्मफलके साथ सम्बन्ध जोड़कर सुखी-दुःखी होता है॥ ८९४ ॥

× × ×

क्रियाओं और पदार्थोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही अपने स्वरूपका साक्षात् अनुभव नहीं होता॥ ८९५ ॥

× × ×

हमारा शरीर तो संसारमें है, पर हम स्वयं परमात्मामें ही हैं॥ ८९६॥

× × ×

हमारा स्वरूप सत्ता है, अहम् नहीं। अतः अहम्‌को छोड़कर सत्तामें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव करो॥ ८९७॥

× × ×

हमारा स्वरूप खुदका है, पराया नहीं है; अगर उसे जानना कठिन है तो फिर सुगम क्या होगा?॥ ८९८॥

× × ×

हमारा अस्तित्व (होनापन) वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके अधीन नहीं है॥ ८९९॥

× × ×

हमारा स्वरूप सत्तामात्र है। उस सत्तामें कुछ भी मिलाना अज्ञान है, बन्धन है॥ ९००॥

× × ×

हमारी सत्ता (स्वरूप) शरीरके अधीन नहीं है, प्रत्युत शरीरकी सत्ता हमारे अधीन है अर्थात् हम शरीरके बिना रह सकते हैं, पर शरीर हमारे बिना नहीं रह सकता॥ ९०१॥

प्रकीर्ण

साधकके भीतर हर समय यह भाव रहना चाहिये कि मैं यहाँका निवासी नहीं हूँ, प्रत्युत (भगवान्‌का ही अंश होनेसे) भगवद्धामका निवासी हूँ॥ ९०२॥

× × ×

अपनी कमाईमें किसीके हकका एक कण भी न आ जाय—इस बातकी पूरी सावधानी रखनी चाहिये॥ ९०३॥

× × ×

जब चेतन जड़से 'तादात्म्य' कर लेता है, तब परिच्छिन्नता अर्थात् अहंता उत्पन्न होती है। अहंतासे 'ममता' उत्पन्न होती है, जिससे विकार पैदा होते हैं। ममतासे 'कामना' उत्पन्न होती है, जिससे अशान्ति पैदा होती है॥ ९०४॥

× × ×

साधक ऐसा माने कि मैं जो कुछ करता हूँ, वह भगवान्‌की पूजा है और जो कुछ हो रहा है, वह भगवान्‌की लीला है॥ ९०५॥

× × ×

वर्तमानमें मनुष्य पशुसे भी नीचे गिरता चला जा रहा है; क्योंकि पशु तो अपने निर्वाहकी वस्तु ही लेता है, दूसरोंका हक नहीं मारता, पर मनुष्य दूसरोंका भी हक मारकर संग्रह करता है॥ ९०६॥

× × ×

शरीरकी आवश्यकताओंकी पूर्तिका प्रबन्ध तो परमात्माकी तरफसे है, पर तृष्णाकी पूर्तिके लिये कोई प्रबन्ध नहीं॥ ९०७॥

× × ×

साधक जब अपने दोषोंको दोषरूपसे देखकर उनके दुःखसे दुःखी हो जाता है, उनका रहना उसे असह्य हो जाता है, तो फिर उसके दोष ठहर नहीं सकते। भगवान्‌की कृपा उन दोषोंका शीघ्र ही नाश कर देती है॥ ९०८॥

× × ×

नेत्रोंसे ज्यादा याद मनको रहती है, मनसे ज्यादा याद बुद्धिको रहती है और बुद्धिसे ज्यादा याद स्वयंको रहती है। स्वयं जिस बातको पकड़ लेता है, वह बात हरदम याद रहती है॥ ९०९॥

× × ×

अपने-अपने स्थान या क्षेत्रमें जो पुरुष मुख्य कहलाते हैं, उन अध्यापक, व्याख्यानदाता, आचार्य, गुरु, नेता, शासक, महन्त, कथावाचक, पुजारी आदि सभीको अपने आचरणोंमें विशेष सावधानी रखनेकी अत्यधिक आवश्यकता है, जिससे दूसरे लोगोंपर उनका अच्छा प्रभाव पड़े॥ ९१०॥

× × ×

करना चाहते हो तो सेवा करो, जानना चाहते हो तो अपने-आपको जानो और मानना चाहते हो तो प्रभुको मानो। तीनोंका परिणाम एक ही होगा॥ ९११ ॥

× × ×

जैसे कलम बढ़िया होनेसे लिखाई तो बढ़िया हो सकती है, पर उससे लेखक बढ़िया नहीं हो जाता, ऐसे ही करण (अन्तःकरण) शुद्ध होनेसे क्रिया तो शुद्ध हो सकती है, पर उससे कर्ता शुद्ध नहीं हो जाता॥ ९१२ ॥

× × ×

लोग हमें जितना अच्छा समझते हैं, उतने अच्छे हम नहीं होते और लोग हमें जितना बुरा समझते हैं, उससे हम अधिक बुरे होते हैं—इस वास्तविकताको समझकर 'लोग हमें अच्छा समझें'—इस इच्छाका त्याग कर देना चाहिये और अपनी दृष्टिमें अच्छे-से-अच्छा बननेकी चेष्टा करनी चाहिये॥ ९१३ ॥

× × ×

संयोगजन्य सुखकी लालसा जितनी घातक है, उतना सुख घातक नहीं है। शरीर बना रहे—यह भाव जितना घातक है, उतना शरीर घातक नहीं है। कुटुम्बका मोह जितना घातक है, उतना कुटुम्ब घातक नहीं है। रुपयोंका लोभ जितना घातक है, उतने रुपये घातक नहीं हैं॥ ९१४॥

× × ×

जो दीखता है, उस संसारको अपना नहीं मानना है, प्रत्युत उसकी सेवा करनी है और जो नहीं दीखता, उस भगवान्‌को अपना मानना है तथा उसको याद करना है॥ ९१५ ॥

× × ×

मिले हुए संसारका दुरुपयोग मत करो, जाने हुए तत्त्वका अनादर मत करो और माने हुए परमात्मामें सन्देह मत करो॥ ९१६ ॥

× × ×

हमारे हृदयमें जड़ता (शरीर-संसार)-का जितना आदर हुआ है, उतना ही परमात्माका अनादर हुआ है और वह अनादर ही हमारा पतन करेगा, हमारी अधोगति करेगा॥ ९१७॥

× × ×

नाशवान् पदार्थोंकी महत्त्वबुद्धि मनुष्यको पददलित करती है और परमात्माकी महत्त्वबुद्धि उसको ऊँचा उठाती है॥ ९१८॥

× × ×

जो जिस वस्तु, व्यक्ति आदिका दुरुपयोग करता है, उसको उससे वंचित होनेका दुःख भोगना ही पड़ता है॥ ९१९॥

× × ×

जो अपना है, वह सदा ही अपना है और जो किसी भी समय अपना नहीं है, वह कभी भी अपना नहीं हो सकता॥ ९२०॥

× × ×

जो सभीका होता है, वही हमारा होता है। जो किसी भी समय किसीका नहीं होता, वह हमारा हो ही नहीं सकता॥ ९२१ ॥

× × ×

साधकका जिस-किसी वस्तु, व्यक्ति आदिमें खिंचाव हो, उसमें वह भगवान्‌का ही चिन्तन करे॥ ९२२ ॥

× × ×

सब जगह समरूप परमात्माको देखना समदृष्टि है और प्रकृति तथा उसके कार्य (शरीर-संसार)-को देखना विषमदृष्टि है॥ ९२३ ॥

× × ×

मनुष्यको अपना संकल्प नहीं रखना चाहिये, प्रत्युत भगवान्‌के संकल्पमें अपना संकल्प मिला देना चाहिये अर्थात् भगवान्‌के विधानमें परम प्रसन्न रहना चाहिये॥ ९२४॥

× × ×

हर समय यह सावधानी रहनी चाहिये कि मेरे द्वारा किसीको कोई कष्ट तो नहीं पहुँच रहा है, किसीकी कोई हानि तो नहीं हो रही है?॥ ९२५॥

× × ×

यह नियम ले लें कि कोई हमारे मनकी बात पूरी न करे तो हम नाराज नहीं होंगे॥ ९२६॥

× × ×

संसारका मालिक परमात्मा है और शरीरका मालिक मैं हूँ— ऐसा मानना गलती है। जो संसारका मालिक है, वही शरीरका भी मालिक है॥ ९२७॥

× × ×

जैसे बालक हर अवस्थामें माँको ही पुकारता है, ऐसे ही हर अवस्थामें भगवान्‌को ही पुकारो॥ ९२८॥

× × ×

न्यायपूर्वक काम करनेवालेके चित्तमें शान्ति और अन्यायपूर्वक काम करनेवालेके चित्तमें अशान्ति रहती है॥ ९२९॥

× × ×

जिससे अपना और दूसरोंका, वर्तमानमें और परिणाममें अहित होता हो, वह सब असत्-कर्म है॥ ९३०॥

× × ×

संसारमें जो वस्तु आपके हक (अधिकार)-की और प्राप्त है, वह भी सदा आपके साथ नहीं रहेगी, फिर जो वस्तु बिना हककी और अप्राप्त है, उसकी आशा करनेसे क्या लाभ?॥ ९३१॥

× × ×

यदि जानना ही हो तो अविनाशीको जानो, विनाशीको जाननेसे क्या लाभ?॥ ९३२॥

× × ×

विचार करें कि जिसमें हमारा हित है और जिसको हम कर सकते हैं; उसको हम करते हैं क्या?॥ ९३३॥

× × ×

जानेवालेको जानेवाला समझना और रहनेवालेको रहनेवाला समझना—यही यथार्थ समझ है॥ ९३४॥

× × ×

जिसको पीछे सुलटा न कर सकें, ऐसा उलटा काम कभी नहीं करना चाहिये॥ ९३५॥

× × ×

प्रत्येक परिस्थिति भगवान्‌की लीला (खेल) है, उसे देख-देखकर मस्त होते रहो!॥ ९३६॥

× × ×

द्वैत और अद्वैत केवल मान्यता है। तत्त्वमें न द्वैत है, न अद्वैत॥ ९३७॥

× × ×

यदि हमने कोई अपराध नहीं किया है, हमारा कृत्य ठीक है तो फिर भय नहीं होना चाहिये। अगर भय होता है तो कुछ-न-कुछ, कहीं-न-कहीं हमारी गलती है अथवा अपनी निर्दोषतापर हमारा दृढ़ विश्वास नहीं है॥ ९३८॥

× × ×

प्रत्येक कार्यके आरम्भमें यह विचार करना चाहिये कि हम यह कार्य क्यों कर रहे हैं?॥ ९३९॥

× × ×

ठीक-बेठीक हमारी दृष्टिमें होता है। भगवान्‌की दृष्टिमें सब ठीक-ही-ठीक होता है, बेठीक होता ही नहीं॥ ९४०॥

× × ×

दूसरे हमारेमें गुण देखते हैं तो यह उनकी सज्जनता और उदारता है, पर उन गुणोंको अपना मान लेना उनकी सज्जनता और उदारताका दुरुपयोग है॥ ९४१॥

× × ×

विद्या प्राप्त करनेका सबसे बढ़िया उपाय है— गुरुकी आज्ञाका पालन करना, उनकी प्रसन्नता लेना। उनकी प्रसन्नतासे जो विद्या आती है, वह अपने उद्योगसे नहीं आती॥ ९४२॥

× × ×

भगवान्‌को पुकारनेसे जो काम होता है, वह विवेक-विचारसे नहीं होता॥ ९४३॥

× × ×

भगवान्‌के न मिलनेका दुःख हजारों सांसारिक सुखोंसे बढ़कर है॥ ९४४॥

× × ×

जैसे वैद्य जो दवा दे, उसीमें हमारा हित है, ऐसे ही भगवान् जो विधान करें, उसीमें हमारा परम हित है ॥ ९४५ ॥

× × ×

जैसे गायके शरीरमें रहनेवाला घी काम नहीं आता, ऐसे ही सीखा हुआ ज्ञान काम नहीं आता ॥ ९४६ ॥

× × ×

'मैं ज्ञानी हूँ' और 'मैं अज्ञानी हूँ'—ये दोनों ही मान्यताएँ अज्ञानियोंकी हैं ॥ ९४७ ॥

× × ×

चरित्रकी सुन्दरता ही असली सुन्दरता है ॥ ९४८ ॥

× × ×

याद करो तो भगवान्को याद करो, काम करो तो सेवा करो ॥ ९४९ ॥

× × ×

सच्ची बातको स्वीकार करना मनुष्यका धर्म है ॥ ९५० ॥

× × ×

एक-एक व्यक्ति खुद सुधर जाय तो समाज सुधर जायगा ॥ ९५१ ॥

× × ×

अगर अपनी सन्तानसे सुख चाहते हो तो अपने माता-पिताको सुख पहुँचाओ, उनकी सेवा करो ॥ ९५२ ॥

× × ×

किसीके अहितकी भावना करना अपने अहितको निमन्त्रण देना है ॥ ९५३ ॥

× × ×

याद रखो, भगवान्का प्रत्येक विधान आपके परम हितके लिये है ॥ ९५४ ॥

× × ×

किसी बातको लेकर अपनेमें कुछ भी अपनी विशेषता दीखती है, यह वास्तवमें पराधीनता है ॥ ९५५ ॥

× × ×

अन्तमें अकेला ही जाना पड़ेगा, इसलिये पहलेसे ही अकेला हो जाय अर्थात् वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे असंग हो जाय, इनका आश्रय न ले ॥ ९५६ ॥

× × ×

ग्रहण करनेयोग्य सर्वोपरि एक नियम है—भगवान्को याद रखना और त्याग करनेयोग्य सर्वोपरि एक नियम है—कामनाका त्याग करना ॥ ९५७ ॥

× × ×

'सन्तोष' समाज-सुधारका मूल मन्त्र है ॥ ९५८ ॥

× × ×

एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकता हिन्दूधर्मकी विशेषता है ॥ ९५९ ॥

× × ×

असत्यका आश्रय लेनेवाला व्यक्ति हमारा नुकसान नहीं कर सकता ॥ ९६० ॥

× × ×

संसारमें भगवद्भक्तिके समान मूल्यवान् कोई चीज नहीं है ॥ ९६१ ॥

× × ×

परिस्थितिको बदलनेका उद्योग निष्फल होता है और उसके सदुपयोगका उद्योग सफल होता है ॥ ९६२ ॥

× × ×

मनुष्य जितनी अधिक आवश्यकता पैदा करता है, उतना ही वह पराधीन हो जाता है ॥ ९६३ ॥

× × ×

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि परमात्माकी दी हुई चीज तो अच्छी लगती है, पर परमात्मा अच्छे नहीं लगते! ॥ ९६४ ॥

× × ×

लोग हमें अच्छा मानें या न मानें, अच्छा जानें या न जानें, अच्छा कहें या न कहें, पर हमारे भाव अगर अच्छे हैं तो हमारे चित्तमें हर समय प्रसन्नता रहेगी और मरनेपर सद्गति होगी ॥ ९६५ ॥

× × ×

अगर कोई खराब चिन्तन आ जाय तो सावधान हो जायँ कि यदि इस समय मृत्यु हो जाय तो क्या गति होगी? अगर सब समय प्रभुका स्मरण होता रहे तो मृत्यु कभी भी आ जाय, कोई चिन्ता नहीं है ॥ ९६६ ॥

× × ×

व्यक्तिगत जीवन बिगड़नेसे पूरा समाज बिगड़ जाता है और व्यक्तिगत जीवन सुधरनेसे पूरा समाज सुधर जाता है; क्योंकि व्यक्तियोंसे ही समाज बनता है॥ ९६७॥

× × ×

भगवान्‌के वियोगसे होनेवाला दुःख (विरह) सांसारिक सुखसे भी बहुत अधिक आनन्द देनेवाला होता है॥ ९६८॥

× × ×

जिसको भगवान्, शास्त्र, गुरुजन और जगत्‌से भय लगता है, वह वास्तवमें निर्भय हो जाता है॥ ९६९॥

× × ×

हमसे अलग वही होगा, जो सदासे ही अलग है और मिलेगा वही, जो सदासे ही मिला हुआ है॥ ९७०॥

× × ×

दूसरेकी प्रसन्नतासे मिली हुई वस्तु दूधके समान है, माँगकर ली हुई वस्तु पानीके समान है और दूसरेका दिल दुखाकर ली हुई वस्तु रक्तके समान है॥ ९७१॥

× × ×

भूलकी चिन्ता, पश्चात्ताप न करके आगेके लिये सावधान हो जाओ, जिससे फिर वैसी भूल न हो॥ ९७२॥

× × ×

मिटनेवाली चीज एक क्षण भी टिकनेवाली नहीं होती॥ ९७३॥

× × ×

अपनेमें विशेषता केवल व्यक्तित्वके अभिमानसे दीखती है॥ ९७४॥

× × ×

वस्तुओंके बिना भी हम रह सकते हैं। जिनके बिना हम रह सकते हैं, उनके हम गुलाम क्यों बनें?॥ ९७५॥

× × ×

शरीर नजदीक दीखता है और परमात्मा दूर दीखते हैं—यही अज्ञान है। कारण कि शरीर नित्य अप्राप्त है और परमात्मा नित्यप्राप्त हैं। शरीरके साथ हमारा एक क्षण भी संयोग नहीं होता और परमात्माके साथ हमारा एक क्षण भी वियोग नहीं होता॥ ९७६॥

× × ×

शरीरको संसारसे और स्वयंको परमात्मासे अलग मानना गलती है॥ ९७७॥

× × ×

सच्चे धर्मात्मा मनुष्यको किसीकी भी गरज नहीं होती, प्रत्युत दुनियाको ही उसकी गरज (आवश्यकता) रहती है॥ ९७८॥

× × ×

अगर मनुष्य अपने विवेकका अनादर करता है तो उसका विवेक लुप्त हो जाता है और वह अपने विवेकका आदर करता है तो उसका विवेक इतना बढ़ता है कि शास्त्र तथा गुरुके बिना भी उसको परमात्मातक पहुँचा देता है॥ ९७९॥

× × ×

जब हम सबकी बात नहीं मानते, तो फिर दूसरा कोई हमारी बात न माने तो हमें नाराज नहीं होना चाहिये॥ ९८०॥

× × ×

भीतरमें लोभ न हो तो आवश्यक वस्तु अपने-आप प्राप्त होती है; क्योंकि वस्तुका लोभ ही वस्तुकी प्राप्तिमें बाधक है॥ ९८१॥

× × ×

किसी भी व्यक्तिका निरादर नहीं करना चाहिये। निरादर करनेसे वास्तवमें अपना ही निरादर होता है; क्योंकि सब जगत् ईश्वररूप है॥ ९८२॥

× × ×

भारतवर्षमें जन्म लेकर भी मनुष्य भगवान्‌में न लगे—यह बड़े आश्चर्य और दुःखकी बात है! क्योंकि भारतवर्षमें जन्म मुक्त होनेके लिये ही होता है। इसलिये देवता भी भारतवर्षमें जन्म चाहते

हैं॥ ९८३॥

× × ×

धर्मका मूल है—स्वार्थका त्याग और दूसरेका हित॥ ९८४॥

× × ×

धर्मके अनुसार खुद चले—इसके समान धर्मका प्रचार कोई नहीं है॥ ९८५॥

× × ×

'आशीर्वाद दीजिये'—ऐसा न कहकर आशीर्वाद पानेका पात्र बनना चाहिये॥ ९८६॥

× × ×

वर्तमानका ही सुधार करना है। वर्तमान सुधरनेसे भूत और भविष्य दोनों सुधर जाते हैं॥ ९८७॥

× × ×

दुःखी व्यक्ति ही दूसरेको दुःख देता है। पराधीन व्यक्ति ही दूसरेको अपने अधीन करता है॥ ९८८॥

× × ×

अज्ञानी तो बीते हुएको स्वप्नकी तरह मानता है, पर ज्ञानी (विवेकी) वर्तमानको स्वप्नकी तरह मानता है॥ ९८९॥

× × ×

वस्तुका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत उसके सदुपयोगका महत्त्व है॥ ९९०॥

× × ×

भगवान्‌की आवश्यकताका अनुभव करना ही प्रार्थना है॥ ९९१॥

× × ×

असत् वस्तुका लोभ तो असत् वस्तुकी प्राप्तिमें बाधक है, पर सत्‌का लोभ सत्‌की प्राप्तिमें साधक है॥ ९९२॥

× × ×

शरीर-निर्वाहसम्बन्धी हरेक कार्यमें यह सावधानी रखनी चाहिये कि समय और वस्तु कम-से-कम खर्च हों॥ ९९३॥

× × ×

'पर' (प्रकृति) की अधीनता पराधीनता है और 'परकीय' (भोगों)की अधीनता परम पराधीनता है। 'स्व' (स्वरूप) की अधीनता स्वाधीनता और 'स्वकीय' की अधीनता परम स्वाधीनता है॥ ९९४॥

× × ×

सिनेमा या टी० वी० देखनेसे चार हानियाँ होती हैं—१.चरित्रकी हानि २.समयकी हानि ३.नेत्र-ज्योतिकी हानि और ४. धनकी हानि॥ ९९५॥

× × ×

कुछ करनेसे प्रकृतिमें स्थिति होती है और कुछ न करनेसे परमात्मामें स्थिति होती है॥ ९९६॥

× × ×

जैसे जलके स्थिर (शान्त) होनेपर उसमें मिली हुई मिट्टी अपने-आप नीचे बैठ जाती है, ऐसे ही वाणी-मन-बुद्धिसे चुप (शान्त, क्रियारहित) होनेपर सब विकार अपने-आप शान्त हो जाते हैं, अहम् गल जाता है और वास्तविक तत्त्वका अनुभव हो जाता है॥ ९९७॥

× × ×

जो खुद भले नहीं हैं, जिनका स्वभाव भलाई करनेका नहीं है, उन्हींको ऐसा दीखता है कि आज भलाईका जमाना नहीं है!॥ ९९८॥

× × ×

जबतक मनुष्यको दूसरेकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता दीखती है, तबतक वह साधक तो हो सकता है, पर सिद्ध नहीं हो सकता॥ ९९९॥

× × ×

परमात्मा 'प्राप्त' हैं और संसार 'प्रतीति' है। जो मिलता है, पर दीखता नहीं, उसको 'प्राप्त' कहते हैं और जो दीखता है, पर मिलता नहीं, उसको 'प्रतीति' कहते हैं॥ १०००॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

वसीयत*

श्रीभगवान्‌की असीम, अहैतुकी कृपासे ही जीवको मानवशरीर मिलता है। इसका एकमात्र उद्देश्य केवल भगवत्प्राप्ति ही है। परंतु मनुष्य इस शरीरको प्राप्त करनेके बाद अपने मूल उद्देश्यको भूलकर शरीरके साथ दृढ़तासे तादात्म्य कर लेता है और इसके सुखको ही परम सुख मानने लगता है। शरीरको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण उसका शरीरसे इतना मोह हो जाता है कि इसका नामतक उसको प्रिय लगने लगता है। शरीरके सुखोंमें मान-बड़ाईका सुख सबसे सूक्ष्म होता है। इसकी प्राप्तिके लिये वह झूठ, कपट, बेईमानी आदि दुर्गुण-दुराचार भी करने लग जाता है। शरीरके नाममें प्रियता होनेसे उसमें दूसरोंसे अपनी प्रशंसा, स्तुतिकी चाहना रहती है। वह यह चाहता है कि जीवनपर्यन्त मेरेको मान-बड़ाई मिले और मरनेके बाद मेरे नामकी कीर्ति हो। वह यह भूल जाता है कि केवल लौकिक व्यवहारके लिये शरीरका रखा हुआ नाम शरीरके नष्ट होनेके बाद कोई अस्तित्व नहीं रखता। इस दृष्टिसे शरीरकी पूजा, मान-आदर एवं नामको बनाये रखनेका भाव किसी महत्त्वका नहीं है। परंतु शरीरका मान-आदर एवं नामकी स्तुति-प्रशंसाका भाव इतना व्यापक है कि मनुष्य अपने तथा अपने प्रियजनोंके साथ तो ऐसा व्यवहार करते ही हैं, प्रत्युत जो भगवदाज्ञा, महापुरुषवचन तथा शास्त्रमर्यादाके अनुसार सच्चे हृदयसे अपने लक्ष्य (भगवत्प्राप्ति)-में लगे रहकर इन दोषोंसे दूर रहना चाहते हैं, उन साधकोंके साथ भी ऐसा ही व्यवहार करने लग जाते हैं। अधिक क्या कहा जाय, उन साधकोंका शरीर निष्प्राण होनेपर भी उसकी स्मृति बनाये रखनेके लिये वे उस शरीरको चित्रमें आबद्ध करते हैं एवं उसको बहुत ही साज-सज्जाके साथ अन्तिम संस्कार-स्थलतक ले जाते हैं। विनाशी नामको अविनाशी बनानेके प्रयासमें वे उस संस्कार-स्थलपर छतरी, चबूतरा या मकान (स्मारक) आदि बना देते हैं। इसके सिवाय उनके शरीरसे सम्बन्धित एकपक्षीय घटनाओंको बढ़ा-चढ़ाकर उनको जीवनी, संस्मरण आदिके रूपमें लिखते और प्रकाशित करवाते हैं। कहनेको तो वे अपने-आपको उन साधकोंका श्रद्धालु कहते हैं, पर काम वही करते हैं, जिसका वे साधक निषेध करते हैं।

श्रद्धातत्त्व अविनाशी है। अतः उन साधकोंके अविनाशी सिद्धान्तों तथा वचनोंपर ही श्रद्धा होनी चाहिये न कि विनाशी देह या नाममें। नाशवान् शरीर तथा नाममें तो मोह होता है, श्रद्धा नहीं। परंतु जब मोह ही श्रद्धाका रूप धारण कर लेता है तभी ये अनर्थ होते हैं। अतः भगवान्‌के शाश्वत, दिव्य, अलौकिक श्रीविग्रहकी पूजा तथा उनके अविनाशी नामकी स्मृतिको छोड़कर इन नाशवान् शरीरों तथा नामोंको महत्त्व देनेसे न केवल अपना जीवन ही निरर्थक होता है, प्रत्युत अपने साथ महान् धोखा भी होता है।

वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो शरीर मल-मूत्र बनानेकी एक मशीन ही है। इसको उत्तम-से-उत्तम भोजन या भगवान्‌का प्रसाद खिला दो तो वह मल

* ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज गीताभवन, स्वर्गाश्रममें ग्रीष्म-ऋतुमें प्रतिवर्ष पधारकर लोगोंको सत्संगका लाभ देते रहे। अपनी जीवन-लीलाके अन्तिम लगभग सवा चार वर्षतक वे लगातार गीताभवनमें ही रहे और १०० वर्षसे अधिकको आयुमें भी निरन्तर सत्संग करवाते रहे। त्याग एवं वैराग्यकी मूर्ति श्रीस्वामीजी महाराजकी वसीयत साधकोंके लिये आदर्श एवं अनुकरणीय है।

बनकर निकल जायगा तथा उत्तम-से-उत्तम पेय या गङ्गाजल पिला दो तो वह मूत्र बनकर निकल जायगा। जबतक प्राण हैं, तबतक तो यह शरीर मल-मूत्र बनानेकी मशीन है और प्राण निकल जानेपर यह मुर्दा है, जिसको छू लेनेपर स्नान करना पड़ता है। वास्तवमें यह शरीर प्रतिक्षण ही मर रहा है, मुर्दा बन रहा है। इसमें जो वास्तविक तत्त्व (चेतन) है, उसका चित्र तो लिया ही नहीं जा सकता। चित्र लिया जाता है उस शरीरका, जो प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है। इसलिये चित्र लेनेके बाद शरीर भी वैसा नहीं रहता, जैसा चित्र लेते समय था। इसलिये चित्रकी पूजा तो असत् ('नहीं')-की ही पूजा हुई। चित्रमें चित्रित शरीर निष्प्राण रहता है, अत: हाड़-मांसमय अपवित्र शरीरका चित्र तो मुर्देका भी मुर्दा हुआ।

हम अपनी मान्यतासे जिस पुरुषको महात्मा कहते हैं, वह अपने शरीरसे सर्वथा सम्बन्धविच्छेद हो जानेसे ही महात्मा है, न कि शरीरसे सम्बन्ध रहनेके कारण। शरीरको तो वे मलके समान समझते हैं। अत: महात्माके कहे जानेवाले शरीरका आदर करना मलका आदर करना हुआ। क्या यह उचित है? यदि कोई कहे कि जैसे भगवान्के चित्रकी पूजा आदि होती है, वैसे ही महात्माके चित्रकी भी पूजा आदि की जाय तो क्या आपत्ति है? तो यह कहना भी उचित नहीं है। कारण कि भगवान्का शरीर चिन्मय एवं अविनाशी होता है, जबकि महात्माका कहा जानेवाला शरीर पाञ्चभौतिक होनेके कारण जड़ एवं विनाशी होता है।

भगवान् सर्वव्यापी हैं, अत: वे चित्रमें भी हैं, परंतु महात्माकी सर्वव्यापकता (शरीरसे अलग) भगवान्की सर्वव्यापकताके ही अन्तर्गत होती है। एक भगवान्के अन्तर्गत समस्त महात्मा हैं, अत: भगवान्की पूजाके अन्तर्गत सभी महात्माओंकी पूजा स्वत: हो जाती है। यदि महात्माओंके हाड़-मांसमय शरीरोंकी तथा उनके चित्रोंकी पूजा होने लगे तो इससे पुरुषोत्तमभगवान्की ही पूजामें बाधा पहुँचेगी, जो महात्माओंके सिद्धान्तसे सर्वथा विपरीत है। महात्मा तो संसारमें लोगोंको भगवान्की ओर लगानेके लिये आते हैं, न कि अपनी ओर लगानेके लिये। जो लोगोंको अपनी ओर (अपने ध्यान, पूजा आदिमें) लगाता है, वह तो भगवद्विरोधी होता है। वास्तवमें महात्मा कभी शरीरमें सीमित होता ही नहीं।

वास्तविक जीवनी या चरित्र वही होता है जो साङ्गोपाङ्ग हो अर्थात् जीवनकी अच्छी-बुरी (सद्गुण, दुर्गुण, सदाचार, दुराचार आदि) सब बातोंका यथार्थरूपसे वर्णन हो। अपने जीवनकी समस्त घटनाओंको यथार्थरूपसे मनुष्य स्वयं ही जान सकता है। दूसरे मनुष्य तो उसकी बाहरी क्रियाओंको देखकर अपनी बुद्धिके अनुसार उसके बारेमें अनुमानमात्र कर सकते हैं, जो प्राय: यथार्थ नहीं होता। आजकल जो जीवनी लिखी जाती है, उसमें दोषोंको छिपाकर गुणोंका ही मिथ्यारूपसे अधिक वर्णन करनेके कारण वह साङ्गोपाङ्ग तथा पूर्णरूपसे सत्य होती ही नहीं। वास्तवमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके चरित्रसे बढ़कर और किसीका चरित्र क्या हो सकता है। अत: उन्हींके चरित्रको पढ़ना-सुनना चाहिये और उसके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये। जिसको हम महात्मा मानते हैं, उसका सिद्धान्त और उपदेश ही श्रेष्ठ होता है, अत: उसीके अनुसार अपना जीवन बनानेका यत्न करना चाहिये।

उपर्युक्त सभी बातोंपर विचार करके मैं सभी परिचित संतों तथा सद्गृहस्थोंसे एक विनम्र निवेदन प्रस्तुत कर रहा हूँ। इसमें सभी बातें मैंने व्यक्तिगत आधारपर प्रकट की हैं अर्थात् मैंने अपने व्यक्तिगत चित्र, स्मारक, जीवनी आदिका ही निषेध किया है। मेरी शारीरिक असमर्थताके समय तथा शरीर शान्त होनेके बाद इस शरीरके प्रति आपका क्या दायित्व रहेगा—इसका स्पष्ट निर्देश करना ही इस लेखका प्रयोजन है।

(१)

यदि यह शरीर चलने-फिरने, उठने-बैठने आदिमें

असमर्थ हो जाय एवं वैद्यों-डॉक्टरोंकी रायसे शरीरके रहनेकी कोई आशा प्रतीत न हो तो इसको गङ्गाजीके तटवर्ती स्थानपर ले जाया जाना चाहिये। उस समय किसी भी प्रकारकी ओषधि आदिका प्रयोग न करके केवल गङ्गाजल तथा तुलसीदलका ही प्रयोग किया जाना चाहिये। उस समय अनवरतरूपसे भगवन्नामका जप तथा कीर्तन और श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीविष्णुसहस्रनाम, श्रीरामचरितमानस आदि पूज्य ग्रन्थोंका श्रवण कराया जाना चाहिये।

(२)

इस शरीरके निष्प्राण होनेके बाद इसपर गोपीचन्दन एवं तुलसीमालाके सिवाय पुष्प, इत्र, गुलाल आदिका प्रयोग बिलकुल नहीं करना चाहिये। निष्प्राण शरीरको साधु-परम्पराके अनुसार कपड़ेकी झोलीमें ले जाया जाना चाहिये न कि लकड़ी आदिसे निर्मित वैकुण्ठी (विमान) आदिमें।

जिस प्रकार इस शरीरकी जीवित-अवस्थामें मैं चरण-स्पर्श, दण्डवत् प्रणाम, परिक्रमा, माल्यार्पण, अपने नामकी जयकार आदिका निषेध करता आया हूँ, उसी प्रकार इस शरीरके निष्प्राण होनेके बाद भी चरण-स्पर्श, दण्डवत् प्रणाम, परिक्रमा, माल्यार्पण, अपने नामकी जयकार आदिका निषेध समझना चाहिये।

इस शरीरकी जीवित-अवस्थाके, मृत्यु-अवस्थाके तथा अन्तिम संस्कार आदिके चित्र (फोटो) लेनेका मैं सर्वथा निषेध करता हूँ।

(३)

मेरी हार्दिक इच्छा यही है कि अन्य नगर या गाँवमें इस शरीरके शान्त होनेपर इसको वाहनमें रखकर गङ्गाजीके तटपर ले जाना चाहिये और वहीं इसका अन्तिम संस्कार कर देना चाहिये। यदि किसी अपरिहार्य कारणसे ऐसा होना कदापि सम्भव न हो सके तो जिस नगर या गाँवमें शरीर शान्त हो जाय, वहीं गायोंके गाँवसे जंगलकी ओर जाने-आनेके मार्ग (गोवा)-में अथवा नगर या गाँवसे बाहर जहाँ गायें विश्राम आदि किया करती हैं, वहाँ इस शरीरका सूर्यकी साक्षीमें अन्तिम संस्कार कर देना चाहिये।

इस शरीरके शान्त होनेपर किसीकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये।

अन्तिम संस्कारपर्यन्त केवल भजन-कीर्तन, भगवन्नाम-जप आदि ही होने चाहिये और अत्यन्त सादगीके साथ अन्तिम संस्कार करना चाहिये।

(४)

अन्तिम संस्कारके समय इस शरीरकी दैनिकोपयोगी सामग्री (कपड़े, खड़ाऊँ, जूते आदि)-को भी इस शरीरके साथ ही जला देना चाहिये तथा अवशिष्ट सामग्री (पुस्तकें, कमण्डलु आदि)-को पूजामें अथवा स्मृतिके रूपमें बिलकुल नहीं रखना चाहिये, प्रत्युत उनका भी सामान्यतया उपयोग करते रहना चाहिये।

(५)

जिस स्थानपर इस शरीरका अन्तिम संस्कार किया जाय, वहाँ मेरी स्मृतिके रूपमें कुछ भी नहीं बनाना चाहिये, यहाँतक कि उस स्थानपर केवल पत्थर आदिको रखनेका भी मैं निषेध करता हूँ। अन्तिम संस्कारसे पूर्व वह स्थल जैसे उपेक्षित रहा है, इस शरीरके अन्तिम संस्कारके बाद भी वह स्थल वैसे ही उपेक्षित रहना चाहिये। अन्तिम संस्कारके बाद अस्थि आदि सम्पूर्ण अवशिष्ट सामग्रीको गङ्गाजीमें प्रवाहित कर देना चाहिये।

मेरी स्मृतिके रूपमें कहीं भी गौशाला, पाठशाला, चिकित्सालय आदि सेवार्थ संस्थाएँ नहीं बनानी चाहिये। अपने जीवनकालमें भी मैंने अपने लिये कभी कहीं किसी मकान आदिका निर्माण नहीं कराया है और इसके लिये किसीको प्रेरणा भी नहीं की है। यदि कोई व्यक्ति कहीं भी किसी मकान आदिको मेरे द्वारा अथवा मेरी प्रेरणासे निर्मित बताये तो उसको सर्वथा मिथ्या समझना चाहिये।

(६)

इस शरीरके शान्त होनेके बाद सत्रहवीं, मेला या महोत्सव आदि बिलकुल नहीं करना चाहिये और उन

दिनोंमें किसी प्रकारकी कोई मिठाई आदि भी नहीं करनी चाहिये। साधु-संत जिस प्रकार अबतक मेरे सामने भिक्षा लाते रहे हैं, उसी प्रकार लाते रहना चाहिये। अगर संतोंके लिये सद्‌गृहस्थ अपने-आप भिक्षा लाते हैं तो उसी भिक्षाको स्वीकार करना चाहिये जिसमें कोई मीठी चीज न हो। अगर कोई साधु या सद्‌गृहस्थ बाहरसे आ जायँ तो उनकी भोजन-व्यवस्थामें मिठाई बिलकुल नहीं बनानी चाहिये, प्रत्युत उनके लिये भी साधारण भोजन ही बनाना चाहिये।

(७)

इस शरीरके शान्त होनेपर शोक अथवा शोक-सभा आदि नहीं करने चाहिये, प्रत्युत सत्रह दिनतक सत्सङ्ग, भजन-कीर्तन, भगवन्नाम-जप, गीतापाठ, श्रीरामचरितमानसपाठ, संतवाणी-पाठ, भागवत-पाठ आदि आध्यात्मिक कृत्य ही होते रहने चाहिये। सनातन-हिन्दू-संस्कृतिमें इन दिनोंके ये ही मुख्य कृत्य माने गये हैं।

(८)

इस शरीरके शान्त होनेके बाद सत्रहवीं आदि किसी भी अवसरपर यदि कोई सज्जन रुपया-पैसा, कपड़ा आदि कोई वस्तु भेंट करना चाहें तो नहीं लेना चाहिये अर्थात् किसीसे भी किसी प्रकारकी कोई भेंट बिलकुल नहीं लेनी चाहिये। यदि कोई कहे कि हम तो मन्दिरमें भेंट चढ़ाते हैं तो इसको फालतू बात मानकर इसका विरोध करना चाहिये। बाहरसे कोई व्यक्ति किसी भी प्रकारकी कोई भेंट किसी भी माध्यमसे भेजे तो उसको सर्वथा अस्वीकार कर देना चाहिये। किसीसे भी भेंट न लेनेके साथ-साथ यह सावधानी भी रखनी चाहिये कि किसीको कोई भेंट, चद्दर, किराया आदि नहीं दिया जाय। जब सत्रहवींका भी निषेध है तो फिर बरसी (वार्षिक तिथि) आदिका भी निषेध समझना चाहिये।

(९)

इस शरीरके शान्त होनेके बाद इस (शरीर)-से सम्बन्धित घटनाओंको जीवनी, स्मारिका, संस्मरण आदि किसी भी रूपमें प्रकाशित नहीं किया जाना चाहिये।

अन्तमें मैं अपने परिचित सभी संतों एवं सद्‌गृहस्थोंसे विनम्र निवेदन करता हूँ कि जिन बातोंका मैंने निषेध किया है, उनको किसी भी स्थितिमें नहीं किया जाना चाहिये। इस शरीरके शान्त होनेपर इन निर्देशोंके विपरीत आचरण करके तथा किसी प्रकारका विवाद, विरोध, मतभेद, झगड़ा, वितण्डावाद आदि अवाञ्छनीय स्थिति उत्पन्न करके अपनेको अपराध एवं पापका भागी नहीं बनाना चाहिये, प्रत्युत अत्यन्त धैर्य, प्रेम, सरलता एवं पारस्परिक विश्वास, निश्छल व्यवहारके साथ पूर्वोक्त निर्देशोंका पालन करते हुए भगवन्नाम-कीर्तनपूर्वक अन्तिम संस्कार कर देना चाहिये। जब और जहाँ भी ऐसा संयोग हो, इस शरीरके सम्बन्धमें दिये गये निर्देशोंका पालन वहाँ उपस्थित प्रत्येक सम्बन्धित व्यक्तिको करना चाहिये।

मेरे जीवनकालमें मेरे द्वारा शरीरसे, वाणीसे, मनसे, जानमें, अनजानमें किसीको भी किसी प्रकारका कष्ट पहुँचा हो तो मैं उन सभीसे विनम्र हृदयसे करबद्ध क्षमा माँगता हूँ। आशा है, सभी उदारतापूर्वक मेरेको क्षमा प्रदान करेंगे।

मेरे विचार

वर्तमान समयकी आवश्यकताओंको देखते हुए मैं अपने कुछ विचार प्रकट कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि अगर कोई व्यक्ति मेरे नामसे इन विचारों, सिद्धान्तोंके विरुद्ध आचरण करता हुआ दिखे तो उसको ऐसा करनेसे यथाशक्ति रोकनेकी चेष्टा की जाय।

मेरे दीक्षागुरुका शरीर शान्त होनेके बाद जब वि० सं० १९८७ में मैंने उनकी बरसी कर ली, तब ऐसा पक्का विचार कर लिया कि अब एक तत्त्वप्राप्तिके सिवाय कुछ नहीं करना है। किसीसे कुछ माँगना नहीं है। रुपयोंको अपने पास न रखना है, न छूना है। अपनी ओरसे कहीं जाना नहीं है, जिसको गरज होगी, वह ले जायगा। इसके बाद मैं गीताप्रेसके संस्थापक सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके सम्पर्कमें आया। वे मेरी दृष्टिमें भगवत्प्राप्त महापुरुष थे। मेरे जीवनपर उनका विशेष प्रभाव पड़ा।

मैंने किसी भी व्यक्ति, संस्था, आश्रम आदिसे व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं जोड़ा है। यदि किसी हेतुसे सम्बन्ध जोड़ा भी हो, तो वह तात्कालिक था, सदाके लिये नहीं। मैं सदा तत्त्वका अनुयायी रहा हूँ, व्यक्तिका नहीं।

मेरा सदासे यह विचार रहा है कि लोग मुझमें अथवा किसी व्यक्तिविशेषमें न लगकर भगवान्‌में ही लगें। व्यक्तिपूजाका मैं कड़ा निषेध करता हूँ।

मेरा कोई स्थान, मठ अथवा आश्रम नहीं है। मेरी कोई गद्दी नहीं है और न ही मैंने किसीको अपना शिष्य, प्रचारक अथवा उत्तराधिकारी बनाया है। मेरे बाद मेरी पुस्तकें ही साधकोंका मार्ग-दर्शन करेंगी। गीताप्रेसकी पुस्तकोंका प्रचार, गोरक्षा तथा सत्संगका मैं सदैव समर्थक रहा हूँ।

मैं अपना चित्र खींचने, चरण-स्पर्श करने, जय-जयकार करने, माला पहनाने आदिका कड़ा निषेध करता हूँ।

मैं प्रसाद या भेंटरूपसे किसीको माला, दुपट्टा, वस्त्र, कम्बल आदि प्रदान नहीं करता। मैं खुद भिक्षासे ही शरीर-निर्वाह करता हूँ।

सत्संग-कार्यक्रमके लिये रुपये (चन्दा) इकट्ठा करनेका मैं विरोध करता हूँ।

मैं किसीको भी आशीर्वाद/शाप या वरदान नहीं देता और न ही अपनेको इसके योग्य समझता हूँ।

मैं अपने दर्शनकी अपेक्षा गंगाजी, सूर्य अथवा भगवद्विग्रहके दर्शनको ही अधिक महत्त्व देता हूँ।

रुपये और स्त्री—इन दोके स्पर्शको मैंने सर्वथा त्याग किया है।

जिस पत्र-पत्रिका अथवा स्मारिकामें विज्ञापन छपते हों, उनमें मैं अपना लेख प्रकाशित करनेका निषेध करता हूँ। इसी तरह अपनी दूकान, व्यापार आदिके प्रचारके लिये प्रकाशित की जानेवाली सामग्री (कैलेण्डर आदि)-में भी मेरा नाम छापनेका मैं निषेध करता हूँ। गीताप्रेसकी पुस्तकोंके प्रचारके सन्दर्भमें यह नियम लागू नहीं है।

मैंने सत्संग (प्रवचन)-में ऐसी मर्यादा रखी है कि पुरुष और स्त्रियाँ अलग-अलग बैठें। मेरे आगे थोड़ी दूरतक केवल पुरुष बैठें। पुरुषोंकी व्यवस्था पुरुष और स्त्रियोंकी व्यवस्था स्त्रियाँ ही करें। किसी बातका समर्थन करने अथवा भगवान्‌की जय बोलनेके समय केवल पुरुष ही अपने हाथ ऊँचे करें, स्त्रियाँ नहीं।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंमें मैं भक्तियोगको सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ और परमप्रेमकी प्राप्तिमें ही मानवजीवनकी पूर्णता मानता हूँ।

जो वक्ता अपनेको मेरा अनुयायी अथवा कृपापात्र बताकर लोगोंसे मान-बड़ाई करवाता है, रुपये लेता है, स्त्रियोंसे सम्पर्क रखता है, भेंट लेता है अथवा वस्तुएँ माँगता है, उसको ठग समझना चाहिये। जो मेरे नामसे रुपये इकट्ठा करता है, वह बड़ा पाप करता है। उसका पाप क्षमाके योग्य नहीं है।

अन्तिम प्रवचन*

एक बहुत श्रेष्ठ, बड़ी सुगम, बड़ी सरल बात है। वह यह है कि किसी तरहकी कोई इच्छा मत रखो। न परमात्माकी, न आत्माकी, न संसारकी, न मुक्तिकी, न कल्याणकी, कुछ भी इच्छा मत करो और चुप हो जाओ। शान्त हो जाओ। कारण कि परमात्मा सब जगह शान्तरूपसे परिपूर्ण है। स्वतः-स्वाभाविक सब जगह परिपूर्ण है। कोई इच्छा न रहे, किसी तरहकी कोई कामना न रहे तो एकदम परमात्माकी प्राप्ति हो जाय, तत्त्वज्ञान हो जाय, पूर्णता हो जाय!

यह सबका अनुभव है कि कोई इच्छा पूरी होती है, कोई नहीं होती। सब इच्छाएँ पूरी हो जायँ यह नियम नहीं है। इच्छाओंको पूरा करना हमारे वशकी बात नहीं है, पर इच्छाओंका त्याग कर देना हमारे वशकी बात है। कोई भी इच्छा, चाहना नहीं रहेगी तो आपकी स्थिति स्वतः परमात्मामें होगी। आपको परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जायगा। कुछ चाहना नहीं, कुछ करना नहीं, कहीं जाना नहीं, कहीं आना नहीं, कोई अभ्यास नहीं। बस, इतनी ही बात है। इतनेमें ही पूरी बात हो गयी! इच्छा करनेसे ही हम संसारमें बँधे हैं। इच्छा सर्वथा छोड़ते ही सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मामें स्वतः-स्वाभाविक स्थिति है।

प्रत्येक कार्यमें तटस्थ रहो। न राग करो, न द्वेष करो।

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भए भव पार॥

(दोहावली ९४)

एक क्रिया है और एक पदार्थ है। क्रिया और पदार्थ यह प्रकृति है। क्रिया और पदार्थ दोनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करके एक भगवान्‌के आश्रित हो जायँ। भगवान्‌के शरण हो जायँ, बस। उसमें आपकी स्थिति स्वतः है। 'भूमा अचल शाश्वत अमल सम ठोस है तू सर्वदा'—ऐसे परमात्मामें आपकी स्वाभाविक स्थिति है। स्वप्नमें एक स्त्रीका बालक खो गया। वह बड़ी व्याकुल हो गयी। पर जब नींद खुली तो देखा कि बालक तो साथमें ही सोया है—तात्पर्य है कि जहाँ आप हैं, वहाँ परमात्मा पूरे-के-पूरे विद्यमान है। आप जहाँ हैं, वहीं चुप हो जाओ!!

—२९ जून २००५, सायं लगभग ४ बजे

* * * * *

श्रोता—कल आपने बताया कि कोई चाहना न रखे। इच्छा छोड़ना और चुप होना दोनोंमें कौन ज्यादा फायदा करता है?

स्वामीजी—मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं, मैं और किसीका नहीं हूँ, और कोई मेरा नहीं है। ऐसा स्वीकार कर लो। इच्छारहित होना और चुप होना—दोनों बातें एक ही हैं। इच्छा कोई करनी ही नहीं है, भोगोंकी, न मोक्षकी, न प्रेमकी, न भक्तिकी, न अन्य किसीकी।

श्रोता—इच्छा नहीं करनी है, पर कोई काम करना हो तो?

स्वामीजी—काम उत्साहसे करो, आठों पहर करो, पर कोई इच्छा मत करो। इस बातको ठीक तरहसे समझो। दूसरोंकी सेवा करो, उनका दुःख दूर करो, पर बदलेमें कुछ चाहो मत। सेवा कर दो और अन्तमें चुप हो जाओ। कहीं नौकरी करो तो वेतन भले ही ले लो, पर इच्छा मत रखो।

सार बात है कि जहाँ आप हैं, वहीं परमात्मा हैं। कोई इच्छा नहीं करोगे तो आपकी स्थिति परमात्मामें ही होगी। जब सब परमात्मा ही हैं तो फिर इच्छा किसकी करें? संसारकी इच्छा है, इसलिये हम संसारमें हैं। कोई भी इच्छा नहीं है तो हम परमात्मामें हैं।

—३० जून २००५, दिनमें लगभग ११ बजे

*** ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके ३ जुलाई २००५ को परमधाम पधारनेके पूर्व दिनाङ्क २९-३० जून २००५ को गीताभवन स्वर्गाश्रममें दिया गया अन्तिम प्रवचन।**

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

पुस्तकोंके नाम तथा उनके लेख, जो 'साधन-सुधा-निधि' में संगृहीत हैं—

१. **अमरताकी ओर** (सं० २०५३)—

अमरताका अनुभव ७

मैंपनसे रहित स्वरूपका अनुभव १२

सत्-असत्का विवेक १८

नित्यप्राप्तकी प्राप्ति २७

सर्वत्र भगवद्दर्शनका साधन ३०

भक्तिकी विलक्षणता १३६

प्रेमकी जागृतिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता १३९

अन्त मति सो गति २३८

२. **अमृत-बिन्दु** (सं० २०५४)— ७२५

३. **सत्संग-मुक्ताहार** (सं० २०५५)—

वास्तविक तत्त्वका अनुभव ३६

स्वत:प्राप्त परमात्मतत्त्व ३९

साधकोपयोगी अमूल्य बातें ४१

कामना और आवश्यकता ४५

देनेके भावसे कल्याण ५०

भक्तिकी अलौकिक विलक्षणता १४२

भगवल्लीलाका तत्त्व १४८

आकस्मिक और अकालमृत्यु २४५

शास्त्रीय विवादसे हानि २४८

४. **सत्यकी खोज** (सं० २०५६)— ५३

सत्यकी खोज ५३

मुक्ति और प्रेम १५०

विज्ञानसहित ज्ञान ५८

योग (कर्मयोग-ज्ञानयोग-भक्तियोग) .. ६३

भगवत्प्राप्तिका सुगम तथा शीघ्र सिद्धिदायक साधन ६८

मुक्तिका सुगम उपाय ७०

त्यागसे कल्याण ७३

हम भगवान्‌के हैं १५२

हमारा असली घर १५४

नामजपकी विलक्षणता १५७

विचार करें १५९

सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण ७७

५. **क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?** (सं० २०५६)—२८३

६. **आदर्श कहानियाँ** (सं० २०५६)— ३९०

७. **प्रश्नोत्तरमणिमाला** (सं० २०५७)— ६३५

८. **शिखा (चोटी)-धारणकी आवश्यकता** (सं० २०५७) २७७

९. **मेरे तो गिरधर गोपाल** (सं० २०५७) १६१

मेरे तो गिरधर गोपाल १६१

कामना, जिज्ञासा और लालसा ८६

अभेद और अभिन्नता १६४

मानवशरीरका सदुपयोग ८९

सच्ची आस्तिकता ९४

संसारका असर कैसे छूटे? ९६

अभिमान कैसे छूटे? ९९

साधक, साध्य तथा साधन १०३

साधक कौन? १०६

मुक्ति स्वाभाविक है ११०

हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं ११३

अलौकिक प्रेम १६७

रासलीला—प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम १७३

अनिर्वचनीय प्रेम १७४

१०. **प्रेरक कहानियाँ** (सं० २०५७) ३५४

११. **तू-ही-तू** (सं० २०५८) १७८

१२. **सब साधनोंका सार** (सं० २०५९) १८७
सब साधनोंका सार १८७
अपना किसे मानें? १९४
सब कुछ परमात्माका है १९६
सच्ची बात १९८
परमात्मप्राप्तिमें देरी क्यों? २०१
कल्याणका निश्चित उपाय २०३
अभ्याससे बोध नहीं होता ८१
कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत् २०४
नित्यप्राप्तकी प्राप्ति ८३
अनेकतामें एकता २०६
रुपयोंके सहारेसे हानि २५१
मामेकं शरणं व्रज २०८
१३. **एक नयी बात** (सं० २०५९) १३०
एक नयी बात १३०
सार बात १३४
भगवत्प्रेमका स्वरूप और महत्त्व २१४
१४. **परमपितासे प्रार्थना** (सं० २०५९)— २३४
१५. **मानवमात्रके कल्याणके लिये** (सं० २०५९)
भगवान् आज ही मिल सकते हैं...... २१८
अक्रियतासे परमात्मप्राप्ति ११५
कल्याणके तीन सुगम मार्ग ११९
१६. **साधनके दो प्रधान सूत्र** (सं० २०६०)—२२३
साधनके दो प्रधान सूत्र................. २२३
साधकोंके लिये २३२
१७. **ज्ञानके दीप जले** (सं० २०६०)— ३८६
१८. **सत्संगके फूल** (सं० २०६२)— ४९१
१९. **एक सन्तकी वसीयत** (सं० २०६२)—७८६
२०. **सागरके मोती** (सं० २०६३)— ५६८
२१. **सन्त-समागम** (सं० २०६४)—
तात्त्विक प्रश्नोत्तर........................ ७११
साधकोपयोगी प्रश्नोत्तर................. ७१७
कल्याणकारी प्रश्नोत्तर.................. ७२२
साधनकी चरम सीमा २२७
भगवान् हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं २३०
गीताकी विलक्षणता २५३
वेद और श्रीमद्भगवद्गीता २५८
स्त्रीके दो रूप—कामिनी और माता. २६०
दिनचर्या और आयुश्चर्या २६२
वास्तविक आरोग्य २६५
परोपकारका सुगम उपाय २६८
धर्मकी महत्ता और आवश्यकता...... २७२
तीन महाव्रत २७४
भगवान् गणेश........................... २७५

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

भगवान्‌की विशेष कृपा

(गणेश-प्रतिमाओंके द्वारा दुग्धपान)

[आश्विन कृष्ण १२, बृहस्पतिवार, संवत् २०५२, दिनांक २१ सितम्बर, १९९५ को भूमण्डलमें भगवान् श्रीगणेशजीकी मूर्तियोंके द्वारा दुग्धपान करनेकी अलौकिक घटना लोगोंके देखनेमें आयी। इस विषयमें पूछनेपर परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज बोले—]

यह घटना भगवान्‌की विशेष कृपासे ही घटित हुई है। जो इसको सत्य न मानकर इसका खण्डन करते हैं, ऐसे लोगोंको सन्तोंने मलिन-बुद्धि और अभागा कहा है—

जे मति मलिन बिषयबस कामी।
प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥
मायाबस मतिमंद अभागी।
हृदयँ जमनिका बहुबिधि लागी॥
ते सठ हठ बस संसय करहीं।
निज अग्यान राम पर धरहीं॥

(मानस, उत्तर० ७३। १, ४-५)

प्रश्न—क्या ऐसा चमत्कार किसी मनुष्यके द्वारा योग, मन्त्रशक्ति आदिके बलपर किया जा सकता है?

स्वामीजी—यह कार्य किसी मनुष्यके द्वारा किया जाना असम्भव है। किसी भी योगी, सिद्ध, तान्त्रिक आदिमें ऐसा चमत्कार करनेकी सामर्थ्य नहीं है। यह केवल ईश्वरकृत चमत्कार था। अमुक दिन ही गणेश-प्रतिमाएँ दुग्धपान करेंगी—यह बात लोगोंके मनमें कैसे आयी और इतने थोड़े समयमें भूमण्डलपर एक साथ इसका प्रचार-प्रसार कैसे हुआ—यह एक विलक्षण बात है! फोन, रेडियो आदिके द्वारा तो ऐसी घटना होनेका समाचार दिया गया; परन्तु अमुक दिन ऐसी घटना होगी—यह समाचार किसने दिया? ऐसा अन्तर्यामी ईश्वरकी प्रेरणासे ही हो सकता है। अगर कोई व्यक्ति ऐसा चमत्कार दिखानेका दावा करता है तो हम उसको चुनौती (चैलेंज) देते हैं कि वह पहलेसे ही घोषणा करे कि मैं अमुक दिन भूमण्डलपर ऐसा करके दिखाऊँगा।

प्रश्न—ऐसा चमत्कार होनेमें कारण क्या था?

स्वामीजी—वर्तमानमें गर्भपात, गौहत्या आदि अनेक महान् भयंकर पापोंकी वृद्धि हो रही है और मनुष्य महान् पतनकी ओर जा रहा है। अतः मनुष्योंको चेतानेके लिये, उनमें आस्तिकभाव जाग्रत् करनेके लिये ही भगवान्‌ने ऐसा किया है। वास्तविक कारण तो भगवान् ही जानते हैं; हम अपनी बुद्धिसे नहीं जान सकते।

प्रश्न—ऐसा चमत्कार होनेपर भी लोगोंको चेत न हो तो इसमें क्या कारण समझना चाहिये?

स्वामीजी—कौरवोंकी सभामें जब द्रौपदीका चीर-हरण करनेकी चेष्टा की गयी, तब साड़ियोंका

ढेर लग गया, पर दु:शासन द्रौपदीको किंचिन्मात्र भी नग्न नहीं कर सका। इतना बड़ा चमत्कार प्रत्यक्ष देखनेपर भी कौरवोंको चेत नहीं हुआ। अत: जिनकी बुद्धि तामसी है, उनपर ऐसी विलक्षण घटनाओंका असर नहीं पड़ता।

अनेक व्यक्तियोंने परीक्षा करनेके उद्देश्यसे गणेश-प्रतिमाको दूध पिलाया और उन्होंने इसको सत्य पाया। जो नास्तिक थे, पर जिनके भीतर जिज्ञासाका अंकुर था, उन्होंने इस घटनाको सत्य पाया। परन्तु जिनमें ऊपरसे आस्तिकता भरी हुई थी, पर भीतरमें सन्देह था, अश्रद्धा थी, वे इसकी सत्यता नहीं जान सके और उनके हाथसे गणेश-प्रतिमाने दूध नहीं पिया।

भगवान् स्वत:सिद्ध हैं। उनको कोई माने या न माने, जाने या न जाने, स्वीकार करे या न करे, उनके होनेपनमें कोई फर्क नहीं पड़ता। भगवान् मान्यताके अधीन, मान्यतासे उत्पन्न होनेवाले नहीं हैं। हाँ, जो उनको मानता है, वह लाभ ले लेता है और जो उनको नहीं मानता, वह लाभसे वंचित रह जाता है। भगवान्‌को माननेसे उनके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और सम्बन्ध जुड़नेसे उनकी विलक्षणता अपनेमें उतर आती है।

—*‘कल्याण’ वर्ष ६९, अंक ११ में प्रकाशित*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजकी ओरसे एक प्रार्थना

अपने निजस्वरूप प्यारे मुसलमान भाइयोंसे आदरपूर्वक प्रार्थना है कि यदि आप अपने आदरणीय पूर्वजोंकी गलतीको स्थायी रूपसे नहीं रखना चाहते हैं तथा अपनी गलत परम्पराको मिटाना चाहते हैं तो जिनकी जो चीज है, उनको उनकी चीज सत्कारपूर्वक समर्पण कर दें और अपनी गलत परम्पराको, बुराईको मिटाकर सदाके लिये भला रहना स्वीकार कर लें। आपलोगोंने मन्दिरोंको तोड़नेकी जो गलत परम्परा अपनायी है, इसमें आपका ज्यादा नुकसान है, हिन्दुओंका थोड़ा। यह आपके लिये बड़े कलंकका, अपयशका काम है। आपके पूर्वजोंने मन्दिरोंको तोड़कर जो मस्जिदें खड़ी की हैं, वे इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि मुसलमानोंके राज्यमें क्या हुआ? अतः वे आपके लिये कलंककी, अपयशकी निशानी है। अब भी आप उसी परम्परापर चल रहे हैं तो यह उस कलंकको स्थायी रखना है। आप विचार करें, सभी लोगोंको अपने-अपने धर्म, सम्प्रदाय आदिका पालन करनेका अधिकार है। यदि हिन्दू अपने धर्मके अनुसार मन्दिरोंमें मूर्तिपूजा (मूर्तिमें भगवान्‌की पूजा) करते हैं तो इससे आपको क्या नुकसान पहुँचाते हैं? इसमें आपका क्या नुकसान होता है? क्या हिन्दुओंने अपने राज्यमें मस्जिदोंको तोड़ा है? तलवारके जोरपर हिन्दूधर्मका प्रचार किया है? उलटे हिन्दुओंने अपने यहाँ सभी मतावलम्बियोंको अपने-अपने मत, सम्प्रदायका पालन करने, उसका प्रचार करनेका पूरा मौका दिया है। इसलिये यदि आप सुख-शान्ति चाहते हैं, लोक-परलोकमें यश चाहते हैं, अपना और दुनियाका भला चाहते हैं तो अपने पूर्वजोंकी गलतीको न दुहरायें और गम्भीरतापूर्वक विचार करके अपने कलंकको धो डालें।

सरकारसे भी आदरपूर्वक प्रार्थना है कि आप थोड़े समयके अपने राज्यको रखनेके लिये ऐसा कोई काम न करें, जिससे आपपर सदाके लिये लाञ्छन लग जाय और लोग सदा आपकी निन्दा करते रहें। आज प्रत्यक्षमें राम भी नहीं हैं और रावण भी नहीं है, युधिष्ठिर भी नहीं हैं और दुर्योधन भी नहीं है; परन्तु राम और युधिष्ठिरका यश तथा रावण और दुर्योधनका अपयश अब भी कायम है। राम और युधिष्ठिर अब भी लोगोंके हृदयमें राज्य कर रहे हैं तथा रावण और दुर्योधन तिरस्कृत हो रहे हैं। आप ज्यादा वोट पानेके लोभसे अन्याय करेंगे तो आपका राज्य तो सदा रहेगा नहीं, पर आपकी अपकीर्ति सदा रहेगी। यदि आप एक समुदायका अनुचित पक्ष लेंगे

तो दूसरे समुदायमें स्वतः विद्रोहकी भावना पैदा होगी, जिससे समाजमें संघर्ष होगा। इसलिये आपको वोटोंके लिये पक्षपातपूर्ण नीति न अपनाकर सबके साथ समान न्याय करना चाहिये और निर्लोभ तथा निर्भीक होकर सत्यका पालन करना चाहिये।

अन्तमें अपने निजस्वरूप प्यारे हिन्दू भाइयोंसे आदरपूर्वक प्रार्थना है कि यदि मुसलमान भाइयोंकी कोई क्रिया आपको अनुचित दीखे तो उस क्रियाका विरोध तो करें, पर उनसे वैर न करें। गलत क्रिया या नीतिका विरोध करना अनुचित नहीं है, पर व्यक्तिसे द्वेष करना अनुचित है। जैसे, अपने ही भाईको संक्रामक रोग हो जाय तो उस रोगका प्रतिरोध करते हैं, भाईका नहीं। कारण कि भाई हमारा है, रोग हमारा नहीं है। रोग आगन्तुक दोष है, इसलिये रोग द्वेष्य है, रोगी किसीके लिये भी द्वेष्य नहीं है। अतः आप द्वेषभावको छोड़कर आपसमें एकता रखें और अपने धर्मका ठीक तरहसे पालन करें, सच्चे हृदयसे भगवान्‌में लग जायँ तो इससे आपके धर्मका ठोस प्रचार होगा और शान्तिकी स्थापना भी होगी।

—‘कल्याण’ वर्ष ६७, अंक ३ में प्रकाशित

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका शीघ्र कल्याणकारी साहित्य

१. **गीता साधक-संजीवनी** [अँग्रेजी, मराठी, तमिल, कन्नड़, गुजराती, बँगला, ओड़ियामें भी]

२. **गीता-प्रबोधनी** [बँगला, ओड़िया, पंजाबीमें भी]

३. **गीता-दर्पण** [मराठी, बँगला, गुजराती, ओड़ियामें भी]

४. **गीता-ज्ञान-प्रवेशिका**

५. **गीता-माधुर्य** [अँग्रेजी, तमिल, कन्नड़, तेलुगु, बँगला, गुजराती, मराठी, असमिया, ओड़िया, उर्दू, संस्कृतमें भी]

६. **साधन-सुधा-सिन्धु** [ओड़िया, गुजरातीमें भी]

७. **जीवनका कर्तव्य** [गुजरातीमें भी]

८. **भगवत्तत्त्व** [गुजरातीमें भी]

९. **एकै साधै सब सधै** [गुजराती, तमिल, तेलुगुमें भी]

१०. **जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग** [गुजरातीमें भी]

११. **सर्वोच्च पदकी प्राप्तिका साधन** [अँग्रेजी, गुजराती, तमिल, तेलुगुमें भी]

१२. **जीवनका सत्य** [अँग्रेजी, गुजरातीमें भी]

१३. **कल्याणकारी प्रवचन** [अँग्रेजी, गुजराती, बँगला, ओड़ियामें भी]

१४. **कल्याणकारी प्रवचन, भाग २**

१५. **तात्त्विक प्रवचन** [मराठी, गुजराती, बँगला, ओड़ियामें भी]

१६. **भगवान्से अपनापन** [गुजराती, ओड़ियामें भी]

१७. **शरणागति** [तमिल, तेलुगु, कन्नड़, ओड़ियामें भी]

१८. **भगवन्नाम** [अँग्रेजी, मराठीमें भी]

१९. **जीवनोपयोगी प्रवचन** [अँग्रेजीमें भी]

२०. **सुन्दर समाजका निर्माण**

२१. **मानसमें नाम-वन्दना**

२२. **सत्संगकी विलक्षणता** [गुजरातीमें भी]

२३. **साधकोंके प्रति** [बँगला, मराठीमें भी]

२४. **भगवत्प्राप्ति सहज है** [अँग्रेजीमें भी]

२५. **अच्छे बनो** [अँग्रेजीमें भी]

२६. **भगवत्प्राप्तिकी सुगमता** [कन्नड़, मराठीमें भी]

२७. **वास्तविक सुख** [तमिल, ओड़ियामें भी]

२८. **स्वाधीन कैसे बनें?** [अँग्रेजीमें भी]

२९. **कर्म-रहस्य** [बँगला, तमिल, कन्नड़, ओड़ियामें भी]

३०. **गृहस्थमें कैसे रहें?** [अँग्रेजी, बँगला, मराठी, गुजराती, ओड़िया, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, पंजाबी, असमिया भी]

३१. **सत्संगका प्रसाद** [गुजरातीमें भी]

३२. **महापापसे बचो** [बँगला, गुजराती, तमिल, तेलुगु, कन्नड़में भी]

३३. **सच्चा गुरु कौन?** [ओड़ियामें भी]

३४. **आवश्यक शिक्षा [सन्तानका कर्तव्य एवं**

आहार-शुद्धि] [अँग्रेजी, मराठी, गुजराती, ओड़ियामें भी]

३५. **मूर्तिपूजा एवं नाम-जपकी महिमा** [मराठी, गुजराती, ओड़िया, बँगला, तमिल, तेलुगुमें भी]

३६. **दुर्गतिसे बचो** [मराठी, गुजराती, बँगलामें भी]

३७. **सच्चा आश्रय**

३८. **सहज साधना** [अँग्रेजी, मराठी, गुजराती, बँगला, ओड़ियामें भी]

३९. **नित्ययोगकी प्राप्ति** [ओड़ियामें भी]

४०. **हम ईश्वरको क्यों मानें ?** [बँगलामें भी]

४१. **नित्य-स्तुति और प्रार्थना** [कन्नड़, तेलुगुमें भी]

४२. **वासुदेवः सर्वम्** [अँग्रेजी, मराठीमें भी]

४३. **साधन और साध्य** [मराठी, गुजराती, बँगलामें भी]

४४. **मातृशक्तिका घोर अपमान** [तमिल, बँगला, मराठी, गुजराती, ओड़ियामें भी]

४५. **कल्याण-पथ**

४६. **जिन खोजा तिन पाइया** [बँगलामें भी]

४७. **किसान और गाय** [तेलुगुमें भी]

४८. **तत्त्वज्ञान कैसे हो ?** [बँगला, गुजरातीमें भी]

४९. **भगवान् और उनकी भक्ति** [गुजराती, ओड़ियामें भी]

५०. **जित देखूँ तित तू** [गुजराती, मराठीमें भी]

५१. **देशकी वर्तमान दशा और उसका परिणाम** [बँगला, ओड़िया, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, कन्नड़में भी]

५२. **सब जग ईश्वररूप है** [गुजराती, ओड़ियामें भी]

५३. **आवश्यक चेतावनी**

५४. **मनुष्यका कर्तव्य**

५५. **अमरताकी ओर** [गुजरातीमें भी]

५६. **सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण** [गुजरातीमें भी]

५७. **अमृत-बिन्दु** [अँग्रेजी, बँगला, तमिल, कन्नड़, मराठी, गुजरातीमें भी]

५८. **सतसंग-मुक्ताहार** [गुजराती, ओड़ियामें भी]

५९. **सत्यकी खोज** [अँग्रेजी, गुजरातीमें भी]

६०. **क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं ?** [गुजराती, ओड़ियामें भी]

६१. **आदर्श कहानियाँ** [बँगला, ओड़ियामें भी]

६२. **प्रेरक कहानियाँ** [बँगला, ओड़ियामें भी]

६३. **प्रश्नोत्तरमणिमाला** [गुजराती, बँगला, ओड़ियामें भी]

६४. **शिखा (चोटी)-धारणकी आवश्यकता** [बँगलामें भी]

६५. **परमविश्रामकी प्राप्ति**

६६. **मेरे तो गिरधर गोपाल**

६७. **कल्याणके तीन सुगम मार्ग**

६८. **सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण**

६९. **तू-ही-तू**

७०. **एक नयी बात**

७१. **सब साधनोंका सार** [बँगलामें भी]

७२. **संसारका असर कैसे छूटे ?**

७३. **मानवमात्रके कल्याणके लिये** [अँग्रेजी, मराठी, गुजराती, ओड़िया, बँगला, नेपालीमें भी]

७४. **परमपितासे प्रार्थना**

७५. **साधनके दो प्रधान सूत्र** [ओड़िया, बँगलामें भी]

७६. **ज्ञानके दीप जले**

७७. **सत्संगके फूल**

७८. **सागरके मोती**

७९. **सन्त-समागम**

८०. **एक सन्तकी वसीयत** [बँगलामें भी]

English Books

1. Srimad Bhagavadgita 'Sadhaka-Sanjivani'
2. Gita-Madhurya
3. For Salvation of Mankind
4. The Drops of Nectar
5. Discovery of Truth and Immortality
6. All is God
7. Ease in God-Realization
8. Benedictory Discourses
9. Is Salvation not Possible without a Guru?
10. Art of Living
11. How to Lead A Household Life
12. Let Us Know The Truth
13. Sahaja Sadhana
14. Invaluable Advice
15. Be Good
16. Truthfulness of Life
17. The Divine Name
18. How to be Self-Reliant
19. How to Attain the Supreme Bliss

प्राप्ति-स्थान—

गीताप्रेस,

गोरखपुर—273005 (उ०प्र०)

फोन—0551-2334721

e-mail:booksales@gitapress.org